वेदान्त कौस्तुभ-प्रभा

आद्याचार्य भगवान् श्री निम्बार्क

|| श्रीराधाकृष्णाभ्यांनमः || || श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्रायनमः ||

(श्रीनिम्बार्क-ब्रह्मसूत्र वृत्ति एवं वेदान्त-कौस्तुभ-भाष्य की विस्तृत व्याख्या)

जगद्विजयि निम्बार्काचार्य श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य-विरचित

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा

हिन्दी अनुवादक :

श्रीवैद्यनाथजी झा

व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य (निम्बार्क एवं शांकर)

न्यायशास्त्री, एम.ए. साहित्य रत्न, राष्ट्रपति पुरस्कृत

पूर्वप्राचार्य श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन (1950 से 1929)

स्थायी निवास – वृन्दावन,

जन्मभूमि : मुकाम पोस्ट, घोंघर डीहा, मधुवनी (विहार)

प्रकाशक :

महान्त श्रीसन्तदासजी महाराज

महान्त एवं अध्यक्ष

पता :

श्रीराधाकृष्ण-संकीर्तन-सेवा-समिति

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन-281121

जिला-मथुरा (उ.प्र.)

दूरभाष : 0565-2443566

प्रकाशन तिथि : श्रीनिम्बार्क जयन्ती कार्तिक पूर्णिमा सम्वत् 2063 दि. 05.11.2006 सन्

प्रथम संस्करण : +500 (पाँच सौ) प्रतियाँ

प्रूफ संशोधक :

1) विद्वद्वर पं. वैद्यनाथजी झा पूर्व प्राचार्य निम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन
2) गोलोकवासी डॉ. प्रेमनारायण श्रीवास्तव, डी. लिट् भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, आई. ओ.पी., वृन्दावन एवं आचार्यसूरपीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
3) पं. श्रीकन्हैयालालजी झा, प्राचार्य, श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा) उ.प्र.
4) प्रोफेसर श्री गोविन्द शर्मा, से.नि. प्राचार्य, वृन्दावन
5) निम्बार्कीय स्वामी श्रीहरिपरेशदासजी वेदान्ती, हनुमानजी का मन्दिर, आबू रोड़ (राज.)
6) प्रूफ संशोधन कार्य के विशिष्ट सहयोगी –श्रीआनन्दबिहारी शरणजी (श्रीअशोकजी) श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन, जिला–मथुरा (उ.प्र.)

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

महान्त श्रीसन्तदासजी महाराज

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन (मथुरा) उ.प्र.

फोन : (0565) 2443566

न्यौछावर – 500 रुपये (पांच सौ रुपये मात्र)

मुद्रक : हरि ओम ऑफसेट प्रेस, दिल्ली-32, 2007

शुभम् एशोसिएट्स, श्रीमोटेगणेश मन्दिर, अठखम्भा, वृन्दावन (मथुरा)

फोन : (0565) 2465088, 2443608

श्रीश्यामाश्याम

विराजमान, श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन

सेवक – सन्तदास जी महाराज

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा

॥ भगवते श्रीनिम्बार्काय नमः ॥ ॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥ ॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

प्रकाशकीय

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः !
हे श्रीवृन्दावन विहारी! हे श्रीकुञ्ज-निकुञ्ज विहारी! हे श्रीराधाकृष्ण
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्
त्वमव्ययः शाश्वत धर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥ —गीता ११-१८
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्त रूप॥ —गीता ११-३८
गोलोकनाथ राधेश मदीश प्राणवल्लभ।
हे दीबन्धो दीनेश सर्वेश्वर नमोऽस्तु ते॥ —(ब्र० वै० पु० श्रीकृण्णजन्म खण्ड २७-१००)

प्रस्थानत्रयी की उत्कृष्टता

भारतीय दर्शन में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता का सर्वोपरि स्थान है, जिन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं। इनकी उत्कृष्टता का स्वल्प वर्णन निम्न पंक्तियों में किया गया है।

१. उपनिषद्—आत्मज्ञान का सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ उपनिषद् है। इसे अब पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया है। उप नि उपसर्ग में ''ष द् लृ विशरण गत्यवसादनेषु'' धातु से उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है - अनादि अविद्या की बद्धमूल ग्रन्थि का समूलोच्छेद पूर्वक कर्मवासनाओं को शिथिलकर ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली विद्या-ब्रह्म विद्या। इस प्रकार ब्रह्म विद्या की प्राप्ति का प्रधान साधन होने से उपनिषद् ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाता है।

आत्मा, परमात्मा उभय का स्वाभाविक भेदाभेद, सृष्टि, प्रलय, मोक्षादि रहस्यमय तत्त्वों के तात्त्विक ज्ञान का एकमात्र साधन उपनिषद् वाङ्मय ही है। इसी का दूसरा नाम वेदान्त है। वेद माने ज्ञान। ज्ञान का जहाँ अन्त हो, अर्थात् ज्ञान की जहाँ चरमसीमा होती है, उसे वेदान्त कहते हैं। अथवा वेद का अन्तिम भाग होने से यह वेदान्त कहलाता है। इसकी भाषा, भाव, शैली, प्रतिपादन तथा प्रतिपाद्य विषय की गहनता आदि दृष्टियों से यह शास्त्र अत्यन्त गम्भीर है। अतएव सर्वसाधारण के लिए अति क्लिष्ट होने के कारण प्रतिकल्प में परात्पर परमात्मा भगवान् श्रीकृषण ही महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के रूप में अवतीर्ण होकर इसका परम तात्पर्य, गूढ़ रहस्य समझाने के लिए ब्रह्मसूत्र शास्त्रकी रचना करते हैं।

२. **ब्रह्मसूत्र**–उपनिषदों का तात्पर्य निर्धारक अति महत्वपूर्ण शास्त्र ब्रह्मसूत्र है। उपनिषदों में किस शब्द का क्या अर्थ उचित है। किस प्रकरण का क्या सारांश है, ब्रह्म सविशेष है या निर्विशेष, जगत् परिमाण है या विवर्त, सत्य है या मिथ्या, ब्रह्म प्राप्ति का साधन ज्ञान है या भक्ति, ज्ञान, कर्म, भक्ति का समुच्चय है या नैरपेक्ष्य–इन सबका स्पष्टीकरण है–ब्रह्मसूत्र। १०८ उपनिषदों के सहस्राधिक वाक्यों को भगवान् वेद व्यास ने ५५० सूत्रों में ऐसा पिरोया है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वेद के सर्वोपरि सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराने के कारण इसका नाम वेदान्त दर्शन भी है। इसे उत्तरमीमांसा, शारीरक-सूत्र भी कहते हैं। भगवान् वेदव्यास ने इस ग्रन्थ को चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त किया है। पहला समन्वाध्याय है इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि सभी वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। दूसरा अविरोधाध्याय है–इसमें सभी प्रकार के विरोधाभासों का निराकरण किया गया है। विभिन्न दर्शनों एवं मान्यताओं के आधार पर निराकरण करके यह सिद्ध किया गया है कि जगत् का एकमात्र कारण ब्रह्म ही है। तीसरा साधनाध्याय है–इसमें ब्रह्म की प्राप्ति के साधन भूत ब्रह्म विद्या तथा अन्य उपसानाओं के विषय में वर्णन है। चौथे अध्याय में साधकों को उन विद्याओं द्वारा स्वयं के अधिकारानुसार होने वाले फलों के विषय वर्णित हैं। इन चारों अध्यायों के स्वाध्याय एवं चिन्तन से साधकों की समस्त भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है। भ्रान्तियों के निराकरण होते ही भगवत्प्राप्ति तथा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। प्रतिदिन इन सूत्रों का अनुसन्धान पूर्वक पाठ करने से समग्र उपनिषदों का तात्पर्य अवगत हो जाता है।

ब्रह्मसूत्र का पहला सूत्र है–''**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**'' इसमें चार पद हैं–अथ, अतः, ब्रह्म और जिज्ञासा। यहाँ 'अथ' का अर्थ है–अनन्तर अर्थात् कर्मजिज्ञासा के अनन्तर कर्मफल में सान्तत्व सातिशयत्व बुद्धि के पश्चात् ब्रह्मज्ञान में अनन्तत्त्व-निरतिशयत्व बोध होने पर प्रत्येक मुमुक्षु को ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए। सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र एवं समग्र वेदान्त वाक्यों का परमतात्पर्य इस प्रथम सूत्र में संकेतित है। ब्रह्मसूत्र की प्रथम चतुःसूत्री के अन्तर्गत ही सारा वेदान्त रहस्य है।

३. **श्रीमद्भगवद् गीता**–सर्ववेदमयी, सर्वशास्त्रमयी भगवद्गीता, सुगीता का तो कहना ही क्या है, यह तो ''**या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता**'' है। यह गीता भगवान् के मुख-कमल से निःसृत है भगवान् कहते हैं–''**गीता मे हृदयं पार्थ**''! हे पार्थ! गीता मेरा हृदय है। केवल सात सौ श्लोकों में अति सरल संस्कृत भाषा में अर्जुनरूपी वत्स के माध्यम से अनेक रहस्यात्मक उपनिषद्रूपी गौवों का दोहन कर जो गीतारस भगवान् श्रीकृष्ण ने जगत् को दिया है, उसकी विश्व में किसी ग्रन्थ से तुलना ही नहीं है। महानुभावों का कथन है कि जब से इस जगत् की सृष्टि हुई है, तब से इस धरातल पर न तो भगवान् श्रीकृष्ण जैसा बहुआयामी व्यक्तित्व वाला अवतार या महामानव ही पैदा हुआ और न उनकी भगवद्गीता जैसा कोई धर्मग्रन्थ ही। इसमें जिस प्रकार सारी समस्याओं का स्पष्टीकरण है। वैसा विश्व के किसी ग्रन्थ में नहीं है।

आचार्य प्रवर निम्बार्काचार्य श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य एवं उनकी रचना ''वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा''–

प्रस्थानत्रयी पर विभिन्न मतावलम्बी आद्याचार्यों के दार्शनिक भाष्य हैं। वे भी दर्शन ही कहलाते हैं। आद्याचार्य भगवान् निम्बार्क की ब्रह्मसूत्र भाष्य पर वेदान्त पारिजात सौरभ

नामक संक्षिप्त वृत्ति है। इनका सिद्धान्त स्वाभाविक भेदाभेद या द्वैताद्वैत है एवं ये आचार्यों में सबसे प्राचीन हैं। स्वाभाविक द्वैताद्वैत को ही भिन्नाभिन्न भी कहते हैं। इस स्वाभाविक भेदाभेद वाद का ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में स्पष्ट खण्डन होने से एवं ब्रह्मसूत्र श्रीनिम्बार्क भाष्य में श्रीशंकराचार्यजी का खण्डन नहीं होने से श्रीनिम्बार्काचार्यजी का श्रीशंकराचार्यजी से प्राचीनत्व सिद्ध होता है। श्रीनिम्बार्काचार्य प्रणीत वृत्यात्मक रचना के आधार पर उनके प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्यजी ने विस्तृत व्याख्या कर ''**वेदान्त-कौस्तुभ**'' नामक दर्शन की रचना की, जो जगत् में निम्बार्क-दर्शन के नाम से विख्यात है ''**वेदान्त पारिजात सौरभ**'' एवं ''**वेदान्त कौस्तुभ**'' के आधार पर ही जगद्गुरु निम्बार्काचार्य आचार्यप्रवर श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्यजी ने विलक्षण व्याख्या की, जिसका नाम ''**वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा**'' है। श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी आचार्य परम्परा में तेंतीसवीं ३३वीं पीढ़ी में हैं। यह प्रभावृत्ति संस्कृत भाषा में रचित है। इस प्रभावृत्ति की टीका विद्वद्वरेण्य निम्बार्कीय पं० श्रीअमोलकराम जी शास्त्री ने संस्कृत भाषा में की है, जो सर्व साधारण के लिए अतिदुरूह (कठिन) है। उपर्युक्त सभी रचनायें संस्कृत भाषा में रचित हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्यवर श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी द्वारा संस्कृत भाषा में विरचित वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा जो वेदान्त-कौस्तुभ का विस्तृत भाष्य है, का हिन्दी भाषा में अनुवाद है।

अनन्तश्रीजगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य पाद ने प्रस्थानत्रयी पर अपना भाष्य लिखा है। ब्रह्मसूत्र पर वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा, श्रीगीता पर तत्त्वप्रकाशिका टीका एवं मुण्डकोपनिषदादि शास्त्रों पर आपकी निगूढ़तम व्याख्यायें प्रकाशित हैं। प्राचीन परम्परा में प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने वाले को ही आचार्य एवं जगद्गुरु का पद प्राप्त होता था।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पाठकगण इसे पढ़कर अत्यन्त संतुष्ट होंगे। अधिक प्रयास किया गया है कि छपने में अशुद्धियाँ न होने पायें, फिर भी यह कार्य ही ऐसा है कि कुछ न कुछ अशुद्धियाँ रह ही जाती हैं। इन दोषों का मार्जन दूसरे संस्करण में अवश्य कर लिया जायेगा। पुस्तक छपने में प्रयास करने पर भी संभवतः कोई न कोई त्रुटि प्रायः हो ही जाती है अतः पाठकगणों से त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

अपनी हार्दिक अभिलाषा—

जब मैं वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा का अनुवाद श्रीझाजी से करने के लिए अनुरोध किया, उसी समय मेरी हार्दिक अभिलाषा थी कि इस ग्रन्थरत्न का सम्पूर्ण अनुवाद होकर छपने के बाद साम्प्रदायिक संतों, भक्तों को तो दिये ही जायें, साथ ही अन्य विशिष्ट सत्पात्र संतों को भी दिये जायें इसके पश्चात् भारतवर्ष के प्रमुख महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, बड़े-बड़े पुस्तकाल्यों में भी दिये जायें। भारतवर्ष के अलावा विदेशों में भी जहाँ भारतीय हों, जो ऐसे दार्शनिक ग्रन्थों में सद्रुचि रखने वाले भक्त हों, वहाँ भी इसे पुहँचाने का अवश्य ही प्रयास किया जाये।

इस वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा के छपनें में पूर्ण सहयोगी परमादरणी आयुर्वेदाचार्य महान्तप्रवर ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज हैं, जिन्होंने संकेत मात्र से बिना किसी प्रकार का विचार किये इस परमपुनीत कार्य में सम्पूर्ण आर्थिक व्यय प्रदान किया, अतः में उनका बहुत ही आभारी हूँ। मैं श्रीश्यामा-श्याम से हार्दिक कामना करता हूँ कि ये चिरंजीव रहें और भविष्य में भी ऐसे परम पुनीत कार्यों में मेरी अटल भावना बनी रहे, ऐसा ये आशीर्वाद प्रदान करें।

मेरी हार्दिक-कामना तो बहुत बड़ी है, इस भावना के अनुसार इस प्रथम संस्करण में १००० प्रतियाँ छपनी चाहिये थीं, पर श्रीब्रह्चारीजी महाराज ने ५०० प्रतियों के लिए ही स्वीकृति दी है। मैंने पुनः उनसे इस सम्बन्ध में अनुरोध नहीं किया। मेरा पूर्ण प्रयास रहेगा कि सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण एवं आचार्यों के अनुग्रह से दूसरा संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित हो, जिससे यह ग्रन्थ-रत्न अधिक जगहों में पहुँच सके।

इस ग्रन्थ के अनुवादक, सम्पादक एवं प्रूफ संशोधक सौजन्य मूर्ति निम्बार्कीय पं० श्रीवैद्यनाथजी झा का मैं बहुत ही आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकारकर वृद्धावस्था में भी इस दार्शनिक क्लिष्ट ग्रन्थ का संस्कृत भाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। आपकी विनम्रता, निरालस्य, शास्त्रीय प्रश्नों के उत्तर की वाक्पटुता स्मरणीय है।

ग्रन्थ के प्रकाशन में प्रूफ संशोधन का कार्य अत्यन्त कठिन है। प्रूफ संशोधकों में गोलोकवासी प्रो० श्रीप्रेमनारायण श्रीवास्तव, प्रचार्य पं० श्रीकन्हैयालालजी झा, प्रो० श्रीगोविन्द शर्मा एवं निम्बार्कीय स्वामी श्रीहरिपरेशदासजी वेदान्ती रहे। इन लोगों ने अपना समय निकालकर तत्परता के साथ सेवा भाव से इस कठिन कार्य को पूर्ण किया, जिन्हें विस्मरण नहीं किया जा सकता। ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं, सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्ण इन लोगों के ऊपर अनुग्रह करें।

धन्यातिधन्य श्रीआनन्दबिहारी शरणजी ने प्रूफ संशोधन कार्य में आलस्य रहित होकर तत्परता के साथ बूढ़े की लाठी के सदृश सहारा दिया है, वे प्रशंसा एवं धन्यवाद के पात्र हैं। श्रीठाकुरजी उनके ऊपर कृपा करें।

ग्रन्थ प्रकाशन के अन्तिम चरण में त्रुटियों के सुधार एवं सुव्यवस्थित कराने में श्रीसुभाषजी राय, वरिष्ठ पत्रकार आगरा एवं उनके आत्मीय तथा मेरे अनन्य निष्ठावान् श्रीजिलेदार शुक्ल, पूर्व शिक्षाधिकारी वृन्दावन का जो सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ, वह चिरस्मरणीय रहेगा। इसके लिये उन्हें आशीष देता हूँ।

मुद्रक शुभम् एशोसिएट्स (अतुल श्रीवास्तव) को भी मैं बहुत धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने संस्कृत के इस महान् कठिन दार्शनिक ग्रन्थ के मुद्रण कार्य में विशेष रुचि रखकर इस कार्य को यथासमय सम्पादन किया। श्रीठाकुरजी इनके कार्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि करें, मैं इन्हें हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में नई दिल्ली ''महादेवी ज्ञानकेन्द्र'' के संस्थापक श्रीराधेश्याम गुप्ता, जिनके यहाँ इस ग्रन्थ का प्रकाशन होने जा रहा है, उनकी लगन, तत्परता एवं भक्ति-भावना को दृष्टिगत रखते हुए उनके भी मङ्गल की कामना करता हूँ।

सन्तदास
महान्त एवं अध्यक्ष
श्रीराधाकृष्ण-संकीर्तन-सेवा-समिति
श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन
जिला-मथुरा (उ०प्र०)
फोन नं० 0565-2443566

॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्रायनमः ॥

(जगद् विजयि केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य-विरचित)

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा
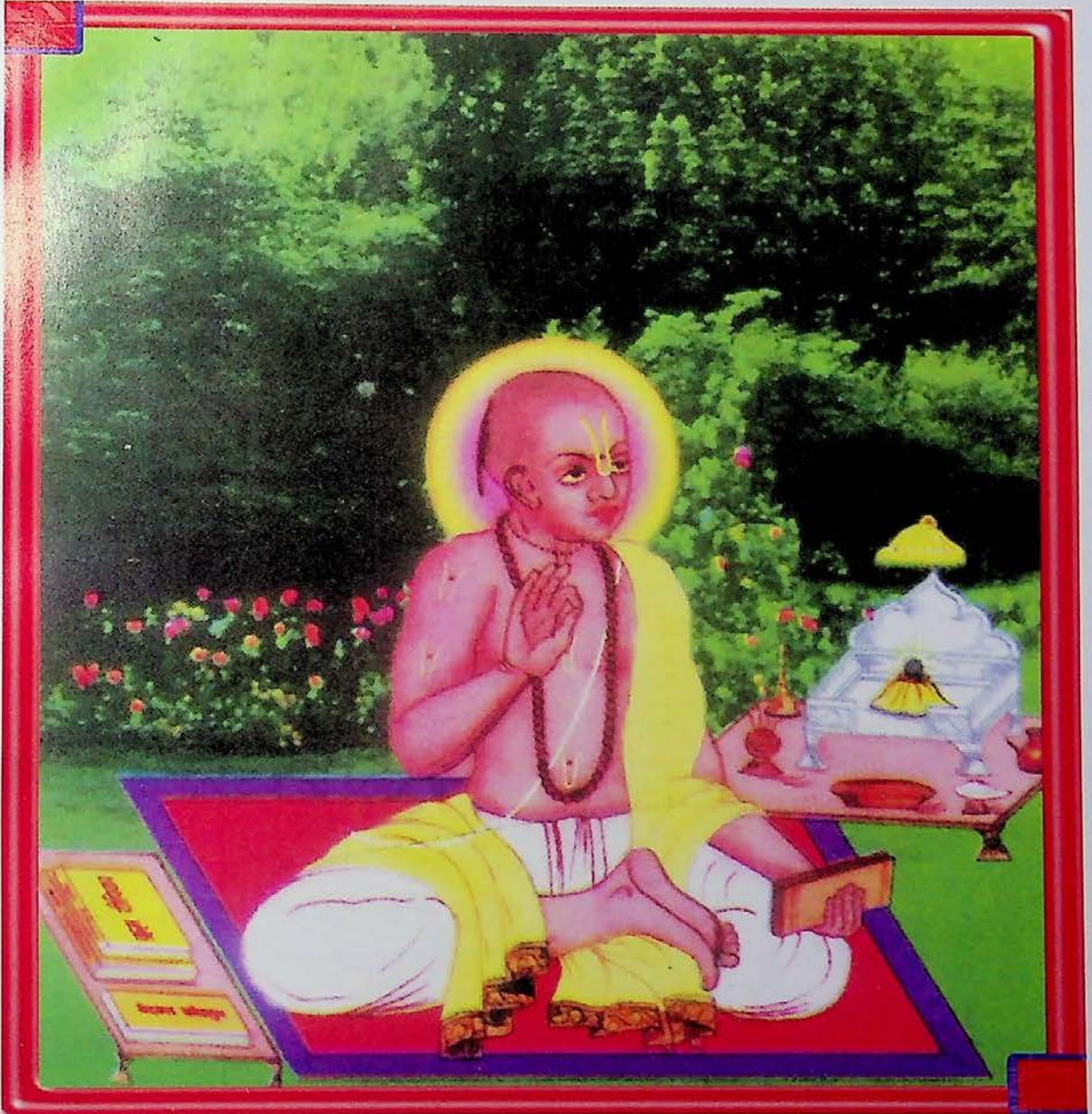
जगद् विजयी निम्बार्कचार्य

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य जी

वेदान्त दर्शन में निम्बार्कीय द्वैताद्वैत प्रस्थान का वैशिष्ट्य

सम्पादकीय

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैतपण्डितम्।
द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

श्रुति, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रों में दर्शन-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। भारत अपने इस दर्शन-शास्त्र के कारण ही आज विश्वगुरु कहलाता है। 'दृश्यते अध्यात्मतत्त्वम् अनेन इति दर्शनम्', जिससे आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, सृष्टि-प्रलय, बन्धन-मोक्ष तथा परलोक-पुनर्जन्म आदि परोक्ष तत्त्वों के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान होता है या उनका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, उसे दर्शन कहते हैं। उक्त विषयों पर जितना गहन एवं गंभीर विवेचन, चिन्तन हमारे दर्शनाचार्यों-ऋषियों-महर्षियों ने किया है, उतना विश्व की किसी संस्कृति या धर्म में नहीं हुआ है।

आस्तिक-नास्तिक भेद से इनके दो मुख्य भेद माने गये हैं। जो दर्शन अनादि अपौरुषेय दिव्य भगवद् वाणी रूप वेद के आधार पर अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं, वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। जो दर्शन श्रुति, स्मृति, पुराणादि प्रमाणों को न मानकर केवल प्रत्यक्ष प्रमाण या श्रुति विरुद्ध तर्क के आधार पर अपने मनमाने ढंग से उक्त अतीन्द्रिय तत्त्वों के सम्बन्ध में अपनी मान्यताओं की स्थापना करते हैं, वे नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। जैसे चार्वाक, जैन तथा बौद्ध (सौत्रान्तिक, वैभाषिक योगाचार तथा माध्यमिक) आदि। सच तो यह है, जो दर्शन आत्मा को ही नहीं मानता या उसे क्षणिक, विनाशी, परिणामी या शून्य रूप मानता है, जो शरीर को ही आत्मा, मरण को ही मोक्ष एवं 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' का सिद्धान्त मानता है, वह दर्शन कहलाने का योग्य ही नहीं है।

आस्तिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त माने गये हैं। चूँकि हमारे यहाँ "नास्तिको वेदनिन्दकः" के अनुसार वेद को नहीं मानने वाला ही नास्तिक माना गया है। वेद भगवान् की यह असाधारण विशेषता है कि वेद के विरुद्ध ईश्वर की भी वाणी हमारे यहाँ अग्राह्य है। "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" यह मीमांसा सूत्र है। इतना ही नहीं ईश्वर को न मानने पर भी वेद को मानने वाला हमारे यहाँ आस्तिक होता है और ईश्वर को मानने पर भी वेद को नहीं मानने वाला नास्तिक कहलाता है। यही कारण है कि सांख्य-दर्शन ईश्वर को न मानने पर भी वेद मानने के कारण आस्तिक-दर्शन तथा बौद्ध-दर्शन बुद्ध भगवान् को मानने पर भी वेद को न मानने के कारण बौद्ध-दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाता है। वेदरूप के विषय में रवि की तरह स्वप्रतिपाद्य के विषय में निरपेक्ष प्रमाण माना जाता है। अर्थात् उसे अपने प्रतिपाद्य की प्रामाणिकता के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती, "वेदस्य निरपेक्षं प्रामाण्यं रवेरिव रूप विषये" (श्री शंकराचार्य), इसीलिए वेद-उपनिषद् पर आधारित आस्तिक-दर्शन का हमारे यहाँ सर्वाधिक महत्त्व है।

इन आस्तिक दर्शनों में भी न्याय, वैशेषिक तथा योग एवं वेदान्त ये चार दर्शन ही ईश्वरवादी

है। सांख्य और मीमांसा की प्रसिद्धि निरीश्वरवादी रूप में ही है। (यद्यपि मीमांसा और सांख्य को भी कतिपय विद्वानों ने ईश्वरवादी माना है।) आस्तिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक प्राथमिक दर्शन हैं। न्याय, वैशेषिकों के सामने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी चार्वाक आदि नास्तिक ही थे। जो वेदादि शास्त्रों को न मानकर तर्क के आधार पर ईश्वरवाद एवं शरीरातिरिक्त आत्मवाद का खण्डन करते थे। इसलिए न्याय ने सबसे पहले इन पर ही अपना प्रहार किया। तर्कवादी चार्वाक आदि को न्याय ने अपने अमोघ तर्कों द्वारा उनके शरीरात्मवाद का खण्डन कर शरीरातिरिक्त शाश्वत आत्मवाद की सिद्धि की तथा विविध विचित्र संस्थान सम्पन्न इन अनन्त ब्रह्माण्डात्मक जगत् की सृष्टि (निर्माण) तथा उसके सञ्चालन-नियन्त्रण आदि के लिए एक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर की शाश्वत सत्ता को अनेकानेक अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्ध किया। वेदों की प्रामाणिकता तथा बौद्ध आदि नास्तिकों से वैदिक आत्मवाद की रक्षा के लिए न्यायशास्त्र का जो योगदान है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। महानुभावों का कथन है कि वैदिक धर्म, वैदिक आत्मवाद की रक्षा के लिए जहाँ भगवान् श्रीशंकराचार्य ने उन बौद्धों से बगल से टक्कर लिया, वहाँ न्याय दर्शन के महामनीषी आचार्यों ने उनसे सीधा टक्कर लेकर उन्हें परास्त किया अर्थात् वे नास्तिक जहाँ तर्क के आधार पर वैदिक आत्मवाद, ईश्वरवाद का खण्डन करते थे। वहाँ इन नैयायिकों ने तर्क से उनका मुँह तोड़ उत्तर देकर (सीधा टक्कर लेकर) उन्हें परास्त किया और वैदिक आत्मवाद की ध्वजा सारे विश्व में फहरायी। इन नैयायिकों में न्याय सूत्रकार महर्षि गौतम, (मिथिला) भाष्यकार वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर, न्यायवार्तिक तात्पर्यकार वाचस्पतिमिश्र, न्या०वा०तात्पर्य परिशुद्धिकार उदयनाचार्य (ये सभी मिथिला निवासी मैथिल ब्राह्मण थे) आदि महामनीषी दार्शनिक जगत् में सुप्रसिद्ध हैं। आचार्य उदयन ने न्याय कुसुमाञ्जलि नामक ग्रन्थ में ईश्वर की सिद्धि के लिए जो अकाट्य युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं, उनके सामने सबको नतमस्तक होना पड़ता है। यदि कहें कि तर्क द्वारा ईश्वर सिद्धि का इससे बढ़कर दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

तर्क के आधार पर जितनी बातें सिद्ध हो सकती थीं, न्याय ने उतना ही काम किया। तर्क से आत्मा के दो भेद सिद्ध होते हैं। जीवात्मा-परमात्मा तो न्याय ने आत्मा के दो भेद माने जीव और ईश्वर। आत्मा को ज्ञानाधिकरण तथा प्रतिशरीर भिन्न माना। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा को एक माना, सगुण निराकार माना। तर्क से सृष्टि का आरम्भवाद सिद्ध होता है, अतः उसने परमाणु से सृष्टि माना परमाणुओं को उपादान ईश्वर को निमित्तकारण। दो परमाणुओं से सृष्टि का विस्तार माना तथा जिसे आरम्भवाद नाम दिया। संसार में प्राणीमात्र दुःखों से छुटकारा चाहते हैं। अतः उसने तर्क के आधार पर दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष माना। जैसा कि संसार के अधिकांश लोग दुःखनिवृत्ति को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, जैसे सांख्य, योग, जैन, बौद्ध इत्यादि। परन्तु मोक्ष का परम स्वरूप क्या है, इसका निर्णय करना उसका काम नहीं है। उसने प्रथम दृष्ट्या तर्क से जितनी बातें सिद्ध हो सकती थीं, नास्तिकों को समझाने के लिए उन्हें नास्तिक से आस्तिक बनाने के लिए जितनी आवश्यकताएँ थीं उतनी बातें बतायीं। उक्त तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप जताना या बताना वेदान्त-दर्शन का काम है क्योंकि अध्यात्म के विषय में निर्णायक दर्शन वेदान्त-दर्शन ही है।

इसी तरह सांख्य-दर्शन का मुख्य कार्य प्रकृति-पुरुष का विवेक, प्रकृति के तीन गुणों सत्त्व, रज, तम का स्वरूप एवं कार्य का वर्णन उसका मुख्य ध्येय है, इसी प्रकार योग का मुख्य विषय चित्तवृत्ति

का निरोध तथा तदुपयोगी यम, नियम आदि अष्टाङ्ग योग का वर्णन है। मीमांसा का मुख्य कार्य, यज्ञ, यागादि कर्मकाण्डों का स्वरूप, लक्ष्य तथा तत्सम्बन्धी समस्त इति कर्तव्यताओं को बताना ही मीमांसा का मुख्य विषय है। वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड ईश्वर की आराधना के लिए विहित है 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' पहले लोग यज्ञ-यागादि द्वारा ही भगवान् की आराधना करते थे। यज्ञ से भगवान् की ही आराधना होती है 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" अतः मीमांसा दर्शन ने यज्ञ के द्वारा प्रभु की आराधना किस प्रकार की जाय, इस पर विशेष ध्यान दिया। इस दृष्टि से मीमांसा दर्शन की नितान्त ही उपयोगिता है।

सारांश यह है कि जीव, जगत्, ईश्वर आदि तत्त्वों के निर्णायक स्वरूप का निरूपण वेदान्त दर्शन में ही हुआ है। अतः उक्त अध्यात्म तत्त्वों का निर्णयात्मक स्वरूप जानने के लिए वेदान्त दर्शन का ज्ञान परमावश्यक है, यह भारतीय वैदिक संस्कृति का सिद्धान्त है।

वेदान्त का अर्थ है, वेद का अन्तिम भाग उपनिषद्, वेद का ज्ञानकाण्ड। वेद की प्रत्येक शाखा में एक-एक उपनिषत् होती है, इस प्रकार यद्यपि उपनिषदों की संख्या ११ सौ से भी कुछ अधिक होती है परन्तु दौर्भाग्यवश आज केवल १०८ उपनिषदें ही उपलब्ध हैं, जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर आदि ११ उपनिषदें प्रसिद्ध है एवं सर्वमान्य हैं। इनके अलावा श्रीगोपाल तापिनी उपनिषद् भी श्रीकृष्ण भक्ति के लिए अत्यन्त उपादेय है। यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा की उपनिषत् है। इसी में श्रीनिम्बार्कीय उपास्य अष्टादशाक्षर मन्त्रराज हैं।

ब्रह्मसूत्र के सभी भाष्यकारों ने इन्हीं उपनिषदों के आधार पर अपने विचार व्यक्त किये है, अपनी मान्यताएँ स्थापित की हैं। इन उपनिषदों में भी आत्मा, परमात्मा, जीव-जगत्, सृष्टि, परलोक, पुनर्जन्म तथा मोक्ष आदि का वास्तविक स्वरूप निरूपित किये गये हैं। ये उपनिषदें अत्यन्त गंभीर, निगूढ़ एवं ईश्वरीय भाषा में उपनिबद्ध होने के कारण इनका वास्तविक रहस्य समझना सर्वसाधारणजनों की बुद्धि से बाहर है। अतः प्राणी मात्र के अहैतुक हितचिन्तक अष्टादश पुराण रचयिता महर्षि भगवान् वेदव्यास ने इन उपनिषदों का वास्तविक रहस्य, मर्म तथा इनका मुख्य प्रतिपाद्य बताने के लिए कलियुगी मन्दमति मन्दभाग्य प्राणियों के कल्याण के लिए लगभग साढ़े पाँच सौ सूत्रों (वे०कौ० प्रभा के अनुसार ५४९ सूत्र) में एक ब्रह्मसूत्र नामक अति महत्त्वपूर्ण सर्वोपरि रहस्यमय शास्त्र का प्रणयन किया। इनके एक-एक अधिकरण में वेदान्त के तत् प्रकरण का सारगर्भित भाव समझाया गया है। उदाहरणार्थ ब्रह्मसूत्र के ईक्षत्यधिकरण में छान्दोग्य की सद्विद्या का भावार्थ समझाया गया है। वहाँ सन्देह होता है 'सदेव सौम्येदम्' में सत् शब्द से जड़ प्रधान लेना चाहिए या चेतन ब्रह्म ? तो व्यास जी ने अपने ईक्षत्यधिकरण के ८ सूत्रों द्वारा निर्णय दिया कि वहाँ 'सत्' शब्द से चेतन परमात्मा ही ग्राह्य है न कि जड़ प्रकृति। इसी तरह तैत्तरीय उपनिषद की रस विद्या में आनन्दमय शब्द से जीवात्मा का ग्रहण हो, प्रकृति का या परमात्मा का इस जिज्ञासा में व्यास जी ने अपने ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण के ८ सूत्रों द्वारा निश्चित किया है कि वहाँ आनन्दमय शब्द से परमात्मा ही लेना चाहिए, न कि जीव या प्रधान। इसी तरह समन्वयाध्याय नामक प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में समस्त कारण वाक्यों का परमात्मा में समन्वय बताया तथा उसके द्वितीय, तृतीय पाद में स्पष्ट जीव लिङ्गक तथा अस्पष्ट जीव लिङ्ग वाक्यों

एवं चतुर्थ पाद में अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद संशयात्मक वाक्यों का ब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद में समन्वय दिखाया।

द्वितीय अविरोधाध्याय के प्रथमपाद में ब्रह्मकारणवाद में नास्तिकों द्वारा अथवा प्रधान परमाणुवादी आस्तिकों द्वारा उपस्थापित विरोध का बोधगम्य युक्तियों द्वारा निराकरण करके ब्रह्म कारणवाद का समर्थन किया इस अध्याय के द्वितीय पाद में कापिलमत तथा अक्षपाद मत में युक्तियुक्त विरोध प्रदर्शित कर उन मतों में असारता का प्रतिपादन किया। इसके तृतीय पाद में आकाशादि भूतों की उत्पत्ति बताने वाली श्रुतियों का परस्पर अविरोध तथा जीव तत्त्व का निरूपण किया। इस अध्याय के चतुर्थ पाद में जीव के करण इन्द्रिय आदि सम्बन्ध में श्रुतियों में प्रतीयमान विरोध का परिहार किया गया है।

तृतीय अध्याय-साधनाध्याय के प्रथमपाद में साधक जीव को संसार से विरक्ति उत्पादन के लिए जागतिक दोषों का वर्णन तथा द्वितीय पाद में परमात्मा में अनुराग वृद्धि के लिए उनके दिव्य गुणों का वर्णन किया। तृतीय पाद में ब्रह्म की उपासना में भेदाभेद का विचार तथा उनमें गुणोपसंहार एवं अनुपसंहार का वर्णन किया। चतुर्थपाद में विद्या से पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है या कर्म से? ऐसी शंका करके विद्या से ही पुरुषार्थ होता है, इसका निर्णय किया है।

चतुर्थ अध्याय-फलाध्याय में प्रथम पाद में साधनावृत्ति का निश्चय लिया गया है द्वितीय पाद में उत्क्रान्ति का विचार है। तृतीय पाद में अर्चिरादि मार्ग का वर्णन एवं चतुर्थपाद में ब्रह्म प्राप्त जीव का स्वरूप (मोक्षदशा) का निरूपण किया गया है।

इस प्रकार वेदान्त (उपनिषद्) की वास्तविक प्रतिपाद्य वस्तु तथा रहस्य की जानकारी देने के लिए भगवान् व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना कर मन्दमति प्राणियों का महान् उपकार किया है। वास्तव में ब्रह्मसूत्र जैसा शास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता के वाद दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं है। (मुझे तो ब्रह्मसूत्र पूरा भक्ति सूत्र प्रतीत होता है। उपलब्ध समस्त भक्ति सूत्रों में यह सर्वोपरि सर्वाङ्ग परिपूर्ण भक्तिसूत्र है, जिसमें, जीव, जगत्, ईश्वर के सम्पूर्ण स्वरूपों के निरूपण के साथ सर्वत्र भक्ति आराधना, उपासना की ही चर्चा है। परात्पर परमात्मा में प्रेम बढ़ाने के लिए ब्रह्मसूत्र से बढ़कर कोई अन्य शास्त्र नहीं है।) सारांश है कि जीव, ईश्वर, उपासना, भक्ति, प्रपत्ति आदि की सम्पूर्ण जानकारी ईश्वर में प्रीति वृद्ध्यर्थ, उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता के समान विश्व में कोई ग्रन्थ नहीं है। इसीलिए इसे प्रस्थानत्रयी कहते हैं। प्रस्थानत्रयी से बढ़कर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। वास्तव में ये ही तीन ग्रन्थ मुख्य वेदान्त हैं। आजकल वेदान्त के विषय में भी अधिकांश जन भ्रान्त दीखते हैं। वे वेदान्त शब्द से भाष्य विशेष को ही वेदान्त समझते हैं, वेदान्त माने शांकर या रामानुज भाष्य। ये भाष्य ब्रह्मसूत्र आधारित हैं, उन्हीं की व्याख्या है। अतः ये भी वेदान्त कहे जा सकते हैं अथवा वेदान्त हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं, परंतु यही वेदान्त है, ऐसा नहीं, असली वेदान्त उपनिषत्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता ही है। विद्वानों को चाहिए कि भाष्य विशेष का आग्रह छोड़कर उक्त प्रस्थानत्रयी का शब्द मर्यादया लभ्यमान स्वारसिक अर्थों पर आधारित वस्तु तत्त्व पर विचार करें और देखें कि गीता और ब्रह्मसूत्र सीधे-सीधे क्या कहते हैं उनका तोड़-मरोड़ न करें उस समय सब भाष्य को छोड़ दें केवल गीता केवल ब्रह्मसूत्र देखें। ब्रह्मसूत्र तथा गीता का दृष्टिकोण साफ है, बिलकुल स्पष्ट, इतना स्पष्ट, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, पर खेद है कि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी साम्प्रदायिक दुराग्रह के कारण ब्रह्मसूत्र गीता का इतना तोड़-मरोड़ किया

जितना शायद किसी अन्य ग्रन्थ के साथ हुआ हो तो आइये, थोड़ा ब्रह्मसूत्र एवं गीता का स्वास्य उन्हीं के शब्दों में सुनें :-

आज ब्रह्मसूत्र पर आधारित आचार्यों के निम्नाङ्कित मतवाद प्रसिद्ध हैं :-

क्र.	आचार्य	सिद्धान्त	समय
01.	श्रीनिम्बार्काचार्य	स्वाभाविक भेदाभेद	द्वापरान्त
02.	श्रीशंकराचार्य	केवलाद्वैत	आठवीं सदी
03.	श्रीरामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत	ग्यारहवीं सदी
04.	श्रीभास्कराचार्य	औपाधिक भेदाभेद	दसवीं सदी
05.	श्रीमध्वाचार्य	भेदवाद	बारहवीं सदी
06.	श्रीकण्ठ	शैवविशिष्टाद्वैत	तेरहवीं सदी
07.	श्रीपति	वीरविशिष्टाद्वैत	चौदहवीं सदी
08.	श्रीवल्लभाचार्य	शुद्धाद्वैत	सोलहवीं सदी
09.	श्रीविज्ञानभिक्षु	अविभागाद्वैत	सोलहवीं सदी
10.	श्रीबलदेव विद्याभूषण	अचिन्त्य भेदाभेद	अठारहवीं सदी

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति।
निम्बादित्य इतिख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति।।

(भविष्य पुराण)

इनमें यहाँ उक्त सब पर विचार न कर केवल द्वैताद्वैत या स्वा0 भेदाभेद प्रस्थान पर ही थोड़ा विचार करते हैं जोकि इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। द्वैताद्वैत प्रस्थान का ही दूसरा नाम स्वाभाविक भेदाभेद है। इस प्रस्थान में तीन मौलिक तत्त्व माने गये हैं-

1. चित्, अचित् एवं ईश्वर चित् जीव ज्ञान स्वरूप, ज्ञानधर्मी, अणुपरिमाणयुक्त, प्रतिशरीर में भिन्न, बन्धमोक्ष योग्य, अहंपद वाच्य तथा प्रत्येक दशा में भगवदधीन माना गया है। जैसा कि आद्याचार्य का वचन है-

"ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः" —श्रीनिम्बार्काचार्य

2. अचित् पदार्थ- इसके तीन भेद माने गये हैं, प्राकृत, अप्राकृत तथा काल।

"अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्" —श्रीनिम्बार्काचार्य

(क) प्राकृतगुणत्रयात्मकसत्व- रजस्-तमस् के आश्रयभूत द्रव्य, नित्य तथा परिणाम आदि विकारी, काल नियम्य।

(ख) त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं काल से भिन्न, कालानियम्य ज्ञानस्वरूप, ज्ञानधर्महीन अत्रिगुणात्मक भगवद्धाम आदि।

(ग) काल- प्राकृत अप्राकृत उभय भिन्न अचेतन द्रव्य नित्य एवं विभु अखण्ड-प्रकृति एवं प्राकृत जगत् का नियामक परन्तु ईश्वर द्वारा नियम्य।

3. ईश्वर (ब्रह्म) :- अनन्त अचिन्त्य स्वाभाविक सत्यसंकल्पत्व सत्यकामत्व, सर्वाधारत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि गुणगणविशिष्ट अखिल ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त प्राणियों के अन्तरात्मा के साक्षी, दिव्य मंगलविग्रह आप्राणखात् सुवर्णनख से शिखतक आनन्दमय, आनन्दमूर्ति सगुण साकार माना गया है।

परमतत्त्व परमात्मा का उक्त स्वरूप अनेकानेक श्रुतियों, स्मृतियों एवं ब्रह्मसूत्र के अनेकानेक सूत्रों से समर्थित है। श्रुतियों में परमात्मा को आनन्दमय कहा गया है, जैसा कि व्यासजी का सूत्र है "आनन्दमयोऽभ्यासात्" व्यास जी कहते हैं कि परमात्मा आनन्दमय है क्योंकि श्रुतियों में सर्वत्र परमात्मा को आनन्दमय कहा गया है, पुनः पुनः कथन है जैसा कि श्रुतिवचन है 'तस्माद् विज्ञानमयादव्योऽन्तर आत्मा आनन्दमय सर्वोऽयं पुरुषविधः', 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि', 'एतस्यैवान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति', 'भूमैव सुखम्', 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्... तस्मादात्मानं प्रियमुपासीत'. इन श्रुतियों द्वारा परमात्मा को आनन्दमूर्ति कहा गया है उसका नख से शिख तक आनन्द ही आनन्द है "आनन्दमात्रमुखपादकरोदरादि" चीनी के खिलौने या मूर्ति की तरह उसका अङ्ग-अङ्ग आनन्द है, उसका चरण आनन्द कर आनन्द कटि आनन्द जंघा आनन्द, उदर आनन्द, वक्षस् आनन्द, ग्रीवा आनन्द, मुख आनन्द, अधर आनन्द भाल आनन्द-सब कुछ आनन्द ही आनन्द है। वहाँ स्वरूप या व्यक्ति (विग्रह) में भेद नहीं है। वह पुरुषविध साकार आनन्द स्त्री से, पति से, पुत्र से, वित्त से सबसे अधिक प्यारा है "तदेतत् प्रेयः पुत्रात्......' (वृहदारण्यक) उससे बढ़कर विश्व में कोई प्रिय पात्र नहीं, वह भूमा सुख है (छान्दोग्य) जिस सुख के साक्षात्कार करने पर, अन्य किसी सुख की इच्छा नहीं होती- ऐसा इतर राग विस्मारक सुख वह परमात्मा है, अतः उसे कृष्ण भी कहते हैं। उक्त सूत्रों में स्पष्टतया परमात्मा को आनन्दमय आनन्द मूर्ति कहा गया है। कुछ लोगों ने इस सूत्र (आनन्दमयोऽभ्यासात्) की व्याख्या करते हुए बड़ा तोड़-मरोड़ किया है, इसका संकेत हमने इसी ग्रन्थ में आनन्दमय अधिकरण की व्याख्या में टिप्पणी में किया है।

वह आनन्दमय परमात्मा निर्विशेष निधर्मिक नहीं किन्तु अनन्त कल्याण गुण निलय होने से सविशेष एवं अनन्त गुण विशिष्ट है। ब्रह्मसूत्र में आदि से लेकर अन्त तक "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' तक कहीं भी शुद्ध बुद्ध निधर्मिक निर्विशेष तथाकथित ब्रह्म का प्रसङ्ग नहीं है, बल्कि 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च अन्तर उपपत्तेः' सर्वोपेताच सातद्दर्शनात्' आदि सूत्रों में सर्वत्र सविशेषवाद स्पष्ट प्रतिपादित है।

इन्हीं उक्त श्रुतियों तथा सूत्रों तथा भगवद्गीता के अनेकानेक वाक्यों के अनुसार आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्क ने ब्रह्म स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है-

"स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं परेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमललेक्षणं हरिम्।।"

परमतत्त्व को उपनिषदों में सर्वत्र निरतिशय आनन्द एवं भूमा सुख कहने के कारण ही श्री निम्बार्क महामुनीन्द्र ने उसे 'कृष्ण' कहा, कारण 'कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं

ब्रह्म कृष्ण इत्यमिधीयते" इस श्रुति में भी निरतिशय स्वतन्त्रसत्तायुक्त आनन्द को ही कृष्ण कहा है। ऐसा परमतत्त्व न तो न्याय, वैशेषिक, न योग-दर्शन या शांकर-दर्शन में माना गया है, उक्त दर्शनों में कोई सगुण निराकार तो कोई निर्गुण निराकार वादी हैं। जबकि श्रुति सूत्रों द्वारा सगुण साकार ब्रह्म का प्रतिपादन दीखता है। ऐसा केवल द्वैताद्वैत प्रस्थान में ही बताया है इस दृष्टि से भी यह प्रस्थान सर्वोपरि एवं पूर्ण श्रौत है।

-: द्वैताद्वैत या स्वाभाविक भेदाभेद का निरुपण :-

इस प्रकार "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश, भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा आदि-आदि श्रुतियों, सूत्रों द्वारा तत्त्वत्रय तो सिद्ध है ही परंतु ये तत्त्वत्रय निम्बार्क मत में योग शास्त्रीय तत्त्वत्रय की तरह स्वतन्त्र नहीं किन्तु एक ही स्वतन्त्र सत्ताश्रय ब्रह्मतत्त्व परमात्मा के अधीनस्थ उनसे सर्वथा अपृथक् सिद्ध उसका ही स्वाभाविक भिन्नाभिन्न स्वभाव शक्ति विशेष रूप हैं, ये चित् और अचित्। इनमें स्वाभाविक भेदाभेद अथवा द्वैताद्वैत है। जैसा कि व्यासजी ने अपने सूत्रों द्वारा स्पष्ट कहा है 'उभयव्यपदेशात्त्वहि कुण्डलवत्' (३/२/२७) एवं 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्', (३/२/२८) इनमें प्रथम सूत्र द्वारा ब्रह्म और जगत् के स्वाभाविक भेदाभेद तथा द्वितीय सूत्र में जीव तथा ब्रह्म में स्वाभाविक भेदाभेद बताया है। इनकी व्याख्या करते हुए कौस्तुभ भाष्यकार श्रीनिवासाचार्य जी ने कहा है "मूर्तामूर्तादिसर्वकार्यजातस्य ब्रह्मभिन्नत्वेऽपि तदभिन्नत्वं कुतः "उभय व्यपदेशात्" "भेदाभेद व्यपदेशात्" अर्थात् मूर्त अमूर्त आदि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से भिन्न होने पर भी उससे अभिन्न है, कारण श्रुति में भेद अभेद दोनों तरह का व्यपदेश है। जैसे 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि भेद व्यपदेश है और 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि अभेद व्यपदेश है। इस प्रकार उभय व्यपदेश होने से ब्रह्म और जगत् में स्वाभाविक भेदाभेद है। दृष्टान्त में कहते हैं 'अहि कुण्डलवत् अहि कुण्डल में' जैसे कुण्डल का उपादान स्वरूप रज्ज्वाकार अहि कारण है उसी प्रकार अहि स्थानीय सर्वशक्ति समुपेत ब्रह्म उपादान कारण और बलयाकार कार्य कुण्डल है, उसी तरह तत्स्थानीय मूर्तामूर्तादि समस्त प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य है। अहि कुण्डल में कुण्डल परतन्त्र, व्याप्य तथा कार्य और अहि उसकी अपेक्षा स्वतन्त्र, व्यापक एवं कारण है। इसलिए दोनों में भेद है तथा अहि के बिना कुण्डल की स्थिति, प्रवृत्ति नहीं होने से अभेद भी है। इसी प्रकार चित् अचित् शक्ति मद् ब्रह्म के कार्यभूत जगत् का कारण ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म के विषय में भी "द्रा सुपर्णा सयुजा सखाया" "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादि वचनों में भेद तथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियों में अभेद प्रतिपादित होने से जीव ब्रह्म में भी स्वाभाविक भेदाभेद है। कारण जब श्रुति का एक-एक अक्षर समान रूप से प्रमाण है, इनमें गौण-मुख्य भाव मानने पर एकतर श्रुति का बाध होता है, इसलिए स्वाभाविक भेदाभेद मानने पर समस्त श्रुतियों का समन्वय होता है। इसलिए स्वाभाविक भेदाभेदवाद या द्वैताद्वैतवाद ही श्रुति समर्थित सिद्ध होता है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि यह श्रौत भेदाभेद तार्किक सम्मत भेदाभेद नहीं है। न्याय में तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव को भेद कहते हैं और एतादृश भेद के अभाव को अभेद कहते हैं। जब "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" "पुरुष एवेदं सर्वम्" आदि आदि श्रुतियों द्वारा जीव तथा सारा जगत् ब्रह्मात्मक सिद्ध है, फिर उसमें उक्त लक्षण (वैशेषिक मत सिद्ध) भेद कैसे संभव हो सकता है और सूत्र

कहता है 'अहि कुण्डलवत् भेदाभेद' अहिकुण्डल में भी तार्किक सम्मत भेद नहीं हो सकता क्योंकि अहिकुण्डल के सर्पात्मक होने से उसमें "तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव लक्षण" भेद कैसे हो सकता, अतः मानना पड़ेगा कि वैदिक भेदाभेद तार्किक भेदाभेद से विलक्षण है। श्रौतभेद का स्वरूप है। ब्रह्मात्मकत्व परिपन्थित्वाभावविशिष्ट तत्तत् स्वरूपगत वैलक्षण्य प्रतीति एवं विलक्षण कार्यकारिता का निर्वाहक धर्मविशेष भावरूप या अभावरूप विशेषता रूप है। उसमें ब्रह्मात्मकत्व के परिपन्थित्व का अभाव होने पर भी मुख्य भेद की तरह वैलक्षण्य प्रतीति निर्वाहक धर्म होने से भेद पद व्यवहार्यता होती है। इसी प्रकार यहाँ अभेद भी वैलक्षण्य परिपन्थित्व अंश के त्याग के साथ तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभावरूप भेद का अत्यन्ताभावरूप माना गया है। लौकिक अभेद में वैलक्षण्य अनुभव का विरोधित्व होने से वह अंश यहाँ भेदाभेद घटक अभेद पदार्थ में अनभिमत होने से उसका यहाँ त्याग है।

इसी प्रकार द्वैताद्वैत पदार्थ भी हमारा विलक्षण है द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम् इतं ज्ञातं इति द्वीतमेव द्वैतम् स्वार्थिक अण् प्रत्यय, तद्भिन्नम् अद्वैतम् यहाँ भी अद्वैत घटक नञ् पदवाच्य भेद तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव लक्षण नहीं माना गया क्योंकि जहाँ द्वैतत्व है, वहाँ द्वैतत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव रूप भेद कैसे रह सकता है। इसलिए द्वैत का अर्थ है द्वाभ्यां परस्पर विलक्षणाभ्यां प्रकाराभ्यां स्वतन्त्रसत्त्वपरतन्त्र सत्त्वाभ्यां चेतनाचेतनत्वाभ्यां च इतं ज्ञातं वस्तु द्वीतम् तदेव द्वैतम् अर्थात् स्वतन्त्रसत्त्व परतन्त्रसत्त्व भेद से दो तरह के तत्त्व हैं जीव और ब्रह्म। ब्रह्म स्वतन्त्रसत्ताश्रय जीव परतन्त्रसत्ताश्रय इस तरह तो द्वैत है और अद्वैत का अर्थ है तद्विलक्षण द्वैतविलक्षण अर्थात् ब्रह्मात्मकत्वरूप एक ही प्रकार से ज्ञात अर्थात् ब्रह्मात्मकत्वेन एक यह द्वैताद्वैत अर्थ है न कि अद्वैत का अर्थ है (द्वैताभिन्न) उदाहरण के लिए जैसे अज्ञान शब्द है। इसका अर्थ ज्ञानभिन्न नहीं होता। यदि अज्ञान का अर्थ ज्ञानभिन्न करेंगे तब अज्ञान शब्द का ज्ञानभिन्न घट में भी प्रयोग होने लगेगा, पर ऐसा नहीं होता। वहाँ अज्ञान का अर्थ होता है विपरीत ज्ञान। इसी तरह अद्वैत का अर्थ द्वैत भिन्न नहीं किन्तु द्वैत विलक्षण अर्थ है, इस प्रकार द्वैताद्वैत में सामानाधिकरण्य संभव है और यही भाव द्वैताद्वैत का निम्बार्क सम्प्रदाय में अभिप्रेत है। द्वैताद्वैत या भेदाभेद सम्बन्धी विशिष्ट एवं स्पष्ट जानकारी के लिए हमारे नित्यलीलालीन नव्य न्याय एवं शांकर वेदान्त के समस्त ग्रन्थों के विधिवत् गुरु मुख से अध्येता तथा मर्मज्ञ पूज्य गुरुदेव पं० भगीरथ जी झा मैथिल[1] द्वारा निर्मित 'द्वैताद्वैत विवेक' पुस्तक विद्वानों को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस पुस्तक में गुरुदेव ने नव्यन्याय की शैली में प्रौढ़ दार्शनिक भाषा में द्वैताद्वैत एवं स्वाभाविक भेदाभेद तत्त्व का विवेचन किया है। उस पुस्तक में आपने जगत् ब्रह्म के भेदाभेद, जीव ब्रह्म के भेदाभेद, नित्य परिकर सखीगण एवं सखागण के भेदाभेद एवं प्रिया प्रियतम के भेदाभेद का बड़ा मार्मिक तारतम्य बताया तथा विवेचन किया है, जो पढ़ने योग्य है। यह पुस्तक श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय में उपलब्ध है, कोई भी सज्जन वहाँ से प्राप्त कर पढ़ सकते हैं।

उक्त द्वैताद्वैत या स्वाभाविक भेदाभेद सिद्धान्त के अनुसार ही हमारे आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क

---

१. ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार शांकर भाष्य पर मिथिला निवासी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीवावस्पति मिश्र द्वारा भामती व्याख्या हो जाने पर ही उत्तर भारत में शांकर वेदान्त का व्यापक प्रचार हुआ, उसी तरह एक मिथिला वासी पूज्य श्री भगीरथ जी झा द्वारा कृत पाण्डित्यपूर्ण द्वैताद्वैत परिस्कार एवं वेदान्त तत्त्व समीक्षा से सारे भारत में द्वैताद्वैत दर्शन का विद्वत् समाज में प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

भगवान् ने वेदान्त पारिजात सौरभ में और श्रीनिवासाचार्य ने अपने वेदान्त कौस्तुभ भाष्य में तथा देवाचार्य एवं श्री सुन्दरभट्ट आदि पूर्वाचार्यों ने सिद्धान्त जाह्नवी एवं सेतु का आदि ग्रन्थों में ब्रह्म सूत्र की व्याख्याएँ की हैं जो अत्यन्त सरल भाषा में लिखी गई हैं।

-: वेदान्त कौस्तुभ प्रभा की आवश्यकता :-

प्रश्न है कि जब स्वसम्प्रदाय सिद्धान्तानुसार ब्रह्मसूत्र की व्याख्या पूर्वाचार्यो ने अपने उक्त भाष्यों में कर ही दी थी, फिर वेदान्त कौस्तुभ प्रभा नाम से ब्रह्मसूत्र भाष्य लिखने की क्या आवश्यकता थी? उसका उत्तर है कि वेदान्त कौस्तुभ आदि ग्रन्थ उस समय लिखे गये थे, जब शांकरभाष्य की रचना नहीं हुई थी। मायावाद, विवर्तवाद, अवच्छेदवाद आदि का प्रचार नहीं हुआ था। द्वैताद्वैत का खण्डन किसी ग्रन्थ में नहीं था। श्रीशंकराचार्य के वाद उक्त विचारधाराओं का प्रबल प्रचार हुआ। शांकरभाष्य में भामती आदि ग्रन्थों में द्वैताद्वैत मत का खण्डन हुआ था। अतः इन सबका निराकरण करने के लिए एक प्रौढ़ भाष्य ग्रन्थ की अतीव आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति १३वीं सदी में होने वाले जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य ने वेदान्त कौस्तुभप्रभा ब्रह्मसूत्रवृत्ति लिखकर की। इस ग्रन्थ में मायावादियों के अध्यासवाद, निर्विशेषब्रह्मवाद, निःसम्बोधिमोक्षवाद, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद आदि का खण्डन तत् तत् सम्बन्धित सूत्रों में प्रस्थानत्रयी के आधार पर अति विस्तार से दार्शनिक प्रौढ़ भाषा में किया गया है। सर्वप्रथम ग्रन्थ के आदि में प्रथम सूत्र की व्याख्या में अध्यासवाद के खण्डन में तो उन्होंने कमाल ही कर दिये हैं। इसके अलावा उपर्युक्त अन्यान्य विषयों का भी सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या में श्रीशांकर विचारधारा की जमकर समीक्षा की है। उनके निर्विशेष ब्रह्मवाद आदि सिद्धान्तों को श्रुति, स्मृति, गीता के विरुद्ध सिद्ध कर दिया है, जो देखने लायक है। इस प्रकार वेदान्त कौस्तुभ आदि ग्रन्थों से इसकी गतार्थता का कोई प्रश्न ही नहीं है। श्रीशांकरमत समीक्षा के लिए यह अद्भुत ग्रन्थ है, सम्प्रदाय का गौरव है और है समस्त वैष्णव सम्प्रदानुयायियों के लिए भी नितान्त मननीय।

ऐसे अतिगंभीर पूर्वोत्तर मीमांसा की शैली में लिखित दार्शनिक ग्रन्थ रत्न का अनुवाद मुझ सरीखे अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए कथमपि संभव नहीं था परन्तु नित्यलीलालीन आबालकृष्णभक्त श्री गुरुदेव एवं ग्रन्थ लेखक आचार्यपाद जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य महाराज की कृपा से ही मैं इस कठिन कार्य को कर सका। मैं अनुवाद प्रारम्भ करने से पहले नित्य श्रीगुरुदेव भगवान् एवं आचार्यचरण श्रीकेशवकाश्मीरि महाराज की मानसिक वन्दना करके ही इस कार्य को प्रारम्भ करता था। इस कार्य में मुझे नित्यलीलालीन स्वनामधन्य दार्शनिक सार्वभौम सम्प्रदाय रत्न पं. श्री अमोलराक जी शास्त्री की संस्कृत टीका से भी जहाँ-तहाँ खूब सहायता मिली इसलिए मैं उनका भी बहुत आभारी हूँ।

-: वेदान्त कौस्तुभ प्रभाकार का परिचय :-

वेदान्त कौस्तुभप्रभा वृत्तिकार जगद्विजयी केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र के अनन्तर उनसे लगभग तीसवीं पीढ़ी के आचार्य हैं। वे आदिवाणी युगलशतक के रचयिता रसिक शेखर श्रीश्रीभट्टदेव जी के गुरु एवं रसिक राजराजेश्वर महावाणीकार स्वामी श्रीहरिव्यासदेवाचार्य महाराज के परमगुरु थे। श्री श्रीभट्टदेवजी का समय उनके द्वारा विरचित

युगल शतक के अन्त में युगल शतक के रचनाकाल 'नयनवान पुनिराम शशी' के अनुसार १३५२ विक्रम सम्वत् होता है। इसके अनुसार श्रीकेशवकाश्मीरि जी का समय विक्रम की चौदहवीं सदी का आदि भाग या तेरहवीं सदी का अन्तिम भाग सिद्ध होता है।

सम्प्रदाय मूर्धन्य विद्वान् गोलोकवासी पं० अमोलक राम जी[1] शास्त्री के अनुसार उनका जन्म आन्ध्र प्रदेश के वैदुर्यपत्तन नगर में हुआ था। वे जैसे वेद-वेदाङ्ग के उद्‌भट्ट विद्वान् थे, प्रस्थानत्रयी के विशेषज्ञ थे, उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य एवं तपोमूर्ति थे। वे योगविद्या में निष्णात तथा तन्त्रशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे।

वे शास्त्रार्थ में अनेकानेक प्रतिवादियों को परास्त करने के कारण जगद्‌विजयी एवं अधिकतर काश्मीर में रहने के कारण जगद्‌विजयी केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के नाम से भारत में प्रसिद्ध थे।

उनके जीवन की सबसे प्रसिद्ध एवं चमत्कारी घटना विश्रामघाट मथुरा की घटना है। कहते हैं तत्कालीन किसी यवन फकीर ने हिन्दुओं को आतंकित करने के लिए मथुरा के विश्रामघाट पर एक ऐसा यन्त्र लगा दिया था जिसके नीचे से जाने पर हिन्दुओं की सुन्नत हो जाती थी। इस घटना से आतंकित होकर तत्कालीन पीड़ित हिन्दुओं ने जाकर श्रीकेशवकाश्मीरि प्रभु से प्रार्थना की तो वे हिन्दुओं के इस आतंक से द्रवित होकर तुरन्त मथुरा पधारे और पहले तो उस यवन फकीर से इस काम को बन्द करने को कहा। उसने जब नहीं माना तो श्रीकेशवकाश्मीरि जी ने तत्काल वहाँ एक यन्त्र लगा दिया जिसके नीचे यदि कोई यवन जाता तो वह वहीं मूर्छित होकर गिर जाता। तब भयभीत होकर उस यवन फकीर ने अपना यन्त्र वहाँ से हटा लिया। जैसा कि उनके चरित्र में लिखा है :-

"इन्द्रजालकृतं यन्त्रं पश्यन्ति स्मात्र माथुराः
दर्शनादेव यन्त्रस्य त्विन्द्रजालप्रभावतः।
अङ्गहीनां द्विजन्मानो म्लेच्छतां प्राप्नुवंश्च वै
स्थापिते गोपुरे यन्त्रे म्लेच्छाश्च यदृशुस्तया
दर्शनादेव यन्त्रस्य मूर्छाम्लेच्छाः प्रपेदिरे।।"

छप्पय भक्तमाल :-

श्रीकेशव भट्ट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तारी।
काश्मीरि की छाप पाप तापन जगमण्डन,
दृढ़ हरि भक्ति कुठार आनमत विटप विखंडन।
मथुरा महाम्लेच्छ वादकरि वरवर जीते,
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते।।
विदित बात संसार सब सन्त साखी नाहिन दूरी।
श्री केशव भट्ट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तरी।।

---

१. गोलोकवासी तार्किक रत्न रसिक शेखर श्रीशास्त्री जी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायन्तर्गत श्रीहरिदासी शाखा में दीक्षित थे और वे आजन्म अपने को श्रीनिम्बार्कीय मानते रहे श्रीहरिदासी शाखा को स्वतन्त्र मानने के वे प्रबल विरोधी थे जैसा कि आजकल कुछ लोग मान रहे हैं।

टीकाकार की उक्ति :-

आप काश्मीरी सुनी वसत विश्राम तीर तूरक समुह यन्त्र इक धारिये।
सहज सुभाऊ क्रोध निकसत आहता को पकरत धाई तोके सुन्नत निहारिये।।
सङ्ग के हजार शिष्य मरे भक्ति रङ्ग महा अरे वाही ढौर बोले नीच पर डालिये।
क्रोध मरि झारे आप सुवाये पुकारे वे तो देख सब हारे मारे जल वोर डारिये।।

इस प्रकार उनके अद्‌भुत प्रभाव का भक्तमालकार श्रीनाभादास जी महाराज एवं भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास जी महाराज ने वर्णन किया है।

श्रीकेशवकाश्मीरि द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस प्रकार हैं :-

01.	श्रीब्रह्मसूत्र वृत्ति कौस्तुभप्रभा	(प्रकाशित)
02.	उपनिषत् प्रकाशिका नामक द्वादश उपनिषद् भाष्य	(अप्रकाशित)
03.	श्रीमद्‌भागवत्‌गीता की तत्त्वप्रकाशिका टीका	(प्रकाशित)
04.	तन्त्र ग्रन्थ क्रमदीपिका	(प्रकाशित)
05.	विष्णुसहस्त्रनाम भाष्य	(अप्रकाशित)
06.	श्रीमद्‌भागवत तिलक	(प्रकाशित)
07.	अनेकानेक संस्कृत भागवतस्तोत्र	

मूल प्रेरक :-

इस महान् ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के मूल प्रेरक महान्त श्रीसन्तदास जी महाराज, श्रीनिम्बार्ककुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन हैं। श्रीसन्तदास जी महाराज वेदादि शास्त्रों पर अटूट श्रद्धा रखते हैं। आप जब कभी मिलते हैं, श्रुति, स्मृति, पुराणों की चर्चा करते हैं और उन पर अपनी अपार श्रद्धा व्यक्त करते हैं। आपने-अपने आश्रय में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी बना रखा है जिसमें प्रायः सभी पुराणों का संग्रह कर रखा है, पुराणों के स्वाध्याय का आपको बड़ा शौक है। आपकी महती इच्छा रहती है कि सम्प्रदाय की अमुद्रित एवं मुद्रित पुस्तकों का सानुवाद प्रक़ाशन हो। इसके लिए आप सतत् प्रयत्नशील रहते हैं तथा चिन्तित रहते हैं।

आपके ही सत् प्रयास से प्रकृत दार्शनिक ग्रन्थ रत्न का सानुवाद प्रकाशन संभव हो सका। आपने सर्वप्रथम महन्त पूज्य श्री युगला शरण ब्रह्मचारीजी महाराज पाटनारायण को प्रेरित किया और उनसे अनुमति प्राप्त होने पर मुझको इसके लिए प्रेरित किया। श्रीबाबाजी की प्रेरणा से ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ। जब तक इसका अनुवाद नहीं हो पाया था, (लगभग दो साल में इसका अनुवाद हो पाया) तब तक बाबा मुझ से सम्पर्क बनाये रहे और शीघ्र अनुवाद कार्य सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। इस प्रकार इस ग्रन्थ का अनुवाद और इसके प्रकाशन में बाबा श्रीसन्तदासजी महाराज का सर्वोपरि योगदान है। सम्प्रदाय की इस महती अहैतुक सेवा के लिए बाबा महाराज को बहुत-बहुत साधुवाद।

युगल शतक के अन्त में युगल शतक के रचनाकाल 'नयनवान पुनिराम शशी' के अनुसार १३५२ विक्रम सम्वत् होता है। इसके अनुसार श्रीकेशवकाश्मीरि जी का समय विक्रम की चौदहवीं सदी का आदि भाग या तेरहवीं सदी का अन्तिम भाग सिद्ध होता है।

सम्प्रदाय मूर्धन्य विद्वान् गोलोकवासी पं० अमोलक राम जी[1] शास्त्री के अनुसार उनका जन्म आन्ध्र प्रदेश के वैदुर्यपत्तन नगर में हुआ था। वे जैसे वेद-वेदाङ्ग के उद्‌भट्ट विद्वान् थे, प्रस्थानत्रयी के विशेषज्ञ थे, उसी प्रकार ज्ञान वैराग्य एवं तपोमूर्ति थे। वे योगविद्या में निष्णात तथा तन्त्रशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे।

वे शास्त्रार्थ में अनेकानेक प्रतिवादियों को परास्त करने के कारण जगद्‌विजयी एवं अधिकतर काश्मीर में रहने के कारण जगद्‌विजयी केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य के नाम से भारत में प्रसिद्ध थे।

उनके जीवन की सबसे प्रसिद्ध एवं चमत्कारी घटना विश्रामघाट मथुरा की घटना है। कहते हैं तत्कालीन किसी यवन फकीर ने हिन्दुओं को आतंकित करने के लिए मथुरा के विश्रामघाट पर एक ऐसा यन्त्र लगा दिया था जिसके नीचे से जाने पर हिन्दुओं की सुन्नत हो जाती थी। इस घटना से आतंकित होकर तत्कालीन पीड़ित हिन्दुओं ने जाकर श्रीकेशवकाश्मीरि प्रभु से प्रार्थना की तो वे हिन्दुओं के इस आतंक से द्रवित होकर तुरन्त मथुरा पधारे और पहले तो उस यवन फकीर से इस काम को बन्द करने को कहा। उसने जब नहीं माना तो श्रीकेशवकाश्मीरि जी ने तत्काल वहाँ एक यन्त्र लगा दिया जिसके नीचे यदि कोई यवन जाता तो वह वहीं मूर्छित होकर गिर जाता। तब भयभीत होकर उस यवन फकीर ने अपना यन्त्र वहाँ से हटा लिया। जैसा कि उनके चरित्र में लिखा है :-

"इन्द्रजालकृतं यन्त्रं पश्यन्ति स्मात्र माथुराः
दर्शनादेव यन्त्रस्य त्विन्द्रजालप्रभावतः।
अङ्गहीनां द्विजन्मानो म्लेच्छतां प्राप्नुवंश्च वै
स्थापिते गोपुरे यन्त्रे म्लेच्छाश्च यदृशुस्तया
दर्शनादेव यन्त्रस्य मूर्छाम्लेच्छाः प्रपेदिरे।।"

छप्पय भक्तमाल :-

श्रीकेशव भट्ट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तारी।
काश्मीरि की छाप पाप तापन जगमण्डन,
दृढ़ हरि भक्ति कुथर आनमत विटप विखंडन।
मथुरा महाम्लेच्छ वादकरि वरवर जीते,
काजी अजित अनेक देखि परचै भै भीते।।
विदित बात संसार सब सन्त साखी नाहिन दूरी।
श्री केशव भट्ट नर मुकुट मणि जिनकी प्रभुता विस्तरी।।

---

१. गोलोकवासी तार्किक रत्न रसिक शेखर श्रीशास्त्री जी श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायन्तर्गत श्रीहरिदासी शाखा में दीक्षित थे और वे आजन्म अपने को श्रीनिम्बार्कीय मानते रहे श्रीहरिदासी शाखा को स्वतन्त्र मानने के वे प्रबल विरोधी थे जैसा कि आजकल कुछ लोग मान रहे हैं।

टीकाकार की उक्ति :-

आप काश्मीरी सुनी वसत विश्राम तीर तूरक समुह यन्त्र इक धारिये।
सहज सुभाऊ क्रोध निकसत आहता को पकरत धाई तोके सुन्नत निहारिये।।
सङ्ग के हजार शिष्य मरे भक्ति रङ्ग महा अरे वाही ढौर बोले नीच पर डालिये।
क्रोध मरि झारे आप सुवाये पुकारे वे तो देख सब हारे मारे जल वोर डारिये।।

इस प्रकार उनके अद्भुत प्रभाव का भक्तमालकार श्रीनाभादास जी महाराज एवं भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास जी महाराज ने वर्णन किया है।

श्रीकेशवकाश्मीरि द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस प्रकार हैं :-

01.	श्रीब्रह्मसूत्र वृत्ति कौस्तुभप्रभा	(प्रकाशित)
02.	उपनिषत् प्रकाशिका नामक द्वादश उपनिषद् भाष्य	(अप्रकाशित)
03.	श्रीमद्भागवत्गीता की तत्त्वप्रकाशिका टीका	(प्रकाशित)
04.	तन्त्र ग्रन्थ क्रमदीपिका	(प्रकाशित)
05.	विष्णुसहस्त्रनाम भाष्य	(अप्रकाशित)
06.	श्रीमद्भागवत तिलक	(प्रकाशित)
07.	अनेकानेक संस्कृत भागवतस्तोत्र	

मूल प्रेरक :-

इस महान् ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद के मूल प्रेरक महान्त श्रीसन्तदास जी महाराज, श्रीनिम्बार्ककुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन हैं। श्रीसन्तदास जी महाराज वेदादि शास्त्रों पर अटूट श्रद्धा रखते हैं। आप जब कभी मिलते हैं, श्रुति, स्मृति, पुराणों की चर्चा करते हैं और उन पर अपनी अपार श्रद्धा व्यक्त करते हैं। आपने-अपने आश्रय में एक छोटा-सा पुस्तकालय भी बना रखा है जिसमें प्रायः सभी पुराणों का संग्रह कर रखा है, पुराणों के स्वाध्याय का आपको बड़ा शौक है। आपकी महती इच्छा रहती है कि सम्प्रदाय की अमुद्रित एवं मुद्रित पुस्तकों का सानुवाद प्रक़ाशन हो। इसके लिए आप सतत् प्रयत्नशील रहते हैं तथा चिन्तित रहते हैं।

आपके ही सत् प्रयास से प्रकृत दार्शनिक ग्रन्थ रत्न का सानुवाद प्रकाशन संभव हो सका। आपने सर्वप्रथम महन्त पूज्य श्री युगला शरण ब्रह्मचारीजी महाराज पाटनारायण को प्रेरित किया और उनसे अनुमति प्राप्त होने पर मुझको इसके लिए प्रेरित किया। श्रीबाबाजी की प्रेरणा से ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ। जब तक इसका अनुवाद नहीं हो पाया था, (लगभग दो साल में इसका अनुवाद हो पाया) तब तक बाबा मुझ से सम्पर्क बनाये रहे और शीघ्र अनुवाद कार्य सम्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। इस प्रकार इस ग्रन्थ का अनुवाद और इसके प्रकाशन में बाबा श्रीसन्तदासजी महाराज का सर्वोपरि योगदान है। सम्प्रदाय की इस महती अहैतुक सेवा के लिए बाबा महाराज को बहुत-बहुत साधुवाद।

विवशता ही कारण है दुराग्रह नहीं :-

इस पुस्तक में कतिपय सूत्रों के अनुवाद में मेरे द्वारा मायावाद के विपरीत कुछ टिप्पणियाँ हो गई हैं, वे किसी साम्प्रदायिक दुराग्रह या रागद्वेष वश नहीं, बल्कि विदेहराजजनक याज्ञवल्क्य द्वारा प्रवर्तित विशुद्ध वैदिक सनातन विष्णुप्रधान स्मतिवादी मैथिल सम्प्रदाय में प्राप्त जन्मा मेरा श्रीकृष्णानुरागी मन ही श्रुतिसूत्र प्रतिकूल निर्धमक ब्रह्मवाद को स्वीकार नहीं किया, अतः मानसिक व्यथा से ही वे टिप्पणियाँ स्वतः हो गई, वह भी केवल भाष्यकार आचार्य के भाष्य के प्रति ही न कि प्रबोध सुधाकर, श्रीविष्णुसहस्त्रनाम, पद्मपुराणोक्त, वासुदेव सहस्त्रनामावली तथा श्रीमध्वाचार्य रचित भागवत तात्पर्य के अनुसार भागवत व्याख्याकार एवं अनेकानेक श्रीराधाकृष्णपरत्वप्रतिपादक युगलप्रेमवर्धक आद्याचार्य श्रीशंकराचार्य के प्रति उन अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् शंकरावतार श्रीराधाकृष्ण के अनन्य अनुरागी सनातन धर्म उद्धारक श्रीशंकर प्रभु के श्रीचरणों में तो मेरा कोटि-कोटि प्रणाम है। मेरा तो उन कृष्णानुरागी आद्याचार्य भगवान् श्रीशंकराचार्य प्रभु से भी यही प्रार्थना है कि वे मेरा प्रियाप्रियतम श्रीराधामाधव युगल चरणारविन्द में जन्म-जन्मान्तर अहैतुक अनुराग बना रहे साथ ही उनमें प्रेमवर्धक सविशेष ब्रह्मवाद में मेरी निष्ठा बनी रहे। यही आशीर्वाद दें।

फिर भी उक्त टिप्पणी से यदि किन्हीं महानुभाव के चित्त में कुछ भी क्षोभ हो तो मेरी विवशता मानकर वे क्षमा करेंगे।

सम्पादक : वैद्यनाथ झा

द्वारा प्रवर्तक अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के शिष्यों (द्वाराचार्यों) के नाम :-
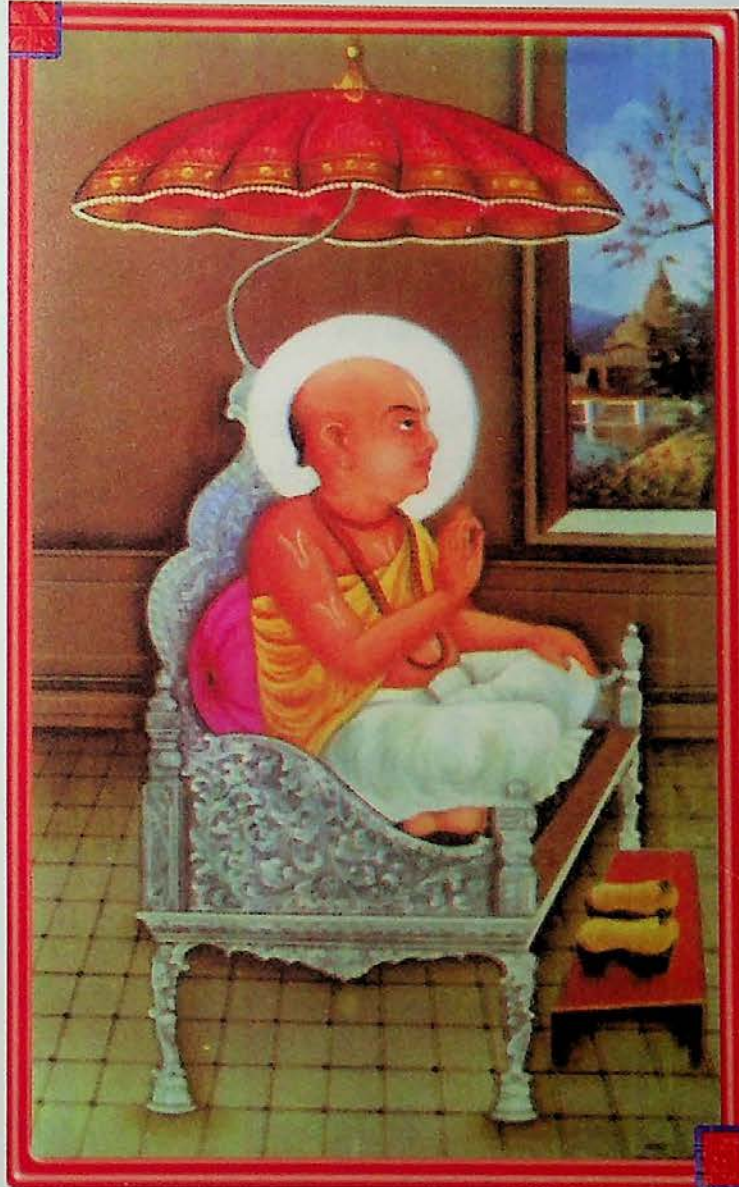
*35 वाँ आचार्य **नि. श्रीहरिव्यास देवाचार्य जी***

01. श्रीस्वभूरामदेवाचार्य
02. श्रीपरशुरामदेवाचार्य
03. श्रीवोहितदेवाचार्य
04. श्रीमदनगोपालदेवाचार्य
05. श्रीउद्धवघमण्डदेवाचार्य
06. श्रीवाहुलदेवाचार्य
07. श्रीलपरागोपालदेवाचार्य
08. श्रीहृषीकेशदेवाचार्य
09. श्रीमाधवदेवाचार्य
10. श्रीकेशवदेवाचार्य
11. श्रीगोपालदेवाचार्य
12. श्रीमुकुन्ददेवाचार्य

12+½. श्रीदेवी (अर्द्ध शिष्या)

नोट :- उपर्युक्त आचार्यों की नामावली प. प्रवर श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री द्वारा रचित सिद्धान्त मन्दाकिनी ग्रन्थ से उद्धृत है।

श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्कमहामुनीन्द्रप्रणीत

वेदान्त-दशश्लोकी

ज्ञानस्वरूपञ्च हरेरधीनं, शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं, ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।।१।।

अनादिमायापरियुक्तरूपं, त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्।
मुक्तं च बद्धं किलबद्धमुक्तं, प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम्।।२।।

अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च, कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं, शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र।।३।।

स्वभावतोऽपास्त-समस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परंवरेण्यं, ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।।४।।

अङ्गेतुवामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितांसदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।५।।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा, प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं, श्रीनारादायाखिलतत्त्वसाक्षिणे।।६।।

सर्वंहि विज्ञानमतोयथार्थकं, श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादितिवेदविन्मतं, त्रिरूपताऽपि श्रुतिसूत्रसाधिता।।७।।

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्, संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा, दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।।८।।

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते, यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः, सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा।।९।।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च, कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनोरूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः।।१०।।

❖❖❖❖❖❖

दूरभाष एस.टी.डी. ०१४६३
७८२१ आचार्यमहल
७८३१ कार्यालय
७८२९ निम्बार्क विहार

॥ श्रीसर्वेश्वरो जयति ॥

मिति -- चैत्र कृष्णा २
गुरुवार, वि०सं०२०६०

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्र-चूड़ामणि, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतप्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री "श्रीजी" महाराज

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, श्रीनिम्बार्कतीर्थ

सलेमाबाद–किशनगढ़ (अजमेर) राज.–३०५८१५

क्रमांक

दिनांक ३-४-२००३

की

शुभाशीर्वादात्मक – मङ्गलमयीकामना

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमकरुणावरुणालय जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य ने आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष की अति पावन सुरम्य धरित्री पर दक्षिणाञ्चल गोदावरी तटवर्ती पैठन सन्निकट मूंगी ग्रामस्थ अरुणाश्रम में महर्षिवर्य श्रीअरुण के यहाँ माता श्रीजयन्ती के उदर से श्रीहरिकरकमलस्थ चक्रराज श्रीसुदर्शन ही मनुज रूप में आचार्यस्वरूप से प्रकट हो वैष्णवता का प्रचुर प्रसार किया । आप सपरिकर व्रज में श्रीगोवर्धन की उपत्यका (तरैटी) में आकर तपःसाधना की । यहीं पर दिवाभोजी यतिरूप में समागत जगत् रचयिता श्रीब्रह्मा को सूर्यास्त पर श्रीसुदर्शनचक्रराज का आवाहन कर उन्हें निम्बवृक्ष में सूर्यवत् दर्शन कराके उनका भगवत्प्रसाद से आतिथ्य किया । यति रूप ब्रह्मा ने उन्हें सुदर्शनचक्रावतार के वास्तविक स्वरूप को अवगत कर निम्बार्क नाम से सम्बोधित किया । निम्बार्क नाम से पूर्व आप नियमानन्द नाम से ही अभिहित किये जाते रहे हैं। यहीं पर आपने देवर्षिवर श्रीनारदजी से श्रीगोपालमन्त्रराज की वैष्णवी दीक्षा एवं श्रीसनकादि संसेव्य श्रीसर्वेश्वर प्रभु जो गुञ्जाफल सम सूक्ष्म शालग्राम स्वरूप हैं उनकी दिव्य सेवा प्राप्त की । आपने सर्वत्र वैष्णव धर्म का प्रचार कर सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । निम्बार्क सम्प्रदाय वैष्णव चतुःसम्प्रदाय में सर्वप्राचीन सम्प्रदाय है । श्रीनिम्बार्क भगवान् ने वेदान्त दर्शन में प्रस्थानत्रयी पर भाष्य प्रणयन कर स्वाभाविक द्वैताद्वैत सिद्धान्त तथा वृन्दावन निकुञ्ज रस परक भगवान् श्रीराधाकृष्ण की दिव्य उपासना का सञ्चार किया । **वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी** में सभी कुछ समाविष्ट है । ब्रह्मसूत्र भाष्य पर **वेदान्तपारिजात सौरभ** नामक वृत्यात्मक भाष्य आपके द्वारा रचित जगद्विख्यात है । इसी भाष्य को वृहद् रूप दिया आपके पट्टशिष्य पाञ्चजन्य शंखावतार श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराज ने जो **वेदान्त कौस्तुभ** नाम से लोक विश्रुत है । इसी वेदान्त कौस्तुभ पर श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य जगद्गुरु जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मिरी भट्टाचार्यजी महाराज ने **प्रभावृत्ति** नामक वृहद् संस्कृत व्याख्या प्रस्तुत की । जो दार्शनिक जगत् में परम विख्यात विस्तृत प्राञ्जल अकाट्य और अनिर्वचनीय है । श्रीनिम्बार्क भगवान् द्वारा विरचित और भी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं । **ब्रह्मसूत्र** पर क्रमशः भाष्य और जो-जो व्याख्यायें हुई उनमें
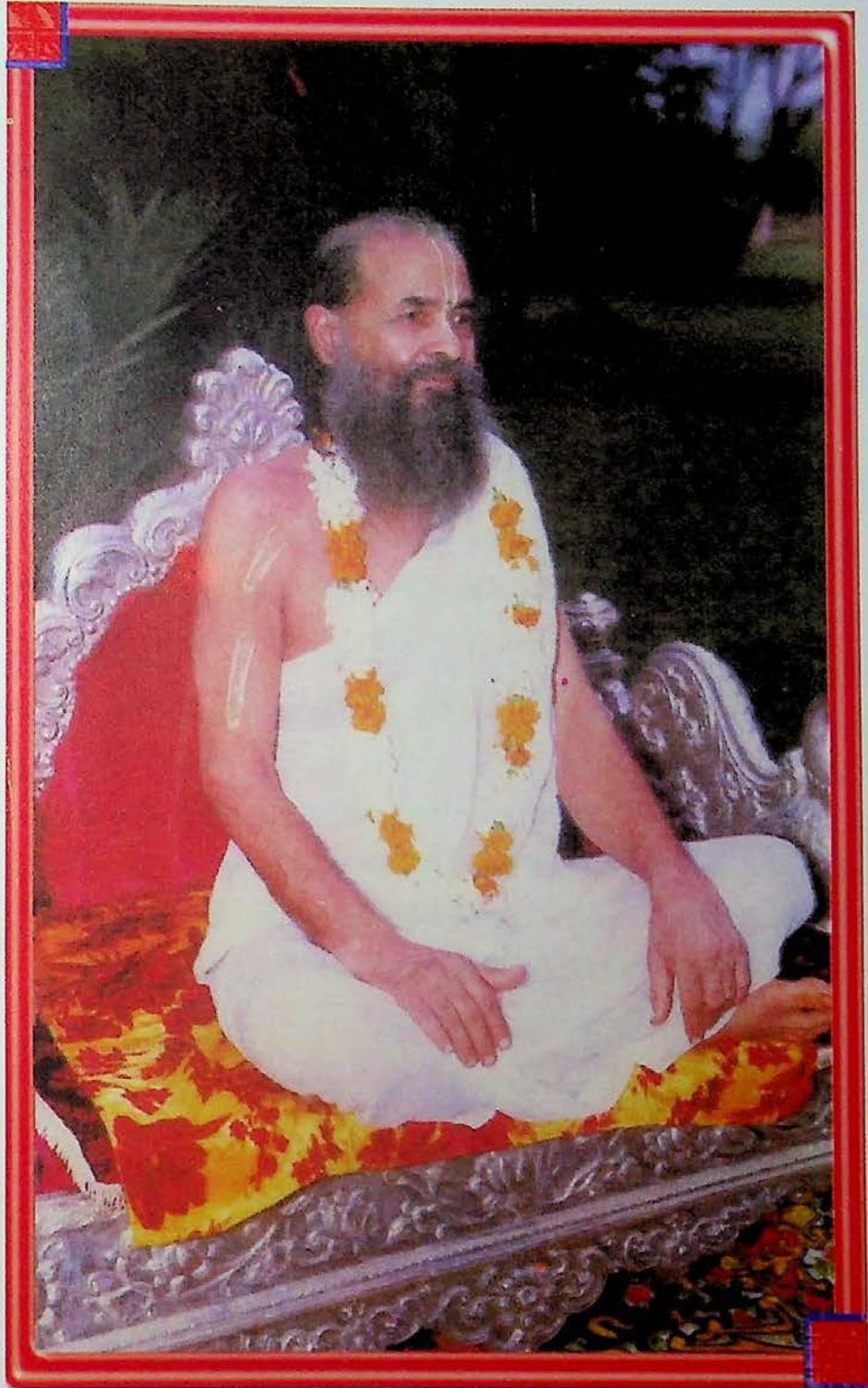
जगद्गुरु निम्बार्काचार्य

श्री राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य जी महाराज

निम्बार्क तीर्थ (सलेमाबाद) किशनगढ़, राजस्थान

दूरभाष एस.टी.डी. ०१४६३
७८२१ आचार्यमहल
७८३१ कार्यालय
७८२४ निम्बार्क विहार

॥ श्रीसर्वेश्वरो जयति ॥

मिति----------------

॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ॥

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्र-चूड़ामणि, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतप्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्रीविभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री "श्रीजी" महाराज

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, श्रीनिम्बार्कतीर्थ
सलेमाबाद–किशनगढ़ (अजमेर) राज.–३०५८१५

क्रमांक दिनांक.........

प्रभावृत्ति अत्यन्त विलक्षण है। इसका बहुत पूर्व विद्वद्वरेण्य पं० श्रीअमोलकरामजी शास्त्री तर्कतीर्थ तर्क वागीश के द्वारा प्रणीत व्याख्या सहित प्रकाशन हुआ था। अब वे प्रतियाँ बहुत स्वल्प रूप में हैं। अत्यन्त प्रसन्नता है कि आयुर्वेदमार्तण्ड महान्तवर्य ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज पाटनारायण स्थान आबू (राजस्थान) के सत्संकल्प एवं आर्थिक योग द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कृत पण्डित प्रवर श्रीवैद्यनाथजी झा व्या. न्याय वेदान्ताचार्य द्वारा उस पर हिन्दी अनुवाद होकर प्रकाशन हो रहा है, जो सम्प्रदाय के लिये अत्यन्त गौरवास्पद है। यह **प्रभावृत्ति** सानुवाद सभी सुधीजनों के लिये निम्बार्क वेदान्त दर्शन अध्येता शिक्षार्थियों के लिये परमोपादेय महत्वपूर्ण कार्य होगा। महान्तजी महाराज यह अतिशय स्पृहणीय एवं सम्प्रदाय के लिये गरिमामय कार्य हुआ है। श्रीझाजी ने जिस सपरिश्रम वैदुष्य से इसका सानुवाद सम्पादन किया है वह सदा सर्वदा सम्प्रदाय एवं वैष्णव जगत् में चिरस्मरणीय रहेगा। अन्त में इन सभी के लिये भगवान् श्रीसर्वेश्वर प्रभु से सर्वविध मङ्गल हेतु पावन प्रार्थना एवं मङ्गल-कामना है।

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य
श्री 'श्रीजी' महाराज
अ.भा. श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ (सलेमाबाद)
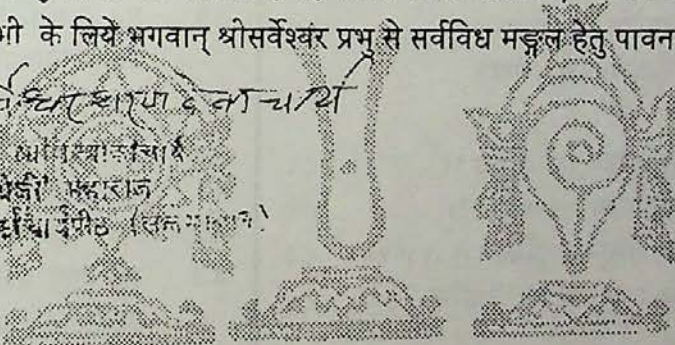
महर्षिकृष्णद्वैपायनवेदव्यासविरचितम्

श्री ब्रह्मसूत्रम्

उत्तरमीमांसाशास्त्रम्

प्रथम–अध्याय

प्रथम अध्याय : प्रथम पाद — पृष्ठ

पृष्ठ

प्रथम अध्याय : द्वितीय पाद

प्रथम अध्याय : तृतीय पाद

प्रथम अध्याय : चतुर्थ पाद

❖❖❖❖❖❖❖

द्वितीय-अध्याय

द्वितीय अध्याय : प्रथम पाद

<u>द्वितीय अध्याय : द्वितीय पाद</u>

द्वितीय अध्याय : तृतीय पाद

द्वितीय अध्याय : चतुर्थ पाद

तृतीय-अध्याय

तृतीय अध्याय : प्रथम पाद

तृतीय अध्याय : द्वितीय पाद

तृतीय अध्याय : तृतीय पाद

तृतीय अध्याय : चतुर्थ पाद

चतुर्थ-अध्याय

चतुर्थ अध्याय : प्रथम पाद

चतुर्थ अध्याय : द्वितीय पाद

चतुर्थ अध्याय : तृतीय पाद

<u>चतुर्थ अध्याय : चतुर्थ पाद</u>

श्रीनिम्बार्कभाष्यानुसारं सूत्रसंख्या एकोनपञ्चाशदधिक- पञ्चशतानि ५४९

१. भक्तों के नित्य पाठ करने तथा परतत्त्व स्वरूप के साङ्गोपाङ्ग सदा चिन्तन के लिए-अध्यात्म जगत् के इस सर्वोपरि शास्त्र का यहाँ एकत्र संग्रह कर दिया गया है। आशा है इससे भक्तों को महान् लाभ होगा।
—सम्पादक : वै०ना०झा

अथ विषयानुक्रमणिका

क्र० विवरण

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

(३०) "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" इस नियम के अनुसार अर्थवाद वाक्यों की तरह वेदान्तवाक्य भी कर्मपरक ही हैं- इस मीमांसक मान्यता का खण्डन कर वेदान्त वेद्य ब्रह्मा ही है इसका समर्थन 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र की व्याख्या में

(३१) 'तत्तु समन्वयात्' की व्याख्या

ईक्षत्यधिकरण

(३२) इस अधिकरण में ६ सूत्रों द्वारा छान्दोग्य श्रुति की सद्‌विद्या (सदेव सौम्येदमग्र आसीत् के आधार पर सांख्यमिमत अचेतन प्रधान कारणवाद का महत्वपूर्ण खण्डन

आनन्दमयाधिकरण

(३३) इस अधिकरण में 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र से ८ सूत्रों की तैत्तरीय श्रुति की रसविद्या में आनन्दमय शब्द द्वारा का प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है न कि जीव या प्रधान इसका महत्वपूर्ण विचार

(३४) आनन्दमय ब्रह्मवाद के श्रीशंकराचार्य द्वारा खण्डन की महती समीक्षा तथा इस अधिकरण में उनके उक्त खण्डन का महान् विखण्डन

(३५) य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषोदृश्यते' इस छान्दोग्य श्रुति में वर्णित आदित्य मण्डलान्तर्गत पुरुष परमात्मा ही है न कि जीव विशेष इसका प्रतिपादन अन्तस्तद्‌धर्मोपेदशात् तथा भदेव्यपदेशाव्वान्य सूत्र में

(३६) 'आकाद्धेलव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इस छान्दोग्य श्रुति घटक आकाशपदवाच्य ब्रह्म ही है न कि जीव इसका प्रतिपादन- आकाशस्तल्लिङ्गात्' सूत्र

(३७) 'अत एव प्राणः' सूत्र द्वारा सर्वाणि ह वा भूतानि प्राणमेवास्मिसम्विशन्ति' श्रुति घटक प्राण पद वाच्यता ब्रह्म में ही है

(३८) छान्दोग्य की गायत्री विद्या में प्रतिपादित 'अथ यदतःपरो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' श्रुति वर्णित ज्योतिः शब्द वाच्यता ब्रह्म में ही है- ज्योतिश्चरणाभिधानात्'

(३९) कौषीतकि ब्राह्मण में प्रतर्दन विद्या में 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य परं धामोपजणाम' श्रुति में इन्द्र शब्द वाच्य पर ब्रह्म ही है न कि जीव इस का प्रतिपादन १-१-२९ से १-१-३२

अस्पष्ट जीवलिङ्गाक वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय प्रथम अध्याय द्वितीयपाद

(४०) छान्दोग्य श्रुति वर्णित 'सर्व खल्विदं ब्रह्म यथाक्रतुरस्मिंल्लोके मनोमयः प्राणशरीरः भा रूपः' श्रुति में मनोमयत्व आदि गुणों वाला क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेन प्रतिपादित है अथवा ब्रह्म इस प्रश्न पर सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् १/२/१ से १/२/८ सूत्र तक प्रसिद्धाधिकरण में मनोमयत्व आदि गुणों वाला उपास्य ब्रह्म ही है- इसका निरूपण

(१४१) 'यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं च उभेभवत ओदनः' इस कठोपनिषद् वाक्य में वर्णित सबका अङ्ग जीव है या ब्रह्म ऐसा संशय होने पर वहाँ का अत्ता ब्रह्म ही है न कि जीव इसका निरूपण "अत्ता चराचरग्रहणात्" अधिकरण के दो सूत्रों में

(४२) "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोकेः' कठोपनिषत् १/३/१ श्रुति में वर्णित सत्यपान कर्तृतया निर्दिष्ट जीव, परमात्मा है या बुद्धि जीव? ऐसा संशय होने पर हृदय गुफा में प्रविष्ट जीव परमात्मा ही है का निरूपण

(४३) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते ६/४/१५/१ श्रुति में नेत्र आधारित पुरुष परमात्मा ही है- जीव आदि नहीं का निर्धारण १/२/१३ से १/२/१५ तक

अर्न्यामी अधिकरण

(४४) 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर' यहाँ से 'एष ते आत्मा अन्तर्याम्यमृत' यहाँ तक की बृहदारण्यक श्रुतियों में पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष वायु आकाश आदि में अन्तर्यामी रूप में विराजमान परमात्मा ही है न कि जीव आदि इसका निर्धारण (१/२/१९ से १/२/२१ तक सूत्रों में)

अदृश्यत्व अधिकरण :-

(४५) 'अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्य मग्राह्य मनोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्र' इत्यादि श्रुतियों में अदृश्यत्वादि गुण युक्त परमात्मा ही है न कि प्रधान पुरुष- इसका निर्धारण १/२/२२ से १/२/२४ सूत्रों में।

वैश्वानर अधिकरण :-

(४६) 'को न आत्मा किं ब्रह्म आत्मानमेवैकं वैश्वांकर सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' इस छान्दोग्य श्रुति का वैश्वानर परमात्मा ही है न कि जाठराग्नि, भूतानि अथवा देवता विशेष का निर्धारण १/२/२५ से १/२/३३ तक

प्रथमाध्याय का द्वितीय पाद समाप्त

अथ घुम्वाधिकरण :-

अस्पष्ट जीवलिङ्क्क वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में समन्वयार्थ तृतीय पाद

(४७) "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" इस मुण्डक श्रुति में द्यु भू आकाश आदि का आधार ब्रह्म ही है न कि प्रधान या जीव इसका निर्धारण १/३/१ से १/३/७ तक

भूमा अधिकरण :-

(४८) "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य" "भूमानं भगवो विजिज्ञा से यत्र नान्यत् पश्यति नान्यद् विनानाति स भूमा" इस छान्दोग्य श्रुति का भूमा पुरुष परमात्मा ही है न कि जीवात्मा इसका निर्धारण है १/३/८ से १/३/९ तक

अक्षराधिकरण :-

(४९) "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति सहोवाच एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलम् इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति का अक्षर परमात्मा पर ब्रह्म ही है न कि प्रधान या जीव इसका निर्धारण सूत्र १/३/१० से १/३/१२ तक

(५०) "यः पुनरेतं त्रिमाभेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परंपुरुष ममिध्यायीत्? इस प्रश्नोपनिषत् में ईक्षण क्रिया विषयत्वेन वर्णित परमात्मा ही है न कि जीव आदि इसका निर्धारण है १/३/१३

दहराधिकरण :-

(५१) "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्य दहरोऽस्मिन्नतराकाशस्तस्मिन् यदन्त एतदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" यहाँ दहराकाश परमात्मा ही है जीव आदि न ही इसका निर्धारण १/३/१४ से १/३/२३ तक

अथ प्रमित अधिकरण :-

(५२) "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति इस कष्वल्ली पाठ में अङ्गुष्ठ प्रमित रूप में परमात्मा का ही ग्रहण है न कि जीवात्मा का इसका वर्णन है १/३/२४ से १/३/२५ तक

(५३) देवताओं का ब्रह्मोपासना में अधिकार का निविर्णय सूत्र १/३/२६ से १/३/२८ पृष्ठ-१५६ से १६१ तक देवताओं के विग्रह का विचार १/३/२७ से १/३/२८ तक

(५४) शब्दमय वेद की नित्यता सूत्र १/३/२९ - ३० देवताअधिकरण में

अथ मध्वधिकरण :-

(५५) मधुविद्या में देवताओं के अधिकार का विचार

(५६) मधुविद्या में देवताओं का अधिकारनहीं है, ऐसा जैमिनि का मत है सू० १/३/३१

(५७) वादरायण मत में मधुविद्या में देवताओं का अधिकार सूत्र १/३/३२

अपशूद्राधिकरण

(५८) शूद्र के ब्रह्मविद्या में अधिकार का खण्डन सू० १/३/३४ उस १/३/३६ तक
प्रमित अधिकरण का शेष १४१-१७२ तक

(५९) "आकाशो ह वै नाम रूपयोर्निर्वहिता" इस छान्दोग्य श्रुति में आकाशपदवाच्य ब्रह्म ही है न कि परमात्मा- इसका निरूपण पृ० १७३ सूत्र १/३/४२

(६०) जीव से भिन्न रूप में परमात्मा का उपदेश १/३/४३ -४४ सू०

प्रथमाध्याय तृतीय पाद की समाप्ति

प्रथमाध्याय चतुर्थपाद

अब्रह्मात्मक प्रधानपुरुषपरत्वेन प्रतीयमान वेदान्त वाक्यों का भी ब्रह्म में ही समन्वय है न कि अचेतन प्रधान कारण वाद में इसके निर्णयार्थ चतुर्थपाद का आरम्भ।

(६१) "महतः परमव्यक्त्तमव्यक्तात् पुरुषः परः पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" इस कठवली श्रुति के आधार पर अचेतन प्रधान कारणवाद के समर्थन का निराकरण सूत्र १/४/१ से १/४/७ तक

आनुमानिक अधिकरण :-

(६२) कठोपनिषत् के नाचिकेत उपाख्यान के तीन प्रश्नों का विचार तथा तीन प्रश्नों में अग्निविद्या, जीवविद्या तथा परमात्मा विद्या ही है न कि सांख्यतन्त्र प्रसिद्ध प्रधान इसका विवेचन सू० १/४/६-७

चमसाधिकरण :-

(६२) "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी० प्रजाः सृजमानां सरूपाः" इस श्रुति द्वारा अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद सिद्धान्त का निराकरण - 'चमसवदविशेषात् १/४/८ से १/४/१०

अथ संख्योपसंग्रहाधिकरण :-

(६३) 'अथ यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति द्वारा पञ्चविंशत्यात्मक तत्त्ववादि अब्रह्मात्मक प्रधान कारण वाद के समर्थन का निराकरण। सू० १/४/१० व १/४/१३ तक

कारणत्वाधिकरण :-

(६४) वेदान्त वाक्यों में सृष्टि के अनेक कारणबोधक शब्द होने पर भी समस्तकारण वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय

जगद्वाचिकत्वाधिकरण :-

(६५) सांख्यमत का पुनः खण्डन प्रकार भेद से १६४ से १६७ तक इस सम्बन्ध में जैनीय मत की समीक्षा

अथवाक्यान्वयाधिकरणम् :-

(६६) 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। श्रुति में आत्म शब्द प्रतिपाद्य परमात्मा ही है-

(६७) विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत का विश्लेषण ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादान कारणता का समर्थन इसमें प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् आत्मकृतेः परिणामात् आदि सूत्रों पर विस्तृत व्याख्या है।

समन्वयाध्याय नामक प्रथम अध्याय सम्पूर्ण

अविराधाध्याय नामक द्वितीय अध्याय

"विरोधाधानखिलान् छित्वा यत्र सर्वाः श्रुतीः पुनः संयोजिता हरावेव तं कृष्णं नोसि नित्यशः"

द्वितीय अध्याय का प्रथम पाद- स्मृति पाद

(६८) चेतन ब्रह्म कारणवाद में उपस्थापित सांख्य स्मृति विरोध का मनुआदि चेतन कारणवादी स्मृतियों द्वारा परिहार तथा श्रुतियों में परस्पर विरोध का परिहार स्मृतियों में विरोध होने पर वेदानुकूल स्मृति की ग्राह्यता एवं वेद के निरपेक्ष प्रामाण्य का उपपादन सू० २/१/१ एवं २/१/२

(६९) योग के दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन २/१/३ पृष्ठ २२२ जगत् के अचेतन होने से चेतन ब्रह्म में अचेतनोपादनता संभव नहीं हो सकती- इस शंका का निराकरण सू० २/१/४ से २/१/६

(७०) विलक्षण उपादान से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने पर असत् कार्यवाद के प्रसङ्ग का निराकरण सू० २/१७

(७१) जगत् को ब्रह्मोपादानक मानने पर प्रलय से ब्रह्म में अचेतनत्वापत्ति का खण्डन २/१/८ से २/१/१०

(७२) तर्क सहमत होने से सांख्याभिमत अचेतन कारणवाद युक्तियुक्त है अतः तदनुसार ही वेदान्त वाक्यों की व्याख्या ग्राह्य है- इस शंका का समाधान २/१/१७

(७३) ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर जीव ब्रह्म में स्वभाव विभाग संभव नहीं होगा- इस शंका का निराकरण।

(७४) कार्यकारण में अनन्यता का समर्थन- 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः २/१/१४ इस सूत्र की व्याख्या में आचार्यचरण द्वारा पराभिमत मिथ्यात्ववाद, अनिर्वचनीयवाद तथा अध्यासवाद का सविस्तार खण्डन, वेदान्तवाक्यों के श्रवण मात्र से ही बन्ध निवृत्ति नहीं, बल्कि तदर्थ श्री पुरुषोत्तमानुग्रह अपेक्षित है, जगत् सत्य है, असत्य नहीं इन सब विषयों पर अकाट्य युक्तियाँ आदि विषयों पर विस्तृत विवेचन।

(७५) सत्कार्यवाद का समर्थन पृष्ठ २५६ से २८२ तक (नोट 'तदनन्यत्व' तथा 'सत्वाच्चावरस्य' इन दोनों सूत्रों में एवं जिज्ञासाधिकरण आदि अधिकरणों में सत्कार्यवाद, सविशेष ब्रह्मवाद, परिणामवाद आदि में समर्थन एवं विवर्तवाद के खण्डन में जगद्विजयी आचार्यपाद की असाधारण व्याख्या है) २/१/१७ सूत्र तक

(७६) परिणामवाद का समर्थन

(७७) जीव से ब्रह्म का भेद

उपसंहार अधिकरण :-

(७८) सृष्टि से पहले ब्रह्म के सिवा कारक सामग्री के अभाव के कारण ब्रह्म कारण नहीं हो सकता, इस प्रश्न का समाधान

कृत्स्न प्रसक्ति अधिकरण :-

(७८) कृत्स्न प्रसक्ति एवं निरवयत्व शब्द के व्याकोप के कारण ब्रह्मकारण में बाधा का समाधान।

(७९) करण (सहायक) के अभाव से ब्रह्म कारण वाद की अनुपपत्ति का निराकरण

प्रयोजवत्व अधिकरण :-

(८०) आप्तकाम ब्रह्म के प्रयोजनाभाव के कारण जगत्कारत्व में बाधा का निराकरण।

(८१) वैषम्य नैर्धृण्य दोष की आशङ्का से ब्रह्म कारण वाद की अनुपपत्ति का निराकरण।

(८२) जीवों के कर्मों के अनादित्व का वर्णन।

(८३) ब्रह्म में सभी धर्मों के सद्भाव का वर्णन (निर्विशेषवाद का खण्डन) सर्वधर्मोपपत्तेश्च २/१/३५

द्वितीय अध्याय प्रथम पाद की समाप्ति।

द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद प्रारम्भ

(इस पाद में तर्क के आधार पर सांख्य तथा कणाद, गौतम एवं जैन बौद्ध आदि मतों का खण्डन है)

(८४) तर्क के आधार पर सांख्य मत का खण्डन, रचनानुपपत्तेश्च आदि १० सूत्रों में।

(८५) न्याय के परमाणुवाद का खण्डन "महद् दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् २/२/११ से अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा २/२/१७ तक ७ सूत्रों में।

(८६) बौद्धमत का खण्डन २/२/१८ से
(समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः २/२/१८ से २/२/३२-१५ सूत्रों तक इनमें बौद्धों के चार भेद-सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार तथा शून्यवादी माध्यमिक बौद्धों का अवैदिक एवं सिद्धान्त उपपादन कर उसका खण्डन किया गया है)

(८७) मुक्त कक्ष बौद्ध मतों के निराकरण के बाद दिगम्बर जैन मत का खण्डन प्रारम्भ २/२/३३ सूत्र से २/२/३६ तक।

पशुपति अधिकरण :-

(८८) पाशुपत मत का खण्डन २/२/३७ सू० से २/२/४१ तक।

(८९) पाञ्चरात्र शास्त्र की प्रामाणिकता समर्थन सू० २/२/४२ से २/२/४५ तक।
(नोट :- इस अधिकरण मे ज०गु० श्रीकेशव काश्मीरि प्रभुपादने अतिविस्तार से अनेकानेक प्रमाणों द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया है, जो वैष्णवमात्र के लिए द्रष्टव्य है)

द्वितीय अध्याय -तृतीय पाद का आरम्भ

वियद् अधिकरण :-

(९०) वेदान्त में आकाश की ब्रह्म से उत्पत्ति बताई गई है, इस पर विरोधियों के आक्षेप का निराकरण "न वियदश्रुतेः से यावद्कारं तु विभागो लोकवत्" तक ६ सूत्रों में।

मातरिश्व अधिकरण :-

(९१) वायु की उत्पत्ति का समर्थन पर १ सूत्र असंभव अधिकरण

(९२) आकाश वायु के अमृतत्व का श्रवण होने पर भी उसकी उत्पत्ति मानने की तरह ब्रह्म की भी उत्पत्ति की शङ्का का निराकरण सूत्र "असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः" २/३/८।

(९३) आकाश आदि द्वारा तेज आदि की सृष्टि भी परमात्मा द्वारा ही न कि स्वतन्त्र रूप से आकाशादि द्वारा।

विपर्यय अधिकरण :-

(९४) प्रलय क्रम का वर्णन तक।

(९५) इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का क्रम भूतों में क्रम से अविरोध रूप में प्रतिपादन।

(९६) जीवों की उत्पत्ति का खण्डन तक।

(९७) जीवात्म स्वरूप विचार इसमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, शांकर आदि मत वादी सिद्ध आत्म स्वरूप का खण्डन कर स्वमत के अनुसार जीवात्मा का निर्णय। विस्तृत व्याख्या।

(९८) उत्क्रान्ति अधिकरण :-
जीव परिमाण विचार अणु की सिद्धि (बहुत अच्छा विचार है)

(६६) जीवात्मा में कर्तृत्व विचार तक 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् २/३/३२ के इस विषय पर बहुत विस्तृत एवं सुन्दर विचार।

(१००) परायन्त अधिकरण :-

जीव के कर्तृत्व में स्वातन्त्र्य निषेध पर परमात्माधीन कर्तृत्व का समर्थन तक।

अंशाधिकरण :-

(१०१) जीव के परमात्ममांश स्वरूप पर विचार अंश यहाँ शक्ति रूप खण्डरूप नहीं।

(१०२) जीव का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद का विस्तृत विचार इसी बीच थोड़ी विशिष्टा द्वैतमत समीक्षा।

(१०३) जीवमात्र में ब्रह्म के अंश होने पर भी शुचि अशुचि देह सम्बन्ध के कारण कर्म विशेष के अधिकार अनधिकार का विचार तक।

द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद की समाप्ति।

द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद का आरम्भ :-

(१०४) प्राणोत्पत्ति विचार तक।

प्राण विषयक का संख्या विप्रति पति का परिहार।

(१०५) इन्द्रियों के परिमाण का विचार।

(१०६) मुख्य प्राण सम्बन्धी विशेष विचार तक।

(१०७) इन्द्रियों की स्वकार्य प्रवृत्ति में स्वतन्त्रता का परिहार (इस अंश में प्राण, इन्द्रिय आदि सम्बन्धी अनेक विचार हैं)।

संज्ञा मूर्तिक्लृप्ति अधिकरण :-

(१०८) "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" इस श्रुति द्वारा नामरूप के व्याकरण रूप व्यापार का आश्रय जीव है या परमात्मा ऐसा संशय होने पर परमात्मा के कर्तृत्व का समर्थन तक।

(१०६) त्रिवृत् कृत तेज, अप् अन्न का कार्य विभाग तक।

द्वितीय अध्याय का चतुर्थपाद पूरा हुआ।

तृतीय-अध्याय : साधनाध्याय :-

इसके प्रथम पाद से जगत् में वैराग्य उत्पादन के लिए जागतिक दोषों का वर्णन।

"यस्मिन् प्रीति विवृद्धयर्थ मध्यायोयं तृतीयकः प्रमानन्द कृत्वं चित्ते नित्यं दर्धाम्यहम्"

(११०) एक देह से दूसरे देह में प्रवेश के समय देह के बीजभूत सूक्ष्म शरीर से परिवेष्टित गमन का विचार तथा छान्दोग्य की पञ्चाग्नि विद्या का विवेचन तक।

(१११) यज्ञ-यागादि सकाम कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रमण्डल में आरोहन करके वहाँ भोग भोगने के बाद वहाँ से अवरोह कर्म शेष रहित आत्माओं का होता है या कर्मशेष युक्तजनों का ऐसा प्रश्न होने पर युक्त कर्म से शेष सहित जीव का अवरोह का निश्चय।

(११२) इस सम्बन्ध में 'रमणीय चरणाः कपूय चरणाः' श्रुति विरोध उपस्थित होने पर वहाँ चरण शब्द कर्मपरक है- इस मान्यता का कार्ष्णजिन मुनि द्वारा समर्थन।

(११३) उक्त मान्यता का बादरिमुनि का समर्थन जीव की गति त्रैविध्य का वर्णन, विद्या प्राप्त जनों के मोक्ष हेतु को अर्चिरादि गति अविद्वान् तथा पुण्य कर्मजनों की धूमदान गति तथा उभय विधुरो की नरक आदि प्राप्ति का वर्णन तथा उनका भी चन्द्रलोक गमन।

(११४) पापकारी नारकीय जनों का यमपुरी के दुःख भोग के अनन्तर चन्द्रलोक से अवरोह का वर्णन।

(११५) रौर्रआदि सात नरकों का वर्णन।
(११६) देवयान पथ से विद्यावान् तथा पितृयान से इष्टा पूर्व निष्ठ व्यक्ति कागमन उभय विध साधन ही क्षुद्र प्राणी व्यक्ति का तृतीय स्थान भागित्व का वर्णन।
(११७) तृतीय स्थान में शरीर आरम्भ के लिए पाँचवी आहुति की अपेक्षा नहीं।
(११८) स्वदेज तथा स्थावर प्राणी की उत्पत्ति में पञ्चम आहुति की अपेक्षा का अभाव।
(११६) इष्ट आदि कर्म करने वाले सूक्ष्म शरीर सहित अवरोही जीवों के अवरोह की प्रक्रिया।
(१२०) ब्रीहि आदि शरीर वाले जीव विशेष से अधिष्ठित ब्रीहि आदि में अनुशय विशिष्ट आत्म संसर्गमात्र करते हैं न कि ब्रीहि आदि शरीरवान् होते हैं, का वर्णन।
(१२१) ज्योतिष्टोम आदि कर्मों की शुद्ध का वर्णन।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद का प्रारम्भ पृष्ठ - ४६६

(१२२) स्वाप्निक सृष्टि का परमेश्वर कर्तृकत्व निरूपण।
(१२३) सुषुप्ति अवस्था का वर्णन सू० ३/२/७।
(१२४) जो सोता है, वही जागने पर उठता है, जगने वाला कोई अन्य नहीं, इसका वर्णन।
(१२५) मूर्छा अवस्था पर विचार (अर्धमरणावस्था) का निर्णय।
(१२६) उभय लिङ्गाधिकरण :-
इस अधिकरण में ब्रह्म प्राप्ति की तृष्णा उदय के लिए ब्रह्म में अशेष दोषों का अभाव एवं अनन्त कल्याणगुण गणों का प्रतिपादन १० सूत्रों में ।
(१२७) 'नेति नेति श्रुति का वास्तविक तात्पर्यार्थ वर्णन 'प्रकृतैतावत्वेहि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च' सूत्र ३/२/२ की वृहद् व्याख्या में।
(१२८) संराघन द्वारा ब्रह्म दर्शन का वर्णन- 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् २/२/२४।
(१२६) ब्रह्म प्रकाश का स्वरूप।
(१३०) स्वाभाविक भेदाभेद का वर्णन।
(१३१) जीव का ब्रह्म के साथ स्वाभाविक भेदाभेद का निरूपण- 'उभयव्यपदेशात्वहि कुण्डलवत् ३/२/२७।
(१३२) जीव और ब्रह्म में स्वा० भेदाभेद का विचार
प्रकाशाश्रयवद्वातेजस्त्वात् ३/२/२८।
(१३३) ब्रह्म स्वरूप के अचित् रूप में अवस्थान मानने पर भेद श्रुतियाँ एवं अपरिणामित्व बोधक श्रुतियों में बाध का निरास।
(१३४) सर्वान्तःस्थ होने पर भी ब्रह्म में दोष स्पर्शाभाव का वर्णन (सू० प्रति के धाच्च ३/२/३० की ७ खण्डों में विस्तृत व्याख्या है- शांकर मत सम्बन्धी तथा अन्यान्य दार्शनिक विचार धाराओं का इसमें विस्तृत वर्णन है, यह सब प्रकृतैतावत्त्व अधिकरण में है। यह अधिकरण है।
(१३५) 'अथ य आत्मा स सेतुर्विघृतिः' तथा 'एतं सेतुं तीर्त्वा' श्रुति द्वारा ब्रह्मातिरिक्त किसी अन्य परमतत्व का संदेह निवारण ३/२/३१ से ३/२/३७ तक (पराधिकरण में)।
(१३६) सकल कर्मफल दातृत्व परमात्मा में ही है- इसका निरूपण- 'फलमत उपपत्तेः ३/२/३८।
(१३७) जैमिनिमत में धर्म में ही फलदातृत्व का समर्थन सूत्र ७ सू० ३/२/४०
(१३८) वादरायण मत में परमात्मा में ही फलदातृत्व।

तृतीय अध्याय द्वितीय

(इसमें ब्रह्मोपासनापरक विद्याओं में गुणोपसंहार निर्णय के लिए विद्याओं में भेदाभेद का विचार है।

(१३६) उपासना के भेद, अनेक प्रकार की विद्याओं का वर्णन तथा गुणोपसंहार न्याय से विद्याओं में एकता का प्रतिपादन तक।

(१४०) उद्गीथ विद्या में विशेष विचार।
(१४१) आनन्दमयत्व, सर्वज्ञत्व सर्वात्मत्व आदि गुणों का सभी ब्रह्मोपासनाओं में उपसंहार का विचार।
(१४२) छान्दोग्य एवं वाजसनेय के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ प्राण में उपास्यत्व कहकर उसके द्वारा पूछने पर कि किंमेऽन्ने भविष्यति१ उत्तर में कहा यदि द किञ्चिदाश्वम्य आशकुनिम्यः इत्यादि श्रुत्यर्थ पर विशेष विचार।
(१४३) वाजसनेयि शाखा में अग्निरहस्य में शाण्डिल्य विद्या है और वहीं वृहदारण्यक में 'मनोमयोऽयं पुरुषो माः सत्यम्' ऐसा वचन भी है- इनमें विद्या में भेदाभेद का विचार।
(१४४) विभिन्न विद्याओं में भेदाभेद विचार।
(१४५) पुनः तैत्तरीय आदि की विद्याओं पर विचार शाण्डिल्य आदि
(१४६) छान्दोग्य के ताण्डी एवं पैङ्गी रहस्य ब्राह्मण की पुरुष विद्या तथा तैत्तरीय की पुरुष विद्या में भेदाभेद विचार।
(१४७) श्रुति में अन्यान्य मन्त्रों के ब्रह्मोपासनाङ्गत्व विचार।
(१४८) मुक्त ब्रह्मज्ञानी द्वारा व्यक्त पुण्य पाप के ग्रहण का विचार।
(१४९) ब्रह्मविद्यानिष्ठ प्राप्तब्रह्म ब्रह्मवेत्ता द्वारा पुण्य पाप के परित्याग के काल एवं पात्र का विचार।
(१५०) अर्चिरादिगति प्राप्ति के अधिकारी का विचार सूत्र ३/३२
(१५१) 'एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनव्यूह स्वमित्यादि इस श्रुति में पठित अस्थूलत्व आदि गुणों का विद्याओं में उपसंहार अनुपसंहार का विचार।
(१५२) वृहदारण्यक में उषस्त मुनि के प्रश्न में वाजसनेयि शाखा के मन्त्र 'यत्साक्षादरोक्षापाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्में व्याचक्ष्व' इसके उत्तर में प्राप्त श्रुति को लेकर गहन विचार सू० ३/३/३५।
(१५३) "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीक वेश्यं" इस श्रुति का उपक्रम तथा वृ० ३७ "स वा एष महानज आत्मा" इन दोनों श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित विद्याओं में भेदाभेद विचार।
(१५४) "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत छा०३ इत्यादि कमाङ्गश्रित विद्याओं पर मीमांसा आधारित महत्वपूर्ण विचार।
(१५५) दहरविद्या में दहराकाश को उपास्य बताकर यहाँ गुण चिन्तन में गुणी का चिन्तन है अथवा नहीं- इस पर विचार।
(१५६) वाजसनेयी में अग्नि रहस्य में "मनश्चितो वाक्चित" इत्यादि श्रुति आधारित मीमांसानुसार कतिपय विचार (लिङ्ग भूयस्त्वाधिकरण में)
(१५७) जीवात्मा के अनुसंधेय स्वरूप पर विचार सू० ३/३/५१५
(१५८) "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" ६/०१/१ इत्यादि उद्गीथ आदि क्रतुअङ्ग आश्रित उपासना प्रत्येक वेद में शाखा भेद में सुनी जाती है। इस उपासना का अन्यान्य शाखाओं सम्बन्ध पर विचार।
(१५९) छा०३० वैश्वानर विद्या सम्बन्धी विशेष विचार
(१६०) शाण्डिल्य विद्या, भौम विधा।
दहर विद्या, उपकोशलविद्या आनन्दमय विद्या तथा अक्षर विद्या सम्बन्धी भेदाभेद विचार।
(१६१) विद्या स्वरूप के बाद उनके अनुष्ठान का प्रकार।
(१६२) 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यादि कर्म के अङ्गों में उद्गीथ आदि विद्याश्रित कतिपय विशिष्ट पर विचार।

तृ० अ० तृतीय पाद सम्पूर्ण।

तृतीय अध्याय चतुर्थपाद आरम्भ।

इस पाद में कर्म से विद्या की श्रेष्ठता, विद्या का स्वातन्त्र्य एवं कर्म में विद्याङ्गत्व का विचार।
(१६३) विद्या से ही ब्रह्म प्राप्ति पक्ष का वादरायण द्वारा समर्थन।
(१६४) विद्या से पुरुषार्थ प्राप्ति का जैमिनि द्वारा खण्डन विद्या का कर्माङ्गत्व निरूपण (सू० ३/४/२) (सू० ३/४/७)
(१६५) उक्त जैमिनि पक्ष का वादरायण द्वारा खण्डन और कर्म में विद्याङ्गत्व का समर्थन।

(१६६)ऊर्द्धरेतस नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रम का जैमिनि द्वारा खण्डन।
(१६६)बादरायण के मत से गृहस्थाश्रय की तरह आश्रमान्तर का समर्थन। तथा एतत् सम्बन्धी विशेष विचार।
(१६७) उद्गीथ विद्या सम्बन्धी अन्यान्य अनेक विचार।
(१६८) प्रतर्दनोहिदैवोदासिरिन्द्रस्य धामोपजगाम (कौषतकि ३०) कतिपय विचार।
(१६६) ऊर्द्धरेतस आश्रमों में कर्माङ्ग वाली विद्या के संभव असंभव पर विचार।
(१७०) विद्या से पुरुषार्थ की सिद्धि होने पर भी आश्रम कर्मों की आवश्यकता का विचार।
(१७१) मुमुक्षुओं के लिए शम दम आदि की नितान्त आवश्यकता।
(१७२) प्राणात्यय के अलावा सर्वान्न भक्षण की अननुमति।
(१७३) आश्रम कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता।
(१७४) अनाश्रमियो का भी विद्या में अधिकार।
(१७५) आश्रमी होकर जीवन यापन पक्ष की श्रेष्ठता का वर्णन (सू० ३/४/३६)
(१७६) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा सन्यास आश्रम से च्युत् जनों को ब्रह्म विद्या प्राप्ति के अधिकार पर विचार तथा जैमिनि द्वारा अधिकार का खण्डन।
(१७७) अङ्गाश्रित उद्गीथ आदि उपासना यजमान के कर्म हैं? अथवा ऋत्विज के इस पर आत्रेय आचार्य का मत।
(१७८) उक्त विषय में औडुलोमी का सिद्धान्त।
(१७६) विद्या में सहकारी कारणान्तर पाण्डित्य, बाल्य, तथा मौन-त्रितय का विधान
(१८०) "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभि समावृत्य कुटुम्बे" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के भावार्थ का विचार।
(१८१) मौन में सहकारी कारणत्व विधान का उपसंहार।
(१८२) "बाल्येन तिष्ठासेत" श्रुति के भावार्थ का विचार।
(१८३) पूर्वोक्त साधनों द्वारा विद्योत्पत्ति इसी जन्म में होती है या जन्मान्तर में इसका विचार
(१८४) प्राप्तविद्य साधकों के मोक्ष काल का विचार।

तृतीय अध्याय चतुर्थपाद समाप्त।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद आरम्भ :-

तृतीय अध्याय में साधन विचार पूरा हुआ अब चतुर्थ अध्याय में ब्रह्मविद्या में फल का विचार करते हैं।

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमीय फलं देवकी फलति।
तत् पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः।।

(१८५) साधन की आवृत्ति निरन्तर करनी चाहिए इसका निरूपण सू० ४/१/१
(१८६) स्वाभिन्नत्वेन ब्रह्मानुसंधान का विधान ४/१/३।
(१८७) प्रतीक में आत्मत्वानुसंधान का निषेध।
(१८८) मन आदि में ब्रह्मदृष्टि का विधान तथा ब्रह्म में मन दृष्टि का निषेध।
(१८६) उद्गीथ रूप कर्माङ्ग में आदित्य आदि दृष्टि का विधान।
(१६०) आसन पर आसीन होकर ही उपासना का विधान।
(१६१) ध्यान आदि के लिए देशकाल का कोई नियम नहीं जहाँ चित्त की एकाग्रता हो वही ध्यान का विधान।
(१६२) जीवन पर्यन्त उपासना का समर्थन।
(१६३) ब्रह्मवेत्ता (ध्रुवा स्मृति प्राप्त) का उत्तर शुभ-अशुभ प्रत्यवाय का अश्लेष एवं पूर्व प्रव्यवाय के विनाश का समर्थन।

(१६४) विद्या से सञ्चित कर्म का नाश होता है प्रारब्ध का नहीं इसका विचार।
(१६५) विद्या प्राप्त जनों के लिए भी आश्रम विहित कर्मानुष्ठान का विधान।
(१६६) ज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठान में ही फलदातृत्व का विधान।
(१६७) प्रारब्ध का विद्योत्पादक शरीर में भोग पूरा न होने पर तदतिरिक्त अन्य शरीरों द्वारा भोग कर प्रारब्ध के नाश होने पर मोक्ष का समर्थन।

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद :-

(१६८) इसमें विद्या प्राप्त महापुरुषों की गति के प्रकार का वर्णन उत्क्रान्ति विचार, पहले वाणी का मन में विलय।
(१६६) वाक् इन्द्रिय के बाद समस्त इन्द्रियों का मन में निलय। समस्त इन्द्रियों सहित मन का प्राण में विलय।
(२००) प्राण का इन्द्रिय आदि के अध्यक्ष जीवात्मा में सम्मिलन।
(२०१) उक्त सबका सूक्ष्मभूतों में निलय पृष्ठ।
(२०२) मूर्धन्य नाड़ी में प्रवेश से पूर्व ज्ञानी अज्ञानी दोनों का समान उत्क्रमण ४/२/७
(२०३) मरण के समय में विद्वान् पुरुष का देह सम्बन्ध सूक्ष्म देह से युक्त होकर ही विद्वान् का उत्क्रमण ४/२/११
(२०४) सूक्ष्म शरीर सहित ही जीव का ब्रह्म लोक गमन वहाँ अमृतत्व की प्राप्ति में अनन्तर सूक्ष्म शरीर का त्याग आदि अनेक विचार सू० ४/२/१३
(२०५) विद्वान् के उत्क्रमण के सम्बन्ध में स्मृति का वचन ४/२/१३
(२०६) विरजा नहीं पहुँचने तक सूक्ष्म शरीर का सद्भाव वहाँ सूक्ष्म शरीर का परित्याग दिव्य वपु की प्राप्ति तथा वहाँ से अमानव पुरुष द्वारा परम पद में प्रवेश ४/२/१५
(२०७) विद्वान् पुरुष के विशेष उत्क्रमण का वर्णन सू० ४/२/१६
(२०८) सुषुम्णा नाड़ी द्वारा शरीर से उत्क्रमण के बाद सूर्य रश्मि का अनुसरण ४/२/१७
(२०६) विद्वान् पुरुष के रात्रि में मरने पर भी ऊर्ध्व गति का विचार ४/२/१८
(२१०) दक्षिणायण में मृत्यु होने पर भी ब्रह्मज्ञानी की उर्ध्वगति ४/२/१६

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद की समाप्ति।

चतुर्थ अध्याय तृतीय पाद आरम्भ :-

(२११) अर्चिरादि गति का महत्वपूर्ण विचार।
(२१२) अर्चिरादि देवयान गति के प्रकार एवं तत्सम्बन्धी विभिन्न श्रुतियों का विभिन्न प्रकार का समन्वय।
(२१३) अर्चिरादि प्राप्तविद्य पुण्यात्माओं के भोग स्थान है? या मार्गचिन्ह? अथवा अतिनेता कोई देवता विशेष इत्यादि विचार।
(२१४) अर्चिरादि गति द्वारा प्राप्त ब्रह्म कार्यब्रह्म है या परब्रह्म इसका विचार।
(२१५) जैमिनि मत से परब्रह्म ही प्राप्य सू० ४/३/११
(२१६) इस सम्बन्ध में 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ३/८/१४/१) से कार्यब्रह्म परत्व शंका में विशेष समाधान (सू० ४/३/१३)।

इस प्रकार चतुर्थ अध्याय तृतीय पाद सम्पूर्ण।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थपाद आरम्भ :-

(२१७) मुक्त पुरुष स्वरूप विचार।
(२१८) मुक्त प्रत्यगात्मा परब्रह्म के साथ विभागरूप से स्वात्मा का अनुभव करता है या अभिभागेन इसका विचार।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जकौ
– अनुवादक की दैनिक प्रार्थना

।।श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।।

अनुक्रमणिका लेखक :
पं० वैद्यनाथ झा मैथिल
अनुवादक एवं सम्पादक ५/१०/०३

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

विषय-सूची

जगद्विजय्याचार्यपाद श्री 108 श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य-निर्मिता ब्रह्मसूत्रवृत्तिः —

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा

* मङ्गलाचरणम् *

जिज्ञास्यञ्च जगद्धेतुं शास्त्रयोनिं तदन्वितम्।
श्रीकृष्णं नियमानन्दं वन्दे बुद्धिप्रदं गुरुम्।।१।

प्रारिप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न पूर्वक समाप्ति हेतु शिष्टाचार-परम्परा से सिद्ध श्री आचार्य वन्दन स्वरूप मङ्गल का आचरण करते हैं - "जिज्ञास्यम्" इस श्लोक से। यह श्लोक द्व्यर्थक है- एक श्री सर्वेश्वरपरक, दूसरा आचार्यपरक। यहाँ पहले सर्वेश्वर श्रीकृष्णपरक अर्थ बताते हैं- ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं श्रीकृष्ण की वन्दना करता हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण में सात विशेषण दिये गये हैं- अर्थात् जो श्रीकृष्ण मुमुक्षुजनों के परम जिज्ञास्य हैं, निखिल जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादान हैं, वेदादि शास्त्रों द्वारा ही जो ज्ञेय हैं, जिनमें वेदान्त-वाक्यों का समन्वय है, जो त्रिकालाबाधित आनन्द-स्वरूप हैं तथा जो आश्रित भक्तों को दिव्य ज्ञान प्रदान करते हैं, उन गुरु-स्वरूप जगद्गुरु श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ।

इस तरह वेदान्त वाक्यों के जिज्ञास्य, जगज्जन्मादि हेतु, निखिलगुणगणनिधि, मुक्तोपसृप्य, शास्त्रयोनि, शास्त्रसमन्वित, चिदचिद्भिन्नाभिन्नस्वभाव, परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही इसके विषय हैं, भगवद्भावापत्तिरूप मोक्षकामीजन इस शास्त्र के अधिकारी हैं, प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव शास्त्र तथा विषय का सम्बन्ध है तथा भगवद्भावापत्तिरूप मोक्ष इसका प्रयोजन है।

आचार्यपरक दूसरा अर्थ-निखिल भुवन की जन्म-स्थिति तथा लय-हेतु, आनन्द-कन्द-नन्द-नन्दन श्रीकृष्णावतार समकालीन, निरतिशय अचिन्त्य-अनन्त स्वरूप-शक्ति वैभव निरवधि-करुणावरुणालय, तैलङ्गदेश-समुत्पन्न, वेदवेदाङ्ग-पारङ्गत, महर्षि प्रवर श्री अरुण मुनि के तनुजन्मा-जयन्ती-गर्भ समुद्भव कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को अवतीर्ण भगवान् श्री सुदर्शनावतार, द्वैताद्वैतसिद्धान्त-प्रकाशक, श्रीहंस-सनकादि-मुनि-प्रवर्तित अनादिवैदिक-सत्सम्प्रदाय-वीथी-पथिक, देवर्षि श्रीनारद-महामुनि-चरणाश्रित लोक-प्रसिद्ध श्री नियमानन्द नामक आचार्यवर्य की मैं वन्दना करता हूँ।।१।।

नित्यं निवसतु हृदये श्रीनिम्बार्को मुनीन्द्रो नः।
बुद्धिसरोजं स्वकैरुद्दीपयन्नबोधतमो निघ्नन्।।२।।

अब अपनी बुद्धि को उद्दीप्त करने हेतु ग्रन्थकार करुणावरुणालय भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र का स्मरण करते हैं। प्रार्थना करते हैं कि भगवान् महामुनीन्द्र अपने दिव्य किरणों द्वारा हमारे अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश कर मेरे बुद्धिरूपी कमल को प्रकाशित करते हुए सदा मेरे हृदय में नित्य निवास करें।।२।।

अब भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्य की वन्दना करते हैं –

श्री श्रीनिवासमाचार्य्यं भाष्यकारं नमाम्यहम्।
यस्य स्पर्शनमात्रेण ध्रुवः सर्वज्ञतां गतः।।३।।

'जिसके स्पर्शमात्र से बालक ध्रुव तत्क्षण सर्वज्ञता को प्राप्त हो गया' मैं उस दिव्य शङ्ख के अवतार भाष्यकार श्रीश्रीनिवासाचार्य जी महाराज को नमस्कार करता हूँ।।3।।

श्रीनिवासपदाम्भोजध्यानविध्वस्तकिल्विषान्।
श्रीमत्सुन्दरभट्टादीन् वन्देऽहं परमान् गुरुन्।।४।।

श्रीनिवासाचार्यचरण के चरणारविन्द के ध्यान से जिनके समस्त कल्मष ध्वस्त हो चुके हैं, उन श्रीसुन्दरभट्ट आदि परम गुरुओं की मैं वन्दना करता हूँ।।4।।

श्रीमुकुन्दं गुरुं नत्वा पूर्वाचार्योक्तवर्त्मना।
ब्रह्मसूत्राणि संक्षेपाद्विव्रियन्ते स्वतुष्टये।।५।।

अब मैं अपने गुरुदेव श्री मुकुन्ददेव जी महाराज को नमस्कार कर पूर्वाचार्य-प्रदर्शित प्रक्रिया द्वारा अपनी संतुष्टि के लिए ब्रह्मसूत्रों की संक्षेप से व्याख्या करता हूँ।।5।।

इह खलु भगवान्वासुदेवः पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः कणभक्षाक्षपादसाङ्ख्य (कपिल) जैमिन्यादि- भिश्शास्त्रकृद्भिर्हिरण्यगर्भपाशुपतसौरगाणपत्यमतवादिभिश्च प्रणीतैः परतत्त्वापह्नवपरैरन्यविषयैश्शास्त्रैः भ्रान्तान् स्वभक्तिज्ञानहीनान् सङ्कीर्णमतीञ्जीवान्वीक्ष्य तेषु स्वज्ञानभक्तीर्द्रढ़यितुं कृष्णद्वैपायनरूपेण परतत्त्वप्रकाशकं समन्वयाविरोधसाधनफलाध्याया- ख्यचतुष्टयात्मकं शारीरकमीमांसांख्यवेदान्तशास्त्रं सूत्रयामास। तस्य व्याख्यानं श्रीसुदर्शनावतारः श्रीनिम्बार्काचार्यो वाक्यार्थरूपेण वेदान्तपारिजातसौरभाख्यं सङ्गृहीतवान्। तदपि श्रीशङ्खावतारः श्रीश्रीनिवासाचार्यो वेदान्तकौस्तुभभाष्यरूपेण विशदयामास, तत्र सौकर्य्येण प्रवेशाय मिताक्षरा वेदान्तकौस्तुभप्रभाख्या सूत्रवृत्तिर्मया संगृह्यते।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस जगत् में निश्चित रूप से भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ने कणाद, अक्षपाद (गौतम) तथा जैमिनि (कपिल) आदि दर्शनाचार्यों एवं हिरण्यगर्भ, पाशुपत, सौर, शैव, शाक्त तथा गाणपत्य आदि मतवादियों द्वारा परतत्त्व अपलापक एवं अन्य विषय प्रतिपादक शास्त्रों द्वारा भ्रान्त अतएव भक्ति तथा ज्ञानविहीन संकीर्ण मति जीवों को देखकर उनमें अपनी भक्ति एवं ज्ञान को दृढ़ करने के लिए श्रीकृष्ण द्वैपायन महर्षि वेदव्यास रूप से परतत्त्व-प्रकाशक वेदान्त-शास्त्र (ब्रह्मसूत्र) का निर्माण किया, जिसमें क्रमशः समन्वय, अविरोध, साधन तथा फलाध्याय नामक चार अध्याय बनाये। इसकी व्याख्या सर्वप्रथम सुदर्शनावतार भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य ने वाक्यार्थरूप से वेदान्तपारिजात-सौरभ नामक वृत्तिरूप में की। जिसे

शंखावतार श्रीश्रीनिवासाचार्य जी ने 'वेदान्त-कौस्तुभ' नामक भाष्य-रूप में विस्तृत किया। उस भाष्य में सुकरता से प्रवेश के लिए स्वल्प अक्षरों में 'वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा' नामक सूत्रवृत्ति का मैं संग्रह करता हूँ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा १।१।१

अथशब्दार्थनिर्वचनम्

अत्रानन्तर्य्यार्थक एवाथशब्दः नार्थान्तरपरः, उपक्रमवाक्यत्वात्। पूर्वनिर्वचनाद् व्याख्यान्तरकथनमर्थान्तरम् । यथा माया रमाया धवः स्वामी माधवः, अथवा मधुवंशे भवो माधव इति । स चात्र न सम्भवति, पूर्वनिर्वचनाभावात् । नापि मङ्गलार्थको, वेदान्तानां भगवत्स्वरूपगुणादि- प्रतिपादनपरतया सर्वेषामपि वाक्यपदवर्णमात्राणां मङ्गलरूपत्वेन मङ्गलान्तरनिरपेक्षत्वात्। नाप्यधिकारपरः, शब्दादिब्रह्मणोऽधिकार्यत्वाभावात्।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह वेदान्त (ब्रह्म) सूत्र का पहला सूत्र है। इसमें मुमुक्षुओं को ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए, ब्रह्मका चिन्तन करना चाहिए तथा ब्रह्म-प्राप्ति ही जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए, ऐसा संकेत किया गया है।

अब इस सूत्र के प्रत्येक शब्द के तात्पर्यार्थ पर विचार किया जाता है। इस सूत्र में पहला शब्द 'अथ' शब्द है। इसलिए सर्वप्रथम अथ शब्द के अर्थ पर विचार मन्थन किया जाता है—

अथ शब्दार्थनिर्वचनम्

संस्कृत में 'अथ' शब्द के आनन्तर्य, अर्थान्तर, मङ्गल, आरम्भ अधिकार आदि अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ प्रश्न है कि उक्त सूत्र-घटक 'अथ' शब्द का उपर्युक्त अर्थों में कौन-सा अर्थ सूत्र का अभिप्रेत है ? इसका उत्तर कौस्तुभ-प्रभाकार देते हैं- यहाँ 'अथ' शब्द आनन्तर्य-अर्थ का बोधक है, अर्थान्तर-नहीं, क्योंकि यह (सूत्र) उपक्रम वाक्य है। जहाँ किसी शब्द का एक अर्थ बतलाकर दूसरा कोई अर्थ करते हैं, उसे अर्थान्तर कहते हैं- जैसे 'माधव' शब्द का अर्थ करते हुए पहला अर्थ करते हैं 'माया रमायाः धवः माधवः' अर्थात् मा माने लक्ष्मी, उसके पति। यहाँ माधव शब्द का दूसरा अर्थ करते हुए कहते हैं — अथवा 'मधुवंशे भवो माधवः' यानी मधुवंश में होने वाले को माधव कहते हैं। यहाँ 'अथ' शब्द अर्थान्तरपरक है, परन्तु वह अर्थ यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि यहाँ कोई पूर्व निर्वचन नहीं है। यहाँ मङ्गलार्थक भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्त-वाक्यों में सभी वाक्यों, पदों, वर्णो तथा मात्राओं के भगवान् के दिव्य मंगल-विग्रह, गुण, लीला आदि के प्रतिपादक होने से उनमें सभी वाक्यों, पदों, वर्णो तथा मात्राओं के मङ्गलरूप होने से अन्य मङ्गल की अपेक्षा नहीं है। इसी तरह

अधिकार-अर्थ-परक भी यहाँ अथ शब्द नहीं हो सकता, क्योंकि पातञ्जल-महाभाष्य में अन्य अर्थ घटित नहीं होने से वहाँ अगत्या 'अथ' शब्द का अधिकार अर्थ माना जाता है। यहाँ प्रयोजन की तरह अर्थान्तर संभव है, इसलिए यहाँ अधिकार-अर्थ का ग्रहण नहीं है, दूसरी बात ब्रह्म अधिकार्य भी नहीं है।

नाप्यारम्भपरो, वेदान्तानामनादित्वाभ्युपगमात्। अन्यथौपचारिकत्वापत्याऽ-प्राधान्यप्रसंगात्। अतः परिशेषादानन्तर्य्यार्थक एवेति। श्रीसुन्दरभट्टपादैरेवमेवोक्तेः। आनन्तर्य्यमपि केवलानन्तर्य्यमेव ग्राह्यम्, न तु हेतुभूतानन्तर्य्यमतश्शब्दोपादानात्। एवञ्च सति धर्मजिज्ञासायां यथा वेदाध्ययनं पूर्ववृत्तमपेक्षितम्। तत्र "मुमुक्षुर्भूत्वा ऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येदितिश्रुतेः" तथा ब्रह्मजिज्ञासायामपि नियमविधिना पूर्ववृत्तमपेक्षितम्। मुमुक्षेति विज्ञेयम्। मुमुक्षासिद्धये श्रद्धोपपत्तिपूर्वकगुरुपसत्तिवस्तुयाथात्म्यविवेकविराग-भगवत्प्रपत्तितदनुग्रहप्रार्थनादिसाधनानीति। 'श्रद्धान्वितो भव।' 'आचार्यदेवो भव' 'स गुरुमेवाभिगच्छेत्'। 'नास्त्यकृतः कृतेन' 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः'। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते'। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', मुमुक्षुर्वै 'शरणमहं प्रपद्ये।' "श्रीकृष्णरुक्मिणी-कान्त-गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो" इत्यादि श्रुतिभ्यः।

(हिन्दी-अनुवाद)

तीसरा आरम्भ अर्थ भी यहाँ उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्त-वाक्यों का अनादित्व स्वीकार किया गया है। (वेदान्त-वाक्यों के सादित्व स्वीकार करने पर 'गौर्वाहीक' इत्यादि वाक्यों की तरह इनमें भी औपचारिकत्व हो जायगा, फिर तो मुख्यार्थ के बाध होने पर वेदान्त-वाक्यों में गौणत्व का प्रसंग हो जायगा। यहाँ तो स्वयं भाष्यकार आगे 'अत एव च नित्यत्वम्' (१/३/२१) इस सूत्र में वेदान्तवाक्यों को नित्य कहेंगे, अतः परिशेषात् आनन्तर्य अर्थ ही यहाँ समुचित है। ऐसा ही अर्थ आचार्यपाद श्रीसुन्दरभट्टपादने (सिद्धान्त-जाह्नवी की टीका 'सेतुका' में) कहा है। आनन्तर्य भी केवल आनन्तर्य ही लेना चाहिए, न कि हेतु-गर्भ आनन्तर्य, क्योंकि इसके लिए अतः शब्द का पृथक् कथन किया गया है। इस प्रकार जैसे धर्म जिज्ञासा में (अथातो धर्मजिज्ञासा मी १/१/१ धर्म-जिज्ञासा में) 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (तै. आ २/१५/७) "अष्टवर्ण ब्राह्मणमुपनयीत' इस प्रकार अध्ययन-विधि से अथ शब्दार्थ में पूर्व संपादित वेदाध्ययन जैसे कहा जाता है, उसी तरह यहाँ भी पूर्ववृत्त की अपेक्षा होती है, इसीलिए कहते हैं 'एवञ्च' अर्थात् जब अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ निश्चित हो गया, तब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि वह कौन सी वस्तु है, जिसके अनन्तर ब्रह्म-जिज्ञासा का विधान करते हैं, तो कहते हैं 'तत्र मुमुक्षुर्भूत्वेत्यादि' मुमुक्षु होकर अपने आपमें आत्मा को देखे।' अर्थात् मुमुक्षा के अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिए, ब्रह्मजिज्ञासा में भी नियमविधि से पूर्ववृत्त की अपेक्षा है, वह पूर्व में होने वाली मुमुक्षा है और मुमुक्षा की सिद्धि के लिए श्रद्धापूर्वक श्रीगुरुशरणागति, वस्तु तत्त्व (परम तत्त्व) का यथार्थ विवेक, प्रापञ्चिक पदार्थों में

अनासक्ति, भगवत्-शरणागति तथा उनकी कृपा-प्राप्ति-हेतु अहर्निश प्रार्थना एवं शम-दम आदि का परिग्रह करें। इसके लिए प्रमाण वाक्य हैं- 'श्रद्धान्वितो भव' इत्यादि अर्थात् 'श्रद्धा युक्त होवे' 'आचार्य को देवता समझे' 'मुमुक्षु गुरु की ही शरण में जाये' जिसकी ईश्वर एवं ईश्वर के समान गुरु में श्रद्धाभक्ति है, उसी के हृदय में परमतत्त्व का प्रकाश होता है' "जो भूमा सुख है, वही अमृत है, उससे भिन्न प्राणीमात्र दुःखी है" "कर्म से नित्य (परमात्मा) की सिद्धि नहीं हो सकती" "यज्ञ, दान, तप-रूप प्लव (भवतरणोपाय) भवतरण के लिए दृढ़ साधन नहीं है।" जैसे लौकिक कर्मोद्वारा सम्पादित कृषि आदि फल विनाशी हैं, उसी प्रकार यज्ञादि वैदिक कर्मो द्वारा प्राप्य स्वर्गादि फल भी विनाशी हैं।" "ब्रह्मजिज्ञासु जनों को कर्मोद्वारा सम्पादित स्वर्गादि लोकों को असार एवं अनित्य रूप में विचार कर विवेकीजन उनसे वैराग्य को प्राप्त करें।" 'मैं मुमुक्षु हूँ अतः प्रभो! आपका शरणागत हूँ।' हे श्रीकृष्ण, हे रुक्मिणीकान्त, हे गोपीजन वल्लभ, हे जगद्‌गुरो, मैं संसार-सागर में निमग्न हूँ। मेरा उद्धार करें। इत्यादि श्रुतिवाक्य हैं। (श्रुतिवाक्य मूल में देखें। अनुवाद में उनका केवल अर्थ दिया गया है।)

वेदाध्ययनधर्मजिज्ञासानित्यनैमित्तिकादीनां विवेकादिसम्पत्यर्थकत्वान्न स्वातन्त्र्येण पूर्ववर्तित्वम्। "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन-दानेन-तपसानाशकेने" तिश्रुतेः। यस्य विवेकादयो न सन्ति तस्य तदर्थं धर्मजिज्ञासाद्यपेक्षाऽन्यथा धर्मस्वरूपज्ञानाभावे धर्मानुष्ठानानुपपत्तिः, धर्मानुष्ठानादिकं विना च बुद्धिशुद्ध्य्भावेन विवेकादीनां दुर्घटत्वात्।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ ज्ञातव्य है कि वेदाध्ययन, धर्मजिज्ञासा, नित्य नैमित्तिक कर्मो का अनुष्ठान इन सबका विवेक आदि सम्पत्ति की प्राप्ति में ही उपयोग है, न कि ब्रह्मजिज्ञासा के प्रति स्वतन्त्र रूप से इनका पूर्ववर्तित्व अपेक्षित है, इसी का फलितार्थ कहते हैं- 'वेदाध्ययन' इत्यादि जैसा कि श्रुतिवचन है- 'तमेतमात्मानं वेदानुवचनेनेत्यादि' अर्थात् "उस जगन्नियन्ता परमात्मा को जीव वेदानुवचन (स्वाध्याय) यज्ञ, दान, तप तथा अनशनव्रत के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं।" विवेक आदि साधनहीन पुरुषों के लिए उनकी प्राप्ति-हेतु धर्म की जिज्ञासा उसके साधन तथा उनके अनुष्ठान आदि की अपेक्षा होती है, अन्यथा धर्मानुष्ठान के बिना बुद्धि की शुद्धि का अभाव होने से विवेक आदि की उत्पत्ति नहीं होती, परंतु जिसके हृदय में विवेक आदि गुण स्वतः उत्पन्न हैं, उनके लिए धर्म, जिज्ञासा आदि की अपेक्षा नहीं होती है, यही बात कहते हैं- "यस्य विवेकादयो न सन्ति ...." इत्यादि, क्योंकि जिसके हृदय में विवेक आदि नहीं है, उनके लिए धर्मादि के अनुष्ठान की अपेक्षा होती है। अन्यथा धर्म के स्वरूप-ज्ञान के बिना धर्मानुष्ठान नहीं हो सकता और धर्मानुष्ठान के बिना बुद्धि-शुद्धि न होने से विवेक, वैराग्य आदि असंभव है।

यस्य विवेकादयो जातास्तस्य न तदपेक्षा, फलप्राप्तौ सत्यां साधनानामप्रयोजकत्वात् तत्र प्रवृत्यनुपपत्तेश्च । विवेकादिना तु जन्मान्तरीयधर्माचरणस्येदानीमपि संस्कारात्मना सत्वमनुमीयते । अन्यथा विवेकादयो न स्युः कारणभावे कार्याभावनियमात् । एवञ्च धर्मजिज्ञासाविषयीभूतधर्मस्वरूपतत्साधनतदनुष्ठानप्रकारतत्फलविषयकज्ञानान्तरमिति-पूर्वाचार्य्योक्तौ कर्मणां तज्ज्ञानादेश्च परम्परयैव साधनत्वाभ्युपगमात् । अत्रापि तेषां विवेकादिकारणत्वमेवोक्तं नतु कर्मविवेकादिसमुच्चयोऽतो नाचार्य्योक्तिविरोध इति भावः।

(हिन्दी-अनुवाद)

परंतु जिसके हृदय में विवेक आदि स्वतः उत्पन्न है- (पूर्वजन्म के संस्कार वशात्) उनके लिए धर्मादि के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि फल-प्राप्ति होने पर साधनों की कोई आवश्यकता नहीं होती, फिर उसमें प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं होती। विवेक आदि हेतुओं द्वारा जन्मान्तरीय धर्माचरण का वर्तमान जन्म में भी संस्कार द्वारा अनुमान होता है। अन्यथा विवेक आदि नहीं होंगे, क्योंकि कारण के अभाव में कार्याभाव का निश्चय है। यहाँ ज्ञातव्य है कि आद्याचार्य एवं भाष्यकार श्री निवासाचार्यपाद ने इस सूत्र की व्याख्या में आनन्तर्य के प्रसंग में धर्म-जिज्ञासा के विषय-भूत धर्म का स्वरूप, उसका साधन, उसका अनुष्ठान तथा उसके फल-विषयक ज्ञान के अनन्तर ऐसा अर्थ किया है और यहाँ आनन्तर्य का अर्थ मुमुक्षा के अनन्तर किया गया है, इस प्रकार पूर्वाचार्य-सिद्धान्त से विरोध है, ऐसी शङ्का में कहते हैं- 'एवञ्च धर्म जिज्ञासा .... पूर्वाचार्योक्तौ' इत्यादि। अर्थात् वहाँ भी आचार्यपाद ने कर्मों एवं अनुष्ठान आदि को परम्परया ही साधन माना है। यहाँ भी कर्म आदि को विवेक, वैराग्य आदि का ही कारण कहा गया है, न कि कर्म, चिवेक, वैराग्य आदि का समुच्चय बतलाया है। इस तरह आचार्यपाद की उक्ति से कोई विरोध नहीं है, यह भाव है।

अतश्शब्दो हेत्वर्थः । अत उक्तश्रुतेः, 'आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोर्जुन' इति स्मृतेश्च -- कर्मफलसान्तत्वसातिशयत्वनिश्चयात् । ब्रह्मज्ञानस्य च-- "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतेर्निरतिशया- नन्तफलकत्वनिश्चयाद्धेतोर्मुमुक्षानन्तरं" ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येत्यध्याहृतविध्यर्थकपदेनान्वयः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

सूत्र में 'अतः' शब्द हेतु अर्थ में है। अर्थात् मुमुक्षा के अनन्तर 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार कर्म-फल के सान्त होने के कारण ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए।। श्रुति की तरह 'आ ब्रह्म भुवनाल्लोकात् पुनरावर्तिनोऽर्जुन (अर्थात् विविध कर्मानुष्ठान से ब्रह्मलोक-पर्यन्त दिव्य लोकों को प्राप्तजनों की भी पुनरावृत्ति होती है) इस भगवद्-वाक्य के अनुसार भी कर्मफल के सान्तत्व एवं सातिशयत्व होने से ब्रह्म-जिज्ञासा अपेक्षित है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय' इस श्रुति-प्रमाण के आधार पर ब्रह्म-ज्ञान में निरतिशय तथा अनन्त फल-दातृत्व का निश्चय होने से मुमुक्षा के अनन्तर

ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिए। यहाँ ब्रह्म-जिज्ञासा कर्तव्य है, ऐसा विधि-अर्थक पद का अध्याहार करके अन्वय करना चाहिए।

ब्रह्मजिज्ञासेति कर्मषष्ठ्या समासः। "कृद्योगा च षष्ठी समस्यत" इत्युक्तेः। न शेषषष्ठ्या, सन्प्रत्ययवाच्याया इच्छाया ज्ञानकर्मकत्वात्। ज्ञानस्य च ब्रह्मकर्मकत्वात्। तत्र सकर्मकक्रियायाः कर्मज्ञानं विना ज्ञातुमशक्यत्वात् प्रथमापेक्षितं कर्मैव षष्ठ्या वाच्यं न शेषः। अतएव न चतुर्थ्यपि जिज्ञासापदे इच्छाया मुख्यार्थत्वात् तस्याश्च प्रथमं कर्मापेक्षितं पश्चात् फलं ततश्चादौ कर्मज्ञानार्थं षष्ठीसमासो युक्तः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म जिज्ञासा पद में 'ब्रह्मणः जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा' ऐसा विग्रह करके कर्मषष्ठी के साथ समास किया जाता है। जैसा कि 'कृद्योगा षष्ठी समस्यते' समास हुआ है। यहाँ शेष षष्ठी नहीं है, क्योंकि सन् प्रत्यय वाच्य इच्छा का कर्म ज्ञान है और ज्ञान का कर्म ब्रह्म है। कर्मज्ञान के बिना सकर्मक क्रिया का ज्ञान असंभव है। प्रथम अपेक्षित कर्म ही षष्ठी का वाच्य है, शेष (सम्बन्ध नहीं) प्रथम अपेक्षित होने से ही चतुर्थी भी नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा पद में इच्छा मुख्यार्थ है और इच्छा का प्रथम अपेक्षित कर्म है, पश्चात् फल है। इसलिए पहले कर्म के ज्ञान के लिए षष्ठी समास ही युक्त है।

ब्रह्मशब्देन च 'स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याण- गुणैकराशिम् । व्यूहाङ्गिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरि, मित्युक्तेः श्रीकृष्ण एवात्राभिधीयते, तस्य "भगवानिति शब्दोऽयन्तथा पुरुष इत्यपि । निरुपाधी च वर्तेते वासुदेवे सनातने" इति भगवच्छब्दवद् वासुदेवे सर्वेश्वर एव मुख्यवृत्तित्वात् तद्विषयकमेव ज्ञानं तथा भूतेष्यमाणज्ञानविषयिकैवेच्छेत्यर्थः। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" "भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य' इत्यादि श्रुतेः।

(हिन्दी-अनुवाद)

'ब्रह्म' शब्दार्थ विचार 'ब्रह्म' शब्द से यहाँ स्वाभाविक रूप से समस्त दोष विवर्जित, अनन्त कल्याणमय गुणगणों के एकमात्र आश्रय समस्त अवतारों के अवतारी, ब्रह्मादि समस्त देवताओं के वरणीय, प्रपन्न, जनता-तापहारी-विश्वविमोहन-कमलनयन श्रीकृष्ण ही कहे गये हैं, (निर्विशेष ब्रह्म नहीं) जैसा कि आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र ने वेदान्त कामधेनु में कहा है- 'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषमित्यादि।' इस सिद्धान्त को महर्षि पाराशर के वचनों द्वारा भी दृढ़ करते हैं- जैसा कि श्रीविष्णुपुराण में उनका वचन है- "भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि निरुपाधीचवर्तेते वासुदेवे सनातने" अर्थात् भगवान् तथा पुरुष ये दोनों शब्द निरुपाधिक रूप से सनातन श्रीवासुदेव में प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार 'भगवत्' शब्द की तरह 'ब्रह्म' शब्द भी श्रीसर्वेश्वर भगवान् वासुदेव में मुख्य शक्ति के कारण प्रयुक्त

होता है- इसलिए तद्विषयक ज्ञान एवं तादृश ज्ञान विषयिणी इच्छा ही यहाँ अभिप्रेत है। जैसा कि श्रुतिवचन है- "आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः सोऽन्वेष्टवयः स विजिज्ञासितव्यः" आत्मा को देखना चाहिए, सुनना चाहिए, मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए, उसी का अन्वेषण करना चाहिए तथा उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए" "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः" अर्थात् भूमा पुरुष को जानने की इच्छा करनी चाहिए।

परमते जिज्ञास्यो दुरुपपादः विकल्पासहत्वात्तथाहि--शुद्धो वा मायोपहितो वाऽज्ञानाध्यस्तेश्वरो वा जिज्ञासाविषयत्वेनाभिप्रेतः नाद्यः, तस्याविषयत्वाभ्युपगमात्। अन्यथा मिथ्यात्वप्रसङ्गात् । शुद्धं ब्रह्म मिथ्या जिज्ञासाविषयत्वात् तव मते घटादिवत्। अपसिद्धान्तापत्तेरविषयत्वाभ्युपगमसिद्धान्तभङ्गाच्च। न द्वितीयः जिज्ञासया श्रवणाद्यभ्यासजन्यो- पहितसाक्षात्कारेण तद्विषयकाज्ञाननाशेऽपि शुद्धविषयकाज्ञानस्य तादवस्थ्येनानिर्मोक्षप्रसङ्गात्। अप्रयोजकत्वाच्च। किञ्चोपहितज्ञानं मोक्षहेतुर्नवा। नाद्यस्तस्यैव मुक्तोपसृप्यत्वप्रसक्त्या शुद्धाभ्युपगमस्याप्रयोजकत्वेन वैयर्थ्यात्। न द्वितीयः। जिज्ञासावैयर्थ्यापत्तेस्तदर्थक- भाष्यादिशास्त्र- प्रणयनस्य जलताडनसाम्यापत्तेश्च। नाप्यध्यस्तजिज्ञासाङ्गीकारस्तृतीयोऽध्यासस्य सपरिकरस्य निरसिष्यमाणत्वात्। तस्मात्स्वरूपगुणशक्त्यादिभिर्निरतिशयबृहत्तमो ब्रह्मशब्दवाच्यो भगवान्वासुदेवः श्रीकृष्ण एव जिज्ञास्य इत्युक्तम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

अद्वैत-सिद्धान्त में जिज्ञास्य असंभव

अद्वैत-सिद्धान्त में जिज्ञास्य का निरूपण कठिन है, कारण यदि इस विषय में विकल्प किये जायँ प्रश्न पूछे जायँ तो उत्तर असंभव है, यथा जिज्ञासा विषय ब्रह्म शुद्ध ब्रह्म है या मायोपहित? अथवा अज्ञान में अध्यस्त ईश्वर? पहला नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में उसे अविषय माना गया है, अन्यथा मिथ्यात्व का प्रसंग हो जायगा। क्योंकि अनुमान करेंगे शुद्ध ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह जिज्ञासा का विषय है, आपके मत में घट आदि की तरह। दूसरी बात ब्रह्म यदि जिज्ञासा का विषय होगा तो अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी और ब्रह्म निर्विषय है, यहाँ आपका सिद्धान्त भंग हो जायगा। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि तब जिज्ञासा द्वारा श्रवण मनन आदि अभ्यासों द्वारा मायोपहित ब्रह्म का ही साक्षात्कार होगा। इस तरह उपहित ब्रह्म के साक्षात्कार से तद्विषयक अज्ञान का नाश होने पर भी शुद्ध ब्रह्म-विषयक अज्ञान का नाश न होने से अनिर्मोक्ष का प्रसंग हो जायगा। यदि कहें कि "उपहित ब्रह्मज्ञानं मोक्षौपयिकं जिज्ञासा विषयत्वात्" इस अनुमान के द्वारा उपहित ज्ञान से मोक्ष हो जायगा तो उसका उत्तर देते हैं। अप्रयोजकत्वात्- इस अनुमान में व्यभिचार शङ्का निवर्तक अनुकूल तर्क न होने से यह अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। अब यहाँ अप्रयोजकत्व को ही भङ्गी द्वारा निरूपण कहते हैं- किञ्च इत्यादि ग्रन्थ द्वारा अर्थात् उपहित ज्ञान मोक्ष का हेतु है या नहीं। पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि फिर तो वही (उपहित ब्रह्म) मुक्तजनों

का प्राप्तव्य हो जायगा, शुद्ध ब्रह्म के अनावश्यक होने से उसका वैयर्थ्य हो जायगा। दूसरा विकल्प नहीं कह सकते, तब तो ब्रह्म की जिज्ञासा ही व्यर्थ हो जायगी तथा तदर्थक भाष्य आदि शास्त्रों का प्रणयन भी जलताड़न की तरह व्यर्थ होगा। अज्ञान में अध्यस्त ईश्वर वाला तृतीय विकल्प भी संभव नहीं है। अध्यास का तो सपरिकर हम यहीं इसी ग्रन्थ में आगे सप्रमाण खण्डन करेंगे। इसलिए स्वरूप, गुण, शक्ति आदि द्वारा निरतिशय वृहत्तम ब्रह्म शब्द वाच्य भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण ही यहाँ जिज्ञास्य है, ऐसा कहा है।

ब्रह्म शब्दार्थ निर्वचनम्

"बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" "बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्म"। "एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्त्ता चैव सनातनः। परञ्च सर्वभूतेभ्यस्तस्माद् बृहत्तमोऽच्युत" इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः। श्रुत्यर्थनिर्णाय- कस्यास्य सूत्रस्योपोद्घातरूपत्वात्। शास्त्रारम्भहेत्वनुवन्धा अप्यनेन निरूपिताः। ते त्वधिकारिविषयसम्बन्धप्रयोजनाख्यास्तत्र श्रेयस्कामो मुमुक्षुरत्राधिकारी । विषयश्चास्य ब्रह्मशब्दाभिधेयः सर्वज्ञः स्वाभाविकाचिन्त्यानन्तयावदात्म-वृत्तिशक्तिगुणाद्याश्रयो ब्रह्मरुद्रेन्द्रप्रकृतिपरमाणुकाल- कर्मस्वभावादिनियन्ता दोषास्पृष्टसीमा चिदचित्स्वाभाविकभिन्नाभिन्नत्वाश्रयो भगवान् वासुदेवः श्रीपुरुषोत्तमः।।

(हिन्दी अनुवाद)

ब्रह्म शब्दार्थ निर्वचन

ब्रह्म शब्द "बृह् वृहि वृद्धौ" धातु से बना है, जिसका अर्थ है- निरवधिक महत्त्वशाली तत्त्व। इसी तत्त्व को श्रुति अनन्त शब्द से पुकारती है। निरवधिक महत्त्व का तात्पर्य है स्वरूप, गुण तथा शक्ति आदि में सर्वातिशायि तत्त्व। इसी बात को श्रुति-स्मृति प्रमाण से दृढ़ करते हैं- "बृहंति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म" "वृहन्तो गुणाः अस्मिन्निति ब्रह्म" "एष प्रकृतिरव्यक्तः कर्तचैव सनातनः। परश्च सर्वभूतेभ्य स्तस्माद् वृहत्तमोऽच्युत" अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण ही अव्यक्त प्रकृति हैं, सनातन कर्ता हैं और सम्पूर्ण भूतों में श्रेष्ठ हैं- इसीलिए वह वृहत्तम (ब्रह्म) कहलाते हैं। श्रुति के अर्थ का निर्णायक होने से यह सूत्र उपोद्घात रूप माना गया है। (प्रकृत विषय की सिद्धि के अनुकूल चिन्ता विषय को उपोद्घात कहते हैं- 'चिन्ता प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं विदुर्बुधाः') इसीलिए इस सूत्र में शास्त्र के आरम्भ के प्रयोजक अनुबन्ध-चतुष्टय भी निरूपित कर दिये गये हैं। वे चार अनुबन्ध हैं- अधिकारी, विषय, सम्बन्ध तथा प्रयोजन। यहाँ श्रेयकामी मुमुक्षुजन ही अधिकारी हैं और इसका विषय है- ब्रह्म शब्द प्रतिपाद्य सर्वज्ञ, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अनन्त, यावदात्मवृत्ति-शक्ति-गुण आदि के आश्रय, ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, प्रकृति, परमाणु, काल, कर्म तथा स्वभाव आदि के नियन्ता, सर्वविध दोषों से रहित, चित् (जीव) अचित् (प्रकृति) के स्वाभाविक भेदाभेदाश्रय भगवान् वासुदेव श्रीपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं।

मायावादिमते वेदान्तविषयस्य दुर्निरूप्यत्वसमर्थनम्

परमते तु विषयस्य दुर्निरूप्यत्वेन शास्त्रारम्भोऽसम्भव एव विकल्पासहत्वात् । तथाहि-तन्मते जीवब्रह्मैक्यं विषयः । तच्चैक्यमध्यस्तमनध्यस्तं वा। नाद्यः। अध्यस्तस्या-वश्यम्बाध्यत्वेन भेदस्य तात्त्विकत्वापत्तेः । द्वितीये, ऐक्यस्य ब्रह्माभिन्नत्वेन भेदस्त-दवस्थ एव। नन्वैक्यस्य ब्रह्मभेदो नाभ्युपगम्यत इति चेन्न। ऐक्यस्य निर्विशेषब्रह्मा- भिन्नत्वेन तत्त्वं पदार्थपराणां "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "विज्ञानमानन्दं" "विज्ञानघन" मित्यादीनामैक्यपरमहावाक्यैकवाक्यत्वाभावेन वैयर्थ्यापत्तेः। नचैक्यस्य स्वप्रकाशब्रह्मा-भिन्नत्वेन स्थितिप्रतीत्यादौ निरपेक्षत्वेऽपि, लक्षितार्थभेदभ्रमनिवर्तकवृत्तिजनने पदार्थसापे-क्षत्वेन स्वरूपपरवाक्यानामेकवाक्यतायाः सत्वात् भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तत्र सापेक्षत्वव्यवहार इति वाच्यम्ः निर्विशेषब्रह्माभिन्नैक्यस्य कुत्रापि सापेक्षत्वासम्भवात् । अभावसादृश्यादेः सप्रतियोगिकत्ववदैक्यस्य सापेक्षतायाः स्वाभाविकत्वात् । एतेन मन्मते अविद्यानिवृत्यद्वैतयोः सापेक्षयोरपि ब्रह्मैक्यमस्तु तत्राभावत्वसापेक्षत्वादेर्मायिकत्वेन विरोधा-भावात्। तव तु सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोस्तात्विकत्त्वेन विरोधस्य दुष्परिहरत्वादिति निरस्तम्। त्वदभिमताद्वैतश्रुतिबोध्यस्याभावत्वादेः कल्पितत्वायोगात्। अन्यथा श्रुतेरप्रमाण्यापत्याद्वैत-निवृत्यादेरसिद्ध्यापत्तेः। ज्ञानस्य ज्ञानत्वेन दण्डादेः कारणात्वेनाभावसादृश्येच्छादेस्तत्त्वेन सापेक्षत्वेऽपि, प्रमेयत्वदण्डत्वादिना निरपेक्षत्ववद्भेदत्वेन सापेक्षत्वेऽपि घटत्वादिना निरपेक्षत्वोपपत्तेः। नह्यस्माकमेकरूपेण सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाङ्गीकार इतिसङ्क्षेपः। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः।

।।इतिपराभिमतवेदान्तविषयस्य निरसनम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

मायावादी के मत में विषय का निरूपण अशक्य है-

मायावादी के मत में विषय का निरूपण अशक्य होने से वेदान्त-शास्त्र का आरम्भ असंभव ही है, क्योंकि इस सम्बन्ध में विकल्प करने पर उसका उत्तर असंभव है। यथा-उनके मत में जीव और ब्रह्म का ऐक्य विषय माना गया है। इस विषय में प्रश्न है कि वह जीव और ब्रह्म का ऐक्य अध्यस्त है या अनध्यस्त। अध्यस्त नहीं कह सकते, क्योंकि अध्यस्त वस्तु उत्तरकाल में निश्चित रूप से बाधित होती है। इस प्रकार ऐक्य के बाधित होने पर भेद तात्विक हो जायेगा। (क्योंकि जिसमें जो अध्यस्त होता है, उसमें उसका विरोधी उसके ज्ञान से अबाध्य होता है, यह नियम-व्याप्ति है। जैसे शुक्ति में रूप्यत्व अध्यस्त है, उस शुक्ति में उसका विरोधी अरूप्यत्व शुक्ति-ज्ञान से अबाध्य होता है, इसी प्रकार ब्रह्म में ऐक्य यदि अध्यस्त है, तब उस ब्रह्म में ऐक्य का विरोधी भेद, ब्रह्मज्ञान से अबाध्य होगा। इसी तरह जिसमें जो अध्यस्त होता है, उसका विरोधी तात्त्विक (यथार्थ) होता है, जैसे यदि ब्रह्म में अनृतत्व अध्यस्त है, तो उसका विरोधी सत्यत्व तात्त्विक होता है, इस तरह यदि ऐक्य अध्यस्त है तो उसका विरोधी भेद तात्त्विक होगा।) पुनः विचारणीय है कि श्रुति-समर्थित

एकता भेदाभावरूप है या एकत्व संख्यारूप अथवा ज्ञानात्मक है किंवा एकत्व नामवाला कोई अपर पर्याय धर्म है ? इनमें एकत्व संख्या मानने पर गुणगुणीभाव होने से अद्वैत का व्याघात होता है। यदि ज्ञानात्मक हो तो विज्ञानवाद की तरह ग्राह्य–ग्राहक भेद होने से अद्वैत 'व्याघात' ही होगा। यदि एकत्व घट–पट आदि का परस्पर भेदक धर्म है, तब भी अद्वैत व्याघात हो जाने के कारण धर्मत्व सहन नहीं होगा– इस तरह इन तीनों विकल्पों को दूषित कर भेदाभाव रूप विकल्प का निराकरण करते हैं– 'ऐक्यस्य ब्रह्माभिन्नत्वेनेति' अर्थात् भेदाभावात्मक ऐक्य को प्रामाणिक मानने पर उसका प्रतियोगी भेद भी प्रामाणिक हो जायगा। पुनः अद्वैत व्याघातापत्ति होगी। यदि कहें– 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' इस श्रुति प्रमाण से ब्रह्म तथा उसका ऐक्य भी ब्रह्म ही होगा और वह 'विज्ञानमानन्दंब्रह्म' इस श्रुति से ज्ञानात्मक माना गया है, इसी आशङ्का से कहते हैं– 'नन्विति ब्रह्म तदैक्ये अभिन्ने ब्रह्मैवेदं सर्वमिति श्रुति बोधितत्वात्' अर्थात् ऐक्य को निर्विशेष ब्रह्माभिन्न मानने पर तत् त्वं पदार्थ परक 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'विज्ञान घनम्' इत्यादि वाक्यों का एकत्व परक महावाक्य के साथ एक वाक्यत्व का अभाव होने से वैयर्थ्यापत्ति हो जायेगी।

यदि कहें कि ऐक्य स्वप्रकाश ब्रह्म से अभिन्न होने से स्थिति, प्रतीति आदि में निरपेक्ष होने पर भी लक्ष्यअर्थरूप–भेदभ्रम–निवर्तक वृत्ति के उत्पादन में पदार्थ सापेक्ष होने के कारण स्वरूप परवाक्यों में एकवाक्यता होने से भेदरूप प्रतियोगी सापेक्ष होने के कारण वहाँ सापेक्षत्व व्यवहार होता है। ऐसा कहें, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण निर्विशेष ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप ऐक्य का कहीं भी सापेक्षत्व संभव नहीं है। जैसे अभाव एवं सादृश्य–सप्रतियोगिक होते हैं, उसी तरह ऐक्य की सापेक्षता स्वाभाविक है। इसी से (वक्ष्यमाण दोष से) मेरे मत में अविद्या निवृत्ति एवं अद्वैत में (परस्पर सापेक्ष में भी) ब्रह्मैक्य रहे, वहाँ अभावत्व तथा सापेक्षत्व आदि में मायिक होने से विरोध नहीं है। आपके (भेदाभेद–वादी के) मत में सापेक्षत्व तथा निरपेक्षत्व तात्त्विक होने से विरोध अपरिहार्य है। यह कथन भी निरस्त होता है। निरासमें हेतु कहते हैं– "त्वदभिमताद्वैत अर्थात् आपके अभिमत–अद्वैत श्रुति–बोध्य अभावत्व आदि में कल्पितत्त्व योग नहीं है। अन्यथा श्रुति में अप्रमाण की आपत्ति से अद्वैत–निवृत्ति आदि में असिद्धि आदि की आपत्ति होगी। ज्ञान का ज्ञानत्वरूप से, दण्ड आदि का कारणत्वरूप से अभाव, सादृश्य, इच्छा आदि को तत्वतः सापेक्ष होने पर भी प्रमेयत्व दण्डत्व आदि रूप से निरपेक्षत्व की भाँति, भेदत्वेन सापेक्ष होने पर भी घटत्व आदि रूप में निरपेक्षत्व की उपपत्ति होगी। हमारे मत में एक रूप में सापेक्षत्व तथा निरपेक्षत्व स्वीकार नहीं है– इस प्रकार यह संक्षेप निरूपण हुआ। इस विषय में विस्तार से विचार तो आकर–ग्रन्थ में देखना चाहिए। इस प्रकार अद्वैत–सिद्धान्तानुसार वेदान्त के विषय–निरूपण का खण्डन किया गया है।

प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावलक्षणः सम्बन्धः परमते तु विषयाभावे सम्बन्धानुपपत्तिरेव ।

(अस्य शास्त्रस्य प्रयोजनं निर्वक्ति)

श्रीभगवद्भावापत्तिलक्षणो मोक्षोऽत्र प्रयोजनम्। "मद्भक्तएतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः" इति श्रीमुखोक्तेः। भावपदं स्वयमेव व्याख्यातं श्रीमुखेन। "इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता" इतिश्लोकेन। स एव साम्यसायुज्य ब्रह्मामृतमहिमादिशब्दैरभिधीयते। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।" नारायणे सायुज्यमाप्नोति। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। जुष्टं तेनामृतत्त्वमेतितन्महिमानमेति वीतशोकः, इत्यादि-श्रुतिभ्यः।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव यहाँ सम्बन्ध है। मायावादी के मत में विषय का अभाव होने से सम्बन्ध की भी अनुपपत्ति है।

अब इस शास्त्र का प्रयोजन बताते हैं-

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' अर्थात् बिना प्रयोजन के मन्दजन भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है, इसीलिए अब इस शास्त्र का प्रयोजन बताते हैं- श्रीभगवद्भावापत्तिस्वरूप मोक्ष ही इस वेदान्त-शास्त्र का प्रयोजन है। जैसा कि इस सम्बन्ध में भगवान् के श्रीमुख के वचन हैं- 'मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' तथा 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावभागताः' इन दोनों श्लोकों में आये हुए भाव-पद की व्याख्या भी भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से की है- 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमगताः' एतद् विज्ञान में एतत् शब्द से क्षेत्र याथात्म्य तथा क्षेत्र की प्राप्ति के उपायस्वरूप क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का याथात्म्य जानकर मद्भाव को प्राप्त होता है। अर्थात् मेरा जो-जो भाव है- साधर्म्य है, उसकी प्राप्ति के योग्य हो जाता है। "बहवो ज्ञानतपसा" अर्थात् अनेक भक्तजन ज्ञान रूप से मेरे भाव को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ भगवत्-सम्बन्धी जन्म-कर्म विषयक ज्ञान ही तप है- जो समस्त कर्मों का भर्जक है। जैसा कि आगे कहा है- "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' ऐसे ज्ञान रूप तप से अज्ञान तथा उसके कार्यभूत शुभ-अशुभ वासनाओं को दूरकर मेरे भाव अर्थात् जैसा मेरा अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं आनन्दवान् होकर दिव्य प्रकाश एवं आनन्द-स्वरूप विग्रह है वैसा ही दिव्य चिन्मय आनन्द स्वरूप विग्रह एवं दिव्य ज्ञान एवं अनन्त शक्ति-सामर्थ्यको प्राप्त करता है- जैसा कि श्रुतिवचन है- 'सर्वंहि सर्वः पश्यति' अर्थात् स्वरूप-भेद होने पर भी सार्वज्ञ-योग होने तथा भगवद्-विग्रह-साम्य होने से भी तादात्य रूप भेदाभेद को प्राप्त हो जाता है। भेद-सहिष्णु अभेद-रूप पतञ्जलि-प्रोक्त तादात्म्य प्राप्त होता है। इस प्रकार साधर्म्य-वचन होने से मुक्ति में स्वरूपैक्यवाद, केवल-भेदवाद तथा बहुवचन से आत्मैकवाद भी निरस्त होता है। ऐक्य श्रुति का साम्य-प्रतिपादन में तात्पर्य है- जैसा कि श्रुति का ही वाक्य है- "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" अर्थात् सर्वदुःख रहित होकर सर्वथा भगवत् सादृश्य को प्राप्त हो जाता है, न कि ऐक्य भाव होता है। उसी भगवद्भावापत्ति मोक्ष को साम्य, सायुज्य, ब्रह्मामृत महिमा आदि शब्दों से भी कहा जाता है।

इस सम्बन्ध में अन्यान्य श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं– "नारायणे सायुज्यमाप्नोति" 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' 'जुष्टं तेनामृतत्त्वमेति' 'तन्महिमानमेति वीतशोकः' इत्यादि।

परमते प्रयोजनं दुर्निरूपमसम्भवात्। तथाहि – यस्मै ब्रह्मभावापत्तिलक्षणो मोक्षः प्रयोजनत्वेनाभ्युपगम्यते। तस्य चेतनस्यैकत्वमनेकत्वम्वा ? नाद्यः। चैत्रमैत्रादीनां सुखादिभोगसाङ्कर्य्यप्रसङ्गात्। नचोपाधिकभेदस्य तन्नियामकत्वान्नोक्तदोष इति वाच्यम्। हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽप्यनुसन्धानदर्शनात् । नचान्तःकरणभेदोऽविद्याभेदो वा तन्नियामक इति वाच्यम्। चैतन्यैक्ये चक्षुरादिभेदवदन्तःकरणभेदस्याप्रयोजकत्वात् नन्वन्तःकरणभेद–स्याप्रयोजकत्वेऽपि तदैक्याध्यासापन्नान्तःकरणभेदस्याननुसन्धाने प्रयोजकताङ्गीकारा–न्नोक्तदोषयोग इति चेन्न । निर्विशेषे स्वप्रकाशे ज्ञाताज्ञातविभागहीने चेतनेऽन्तःकरणा–देस्तादात्म्यारोपाऽसम्भवात् उपरिष्टादध्यासस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। किञ्चानेकाविद्या–सम्बन्धस्य दुःखाद्यनुसन्धानरूपस्यानर्थस्य च विशिष्टवृत्तित्वं शुद्धगतत्वम्वा । नाद्यः बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यात् ।

(हिन्दी–अनुवाद)

परमत में प्रयोजन का दुर्निरूपत्व

अद्वैत मत में प्रयोजन का निरूपण भी असंभव है। क्योंकि जिसके लिए ब्रह्म भावापत्तिरूप मोक्ष प्रयोजन–रूप में स्वीकार किया जाता है, वह चेतन एक है या अनेक? एक नहीं कह सकते, एक मानने पर चैत्र तथा मैत्र आदि के भोग में सांकर्य हो जायगा। यदि कहें कि चेतन के एक होने पर भी उपाधि शरीरों में भेद से भोग में सांकर्य नहीं होगा, तो कहते हैं कि ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हाथ, पैर आदि उपाधि–भेद होने पर भी अनुसंधान देखा गया है, सो नहीं होगा अर्थात् यदि उपाधि–भेद से एक को अनुसंधान व अन्य को अननुसंधान मानें, तो एक ही आत्मा में (पुरुष में) हस्तपाद आदि उपाधि–भेद होने से अनुसंधान और अननुसंधान होने लगेगा तथा बाल्य शरीर से अनुभव की गई वस्तु का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं होगा; क्योंकि बाल्य, यौवन आदि शरीरों का परस्पर भेद है, यह भी दोष होगा। यदि कहें कि अन्तःकरण के भेद या अविद्या के भेद से सुख–दुःख आदि भोगों की व्यवस्था होगी, तो कहते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि चैतन्य (जीव) के एक होने पर चक्षु आदि के भेद होने पर भी जैसे अनुसंधान में भेद नहीं होता, उसी तरह अन्तःकरण का भेद भी प्रयोजक नहीं होगा। यदि कहें कि अन्तःकरण का भेद अप्रयोजक होने पर चैतन्य के साथ ऐक्याध्यास से युक्त अन्तःकरण–भेद को अननुसंधान में प्रयोजक मान लेने से उक्त दोष (भोग–सांकर्य) नहीं होगा, यदि कहें अन्तःकरण–भेद को दुःखादि के अनुसन्धान में कारण न होने पर भी चेतन से तो इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञात–अज्ञात विभाग से हीन निर्विशेष तथा स्वप्रकाश चेतन आत्मा में अन्तःकरण आदि के तादात्म्य का आरोप असंभव है। आगे इसी ग्रन्थ में अध्यास का निराकरण किया जायगा। दूसरी बात हम पूछते हैं कि अनेक

अविद्या और दुःखादि अनर्थ का सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म में है या अविद्या अवच्छिन्न में ? पहला पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि, बन्ध और मोक्ष में वैयधिकरण्य है अर्थात् अनर्थ अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म वृत्ति है और मुक्ति शुद्धब्रह्मगत। इस प्रकार वैयधिकरण्य स्पष्ट है।

अन्त्ये च यच्छुद्धं चैत्रीयदुःखानुसन्धातृ तदेव मैत्रीय-दुःखानुसन्धातृइतिसाङ्कर्यं तदवस्थम् नन्वविद्यारूपवन्धनिवृत्तिरूपमोक्षस्य शुद्धगतत्वेऽपि दुःखानुसन्धातृत्वस्यो-पहितगतत्वान्न शुद्धे तदापादकत्वमिति चेन्न। दुःखानुसन्धानरूपानर्थस्योपहितनिष्ठत्वेन वन्धमोक्षयोर्वैयधिकरणयस्य तादवस्थ्यात्। वद्धस्य निवृत्तिरेव नतु मोक्ष इत्यापत्तेश्च ननूपाधेः कल्पितत्वान्निवृत्तावपि उपधेयस्याकल्पितत्वेन निवृत्ययोगात् मोक्षान्वयित्वमितिचेन्न। शुद्धभिन्नतया भवदभिमतस्य विशिष्टस्य मृषात्वेन तत्र मोक्षान्वयासम्भवात्, विशिष्टस्य सत्यत्वे तत्र दृश्यत्वादेर्व्यभिचारापत्तेः। ननु दुःखानुसन्धानमुपहितगतमपि, अविद्यारूपवन्धस्य शुद्धवृत्तित्वात् तत्रैव मोक्ष इति तयोर्वैयधिकरण्याभाव इति चेन्न। दुःखानुभवद्वारेणैवाविद्याया अनर्थत्वात्।

(हिन्दी-अनुवाद)

द्वितीय विकल्प भी नहीं कह सकते, क्योंकि जो शुद्ध ब्रह्म चैत्र-गत दुःख का अनुसंधाता है, वही मैत्रगत चैतन्य के दुःख का अनुसंधाता है, इस प्रकार भोग-सांकर्य रह ही गया। यदि कहें कि अविद्यारूप-बन्ध निवृत्ति-स्वरूप मोक्ष शुद्धब्रह्म-निष्ठ होने पर भी दुःखानुसंधातृत्वरूप अनर्थ के उपहित ब्रह्म-निष्ठ होने से शुद्ध ब्रह्म में दुःखापादकत्व नहीं होगा, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दुःखानुसंधातृत्व अनर्थ के उपहित-निष्ठ होने पर बन्ध और मोक्ष में वैयधिकरण्यरूप दोष तदवस्थ ही रह गया। उनके मत में चरमवृत्ति उपलक्षित आत्मा की अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष है न कि बन्धन निवृत्ति मात्र, ऐसा मानने पर उपहित के निवृत्त होने से किसका मोक्ष होगा, यही विषय कहते हैं- "बद्धस्य निवृत्तिरेव" अर्थात् बद्ध की निवृत्ति ही होगी न कि मोक्ष, ऐसी आपत्ति होगी। यदि कहें कि उपाधि के कल्पित होने से उसकी निवृत्ति होने पर भी उपधेय चैतन्य के अकल्पित होने से निवृत्ति न होने के कारण मोक्ष सम्बन्धित्व होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि शुद्ध ब्रह्म से भिन्न रूप में आप द्वारा अभिमत विशिष्ट चैतन्य के मिथ्या होने से उसमें मोक्ष का अन्वय संभव नहीं है, विशिष्ट को सत्य मानने 'पर सर्वं मिथ्या दृश्यत्वात्' इत्यादि अनुमान प्रयोग में प्रयुक्त दृश्यत्व हेतु मिथ्यात्वा भाववान् विशिष्ट चैतन्य में रहने से व्यभिचारी हो जायगा। अब दुःखानुसंधातृत्व धर्म उपहित ब्रह्म में स्वीकार कर बन्ध और मोक्ष के समानाधिकरण्य का उपपादन करते हैं- 'ननु दुःखानुसंधानमित्यादि' ग्रन्थ से। कहते हैं कि यदि कहें कि दुःखानुसंधान उपहित ब्रह्म गत होने पर भी अविद्या रूप बन्ध शुद्ध वृत्ति होने से मोक्ष वहीं होगा, इस प्रकार दोनों में वैयधिकरण्य नहीं है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्या को दुःखानुभव के द्वारा ही अनर्थ माना गया है।

यत्र दुःखाद्यनुसन्धानं स एव वद्धस्तस्यैव मोक्षौचित्यात् नाप्यविद्यावच्छिन्नद्वाराऽवस्थात्रयातीते शुद्धेप्यनुसन्धानमिष्टमिति वाच्यम्। दुःखानुसन्धातुरवस्थात्रयातीतत्वासम्भवात्। अथ चोपहितस्योपाधिकृतत्वेनोपाधेः शुद्धगतत्वमेव वक्तव्यं तथात्वे च किमेकैकोपाध्यगमे मोक्षः। उत सर्वोपाध्यपगमे। आद्ये सदामुक्तिरेव नतु बन्ध इत्यापापात्। द्वितीये अधुना बन्धएव न कस्यापि मुक्तिरित्यङ्गीकृतं स्यात्। नच जीवानामनेकत्वात् येनोपाधिना यस्य परिच्छन्नत्वं तस्मिंश्चेतने तदुपाध्यपगमे मोक्ष इति वाच्यम्। विकल्पासहत्वात्। तथाहि जीवनानात्ववादे चेतनभेदो वास्तवः औपाधिको वा। आद्ये, अद्वैतवादो दत्ततिलाञ्जलिस्स्यात् तवानङ्गीकाराच्चास्मत्पक्षप्रवेशाच्च। द्वितीय एकोपाधिविनिर्मुक्तस्यापि शुद्धस्योपाध्यन्तरावच्छिन्नत्वेन कदापि मुक्तेरसम्भवात्।

(हिन्दी–अनुवाद)

इसलिए जिसमें दुःख का अनुसंधान होगा, वही बद्ध होगा, इसीलिए उसी का मोक्ष भी उचित है। यदि कहें कि अविद्यावच्छिन्न होने से शुद्ध ब्रह्म में भी दुःख का अनुसंधान है। इस तरह बन्ध तथा मोक्ष में समानाधिकरण्य हो जायगा। इस आशङ्का पर कहते हैं– 'नापि अविद्यावच्छिन्नेति' यदि शुद्ध ब्रह्म में भी दुःख का अनुसन्धान मानेंगे तब तो अवस्थात्रयातीत्व रूप शुद्धत्व का व्याघात होगा। उपाधिके नाना होने से प्रत्येक उपाधि की निवृत्ति होने पर मोक्ष होगा या सभी उपाधियों की निवृत्ति होने पर? इस प्रकार विकल्प करने के लिए कहते हैं– 'अथ चोपहितस्योपाधि..........' इत्यादि। इसमें प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिदिन एक–एक चिद् की उपाधि के उपरम होने से सदा मुक्ति ही माननी पड़ेगी। द्वितीय पक्ष में– समस्त उपाधियों का उपरम न होने से किसी की भी मुक्ति नहीं हो सकेगी। सभी उपाधियों के उपरम होने पर तो संसार का ही उच्छेद हो जायगा। यदि कहें जो शरीरी (आत्मा) जिस उपाधि से अवच्छिन्न है, उसका उस उपाधि के अपगम होने पर मोक्ष होता है, प्रत्यगात्मा (जीव) तो नाना हैं, फिर उक्त दोष का अवकाश नहीं है, ऐसी आशङ्का करके परिहार करते हैं, 'नच जीवानामनेकत्वादित्यादि' अर्थात् ऐसा भी नहीं कह सकते– इसमें भी विकल्प होने पर उसका उत्तर नहीं दे सकते– जैसे जीव के नानात्ववाद में चैतन्य का भेद वास्तविक है या औपाधिक? प्रथम पक्ष मानने पर अद्वैतवाद ही समाप्त हो जायेगा, जो आपको अभीष्ट नहीं है, फिर तो हमारा पक्ष स्थापित हो जायगा, यदि कहें कि जीव और ईश्वर का भेद उपाधिकृत है, वास्तव में तो उनमें अभेद ही है, यह द्वितीय विकल्प भी नहीं कह सकते, क्योंकि एक आत्मा के उपाधि विनिर्मुक्त होने पर भी शुद्ध चैतन्य का द्वितीय उपाधि से अवच्छिन्न होने से कदापि मुक्ति नहीं होगी।

भग्नोपाधेश्चेतनस्योपाध्यन्तरोपहितेभ्यो भिन्नत्वाभावात्। ननु माभूदनेकजीववादे मुक्तेःसामञ्जस्यम्। एकजीववादे तु सर्वोपाध्यपगमान्मोक्ष इति चेन्न शुकादिमोक्ष विधायकशास्त्रस्य बाधापत्त्या तन्मतस्यैवाप्रामाणिकत्वात् दुःखानुसन्धानस्याव्यवस्थापत्तेश्च।

किञ्चोपाधिरेकदेशेन सम्बद्धः कृत्स्नेन वा । आद्ये तन्मतेस्वाभाविकांशाभावेनौपाधिकत्वमेव वाच्यं तथात्वे चानवस्थाप्रसङ्गः । अन्त्ये च न भेदकता कृत्स्नस्यैवोपाधिनैव ग्रस्तत्वात्। नच सर्वविकल्पासहत्वेन मिथ्याभूतस्योपाधेर्मिथ्याभेदप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

यही बात कहते हैं- 'द्वितीये एकोपाधि' इत्यादि ग्रन्थ से क्योंकि एक जीववाद में उपाधि अवच्छिन्न तथा उपाधि अवच्छिन्न चैतन्य में कोई भेद नहीं है। अब एक जीववाद में मुक्ति के सामञ्जस्य का उपपादन करते हुए शङ्का करते हैं- यदि कहें कि अनेक जीववाद में मुक्ति का सामञ्जस्य भले न हो, पर एक जीववाद में सभी उपाधियों के अपगम होने पर मोक्ष हो जायगा, तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि शुक आदि के मोक्ष विधायक शास्त्र में बाध की आपत्ति होने से वह मत ही अप्रामाणिक हो जायेगा और दुःख अनुसन्धान की अव्यवस्था भी हो जायेगी। अर्थात् एक जीववाद में अविद्या के एक होने से एक के मुक्त होने पर सम्प्रति प्रपञ्च का अनुपलम्भ हो जायगा। पहले मुक्ति न होने पर वामदेव आदि के मुक्ति प्रतिपादक शास्त्र के विरोध का प्रसङ्ग हो जायगा। जीवन्मुक्तों के तत्त्व साक्षात्कार होने से पारमार्थिकत्व सम्पादन-परक शक्ति विशेष विशिष्ट अज्ञान का नाश होने पर भी प्रातिभासिकत्व सम्पादन परक शक्ति विशेष विशिष्ट अज्ञान की निवृत्ति न होने से देह धारण युक्त हैं, ऐसा यदि अद्वैतवादी कहेंगे" तब भी उद्धार नहीं है, ऐसा कहते हैं- 'किञ्चोपाधिरेकदेशेन' ग्रन्थ से अर्थात् उपाधि एक देश से सम्बद्ध है या सर्वांश से ? प्रथम पक्ष में उनके मत में स्वाभाविक अंश का अभाव होने से औपाधिक ही कहना पड़ेगा, औपाधिक मानने पर अनवस्था का दोष आ जायगा अर्थात् एक देश औपाधिक है, वह भी औपाधिक है- इस प्रकार परम्परया अनवस्था का प्रसङ्ग ही होगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि सम्पूर्ण चित् उपाधि से ग्रस्त है। यदि कहें कि समस्त विकल्प अकिञ्चित्कर होने से मिथ्याभूत उपाधि केवल मिथ्या-भेद का प्रयोजक होगा तो ऐसा नहीं कह सकते।

उतरास्फूर्तौ प्रधानसम्वित्योर्विकल्पाद्यसहत्वमिति साङ्ख्यबौद्धाभ्यामपि वक्तव्यत्वेन तन्निरासम्भवात् । मृषाभूतस्यापि व्यावहारिकस्य त्वयाङ्गीकारात् । अन्यथा जीवजडयोर्विश्व-कर्तृत्वान्तर्यामित्वादिकं निरस्येश्वरे तत्समर्थयतः समन्वयाध्यायस्योच्छेदापत्तेः । तव मते परमेश्वरकर्तृत्वस्यापि व्यावहारिकत्वात् । तस्माद्बद्धमुक्तदुःखानुसन्धानुपपत्या चितो वास्तवो भेदोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति सिद्धं भेदस्य पारमार्थिकत्वम् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

उत्तर की स्फूर्ति न होने से प्रधान और सविद् में विकल्प का उत्तर न होने से सांख्य और बौद्ध द्वारा भी उसका निरास असंभव है। आपने मिथ्या वस्तु को भी व्यावहारिक माना है। अन्यथा जीव एवं जड़ में विश्व कर्तृत्व तथा अन्तर्यामित्व का निरास करके ईश्वर में

सृष्टि–कर्तृत्व तथा अन्तर्यामित्व का समर्थन करने वाले समन्वयाध्याय का उच्छेद हो जायगा। आपके मत में (सृष्टि–सम्बन्धी) परमेश्वर कर्तृत्व भी व्यावहारिक ही है। इसलिए बद्ध तथा मुक्त जीवों को दुःखानुसंधान की अनुपपत्ति के कारण चित् का वास्तविक भेद अवश्य स्वीकार करना होगा, इस प्रकार भेद का पारमार्थिकत्व सिद्ध हुआ।

ननु बन्धमोक्षादिव्यवस्थायाः स्वप्नवद्यावद्विद्यमुपपद्यमानत्वमेवेति चेन्न, तस्मिन्नेकस्मिन्नपि सुप्तेः सर्वजगदप्रतीत्यापत्तेः। ननु समष्ट्यभिमानिनोऽस्वापान्नोक्तदोषापत्तिरिति चेन्न, सृष्टिमारभ्याप्रलयाप्रसुप्तत्वस्य जीवेऽसम्भवात्। जीवैक्याङ्गीकारे अहं त्वमयमिति प्रत्यक्त्वपराक्त्वप्रत्ययानामुच्छेदापत्तेः। नहि देवदत्तस्य त्वमितिधीविषयस्याहमिति धीविषयत्वं युक्तमित्यर्थः। ननु नायं दोषः भिन्नभिन्नान्तःकरणभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादायाहं त्वमादिप्रत्ययानां सविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेरिति चेन्न, योगिनः कायव्यूहे नानान्तःकरणतादात्म्यारोपेऽप्यहमित्येव प्रतीतेः। नच तत्रान्तःकरणस्यैकत्वमेवेति वाच्यम्। वाह्यकरणानामप्यैकत्वापत्या कायव्यूहस्यैवासम्भवात्। किञ्च त्वन्मते एकस्यैव चितः सर्वान्तःकरणैरभेदाध्यासेन चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रूप्यभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्यापत्तिः। अन्तःकरणस्य भोगाद्यव्यवस्थापकत्वात्। अन्यथा योगिकायव्यूहे देहोऽपि भोक्तृभेदकस्स्यात्। अथ चैक एव जीवः सर्वकल्पकस्तेनैव सर्वमिदं कल्पितमिति चेन्न । जीवस्य कारणतां निषिध्य परमेश्वरत्वबोधकानां श्रुतीनां बाधापत्तेः । सार्वज्ञ्यबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वापत्तेश्च। जीवभिन्नेशाभावात् जीवे सार्वज्ञ्यस्यानुभवविरोधाच्च। नच समष्ट्यभिमानिनो जीवस्यैव सार्वज्ञ्यादियोगोऽभ्युपगम्यत इति वाच्यम्। लोके जीवत्वेन प्रसिद्धेषु सार्वज्ञ्यादेः प्रत्यक्षादिना बाधितत्वात्। प्रसिद्धभिन्नस्य सार्वज्ञ्यस्वीकारे तस्यैवेश्वरत्वेनेष्टापत्तेरिति सङ्क्षेपः। द्वितीये चेतनानेकत्वपक्षे तद्भेदस्यौपाधिकत्व उक्तदोषाणां योगः। किञ्चौपाधिकभेदाङ्गीकारे उपाधिगमनकाले तदवच्छिन्नस्य कौटस्थ्यात् गत्यभावेन पदे–पदे बन्धमोक्षौस्याताम्। अनादिबद्धस्याकस्मात्साधनं विनैव मोक्षः। कूटस्थनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्याकस्मान्निष्कारणमेव बन्ध इत्यर्थः। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च। स्वाभाविकत्वेचास्मत्पक्षप्रवेशेऽद्वैतभङ्गश्च। (अथ प्रतिबिम्बवादस्य खण्डनम्)

(हिन्दी–अनुवाद)

अब अन्तःकरणों के नानात्व को अङ्गीकार कर एक जीववाद में 'अहम्' 'त्वम्' आदि व्यवहारों का उपपादन कर शङ्का करते हैं– 'ननु' इत्यादि यदि कहें कि बन्ध तथा मोक्ष आदि व्यवस्था का स्वप्न की तरह जब तक विद्या नहीं हुई है, तब तक तो उपपन्न होगा ही तो कहते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, उनमें एक के भी सोने पर सम्पूर्ण जगत् की अप्रतीति की आपत्ति हो जायगी। यदि कहें कि समष्टि के अभिमानी चेतन के स्वप्न (शयन) नहीं होने से उक्त दोष की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त शयनाभाव जीव में असंभव है। एक जीववाद मानने पर 'अहम्' 'त्वम्' तथा 'प्रत्यक्त्व' इत्यादि प्रत्यक्ष एवं परोक्ष

प्रतीतियों का उच्छेद होगा, क्योंकि 'त्वम्' इस प्रतीति के विषय देवदत्त का 'अहम्' इत्याकारक प्रतीति विषयता युक्त नहीं है। यदि कहें कि यह दोष तो नहीं हो सकता– भिन्न-भिन्न अन्तःकरण के साथ भेदाध्यास होने से तत्-तत् (भिन्न-भिन्न) अन्तःकरण को लेकर 'अहम्' 'त्वम्' इत्यादि प्रतीतियों की विषय व्यवस्था की उपपत्ति हो जायगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते। योगी के कायव्यूह में नाना अन्तःकरण के साथ तादात्म्य का आरोप होने पर भी 'अहम्' इतनी ही प्रतीति होती है। यदि कहें कि वहाँ अन्तःकरण का एकत्व ही है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि फिर तो बाह्यकरणों में भी एकत्व की आपत्ति होने से कायव्यूह ही असंभव हो जायगा। दूसरी बात एक जीववाद में दूसरा भी दोष हो जायगा सो कहते हैं- 'किञ्च' इत्यादि ग्रन्थ से, अर्थात् आपके मत से एक ही चैतन्य का सभी के अन्तःकरणों से अभेदाध्यास होने से चैत्र को शुक्ति साक्षात्कार होने से रजत के भ्रम की निवृत्ति होने पर दूसरों की भी भ्रम निवृत्यापत्ति हो जायगी। क्योंकि अन्तःकरण भोग आदि का व्यवस्थापक नहीं है। अन्यथा योगियों के कायव्यूह में देह भी भोक्ता का भेदक हो जायगा। एक जीववादी पुनः शङ्का करते हैं– "यदि कहें कि एक जीव ही सबका कल्पक है अर्थात् उसी से सारा प्रपञ्च कल्पित है– उससे भिन्न कोई परमात्मा नहीं है", तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव की करणता का निषेध कर परमेश्वर बोधक श्रुतियों का बाध हो जायगा तथा सर्वज्ञ बोधक श्रुतियों की निर्विषयत्वापत्ति हो जायगी, क्योंकि जीव से भिन्न कोई ईश नहीं है और जीव की सर्वज्ञता अनुभव विरुद्ध है। यदि कहें कि समष्टि अभिमानी जीव में सर्वज्ञता आदि का योग स्वीकार करते हैं तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि लोक में जीव-रूप में प्रसिद्ध, चेतनों में सर्वज्ञता का योग प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। जीव रूप में प्रसिद्ध से भिन्न में सर्वज्ञता स्वीकार करने पर उसी में ईश्वरत्व की प्राप्ति होगी, जो इष्टापत्ति है। जिस चेतन के लिए ब्रह्मभावापत्ति रूप मोक्ष प्रयोजन के रूप में मानते हैं, वह चेतन एक है या अनेक? ऐसा जो पहले विकल्प किया गया था, उसमें एकत्व पक्ष का खण्डन करके द्वितीय पक्ष का खण्डन करने के लिए कहते हैं– 'द्वितीये चेतनानेकत्व पक्षे..........' इति अर्थात् चेतन के अनेक मानने पर चेतन के भेद को औपाधिक मानने पर उपर्युक्त दोषों की आपत्ति होगी अर्थात् उपहित के उपाधिकृत होने से उपाधि को शुद्धगत ही करना पड़ेगा, फिर तो क्या एक-एक उपाधि के दूर होने पर मोक्ष होगा या समस्त उपाधियों के अपगम होने पर? प्रथम पक्ष में सदा मुक्ति ही होगी बन्ध नहीं इत्यादि प्रकार से पूर्व में कहे गये दोष हो जायँगे, यदि औपाधिक भेद स्वीकार करेंगे तो उपाधि के गमनकाल में उससे अवच्छिन्न चेतन के कूटस्थ होने के कारण उसमें गति के अभाव के कारण पद-पद पर बन्ध तथा मोक्ष होंगे। अर्थात् अनादि बद्ध चेतन का अकस्मात् साधन के बिना ही मोक्ष तथा कूटस्थ नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव चेतन का अकारण ही बन्धन होगा तथा कृतनाश एवं अकृत नाश का प्रसङ्ग हो जायगा। स्वाभाविक मानने पर हमारा पक्ष आ जायगा तथा अद्वैत का भङ्ग हो जायगा।

ननु माभूदुपाध्यवच्छिन्नस्योक्तदोषकदम्बकजीवत्वम्। किन्तु चेतनप्रतिबिम्ब एव

जीवस्तस्याविद्यया अन्तःकरणस्यैवोपाधेः कल्पितत्वेन तन्नाशे जीवब्रह्मैक्यसिद्धिरिति चेन्न। प्रतिबिम्बभावे, उपाधेर्बिम्बस्य च सावयवत्वरूपवत्वप्रमाणविषयत्वादीनां तत्कारणानामभावात् । तथाहि–बिम्बरूपो–रूपी प्रत्यक्षविषयोऽवयववान् वा नीरूपप्रमाणविषयोनिरवयवो वा ?। नाद्योऽनङ्गीकारात्। अन्यथा निर्विशेषाद्वितीय–वादभङ्गापत्तेः। न द्वितीयो ऽसम्भवात्। नीरूपस्य रूपस्य प्रत्यक्षगोचरस्वाश्रय–द्रव्यविशिष्टस्यैव सावयवे प्रत्यक्षगोचर एव द्रव्ये प्रतिबिम्बभावापत्तिदर्शनान्न केवलस्यातो न तत्र व्यभिचारश्शङ्कनीयः। नचाकाशस्य निरवयवनीरूपस्यापि प्रतिबिम्बदर्शनाद्व्यभिचार इति वाच्यम्। पञ्चीकृतस्याकाशस्य तु प्रत्यक्षगोचरत्वाभावेन प्रतिबिम्बकल्पनाया अप्रामाण्यात्। अन्यथाकेवलस्य तु प्रत्यक्षगोचरत्वाभावेन प्रतिबिम्बकल्पनाया अप्रामाणयात्। अन्यथा कालधर्मादीनां शब्दस्पर्शादौ वायुपिशाचादीनाञ्चाचाक्षुषाणां कालादौ प्रतिबिम्बनापत्तेः। तच्च दृष्टश्रुत्यगोचरत्वादनुपपन्नम्। किञ्च सूर्यचन्द्रादिप्रभा–मण्डलयुक्तस्यैवाकाशस्य प्रतिविम्बभावापत्तिर्न केवलस्यान्यथान्धकारेऽपि तद्दर्शनापत्तिरतो न तत्र व्यभिचारावकाशः। किञ्चोपाधिसम्बन्धो जीवे स्वाभाविकः औपाधिको वा ? नाद्यस्तन्मतेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न द्वितीयः अनवस्थान्योन्याश्रयाच्च। नचोपाधिरेव स्वसम्बन्धहेतुरिति वाच्यम्। आत्माश्रयात् वस्तुतस्तु बिम्बसमसत्ताक एवोपाधौ लोके प्रतिबिम्वदर्शनात् प्रकृतेऽविद्याद्युपा–धीनां ब्रह्मसमसत्ताकत्वाभावान्नेष्टसिद्धिरन्यथा मृगमरीचिकाजलेऽपि सूर्यादिप्रतिबिम्बदर्शनापत्तिः । नच दर्पणस्थनेत्रप्रतिफलितमुखादिदर्शने व्यभिचारः। सोपाधिकारोपे दृष्टस्य स्वबाध्यौपाधिकत्वस्य तत्रासत्वेन नेत्रदेशावच्छेदेन तन्मुखप्रतिफलनमित्यङ्गीकारात्, तत्राप्युभयोः प्रतिबिम्बयोः प्रतिबिम्बभावेन स्थितत्वेऽपि बिम्बसमसत्ताकोपाध्युपहितत्वस्य नियामकत्वान्न व्यभिचारः। किञ्चोपाधेर्बिम्बान्यदेशावस्थान एव प्रतिबिम्बभावो नत्वेकत्रैव; प्रकृतेस्तदभावादिष्टासिद्धिः। अयम्भावः उपाधिर्ब्रह्मैकदेशवृत्तिः व्याप्यवृत्तिर्वा ? नाद्यः, ब्रह्मणः सदेशत्वापत्तेर्निर्विशेषत्वहानिः। द्वितीये सर्वस्याप्युपाधिमत्वे प्रतिबिम्बनासिद्धिः सुतरांशुद्धत्वहानिश्च। इतरया जलनिमग्नानामपि जलौकसां प्रतिबिम्बो दृश्येत नतु तदस्तितथा प्रकृतेऽपि बोध्यम्। तस्माद्बिम्बप्रतिबिम्बवज्जीवब्रह्मैक्यं वक्तुमशक्यत्वात्सर्वथानुपपन्नमिति सिद्धम्।

(इति बिम्बप्रतिबिम्बवज्जीवब्रह्मैक्यस्य निरसनम्)

(हिन्दी–अनुवाद)

प्रतिबिम्ब का खण्डन

अब कहते हैं कि उक्त दोषों के कारण अवच्छेदवाद संभव न हो (उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य को जीव भले न मानें) किन्तु चेतन प्रतिबिम्ब को ही जीव मान लें तो क्या आपत्ति ? अर्थात् एक ही चैतन्य बिम्बत्वक्रान्त ईश्वर चैतन्य तथा प्रतिबिम्बत्वाक्रान्त जीव चैतन्य है तथा बिम्ब प्रतिबिम्बभाव कल्पना में एक जीववाद में उपाधि अविद्या एवं अनेक जीववाद में उपाधि अन्तःकरणों को मान लें, इस प्रकार अविद्या और अन्तःकरण रूप उपाधिप्रयुक्त जीव तथा

ईश्वर में भेद मान लें और यह भेद उपाधि कल्पित होने से उपाधि नाश होने पर जीव ब्रह्म का ऐक्य मानें तो क्या हर्ज? तो कहते हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि प्रतिबिम्ब भाव में जो कारण अपेक्षित हैं उनका अभाव होने से प्रतिबिम्ब संभव नहीं है, कारण प्रतिबिम्ब भाव के लिए उपाधि और बिम्ब दोनों का सावयत्व रूपवत्व तथा प्रमाण विषयत्व होना आवश्यक है, जिनका यहाँ अभाव है। यहाँ उनका विकल्प करके उक्त वाद का खण्डन करते है- अर्थात् बिम्बरूप चैतन्य (ब्रह्म में) प्रतिबिम्ब भाव प्रयोजक रूपवत्व, प्रत्यक्ष विषयत्व तथा सावयत्व आदि गुण हैं या नहीं, पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में ब्रह्म में रूपवत्व, प्रत्यक्ष विषयत्व तथा सावयत्व आदि धर्म स्वीकार नहीं किये गये हैं अन्यथा निर्विशेषवाद तथा अद्वैतवाद का आपका सिद्धान्त भङ्ग हो जायगा। द्वितीय पक्ष मानने पर प्रतिबिम्ब असंभव है। यदि कहें कि 'गुणे गुणानङ्गीकारात्' सिद्धान्त के अनुसार रूपादि न होने पर भी रूप का प्रतिबिम्ब होता है, फिर नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो सकता, इसका उत्तर है रूपहीन रूप का प्रत्यक्ष गोचर स्वाश्रय द्रव्यविशिष्ट होने पर ही या आश्रयद्रव्य विशिष्ट का ही सावयव एवं प्रत्यक्ष गोचर द्रव्य में प्रतिबिम्ब होता है। केवल रूप का नहीं, इसलिए उक्त व्यभिचार की यहाँ आशङ्का नहीं है। यदि कहें कि नीरूप तथा निरवयव आकाश का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, फिर नीरूप निरवयव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब क्यों नहीं हो सकता, इसका उत्तर है कि आकाश के पञ्चीकृत होने से उसमें प्रतिबिम्ब होने में कोई विरोध नहीं है। अपञ्चीकृत आकश केवल शुद्ध आकाश का प्रत्यक्ष गोचर न होने से उसकी प्रतिबिम्ब कल्पना अप्रामाणिक है, अन्यथा नीरूप काल धर्म आदि का शब्द तथा स्पर्श आदि में तथा चाक्षुष प्रत्यक्ष के अविषय वायु, पिशाच आदि का काल आदि में प्रतिबिम्ब की आपत्ति होगी, ऐसा न कभी देखा गया, न सुना ही गया है, इसलिए यह संभव नहीं।

दूसरी बात सूर्य, चन्द्र आदि के प्रभामण्डल से युक्त आकाश का ही प्रतिबिम्ब होता है, केवल आकाश का नहीं, अन्यथा अन्धकार में भी आकाश का प्रतिबिम्ब दर्शन होना चाहिए पर ऐसा नहीं होता। अब उपाधि के सम्बन्ध में विकल्प उपस्थित कर उसे दूषित करते हैं- किञ्च इत्यादि ग्रन्थ से। अर्थात् उपाधि का सम्बन्ध जीव में स्वाभाविक है या औपाधिक? स्वाभाविक नहीं कह सकते- जैसे हजारों शिल्पी नील को पीत नहीं कर सकते, इस प्रकार स्वाभाविक उपाधि सम्बन्ध का अपकरण न होने से जीव के लिए अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग हो जायगा। औपाधिक वाला द्वितीय पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसे औपाधिक मानने पर वह उपाधि सम्बन्ध भी औपाधिक, इस प्रकार अव्यवस्था का प्रसङ्ग हो जायगा और उपाधि सम्बन्ध से जीव की सत्ता तथा जीव की सत्ता से उपाधि कौन सम्बन्ध की सत्ता इस तरह अन्योन्याश्रय दोष भी उपस्थित हो जायगा। यदि कहें कि उपाधि सम्बन्ध की उत्पत्ति में उपाधि ही हेतु है, तब तो अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। तब कहते हैं कि फिर तो आत्माश्रय-दोष का प्रसङ्ग हो जायगा। क्योंकि स्व की उत्पत्ति की अपेक्षा होने से आत्माश्रय-दोष होता है। वास्तव में तो बिम्ब समान सत्ता के उपाधि में ही लोक में प्रतिबिम्ब देखा गया है, प्रकृत में अविद्या

आदि उपाधियों में ब्रह्म समान सत्ता का अभाव होने से प्रतिबिम्ब की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यथा मृगमरीचिका के जल में भी सूर्य आदि के प्रतिबिम्ब की दर्शनापत्ति होगी। अब समसत्ता का उपाधि और बिम्ब में ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, ऐसा नियम मानने पर व्यभिचार की आशङ्का कर उसका परिहार करते हैं- 'नचेति' ग्रन्थ से- यदि कहें कि दर्पण आदि में मुख की प्रतिबिम्बता प्रयोजक बिम्ब समान-सत्ताकत्व होने पर भी दर्पणस्थ नेत्र में मुख प्रतिबिम्बगत जो मुख आदि हैं, वहाँ बिम्ब समान सत्ताकत्व दर्पणस्थ नेत्र रूप उपाधि में नहीं हैं, फिर तो उक्त नियम में व्यभिचार हो जायगा, यदि कहें कि दर्पणस्थ नेत्र में प्रतीयमान 'इदं मुखम्' यह ज्ञान भ्रमात्मक ही है, न कि वहाँ मुख का प्रतिबिम्ब है, फिर तो वहाँ उक्त नियम में व्यभिचार का अवकाश नहीं, ऐसी आशङ्का करें, तो उसका खण्डन करते हुए कहते हैं- सोपाधिकारोप इति अर्थात् आरोप दो तरह के होते हैं- निरुपाधिक एवं सोपाधिक। आत्मा में अहंकार के आरोप को निरुपाधिक आरोप कहते हैं और एक ही उपहित ब्रह्म में जीव तथा ईश्वर रूप से भेदावभास को सोपाधिक आरोप कहते हैं- जैसा कि कहा है- 'दोषेण कर्मणा वापि क्षोभिताज्ञान संभवः। तत्वविद्या विरोधी भ्रमोऽयं निरुपाधिकः' 'उपाधिसन्निधिप्राप्तक्षोभाविद्याविजृम्भितम्। उपाध्यपगमापोह्यमाहुः सोपाधिकभ्रमम्' इति। सोपाधिक आरोप होने पर उपाधि का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सोपाधिक आरोप उपाधि ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक है, ऐसी कल्पना की जाती है, यही कहते हैं- 'स्वबाध्योपाधिकत्वस्येति ग्रन्थ से अर्थात् स्वीय आरोप से जिस आरोप की उपाधि बाध्य हो। दर्पणस्थ नेत्र में नेत्ररूप उपधि की प्रतीति के प्रति मुखारोप के प्रतिबन्धकत्व का अभाव होने से उसमें सोपाधिक आरोपत्व की संभावना भी नहीं है। इसलिए नेत्र देशावच्छेदेन दर्पणरूप उपाधि में मुख का प्रतिबिम्बान्तर ही मानना पड़ेगा, न कि मुख का आरोप। इससे मुख की प्रतिबिम्बता में नेत्रदेश अवच्छेद्य है, न कि उपाधि यह विषय प्रकाशित होता है। दर्पण में भी मुख का एक प्रतिबिम्ब दर्पण में नेत्र देशावच्छेदेन मुख का अपर प्रतिबिम्ब इन दोनों प्रतिबिम्बों का प्रतिबिम्ब भाव से स्थित होने पर भी बिम्ब समान सत्ता का उपाधि से उपहितत्व का नियामक होने से कोई व्यभिचार नहीं होगा। दूसरी बात उपाधि, के बिम्ब से अन्य देश में अवस्थान होने पर ही प्रतिबिम्ब भाव होता, न कि एक स्थान में होने पर। प्रकृत स्थल में उसका अभाव होने से इष्ट की सिद्धि नहीं होगी। तात्पर्य है कि उपाधि ब्रह्म के एक देश में वृत्ति है या वह व्याप्यवृत्ति (सर्वावयव में स्थित होकर) है ? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि तब ब्रह्म में सावयवापत्ति दोष लग जायगा और तब ब्रह्म में निर्विशेषत्व स्वरूप की हानि होगी। दूसरे पक्ष में सम्पूर्ण ब्रह्म के उपाधि युक्त होने पर उसका प्रतिबिम्ब सिद्ध नहीं होगा और ब्रह्म के शुद्धत्व की हानि भी होगी। अन्यथा जल में निमग्न जन्तुओं का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिए, परंतु ऐसा नहीं होता, इसी तरह प्रकृत में भी समझना चाहिए। इसलिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब रूप जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य भी निरूपण के अयोग्य होने से परमत में प्रयोजन निरूपण भी उपपन्न नहीं हो सकता।

किञ्च 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुतेरेकजीववादे ह्युपदेष्टव्यादन्यस्य चेतनस्याभावादुपदेष्टुरभावे तत्त्वज्ञानासम्भवस्तस्मिंश्च मोक्षासम्भवः। नच कल्पितत्वस्योपदेष्टृत्वं शास्त्रोक्तलक्षणलक्षितस्यैव तथात्वश्रवणात् 'स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमिति' श्रुतेः । नच स्वाप्नस्य गुरोरिवोपदेष्टृत्वेऽपि क्षत्यभावेन तथात्वोपपत्तिरिति वाच्यम्। स्वाप्नस्य गुरोरज्ञाननिवर्त्तकत्वादर्शनात्। अन्यथा 'यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि'इति श्रुतेः'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इति स्मृतेश्च व्याकोपात्। किञ्चोपदेष्टुर्गुरोर्निश्चिताद्वैततत्त्वं नवा? नाद्यः अद्वैतज्ञानवतः पुंसो द्वैतदर्शनात्मकशास्त्रप्रणयनासम्भवात्। द्वितीये च प्रतारकत्वापत्तिः अन्धपरम्परान्यायापत्तिश्च। किञ्चानादिसंसारे कस्यचित्तत्त्वज्ञानं मुक्तिश्चाभून्नवा? आद्ये जीवस्यैकत्वेनेदानीं संसारानुपलब्धिप्रसङ्गः । द्वितीये शुकादीनां मुक्तिर्यदि नासीत्तर्हि ममापि न भविष्यतीति शङ्कया वेदान्तवश्रवणादौ प्रवृत्यनुपपत्तिः। नच शास्त्रप्रामाण्यदार्ढ्यात् प्रवृत्युपपत्तिरिति वाच्यम्। एवञ्चेच्छ्रुतिप्रामाण्यदार्ढ्यादिव सदासिद्धो जीवभेदः श्रुतिप्रमितः केषाञ्चिन्मोक्षश्च कुतो नाङ्गीक्रियते 'यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः' 'नित्यो नित्यानामि त्यादिश्रुतिभ्यः। 'अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः। ततोप्यनन्तगुणिताः जीवानां राशयः पृथक्'' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च। तस्मात्त्वन्मते मोक्षस्य स्वरूपत्वेन सदैव स्वत एव प्राप्तत्वाद्बन्धस्य चाविद्यकत्वेन मृगतृष्णाकल्पितोदकेनेव तेन स्पर्शासम्भवात्तन्निवृत्तये शास्त्रप्रणयनस्य श्लेष्मविलोडनमात्रत्वेन सुतरां वैयर्थ्यम्। शुद्धस्य नित्यमुक्तत्वात् बद्धस्य च तुच्छत्वात् कस्य मुक्तये प्रयासविशेषः मुमुक्षोरेवासिद्धेस्तस्मात्प्रयोजनासिद्धेश्शास्त्रारम्भो व्यर्थ एव।

नच स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वेऽपि कण्ठस्थस्य नित्यप्राप्तस्य विस्मृतस्य मणेरुपदेशवदुपदेशः सार्थक इति वाच्यम्। मण्युपदेशस्य सुखं दुःखाद्यभावश्च फलं न च त्वन्मते स्वरूपभिन्नं प्राप्यं किञ्चिदस्ति स्वप्रकाशात्मकस्य नित्यप्राप्तत्वात्। किञ्च मणेर्देहादिभिन्नत्वेनाहन्तानास्पदत्वाद्विस्मरणविषयत्वं वक्तुं शक्यं ब्रह्मणस्तु स्वरूपत्वेन विस्मरणासम्भावान्नोक्तदृष्टान्तसिद्धिः। किञ्च मणेः स्वल्पपदार्थस्य देहैकदेशवृत्तित्वेन विस्मृत्यर्हत्वं भवेत्। आत्मनस्तु सर्वगतत्वेन स्वरूपत्वेन च तत्तासम्भवात् दृष्यन्तस्यात्यन्तवैषम्यमेवेति सङ्क्षेपः। एतेनाधिकार्य्युपपत्तिरिति निरस्ता प्रयोजनाभावेऽर्थित्वाभावस्तदभावे च सामर्थ्यविद्वत्वयोरकिञ्चत्करत्वादप्रोजकमिति। मन्मते सर्वस्याप्यकार्य्यादिकथनस्वाज्ञानप्रयुक्ताध्यासपूर्वकप्रमाणप्रमेयादिव्यवहारान्तर्गतत्वान्नोक्तदोषावकाशोऽध्यासमाहात्म्येन निखिलविरोधस्यापरिहरणीयत्वादिति चेन्न । अधिष्ठानारोप्यलक्षणप्रमाणसामग्र्याद्यभावेनाध्यासासम्भवस्य पूर्वाचार्य्यैर्विस्तृतत्वात् । तथाहि साधकबाध- कोमयविधसामान्यविशेषधर्मवत्वस्याधिष्ठानत्वे प्रयोजकत्वं सामान्यतो ज्ञातं विशेषेणाज्ञातमेवाधिष्ठानं लोके प्रसिद्धम्। यथेदं रजतमित्यत्रेदन्तासामान्यधर्मो रजतस्य साधकः शुक्तौ वर्त्तते शुक्तित्वञ्च

विशेषधर्मस्तस्य बाधकः। त्वन्मते तु निर्विशेषाद्वितीय- चिन्मात्रस्य वस्तुनोऽधिष्ठानत्वा-सम्भवउभयविधधर्मवत्वाभावादन्यथासिद्धान्तभङ्गः। तस्मादधिष्ठानासिद्ध्या तत्प्रयो-ज्याध्यासासिद्धिश्चेतिसङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब सिंहावलोकन-न्याय से एक जीववाद को दूषित करने के लिए कहते हैं- 'किञ्चेत्यादि' अर्थात् 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस श्रुति के अनुसार एक जीव-वाद में उपदेशपात्र जीव से अन्य चेतन का अभाव होने से उपदेष्टा के अभाव होने के कारण तत्त्व ज्ञान असंभव होगा और ऐसा होने पर मोक्ष भी असंभव होगा। यदि कहें कि कल्पित तत्त्व को उपदेष्टा मान लेगें, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि शास्त्र में प्रतिपादित गुरु-लक्षण से युक्त व्यक्ति ही उपदेष्टा हो सकता है। शास्त्र में कहा गया है कि 'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' **अर्थात् जो वेदों का विद्वान् हो तथा ब्रह्मनिष्ठ हो ऐसे गुरु के समीप समिधा हाथ में लेकर ज्ञान प्राप्ति के लिए जाना चाहिए।** यदि कहें कि स्वप्न के काल्पनिक गुरु की तरह कल्पित गुरु की संभावना हो सकती है, तो इसका उत्तर है कि स्वप्न का काल्पनिक गुरु अज्ञान का निवर्तक नहीं होता। अन्यथा (यदि स्वप्न का कल्पित गुरु भी अज्ञान का निवर्तक हो तो) 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' (आप जो जानते हैं, वही मुझे उपदेश कीजिए) इस श्रुति एवं 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' अर्थात् तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन ही तेरे लिए ज्ञान का उपदेश करेंगे इस स्मृति 'भगवद्वाक्य' का व्याकोप हो जायगा। दूसरी बात- उपदेश देने वाले गुरु को अद्वैत तत्त्व का निश्चय है या नहीं? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैत ज्ञानी पुरुष के लिए द्वैत दर्शनात्मक शास्त्र का प्रणयन संभव नहीं है। दूसरा पक्ष मानने पर गुरु में वञ्चकपना की आपत्ति होगी तथा अन्ध-परम्परा न्याय की भी आपत्ति होगी और बात हम पूछते हैं कि अनादि संसार में आज तक किसी को तत्त्वज्ञान या मुक्ति हुई है या नहीं? प्रथम पक्ष में जीव के एक होने पर सम्प्रति संसार की अनुपलब्धि हो जायगी। यदि किसी की आजतक मुक्ति नहीं हुई यह पक्ष मानें तब तो जब शुक आदि महापुरुषों की भी मुक्ति नहीं हुई, तब तो मेरी भी मुक्ति नहीं होगी, इस शङ्का से किसी की भी वेदान्त-श्रवण में प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि शास्त्र-प्रमाण की दृढ़ता के कारण वेदान्त-श्रवण में प्रवृत्ति हो जायगी, तो कहते हैं कि फिर तो शास्त्र-प्रामाण्य की दृढ़ता से ही सनातन सिद्ध जीव भेद तथा श्रुति-प्रमाण-सिद्ध कतिपयजनों का मोक्ष भी क्यों नहीं मान लेते? 'यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदत्तदभक्तर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' 'नित्यो नित्यानाम्' इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीवों का भेद स्पष्ट है। इसलिए मायावादी के मत में मोक्ष ब्रह्म स्वरूप होने से उसे सदा स्वतः श्रवणादि साधन के बिना ही प्राप्त होने तथा बन्ध के आविद्यिक होने के कारण मृग-तृष्णा कल्पित जल की तरह अर्थात् स्वभाव शुष्क मरुभूमि में जैसे मृगतृष्णा कल्पित जल का कदापि स्पर्श नहीं होता, उसी तरह स्वयं प्रकाश

ब्रह्मरूप तेज में तम की तरह आविद्यिक बन्ध का कदापि स्पर्श नहीं होने के कारण उसकी निवृत्ति के लिए शास्त्र का आरम्भ सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि शुद्ध ब्रह्म के नित्यमुक्त होने एवं बद्धजीव के तुच्छ होने के कारण किसकी मुक्ति के लिए विशेष प्रयास होगा ? क्योंकि आपके मत में प्रयोजन सिद्ध नहीं होने से शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ ही है। **यदि कहें कि स्वस्वरूप नित्य प्राप्त होने पर भी जैसे गले में नित्य प्राप्त मणिमाला रहने पर भी विस्मृति या अज्ञानता के कारण उसे नष्ट मानकर व्यक्ति उसकी प्राप्ति के लिए लोगों से पूछता फिरता है और उसे जानकार व्यक्ति कहते हैं कि अरे मूर्ख माला तो तेरे गले में ही है, उसे अन्यत्र कहाँ ढूँढ़ता है ? उसी तरह स्व-स्वरूप नित्य प्राप्त होने पर भी जीव अज्ञानतावश उसकी जिज्ञासा करता है।** उसके लिए पूर्व की भाँति गुरु का उपदेश सार्थक है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मणि के उपदेश का सुख या दुःखाभाव फल है, परंतु अत्यन्त अभेदवादी आपके मत में स्व-स्वरूप से भिन्न कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, स्वप्रकाशात्मक स्वरूप नित्य प्राप्त है। दूसरी बात मणि के देह से भिन्न होने के कारण उसे अहन्तास्पद न होने से उसका विस्मरण तो हो सकता है, परंतु ब्रह्म तो जीव का स्वरूप होने से उसका विस्मरण कभी संभव नहीं है, इसलिए मणि का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है और मणि तो छोटा-सा पदार्थ है, वह देह के एक देश में रहने वाली वस्तु है, अतः वह तो विस्मृति के योग्य हो सकती है। आत्मा तो सर्वगत है स्व-स्वरूप है, उसकी विस्मृति सर्वथैव असंभव है, इस प्रकार उक्त दृष्टान्त अत्यन्त ही विषम है। (इस विषय में अधिक विवेचन अध्यास गिरिव्रज में देखना चाहिए।) उक्त युक्ति से ही अद्वैत-मत में अधिकारी का निरूपण भी असंभव है। इस प्रकार क्योंकि 'अर्थी, समर्थो, विद्वान् अधिकारी' यह अधिकारी का लक्षण है। अर्थात् जो प्रयोजनवान् हो, प्रयोजन सम्पादन में समर्थ हो और साङ्गोपाङ्ग स्वरूप का वेत्ता हो, वही अधिकारी होता है, प्रथम विशेषण से निष्प्रयोजन स्थावर प्राणियों के अधिकार का वारण होता है। द्वितीय विशेषण से असमर्थों एवं तृतीय विशेषण से धर्म के स्वरूप निरूपण में असमर्थों का अधिकार निरस्त होता है, यह लक्षण परमत में उपपन्न नहीं होता, इसीलिए कहते हैं- 'प्रयोजनाभावे' प्रयोजन के अभाव में इच्छुक का अभाव है और उसके अभाव में सामर्थ्य तथा विद्वत्व अकिञ्चित्कर होने से अप्रयोजक है। इस प्रकार परमत में प्रयोजन तथा अधिकारी का खण्डन किया गया।

अद्वैत-मत में परस्पर अध्यास स्वीकार कर समस्त प्रमाण प्रमेय-व्यवहार लौकिक और वैदिक प्रवृत्त होते हैं, ऐसा सिद्धान्त है। उसके अनुसार विषय, प्रयोजन तथा अधिकारी आदि का प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार के अन्तर्गत होने से अध्यास की महिमा से उक्त व्यवस्था संभव है, इस प्रकार शास्त्र का विषय एवं प्रयोजन का समर्थन करते हुए कहते हैं- मन्मते इत्यादि अर्थात् केवलाद्वैतवादी मेरे मत में प्रमाण प्रमेय आदि समस्त व्यवहार अध्यास-मूलक है, फिर तो अध्यास की महिमा से ही समस्त व्यवस्था की उपपत्ति हो जायगी! तो कहते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अधिष्ठान, आरोप्य, लक्षण तथा अन्यान्य अध्यास सामग्री

का अभाव होने से अध्यास असंभव है, ऐसा पूर्वाचार्यों ने विस्तार से वर्णन किया है, अर्थात् न तो अधिष्ठान की सिद्धि न होने से अध्यास सिद्ध होगा, न आरोप्य की असिद्धि से अध्यास सिद्ध होगा। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से ज्ञात होकर जो विशेष रूप से अज्ञात होता है, वही अध्यास का अधिष्ठान होता है, ऐसा नियम है, अर्थात् साधक-बाधक उभय प्रकार के सामान्य, विशेष धर्मयुक्तत्व ही अधिष्ठान का प्रयोजक होता है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। जैसे 'इदं रजतम्' इस अध्यास में इदन्त्व सामान्य धर्म है जो रजत का साधक है, जो शुक्ति में विद्यमान है और शुक्तित्व विशेष धर्म है, जो रजतत्व का बाधक है। प्रकृत में अधिष्ठानत्व प्रयोजक उक्त उभयविध धर्म विरुद्ध निःसामान्यत्व तथा निर्विशेषत्व रूप ब्रह्म में होने से ब्रह्म अध्यास का अधिष्ठान संभव नहीं है, यही बात कहते हैं, त्वन्मते इत्यादि ग्रन्थ से, अर्थात् अत्यन्त अभेदवादी आपके मत में अद्वितीय निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूप ब्रह्म में न ही सामान्य धर्मत्व रूप से ज्ञातत्व संभव है, क्योंकि ब्रह्म निःसामान्य है, न ही विशेष धर्मवत्व रूप से अज्ञातत्व भी उसमें संभव नहीं, क्योंकि वह निर्विशेष है। यदि ब्रह्म में उभयविध धर्म स्वीकार करते हैं, तो सिद्धान्त-भङ्ग होता है। इसलिए अधिष्ठान की सिद्धि न होने से तत्प्रयोज्य अध्यास की सिद्धि नहीं होगी।

अथारोप्यासिध्याऽध्यासासिद्धिः। यद्यदारोपितं तत्तत्सप्रधानं शुक्तिरूप्यवत् यन्नैवं तन्नैवं शशशृङ्गवदित्यन्वयव्यतिरेकव्याप्तेस्सर्वसम्मतत्वात्। ननु प्रधानं सजातीयमस्त्येव पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्योत्तरप्रपञ्चस्याध्यासाङ्गीकारात्। अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते नतु संस्कारविषयस्य सत्यत्वमनुपयोगात्। नहि प्रमाणजन्यस्यैव संस्कारस्याध्यासहेतुत्वमिति नियम इति चेन्न। अनाद्यविद्यादेरध्यस्तत्वासम्भवेन तात्त्विकत्वप्रसङ्गात्। नचाविद्याध्यासस्य प्रधानादिविनैवाङ्गीकारान्नोक्तदोष इति वाच्यम्। ब्रह्मणोऽपि प्रवाहानाद्यारोपापत्तेरित्याकरे विस्तृतं पूर्वैः। अपिचासत आरोपासम्भवादेकंत्र सत एवान्यत्रारोपनियमात् नहि स्वरूपेणासतः शशशृङ्गादेरारोपः सम्भवति। अदृष्टश्रुतत्वात्। नचारोपे तद्विषयकप्रतीतिमात्रमेवापेक्षितं नतु तद्विषयस्य सत्यत्वमपीति वाच्यम्। असतः प्रतीतिरेवासम्भवात्। नच रज्जौ सर्पप्रतीतेरिव प्रपञ्चप्रतीतेरपि दोषमात्रमेव कारणमपेक्षितं नतु विषयसत्यत्वमपीति वाच्यम्। दोषात्मककारणस्याप्यसत्यसाम्येन तव पक्षे प्रतीतिविलक्षणकार्योत्पत्तेरसम्भवात्। कार्यस्य कारणसत्तापेक्षत्वनियमात्। कुत्राप्यसतः कारणत्वासम्भवाच्च। सर्पादिभ्रमस्थलेऽपि कल्पितसर्पादिविषयकज्ञानस्यैव भयकम्पादिहेतुत्वं न विषयस्य सर्पज्ञानाभाववतो बालस्य सत्सर्पदर्शनेपि भयाद्यभावात्। प्रत्युत तद्ग्रहणे प्रवृत्तिदर्शनाच्च। अन्यथा कारणमात्रस्यासत्वाङ्गीकारे कार्योत्पत्तिकथाया एवानवसरात्। नन्वसतो रज्जुसर्पादेस्तज्ज्ञानकारणत्वोपपत्तिवद्भयादिकारणोपपत्तिरपि सुकरा, भिन्नकारणाङ्गीकारे गौरवादिति चेन्न। तत्रापि दोषस्यैवासद्विषयकज्ञानकारणत्वेनासतो विषयस्य कारणात्वासम्भवात् तस्मादारोप्यासिद्ध्याऽध्यासासम्भवस्यावश्यकत्वमेवेति सङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब आरोप्य की असिद्धि होने से अध्यास की असिद्धि बताते हैं- कहते हैं, जो भी आरोपित होता है- वह सप्रधान होता है- जैसे शुक्ति का रजत, जो ऐसा नहीं होता, वह आरोप्य नहीं होता जैसा शशशृङ्ग या बन्ध्यासुत, ऐसा अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति होने से सर्वसम्मत है अर्थात् प्रधान माने आरोप्य प्रपञ्च की सत्ता की अपेक्षा या अधिक सत्तावाला सत्यभूत तत्त्व। जैसे शुक्ति रूप के मिथ्या होने के कारण उसके अध्यास की सिद्धि के लिए अर्थ क्रिया कार्य समर्थ बाजार में स्थित एक सत्य रजत स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार इस प्रपञ्च में मिथ्यात्व-सिद्धि के लिए एक प्रधान को सत्य प्रपञ्चान्तर स्वीकार करना होगा और आपके मत में कोई सत्य प्रपञ्चान्तर न होने से जगत् में मिथ्यात्व संभव नहीं है। यदि कहें कि प्रधान का अर्थ है जातीयत्व न कि सत्य, तो यहाँ पूर्व प्रपञ्च रूप सजातीयत्व उत्तर प्रपञ्च में विद्यमान है, उसका अध्यास ब्रह्म में हो सकता है, क्योंकि अध्यास अपने कारण रूप में केवल संस्कार की अपेक्षा करता है, न कि संस्कार विषय में सत्यता की अपेक्षा करता है। कारण उसका कोई उपयोग नहीं है, प्रमाण-जन्य संस्कार ही भ्रम का हेतु होता है, इसलिए विषय की सत्यता आवश्यक है, ऐसा कोई नियम नहीं है तो अर्थात् संस्कार अर्थजन्य नहीं माना गया है, जिससे प्रधान (सत्य) आवश्यक होगा, किंतु अर्थ ज्ञान-जन्य है और ज्ञान प्रमा की तरह भ्रमात्मक भी हो सकता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि अनादि अविद्या आदि में अध्यस्तत्व का असंभव होने से उसमें तात्त्विकत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। अर्थात् अनादि अविद्या का साजात्य न कहीं देखा गया, न सुना ही गया है, इसलिए उसका अध्यास ब्रह्म में स्वीकार नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका पारमार्थिकत्व का प्रसङ्ग हो जायगा, जो इष्ट नहीं है। क्योंकि इससे अद्वैत भङ्ग हो जायगा। यदि कहें कि अविद्या से अतिरिक्त अध्यास के प्रधान सजातीयत्व की अपेक्षा होती है न कि उसके अध्यास के, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि उक्त नियम में संकोच करके अविद्या के अध्यास का समर्थन किया, तो ब्रह्म का भी अविद्या में या प्रपञ्च में भ्रम हो जायगा, फिर तो ब्रह्म में भी असत्यत्व का प्रसङ्ग हो जायगा, ऐसा आकर ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों ने विस्तार से वर्णन किया है। दूसरी बात असत् वस्तु का आरोप असंभव है। इसलिए एक जगह सद् वस्तु का ही अन्यत्र आरोप होने का नियम है, न कि स्वरूपतः असत् शशशृङ्ग आदि वस्तुओं का आरोप संभव है, ऐसा न कहीं देखा गया, न सुना ही गया है। यदि कहें कि आरोप में तद् वस्तु विषयक प्रतीति मात्र अपेक्षित है, न कि उस विषय की सत्यता, तो कहते हैं कि असत् की प्रतीति ही असंभव है। यदि कहें कि रज्जु में सर्प की प्रतीति में जैसे केवल दोष मात्र कारण अपेक्षित है, न कि विषय की सत्यता, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि दोषात्मक कारण भी असत्य ही है, इसलिए आपके मत में प्रतीति से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। कार्य में कारण की सत्ता की अपेक्षा का नियम है। कहीं भी असत् वस्तु में कारणत्व संभव नहीं है। सर्प आदि के भ्रम-स्थल में भी कल्पित सर्पादि विषयक ज्ञान ही भय-कम्प आदि

का हेतु होता है न कि सर्परूप विषय।[1] क्योंकि सर्प-ज्ञान से शून्य बालकों को सत्य-सर्प के दर्शन से भी भय कम्प आदि नहीं होता, बल्कि उसे पकड़ने के लिए वह प्रवृत्त हो जाता है। अन्यथा कारण मात्र को असत्य मानने पर कार्य की उत्पत्ति की कथा भी लुप्त हो जायगी। यदि कहें कि जैसे असत् रज्जू का सर्प उसके ज्ञान का जैसे कारण हो जाता है, उसी तरह भय, कम्प आदि के कारणों की भी उपपत्ति संभव होगी, भिन्न कारण क्यों मानें? उसमें गौरव होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, वहाँ भी दोष ही असत् विषयक ज्ञान का कारण है, विषय कारण नहीं हो सकता। इस प्रकार आरोप की असिद्धि होने से भी अध्यास संभव नहीं है, इस प्रकार संक्षेप से इसका विचार किया गया है।

अथाध्यासलक्षणासिद्ध्या तदसिद्धिः। किमध्यासलक्षणमित्यपेक्षायामाह स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यास इत्याहुः। नैतद्युक्तं मूलाविद्याध्यासे तदसम्भवस्य दूर्वारत्वात् एकत्र सतोऽन्यत्रारोपत्वं भ्रमत्वमत्यन्तासतोऽध्यासायोगादित्युक्तं प्रागेव । इदं रजतमिति प्रतीतिवदियमविद्येति कस्यचित्कदाचिदपि प्रतीत्यभावात् संस्कारसादृश्यसम्प्रयोग-सामग्रीविरहाच्च। नच संस्कारजन्यज्ञानविषयत्वं सादृश्यमिति वाच्यं, संस्कारस्यानुभवपूर्वक-त्वेन तद्भावे संस्कारासिद्धेस्तदसिद्धौ तज्जन्यज्ञानाभावस्तदभावेच कथं तद्विषयत्वरूपं सादृश्यमिति। किञ्चाविद्यासादृश्यं कस्मिन् वर्त्तत इति वक्तव्यं ? न शुद्धे तस्य निर्विशेषत्वादन्यथाशुद्धत्वहानिःस्यात् नापिजीवे तस्याध्यस्तत्वेनोत्तरभावित्वात्। किञ्चाविद्यायां चितोऽध्यासेऽपि चित्सादृश्यस्य कथं वृत्तिरिति वक्तव्यं सूर्यसादृश्यस्य तमस्यसम्भववत् महद्विरोधात्। अथ स्मृतिरूप इत्यस्य यथा श्रुतार्थे भ्रान्तेर्व्यावृत्तिर्न कर्त्तुं शक्यते तन्निरासाय स्मृते रूपमिव रूपमस्येत्यर्थस्त्वयावश्यामभ्युपेतव्यः तेन स्मर्य्यमाणसदृश इति लभ्यते तदपि न युक्तम्।

प्रथमाध्यासे स्मर्यमाणस्यैव शशशृङ्गायमाणत्वात् कुतस्तत्सादृश्यसम्भावनापीति सम्प्रयोगो नामाधिष्ठानसामान्यज्ञानमिति परेषां सिद्धान्तः। तदपि न सम्यक्। निर्विशेषे सामान्यविशेषवत्वाभावात् । कल्पितसामान्यादिधर्मस्याध्यासजन्यत्वेन तदानीमभावाच्च। किञ्च तवाभिमताधिष्ठानसामान्यज्ञानाश्रयाभावेन कुत्राप्यवृत्तित्वात् ज्ञातुरभावाज्ज्ञानासिद्धेः।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब अध्यास का लक्षण ही सिद्ध नहीं होने से अध्यास संभव नहीं है। जहाँ प्रत्यक्ष योग्य अधिकरण में पूर्व में दृष्ट जिस किसी वस्तु का सादृश्य दर्शन जनित प्रतिभास होता है, वहाँ अध्यास लक्षण का अधिगम होता है, जैसे 'इदं रजतम्' यहाँ पुरोवर्ती शुक्ति में जो रजत का अवभास है, वही अध्यास है, यह अध्यास का स्पष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार

---

1. अर्थात् शुक्ति में जो रजत का अवभास है, वह स्मर्यमाण सत्य रजत के सदृश है, वही नहीं है, इस प्रकार भेद होने से अन्यथा ख्याति नहीं, किंतु अनिर्वचनीय ख्याति है। (संपादक पं. वैद्यनाथ झा)

अनात्मभूत देह, इन्द्रियादि में आत्मभावना भी अध्यास से अतिरिक्त नहीं है। इसका उपपादन करते हैं-

प्रथम हम पूछते हैं कि अध्यास का क्या लक्षण है? इस अपेक्षा में कहते हैं- "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः अध्यासः" यदि कहें कि शुक्ति में स्मर्यमाण सत्य रजत ही अवभासमान होता है। इस तरह अन्यथाख्याति ही किसी विशेष धर्म को प्राप्त कर पृथक् की तरह प्रतीति होती है, न कि अध्यास। इस शङ्का के निराकरण के लिए कहते हैं- 'स्मृतिरूपः स्मर्यते इति स्मृतिः सत्यरजतादिः तस्य रूपमिव रूपमस्य इति स्मृतिरूपः' अर्थात् स्मर्यमाण सदृश। स्मर्यमाणसदृश कहने से भेद होने के कारण अन्यथा ख्याति नहीं हो सकती। सादृश्यका ही उपपादन करते हैं, 'पूर्वदृष्ट' यहाँ दृष्ट का अर्थ है दर्शन। संस्कार द्वारा पूर्वदर्शन से जो अवभासित हो, यह लक्षण समीचीन नहीं है, क्योंकि मूला अविद्या के अध्यास में यह लक्षण असंभव दोषग्रस्त है। एक जगह वणिक् की दुकान पर स्थित सत्य रजत का शुक्ति में आरोप संभव है, परंतु अत्यन्त असत् प्रपञ्च का ब्रह्म में अध्यास नहीं हो सकता, यह मैंने पहले ही कह दिया है- 'यद्यत् आरोपितं तत् सप्रधानम्' इस ग्रन्थ के द्वारा। 'इदं रजतम्' इस प्रतीति की तरह 'इयम् अविद्या' ऐसी किसी को कभी भी प्रतीति नहीं होती। अध्यास प्रयोजक सामग्री के अभाव से भी अविद्या का अध्यास नहीं हो सकता, यह कहते हैं- "संस्कारसादृश्यसम्प्रयोगसामग्रीविरहाच्च।" विजातीय के सादृश्य की आशङ्का करके परिहार करते हैं- "नचअर्थात्" यदि कहें कि संस्कारजन्य ज्ञान विषयत्व यहाँ सादृश्य है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संस्कार अनुभव पूर्वक होता है यानी अनुभवजन्य होता है, उसके अभाव में संस्कार सिद्ध नहीं होगा और उसके असिद्ध होने से उसका ज्ञान नहीं होगा, फिर उसका अभाव होने पर तद् विषयक सादृश्य कैसे हो सकता है? दूसरी बात अविद्या का सादृश्य किसमें है, पहले यह कहना चाहिए। शुद्ध ब्रह्म में कह नहीं सकते, क्योंकि वह निर्विशेष है, सविशेष मानने पर शुद्धत्व की हानि होगी, जीव में भी नहीं कह सकते वह तो अध्यास जनित है, अतः अध्यासोत्तर भावी है और अविद्या में चित् का अध्यास होने पर भी चित् सादृश्य की वृत्ति कैसी, यह कहना पड़ेगा। जैसे सूर्य का सादृश्य तम में असंभव है, इसी तरह महान् विरोध है- स्मृति रूप इस अध्यास लक्षण में स्मृतिरूप शब्द का यथाश्रुत अर्थ मानने पर अन्यथा ख्याति की व्यावृत्ति नहीं कर सकते। इसलिए 'स्मृते-रूपमिव-रूपमस्य' ऐसा अर्थ आपको करना होगा, जिससे स्मर्यमाण सदृश ऐसा अर्थ लभ्यमान होता है, वह भी युक्त नहीं है।

किञ्च सामग्रीविरहादध्यासासम्भवः कारणभावे कार्याभाव इति नियमात्। तथाहि अध्यासमात्रस्य दोषसादृश्यसंस्कारसम्प्रयोगसामग्रीजन्यत्वनियमस्तावन्निर्विवादः, तत्रेदं रजतमिति प्रतीतौ दोषसादृश्यज्ञानसंस्काराणां भ्रान्तिमत्पुरुषनिष्ठत्वात् रजतसादृश्यस्य च शुक्तिवृत्तित्वात्सम्प्रयोगस्य च सम्बन्धरूपत्वेनोभयनिष्ठत्वात्तत्संघातरूपसामग्र्या-ऽध्याससिद्धिः। प्रकृते तु सामग्रीत्रयस्याभावात्। जीवदोषादीनामध्यासकार्यत्वेनोत्तर-

भावित्वाच्च कथमविद्याध्यास इति। नन्वध्यासो द्विविधः सादिरनादिश्च। तत्र सादावेवोक्तसामग्र्यपेक्षा नत्वनादौ तथाचाविद्याध्यासस्यानादित्वान्नोक्तदोषावकाशः। 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप' इति भाष्यकृदुक्तेरितिचेन्न। अध्यासमात्रस्य सादित्वदर्शनात्। अनादेः सत्तोऽपि वस्तुनोऽध्यस्तत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणोऽपि तथात्वं वक्तुं शक्यते तस्याप्यनादित्वसाम्यात् । नन्वत्रानादित्वं नामानादिविद्याकार्यत्वं नैसर्गिकत्वञ्चाध्यासात् संस्कारस्ततोऽध्यास इति। प्रवाहरूपेण । अनन्तत्वञ्च ज्ञानं बिना ध्वंसायोग्यत्वं विवक्षितं तस्मान्नोक्तदोषावकाश इति चेन्न। असदुत्तरत्वात् । तथाहि न तावदुक्तलक्षणानादित्वं वक्तुं शक्यम् अनादित्वाकार्यत्वयोरितरेतरव्याघातात् प्रत्युत कार्यत्वस्य सादित्वेनैव व्याप्तिदर्शनात् । नापि नैसर्गिकत्वं वक्तुमर्हम्, अन्योन्याश्रयत्वप्रसङ्गात् । नाप्युक्तलक्षणानन्तत्वं ज्ञानेन तत्सम्बन्धस्यैव ध्वंसात् न स्वरूपस्य 'गौरनाद्यन्तवती' 'अजामेकामिति' श्रुतेः। अनाद्यनन्तरूपस्य निवृत्तिरेव श्रूयते नतु स्वरूपनाशः । अन्यथा मुक्तात्मनां बाहुल्यादिदानीमनुपलब्धिप्रसङ्गात् । 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यासम्। ननु सर्ववादिसम्मतत्वात्कथमध्यासो निरस्यत इति चेन्न । साद्यध्यासस्य सम्मतत्वेऽप्यनाद्य-ध्यासस्य केषामप्यसम्मतत्वादिति सङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

सामग्री के अभाव से अध्यास का अभाव[1]

दूसरी बात सामग्री के अभाव से भी अध्यास संभव नहीं है, कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है, ऐसा नियम है। क्योंकि अध्यास मात्र में दोष, सादृश्य, संस्कार एवं सम्प्रयोग है। चक्षुः संयोग रूप सामग्री चतुष्टय, जन्यत्व का नियम - यह निर्विवाद है। जैसे 'इदं रजतम्' इस प्रतीति में दोष, सादृश्यज्ञान तथा संस्कार ये भ्रान्त पुरुषनिष्ठ होते हैं, रजत-सादृश्य शुक्ति-वृत्ति होता है एवं चक्षुः संयोग सम्बन्ध- रूप होने से द्विष्ठ होता है- इस प्रकार इनकी संघात रूप सामग्री से अध्यास की सिद्धि होती है। प्रकृत में उक्त सामग्री तथा उसका आश्रय दोनों का अभाव है। (दोनों के न होने से अविद्या के अध्यास की संभावना भी नहीं है।) जीवगत दोष अध्यास- कार्य होने से अध्यासोत्तर भावी हैं, फिर अविद्या-जनित अध्यास कैसे हो सकता ? (इसलिए अविद्याजनित अध्यास को अनादि मानकर समर्थन करते हुए अध्यास के दो भेद बताते हैं- ननु इत्यादि ग्रन्थ से। कहते हैं- अध्यास दो तरह के होते हैं- सादि और अनादि। सादि-अध्यास में ही उक्त सामग्री की अपेक्षा होती है, न कि अनादि में और अविद्या-जनित अध्यास अनादि है, इसलिए उक्त दोष का अवकाश नहीं है। जैसा कि भाष्यकार (शंकर) का वचन है- 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः मिथ्याप्रत्ययरूपः' अर्थात् अनादि अविद्यात्मक होने से कार्य में अनादित्व है। अध्यास से संस्कार उससे अध्यास,

---

1. यह विषय अध्यास गिरिवज्र से लिया गया है। (सं)

इस प्रकार अनादि प्रवाह से नैसर्गिकत्व है, परंतु यह कथन भी ठीक नहीं है। अध्यास मात्र सादि होता है। अनादि सद् वस्तु में भी अध्यस्तत्व स्वीकार करने पर ब्रह्म में भी अध्यस्तत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें अनादित्व की साम्यता है। (अब यहाँ उक्त शङ्का का परिहार करने के लिए अनादित्व का अन्य प्रकार से निर्वचन करते हैं- कहते हैं- अनादित्व है- अनादि विद्या कार्यत्व तथा नैसर्गिकत्व है- अध्यास से संस्कार, उससे अध्यास इस प्रकार प्रवाह रूप से तथा अन्तत्व ज्ञान के बिना ध्वंस के अयोग्यत्व इस प्रकार उक्त दोष का यहाँ अवकाश नहीं है, तो यह भी नहीं कह सकते- क्योंकि यह उत्तर सत् नहीं है- कारण उक्त प्रकार का अनादित्व कह नहीं सकते, क्योंकि अनादित्व और कार्यत्व में परस्पर विरोध है। बल्कि कार्यत्व की सादित्व के साथ ही व्याप्ति है और उसे नैसर्गिक कह सकते हैं- क्योंकि फिर तो अन्योन्याश्रय का प्रसङ्ग होगा और न ही उक्त प्रकार का अनन्तत्व हो सकता है। ज्ञान से अविद्या के संसर्ग का ही ध्वंस हो सकता है, न कि स्वरूप का- जैसा कि श्रुतिवचन है- "गोरनाद्यन्तवती" "अजामेकाम्" इत्यादि (गो यानी माया आदि-अन्त से रहित है, यह अर्थ है। यहाँ बाधक तर्क उपस्थित करते हैं- यदि स्वरूप नाश मानें तो मुक्त आत्माओं का बाहुल्य होने से सम्प्रति उनकी अनुपलब्धि का प्रसङ्ग होगा। इस बात को श्रुति-प्रमाण के द्वारा दृढ़ करते हैं- "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति" तथा "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" यदि कहें अध्यास सर्ववादि सम्मत है, उसका निरास कैसे करते हैं तो उसका उत्तर देते हैं- सादि-अध्यास सर्वसम्मत होने पर भी अनादि- अध्यास किसी भी प्रकार सम्मत नहीं है- इस प्रकार संक्षेप में यह खण्डन है।

(अथ प्रमाणाभावादप्यध्यासानुपपत्तिः)

ननु द्रष्टाऽनुमाता श्रोताऽहमित्यादिप्रत्यक्षस्य देवदत्तादिकर्तृकः सर्वोऽपि व्यवहारस्तदीयदेहादिष्वहं ममाध्यासमूलकस्तदन्वयव्यतिरेकानुसारित्वात् यदैवं तदैवं मृन्मूलघटवदित्यनुमानस्य यद्यध्यस्तः प्रमाता न स्यात्तर्हि प्रमाणादिव्यवहारो न स्यात्सर्वस्यापि व्यवहारजातस्याविद्यावद्विषयकत्वादित्यर्थापत्तेश्च मानत्वात्। तथाचाह भगवान् भाष्यकारः "तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणाप्रमेयव्यवहारालौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः। सर्वाणि शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणीत्युक्त्वा" कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणिचेत्याक्षिप्य समादधे । उच्यते । देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्यनुपपत्तेरित्यादिनेति, कथं प्रमाणाभाव इति चेन्न । उक्तप्रत्यक्षानुमानादेराभासमात्रत्वात् । तथाहि उक्तप्रत्यक्षादीनां शरीरेन्द्रिययुक्तात्मपरत्वेनाध्यस्तविषयकत्वाभावात्। 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति श्रुतेः।

(हिन्दी-अनुवाद)

<u>अब प्रमाण के अभाव से भी अध्यास की अनुपपत्ति दिखाते हैं</u>- यदि कहें कि

अध्यास के सद्भाव में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अर्थापत्ति आदि प्रमाण हैं, फिर कैसे कहते हैं कि अध्यास में कोई प्रमाण नहीं है? जैसे अहं द्रष्टा अनुमाता श्रोता इत्यादि देवदत्त आदि कर्तृक समस्त व्यवहार देह आदि में अहम् मम-रूप अध्यास-मूलक है, जोकि अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होता है - यानी देह आदि में अध्यास होने पर व्यवहार की सत्ता उसके अभाव में व्यवहार की असत्ता, जब ऐसा है तभी ऐसा है- मृन्मूलक घट की तरह। अब अर्थापत्ति का स्वरूप दिखाते हैं- 'यद्यध्यस्त' अर्थात् यदि अध्यस्त प्रमाता न हो तो प्रमाण आदि व्यवहार नहीं होगा- क्योंकि समस्त व्यवहार अविद्यावान्जनों का विषय है- इस प्रकार अर्थापत्ति भी प्रमाण है। जैसा कि भाष्यकार भगवान् श्री शंकराचार्य का कथन है- "तमेतमविद्याख्यमात्मनात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण-प्रमेय व्यवहारालौकिकाः वैदिकाश्च प्रवृत्ताः" अर्थात् आत्मा एवं अनात्मा में अविद्यारूप परस्पर अध्यास का अवलम्बन कर सभी लौकिक एवं वैदिक प्रमाण प्रमेय-व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। (समस्त विधि-निषेध-परक कर्मशास्त्र ऋग्वेद आदि तथा विधि-निषेध शून्य ब्रह्मपरक वेदान्त-वाक्य भी) इस प्रकार व्यवहार के हेतु रूप में अध्यास प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी प्रमाणान्तर की जिज्ञासा करते हैं- 'कथं पुनः? अर्थात् कैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावान् विषयक हैं, ऐसा आक्षेप करके समाधान करते हैं- 'उच्यते इत्यादि द्वारा अर्थात् देह-इन्द्रिय आदि में अहंता एवं ममता के अभिमान से रहित जन में प्रमातृत्व की अनुपपत्ति होने पर प्रमाणों की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होती है। इस तरह कैसे कह सकते हैं कि अध्यास में कोई प्रमाण नहीं है, तो कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। उपर्युक्त प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि आभास मात्र हैं। (अर्थात् आत्मा से संयुक्त शरीर आदि ही प्रत्यक्ष अनुमान आदि का विषय है, अध्यास से क्या प्रयोजन? इसी आशय से कहते हैं- तथाहि इत्यादि ग्रन्थ से। यानी उक्त प्रत्यक्ष आदि शरीर, इन्द्रिय-युक्त आत्मपरक होने से उनमें अध्यस्तत्व नहीं है। जैसा कि श्रुति वचन है- "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" अर्थात् इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को मनीषीगण भोक्ता कहते हैं।

अन्यथा युक्तस्थानेऽध्यस्त इति प्रयोगः श्रुतौ स्यात् । श्रुतिगृहीतत्वादुक्तार्थस्यैव सम्यक्त्वेनोक्तमानस्याध्यासपरत्वाभावात् । किञ्चाध्यासस्याद्याप्यसिद्ध्या तदनुमाने साध्यासिद्धेः । अध्यासप्रयुक्तो व्यवहारस्तत्प्रयुक्तश्चाध्यास इत्यन्योन्याश्रयाच्च। किञ्च हेतोरपि स्वरूपासिद्धत्वात् अध्यासासिद्ध्या तदन्वयव्यतिरेकस्य सुतरामसिद्धेः। घटादीनां मृत्परिणामेन दृष्टान्तवैषम्याच्च । तथैव व्यवहारस्य देहादिप्रयुक्तात्मकर्तृत्वेनान्यथा-सिद्धत्वादर्थापत्तेरपि निर्मूलत्वादाभासमात्रत्वमिति। ननु मास्तु प्रत्यक्षादीनामत्र प्रामाण्यं 'ब्राह्मणो यजेत' 'नहवै स्नात्वाभिक्षेत्' 'अष्टवर्षब्राह्मणमुपनयीत' 'कृष्णकेशोऽग्निना दधीते"त्यादिश्रुतीनां वर्णाश्रमवयोऽवस्थाध्यासवन्तमेवाधिकृत्य प्रवृत्तिदर्शनात् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

अन्यथा श्रुति में 'मनोयुक्तः' के स्थान में अध्यस्तः (अर्थात् इन्द्रिय मन में अध्यस्त) प्रयोग होता है। इस प्रकार श्रुति-गृहीत होने से उक्त अर्थ ही समीचीन होने से उक्त प्रमाण

को अध्यास-परक नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात 'संदिग्ध साध्यवत्वं पक्षत्वम्' इस मत में अनुमान से पहले अध्यास असिद्ध होने से साध्य सन्देह रूपपक्षता का अभाव होने से तदीय देह आदि में अहं-मम रूप अध्यास मूलकत्व विधेयताक अनुमति नहीं उपपन्न होती है- इसी आशय से उक्त अनुमान का निषेध करते हैं- किञ्च अर्थात् अध्यास की आजतक सिद्धि न होने पर उक्त अनुमान में साध्य की असिद्धि है। दूसरी बात यहाँ अन्योन्याश्रय दोष भी है- क्योंकि अध्यास-प्रयुक्त व्यवहार होता है और व्यवहार-प्रयुक्त अध्यास तथा उक्त अनुमान के हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष भी हैं; क्योंकि अध्यास की सिद्धि नहीं होने से उसका अन्वय-व्यतिरेक स्वतः असिद्ध है। दूसरी बात घट आदि में वृत्ति का परिणाम होने से यहाँ दृष्टान्त में वैषम्य भी है। व्यवहार की अन्यथा अनुपपत्ति से अध्यास की कल्पना होती, यह जो कहा गया है- उसका खण्डन करते हैं- 'तथैव व्यवहार' अर्थात् उक्त व्यवहार देहादि से अवच्छिन्न आत्म-कर्तृक होने से अन्य का सिद्ध होने के कारण यहाँ अर्थापत्ति भी निर्मूल है। इसलिए वह भी आभास मात्र है। यदि कहें कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भले ही अध्यास में प्रमाण न हों, किन्तु "ब्राह्मणो यजेत" 'नहवै स्नात्वाभिक्षेत्' 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत' कृष्ण केशोऽग्निना दधीत' (ब्राह्मण यज्ञ करे, स्नान करके भिक्षा न करे, आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन करे, कृष्ण-केश व्यक्ति अग्नि का आधान करे। इत्यादि श्रुतिवचन की वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि से अध्यास युक्त जन को अधिकृत करके ही प्रवृत्ति देखी जाती है।)

तथोक्तं भगवत्पादैर्भाष्यकारैः 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽव- स्थाद्याध्यासमाश्रित्य प्रवर्त्तन्ते' इति तस्माच्छास्त्रप्रमाणकत्वादध्यासोऽवश्यं माननीय इतिचेन्न । उक्तश्रुतीनामपि वर्णाश्रमवयोवस्थादिमच्छरीरसंयुक्ताधिकारिविषयकत्वाविशेषात्। आसामपि तथैकवाक्यत्वाच्च तन्निष्ठानां मनीषित्वयोगं श्रावयन्ती भगवती श्रुतिस्तद्विपरीतिवादिनां कुमनीषित्वं सूचयति तस्माद्येषां मतेऽध्यासो वेदादिप्रमाणविरुद्धोऽपि कुलधर्मत्वेन ग्राह्यस्तैरेव माननीय इति मनीषिपदस्वारस्यार्थः। किञ्च तव मते जीवन्मुक्तानामपि याज्ञवल्क्यादीनां तादृशव्यवहारस्य तादवस्थ्यदर्शनेन तेषामप्यध्यासवत्वं स्वीकार्य्यमन्यथा व्यतिरेके नियमभङ्गः स्यात् तथात्वे च तेषामज्ञत्वाविशेषेण तदुपदेशस्यान्धपरम्परापत्तेरनाप्तत्वयोगो दुर्वारस्तदुपदेशमूलकानामिदानीन्तनानां पौरुषेयशास्त्रव्याख्यातृवाक्यजन्योपदेशानां सुतरामनाप्तत्वप्रसङ्गेनोपदेशसन्ततेः सुतमां वञ्चकत्वयोगेनानिर्मोक्षप्रसङ्ग इति सङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसा कि भाष्यकार भगवत्-पाद (श्री शंकराचार्य) ने कहा है 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थाद्यध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते' इस तरह अध्यास शास्त्र-प्रमाण से सिद्ध होने से अध्यास अवश्य माननीय है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त श्रुति-वचन भी वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि से युक्त शरीर-संयुक्त अधिकारी-विषयक ही

है। इन सबकी उसी प्रकार एकवाक्यता है। तन्निष्ठानाम्– देह–इन्द्रिय से युक्त आत्मा भोक्ता है– इस प्रकार के श्रुति के अर्थ में निष्ठा रखने वालों के लिए श्रुति भगवती ने मनीषी शब्द का प्रयोग किया है और उसके विपरीत आत्मा में वर्ण, वय, अवस्था आदि का अध्यास मानने वालों के लिए कुमनीषित्व को सूचित किया है। इसलिए जिनके मत में कुल–धर्म के रूप में अध्यास मान्य है, वे ही लोग इस अध्यास को मानें, यही श्रुति के मनीषी–पद का स्वारस्य है। दूसरी बात इस प्रकार तो आपके मत में जीवन्मुक्त याज्ञवल्क्य प्रभृति महानुभावों के व्यवहार में भी अपने को अहम्–मम करके व्यवहार देखा गया है– जैसा कि श्रुतिवचन है – "मामेव विज्ञानीहि मामुपास्वेति' 'तद्वैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवान्नृषि.....' इस प्रकार 'मामेव विजानीहि' इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। फिर तो उन लोगों में अध्यास मानना होगा– अन्यथा उनमें अध्यास स्वीकार न करने पर, अध्यास होने पर व्यवहार, अध्यास के अभाव में व्यवहार का अभाव इस नियम का भङ्ग होगा। यदि उनमें अध्यास मानें, फिर तो उनमें और साधारण जन में कोई अन्तर नहीं होने से उनके उपदेश में अन्धपरम्परा की आपत्ति होगी। इस प्रकार उनमें अनाप्तत्व का सम्बन्ध अनिवार्य होगा– तब तो उनके द्वारा उपदिष्ट वाक्यों में भी अनाप्तत्व का प्रसङ्ग होगा और उनके उपदेश में स्वतः वञ्चकत्व का योग होने से अविनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार अध्यास में प्रमाण का निरास पूरा हुआ।

नन्वध्यासस्याऽसंभवः किमयुक्तत्वाद्वा भानाऽभावाद्वा कारणाभावाद्वेति विवेचनीयम्। आद्ये इष्टापत्तिः। अध्यासस्यासङ्गे स्वप्रकाशात्मन्ययुक्तत्वस्यास्माकमलङ्कारत्वात्। न द्वितीयः। अज्ञः कर्त्ता मनुष्योऽहमिति प्रत्यक्षानुभवात्। न तृतीयः। मिथ्याज्ञानस्य तत्कारणस्य भावात्। तथाह भाष्यकारः। 'मिथ्याज्ञाननिमित्त' इति। मिथ्या च तदज्ञानं तदेव निमित्तमुपादानं यस्य स तथेत्यर्थः। इति चेन्नापातरमणीयत्वात् ।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब अध्यास में असंभवत्व किं प्रयुक्त है? इसका विचार करते हैं–

प्रश्न करते हैं कि अध्यास किस कारण असंभव है? अयुक्त होने से? भान न होने से, अथवा कारण न होने से? यह विचारणीय है। प्रथम पक्ष में हमें इष्टापत्ति है। "असङ्गोऽह्ययं पुरुषः" इस श्रुति द्वारा असङ्ग स्वप्रकाश ब्रह्म में अध्यास तो कथमपि उपपन्न नहीं होता– इस लिए यह तो मेरे लिए अलंकार है। द्वितीय पक्ष नहीं कह सकते। 'अज्ञः कर्ता मनुष्योऽहम्' मैं अज्ञानी हूँ, कर्ता हूँ, मनुष्य हूँ। इस प्रकार अध्यास का तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तीसरा पक्ष नहीं कह सकते– मिथ्या ज्ञान उसका कारण विद्यमान है। जैसा कि भाष्यकार का वचन है– "मिथ्याज्ञाननिमित्तः" मिथ्या यानि उसका अज्ञान, वही है निमित्त यानि उपादान कारण जिसका, वह तो ऐसा नहीं कह सकते, यह हेतु आपात रमणीय है। पहले जो कहा आत्मा में अध्यास का अयुक्तत्व है। तब तो जैसे जल–ताड़न निरर्थक होता

है, उसी तरह अध्यास के अयुक्त होने से उसके लिए युक्ति का उपन्यास व्यर्थ है। यह जो कहा कि अहम् अज्ञः कर्ता, इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से उसका भाव सिद्ध है। यह भी ठीक नहीं है, उक्त प्रत्यक्ष में देहादि से मुक्त आत्म-विषयक होने से प्रमात्व है।

तथाहि यदुक्तमात्मन्यध्यासस्यायुक्तत्वमस्माकमलङ्कार इति तद्दुरुक्तं तत्र युक्त्युपन्यासस्य जलताडनवद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। यदप्युक्तमज्ञः कर्त्तेत्यादि तदप्यसम्यक् उक्तप्रत्यक्षस्य देहादियुक्तात्मविषयकत्वेन प्रमात्वस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्। ननु तथाप्यपौरुषेयतया निर्दोषेणोपक्रमादिलिङ्गावधृततात्पर्येण तत्वमस्यादिवाक्येनाकर्तृब्रह्मबोधनादुक्तप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वमेवेति चेन्न तत्त्वमस्यादिवाक्येनप्रतिपद्यमानस्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इतीक्षणबहुभवनसङ्कल्पवतो ब्रह्मणः 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदि' ति सच्छब्दवाच्यस्य "एकमेवाद्वितीय" मिति अतिशयसाम्यशून्यस्य 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति' तादात्म्योपदेशोऽस्मदिष्टतम एव न तत्राकर्तृब्रह्मोपदेशः केनापि पदेन लभ्यते प्रत्युतेक्षणकर्तृबहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं "तत्तेजोऽसृजते" ति तेजःप्रभृतिजगत्कर्तृत्वं श्रूयते, अतो नोक्तप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वम्। ननु सच्छब्दवाच्यस्य सार्वज्ञ्यादि- योगात्कर्तृत्वादिसत्वेऽपि लक्षणया निर्विशेषाऽकर्तृब्रह्मबोधनपरत्वस्वीकारान्नोक्तार्थसिद्धिरितिचेन्न। लक्षणासम्भवात्। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदशक्यः प्रवाहस्तल्लक्ष्यश्च तीरादिस्तीरपदवाच्यस्तथा सच्छब्दवाच्यः सर्वज्ञः पुरुषोत्तम ईक्षणादिकर्तृत्वाश्रयस्तेजःप्रभृतिजगदभिन्ननिमित्तो- पादानकारणरूपस्तस्य यो लक्ष्यः स पदान्तरवाच्यो नवेति विवेचनीयम् । नाद्यः। वाच्यत्वस्यापरिहार्यत्वात् वाच्यत्वे च तव मते मिथ्यात्वा- पत्तिरप्यवश्यम्भाविनी वाच्यमात्रस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह पहले ही कहा गया है। यदि कहें कि फिर भी आत्म-विषयक होने पर भी अनादि अपौरुषेय वेद-वाक्य के उपक्रम आदि षड्विध-लिङ्गों द्वारा निश्चित निर्दोष तात्पर्यक 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्म में अकर्तृत्व का निश्चय होने से उक्त कर्तृत्व बोधक- प्रत्यक्ष में भ्रमत्व सिद्ध होता ही है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते- 'तत्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इस श्रुति द्वारा सिद्ध ईक्षण बहुभवन आदि संकल्पयुक्त "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्" श्रुति घटक सत् शब्द वाच्य तथा "एकमेवाद्वितीयम्- श्रुति वर्णित अतिशय साम्य रहित ब्रह्म में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' श्रुति द्वारा तादात्म्य का उपदेश हमारा (वैष्णवों का) इष्टतम ही है- परंतु इन श्रुतियों में कहीं भी अकर्ता ब्रह्म का उपदेश नहीं है, न श्रुति के किसी पद से ऐसा अर्थ लब्ध होता है- बल्कि ईक्षण पूर्वक बहुभवन संकल्प पूर्वक 'तत्तेजोऽसृजत्' आदि श्रुतियों द्वारा तेजस् आदि सकल जगत् कर्तृत्व का ब्रह्म में श्रवण होता है- इसलिए उक्त प्रत्यक्ष भ्रम नहीं है। यदि कहें कि सत् शब्द वाच्य ब्रह्म में सार्वज्ञ्य आदि धर्मों का सम्बन्ध होने से कर्तृत्व आदि होने पर भी लक्षणा के द्वारा निर्विशेष अकर्ता ब्रह्म-बोधनपरक मान लेने पर उक्त अर्थ की सिद्धि होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ लक्षणा

संभव नहीं है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' यहां गङ्गा-पद शक्य अर्थ है प्रवाह और उसका लक्ष्य अर्थ है तीर आदि तीरपद-वाच्य। उसी प्रकार सत् शब्द-वाच्य सर्वज्ञ, पुरुषोत्तम ईक्षण आदि कर्तृत्व का आश्रय तेजः प्रभृति सकल जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण रूप है- उसका जो लक्ष्य है (निर्विशेष) वह पदान्तर वाच्य है या नहीं? पहला पक्ष नहीं कह सकते, वाच्यत्व अपरिहार्य होता है। उसे वाच्य मानने पर आपके मत में उसमें मिथ्यात्व की आपत्ति होगी, क्योंकि आप वाच्य मात्र को मिथ्या मानते हैं।

सच्छब्दलक्ष्यो मिथ्या पदान्तरवाच्यत्वात् तव मते तीरादिवदिति प्रयोगात् । न द्वितीयः । पदमात्रावाच्यत्वस्यावस्तुत्वापत्तेः । सच्छब्दलक्ष्यं तुच्छं पदमात्रावाच्यत्वात् खपुष्पवदित्यनुमानात् । ननु विषमोऽयं दृष्टान्तो जहल्लक्षणत्वात् । प्रकृते जहदजहल्लक्षणास्वीकारः। तत्र शक्यैकदेशगम्य विशेषणमात्रस्यैव त्यागेन विशेष्यभागस्यात्यागान्नोक्तदोषावकाश इति चेन्न। शब्दैकदेशवाच्यत्वस्याकामेनापि त्वयाङ्गीकरणीयतया मिथ्यात्वयोगस्य दुःपरिहरत्वात्। तथाचात्र प्रयोगः। भागत्यागलक्षणालक्ष्यं मिथ्या शक्यैकदेशत्वात् तव मते घटत्वादिवदिति। एतेन यदुक्तं कैश्चित् मास्तु लक्षणा किन्तु यथा नित्यो घट इत्यत्र घटव्यक्तिनित्यत्वयोरभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेऽपि घटत्वनित्यत्वयोः समानाधिकरण्यस्याविरोधेन शक्यत्वेन तथा प्रकृतेऽपि शक्यत्वमविरुद्धं लक्षणाङ्गीकारस्य साम्प्रदायिकानामाग्रहमात्रत्वात्। तस्माच्छक्य एव शास्त्रार्थ इति तदपि निरस्तम् वाच्यैकदेशसाम्येन मिथ्यात्वस्यावश्यम्भावात् त्यक्तद्वितीयभागवदिति सङ्क्षेपः। तत्सिद्धं पूर्वोक्तप्रत्यक्षस्य प्रमात्वमिति।

(हिन्दी-अनुवाद)

अनुमान होगा- सच्छब्दलक्ष्यो मिथ्या पदान्तरवाच्यत्वात् तव मते तीरादिवत्' जैसे आपके मत में तीर आदि शब्द वाच्य होने पर तीर आदि मिथ्या है। उसी प्रकार सत् शब्द का लक्ष्य ब्रह्म मिथ्या होगा, क्योंकि वह पदान्तर वाच्य है। द्वितीय पक्ष भी नहीं कह सकते- जो पदार्थ किसी भी पद का वाच्य नहीं होता, वह अपदार्थ हो जाता है, अलीक होता है। अनुमान होगा- सत् शब्द का लक्ष्य तुच्छ है, क्योंकि वह पद मात्र से अवाच्य है- खपुष्प के समान। यदि कहें कि यह दृष्टान्त (गङ्गायां-घोषः) विषम दृष्टान्त है। यहाँ जहल्लक्षणा है। प्रकृत में 'तत्त्वमसि' इत्यादि स्थल में जहत्-अजहत् लक्षणा है। जिस लक्षणा में स्वार्थ का परित्याग होता है, उसे जहल्लक्षणा कहते हैं- 'गङ्गायां-घोषः' में गङ्गापद का तीर अर्थ में लक्षणा है। वहाँ प्रवाह-रूप अर्थ का परित्याग होता है। तत्त्वमसि महावाक्य में तत्-पद का सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य अर्थ होता है- उसमें सर्वज्ञत्व अंश का परित्याग एवं शुद्ध-चैतन्य अर्थ लिया जाता है। इसलिए शक्य के एक देश विशेषण मात्र (सर्वज्ञत्व) का त्याग करके विशेष्य भाग का त्याग न होने से उक्त दोष का यहाँ अवकाश नहीं है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। ब्रह्म

शब्द में एक देश का वाच्यत्व इच्छा न होने पर भी आपको मानना ही पड़ेगा, फिर तो मिथ्यात्वका सम्बन्ध अपरिहार्य होगा ही– जैसा कि अनुमान का प्रयोग होगा– भागत्याग लक्षणा का लक्ष्य (ब्रह्म) मिथ्या है– क्योंकि वह शक्य का एक देश है। (वहाँ तत् का शक्यार्थ है सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य। इसलिए चैतन्य ब्रह्म तत् पद का शक्यैक देश होता है) आपके मत में घटत्व आदि की तरह। इसी ग्रन्थ से जिस किसी ने यह कहा है कि "तत्त्वमसि" में लक्षणा न हो, हो भी जैसे नित्योघटः कहने पर घट व्यक्ति और नित्यत्व में अभेद प्रत्यक्ष रूप से बाधित होने पर घटत्व नित्यत्व में सामानाधिकरण्य का अविरोध होने से वहाँ शक्यत्व ही है तथा प्रकृत में भी (तत्त्वमसि महावाक्य में भी) शक्यत्व (शुद्ध चैतन्य में) अविरुद्ध ही है। यहाँ लक्षणा का स्वीकार करना साम्प्रदायिकों का दुराग्रह मात्र है। इसलिए वहाँ (तत्त्वमसि) में शक्य ही शास्त्रार्थ है, वह भी खण्डित हो जाता है। वाच्य में एक देश के साम्य से भी मिथ्यात्व अवश्यंभावी है– (जैसा घटत्व) त्यक्त द्वितीय भाग की तरह। इस प्रकार संक्षेप में यह प्रतिपादन किया जाता है, इस तरह पूर्व में उक्त प्रत्यक्ष का प्रमात्व सिद्ध हुआ।

नापि मिथ्याज्ञानस्याध्यासकारणत्वं सम्भवति अज्ञानलक्षणतत्प्रमाणतदाश्रयविषय-प्रयोजकनिवर्तकाद्यसिद्धेस्तथाहि तत्र किं तावदज्ञानस्य लक्षणम् अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्वा भ्रमोपादानत्वम्वा मिथ्यात्वे सति[1] साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्वा। अनाद्युपादानत्वे सति मिथ्यात्वम्वाऽज्ञानत्वमिति। नाद्यः। सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्या-वरकज्ञानेष्वव्याप्तिस्तेषामनादित्वाभावात्। आरोपितसर्पाद्यभावोपादानाज्ञाने घटादिविषयक-ज्ञानप्रागभावे च भावत्वाभावादव्याप्तिश्च।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब मिथ्या ज्ञान अध्यास का कारण हो सकता है, इसका खण्डन करते हैं 'नापि' आदि ग्रन्थ से अर्थात् मिथ्या (अज्ञान) ज्ञान भी अध्यास का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञान का लक्षण, उसका प्रमाण, उसका आश्रय, विषय एवं प्रयोजक तथा निवर्तक आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे— पहले पूछते हैं कि अज्ञान का क्या लक्षण ?[1] अनादि भाव होकर जो ज्ञान निवर्त्य है, यह लक्षण है ? अथवा भ्रमका उपादान किंवा मिथ्यात्व होने पर साक्षात् ज्ञान निवर्त्यत्व ? अथवा अनादि उपादान होकर मिथ्यात्व अज्ञानत्व है ? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि सादि शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उनमें अनादित्व का अभाव है। (शुक्ति आदि के सादि होने से तद्वच्छिन्न चैतन्य का आवरक अज्ञान भी सादि ही होता है, इस प्रकार उसमें अनादित्व का अभाव है।) अनादित्व

---

1. सत्यन्त विशेषण न देने पर प्राथमिक धारावाहिक बुद्धि भ्रान्ति ज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, वहाँ उत्तर ज्ञान निवर्त्यत्व पूर्वज्ञान में है। अधिष्ठान साक्षात्कार निवर्त्यत्व भ्रम में, इसलिए अनादि भावत्वे सति विशेषण आवश्यक है। अनादित्व मात्र कहने पर प्रागभाव में अतिव्याप्ति होगी– इसलिए भावत्व विशेषण है। विशेषण मात्र कहने पर अ[illegible] आदि में अतिव्याप्ति है। (स)

विशेषण प्रयुक्त अव्याप्ति कहकर भाव-रूप विशेषण प्रयुक्त अव्याप्ति कहते हैं- 'आरोपित सर्पादि' अर्थात् यदि अज्ञान लक्षण में अनादि भावत्वे सति विशेषण लगाते हैं तो आरोपित सर्पादि के अभावोपादान अज्ञान में तथा घटादि विषयक ज्ञान प्रागभाव (अज्ञान) में भावत्व का अभाव होने से अव्याप्ति होगी।

व्यावहारिक वस्तु में किसी प्रकार तथात्व स्वीकार करने पर भी जब घटवत् भूतल में घटाभाव का आरोप होता है, तब आरोप्यमात्र में अज्ञानोपादानकत्व स्वीकरणीय होगा अन्यथा द्वितीय लक्षण में असंभव का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि आरोपित अभाव के उपादान अज्ञान में भावत्व का अभाव है- इसलिए अव्याप्ति होगी। आरोपित अभाव भी भाव-रूप अज्ञानोपादानक ही है- इसलिए अतिव्याप्ति नहीं होगी, ऐसी आशङ्का करके उसका खण्डन करते हैं।

नच तस्य भावोपादानकत्वमिति वाच्यम् असत्यस्य सत्योपादानकत्वापातात् तस्याज्ञानोपादानकत्वाभावाङ्गीकारे ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावप्रसङ्गाच्च। किञ्च शुद्धं ब्रह्म वृत्तिव्याप्यमपि नेति मते तदज्ञाने चरमसाक्षात्कारानन्तरभाविजीवन्मुक्त्यनुवृऽत्तेज्ञाने रक्तः स्फटिक इति सोपाधिकभ्रमोपादानाज्ञाने चाव्याप्तिश्च तेषां ज्ञाननिवर्त्यत्वासम्भवात्। सोपाधिकाज्ञानस्योपाधिनिवृत्तिनाश्यत्वनियमात् । जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञानस्य प्रारब्धभोगनाश्यत्वनियमात् । चैतन्याविद्यासम्बन्धेऽतिव्याप्तिश्च कल्पितत्वेन दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्यानादित्वायोगात्। ज्ञाननिवर्त्यस्याभावविलक्षणस्य रूप्यवदनादित्वायोगाच्चासम्भवश्च किञ्चानादेरभावविलक्षणास्यात्मवदनिवर्त्यत्वप्रसङ्गात् अज्ञानं न ज्ञाननिवर्त्यमनादिभावरूपत्वादात्मवदित्यनुमानात्। न द्वितीयः ज्ञानाभावेऽव्याप्तेः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

'नच' अर्थात् यदि कहें कि आरोपित सर्पाभाव भी भावरूप अज्ञानोपादानक ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते, तब तो असत्य में सत्योपादानकत्व की आपत्ति होगी। आरोपित घटाभाव में अज्ञानोपादकत्व के अभाव को स्वीकार करने पर उसमें ज्ञान निवर्त्यत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा। अब अनादित्व तथा भावत्व विशेषण प्रयुक्त दोष बताकर ज्ञान निवर्त्यांश निवेश प्रयुक्त अव्याप्ति दोष बताते हैं- "किञ्च शुद्धं ब्रह्म" (मूल) दूसरी बात शुद्ध ब्रह्म वृत्ति-व्याप्य भी नहीं है। इस मत में उस ब्रह्म के अज्ञान में चरम साक्षात्कार के अनन्तर भावी जीवन्मुक्ति में, अनुवृत्त अज्ञान में तथा 'रक्तः स्फटिकः' इस सोपाधिक भ्रम के उपादान अज्ञान में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उनमें ज्ञान निवर्त्यत्व असंभव है। कारण सोपाधिक अज्ञान उपाधि निवृत्ति से ही नाश्य होता है- ऐसा नियम है। इसी तरह जीवन्मुक्ति में अनुवृत्त अज्ञान का प्रारब्ध-भोग से नाश्यत्व का नियम है। चैतन्य के अविद्या-सम्बन्ध में अतिव्याप्ति भी होगी। कल्पित होने से दोष-जन्य ज्ञान मात्र शरीर-रूप अज्ञान में अनादित्व का योग नहीं है। ज्ञान निवर्त्य अभाव विलक्षण में रूप्य की तरह अनादित्व का सम्बन्ध नहीं होने से असंभव दोष भी होगा। दूसरी बात यदि अज्ञान को अनादि एवं अभाव विलक्षण (भावरूप)

मानेंगे, तब आत्मा की तरह उसकी निवृत्ति नहीं होगी। अनुमान होगा अज्ञान ज्ञान निवर्त्य नहीं है; क्योंकि वह अनादि अभाव विलक्षण है, जैसा आत्मा। द्वितीय लक्षण भी नहीं कह सकते हैं।

अभावस्य निरुपादानकत्वात्। सोपादानकत्वेऽपि भावरूपज्ञानोपादानकत्वायोगात्। अन्यथा स्वरूपहानिः। रज्ज्वा सूत्रद्वयमिव मायाब्रह्मणी जगदुपादाने इति पक्षेऽतिव्याप्तेश्च तयोः भ्रमोपादानत्वात्। मायावच्छिन्नब्रह्मोपादानमिति पक्षेऽसम्भवः। किञ्चार्थाज्ञानरूपस्य भ्रमस्य भावविलक्षणत्वेन निरूपादानत्वादसम्भवश्च। न तृतीयः जीवन्मुक्त्यनुवृत्ताज्ञाना-दावव्याप्त्यादेरत्रापि तुल्यत्वान्न चतुर्थः। द्वितीयलक्षणोक्तदोषस्याभावादावव्याप्त्या-देरत्राप्यविशेषादिति सङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्योंकि ज्ञानाभाव में अव्याप्ति होगी- अर्थात् 'इदं रजतम्' इस भ्रम के अनन्तर 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस प्रमात्मक ज्ञान के द्वारा निवर्त्य जो अज्ञान (शुक्तिविषयक अज्ञान) उसमें भ्रमोपादानत्व होने पर भी जहाँ आदि में ही 'इयं शुक्तिः' (यह शुक्ति है) यह प्रमात्मक ज्ञान हुआ है- उससे शुक्ति-विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। उस अज्ञान में भ्रम का ही अभाव है, इसलिए उसमें भ्रमोपादानत्व का अभाव होने से अव्याप्ति होगी। अथवा घटवत् भूतल में आरोपित घटाभाव घटाज्ञान घट के प्रमात्मक ज्ञान से निवृत्त होता है, उस अज्ञान में भ्रमोपादानकत्व का अभाव होने से अव्याप्ति होगी। यदि कहें कि- वह अज्ञान भी आरोपित अभावोपादानक है, तो कहते हैं- अभावस्य निरुपदानकत्वात्- अभाव निरुपादानक होता है। सोपादानकत्व अङ्गीकार करने पर भी भाव-रूप अज्ञानोपादानक मानने पर स्वरूप हानि अर्थात् अभावात्मक स्वरूप हानि होगी। अभाव के भाव रूप अज्ञानोपादानकत्व मानने पर उसमें भावत्व ही होगा। इस प्रकार असत्य में सत्योपादानकत्व का प्रसङ्ग होगा। (इस प्रकार अव्याप्ति का उपपादन करके असंभव तथा अतिव्याप्ति के मत-भेद से उपपादन करते हैं- 'रज्ज्वा सूत्रद्वयम्' (माया ही जगत् का उपादान है, ब्रह्म उसका अधिष्ठान है, यह एकमत है। मायावच्छिन्न ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, न केवल माया न केवल ब्रह्म, यह दूसरा मत है। रज्जू से सूत्र द्वय की तरह माया और ब्रह्म दोनों ही (प्रत्येक) जगत् का उपादान कारण है। ऐसा एक अन्य मत है) इसमें आद्यमत में असंभव नहीं है। माया शब्द वाच्य अज्ञान ही समस्त जगत् का उपादान कारण है। भ्रम से जगत् के अन्तपाती होने के कारण माया में भ्रमोपादानत्व संभव है। इसीलिए द्वितीय मत में असंभव होगा। मायावच्छिन्न ब्रह्म को सकल जगत् का उपादान कारण होने से माया में भ्रमोपादानत्व संभव नहीं[1] है तथा 'विशिष्टं यद् भवति' इस न्याय का निरास होगा। ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी।

1. श्रीअमोलक राम की टीका (सं)

तृतीय मत में भी असंभव के अभाव होने पर भी ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, यह स्पष्ट ही है। अतिव्याप्ति हेतु कहते हैं– 'तयोर्भ्रमोपादानत्वात्– माया ब्रह्म में भ्रम का उपादानत्व होने से।

मायावच्छिन्न ब्रह्मोपादान पक्ष में असंभव दोष है। इसमें असंभव दिखाते हैं 'किञ्च' से अर्थात् अर्थ के अज्ञान रूप भ्रम का भाव विलक्षण होने से निरुपादान होने के कारण असंभव भी है। भाव यह है यहाँ भ्रम निरुपादान है, भाव विलक्षण होने से अभाव की तरह ऐसा अनुमान प्रयोग होगा। अर्थात् भ्रम के निरुपादान होने से अज्ञान में भ्रमोपादानत्व के अभाव के कारण असंभव है– यह अर्थ है। तीसरा लक्षण मिथ्यात्व रहने पर साक्षात् ज्ञान निवर्त्यत्व रूप भी नहीं हो सकता, क्योंकि जीवन्मुक्ति में अनुवृत्त अज्ञान आदि में अव्याप्ति आदि दोष इस लक्षण में भी समान है। चतुर्थ लक्षण– 'अनाद्युपादानत्वे सति मिथ्यात्वम्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्वितीय लक्षण में उक्त दोष अभाव आदि में अव्याप्ति आदि का यहाँ प्रसङ्ग है– इति संक्षेपः अज्ञान में प्रमाण एवं उसमें आश्रय की असिद्धि के विषय में पूर्वाचार्यों ने आकर–ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया है। जिज्ञासुजनों को वहीं देखना चाहिए। यहाँ विस्तार के भय से विराम लेते हैं।

यहाँ पूज्य अ०शा० की टीका के अनुसार थोड़ा विचार करते हैं–

आप के अभिमत अज्ञान में क्या प्रमाण है? यह कहना चाहिए। यदि कहें कि मैं अज्ञ हूँ– अपने को तथा अन्य को मैं नहीं जानता, यह प्रत्यक्ष ही यहाँ प्रमाण है तो यह नहीं कह सकते, यह प्रतीति अन्य विषयक होने से आभास मात्र है– क्योंकि यहाँ प्रश्न होता है कि यहाँ अहमर्थ क्या है? शुद्ध ज्ञान मात्र अथवा ज्ञानानवच्छिन्न ब्रह्म किंवा जीव? पहला नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें शुद्धत्व की हानि है। शुद्ध अज्ञ है, ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी और यह अपसिद्धान्त होगा। दूसरा भी नहीं कह सकते, उसमें अवच्छेद्य अज्ञान की आज तक सिद्धि नहीं हो सकी। इसमें अन्योन्याश्रय भी है। जैसे अज्ञान प्रयुक्त अहमर्थ है और अहमर्थ प्रयुक्त अज्ञान। तीसरा पक्ष भी नहीं हो सकता। अध्यस्त होने से जीव अज्ञान के उत्तर भावी होता है। हमारे पक्ष में जीव–परक होने से तथा आप के पक्ष में अहंकार–परक होने से अहमयज्ञः इस प्रतीति में अहंकार के अज्ञाता की आपत्ति होगी। जड़ के अज्ञान कार्य होने से अज्ञान रूप होने के कारण तद्वैशिष्ट्य की सिद्धि नहीं हो सकती, इत्यादि विषय अध्यास–गिरिवज्र के प्रथम अध्याय के उपोद्घात में विस्तार से वर्णित हैं।[1] शंकर–मत में अज्ञान का आश्रय भी असंभव है– क्योंकि यदि प्रश्न पूछा जाय कि अज्ञान का आश्रय कौन

---

1. अध्यास–गिरिव्रज (परपक्ष–गिरि–वज्र) वेदान्त–ग्रन्थ में श्रीशंकराचार्य महाराज के अध्यासवाद या मायावाद का बड़े विस्तार से प्रबल युक्तियों द्वारा नव्यन्याय की प्रौढ़भाषा में खण्डन किया गया है। प्रत्येक निम्बार्कीय वैष्णव मात्र को यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिए तथा इसका हिन्दी अनुवाद भी शीघ्र प्रकाशित होना चाहिए। (सं)

है ? शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म ? या सर्वज्ञ ईश्वर अथवा जीव ? यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि चिन्मात्र ही अज्ञान का आश्रय है, क्योंकि उससे भिन्न तत्त्व अज्ञान से कल्पित होने के कारण उसमें अज्ञानाश्रयत्व नहीं हो सकता। जैसा कि विवरण-ग्रन्थ में कहा गया है-

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः"

यहाँ हमारा कथन है कि शुद्ध ब्रह्म में अज्ञानाश्रयत्व मानने पर उसका शुद्धत्व भङ्ग होगा। क्योंकि अज्ञानाश्रय को ही अशुद्ध कहते हैं और उसमें अज्ञत्व होगा। दूसरी बात अज्ञान के आश्रय में अज्ञातृत्व होता है या रहता है, यह नियम है। ज्ञान तथा भावरूप अज्ञान में तम एवं प्रकाश की तरह विरुद्ध स्वभाव होने के कारण उनमें आश्रयाश्रयिभाव संभव नहीं है। प्रचण्ड-मार्तण्ड मण्डल में अन्धकार का आश्रयत्व पागल व्यक्ति के सिवा दूसरा कोई नहीं कह सकता- इत्यादि प्रकार से आकर-ग्रन्थ में विस्तार से समीक्षा की गई है।

यहाँ विषय वाक्यार्थ है- "अरे मूढ़े हे मैत्रेयि"- 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः।' 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यह मूल श्रुति वाक्य ही हैं। मिथिला महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी ब्रह्मवादिनी धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहते हैं- 'न वाऽरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादि अरे मैत्रेयी! संसार के पति पुत्र आदि सभी आत्महित के लिये ही प्रिय होते हैं- पति पुत्रादि के लिए नहीं अतः आत्मा का ही श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिए। यहाँ तव्यत् प्रत्यय अर्हार्थक ही है।

यहाँ एवकार विधि अर्थ का व्यवच्छेद करता है। क्योंकि "अर्हे कृत्यतृचश्च" ऐसा पाणिनि का सूत्र है। अर्थात् ब्रह्म दर्शन के योग्य है, श्रवण के योग्य है तथा निदिध्यासन के योग्य है। क्योंकि ब्रह्म साक्षात्कार "तस्मिन् दृष्टे परावरे"[1] "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" "तन्महिमानं

---

1. उक्त अर्थ को श्रुति प्रमाण द्वारा दृढ़ करते हैं- 'तस्मिन् दृष्टे' अर्थात् 'दृष्ट एवात्मनीश्वरे' इस उक्ति से उस सर्वज्ञ सर्वेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण के 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः' इस श्रुति से सिद्ध भगवत् अनुग्रहहेतुजन्य श्रवण-मनन-निदिध्यान आदि के द्वारा दर्शन होने पर यह अर्थ है। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" भगवत् साक्षात्कार प्राप्त विद्यावान् पुरुष के सर्वकर्म ध्वंस पूर्वक भगवद्-भावापत्ति मुक्ति प्राप्त होती है। वह भ.भा.पत्ति मुक्ति कैसी ? तो कहते हैं- "निरञ्जनः परमं" निर्गतं नष्टं पुण्यपापादि लक्षणमञ्जनं यस्मात् सः। इससे बीज, कूट आदि कर्मक्षय पूर्वक मोक्ष का अन्तरङ्ग उपाय ब्रह्मसाक्षात्कार व्यञ्जित होता है। यद्यपि इस प्रकार से मोक्ष के विषय में भी बहुत सी विप्रतिपत्तियाँ हैं- परंतु यहाँ श्रुति भगवती का स्पष्ट वचन है- "परमं साम्यमुपैति" सर्वथा मुक्त जीव भागवत साम्यभाव को प्राप्त कर भगवत्स्वरूप गुण माधुर्य आदि का अनुभव करता है। इस प्रकार श्रुति में सर्वत्र ससंबोधि मोक्ष का ही वर्णन है निःसम्बोधि नहीं। ससम्बोधि वैष्णव मोक्ष का हमारे पूज्य गुरुदेव स्व. भगीरथ जी झाने अपने वेदान्त-तत्त्व समीक्षा में अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया है। (सं)

पश्यति वीतशोकः" "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" अर्थात् ब्रह्म-साक्षात्कार करने पर भगवद्भावापत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। इन उपर्युक्त श्रुति-स्मृति वाक्यों द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार मोक्ष के अन्तरङ्ग साधन रूप में सिद्ध होने से विधेयत्व का अभाव है। इस प्रकार वाक्यान्तर से प्राप्त ब्रह्म साक्षात्कार स्वरूप मोक्ष के असाधारण उपाय भगवद् दर्शन को उद्देश्य करके उसमें अन्तरङ्ग उपायभूत निदिध्यासन का यहाँ विधान किया जाता है। वही ध्यान, ज्ञान, पराभक्ति, ध्रुवा स्मृति का अपर पर्यायभूत वस्तु ज्ञान शब्द से यहाँ भगवान् बादरायण व्यास ने सूत्र रूप में निर्दिष्ट किया है- "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" क्योंकि सूत्र एवं विषय वाक्यार्थ में एक वाक्यत्व का नियम है- विषय वाक्य 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' श्रुतिवाक्य का जो विषय कहा गया है- वही यहाँ प्रथम जिज्ञासा सूत्र में कहा गया है- श्रुति में कहा गया है- आत्मा को जानना चाहिए, सुनना चाहिए उसका ध्यान करना चाहिए- उसी बात को भगवान् व्यास ने अपने सूत्र द्वारा कहा है कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए अर्थात् उसे जानना चाहिए सुनना चाहिए उसका विचार करना चाहिए इत्यादि। सूत्र एवं विषय वाक्य में विषय वाक्य, 'श्रुति' बलवान् माना गया है। अतः उसके अनुसार ही सूत्र का अर्थ करना चाहिए। अन्यथा उन दोनों में विषय-विषयिभाव नहीं हो सकता। यहाँ श्रवण एवं मनन का निदिध्यासन के उपाय रूप में विनियोग है। ये दोनों भी परम्परया मोक्ष के साधन माने गये हैं।

श्रवण-मनन के द्वारा मोक्ष-साधन निदिध्यासन (ध्यान) का सम्पादन करके भगवान् का साक्षात्कार करता है, तब मुक्ति होती है। इस प्रकार परम्परया श्रवण-मनन का मुक्ति में उपयोग है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं- 'तत्र वेदान्त वाक्यानाम्' - यहाँ वेदान्त-वाक्यों में भगवत्-स्वरूप गुणादि प्रतिपादन परत्व का निश्चय करके उसके द्वारा प्रतिपाद्य ध्येयस्वरूप आदि का साक्षात् दर्शन करने वाले आचार्य श्री के मुख से उनके द्वारा अनुभूत वाक्यार्थ का ग्रहण-श्रवण तथा श्रुत यानी उपदिष्ट अर्थ का अपने अनुभव का विषय करने के लिए शास्त्र के अनुकूल युक्तियों द्वारा विचार-विशेष को मनन कहते हैं तथा मनन विषयीभूत अर्थ में साक्षात्कार के असाधारण साधन अनवरत ध्यान को निदिध्यान कहते हैं। इस प्रकार उक्त स्वरूप श्रवण मनन द्वारा साध्य निदिध्यासन के अत्यन्त अप्राप्त होने के कारण यह अपूर्व विधि ही है, ऐसा समझना चाहिए। द्वितीय वाक्यार्थ- "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" है। इसमें दो तत् शब्द हैं। उसका निर्वचन करते हैं - 'तच्छब्दौ' इन दोनों श्रुतियों के तत् शब्द से पूर्वोक्त वाक्य "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः" इस श्रुति के प्रतिपाद्य आत्म पदार्थ जानने चाहिए। "विजिज्ञासितव्यः" में उक्त ध्यानात्मक ज्ञान में मोक्ष का अन्तरङ्ग उपाय होने के कारण विधेयत्व है और 'अन्वेष्टव्यः में श्रवणाद्यात्मक अन्वेषण का ध्यान के साधन के रूप में विनियोग है। अब कहते हैं कि 'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस तृतीय वाक्य का क्या अर्थ है- इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूमा श्रुति की व्याख्या [1]"भूमा

1. 'भूमैव सुखम्' यहाँ भूमा शब्द ब्रह्म पर्याय है। सुख शब्द आनन्द पर्याय है 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इस लक्षण वाक्य से। (सं)

सम्प्रसादादध्युपदेशात्' इस सूत्र की व्याख्या के अवसर पर करेंगे।

अध्यास लक्षण की सिद्धि न होने से अध्यास की असिद्धि

हम पूछते हैं- अध्यास का क्या लक्षण? तो कहते हैं- 'स्मृतिरूपः परत्रं पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः।[1] अब यहाँ बताते हैं कि उक्त लक्षण से अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती, इस कारण भी अध्यास सिद्ध नहीं हो सकता। (कारण जहाँ योग्य अधिकरण में पूर्व दृष्ट जिस किसी वस्तु के सादृश्य आदि के दर्शनवश प्रतिभास होता है, वहीं अध्यास लक्षण का अधिगम होता है। जैसे 'इदं रजतम्' यहाँ पुरोवर्ती शुक्ति में जो रजत का प्रतिभास है, यह अध्यास, का स्पष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार अनात्मा देह-इन्द्रिय आदि में असावधान पुरुषों की आत्मभाव की भावना भी उससे अतिरिक्त नहीं है। यदि कहें कि शुक्ति में स्मर्यमाण सत्य रजत ही अवभासित होता है, फिर तो यह अन्यथा ख्याति ही हो गई। कारण अन्यथा ख्याति किसी विशेष धर्म का अवलम्बन कर पृथक् की तरह अवभासित होती है- न कि अध्यास इस आशङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं- 'स्मृतिरूपः' स्मर्यते इति स्मृतिः सत्य रजत आदि। उसके रूप के समान जिसका रूप है। अर्थात् स्मर्यमाण के सदृश। वहाँ सादृश्य पद से स्मर्यमाण आरोप्य का भेद होने से अन्यथा ख्याति नहीं है। सादृश्य का उपपादन करते हैं- 'पूर्वदृष्ट' दृष्ट का अर्थ है दर्शन। संस्कार द्वारा पूर्व दर्शन से जो अवभासित होता है, उसे पूर्वदृष्टावभास कहते हैं। उससे संस्कारजन्यज्ञान विषयत्वरूपस्मर्यमाण एवं आरोप में सादृश्य समझाया जाता है। तब तो आरोप में स्मृतित्व ही विवक्षित हो गया है, ऐसा नहीं कह सकते। वहाँ दोष-सम्प्रयोग जन्यत्व भी विवक्षित होने से सादृश्य दर्शन मात्र जन्यत्व का अभाव है। सम्प्रयोगका अर्थ है अधिष्ठान का सामान्य है। अहंकार के अध्यास में इन्द्रिय-सम्प्रयोग का लाभ नहीं है। इस तरह दोष-सम्प्रयोग के संस्कार के बल से शुक्ति में रजत उत्पन्न है, इस प्रकार यहाँ परम अवभास रूपी लक्षण उपपन्न है, यह बात स्मृतिरूप एवं परमदृष्ट पद से कही गयी है। अध्यास दो तरह के होते हैं- अर्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास। 'मनुष्योऽहम्' यह अभिमान अर्थाध्यास है तथा तद्विषयक व्यवहार रूपी अभिमान ज्ञानाध्यास है। यहाँ आद्य अध्यास में स्मर्यमाण-सदृश पूर्वदर्शन से अवभासित होता है- ऐसी योजना है। द्वितीय में स्मृतिसदृश परम पूर्वदर्शन से अवभासित है- ऐसा वाक्य योजनीय है, यह आशय है। मूला अविद्या के अध्यास में संस्कार आदि से घटित सामग्री के अभाव से उक्त लक्षण अध्यास की सत्ता नहीं हो सकती। इस प्रकार अव्याप्ति-ग्रस्त होने से यह लक्षण संभव नहीं है। इसी आशय से उक्त अध्यास लक्षण 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' का यहाँ खण्डन करते हैं- "नैतद्युक्तम्" मूलाविद्याध्यास से इस लक्षण में असंभव दुर्वार है। एक जगह सत्य वस्तु का अन्यत्र आरोप ही भ्रम कहलाता है, परन्तु जो अत्यन्त असत् है (जगत्) उसका अध्यास हो नहीं सकता, यह पहले ही कहा है। (बनिये की दुकान पर स्थित

१. अध्यास का उक्त लक्षण भगवान् शंकराचार्य का है, जो उन्होंने ब्रह्म-सूत्र के शांकर-भाष्य में लिखा है। उसी का यहाँ खण्डन है। (सं)

रजत के सत्य होने से शुक्ति में उसका आरोप किया जा सकता है। परंतु आपके मत में प्रपञ्च तो अत्यन्त असत् है, फिर उसका ब्रह्म में अध्यास कैसे हो सकता, 'इदं रजतम्' की तरह 'इयम्-अविद्या' (यह अविद्या है) ऐसी किसी भी व्यक्ति को कभी प्रतीति नहीं होती है। दूसरी बात अध्यास-प्रयोजक सामग्री के अभाव से भी अविद्या का अध्यास नहीं हो सकता। वह सामग्री संस्कार-सादृश्य सम्प्रयोग रूप है। यदि कहें कि संस्कार-जन्य ज्ञान-विषयत्व ही सादृश्य-पदार्थ है, तो ऐसा नहीं कह सकते- कारण संस्कार अनुभव पूर्वक होता है, अनुभव के अभाव में संस्कार सिद्ध नहीं हो सकता और संस्कार-सिद्ध नहीं होने पर तज्जन्य ज्ञान का अभाव होता है तथा उसका अभाव होने पर तद्विषयत्व रूप सादृश्य कैसे हो सकता? दूसरी बात अविद्या का सादृश्य किसमें है- यह कहना होगा। शुद्ध ब्रह्म में नहीं कह सकते, उस ब्रह्म में निर्विशेष होने से उसमें सादृश्य कह नहीं सकते अन्यथा ब्रह्म में शुद्धत्व की हानि होगी। जीव में भी नहीं कह सकते, वह तो स्वयं अध्यास है। अध्यास के बाद ही उसमें जीवत्व आता है और अविद्या में चित् का अध्यास होने पर भी चित् सादृश्य की कैसी वृत्ति होगी- यह भी कहना होगा। जैसे सूर्य का सादृश्य तम में असंभव है, उसी तरह यह भी कहना विरुद्ध है। अब 'स्मृतिरूपः' इस शब्द का यथाश्रुत अर्थ करने पर भ्रान्ति अन्यथा ख्याति) की व्यावृत्ति नहीं कर सकते (फिर तो अन्यथा ख्यातिवादी तार्किकों के मत में प्रवेश होने से स्वसिद्धान्त भङ्ग हो जायगा- इसलिए स्वसिद्धान्त-रक्षा के लिए कहते हैं) अतः उसके निरास के लिए 'स्मृतरूपमिव रूपमस्य' ऐसा अर्थ आपको अवश्य करना पड़ेगा, जिससे स्मर्यमाण के सदृश ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। यह भी युक्त नहीं है, कारण प्रथम अध्यास के स्मर्यमाण पदार्थ ही कोई नहीं है, फिर उसके सादृश्य की संभावना भी कैसे हो सकती?

सम्प्रयोग का अर्थ है- अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान, यह पर-सिद्धान्त है, यह भी युक्त नहीं है। कारण जो निर्विशेष पदार्थ है, उसमें सामान्य विशेषकत्व का अभाव होता है। कहें कि कल्पित सामान्य आदि धर्म अध्यास-जन्य होने से उसका उस काल में अभाव है और दूसरी बात यह है कि आपके अभिमत अधिष्ठान सामान्य ज्ञान के आश्रय का अभाव होने से उसकी कहीं भी वृत्ति नहीं है। ज्ञाता का अभाव होने से ज्ञान की असिद्धि होती है।

तत्र प्रमाणतदाश्रयासिद्धिश्च पूर्वाचार्य्यैराकरे विस्तृता तत्रैव जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्या विस्तरभियोपरम्यते। विषयवाक्यार्थस्तु अरेमूढे हेमैत्रेयि, 'आत्मा द्रष्टव्य' इति तव्यप्रत्ययोऽर्हार्थक एव "अर्हे कृत्यतृचश्चे" ति सूत्रात्। ब्रह्मसाक्षात्कारस्य "तस्मिन् दृष्टे परावरे" "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति""तन्महिमानं पश्यति वीतशोकः""ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरमि"त्यादिवाक्यैर्मोक्षान्तरङ्गोपायतया सिद्धत्वेन विधेयत्वाभावात्। तथाच वाक्यान्तरप्राप्तं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं मोक्षासाधारणोपायं दर्शनमुद्दिश्य तदन्तरङ्गोपायभूतं निदिध्यासनमत्र विधीयते। तदेव ध्यानज्ञानपराभक्तिध्रुवास्मृत्यपरपर्य्यायभूतं ज्ञानशब्देन सूत्रयामास भगवान्वादरायणः। सूत्रविषयवाक्ययोरेकार्थत्वनियमात्। तत्रापि विषयवाक्यस्य मूलरूपत्वेन स्वतःप्रमाणत्वाद्बलीयस्त्वं तदनुसारेणैव सूत्रार्थो नेयः।

अन्यथा तयोर्विषयविषयिभावानुपपत्तेः। श्रवणमननयोर्निदिध्यासनोपायत्वेन विनियोगस्तयोरपि परम्परया मोक्षसाधनत्वात्। तत्र वेदान्तवाक्यानां भगवत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वं निश्चित्य तत्प्रतिपाद्यं ध्येयस्वरूपादिकं साक्षात्पश्यत आचार्य्यस्य मुखात्तदनुभूतवाक्यार्थस्य ग्रहणं श्रवणं श्रुतस्य चोपदिष्टार्थस्य स्वानुभवविषयीकरणाय शास्त्रानुकूलयुक्तिभिर्विचारविशेषो मननम्। मननविषयार्थस्य साक्षात्कारासाधारणसाधनमनवरतध्यानं निदिध्यासनं तथाचोक्तलक्षणश्रवणादिसाध्यनिदिध्यासनस्यात्यन्ताप्राप्तत्वादपूर्वविधिरेवायमिति बोध्यम्। द्वितीयवाक्यार्थस्तु तच्छब्दौ पूर्वोक्तवाक्यस्यात्मपरामर्शपरौ। विजिज्ञासितव्य इत्यत्रोक्तस्य ध्यानात्मकज्ञानस्य मोक्षान्तरङ्गोपायत्वाद्विधेयत्वम्, अन्वेषणस्य श्रवणाद्यात्मकस्य तत्साधनतया विनियोग इति। भूमेत्यस्य व्याख्यानं भूमेतिसूत्रव्याख्यानावसरे वक्ष्यामः।।१।।

इतिजिज्ञासाधिकरणम

(हिन्दी–अनुवाद)

अज्ञान में प्रमाण एवं उसके आश्रय की असिद्धि का भी पूर्वाचार्यो ने आकर ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित किया है। प्रमाण के अभाव में अज्ञान की असिद्धि इस प्रकार है– 'हम पूछते हैं कि आप के अभिमत अज्ञान में क्या प्रमाण है, पहले यह बताएँ ? इस पर कहते हैं कि – मैं अज्ञ हूँ, अपने को तथा अन्य को नहीं जानता हूँ, एवं आपके द्वारा कथित अर्थ को नहीं जानता हूँ, यह प्रत्यक्ष ही इसमें (अज्ञान में) प्रमाण है, तो कहते हैं ऐसा नहीं कह सकते। अन्य विषयक होने से यह आभास मात्र है– क्योंकि यहाँ 'अहं' पदार्थ क्या है– शुद्ध ज्ञान मात्र अथवा अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म या जीव ? पहला नहीं कह सकते, इससे शुद्धत्व की हानि होगी। दूसरी बात शुद्ध ब्रह्म अज्ञ है, ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी और अपसिद्धान्त होगा। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म का अज्ञान (अविद्या) की ही अभी सिद्धि नहीं हुई है। दूसरी बात इस पक्ष में अन्योन्याश्रय भी होता है– अज्ञान प्रयुक्त अहमर्थ और अहमर्थ प्रयुक्त अज्ञान, तीसरा जीव भी नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अध्यस्त होने के कारण वह तो अज्ञानोत्तरकालीन है, इत्यादि प्रकार से अध्यास गिरिवज्र के प्रथमाध्याय में उपोद्घात में विस्तार से निरूपण किया, इसी तरह आपके मत में अज्ञान का आश्रय भी दुर्निरूप्य है– हम पूछेंगे– अज्ञान (अविद्या) का आश्रय कौन है ? शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म, सर्वज्ञ ईश्वर या जीव ? यहाँ कतिपय विद्वान् कहते हैं कि चिन्मात्र ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय है, क्योंकि उससे भिन्न तो अज्ञान से कल्पित है, वह उसका भी आश्रय कैसे हो सकता है, जैसा कि विवरण ग्रन्थ में कहा है– 'आश्रयत्व विषयत्व भागिनी निर्विशेष चितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः' इस विषय में मेरा कहना है कि शुद्ध

1. छान्योग्य की भूमा विद्या ही श्रीनिम्बार्क–सम्प्रदाय की मुख्य उपास्य है। इसकी सविस्तर समीक्षा हमारे पूज्य गुरुदेव स्व. पं. भगीरथ झा ने अपने वेदान्त–तत्त्व–समीक्षा एवं श्रीयुग्मतत्त्व–समीक्षा में की है। (सं)

को अज्ञान का आश्रय मानने पर शुद्धत्व भङ्ग होगा, क्योंकि अज्ञान के आश्रय को ही अशुद्ध कहा जाता है। तब तो अज्ञत्व होगा, क्योंकि अज्ञान के आश्रय में अज्ञातृत्व का नियम है। दूसरी बात तम और प्रकाश की तरह परस्पर विरुद्ध स्वभाव ज्ञान और अज्ञान में आश्रय एवं आश्रयित्व संभव नहीं है। प्रचण्ड मार्तण्ड-मण्डल में अन्धकार की सत्ता उन्मत्त व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कहा सकता। इस प्रकार इस विषय में आकर ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया गया है। यहाँ विषय वाक्यार्थ तो 'अरे मूढ़े मैत्रेयि- 'आत्मावारे द्रष्टव्य' यह श्रुतिवचन है। यहाँ तव्य प्रत्यय अर्हार्थक है। इसमें एवकार विधि अर्थ का व्यवच्छेद करता है, क्योंकि इस विषय में 'अर्हेकृत्यतृचश्च' सूत्र प्रमाण है। यह मोक्ष में अन्तरङ्ग उपाय रूप में सिद्ध होने से विधेय नहीं हो सकता। इसी अर्थ को श्रुति प्रमाण से दृढ़ करते हैं- 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'निर्गतं नष्टं पुण्यपापलक्षणमञ्जनं यस्मात् सः' जिसका पुण्यपाप स्वरूप अञ्जन नष्ट हो गया है। एतावता बीज, कूट आदि कर्मक्षय पूर्वक मोक्ष के अन्तरङ्ग उपाय भूत ब्रह्म साक्षात्कार व्यञ्जित होता है। इस विषय में बहुत विद्वान् विवाद करते हैं- उनके विवाद निराकरण के लिए भगवती श्रुति साक्षी रूप में स्वयं मुक्ति स्वरूप का प्रतिपादन करती है- "परमं साम्यमुपैति अर्थात् सायुज्य। एतावता मुक्ति- दशा में भी भगवत् स्वरूप गुण माधुर्य आदि का अनुभव करते हैं। 'तन्महिमानमेति' अर्थात् उनके समान हो जाता है। 'वीतशोकः' शब्द से सकल कर्मनाश पूर्वक भगवत् साक्षात्कार होता है। यह सूचित होता है। इसी तरह स्मृति-प्रमाण से भी उक्त विचार दृष्ट होता है। यह बताते हैं- 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इस भगवत् वाक्य से। इस प्रकार उक्त वाक्यों द्वारा मोक्ष के अन्तरङ्ग उपाय रूप में सिद्ध होने के कारण वह विधेय नहीं हो सकता। इस लिये वाक्यान्तर से प्राप्त ब्रह्म साक्षात्कार स्वरूप मोक्ष का असाधारण उपाय दर्शन को उद्देश्य करके उसके अन्तरङ्ग उपायभूत निदिध्यासन का विधान किया जाता है। वही ध्यान (निदिध्यासन), ज्ञान, पराभक्ति, ध्रुवास्मृति का अपर पर्याय भूत ज्ञान तत्त्व यहाँ ज्ञान शब्द से भगवान् वादरायण ने सूत्र रूप में रचना की- 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' क्योंकि सूत्र और विषय में एकार्थत्व (एक विषयत्व) का नियम है। इसमें भी विषय वाक्य (वेदवाक्य) में मूलरूप होने से स्वतः प्रमाण्य होने के कारण श्रेष्ठत्व है। इसलिए वेदान्त वाक्य के अनुसार ही सूत्रार्थ करना चाहिए। अन्यथा उन दोनों में विषय-विषयिभाव की उपपत्ति नहीं होगी। श्रवण तथा मनन का निदिध्यासन के उपाय रूप में विनियोग होने से उन दोनों में परम्परया मोक्ष साधनत्व है अर्थात् श्रवण-मनन द्वारा मोक्ष साधन निदिध्यास (ध्यान) करके भगवान् का साक्षात्कार होता है, तदन्तर मुक्ति होती है, इस प्रकार परम्परया श्रवण-मनन का मुक्ति में उपयोग होता है, यह भाव है। इसी बात को स्पष्टतया कहते हैं- 'तत्र वेदान्तवाक्यानामित्यादि' अर्थात् वेदान्त-वाक्यों में भगवत् स्वरूप, गुणादि परत्व का निश्चय करके तत् प्रतिपाद्य (वेदान्त-प्रतिपाद्य) ध्येय स्वरूप आदि का साक्षात्कार करने वाले आचार्यश्री के मुख से उनके द्वारा अनुभूत वाक्यार्थ के ग्रहण को श्रवण कहते हैं और गुरुमुख से श्रुत उपदिष्ट अर्थ को

अपने अनुभव का विषय बनाने के लिए शास्त्र की अनुकूल युक्तियों से विचार विशेष का नाम मनन है तथा मनन विषयीभूत अर्थ के साक्षात्कार के असाधारण साधन- अनवरतरत ध्यान को निदिध्यासन कहते हैं। इस प्रकार उक्त स्वरूप श्रवण-मननादि से साध्य निदिध्यासन के अत्यन्त अप्राप्त होने के कारण यह (निदिध्यासन) अपूर्व विधि ही है, ऐसा समझना चाहिए। दूसरा वाक्य है- "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इन दोनों वाक्यों में दो तत् शब्द हैं, ये दोनों तत् शब्द पूर्वोक्त वाक्य- 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः' इस श्रुतिवाक्य-घटक आत्म-पदार्थ-बोधक है। 'विजिज्ञासितव्यः' इस वाक्य में उक्त ध्यानात्मक ज्ञान के मोक्ष के अन्तरङ्ग उपाय होने के कारण विधेयत्व है और 'अन्वेष्टव्य' श्रुति द्वारा प्रतिपादित श्रवण मननात्मक अन्वेषण का निदिध्यासन के साधन रूप में विनियोग है। 'भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः' इस श्रुति में प्रतिपादित 'भूमा' शब्द की व्याख्या 'भूमा सम्प्रसादादधुयदेशात्' (ब्रह्म) सूत्र की व्याख्या के अवसर पर करेंगे। 'भूमैव-सुखम्' इस वाक्य में भूमा शब्द ब्रह्म पर्यायी है तथा सुख शब्द आनन्द पर्यायी है, क्योंकि 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि लक्षण-वाक्य प्रमाण हैं।

एवं निर्वचनमुखेन जिज्ञास्यं व्युत्पादितं तस्य किं लक्षणामित्यपेक्षायामाह—

जन्माद्यस्य यतः १।१।२।

अस्येति शब्दः कार्यपरः । यत इति कारणपरः । जन्मादिर्यस्य तदिदं जन्मादि सृष्टिस्थितिलयमोक्षम् । तद्‌गुणासम्विज्ञानो बहुब्रीहिः । लम्बकर्णमानयेतिवत् । यतः सर्वेश्वरात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः परमकारणात्सर्वनियन्तुर्भगवतः श्रीपुरुषोत्तमादस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य विविधविभक्तभोक्तृभोग्यसंयुक्तस्य नियतदेशकालफ-लोपभोगाश्रयभूतस्य तर्कागोचररचनस्य जन्मस्थितिलयमोक्षाः प्रवर्त्तन्ते तदेव ब्रह्म जिज्ञास्य-मिति वाक्यार्थः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । "भृगुर्वै वरूणं पितरमुपससार, अधीहि भगवो ब्रह्मे' त्युपक्रम्य "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यमिसंविशन्ति" "तद्विजिज्ञासस्व तद्‌ब्रह्म" 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतेः। जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे सति सत्यत्वादिमत्वं ब्रह्मणो लक्षणम् । नचोपादानाभिन्ननिमित्तस्य कारणत्वं कुत्रापि न दृश्यत इति वाच्यम्। घटेशसंयोगजीव-गतज्ञानादौ ईशजीव- योस्तथात्वदर्शनात् । ब्रह्म जगदभिन्ननिमित्तोपादानं भवितुमर्हति तादृशशक्तिमत्वात् । जीवगतज्ञानादिकार्ये जीववत् घटेश्वरसंयोगादिकार्ये ईश्वरवदित्य-नुमानात्।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब सूत्र के पदार्थो की व्याख्या करते हैं– 'अस्येति' सूत्र में 'अस्य' शब्द कार्यपरक है, 'यतः' शब्द कारणवाची है। अब जन्मादि का विग्रह करते हैं– 'जन्म आदिर्यस्य तदिदं जन्मादि सृष्टि स्थिति लयमोक्षम् (इदं पद के सान्निध्य से जन्मादि समस्त पद नपुंसक का एकवचन है। यह भाव प्रकट किया है। इससे उसमें द्विवचनान्ता का परिहार किया है। अन्यथा 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यं' से प्रगृह्य संज्ञा करके 'प्लुत प्रगृह्या' स प्रकृति भाव की आपत्ति होती। समासार्थ है– 'सृष्टिस्थितिलयमोक्षम्' यहाँ तद्‌गुण संविज्ञान बहुब्रीहि है– (तस्य वृत्ति घटक पदार्थस्य गुणाः क्रियान्वयित्वं संविज्ञायते यस्मिन् स तद्‌गुण संविज्ञानो बहुब्रीहिः) जैसे लम्बकर्णमानय यहाँ लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः। यहाँ अन्य पदार्थ पुरुष है। उक्त वाक्य में आनयन क्रिया में पुरुष के साथ कर्ण का भी अन्वय होता है। अर्थात् कर्णसहित पुरुष का आनयन होता है, कर्णरहित का नहीं। यत् माने जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वनियन्ता [1]अभिन्न निमित्तोपादान परम कारण भगवान् श्रीपुरुषोत्तम से, इस नाम रूप से व्याकृत अनेकविध विभक्त भोक्ता एवं भोग्य पदार्थो से संयुक्त नियत देशकाल, फल–उपभोग के आश्रयभूत तर्क के अगोचर रचना से युक्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति, लय एवं मोक्ष आदि

---

१. अभिन्न–निमित्तोपादान कारणत्व का 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्' सूत्र की व्याख्या में समर्थन किया जायगा। (सं)

कार्य सम्पन्न होते हैं, वही ब्रह्म है, वही यहाँ जिज्ञास्य है। यहाँ तत् शब्द के अध्याहार में क्या मान है? इस पर कहते हैं- 'यत्तदोरिति अर्थात् यत्-तत् पद का नित्य सम्बन्ध है। इस अर्थ में अप्रामाण्य की आशंका पर कहते हैं- 'भृगुर्वै वरुणं" अर्थात् वरुण के सुत भृगु अपने पिता वरुण के समीप जाकर बोले- "हे प्रभो! आप मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए, इस प्रकार मन्त्रपूर्वक शरणापन्न होकर ब्रह्मोपदेश की प्रार्थना की, तब वरुण ने कहा- "यतो वा इमानि" अर्थात् जिससे महत् आदि तृणान्त भूत उत्पन्न होते हैं।" जिनके द्वारा जीवित रहते हैं, जिनमें सबका लय होता है तथा समस्त कर्मों के ध्वंस होने के अनन्तर जिनको प्राप्त कर जीव मोक्ष प्राप्त करता है, वह ब्रह्म है। उसे जानने की इच्छा करो। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (वह सत्य है, ज्ञान स्वरूप है तथा अनन्त है) इस प्रकार जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण होते हुए जो सत्य, ज्ञान एवं अनन्त स्वरूप है, वह ब्रह्म है, यह ब्रह्म का लक्षण है। यदि कहें कि ईश्वर का अभिन्न निमित्तोपादान-कारणत्व कहीं नहीं देखा गया है फिर ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कैसे हो सकता है? तो कहते हैं कि घट ईश्वर संयोग तथा जीवगत ज्ञानादि में ईश्वर एवं जीव का अभिन्न निमित्तोपादान कारणत्व देखा गया है। (तार्किकों के मत में घट तथा ईश्वर-संयोगरूप कार्य के प्रति ईश्वर में समवायिकारणत्व तथा कार्यमात्र के प्रति ईश्वर के निमित्त कारण होने से अभिन्न-निमित्तोपादानत्व दृष्टिगत होने से अत्यन्ताप्रसिद्धि नहीं है। इसी तरह जीव स्वगत ज्ञान, चिकीर्षा तथा प्रयत्न आदि शास्त्राभ्यास आदि के द्वार स्वयं करता है" अतः उसके प्रति निमित्त कारण तथा स्वज्ञानादि के प्रति समवायिकारण भ। होता है।) अब अनुमान के द्वारा अभिन्न निमित्तोपादानत्व की सिद्धि करते हैं- 'ब्रह्मेति' ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान हो सकता है, क्योंकि उसमें उस प्रकार की विलक्षण शक्ति है— जैसे जीवगत ज्ञानादि कार्य में जीव तथा घटेश्वर संयोगादि कार्य में ईश्वर। इस अनुमान से ईश्वर में अभिन्न-निमित्तोपादानत्व की सिद्धि हो सकती है।

परमते तु लक्षणमसम्भवि पूर्ववद्विकल्पासहत्वात्। ननु लक्षणं द्विविधं स्वरूपतटस्थभेदात् तत्र स्वरूपाभिन्नं लक्षणं प्रथमं यथा सत्यं ज्ञानमित्यादिकम्। यावल्लक्ष्यमनवस्थितत्वे सति व्यावर्त्तकं तटस्थलक्षणं यथा "यतो वा इमानी" त्यादिश्रुत्युक्तकारणत्वस्य प्रलयेऽननुगतत्वे सतीतरव्यावर्त्तकत्वाल्लक्षणसमन्वयः इतिचेन्नैवमसम्भवात् तथाहि न तावत्स्वरूपलक्षणोक्तिरुपपत्तिमती असाधारणधर्मस्यैव सर्वसम्मतलक्षणत्वात् । न स्वरूपमात्रस्यान्यथा स्वरूपस्यैव व्यावर्त्तकत्वे लक्षणोक्तेरेव वैयर्थ्यात्, स्वरूपस्य व्यावर्त्तकत्वादर्शनाच्च। ननु स्वरूपस्यैव धर्मधर्मिभावकल्पनया लक्षणत्वाङ्गीकारे नोक्तदोषः । "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवाभासन्ते" इत्यभियुक्तोक्तेरिति चेन्न। कल्पितस्य व्यावर्त्तकत्वासम्भवादन्यथा यूपे कल्पितादित्यस्याप्यसूर्य्याद्यावर्त्तकत्वापत्तिः। किञ्च, सत्यादिशब्दा यौगिका रुढा वा? आद्ये यौगिकस्य प्रकृतिप्रत्ययार्थपरत्वेन निर्विशेष-त्वहानेः । द्वितीये रुढानां गुणजात्याद्यनेकधर्मवद्वस्तुपरत्वनियमेन निर्विशेषपरत्वायोगात्।

ननु सत्यादिपदानां सविशेषपरत्वेऽपि लक्षणया निर्विशेषपरत्वान्नोक्तदोषावकाश इति चेन्न। लक्षणाऽसम्भवात् । तथाहिजहत्स्वार्थापक्षे यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहरूपशक्यत्यागेनाऽगङ्गादिरूपस्तीरादिर्वाक्यार्थस्तथा प्रकृतेऽपि सत्यादिपदार्थायोगेनाऽसत्यजडपरिच्छिन्नरूपो वाक्यार्थः स्यात्। अजहत्स्वार्थापक्षे शोणो धावतीत्यादिशक्यवद्विशिष्टार्थत्वापत्तिः । भागत्यागलक्षणापक्षे निर्विशेषमात्राङ्गीकारे सत्यादीनां कोवाऽर्थ इत्यद्याप्यनिश्चयात्सत्यत्वादिधर्मत्यागेऽपि सच्चिदपरिच्छिन्नं ब्रह्मेति त्रैविध्यस्यावश्यं भावान्निर्विशेषाऽद्वितीयत्वभङ्गः । सर्वेषामेकार्थत्वाङ्गीकारे पर्य्यायत्वापत्तिस्तथात्वाभ्युपगमे चैकपदेनैवार्थसिद्धौ पदान्तरवैयर्थ्यञ्च। किञ्च शब्दैकांशार्थत्वाङ्गीकारे सर्वांशवाचकता सम्बन्धाभावेऽपि तदंशवाचकतासम्बन्धस्याऽकामेनापि त्वया स्वीकार्यत्वान्निर्विशेषत्वहानिस्तथात्वे मिथ्यात्वापत्तिः निर्वेशेषं वस्तु मिथ्या शक्यैकदेशत्वात्तव मते घटत्वादिवदिति प्रयोगात् । ननु सत्यत्वादिविशिष्टवाचिपदानां शुद्धे लक्षणाङ्गीकारान्न पर्य्यायत्वापत्त्यादिदोषावकाश इति चेन्न अनृताऽस्वप्रकाशपरिच्छिन्नरूपे सविशेषे सत्यत्वादेरयोगात्। योगेवा तस्यैवानृतादिव्यावृत्तत्वं स्यान्नशुद्धस्य तस्मात्सत्यत्वादीनां शुद्धादन्यत्रासम्भवाद्वाक्यस्य लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे च शुद्धे तदसिद्धेः पर्य्यायत्वप्रसङ्गः पदान्तरवैयर्थ्यस्य तादवस्थ्यमेव।

(हिन्दी-अनुवाद)

पर मत में ईश्वर का लक्षण असंभव है- क्योंकि यहाँ भी पूर्व की भाँति विकल्प करने पर उसका उत्तर असंभव है। यदि कहें कि लक्षण दो तरह के होते हैं- स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण। इनमें स्वरूप से अभिन्न लक्षण स्वरूप-लक्षण कहलाता है- जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि यह स्वरूप लक्षण है। जो धर्म लक्ष्य-पर्यन्त न रहकर व्यावर्तक होता है। वह तटस्थ लक्षण होता है- जैसे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादि यह श्रुत्युक्त कारणत्व रूप लक्षण प्रलय दशा में अननुगत होकर व्यावर्तक है, इस प्रकार हमारे मत में लक्षण समन्वय है तो ऐसा नहीं कह सकते- आपके मत में लक्षण असंभव है, क्योंकि पहले स्वरूप लक्षण की उपपत्ति नहीं हो सकती, कारण [1]असाधारण धर्म ही सर्वसम्मत लक्षण का लक्षण होता है, स्वरूप मात्र नहीं। अन्यथा स्वरूप ही यदि व्यावर्तक होता तो लक्षण का कथन ही व्यर्थ हो जायगा। दूसरी बात स्वरूप कहीं भी व्यावर्तक नहीं देखा गया है। यदि कहें कि स्वरूप में ही धर्म-धर्मिभाव की कल्पना करके लक्षण मान लें तो क्या हानि है? तो इस पर कहते हैं— क्योंकि '[2]आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्माः अपृक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवाभासन्ते' ऐसा श्रेष्ठ पुरुषों का वचन है। तो ऐसा नहं ह सकते, क्योंकि कल्पित धर्म व्यावर्तक नहीं होते हैं। (आपके मत में ब्रह्म में पारमार्थिक सत्यत्व आदि नहीं

---

१. तन्मात्रवृत्ति धर्म

2. यह पञ्चपादिकाचार्य का वचन है।

माने गये हैं, क्योंकि तब आपका निर्विशेष चिन्मात्र वाद का भङ्ग हो जायगा, बल्कि कल्पित हैं जो व्यावर्तक नहीं हो सकते, क्योंकि लक्षण के लक्षण में पारमार्थिक असाधारण धर्म ही स्वीकार किया गया है।) यदि कल्पित धर्म को व्यावर्तक मानें तो [1]यूप में कल्पित आदित्य में भी सूर्य से इतर का व्यावर्तकत्व हो जायगा, पर ऐसा होता नहीं है, इसलिए स्वरूप में धर्म-धर्मिभाव की कल्पना संभव नहीं है। दूसरी बात सत्य आदि पद यौगिक हैं या रूढ़? प्रथम पक्ष मानने पर यौगिक शब्द प्रकृति प्रत्ययार्थपरक होने से ब्रह्म में निर्विशेषत्व की हानि होगी। द्वितीय पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि रूढ़ शब्दों में गुण, जाति आदि अनेक धर्म विशिष्ट वस्तु परकत्व का नियम होने से वे शब्द निर्विशेषपरक नहीं हो सकते। यदि कहें कि सत्य आदि शब्दसविशेषपरक होने पर भी लक्षणा द्वारा निर्विशेषपरक माने जायँगे तो ऐसा भी नहीं कह सकते। यहाँ लक्षणा संभव नहीं है, क्योंकि लक्षणा तीन प्रकार की होती है- जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहत्-अजहत् लक्षणा। जहाँ शक्यार्थ का परित्याग कर अर्थान्तर की प्रतीति होती है, उसे जहल्लक्षणा कहते हैं, जहाँ शक्य अर्थ के साथ-साथ अर्थान्तर की प्रतीति होती है,उसे अजहल्लक्षणा तथा जहाँ विशिष्ट वाचक शब्द स्वार्थ एक देश का परित्याग कर केवल एक देश का बोधक होता है, उसे जहत्-अजहत्-लक्षणा कहते हैं। जैसे जहत् स्वार्थापक्ष में 'गङ्गायां-घोष' इस स्थल में लक्षणा से प्रवाह-रूप शक्यार्थ का परित्याग कर गङ्गार्थ भिन्न तीर अर्थ का बोध होता है। उसी प्रकार सत्य पदार्थ का परित्याग कर असत्य, जड़ तथा परिच्छिन्न रूप वाक्यार्थ होगा। अजहत्स्वार्था पक्ष में शोणो-धावति की तरह शक्यार्थ की तरह विशिष्ट अर्थ का बोधक होगा। भागत्याग लक्षणा पक्ष में निर्विशेष मात्र अर्थ अङ्गीकार करने पर सत्य आदि पदों का क्या अर्थ होगा, इसका आजतक कोई भी निश्चय नहीं है। सत्यत्व आदि धर्मों के त्याग करने पर भी वह ब्रह्म सत्-चित् अपरिच्छिन्न है, ऐसी त्रिविधता अवश्यंभावी होने से निर्विशेष अद्वितीयत्ववाद का भङ्ग होगा। सत्य आदि तीनों पदों का एक अर्थ (निर्विशेष चित्) मानने पर इनमें पर्यायता की आपत्ति होगी। यदि पर्यायता स्वीकार करते हैं तो एक पद से ही अर्थ की सिद्धि होने से पदान्तर (ज्ञानादि) का वैयर्थ्य होगा। (अनेक पदों में भी अन्य सापेक्ष होने के कारण एक परकत्व घटित होता है, इसलिए पर्यायतापत्ति रूप दोष नहीं होगा। जैसे एक ही पुरुष में पितृत्व, भ्रातृत्व तथा पुत्रत्व आदि धर्म होने से उसके लिए तदुपयोगी पुत्र, भ्रातृ तथा पितृ आदि शब्दों की अपेक्षा के कारण प्रतिपादन देखा जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी असत्यवत्, अज्ञानवत् तथा अनन्तवद् वस्तु की आपत्ति नहीं होगी, इसलिए कहते हैं) 'किञ्च' अर्थात् शब्द के एक अंश को ही अर्थ (प्रतिपाद्य) मानने पर सर्वांश निरूपित वाचकता का सम्बन्ध अनिच्छा से भी आपको मानना पड़ेगा। फिर तो निर्विशेषत्व की हानि होगी ही और निर्विशेष होने पर उसमें मिथ्यात्व की

---

१. आदित्यो यूपः।

आपत्ति होगी; क्योंकि निर्विशेषं वस्तु मिथ्या शक्यैक देशत्वात् तब मते घटत्वादिवत् अर्थात् निर्विशेष वस्तु मिथ्या है, क्योंकि वह शक्य का एक देश है आपके मत में घटत्व आदि की तरह। यदि कहें कि सत्यत्व आदि विशिष्ट अर्थ वाचक पदों की शुद्ध ब्रह्म में लक्षणा मान लेंगे, फिर तो पर्यायतापत्ति नहीं होगी, तो कहते हैं- ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनृत, अस्वप्रकाश तथा परिच्छिन्न सविशेष तत्त्व में सत्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता है। योग मानने पर शबल में भी अनृत आदि से व्यावृतत्त्व होगा शुद्ध का नहीं। इसलिए सत्यत्व आदि का शुद्ध ब्रह्म से अन्यत्र संभव नहीं है। लक्षणा करके वाक्य को अखण्डार्थ मानने पर शुद्ध ब्रह्म में उसकी सिद्धि नहीं होगी, फिर तो पर्यायिता का प्रसङ्ग हो जायगा और पदान्तरका वैयर्थ्य भी होगा ही।

किंच सत्यादिपदलक्ष्यं पदान्तरवाच्यं नवा। आद्ये सविशेषत्वस्यावश्यंभावः। द्वितीये लक्ष्यत्वासिद्धिः । लक्ष्यत्ववाच्यत्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात् । यत्र वाच्यत्वं तत्र लक्ष्यत्वं यथा गङ्गापदलक्ष्यस्य तीरशब्दवाच्यत्वं यन्नैवं तन्नैवं खपुष्पादिवदित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां लक्ष्यत्वासिद्धिः। ननु सत्यादयः शब्दा असत्यादिव्यवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्य्यवस्यन्तीति चेन्न। ब्रह्मस्वरूपमात्रस्य श्रुतिं विनापि प्रागेवाविद्याधिष्ठानतया ज्ञातस्य पुनरपि "ब्रह्मविदाप्नोति पर" मित्यादिवाक्येन च सत्यादिशब्दैः सत्यत्वादिविशिष्टतया व्यावृत्तिविशिष्टतया च ज्ञातत्वेन तज्ज्ञानस्य व्यावृत्तिज्ञानसाध्यत्वायोगात् । व्यावृत्तिज्ञानस्यैव धर्मिज्ञानसाध यत्वेन विपरीतत्वापाताच्च। किञ्च, व्यावृत्तयः सत्या मिथ्या वा आद्ये व्यावर्तकानामपि सत्यत्वापत्तेः। व्यावहारिकैर्व्यावर्तकैः पारमार्थिकव्यावृत्त्यसिद्धेः। किञ्च, व्यावृत्तिविशिष्टा- पत्त्याऽद्वैतभङ्गस्सविशेषत्वापत्तिश्च । द्वितीयेऽसतस्तुच्छस्य शशश्रृङ्गादेरिव व्यावृत्तित्वाऽ- सम्भवः। तुच्छस्य यदि स्वयं किञ्चित्पदार्थत्वं स्यात्तर्हि भेदकत्वमपि स्यात् तत्तु नास्त्येव । नच व्यावृत्तिः स्वरूपमेवेति वाच्यं स्वरूपस्य व्यावर्तकत्वाभावात् व्यावर्तकत्वे च व्यावृत्त्यङ्गीकारस्य वैयर्थ्यम्। तथात्वेसविशेषापत्तिर्दुर्वारा। अभेदे सति भेदनिर्वाहकत्वं व्यावर्तकत्वमिति लक्षणस्य समन्वयात् । किञ्च, व्यावर्त्यमसदादिशब्दवाच्यं सद्विलक्षणमसद्विलक्षणम्वा आद्ये सद्विलक्षणस्य वस्तुत्वेऽद्वैतभङ्गोऽवस्तुत्वे व्यावृत्तिवैयर्थ्यम्। द्वितीये ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः । व्यावृतव्यावर्त्ययोरैक्यापत्तिश्च । किञ्च, व्यावृत्तयो ब्रह्मणो भिन्ना अभिन्ना वा आद्ये द्वैतापत्तिः। व्यावृतिर्ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यापत्तिः। किञ्च व्यावृत्तिर्ब्रह्मणि कल्पिता यथार्था वा । नाद्यः कल्पिते व्यावर्त्तकत्वासम्भवस्योक्तत्वात्। द्वितीयेऽद्वैतसिद्धान्तभङ्गः। इत्यलं विस्तरेण । किञ्च, सत्यादेर्विशेष्यमात्रपरत्वे वाक्यस्योद्देश्यविधेयविभागाभावेन यत्किंचिदित्येव बोधनाद् बुभुत्सानुपरमापत्तिः सामान्यस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात् । विशेषस्या नङ्गीकाराच्च। एवंच सत्यादिवाक्यानामखण्डार्थनिष्ठ- त्वोक्तिर्भ्रान्तिविजृम्भितैव तस्मात्स्वरूपलक्षणं सर्वथाप्यसिद्धमेव।

।। इति स्वरूपलक्षणानुपपत्तिः।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात— सत्य आदि पदों का लक्ष्य-भूत अर्थ पदान्तर वाच्य है या नहीं? प्रथम पक्ष मानने पर सविशेषत्व अवश्य होगा। पदान्तर वाच्य न मानने पर लक्ष्यता की सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि लक्ष्यत्व वाच्यत्व में सामानाधिकरण्य का नियम है- जहाँ वाच्यत्व होता है, वहाँ लक्ष्यत्व होता है। जैसे गङ्गापदलक्ष्य तीर में तीर शब्द वाच्यत्व होता है, जो ऐसा नहीं होता, वह लक्ष्य नहीं होता जैसे खपुष्प आदि। इस अन्वय-व्यतिरेक से सत्य आदि पदों का लक्ष्यार्थ सिद्ध नहीं होगा। यदि कहें कि सत्य आदि शब्द असत्य आदि पदार्थों की व्यावृत्ति द्वारा लक्ष्य ब्रह्म में पर्यवसित होते हैं, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप मात्र का ज्ञान श्रुति के बिना भी पहले ही अविद्या के अधिष्ठान रूप में ज्ञात है, उसे फिर भी 'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' इत्यादि वाक्यों द्वारा सत्य आदि शब्दों से सत्यत्व आदि विशिष्ट रूप में तथा व्यावृत्ति विशिष्ट रूप में ज्ञात होने से उसके ज्ञान में व्यावृत्ति ज्ञान से साध्यत्व नहीं है। बल्कि व्यावृत्ति ज्ञान ही धर्मीज्ञान साध्य होने से उसमें विपरीतता का दोष लगेगा। दूसरी बात हम यदि यहाँ विकल्प करें कि व्यावृत्तियाँ सत्य हैं या मिथ्या? तो यहाँ प्रथम कल्प में व्यावर्तकों में भी सत्यता की आपत्ति होगी, क्योंकि व्यावहारिक व्यावर्तकों द्वारा पारमार्थिक व्यावृत्ति की सिद्धि नहीं होती। अपितु व्यावृत्ति विशिष्ट की आपत्ति से अद्वैत सिद्धान्त का भङ्ग होगा तथा सविशेषत्व दोष भी लगेगा। द्वितीय पक्ष में तुच्छ असत् पदार्थ शशश्रृङ्ग आदि की तरह व्यावर्तकत्व नहीं होगा। तुच्छ भी यदि कोई पदार्थ होता तो उसमें भेदकत्व भी होता, ऐसा तो नहीं होता। यदि कहें कि व्यावृत्ति ब्रह्म स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं है, किन्तु ब्रह्म स्वरूप ही व्यावर्तक है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि स्वरूप व्यावर्तक नहीं होता। व्यावर्तक मानने पर व्यावृत्ति का अङ्गीकार ही व्यर्थ हो जायगा और ऐसा मानने पर सविशेषापत्ति को कोई नहीं गिरा सकता। अभेद होकर जो भेद का निर्वाहक होता है, वह व्यावर्तक होता है, इस लक्षण का समन्वय है और हम पूछते हैं कि असद् आदि शब्दों का वाच्य व्यावर्त्य सद् विलक्षण है या असद् विलक्षण? प्रथम पक्ष में सद् विलक्षण को वस्तु मानने पर अद्वैत भङ्ग, अवस्तु मानने पर व्यावृत्ति का वैयर्थ्य। द्वितीय पक्ष मानने पर ब्रह्म में, अतिव्याप्ति होगी और व्यावृत्त एवं व्यावर्त्य में ऐक्य की आपत्ति होगी। दूसरी बात- व्यावृत्ति ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? प्रथम पक्ष में द्वैत की आपत्ति होती है- दूसरा दोष व्यावृत्ति ही ब्रह्म है- ऐसे समानाधिकरण्य की आपत्ति भी होगी। इसी प्रकार हम पूछेंगे कि व्यावृत्ति ब्रह्म में कल्पित है या यथार्थ? पहली बात नहीं कह सकते। कल्पित वस्तु में व्यावर्तकत्व संभव नहीं है, द्वितीय पक्ष में अद्वैत सिद्धान्त भङ्ग होगा और सत्य आदि पदों को केवल विशेष मात्र परक मानने पर वाक्य में उद्देश्य-विधेय विभाग का अभाव होने से यत्किञ्चित् वस्तु एतावन्मात्र अर्थ-बोधन के कारण जिज्ञासा की शान्ति नहीं होगी। सामान्य रूप में तो वह पहले से ही ज्ञात है- सविशेष रूप स्वीकार नहीं किया जाता है। इस प्रकार सत्य आदि वाक्य अखण्ड अर्थ में विद्यमान हैं, यह कथन सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। इसलिए परमत में

स्वरूप-लक्षण सर्वथा असंभव ही है। इस प्रकार स्वरूप-लक्षण की अनुपपत्ति बताई गई।[1]

।।इस प्रकार स्वरूप-लक्षण की अनुपपत्ति बताई गई है।।

अथ तटस्थलक्षणखण्डनम्

नापि द्वितीयलक्षणं वक्तुं शक्यं, तस्यापि सविशेष एव वस्तुनि समन्वेतुमर्हत्वात्। तैश्च ब्रह्मणो निर्विशेषत्वाङ्गीकारात्। तस्य लक्ष्यत्वयोगे सुतरां सविशेषत्वापत्तिरिति सङ्क्षेपः। किञ्च कीदृग् ब्रह्म श्रीमद्भिर्जगत्कारणत्वेनाभिप्रेयते। शुद्धं चिन्मात्रं वाऽविद्योपहितं वा तदध्यासाश्रयं वा। आद्ये शुद्धशब्देन "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्त्तत" इत्युक्तो भगवान् महाविभूतिर्विवक्षितः सर्वविशेषहीनोऽखिलप्रमाणशून्यो निर्विशेषो वा। नाद्योऽनङ्गीकारात्। अन्यथाऽपसिद्धान्तापत्तेरस्मत्पक्षप्रवेशाच्च। न द्वितीयः सर्वशून्यस्य श्रुत्युक्ते क्षणबहुभवनसङ्कल्पाद्यनुपपत्तेः। सर्वप्रमाणशून्यस्यावस्तुत्वात् । नाप्युपहितं ब्रह्म कारणमसम्भवात्। तथाहि उपहितं बिम्बरूपं प्रतिविम्बरूपम्वा कारणत्वेनाभिमतम्। आद्ये ग्रीवास्थमुखस्य दर्पणप्रदेश इव बिम्बरूपचेतनस्य परमेश्वरस्य जीवप्रदेशे व्याप्त्यभावात्सर्वान्तर्यामित्वानुपपत्तेः। द्वितीयेऽप्यविद्याकृतदोषा जीव इव जगत्कारणे परमेश्वरेऽपिस्युरुपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वनियमादिति सङ्क्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

।। तटस्थ लक्षण का खण्डन ।।

'यावल्लक्ष्यमनवस्थितत्वे सति व्यावर्तकम्' यह लक्षण भी परमत में संभव नहीं है, क्योंकि यह लक्षण भी सविशेष वस्तु में ही समन्वय हो सकता है और मायावादियों ने ब्रह्म को निर्विशेष ही स्वीकार किया है। उसे लक्ष्य मानने पर सविशेषत्वापत्ति होगी। हम पूछते हैं कि कैसा ब्रह्म आप जगत्-कारण के रूप में स्वीकार करते हैं, शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म जगत् कारण है, या अविद्या से उपहित ब्रह्म अथवा अविद्याजनित अध्यास के आश्रय ब्रह्म? शुद्ध में भी "शुद्धे महाविभूत्याख्ये परे ब्रह्मणि वर्तते" इस विष्णुपुराण वाक्य में वर्णित भगवान् महाविभूति विवक्षित हैं अथवा सर्वविशेषहीन अखिल प्रमाण शून्य निर्विशेष ब्रह्म विवक्षित है? आद्यपक्ष

---

१. वस्तुतः ब्रह्म को निर्धर्म मानने पर उसका कोई लक्षण नहीं हो सकता, वह जिज्ञास्य नहीं हो सकता, विषय नहीं हो सकता, इत्यादि विषयों का इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन है। वस्तुतः मायावादिमत में ब्रह्म का जैसा स्वरूप बताया जाता है, जिसमें कहा जाता है, उसका कोई रूप नहीं, आकार नहीं। उसमें कोई धर्म नहीं, शक्ति नहीं, इससे तो स्पष्ट शून्यवाद प्रतीत होता है। इसीलिए सभी वैष्णवाचार्यो ने इसे प्रच्छन्न बौद्धवाद कहा है। 'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते' यह प० पुराणोक्त वचन अति प्राचीनकाल से वै० आचार्य लोग उद्धृत करते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में अभी कुछ दिन पहले ही केशव जी गौड़ीय मठ, मथुरा से प्रकाशित 'मायावाद की जीवनी' नाम की पुस्तक देखने योग्य है। इसमें मायावाद की धज्जियाँ उड़ा दी गई हैं। (सं)

नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में शुद्ध महाविभूति पुरुषोत्तम जगत्कारण मान्य नहीं हैं। अन्यथा अपसिद्धान्त होगा तथा हमारा पक्ष आ जायगा। दूसरा निर्विशेष वाला पक्ष भी नहीं संभव है, क्योंकि सर्वधर्म शून्य चिन्मात्र ब्रह्म में श्रुति-प्रतिपादित ईक्षण (तदैक्षत) तथा बहुभवन (बहु स्याम्) संकल्प आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती एवं सर्वप्रमाण शून्य तत्त्व कोई वस्तु नहीं हो सकता। न ही मायोपहित ब्रह्म ही कारण संभव है, क्योंकि उपहित बिम्बरूप कारण है या प्रतिबिम्ब रूप ऐसा विकल्प करने पर कोई उत्तर आप नहीं दे सकते- क्योंकि विभिन्न देश में स्थित उपहित (बिम्ब) तथा उपाधि में बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव देखा जाता है, इस नियम के अनुसार प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि ग्रीवा में अवस्थित मुख का दर्पण प्रदेश में प्रतिबिम्ब की तरह बिम्बरूप चेतन परमेश्वर का जीव प्रदेश में व्याप्ति का अभाव होने से सर्वान्तर्यामित्व की उपपत्ति नहीं होगी। (फिर कारण कैसे हो सकता है, प्रतिबिम्ब वाला दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस पक्ष में अविद्या प्रतिबिम्बित चेतन कारण पक्ष में) यहाँ माया को ही अविद्या कहा गया है।

जैसे अविद्याकृत दोष जीव में आते हैं, उसी तरह जगत् कारण परमेश्वर में भी दोष आ जायेंगे, क्योंकि उपाधि में प्रतिबिम्बपक्ष-पातित्व का नियम माना जाता है।

नापि चरमः निर्विशेषस्वप्रकाशात्मके ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मण्यविद्याश्रयस्य सूर्ये तमस इवात्यन्तविरुद्धत्वादध्यासासिद्धेः पूर्वमेवोक्तत्वात्तदसिद्ध्याऽध्यासस्य सुतरामसिद्धिः। किञ्च कोवा परमेश्वरः मायावच्छिन्नचेतन इति चेन्न। भ्रान्तिमत्वप्रसङ्गात् 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादिश्रुतिव्याकोपाच्च। नच मायावच्छिन्नविषयिकैव सार्वज्ञ्यादिश्रुतिः शुद्धे धर्मत्वायोगादिति वाच्यम्। बालभाषितत्वात् । मायावच्छिन्नस्य भ्रान्तस्य सार्वज्ञ्यादियोगमनुन्मत्तः को ब्रूयात्। नच 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरमि'ति श्रुतिरेव मायित्वं वदतीति वाच्यम्, मायित्वं मायानियन्तृत्वमितिश्रुते-र्विवक्षितत्वात्। तच्च सार्वज्ञ्याद्यचिन्त्यानन्तस्वाभाविकशक्तयाश्रयस्य महाविभूत्याख्यस्य शुद्धस्यैव साधारणो धर्मो नान्यस्य पारिभाषिकशुद्धस्य मायावच्छिन्नस्य वा निर्विशेषस्येक्षणबहुभवनसङ्कल्पाद्यसम्भवात् । मायावच्छिन्नस्य भ्रान्तियोगादिति सङ्क्षेपः। तस्मादचिन्त्यानन्तस्वाभाविकासङ्ख्येयसद्गुणगणसागरो भगवांच्छ्रीपुरुषोत्तम एव जगतोऽभिन्ननिमित्तोपादानकारणं तत्रैव लक्षणस्य समन्वय इति राद्धान्तः। प्रथम विषयवाक्यार्थः सूत्रार्थेनैवोक्तः।

(हिन्दी-अनुवाद)

अन्तिम (अज्ञान के आश्रय अथवा अज्ञान-जनित अध्यास के आश्रय ब्रह्म कारणवाद वाला) पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि निर्विशेष स्वप्रकाशात्मक ज्ञान स्वरूप ब्रह्म में अविद्याश्रय की कल्पना सूर्य में अन्धकार की तरह अत्यन्त विरुद्ध होने के कारण अध्यास की सिद्धि असंभव है, यह बात पूर्व में ही कह दी गई है- इसलिए उसकी असिद्धि के कारण अध्यास की स्वयं असिद्धि है। अब पूछते हैं कि आपके मत में जगत् कारण परमेश्वर कौन

है? यदि कहें कि मायावच्छिन्न चेतन परमेश्वर है, तो ऐसा नहीं कह सकते, तब वह भ्रान्त होगा, क्योंकि जो माया से आविष्ट होता है, वह भ्रान्त होता है फिर तो 'यः सर्वज्ञ स सर्ववित् सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुतियों का भी विरोध होगा; क्योंकि ये श्रुतियाँ ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वविद् बताती हैं और आप उसे माया (अविद्यासे) आविष्ट बताते हैं। यदि कहें कि हमारे मत में (मायावादी मत में) सार्वज्ञ्यादि श्रुति या मायावच्छिन्न चेतन परक ही है, क्योंकि शुद्ध में हम कोई धर्म नहीं मानते, तो यह तो बच्चों को फुसलाने की बात है, यह कोई निरा मूर्ख बच्चा कह सकता है कि परमेश्वर माया से अविद्याग्रस्त है और सर्वज्ञ है। मायाविष्ट भ्रान्त को परमेश्वर मानना और फिर उसे सर्वज्ञ मानना कोई उन्मत्त ही ऐसा कह सकता है। यदि कहें कि 'मायांतु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्' यह श्रुति ही ईश्वर को मायी कहती है, तो उसका उत्तर देते हैं कि इस श्रुति का तात्पर्य है कि ईश्वर माया 'प्रकृति का नियन्ता है, न कि मायाधीन। माया नियन्तृत्व सार्वज्ञ्य आदि अनन्त-अचिन्त्य स्वाभाविक कल्याण गुण-गण-निलय तथा अनन्तानन्त स्वाभाविक शक्तियों के आश्रय महाविभूति नामक (विष्णुपुराणोक्त) शुद्ध (सर्वदोष रहित) सगुण-सविशेष ब्रह्म का ही साधारण धर्म है न कि मायावादी कल्पित पारिभाषिक शुद्ध या मायावच्छिन्न का; क्योंकि निर्विशेष (निर्गुण) ब्रह्म में ईक्षण बहुभवन संकल्प आदि असंभव है; क्योंकि मायाविष्ट में सदा भ्रान्ति होगी। यह सारांश है। इसलिए अचिन्त्य-अनन्त-असंख्येय-सद्गुण-सागर-भगवान् श्रीपुरुषोत्तम ही जगत् का अभिन्न-निमित्तोपादान कारण हो सकते हैं, उन्हीं में लक्षण का समन्वय है, यह सिद्धान्त है। यहाँ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति' इसका विषय वाक्यार्थ'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र के अर्थ-रूप में कहा गया है।

तत्र पित्रादिष्वतिप्रसक्तेरभिसम्विशन्तीति पदसन्निवेशः। मृदादावतिव्याप्तेः येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्तीति पदसन्निवेशः। प्रकर्षेण कर्मध्वंसेन यन्ति प्राप्नुवन्तीति मुक्तप्राप्यत्वम्। अभिसंविशन्तीति प्रलयकालीनप्रवेशो विवक्षितः। द्वितीयवाक्यार्थस्तु सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वाद्य-वच्छिन्नं ब्रह्मेति। तत्र सत्यपदमसत्यस्य ज्ञानपदमचिद्वर्गस्यानन्तपदंजीववर्गस्य व्यावृत्तिपरम्। अनन्तत्वञ्चात्र स्वरूपगुणशक्तिभिर्विवक्षितमन्यथा जीवज्ञानेऽतिप्रसंङ्गः। नच सत्यादीनामेव गुणत्वान्न सत्यत्वादिपर्य्यन्तधावनंयुक्तं गौरवादिति वाच्यम्। सत्वादिपदानां स्वरूपवाचकत्वाभावेऽसत्यजडपरिच्छिन्नमेव लक्ष्यं ब्रह्मस्वरूपं सत्यादिगुणकं त्वन्मतेऽभ्युपेतं स्यात्। अयम्भावः। त्वन्मते सत्यादिपदं स्वरूपपरं गुणपरं वा? आद्ये स्वरूपस्य त्रैविध्यापत्याऽद्वैतभङ्गः। सत्यादेरेकार्थत्वे पर्य्यातापत्तिः। अन्त्ये तूक्तदोषस्तदवस्थ एव। किञ्च सत्यादेः स्वरूपवाचकत्वे ब्रह्मणो वाक्यगोचरत्वापत्तिस्तथात्वे निर्विषयत्व-सिद्धान्तभङ्गः वाक्यागोचरत्वाङ्गीकारेऽप्यनिर्वचनीयत्वापत्तौ मिथ्यात्वापत्तिर्दुर्वारा तथाच प्रयोगाः ब्रह्म मिथ्याऽनिर्वचनीयत्वात् यदेवं तदेवं तव मते मायादिवत् । ब्रह्म मिथ्या असत्यत्वस्वरूपत्वात्। तव मते रज्जुसर्पवत्, जडत्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च तवाभिमतघटा-दिवदित्यादयः । तस्मात्सत्यत्वादिगुणकं सत्यादिस्वरूपं ब्रह्मेत्युक्तार्थ एवं वरीयान् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब श्रुति में उक्त पदों का प्रयोजन बताते हैं- 'तत्र पित्रादिष्विति' यदि 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते' एतावन्मात्र लक्षण करेंगे तो माता-पिताओं में ब्रह्म के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वे भी पुत्र आदि के जन्म में कारण होते हैं, अतः उसमें अतिप्रसंग वारण के लिए अभिसम्विशन्ति' यह कहा गया है। मृत्तिका आदि में अतिव्याप्ति-वारण के लिए 'येन जातानि जीवन्ति' तथा 'यत्प्रयन्ति' ये दो पद दिये जाते हैं, क्योंकि घट की उत्पत्ति एवं प्रलय में मृत्तिका आदि में कारणत्व प्रसिद्ध है। इसलिए उक्त विशेषणद्वय आवश्यक हैं। 'प्रयन्ति' का अर्थ है- प्रकर्षेण माने जड़-मूल से कर्मध्वंस पूर्वक जीव जिसको प्राप्त होता है, अर्थात् मुक्त प्राप्य। "अभिसम्विशन्ति शब्द से प्रलयकालीन प्रवेश विवक्षित है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस द्वितीय वाक्य का अर्थ है- सत्यत्व, ज्ञानत्व तथा अनन्तत्व आदि से अवच्छिन्न (विशिष्ट) ब्रह्म। यहाँ सत्य पद असत्य, ज्ञानपद, अचिद्वर्ग तथा अनन्त पद जीव-वर्ग का व्यावर्तक है। अनन्तत्व यहाँ स्वरूप, गुण तथा शक्ति से विवक्षित है। अन्यथा जीव के ज्ञान में अतिप्रसङ्ग हो जायगा। यदि कहें कि सत्य आदि में स्वयं गुणत्व है, फिर सत्यत्व पर्यन्त धावन युक्त नहीं है, गौरव होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत्य आदि पदों में स्वरूप वाचकत्व का अभाव होने पर भी असत्य, जड़ तथा परिच्छिन्न-रूप लक्ष्य सत्य आदि गुणविशिष्ट-ब्रह्म आपके मत में स्वीकृत होगा।

यह भाव है कि आपके मत में सत्य आदि पद स्वरूप-परक है या गुण-परक? प्रथम पक्ष में स्वरूप में त्रैविध्य के कारण अद्वैत-सिद्धान्त-भङ्ग सत्य आदि पदों के एकार्थक होने से पर्यायतापत्ति होगी। गुणपरक होने से उक्त दोष पूर्ववत् रह जायगा अर्थात् यदि सत्य आदि पदों में स्वरूप वाचकत्व नहीं स्वीकार करते हैं, तब ब्रह्म में असत्य स्वरूपत्व हो जायगा। दूसरा दोष है- सत्य आदि पदों के स्वरूप वाचक होने पर ब्रह्म में वाक्य विषयत्व की आपत्ति होगी और वैसा होने पर ब्रह्म का निर्विशेषत्व सिद्धान्त भङ्ग होगा। वाक्य के अगोचरत्व स्वीकार करने पर भी अनिर्वचनीयत्वापत्ति होगी और अनिर्वचनीय होने पर मिथ्यात्व की आपत्ति को कोई मिटा नहीं सकता। उसका अनुमान प्रयोग इस प्रकार होगा- ब्रह्म मिथ्या असत्य स्वरूपत्वात् तव मते रज्जु सर्पवत् अर्थात् ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह असत्य स्वरूप है आपके मत में रज्जु सर्प की तरह। इसी तरह ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि जड़ है और परिच्छिन्न है आपके मत में घट आदि की तरह। इसलिए सत्यत्व आदि गुण विशिष्ट सत्य आदि स्वरूप ब्रह्म है, इस प्रकार उक्त सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है।

कैश्चिदेतद्वाक्यमेवं व्याख्यायते। सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः। नामान्तरभजनार्हावस्थान्तरयोगेण तयोर्निरुपाधिकसत्तायोगरहितत्वात्। ज्ञानपदं नित्यासङ्कुचितज्ञानैकाकारमाह तेन कदाचित् सङ्कुचितज्ञानवत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः। अनन्तपदं देशादिपरिच्छेदशून्यस्वरूपमाह।

सगुणत्वात्स्वरूपस्य स्वरूपेण गुणैश्चानन्त्यं तेन पूर्वपदद्वयव्यावृत्तकोटिद्वयविलक्षणाः सातिशयस्वरूपगुणा नित्या व्यावृत्ता इति। तन्न समीचीनमिति प्रतिभाति तत्पदैस्तादृगर्थ-स्यालाभात्। सम्भवति मुख्यार्थे लक्षणाङ्गीकारस्य गौरवावहत्वात्। चिदचितोः सत्यत्वमङ्गीकृत्य पुनः सत्यपदेन तयोः व्यावृत्यसम्भवाच्च। अन्यथापसिद्धान्तापत्तिः। किञ्च चिदचितोः सोपाधिकसत्यत्वाङ्गीकारे उपाधिनिवृत्तौ तयोरसत्यत्वापत्तिस्तथात्वे च 'सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते' 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यन्तेषामेष सत्यमि'त्यादि-श्रुतिव्याकोपः। ज्ञानपदेन मुक्तव्यावृत्तिरपि न सम्भवतीति तेषामपि ज्ञानस्वरूपत्वाभ्युपग-मादन्यथापसिद्धान्तापत्तिः। अनन्तपदेन नित्याः व्यावृत्ता इत्यपि रिक्तं वचः। अनन्तपदेन नित्यमुक्तबद्धानां त्रयाणामपि व्यावृत्तिसम्भवात्तेषां स्वरू- पेणानन्तत्वाभावादिति सङ्क्षेपः। विस्तरस्त्वस्मत्कृततैत्तरीयप्रकाशिकायां द्रष्टव्यः।।२।।

इतिजन्माद्यधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी–अुनवाद)

कतिपय विद्वान् विशिष्टाद्वैतवादी 'सत्यं ज्ञानमनन्त' श्रुति की इस प्रकार व्याख्या करते हैं– सत्यं पद निरुपाधिक सत्ता युक्त ब्रह्म का वाचक है। इसलिए सत्य पद से विकारास्पद अचेतन तथा उससे सम्पृक्त चेतन की व्यावृत्ति होती है, क्योंकि नामान्तर, भजन योग्य अवस्थान्तर के योग से उनमें निरुपाधिक सत्ता का योग नहीं है। ज्ञान पद नित्य असंकुचित ज्ञान रूप एकाकार का प्रतिपादन करता है, इसलिए किसी समय संकुचित ज्ञान होने से मुक्तजनों की व्यावृत्ति होती है। अनन्त पद देशकाल आदि परिच्छेद शून्य अर्थ को कहता है। क्योंकि स्वरूप सगुण है और उसमें स्वरूप से और गुणों से आनन्त्य है। इसलिए पूर्व की तरह उभयकोटि विलक्षण सातिशय गुण एवं स्वरूप की व्यावृत्ति होती है', यह कथन ठीक नहीं है– क्योंकि सत्य ज्ञान आदि पदों से उक्त अर्थ का लाभ नहीं होता है। यदि कहें कि लक्षणा से उक्त अर्थ का लाभ हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि मुख्य अर्थ की संभावना हो तो लक्षणा का आश्रय गौरव है। दूसरा दोष है– चित् (जीव) एवं अचित् (प्रकृति) में सोपाधिक सत्यत्व अङ्गीकार करने पर सत्य-पद से पुनः उनकी व्यावृत्ति असंभव है। विपक्ष में बाधक तर्क–अन्यथा अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी और दूसरा दोष यह है कि चित्–अचित् में सोपाधिक सत्यत्व अङ्गीकार करने पर उपाधि की निवृत्ति होने पर उन दोनों में असत्यता की आपत्ति होगी[1] तथा ऐसा होने पर "सत्यं ह्येवेदं विश्वमसौ सृजते" "सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम्" इत्यादि श्रुतियों का व्याकोप होगा और ज्ञान पद से मुक्तों की व्यावृत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उन्हें भी ज्ञान स्वरूप माना गया है, अन्यथा

---

१. जगत् की सत्यता पर हमारे पूज्य गुरुदेव ने "गोपीजनवल्लभविज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति" इस श्रुति के भाष्य में वेदान्त समीक्षा में लगभग ३०-४० पेज में विचार किया है, जो द्रष्टव्य है। (सं)

अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी। 'अनन्त' पद से नित्यों की व्यावृत्ति होती है। यह व्यर्थ प्रलाप है। अनन्त पद से नित्यमुक्त, बद्धमुक्त तथा बद्धों तीनों की व्यावृत्ति होगी, क्योंकि स्वरूप से वे अनन्त नहीं हैं, इस प्रकार से संक्षेप में इसका विचार किया गया है। इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार हमारे द्वारा विरचित तैत्तरीय प्रकाशिका में देखना चाहिए।[1]

१. 'तैत्तरीय प्रकाशिका' श्रीकेशव काश्मीरिभट्टाचार्यकृत आज कहीं उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ किसी प्रकार उपलब्ध हो सके तो बड़े गौरव की बात होगी। साम्प्रदायिक वैष्णवों को इसके लिए प्रयास करना चाहिए। (सं)

जगत्कारणं ब्रह्मेत्युक्तं तत्र प्रमाणमाह –

शास्त्रयोनित्वात् ।१।१।३।

शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणं ज्ञापकं यस्मिंस्तच्छास्त्रयोनिस्तस्य भावः शास्त्रयोनित्वं तस्मात्।'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति सर्वे वेदा यत्रैकीभवन्ति तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामः। नावेदविन्मनुते तं वृहन्त'मित्याद्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिभ्यः' 'वेदैश्व सर्वैरहमेव वेद्यः' 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते'। "नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" त्यादिस्मृतिभ्यश्च शास्त्रैकप्रमाणगोचरत्वादिति यावत्। ननु शास्त्रैकप्रमाणगोचरत्वं ब्रह्मणो न सम्भवति तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणवेद्यत्वादपि, अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवदिति चेन्न। प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वात् तस्यचातीन्द्रियत्वात्। ब्रह्म न प्रत्यक्षप्रमाणविषयोऽतीन्द्रियत्वात् जात्यादिलौकिकविशेषविरहाद्वा यन्नैवं–तन्नैवं गवादिवत्। नचा "न्तर्वहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थित" इति श्रुतेस्तस्य सर्वत्र व्यापकत्वेनेन्द्रियेष्वपि सत्वाविशेषात्कथं तत्सन्निकर्षानर्हत्वमिति वाच्यम्। तस्य व्यापकतया सर्वत्र सत्वेऽपि करणानां तत्प्रकाश्यत्वेन तत्प्रकाशकत्वायोगात् नहि प्रमाणविषयीभावे पदार्थसद्भावमात्रं प्रयोजकं किन्तु प्रमाणनिष्ठा तद्ग्रहणार्हा तच्छक्तिरेवान्यथाक्षीरादिपाने रसनेन्द्रियेण तन्माधुर्य्ये गृह्यमाणे तत्सामानाधिकरण्यस्य रूपादेरपि ग्रहणापत्तेस्तस्य तत्र सद्भावसाम्यात्तथा प्रकृतेऽपि। नाप्यनुमेयं ब्रह्म, अनुमानस्य हेतुदृष्टान्तसत्व एव सद्भावात्। तस्यच तद्विरहात्। "नेन्द्रियाणि नानुमानम्। नैषामतिस्तर्केणापनेयेति" श्रुतेः। "अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजये" दिति मनुवचनात्। ननु क्षित्यादीनि महाभूतानि सकर्तृकाणि कार्यत्वात् घटादिवत् व्यतिरेके कालादिवत्। परपक्षेप्रधानादिवच्चेति प्रयोगात् भूतादिकर्तृतया ब्रह्म सिद्धत्येव तत्कार्यस्य भूतादेर्लिङ्गस्य घटादेर्दृष्टान्तस्य च सत्वेनानुमातुं शक्यत्वादुक्तहेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्। "किञ्च, 'मन्तव्य' इति श्रुत्या 'यस्तर्केणानुसन्धते' इति स्मृत्याचानुमानस्यादरणात्कथमनुमानागोचरत्वं तस्येति चेन्न। उक्तानुमानेन सामान्यतः कर्तृमात्रे सिद्धेऽपि यत्र कर्तृत्वं तत्र दोषवत्वं कुलादिवदिति प्रत्यक्षादिगृहीततया सामान्यव्याप्त्या गुणदोषवतो जीवस्यैव कर्तृत्वेन सिद्धिर्नोक्तलक्षणस्य परब्रह्मणस्तत्र व्याप्तेः पक्षधर्मतायाश्च शास्त्रमन्तरेण गृहीतुमशक्यत्वात्। तस्य स्वरूपगुणशक्त्यादीनामलौकिकत्वात्। नच शास्त्रादेव तत्स्वरूपादिकं निश्चित्य तद्वतो जगत्कारणत्वमनुमेयमिति वाच्यं शास्त्रमूलकानुमानस्येष्टत्वात्। एवं तर्कादिनिषेध–शास्त्रस्य शास्त्रनिर्मूलस्वतन्त्रानुमानपरत्वेन तद्विधायकशास्त्रस्य च श्रुत्यनुकूलतन्मूलकानु–मानविषयत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्सर्वथाप्यविरुद्धम्। किञ्च, कार्यत्वादित्यस्य हेतोराकाशभागेऽ–व्यापनात्स्वरूपासिद्धत्वमपि तन्मते गगनस्याकार्यत्वात् तत्पक्षवाह्यत्वान्न दोष इति वाच्यम्। भूतत्वावच्छिन्नस्य पक्षत्वात्। विरुद्धत्वमपि क्षित्यादिवायुपर्य्यन्तानि कार्याणि न भवन्ति महाभूतशब्दवाच्यत्वादाकाशवदिति प्रत्यनुमानादतो नानुमानविषयत्वं ब्रह्मण इति।

नाप्युपमानविषयत्वं ब्रह्मसदृशपदार्थान्तराभावेन तत्सादृश्यज्ञानासिद्धेः। 'न संदृशे तिष्ठति रूपम'स्येति श्रुतेः। ननु 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां सिद्धत्वात्। तत्सादृश्यस्य तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वस्यैव सादृश्यसाम्यसाधर्म्यपदवाच्यत्वात्कथं सदृशाभाव इति चेत्। तस्य सत्वेऽपि शास्त्रैकगम्यत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणागोचरत्वादविषयत्वं तादवस्थ्यमेव। श्रौतोपमानन्तु शास्त्रान्तःपातित्वादिष्टमेव। ननु मास्तु सादृश्यज्ञानजन्योपमितिविषयत्वं ब्रह्मणस्तत्सदृशाभावात्। तथापि वैसादृश्यज्ञानजन्योपमितिविषयत्वं स्यादेव ब्रह्मणो विसदृशानां क्षेत्रज्ञादीनां सत्वात् यथा गोविसदृशोऽश्व इति चेन्नासम्भवात्। तथाहि कीदृशोऽश्व इत्यादिना तदविदुषा पृष्टे तज्ज्ञापकस्याश्वादिज्ञानाभावे गोविसदृशो द्विशफस्वल्पपुच्छ-विशिष्टव्यक्तिमद्भिन्नोऽश्वोऽतिदीर्घग्रीवाविशिष्टव्यक्तिमद्भिन्नो हस्ती विषविसदृशं हननासाधरणीभूतौषध्यादिभिन्नममृतमिति ज्ञापनात्मकवचनप्रयोक्तृत्वानुपपत्तेः। तथाच ज्ञापकस्य ब्रह्मज्ञानाभावेन ज्ञापकत्वाऽसिद्धेः। ज्ञातृत्वपूर्वकत्वाज्ज्ञापकत्वस्येति भावः। किञ्च वैसादृश्यज्ञानसत्वेऽपि नोक्तलक्षणब्रह्मासिद्धिः। तथाहि, यथा गोविसदृशोऽश्व इति ज्ञानाद् गोभिन्नपदार्थमात्रस्य सामान्यज्ञाने जातेऽपि अश्वत्वावच्छिन्नैकशफत्वव-द्व्यक्तिज्ञानस्यासिद्धिरेवं तथा ब्रह्मविसदृशचिदचिद्वस्तुभानात्तद्विसदृशं ब्रह्मेति ज्ञानोत्पत्तावपि सर्वज्ञत्वाद्यसाधारणधर्मावच्छिन्न ब्रह्मज्ञानाभावेन जगत्कारणत्वज्ञानासिद्धत्वान्नोपमेयं ब्रह्मेति राद्धान्तः। नाप्यर्थापत्तिप्रमाणवेद्यं ब्रह्म तस्य पीनत्वादिज्ञानवदुपपाद्यज्ञानासिद्धेः। किञ्च तस्यास्तर्करूपतया तद्विषयत्वस्यानुमाननिराकरणेनैव निरासो ज्ञेयः। नाप्युपलब्धिगोचरत्वं ब्रह्मणः सम्भावनार्हं तस्या अभावकरणकत्वात्। ब्रह्मणस्तु केवलान्वयित्वेनाभावत्वावच्छिन्ना-प्रतियोगित्वात्। प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वादभावस्य तथाचाभावज्ञानेऽनुपलब्धिप्रवृत्तिस्तदभावे प्रवृत्तेरेवासम्भवात्। कुतस्तद्विषयताप्रत्याशेतिभावः। तत्सिद्धं परिशेषात् शास्त्रैकवेद्यं ब्रह्मेति। ननु ब्रह्मणश्शास्त्रज्ञाप्यत्वे परप्रकाश्यत्वप्रसक्त्या स्वप्रकाशत्वहानिस्तत्प्रतिपादक-शास्त्रव्याकोपश्चेति चेन्न। शास्त्रगतवोधकशक्तीनां तच्छक्त्यभिन्नत्वात्। ब्रह्मशक्तीनाञ्च तत्परतन्त्रसत्ताकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात्। तद्गतप्रकाशकत्वञ्च स्वप्रकाशकत्वमेव तस्मान्नोक्तदोषावकाशः। नन्वेवं ब्रह्मशक्तीनामपरिच्छिन्नत्वेन क्षेत्रज्ञकरणेष्वपि सद्भावात्तद्विषयत्वेप्युक्तन्यायेन क्षत्यभावात्स्वप्रकाशकत्वमेवाङ्गीकार्यं तथात्वेचान्यप्रमाणा-विषयत्वोपपत्तिभङ्ग इति चेत्। सत्यम्। परमेश्वरीयशक्तीनां क्षेत्रज्ञकरणेषु व्याप्तिसाम्येऽपि तत्तद्बुद्धिव्यवधानेन दोषवत्वसम्भवात् तद्विषयस्य न स्वप्रकाशत्वयोगः। वेदे तु तद्व्यवधानाभावेन साक्षात्तद्विषयतया महद्वैषम्यमिति भावः। ननु "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिशब्दाविषयताया अपि डिण्डिमायमानत्वात्कथं शास्त्रैकवेद्यं ब्रह्मेति चेन्न। श्रुतेः कात्स्न्र्येन वाग्गोचरत्वनिषेधपरत्वादिति "प्रकृतैतावत्त्वं ही" ति सूत्रे वक्ष्यते।।३।।

।।इतिशास्त्रयोनित्वाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म जगत् का कारण है, इसमें प्रमाण बताते हैं-

शास्त्र ही योनि माने कारण, प्रमाण या ज्ञापक है, जिसमें वह है, शास्त्र योनि उसके भाव को शास्त्र योनित्व करते हैं, इस कारण से। अर्थात् ऐसे जगत् कारण ब्रह्म में शास्त्र ही कारण है प्रमाण है जैसे- "सर्ववेदायत्पदमामनन्ति यत्रैकीभवन्ति तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" "नावेद विन्मनुते तं बृहन्तम्" इत्यादि अर्थात् समस्त वेद जिसके स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, सभी श्रुतियाँ जहाँ एकरूपता को प्राप्त होती हैं, उस उपनिषत् प्रतिपाद्य पूर्ण पुरुषोत्तम को मैं जानना चाहता हूँ "वेद को न जानने वाला व्यक्ति उस स्वरूप, गुण तथा शक्ति से पूर्णतम ब्रह्म को नहीं जानता है" 'समस्त वेदों के द्वारा मैं ही (पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) वेद्य हूँ- जाना जाता हूँ। (यहाँ एवकार होने से श्रीकृष्ण से अतिरिक्त में वेद वेद्यता का निषेध है) 'वेदे रामायणे चैव भारते पाञ्चरात्रके आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' वेद, रामायण, महाभारत तथा पाञ्चरात्र में आदि-अन्त एवं मध्य में सर्वत्र श्री हरि का ही गुणगान हुआ है। "नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" अर्थात् जिस भगवान् में श्रुति-स्मृति आदि के सम्पूर्ण वचनों की प्रतिष्ठा यानी प्रतिपाद्यता है, उस प्रभु को हम नमस्कार करते हैं।" इत्यादि प्रमाणों द्वारा विदित होता है कि वह ब्रह्म केवल शास्त्रों द्वारा ही ज्ञेय है। यदि कहें कि वह ब्रह्म प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा भी जाना जाता है, फिर कैसे कह सकते हैं कि वह केवल शास्त्र मात्र द्वारा ही ज्ञेय है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और ब्रह्म अतीन्द्रिय है, इसलिए ब्रह्म का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसा कि अनुमान का प्रयोग होगा- ब्रह्म, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है अथवा उसमें जाति आदि लौकिक विशेष धर्म का विरह है जो ऐसा नहीं होता, वह ऐसा नहीं होता जिस गो आदि व्यक्ति में प्रत्यक्ष प्रमाण विषयत्व का अभाव है, वहाँ अतीन्द्रियत्व का अभाव है तथा जाति आदि लौकिक विशेष धर्म का अभाव है। यदि कहें कि "अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः" इस श्रुति के अनुसार उस ब्रह्म के सर्वव्यापक होने के कारण इन्द्रियों में भी उसकी सत्ता होने के कारण ब्रह्म के साथ इन्द्रिय का असन्निकर्ष कैसे संभव है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ब्रह्म के व्यापक होने के कारण सर्वत्र उसकी सत्ता होने पर भी इन्द्रिय आदि करणों के ब्रह्म द्वारा प्रकाश्य होने से इन्द्रियों में ब्रह्म प्रकाशकत्व की योग्यता नहीं है। यदि प्रमाण विषयीभाव में प्रमेय की सत्तामात्र असाधारण कारण होता, तब उक्त आपत्ति होती, पर ऐसा नहीं है, किन्तु प्रमाणगत स्वाभाविकी तन्निष्ठ शक्ति ही कारण होता है। अन्यथा क्षीरादिगत रूप का भी समानाधिकरण्य होने से रसनेन्द्रिय से तन्निष्ठ माधुर्य की तरह ग्रहण होना चाहिए जैसे वहाँ रसनेन्द्रिय की रूप-ग्रहण में सामर्थ्य नहीं है, वैसे यहाँ भी ब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने से इन्द्रियों में उसकी सत्ता होने पर भी इन्द्रियों के ब्रह्म ग्रहण में समर्थ न होने से ब्रह्म इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि हेतु और दृष्टान्त होने पर ही अनुमान होता है और ब्रह्म में

हेतु और दृष्टान्त का अभाव है। इस विषय में श्रुति प्रमाण भी विद्यमान है– 'नेन्द्रियाणि नानुमानम्' अर्थात् ब्रह्म के विषय में न इन्द्रियाँ, न अनुमान ही प्रमाण हो सकते हैं। 'नैषा मतिस्तर्केणापनेया' अर्थात् ब्रह्म-विषयिणी मति तर्क द्वारा नहीं जानी जा सकती। इसी तरह 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्' यह मनुवचन भी है– अर्थात् जो तत्त्व अचिन्त्य है, उसे तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता। यदि कहें कि 'क्षित्यादि महाभूतानि सकर्तृकाणि कार्यत्वात् घटवत् व्यतिरेके कालादिवत्' अर्थात् क्षिति आदि महाभूत सकर्तृक हैं कार्य होने से घट आदि की तरह अथवा जो सकर्तृक नहीं होते वे कार्य नहीं होते जैसे काल आदि। इस अन्वय तथा व्यतिरेकि-दृष्टान्त तथा परपक्ष में प्रधान आदि की तरह इस प्रयोग से महाभूत आदि के कर्ता के रूप में ब्रह्म की सिद्धि हो ही सकती है, क्योंकि उसमें कार्य भूत आदि, लिङ्ग कार्यत्व तथा घट आदि दृष्टान्त के होने से उक्त अनुमान हो सकता है। फिर आपने जो कहा कि ब्रह्म अनुमेय नहीं है, क्योंकि ब्रह्म साधक अनुमान में हेतु दृष्टान्त का अभाव है, यह हेतु दृष्टान्त सत्वाभाव रूप हेतु स्वरूपासिद्ध है। दूसरी बात 'मन्तव्य' इस श्रुति वचन एवं 'यस्तर्केणानुसंधत्ते' इस स्मृति वचन से भी अनुमान का आदर होने से ब्रह्म अनुमान का अगोचर है, यह कैसे कहा जा सकता, तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त अनुमान से सामान्यतया कर्ता मात्र की सिद्धि होने पर भी जहाँ कर्तृत्व होता है, वहाँ दोषयुक्तत्व होता है, जैसे कुलाल आदि इस प्रत्यक्ष आदि से गृहीत सामान्य व्याप्ति के द्वारा गुणदोष युक्त जीव ही कर्ता के रूप में सिद्ध हो सकता है, न कि सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् सर्वदोष विवर्जित ब्रह्म की सिद्धि होगी, क्योंकि ब्रह्म में व्याप्ति एवं पक्ष धर्मता का शास्त्र के बिना ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि उनकी स्वरूप, गुण, शक्ति आदि अलौकिक हैं। यदि कहें कि शास्त्र से ही उसके स्वरूप आदि का निश्चय करके उस स्वरूप-गुण-शक्तिमान् ब्रह्म में जगत् कारणत्व का अनुमान हो जायगा तो कहते शास्त्र मूलक अनुमान इष्ट है। इस तरह तर्क आदि के निषेधक शास्त्र विरुद्ध अनुमान का निषेधक है और अनुमान समर्थक शास्त्र श्रुति अनुकूल अनुमान समर्थक होने के कारण निराकांक्ष है, इस प्रकार सब कुछ अविरुद्ध है। दूसरी बात कार्यत्व हेतु आकाश अंश में न होने से स्वरूपासिद्ध भी है। क्योंकि उनके मत में आकाश कार्य नहीं है। यदि कहें कि वह आकाश पक्ष बाह्य होने से स्वरूपा (सिद्ध) भागासिद्ध नहीं है तो कहते हैं ऐसा नहीं कह सकते भूतत्वावच्छिन्न सकल महाभूत पक्ष है। दूसरी बात कार्यत्व हेतु में विरुद्धत्व भी है, क्योंकि यहाँ उक्त अनुमान के विपरीत अनुमान होगा– क्षिति आदि वायुपर्यन्त कार्य नहीं है, चूँकि ये महाभूत शब्द वाच्य हैं, जैसे आकाश ऐसा दूसरा अनुमान होने के कारण ब्रह्म अनुमान विषय नहीं हो सकता। इसी तरह ब्रह्म उपमान का विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म सदृश अन्य पदार्थ न होने से उसके सादृश्य ज्ञान की सिद्धि नहीं होगी। श्रुति भी कहती है– 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य' अर्थात् इस ब्रह्म के सदृश कोई दूसरा रूप नहीं है– ब्रह्म निष्ठ सर्वज्ञत्व आदि असाधारण गुणाश्रय दूसरा कोई तत्त्व नहीं है–. वस्तुमात्र उससे निम्न होने से उनसे विसदृश है– श्रुति भी कहती है– ' न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' अर्थात् न उनके सादृश कोई है न उनसे अधिक। यदि

कहें कि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता' इन श्रुति-स्मृति वाक्यों द्वारा ब्रह्म-सादृश्य प्रसिद्ध है और उपमान से भिन्न होकर उपमानगत अधिकांश धर्मयुक्तत्व ही सादृश्य पदार्थ होने से ब्रह्म सदृश कोई नहीं है, ऐसा कैसे कह सकते हैं तो उसका उत्तर देते हैं- सादृश्य होने पर भी उसके शास्त्र मात्र गम्य होने से ब्रह्म में प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषयत्व पूर्ववत् रहता ही है। श्रौत उपमान तो शास्त्रान्तर्गत होने से इष्ट ही है, यदि कहें कि ब्रह्म सदृश न होने से सादृश्य ज्ञान जन्य उपमिति विषयत्व भले न हो वैसादृश्यज्ञानजन्य विषयत्व तो है ही, क्योंकि ब्रह्म के विसदृश क्षेत्रज्ञ आदि विद्यमान हैं जैसे गोविसदृशःअश्वः तो कहते हैं ऐसा संभव नहीं है, जैसे अश्व को न जानने वाले किसी व्यक्ति द्वारा अश्व कैसा होता है, ऐसा पूछने पर अश्व पदार्थ को समझाने वाले व्यक्ति के अश्व ज्ञान के अभाव में उसके द्वारा गो विसदृश अश्व होता है, अर्थात् दो खुर, छोटी पूँछ, विशिष्ट व्यक्ति से भिन्न अश्व होता है, कहा जाता है और लम्बी ग्रीवा युक्त व्यक्ति से भिन्न हाथी होता है तथा विष से विसदृश मृत्यु के असाधारण कारण औषधआदि से भिन्न अमृत है, इत्याकारक ज्ञापनात्मक वचन के प्रयोक्तृत्व की अनुपपत्ति है। इस प्रकार ज्ञापक को ब्रह्म ज्ञान का अभाव होने के कारण ज्ञापकत्व की सिद्धि नहीं होगी, कारण ज्ञापक को ज्ञाता होना आवश्यक है, इस प्रकार विसदृश ज्ञान से भी ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। दूसरी बात वैसादृश्य ज्ञान होने पर भी उक्त प्रकार के ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती- जैसे गो विसदृश अश्व होता है, इस ज्ञान से गो-भिन्न पदार्थ मात्र का सामान्य ज्ञान होने पर भी जैसे अश्वत्वावच्छिन्न एक खुर युक्त अश्व होता है, ऐसा ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म विसदृश-चित्त्-अचित ज्ञान प्राप्त कर इन चित्-अचित् वस्तु से विलक्षण ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान होने पर भी सर्वज्ञत्व आदि असाधारण धर्म विशिष्ट ब्रह्म के ज्ञान का अभाव होने से जगत् कारणत्व ज्ञान की सिद्धि न होने के कारण ब्रह्म उपमेय नहीं है, यह सिद्धान्त मान्य है। अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी ब्रह्म ज्ञेय नहीं हो सकता; देवदत्त में पीनत्वादि ज्ञान की तरह ब्रह्म में उपपाद्य ज्ञान की सिद्धि नहीं है। दूसरी बात अर्थापत्ति प्रमाण भी तर्क-रूप होने से अनुमान प्रमाण के निराकरण से ही अर्थापत्ति का निराकरण समझना चाहिए। अनुपलब्धि प्रमाण से भी ब्रह्म ज्ञेय नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रमाण-अभाव के ज्ञान का कारण होता है। ब्रह्म केवलान्वयि होने से उसका कहीं अभाव नहीं है। अभाव प्रतियोगी ज्ञान सापेक्ष होता है- इस प्रकार अभाव ज्ञान में अनुपलब्धि की प्रवृत्ति होती है। ब्रह्म के अभाव का अभाव होने से अनुपब्धि की प्रवृत्ति ही असंभव है, फिर अनुपलब्धि प्रमाण की तो आशा ही क्या? इस प्रकार परिशेषात् सिद्ध होता है कि ब्रह्म शास्त्रमात्रैकवेद्य है। यदि कहें कि ब्रह्म शास्त्र ज्ञापक है, ऐसा मानने पर ब्रह्म में पर प्रकाश्यत्व आ जायगा, फिर तो ब्रह्म के स्वप्रकाश्यत्व सिद्धान्त की हानि होगी और ऐसा कहने वाला शास्त्रों का भी व्याकोप होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि शास्त्रगत बोधक शक्तियाँ ब्रह्म की ही अभिन्न शक्तियाँ हैं, ब्रह्म-निष्ठ शक्तियाँ ब्रह्माधीन सत्ता के होने से उनसे सर्वथा अपृथक् सिद्ध हैं, इसलिए शास्त्रगत प्रकाशकत्व स्वप्रकाश्यत्व ही है, इसलिए ब्रह्म में पर प्रकाश्यत्व दोष का कोई प्रश्न ही नहीं है। यदि कहें कि ब्रह्म की शक्तियाँ अपरिच्छिन्न होने

से उनकी जीवात्मा के इन्द्रियादि करणों में भी सद्भाव होने के कारण ब्रह्म के जीवगत इन्द्रिय विषय होने पर भी उक्त न्याय से कोई क्षति न होने से स्वप्रकाश्यत्व ही मानना चाहिए, फिर तो ब्रह्म में अन्य प्रमाण के अविषयत्व की उपपत्ति का भङ्ग होगा तो कहते हैं कि ठीक है-परन्तु ईश्वरीय शक्तियों का जीवात्मगत करणों में सम्बन्ध होने पर भी जीवात्मा की करणगत शक्तियाँ जीवगत बुद्धि आदि से व्यवहित होने के कारण उनमें दोषयुक्तता की संभावना है, इसलिए ब्रह्म में तद्विषय होने पर स्वप्रकाश्यत्व संभव नहीं है। वेद में जीव बुद्धि का स्पर्श न होने से वहाँ तो साक्षात् वेद विषयता है। इस प्रकार महान् विषमता है। यदि कहें कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इस प्रत्यक्ष वेदवाक्य के द्वारा ब्रह्म शब्द का भी विषय नहीं है, यह श्रुति का डिण्डिम घोष है, फिर कैसे कहा जा सकता है कि ब्रह्म शास्त्रैकवेद्य है, तो इसका उत्तर है कि पूर्णतया वेद भी ब्रह्म का निरूपण नहीं कर सकता, यहीं उक्त श्रुति का तात्पर्य हैं। यह विषय 'प्रकृतैतावत्वंहि' इस सूत्र में स्पष्टतया कहा जायगा।[1]

"इस प्रकार शास्त्रयोनित्वाधिकरण का अनुवाद पूरा हुआ"

नन्वा "म्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां", "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युरि" त्यादिभिर्भगवता जैमिनिना सर्वस्यापि वेदस्य क्रियापरत्वेन सूत्रितत्वात्तदन्तः पातिवेदान्तभागस्यापि कर्मण्येव समन्वयो युक्तस्तथात्वे च कथं शास्त्रैकप्रमाणगम्यं ब्रह्मैवेत्यपि सिद्धान्तसम्भवः शास्त्रस्य तद्विषयत्वाभावात्। एतदुक्तं भवति, पञ्चप्रकारवाक्य-समुदायस्तावत्समस्तोवेदः वाक्यानिच विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयाख्यानि। तत्र "ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम" इत्यादिविधिवाक्यम्। "ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्यादिनिषेधवाक्यम्। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते' त्यादयोऽर्थवादाः, "इषेत्वा" "अग्निर्मूर्द्धा दिवः" इत्यादयो मन्त्राः, ज्योतिष्टोमाश्वमेधादीनि नामधेयानीति तेषां विवेकस्तथाचोपक्रमे "अथातो धर्मजिज्ञासेति" सूत्रे वेदस्याध्ययनविधिकरणकभावनाविधिभाव्यफलवदर्थपरत्व-मुक्तम्। "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्म" इति लक्षणसूत्रे धर्मे चोदनाप्रमाणमिति कार्यपरत्वव्याप्यं वेदप्रामाण्यं यत्र प्रामाण्यं तत्र कार्यपरत्वमिति व्याप्त्या निर्णीतं तत्र 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यर्थवादानां धर्मे प्रामाण्यमस्ति नवेति संशये पूर्वपक्षमाह। आम्नायस्येति। वेदस्य क्रियाएवार्थो विषयप्रतिपाद्यो यस्य सक्रियार्थस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माद्धेतोरर्थवादानां प्रामाण्यं नास्ति किंतर्हि इत्याशङ्क्याह अतदर्थानामानर्थक्यमिति नसाक्रियाऽर्थोयेषांतेऽतदर्था अर्थवादादयस्तेषामानर्थक्यमर्थशून्यत्वमेवास्तु तथैव वेदान्तानामपि। नहि "स्वाध्यायोऽध्ये-तव्य" इत्यध्ययनविध्युपात्तानां निष्फलब्रह्मपरत्वे प्रामाण्यमिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह 'विधिना त्वेकवाक्यत्वा' दिति अर्थवादानां विधिवाक्यैरेकवाक्यत्वात्तद्विधेयार्थानां स्तुत्यर्थेन

---

१. इस सूत्र की व्याख्या में जगद्विजयी आचार्य पाद का ब्रह्म शब्दातिरिक्त प्रमाणों का अविषय है, सम्बन्धी प्रवचन नितान्त महत्त्वपूर्ण है, मननीय है। इसकी गम्भीरता न्यायशास्त्र विशेषज्ञ ही जान सकते हैं। (सं)

स्तुत्यर्थरूपेण द्वारेणार्थवादाः प्रामाण्यं स्युरिति। एवं विधिनिषेधविधुराणां वेदान्तानां सिद्धार्थवस्तुवोधकानामपि मन्त्रार्थवादादिष्वेवान्तर्भावेणाध्ययनविध्युपात्तत्वात्सर्वथानन-र्थक्यनिरासाय परम्परया साध्ये कर्मण्येवान्वयो युक्तः स्वातन्त्र्याभ्युपगते निष्फलत्वापत्ते-स्तेषां क्रत्वङ्गकर्तृप्रतिपादनेन नैराकाङ्क्ष्यं बोध्यम्। तत्र तत्त्वंपदार्थपराणां वाक्यानां कर्मकर्तृदेवतास्तावकत्वं तज्ज्ञानस्य परविद्याख्यस्य फलस्तावकत्वं वेदान्तवाक्यानि न ब्रह्मपराणि क्रत्वङ्गकर्तृप्राशस्त्यप्रकाशनपरत्वादर्थवादवाक्यवदितिप्राप्ते उच्यते।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' तथा 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (अर्थात् सम्पूर्ण वेद कर्मकाण्डपरक हैं, जो कर्मपरक नहीं हैं, वे अनर्थक हैं तथा जो कर्मपरक नहीं है, ऐसे अर्थवाद वाक्य एवं वेदान्त वाक्य विधि–वाक्यों द्वारा प्रतिपादित विधि की प्रशंसा द्वारा विधि–वाक्य के साथ एकवक्यता करके प्रामाण्य भाव को प्राप्त करते हैं) इत्यादि वाक्यों द्वारा भगवान् जैमिनि ने समस्त वेद को क्रियापरक माना है— इस प्रकार वेदान्तर्गत वेदान्त–भाग का भी कर्म में ही समन्वय है, फिर यह कैसे कह सकते हैं कि शास्त्र वेद्य–ब्रह्म ही है अथवा ब्रह्म वेदैक–वेद्य है या वेदान्त–वाक्यों द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन हुआ है (वेदान्त–वाक्य भी परम्परया कर्मपरक ही हैं) सारांश है कि सम्पूर्ण वेद में पांच तरह के वाक्य हैं। वे वाक्य हैं– विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय। इनमें 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि विधि–वाक्य हैं। "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादि निषेध–वाक्य हैं। "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं। "इषेत्वा" "अग्निर्मूर्धा दिवः" इत्यादि मन्त्र हैं। "ज्योतिष्टो अश्वमेघ" आदि नामधेय हैं। उपक्रम में "अथातो धर्म जिज्ञासा" इस सूत्र में कहा गया है कि धर्म में चोदना (विधि) प्रमाण है। एतावता वेदनिष्ठ प्रामाण्य कार्यपरत्व व्याप्य है, ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि जहाँ प्रामाण्य है, वहाँ कार्यपरत्व है, ऐसी व्याप्ति है। एतावता वही वेदवाक्य प्रमाण है– जो क्रियापरक है। तब संशय होता है कि 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का धर्म में प्रामाण्य है या नहीं ऐसी स्थिति में पूर्वपक्ष होता है– 'आम्नायस्येति' अर्थात् वेद का कर्म ही मुख्य प्रतिपाद्य है, इसलिए अर्थवाद वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, तो फिर वे क्या हैं? तो बोले– 'अतदर्थानामानर्थक्यम्' अर्थात् ऐसे वाक्य अनर्थक हैं, इसी प्रकार वेदान्त–वाक्य भी अनर्थक ही हैं, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं– 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्' इति अर्थात् अर्थवाद वाक्य विधि–वाक्यों द्वारा एकवाक्यता प्राप्त कर विधिवाक्य प्रतिपाद्य विधेय अर्थों की स्तुति द्वारा प्रामाण्य को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार विधि तथा निषेध–वाक्यों से रहित वेदान्त–वाक्य, जो केवल सिद्धवस्तु के बोधक हैं, में भी आनर्थक्य निरास के लिए उनका भी परम्परया साध्य–कर्म में ही अन्वय समुचित है। उन्हें स्वतन्त्र मानने पर वे निष्फल हो जायँगे। इसलिए उनमें क्रतु (यज्ञ) के कर्ता (आत्मा) के प्राशस्त्य (प्रकाश) द्वारा नैराकांक्ष्य समझना चाहिए अर्थात् उनकी प्रामाणिकता समझनी चाहिए। वेदान्त में तत् तथा त्वं पदार्थ–प्रतिपादक वाक्यों में कर्म तथा कर्तारूप देवता

का स्तावकत्व और उसके ज्ञान में पराविद्या रूप फल की स्तावकता (प्रशंसक) है, इस प्रकार वेदान्त-वाक्य ब्रह्मपरक नहीं हैं, बल्कि क्रतु के अङ्गभूत कर्तृरूप आत्मा के प्राशस्त्य प्रकाशनपरक हैं— जैसे अर्थवाद वाक्य, ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं।

तत्तु समन्वयात् ।१।१।४।।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। पूर्वोक्तरीत्या शास्त्रैकवेद्यं तत् उक्तलक्षणं ब्रह्मैव। कुतः समन्वयात्। सर्वशास्त्रस्य तत्रैव मुमुक्षुजिज्ञास्ये जगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणे शास्त्रयोनौ जीवप्रधानकालकर्मादिनियन्तरि ब्रह्मरुद्रेन्द्रकिरीटेडितपादपीठे निखिलदोषगन्धाघ्रातमाहात्म्ये सार्वज्ञाद्यनन्तगुणनिलये मुक्तोपसृप्ये ब्रह्मणि सम्यक् वाचकतयाऽन्वयात्। समन्वितश्च 'सविजिज्ञासितव्यः'। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।' 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां यं सर्वे देवा नमन्ति 'य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽ'विजिघत्सोऽपिपासः, 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्।' 'ब्रह्मविदाप्नोति परमिंत्यादिवाक्यकदम्वस्तत्रैव। यदुक्तं सर्वस्यापि वेदस्य क्रियापरत्वं तत्तुच्छे ब्रह्मतस्कराणां कपोलकल्पनामात्रत्वात्। प्रत्युत समस्तध ार्मजातस्य ब्रह्मविविदिषयैव मोक्षासाधारणोपायभूततयोपक्षीणत्वात्। कर्मणो मोक्षोपायभूत-विद्योत्पादकत्वेन परम्परया ब्रह्मण्येव समन्वयाच्च विविदिषाश्रुतेः। एतेन यदुक्तं क्रत्वङ्गकर्तृप्रतिपादनेन वेदान्तानां नैराकाङ्क्ष्यमिति तन्निरस्तं प्रत्युत कर्मण एव जिज्ञासोर्विशेषणत्वेन तदधिकारित्वसम्पादनेनैव नैराकाङ्क्ष्यात्। 'अर्थी समर्थो विद्वानधिकारीति लक्षणे क्रियाविद एवाधिकारित्वनिरूपणात्। शास्त्रं न कर्मपरं तस्य जिज्ञासोत्पादनेनैवोपक्षीणत्वात्। रूपादिज्ञानोत्पादनेन चक्षुरादेरिवेत्यनुमानात्। ननु सर्वेषां कारकाणां कर्मसाधनत्वात् कर्त्तुरपि कारकत्वाविशेषेण क्रियाङ्गत्वोपपत्तिः न च ब्रह्मण आप्तकामतया तद्भिन्नत्वेन कर्मकर्तृत्वाभावादिष्टासिद्धेरिति वाच्यम्। ब्रह्मणस्तथात्वेऽ-पिजीवभिन्नत्वाभावात्। तत्त्वमस्यादिवाक्यैः क्रत्वङ्गकर्त्तुः क्षेत्रज्ञस्य ब्रह्मत्वविधानेन स्तूयमानत्वात् न तद्भिन्नं किमपि ब्रह्मशब्दाभिधेयमस्तीति चेन्नमन्दानामन्धपरम्परो-पदेशमात्रत्वात्। न हि कर्मकर्त्रादिसर्वकारककलापनियन्तुः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मनः परब्रह्मणः पराङ्गत्वंजीवात्पृथगसत्त्वञ्चानुन्मत्तैः कैश्चिदपि वक्तुं शक्यं नापि 'प्लवाह्येतेअदृढा यज्ञरूपा, इत्यादि श्रुतिनिन्दिते कर्मणि वेदान्तानां समन्वयो युक्तः अनाप्तत्वापत्तेः। नहि स्वमुखेनैव निन्दां कृत्वा पुनस्तस्मिन्नेव निन्दाविषये स्वयं समन्वीयात् सर्वज्ञो वेदस्तथात्वे चोन्मत्तप्रलापवत्तस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्। नापि वेदान्तानां विध्यङ्गत्वमर्थवादादिवद्वक्तुं शक्यं भिन्नप्रकरणपठितत्वात् विधिसान्निध्याभावाच्च। नापि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावरूपभूतार्थबोधकतया वेदान्तानां निष्फलत्वं वक्तुं शक्यं वेदान्तवेद्यब्रह्मज्ञानस्य मोक्षरूपपरमश्रेयः फलवत्त्वात्। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टियिष्यन्ति मानवास्तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यती' त्याद्यन्वयव्यतिरेकसाधरणश्रुतिभ्यः। नन्वक्षय्यं हवै चातुर्मास्ययाजिनः' इत्यादिना कर्मणोऽपि ब्रह्मवत्स्तुतिश्रवणात् तत्र समन्वयो न दोषावह इति चेत् न। वेदविषयः स एव यः सर्वत्र स्तूयते एव नतु कापि निन्द्यते कर्मणस्तु स्तुतिनिन्दयोरुभयोर्विषयत्वदर्शनान्न शास्त्रसमन्वितत्वमित्यर्थः। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' 'नास्त्यकृतः कृतेने'त्यादिना निन्दापूर्वकश्रेयः प्रतिबन्धकत्वश्रवणात्।

कर्मस्तुतिस्तु बालानां प्रवर्त्तनायैव। ननु स्यादेतदुपनिषद्भागस्य कथञ्चित् ब्रह्मपरत्वं तत्र तथात्वदर्शनात्। पूर्वभागस्य तु 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिना नित्यकाम्यादिकर्मविधायकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्कथं ब्रह्मपरत्वमितिचेन्न। कृत्स्नस्यापि वेदस्य ब्रह्मपरत्वमेव कर्मादौ तस्य केनचिद्भागेन कथञ्चिदन्वयदर्शनेऽपि समन्वयस्तु ब्रह्मण्येव। तत्रोपनिषद्भागस्य साक्षात्तत्स्वरूपगुणादिप्रतिपादनपरत्वात् साक्षादन्वयः, नित्यनैमित्तिककर्मपराणाञ्चाधिकारिसत्त्वशुद्धिसम्पादनद्वारा ब्रह्मविषयक-ज्ञानाद्युपपादनेन काम्यानामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन तत्रैव परम्परया समन्वय इति विवेकः। एकस्योभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति' जैमिन्युक्तः एकस्य कर्मण उभयत्वेऽनेक-फलसम्बन्धे संयोगः वाक्यस्योभयसम्बन्धबोधकता तस्य पृथक्त्वं भेदः यथा 'खादिरैर्जुहोति खादिरैर्जुहुयाद्वीर्यकाम' इत्येकस्यैव खादिरकरणकस्य कर्मण उभयपरत्वं तथा प्रकृतेऽपि ज्योतिष्टोमादिकर्मणां स्वर्गादिफलकत्वे श्रूयमाणेऽपि विविदिषाश्रुतेर्ज्ञानार्थकत्व-मित्यवगमादित्यर्थः। तस्मात् कृत्स्नस्य वेदस्यापि साक्षात् परम्परया वा ब्रह्मण्येव समन्वयः इति सिद्धम्। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः। एवम्भूतस्य शास्त्रसमन्वितस्य ब्रह्मणः 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः निदिध्यासितव्यः' इत्यादिश्रुतिप्रमितेन ध्यानेन 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इत्यादिवाक्योक्ततदनुग्रहसहकृतेन भिद्यते हृदयग्रन्थि'रित्यादिमन्त्रप्रतिपा-दितात्साक्षात्कारान्मोक्ष इत्यग्रे स्फुटीभविष्यति।।४।।

इतिश्रीसनत्कुमारसन्ततिप्रवर्त्तक श्रीभगवम्बिादित्यमतानुयायिधरामण्डलविजयिश्री-केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य्यविरचितायां कौस्तुभप्रभाख्यसूत्रवृत्तौ चतुःसूत्रीव्याख्यानम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'तु' शब्द पूर्वपक्ष के निरास के लिए है। पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार वेदान्त-वेद्य ब्रह्म ही है अथवा शास्त्र का एक मात्र वेद्य ब्रह्म ही है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र मुमुक्षु जिज्ञास्य जगत् के अभिन्न-निमित्तोपादान कारण शास्त्र योनि, जीव-प्रधान तथा काल-कर्म के नियन्ता, ब्रह्मा, रुद्र तथा इन्द्रादि देववन्दित चरणारविन्द, सकल दोष शून्य, सार्वज्ञ आदि अनन्त कल्याण गुण-गण-निलय एवं मुक्तजन परम प्राप्य ब्रह्म में ही समन्वित हैं। अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्यों का वाचक भावक से ब्रह्म में ही अन्वय है। "स विजिज्ञासितव्यः" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि" "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च" "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां यं सर्वे देवा नमन्ति" "य आत्मा अपहत-पाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको ऽविजिघत्सोऽपिपासः" "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि सम्पूर्ण वेद वाक्यों का परम प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। पहले जो कहा गया है कि सम्पूर्ण वेद-वाक्य क्रियापरक हैं, वे अत्यन्त तुच्छ हैं, यह तो ब्रह्म-तस्करों की कपोल कल्पना मात्र है। बल्कि सम्पूर्ण कर्मकाण्ड मोक्ष के असाधारण कारण ब्रह्म विविदिषा के उत्पादन द्वारा उपक्षीण होता है तथा मोक्ष के उपायभूत विद्या के उत्पादक होने

के कारण कर्म का ब्रह्म में ही समन्वय है। क्योंकि 'तमेतं वेदानुवचनेन' इस प्रकार विविदिषा श्रुति है। इस कथन से वेदान्त वाक्यों का क्रतु के अङ्ग कर्ता (आत्मा) के प्रतिपादन में वेदान्त वाक्य निराकांक्ष हो जाते हैं, ऐसा जो मीमांसकों का कथन है, वह निरस्त हो जाता है, बल्कि पूर्वोक्त प्रकार से कर्म, उसके ज्ञान तथा उसके अनुष्ठान आदि में विवेक, वैराग्य आदि सम्पादन द्वारा नैराकांक्ष्य हो जायगा। क्योंकि 'अर्थी-समर्थो विद्वानधिकारी' इस लक्षण में क्रियावित् को ही अधिकारी माना गया है। यह विषय अनुमान से भी सिद्ध होता है। जैसा कि अनुमान का प्रयोग होगा- शास्त्र कर्मपरक नहीं है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य मुक्ति जिज्ञासा उत्पादन द्वारा ही उपक्षीण हो जाती है, जैसे रूप आदि का ज्ञान उत्पन्न कर चक्षु आदि की। यहाँ पुनः वेदान्त-वाक्यों की कर्तृपरत्व की शङ्का करते हैं- यदि कहें कि सभी कारक कर्म-साधन हैं और कर्ता भी कारक ही है, फिर तो उसमें क्रिया की अङ्गता की उपपत्ति होगी, यदि कहें कि ब्रह्म तो आप्तकाम होने से कारक से भिन्न है, फिर उसमें कर्म तथा कर्तृत्व का अभाव होने के कारण इष्ट की सिद्धि नहीं होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते, ब्रह्म के कारक से भिन्न होने पर भी वह जीव से भिन्न नहीं है, कारण 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा क्रतु के अङ्ग कर्ता क्षेत्र को ब्रह्म मानने के कारण उससे भिन्न ब्रह्म शब्द प्रतिपाद्य कुछ नहीं है तो ऐसा नहीं कह सकते, यह मन्दों के लिए अन्ध परम्परा की तरह उपदेश मात्र है। कर्म, कर्ता आदि समग्र कारक-कलापों के नियन्ता, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, विश्वात्मा परब्रह्म परमात्मा को क्रिया का अङ्ग एवं जीव से पृथक् उसकी असत्ता उन्मत्त के अलावा कोई नहीं कह सकता है और न ही "प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा" इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा निन्दित कर्म में वेदान्त-वाक्यों का समन्वय भी युक्त है। जिस कर्म की वेद ने निन्दा की है, उसी में उसका समन्वय कहने पर वेदान्त-वाक्यों में अनाप्तत्व दोष की आपत्ति होगी। अपने ही मुख से निन्दा करके पुनः उसी निन्दा के विषय कर्म में स्वयं को सर्वज्ञ वेद समन्वित करेगा, फिर तो उन्मत्त प्रलाप की तरह वेद में भी अप्रामाण्य का प्रसङ्ग हो जायगा। न ही वेदान्त-वाक्यों में अर्थवाद आदि वाक्यों की तरह विधि-अङ्गता भी कह सकते, क्योंकि वेदान्त वाक्य भिन्न प्रकरण में पठित हैं, उनमें विधि-वाक्यों का सान्निध्य भी नहीं है, न ही प्रवृत्ति-निवृत्ति अभाव रूप भूतार्थ बोधक होने के कारण वेदान्त वाक्यों को निष्फल कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्त वेद्य ब्रह्म ज्ञान में मोक्ष रूप परम श्रेय फल साधनता है। "तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवास्तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यन्ति' इत्यादि अन्य व्यतिरेकि तथा सावधारण श्रुतियों द्वारा ब्रह्मज्ञान से मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। यदि कहें कि "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः" इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा कर्म को भी ब्रह्म की तरह स्तुति श्रवण है, फिर उसमें समन्वय दोषावह नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण वेद का मुख्य विषय वही होगा, जिसकी सर्वत्र स्तुति होती है, कहीं निन्दा नहीं होती। कर्म की तो स्तुति भी है और निन्दा भी, इसलिए वह शास्त्र-समन्वित नहीं हो सकता। **जैसा कि 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' 'नास्त्यकृत' 'कृतेन' इत्यादि श्रुतियों द्वारा कर्म की निन्दा की गई है और उसे श्रेय का प्रतिबन्धक**

माना है। कर्म की स्तुति तो बालकों को कर्म में प्रवृत्ति के लिए ही है। यदि कहें कि उपनिषद् भाग किसी तरह ब्रह्मपरक हो भी जाय, परंतु पूर्व भाग तो 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' ' ज्योतिष्टोमेन यजेतं स्वर्गकाम' इत्यादि वाक्यों द्वारा नित्य काम्य आदि कर्म का विधान कर निराकांक्ष होने से उनमें ब्रह्मपरत्व कैसे होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण समग्र वेद में ब्रह्मपरत्व ही माना गया है। कर्म आदि में कतिपय भाग द्वारा किसी प्रकार अन्वय दर्शन होने पर भी समन्वय तो ब्रह्म में ही है। इनमें उपनिषद् भाग का ब्रह्म के स्वरूप-गुण आदि प्रतिपादन द्वारा साक्षात् अन्वय है और नित्य-नैमित्तिक कर्मपरक वाक्यों का अधिकारीजनों के अन्तःकरण की शुद्धि कर ब्रह्म विषयक-ज्ञानादि के उपपादन द्वारा और काम्य आदि कर्मों का भी संयोग पृथक्त्व न्याय से ब्रह्म में ही समन्वय है, ऐसा जानना चाहिए। इसी बात को महर्षि जैमिनि के वचन द्वारा प्रामाणिक करते हैं- 'एकस्योभयत्वे संयोग पृथक्त्वम्' अर्थात् एक ही कर्म के अनेक फल सम्बन्ध-संयोग अर्थात् उभय सम्बन्ध बोधकता और उसका भेद। जैसे "खादिरैर्जुहोति खादिरैर्जुहुयाद्वीर्यकामः' यहाँ उक्त एक ही वाक्य खादिर करणक कर्म का जैसे उभय परकत्व होता है, इसी प्रकार प्रकृत में भी ज्योतिष्टोम आदि कर्मों का स्वर्ग आदि फल श्रूयमाण होने पर भी विविदिषा श्रुति होने के कारण ज्ञानार्थकत्व भी है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार समस्त वेद का भी साक्षात् व परम्परया ब्रह्म में ही समन्वय है, ऐसा सिद्ध होता है। इसका विस्तार आकर-ग्रन्थ में देखना चाहिए। इस प्रकार शास्त्र समन्वित ब्रह्म के "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि श्रुति-प्रतिपादित एवं 'यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यः' इत्यादि श्रुति-प्रतिपादित परमात्म सहकृतध्यान तथा 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित साक्षात्कार द्वारा मोक्ष होता है, ऐसा आगे स्पष्ट होगा।

इस प्रकार श्रीसनत्कुमार-सन्तति प्रवर्तक श्रीभगवान् निम्बार्क मतानुयायिजगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य द्वारा विरचित कौस्तुभप्रभावृत्ति में चतुःसूत्री व्याख्या का पं.वैद्यनाथ झा कृत हिन्दी-अनुवाद पूरा हुआ।

।। ईक्षत्यधिकरणम् ।।

एवं चतुःसूत्र्या सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मैव सर्ववेदान्तवाक्यप्रतिपाद्यमित्युक्तम्। इदानीं साङ्ख्यादिभिर्ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगम्यत्वं मन्यमानैः प्रधानादिपरतया योजितानां वेदान्तवाक्यानां परब्रह्मण्येव समन्वयप्रकारं प्रपञ्चयति भगवान्सूत्रकार 'ईक्षतेर्नाशब्द' मित्यादिभिः। तत्र 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय' मित्यादिवाक्यस्थजगत्कारण-वाचिसच्छब्दवाच्यं प्रधानं वा ब्रह्म वेति संशये प्रधानमेवेति साङ्ख्या आहुः। इदंशब्दवाच्यस्य वियदादिकार्यस्य तत्परिणामभूतत्वात् कार्यकारणयोश्चानन्यत्वेन प्रतिज्ञादृष्टन्तयोस्तत्र सम्भवात्, ज्ञानकारणस्य सत्त्वस्य तत्र भावात्सर्वज्ञत्वस्य रजोगुणस्य भावात् क्रियाशक्तिमत्वस्य च प्रधाने सम्भवात्। 'तदैक्षत बहुस्या' मिति च गौणमीक्षणं भवितुमर्हति 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादिगौणेक्षणसाहचर्य्यात्। नहि चेतनस्य कारणता वाच्या, चिन्मात्रस्य निर्धर्मकस्य कूटस्थत्वादिति प्राप्ते आह।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार वेदान्त चतुःसूत्री के द्वारा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का प्रतिपाद्य है, यह कहा गया। अब सांख्य आदि दर्शनों द्वारा प्रधान आदि परत्वेन निष्पादित वेदान्त वाक्यों का परब्रह्म में ही समन्वय है, ऐसा 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रों द्वारा भगवान् सूत्रकार विचार करते हैं। सर्वप्रथम 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्य घटक जगत् कारण वाची सत् शब्द का प्रतिपाद्य प्रधान है या ब्रह्म? ऐसा संशय होने पर प्रधान ही सत् शब्द वाच्य है, ऐसा सांख्यवादी कहते हैं, क्योंकि इदं शब्द वाच्य आकाश आदिकार्य प्रधान के ही परिणाम हैं। त्रिगुणात्मक प्रधान को सत् शब्द वाच्य होने पर ही कार्य-कारण में अनन्यत्व सिद्ध होगा, कारण सजातीय में ही अनन्यत्व होता है, विजातीय में नहीं और कार्यकारण में अनन्यता होने पर भी एक विज्ञान से सर्वविज्ञानवाद की सिद्धि होगी- विजातीय ब्रह्म कारणवाद में उसकी सिद्धि नहीं होगी। तभी औपनिषद-प्रतिज्ञा दृष्टान्त की सिद्धि संभव है। अचेतनमृत्पिण्ड, लौह-मणि आदि दृष्टान्त चेतनकारण में दार्ष्टान्तिक होने पर भी संभव नहीं है। यदि कहें कि प्रधान में ज्ञानवत्त्व तथा क्रियाशक्तिमत्त्व कथमपि संभव नहीं; अतः सत् शब्द वाच्य प्रधान नहीं हो सकता, इस पर कहते हैं कि प्रधान में ज्ञानकारण सत्व होने से सर्वज्ञत्व तथा रजोगुण होने से क्रियाशक्तिमत्व संभव है। यदि कहें कि श्रुति में जगत्कारण के लिए 'तदैक्षत' कहा गया है, तो कहते हैं जैसे 'तत्तेज ऐक्षत' की तरह वहाँ गौण ईक्षण होगा। इसलिए चेतन ब्रह्म में कारणता नहीं कह सकते, क्योंकि निर्धर्मक चिन्मात्र ब्रह्म कूटस्थ है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।५।।

न शब्दः श्रुतिप्रमाणं यस्मिंस्तदशब्दमानुमानिकं प्रधानं जगत्कारणवादिवाक्यप्रतिपाद्यं न भवति कुतः? ईक्षतेरीक्षितृत्वश्रवणात्। कारणस्य 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' 'स ऐक्षत लोकानसृजा इति' 'स इमाँल्लोकानसृजत' 'स ईक्षांचक्रे' 'स प्राणमसृजते'त्यादिश्रुतेः। ईक्षणं नाम पर्य्यालोचनमध्यवसाय इति यावत्। तस्य चेतनासाधारणधर्मत्वेनाचेतने प्रधानेऽसम्भावत्। नापि प्रतिज्ञादृष्टान्तौ तत्र सम्भवतः चेतनस्य तत्कार्यत्वाभावेनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायास्तत्रासम्भवादिति वक्ष्यति। नापि सत्त्वादिमत्त्वेन ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वं घटते साम्यावस्थायां तस्य गुणवत्त्वाभावात्। गुणसाम्यं प्रधानमिति निर्णीयमानत्वाच्च। नापि निर्धर्मकं ब्रह्म तस्य ज्ञानक्रियादीनां स्वाभाविकशक्तीनां शास्त्रसिद्धत्वात् 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रियाचे'त्यादिश्रुतेः। अत ईक्षणक्षमश्चेतनविशेषः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः पुरुषोत्तम एव सच्छब्दवाच्यः।५।।

ननूक्तं गौणमीक्षणं भवितुमर्हतीति प्रपन्नासन्नं कूलमालक्ष्य कूलं पिपतीषतीति शुष्कपङ्कां कृषिमालक्ष्य कृषिर्वृष्टिं प्रतीक्षते इतिवत् लोकप्रसिद्धिवदचेतने प्रधानेऽपि चेतनवदीक्षणमौपचारिकमेवास्तु कुतो मुख्येक्षितृत्वं विहायौपचारिकं कल्प्यत इति चेत् तत्तेज ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्ते' ति चाचेतनयोरप्यप्तेजसोश्चेतनवदुपचारदर्शनात् तस्मात्सत्कर्तृकमीक्षणमौपचारिकमिति गम्यते उपचारप्राये वचनादिति प्राप्ते आह।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् जिसमें श्रुति-प्रमाण नहीं है, ऐसा शब्द प्रमाण वर्जित आनुमानिक प्रधान जगत् कारण वाचक वेदान्त वाक्य प्रतिपाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् कारण के लिए श्रुति में ईक्षितृत्व कहा गया है— 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' 'स ऐक्षत लोकानसृजा इति' 'स इमाँल्लोकानसृजत' 'स ईक्षांचक्रे' 'स प्राणमसृजत्' इत्यादि। ईक्षण का अर्थ है पर्यालोचन अर्थात् अध्यवसाय और पर्यालोचन चेतन का असाधारण धर्म है- जो अचेतन प्रधान में असंभव है और प्रतिज्ञा दृष्टान्त भी उसमें संभव नहीं है। कारण चेतन प्रधान का कार्य नहीं है, इसलिए एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का निर्वाह उसमें संभव नहीं है, ऐसा "प्रतिज्ञा विरोधात्" सूत्र में कहेंगे। दूसरी बात सत्व आदि होने से ज्ञान, क्रिया आदि शक्तिमत्व भी उसमें नहीं संभव है, क्योंकि साम्य अवस्था में उसकी गुणवत्ता का अभाव है। प्रधान में गुणों की तुल्यता होने के कारण सत्त्वकार्य ज्ञान ही असंभव है, फिर सर्वज्ञता दूर की बात है। कारण, गुण-साम्य ही प्रधान है, ऐसा निश्चय है। ब्रह्म निर्धर्मक होने से वह जगत्-कारण कैसे हो सकता है, ऐसा जो पहले कहा, वह ठीक नहीं, ब्रह्म में ज्ञान तथा क्रिया आदि स्वाभाविक शक्ति-रूप में विद्यमान हैं, ऐसा शास्त्र-सिद्ध है- 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यादि। इसलिए ईक्षण समर्थ चेतन विशेष सर्वज्ञ सर्वशक्ति पुरुषोत्तम ही सत् शब्द वाच्य है।

यदि कहें कि उक्त श्रुति में ईक्षण गौण है, जैसे सन्निकट भविष्य में नदी तट का पतन देखकर तट गिरना ही चाहता है, खेत को सूखा देखकर खेत वृष्टि की प्रतीक्षा करता है, इस लोक प्रसिद्धि के अनुसार अचेतन प्रधान में भी ईक्षण औपचारिक ही हो तो क्या हानि? श्रुति में भी 'तत्तेज ऐक्षत' ता आप ऐक्षन्त इत्यादि स्थलों में चेतन की तरह उपचार देखा गया हो, इसलिए उक्त श्रुति में भी सत् कर्तृक ईक्षण औपचारिक ही है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं–

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।१।१।६।।

सच्छब्दवाच्यं प्रधानमीक्षणं तत्र गौणमिति चेन्न। कुत आत्मशब्दादिति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्युपक्रम्य' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' इति सच्छब्दवाच्यस्यात्मशब्देन परामर्शदर्शनात् नहिं चेतनं श्वेतकेतुं प्रत्यचेतनप्रधान-स्यात्मत्वोपदेशः सम्भवति कूलं पिपतिषतीत्यादौ तु संशयस्थलत्वाद्युक्तं गौणत्वम् 'विषये प्रायदर्शना' दिति जैमिनिसूत्रात्। प्रकृते तु गौणमुख्ययोर्गौणस्य जघन्यत्वेन संशयाभावात्। तेजःप्रभृतीनामपि तदात्मकत्वावगमात्तेजःप्रभृतीक्षणमपि मुख्यमेवेत्वभि-प्रायः ।६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि 'सदेव' श्रुति में सत् शब्द वाच्य प्रधान ही है, वहाँ ईक्षण गौण है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि श्रुति में आगे आत्म शब्द है। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' ऐसा उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा' पहले केवल सत् था– सम्पूर्ण जगत् उस सत् के सह ब्रह्मात्मक है, वह सत् आत्मा है। इस प्रकार उस सत् शब्द वाच्य का आत्म शब्द से परामर्श किया गया है। चेतन श्वेत केतु के प्रति अचेतन प्रधान को आत्मत्वेन उपदेश संभव नहीं है। 'कूलं पिपतिषति' इत्यादि प्रसंगों में संशय–स्थल होने के कारण गौणत्व युक्त है। 'कारणविषये प्राय दर्शनात्' ऐसा जैमिनि–सूत्र है। प्रकृत स्थल में गौण और मुख्य में गौण के जघन्य होने से कोई संशय नहीं है। तेज तथा अप आदि के भी ब्रह्मजन्य होने से ब्रह्मात्मकत्व है, इसलिए 'तत्तेजः ऐक्षत' 'ता आप ऐक्षन्त' यहाँ भी मुख्य ही ईक्षण व्यवहार है।।६।।

नन्वात्मशब्दोऽपि चेतनाचेतनसाधारणो दृश्यते तत्कुत आत्मशब्दादगौणमीक्षणमिति चेत्तत्राह।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि आत्म शब्द का भी चेतन–अचेतन उभय साधारण प्रयोग देखा जाता है, फिर कैसे कह सकते हैं कि आत्म शब्द का प्रयोग होने से कौन ईक्षण कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं। यथा —

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।१।१।७।।

तस्मिन् कारणे निष्ठा यस्य तस्य 'तत्त्वमसी'ति तदात्मकत्वानुसन्धानमुपदिश्य 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' इति शरीरपातविलम्बो ब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्ष उपदिश्यते यदि चेतनं मुमुक्षुं श्वेतकेतुं प्रत्यचेतनं कारणमुपदिश्येत तदा तदात्मकतया प्रत्यगात्मानुसन्धानस्य मोक्षसाधनत्वोपदेशो नोपपद्येत अन्यथाऽचेतनत्वापत्तिरेव मोक्षः स्यात् साच प्रधानकारणवादिमतेऽपि नाङ्गीक्रियते अतः सदात्मशब्दवाच्यं परं ब्रह्मैव।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् उस सत् पद वाच्य कारण में निष्ठा रखने वालों के लिए मोक्ष का उपदेश है। वहाँ आगे कहा गया है 'तत्त्वमसि' हे श्वेतकेतु तुम वही सत् हो, तदात्मक हो। जो उसमें तदात्मकता का अनुभव करता है, उसे शरीर-पात अर्थात् मरण-पर्यन्त तक का ही विलम्ब ब्रह्मभावापत्ति रूप मोक्ष के लिए होता है- 'तस्य तावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' इति अर्थात् उस सत्-निष्ठ का मृत्यु के बाद तत्क्षण मोक्ष हो जाता है। यदि चेतन मुमुक्षु श्वेतकेतु के प्रति अचेतन कारण का उपदेश दिया जाता, तब उस अचेत प्रधान में चेतनजीव के आत्मानुसन्धान को मोक्ष-साधन के रूप में उपदेश कैसे उपपन्न होता, तब तो अचेतनत्वापत्ति ही मोक्ष होता और ऐसा अचेतनत्वापत्ति रूपी मोक्ष प्रधान कारणवादी भी नहीं मानते। इसलिए सत् तथा आत्म शब्द वाच्य उक्त श्रुति में ब्रह्म ही है।७।।

हेयत्वावचनाच्च ।१।१।८।।

यद्यचेतनं प्रधानमेवात्र सच्छब्दवाच्यतयोपदिष्टं स्यात्तर्हि तन्निष्ठावारणाय मुमुक्षुं श्वेतकेतुं प्रति तस्य हेयत्वमेव श्रुत्योच्येत नच तथोच्यते प्रत्युत 'तत्त्वमसि तस्य तावदेव चिर' मित्युपादेयत्वेनोपदिश्यते अतः परं ब्रह्मैव।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात यदि उस छान्दोग्य श्रुति में सत् शब्द से अचेतन प्रधान ही उपदिष्ट होता, तब उसके प्रति निष्ठा-निवारण के लिए मुमुक्षु श्वेतकेतु के प्रति उसकी हेयता ही श्रुति के द्वारा कही जाती और हेयता नहीं बताई गई है, बल्कि आगे 'तत्त्वमसि तस्य तावदेव चिरं' इस प्रकार उसका उपादेय रूप में ही उपदेश है; इसलिए सत् शब्द वाच्य परब्रह्म ही है।।८।।

प्रतिज्ञाविरोधात् ।१।१।९।।

प्रधानकारणवादे 'उत तमादेशममप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिः कारणविज्ञानेन चिदचिन्मिश्रकृत्स्नकार्यविज्ञानप्रतिज्ञा च विरुध्येत चेतनस्य प्रधानकार्यत्वाभावेन तज्ज्ञानेन

तज्ज्ञानासम्भवात् ।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रधान कारण वाद में 'उत तमादेशप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादि वाक्यों द्वारा कारण विज्ञान से चित्-अचित् समस्त कार्य-विज्ञान की प्रतिज्ञा विरुद्ध हो जायगी। कारण चेतन के प्रधान का कार्य न होने से प्रधान ज्ञान से चेतन का ज्ञान संभव नहीं है।।९।।

स्वाप्ययात् ।१।१।१०।।

'स्वमपीतो भवति सता सौम्य तदा समपन्नो भवति' इति सुषुप्तस्य जीवस्य स्वकारणे लयः श्रूयते प्रधानस्य कारणत्वे लयश्रुतिर्विरुद्ध्येत प्रधानस्य जीवकारणत्वा-भावत् ।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'स्वमपीतो भवति सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति' इस वचन के द्वारा सुषुप्त अवस्था में जीव का अपने कारण में लय बताया गया है। यदि प्रधान कारण होता तो लय प्रतिपादन श्रुति का विरोध हो जायगा। कारण कि प्रधान जीव का कारण नहीं है।।१०।।

गतिसामान्यात् ।१।१।११।।

सर्वासूपनिषत्सु चेतनैकारणत्वस्य गतेरवगतेः समानत्वाच्चेतनं ब्रह्मैव कारणं नहि तार्किकाणामिव वेदान्तशास्त्रस्य भिन्ना कारणावगतिर्यया प्रधानस्यापि क्वचित् कारणत्वं वक्तुं शक्येत।।११।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् समस्त उपनिषदों में चेतन कारणवाद ही देखा जाता है। इसलिए चेतन ब्रह्म ही कारण है, नैयायिकों की तरह वेदान्त शास्त्र के कारणवाद में भिन्नता नहीं है- जिससे कहीं प्रधान को भी कारण बता दे, बल्कि सर्वत्र चेतन कारणवाद ही है।

श्रुतत्वाच्च ।१।१।१२।।

अस्यामेवोपनिषदि सच्छब्दवच्यपरमेश्वरस्यैव 'आत्मन एवेदं सर्व' मित्यात्मत्वेन सर्वकारणत्वस्य श्रुतत्वात् चशब्दादुपनिषदन्तरेऽपि 'स कारणं कारणाधिपाधिपः नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः' इत्यादिना, अतः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्दिव्यगुणनिधिः सर्वेश्वरः पुरुषोत्तम एव सर्वजगत्कारणमिति सिद्धम्। एतेन जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणश्चैतन्य गुणयोगित्वपारमार्थिकमुख्येक्षितृत्वादिगुणयोगित्वादेः श्रुतिमुखेन प्रतिपादितत्वात् प्रधानवाद इव निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मवादोऽपि सूत्रकारेण निरस्तः।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसी उपनिषद् में सत् शब्द-वाच्य परमेश्वर का ही- 'आत्मन एवेदं सर्वत्र' इस वाक्य से आत्मा (चेतन) को सम्पूर्ण जगत् का कारण बताया है। च शब्द से अन्यान्य उपनिषदों में 'स कारणं कारणाधिपाधिपः' नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप' इत्यादि वचनों द्वारा चेतन को कारण माना है। इसलिए सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान दिव्य गुण निधि सर्वेश्वर पुरुषोत्तम ही सम्पूर्ण जगत् के कारण हैं, यह सिद्ध होता है। इसी ग्रन्थ से जिज्ञास्य ब्रह्म में चैतन्य गुणयोगित्व पारमार्थिक मुख्य ईक्षितृत्व आदि गुणों का श्रुति द्वारा प्रतिपादन होने से प्रधानवाद की तरह निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मवाद भी सूत्रकार द्वारा अमान्य हो जाता है।।१२।।

एवं चेतनभोग्यभूतप्रधानशब्दोदितजडवर्गाज्जिज्ञास्यं ब्रह्म व्यतिरिक्तमित्युक्तमिदानीं चेतनवर्गादपि निरतिशयानन्दवत्वेन तस्य व्यावृतिः प्रतिपाद्यते।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार चेतन के भोग्य भूत प्रधान शब्द से प्रतिपादित जड़ वर्ग से जिज्ञास्य ब्रह्म भिन्न है, ऐसा कहकर अब चेतन वर्ग से भी निरतिशय अनन्यवान् होने के कारण ब्रह्म भिन्न है, ऐसा विचार करते हैं।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।१।१।१३।।

तैत्तिरीयके अन्नमयादिचतुःपुरुषानुक्रम्याम्नायते 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मा आनन्दमयस्तेनैष पूर्ण' इति। तत्र किमयमानन्दशब्दवाच्यः प्रत्यगात्मा उत परमात्मेति संशये प्रत्यगात्मेति पूर्वपक्षः। कुतः' 'तस्यैष एव शारीर आत्मे'त्यानन्दमयस्य शरीरसम्बन्धित्वश्रवणात् तच्च प्रत्यगात्मन एव युक्तम् अन्नमयादिगौणार्थप्रवाहपतितत्वाच्च। किञ्चान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ता' मिति श्रुत्यन्तरे आनन्दमयस्य शोध्यत्वश्रवणात् नित्यशुद्धस्य परमात्मनः शोद्ध्यत्वासम्भवादिति प्राप्ते राद्धान्तः आनन्दमयः परमात्मा कुतोऽभ्यासात् तत्रैवानन्दशब्दस्य बहुकृत्वोऽभ्यस्यमानत्वात् 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एषह्येवानन्दयाति आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानादि' त्यादिना अपिच 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवती' त्यारभ्य आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कुतश्चने' त्यन्तस्य वाक्यस्य ब्रह्मानन्द एव निरतिशयापरिमितत्वप्रतिपादने च समाप्तिदर्शनात्। किञ्च श्रुत्यैव विज्ञानमयशब्दवाच्याज्जीवादन्यत्वेनोत्कृष्टत्वेनानन्तरत्वेनान्तर्यामित्वेन च प्रतिपादित्वात्। नहि जीवस्य स्वस्मात्स्वयोत्कृष्टत्वं स्वान्तर्यामित्वञ्च घटते। नच विज्ञानमयशब्दो बुद्धिपरः मयटो वैयर्थ्यापत्तेः। नच प्राणमय इव स्वार्थे मयडिति वाच्यम्। प्राणमये ह्यगत्या तथाङ्गीकारः अत्रतु तद्वतो जीवस्य सत्वात्। 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्युत्तरश्लोकस्य विज्ञानशब्देऽपि 'कृत्यल्युटो बहुल'मिति सूत्रात् नन्द्यादित्वाद्वा

कर्तरि ल्युट्। यत्तूक्तं शारीरत्वश्रवणान्न परमात्मेति। नैषदोषस्तस्य सर्वेष्वन्नमयादिषु तन्नियन्तृत्वेन वर्तमानत्वात् आनन्दमयेतु 'तस्यैष एव शारीर आत्मा यः सर्वस्य' इति निर्देशस्तस्वानन्यात्मत्वं दर्शयति। आत्मान्तरानिर्देशात्। नाप्यन्नमयादिगौणर्थप्रवाह-पतित्वात्तस्यापि गौणत्वं निर्णेतुं शक्यं तस्य सर्वान्तरत्वेन सर्वपरत्वेन च प्रतिपादितत्वात् शुद्ध्यन्तामित्यस्य च प्रसाध्यतामित्यर्थः। अत आनन्दमयशब्दनिर्दिष्ट आकाशादि-जगत्कारणभूत आत्मा ब्रह्मैवेति सिद्धम्।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ पहले सन्देह जनक वाक्य का उदाहरण देते हैं- "तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयस्तेनैव पूर्णः (तै.उ.) इस श्रुति में अन्नमय पुरुष, (शरीर) प्राणमय पुरुष (शरीर धारक), मनोमय पुरुष (उक्त उभय पुरुष का विधारक) इन तीनों का नियन्ता विज्ञानगुण विज्ञानमय जीवात्मा पुरुष, इन अन्नमयादि चारों पुरुषों को बताकर श्रुति कहती है - 'तस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्य आनन्दमय' इति अर्थात् इस विज्ञानमय पुरुष से भिन्न आनन्द मय पुरुष है, जिससे यह संसार पूर्ण है। यहाँ संशय होता है कि उक्त श्रुति में आनन्दमय शब्द प्रतिपाद्य जीवात्मा है, या परमात्मा। पूर्वपक्ष होता है- आनन्दमय शब्द से यहाँ जीवात्मा गृहीत होता है, क्योंकि कहा गया है- 'तस्यैष एव शारीर आत्मा' इसमें आनन्दमय शरीर-सम्बन्धी बताया गया है, शरीर सम्बन्ध जीवात्मा के लिए ही समुचित है। दूसरी बात अन्नमय आदि गौणार्थ के प्रवाह के मध्य में पठित है। दूसरी बात अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमयानन्दमया में "शुद्ध्यन्ताम्' इस भिन्न श्रुति में आनन्दमय तत्त्व को शोधनीय बताया गया है। नित्य शुद्ध परमात्मा में शोध्यत्व असंभव है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं- उक्त श्रुति में आनन्दमय परमात्मा ही है, क्योंकि आनन्द शब्द का अनेक बार परमात्मा के लिए ही प्रयोग किया गया है- जैसे 'यदेष आकाशः आनन्दो न स्यात् एष एवानन्दयाति आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि। इसके अलावा 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति' यहाँ से लेकर 'आनन्दं ब्रह्मणोविद्यान्न बिभेति कुतश्चन' यहाँ तक के समस्त श्रुति-वाक्यों का ब्रह्मानन्द ही परम आनन्द है, यह तात्पर्य है। दूसरी बात उक्त श्रुति (तैत्तरीय) में श्रुति ने स्वयं विज्ञान शब्द-वाच्य जीव से भिन्न रूप में, उससे उत्कृष्ट रूप में तथा अन्तर्यामी रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। यदि वहाँ आनन्दमय शब्द से जीव अभिप्रेत होता तो जीव में स्वयं अपने में अपने से उत्कृष्टता एवं अपने में अपना अन्तर्यामित्व कैसे घटता? यदि कहें कि विज्ञानमय शब्द से बुद्धि अभिप्रेत है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते फिर तो मयट् प्रत्यय का वैयर्थ्य हो जायगा। यदि कहें प्राणमय की तरह यहाँ स्वार्थ में मयट् है तो यह ठीक नहीं, वहाँ तो विकार या प्राचुर्य रूप अर्थान्तर का अभाव होने से स्वार्थ में मयट् स्वीकार किया जाता है, यहाँ तो विज्ञानमय शब्द से जीव अर्थ लिया जा सकता है। प्राचुर्य अर्थ संभव है, यदि कहें कि विज्ञानमय शब्द 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इस श्रुति में उक्त विज्ञान शब्द के तुल्यार्थक होने से मयट् यहाँ स्वार्थिक है, तो ऐसा भी नहीं कह

सकते। वहाँ विज्ञान शब्द में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र से अथवा नन्द्यादि गण में पाठ होने से कर्ता में ल्युट् है। शारीर शब्द श्रवण से यहाँ आनन्द परमात्मा नहीं हो सकता- यह दोष नहीं, क्योंकि वह परमात्मा समस्त अन्नमय आदि तत्त्वों में उनके नियन्ता के रूप में वर्तमान है। आनन्दमय के लिए तो 'तस्यैष एव शारीर आत्मा य सर्वस्य' ऐसा निर्देश है, यह निर्देश उस परमात्मा की अनन्यात्मा को प्रदर्शित करता है, क्योंकि वहाँ अन्य आत्मा का निर्देश नहीं है। अन्नमय आदि गौण अर्थ के प्रवाह में पतित होने से उसमें भी गौणत्व होगा ऐसा निर्णय भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह परमात्मा सबकी अन्तरात्मा एवं सबसे पर है, ऐसा कहा गया है, 'शुद्धयन्तां' का तात्पर्य है कि उसकी साधना करे। इसलिए उक्त श्रुति में आनन्दमय शब्द से निर्दिष्ट आकाश आदि जगत् के कारणभूत आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्य्यात् ।१।१।१४।।

ननु नायमानन्दमयः परमात्मा विकारशब्दात् विकारार्थकमयटः श्रवणात्। 'मयड्वैतयोर्भाषाया- मभक्षाच्छादनयो'रिति प्रकृत्य 'नित्यं वृद्धशरादिभ्य' इतिविकारार्थे मयट् स्मर्यते। अन्नमय इत्युपक्रमे तस्यैव दर्शनात्, इतिचेत्तत्राह नेति। कुतः? प्राचुर्यात्। प्रचुरतायामपि 'तत्प्रकृतवचने मयडिति' मयट्स्मरणात्। आनन्दप्रचुरत्वञ्च मनुष्यानन्दमारभ्योत्तरोत्तरशतगुणितानन्दमुक्त्वा ब्रह्मानन्दस्य निरतिशयापरिमितत्वाभिधानात् किञ्च मयड्वैतयोरिति पूर्वसूत्रान्नित्यं वृद्धशरादिभ्य इत्यत्र भाषायामित्यनुवृतेर्विकारावय- योर्मयटो भाषाविषयत्वेन प्रकृते छन्दसि विकारार्थे मयट् न सम्भवति। पर्णमयी जुहुरित्यादौतु 'द्व्यचच्छन्दसीति विधानबलादुपपद्यते प्रकृतेत्वानन्दशब्दस्य द्वयच्त्वाभावात् जीवेऽपि 'न जायते म्रियते वा विपश्चिदिति विकारप्रतिषेधः किमुत परमात्मनि विकारशङ्का। नच प्रचुरानन्दवत्वेऽप्यल्पदुःखवत्वमवर्जनीयमितिवाच्यम्, प्रकाशमयः सूर्य इति सूर्य्यस्य प्रकाशप्रचुरत्वे कथिते तद्विरोधितमोऽल्पत्वस्य तत्राप्रतीतेः। नहि तत्र स्वगततमोऽल्पत्वापेक्षं प्रकाशप्रचुरत्वं किन्तु व्यधिकरणचन्द्रादिगतप्रकाशाल्पत्वसापेक्षम्, एवं व्यधिकरणजीवगतानन्दाल्पत्वापेक्षमेव ब्रह्मण्यानन्दप्रचुरत्वम्, तस्मात्प्राचुर्य्यार्थे मयट् तत्र हेतुः।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि यहाँ आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ आनन्दमय शब्द में विकारार्थक मयट् प्रत्यय का श्रवण है। कारण 'मयड्वैतयोर्भाषायामभिक्षाच्छादनयोः' ऐसा उपक्रम करके नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः' से विकार-अर्थ में मयट् का विधान है, क्योंकि उपक्रम में अन्नमय शब्द में विकार-अर्थ में ही मयट् देखा गया है, तो ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ प्राचुर्य अर्थ में मयट् है- क्योंकि प्राचुर्य अर्थ में भी 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र से मयट् का विधान है। ब्रह्म में आनन्द-प्रचुरता की बात तैत्तरीय के आनन्द-मीमांसा-प्रकरण में मानवीय आनन्द से आरम्भ कर, उत्तरोत्तर शतगुणित आनन्द बताकर अन्त में ब्रह्मानन्द को निरतिशय

अपरिमित आनन्द बताया गया है। दूसरी बात 'मयट्वैतयोः' इस पूर्व सूत्र से 'नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः' सूत्र में भाषायां की अनुवृत्ति होने से विकार और अवयवार्थक मयट् का भाषा में ही विधान होने से प्रकृत में छन्द में विकार अर्थ में मयट् नहीं हो सकता। 'पर्णमयी जुहुः' इत्यादि स्थानों में तो 'द्व्यचश्छन्दसि' इस विधान-बल से उपपन्न होता है। प्रकृत में आनन्द शब्द दो अच् बाला नहीं है। दूसरी बात जब जीव में भी 'न जायते न म्रियते वा विपश्चित्' वाक्य द्वारा विकार का प्रतिषेध है, फिर परमात्मा में विकार की तो बात ही क्या, यदि कहें कि प्रचुर आनन्दवान् होने पर भी किंचित् दुःख तो रह ही जायगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'प्रकाशमयः सूर्यः' ऐसा कहने पर प्रकाश-विरोधी अन्धकार की अल्पता की सूर्य में प्रतीति नहीं होती। कारण सूर्य में स्वनिष्ठ अन्धकार की अल्पता की अपेक्षा करके प्रकाशाधिक्य नहीं होता, अपितु स्वभिन्न चन्द्रादिगत प्रकाश की अल्पता की अपेक्षा करके इसी तरह व्यधिकरण जीवगत आनन्द की अल्पता की अपेक्षया ब्रह्म में आनन्द की प्रचुरता विवक्षित है। इसलिए प्राचुर्य अर्थ में यहाँ मयट् है। 'तत्र हेतुः' इस में हेतु देते हैं-

तद्धेतुव्यपदेशाच्च।।१।१।१५।।

यतस्तस्य जीवानन्दस्य हेतुरयमेवेति व्यपदिशति श्रुतिः। 'एषह्येवानन्दयाती'ति दीर्घश्छान्दसः योह्यन्यानान्दयति स प्रचुरानन्दो यथा लोके योऽन्येभ्यो विद्यां प्रयच्छति स प्रचुरविद्य इति तस्मादानन्दयितव्यानां जीवानामानन्दयिताऽऽनन्दशब्दवाच्यः परमात्मैव।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्योंकि उस जीवगत आनन्द का हेतु यह परमात्मा ही है, ऐसा श्रुति कहती है- 'एष एवानन्दयाति' यहाँ दीर्घ प्रयोग छान्दस है। जो दूसरों को आनन्दित करता है, वही प्रचुर आनन्दवाला होता है। जैसे लोक में जो दूसरों को विद्या प्रदान करता है, वह प्रचुर विद्यावाला होता है। इसलिए आनन्दनीय जीवों का आनन्दप्रदाता आनन्द शब्द-वाच्य परमात्मा ही है।

मन्त्रवर्णिकमेव च गीयते।१।१।१६।।

मन्त्रवर्णेनोक्तं यन्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्मैवानन्दमय इति गीयते तथाहि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्राह्मणेन यद् ब्रह्मजीवप्राप्यतयोपक्रान्तम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति' मन्त्रेण च सत्यत्वादिविशिष्ट यन्निश्चितं मध्ये च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिभिर्यद्विशदीकृतं तदेव ब्रह्मेहान्यो'ऽन्तरात्मा आनन्दमयः' इत्युच्यते मन्त्रवर्णयोश्चैकविषयत्वादत आनन्दमयः परमात्मैव।।१६।।

अत्र केचिदाहुः नहि परमेश्वरादन्यः कश्चित्प्रत्यगात्मा 'नान्योतोऽस्ति द्रष्टे' त्यादिश्रुतेरुपहितेश्वरस्यैव जीवस्य सतो मुक्तावस्थंनिर्विशेषचिन्मात्रैकरसं परिशुद्धस्वरूपं

मान्त्रवर्णिकं प्राप्यप्राप्तृत्वव्यपदेशस्तु घटाकाशादिवदुपाधिकृतभेदाङ्गीकारेणातस्तदनतिरिक्त आनन्दमय इति प्राप्ते आह।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् ब्राह्मण-वाक्य से जिसका विधान किया गया, उसी का मन्त्र द्वारा निश्चय किया गया एवं उसी का मन्त्र ब्राह्मणघटक वाक्यों द्वारा विशुद्धीकरण हुआ वही परब्रह्म है। जो जीव स्वरूप से विलक्षण आनन्दमय शब्द से वाच्य है। जो 'तथाहि' इत्यादि ग्रन्थ से बताते हैं अर्थात् जो ब्रह्म 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' इस ब्राह्मण द्वारा जीव के प्राप्य रूप में उपक्रान्त हुआ है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस मन्त्र द्वारा सत्यत्वादि विशिष्ट रूप में जिसका निश्चय किया गया तथा मध्य में 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादि वाक्यों द्वारा जिसका विशदीकरण हुआ, वही ब्रह्म यहाँ 'अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित हुआ है, क्योंकि मन्त्र और वर्ण में एक विषयत्व का नियम है। इसलिए आनन्दमय यहाँ परमात्मा ही है।

अब यहाँ उत्तर सूत्र की अवतरणिका प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- 'अत्र केचिदाहुः' यहाँ कुछ विद्वान् कहते हैं कि परमेश्वर से भिन्न कोई जीवात्मा नहीं है। जैसा कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' श्रुति वचन है। अविद्या से उपहित ईश्वर ही जीव है और उसी का मुक्त अवस्थापन्न निर्विशेष चिन्मात्र एक रस परिशुद्ध स्वरूप मन्त्र-वर्णिक तत्त्व है। इन में प्राप्य तथा प्राप्तृत्व व्यवहार तो घटाकाश आदि की तरह उपाधिकृत भेद स्वीकार कर माना गया है- इसलिए जीव से अतिरिक्त कोई आनन्दमय नहीं है- ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं-

नेतरोनुपपत्तेः ।१।१।१७।।

ब्रह्मण इतरो भिन्नो जीवात्मा मुक्तावस्थोऽपि मान्त्रवर्णिको न भवति कुतः, अनुपपत्तेः विद्वत्प्राप्यत्वनिरुपाधिकविपश्चित्वजगत्कारणत्वाद्यसाधारणगुणानां परमात्मेतरस्मिन्नुपपत्तेः।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् ब्रह्म से भिन्न मुक्तावस्थापन्न जीवात्मा भी मान्त्रवर्णिक नहीं हो सकता, क्योंकि विद्वत्प्राप्यत्व, निरुपाधिक विपश्चित्व तथा जगत्कारणत्व आदि असाधारण गुणों की परमात्मा से भिन्न में उपपत्ति नहीं हो सकती।।१७।।

भेदव्यपदेशाच्च ।१।१।१८।।

'विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मा, आनन्दमयः' 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदमित्यादिभिः

स्वाभाविकजीवेश्वरभेदस्य व्यपदेशाच्च न मान्त्रवर्णिको विज्ञानात्मा 'नान्योतोऽस्तीति वाक्यस्य तु प्रत्यगात्मस्वातन्त्र्यद्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिनिषेधपरत्वात् नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादि' त्यादिस्वाभाविकद्रष्टृत्वादिप्रतिपादकाभ्यास- सहकृतशास्त्रव्याकोपात्। यत्तूक्तं घटाकाशवदुपहित ईश्वर एव जीव इति। तन्न। निष्क्रियत्वे गत्याद्यनुपपत्तेः सक्रियत्वेचेश्वराभिन्नत्वेन विभुत्वात् सुतरां गत्याद्यनुपपत्तेः। नच स्वरूपतो निष्क्रियत्वेऽपि उपाधेः परिच्छिन्नत्वात्तत्तत्क्रियाश्चेतनेऽध्यस्य घटगतीस्तदवच्छिन्नाकाशेऽध्यस्य घटाकाशश्चलतीतिवत् देवतत्तश्चलतीति व्यावहारिकगत्याद्युपपत्तिरिति वाच्यम्। तथात्वे क्षणे क्षणे बन्धमोक्षापत्तिरित्यादिदोषाणां पूर्वमेवोक्तत्वात्।।१८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'विज्ञानमयादन्योऽन्तरात्मा' 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन' 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदम्' इत्यादि प्रमाणों द्वारा जीव एवं ईश्वर में स्वाभाविक रूप से भेद बतलाया गया है। इसलिए मान्त्रवर्णिक विज्ञानात्मा 'जीव' नहीं हो सकता। 'नान्योतोऽस्तीति' यह वाक्य जीवात्मा के स्वतन्त्र द्रष्टृत्व तथा श्रोतृत्व आदि का निषेधक है, न कि सामान्यतया द्रष्टृत्व आदि का। अन्यथा 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' इस जीवगत स्वाभाविक द्रष्टृत्व आदि प्रतिपादक शास्त्र का व्याकोप हो जायगा। यह जो कहा गया कि घटाकाश की तरह उपहित ईश्वर ही जीव है, वह ठीक नहीं। जीव को निष्क्रिय मानने पर गति आदि की उपपत्ति नहीं होगी और सक्रिय के ईश्वर से अभिन्न मानने पर विभु होने से स्वतः गति आदि की अनुपपत्ति हो जायगी। यदि कहें कि जीव के स्वरूपतः निष्क्रिय होने पर भी उपाधि के परिच्छिन्न होने के कारण उसकी क्रियाओं का चेतन में अध्यास करके घट की गति को तदवच्छिन्न आकाश में अध्यास करके घटाकाश चलता है, इस व्यवहार की तरह देवदत्त चलता है, इस प्रकार की व्यावहारिक गति आदि की उपपत्ति हो जायगी तो ऐसा नहीं कह सकते। इस प्रकार तो क्षण-क्षण में बन्ध तथा मोक्ष की आपत्ति होगी तथा इस प्रकार के अनेकानेक दोष होंगे ऐसा पूर्व में कहा गया है।

कामाच्च नानुमानापेक्षा।१।१।१९।।

जीवस्य जगत्कारणत्वेऽविद्यापरवशतयाऽनुमानस्य प्रधानस्य कारणादिरूपस्यापेक्षास्ति आनन्दमयस्य तु न, कुतः कामात्सङ्कल्पादेव 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादिना सृष्टिकर्तृत्वश्रवणाज्जीवादन्यः परमात्मैवानन्दमयः।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् जीव को जगत् कारण मानने पर उसे अविद्यापरवश होने से अनुमान प्रधान को कारण की अपेक्षा होगी, परंतु आनन्दमय को तो किसी की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह तो संकल्प से ही जगत् की रचना में समर्थ है। क्योंकि 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय'

इत्यादि प्रमाणों द्वारा उसमें सृष्टि कर्तृत्व का श्रवण है – इसलिए जीव से अन्य परमात्मा ही यहाँ आनन्दमय है– जीव नहीं।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ।१ ।१ ।२० ।।

यतोऽस्मिन्नानन्दमये मान्त्रवर्णिके परमात्मनि अस्य जीवस्य ज्ञानिनस्तद्योगं तेन परमात्मना सम्बन्धं तद्भावापत्तिलक्षणां मुक्तिं शास्ति शास्त्रम्, 'यदा ह्येवेष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवती'ति श्रुत्यर्थस्तु यदा यस्मिन् भगवन्निर्हेतुककृपाकटाक्षसमये एषोऽनन्यशरणो विद्वान् एतस्मिन् भगवति अभयं यथास्यात्तथा प्रतिष्ठामव्यभिचरितनिष्ठां तत्कृपयैव बिन्दते लभते अथानन्तरमेवाभयं गतो भवति भयकारणान्यनिष्ठाभावात् किम्भूते दृश्यो जडवर्गस्तद्विलक्षणे। आत्मनां समूह आत्म्यं तद्भिन्ने क्षराक्षरविजातीये। 'अनिरुक्ते' इयत्तावच्छिन्नविषयकशब्दानुदिते 'अनिलयने' ऽनाधारे ऽनन्ताचिन्त्यशक्तिमतीत्यर्थः। यदावाज्ञानकाले एष विद्वान् उदरमीषदपि साधनसम्बन्ध प्रयोजनैकतममन्तरमन्यनिष्ठां कुरुते ऽथ तस्य भयं भवतीत्यर्थः। यद्वा तद्योगमानन्दयोगं शास्ति भगवती श्रुतिः। 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति' जीवस्य यल्लाभादानन्दयोगः स तस्मादन्यः परमात्मैवेत्यानन्दमयः परं ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात इसी आनन्दमय मान्त्रवर्णिक परमात्मा में इस ज्ञान प्राप्त जीव का उस परमात्मा के साथ तद्भावापत्ति भगवद् भावापत्ति रूप मुक्ति का शास्त्र विधान करता है– 'यदा ह्येवेष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति' इत्यादि। इस श्रुति का अर्थ इस प्रकार है– **जब जीव भगवान् की अहैतुक कृपाकटाक्ष को प्राप्त होता है, तब यह अनन्य शरण विद्वान् जीव उन्हीं की कृपा से अनन्य भक्ति प्राप्त करता है, तदनन्तर ही अभय को प्राप्त होता है, क्योंकि तब उसमें भय की कारणरूपा अन्य निष्ठा का अभाव हो जाता है।** (ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति (बृ.३०४/४/६) इन वचनों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जड़ प्रकृति या जीवात्मा को आनन्दमय नहीं माना जा सकता। इसलिए एक मात्र परब्रह्म परमेश्वर ही आनन्दमय शब्द का वाच्यार्थ है[1] और वही संपूर्ण जगत् का कारण है। वह परमात्मा कैसा है, तो कहते हैं दृश्य जड़ वर्ग से विलक्षण तथा क्षराक्षर विलक्षण। अनिरुक्त माने– जिसका इयत्ता रूप में शब्द वर्णन न कर सकता हो जो अनिलयन है। अर्थात् जो सबका आधार है, पर जिसका कोई आधार नहीं यानी जो अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान् है, ऐसे परमात्मा में और जब अज्ञान काल में यह जीव थोड़ा भी अन्य निष्ठा करता है, तब वह भय को प्राप्त होता है। अथवा आनन्द के योग का शासन

१. वेदान्त-दर्शन (गीताप्रेस) ने भी विज्ञानमय जीव से भिन्न परमात्मा को ही आनन्दमय माना है। (सं)

करती है भगवती श्रुति। 'रसो वै सः' 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दीभवति' इस श्रुति-प्रमाण के आधार पर जीव को जिसके प्राप्त होने पर आनन्द का योग होता है, वह उससे भिन्न परमात्मा ही आनन्दमय है, यह सिद्ध हुआ।

अत्र पूर्वपक्षः

[1]'अत्र केचित्तु नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वम्। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' इत्यारभ्य विज्ञानमयान्ते विकारार्थे मयट् प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्द्धजरतीन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्य्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वञ्चाश्रीयत इति मान्त्रवर्णिकब्रह्माधिकारादिति चेदन्नमयादीनामपि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः। यद्यप्यन्नमयादिषु तस्मात्तस्मादान्तरस्यान्यस्यात्मन उच्यमानत्वाद्युक्तं तेषामब्रह्मत्वमानन्दमयात्तु न कश्चिदन्योऽन्तरात्मेति श्रूयते तथापि तस्य प्रियशिरस्त्वाद्यवयवयोगविधानादानन्दमयशब्दार्थो विकृत एव, अपिचानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्माऽवयवी तदेवच ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्यं स्यादन्यतरपरिग्रहेतु युक्तो ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रैव ब्रह्मशब्दनिर्देश आश्रयितुं ब्रह्म शब्दसंयोगान्नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति।

किञ्च ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यन्तरमुक्तम्। असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयं ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोगुणदोषाभिधानाद् गम्यते। 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।' इत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति। नचानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता प्रियमोदादिविशेष-स्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात्। कथं पुनः स्वप्रधानं सद् ब्रह्मानन्दमयस्य पुच्छत्वेन निर्दिश्यते। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठति। नैष दोषः। पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठा परायणमेकनीडलौकिक-स्यानन्दजातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ कतिपय महानुभाव कहते हैं कि आनन्दमय ब्रह्म नहीं है। 'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' यहाँ से आरम्भ कहकर विज्ञानमय तक विकार अर्थ में मयट् का प्रवाह है, फिर आनन्दमय में ही अकस्मात् अर्धजरती-न्याय से कैसे मयट् का प्राचुर्य अर्थ होंगे और आनन्दमय पदवाच्य ब्रह्म होगा? यदि कहें कि मान्त्रवर्णिक ब्रह्म का अधिकार होने से आनन्दमय ब्रह्म होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, फिर तो अन्नमय आदि में भी ब्रह्मत्व का प्रसङ्ग हो जायगा। यद्यपि अन्नमय आदि में इन अन्नमय आदि से उत्तरोत्तर भिन्न ही आत्मा कहने से उनमें ब्रह्म भिन्नत्व स्वयं सिद्ध हो जाता है, पर आनन्दमय से भिन्न किसी को

---

१. भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने अपने भाष्य में वृत्तिकारके आनन्दमय परमात्मा है, इस मत का 'इदं त्विह वक्तव्यम्' ऐसा कहकर खण्डन किया है, उसे 'अत्र केचित्तु' के द्वारा उनके मत का जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यपाद ने यहाँ सविस्तर [illegible] किया है। (सं)

आत्मा (ब्रह्म) नहीं कहा गया है, फिर भी आनन्दमय में भी प्रिय शिरस्त्व आदि अवयवों का योग विधान होने से आनन्दमय शब्द का अर्थ विकृत ही होगा। दूसरी बात आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर वही आनन्दमय ब्रह्म अवयवी और वही 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यहाँ अवयव यह सामंजस्य कैसे ? इन दोनों में एक का परिग्रह मानने पर 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यहाँ का ब्रह्म ही ग्राह्य होगा, क्योंकि ब्रह्म शब्द का निर्देश यहीं है, आनन्दमय वाक्य में नहीं, क्योंकि वहाँ ब्रह्म शब्द का योग नहीं है।

दूसरी बात- 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' के पश्चात् कहा गया है- 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः' इस श्लोक में आनन्दमय का अनुकर्षण न करके ब्रह्म में ही भाव अभाव का ज्ञान होने तथा गुण-दोष का कथन होने से ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यहाँ ब्रह्म में स्वप्रधानत्व है।

यदि कहें कि आनन्दमय आत्मा में ही भाव-अभावात्मक गुण-दोषों का कथन है तो कहते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, प्रिय मोद आदि विशेष रूप आनन्दमय समस्त लोक में प्रसिद्ध है[1] यदि कहें कि फिर स्वप्रधान सद् ब्रह्म आनन्दमय आत्मा के पुच्छ रूप में कैसे कहा गया है- 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' तो कहते हैं, यह कोई दोष नहीं है, यहाँ पुच्छवत् पुच्छ है, प्रतिष्ठा माने परायण है।

'पूर्वपक्षः'

नावयवत्वम्, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। इति श्रुत्यन्तरात्। अपिचानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निर्विशेषन्तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति। अपिचानन्दप्रचुर इत्युक्तं दुःखाल्पत्वमपि गम्यते। प्राचुर्य्यस्य लोके प्रतियोग्यल्पत्वापेक्षत्वात्तथाच सति 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति भूम्नि ब्रह्मणि तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपरुद्ध्येत। प्रतिशरीरञ्च प्रियादिभेदादानन्दमयस्यापि भिन्नत्वं ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यानन्त्यश्रुतेः। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वभूतान्तरात्मा' इतिच श्रुत्यन्तरात् नचानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते। यदिचानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं निश्चितं भवेत् तत उत्तरेष्वप्यानन्दमात्रप्रयोगेष्वप्यानन्दमयाभ्यासः कल्प्येत नत्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति। प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुपीरित्यवोचाम तस्मात् श्रुत्यन्तरे 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यानन्दप्रातिपदिकस्य ब्रह्मणि प्रयोगर्शनात् 'यदेष आकाश आनन्दो नस्यात्' इति ब्रह्मविषयप्रयोगः नत्वानन्दमयाभ्यास इत्यवगन्तव्यम्। यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः 'एतमानन्दमयआत्मानमुपसङ्क्रामति' इति न तस्य

---

१. इसलिए आनन्दमय में भाव-अभाव की शङ्का नहीं है। (सं)

ब्रह्मविषयत्वमस्ति। विकारात्मनामेवान्नमयादीनामनात्मनामुपसङ्क्रमितव्यानां प्रवाहे पठित्वात्। नन्वानन्दमयस्योपसङ्क्रमितव्यस्यान्नमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिफलं निर्दिष्टं भवेत्। नैव दोषः। आनन्दमयस्योपसङ्क्रमणनिर्देशेनैव विदुषः पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तेः फलस्य निर्दिष्टत्वात्। यात्वानन्दमयसन्निधाने 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेये'तीयं श्रुतिरुदाहृता सा 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठे'त्यनेन सन्निहिततरेण ब्रह्मणा सम्बद्ध्यमाना नानन्दमयस्य ब्रह्मतां प्रतिबोधयति। तदपेक्षत्वाच्चोत्तरग्रन्थस्य 'रसो वै सः' इत्यादेर्नानन्दमयविषयता।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म अवयव नहीं है- क्योंकि वृहदारण्यक में लिखा है- 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इसी परमानन्द के एक अंश से अन्यान्य प्राणी जीवित होते हैं। दूसरी बात आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर उसके प्रिय आदि अवयव होने से सविशेष ब्रह्म मानना पड़ेगा, परंतु वाक्य-शेष में तो निर्विशेष ब्रह्म का श्रवण हो रहा है, क्योंकि उसे मन-वाणी से अगोचर बताया[1] गया है- 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' 'दूसरी बात आनन्दमय को आनन्द प्रचुर कहा गया है, एतावता उसमें अल्प दुःख भी है, क्योंकि प्राचुर्य लोक में उसके प्रतियोगी अल्पत्व की अपेक्षा करता है और ऐसा मानने पर 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति सभूमा' इस श्रुति के द्वारा भूमा ब्रह्म में किसी प्रकार की अल्पता का प्रतिपादन परम श्रुति का विरोध होगा। प्रत्येक शरीर में प्रिय आदि का भेद होने से आनन्दमय में भी भिन्नता है, परंतु ब्रह्म तो प्रतिशरीर में भिन्न नहीं है- बल्कि उसे तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति के द्वारा अनन्त कहा गया है। इसी प्रकार 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वभूतान्तरात्मा' भी श्रुति है। आनन्दमय का अभ्यास भी नहीं है, क्योंकि सर्वत्र प्रातिपदिकार्थ मात्र का अभ्यास है। यदि आनन्दमय में ब्रह्मत्व निश्चित होता तो उत्तर श्रुतियों में जहाँ आनन्द मात्र का प्रयोग है, आनन्दमय का अभ्यास होता। इसलिए आनन्दमय में ब्रह्मत्व नहीं है, क्योंकि उसमें प्रिय शिरस्त्व आदि अवयवों का प्रयोग है- ऐसा हमने पहले भी कहा है। इसलिए अन्यान्य श्रुतियों में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' में केवल आनन्द प्रतिपादिक का प्रयोग देखा गया है। इसी प्रकार 'यदेष आकाश न आनन्दो न स्यात्' ऐसा ही ब्रह्म के लिए प्रयोग है। जो कहते हैं - 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' यहाँ आनन्दमय का ही अभ्यास है, वह भी ठीक नहीं, उक्त श्रुति ब्रह्म-विषयक नहीं है, क्योंकि विकारमय अन्नमय आदि आत्मा के प्रवाह में पठित होने के कारण वह ब्रह्म का विषय नहीं हो सकता। यदि कहें कि आनन्दमय को आनन्दमय आदि की तरह ब्रह्म न मानने पर विद्वान् पुरुष को ब्रह्म की प्राप्ति का फल निर्दिष्ट नहीं होगा तो कहते हैं, यह दोष नहीं है, आनन्दमय के उपसंक्रमण का निर्देश होने से ही विद्वान् को पुच्छ प्रतिष्ठा स्वरुप ब्रह्म-प्राप्ति रुप फल का निर्देश है। जो कहते हैं कि आनन्दमय के सन्निधान में 'सोऽकामयत बहुस्यां

1. सविशेष भी मन-वाणी का अगोचर हो सकता है। (सं)

प्रजायेय' ऐसा कथन है, जो आनन्दमय की ब्रह्मता सिद्ध करता है, वह ठीक नहीं, उक्त वाक्य 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' में उक्त ब्रह्म से सन्निहिततर होने से ब्रह्म से ही सम्बन्धित है। इसलिए वह भी आनन्दमय को ब्रह्म सिद्ध नहीं कर सकता और तदुत्तर वाक्य 'रसो वै सः' भी ब्रह्म की ही अपेक्षा करता है। इसलिए वह भी आनन्दमय को विषय नहीं बनाता है।

'पूर्वपक्षः'

[1]"ननु सोऽकामयते' तिब्रह्मणि पुल्लिङ्गनिर्द्देशो नोपपद्यते। नायं दोषः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः इत्यत्र पुंल्लिङ्गेनात्मशब्देन ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्। तस्मादणुमात्रमपि विशेषमनाश्रित्य न स्वत एव प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्मण उपपद्यते नचेह सविशेषं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषितम् वाङ्मनसगोचरातिक्रमश्रुतेः। तस्मादन्नमयादिष्विवानन्दमये-ऽपि विकारार्थ एव मयट् विज्ञेयो न प्राचुर्य्यार्थः। सूत्राणि त्वेवं व्याख्येयानि 'ब्रह्म पुच्छं' प्रतिष्ठेत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्ष्यते उत स्वप्रधानत्वेनेति। पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्ते उच्यते 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मेत्यत्र ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते कुतः अभ्यासात्। 'असन्नेव स भवतीत्यस्मिन्निगमनश्लोके ब्रह्मण-एव केवलस्याऽऽभ्यस्यमानत्वात् 'विकारशब्दान्नेतिचेन्न प्राचुर्य्यात्' विकार शब्देनाऽवयवशब्दोऽभिप्रेतः पुच्छमित्यवयवशब्दान्नस्वप्रधानत्वम् ब्रह्मण इति यदुक्तं तस्य परिहारो वक्तव्यः। अत्रोच्यते नायं दोषः, प्रायुर्य्यादप्यवयवशब्दोपपत्तेः। प्राचुर्य्य प्रायापत्तिः। अवयवप्राय वचनमित्यर्थः। अन्नमयादीनां हि शिरआदिषु पुच्छान्तेष्वयवेषूक्तेष्वानन्दमयस्यापि शिरआदीन्यवयवान्तराण्युक्त्वाऽवयवप्रायापत्या ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्याह नावयवविवक्षया यत्कारणमभ्यासादिति स्वप्रधानत्वं ब्रह्मणः समर्थितम्। 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च' सर्वस्य च विकारजातस्य सानन्दमयस्य कारणत्वेन ब्रह्म व्यपदिश्यते 'इदं सर्वमसृजत' यदिदं किञ्चेति। नच कारणं सद्ब्रह्म स्वविकारजातस्यानन्दमयस्य मुख्या वृत्याऽवयव उपपद्यते। अपराण्यपि सूत्राणि यथासम्भवं पुच्छवाक्यनिर्दिष्टस्यैव ब्रह्मण उपपादकानि द्रष्टव्यानीत्येव वदन्ति। [2]उत्तरपक्षःतत्तुच्छम्। आनन्दमये एव प्रकरणस्य पर्य्यवसानात्। तथाहि तत्र तावत् यदुक्तं विकारार्थे मयट् प्रवाहे सतीत्यादि, तदसम्यक्। अन्नमये मयटो विकारार्थत्वेऽपि प्राणमयादिषु विकारार्थत्वासम्भवेन न तत्प्रवाहपातित्व-मानन्दमयस्य पञ्चवृत्तेः प्राणस्यैकत्वेन प्रकृतिविकारासम्भवात्। ततः स्वार्थे मयट् वृत्तिप्रचुरत्वविवक्षया वा। ज्ञानेन्द्रियैर्युक्तं मन एव मनोमय इत्युच्यते विज्ञानमयेऽपि जीवात्मनश्चेतनस्यान्यविकारत्वासम्भवात्। अन्यथा स्वरूपहानेः "न जायते म्रियते वे" त्यादि शास्त्रवाधः। प्राचुर्य्ये एव मयट् तद्विज्ञानधर्मस्य वद्धावस्थायां सङ्कुचितत्वेऽपि 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वा' दित्यादिशास्त्रेण स्वाभाविकत्वविवक्षया

संसारिणोऽपि जीवस्य विज्ञानप्रचुरत्वसम्भवात्। तस्माद्विकारार्थप्रवाह एव नास्ति कुतस्तत्पातशङ्का कुतस्तरामर्द्धजरतीयन्यायपातप्रसङ्गश्च। प्रत्युत प्राचुर्य्यार्थकविज्ञानमयपद-सान्निध्यात्सुतरां प्राचुर्य्यार्थत्वावगमः। नचैकत्राभ्यासेन द्वित्रिकृत्वः पठितस्य सन्निहितशब्दस्यै-कार्थपरत्वनियमो वक्तुं शक्यः। "पौर्णामास्यां-पौर्णामास्यां यजेते" त्यत्र पाठस्य साम्यसन्निधानत्वयोः सतोरपि सप्तम्यन्तस्य कालवाचित्वेन तृतीयान्तस्य कालयुक्तकर्मवाचित्वेन च भिन्नार्थस्य पूर्वकाण्डे निर्णयदर्शनात्। यदप्युक्तं तस्य प्रियशिरस्त्वाद्यवयवयोगविधानात्सोऽपि विकृत एवेति। तदपि न सम्यक्। प्रियमोदादिशब्द-वाच्यानामपीष्टदर्शनजादिसुखानां तद्विभूतिलक्षणतदंशत्वादवयवत्वोक्तिर्युक्तैव सर्वस्यापि प्राणिसुखजातस्य तदानन्दांशत्वात्। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इत्यादिश्रुतेः परार्थत्वान्नावयवविधानं विरुद्धम्। यदुक्तमानन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे तस्यावयवावयविभावापत्तावसामञ्जस्यं स्यादिति। तदप्यसम्यक् तयोरेकार्थपरत्वस्येष्टत्वात्। कथन्तर्हि आत्मत्वेन पुच्छत्वेन च निरूपणमितिचेदेकस्यैव ब्रह्मणो ब्रह्मत्ववेषेण पुच्छत्वम्। आनन्दत्ववेषेणात्मत्वमित्युपपत्तेः। अंशांशिनोर्विभूतिविभूतिमतोश्चाभेदस्याविरुद्धत्वात्। यच्चोक्तं ब्रह्मपुच्छमित्यानन्दमय इत्यनयोर्वाक्ययोर्ब्रह्मशब्दसंयोगासंयोगाभ्यामपि नानन्दमयशब्दवाच्यं ब्रह्मेति। तत्तुच्छं, यथाऽऽनन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दासंयोगस्तथा ब्रह्मपुच्छमिति वाक्ये आनन्दशब्दासंयोगस्य तुल्यत्वात्। अनयोर्मध्ये सूत्रितत्वेनाभ्यस्तत्वेन-चानन्दपदस्यैव सूत्रकृदभिमतत्वाद्बलीयस्त्वं तद्विरोधश्च तव पक्ष एव महादोषमावहति। यदि ब्रह्माभ्यास एव सूत्रकृदभिप्रेतः स्यात्तर्हि ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठाभ्यासादिति सूत्रितं स्यान्नतु तथा दृश्यते किन्त्वानन्दमयं प्रतिज्ञायाभ्यासश्च हेतुतयोक्तः तथात्वे च प्रतिज्ञाहेत्वोः सूत्रितयोर्हानिरसूत्रितस्य च कल्पना स्यात्। किञ्च भृगुवल्यामपि प्राणाद्युपासने उत्तरोत्तरजिज्ञासाया- स्तदवस्थत्वादानन्दस्य ज्ञानानन्तरमुपदेशसमाप्तेश्चानन्दस्य बलिष्ठत्वं कथं तर्ह्यानन्दरूपस्य ब्रह्मण आनन्दमयत्वम्। आनन्दस्यानन्दपचुरत्वाभावादिति-चेदानन्दस्वरूपस्यैव ब्रह्मणः प्रियमोदप्रमोदशब्दवाच्यशिरः पक्षादिधर्मभूतानन्दमयत्व-स्याद्युपपत्तेः यच्चोक्तमसन्नेव स भवतीति श्लोकेऽननुकृष्यानन्दमयब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानादित्यादि तदपि न सम्यक्। गुणिमात्रनिर्देशेऽपि गुणप्रतिपत्तिः सुकरा सर्वज्ञस्यानन्दाद्यनन्तगुणवत एव प्रस्तुतत्वात् यदप्युक्तमानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निर्विशेषन्तु वाक्यशेषे श्रूयते, इत्यादि। तदतितुच्छम् 'सैषानन्दस्य मीमांसे'ति गुणभूतानन्दस्योत्तरोत्तरवाक्यैराधिक्यं निर्धार्य 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वा'निति गुणगुणिनोः पृथक्पाठ एव कण्ठरवेण ब्रह्मणः सविशेषत्वं ज्ञापयति। 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते' इति वाक्यस्य तु न निर्विशेषपरत्वं किन्तु ब्रह्मानन्दस्यान्यानन्दवत्परिच्छेदवारणपरत्वं रागादिदोषदूषितवाङ्मनसागोचरत्वविधानपरत्वम्वा

अन्यथा तत्रैवोत्तरार्द्धे ब्रह्मण इति षष्ठीनिर्देशो वेदनक्रियाविषयत्वनिर्देशश्च विरुद्धयेत नहि त्वन्मते धर्मधर्मिभावाङ्गीकारः। यच्चोक्तमानन्दप्रचुरत्वे दुःखाल्पत्वमपि गम्यत इत्यादि तदपि तुच्छतरम्। प्राचुर्य्यस्य प्रतियोग्यल्पत्वसापेक्षत्वेऽपि स्वात्मन्येव प्रतियोगिसत्त्वनियमस्याभावात्। व्यधिकरणचन्द्रादिगतप्रतियोगिसत्तामपेक्ष्यापि प्रचुरप्रकाशः सूर्य्य इत्यादेः पूर्वमुक्तत्वात्तद्वदिहापि प्रियामोदादीनि वैषयिकसुखान्यपेक्ष्य तथाप्रयोगप्रवृत्ति-रविरुद्धा इतरथा स्वात्मन्येवोभयकल्पनायां तमःप्रकाशयोखि महद्विरोधाद्वाक्यमूकताप्रसङ्गः। किञ्च, तत्प्रचुरत्वं नाम तत्प्रभूतत्वं तच्चेतरस्य सत्तां नावगमयति अपित्वल्पत्वं निवर्त्तयति। इतरसद्भावाभावौच प्रमाणान्तरावसेयौ। इहचापहतपाप्मेत्यादिश्रुत्या तदभावो गम्यते। श्रुत्यर्थस्तु यत्र यस्यां ध्रुवास्मृतौ अन्यत् ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिन्न पश्यति सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात्। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्। यच्चोक्तं प्रतिशरीरं प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वं ब्रह्म तु न भिद्यते आनन्दाश्रुतेरिति। तदपि न। ब्रह्मण एवानन्दमयशब्दवाच्यत्वेनानन्दमयस्यैवानन्त्यश्रवणात्। यच्चोक्तं नानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकमात्रस्यैवानन्दस्याभ्यासादित्यादि तदप्यसाधु 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इत्यत्र यथा ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमपरत्वं पूर्वकाण्डे निर्णीतं तद्वदिहापि प्रातिपदिकस्यानन्दपदस्यानन्दमयपरत्वं युक्तमेव गुणिनं विना गुणस्य स्थित्यनुपलब्धेः। यच्चोक्तम् 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामतीत्यभ्यासस्य न ब्रह्मविषयत्वं विकारप्रवाहे पठितत्वादिति। तदपि तुच्छतरं विकारप्रवाहाभावस्य पूर्वमुक्तत्वात् तत्रोपसङ्क्रामतीत्य-स्यानुभवतीत्यर्थः। किञ्च मयटो विकारार्थत्वे कोवानन्दमयपदार्थइति विवेचनीयम्। चेतनोऽचेतनो वा। नाद्यः। तस्य निर्विकारत्वादेकरसत्वाच्च। नान्त्यःजडत्वादितरथा घटादीनामप्यानन्दाश्रयत्वापत्तेस्तेषामपि जडत्वसाम्यात्। तस्मात्प्राचुर्य्यार्थ एव मयट् आनन्दमयश्च परमात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तमः श्रीकृष्ण एवेति सिद्धमलमतिविस्तरेण।।२०।।

इत्यानन्दमयाधिकरणम्।।

एवमधिकरणद्वयेन सामान्यतः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः कारणत्वं निरस्येदानीं विशेषतः प्राप्तैश्वर्य्याणामिन्द्रादिचेतनानां प्रकृतिकार्याद्याकाशाद्यचेतनानाञ्च तत्त्वं निराकरोत्यापाद-परिसमाप्तेः।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि "सोऽकामयत" इस श्रुति में पुल्लिङ्ग निर्देश है, जो आनन्दमय को विषय बनाता है, ब्रह्म के लिए पुल्लिङ्ग-निर्देश युक्त नहीं है तो कहते हैं, यह दोष नहीं है, यहाँ "तस्माद् वा एतस्यादात्मनः आकाशः सम्भूतः" पुल्लिङ्ग आत्म शब्द से ब्रह्म का उपक्रम किया गया है। इस लिए अणुमात्र भी विशेषता का आश्रय न करके स्वतः एक ब्रह्म में प्रिय शिरस्त्व

आदि की उपपत्ति नहीं हो सकती और न ही यहाँ सविशेष ब्रह्म प्रतिपादन का विषय है, क्योंकि यहाँ तो मन-वाणी के अविषय ब्रह्म का प्रतिपादन है। इसलिए अन्नमय आदि की तरह आनन्दमय शब्द में भी विकारार्थक मयट् ही जानना चाहिए प्राचुर्य अर्थ का नहीं है। यहाँ शंकराचार्य को आनन्दमयाधिकरण के सूत्र स्वमत के अनुकूल नहीं मालूम पड़े, अतः सूत्रों का अर्थ वे मनमाने ढंग से कर रहे हैं- जो सर्वथा गलत है। जैसा कि वे कहते हैं- अब सूत्रों की व्याख्या इस तरह करनी चाहिए- 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' यहाँ क्या आनन्दमय के अवयव रूप में ब्रह्म विवक्षित है या स्व प्रधानत्वेन? पुच्छ शब्द का प्रयोग होने से अवयव रूप ही प्राप्त होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' आनन्दमय आत्मा यहाँ 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इस अंश से स्व प्रधान ब्रह्म का ही उपदेश है- क्योंकि उसी का अभ्यास है। 'असन्नेव स भवति' इस निगमन श्लोक में केवल ब्रह्म का ही अभ्यास है। विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् यहाँ विकार शब्द से अवयव अभिप्रेत है, क्योंकि पुच्छ इस अवयव वाचक शब्द से ब्रह्म की स्व प्रधानता नहीं आती ऐसा जो कहा है, उसका परिहार कहना चाहिए तो कहते

विशेष-

- सूत्र है- 'विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' शंकराचार्य यहाँ सूत्र के विरुद्ध बोल रहे हैं- प्राचुर्य नहीं विकार।
- श्री चैतन्य चरितामृत में मैंने पढ़ा था, जब महाप्रभु श्रीचैतन्य ब्र.सू. शांकर भाष्य पढ़ते थे तो वे कुछ बोलते नहीं थे। एक दिन गुरु जी के बहुत आग्रह करने पर बोले- गुरु जी कुछ समझमें नहीं आता- सूत्र कुछ कहता है- भाष्य कुछ जो आनन्दमय अधिकरण के शांकर भाष्य पढ़ने पर स्पष्ट दीखता है।
- 'तस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तरआत्मा आनन्दमयः यहाँ आनन्दमय शब्द का वाच्य परमात्मा है- जो ब्र.सू. के आनन्दमयाधिकरण के सूत्रों द्वारा वर्णित है- ऐसा उपनिषदङ्क में भी बताया गया है। एतावता गीता प्रेस ने भी आनन्दमय पद वाच्य परमात्मा को ही माना है और गीता प्रेस की व्याख्या प्रायः श्रुति-सूत्र के अर्थ के अनुरूप ही होती है।
- आनन्दमय अधिकरण में सविशेष ब्रह्म विवक्षित नहीं है, क्योंकि यहाँ मन-वाणी का अविषय ब्रह्म का प्रतिपादन है। यह कथन सर्वथा अज्ञान है। मन-वाणी का अविषय कहने का तात्पर्य है- 'इयत्तावच्छेदेन' जिसका वर्णन नहीं हो सकता है- अन्यथा सम्पूर्ण वेदान्त में ब्रह्म का वाणी द्वारा ही वर्णन है- फिर तो निर्विशेष ब्रह्म का वर्णन भी नहीं हो सकता।
- निगमन मन्त्र द्वारा तो इतना ही कहा गया जो उस पूर्व कथित (आनन्दमय) ब्रह्म की सत्ता नहीं मानता, वह असत् होता है, इसमें तो केवल ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने वालों की निन्दा है। इसमें ब्रह्म के सविशेष- निर्विशेष की तो कोई बात ही नहीं है।
- सुनते थे, श्रीशंकराचार्य महाराज ने सूत्रों तथा मन्त्रों का तोड़मरोड़ किया है, जो मैंने आनन्दमयाधिकरण में प्रत्यक्ष देखा।
- इस सूत्र की भूमिका भी असंगत है- विकार शब्द से अवयव कहीं नहीं लिया जाता, फिर ऐसा संशय भी नहीं हो सकता।
- सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि ब्रह्म-सूत्र में प्रायः सर्वत्र प्रथमान्त शब्द से परमात्मा ही लिया गया है- जैसे 'आकाशस्तल्लिङ्गात्, प्राणस्तथानुगमात्, अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' भूमा सम्प्रसादादध्युप्रदेशात्' इत्यादि। श्री शंकराचार्य जी महाराज ने भी उक्त स्थलों में प्रथमान्तपद वाच्य परमात्मा ही माने हैं। इस युक्ति से भी आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र में आनन्दमय परमात्मा ही सिद्ध होते हैं। (सं)

हैं- यह दोष नहीं कह सकते। प्राचुर्यअर्थ में ही अवयव शब्द की उपपत्ति है- प्राचुर्य माने प्रायः अर्थात् अवयव प्राय में वचन है। अन्नमय आदि कोषों को शिर आदि पुच्छान्तो को अवयव बताने से [1]आनन्दमय को भी शिर आदि अवयव बताने से ब्रह्म में अवयव की प्राप्ति होने से 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' ऐसा कहते हैं, अवयव की विवक्षा से नहीं, क्योंकि ऐसा ही अभ्यास है- इसलिए ब्रह्म के स्व प्रधानत्वका समर्थन है। 'तद्धेतुव्यपदेशात्' अर्थात् आनन्दमय सहित समस्त विकार मात्र के कारण रूप में ब्रह्म का उपदेश है- 'इदं सर्वमसृजत्' 'यदिदं किञ्च' जो सबका कारण सत् ब्रह्म है, वह अपने विकार रूप आनन्दमय का कैसे अवयव हो सकता है ? इसी तरह यथासंभव अन्यान्य सूत्र भी पुच्छ वाक्य निर्दिष्ट[2] ब्रह्म के उपपादक समझने चाहिए, ऐसा कहते हैं।

उत्तर-पक्ष

इस सम्बन्ध में मायावादी ने जो कुछ कहा है, वह अति तुच्छ है। श्रुति में आनन्दमय प्रकरण का पर्यवसान है- (आनन्दमय के बाद उससे उत्कृष्ट किसी का निरूपण नहीं है।) मायावादी ने जो कहा है कि विकारार्थक मयट् के प्रवाह में पतित या पठित होने से विकार रूप आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सकता, वह गलत है, क्योंकि वहाँ अन्नमय शब्द में मयट् विकारार्थक होने पर भी प्राणमय आदि में विकार अर्थ असंभव होने से आनन्दमय में तत् प्रवाह पातित्व नहीं है- क्योंकि पाँच वृत्तियों वाले प्राण के एक होने से उसमें प्रकृति का विकार संभव नहीं है- इसलिए वहाँ स्वार्थ में मयट् है अथवा वृत्ति की प्रचुरता की विवक्षा से वहाँ भी प्राचुर्य में ही मयट् है। इसी तरह ज्ञान आदि इन्द्रियों से युक्त मन ही मनोमय है- वहाँ भी स्वार्थ में ही मयट् है। विज्ञानमय में भी चेतन जीवात्मा में किसी अन्य का विकारत्व संभव नहीं है। अन्यथा उसके स्वरूप की हानि होगी तथा 'न जायते म्रियते वा' इस गीता शास्त्र का बाध होगा। वहाँ भी प्राचुर्य अर्थ में ही मयट् है। जीव के विज्ञानरूप धर्म का बद्ध अवस्था में संकोच होने पर भी 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपोऽविनाशित्वात' इत्यादि शास्त्र प्रमाण से जीव के ज्ञान में स्वाभाविकत्व विवक्षा होने से जीव में विज्ञान की प्रचुरता संभव है। इसलिए यहाँ विकार का प्रवाह ही नहीं है। फिर उसके प्रवाह में पातित्व की शङ्का कैसी ? और अर्धजरती-न्याय के पात का प्रसङ्ग कैसा ? फिर प्राचुर्य अर्थ वाले विज्ञानमय पद के सान्निध्य से आपसे आप आनन्दमय शब्द में भी प्राचुर्य अर्थ का ही अवगम होता है। बार-बार पठित एकत्र अभ्यास युक्त सन्निहित शब्द का समान अर्थ ही होता है, ऐसा भी कोई नियम नहीं है- "पौर्णमास्यां पौर्णमास्यां यजेत" यहाँ पाठ में साम्य और सन्निधान होने पर भी सप्तम्यन्त शब्द में कालवाचित्व तथा तृतीयान्त शब्द में कालयुक्त

---

१. यहाँ तक श्री शंकराचार्य का पूर्वपक्ष है। स्पष्ट क्लिष्ट कल्पना एवं तोड़-मरोड़ है। श्री शंकर कहते हैं कि आनन्दमय परमात्मा नहीं है, तो यह आनन्दमय तत्त्व कौन है ? शंकर ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया।

कर्मवाचित्व होने से भिन्नार्थता का पूर्व काण्ड में निर्णय देखा गया है। यह जो कहा गया है कि आनन्दमय में प्रिय शिरस्त्व आदि अवयवों का योग बताने से आनन्दमय भी विकार युक्त ही होता है, यह भी ठीक नहीं।[1] यहाँ इष्ट दर्शन जनित सुख स्वरूप प्रिय मोद आदि को आनन्दमय की विभूति माना गया है और उसे विभूति रूप अंश होने से उसमें अवयवत्व का कथन युक्त ही है, क्योंकि जागतिक समस्त प्राणीगत सुख या आनन्द उस निरतिशय आनन्द का आनन्दमय अंश ही है- जैसाकि श्रुति का वचन है- 'एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति। परार्थ होने से यहाँ अवयव विधान विरुद्ध नहीं है। "यह भी कथन उचित नहीं है कि आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर उसमें अवयव-अवयवी भाव मानने में असामञ्जस्य है। एक ही पदार्थ अवयवी और वही (ब्रह्म-पुच्छ) द्वारा अवयव कैसे हो सकता है, क्योंकि अवयव-अवयवी में एकार्थपरत्व (समानाधिकरण्य) इष्ट है। यदि कहें कि एक ब्रह्म को आत्मत्वेन (अवयवी रूप में) तथा पुच्छत्वेन (अवयव रूप में) कैसे निरूपण हो सकता ? तो उसका उत्तर है। ब्रह्मत्वेन (अपुरुषविधत्वेन) पुच्छत्व है आनन्दमयत्वेन (साकारत्वेन) आत्मत्व है, इस प्रकार उपपत्ति हो सकती है- अंश-अंशी तथा विभूति-विभूतिमान में अभेद होने में कोई विरोध नहीं है। यह जो कहा गया है कि ब्रह्म पुच्छम् तथा आनन्दमय इन दोनों वाक्यों में ब्रह्म शब्द के संयोग एवं असंयोग के कारण भी आनन्दमय शब्द वाच्य ब्रह्म नहीं हो सकता। अर्थात् 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' वाक्य में ब्रह्म शब्द का प्रयोग है, आनन्दमय में नहीं है। यह कथन तो अत्यन्त तुच्छ है। यदि आनन्दमय वाक्य में ब्रह्म शब्द का संयोग नहीं तो 'ब्रह्म पुच्छं' वाक्य में आनन्दमय शब्द का योग नहीं है, इस प्रकार यह दोष तो दोनों में तुल्य है। बल्कि इन दोनों पक्षों में आनन्दमय पक्ष में 'आनन्दोमयोऽभ्यासात्' ऐसा आनन्दमय पद घटित सूत्र होने तथा उपनिषदों में आनन्द पद का अभ्यास (बार-बार कथन) होने से आनन्दमय आत्मवाद वाला पक्ष ही सूत्रकार द्वारा अभिमत होने से बलवान प्रतीत होता है और आपके पक्ष (ब्रह्म पुच्छ वाद में) सूत्र विरोध होने से आपका पक्ष ही दोषावह प्रतीत होता है। यदि ब्रह्माभ्यास पक्ष सूत्रकार का अभिमत होता तो 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठाभ्यासात्' ऐसा ही सूत्र करते। पर ऐसा नहीं देखा जाता, बल्कि ब्रह्म आनन्दमय है, ऐसी प्रतिज्ञा करके उसमें अभ्यास को हेतु रूप में उपन्यास किया गया है- अर्थात् ब्रह्म आनन्दमय या आनन्दरूप है- ऐसा अनेकोंबार कहा गया है। दूसरी बात ब्रह्म पुच्छ वाद में सूत्र द्वारा सूचित प्रतिज्ञा आनन्दमय परमात्मा है तथा हेतु में, क्योंकि उपनिषदों में सर्वत्र आनन्द का ही अभ्यास है- इसकी हानि होगी तथा जो सूत्र सम्मत नहीं है, उसकी कल्पना करनी होगी। दूसरी बात

---

१. प्रिय शिरस्त्व का तात्पर्य, लोकवत् सावयत्व नहीं, बल्कि जैसे शरीर में शिर की प्रधानता होती है, उसी तरह आनन्दमय परमात्मा में प्रियता गुण प्रधान है, वे सर्वाधिक प्रिय हैं प्रेमास्पद हैं- 'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्'(बृ.उ.) इसी तरह "आनन्दः आत्मा" का तात्पर्य है, शरीर में आत्मा की तरह आनन्द आत्मा का मुख्य स्वरूप है। मोद प्रमोद की आनन्द सिन्धु ब्रह्म की विभिन्न विच्छित्तियाँ हैं। इससे सावयवत्वादि दोष का कोई प्रसङ्ग नहीं। (सं)

भृगु वल्ली में भी प्राण आदि की उपासना में उत्तरोत्तर जिज्ञासा का तादवस्थ्य होने से सबसे अन्त में आनन्द को ब्रह्म बताया और इसके बाद ही उपदेश की परिसमाप्ति हुई है। इस तरह वहाँ आनन्द को बलिष्ठ माने सर्वोपरि माना है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्म आनन्दमय नहीं है ? क्योंकि आनन्द, आनन्द प्रचुर नहीं होता, ऐसा यदि कहें तो कहते हैं कि आनन्द स्वरूप ब्रह्म में ही प्रिय, मोद, प्रमोद आदि शब्द वाच्य शिर, पक्ष आदि धर्मभूत आनन्दमयत्व आदि की उपपत्ति होगी। यह जो कहा गया है कि 'असन्नेव समवति' इस श्लोक में आनन्दमय ब्रह्म का अनुकर्षण किये बिना ही केवल ब्रह्म के ही भाव तथा अभाव मानने पर गुण तथा दोष का कथन है, इसलिए ब्रह्म स्वप्रधान वाद ही श्रुति सम्मत है। 'अवयव वाद नहीं है यह भी ठीक नहीं, गुणीमात्र का निर्देश होने पर भी गुण की प्रतिपत्ति सुलभ होती है, वहाँ सर्वज्ञ तथा आनन्द आदि अनन्त गुण विशिष्ट ब्रह्म ही प्रस्तुत है। यह भी जो कहा गया है कि आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर उसे प्रिय आदि अवयव विशिष्ट बताने के कारण सविशेष ब्रह्म मानना पड़ेगा, परन्तु वाक्य शेष में निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिपादन है, इत्यादि यह तो अत्यन्त तुच्छ है। 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा' इस श्रुति द्वारा गुण स्वरूप आनन्द का उत्तरोत्तर वाक्यों द्वारा उत्तरोत्तर में आधिक्य का निर्धारण कर 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्य द्वारा गुण-गुणी का पृथक् पाठ कर कण्ठ-स्वर से ब्रह्म के सविशेषत्व का ज्ञापन करता है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' यह वाक्य निर्विशेष परक है, यह कथन भी हास्यास्पद है, अपितु उक्त श्रुति ब्रह्मानन्द में अन्य आनन्द की तरह परिच्छेद का निवारण करती है, अर्थात् ब्रह्मानन्द आनन्द-मीमांसा के वर्णित आनन्द से शत गुणित हैं- ऐसा नहीं, बल्कि वह आनन्द कैसा कितना है, इसकी इयत्ता, इसका परिच्छेद मन-वाणी नहीं कर सकती अथवा राग आदि दोषों से दूषित मन-वाणी से अगोचर है, यह तात्पर्य है। अन्यथा वही उत्तरार्द्ध में 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' यहाँ अर्थात् ब्रह्म सम्बन्धी आनन्द का अनुभव करने वाला मुमुक्षु सदा के लिए भय रहित हो जाता है। यहाँ षष्ठी निर्देश एवं वेदन क्रिया विषयत्व का निर्देश

विशेष-

आनन्द मीमांसा द्वारा ब्रह्म के आनन्द को सर्वोपरि बताया है- तथा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'- यहाँ ब्रह्म में षष्ठी विभक्ति द्वारा स्पष्ट ही आनन्द रूप में आनन्द गुण का विधान हुआ है। एतावता ब्रह्म स्वयं आनन्दरूप है और उसमें आनन्द गुण भी है।

जैसे जीव ज्ञान स्वरूप भी है और ज्ञान धर्मी भी, उसी तरह ब्रह्म आनन्द रूप भी है और आनन्द गुणवान् भी जो आनन्द गुण ब्रह्म का सर्वोपरि है- यही आनन्द मीमांसा प्रकरण सिद्ध करता है- इससे सुस्पष्टतया ब्रह्म का सविशेषत्व ही सिद्ध होता है- निर्विशेषत्व नहीं।

आनन्दमय को ब्रह्म मानने पर ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा नहीं बन पाता, कारण एक ही तत्त्व में अवयवी-अवयव भाव कैसा ? तो उसका उत्तर है पुरुष विध ब्रह्म (पुरुषोत्तम) अवयवी तथा अपुरुषविध ब्रह्म ज्ञानिध्येय अवयव हो सकता है। 'प्रकाशाश्रयवद् तेजस्त्वात्' 'ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्'।

'यतो वाचो निवर्तन्ते' का अर्थ निर्विशेषवाद नहीं होता, बल्कि परमात्मा इयत्तावच्छेदेनज्ञेय नहीं एतावन्मात्र है, जो सविशेषवाद में भी संभव है। (सं)

भी विरुद्ध हो जायगा। वाक् तथा मनोगोचरत्व एवं तदगोचरत्व का स्पष्ट विरोध है। यदि ब्रह्म मन वाणी का सर्वथा अविषय है तो फिर जो ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, यह कथन कैसे संभव है- यदि ब्रह्मानन्द अनुभव का विषय होता है- फिर मनोऽगोचर कैसे ? हमारे मत में यतो-वाचो का अर्थ है- इयत्तावच्छेदेन मन माणी का अविषय अथवा रागादि दोष युक्त मन का अविषय पर शुद्ध मन का विषय। इस प्रकार 'यतो वाचो निवर्तन्ते' श्रुति द्वारा स्पष्ट सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। आपके मत में धर्म-धर्मिभाव स्वीकार नहीं किया गया है। 'यह जो कहा गया है कि ब्रह्म को आनन्द प्रचुर कहने पर उसमें अल्पदुःखका सद्भाव भी प्रतीत होता है, वह भी अत्यन्त तुच्छ बात है- प्राचुर्य में प्रतियोगी की अल्पता की अपेक्षा होने पर भी स्व आत्मा में ही प्रतियोगी की सत्ता का कोई नियम नहीं है। चन्द्र आदि भिन्न अधिकरण वृत्ति प्रतियोगी सत्ता की अपेक्षया भी प्रचुर आनन्द शब्द का प्रयोग हो सकता है। जैसे 'प्रचुरप्रकाशः सूर्यः' अर्थात् सूर्य प्रचुर प्रकाशवान् है- ऐसा कहने पर चन्द्र की प्रकाश की अपेक्षया इसमें अधिक प्रकाश है, यानी सूर्य की अपेक्षया चन्द्र में अल्प प्रकाश है- ऐसा बोध होता है। उसी प्रकार से जीवगत वैषयिक आनन्द की अपेक्षया आनन्द मीमांसा के अनुसार ब्रह्म में प्रचुर आनन्द है- एतावता ब्रह्मानन्द की अपेक्षया आनन्द मीमांसानुसार ब्रह्मातिरिक्त आनन्द में आनन्द की अल्पता का बोध होता है। अन्यथा परमात्मा में ही आनन्द की प्रचुरता और अल्पता की बात करने पर तो तम और प्रकाश की तरह महान् विरोध हो जायगा, फिर तो ब्रह्म में आनन्दमयता प्रतिपादक श्रुति का विरोध-प्रसङ्ग हो जायगा, बल्कि आनन्द प्रचुरत्व पदार्थ है आनन्द प्रभूतत्व। आनन्द-प्रभूतत्व इतर की सता का बोध नहीं कराता, अपितु अल्पता की निवृत्ति प्रमाणान्तर द्वारा ज्ञेय है। यहाँ 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म में दुःख का अभाव अवगत होता है। श्रुति का अर्थ तो यह है कि जिस ध्रुवा-स्मृति के प्राप्त होने पर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं देखता, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ के ब्रह्मात्मक होने से उस ब्रह्म से सब अपृथक्-सिद्ध हैं। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए। यह जो कहा गया था कि प्रति शरीर में प्रिय शिर-पक्ष आदि के भेद से आनन्दमय का भेद होता है। ब्रह्म का नहीं, क्योंकि आनन्दमय श्रुति नहीं है; यह भी ठीक नहीं है। ब्रह्म ही आनन्दमय शब्द-वाच्य होने से आनन्दमय का आनन्त्य-श्रवण है। यह जो कहा गया है श्रुति में आनन्दमय का अभ्यास नहीं है, बल्कि प्रातिपादिक मात्र का केवल आनन्द का अभ्यास है, यह भी [1]ठीक नहीं है- क्योंकि जैसे 'वसन्ते-वसन्ते ज्योतिषा-यजेत' इस वाक्य में ज्योतिः शब्द 'ज्योतिष्टोमयज्ञपरकत्व' का पूर्वकाण्ड में निर्णय किया गया है। उसी तरह यहाँ आनन्द प्रातिपदिक का आनन्दमय परकत्व उचित ही है, क्योंकि गुणी के बिना गुण की स्थिति नहीं

---

१. शंकराचार्य जी महाराज कहते हैं कि आनन्दमय का अभ्यास नहीं है- आनन्द का अभ्यास है- पता नहीं वह आनन्द एवं आनन्दमय में क्या भेद देखते हैं- आनन्दमय का भी अर्थ है प्रचुर आनन्द, घनीभूत आनन्द, आप्रणखात् आनन्द- "आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि।" फिर आनन्दमय और आनन्द में क्या अन्तर ? (सं)

हो सकती। यह जो कहा था कि 'एतमानन्दमयामात्मान- मुप संक्रामति' इस अभ्यास में ब्रह्म-विषयत्व नहीं है, क्योंकि विकार प्रवाह में पठित है; यह अति तुच्छ शंका है। यहाँ विकार का प्रवाह ही नहीं है, ऐसा पहले कहा गया है। यहाँ 'उप संक्रामति' का अर्थ है अनुभवति, अनुभव करता है। दूसरी बात यदि यहाँ मयट् विकारार्थक है तो फिर आनन्दमय पदार्थ क्या है- यह विचारणीय है- चेतन है या अचेतन? पहला पक्ष कह नहीं सकते, क्योंकि चेतन जीव निर्विकार है तथा एक रस है। अचेतन भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह जड़ है- फिर तो घट आदि में आनन्दाश्रयत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि उसमें भी जड़त्व का साम्य है। इसलिए यहाँ मयट् प्राचुर्यार्थ ही है और आनन्दमय पदार्थ परमात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है, इस विषय में अधिक विस्तार व्यर्थ है। इस प्रकार आनन्दमय अधिकारण पूरा हुआ।

इस प्रकार दो अधिकरणों द्वारा सामान्य रूप से अचेतन प्रधान, एवं आनन्दमय अधिकरण द्वारा चेतन जीव के जगत्कारणत्व का प्रतिषेध कर सम्प्रति तप आदि द्वारा प्राप्त वैभव वाले जीव-विशेष के जगत्कारणत्व का निषेध करने के लिए उत्तर अधिकरण का आरम्भ करते हैं। पाद-समाप्ति पर्यन्त और पूर्व उत्तर अधिकरण में संगति दिखाते हैं- एवमित्यादि ग्रन्थद्वारा...

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।।१।१।२१।।

छान्दोगैरिदमाम्नायते 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवाक्षिणी तस्योदिति नाम स एष वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्च सामच गेष्णावित्यधिदैवतमथाध्यात्ममथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि तत्र संशयः आदित्यमण्डलाक्ष्णोरन्तःस्थत्वेन श्रूयमाणः पुरुषः किंजीवविशेष उत परमपुरुष इति। हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेशः अन्तरादित्ये, अन्तरक्षिणि ये चामुष्मात्पराञ्चो लोका येचैतस्मादवाञ्चो लोकाः' इत्यादिना रूपवत्त्वपराश्रितत्वपरिच्छिन्नैश्वर्यवत्वश्रवणात्। परस्यतु 'अशब्दमस्पर्शमरूपं, स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि स एष सर्वेश्वर एव भूताधिपतिरित्यादिना तद्विपरीतश्रवणादतः पुण्यवत्प्राप्तैश्वर्य्यः कश्चित् क्षेत्रज्ञविशेष इति पूर्वपक्षः। परमपुरुष एवेति राद्धान्तः कुतस्तद्धर्मोपदेशात्। तस्य परमेश्वरस्यैव धर्माणां सर्वपापगन्धसम्बन्धास्पर्शत्वस्वोपासकसर्वपापमोचयितृत्वादीनां सैषा ऋक् तत्सामेत्यादि सर्वात्मकत्वादीनामस्मिन् वाक्ये उपदेशात्। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। 'समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्, इत्यादिशास्त्रात्सत्यसङ्कल्पत्वादिस्वाभाविकधर्मवत्तत्र रूपवत्त्वस्याप्यविरुद्धत्वात्। अशब्दमित्यादिवाक्यस्य च प्राकृतशब्दादिनिषेधपरत्वात्। नच पराश्रितत्त्वं तस्य वाच्यं सर्वाश्रयत्ववत् सर्वान्तरत्वस्यापि 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता।

सर्वभूतान्तरात्मा। यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि'त्यादि शास्त्रसिद्धत्वात्। नापि तस्य परिच्छिन्नैश्वर्य्य-वत्वमत्र विधीयते, अधिदैवादिव्यवस्थापरत्वात् परिच्छेदवाक्यस्यैकदेशकथनेन परिछिन्न-वत्प्रतीयते। यथानन्तब्रह्माण्डनायकोऽपि श्रीकृष्णो वैकुण्ठनाथो गोकुलनाथो व्रजराजो द्वारकाधिपतिरिति। नच रूपवत्वे शरीरसम्बन्धोऽप्यवश्यंभावी स च कर्मवश्यानां जीवानामेव कर्मानुगुणप्रिययोगायैवेति वाच्यम्। सत्यसङ्कल्पस्यभगवतः स्वेच्छयैव स्वानुरूपाप्राकृत-शरीरसम्बन्धस्य सम्भवेन कर्मवश्यत्वाभावात्। 'अजायमानो बहुधा व्यजायते'ति श्रुतेः। 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाभ्यात्ममायया। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्, न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन' इत्यादिस्मृतेश्च। तत्र प्रकृतिः स्वभावः। स्वमेव भावमास्थाय स्वस्वरूपे स्थित्वा इत्यर्थः। आत्ममायेति स्वसङ्कल्पमात्ररूपेण ज्ञानेनेत्यर्थः। साधुशब्देन भगवदुपासकाग्राह्या-तत्परित्राणस्यैवोद्देश्यत्वात् दुष्कृतविनाशस्त्वानुषङ्गिकः।।२१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

सूत्र का संक्षिप्त अर्थ हृदय के भीतर शासन करने वाला विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डल के भीतर हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म है, क्योंकि उसमें आगे ब्रह्म के ही धर्मो का उपदेश है। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है- 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रूर्हिरण्यकेशः आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवाक्षिणी तस्योदिति नाम स एष वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद तस्य ऋक्च सामच गेष्णावित्यधिदैवत- मथाध्यात्ममथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादि' अर्थात् यह जो आदित्य-मण्डल के अन्तर्गत हिरण्य-हित रमणीय (हिरण्यमय) यानी कल्याणकारी मन-स्वनयन के आह्लाद स्वरुप गुण सम्पन्न पुरुष दीखता है, जिसका [१]श्मश्रु, केश आदि सकल अवयव आप्रणखात (नखसे शिखा तक) सुवर्ण अर्थात् परम कमनीय है। सुन्दर ही सुन्दर है- कमल के समान जिनके कमनीय नेत्र हैं अथवा 'कं' नाम जल को पीकर जीने वाला कमल जिनका आसन है- जैसा कि आदित्य हृदय में 'ध्येयः सदा सवितृ मण्डल मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन सन्निविष्टः' सूर्य मण्डल के मध्य में कमल पुष्प के आसन पर विराजमान नारायण का स्वरूप ध्येय है। जिनका उदित नाम है। उनके ऋग्वेद और सामवेद गायक हैं। यह सूर्य मण्डलान्तर्वर्ती, इनका रूप आधिदैविक है। इसके अनन्तर इनका अध्यात्म रूप कहता हूँ। वह जो आँख के अन्दर पुरुष दीखता है, वही उनका अध्यात्म-रूप है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि आदित्य-मण्डल एवं अक्षि के मध्यवर्ती श्रूयमाण पुरुष क्या जीव विशेष है या परम पुरुष परमात्मा? यहाँ पूर्वपक्षवादी कहता है कि कर्म अथवा विधा के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ कोई जीव है, क्योंकि हिरण्यश्मश्रु-हिरण्य-केश इस प्रकार आदित्य-मण्डल

१. 'श्मश्रु'- पद दाढ़ीमूछ के स्थान का वाचक है- अर्थात् कपोलादि। क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के श्री विग्रह में दाढ़ी मूछ का अस्तित्व नहीं है- क्योंकि भगवान् नित्य किशोर हैं। (सं)

के अन्तवर्ती पुरुष में रूपवत्व तथा अक्षि-मध्यवर्ती पुरुष में- 'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोका येचैतस्मादवाञ्चो लोकाः' इत्यादि प्रमाणों द्वारा पराश्रितत्व तथा परिच्छिन्न ऐश्वर्यवत्व का श्रवण है। परमात्मा के लिए तो 'अशब्दमस्पर्शमरूप' अर्थात् वह परमात्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित तथा रूपरहित है, ऐसा कहा गया है। इसी तरह 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठतः स्वे महिम्नि स एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः' इत्यादि प्रमाणों द्वारा उसे अपराश्रित सर्वेश्वर बताया गया है, इसलिए आदित्य मण्डलान्तरवर्ती पुरुष कोई पुण्य प्रभाव से प्रभूत ऐश्वर्य प्राप्त जीव विशेष ही है- ऐसा पूर्वपक्ष है। इस पर सिद्धान्त करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि- 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' अर्थात् सूर्यमण्डलान्तरवर्ती पुरुष परमात्मा ही है- कारण श्रुति में आगे उसी के धर्मों का उपदेश है, सकल पाप सम्बन्ध स्पर्शशून्यत्व, अपने उपासकजनों के सकल पापमोचकत्व तथा सैषा ऋक् तत्साम इत्यादि प्रमाणों द्वारा सर्वात्मकत्व आदि धर्मों का उस पुरुष के लिए उपदेश है। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्" "समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्" इत्यादि शास्त्र-प्रमाणों द्वारा परमात्मा में सत्यसंकल्पत्व आदि स्वाभाविक धर्मवत् उनमें रूपवत्व भी अविरुद्ध है। 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्' इत्यादि शास्त्रों द्वारा उनमें प्राकृत स्पर्श, रूप आदि का निषेध है। उन परमात्मा में पराश्रितत्व नहीं कह सकते- जैसे वह सर्वाश्रय हैं, उसी तरह उनकी सर्वान्तर्यामित्व भी 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता, सर्वभूतान्तरात्मा, 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि प्रमाणों द्वारा शास्त्र-सिद्ध है। यहाँ उनका परिच्छिन्न ऐश्वर्यवत्ता का भी विधान नहीं है, उक्त श्रुति अधिदेव आदि की व्यवस्थापरक है। परिच्छेद वाक्य एक देश का कथन होने से परिच्छिन्न के समान प्रतीत होता है। **जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड नायक होने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण वैकुण्ठनाथ, गोकुलनाथ, व्रजराज तथा द्वारकाधीश आदि कहलाते हैं-** यदि कहें कि परमात्मा में रूप मानने पर शरीर का सम्बन्ध भी अवश्य मानना पड़ेगा और शरीर सम्बन्ध कर्माधीन जीवों की तरह कर्मानुकूल प्रिय और अप्रिय के संयोग के लिए ही, तो ऐसा नहीं कह सकते। सत्य-संकल्प भगवान् निज इच्छा से ही स्वानुकूल अप्राकृत शरीर के साथ सम्बन्ध संभव है, उनमें कर्माधीनता नहीं है। 'अजायमानो बहुधा व्यजायते' (अजन्मा होकर भी नानारूप में प्रकट होते हैं) ऐसी श्रुति है। 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया। परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन' भगवान् अजन्मा, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर होकर भी निजमाया से अपनी प्रकृति का अवलम्बन कर अवतार लेते हैं। साधुओं के परित्राण एवं दुराचारियों के विनाश के लिए उनका जन्म-ग्रहण होता है। भगवान् का श्रीविग्रह पाञ्चभौतिक नहीं होता। इत्यादि स्मृतियाँ भी प्रसिद्ध हैं। उक्त वाक्य में प्रकृति का अर्थ- स्वभाव है। अपने ही स्वभाव का अवलम्बन कर अर्थात् स्वस्वरूप में स्थित होकर, आत्ममायया-यानी अपने संकल्पमात्र रूप-ज्ञान से। **यहाँ साधु परित्राण ही मुख्य है। दुष्कृत विनाश तो आनुषङ्गिक लाभ होता है।।२१।।**

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।।१।१।२२।।

इतश्चादित्याद्यन्तःस्थः परमेश्वर एव कुतः 'य आदित्ये तिष्ठान्नादित्यादन्तर' इत्यादिश्रुत्याऽऽदित्यादिक्षेत्रज्ञवर्गात्परमात्मनो भेदेन व्यपदेशात् ।२२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस हेतु से भी आदित्य मण्डलान्तर्वर्ती पुरुष परमेश्वर ही है, क्योंकि 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरां यमादित्यो न वेद यस्य आदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमपति य आत्मनितिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं आत्मानमन्तरो यमयति' इत्यादि श्रुतियों द्वरा आदित्य आदि क्षेत्र वर्ग से परमात्मा में स्पष्ट भेद बताया गया है।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ।।१।१।२३।।

छान्दोग्ये शालावत्यजैवलीसम्वादे इदं श्रूयते अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् परायणम्' इत्यत्राकाशशब्दनिर्द्दिष्टः किं प्रसिद्धाकाश उत परमात्मेति संशयः। भूताकाश इति पूर्वपक्षः यतः प्रसिद्धतरप्रयोगे तस्यैव झटिति बुद्धावारोहणात् ब्रह्मणि तु गौण आकाशशब्दो विभुत्वादिधर्मैर्ब्रह्मण आकाशसादृश्यात्। यत्सदादिशब्दानामपि साधारणत्वेनाकाशादेव समुत्पद्यन्त इति वाक्यशेषे विशेषपर्यवसानात्। ईक्षणादयस्तु तत्र गौणा वर्णनीया 'आकाशाद्वायुवायोरग्नि' रित्यादि श्रुत्या ज्यायस्त्वपरायणत्वेऽपि भूतान्तरापेक्षया तत्रोपपद्येते, तस्मादाकाशशब्देन भूताकाश एवेति प्राप्तेराद्धान्तः आकाशोऽत्र परमात्मैव कुतः तल्लिङ्गात् लीनं स्वावच्छिन्नधर्मिविशेषं गमयति परिच्छिनत्तीति व्युत्पत्या तस्य परमात्मन एव सर्वकारणत्वज्यायस्त्व-परायणत्वादेर्लिङ्गादव्यभिचारिधर्मात् नह्येतेषां भूताकाशे सम्भवः तस्य वाय्वादीनां कारणत्वादिसम्भवेऽपि आकाशादेवेत्येवकारस्य सर्वाणीति सर्वपदस्य च पाठान्न सर्वकारणत्वादिलिङ्गानां तत्र सम्भवः। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत इत्यात्मकार्यत्वश्रवणाच्च। स्वस्य स्वकारणत्वे आत्माश्रयत्वापत्तेः। आसमन्तात् काशत इति योगवृत्या यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्, 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते' त्यादिश्रुतौ रूढिवृत्याच ब्रह्मण्येवाकाशशब्दो मुख्यः। ननु श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षा' दिति न्यायेनआकाश इतिश्रुतेर्लिङ्गापेक्षया वलीयस्त्वाद्वलीयः प्रमाणं नदुर्बलेन बाधितुमर्हमितिचेन्न श्रुति प्रमाणस्य वलीयस्त्वेऽपि प्रमेयलिङ्गोपपात्तावेव तस्य प्रवृत्तिरनुपपत्तौ चाप्रवृत्तिरिति न्यायादत्र परस्य ब्रह्मणोऽसाधारण-लिङ्गानां भूताकाशे सर्वथानुपपन्नत्वादनुपपत्तिसहकृतलिङ्गस्य प्राबल्यात्तेन श्रुतेर्बाधो घट्त एव। यथा केनचिदेकेन पुरुषेण वलीयांसो जना बाधितुमनर्हा अपि राजसहायेन तेनैव सर्वेऽपि बाध्यन्ते तथा केवललिङ्गेन निर्बलत्वाद्वलीयसी श्रुतिर्बाधितुमनर्हाऽपि

वलवदनुपपत्तिप्रमाणसहकृतेन तेनैव बाध्यते सापीति न विरोध इति तस्मादकाशपदवाच्यः परमात्मैवेति सिद्धम्।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य उपनिषद् में शालावत्य ब्राह्मण जैवाली ब्राह्मण के संवाद में राजा प्रश्न करता है, कि 'अस्य लोकस्य का गति' अर्थात् इस लोक की परम गति परम प्राप्य क्या है, तो बोले 'आकाश इति होवाच' क्योंकि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति, आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान् परायणम्' अर्थात् आकाश से ही ये पञ्चमहाभूत एवं स्थावर जङ्गमप्राणी उत्पन्न होते हैं, आकाश में लीन होते हैं, आकाश ही इन सबसे श्रेष्ठ है तथा आकाश ही सबकी परमगति है। यहाँ संदेह होता है कि यहाँ आकाश शब्द से क्या प्रसिद्ध आकाश (भूताकाश) निर्दिष्ट है या परमात्मा? तो पूर्वपक्ष होता है कि भूताकाश ही यहाँ विवक्षित है, क्योंकि आकाश शब्द भूताकाश में ही लोक में प्रसिद्ध है, इसलिए प्रथम वही बुद्धि प्रविष्ट होता है। ब्रह्म में तो आकाश शब्द गौण है, विभुत्व आदि धर्मो के कारण ब्रह्म में आकाश सादृश्य है। 'यतो वा इमानि भूतानि सदैव सौम्येदमग्रआसीत्। 'स इमांल्लोकानसृत, तस्मा ह वा एतस्माद् इत्यादि श्रुतियों में साधारण यत्-तत् शब्द से बुद्धिस्थ विषयों का परामर्श हो सकता है- इस प्रकार उक्त श्रुतियों में भी यत्-तत् आदि पदों द्वारा भूताकाश का ग्रहण हो सकता है। कहें कि यत् आदि साधारण शब्दों से विशेष का निर्णय कैसे होगा तो कहते हैं- देव समुत्पद्यन्ते से आकाशादेवेति अर्थात् वाक्य शेष में आकाश प्रयोग होने से कारण वाक्यों में यत्-तत्-सत् आदि पद भी आकाशार्थक ही हैं- ऐसा निश्चय होता है। यदि कहें कि उक्त श्रुतियों में ईक्षण आदि का प्रयोग होने से वहाँ आकाश का ग्रहण कैसे हो सकता है, तो उसका उत्तर है तत् स्थलों में ईक्षण शब्द का गौण प्रयोग है। यदि कहें कि आकाश को सबसे श्रेष्ठ एवं सबका परायण (गति) कहा गया है तो वह भूताकाश में कैसे संभव होगा तो उसका उत्तर है कि आकाश में ज्यायस्त्व एवं परायणत्व भी 'आकाशाद् वायु' इस श्रुति के आधार पर वायु अग्नि आदि भूतान्तरों की अपेक्षया संभव हो जायगा- इसलिए आकाश शब्द से यहाँ भूताकाश ही है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं- 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' अर्थात् आकाश पदवाच्य यहाँ परमात्मा ही है, क्योंकि उसी का यहाँ लिङ्ग (प्रमाण) है। सर्वकारणत्व सर्वज्यायस्त्व तथा परायणत्व (सर्वप्राप्यत्व) आदि अव्यभिचारी हेतु आकाश पद वाच्य परमात्मा का ही लिङ्ग (साधक) है। ये धर्म भूताकाश में संभव नहीं है। भूताकाश वायु आदि के कारण होने पर भी आकाशादेव शब्द में एवकार तथा सर्वाणि में सर्वपद के पाठ होने से भी सर्वकारणत्व रूप लिङ्ग भूताकाश में संभव नहीं है। क्योंकि 'तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत' यहाँ स्पष्ट शब्द में आकाश को आत्मा का कार्य माना गया है। स्व का स्व को कारण मानने पर आत्माश्रय दोष की आपत्ति होगी। यदि कहें कि आकाश परमात्मा का नाम कैसे हो सकता है तो कहते हैं- 'आ समन्तात् काशते' अर्थात् जो सर्वतो भाव से प्रकाशित होता है। इस योग-वृत्ति से आकाश [illegible] ब्रह्म में संभव है। अवयव शक्ति से

आकाश पदवाच्यता है, यह सिद्ध करते हैं– 'यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'आकाशं ह वै नाम रूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि श्रुतियों में रूढ़ि वृत्ति से भी आकाश–पद ब्रह्म में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि दूसरों को आनन्द प्रदान करने के कारण आकाश शब्द वहाँ परमात्मा में रूढ़ है। चूँकि भूताकाश अचेतन है, उसमें अन्य को आनन्दित करने की सामर्थ्य नहीं है। इसी तरह प्राप्त आकाश में नाम–रूप निर्वाहकता भी संभव नहीं है। यदि कहें कि पूर्व मीमांसा में १ श्रुति, २ लिङ्ग, ३ वाक्य, ४ प्रकरण, ५ स्थान, ६ समाख्या– इन छः प्रमाणों में समवाय होने पर अर्थ के प्रकर्ष होने के कारण उत्तरोत्तर में दुर्बलता होती है। इस [1]न्याय से आकाश श्रुति, लिङ्ग सर्वाणि भूतानि आकाशादेव से बलवान् होने के कारण बलवत प्रमाण को दुर्बल लिङ्ग प्रमाण से बाधित नहीं किया जा सकता तो ऐसा नहीं कह सकते, कारण श्रुति–प्रमाण बलवान् होने पर भी "प्रमेय लिङ्गोपप्तावेव तस्य प्रवृत्तिरनुपपत्तौ चाप्रवृत्ति" अर्थात् केवल लिङ्ग को श्रुति की अपेक्षया दुर्बल होने पर भी प्रमाणान्तर सहकृत लिङ्ग में प्राबल्य ही होता है। इस न्याय से परब्रह्म परमात्मा में असाधारण लिङ्ग सर्वभूतोत्पादकत्वादि भूताकाश में सर्वथा अनुपपन्न होने से अनुपपत्ति सहकृत लिङ्ग के प्राबल्य होने के कारण श्रुति का बाध युक्त नहीं है। जैसे किसी एक पुरुष द्वारा बलवान् अनेक व्यक्तियों का बाध। पराजय असंभव होने पर भी राजा की सहायता उसी एक व्यक्ति (पुरुष) द्वारा सभी (अनेक) व्यक्तियों का बाध पराजय संभव हो जाता है। उसी प्रकार केवल लिङ्ग प्रमाण से निर्बलता के कारण बलवती श्रुति का बाध असंभव है– परंतु बलवत अनुपपत्ति प्रमाण सहमत उसी लिङ्ग प्रमाण से श्रुति का भी बाध हो जाता है। इसमें कोई विरोध नहीं है– इसलिए यहाँ आकाश पद वाच्य परमात्मा ही हैं– यह सिद्ध होता है।।२३।।

अतएव प्राणः।।१।१।२४।।

तत्रैवोद्गीथे 'प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वयता' प्रस्तुत्य इति कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमुज्जिहते सैषा देवताप्रस्तावमन्वायता' इत्यत्र सर्वजगत्कारणतया प्राणशब्दो निर्दिष्टः किंप्रसद्धिः प्राण उत परं ब्रह्मेति संशयः। सर्वस्य जगतः प्राणाधीनस्थितिदर्शनात् वायुवृत्तिप्राण एवेतिप्राप्तेऽतिदेशमुखेनाह। अतएव, सम्वेशनोद्गनरूपपरमात्मलिङ्गादेव प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैव। विशेषशङ्कातु यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं श्रोत्रं स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते' इत्यादिश्रुत्या प्राणे कार्यप्रवेशोद्गमदर्शनात्सएवात्रोपास्यतया विधीयते, इतिचेत्तत्रेन्द्रियमात्रसम्वेशादि– सम्भवेऽपि

---

१. श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् (मीमांसा) मीमांसा शास्त्र की यह उत्कृष्ट नियम व्यवस्था है। 'अर्थ संग्रह' में इसकी पूरी सोदाहरण व्याख्या है, इसकी विशेष जानकारी वहीं से करें। (सं)

महाभूतानां चेतनानाञ्च सम्वेशनादेस्तत्राश्रवणात् परमात्मैव प्राणयति सर्वं प्रकर्षेण अणिति स्थितिं लभते सर्वं जगद्यस्मिन्निति वा व्युत्पत्या प्राणशब्देनाभिधीयते इति।२४।। इति प्राणाधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य उपनिषद् में ही उद्गीथ विद्या में कहा है- 'परोवरीयांसमुद्गीथमुपास्त' (उद्गीथ की उपासना करें) उद्गीथ में तीन शब्द हैं- उत् गी स्थ। उच्चत्वात् उत्, गीत्वात् गीः तथा सर्वस्थान स्थित होने से स्थ। अर्थात् जो सबसे ऊँचा सबके द्वारा मान्य होकर सभी स्थानों में स्थित होता है, उसे उद्गीथ कहते हैं- ऐसे उद्गीथ (सर्वोपरि) भगवान् की उपासना करें। उद्गीथ अधिकार में प्रासङ्गिक प्रस्ताव का ध्यान है, ऐसा कहने के लिए उद्गीथ कहा है। चाक्रायण नामक कोई ऋषि धन के लिए राजा के यज्ञ में जाकर अपना ज्ञान वैभव वहाँ प्रकट करता हुआ प्रस्तोता से कहता है, प्रस्तोता जो देवता यहाँ प्रस्ताव (भक्ति-विशेष) के लिए अनुगत है, उसे बिना जाने यदि मुझ विद्वान् की सन्निधि में तुम प्रस्ताव करोगे तो तेरा सिर गिर जायगा। तब वह भयभीत होकर बोला- वह प्राण है- क्योंकि 'सर्वाणि ह वा भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमुज्जिहते सैषा देवताप्रस्तावमन्वायता यहाँ सन्देह होता है कि यहाँ प्राण शब्द सम्पूर्ण जगत् के कारण रूप ब्रह्म प्राण शब्द से विवक्षित है अथवा लोक में प्रसिद्ध प्राण ? सम्पूर्ण जगत् की प्राणाधीन स्थिति-प्रवृत्ति देखने से वायु विशेष प्राण ही यहाँ प्राण है, ऐसा प्राप्त होने पर अतिदेश द्वारा कहते हैं- अतएव अर्थात् सवेशन (लय) एव उद्गमन प्राकट्य उत्पत्ति रूप लिङ्ग से यहाँ प्राण शब्द वाच्य परमात्मा ही है। यदि कहें कि 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणे चक्षुः प्राणे मनः प्राणो श्रोत्रं स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते' इत्यादि जब जीव सोता है- उस समय वाणी का प्राण में लय होता है। चक्षुः मन तथा श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों का प्राण में लय हो जाता है और जीव जब जागता है तो उसी प्राण में वाणी आदि का उद्गम होता है। श्रुतियों द्वारा प्राण-वायु में ही कार्य प्रवेश तथा उद्गम दर्शन होने से वह प्राण-वायु ही यहाँ उपास्य रूप में विधीयमान है तो कहते हैं- ऐसा नहीं कह सकते हैं कि समस्त महाभूतों एवं चेतन प्राणियों का सवेशन आदि प्राण-वायु में नहीं सुना गया है। इसलिए प्राण शब्द से परमात्मा ही यहाँ ग्राह्य है, क्योंकि 'प्राणयति सर्वजगत्' जो सम्पूर्ण जगत् को जीवन प्रदान करता है अथवा 'प्राणिति स्थितिं लभते जगत् यस्मिन् स प्राणः' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् जिसमें स्थिति-लाभ करता है- जिसके द्वारा रक्षित है- इस व्युत्पत्ति से प्राण शब्द-वाच्य यहाँ परमात्मा ही है।

इस प्रकार प्राणाधिकरण पूरा हुआ।

(सारांश प्राण शब्द-वाच्य यहाँ परमात्मा है। प्राणशब्द के मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् ही हैं- क्योंकि वही सबको अन्न, जल, वायु द्वारा जीवन प्रदान करते हैं।)

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।।१।१।२५।।

छान्दोग्ये गायत्रीविद्यायामिदमाम्नायते। 'अथ यदतः परो दिवोज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योति' रित्यत्र किं ज्योतिःशब्देन प्रसिद्धादित्यज्योतिरभिधीयते उत परं ब्रह्मेति संशये प्रसिद्धज्योतिरिति पूर्वपक्षस्तस्य तमोनिवारकत्वप्रसिद्धेः द्युमर्यादत्वश्रवणाच्च ब्रह्मणः सर्वगतस्य तदसम्भवात्। ननु भौतिकज्योतिष्वपि द्युमर्यादत्वानुपपत्तिरर्वागपि दिवो दर्शनादिति चेत्तस्योपासनार्थं द्युमर्यादत्वविधानमविरुद्धम्, ब्रह्मणस्तु विभुत्वेन निष्प्रदेशत्वान्न तद्युक्तम् 'चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेदे' त्यल्पफलश्रवणाच्च। किञ्चेदंवाव तद्यदिदमन्तःपुरुषे ज्योति' रिति कौक्षेयज्योतिषैक्यावगमात् स्ववाक्ये तदतिरिक्तब्रह्मासाधारणलिङ्गादर्शनाच्चेति प्राप्ते राद्धान्तः। ज्योतिशशब्दनिर्दिष्टं निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैव कुतो यतोऽस्य ज्योतिषः पूर्वेस्मिन् वाक्ये 'पादोऽस्य सर्व भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी'त्यत्र सर्वभूतचरणत्वाभिधानात्। सर्वभूतपादत्वञ्च परब्रह्मण एवोपपद्यते यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रसिद्धपरामर्शित्वात्। पूर्ववाक्ये द्युसम्बन्धितया प्रसिद्धं ब्रह्म अत्रापि द्युसम्बन्धिविशेषात्तदेव यच्छब्देन प्रत्यभिज्ञायते नच द्युमर्यादाश्रवणविरोधः। परशब्दस्योत्कृष्टवाचित्वेना-व्यापकत्वस्याविवक्षितत्वात्। 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते' इत्यादौ ज्योतिश्शब्दस्य ब्रह्मपरत्वेन श्रवणात् न फलश्रवणविरोधोऽपि ब्रह्मणः सर्वफलदातृत्वेन तदुपासनेऽल्पाधिक्य-फलनियमाभा ात्। श्रूयते च वाजसनेयिनामग्निरहस्ये 'तंयथा यथोपासते तदेव भवती'ति। अत्रच कौक्षेयज्योतिषातादात्म्योपासने तात्पर्य्यम्। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः' इति भगवदुक्तेरितिभावः।।२५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छा.उ.नि. के तीसरे अध्याय में आया- "यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेस्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः (३/१३/७) अर्थात् जो इस स्वर्ग लोक से ऊपर परम ज्योति प्रकाशित हो रही है, वह समस्त विश्व के पृष्ठ पर (सबके ऊपर, जिससे उत्तर दूसरा कोई लोक नहीं उस सर्वोत्तम परम धाम में प्रकाशित हो रही है, वह निस्सन्देह यही है, जो कि इस पुरुष में आन्तरिक ज्योति है) इस प्रसङ्ग में आया हुआ ज्योति किसका वाचक है- ज्ञान का, जीव का या परमात्मा का ? इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं ज्योतिश्चरणाभिधानात् यहाँ ज्योतिः शब्द परब्रह्म का वाचक है, क्योंकि- इससे पूर्व इसी उपनिषद् के १२वें खण्ड में- इस ज्योतिर्मय ब्रह्म के चार पादों का कथनों और समस्त भूत समुदाय को उसका एक पाद बताकर शेष तीन पादों को अमृत स्वरूप तथा परमधाम में स्थित बताया है ?[1]

---

१. तावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य सर्वा भूतानि (१/०/१/१२/६) (सं)

वे. कौंप्रभा- उक्त श्रुति में ज्योतिः शब्द से प्रसिद्ध सूर्यरूप ज्योति ग्राह्य है अथवा परब्रह्म? ऐसा संशय होने पर प्रसिद्ध प्राकृत सूर्य आदि ज्योति ही यहाँ ग्राह्य है, क्योंकि उसी में तमो निवारकत्व प्रसिद्ध है। दूसरी बात इस ज्योति के लिए द्युलोक की मर्यादा का श्रवण है, सर्वव्यापक ब्रह्म-ज्योति के लिए मर्यादा का श्रवण संभव नहीं। यदि कहें कि प्राकृत सूर्य-ज्योति के लिए भी दिव की मर्यादा की उपपत्ति नहीं, वह प्रकाश भी सर्वव्यापक है तो कहते हैं कि उपासना के लिए वहाँ मर्यादा का विधान विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म तो व्यापक है- उसके लिए मर्यादा का बन्धन युक्त नहीं। दूसरी बात इस ज्योति को जो जानता है, वह दर्शनीय हो जाता है- "चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद" इस प्रकार उस ज्योति को जानने वालों के लिए अल्प फल का श्रवण है और वह ज्योति पुरुष वही है जो इस पुरुष के भीतर जठराग्नि रूप में स्थित है- इस तरह कुक्षिस्थ ज्योति के साथ उसकी एकता बताई गई है- तथा ब्रह्म प्रतिपादक कोई असाधारण लिङ्ग दिखाई नहीं देता- ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं- 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' अर्थात् यहाँ ज्योतिः शब्द निर्दिष्ट निरतिशय दीप्तिमान् परब्रह्म परमात्मा ही गृहीत है- क्योंकि इसी ज्योतिः के लिए पूर्ववाक्य में- "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" मन्त्र द्वारा समस्त भूतों को उस ज्योति का एक चरण बताया गया है। सम्पूर्ण भूतों में सर्वनाम होने से प्रसिद्ध का परामर्शित्व उचित है। पूर्ववाक्य में द्युलोक से सम्बन्धित प्रसिद्ध ब्रह्म यहाँ भी द्युसम्बन्ध विशेष के कारण वही है जो यत् शब्द से पहचाना जाता है। मार्यादा का श्रवण से भी कोई विरोध नहीं है। पर शब्द यहाँ उत्कृष्ट वाची होने से अव्यापकत्व अविवक्षित है। 'तदेव ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते' यहाँ ज्योतिः शब्द ब्रह्म परक सुना गया है- फल श्रवण का विरोध भी कोई विरोध नहीं है। ब्रह्म सकल फल प्रदाता है- उनकी उपासना में अल्प या अधिक फल का कोई नियम नहीं है! वाजसनेयियों के अग्नि रहस्य में कहा गया है कि 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' उस परमात्मा का जो जिस भाव से उपासना करता है- वह वैसा ही होता है। यहाँ कुक्षिस्थ ज्योतिः से तादात्म्य भाव से उपासना से तात्पर्य है, क्योंकि भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है- 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः; अर्थात् प्राणियों के देह का आश्रय लेकर अर्थात् उसके कुक्षि में जठराग्नि रूप में स्थित होकर चतुर्विध अन्न का परिपाक करता हूँ।।२५।।

छन्दोऽभिधानान्नेतिचेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगमात्तथाहि दर्शनम्।।१।१।२६।।

पूर्ववाक्ये 'गायत्री वा इदं सर्वमिति' गायत्र्याख्यच्छन्दस एव प्रकरणात्सर्वभूतपादत्वेन तस्याभिधानान्न ब्रह्मेति चेन्न तथाचेतोऽर्पणनिगमात् वर्णसन्निवेशमात्रायास्तस्याः सर्वात्मकत्वासम्भवात् तद्द्वारेण ब्रह्मणि चेतोऽर्पणं चित्तसमाधानं निगम्यते गायत्रीसादृश्यानुसन्धानं फलार्थमात्रोपदिश्यते। तत्र दृष्टान्तः तथाहि दर्शनं यथा गायत्रीषडक्षरैः पादैश्चतुष्पदा तथा ब्रह्मापि चतुष्पादिति चतुष्पादत्वयोगात्सा। दृश्यते

चान्यत्रापि छन्दोभिधायिंशब्दस्य सादृश्यात्प्रयोगः। 'तैवा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत' मित्युपक्रम्याह 'सैषा विराडन्नादी'ति सम्वर्गविद्यायाम्।।२६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि पूर्ववाक्य में 'गायत्री वा इदं सर्वमिति' इस मन्त्र द्वारा गायत्री नामक छन्द का ही प्रकरण होने तथा सभी भूतों को उसी के एक पाद रूप में वर्णन होने से यहाँ गायत्री छन्द का ही प्रतिपादन है, ब्रह्म का नहीं तो ऐसा नहीं कह सकते– क्योंकि तथा चेतोऽर्पणनिगमात्– अर्थात् गायत्री इस वाक्य में सर्वात्मकत्व विधान द्वारा गायत्री शब्द ब्रह्म में चित्त के समाधान कथन होने से गायत्री शब्द वाच्य भी ब्रह्म ही है, क्योंकि गायत्री शब्द यहाँ छन्दोऽनुगत ब्रह्म वाचक है। वर्ण सन्निवेश मात्र स्वरूप छन्द का सर्वात्मकत्व होना असंभव है। बल्कि गायत्री के माध्यम से ब्रह्म में चित्त का समाधान कहा गया है। यहाँ गायत्री सादृश्य का अनुसन्धान फलार्थ मात्र के लिए उपदेश देते हैं। इसमें दृष्टान्त है– तथाहि दर्शनम्' जैसे गायत्री छः अक्षरों वाले पादों द्वारा चतुष्पदा है। उसी प्रकार ब्रह्म भी चतुष्पाद है। अन्यत्र भी छन्दोवाचक शब्द में सादृश्य से वैसा प्रयोग देखा जाता है– 'तैवा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृत' ऐसा उपक्रम करके कहते हैं– सैषा विराडन्नाथी' संवर्ग विद्या में।।२६।।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ १/१/२७ ॥

इतश्च गायत्रीशब्दोदितं ब्रह्मैवाभ्युपगन्तव्यम् चकारोऽवधारणे यतो ब्रह्मण एव गायत्री– शब्दार्थत्वाभ्युपगतावेव भूतपृथिवीशरीरहृदयानां पादत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न केवलस्य छन्दसो भूतादयः पादा भवितुमर्हन्ति॥२७॥

(हिन्दी अनुवाद)

(छा० उ० ३/१२/) प्रकरण में गायत्री शब्द से इसलिये भी ब्रह्म ही लिया जाता है, क्योंकि ब्रह्म को ही गायत्री शब्द से ग्रहण करने पर भूत, पृथ्वी, शरीर तथा हृदय में पादत्व व्यपदेश की उपपत्ति हो सकती है, केवल गायत्री छन्द के उक्त चतुष्टय पाद नहीं हो सकते॥२७॥

उपदेशभेदान्नेतिचेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ १/१/२८ ॥

पूर्ववाक्ये दिवीत्याधारत्वेन द्यौर्निद्दिश्यते इहच दिवःपञ्चम्या मर्यादात्वेन द्यौर्निर्दिश्यत इत्युपदेश भेदाज्ज्योतिर्वाक्ये न ब्रह्म प्रत्यभिज्ञायत इतिचेन्नोभयस्मिन्नप्युपदेशे तात्पर्य्यैक्येनाविरोधात्। यथा वृक्षाग्रे वृक्षाग्रात्परतो वा श्येन इति तस्माज्ज्योतिशब्दाभिधेयं

निरतिशयदीप्तिमत्परं ब्रह्मैवेति सिद्धम् ॥२८॥

(हिन्दी अनुवाद)

पूर्व वाक्य में 'दिवि' शब्द सप्तम्यन्त होने से उसे आधारत्वेन निर्देश किया गया है और यहाँ दिवः में पञ्चमी विभक्ति होने से मर्यादा रूप में दिवका निर्देश है, इस प्रकार उपदेश भेद होने से ज्योतिः वाक्य में ब्रह्म का बोध नहीं होता, यदि ऐसा कहें तो यह ठीक नहीं–दोनों उपदेशों में तात्पर्य एक होने से विरोध नहीं है। जैसे वृक्षाग्रे (वृक्ष के आगे) अथवा वृक्षाग्रात् परतः (वृक्षाग्र से पर) श्येन है, ऐसा कहने पर वस्तु तत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिये ज्योतिः शब्द का प्रतिपाद्य निरतिशय दीप्तिशाली ब्रह्म ही सिद्ध होता है।।२८।।

कौषीतकिब्राह्मणे प्रतर्दनविद्याऽऽम्नायते 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेणचेत्यारभ्य तत्र वरन्ते ददामीतीन्द्रेणोक्तः प्रतर्दनस्तंप्रति त्वमेव मे वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति तं वरं त्वमेवालोच्य मे मह्यं वृणीष्व देहीत्यर्थः। एवं प्रतर्दनेनोक्त इन्द्र इदमाह, प्राणोस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपासस्वेति। उत्तरत्रापि 'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा, इदं शरीरं परिगृह्येत्थापयतीति न वाचं विजिज्ञासीत। वक्तारं विद्यादिति च उपसंहारे च 'स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा 'आनन्दोऽजरोमृत' इति श्रूयते, तत्रेन्द्रः प्राणशब्दवाच्यः किं जीवउत परब्रह्मेति संशये इति पूर्वपक्षः। इन्द्रशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः। इन्द्रशब्दसहचरितप्राणशब्दस्यापि स एवार्थ इति तं मामायुरमृतामित्युपासस्वेति तस्यैवोपास्यत्वोपदेशादितिंप्राप्त आह–

(हिन्दी अनुवाद)

कौषीतकि ब्राह्मण में प्रतर्दन विद्या का कथन है कि "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन पौरुषेण च" दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के धाम में गये यहाँ से उपक्रम है। वहाँ "वरं ते ददामि" मैं तुमको वर देना चाहता हूँ। ऐसा इन्द्र ने प्रतर्दन को कहा तब प्रतर्दन ने कहा–"त्वमेव मे वरं वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततम् मन्यसे" तुम मनुष्यों के लिए जो परम हित समझते हो, वही वर विचार कर मुझे प्रदान करो। इस प्रकार प्रतर्दन के कहने पर इन्द्र ने कहा–"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपासस्व" मैं प्राण हूँ प्रज्ञात्मा हूँ–तुम मुझ आयु एवं अमृत स्वरुप की उपासना करो। आगे भी कहा–"अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्येत्थापयतीति न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादिति। इसी तरह उपसंहार में भी कहा है–"स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः। 'वह प्राण प्रज्ञात्मा है अजर है अमृत' ऐसा सुना जाता है। यहाँ इन्द्र प्राण शब्द वाच्य है, किं वा जीव या परमात्मा ? ऐसा संशय समुपस्थित होने पर जीव प्राण शब्द वाच्य है ऐसा पूर्व पक्ष होता है, क्योंकि इन्द्र शब्द की जीव में ही प्रसिद्धि है तथा इन्द्र शब्द सहचरित प्राण शब्द का भी वही

अर्थ है। 'तंमामायुरमृतमित्युपासस्व' इस वाक्य के द्वारा उस इन्द्र की ही उपास्यता का उपदेश है ऐसा प्रतीत होने पर कहते हैं–

प्राणस्तथानुगमात्॥ १/१/२९॥

प्राणोऽस्मीत्यादीन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैव कुतः तथानुगमात्। हिततमत्वप्रज्ञात्मत्वानन्दत्वाजरत्वादीनांहि परमात्मपरिग्रहे सत्येवानुगन्तुं शक्यत्वात्।।२९।।

(हिन्दी अनुवाद)

'प्राणोऽस्मि' इत्यादि वाक्य में इन्द्र तथा प्राण शब्द द्वारा निर्दिष्ट परमात्मा ही हैं, क्योंकि वैसा ही अनुगम है। हिततमत्व, प्रज्ञात्मत्व, आनन्दत्व एवं अजरत्व आदि धर्मो का इन्द्र प्राण शब्द से परमात्मा के परिग्रह होने पर ही अनुगम संभव है।।२९।।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्। १/१/३०।।

यदुक्तमिन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मेति तन्नोपपद्यते 'मामेव विजानीहि मामुपास्स्वेति वक्तुरिन्द्रस्य त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्येवमादिभिः प्रज्ञातजीवभावस्यैव स्वात्मन उपास्यत्वोपदेशात्। उपक्रमे जीवभावे निश्चिते 'सत्यानन्दोऽजरोमृत' इत्युपसंहारस्यापि तदनुगुणतया नेतव्यत्वादितिचेत्तत्र समाधत्तेअध्यात्मसम्बन्धभूमाह्यस्मिन्। आत्मनि सम्बन्धोऽध्यात्मसम्बन्धस्तस्य भूमा बहुत्वम्, आत्मन्याधेयतया सम्बध्यमानानां तदसाधारणधर्माणां तथा चिदचितोश्च वहुत्वेन सम्बन्धबहुत्वस्य वक्तुः परमात्मत्वे सत्येव सम्भवात्। तथाहि यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इत्युपक्रमे हिततमोपासनं परमात्मोपासनमेव तस्यैव हिततमत्वात्। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती' त्यादि श्रुत्यन्तरात्। तथा 'एष एव साधुकर्म कारयती' त्यादि साध्वसाधुकर्मकारयितृत्वं परमात्मन एव धर्मः। तद्यथा 'रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता एवमैवेता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिता' इति भूतमात्राप्रज्ञामात्राशब्दोदिताचेतनचेतनात्मककृत्स्नवस्त्वाधारत्वम्। 'एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृत' इत्यानन्दादयश्च हि यस्मात्परमात्मन एव धर्माः, अतोऽस्मिन् प्रकरणे इन्द्रप्राणशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवोपास्य इत्यर्थः।।३०।।

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् यहाँ इन्द्र प्राण शब्द से विनिर्दिष्ट परमात्मा है यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ वक्ता के ही आत्मा का उपदेश है–इन्द्र ने अपनी आत्मा को ही उद्देश्य कर प्राण आदि शब्दों का प्रयोग किया है–जैसा कि "मामेव विजानीहि मामुपास्स्व" मुझको ही जानो, मेरी

ही उपासना करो-प्रज्ञा का प्राण हूँ। (त्रिशीर्षाणिं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्) त्रिशीर्षा त्वाष्ट्र विश्वरूप को मैंने मारा था, वेदान्तज्ञान शून्य भ्रष्ट संन्यासियों को मैंने कुत्तों को खिलाया था, इत्यादि वाक्यों से प्रज्ञात जीव भाव होकर वक्ता इन्द्र ने अपनी आत्मा को ही उपास्यत्वेन उपदेश किया है। इस प्रकार जब यहाँ जीवात्म विषयक उपक्रम का निश्चय हो जाता है, तब "आनन्दोऽजरोऽमृतः" इस उपसंहार वाक्य की भी तदनुकूल ही व्याख्या करनी उचित है, यदि ऐसा कहें तो उसका समाधान करते हैं—'अध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन्' अर्थात् इस अध्याय में निश्चित रूप से परमात्म सम्बन्धी असाधारण धर्मों का बाहुल्य है, इसलिये इस प्रकरण में प्राण तथा इन्द्र आदि शब्दों से प्रसिद्ध इन्द्र रूप जीव का परिग्रह नहीं हो सकता, यही सूत्र का परम तात्पर्य है। जैसा कि यहाँ उपक्रम में आया-'यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' अर्थात् जिसे आप मनुष्यों के लिये हिततम यानी अत्यन्त हितकारी उपासना मानते हैं, उसे समझाइये। हिततम उपासना परमात्मा में ही संभव है-जैसा कि अन्यत्र भी श्रुतिका वचन है-'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' अर्थात् उस परमात्मा को जानकर यानी उस परमात्मा की उपासना करके ही जीव अतिमृत्यु (मुक्ति) को प्राप्त करता है और भी कहा है-'एष एवहि साधु कर्म कारयति यमूर्ध्वमुन्निनीषते' अर्थात् परमात्मा उस व्यक्ति से अच्छा कर्म कराता है, जिसे इस लोक से ऊपर ले जाने की इच्छा करता है, और उससे बुरा पाप कर्म कराता है, जिसे अधोलोक में ले जाने की इच्छा करता है। इस प्रकार साधु-असाधु कर्म कारयितृत्व आदि भी परमात्मा के ही धर्म हैं, इसी प्रकार प्राण एवं प्रज्ञात्मा (प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को परिग्रह करके ऊपर उठाता है), ऐसा उपक्रम करके (तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिता) एवमैवेता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्रा प्राणेऽर्पिता, कहा गया है-अर्थात् जिस प्रकार रथ की अरा में नेमि अर्पित रहता है और रथनाभि में सब अराएँ अर्पित (गुथी हुई) रहती हैं, उसी प्रकार आकाश आदि भूतमात्राएँ प्रज्ञात्मा में अर्पित हैं। इस प्रकार भूतमात्रा तथा प्रज्ञामात्रा शब्दोदित चेतनाचेतनात्मक निखिल जगदाधारत्व परमात्मा का ही असाधारण धर्म है तथा 'एष प्राण एव प्रज्ञात्मा आनन्दोऽजरोऽमृतः' (यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द, अजर एवं अमृत है-यह जानना चाहिये) ये आनन्द आदि धर्म भी परमात्मा के ही असाधारण धर्म हैं। 'स मे आत्मा' (वह मेरी आत्मा है) इस प्रकार उपसंहार में भी उक्त आत्मत्व, वेद्यत्व भी परमात्मा के ही असाधारण धर्म हैं। इसलिये प्रस्तुत प्रकरण में परमात्मा के धर्म का बाहुल्येन कथन होने से यहाँ परमात्मा ही प्राण, इन्द्र आदि शब्दों के वाच्य हैं तथा परमात्मा ही उपास्य हैं, प्राकृत इन्द्र प्राणादि नहीं।।१।१।३०।।

एवञ्चेत्तर्हि कथमिन्द्रो मामुपास्स्वेत्युपदिष्टवानित्यत आह—

यदि ऐसी बात है तो फिर इन्द्र ने अपने लिये क्यों कहा 'मामुपास्स्व। इस पर कहते हैं—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्। १/१/३१।।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि, अयमात्मा, सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति, अभयं जनक प्राप्तोऽसि यदात्मानं वेदाहं ब्रह्मास्मीति।' अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् सर्वात्मासतेऽन्तर्याम्यमृतः, एष सर्वभूतान्तरात्मा, एष ते आत्मान्तर्याम्यमृतः' इत्यादि शास्त्रदृष्ट्या परब्रह्मणः सर्वान्तर्यामित्वेन सर्वात्मत्वमवगम्य 'मामेव विजानीहि मामुपास्स्वे' तीन्द्रस्य जीवस्यैव स्वात्मत्वेन परमात्मोपदेशोऽयं यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या स्वान्तर्यामिणं परमात्मानं पश्यन् 'अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि विप्र' इति तमवोचत्।।३१।।

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् यह सारा जगत ब्रह्मात्मक है, वह सत्य है, वह आत्मा है, तुम वही हो, यह आत्मा ब्रह्म है, यह सारा जगत ब्रह्मात्मक है, उसी से उत्पन्न होता है, उसी से रक्षित है, उसी में लीन हो जाता है, ऐसा समझ कर उसकी उपासना करें। जनक तू अभय को प्राप्त हो चुके हो जो अपने आपको समझते हो जो ब्रह्मात्मक हूँ। वह परमात्मा सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबका शासन करता है वह सर्वात्मा है, वह परमात्मा सबका अन्तर्यामी है, अमृत है, वह सब भूतों की अन्तरात्मा है, वह परमात्मा अन्तर्यामी है, अमृत है इत्यादि श्रुति वचनों की दृष्टि से परमात्मा को सर्वान्तर्यामी एवं सर्वात्मक मानकर कहा गया है, 'मामेव विजानीहि, मामुपास्स्व' इत्यादि कथन भी इन्द्र नामक जीव का अपने को ब्रह्मात्मक मानकर ही, स्वात्मत्वेन यह परमात्मोपदेश है, जैसा कि वामदेव ऋषि ने शास्त्र दृष्टि से अपने अन्तर्यामी परमात्मा को देखते हुए कहा है- "अहं मनुरभवं सूर्यश्च कक्षीवानृषिरस्मि विप्र मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ, मैं ही कक्षीवान् ऋषि हूँ' इत्यादि वाक्यों से परब्रह्म का स्वात्मत्वेन उपदेश किया। उसी प्रकार 'मामेवमुपास्स्व' मुझको ही जानो, मेरी उपासना करो - यह इन्द्र का उपदेश शास्त्र दृष्टि से युक्त है।।१।१।३१।।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेतिचेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्। १/१/३२।।

'न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्, त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शाला- वृकेभ्यः प्रायच्छमी' त्यादिजीवलिङ्गात्। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापपयति यावदस्मिन् शरीरे प्राणा वसति तावदायुरिति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च नेदं वाक्यं ब्रह्मपरमितिचेन्न। उपासात्रैविध्यात् उपसनायास्त्रिंविधत्वमुपदेष्टुं ब्रह्मण एव तत्तच्छब्देनाभिधानं यथान्यत्र त्रिविधो- पासनं ब्रह्मण आश्रीयते तत्र 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे'ति स्वरूपेण ब्रह्मण उपास्यत्वम्। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवदित्यादिषु जीववर्गान्तर्यामितया प्रणद्यन्तर्यामितयाच तस्योपास्यत्वमेवमिह

प्रतर्दनविद्यायामपि तद्योगात् तस्य त्रैविध्यस्य योगात्सम्भवात् अतः परं ब्रह्मपरमेवेदं वाक्यजातमितीन्द्रप्राणाशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैवेति सिद्धम्।।३२।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्य्यश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणपद्म-मकरन्दभृङ्गेण श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन संगृहीतायां वेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ प्रथमाध्याये प्रथमपादविवरणं समाप्तिगतम्।

(हिन्दी अनुवाद)

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्, त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' (अर्थ ऊपर में उक्त है) इत्यादि यहाँ जीव के लिंग हैं। 'अथ खलु शरीरे प्राणो भवति तावदायुः (प्राण ही प्रज्ञात्मा है, यही शरीर को ग्रहणकर उठाता है, जब तक शरीर में प्राण रहता है, तब तक ही आयु है) यह मुख्य प्राण का लिंग है, इस प्रकार यह वाक्य ब्रह्मपरक नहीं हो सकता' यदि ऐसा कहें तो ठीक नहीं-'उपासा त्रैविध्यात्' उपासना में त्रिविधता के उपदेश के लिये यहाँ ब्रह्मका ही तत्-तत् शब्द से कथन हुआ है, जैसा अन्यत्र ब्रह्म का त्रिविध उपासन देखा जाता है। जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यहाँ स्वरूपतः ब्रह्म में उपास्यत्व है। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् सच्च त्यच्चाभवत्" अर्थात् उन सब वस्तुओं की सृष्टि करके उन्हीं भूतों में प्रविष्ट हो गये तथा उनमें प्रविष्ट होकर सत् (सूक्ष्मभूत) त्यत् (स्थूल-भूत) स्वरूप हो गये। निरुक्त और अनिरुक्त, निलय एवं अनिलय, विज्ञान एवं अविज्ञान सब कुछ हो गये, इत्यादि वाक्यों में चित्- अचित् तत्त्व अन्तर्यामित्वेन तथा सर्वात्मत्वेन उस ब्रह्म के उपास्यत्व का वर्णन है। उसी प्रकार इस प्रतर्दन विद्या में भी जीव-प्राण आदि चित्-अचित् योग से उपासना के त्रिविधत्व का उपदेश है। इसी बात को समझाते हैं-"तद्योगात्" उस त्रिविध योग से एक ही परब्रह्मपरक तीनों प्रकार के वाक्यों में होने से वाक्य- भेद भी नहीं है। इसलिये इस प्रतर्दन विद्या में भी उक्त त्रैविध्य का योग संभव होने से यहाँ इन्द्र, प्राण आदि शब्दों द्वारा विनिर्दिष्ट परमात्मा ही हैं-ऐसा सिद्ध होता है।३२।।

इस प्रकार श्रीसनक-सम्प्रदायाचार्य श्री निम्बार्क-मतानुयायी श्रीमन्मुकुन्द-चरण-पद्म-मकरन्द भृङ्गायमान श्रीकेशवकाश्मीरिभट्ट द्वारा संगृहीत वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा नामक ब्रह्म-सूत्र-वृत्ति के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद का मैथिल पण्डित श्रीवैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

प्रथम अध्याय

द्वितीय पाद

विषय-सूची

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः

१- सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम्

प्रथमपादे श्रद्धोपपत्तिपूर्वकगुरूपसत्त्यादिना जातसंसारमोक्षेच्छावत्तया ब्रह्मजिज्ञासायां प्रवृत्तं प्रति लक्षणप्रमाणे निरूप्य प्रधानपुरुषावेव जगत्कारणतया वेदान्तप्रतिपाद्यावित्याशङ्क्य सर्वज्ञसत्यसङ्कल्पस्वभाववतोऽपास्तसमस्तदोषदिव्यानन्तकल्याणगुणाकरस्य परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्यैव जगत्कारणतया वेदान्तप्रतिपाद्यत्वमुक्तम्। अथ कानिचिदस्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचित्स्पष्टजीवलिङ्गकानि च यानि वाक्यानि तान्यपि ब्रह्मपराण्येवेति निर्णेतुं द्वितीय-तृतीयपादावारभ्यते।।

(हिन्दी अनुवाद)

प्रथम पाद में श्रद्धा सम्पन्न होकर श्रीगुरु शरणागति आदि के द्वारा संसार से मोक्ष की इच्छा से युक्त होकर ब्रह्मजिज्ञासा में प्रवृत्त के प्रति लक्षण तथा प्रमाण का निरूपण कर प्रकृति-पुरुष ही जगत् के कारण के रूप में वेदान्त के प्रतिपाद्य हैं, ऐसी आशंका करके कहा गया है कि सर्वज्ञ सत्य संकल्प, स्वभावतः सकल दोष विवर्जित, अनन्त कल्याण गुण गण निलय परब्रह्म श्रीकृष्ण ही जगत् के कारण रूप में वेदान्त प्रतिपाद्य हैं। अब जो कतिपय अस्पष्ट जीवादि लिंगक तथा कुछ स्पष्ट जीव लिंगक वेदान्त वाक्य हैं, उन सबको भी ब्रह्मपरत्व सिद्ध करने के लिये द्वितीय एवं तृतीय पाद का आरम्भ कर रहे हैं -

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। १/२/१॥

इदमाम्नायते छान्दोगैः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप' इत्यादि। अत्र मनोमयत्वादिगुणकः क्षेत्रज्ञ उपास्यत्वेनोपदिश्यते उत परब्रह्मेति संशयः किन्तावत्प्राप्तं क्षेत्रज्ञ इति। कुतः? तस्यैव मनःप्राणोपकरणकत्वात् न ब्रह्मणः 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादिश्रुतेः।' ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति पूर्वत्र श्रवणात्, श्रुतिश्च लिङ्गाद्बलीयसीति पूर्वोक्तं ब्रह्मैवात्रोपास्यतया सम्बध्यतामिति चेन्न। तद्वाक्यस्य "शान्त उपासीतेति शान्तिसिद्ध्युपायभूतब्रह्मात्मकत्वोप-देशायोपात्तत्वान्न ब्रह्मोपासनविधिपरत्वम्। किंच 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वेति हृदयायतनत्वाणीयस्त्वयोः परिच्छिन्ने जीव एव सम्भवादिति प्राप्ते ब्रूमः। मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवात्रोपास्यः कुतः सर्वत्र वेदान्तेषु परब्रह्मणि प्रसिद्ध.नां मनोमयत्वादीनामुपदेशात् 'मनोमयः प्राणशरीरनेता स एषोन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः' इत्यादिषु तत्र मनोमयत्वं विशुद्धमनोग्राह्यत्वं प्राणशरीरत्वं प्राणस्याप्याधारत्वं नियंतृत्वञ्च। अप्राणः प्राणानधीनस्थितिः। अमनाः मनोऽनधीनज्ञान

इत्यर्थः। अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीतेति सर्वात्मकं ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीतेत्युपासनं विधीयते। स क्रतुं कुर्वीतेति पूर्वस्यैव मनोमयत्वादि-गुणोपादानायानुवादः सर्वात्मकं ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुपासीतेति वाक्यार्थस्तत्र सर्वात्मत्वेन निर्दिष्टं ब्रह्म किं क्षेत्रज्ञ उत परमात्मेति किं तावद्युक्तं, क्षेत्रज्ञ इति। कुतः तस्यैवानाद्यविद्यामूलकर्मनिमित्तकब्रह्मादिसर्वभावोपपत्तेः। परब्रह्मणस्तु सर्वज्ञत्वसर्वशक्ति-त्वापहतपाप्मत्वस्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वादियोगात् न हेयाकारसर्वतादात्म्यमुपपद्यते। ब्रह्मशब्दोऽपि बृहत्वगुणयोगेन तत्रैव वर्त्तते जगज्जन्मादेश्च कर्मनिमित्तत्वात्तद्धेतुत्वनिर्देशोऽपि तत्रोपपद्यत इति प्राप्ते तत्राह, 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' सर्वात्मकत्वेन जगज्जन्मादिहेतुत्वेन च निर्दिष्टब्रह्मशब्दवाच्यः परमात्मैव तस्मादेव सर्वत्र वेदान्तेषु जगज्जन्मादीनां प्रसिद्धतयोपदेशात् 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'इदं सर्वमसृजत' इत्यादिषु सर्वज्ञान्तर्यामितया सर्वात्मत्वमपि परब्रह्मण्येवोपपद्यते न प्रतिशरीरं भिन्नानां जीवानाम्। जगज्जन्मादेर्जीवकर्मनिमित्तत्वात्स एव हेतुरित्यपि न परमेश्वरस्यैव जगद्धेतुत्वप्रसिद्धरेतः परमात्मैवात्र ब्रह्मशब्दवाच्यः।।१।।

हिन्दी अनुवाद

छान्दोग्य उपनिषद् में आया—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीताथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरो भारूप" इत्यादि यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म से उत्पन्न हुआ इसलिये तज्ज, उसी में लीन होता है, अतः तल्ल, उसी में जीवित रहता है अतः अन् है। इस प्रकार सारा जगत् ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्माभिन्न है। इसलिये शान्त होकर उनकी उपासना करे। यह पुरुष उपासना प्रधान है। यह पुरुष जिस प्रकार का संकल्पवान् होता है अर्थात् जैसी उपासना करता है, वैसा ही मृत्यु के बाद फल प्राप्त करता है। इसलिये उसे उपासना करनी चाहिये। वह परमात्मा मनोमय है अर्थात् विशुद्ध मन से ही ग्राह्य होता है, सबके प्राणों का धारक है, स्व प्रकाश है, सत्यकाम तथा सत्य संकल्प है। यहाँ संशय होता है कि इस श्रुति में उपास्य रूप में मनोमयत्व आदि गुणोंवाला क्षेत्रज्ञ (जीव) का ग्रहण है या परब्रह्म का ? क्या प्राप्त है तो बोले क्षेत्रज्ञ। क्योंकि मन और प्राण जीव के ही उपकरण हैं, ब्रह्म के नहीं। ब्रह्म तो "अप्राणो ह्यमना शुभ्रः" (वह प्राण तथा मन से रहित है) कहा गया है। यदि कहें कि यहाँ तो पहले "सर्व खल्विदं ब्रह्म" कहा गया है, स्पष्ट ब्रह्म का नाम है, श्रुति लिंग से बलवान होती है, इस प्रकार पूर्व प्रतिपादित ब्रह्म ही यहाँ उपास्य रूप में सम्बन्धित है तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उक्त वाक्य का शान्ति की सिद्धि के उपाय भूत ब्रह्मात्मकत्व के उपदेश के लिये कथन होने से उसे ब्रह्म उपासना परक नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात 'एष मे आत्मा अन्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा (यह आत्मा अत्यन्त छोटा और सबसे बड़ा है

विशेष— "वेदान्त दर्शन"—गीता-प्रेस में वेदान्त में उपास्य रूप में सर्वत्र जगत् के कारण रूप में प्रसिद्ध परमात्मा का ही उपदेश है, ऐसा अर्थ किया है। (सं)

तथा हृदय प्रदेश में रहता है।) इस वाक्य द्वारा उसे हृदय प्रदेश में रहने वाला तथा अणु कहने से ये दोनों धर्म परिच्छिन्न जीव में ही संभव है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, यहाँ मनोमयत्व आदि गुणों वाला परमात्मा ही उपास्य है, क्योंकि वेदान्त में सर्वत्र परमात्मा में ही प्रसिद्ध मनोमयत्व आदि धर्मों का उपदेश है। (अथवा वेदान्त में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण रूप में प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा का ही उपास्य देव रूप में उपदेश हुआ है) 'मनोमयः प्राण शरीरनेता स एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय' इत्यादि श्रुतियों में सर्वत्र परमात्मा के लिये मनोमयत्व अर्थात् विशुद्ध मनोग्राह्यत्व तथा प्राणशरीरत्व यानी प्राणका आधारत्व तथा नियन्तृत्व कहा गया है। 'अप्राणोह्यमनाः' यहां अप्राण का अर्थ है प्राण के अधीन स्थिति से रहित तथा अमना का अर्थ मन रूपी इन्द्रियजन्य ज्ञान के अनधीन अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के द्वारा सर्वात्मक ब्रह्म का शान्त चित्त से उपासना करें, यह विधान करते हैं। 'स क्रतुं कुर्वीत' के द्वारा पूर्व प्रतिपादित ब्रह्म का ही मनोमयत्वादि गुणों के उपादान के लिए अनुवाद है अर्थात् सर्वात्मक ब्रह्म, जो मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट है की उपासना करें, ऐसा वाक्यार्थ है। यहाँ सर्वात्मत्वेन निर्दिष्ट ब्रह्म क्या क्षेत्रज्ञ है या परमात्मा ? क्या उचित है तो बोले– क्षेत्रज्ञ क्योंकि उसी में अनादि अविद्या मूलक कर्मनिमित्तक ब्रह्मादि सर्वभाव की उत्पत्ति होती है। परमात्मा में तो सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, अपहतपाप्मत्व तथा स्वभावतोपास्त समस्त दोषत्वादि गुणों का योग है। उसमें हेयाकार सकल वस्तु तादात्म्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है। ब्रह्म शब्द भी बृहत्व गुण योग से उसी में सम्बन्धित है। जगत् की उत्पत्ति आदि भी कर्मनिमित्तक होने से जगत् कारणत्व भी जीव में उत्पन्न हो सकता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं–"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्" अर्थात् सर्वज्ञात्मकत्वेन तथा जगत् के उत्पत्ति आदि के हेतु रूप में निर्दिष्ट ब्रह्म शब्द वाच्य यहाँ परमात्मा ही है, क्योंकि उसी ब्रह्म से वेदान्त वाक्यों में सर्वत्र जगत् के जन्म आदि की प्रसिद्ध रूप में उपदेश है–"सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय' 'इदं सर्वमसृजत" इत्यादि श्रुतियों में सर्वान्तर्यामी होने के कारण सर्वात्मत्व भी पर ब्रह्म में ही उत्पन्न होता है न कि प्रतिशरीर में भिन्न जीवों के लिये जगत् की उत्पत्ति आदि जीव के कर्म निमित्तक है–इसलिये वही जगत् का हेतु है, ऐसा नहीं कह सकते, कारण परमेश्वर की ही जगत् के हेतु रूप में प्रसिद्धि है, इसलिये परमात्मा ही यहाँ ब्रह्म शब्द वाच्य है।।१।।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च। १/२/२ ॥

'मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर' इत्यादिश्रुत्या वक्तुमिष्टानां मनोमयत्वादिगुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेश्च। श्रुत्यर्थस्तु मनोमयः शमदमादिसाधन–सहकृतपरमात्मोपासननिर्मलीकृतेन मनसा ग्राह्यः। प्राणशरीरः सर्वप्राणिधारकः प्राणो यस्य शरीरमाधेयं [illegible] स भारूपो भास्वररूपो दिव्याप्राकृतकल्याणरूपवत्तया

निरतिशयौज्वल्ययुक्तः। सत्यसंकल्पः, अप्रतिहत- संकल्पः। आकाशात्मा आकाशवत्स्वच्छरूपः सर्वप्रकाशको वा। सर्वं विश्वं कर्म यस्य सर्वा क्रिया वा यस्य स सर्वकर्मा। सर्वे कामा भोग्यादयः सर्वविधा यस्य सन्ति स सर्वकामः। दिव्याप्राकृतस्वभोग्यभूतसर्वविधगन्धरसयुक्तः सर्वमिदं रसपर्य्यन्तमंगीकृतवानित्यभ्यात्तः। "भुक्ता ब्राह्मणा इतिवत् कर्तरिक्तः। यतोऽनादरः प्राप्तसमस्तकामत्वेनादरणीयाभावादादररहितः अतो वाक् उक्तिर्यस्य नास्तीत्यवाकी परिपूर्णैश्वर्य्यवत्वात्सर्वं तुच्छीकृत्य तूष्णीमासीन इत्यर्थः।।२।।

(हिन्दी अनुवाद)

'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पः आकाशात्मा,सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्ध, सर्वरसः, सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः"(छा०उ० ३/१४/२) इत्यादि श्रुति द्वारा विवक्षित मनोमयत्व आदि गुणों की परमात्मा में ही उपपत्ति होती है। श्रुत्यर्थ इस प्रकार है—मनोमयः अर्थात् शमदम आदि साधन संयुक्त परमात्म की उपासना से निर्मल हुए मन से ग्राह्य। प्राण शरीरः अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के धारक प्राण जिनका शरीर है, आधेय एवं नियम्य है। भा रूप अर्थात् भास्वर रूप वाला। यानी दिव्य अप्राकृत मण्डलमय रूपवान् होने के कारण निरतिशय प्रकाशयुक्त। सत्य संकल्प अर्थात् जिनका संकल्प कभी प्रतिहत नहीं होता।

आकाशात्मा आकाश की तरह स्वच्छ स्वरूप। अथवा सर्व प्रकाशक। सर्वकर्मा—सम्पूर्ण विश्व जिनका कर्म अर्थात् विश्व रचयिता। अथवा सर्वा क्रिया यस्य स सर्वकर्मा अर्थात् सभी क्रियाएँ जिनकी क्रिया है। सर्वकामः—समस्त काम यानी भोग जिनके हैं—वह सर्वकाम भगवान् सर्वगन्धः— दिव्य अप्राकृतः स्वभोग्य भूत सर्वविध गन्ध रसयुक्त तथा इस समस्त जगत् को सब प्रकार से सब ओर से व्याप्त करने वाला। यहाँ 'भुक्ता ब्राह्मणा' की तरह कर्ता में क्त प्रत्यय है। अवाकी वाक् उक्तिर्यस्य नास्ति स अवाकी अर्थात् परिपूर्ण ऐश्वर्य होने के कारण सबको तुच्छ मानकर मौन रहने वाला। अनादरः—समस्त भोग प्राप्त होने के कारण जिनका आदरणीय अन्य कोई न होने से आदर रहित।।२।।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः। १/२/३ ॥

पूर्वोक्तमनोमयत्वादीनां शारीरे शरीरसम्बधिनि जीवेऽनुपपत्तेश्च परमेव ब्रह्म तद्गुणकमुपास्यम्।।३।।

(हिन्दी अनुवाद)

पूर्वोक्त मनोमयत्व आदि गुणों का शरीर सम्बन्धी जीव में अनुपपत्ति होने से उक्त गुण गण विशिष्ट परब्रह्म ही यहाँ उपास्य है।।३।।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च। १/२/४ ॥

इतश्च मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव न शारीरः। यतः 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भ-

वितास्मीत्यादि श्रुतौ एतमिति उपास्यस्य परमात्मनः प्राप्यतया कर्मत्वेन अभिसम्भवितास्मीति उपासकस्य जीवस्य प्राप्तृतया कर्तृत्वेन च व्यपदेशात्।।4।।

(हिन्दी अनुवाद)

इसलिये भी मनोमयत्व आदि गुणगण विशिष्ट परमात्मा ही है, जीव नहीं, क्योंकि-"एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" (छ०उ०३/१४/४) (सर्व कर्मा आदि विशेषणों से युक्त ब्रह्म ही मेरे हृदय में रहने वाला मेरी आत्मा है। मरने के बाद यहाँ से जाकर परलोक में मैं इसी को प्राप्त होऊँगा) इस प्रकार 'एत' शब्द से उपास्य परमात्मा की प्राप्ति कर्म रूप में तथा उपासक जीवात्मा की प्राप्ति कर्ता के रूप में व्यपदेश है।।४।।

शब्दविशेषात्। १/२/५ ॥

इतश्च मनोमयत्वादिगुणकः शारीरादन्यः 'एष म आत्मान्तर्हृदये' इति जीवपरयोः षष्ठीप्रथमान्तरूपविशेषात्।।५।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस हेतु से भी मनोमयत्वादि गुण विशिष्ट परमात्मा जीव से भिन्न है, क्योंकि "एष मे आत्मा अन्त हृदये" इस वाक्य में जीवात्मा एवं परमात्मा का षष्ठ्यन्त एवं प्रथमान्त रूप शब्द का भेद है।।५।।

स्मृतेश्च। १/२/६ ॥

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। तमेव शरणं गच्छेत्यादिस्मृतिश्चोपास्योपासकयोर्भेदं दर्शयति। अत्र केचित् पर एव त्वात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्य्यते यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते तद्वत् तदपेक्षया च कर्मकर्तृत्वादिभेदव्यवहारो न विरुद्धध्यते प्राक् तत्त्वमसीत्यात्मैकत्वोपदेशग्रहणात्। गृहीते त्वात्मैकत्वे बन्धमोक्षादिसर्वव्यवहारसमाप्तिरेवस्यादिति वदन्ति। तदयुक्तम्। सर्वज्ञसर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य परब्रह्मणो निरतिशयानन्दवत्वेन स्वभावसिद्धविद्यारूपत्वेन चाविद्यायोगासम्भवात्। तत्कल्पितोपाधियोगस्य सुतरामसम्भवः। अयं भावः सर्वगताद्वितीयवादे उपाधीनां विभुत्वं वा अणुत्वम्वा मध्यमपरिमाणत्वम्वेति। नाद्यः। सर्वस्याप्यावृत्तत्वेन जगदान्ध्यप्रसंगः प्रकाशकाभावात्। मुक्तोपसृप्याभावप्रसंगाच्च। न द्वितीयः। उपाधिगमने तदवच्छिन्नाद्वितीयचिन्मात्रस्य सर्वगतत्वात् घटगमने तदवच्छिन्नाकाशस्य गत्यनुपपत्तिवदुपाधिना सह गमनानुपपत्तेः पदे पदे बन्धमोक्षौ स्याताम्। अनाद्युपाध्यवच्छिन्नस्याकस्मात् शास्त्रोक्तसाधनकदम्बं विनैव मुक्तिप्रसंगात्, नित्यमुक्तस्य शुद्धबुद्धाद्वितीयनिर्विशेष–

चिन्मात्रस्याकस्माद्बन्धप्रसंगाच्च, तद्विषयकजिज्ञासाशास्त्रारम्भवैयर्थ्याच्च, मुक्तस्यापि पुनर्बन्धावश्यंभावाच्च। पादादिवेदनादेः शिरसि गतसुखस्य च युगपदनुभवानुपपत्तेः। नापि तृतीयः, उपाध्यणुत्वनिरूपितजीवाणुत्वसिद्धान्तविरोधात् चाक्षुषत्वापत्तेश्च। किंच परिच्छेदकस्योपाधेः सत्यत्वं मिथ्यात्वं वेति। नाद्यः। द्वैतापत्या सिद्धान्तभङ्गप्रसंगात् सत्यस्य ज्ञाननाश्यत्वाभावेनानिर्मोक्षप्रसंगाच्च परमतप्रवेशापत्तेश्च। न द्वितीय अनुपपन्नत्वात्। अन्यथा स्वाप्ननिगडेन जाग्रदवस्थायां बन्धनापत्तिर्दुर्वारा एतस्य दृष्टश्रुतागोचरत्वात् प्रमाणशून्यत्वात् श्रुतियुक्तिविरुद्धत्वाच्चेतिसंक्षेपः। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः। तस्मात्तच्छक्तिभूतस्य जीवस्यैवाविद्याकर्मादियोगाद्बन्धमोक्षभाक्त्वं न परस्येति।।६।।

(हिन्दी अनुवाद)

"सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। तमेव शरणं गच्छ" इत्यादि स्मृतियाँ उपास्य उपासक में भेद बताती हैं। यहाँ कुछ लोग (मायावादी) परब्रह्म परमात्मा को ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि उपाधियों से परिच्छिन्न होने से शारीर (जीव) कहते हैं। जैसे घट, करका आदि उपाधि वश आकाश अपरिच्छिन्न होने पर भी परिच्छिन्न की तरह भासित होता है, उसी तरह उपाधिवशात् कर्म कर्तृत्वादि भेद व्यवहार है, इसलिये इससे कोई विरोध नहीं है, क्योंकि पहले 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतियों में आत्मैकत्व का उपदेश है। आत्मैकत्वगृहीत होने पर तो बन्धमोक्ष आदि समस्त व्यवहारों की समाप्ति ही हो जायेगी, ऐसा कहते हैं, वह समीचीन नहीं है। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति तथा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परब्रह्म के निरतिशय आनन्दवान् होने एवं स्वभाव सिद्ध ज्ञान रुप होने के कारण उसमें अविद्या का योग असंभव है। इस प्रकार अविद्या कल्पित उपाधि योग सर्वथा असंभव है, यह भाव है-सर्वगत अद्वितीय वाद में उपाधि विभु है या अणु या मध्यम परिमाणवान् ? पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि तब तो सम्पूर्ण चेतन का अविद्या से आवृत्त होने के कारण जगत् अन्धकारमय हो जायेगा, क्योंकि कोई प्रकाशक नहीं रहेगा तथा मुक्त जीव के लिये कोई प्राप्य शेष नहीं रहेगा। दूसरा पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि उपाधि के गमन होने पर तदवच्छिन्न सर्वव्यापक अद्वितीय चिन्मात्र आत्मा की घट के जाने पर तदवच्छिन्न आकाश की जैसी गति नहीं होती, उसी तरह उपाधि के साथ गमन की उपपत्ति नहीं होगी तब पद-पद पर बन्ध-मोक्ष होने लगेगा, अनादि उपाधि अवच्छिन्न आत्मा का शास्त्रोक्त साधन समूह के बिना ही मुक्ति का प्रसंग होगा तथा नित्य- मुक्त-शुद्ध-बुद्ध अद्वितीय निर्विशेष चिन्मात्र आत्मा का अकस्मात् बन्ध प्रसंग भी हो जायेगा तथा तद्विषयक जिज्ञासा शास्त्र का आरम्भ भी व्यर्थ हो जायेगा तथा मुक्त आत्मा का पुनः बन्धन अवश्यंभावी हो जायेगा। उपाधि के अणुत्व पक्ष में दोषान्तर-पाद आदि में वेदना तथा शिरनिष्ठ सुख का एक काल में ही अनुभव नहीं होगा। तीसरा पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि 'उपाधिगुणसारत्वात् जीवस्याणुत्वव्यपदेशः' यह आपका सिद्धान्त जो कि उपाधि के मध्यम परिमाण मानने पर विशुद्ध तथा उपाधि के मध्यम परिमाण मानने पर चाक्षुषत्व की आपत्ति भी हो जायेगी। दूसरी बात परिच्छेदक उपाधि सत्य है या

मिथ्या। सत्य मानने पर द्वैत की आपत्ति होने से सिद्धान्त भङ्ग का प्रसंग होगा तथा सत्य का ज्ञान से नाश्य न होने के कारण अनिर्मोक्ष का प्रसंग होगा तथा परमत का प्रवेश होगा। उपाधि को मिथ्या मानने पर उसकी उत्पत्ति नहीं होगी अन्यथा स्वप्न रूपी निगड़ द्वारा जाग्रत अवस्था में बन्धन की आपत्ति दुबारा हो जायेगी और ऐसा न कहीं देखा ही गया, न सुना गया है और प्रमाण शून्य है तथा युक्तिविरुद्ध भी है। इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन आकर-ग्रन्थ में देखना चाहिए। इसलिये शक्ति स्वरूप जीव में ही अविद्या तथा कर्म आदि का योग होने से उसी में बन्ध तथा मोक्ष भागित्व होता है न कि परमात्मा में।।६।।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चनेतिचेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च। १/२/७॥

अर्भकमल्पमोको नीडमायतनं यस्य तस्य भावस्तत्वं तस्मात् 'एष मे आत्माऽन्तर्हृदय' इत्यल्पायतनत्वात् 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वे'ति स्वरूपेणाल्पव्यप- देशाच्चाणुपरिमाणको जीव एवात्रोपास्यतयोपदिश्यते न परमात्मेति चेन्नैतत्, निचाय्यत्वादेवम्। एवं द्रष्टव्यत्वादुपास्यत्वात् परिच्छिन्नायतनत्वाणीयस्त्वव्यपदेशो न स्वरूपाल्पत्वेन 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षादि' त्यादिना स्वाभाविकमहत्त्वस्यापि व्यपदेशात्। व्योमवच्च चशब्दो नियोगे यथा महतोऽपि व्योम्नः सूच्यादावल्पत्वानुसन्धानं तद्वदेवेत्यर्थः।।७।।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कह कि छा०उ० ३/१४ के तीसरे तथा चौथे मन्त्र में उपास्यतत्त्व का स्थान हृदय बताया गया है। जो बहुत छोटा है, तीसरे मन्त्र में धान, जौ, सरसों तथा साँवा से भी अत्यन्त छोटा बताया गया है—'एष मे आत्मा अन्तर्हृदये अणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा' इस प्रकार एकदेशीय अत्यन्त लघु बताये जाने के कारण यहाँ उपास्य देव परब्रह्म नहीं हो सकता, किन्तु अणु परिमाण वाला जीव ही यहाँ उपास्य है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उक्त मन्त्र में जो परब्रह्म परमात्मा को हृदय में स्थित बताया गया है, वह उसके उपलब्धि स्थान की दृष्टि से कहा गया है। तात्पर्य है कि परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप आकाश की भाँति सूक्ष्म और व्यापक है। अतः वह सर्वत्र है, प्रत्येक प्राणी के हृदय में भी है और उसके बाहर भी। अतएव उसे हृदयस्थ बता देने मात्र से उसका एक देशीय होना सिद्ध नहीं होता तथा उसे जो धान, जौ या सरसों से भी छोटा बताया गया है, इससे श्रुति का उद्देश्य उसे छोटे आकार वाला बताना नहीं है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाना है, इसीलिये उसी मन्त्र में यह भी कहा गया है कि वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं समस्त लोकों से भी बड़ा है।

'व्योमवच्च' मे च शब्द नियोग अर्थ में है जैसे महान् आकाश का भी सूची (सूई) आदि

विशेष – प्रचण्ड मार्तण्ड मण्डल में अन्धकार की तरह स्वयं प्रकाश ब्रह्म में अविद्या का योग या अविद्या का अवच्छेद्यत्व पागल के सिवा कौन कह सकता है। (सं)

में उसके अल्पत्व का अनुसंधान होता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये।।7।।

सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्। १/२/८॥

जीवेन सहैकस्थानस्थितस्य परमात्मनोऽपि जीववत्सुखदुःखादिसम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न, वैशेष्यात् हेतोरिति शेषः। नह्येकत्र स्थितिरेव सुखाद्युपभोगहेतुः अपितु पुण्यादिकर्म-परवशत्वम्। तस्य त्वपहतपाप्मत्वादिगुणवति परमात्मन्यसम्भवात्। अन्यथाग्निदेशस्थित-दिगाकाशयोरपि दाहप्रसङ्गः।।८।।

इति सर्वत्र प्रसिद्ध्यधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जीव के साथ एक स्थान (हृदय) में स्थित परमात्मा में भी जीव की तरह सुख-दुःख आदि के संभोग की प्राप्ति होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव की अपेक्षा परमात्मा में विशेषता है। एक स्थान में रहने मात्र से ही परमात्मा में सुख-दुःख आदि का उपभोग संभव नहीं है बल्कि सुख-दुःख के कारण पुण्य-पाप आदि कर्म होते हैं। परमात्मा तो पुण्य-पाप आदि से रहित है-"एष आत्मा अपहतपाप्मा" कहा गया है, अतः उनके सुख-दुःख आदि की संभावना नहीं है। अन्यथा अग्नि देश में स्थित दिशा तथा आकाश में भी दाह का प्रसंग हो जायेगा, इस प्रकार सर्वत्र प्रसिद्धि अधिकरण पूरा हुआ।।8।।

अथात्त्रधिकरणम्

अत्ता चराचरग्रहणात्।१।२।९।।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र स" इति कठवल्यामाम्नातस्यौदनोपसेचनशब्दसूचितस्यादनीयस्यात्ता किं क्षेत्रज्ञः परमात्मा वेति संशयः। तत्र भोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वेन 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ती'ति श्रुत्या जीवस्यैव तत्सम्भव इति प्राप्ते ब्रूमः। अत्तात्र परमात्मैव कुतश्चराश्चरग्रहणात् मृत्यूपसेचनौदनस्य ब्रह्मक्षत्रोपलक्षितचराचरात्मकस्य कृत्स्नस्य जगतो ग्रहणात् विश्वसृष्टिस्थितिलयलीलस्य परमात्मनो जगदुपसंहारित्वरूपभोक्तृत्वस्य कर्मनिमित्तत्वाभावात् जीवस्य सर्वजगदुपसंहारित्वासम्भवात्। "अनश्नन्निति कर्मफलोपभोगनिषेधविषया"।।९।।

(हिन्दी अनुवाद)

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचन" क इत्था वेद यत्र सः" (कठोपनिषद् (१/२/२५) अर्थात् (संहार काल में) जिस परमेश्वर के ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् समस्त स्थावर, जंगम प्राणीमात्र भोजन बन जाते हैं तथा मृत्यु उपसेचन (व्यंजन) बन जाता है, वह परमात्मा जहाँ और जैसा है, यह कौन जान सकता है? कठवल्ली में श्रुत इस ओदन

तथा उपसेचन शब्द सूचित अदनीय (भक्षणीय) वस्तुओं के भोक्ता क्या क्षेत्रज्ञ है या परमात्मा? ऐसा संशय है। यहाँ भोक्तृत्व कर्म निमित्तक होने तथा "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इस श्रुति द्वारा जीव में भोक्तृत्व का प्रतिपादन होने से उक्त श्रुतिका अत्ता जीव ही संभव है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—"अत्ता चराचरग्रहणात्" यहाँ अत्ता परमात्मा ही है, क्योंकि अदनीय रूप में चराचर का ग्रहण है। यहाँ मृत्यु को उपसेचन तथा ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् का अदनीय रूप में ग्रहण है, जो जीव में संभव नहीं है। यहाँ विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय रूप लीलाधारी परमात्मा में प्रलय दशा में अपने में जगत् का उपसंहार, प्रलय करना ही भोक्तृत्व है, जो कर्मनिमित्तक नहीं है—जीव में सकल जगत् का उपसंहारित्व संभव नहीं है। "अनश्नन्" श्रुति कर्मजनित फलभोग का ही निषेध करती है।।९।।

प्रकरणाच्च। १/२/१० ॥

इतश्च परमात्मा एवात्ता 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा' 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य' इत्यादिना तस्यैव पूर्वप्रकृतत्वात् ॥१०॥

(हिन्दी अनुवाद)

इस हेतु से भी यहाँ परमात्मा ही अत्ता है, क्योंकि उपर्युक्त मन्त्र के पूर्व बीसवें से चौबीसवें तक परमेश्वर का ही प्रकरण है, पूर्व मन्त्र में 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' तथा 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्' (यह परमात्मा न प्रवचन से, न मेधा से, न अधिकाधिक शास्त्र श्रवण से प्राप्त होता है, किन्तु जिस प्रपन्न को वह अपनी अहैतुकी कृपा से आत्मीयत्वेन वरण कर लेता है, उसी आत्मीय जन द्वारा वह लभ्य होता है और उसी अपने प्रियतम उपासक के लिये अपनी (कमनीय) तनु मूर्ति को[1] प्रकाशित करता है इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमात्मा का प्रकरण होने से अत्ता परमात्मा ही है, यह निश्चित होता है।।१०।।

तत्रैवानन्तरं 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता' इति ऋतपानकर्मतया निर्दिष्टौ जीवपरमात्मनौ बुद्धिजीवौ वेति संशये द्वयोः कर्मफलभोक्तृत्वश्रवणात् परस्य तदसम्भवात् सुकृतसाध्यलोकवर्तित्व- गुहावच्छिन्नत्वयोः सर्वगते ब्रह्मण्यसम्भवात्। छायातपनिर्दिष्टतमः प्रकाशत्वयोरपि जीवपरमात्मपरत्वेऽसम्भवाच्चातो बुद्धिजीवावेवात्र मन्त्रे प्रतिपाद्येते न जीवपरमात्मानौ बुद्धेर्भोक्तृजीवोपकरणतया यथाकथञ्चित्पानेऽन्वयसम्भवादिति प्राप्ते आह।।

१- एतावता परमात्मा की साकार रूपता की सिद्धि होती है तथा उपासक को ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, यह सिद्ध होता है। – (सं)

(हिन्दी अनुवाद)

वहीं काठ्कोपनिषद् के परमात्म प्रकरण में "यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं च" इस मन्त्र के अनन्तर "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता (1/3/1 कठोपनिषद्) (अर्थात् शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर के भीतर परब्रह्म के निवास स्थान (हृदयाकाश) बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए तथा सत्य का पान करने वाले दो तत्त्व हैं, वे दोनों छाया और धूप की तरह परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। यह बात ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी कहते हैं तथा जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले पंचाग्नि सम्पन्न गृहस्थ हैं, वे भी कहते हैं।) इस मन्त्र में सत्यपान कर्तृतया निर्दिष्ट जीव परमात्मा हैं या बुद्धि, जीव ऐसा संशय होने पर दोनों में कर्मफल भोक्तृत्व श्रवण होने से परमात्मा में फलभोक्तृत्व संभव है तथा सुकृत साध्य लोकवर्तित्व एवं गुहावच्छिन्नत्व भी सर्वगत ब्रह्म में असंभव है। इसी तरह छाया एवं तप शब्द निर्दिष्ट तमः प्रकाशत्व भी जीव परमात्म परक मानने पर असंभव है, इसलिये बुद्धि एवं जीव ही इस मन्त्र में प्रतिपादित होते हैं, न कि जीव और परमात्मा। भोक्ता जीव के उपकरण होने के कारण बुद्धि का पान में यथाकथंचित्त् अन्वय संभव भी है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं।"

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। १/२/११॥

हृदयगुहां प्रविष्टौ जीवपरावेव हि यतस्तयोश्चेतनत्वेनैकस्वभावत्वात् सङ्ख्याश्रवणे सति एकस्मिन् सम्प्रतिपन्ने द्वितीयाकांक्षायां प्रतिपन्नजातिमुपजीव्य व्यक्तिविशेषपरिग्रहे बुद्धिलाघवाद्विजातीयपरिग्रहे जातिव्यक्तिबुद्धिद्वयापेक्षाया गौरवात् प्रतिपन्नजातीयपरिग्रहो युक्तः। "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेवान्विष्यते नाश्वो न गदर्भ" इति महाभाष्यकारोक्तेः। तथाच ऋतपानलिङ्गावगतजीवस्य द्वितीयश्चेतनत्वेन तत्सजातीयः परमात्मैव ग्राह्यस्तस्य प्रयोजककर्तृतयाच्छत्रिन्यायेन वा पिबन्ताविति निर्देशस्यापि सम्भवात्।

(हिन्दी अनुवाद)

हृदय रूपी गुफा में प्रविष्ट यहाँ जीव एवं परमात्मा ही हैं, क्योंकि उन दोनों का चेतन होने के कारण समान स्वभाव है। संख्या का श्रवण होने से एक पूरा होने पर द्वितीय की आकाँक्षा होती है। ऐसी दशा में प्रतिपन्न जाति को लेकर व्यक्ति विशेष के परिग्रह उपस्थित होने पर बुद्धि के लाघव के कारण विजातीय के परिग्रह की स्थिति में जाति एवं व्यक्ति रूप बुद्धि द्वय की अपेक्षा में गौरव होने से प्रतिपन्न जाति का परिग्रह ही युक्त है। "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः" ऐसा कहने पर दूसरी गौ का ही अन्वेषण किया जाता है, न कि अश्व या गर्दभ का, ऐसा महाभाष्यकार ने कहा है। इस प्रकार ऋत पान रूपी लिङ्ग से अवगत जीव का दूसरा चेतन रूप में उसका सजातीय परमात्मा ही ग्राह्य है, उसमें प्रयोजक कर्ता

के रूप में या छत्रि न्याय से 'पिबन्तौ' यह निर्देश भी संभव है।

बुद्धौ स्वतन्त्रकर्तृत्वस्यासम्भवात्। "गुहां प्रविष्टा" विति गुहाप्रवेशस्यापि 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्नत्मानमन्विच्छ, गुहांप्रविष्ट' मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु प्रदर्शनादुपपत्तेः। छायातपःशब्दाभ्याञ्च किंचिज्ञसर्वज्ञयोः प्रतिपादनसम्भवात्। सुकृतसाध्यलोकवर्तित्वस्यापि च्छत्रित्ववत्सम्भवात्। जीवद्वितीयः परमात्मेति कथं प्राप्यते तद्दर्शनात्, तयोरेवास्मिन् प्रकरणे गुहाप्रवेशव्यपदेशदर्शनात्। 'तं दुर्दर्शंगूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहित' मिति परस्य। 'या प्राणेन सम्भवत्य- दितिर्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते'ति जीवस्य तत्र कर्मफलान्यत्तीत्यदितिः प्राणेन सह वर्त्तते देवतामयी इन्द्रियाधीनभोगा भूतेभिर्भूतैः पृथिव्यादिभिः सहिता देवतादिरूपेण विविधा जायत इत्यर्थः।।११।।

(हिन्दी अनुवाद)

बुद्धि में स्वतन्त्र कर्तृत्व असंभव है। 'गुहां प्रविष्टौ' इस श्रुति में वर्णित गुहा में प्रवेश की भी "गुहाहितं गह्वरेष्टं यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्, इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों में वर्णन होने से क्रमशः अल्पज्ञत्व एवं सर्वज्ञत्व का प्रतिपादन संभव है। जीव को द्वितीय रूप में परमात्मा की प्राप्ति कैसे संभव है तो कहते हैं-"तद्दर्शनात्" अर्थात् उन जीव एवं परमात्मा का ही इस प्रकरण में गुहा में प्रवेश का वर्णन देखा गया है। "तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं गुहाहितं" इस श्रुति में परमात्मा का गुहा में प्रवेश का स्पष्ट वर्णन है। "यां प्राणेन सम्भवत्यदिति र्देवतामयी गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती सा भूतेभिर्व्यजायते" इसमें वर्णन है। यहाँ कर्मफल भोगने से जीव को अदिति कहा गया है। जो प्राण के साथ होता है जो देवतामयी है, इन्द्रियों के अधीन जिसका भोग है, पृथिवी आदि भूतों के साथ देवता आदि रूपों में विविध प्रकार से जो उत्पन्न होता है।।११।।

विशेषणाच्च। १/२/१२॥

अत्र प्रकरणे जीवपरयोरेव 'ब्रह्मयज्ञं देवमीडयं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति, "यः सेतुरीजानानाम्," "आत्मानं रथिनं विद्धि," विज्ञानसारथिर्यस्तु' इत्यादिषु उपास्यत्वोपास- कत्वप्राप्यत्वप्राप्तृत्वगन्तव्यत्वगन्तृत्वादिभिर्विशेषत्वेन प्रतिपादनात्।।१२।।

इति गुह्यप्रविष्टाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस प्रकरण में जीव एवं परमात्मा का ही "ब्रह्म यज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति" "य सेतुरीजानानाम्" "आत्मानं रथिनं विद्धि" "विज्ञान सारथिर्यस्तु" इत्यादि श्रुतियों में उपास्यत्व एवं उपासकत्व, प्राप्यत्व तथा प्राप्तृत्व तथा गन्तव्य एवं गन्तृत्व

आदि विशेषणों से प्रतिपादन किया गया है।।१२।। इस प्रकार गुहा प्रविष्ट अधिकरण पूरा हुआ।

अन्तर उपपत्तेः। १/२/१३॥

छान्दोग्ये इदं श्रूयते 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते (छां०४।१५।१।) एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।' तत्र सन्दिह्यते पुरुषः प्रतिबिम्बात्मेति उत जीव उतेन्द्रियाधि- ष्ठातृदेवविशेषः अथवा परमात्मेति। किं तावत्प्राप्तं प्रतिबिम्बात्मेति, कुतः दृश्यते इत्यपरोक्षतया प्रसिद्धवन्निर्देशात् जीवो वा तस्यापि चक्षुषि रूपद्रष्टृतया सन्निहितत्वादात्मशब्दवाच्यत्वाच्च। आदित्यो वा चक्षुरनुग्राहकः 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठत' इति श्रुतेः। एवं प्राप्ते ब्रूमः अक्ष्या- धारपुरुषः परमात्मैव। कुत उपपत्तेः। आत्मत्वामृतत्वाभयत्वापहतपाप्मत्वसंयद्वामत्वादिगुणजातस्य तत्रैवोपपत्तेः।।१३।।

(हिन्दी अनुवाद)

[१]छान्दोग्य उपनिषद् में सुना जाता है-"य एषोदक्षिणेऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" (जो यह पुरुष दक्षिण नेत्र में देखा जाता है।) (४/१५/१) "एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति (यह आत्मा अमृत रूप है, अभय है)" यहाँ सन्देह होता है कि क्या यह नेत्र के भीतर अवस्थित पुरुष प्रतिबिम्बात्मा है, या जीव या इन्द्रिय के अधिष्ठाता देव विशेष अथवा परमात्मा? यहाँ क्या प्राप्त है? बोले प्रतिबिम्बात्मा, क्योंकि 'दृश्यते' शब्द द्वारा उसका अपरोक्ष रूप में प्रसिद्ध की तरह निर्देश है, अथवा कोई जीव है, क्योंकि वह भी नेत्र के अभ्यन्तर रूपद्रष्टा के रूप में सन्निहित रहता है और वह शब्द वाच्य भी है अथवा नेत्र का अनुग्राहक सूर्य है-क्योंकि श्रुति कहती है-"रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठिते (सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा नेत्र में प्रतिष्ठित रहता है)" ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—नेत्र आधारित पुरुष यहाँ परमात्मा ही है, क्योंकि आगे प्रतिपादित आत्मत्व, अमृतत्व, अभयत्व, अपहतपाप्मत्व तथा संयद्वामत्व आदि गुणसमूह की परमात्मा में ही उपपत्ति होती है।।१३।।

स्थानादिव्यपदेशाच्च। १/२/१४॥

चक्षुषि स्थितिनियमनादीनां "यच्चक्षुषि तिष्ठन्नि" त्यादिश्रुत्या परमात्मन्येव व्यपदेशात् सएवाक्ष्याधारः दृश्यत इत्यपरोक्षव्यपदेशो योगिदृष्ट्योपपद्यते।।१४।।

१- यह प्रसङ्ग छा०उ० में चतुर्थ अध्याय के दशम खण्ड से आरम्भ होकर पन्द्रहवें खण्ड में समाप्त हुआ है। "अन्तरः उपपतेः" - "य एषो दक्षिणेऽक्षन् पुरुषोदृश्यते" - श्रुति में प्रतिपादित अक्षि अन्तवर्ती पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि उसी में अमृतत्व अभयत्वादि धर्मों की उत्पत्ति होती है। (सं)

(हिन्दी अनुवाद)

नेत्र के भीतर परमात्मा की स्थिति तथा उसका नियमन आदि का वर्णन "यच्चक्षुषि तिष्ठन्" (जो चक्षु में रहकर चक्षु आदि का नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमात्मा में ही किया गया है, इसलिये वही नेत्रान्तवर्ती पुरुष है। 'दृश्यते' शब्द द्वारा जो अपरोक्ष व्यवहार बताया गया है, वह योगियों की दृष्टि से उत्पन्न होता है।।१४।।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च। १/२/१५॥

इतश्चाक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मा "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राक्ष्याधारतया संयद्वामत्वादिगुणवत्तयाचोपास्यत्वाभिधानात् एवकारो हेतुनैरपेक्ष्यद्योतकः। नन्व "थहैनं गार्हपत्योऽनुशशासे"त्यादिना मध्येऽग्निविद्योपदेशात् कथमक्षिस्थानकं प्रकृतं ब्रह्मेति फलवैलक्षण्योपदेशाच्चेति चेदुच्यते "तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति। "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मे"त्युपक्रमोपसंहारयोः श्रूयमाणो ब्रह्मशब्दो मध्योपदिष्टाग्निविद्यायां ब्रह्मविद्याङ्गत्वमवगमयति। एवञ्च 'अपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यापरपुरुषाः क्षीयन्ते उप वयंतं भुञ्जानोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च' इतिफलान्तरा-भिधानस्य मोक्षविरोधत्वादर्थवादत्वमेवेति। तत्र पापशब्दो ब्रह्मविद्योत्पतिप्रतिबन्धकपापपरः लोकशब्दो ब्रह्मलोकप्राप्तिमार्गभूताग्निलोकपरः। सर्वम् ब्रह्मोपासनसमाप्त्यन्तम्। ज्योग् व्याध्यादिरहितः। यावद्ब्रह्मप्राप्ति अवरपुरुषाः पुत्रपौत्रादयः शिष्यप्रशिष्यादयश्च वयमग्नयः तमेनमुपभुञ्जामो यावद्ब्रह्मप्राप्तिविघ्नेभ्यो रक्षाम इत्यर्थः। 'आचार्य्यस्तु ते गतिं वक्ता' इति वदतामग्नीनां त्वयमभिप्रायः हे उपकोशल ब्रह्मविद्यामनुपदिश्य प्रोषुषि गुरौ तदलाभदानाश्वासं त्वामुज्जीवयितुं ब्रह्मस्वरूपमात्रं तदङ्गभूतामग्निविद्याञ्चोपदिशामः। "आचार्य्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्", इति श्रुतेः आचार्य्य एव ते तुभ्यं संयद्वामत्वादिगुणकं ब्रह्म अक्षिरूपं तदुपासनस्थानमर्चिरादिकञ्च गतिं वक्ता वक्ष्यतीति, आचार्य्योप्यग्रे तथैवोपदिदेशेत्यतः "कं ब्रह्म खं ब्रह्मे"ति सुखविशिष्टस्य प्रकृतस्यैव ब्रह्मणोऽत्राभिधानादक्ष्यन्तरः परमपुरुषः एवेति।१५।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस दृष्टि से भी नेत्रान्तवर्ती पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इस श्रुति द्वारा सुखविशिष्ट प्रकृत ब्रह्म ही यहाँ नेत्रान्तवर्ती रूप में तथा संयद्वामत्वादि गुणविशिष्ट में उपास्यत्वेन कहा गया है। यहाँ एवकार हेतु में निरपेक्षता का द्योतक है। यदि कहें कि "अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास" इत्यादि मन्त्रों द्वारा मध्य में अग्नि विद्या का उपदेश हुआ है, फिर नेत्रान्तवर्ती ब्रह्म यहां प्रकृत कैसे हो सकता है, दूसरी बात फल में विलक्षणता का भी उपदेश है? तो इसका उत्तर देते हैं- यहाँ पहले "तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं

ब्रह्म" कहा तथा उपसंहार भी "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एषआत्मेति हो वाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" कहा है। इस प्रकार यहाँ उपक्रम तथा उपसंहार में श्रूयमाण ब्रह्म शब्द मध्य में उपदिष्ट अग्नि विद्या में ब्रह्म विद्याङ्गत्व का बोध कराती है। इस प्रकार "अपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्या पर पुरुषाः क्षीयन्ते उपवयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्चलोकेऽमुष्मिंश्च।[१]" इस मन्त्र से फलान्तर का कथन मोक्षविरोधी होने से अर्थवाद ही है। यहाँ पाप शब्द ब्रह्म विद्या की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध पाप परक है तथा लोक शब्द ब्रह्म लोक की प्राप्ति के मार्ग स्वरुप अग्निलोक परक है। सर्व शब्द ब्रह्मोपासना समाप्ति परक है। ज्योक् शब्द का अर्थ है व्याधि आदि से रहित। ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त पुत्र पौत्रादि तथा शिष्य प्रशिष्य आदि सहित हम उसका उपभोग करते हैं अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति पर्यन्त विघ्नों से रक्षा करते हैं यह अर्थ है। "आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता" इस प्रकार बोलने वाले अग्नियों का तो यह अभिप्राय है-"हे उपकोशल ! ब्रह्म विद्या का उपदेश किये बिना गुरु के चले जाने पर तुम्हें पुनः उज्जीवित करने के लिये ब्रह्म का स्वरूप तथा उसके अङ्गभूत अग्निविद्या का उपदेश करते हैं।" क्योंकि "आचार्याद्ध्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्' अर्थात् विद्या गुरु मुख से प्राप्त होने पर ही फलवती होती है" इस श्रुति के कारण आचार्य ही तेरे लिये संयद्वामत्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म, उसके उपासना स्थान अक्षि तथा अर्चिरादि गति का वर्णन करेंगे। आचार्य ने भी आगे उसी प्रकार उपदेश दिया- इस लिये "कं ब्रह्म खं ब्रह्म" इस प्रकार प्रकृत सुख-विशिष्ट ब्रह्म का ही यहाँ अभिधान है— इसलिये नेत्रान्तवर्ती पुरुष यहाँ परम पुरुष परमात्मा ही है।।१५।।

ननु नाम ब्रह्म मनोब्रह्मेत्यादिवत् कंखंशब्दयोरपि लौकिकसुखभूताकाशयोः प्रसिद्धेः। प्रतीकोपासनमेवेदमिति तत्राहुः—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि "नाम ब्रह्म मनो ब्रह्म" इत्यादि की तरह कं तथा खं शब्द की भी क्रमशः लौकिक सुख तथा भूताकाश में प्रसिद्धि है-इसलिये यह भी प्रतीक उपासना ही है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अतएव च तद्ब्रह्म। १/२/१६ ॥

यतस्तत्र 'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव क' मिति सुखविशिष्टाकाशस्या-परिच्छिन्नसुखस्यचाभिधानमतः स्वशब्दवाच्यं तदाकाशं परं ब्रह्मेति।।१६।।

---

१. 'सर्वधर्मोपपत्तेः', 'विवक्षितगुणोपत्तेः', 'धर्मोपेताच दर्शनात्', 'अन्तर उपपत्ते', 'अन्तस्तद् धर्मोपदेशात् आदि अनेक सूत्रों अदृश्यत्वादिगुणोपेत धर्मोक्तेः, अन्तर्याम्याधिदेवादिलोकेसु नदधर्मव्यपदेशात् तथा 'स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च,' 'प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्य,' आदि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म में सविशेषत्व तथा 'वृणुते तनुंस्वाम्' से साकारत्व की सिद्धि होती है तथा 'यत्ते कल्याणतम् रूपम्' से भी है। इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र में सविशेष एवं साकार ब्रह्मवाद ही दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मसूत्र में एक भी सूत्र ऐसा नहीं दीखता जो निर्विशेष निराकार वाद का समर्थक हो। (सं)

(हिन्दी अनुवाद)

क्योंकि वहाँ "यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कं" इस श्रुति के द्वारा सुख विशिष्ट आकाश एवं अपरिच्छिन्न सुख का अभिधान है, इसलिये 'ख' शब्द वाच्य वह आकाश पर ब्रह्म है।।१६।।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च। १/२/१७॥

उपनिषीदति उपास्योपासकस्वरूपविषयकसन्देहं संसारग्रन्थिं वा सादयति नाशयतीति। उप समीपस्थं नि निश्चितं परमात्मानं प्रापयतीति वा उपनिषद्विद्या तत्सम्पर्काद् ग्रन्थोऽपि। श्रुता उपनिषदो यैस्तैरधिगतब्रह्मयाथात्म्यैः परमात्मप्राप्तये या गतिरर्चिरादिकाऽधिगन्तव्यतयाऽवगता श्रुत्यन्तरे तस्या एवेह "ते ऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्ती" त्यारभ्य "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त" इत्यन्तेनाक्षिपुरुषं श्रुतवत उपकोशलस्याधिगन्तव्यतयाऽभिधानादक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मैव।।१७।।

(हिन्दी अनुवाद)

उपनिषीदति उपास्य उपासक स्वरूप विषयक सन्देह अथवा संसार ग्रन्थि को जो नाश कर दे, उसे उपनिषत् कहते हैं अथवा उप यानी समीप में निश्चित रूप से परमात्मा को जो प्राप्त करा दे, उसे उपनिषत् विद्या कहते हैं–उस विद्या को प्राप्त कराने के कारण उपनिषद् ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाते हैं। जिन्होंने उपनिषदों को सुना है-ऐसे ब्रह्मविषयक यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने वाले महापुरुषों द्वारा परमात्म प्राप्ति के लिये जो अर्चिरादि गति प्राप्तव्य रूप में श्रुत्यन्तर में कही गई है, उसी अर्चिरादि गति का "तेऽर्चिषमेवामिसम्भवन्ति" यहाँ से लेकर "एतेन प्रतिपद्यमाना मानवमावर्तं नावर्तन्त" इत्यन्त श्रुति के द्वारा अक्षिवर्ती पुरुष को सुनने वाले उपकोशल के प्राप्तव्य रूप में कथन होने से अक्षिवर्ती पुरुष परमात्मा ही है।।१७।।

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः। १/२/१८॥

यच्चोक्तं प्रतिबिम्बात्मा जीवो वेन्द्रियाधिष्ठातृदेवो वाऽक्ष्यन्तरस्तत्रोच्यते इतरः प्रतिबिम्बादिर्नेह गृह्यते तस्य चक्षुषि नियमेनानवस्थितेरमृतत्वसंयद्वामत्वादीनां चासम्भवात्। तत्र प्रतिबिम्बात्मनः पुरुषान्तरसन्निवानाधीनत्वात् जीवस्य च कृत्स्नेन्द्रियसम्बन्धवत्त्वात् न नियमेन चक्षुष्यवस्थितिसम्भवः। देवतायाश्च रश्मिद्वारेणावस्थितिवचनाद्देशान्तरा–वस्थितस्यापीन्द्रियाधिष्ठानोपपत्तेर्न चक्षुषि नियमेनावस्थानमितिभावः। तस्मादक्ष्यन्तरः पुरुषः परमात्मेतिसिद्धम्।।१८।।

(हिन्दी अनुवाद)

पहले जो ये कहा गया था कि यहाँ नेत्रान्तवर्ती पुरुष प्रतिबिम्बात्मा जीव है या

इन्द्रियाधिष्ठातृ देवता कोई? इस पर कहते हैं—यहाँ इतर कोई प्रतिबिम्बात्मा नहीं लिया जा सकता, क्योंकि उसका नेत्र में नियमपूर्वक अवस्थान नहीं। दूसरी बात उसमें अमृतत्व तथा संयद् वामत्व आदि गुण भी असंभव है। प्रति बिम्बात्मा पुरुषान्तर संनिधान के अधीन होता है तथा जीव में समस्त इन्द्रिय सम्बन्धत्व होता है। इसलिये उसका नियमतः नेत्र में अवस्थान संभव नहीं है, देवता का रश्मि द्वारा अवस्थान कथन होने से देशान्तर में अवस्थित होने पर भी इन्द्रिय का अधिष्ठान संभव है, इसलिये उसका भी नेत्र में नियमतः अवस्थान नहीं संभव है। इसलिये नेत्रान्तवर्ती पुरुष परमात्मा ही है, यह सिद्ध होता है।।१८।।

अथ अन्तर्याम्यधिकरणम्।

अन्तर्याम्यधिदेवादिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्। १/२/१९॥

बृहदारण्यके "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तर" इत्यारभ्य "एष ते आत्मान्तर्याम्यमृत" इत्यादिना पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षाकाशवायुदिवादित्यादिष्वधिदेवा-दिपर्वपर्यायेषूच्यमानोऽन्तर्यामी किं देवता विशेषः उत जीव उत परमात्मेति विशयः देवतात्मनो नियमयितृत्वस्य युक्तत्वात्स एवेति जीवो वा वाक्यशेषे द्रष्टृष्वादिश्रवणात्। द्रष्ट्रन्तरनिषेधाच्चेति प्राप्ते, इदमुच्यते-अन्तर्यामी परमात्मैव। कुतः? तद्धर्मव्यपदेशात्। सर्वदेवलोकवेदयज्ञभूतादिनियमनस्यात्मत्वामृतत्वादेश्च परमात्मधर्मस्यैवात्र व्यपदेशात्। देवतापरिग्रहे "यं पृथिवी न वेदे"ति पृथ्वीदेवतयाऽविज्ञेयत्वोक्त्यनुपपत्तेः। जीवपरिग्रहे ते इति षष्ठ्यनुपपत्तेः। "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण" इत्यादि श्रुतेर्द्रष्टृत्वादेरपि तत्र सम्भवात् द्रष्ट्रन्तरनिषेधस्तु पूर्ववाक्योक्तद्रष्टुर्नियन्तुर्द्रष्ट्रन्तरनिषेधपरः जीवेनाद्रष्टान्त-र्यामिदृष्टवत् अन्तर्यामिणोप्यद्रष्टुरभावात् पृथिव्याद्यात्मपर्यन्तैस्तन्नियम्यभूतैरदृश्यमानस्यैव नियमयतीत्यादिपूर्वोक्तस्य नियन्तुरेवादृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोते" त्यादिना सूचितत्वाच्च।।१९।।

(हिन्दी अनुवाद)

बृहदारण्यक उपनिषद् में आया—"एषते आत्माऽन्तर्याम्यमृत" यहाँ से पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आकाश, वायु, आदित्य आदि अधिदेवत आदि के पर्यायों में प्रतिपाद्य अन्तर्यामी क्या कोई देवता है अथवा जीव है या परमात्मा ? ऐसा संशय होता है। नियमन करना देवता के लिये युक्त है, इसलिये देवता का पक्ष ही युक्त है, अथवा जीव ही अन्तर्यामी है क्योंकि वाक्य शेष में अन्य के लिये द्रष्टृत्व आदि का श्रवण है और उसके द्रष्टा का निषेध है-ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं- "यहाँ अन्तर्यामी परमात्मा ही है, क्योंकि यहाँ परमात्मा के धर्मों का उपदेश है। समस्त देवता, सर्वलोक, सर्ववेद, सर्वज्ञ तथा समस्त भूतों का नियमनत्व, सर्वात्मत्व तथा अमृतत्व आदि परमात्म धर्म का ही यहाँ व्यपदेश है। अन्तर्यामी रूप में देवता का परिग्रह मानने पर "यं पृथिवी न वेद" इस वाक्य द्वारा उस अन्तर्यामी के पृथिवी देवता द्वारा अविज्ञेयत्व कथन की अनुपपत्ति होगी। जीव परिग्रह मानने पर ते शब्द में षष्ठी की

अनुपपत्ति होगी। "पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्ण" इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसमें द्रष्टव्य आदि भी संभव है। अन्य द्रष्टा का निषेध तो पूर्व वाक्य में उक्त द्रष्टा नियन्ता का द्रष्टान्तर निषेध परक है क्योंकि अद्रष्टा अन्तर्यामी की तरह अन्तर्यामी अदृष्य का अभाव होने से उनके नियम्यभूत पृथिवी से आत्मा पर्यन्त द्वारा अदृश्य मानना ही 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता' इत्यादि ग्रन्थ द्वारा सूचित भी किया गया है॥१९॥

अदृष्टत्वादिधर्मस्य प्रधानेऽपि सम्भवात् "ईक्षतेर्नेत्यत्र" निरस्तमपि पुनराशङ्क्य निषिध्यते—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि अद्रष्टत्व आदि धर्म प्रधान में भी संभव है, तब तो उसमें भी अन्तर्यामित्व की सिद्धि हो जायेगी, उसका भी खण्डन करते हैं। यद्यपि प्रधान कारण वाद का "ईक्षतेर्नाशब्द" सूत्र द्वारा ईक्षत्यधिकरण में खण्डन किया ही गया है, फिर भी यहाँ आशङ्का करके निषेध करते हैं—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलाषात्। १/२/२०॥

स्मार्त्तं स्मृतिप्रतिपन्नं प्रधानं च नान्तर्यामिशब्दवाच्यं, कुतः। अतद्धर्माणां स्वभावत एव सर्वात्मत्व-सर्वनियन्तृत्व-सर्वद्रष्टृत्वामृतत्वादीनामचेतनेऽसम्भावितानामत्रा- भिलाषात् कथनात्।।२०।।

(हिन्दी अनुवाद)

स्मृति प्रतिपाद्य प्रधान अन्तर्यामी शब्द वाच्य नहीं है, क्योंकि सर्वात्मत्व, सर्वनियन्तृत्व, सर्वद्रष्टृत्व तथा अमृतत्व आदि अचेतन में नहीं रहने वाले धर्मों का यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

जीवस्य चेतनत्वात्सएवास्त्विति चेत्तत्राह—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जीव तो चेतन है, वह यहाँ अन्तर्यामी हो जावे तो क्या हर्ज ? इस पर कहते हैं—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते। १/२/२१॥

शारीरश्चेति। चकारः समुच्चयार्थः। शारीरोजीवोऽपि नान्तर्यामी सर्वात्मत्वसर्व-नियन्तृत्वसर्वज्ञत्वादीनामतद्धर्मत्वात्। हि यत उभयेपि काण्वा माध्यन्दिनाश्च एनं शारीरं

जीवमन्तर्यामितो भेदेन पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते "यो विज्ञाने तिष्ठ" न्निति काण्वाः। विज्ञाने प्रत्यगात्मनि। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इति माध्यन्दिनाः। तस्मात्पृथिव्यादिवन्नियम्यत्वमेव जीवस्य न नियन्तृत्वमतोऽधि-देवाधिष्वन्तर्यामी परमात्मैवेति सिद्धम्।।२१।।

इत्यन्तर्याम्यधिरकणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

'शारीरश्च' यहाँ चकार समुच्चयार्थक है—अर्थात् शरीर जीव भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता क्योंकि सर्वात्मत्व, सर्वनियन्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि जीवों के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि यहाँ दोनों काण्ड एवं माध्यन्दिन शाखा वाले इस जीवात्मा का अन्तर्यामी से भिन्न रूप में तथा पृथिवी आदि की तरह अधिष्ठान रूप में किं वा नियम्य रूप में प्रतिपादन किया है—जैसे "यो विज्ञाने तिष्ठन्" ऐसा काण्वशाखा वाले कहते हैं। यहाँ विज्ञान का अर्थ है-जीवात्मा। इसी तरह 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेदस्यस्यात्मा शरीरं य आत्मायन्तरो यमयति य ते आत्मान्तर्याम्यमृतः' ऐसा माध्यन्दिन शाखा वालों ने कहा है—इसलिये पृथिवी आदि की तरह जीव भी नियम्य ही है, नियन्ता नहीं। इसलिये अधिदेवादि में अन्तर्यामी परमात्मा ही है, यह सिद्ध होता है।।२१।।

इस प्रकार अन्तर्यामी अधिकरण पूरा हुआ।

अथ अदृश्यत्वाधिकरणम्

अब अदृश्यत्वाधिकरण प्रारम्भ होता है—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः। १/२/२२॥

इदमाथर्वणिकैराम्नायते "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते, यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम-गोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः, अप्राणोह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः पर" इत्यादि। तत्र संशय्यते किमिहादृश्यत्वादिगुणकं भूतयोन्यक्षरं अक्षरात्परतः परश्च प्रधानपुरुषौ उतोभयत्र परमेश्वर इति किं तावत्प्राप्तं, प्रकृतिपुरुषाविति। कुतः! अस्य भूतयोन्यक्षरस्य द्रष्टृत्वादिचेतनधर्माणामश्रूयमाणत्वात् पृथिव्याद्यचेतनगतदृश्यत्वादिनिषेधस्य तत्सजातीयेऽचेतन एव युक्तत्वात्। किञ्चादृश्यत्वादिविशिष्टस्याक्षरस्य परमात्मत्वे "अक्षरात्परतः पर" इति ततोपि परस्य पुरुषस्य श्रवणं नोपपद्यते अतः पुरुषगतपरत्वाद्यवधितयाऽक्षरादितिनिर्दिष्टस्य भूतयोन्यक्षरस्यपरमात्मत्वासम्भवात् अक्षरशब्दस्य प्रधाने प्रसिद्धेश्च अदृश्यत्वादिगुणकं

भूतयोन्यक्षरं प्रधानमेव तत्परताः निर्दिश्यमानपुरुषोऽपि पञ्चविंशक एव नतु परमात्मा तस्याक्षरपरभूताज्जीवादपि परत्वेनाव्यवहितपरत्वाभावात्। नचाक्षरात्परतः पर इति द्वयोर्वैयधिकरण्याश्रयणेन परमात्मनः परत्वमेवाक्षरादपि परभूताज्जीवात्प्रतिपाद्यत इति वाच्यम् स्वकार्यवर्गापेक्षया परभूतेऽक्षरे सामानाधिकरण्येन वृत्तिसम्भवे तयोर्वैयधिकरण्ये प्रमाणभावादिति प्राप्तेऽभिधीयते। अदृश्यात्वादिगुणकः परमात्मैव "यः सर्वज्ञः सर्वविदि" त्यादिवाक्येन प्रकरणे तद्धर्माणामेव सार्वज्ञ्यादीनामुक्तत्वात् प्रधानजीवयोरचेतनाल्पज्ञत्वेन सर्वज्ञत्वाद्यसम्भवात्। नचाक्षरात्परस्य पुरुषस्य परमात्मत्वे भूतयोन्यक्षरस्य परमात्मत्वं कथं सिध्येदिति वाच्यम् 'अक्षरात्परतः पर' इति निर्दिष्टस्या "थ परा यया तदक्षरमधि ागम्यते, तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वं, तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः, येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्य" मित्यादिवाक्यनिर्दिष्टभूतयोन्यक्षरापेक्षया भिन्नत्वात्। न क्षरति न च्यवत इत्यक्षरं भूतयोनिः अश्नुते व्याप्नोति स्वविकारजातमित्यक्षरं भूतसूक्ष्मरूपाचेतनं प्रधानमितिव्युत्पत्तेः।।२२।।

(हिन्दी अनुवाद)

आथर्वणिक कहते है—'अथं परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेश्यमग्राहयमगोत्रम-वर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्युं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः अप्राणोह्यमनाः शुभ्रोह्यक्षरात् परः' अर्थात् वह परमात्मा अदृश्य है, अग्राह्य है, गोत्र तथा ब्राह्मणादि वर्ण से रहित है, चक्षु श्रोत्र से रहित है, हाथ पैर से रहित है नित्य है, व्यापक है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, अविनाशी है, सब भूतों की योनि है, ऐसे परमात्मा को धीर पुरुष देख पाते हैं। वह प्राण तथा मन से रहित है। दोष रहित है, तथा अक्षर से परे है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि यहाँ अदृश्यत्व आदि गुणों वाला भूतयोनि अक्षर तथा अक्षर से पर क्या प्रधान पुरुष है या दोनों जगह परमेश्वर है? यहाँ क्या प्राप्त है (उचित है) तो बोले—प्रधान पुरुष ! क्योंकि इस भूत योनि अक्षर के लिये द्रष्टृत्व आदि चेतन धर्मों का श्रवण नहीं है। पृथिवी आदि अचेतनगत दृश्यत्व का निषेध तत् सजातीय अचेतन में ही युक्त है। दूसरी बात अदृश्यत्व आदि गुण विशिष्ट अक्षर को परमात्मा में मानने पर आगे "अक्षरात् परतः परः" इस श्रुति द्वारा अक्षर से भी पर पुरुष का श्रवण युक्त नहीं प्रतीत होता है (परमात्मा से पर फिर कौन हो सकता है) इसलिये अक्षर शब्द विनिर्दिष्ट भूतयोनि अक्षर यहाँ परमात्मा नहीं हो सकता और अक्षर शब्द प्रधान में प्रसिद्ध भी है। इसलिये अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट भूतयोनि अक्षर यहाँ प्रधान ही है और उससे पर रूप में (अक्षरात् परतः परः) निर्दिश्यमान पुरुष भी जीव ही है, न कि परमात्मा। परमात्मा तो अक्षर से परे जीव से भी पर होने के कारण अव्यवस्थित परत्व का अभाव है। यदि कहें कि 'अक्षरात् परतः परः' यहाँ दोनों में वैयधिकरण्य का आश्रय करके अक्षर रूप परस्वरूप जीव से परमात्मा का परत्व ही यहाँ प्रतिपादित होता है तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि स्वकार्य वर्ग की अपेक्षया परतत्त्व

अक्षर में सामानाधिकरण्य रूप में वृत्ति संभव होने पर उनमें वैयधिकरण्य में प्रमाण का अभाव है—ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं अदृश्यत्व आदि गुणों वाला परमात्मा ही है, कारण "यः सर्वज्ञ स सर्ववित्" इत्यादि वाक्यों द्वारा इस प्रकरण में उसके सार्वज्ञ्य आदि धर्मों का कथन है। यदि कहें कि आगे "अक्षरात् परतः परः " वाक्य द्वारा अक्षर से श्रेष्ठ पुरुष को परमात्मा कहा गया है, फिर भूतयोनि अक्षर से परमात्मत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है? तो कहते हैं –"अक्षरात् परतः परः" इस श्रुति द्वारा निर्दिष्ट अक्षर पदार्थ "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" "तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्" 'तथाक्षरात् विविधाः सौम्यभावाः। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' इत्यादि वाक्य निर्दिष्ट भूतयोनि अक्षर की अपेक्षया भिन्न है। न क्षरति न च्यवते इत्यक्षरं अर्थात् जिसका नाश न हो अथवा अश्नुते व्याप्नोति स्वविकार जातमित्यक्षरम् अर्थात् जो अपने समस्त विकार को व्याप्त करे– वह अक्षर अर्थात् भूत सूक्ष्म रूप अचेतन प्रधान। इस तरह भूतयोनि अक्षर परमात्मा ही है और 'अक्षरात् परतः पर' यहाँ अक्षर शब्द का अर्थ प्रधान, तब उक्त वाक्य का अर्थ होगा प्रधान से पर जीवात्मा से भी पर परमात्मा है।।२२।।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। १/२/२३॥

इतश्चेतरौ प्रधानं जीवश्च न भूतयोन्यक्षरनिर्दिष्टौ किन्तु परमात्मैव। कुतः? विशेषण– भेदव्यपदेशाभ्यां विशिनष्टि व्यावर्त्तयति हि प्रकरणं प्रधानपुरुषाभ्यां भूतयोन्यक्षरं एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपादनादिना तथा "क्षरात्परतः पर" इत्यादिना भूतयोन्यक्षरस्य ताभ्यां भेदश्च व्यपदिश्यते।।२३।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस हेतु से भी प्रधान और जीव भूतयोनि अक्षर निर्दिष्ट नहीं हो सकते किन्तु परमात्मा ही है, क्योंकि विशेष तथा भेद व्यपदेश द्वारा विशेषण करते हैं। यहाँ प्रकरण प्रधान तथा पुरुष से भूतयोनि अक्षर परमात्मा को व्यावृत्त करता है। एक विज्ञान से सर्वविज्ञान का उपपादन तथा 'अक्षरात् परतः परः' इत्यादि श्रुति द्वारा भूतयोनि अक्षर का प्रधान और पुरुष से भेद भी कहा जाता है।।२३।।

रूपोपन्यासाच्च। १/२/२४॥

अक्षरात्परतः परस्यैव भूतयोन्यक्षरस्यान्तर्यामितया सर्वचिदचिदात्मकप्रपञ्च रूपत्वेनोपन्यस्यते "अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मे" त्यादिना प्रधानसजीवस्य च सर्वभूतान्तरात्मत्वासम्भवान्नैतयो रूपोपन्यासः सम्भवति। अतोऽदृश्यत्वादिगुणकः

परमात्मैवेति सिद्धम्।।२४।। इति अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरणम्।।

(हिन्दी अनुवाद)

अक्षर से पर जीव से परे भूतयोनि अक्षर परमात्मा को अन्तर्यामी रूप में समस्त चिदचिदात्मक प्रपञ्च विराट् रूप कहा गया है—"अग्निर्मूधा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदा वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" इस श्रुति द्वारा अदृश्यत्वादि गुण विशिष्ट को सम्पूर्ण भूतों का अन्तरात्मा कहा गया है जो जीव एवं प्रधान में असंभव है, अतः अदृश्यत्वादि गुणों वाला यहां परमात्मा ही है।

इस प्रकार अदृश्यत्व अधिकरण पूरा हुआ।

'अथ वैश्वानराधिकरणम्।'

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्। १/२/२५॥

इदमाम्नायते छन्दोगैः "को न आत्मा किं ब्रह्मे"ति आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति च प्रक्रम्य "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इत्यादि। तत्र विशयः किमिह वैश्वानरशब्दितः जाठराग्निरुत भूताग्निरुत देवताविशेषः अथ परमात्मेति। तत्र तावज्जाठराग्निरिति "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यत" इति। तत्र वैश्वानरशब्दप्रसिद्धेः। भूताग्निर्वा "विश्वस्मा अग्निंभुवनाय देवाः यदिदमद्यत"इति। तत्र वैश्वानरशब्दप्रसिद्धेः। भूताग्निर्वा "विश्वस्माअग्निंभुवनाय देवाः वैश्वानरं केतुमन्हामकृणवन्नि"ति तत्रापि प्रयोगदर्शनात्। देवतायां च "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजाहिकं भुवनानामभिश्री"रिति। परमात्मनि च "तदात्मन्येव हृदयगे वैश्वानरे प्रास्यात् सएष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयत" इति। एवं वैश्वानरशब्दस्य सर्वत्र वैदिकप्रयोगदर्शनादत्र च प्रकरणे सर्वेषां लिङ्गोपलब्धेर्वैश्वानरशब्दवाच्यः परमात्मेति न निर्णेतुं शक्य इति प्राप्ते। उच्यते वैश्वानरः परमात्मा। कुतः? साधारणशब्दविशेषात् वैश्वानरशब्दस्य नानार्थसाधारणत्वेऽप्यत्र प्रकरणे परात्मासाधारणैः सर्वात्मत्वादिविशेषणैर्विशेष्यते इति विशेषस्तस्माद्विशेष्यमाणत्वा-दित्यर्थः। उपक्रमे "को न आत्मा किं ब्रह्मे"ति सर्वजीवात्मभूतब्रह्मजिज्ञासायां प्रवर्तमानैरौपमन्य्वादिमहर्षिभिर्वैश्वानरात्मज्ञमश्वपतिं केकयं प्राप्य पृच्छ्यमानो वैश्वानरात्मा परमात्मेति निश्चीयते किं ब्रह्मेति प्रक्रान्तस्य ब्रह्मशब्दस्यैव स्थाने उत्तरत्र सर्वत्र वैश्वानरशब्दप्रयोगात्सोऽपि ब्रह्मैवाभिदधातीति "स सर्वेषु लोकेषु इत्यारभ्य "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त इत्यादि "श्रूयमाणस्य वैश्वानरात्मविज्ञान फलस्य च वैश्वानरशब्दस्य परमात्मपरत्व एव सम्भवादिति।।२५।।"

(हिन्दी अनुवाद)

सामवेदियों ने कहा है—"को न आत्मा किं ब्रह्मेति (आत्मा क्या है-ब्रह्म क्या है) (यह प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् के पाँचवे अध्याय के ग्यारहवें खण्ड में आरम्भ हुआ है—वह इस प्रकार है-उपमन्यु, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन तथा बुडिल, ये पाँचों ऋषि श्रेष्ठ गृहस्थ और महान् वेदवेत्ता थे। इन्होंने एकत्र होकर परस्पर विचार किया कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म का क्या रूप है, जब वे किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके तो यह निश्चय किया कि इस समय महर्षि उद्दालक वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, हम लोग उन्हीं के पास चलें। इस निश्चय के अनुसार वे पाँचों ऋषि उद्दालक मुनि के यहाँ गये। उन्हें देखते ही मुनि ने अनुमान कर लिया कि ये लोग मुझसे कुछ पूछेंगे किन्तु मैं इन्हें पूर्णतया उत्तर नहीं दे सकूँगा। अतः अच्छा हो कि मैं इन्हें पहले से ही दूसरा उपदेशक बतला दूँ। यह सोचकर उद्दालक ने उनसे कहा-"महर्षियों ! इस समय केवल राजा अश्वपति ही वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं। आइये हम सब लोग उनके पास चलें - ऐसा कहकर सबके साथ उद्दालक मुनि वहाँ गये। राजा ने उन सबका यथोचित सत्कार किया और दूसरे दिन उनसे यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए प्रार्थना करते हुए उन्हें पर्याप्त दान देने की बात कही। इस पर उन महर्षियों ने कहा- हमे धन नहीं चाहिये। हम जिस प्रयोजन से आपके पास आये हैं, वही दीजिये। हमें पता लगा है कि आप वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता है उसी का हमें उपदेश दीजिये। राजा ने उन्हें दूसरे दिन अपने पास बुलाया और एक-एक से क्रमशः पूछा-"इस विषय में आप लोग क्या जानते हैं?" उनमें से उपमन्यु पुत्र प्राचीनशाल ने उत्तर दिया-"मैं सूर्य की उपासना करता हूँ।" इन्द्रद्युम्न ने कहा-"मैं वायु की उपासना करता हूँ।" जन ने अपने को आकाश का और बुडिल ने अपने को जल का उपासक बताया। इन सबकी बात सुनकर राजा ने कहा-"आप लोग उस विश्व के आत्मा वैश्वानर की उपासना तो करते हैं-परन्तु उसके एक-एक अंग की ही उपासना करते हैं। अतः यह सर्वांग पूर्ण नहीं है। क्योंकि "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मा संदेहो बहुलो वस्तिरे व रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि वर्हि हृदयं गर्हपत्यो मनो अन्वाहार्य पचन आस्यमाहवनीयम्।।"

इस वर्णन से मालूम होता है कि यहाँ विश्व के आत्मा रूप विराट् पुरुष को ही वैश्वानर कहा गया है। क्योंकि इस प्रकरण में जठराग्नि आदि के वाचक साधारण शब्दों की अपेक्षा परब्रह्म के वाचक विशेष शब्दों का जगह-जगह प्रयोग हुआ है।

वहाँ कहा गया है कि मैं वैश्वानर आत्मा को जानना चाहता हूँ- इसलिये मुझे वही बतलाइये- ऐसा उपक्रम करके "यस्त्वेतमेवं प्रादेशमान्नयमि विमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" (अर्थात् जो इस प्रादेशमात्र वैश्वानर की उपासना करता है) ऐसा कहा गया है। यहाँ संशय होता है कि यहाँ वैश्वानर शब्द से जठराग्नि लिया गया है या भूताग्नि अथवा देवता विशेष

या परमात्मा। यहाँ "अयमग्नि वैश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते" इस प्रमाण के आधार पर जठराग्नि ही प्राप्त होता है, क्योंकि वहाँ वैश्वानर शब्द की प्रसिद्धि है अथवा भूताग्नि है—क्योंकि "विश्वस्या अग्निं भुवनाय देवाः वैश्वानरं केतुमन्मदामकृण्वकन्निति" इस मन्त्र के द्वारा भूताग्नि में प्रयोग देखा गया है। देवता में भी—वैश्वानर का प्रयोग है—"वैश्वानरस्य सुमतोस्याम् राजाहिकं भुवनानामपि श्री।" इसी तरह परमात्मा में भी वैश्वानर का प्रयोग देखा जाता है—"तदात्मन्येव हृदयगे वैश्वानर प्रास्यात् स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते" इस प्रकार वैश्वानर शब्द का सर्वत्र वैदिक प्रयोग देखा गया है और इस प्रकरण में सबका ज्ञापक लिंग की उपलब्धि है, इसलिये वैश्वानर शब्द वाच्य परमात्मा ही है, ऐसा निर्णय नहीं कर सकते— ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं— वैश्वानर यह परमात्मा ही है—क्योंकि—"साधारणशब्दविशेषात् "—क्योंकि वैश्वानर शब्द नानार्थक होने पर भी इस प्रकरण में परमात्मा साधारण सर्वात्मत्व आदि विशेषणों द्वारा विशिष्ट किया गया है। उपक्रम में "को न आत्मा किं ब्रह्म" इस प्रकार सम्पूर्ण जीवों के आत्मभूत ब्रह्म की जिज्ञासा में प्रवृत्त औपमन्यु आदि महर्षियों द्वारा वैश्वानर आत्मा के विशेषज्ञ केकय देश के राजा अश्वपति के यहाँ पहुँचकर वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने के कारण यहाँ वैश्वानर आत्मा परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय होता है। क्योंकि ब्रह्म क्या है - ऐसा उपक्रम करके ब्रह्म शब्द के स्थान में आगे सर्वत्र वैश्वानर शब्द का प्रयोग होने से वैश्वानर शब्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। दूसरी बात- "स सर्वेषु लोकेषु" यहाँ से लेकर "एवं हास्य सर्वेपाप्मानः प्रदूयन्ते" यहाँ तक वैश्वानर आत्मा के ज्ञान का फल भी वैश्वानर शब्द प्रतिपाद्य परमात्मा ही है, यह सिद्ध करता है।।२५।।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यात् इति। १/२/२६ ॥

इतश्च वैश्वानरः परमात्मैव यतः "अग्निर्मूर्द्धेत्यादिश्रुतिषु "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्य्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः। द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे दिशश्श्रोत्रे विद्धि पादौ महीञ्च सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेते" त्यादिस्मृतिषु च परमात्मरूपतया प्रसिद्धमेवेह तदेवेदमिति स्मर्यमाणं प्रत्यभिज्ञायमानं वैश्वानरस्य परमात्मत्वे अनुमानं लिङ्ग स्यात्, इतिशब्दः प्रकारे एवंभूतं द्युमूर्द्धत्वादिविशिष्टं परमात्मन एव रूपमिति वैश्वानरस्य परमात्मत्वे लिङ्ग स्यादित्यर्थः।।२६।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस हेतु से भी वैश्वानर परमात्मा ही है क्योंकि "अग्निर्मूधा" इत्यादि श्रुतियों में तथा "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः।"

द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिश्चन्द्र सूर्यौ च नेत्रे दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ महीञ्चसोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूत प्रणेत।" इत्यादि स्मृतियों में परमात्म रूप में प्रसिद्ध तत्त्व वही है (वैश्वानर है) इस प्रकार से स्मरण ही वैश्वानर के परमात्मत्व में लिङ्ग है। यहाँ इति शब्द प्रकार अर्थ में है। इस प्रकार द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट परमात्मा का ही रूप है-इस लिये वैश्वानर के परमात्मत्व में लिङ्ग होगा।।२६।।

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसम्भवात्पुरुषमभिधीयते। १/२/२७॥

वैश्वानरो न परमात्मा कुतः शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च शब्दस्तावदग्निशब्दोवाजसनेयिनां वैश्वानरविद्याप्रकरणे 'सएषोग्निर्वैश्वानर' इति अत्र प्रकरणे च 'हृदयं गार्हपत्य' मित्यादौ हृदयादिस्थितस्य वैश्वानरस्याग्नित्रयकल्पनं तद्य'दभक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीय' "मित्यादौ प्राणाहुत्याधारत्वसंकीर्तनं च तथा "सयोहैतमेनमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदे" तिवाजसनेयिनामेव प्रकरणेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं एभ्योहेतुभ्योऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यादिभ्यो वैश्वानरो जाठराग्निर्न परमात्मेति चेन्न। तथा दृष्ट्युपदेशात् पूर्वोक्तस्य परब्रह्मणो वैश्वानरस्य सर्वात्मततया जाठराग्न्यादिषु तादात्म्यत्वेनोपासनोपदेशात् वाजसनेयिनः स एषोग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुष 'इत्यादौ चशब्दः प्रसिद्धिपरः प्रसिद्धं च आत्मत्वात् परमात्नन एव पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितत्वं च 'सहस्रशीर्षा पुरुषः। पुरुषस्यएवेदं। पुरुषान्न परं किंचि' दित्यादौ।।२७।।

(हिन्दी अनुवाद)

(यदि कहें शब्दादि हेतुओं से अर्थात् अन्य श्रुति में वैश्वानर शब्द अग्नि के अर्थ में विशेष रूप में प्रयुक्त हुआ है और इस मन्त्र में गार्हपत्य आदि अग्नियों को वैश्वानर का अग्नि बताया है। इसलिये तथा 'अन्तःप्रतिष्ठानाम्-श्रुति में वैश्वानर को शरीर के भीतर प्रतिष्ठित कहा गया है। इसलिये भी यहाँ वैश्वानर शब्द परब्रह्म परमात्मा का वाचक नहीं है-इति न-ऐसा नहीं कह सकते-तथा दृष्ट्युपदेशात् क्योंकि वहाँ वैश्वानर में ब्रह्मदृष्टि करने का उपदेश है तथा असंभवात् इसके सिवा जठराग्नि का विराट् रूप में वर्णन होना संभव नहीं है, इसलिये चः तथा नम्-इस वैश्वानर को पुरुषं पुरुष नाम देकर भी उधीयते-पढ़ते हैं। इसलिये उक्त प्रकरण में वैश्वानर शब्द परब्रह्म का ही वाचक है।।)

वे०कौ०प्रभा- वैश्वानर परमात्मा नहीं है-क्योंकि "शब्दादिभ्यः अन्तःप्रष्ठिानाच्च" यहाँ शब्द से अग्नि शब्द गृहीत है-वाजसनेयी शाखा में वैश्वानर विद्या प्रकरण में "स एषोऽग्निर्वैश्वानरः" यह वैश्वानर शब्द अग्नि अर्थ में स्पष्टतया प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकरण में "हृदयं गार्हपत्यम्"इत्यादि वाक्यों में हृदय आदि में स्थित वैश्वानर में तीन अग्नियों की कल्पना है। यहाँ तद् यद्भक्तं प्रथम मा गच्छेत्तद्धोमीयम्" इत्यादि स्थलों में प्राणाहुति के

आधारत्व का संकीर्तन तथा "स यो हैतमेनमग्निं वैश्वानरम् पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इस वाजसेनयियों के ही प्रकरण में इसमें अन्तःप्रतिष्ठितत्व कहा गया है। इन हेतुओं से वैश्वानर जाठराग्नि ही है परमात्मा नहीं तो ऐसा नहीं कह सकते- "तथा दृष्ट्युपदेशात्" अर्थात् पूर्वोक्त परब्रह्म वैश्वानर का सर्वात्मा होने से जाठराग्नि में तादात्म्य होने के कारण उपासना का उपदेश होने से केवल जाठराग्नि का त्रिलोकी का आत्मत्व असंभव है। वाजसनेयी इसे पुरुष भी कहते हैं- "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः" यहाँ 'च' शब्द प्रसिद्धि परक है। आत्मा होने के कारण परमात्मा ही यहाँ प्रसिद्ध है परमात्मा में पुरुषत्व है-पुरुष में अन्तःप्रतिष्ठितत्व जो "सहस्रशीर्षा पुरुषः" पुरुष एवेदं। पुरुषान्न परं किंचित् इत्यादि श्रुति वाक्यों में प्रसिद्ध है।।२७।।

अत एव न देवता भूतं च। १/२/२८॥

उक्तहेतुभ्य एव देवता महाभूताग्निश्च न वैश्वानरशब्दवाच्यः।।28।।

(हिन्दी अनुवाद)

उक्त हेतु से ही यहाँ देवता एवं महाभूत अग्नि भी यहाँ वैश्वानर शब्द वाच्य नहीं है।।२८।।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः। १/२/२९॥

वैश्वानरस्य परमात्मन उपासनार्थमग्न्यन्तर्यामितयाऽग्निशब्दसामानाधिकरण्यनिर्देश उक्तः "नरतीति नरः परमात्मा सनातन" स्तस्य च सर्वात्मतया सर्वाभेदव्यपदेशार्हत्वात् विश्वश्चासौ नरश्च सर्वकारणत्वे विश्वेषां नरो नेता सर्वनियन्तृत्वात् विश्वे वा नरा नियम्या यस्यासौ विश्वानरः "नरे संज्ञाया" मिति दीर्घः, स एव वैश्वानरः स्वार्थे तद्धितः। जैमिनिराचार्योहि वैश्वानरशब्दो यथा साधारणोऽपि परमात्माऽसाधारणगुणयोगेन साक्षात्परमात्मनि वर्त्तते तथाऽग्निशब्दस्याप्यग्रनेतृत्वादियोगेन साक्षात्परमात्मनि वृत्तावविरोधं मन्यते।।२९।।

(हिन्दी अनुवाद)

वैश्वानर परमात्मा की उपासना के लिये अग्नि के अन्तर्यामी होने के कारण अग्नि शब्द के साथ सामानाधिकरण्य का निर्देश है। "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः" इस प्रमाण के आधार पर उसे सर्वात्मा होने के कारण सबके साथ वह अभेद व्यपदेश के योग्य है-इसलिये 'विश्वश्चासौ नरश्च' ऐसा अभेद व्यवहार होता है। सबका कारण होने से वह विश्वेषां नरः नेता है चूंकि वह सबका नियन्ता है। अथवा विश्वे नराः नियम्याः यस्य अर्थात् संसार के सभी प्राणी जिसके नियम्य हैं- वह विश्वानर है- यहाँ 'नरे संज्ञायां' से दीर्घ हुआ

है। स एव वैश्वानर' स्वार्थ में अण् हुआ है। जैमिनि आचार्य वैश्वानर शब्द साधारण होकर भी असाधारण गुण योग के कारण साक्षात् परमात्मा अर्थ में है, उसी प्रकार अग्नि शब्द का भी अग्रे नयति इस व्युत्पत्ति के कारण अग्रनेतृत्व आदि धर्म के योग से साक्षात् परमात्मा अर्थ वृत्ति (शक्ति) मानने पर कोई विरोध नहीं मानते।।२९।।

"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानम् वैश्वानरमुपास्त" इति द्युसूर्यादिप्रदेशसंबन्धिमात्रतया परिच्छिन्नत्वमपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः कथमिति चेदत्राह—

जो लोग "यस्त्वेवमेव प्रादेशमात्रमभिविमानम् वैश्वानरमुषास्ते" इस श्रुतिद्वारा दिव, सूर्य आदि प्रदेश सम्बन्धी मात्र होने से अपरिच्छिन्न ब्रह्म का परिच्छिन्नत्व कैसे हो सकता ऐसा कहें तो कहते हैं—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः। १/२/३० ॥

उपासकानुग्रहार्थमभितो विगतमानतयाऽपरिच्छिन्नस्यैव सर्वेश्वरस्य द्युसूर्यादिप्रदेशसम्बन्धितया परिच्छिन्नत्वमभिव्यक्तिनिमित्तं स्यादित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते।।३०।।

(हिन्दी अनुवाद)

उपासक के ऊपर अनुग्रह करने के लिये सर्वथा मानरहित होने के कारण अपरिच्छिन्न सर्वेश्वर का ही दिव् तथा सूर्य आदि प्रदेश सम्बन्धित्वेन उनका परिच्छिन्नत्व अभिव्यक्ति के निमित्त होगा-ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।।३०।।

उपासकानुग्रहायाभिव्यक्तस्यापि द्युसूर्यादीनां मूर्द्धाद्यवयवकल्पने किं प्रयोजनमिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि उपासक के अनुग्रह के लिये अभिव्यक्त परमात्मा के द्यु तथा सूर्य आदि मस्तक आदि कल्पना में क्या प्रयोजन है ? तो इस पर कहते हैं-

अनुस्मृतेर्वादरिः। १/२/३१ ॥

मूर्द्धादिपादान्तदेहकल्पनं परमात्मप्राप्तयेऽनुस्मृतेरनुस्मरणार्थं तथोपासनार्थमिति वादरिराचार्यो मन्यते।।31।।

(हिन्दी अनुवाद)

परमात्मा में मूर्धा से लेकर पाद (चरण) पर्यन्त देह की कल्पना परमात्मा की प्राप्ति

के लिये उनके अनुस्मरणार्थ उनकी उपासना के लिये हैं तथा ऐसा वादरि आचार्य मानते हैं।।३१।।

एवं त्रैलोक्यशरीरस्य परमेश्वरस्य वैश्वानरवाच्यत्वे "उर एव वेदिर्लोमानि वर्हि"रित्यादि- नोपासकोर आदीनां वेद्यादित्वकल्पने किं प्रयोजनमिति तत्राह-

(हिन्दी अनुवाद)

इसी प्रकार त्रैलोक्य शरीरवाले परमेश्वर को वैश्वानर शब्द वाच्यत्व होने में 'उर एव वेदिर्लोमानि वर्हि' इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा उपासक के उर आदि अवयवों में वेदी आदि की कल्पना में क्या प्रयोजन है- ऐसा कहें तो इस पर कहते हैं-

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति। १/२/३२॥

वैश्वानरोपासकैः क्रियमाणाया वैश्वानरविद्याङ्गभूतप्राणाहुतेरग्निहोत्रत्वसम्पत्त्यर्थ तेषां वेद्यादित्वकल्पनमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते तथाहि दर्शयतीयं श्रुतिः "प्राणाहुत्या अग्निहोत्रसम्पत्तिमेव "अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवती"ति।।३२।।

(हिन्दी अनुवाद)

वैश्वानर उपासकों द्वारा क्रियमाण वैश्वानर विद्या के अंगभूत प्राणाहुति में अग्निहोत्रत्व सम्पत्ति के लिये उनमें वेदी आदि की कल्पना की गई है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते है- जैसा कि श्रुति कहती है- "अथ य एतदेवं विद्वानग्निंहोत्रंजुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति" इत्यादि।

आमनन्ति चैनमस्मिन्। १/२/३३॥

एनं परमात्मानं द्युमूर्द्धत्वादिमन्तं वैश्वानरमस्मिन्नुपासकदेहे प्राणाहुत्यधिकरण- त्वार्थमामनन्ति च "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजा" इत्यादिना एतस्यात्मन उपासकस्यात्मनः मूर्द्धैव यः पूर्वमुपास्यतयोपदिष्टो वैश्वानरस्तस्य मूर्द्धा त्वेष आत्मन इति वैश्वानरात्ममूर्द्धत्वे निर्दिष्टः सुतेजा इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि श्रुत्यर्थो ज्ञेयः। तथा च उपासकः स्वमूर्द्धादिनेव वैश्वानरस्य भगवतो द्युप्रभृतीन्मूर्द्धादीन्प्राणाग्नि- होत्रसमयेऽनुसन्दधत् स्वस्योरःप्रभृतीनेव प्राणाहुत्यधिकरणस्य भगवतो वैश्वानरस्य वेद्यादीनग्निहोत्रोपकरणभूतान्परिकल्य प्राणाहुतेश्चाग्निहोत्रत्वं परिकल्प्य तेन तमाराधयेदित्यु- पदिशति उर एव वेदिरित्यादिनेति भावः।।३३।।

इति कौस्तुभप्रभायां प्रथमाध्याय द्वितीयपादविवरणं समाप्तिमगात्।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस द्यु मूर्धादिमान् परमात्मा वैश्वानर को इस उपासक देह में प्राणाहुति के अधिकरणत्व के लिये श्रुतियाँ कहती हैं "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा इत्यादि मन्त्रों द्वारा इस उपासक जीवात्मा का मूर्धा रूप में ही जो वैश्वानर उपास्यतया उपदिष्ट हुआ था, उस वैश्वानर का यह सुतेजा मूर्धा ही है। इसी प्रकार आगे भी श्रुति का अर्थ जानना चाहिये। इस प्रकार उपासक अपने मूर्धा आदि की तरह भगवान् वैश्वानर की भी द्यु प्रभृति को प्राणाग्नि होम के समय मूर्धा आदि के रूप में अनुसंधान करता हुआ अपने उर आदि अवयवों को ही प्राणाहुति के अधिकरण भगवान् वैश्वानर को वेदी आदि उपकरणों की कल्पना करके प्राणाहुति में अग्नि होमत्व की कल्पना करके उसके द्वारा वैश्वानर की आराधना करे- इसी का उपदेश करती है श्रुति" "उर एव वेदि" इत्यादि श्रुतियों द्वारा।।३३।।

इस प्रकार वे० कौस्तुभ प्रभा में प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद का हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।।

प्रथम अध्याय

तृतीय पाद

विषय-सूची

प्रथमाध्याये तृतीयपादः

अस्पष्ट जीव लिंग वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय द्वितीय पाद में कहा गया है। इस तृतीय पाद में स्पष्ट जीव लिंग वाक्यों का ब्रह्म में समन्वय दिखाया गया है। अथवा पहले दो पादों में सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्मा के व्यापक रूप का विधिवत् प्रतिपादन किया गया। उसी परमात्मा को सबका आधार बतलाते हुए तीसरा पाद प्रारम्भ करते हैं –

[1]द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥ १/३/१॥

अथ द्युभ्वाधिकरणम्।

"यस्मिन्द्यौःपृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैस्तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैषसेतु" रिति मुण्डकवाक्ये यस्मिन्निति दिवाद्याधारत्वेन श्रूयमाणः किं प्रधानं वा जीवो, वोत परं ब्रह्मेति संदेहे प्रधानमिति पूर्वःपक्षः तस्य सर्वविकारजातहेतुत्वे नायतनत्वोपपत्तेः सेतुरिति सावधित्वश्रवणात् आत्मशब्दस्तु प्रधानस्य सत्त्वद्वारा पुरुषप्रीतिहेतुत्वात्तत्रोपचरितः जीवो वा मनआदीन्द्रियाधिकरणत्वश्रवणात् "अरा इव रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान" इति परत्र नाडीसम्बन्धात् जायमानत्वश्रवणाच्च भोक्तृत्वेन भोग्यप्रपञ्चायतनत्वोपपत्तेरिति प्राप्ते, ब्रूमः द्युभुवावादी यस्य प्राणान्तस्य तस्यायतनमाश्रयः परमात्मैव। कुतः ? स्वशब्दात् स्वस्य परमात्मनोऽ-साधारणयोः आत्मामृतसेतुशब्दयोः श्रवणात् आप्नोतीत्यात्मा सर्वनियन्तृत्वेन तस्य सर्वव्यापकत्वात् मोक्षप्रापकतयासेतुश्च स एव सेतुरिव वा नद्यादिसेतोः कूलोपलम्भकत्ववदस्य संसारपारभूतमोक्षोपलम्भकत्वात् नाडीसम्बन्धस्य परमात्मन्यपि संभवात् "सन्ततं च शिराभिस्तु लम्वन्त्या कोशसन्निभ" मित्यादिश्रुतेः अजायमानो "बहुधा व्यजायत, अजोऽपि सन्नव्ययात्मे"ति। श्रुतिस्मृतिभ्यां बहुधा जायमानत्वमपि स्वस्वभावमजहत एव भक्तानुग्रहाय तस्य संभवति तस्य सर्वाधारत्वान्मनआदिजीवोपकरणाधारत्वस्यापि तत्रै-वोपपत्तेः।।१।।

(हिन्दी अनुवाद)

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः (मु०उ०२/२५) अर्थात् जिसमें स्वर्ग, पृथिवी और बीच का आकाश तथा समस्त प्राणों के सहित मन ओतप्रोत है अर्थात् जो सबका आधार है, उसी

१– अथवा दिव् आदि के मूर्धत्व आदि अवयवी को परमात्मा कहा। परमात्मा से भिन्न में द्यु-भू आदि में अधिकरण की आशङ्का करके द्यु भू आदि अधिकरणा आरम्भ किया। ऐसी संगति उसका है। पूर्व अधिकरण में जिस परमात्मा की द्यु मूर्धत्व आदि अवयवी बताया, वही परमात्मा त्रिभुवन का आयतन भी हो सकता है। इस बात को बताने के लिये यह अधिकरण प्रारम्भ होता है। (सं)

सबके आत्म स्वरूप परमेश्वर को जानो, दूसरी सब बातों को छोड़ दो। यही अमृत का सेतु है। इस मुण्डक वाक्य में 'यस्मिन्' इस सप्तम्यन्त पद के द्वारा दिव पृथिवी आदि के आधार रूप में श्रूयमाण क्या प्रधान है, जीव अथवा परमात्मा परब्रह्म? ऐसा संदेह होने पर पहले प्रधान है, यह पूर्व पक्ष होता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण विकारी पदार्थों का हेतु होने से इसमें आधारत्व की उपपत्ति हो सकती है। सावधि होने से उसमें सेतुत्व की भी उपपत्ति हो सकती है। प्रधान के सत्व द्वारा पुरुष (आत्मा) में प्रीति उत्पादन में हेतु होने के कारण प्रधान में आत्मा शब्द का औपचारिक (गौण) प्रयोग है, अथवा जीव है, क्योंकि उसमें भी मन आदि इन्द्रियों का अधिकरणत्व है। "अरा इव रथ नाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान" इस वचन द्वारा उसमें नाड़ी सम्बन्ध से नाना प्रकार से जायमानता का श्रवण भी है तथा जीव के भोक्ता होने के कारण भोग्य प्रपञ्च का आधारत्व की भी उसमें उपपत्ति संभव है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं-"द्युभ्वाद्यायतनम् द्युभुवौआदी यस्य प्राणान्तस्य" अर्थात् दिव, भू से लेकर प्राण पर्यन्त का आश्रय परमात्मा ही है, क्योंकि [1]स्वशब्दात् अर्थात् स्व माने परमात्मा के असाधारण नाम आत्मा एवं अमृत (सेतु) शब्द का श्रवण है। आप्नोति इति आत्मा अर्थात् सबका नियन्ता होने से जो सर्व व्यापक है तथा मोक्ष प्रापक होने के कारण वह (अमृत) है, सेतु भी वही है अथवा नदी आदि के सेतु की तरह सेतु है। जैसे नदी का सेतु कूल (तट) का उपलम्भक है, उसी तरह यह परमात्मा भी संसार के पारभूत मोक्ष का उपलम्भक होने से नाड़ी सम्बन्ध परमात्मा में भी संभव है। "सन्ततं च शिराभिस्तु लम्वन्त्या कोश सन्निभम्" इत्यादि श्रुतियों तथा "अजायमानो बहुधा व्यजायत" तथा "अजोऽपिसन्नव्ययात्मा" इत्यादि श्रुति एवं स्मृति द्वारा परमात्मा में स्व स्वभाव के परित्याग किये बिना ही अनेक प्रकार से जायमानत्व (जन्म ग्रहण) भी भक्तानुग्रह के लिये संभव है। परमात्मा के सर्वाधार होने से मन आदि जीव के उपकरणों का आधारत्व भी परमात्मा में ही संभव है।।१।।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्॥ १/३/२॥

"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" "परात्परं पुरुषमुपैतीति" संसारबन्धान्मुक्तानां प्राप्यत्वेन व्यपदेशाच्च परमात्मैव तत्।।२।।

(हिन्दी अनुवाद)

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' अर्थात् प्रकृति संस्पर्श से शून्य होकर मुक्त जीव परम (असाधारण) साम्य (साधर्म्य) को प्राप्त होता है-"मम साधर्म्यमागताः" (गीता) तथा

१- स्वशब्दात्-अर्थात् स्व शब्द वाच्य परमात्मा के वाचक आत्म शब्द होने से द्युभ्वाद्यायतन परमात्मा ही है "तमेवैकमात्मानं विजानथ" यहाँ आत्म शब्द का प्रयोग है-इसलिये प्रधान नहीं लिया जा सकता। एक शब्द विशेषण होने से अनेक जीव व्यावृत्त परमात्म शब्द का परमात्मा ही ग्राह्य है। प्रधान या जीवात्मा नहीं। दूसरी बात "अमृतस्य सेतुः"। वह अमृत (मोक्ष) का हेतु है अमृत का हेतु परमात्मा ही हो सकता। 'तमेव विद्वानमृतः।' (सं)

"परात्परं पुरुषमुपैति" (परात् जीवात् प्रकृतेर्वा परं पुरुषं प्रकृति तथा जीव से परे परमात्मा को प्राप्त होता है) इस प्रकार संसार बन्धन से मुक्त जीवों के प्राप्तव्य रूप में व्यपदेश होने से भी परमात्मा ही द्युभ्वाद्यायतन है। १/३/२।

भावार्थ–इसी मुण्डक उपनिषद् में आगे चलकर कहा गया है– "यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्ते गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्त परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।" इस श्रुति ने परम पुरुष परमात्मा को ही मुक्त पुरुषों के लिये प्राप्तव्य बताया। अतः द्युलोक आदि के आधार रूप में जिस आत्मा का वर्णन है, वह जीवात्मा नहीं साक्षात् परमात्मा ही है। इसके अलावा उक्त मन्त्र से पूर्ववर्ती चौथे मन्त्र में भी परमात्मा को जीवात्मा का प्राप्य बताया[1], वह मन्त्र इस प्रकार है।

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा (जीव) ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।"

अर्थ—प्रणव धनुष है और जीवात्मा वाण के सदृश है। ब्रह्म को उसका लक्ष्य कहते हैं। प्रमाद रहित (सतत सावधान) मनुष्य के द्वारा वह जानने योग्य है। इसलिये साधक को उचित है कि उस लक्ष्य को बेधकर वाण की ही भांति तन्मय हो जाय–परमेश्वर के चिन्तन में तत्पर रहकर तन्मय हो जाये। इस प्रकार इस प्रसंग में उक्त उपनिषद् परमात्मा ही प्रकरण होने से द्युलोक आदि का आधारभूत आत्मा परब्रह्म परमात्मा ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं।।२।।

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ १/३/३ ॥

अनुमीयते इत्यनुमानं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनतया न ग्राह्यं कुतः अतच्छब्दात् प्रधानप्रतिपादकशब्दाभावात् अर्थाभावेऽव्ययीभावः।।३।।

(हिन्दी अनुवाद)

अनुमीयते इति अनुमानम्। अनुमान के द्वारा जिसकी सिद्धि हो–वह अनुमान है। प्रधान (प्रकृति) यह प्रकृति द्यु भू आदि का आधार रूप में ग्राह्य नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान प्रतिपादक यहां कोई शब्द नहीं है। यहां अर्थभाव में अव्ययीभाव समास है।।३।।

१– (अर्थात् उस परमात्मा को जानने वाला यहीं मुक्त हो जाता है। इस श्रुत्यन्तर से अमृतत्व प्राप्ति के हेतु रूप में परमात्मा ही प्रसिद्ध है। नाड़ी सम्बन्ध भी परमात्मा में संभावित है। "सततञ्च शिराभिस्तु (जो शिराओं एवं नाड़ियों में व्याप्त है, इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा के हृदय स्थान में नाड़ी संततत्व प्रतिपादन कर रही हैं।) (सं)

प्राणभृच्च ॥ १/३/४ ॥

नेति अतच्छब्दादिति चानुवर्त्तते। प्राणभृज्जीवोऽपि न द्युभ्वाद्यायतनं जीवप्रतिपादक शब्दाभावात् आत्मशब्दस्य तु सर्वव्यापके परमात्मन्येव मुख्यत्वात्।।४।।

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ पूर्व सूत्र से न तथा "अतच्छब्दात्" दोनों की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् प्राणधारी जीव भी द्यु-भू आदि लोकों का आयतन नहीं हो सकता, कारण जीव प्रतिपादक शब्द भी यहाँ नहीं है। आत्म शब्द तो सर्वव्यापक परमात्मा में ही मुख्य है।।४।।

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १/३/५ ॥

परमात्मनः सकाशाज्जीवस्य भेदोक्तेश्चापि न तद्ग्रहणम्।।५।।

(हिन्दी अनुवाद)

'तमेवैकं जानथ' उस एक आत्मा को ही जानो। इस वचन द्वारा परमात्मा से जीव के भेद कथन से भी यहाँ जीवात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता।।५।।

प्रकरणात् ॥ 1/3/6 ॥

"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत" इत्यादिना परस्यैव प्रकृतवात्।।६।।

(हिन्दी अनुवाद)

यह जीव का प्रकरण नहीं है। इसलिये द्यु-भू आदि के आयतनत्वेन जीव का परिग्रह संभव नहीं है। यहाँ तो 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इत्यादि वचनों द्वारा परमात्मा ही प्रकृत है तथा "कस्मिन्नु विज्ञाते" (अर्थात् किसका विज्ञान होने से यह सब जड़ जंगमात्मक प्रपञ्च विज्ञात हो जाता है) इस प्रकार उपक्रम होने से यह परमात्मा का ही प्रकरण निश्चित होता है। जीव का ज्ञान होने से सम्पूर्ण यथार्थ विज्ञात नहीं हो सकता, क्योंकि सब कुछ जीवात्मक नहीं है।।६।।

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ १/३/७ ॥

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यत्रैकस्य" सुपर्णस्य कर्मफलमनश्नत एव देदीप्यमानतयादेहरूपवृक्षेस्थितेः इतरस्य कर्माधीनतया कर्मफलादनाच्च ताभ्यां जीवपरमात्मनोर्भेदावगमात् स्वतन्त्रः सर्वज्ञः परमात्मैवामृतसेतुर्द्युभ्वाद्यायतनं भवितुमर्हो न जीव इति "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेरित्यनेन" सिद्धेऽपि परमात्मत्वे मध्यवाक्ये प्रधानादिशङ्कानिराकरणार्थमिदमधिकरणमुक्तम् ॥७॥ इति द्युभ्वादिप्रथमाधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

मुण्डकोपनिषद् ३/१/१ तथा श्वेताश्वतर ३०/४/६ में कहा है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षे परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्न न्योऽभिचाकशी"ति एक साथ रहते हुए परस्पर सख्यभाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीर रूपी वृक्ष का आश्रय लेकर (एक जीवात्मा) तो उस वृक्ष में कर्मफल स्वरूप सुख दुःखों का स्वाद ले-लेकर (आसक्ति पूर्वक) उपभोग करता है किन्तु दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस वर्णन में जीवात्मा को कर्मफल का भोक्ता तथा परमात्मा को केवल साक्षी रूप से स्थित रहने वाला बतलाया गया है। एक को परमात्मा की कर्मफल को बिना भोगते हुए ही देदीप्यमान रूप में देह रूप वृक्ष में स्थिति और अन्य जीवात्मा के कर्माधीन होने के कारण कर्मफल भोगने का वर्णन होने से उन जीवात्मा का भेद जाना जाता है। इसलिये स्वतन्त्र सर्वज्ञ अमृत सेतु परमात्मा ही यहाँ द्यु-भू आदि का आयतन हो सकता है, जीव नहीं। "अदृश्यत्वादिगुण को धर्मोक्तेः" इस सूत्र से यद्यपि परमात्मत्व सिद्ध था फिर मध्य वाक्य में प्रधान आदि की शङ्का के निवारणार्थ यह अधिकरण है। इस प्रकार द्युम्वादि प्रथम अधिकरण पूरा हुआ।।७।।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्॥ १/३/८॥

इदमाम्नायते छन्दोगैः "भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य" इति "भूमानं भगवो विजिज्ञास" इति "यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमेति।" तत्र भूमशब्दो हि बहुत्ववाची बहुशब्दात् पृथ्वादित्वादिमनिचि "वहोर्लोपो भूच वहोरिति" सूत्रेण प्रकृतिप्रत्यययोर्विकारे भूमेति निष्पन्नं बहुत्वं चात्र वैपुल्यं न संख्याविशेषः बहुशब्दस्य "बहुषु वहुवचन" मित्यादिसंख्यायामिव "अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति य" इत्यत्राल्पत्वप्रतिद्वन्द्वितयैव भूमशब्दप्रयोगाच्च विपुलत्वमेवार्थः। विपुलत्वं च गुणोत्कर्षरूपं न तु परिमाणरूपं सुखशब्दस्य सामानाधिकरण्यात्। नहि सुखे उत्कृष्टपरिमाणं प्रसिद्धमस्ति। अत्र पुनर्न वैपुल्यरूपधर्मपरो भूमशब्दः सुखस्य वैपुल्यरूपत्वाभावात् अल्पप्रतियोगितया निर्देशाच्च। नह्यत्र चोत्तरत्र वाऽल्पत्वं भूमप्रतियोगितया निर्दिश्यते अपि त्वल्पमेव अतोऽल्पशब्दप्रतियोगितया प्रयुज्यमानो भूमशब्दो वैपुल्याश्रयधर्मिपर एवेति। तत्र संशयः-किमिह भूमशब्दनिर्दिष्टो निरतिशयवैपुल्यविशिष्टसुखरूपः प्राणः, उत परमात्मेति। किं तावत्प्राप्तं प्राण इति पूर्वः पक्षः। "प्राणो वा आशाया भूयानिति" तस्यैव समीपस्थत्वात्पुनः प्रश्नोत्तराभावाच्च। प्राणशब्देन च प्राणसहचरितो जीवात्मा न वायुविशेषमात्रं "प्राणो ह पिता प्राणो माते" त्यादिना चेतनत्वावगमात्। "तरति शोकमात्मवित्" "आत्मत एवेदं सर्व" मित्युपक्रमोपसंहारयोरात्मशब्दप्रयोगात्। यत्र "नान्यत् पश्यती" त्यादिकमपि सुषुप्तौ प्राणेन्द्रियनिलयतयातत्रदर्शनादिनिवर्तते जीवे संगच्छत "यो वै भूमा तत्सुखं" मित्यपि सुखमहमस्वाप्समिति सुखश्रवणात् तत्रैव

संगच्छेत "प्राणो वा अमृत"मितिश्रुतेरमृतशब्दोऽपि तत्रैव। एवं भूमगुणविशिष्टस्य प्रत्यगात्मत्वे निश्चिते वाक्यशेषोऽपि तदनुगुणतया नेय इत्येवं प्राप्ते–इदमाह। भूमेति। भूमशब्दनिर्दिष्टः परमात्मैव न प्राणसहचरितो जीवः। कुतः ? संप्रसादादध्युपदेशादिति। सम्यक् प्रसादो यस्मिन्स संप्रसादो जीवात्मा "एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धस्तस्मात् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति" तुशब्देन प्राणोपासकात्सत्योपासकस्याधिकतयोपदेशात् भूमगुणविशिष्टः सत्यशब्दाभिधेयः परमात्मैव। अयं भावः श्रीनारदपृष्टेन श्रीसनत्कुमारेण नामादिप्राणावधिकपञ्चदशपदार्थेषु पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरस्याधिक्याभिधानवत् प्राणशब्द-निर्दिष्टाज्जीवादधिकतया निर्दिष्टः सत्यशब्दाभिधेय एव भूमेति। कथमधिकतया सत्यस्योपदेशोऽवगम्यते इति चेत् "सवा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवतीति" प्राणवेदिनोऽतिवादित्वमुक्त्वा "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदतीति" तुशब्द एव प्राणोपासकात्सत्योपासकं व्यावर्त्त्य पूर्वातिवादित्वनिमित्तात्प्राणादस्याति-वादित्वनिमित्तं सत्यमधिकतयोपदिशति। सत्येनेतीत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। सत्येन परब्रह्मउपास्येनोपलक्षितो योऽतिवदतीत्यर्थः। सत्यशब्दश्च ब्रह्मणि प्रसिद्धः "तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यं" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे" त्यादिषु। अतिवादित्वं च स्वोपास्याधिक्यवादित्वं तच्चोपास्यदेवताऽतिशये पर्यवस्यति। एवं पश्यन्नित्यादौ "लक्षणहेत्वोः क्रियाया" इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः। ततश्च स्वोपास्यदेवतासाक्षात्कारोऽतिवादित्वहेतुरित्यर्थः। साक्षात्कारप्रीतस्वोपास्यदेवतानुग्रहादीदृशमतिवादित्वं भवतीति भावः। किञ्च "सोऽहं भगवः सत्येनातिवदतीति" प्राणातिवादित्वपरित्यागेन सत्यवदनानुज्ञैव प्राणप्रकरणविच्छेदं बोधयतीति।।८।।

(हिन्दी अनुवाद)

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है–'भूमा त्वैव विजिज्ञासितव्यः, इति भूमानं भगवो विजिज्ञासे' अर्थात् संसार में बिना सुख पाये मनुष्य कुछ नहीं करता अर्थात् प्राणी मात्र की प्रवृत्ति सुखार्थ होती है, इसलिये सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। भगवन् मैं सुख की जिज्ञासा करता हूँ। तत्पश्चात् सनकादि महर्षियों ने कहा–"भूमैव सुखम्–भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य" भूमा ही सुख है, उस भूमा सुख को ही जानना चाहिए। तब श्रीनारदजी कहते हैं–"भूमानं भगवो विजिज्ञासे (मैं भूमा की जिज्ञासा करता हूँ)" तब श्रीसनकादिकों ने कहा–"यत्रनान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा" अर्थात् जिस सुख के साक्षात्कार करने पर अन्य सुख को नहीं देखता–देखने की इच्छा नहीं करता, नहीं सुनता, सुनने की कामना भी नहीं करता, वह भूमा सुख है। यह भूमा शब्द बहुत्ववाची है। बहु शब्द से "पृथ्वादिभ्यः इमनिच्"सूत्र से इमनिच् प्रत्यय करके "बहोर्लोपो भू च बहोः" इस सूत्र से प्रकृति प्रत्यय में विकार करके भूमा शब्द की निष्पत्ति होती है। बहुत्व यहाँ वैपुल्य वाची है, न कि संख्या वाची है। बहु शब्द "बहुषु वचनम्" इत्यादि संख्या की तरह "अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति

यः" यहाँ अल्पत्व के प्रतिद्वन्द्वितया भूम शब्द का प्रयोग होने से यहाँ भूम शब्द का विपुलत्व ही अर्थ है। विपुलत्व गुण का उत्कर्ष रूप है, परिमाण रूप नहीं, क्योंकि सुख शब्द के साथ सामानाधिकरण्य है। सुख में उत्कृष्ट परिमाण प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ वैपुल्य धर्म परक भूम शब्द नहीं है-सुख में वैपुल्य रूपत्व का अभाव है, बल्कि अल्प के प्रतियोगी रूप में निर्देश है। यहाँ तथा आगे अल्पत्व भूम के प्रतियोगी रूप में निर्दिष्ट नहीं है। निर्देश भी है तो अल्प का ही। इसलिये अल्प शब्दप्रतियोगितया प्रयुज्यमान भूमा शब्द वैपुल्याश्रय धर्मिपरक ही है। यहाँ संशय होता है कि भूमा शब्द निर्दिष्ट निरतिशय वैपुल्य सुख विशिष्ट प्राण (जीव) है या परमात्मा। क्या प्राप्त होता है? तो बोले प्राण। क्योंकि श्रुति में "प्राणों वा आशाया भूयान्।" क्योंकि समीप में प्राण ही स्थित है। दूसरी बात प्राण के आगे न प्रश्न है, न उत्तर। प्रांण शब्द से प्राण विशिष्ट जीवात्मा यहाँ गृहीत है-वायुविशेष (प्राणवायु) नहीं-"प्राणो हि पिता प्राणोमाता" इत्यादि वचनों द्वारा उसमें चेतनत्व का अवगम होता है। दूसरी बात "तरति शोकमात्मवित्" (आत्मवेत्ता शोक को पार करता है) "आत्मत एवेदं सर्वम्" (आत्मा से ही सब कुछ होता है) इस प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार में आत्म शब्द का प्रयोग है। "यत नान्यत् पश्यति" इत्यादि कथन भी जीव-संगत होता है, क्योंकि सुषुप्ति में इन्द्रियों का लय हो जाने से उस काल में उसमें सर्वज्ञान का अभाव होता है। "यो वै भूमा तत्सुखम्" यह भी जीव में संगत है-सुखमहमस्वाप्सम् न किञ्चिदवेदिषम् मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना-इस प्रकार सुख का श्रवण है तथा अन्य ज्ञान का अभाव है। "प्राणो वा अमृतम्" इत्यादि श्रुति में प्राण को अमृत भी कहा गया है। इस प्रकार भूम गुण विशिष्ट पदार्थ में जीवात्मत्व का निश्चय होने पर वाक्य का शेषांश भी जीव परत्वेन ही लगाना चाहिए-ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं-"भूमा सम्प्रसादात्" अर्थात् भूम शब्द निर्दिष्ट परमात्मा ही है, न कि प्राण सहचरित जीव, क्योंकि "सम्प्रसादादध्युपदेशात्" सम्यक् प्रसादो यस्मिन् स सम्प्रसादः जीवात्मा-जैसा कि "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीत् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" अर्थात् यह जीवात्मा इस शरीर से ऊपर उठकर या निकल कर परम ज्योति परमात्मा को पाकर अपने निज स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। इत्यादि श्रुति में प्रसिद्ध जीवात्मा से "एष तु अतिवदति यः सत्येनाति वदति" अर्थात् वह अत्युत्तम श्रेष्ठ बात कहता है जो सत्य को परम तत्व कहता है। यहाँ तु शब्द प्राणोपासक से सत्योपासक को अधिक रूप में उपदेश किया गया है। इसलिये भूम गुण विशिष्ट सत्य शब्दाभिधेय परमात्मा ही है। भाव यह है कि श्रीनारदजी के द्वारा पूछने पर श्रीसनत् कुमार ने नाम से लेकर प्राण तक पन्द्रह पदार्थों में क्रमशः पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर में आधिक्य के प्रतिपादन की तरह प्राण शब्द निर्दिष्ट जीव से श्रेष्ठ रूप में सत्य शब्द प्रतिपाद्य परमात्मा ही यहाँ भूमा बताया है। कहें कि प्राण से अधिक रूप में सत्य का कैसे उपदेश है? तो कहते हैं-"स ना एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजान्नतिवादी भवति" इस श्रुति द्वारा प्राणवादी को अतिवादी बताकर "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाति वदति" यहाँ स्पष्टतया "तु" शब्द द्वारा प्राणोपासक से भी सत्योपासक ब्रह्मवादी को श्रेष्ठ बताया है। यहाँ तु शब्द ही प्राणोपासक

(प्राण श्रेष्ठवादी) से सत्योपासक को व्यावृत्त कर प्राण से सत्य को अधिक रूप में उपदेश करता है। "सत्येन" में इत्थंभूत लक्षण में तृतीया है। सत्य शब्द परब्रह्म में प्रसिद्ध है-"तस्य वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम्" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में सत्य ब्रह्म का नाम प्रसिद्ध है। यहाँ अतिवादित्व का अर्थ है-अपने उपास्य का आधिक्य वादी। वह उपास्य देवता के अतिशय में पर्यवसित होता है एवं पश्यन् इत्यादि स्थानों में 'लक्षण हेत्वोः' सूत्र से हेतु अर्थ में शत् प्रत्यय है, "हेत्वो क्रियायाः" सूत्र से हेतु अर्थ में शतृ प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार अपने उपास्य देवता का साक्षात्कार ही अतिवादित्व का हेतु है। अर्थात् साक्षात्कार से प्रसन्न हुए अपने उपास्य देवता के अनुग्रह से ऐसा अतिवादित्व होता है। दूसरी बात "सोऽहं भगवः सव्येनातिवदति" द्वारा प्राणातिवादित्व को परित्याग द्वारा सत्यवदन की अनुज्ञा ही प्राण प्रकरण में विच्छेद क्रम बोध कराती है।।८।।

धर्मोपपत्तेश्च ॥ १/३/९ ॥

अत्र भूम्नि ये धर्माः श्रूयन्ते ते परमात्मन्येवोपपद्यन्ते "यो वै भूमा तदमृतं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि स एवाधस्ता" दित्यादौ "आत्मनः प्राण" इत्यादौ च श्रुतानां स्वाभाविकामृतत्वस्वमहिमप्रतिष्ठितत्वसर्वात्मकत्वसर्वोत्पादकत्वादीनां परस्मिन्नेवोपपत्तेः। "अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टा" दित्यादिना सर्वात्मत्वोपदेशस्तु भूमगुणाश्रयस्य परमात्मनः "अथातोऽहंकारोपदेश इत्यहंग्रहेणोपदेशोपक्रमात् अहंग्रहेणोपासनार्थः। नन्वहंवुद्धिशब्दयोर्जीवात्मविषययोः कथं भूमपर्यन्तत्वमनहमर्थे च परमात्मन्यहंग्रहोपासनस्यायथार्थत्वमेवेतिचेन्न, "एष त आत्मान्तर्यामीति" श्रुत्यन्तरात् भूम्नः सर्वान्तर्यामितया सर्वात्मत्वात् जीवात्मानं प्रत्यपि आत्मत्वेन तद्विषयाहंबुद्धिशब्दानां परमात्मपर्यन्तत्वस्योपपन्नत्वात्। एतदेव "अथात आत्मादेश" इत्यादिना "आत्मैवेदं सर्वमित्यन्ते- नोच्यते।" अतोहमर्थस्य जीवात्मनोऽऽप्यात्मा परमात्मेति ज्ञानदार्ढ्यार्थमहंग्रहेण परमात्मोपासनं कर्त्तव्यमित्यतो भूमा परमात्मैवेति सिद्धम्।।9।। इति भूमाधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

इस भूमा में जिन धर्मों का श्रवण है, वे परमात्मा में ही उपपन्न होते हैं। "यो भूमा तदमृतम् (वह भूमा अमृत है)" "स भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठितः" (वह किसमें प्रतिष्ठित है।)"स्वं महिम्नि"(अपनी महिमा में) तत्पश्चात् "स एवाधस्तात्" इत्यादि मन्त्रों तथा "आत्मन प्राणः" इत्यादि श्रुतियों में वर्णित स्वाभाविक अमृतत्व, स्वमहिम प्रतिष्ठितत्व, सर्वात्मत्व तथा सर्वोत्पादकत्व आदि धर्म परमात्मा में ही उपपन्न होते हैं, जीव में नहीं। यहाँ "अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्टात्" इत्यादि वचनों द्वारा सर्वात्मत्व का उपदेश तो भूम गुणाश्रय परमात्मा के "अथातोहंकारोपदेश" इस अहंग्रह उपासना से उपक्रम होने के कारण अहं ग्रहेण उपासनार्थ है। यदि कहें कि जीवात्म विषय अहं, बुद्धि शब्दों का भूम पर्यवसायित्व तथा अहमर्थ रहित

परमात्मा में अहं ग्रहोपासन अयथार्थ ही होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि "एष ते आत्माऽन्तर्यामी" इस श्रुति से भूमा पुरुष के सर्वान्तर्यामी होने के कारण उसमें सवर्ज्ञत्मत्व है। उसे जीवात्मा के प्रति भी आत्म होने के कारण तद्विषयक अहं बुद्धि परक शब्दों का परमात्मपरत्व संभव है। यही बात अथातः आत्मादेश यहाँ से लेकर "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यन्त ग्रन्थ से कही जाती है। इसलिये अहं पदवाच्य जीवात्मा की आत्मा परमात्मा है, इस ज्ञान की दृढ़ता के लिये अहं ग्रह से परमात्मा की उपासना करनी चाहिए, इस प्रकार यहाँ भूमा परमात्मा ही है, यह सिद्ध होता है।।९।। इस प्रकार भूमा अधिकरण पूरा हुआ।।९।।

अथ अक्षराधिकरणम् । ३।

अक्षरमम्वरान्तधृतेः॥ १/३/१०॥

वाजसनेयिभिर्गार्गीयप्रश्न इदमाम्नायते "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति। सहोवाच-एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम-स्नेहमच्छाय" मित्यादि। तत्र संशय्यते-किमेतदक्षरं प्रधानं, जीवो, वोत परमात्मेति, तत्राक्षरशब्दस्य प्रधानजीवयोरेव प्रायः प्रयोगदर्शनात् प्रधानं जीवो वा न परमात्मेति पूर्वः पक्षः। प्रधानस्य सर्वविकारकारणतया तदास्पदत्वात् रूपादिहीनत्वाभ्युपगमेन चास्थूलादीनामपि तत्रोपपत्तेः। जीवस्य च स्वभोग्यभूतसर्वाचिद्वस्त्वाधारत्वात्। केचिदत्राक्षरशब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वादक्षरं वर्णरूपमोंकार इति पूर्वपक्षयन्ति तदेतदधि-करणेनासम्बद्ध "मलोहितमस्नेहमच्छाय" मित्यादिप्रतिषेधानुपपत्तेः। ननु "यया तदक्षर-मधिगम्यते" त्यादौ परमात्मन्यप्यक्षरशब्दो दृश्यते इति चेन्न। प्रमाणान्तरप्रसिद्धश्रुतिप्रसिद्ध-योराद्यस्य प्रथमं प्रतीतेः प्रतीतपरिग्रहविरोधाभावात्, इति प्राप्ते ब्रूमःअक्षरं परं ब्रह्मैव। कुतः? अम्बरस्य वायुमत आकाशस्यान्तःपारभूतं कारणमव्याकृतं प्रधानं तस्य धृतेरस्याक्षरस्य तदाधारकत्वेनोपदेशात्। यत्तूक्तम्-श्रुतिप्रसिद्धात्प्रमाणान्तरप्रसिद्धस्य प्रथमं प्रतीतेरिति। तन्न। अक्षरशब्दस्यावयवशक्त्या स्वार्थप्रतिपादने प्रमाणान्तरानपेक्षणात्। सम्बन्धग्रहणदशायामर्थस्वरूपं येन प्रमाणेनावगम्यते न तत्प्रतिपादनदशायामपेक्षणीयम्। एतेन "यदूर्ध्वं गार्गि दिव" इत्यारभ्य कालत्रयवर्त्तिकृत्स्नवस्त्वाधारतया निर्दिष्टस्याकाशशब्दवाच्यस्याव्याकृतभूतसूक्ष्मप्रधानादिनामधेय- स्याधारतयोच्यमानमेतदक्षरं न प्रधानं किन्तु परमात्मैवेत्युक्तम्।।१०।।

(हिन्दी अनुवाद)

वाजसनेयियों ने गार्गी के प्रश्न में कहा है-"कस्मिन्नु आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" अर्थात् (यह आकाश किसमें ओत-प्रोत है) इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा-"एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्" इत्यादि यहाँ संशय होता है कि क्या यह अक्षर प्रधान है या जीव अथवा परमात्मा। यहाँ अक्षर शब्द का प्रायः प्रधान या जीव में ही प्रयोग दिखाई देने से प्रधान या जीव अक्षर पद वाच्य है,

परमात्मा नहीं, ऐसा पूर्वपक्ष होता है, क्योंकि प्रधान अपने सभी विकारों का कारण होने से उनका आधार हो सकता है और उसे नीरूप होने से अस्थूल आदि गुणों की उसमें उपपत्ति हो सकती है। इसी तरह जीव भी स्वभोग्य भूत समस्त अचित् वस्तु का आधार बन सकता है। कुछ लोग यहाँ अक्षर शब्द की वर्ण में प्रसिद्धि होने के कारण अक्षर यहाँ वर्णरूप ओंकार है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं, परन्तु यह इस अधिकरण से असम्बद्ध है, क्योंकि इस पक्ष में 'अह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायम्' इत्यादि प्रतिषेध की अनुपपत्ति है-वर्ण तो ह्रस्वदीर्घ आदि गुणों से उपेत ही होते है। यदि कहें कि-"यया तदक्षर मधिगम्यते" इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा में ही अक्षर शब्द का प्रयोग दिखाई देता है, तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण प्रमाणान्तर से प्रसिद्ध और श्रुति प्रसिद्ध में प्रथम की पहले प्रतीति होती है और प्रतीत के परिग्रह में कोई विरोध नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—"अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः"। यहाँ अक्षर पदवाच्य पर ब्रह्म परमात्मा ही है, क्योंकि अम्बर वायुमान् आकाश उसका अन्त नाम पारभूत वस्तु कारण अव्यक्त त्रिगुण प्रधान उसकी धृति का कथन होने से यहाँ अक्षर ब्रह्म है-यह सूत्रार्थ है, क्योंकि श्रुति वाक्य में "यदूर्ध्वं" यहाँ से आरम्भ कर कालमय (भूत, भविष्य, वर्तमान) वर्ती सम्पूर्ण वस्तुओं का आधार रूप में निर्दिष्ट आकाश पदवाच्य वस्तु अव्याकृत, प्रधान आदि नामों से प्रसिद्ध जो वस्तु तत्व है। उसी में आधारतया कथ्यमान यहाँ अक्षर वस्तु त्रिगुण प्रधान नहीं हो सकता, अपितु प्रधानान्त सम्पूर्ण वस्तुओं के आधार पर ब्रह्मही यहाँ अक्षर पदार्थ है। यह जो पहले कहा था कि श्रुति में प्रसिद्ध से प्रमाणान्तर (अनुमानादि) प्रसिद्ध वस्तु की प्रथम प्रतीति होती है, वह ठीक नहीं। अक्षर शब्द के अवयव शक्ति से स्वार्थ प्रतिपादनमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। कारण सम्बन्ध ग्रहण की दशा में अर्थ का स्वरूप जिस प्रमाण से अवगत होता है, वह प्रतिपादन दशा में अपेक्षणीय नहीं होता। एतावता "यदूर्ध्वं गार्गि दिव" यहाँ से लेकर कालत्रयवर्ती समग्र वस्तुओं के आधार रूप में निर्दिष्ट आकाश शब्द वाच्य अव्याकृत भूतसूक्ष्म तथा प्रधान आदि नाम धेय वस्तुओं का आधार रूप में कथित यह अक्षर प्रधान नहीं है, किन्तु परमात्मा ही है, ऐसा कहा गया है।।१०।।

सा च प्रशासनात्॥ १/३/११॥

तर्हि जीवोऽस्तु तस्यापि प्रधानधृत्युपपत्तेरस्थूलत्वादिधर्मवत्त्वोपपत्तेरक्षरशब्दवाच्यत्वाच्चेत्याशङ्क्याह-सा चाम्वरान्तधृतिः परमात्मन एव कर्म। कुतः? "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादि श्रूयमाणात्, प्रशासनात् प्रशासनं प्रकृष्टं शासनमप्रतिहताज्ञा। नचेदृशं स्वप्रशासनायत्तं सर्वाधारकत्वं जीवे सम्भवति।।११।।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि वह अक्षर पदार्थ तब जीव को ही मान लें, उसमें प्रधान का धारण तथा अस्थूलत्व आदि धर्मों की भी उपपत्ति संभव है। इस आशंका पर कहते हैं, वह अम्बरान्त धृति परमात्मा का ही कर्म है क्योंकि आगे "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" अर्थात् इस अक्षर के ही प्रशासन में ये सूर्य और चन्द्रमा यथा स्थान धारण किये हुए स्थित हैं एवं द्युलोक एवं पृथिवी निमेष, मुहूर्त, दिनरात आदि नामों से प्रतिपाद्य काल ये सब विशेष धारण किये हुए स्थित हैं। इसी के प्रशासन में पूर्व और पश्चिम की ओर बहने वाली समस्त नदियाँ अपने-अपने निर्गम स्थान पर्वतों से निकलकर बहती हैं (वृ० ३-३/८/९) इस प्रकार उक्त अक्षर सब पर भली-भाँति शासन करते हुए आकाश पर्यन्त सबको धारण करने वाला बताया गया है। यह कार्य जड़ प्रकृति या अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव का नहीं हो सकता। अतः वह सबको धारण करने वाला सबका शासक अक्षर-तत्त्व ब्रह्म ही है ॥११॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १/३/१२ ॥

अन्यस्य प्रधानादेर्भावोऽन्यभावः तस्य व्यावृत्तेर्हेतोः परमात्मैवाक्षरशब्दवाच्यः "तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्ट्रयश्रुतं श्रोत्रमतं मन्तमविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृनान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" वाक्यशेषोऽस्याक्षरस्य ब्रह्मणोऽन्यत्वं व्यावर्त्तयति। तत्र द्रष्टृत्वादिचेतनधर्मेण प्रधानभावः सर्वैरदृष्टस्यैव सतः सर्वद्रष्टृत्वाद्युपदेशाच्च जीवभावो व्यावर्त्त्यते। यथैतदक्षरमन्यैरदृष्टं सदन्येषां द्रष्टृ च सत्स्वातिरिक्तस्य सर्वस्याधार-भूतमेवमनेनादृष्टमेतस्य द्रष्टृ च सदेतस्वाधारभूतमन्यन्नास्तीति वदन्नान्यदतोऽस्ति द्रष्ट्रित्यादिवाक्यशेषोऽन्यस्य सद्भावं व्यावर्तयन्नस्याक्षरस्य प्रधानभावजीवात्मभावौ प्रतिषेधति तस्मादत्राक्षरशब्दवाच्यः परमात्मैवेति सिद्धम् ॥१२॥

(हिन्दी अनुवाद)

अन्य प्रधान आदि के भाव को अन्यभाव कहते हैं। उसकी व्यावृत्ति रूप हेतु के कारण यहाँ परमात्मा ही अक्षर शब्द वाच्य है। श्रुति में कहा है—"तद् वा एतदक्षरं गार्गि अदृष्टं द्रष्टृ अश्रुतं श्रोतृ अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्तिविज्ञातृ एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः ओतः प्रोतश्च" अर्थात् उसे कोई

विशेष– पूरा प्रकरण इस प्रकार है—सा हो वाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या, यदन्तरा द्यावापृथिवी, इमे, यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिन् तदोतं च प्रोतंचं"। वृ०उ० ३/८/६) इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा—ये सब आकाश में ओत-प्रोत हैं। तब गार्गी ने पूछा-"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" उत्तर में याज्ञवक्य ने कहा—"तद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणाअभिवदन्ति अस्थूल मनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमित्यादि। यह परमात्मा का असमोर्ध्व ऐश्वर्य प्रतिपादन दिव्य स्वरूप का श्रौत प्रतिपादन है। (सं)

देखता नहीं, वह सब को देखता है। उसको कोई सुनता नहीं, वह सबको सुनता है। उसका कोई मन्ता नहीं, वह सबका मनन करता है। वह किसी से विज्ञात नहीं, वह सबका विज्ञाता है। उससे बढ़कर कोई द्रष्टा नहीं श्रोता नहीं, मन्ता नहीं तथा विज्ञाता नहीं, गार्गि इसी अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है-इस वाक्य शेष (अन्तिम वाक्य) से अक्षरका ब्रह्म भिन्नत्व व्यावृत्त हो जाता है अर्थात् द्रष्टव्य आदि चेतन धर्म का कथन होने से अचेतन प्रधान का सबके द्वारा अदृश्य होकर सर्वद्रष्टव्य धर्म का प्रतिपादन होने से जीव की व्यावृति होती है। जिस प्रकार यह अक्षर अन्य पुरुषों द्वारा अदृष्ट होकर अन्यों का द्रष्टा होकर अपने से भिन्न सबका आधार भूत है-इसी प्रकार इसके द्वारा अदृष्ट और इसका द्रष्टा होकर इसका आधारभूत अन्य कोई तत्व नहीं है। ऐसी कहती है श्रुति, इसके अतिरिक्त कोई द्रष्टा इत्यादि शेष वाक्य अन्य के सद्भाव का व्यावर्तन करता हुआ इस अक्षर में प्रधान एवं जीव भाव का प्रतिषेध करता है—इसलिए यहाँ अक्षर शब्द वाच्य परमात्मा ही है, यह सिद्ध होता है ॥१२॥

ईक्षतिकर्म व्यपदेशात्सः ॥ १/३/१३ ॥

आथर्वणिकैः प्रश्नोपनिषद्येवं पठ्यते "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैत्राक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हैव स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत"इति। तत्र संशयः ध्यायतीक्षतिविषयः किं समष्टिजीवश्चतुर्मुखः, उत परमात्मेति, अपरब्रह्मशब्दवाच्यश्चतुर्मुख एव तयोर्विषय इति पूर्वः पक्षः। पूर्वस्मिन्नेकमात्रद्विमात्रप्रणवोपासकस्य मनुष्यलोकान्तरिक्षलोकाप्तिफलमुक्त्वा त्रिमात्रोपासकस्य फलत्वेन कथ्यमानोऽन्तरिक्षात्परः समष्टिजीवस्य हिरण्यगर्भस्य लोकः प्रत्येतव्यस्तल्लोकगतपुरुषेक्षणविषयस्तल्लोकाधिपतिः स एवेति देहेन्द्रियादिभ्यः पराद्देहादिभिः सह घनीभूताद् व्यष्टिजीवात्तल्लोकवासिसमष्टिपुरुषस्य परत्वमप्युपपन्नम्, अतश्चतुर्मुख इति प्राप्ते-ब्रूमः। परमात्मैवेक्षतिकर्म। कुतः व्यपदेशात् "तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणं चेति" परमात्मधर्माणामत्र व्यपदेशात्। यस्य हि कर्मकृतदेहादिसंयोगः स जीवघनः सच "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व" मित्यादिषु चतुर्मुखस्यापि श्रूयते नह्यन्तरिक्षात्परश्चतुर्मुखलोकः स्वर्गादीनां मध्ये सत्त्वात्। एवं च ब्रह्मैव लोक इति ब्रह्मलोकशब्दोऽपि निषादस्थपतिन्यायेन परमात्मलोकवाचकः ॥१३॥ इतीक्षतिकर्माधिकरणम् ४।

(हिन्दी अनुवाद)

अथर्ववेदियों ने प्रश्नापेपनिषद् में कहा है—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हैव स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीव घनात्परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"

अर्थात् जो व्यक्ति त्रिमात्र स्वरूप 'ओम्' इस अक्षर के द्वारा परम पुरुष परमात्मा का ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यमण्डल में संगत होकर सर्प जिस प्रकार केंचुल से विनिर्मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार समस्त पापों से मुक्त होकर सामवेदीय गीत प्रधान मन्त्रों द्वारा ब्रह्मलोक (भगवद्धाम) को प्राप्त होता है और वहाँ जीवों से परे मनुष्यों के हृदय रूपी गुफा में शदित अर्थात् समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा रूप में विद्यमान परम पुरुष परमात्मा का दर्शन करता है-"भगवानिति शब्दोऽयं तथा पुरुष इत्यपि निरुपाधि च वर्तेते वासुदेवे सनातने" इसके अनुसार निरुपाधि पुरुष शब्द वाच्य परमात्मा का दर्शन करता है। यहाँ संशय होता है कि यहाँ ईक्षण क्रिया का विषय क्या समष्टि जीव, चतुर्मुख ब्रह्म जो पूर्ववाक्य में अपरञ्च ब्रह्म कहा गया है अथवा ईक्षति क्रिया का कर्म परमात्मा है ? ऐसी स्थिति में अपर ब्रह्म शब्द वाच्य चतुर्मुख ही ईक्षति क्रिया का विषय है ? पूर्व में एकमात्र द्विमात्र प्रणव उपासक के लिये मनुष्य लोक अन्तरिक्ष लोक की प्राप्ति रूप फल कहकर त्रिमात्रोपासक के फल रूप में कहे गये अन्तरिक्ष से परे समष्टि जीव स्वरूप हिरण्य गर्भ का लोक ही उस लोकगत पुरुष के ईक्षण का विषय है। वही उस लोक के अधिपति हैं और वही देह-इन्द्रिय से परे तथा देह आदि से घनीभूत व्यष्टि जीव से तत्-तत् लोकवासी समष्टि पुरुष में परत्व भी उपपन्न हैं, इसलिये चतुर्मुख ब्रह्मा ही यहाँ ईक्षति क्रिया का विषय सिद्ध होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, परमात्मा ही यहाँ ईक्षति क्रिया का कर्म है क्योंकि "तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं परायणञ्चेति" मन्त्र द्वारा यहाँ परमात्मा के ही धर्मों का व्यपदेश है। जिसका कर्मजनित देहादिके साथ संयोग होता है, वह जीवघन है और वह "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं" इत्यादि मन्त्रों में चतुर्मुख के लिये भी सुना जाता है। अन्तरिक्ष से पर कोई चतुर्मुख लोक नहीं है, बल्कि वह स्वर्ग आदि के मध्य में स्थित है। इस तरह ब्रह्मैव लोक ब्रह्मलोक इस व्युत्पत्ति से ब्रह्मलोक शब्द भी निषादस्थपति न्याय से परमात्म लोक का वाचक है।।१३।। इस प्रकार ईक्षति कर्माधिकरण पूरा हुआ।

दहरउत्तरेभ्यः ॥ १/३/१४ ॥

इदमाम्नायते छन्दोगैः, "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्य" मिति। तत्र संशय्यतेकिमिह दहरे हृत्पुण्डरीके श्रूयमाणो दहराकाशः भूताकाशः, उत जीवः, अथवा परमात्मेति किं तावत्प्राप्तं भूताकाश इति आकाशशब्दस्य तत्रैव प्रसिद्धेः। एकस्यैव "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इत्युपमानोपमेयभावस्तु बाह्याभ्यन्तरकल्पितभेदकृतः। जीवो वा "अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थायेति" तस्याप्यत्र प्रतीतेः पुरस्वामित्वान्मितत्वप्रत्ययाच्च। प्रजापतिवाक्येऽपहतपाप्मत्वादिगुण-कत्वावगतेश्चेति प्राप्ते प्रचक्ष्महे। दहराकाशः परमात्मा। कुतः? उत्तरेभ्य आत्म-त्वापहतपाप्मत्वादिसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वादिहेतुभ्यः दहराकाशज्ञस्य सत्यसंकल्पत्वादि-प्राप्तिश्रवणाच्च दहराकाशस्य भूताकाशत्वे हृदयावच्छेदनिबन्धनाभि नोपमानोपमेयभावः

सम्भवति। हृदयावच्छिन्नस्य द्यावापृथिव्यादिसर्वाश्रयत्वानुपपत्तेः। नच दहराकाशस्य परमात्मपरत्वेऽपि बाह्याकाशोपमेयत्वासंभवस्तस्य सर्वस्माज्ज्यायस्त्वश्रवणादितिवाच्यम्। बाह्याकाशोपमानस्य सर्वज्यायस्त्वप्रतिपादकवाक्यस्य च हृत्पुंडरीकमध्यवर्त्तित्वप्राप्ताल्पत्व-निवृत्तिपरत्वात्। "इषुवद्गच्छति सूर्य" इति वाक्यस्य गतिमान्द्यनिवृत्तिपरत्ववत्। ननु च "दहरोस्मिन्नन्तर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्य"मिति दहराकाशान्तर्वर्त्तिनस्तदन्य-स्यान्वेष्टव्यतया प्रक्रान्तत्वान्न दहराकाशोऽपहतपाप्मेत्यादिना वक्तुं शक्य इति चेत्। श्रुत्यैव तदन्वेष्टव्यमिति तच्छब्देन दहराकाशं तदन्तर्वर्त्तिगुणगणं च परामृश्य तदुभयस्यान्वेष्टव्यत्वेनोपदिश्यमानत्वात्। तथाहि—उपास्यतया समीपस्थस्य ब्रह्मणः पुरत्वेनोपासकशरीरं तन्मध्ये तदवयवभूतं पुण्डरीकाकारमणुपरिमाणं हृदयं च ब्रह्मणो वेश्मत्वेन निर्दिश्य तत्स्थं परमात्मानं सूक्ष्मतया ध्येयं दहराकाशशब्देनोक्त्वा तदन्तर्वर्त्तिचापहतपाप्मत्वादिकल्याणगुणगणं ध्येयतयोपदिशति श्रुतिः। कथमेतदवगम्यते इति चेत् "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इति दहराकाशस्य वियदुपमेयत्वमुक्त्वा "उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादिना सर्वजगदाधारतया निर्दिष्टस्य तस्यैव "नास्य जरयैतज्जीर्यती" त्यादिना देहधर्मैरलिप्तत्वं "एतत्सत्यं ब्रह्मपुर"मित्यनेन निखिलविश्वाधारत्वं "अस्मिन्कामाः समाहिता" इति कामशब्देन कल्याणगुणाधारत्वं चाभिधाय "एष आत्माऽपहतपाप्मे" त्यादिना दहराकाशस्यैवात्मत्वकाम्यभूतकल्याणगुणवत्त्वादिस्फुटीकृत्य तं तद्गुणांश्चाविदुषान्तवत्-फलप्राप्तिमसत्यसङ्कल्पत्वं चोक्त्वा "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामानिति" वाक्यशेषस्तमेव दहराकाशशब्दनिर्दिष्टमात्मानं यद्गुणांश्च विदुषां तत्प्रसादात्सर्वकामप्राप्तिं सत्यसंकल्पतां च दर्शयतीति ॥१४॥

(हिन्दी अनुवाद)

छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—"यदिदमस्मिन् दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छा०उ० ८/१/१) अर्थात् इस ब्रह्म के नगर स्वरूप मनुष्य शरीर में कमल के आकार वाला एक सूक्ष्म घर (हृदय) है। उसमें सूक्ष्म आकाश है, उसके भीतर जो वस्तु है, उसे जानने की इच्छा करनी चाहिए। यहाँ संशय होता है कि क्या सूक्ष्म हृदय कमल के भीतर श्रूयमाण दहराकाश भूताकाश है या जीव है अथवा परमात्मा ? यहाँ क्या प्राप्त है तो बोले भूताकाश, क्योंकि आकाश शब्द की भूताकाश में ही प्रसिद्धि है। कहें कि यदि यहाँ दहराकाश से भूताकाश लेते हैं तो "यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेवान्तर्हृदये आकाश" श्रुति में उपमान उपमेय भाव की उपपत्ति कैसे ? एक ही वस्तु में उपमान-उपमेय भाव कहीं नहीं देखा गया है, तो कहते हैं-वहाँ वाह्य एवं अभ्यन्तर भेद से कल्पित भेद लेकर उपमान उपमेय भाव की उपपत्ति हो जायेगी अथवा जीवात्मा ही यहाँ दहराकाश है, क्योंकि आगे "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय" इस श्रुति द्वारा उसकी भी (जीव की भी) प्रतीति होती है। ब्रह्मपुरम् यह षष्ठी का

अर्थ स्वस्वामि भाव है-इस प्रकार पुर स्वामी होने एवं परिमित प्रतीति होने के कारण दहराकाश जीव प्रतीत होता है, तथा प्रजापति वाक्य में जीव के स्व-स्वरुप में आविर्भाव के समय प्रत्यगात्मा (जीव) में भी अपहत पाप्मत्वादि गुणों का योग भी होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—दहराकाश यहाँ परमात्मा है, क्योंकि उत्तर वाक्य ऐसे ही कहते हैं। उत्तर वाक्यों में उस दहराकाश वर्ती के लिए अपहत पाप्मत्व, सत्यकामत्व, सत्य संकल्पत्व आदि धर्मों का वर्णन है-जो दहराकाश एवं जीव में संभव नहीं है-ये गुण या धर्म तो परमात्मा में ही संभव है तथा दहराकाशज्ञ (दहराकाश वर्ती) में सत्य संकल्पत्व आदि धर्मों की प्राप्ति का श्रवण है। दूसरी बात दहराकाश को भूताकाश मानने पर हृदय रूप अवच्छेदक (भेद) प्रयुक्त भी उपमान उपमेयभाव संभव नहीं हैं। हृदयावच्छिन्न नभ का द्यावा पृथिवी आदि समग्र तत्त्वों का आश्रय नहीं हो सकता। यदि कहें कि दहराकाश को परमात्मा परक मानने पर भी उसे बाह्य आकाश का उपमेयत्व संभव नहीं है, क्योंकि उसे सम्पूर्ण पदार्थों से श्रेष्ठ कहा गया है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि बाह्याकाश उपमान तथा सर्व श्रेष्ठता प्रतिपादक वाक्य दोनों का परमात्मा में हृदयरूपी कमल के मध्य में विद्यमानता जनित अल्पत्व निवृत्ति में तात्पर्य है जैसे 'इषुवद् गच्छति सूर्यः' अर्थात् सूर्य इषु (बाण) की तरह जाता है-यह वाक्य जैसे, सूर्य की गति में मन्दता की निवृत्ति परक है। यदि कहें कि "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश स्तस्मिन्यदन्त स्तदन्वेष्टव्यम्" इस वचन के द्वारा तो दहराकाश के अन्तर्वर्ती दहराकाश से भिन्न यहां अन्वेषणीय रूप में उपक्रान्त है, फिर दहराकाश 'अपहतपाप्मा' पद वाक्य कैसे हो सकता है ? तो उसका उत्तर देते हैं कि श्रुति ही 'तदन्वेष्टव्य' इस वाक्य द्वारा तत् शब्द से दहराकाश एवं तदन्तर्वर्ती गुणगणों का परामर्श करके उन दोनों के अन्वेषणीय रूप में उपदेश दिया है। अर्थात् उपास्य रूप में समीप स्थित ब्रह्म में पुर रूप में उपासक के शरीर तथा उसके मध्य में शरीर के अवयव भूत पुण्डरीक (कमल) के आकार स्वरूप अणुपरिमाण वाला हृदय है, जो ब्रह्म के गृह के रूप में बताया गया है। उस हृदय रुपी गृह में स्थित परमात्मा को सूक्ष्म रूप में ध्यान करने के लिए उसे दहराकाश शब्द से कहा है और उस सूक्ष्म परमात्मा (दहराकाश) के अन्तवर्ती अपहत पाप्मत्वादि अष्ट कल्याण गुण गणों का भी ध्येय रूप में श्रुति उपेदश करती है। ऐसा कैसे समझते हैं ? तो कहते हैं—"यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश" इस श्रुति द्वारा दहराकाश को उपमेय कहकर "उभे अस्मिन् द्यावा पृथिवी अन्तरेव समाहिते" इत्यादि श्रुति से सम्पूर्ण जगत् के आधार रूप में ही निर्दिष्ट उसका "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्" इस मन्त्र घटक 'अस्मिन्' शब्द से परामर्श होने से उसी का "नास्य जरयैतज्जीर्यति" इसकी जरा (अवस्था से) यह जीर्ण नहीं होता है, इस श्रुति द्वारा देह धर्म से उसका अलिप्तत्व "एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्" से अधिक विश्वका आधारत्व तथा "अस्मिन् कामाः समाहिताः" इस श्रुति में काम शब्द से कल्याणमय गुणों का आधारत्व भी कहकर "एष आत्मा अपहत पाप्मा" इत्यादि श्रुतियों द्वारा दहराकाश में ही आत्मत्व, काम्यभूतत्व कल्याणमय गुण युक्तत्व को स्पष्ट कर उस दहराकाश (आत्मा) एवं उसके गुणों को न जानने वालों को विनाशी फल प्राप्ति एवं असत्य संकल्प बताकर "अथ इहात्मानमनुविद्य

व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामान्" यह वाक्यशेष उसी दहराकाश शब्द विनिर्दिष्ट को आत्मा तथा उसके गुणों को जानने वालों को उसकी कृपा से सकल कामनाओं की प्राप्ति तथा सत्य संकल्पता दिखाती है ॥१४॥

इतश्च दहराकाशः परमात्मा

इस हेतु से भी दहराकाश परमात्मा है—

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च॥ १/३/१५॥

"तद्यथा हिरण्यनिधिं क्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढा" इत्यत्रैतमिति प्रकृतं दहरं निर्दिश्यं तत्राहरहः सर्वक्षेत्रज्ञानां गत्या गन्तव्यस्य दहराकाशस्य ब्रह्मलोकशब्दनिर्देशन च दहराकाशं ब्रह्मैवेत्यवगम्यते। तथाहि दृष्टं तथैवान्यत्र "एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति, स त आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" इति। परमात्मन्येव सर्वप्राणिनामहरहः सुषुप्तिकाले गमनं दृष्टं तथैव "एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाचे"ति ब्रह्मलोकशब्दोऽपि परमात्मनि दृष्टः। एतदेव च तत्र सर्वप्रजानामहरहर्गमनं ब्रह्मैव लोक इति समासेन सदहरसमानाधिकरणतया निर्दिष्टो ब्रह्मलोकशब्दश्च दहराकाशस्य परमब्रह्मत्वे लिङ्गं गमकम्।।१५।।

(हिन्दी अनुवाद)

"तद्यथा हिरण्यनिधिं क्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यमृतेन प्रत्यूढ़ा" इस श्रुति से प्रकृत दहर को निर्देश करके उसमें प्रतिदिन समस्त क्षेत्रज्ञों की गति एवं गन्तव्य दहराकाश का ब्रह्म लोक शब्द से निर्देश होने से भी दहराकाश ब्रह्म है, ऐसा जाना जाता है। (भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरणे एषां लोकानामसम्भेदाय (बृ०उ०४/४/२२) (यह सबका ईश्वर है। सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी है, सब भूतों का पालन पोषण करने वाला है तथा इन समस्त लोकों को विनाश से बचाने के लिये उनको धारण करने वाला सेतु है) इसी तरह अन्यत्र भी "एवमेव खलु सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुःसति सम्पद्यामहे" "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इत्यादि श्रुति से परमात्मा में ही समस्त प्राणियों का प्रतिदिन सुषुप्ति काल में गमन देखा गया है। "एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच" इस श्रुति में ब्रह्मलोक शब्द भी परमात्मा में देखा गया है। यही है वहाँ समस्त प्रजाओं का प्रतिदिन गमन। ब्रह्मैव लोक ब्रह्मलोक ऐसा कर्मधारय समास करके अहम् के साथ सामानाधिकरण्य रूप में निर्दिष्ट ब्रह्मलोक शब्द दहराकाश के परब्रह्मत्व में ज्ञापक है।।१५।।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १/३/१६ ॥

"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाये"ति प्रकृतस्य दहरस्यैव जगद्विधरणश्रवणाच्च धृतिर्हि जगद्विधरणं सा च परस्य महिमरूपा अस्य धृत्याख्यस्य महिम्नोऽस्मिन्दहराकाशे "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यादिश्रुतिषु उपलब्धेरयं दहराकाशः परमात्मा।।१६।।

(हिन्दी अनुवाद)

"अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय" इस श्रुति से अर्थात् यह जो आत्मा है, वही इन सब लोकों को धारण करने वाला सेतु है। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः एष सर्वेश्वर एष प्रकृत (इस अक्षर परमात्मा के शासन में रहकर सूर्य और चन्द्रमा जगत् को धारण किये हुए स्थित हैं (वृ॰३/८/९) दहर को ही जगत् का धारक कहने से भी दहराकाश ब्रह्म ही है। धृतिका अर्थ है जगत् का धारण वह परमात्मा की ही महिमा है, इस जगत् धारण रूप महिमा की दहराकाश में उपलब्धि का वर्णन "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" "एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" इत्यादि श्रुतियों में विद्यमान है। इसलिये यह दहराकाश परमात्मा है।।१६।।

प्रसिद्धेश्च ॥ १/३/१७ ॥

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता, यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्, आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादौ परमात्मन्येवाकाशशब्दस्य प्रसिद्धेश्च परमेश्वरधर्मविशेषितेनाकाशशब्देनैव भूताकाशशङ्का निराकृता।।१७।।

(हिन्दी अनुवाद)

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" "यदेष आकाशो आनन्दो न स्यात्" "आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा में ही आकाश शब्द की प्रसिद्धि है। यहाँ परमेश्वर के धर्मों का विशेष रूप से वर्णन होने के कारण भूताकाश की शङ्का निरस्त होती है।।१७।।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासम्भवात् ॥ १/३/१८ ॥

ननु यथा वाक्यशेषबलेन दहराकाशस्य परमात्मपरत्वमुक्तं तथा "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्मे"ति दहरवाक्यमध्य इतरस्य जीवस्यापि परामर्शात् आकाश शब्दस्यापि योगेन जीवे वृत्तिसम्भवाज्जीव एव दहरः स्यादिति चेन्न, कुतः?

असम्भवात् पूर्वोक्ताऽपहतपाप्मत्वादिगुणानां जीवेऽसम्भवात्।।१८।।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जैसे वाक्य शेष के बल से दहराकाश परमात्मपरक कहा गया है, उसी तरह "अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते एष आत्मेति होवाचैत दमृतमेतदभयमेतद्ब्रह्म" अर्थात् यह जो सम्प्रसाद है (जीव) वह इस शरीर से निकल कर परम ज्योति को प्राप्त हो अपने शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है, यह आत्मा है, यह अमृत है एवं अभय है और यही ब्रह्म है। उस ब्रह्म का नाम सत्य है। इस प्रकार दहर विद्या के मध्य में इतर जीव का भी परामर्श है तथा व्युत्पत्ति के योग से आकाश शब्द की जीव में भी वृत्ति संभव है, जीव ही दहर होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, अपहत पाप्मत्वादि गुणों का जीव में संभव नहीं है।।१८।।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १/३/१९ ॥

दहरविद्यात उत्तरस्माज्जीवपरात्प्रजापतिवाक्याज्जीवेऽप्यपहतपाप्मत्त्वादिगुणाष्टकमवगम्यते। अतः स एव दहराकाश इति निश्चीयते इति चेदिति तत्राह। आविर्भूतस्वरूपस्त्विति। तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। नेत्यनुवर्त्तते। नोत्तरस्मादपि वाक्यादिह जीवाशङ्का कार्या यतस्तत्र प्रजापतिवाक्येऽनादिकालप्रवृत्तपुण्यपापकर्ममूलजाग्रदाद्यवस्थाभिस्तिरोहितगुणाष्टकस्य परमात्मोपासनाजन्यतदुपपम्पत्त्याविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्यापहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयोपदेशो दहरवाक्ये तु नित्याविर्भूतस्वरूपगुणकस्य दहराकाशशब्दितपरमात्मनोऽपहतपाप्मत्वादिगुणवत्तयोपदेश इति। किञ्चाविर्भूतस्वरूस्यापि जीवस्य सेतुत्वसर्वजगद्विधरणत्वचेतनाचेतननियन्तृत्वासम्भवादपि न दहराकाशो जीवः शङ्क्यः।।१९।।

(हिन्दी अनुवाद)

दहर विद्या के आगे के जीव परक प्रजापति वाक्य से जीव के भी अपहत पाप्मत्वादि अष्ट गुण ज्ञात होते हैं, इसलिये जीव ही दहराकाश रूप में निश्चित होता है तो ऐसी शङ्का करने पर कहते हैं—"आविर्भूत स्वरूपस्तु" यहाँ तु शब्द शङ्का निरास के लिये है, न कि अनुवृत्ति होती है अर्थात् उत्तर वाक्य से भी यहाँ जीव की शङ्का नहीं की जा सकती, क्योंकि वहाँ प्रजापति वाक्य में अनादि काल से प्रवृत्त पुण्य-पाप फल मूलक, जाग्रत आदि अवस्थाओं से तिरोहित अष्टगुणों वाले जीव का परमात्मा की उपासना से आविर्भूत स्व स्वरूप वाले जीवात्मा में अपहत पाप्मत्व आदि गुण विशिष्ट रूप मे दहर वाक्य के जो उपदेश हैं, वह परमात्मा के ही उपदेश हैं। दूसरी बात सेतुत्व, जगद् विधारणत्व तथा चेतनाचेतन नियन्तृत्व आदि धर्मों का जीव में संभव नहीं होने से दहराकाश जीव नहीं हो सकता।।१९।।

यद्येवं तर्हि किमर्थं दहरवाक्ये जीवपरामर्श इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि ऐसी बात है तो दहर वाक्य में जीव का परामर्श क्यों है? इस पर कंहते हैं —

अन्यार्थश्च परामर्शः॥ १/३/२०॥

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इतिश्रुतेः पूर्वमविद्यातिरोहितापहत-पाप्मत्वादिगुणस्वरूपस्य जीवस्य परंज्योतिःशब्दितदहराकाशं प्राप्य स्वस्वरूपाविर्भावोभवतीति दहराकाशस्य जीवस्वरूपाविर्भावहेतुत्वप्रदर्शनार्थः प्रजापतिवाक्योक्तजीवपरामर्शः।।२०।।

(हिन्दी अनुवाद)

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते" इस श्रुति से पहले अविद्या के द्वारा तिरोहित अपहत पाप्मत्व आदि गुणों वाले जीव के परं ज्योतिः शब्द प्रतिपाद्य दहराकाश परमात्मा को पाकर स्व स्वरूप का आविर्भाव होता है। इस तरह दहराकाश में जीव के वास्तविक स्वरूप के आविर्भाव में हेतुत्व प्रदर्शनार्थ यहाँ प्रजापति वाक्य में जीव का परामर्श है।।२०।।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम्॥ १/३/२१॥

दहरोऽस्मिन्नित्यल्पत्वश्रुतेरणुपरिमाणकजीव एव दहरवाक्य उक्त इति चेत्तत्र यद्वक्तव्यं तत् "निचाय्यत्वादेवं व्योमवदि" त्यनेनैवोक्तम्।।२१।।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि यहाँ "दहरेऽस्मिन् आकाशे" इस वाक्य में सूक्ष्म शब्द का प्रयोग होने से अणुपरिमाण वाला जीव ही यहाँ दहर वाक्य में उक्त हुआ है तो ऐसा नहीं कह सकते, यहाँ जो कुछ वक्तव्य है, वह "निचाय्यत्वादेवं व्योमवत्" (१/२/६) इस सूत्र में ही कह दिया गया है।।२१।।

इतश्च जीवो न दहराकाश इत्याह—

(हिन्दी अनुवाद)

इस हेतु से भी जीव दहराकाश नहीं है यह कहते हैं—

अनुकृतेस्तस्य च॥ १/३/२२॥

चो नियोगे अनुकृतिस्तदनुकरणं तत्साम्यापत्तिरिति यावत्। तस्य दहराकाशस्य परमात्मनोऽनुकरणाज्जीवोऽपहतपाप्मत्वादिगुणकः, दहराकाशस्तु नित्याविर्भूततद्गुणाष्टकः अतः प्रजापतिनिगदितोऽनुकर्ता जीवो न दहरशब्दोदितानुकार्यब्रह्म भवितुमर्हतीति।।22।।

(हिन्दी अनुवाद)

च शब्द नियोग अर्थ में है। अनुकृति माने अनुकरण अर्थात् तत्साम्यापत्ति। उस दहराकाश परमात्मा के अनुकरण होने से जीव अपहत पाप्मत्वादि आठ गुणों वाला है, परन्तु दहराकाश तो नित्य अपहत पाप्मत्व आदि आठ गुणों से युक्त रहता है। अतः प्रजापति द्वारा प्रतिपादित अनुकर्ता जीव दहर शब्द प्रतिपादित अनुकार्य ब्रह्म नहीं हो सकता।।२२।।

अपितु स्मर्यते॥ १/३/२३॥

जीवस्य मुक्तदशायां परमात्मसाम्यापत्तिः स्मर्यते। "मम साधर्म्यमागता" इति। केचित्तु "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाती"ति वाक्ये "यं भान्तमनुभाति सर्वं यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति" स किन्तेजो? धातुः कश्चिदुत परमेश्वर? इति सन्दिह्य तेजःस्वभावानामेव सूर्यादीनां भानप्रतिषेधात्तत्सजातीयः कश्चित्तेजोधातुरिति पूर्वपक्षयित्वा प्राज्ञमात्मानं भान्तं सर्वेषां सूर्यादीनामनुभानात्। प्राज्ञ एव स इति सिद्धान्तेन सूत्रद्वयमिदमधिकरणान्तरम्प्रवृत्तिमिति मन्यन्ते तत्तु "ज्योतिश्चरणाभिधानादि" त्यादिष्वेव परमात्मनो भारूपत्वावगतेः "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" "द्युभ्वाद्यायतनमि" त्यधिकरणाद्वयेन तत्प्रकणस्य परमात्मपरत्वप्रतिपादनाच्च पूर्वपक्षानुत्थानात्सूत्राक्षरवैरूप्याच्चायुक्तमित्यन्ये वदन्ति।।२३।।

(हिन्दी अनुवाद)

जीवात्मा का मुक्त दशा में परमात्मा के साथ साम्यभाव स्मरण किया जाता है। जैसा कि गीता का वचन है-"मम साधर्म्यमागताः" अर्थात् मेरे साधर्म्य को प्राप्त होते हैं। कुछ कहते हैं कि "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् यस्य च भासा सर्वमिदं विभाति" अर्थात् उस परमात्मा के प्रकाशित होने से सब पदार्थ भासित होता है जिसके प्रकाश से सब भासित होता है, वह तेज कौन है? क्या कोई धातु है या परमात्मा? ऐसा सन्देह करके कहते हैं कि तेज स्वभाव वाले सूर्य आदि के भान का भी प्रतिषेध होने से यहां उसके सजातीय ही कोई तेजोमय धातु है, ऐसा पूर्वपक्ष करके कहते हैं कि प्राज्ञ आत्मा के प्रकाशित होने से ही सूर्य आदि के भान (प्रकाश) होने से प्राज्ञ ही वह है, इस सिद्धान्त से ये दो सूत्र अन्य अधिकरण के रूप में प्रवृत्त हैं, ऐसा मानते हैं परन्तु "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" (ब्र॰सू॰) इत्यादि अधिकरणों में ही परमात्मा की भास्वर रूपता की अवगति होने "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" "द्युभ्वाद्यायतनं शब्दात्" इन दो अधिकारणों से उस प्रकरण के परमात्म परक प्रतिपादन और पूर्वपक्ष के अनुत्थान एवं सूत्र के अक्षर के वैरूप्य होने से भी अयुक्त है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं।।२३।। अथ प्रमिताधिकरणम् अब प्रमित अधिकरण प्रारम्भ होता है।

शब्दादेव प्रमितः॥ १/३/२४॥

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट" इति कठवल्लीपाठे अङ्गुष्ठप्रमितो जीवः ? उत परमात्मेति सन्देहे "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप"इति। "श्वेताश्वतरश्रवणात् अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्षयमोबला" दिति वनपर्वस्मरणाच्च जीवस्यैवांगुष्ठमात्रत्वसम्भवात्सएवेति प्राप्ते राद्धान्तः। अंगुष्ठप्रमितः परमात्मैव। कुतः ? "शब्दादेव"। "ईशानो भूतभव्यस्ये"ति तद्वाचिशब्दादेव। नचेदृशमैश्वर्य्यं कर्मतन्त्रे जीवे सम्भवति।।२४।।

(हिन्दी अनुवाद)

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः, अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्ट" (क॰उ॰ २/१/१२) अर्थात् अङ्गुष्ठ के बराबर माप वाला परम पुरुष परमात्मा पुरुष शरीर के मध्यभाग (हृदय) में स्थित है। तथा अङ्गुष्ठ के बराबर माप वाला परम पुरुष धूम रहित ज्योति की भाँति एक रस है। "ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्यः सउविश्वः" (क॰ २/१/१३) (वह भूत, वर्तमान और भविष्य पर शासन करने वाला है) वह आज भी है और कल भी रहेगा। इस कठवल्ली पाठ में अङ्गुष्ठ प्रमित जीव है या परमात्मा ? ऐसा संदेह होने पर "प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरङ्गुष्ठ मात्रो रवितुल्यरूपः" अपने कर्म के अधीन होकर अङ्गुष्ठ मात्र प्राणाधिप पुरुष सञ्चरण करता है ? ऐसा श्वेताश्वतर उ॰ में श्रवण होने "अङ्गुष्ठ मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" अर्थात् अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष यम बलपूर्वक खींच लिया, इस वनपर्व के वाक्य से भी जीव में अङ्गुष्ठ मात्रत्व संभव होता है, अतः यहाँ अङ्गुष्ठ मात्र पदवाच्य जीवात्मा ही है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं–अङ्गुष्ठ मात्र पद वाच्य परमात्मा ही है। कैसे, तो कहते हैं–"शब्दादेव ईशानो भूत भव्यस्य" वह अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष भूत, भविष्य, वर्तमान का शासक है। इस श्रुतिवाक्य से अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष परमात्मा सिद्ध होता है। ऐसा ऐश्वर्य कर्माधीन जीव में संभव नहीं है।।२४।।

कथं तर्ह्यनवच्छिन्ने परमात्मनि प्रमितत्वश्रुतिरित्यत्राह–

(हिन्दी अनुवाद)

फिर कैसे अनवच्छिन्न परमात्मा में अङ्गुष्ठ प्रमितत्व श्रुति कहती है, इस पर कहते हैं–

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्॥ १/३/२५॥

तुर्नियोगे। अपरिच्छिन्नस्यापि तस्योपासनार्थमुपासकहृदि गतस्य तद्धृदयापेक्षयैवेद–

मङ्गुष्ठपरिमाणत्वम्। ननु प्राणिभेदेन हृदयमानभेदात्तदपेक्षयापि कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमिति चेत्तत्राह मनुष्येति सामान्यतः प्रवृत्तमपि शास्त्रं मनुष्याणामेवोपासकत्वार्थित्वादिसम्भवात् तानेवाधिकरोति तद्धृदयापेक्षयेदमुक्तम्। तेनगजादिहृदयानामनङ्गुष्ठमात्रत्वेऽप्यविरोधः जीवस्याप्यङ्गुष्ठमात्रत्वं तावद्धृदयान्तर्वर्त्तित्वात्तदपेक्षमेव न स्वरूपेण तस्याणुत्वश्रवणादिति स्थितम्।।२५।।

(हिन्दी अनुवाद)

'तू' यह यहाँ नियोग अर्थात् अवधारण अर्थ में है। उस अपरिच्छिन्न परमात्मा में भी उपासना के लिये अपेक्षा से ही अङ्गुष्ठ परिमाणत्व होता है। यदि कहें कि प्राणी भेद से हृदय के परिमाण में भी भेद हो जाने पर हृदय की अपेक्षा भी अङ्गुष्ठमात्रत्व कैसे संभव है तो कहते हैं—"मनुष्याधिकारत्वात्" यद्यपि शास्त्र सामान्यतः प्राणीमात्र के लिये प्रवृत्त होता है फिर भी मनुष्य ही उपासक एवं प्रयोजन वाला होता है, इसलिये शास्त्र उनको (मनुष्य को) ही लक्ष्य करके सब कुछ कहता है। इसलिये मनुष्य के हृदय की अपेक्षा करके ही कहा गया है-"अङ्गुष्ठमात्र।" इसलिये गज (हाथी) आदि के हृदय अङ्गुष्ठ से बड़ा होने पर भी कोई विरोध नहीं है। जीव में भी अङ्गुष्ठ मात्रत्व उसे हृदयान्तवर्ती होने से हृदय की अपेक्षया ही कहा गया है स्वरूपतः नहीं, क्योंकि स्वरूपतः तो जीव अणु माना गया है।।२५।।

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्॥ १/३/२६॥

शास्त्रस्य मनुष्याधिकारित्वात्तेषां ब्रह्मोपासनसम्भवेन तद्धृदयापेक्षयाङ्गुष्ठमात्र-श्रुतिर्ब्रह्मणि संगतार्थेत्युक्तं तत्प्रसंगेन देवानामपि ब्रह्मोपासनेऽधिकरोऽस्ति नवेति संशये तत्रेन्द्रादीनां मन्त्रमूर्त्तित्वेन देहादिमत्त्वाभावे सामर्थ्याद्यभावान्न देवादिषु ब्रह्मोपासनं सम्भवतीति प्राप्ते तत् ब्रह्मोपासनं मनुष्योपरिवर्तमानेषु देवादिष्वपि सम्भवतीति भगवान् बादरायणो मन्यते कुतः सम्भवात् स्वर्गादिभोगानामनित्यत्व-सातिशयत्वादिपर्यालोचनया मोक्षस्य च निरतिशयत्वपरमानन्दत्वशाश्वतत्वश्रवणेन तेष्वर्थित्वसम्भवः "यथेह कर्म्मचितो लोकः क्षीयते तन्महिमानमिति वीतशोकः" नारायणे सायुज्यमाप्नोतीत्या" दिश्रुतेः "न केवलं द्विजश्रेष्ठ नरकं दुःखपद्धतिः। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृति" रितिस्मृतेः। किञ्च नामरूपव्याकरणश्रुतेर्मन्त्रार्थ-वादेतिहासपुराणादिभ्यश्च तेषां विग्रहादिमत्वसम्भवः अन्तर्धानादिशक्तिमत्वाच्च न तत्प्रत्यक्षं नच मन्त्रादिजन्यज्ञानस्य मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यम्? बाधकप्रत्यक्षादिप्रमाणान्तराभावात्। किञ्च "विश्वानि देव वयुनानि विद्वानि" त्यादिमन्त्रैस्तेषु विग्रहवत्त्वसम्भवः प्रजापतिविद्यायामिन्द्रविरोचनयोर्जिज्ञासुत्वश्रवणादपि "तद्योयो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेमृत" मित्याद्याकारविधायक-प्रमाणसद्भावाच्च तत्राप्यङ्गुष्ठमात्रश्रवणं स्वाङ्गुष्ठापेक्षया न विरुद्धमिति।।२६।।

(हिन्दी अनुवाद)

शास्त्र का मनुष्य ही अधिकारी है। उसके द्वारा ही ब्रह्म की उपासना संभव है। इसलिए मनुष्य की हृदय की अपेक्षा से ब्रह्म में अङ्गुष्ठ मात्र श्रुति संगत होती है–ऐसा कहा गया। इसी प्रसंग में यह संशय उपस्थित होता है कि देवताओं को ब्रह्म की उपासना में अधिकार है या नहीं। ऐसा संशय होने पर पूर्व पक्ष होता है कि इन्द्र आदि देवता मन्त्र मूर्ति होते हैं, उनका देह आदि नहीं होता और देह आदि के अभाव में उपासना की सामर्थ्य नहीं होने से देवता आदि को ब्रह्मोपासना का अधिकार नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर भगवान् बादरायण कहते हैं कि ब्रह्म उपासना मनुष्यों के ऊपर देवलोक में निवास करने वाले देवताओं में भी संभव है क्योंकि 'सम्भवात्' क्योंकि स्वर्गादि भोगों में अनित्यत्व, सातिशयत्व आदि का विचार करने तथा मोक्ष में निरतिशयत्व, परमानन्दत्व तथा शाश्वतत्व श्रवण से उनमें मोक्षार्थित्व संभव है—जैसा कि श्रुतिवचन है—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते' 'तन्महिमानमिति वीतशोकः' अर्थात् जैसे लोक में कर्म द्वारा सञ्चित लोक का क्षय होता है। शोकरहित होकर उसकी महिमा को प्राप्त करता है। नारायणे सायुज्यमाप्नोति इत्यादि श्रुतिवचन है, और भी कहा है–"न केवलं द्विजश्रेष्ठ नरकं दुःख पद्धति। स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः।" अर्थात् हे द्विजश्रेष्ठ ! केवल नरक ही दुःख नहीं है, अपितु विनाशशील स्वर्ग में पतन का भय रहता है, ऐसा स्मृति वचन है। दूसरी बात नाम, रूप तथा व्याकरण श्रुति एवं मन्त्र, अर्थवाद तथा इतिहास पुराणादि वचनों से देवताओं का विग्रह (शरीर) सिद्ध होता है और उनमें अन्तध ार्न आदि शक्ति होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। मन्त्रादिजन्य ज्ञान को मिथ्या नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें बाधक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणान्तर का अभाव है। बल्कि "विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्" इत्यादि मन्त्रों द्वारा देवताओं में विग्रहधारित्व संभव है। प्रजापति विद्या में इन्द्र और विरोचन में जिज्ञासुत्व श्रवण से भी "तद्यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत्तथर्षीणां तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासते" इत्यादि मन्त्रों में देवताओं के आकार समर्थक प्रमाणों के सद्भाव होने से उनमें भी अङ्गुष्ठ मात्रका निज अङ्गुष्ठ की अपेक्षा विरुद्ध नहीं है।।२६।।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ १/३/२७ ॥

देवादीनां विग्रहवत्त्वे कर्म्मणि यागादावेकस्य युगपदनेकयागेषु सन्निधानानुपपत्तेर्विरोधः स्यादिति चेन्न, कुतः अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् शक्तिमत्सु सौभर्य्यादिषु युगपदनेकशरीरप्रतिपत्ति–दर्शनात्। योगशास्त्रे च "आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ! योगी कुर्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्।। प्राप्नुयाद्विषयान्कैश्चित्कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिवे" ति।।२७।।

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि देवता आदि में विग्रह मानने पर याग आदि कर्मों में एक देवता का एक

काल में अनेक यागों में सन्निधान संभव नहीं होने से विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। देवताओं में एक काल में अनेक रूप धारण देखा गया है। शक्तिशाली सौभरि आदि ऋषियों में एक काल में अनेक शरीर धारण देखा गया है। योग शास्त्र में कहा गया है कि "आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ। योगी कुर्याद बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्" अर्थात् योगीजन एक ही काल में अनेक शरीर धारण कर उन शरीरों द्वारा पृथ्वी पर विचरण करें, आगे कहा—"प्राप्नुयात् विषयान् कैश्चिद् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्। संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिन" अर्थात् अनेक शरीर धारण कर कतिपय शरीरों द्वारा विषय भोग करे तथा अन्य शरीर से घोर तपश्चर्या करे और बाद में सूर्य जैसे अपनी रश्मियों को संक्षिप्त कर लेते हैं, उसी तरह उन शरीरों को संकुचित कर ले।।२७।।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ १/३/२८॥

विरोध इत्यनुवर्त्तते। देवादीनां विग्रहवत्त्वेऽप्युक्तहेतोर्न कर्म्मणि विरोधः वैदिकशब्दे तु स स्यादेव, विग्रहयोगे हि सावयवत्वेनास्मदादिवत्तेषामपि जननमरणयोगादनित्यत्वम् दुर्वारं ततश्चेन्द्राद्यर्थोत्पत्तेः पूर्वत्र तद्विनाशात्परत्रचेन्द्रादिवाचकवैदिकशब्दानामर्थ-शून्यत्वमनित्यत्वं वा स्यात्। तथात्वे च नित्यः शब्दो नित्येनार्थेन नित्यसम्बन्धवत्तया प्रतीयते इति वैदिके शब्दे यन्नित्यत्वं पूर्वतन्त्र उक्तं तद्विरुद्धं स्यादिति चेन्न, "कुतोऽतः प्रभवात्" अतोवैदिकादेव नित्यतत्तदाकृतिवाचकादिन्द्रादिशब्दादिन्द्राद्यर्थस्य प्रभवात्। प्रजापतिर्हि पूर्वदेवादिव्यक्तौ विनष्टायां वैदिकाद्देवाद्याकृतिविशेषवाचकाच्छब्दाद्देवाद्याकृतिविशेषं मनसिकृत्य तत्तदाकारमपरं देवादिकं कुलालादिरिव घटादिकं सृजतीति वैदिकशब्दस्य न कश्चिद्विरोधः। नहि चैत्रदेवदत्तडित्थादिशब्दवत्केवलव्यक्तिवचनाः अर्थानन्तरभाविनः सांकेतिकाः देवादिशब्दाः प्रवृत्ता अपितु गवादिशब्दवद्व्यक्तिप्रभवहेतुत्वेन प्रागेव विद्यमानाः स्थूलसूक्ष्मभावेनानु-स्यूतव्यक्त्यविनाभूताकृतिवाचकाः। जातिमतां हि व्यक्तय उत्पद्यन्ते न जातयो जातिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिर्व्यक्तीनामानन्त्यात्सम्बन्धग्रहणानुपपत्तेः। एवं च देवादिव्यक्तिषूत्पद्यमानास्वपि गवादिशब्देष्विवाकृतीनां नित्यत्वान्नित्य एव तेषां वाचकभावः। इन्द्रादिव्यक्तेरेकत्वेऽप्यतीतानागतव्यक्तिभेदेन जात्युपपत्तेः। वैदिकात्तत्तच्छब्दात्तत्तदर्थविशेषं स्मृत्वा सृजतीति कुतोऽवगम्यते? "प्रत्यक्षानुमानाभ्यां" प्रत्यक्षं श्रुतिर्निरपेक्षत्वात्। अनुमीयमानश्रुतिसापेक्षत्वादनुमानं स्मृतिः। श्रुतिस्तावत् "वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सता सती प्रजापतिः" तथा "स भूरितिव्याहरत् स भूमिमसृजत स भुव इतिव्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत" इत्यादिः। स्मृतिरपि "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।। नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।। सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे" इत्यादिका वाचकशब्दपूर्विकां सृष्टिं दर्शयति।।२८।।

(हिन्दी अनुवाद)

विरोध की अनुवृत्ति होती है। देवता आदि में विग्रह मानने पर उक्त हेतु से कर्म में विरोध नहीं है। वैदिक शब्द में तो वह होगा ही। विग्रहका योग मानने पर सावयव होने से हम लोगों की तरह उनमें भी जन्म-मरण आदि का योग होने से अनित्यत्व दुर्वार हो जायेगा।

तब इन्द्र आदि अर्थों की उत्पत्ति से पूर्व उसके विनाश के कारण अन्यत्र इन्द्र आदि के वाचक वैदिक शब्दों में अर्थ शून्यत्व वा अनित्यत्व हो जायेगा और ऐसा होने पर शब्द नित्य है-वह नित्य अर्थ के साथ नित्य सम्बद्ध रूप में प्रतीत होता है-इस प्रकार वैदिक शब्द में जो पूर्वतन्त्र (मीमांसा) में नित्यत्व कहा गया है, वह विरुद्ध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते-"कुतोऽतः प्रभवात्" अर्थात् नित्य तत् तत् आकृति वाचक इन्द्र आदि वैदिक शब्द से ही इन्द्र आदि अर्थ की उत्पत्ति होती है। प्रजापति पूर्व देवता आदि व्यक्ति के विनष्ट होने पर देवादि आकृति विशेष वाचक वैदिक शब्द के द्वारा देवादि की आकृति विशेष का मन में ध्यानकर तत् तत् आकार के दूसरे देवता आदि की कुलाल आदि जैसे घट आदि की सृष्टि करता है, उसी तरह सृष्टि करता है, इस प्रकार वैदिक शब्द से कोई विरोध नहीं है। क्योंकि चैत्र, देवदत्त तथा डित्थ आदि शब्दों की तरह अर्थ के अनन्तर होने वाले साङ्केतिक व्यक्तिवाची देवादि शब्द प्रवृत्त नहीं होते, अपितु गो आदि शब्दों की तरह व्यक्ति की उत्पत्ति का हेतु होने से पहले से ही विद्यमान होकर स्थूल सूक्ष्म भाव से अनुस्यूत व्यक्ति के बिना न रहने वाली आकृति के वाचक हैं। जातिमान् व्यक्ति की ही उत्पत्ति होती है जाति की नहीं। जातियों के साथ शब्द का सम्बन्ध है, न कि व्यक्तियों के साथ क्योंकि व्यक्ति अनन्त है-उनके साथ सम्बन्ध ग्रहण की उपपत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार देव आदि व्यक्तिओं की उत्पत्ति होने पर भी गो आदि शब्दों में जैसे आकृतियों का नित्य सम्बन्ध है, इसलिए नित्य ही उनका वाचक भाव है। इन्द्र आदि व्यक्ति के एक होने पर भी अतीत अनागत व्यक्ति भेद से जाति की उपपत्ति हो जायेगी। तत् तत् वैदिक शब्द से तत् तत् अर्थ विशेष का स्मरण करके सृष्टि करते हैं-ऐसा कैसे जानते हैं, तो कहते हैं "प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"। प्रत्यक्ष का अर्थ है-श्रुति क्योंकि वह (श्रुति) निरपेक्ष होती है। स्मृति अनुमीयमान श्रुति सापेक्ष होने से स्मृति अनुमान कहलाते हैं। श्रुति-"वेदेन नामरूपे व्याकरोत् सता सती प्रजापतिः।" तथा "स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत, स भुव इति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत" इत्यादि। स्मृति भी प्रमाण है-'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः'। 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।' सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्। वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे" इत्यादि प्रमाणों द्वारा शब्द पूर्वक सृष्टि का समर्थन होता है।।२८।।

अतएव नित्यत्वम् ॥ १/३/२९ ॥

अत एव प्रजापतिसृष्टेः शब्दपूर्वकत्वादेव शब्दमयस्य वेदस्य नित्यत्वम्। विश्वामित्रेण प्रोक्तं वैश्वामित्रं सूक्तम्। कठेन प्रोक्तं काठकमित्यादिनिर्वचनं तु तत्तदुच्चारितमात्रविषयम् प्रजापतिर्हि प्रलयानन्तरं "मन्त्रकृतो वृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तं भवती"त्यादिवेदस्थविश्वामित्रादिशब्दैस्तत्तदाकृतिशक्त्यादिकं विचिन्त्य तत्तदाकारांस्तत्तच्छक्तियुक्तांस्तान् निर्माय तत्तन्मन्त्रादिप्रकाशने विनियुङ्क्ते। तेऽपि तदाहितशक्तयस्तत्तदनुगुणं तपस्तप्त्वा नित्यसिद्धान् पूर्वपूर्वविश्वामित्रादिप्रकाशितान्वेदैकदेशभूतमन्त्रादीननधीत्येव स्वरतो वर्णतश्चास्खलितान्पठन्तीति तेषां मन्त्रादिकृत्वेपि वेदनित्यत्वमुपपन्नम्।।२९।।

(हिन्दी अनुवाद)

प्रजापति की सृष्टि शब्द पूर्वक होने से शब्दमय वेद नित्य है। विश्वामित्रेण प्रोक्तम् वैश्वामित्रं सूक्तम्–इसी प्रकार कठेन प्रोक्तम् काठकम् इत्यादि निर्वचन तत् तत् ऋषियों द्वारा उच्चारित तात्पर्य से किया गया है अर्थात् विश्वामित्र या कठ द्वारा कथित का अर्थ है–इन ऋषियों द्वारा सर्वप्रथम उच्चारित न कि इन ऋषियों द्वारा रचित। आशय यह है कि प्रजापति ने प्रलय के अनन्तर "मन्त्रकृतो वृणीते विश्वामित्रस्य सूक्तम् भवति" इत्यादि वेदस्थ विश्वामित्र आदि शब्दों से विश्वामित्र आदि की आकृति शक्ति आदिका चिन्तन कर तादृश तादृश शक्तियुक्त विश्वामित्रादि आकार युक्त विश्वामित्र आदि का निर्माणकर तत् तत् मन्त्र सूक्त आदि के प्रकाशन के नियुक्त करते हैं। विश्वामित्र आदि उस प्रजापति द्वारा आहित शक्ति होकर तत् तत् कार्य के अनुरूप तपस्या कर पूर्व-पूर्व विश्वामित्र आदि द्वारा प्रकाशित नित्य सिद्ध वेदैकदेश भूत मन्त्र सूक्त आदि बिना पढ़े ही स्वर तथा वर्ण से अस्खलित नये मन्त्रों को पढ़ते हैं। इस प्रकार विश्वामित्र आदि में उक्त रूप से मन्त्र कर्तृत्व होने पर वेद निष्ठ नित्यत्व उत्पन्न होता है।।२९।।

स्यादेवं नैमित्तिकप्रलये प्राकृतप्रलये तु प्रजापत्याद्यव्याकृतान्तसर्वतत्त्वस्याव्याकृतपरिणामरूपशब्दमयवेदस्य च विनाशोक्तेरव्याकृतसृष्ट्यावृत्तौ कथं वेदस्य नित्यत्व मिति चेत्तत्राह–

(हिन्दी अनुवाद)

पुनः प्रश्न उठता है कि नैमित्तिक प्रलय में प्रजापति सुप्तोत्थित न्याय से वेद द्वारा तत् तत् आकृति को जानकर पूर्व कल्पानुसार सृष्टि करते हैं। यह उपपन्न होता है किन्तु प्राकृत प्रलय में आ ब्रह्म स्तम्भ पर्यन्त समस्त प्रपञ्चका विनाश हो जाने से तदन्तर्गत वेदों का भी विनाश मानना पड़ेगा, तब वेद का सृष्टि पूर्व वर्तित्व किस प्रकार होगा तथा उसमें किस प्रकार नित्यत्व होगा एवं किस प्रकार जगत् को वेद शब्द जन्यत्व कहना संभव होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं–

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥१/३/३०॥

चशब्दः शङ्कानिरासार्थः। आवृत्तावपि महाप्रलयावसाने प्रथमसृष्टावपि न विरोधः। कुतः ? समाननामरूपत्वात् कल्पादौ सृज्यमानपदार्थानां कल्पान्तरातीतैः पदार्थैस्तुल्याह्वा-संस्थानादिमत्त्वात्। अयम्भावः-प्राकृतप्रलये भगवान् श्रीपुरुषोत्तमः भोक्तृभोग्यजातं सर्वं विश्वं संहृत्य सूक्ष्मतया स्वस्मिन् संस्थाप्य सशक्तिकस्तूर्ष्णी भूत्वास्ते स्म। तदा वेदास्तद्वाच्यास्तत्तदाकृतयश्च नित्यास्तस्मिन्नेकीभूय तिष्ठन्ति। प्रलयावसाने च सर्वज्ञो भगवान् पूर्वसंस्थानं विश्वं विचिन्तयन् बहुस्यामिति संकल्पपूर्वकं स्वस्मिन्सूक्ष्मशक्त्यात्मना प्रलीनं भोक्तृभोग्यजातं विभज्य महदादिचतुर्मुखपर्यन्तमण्डं पूर्ववत्सृष्ट्वा वेदांश्च पूर्वानुपूर्वीविशेषसंस्थायुक्तान्प्रकटीकृत्य ब्रह्मणे तान्मनसोपदिश्य पूर्ववद्देवाद्याकारविश्वसृष्टौ तं नियुज्य स्वयं च तदन्तरात्मतयाऽवतिष्ठते। ब्रह्मापि तदनुग्रहलब्धवीर्यस्तैर्वेदशब्दैस्तत्तदा-कृतीर्विमृश्य कुलालः पूर्वतुल्यान् घटादीनिव देवादीन्सृजतीति। एतदेव हि वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च। यत्पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वमिति। कुत इदमवगम्यत इति चेत्तत्राह "दर्शनात्स्मृतेश्च" दर्शनं श्रुतिस्तावत्। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पय"दित्यादिका। स्मृतिरपि "तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत। तस्मिन्पद्मेमहाभाग वेदवेदांगपारगः।। ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजाः सृज महामते। यथर्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये दृश्यन्ते तानितान्येव तथाभावायुगादिषु। ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः। तथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।। देवा देवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव चे" त्येवमादिका। अतो देवादीनामप्यर्थित्वादिसम्भवात् ब्रह्मविद्याधिकारे न कश्चिद् विरोधः।।३०।।

इति देवताधिकरणम्।।८।।

(हिन्दी अनुवाद)

सूत्र में 'च' पूर्व शङ्का निवृत्यर्थ है, अपि शब्द संभावना में है। अभिप्राय यह है कि प्राकृत सृष्टि, प्रलय प्रवाह रूप आवृत्ति अर्थात् महाप्रलय के अनन्तर प्रथम सृष्टि में भी वेद नित्यत्व में कोई विरोध नहीं है। कैसे ? तो उत्तर देते हैं—"समान नाम रूपत्वात्" अभिप्राय यह है कि प्राकृत प्रलय काल में भगवान् वासुदेव, जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गों का अपने में उपसंहार करता है, उसी प्रकार अपने चित् अचित् शक्तिमय पृथिव्यादि अव्यक्तान्त समस्त कार्यजात का समाहरण कर 'विपर्यये क्रमो न उपपद्यते' इस वक्ष्यमाण सूत्रानुसार सृष्टि प्रतिलोम क्रम से अपने में संस्थापित कर अपने असाधारण नित्य अनन्त स्वाभाविक गुण गणों का एक मात्र आश्रय तथा चेतना चेतन शक्ति युक्त होता हुआ भी महाप्रलय में उपहृत क्रीड़ोपकरणों को बालक की भाँति (जैसे बालक खेल के अवसान में अपने समस्त क्रीड़ा के उपकरणों को अपने पास रख लेता है) अपने पास रखकर महाप्रलय में विराजमान रहते हैं।

उस समय वेद एवं वेद वाच्य ब्रह्मादि स्तम्भ पर्यन्त समग्र आकृति उस परमात्मा में एकीभूत होकर रहती है। इस प्रकार वेद एवं तद्वाच्य सकल जगत् चित् अचित् शक्ति युक्त परब्रह्म श्रीवासुदेवाख्य सद सदात्मक परम कारण में सत् होकर ही रहते हैं, न कि उसका विनाश होता है-जैसा कि श्रुतिवचन है-"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (अर्थात् यह नाम रूपात्मक जगत सृष्टि से पूर्व सद् रूप ही था) सत् ब्रह्म रूप कारण में अभिन्न शक्ति रूप में अवस्थित था (जैसे कच्छप अपने अङ्गों को अपने भीतर समेटकर रख लेता है और कच्छप के अंग उसके भीतर उससे अभिन्न रूप में, अनभिव्यक्त रूप में स्थित रहता है) अर्थात सदाख्य कारण से अनन्य ही था। वह सत् पद वाच्य कारण एक ही अद्वितीय था। यहां सदेव श्रुति में एवकार तथा अद्वितीय शब्द से सद् रूप परम कारण ब्रह्म में समानातिशय शून्यत्व बोधन किया जाता है। उसमें चित् अचित् शक्ति के आश्रय होने से शक्ति रूप में अनेकत्व भी है, जो स्वाभाविक है। इनमें स्वाभाविक भेदाभेद है।[1] कार्यों की सूक्ष्म रूप से कारण में स्थिति प्रलय कहलाता है तथा सूक्ष्मभूत कार्य के अभिव्यक्ति करण मात्र ही सृष्टि शब्द से अभिप्रेत होता है।

प्रलय के पश्चात् पुनः सर्वज्ञ सर्ववेत्ता भगवान् 'एकोऽहं बहुस्याम्' (एक से मैं बहुत हो जाऊं) इत्याकारक संकल्प पूर्वक अपने में सूक्ष्म शक्ति रूप में प्रलीन भोक्तृ भोग्य जात रूप चेतनाचेतन प्रपञ्च का विभाजन कर महत्तत्व से चतुर्मुख ब्रह्मा पर्यन्त ब्रह्माण्ड का पूर्वकल्प की भाँति देव मनुष्याद्याकारक विश्व सृष्टि निर्माण कर स्वयं उन सबके भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान रहते हैं-"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (उन सबकी रचनाकर उसी में प्रविष्ट हो गया)। ब्रह्मा भी परमेश्वर के अनुग्रह से शक्ति सम्पन्न होकर तत् तत् वेद मन्त्रों के अनुसार तत् तत् स्रष्टव्य देवादि वस्तुओं की आकृति का विमर्श कर देवता आदि की सृष्टि करते हैं। इस लिए महाप्रलय के अनन्तर सृष्टि में भी उक्त विरोध नहीं। यही वेद का अपौरुषेयत्व है। क्योंकि वेद परब्रह्म की भाँति नित्य सिद्ध है। वेद निष्ठ नित्यता का अर्थ है-पूर्व-पूर्व उच्चारण क्रम से जनित संस्कार के द्वारा उसी क्रम विशेष का स्मरण कर उसी क्रम से पुनः उसका उच्चारण होना, यह बात कैसे जानी जाती है तो इसके उत्तर में कहते हैं-'दर्शनात् स्मृतेश्च' दर्शन का अर्थ है-श्रुति। हृदय तिमिर का निःशेष रूप से नाशक होने से दर्शन शब्द से श्रुति अभिप्रेत है-"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" जो ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं तथा उन्हें वेद का उपदेश देते हैं, उसी आत्म प्रकाशक परम देव (भगवान् श्रीकृष्ण) की शरण में मैं मुमुक्षु होकर जाता हूँ। इसी प्रकार "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" अर्थात् ब्रह्मा ने पूर्व-पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग

१- स्वाभाविक भेदाभेद या द्वैताद्वैत का परिष्कार हमारे गुरुदेव नित्यलीलालीन पं० भगीरथ झा जी ने द्वैताद्वैत विवेक नामक ग्रन्थ में अकाट्य युक्तियों से किया है। उनके वेदान्त तत्त्व समीक्षा, श्रीयुग्मतत्त्व समीक्षा एवं भगवत्तत्व सुधानिधि आदि समस्त दार्शनिक उपासना ग्रन्थ स्वाभाविक भेदाभेद वाद के अनुसार ही लिखे गये हैं। जो विद्वानों के लिए द्रष्टव्य है। (सं)

आदि का सर्जन किया। स्मृतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं—

तत्र सुप्तस्य देवस्य नाभौ पद्ममजायत
तस्मिन् पद्मे महाभाग वेद वेदाङ्गपारगः
ब्रह्मोत्पन्नः स तेनोक्तः प्रजा सृज महमते
यथर्तावृतु लिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावयुगादिषु
ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो दयात्यजः
तथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह

अर्थात् नाग पर्यङ्क पर सुप्तदेव (शेषशायी भगवान्) श्रीनारायण की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ। हे महाभाग उस पद्म में वेद वेदाङ्ग पारग ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। ब्रह्माजी को भगवान् ने कहा–'महामते ! आप प्रजाकी सृष्टि करें। तब ब्रह्मा जी ने सृष्टि की। उस सृष्टि में पूर्व पूर्व ऋतु के अनुसार ही उत्तरोत्तर वसन्त आदि ऋतुओं में तत् ऋतुओं के लक्षण स्वरूप आम्र आदि के मञ्जरी प्रकट होते हैं—काश पुष्प आदि शरद् ऋतु के चिन्ह नहीं। उसी प्रकार पूर्व–पूर्व कल्प, मन्वन्तर युग आदि के अनुसार ही प्रलय के बाद कल्प, मन्वन्तर युगादि में वे भाव प्रकट होते हैं, ऋषि आदि के नामधेय तथा वेद में दृष्टि–यथा विश्वामित्र को गायत्री दर्शकत्व आदि सब पूर्व–पूर्व कल्पानुसार ही उत्तर–उत्तर कल्पों में प्रलय के अनन्तर प्रसूत ऋषि आदि को ब्रह्माजी प्रदान किया करते हैं। जैसे अग्नि, वायु आदि अभिमान युक्त अग्नि वायु आदि पूर्व कल्प में थे, वे सब वर्तमान कल्पीय देवताओं के तुल्य ही थे और वर्तमान कल्पीय देवता भी पूर्व–पूर्व कल्पानुसारी देवताओं के रूप एवं नामों से तुल्य ही हैं इत्यादि। इस प्रकार देवताओं में भी मोक्ष की इच्छा होने तथा ब्रह्म विद्या में उपयुक्त सामर्थ्य होने से उनको भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है, यह सिद्ध होता है।।३०।।

इस प्रकार देवताधिकरण पूरा हुआ।

(छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे अध्याय में प्रथम से लेकर ग्यारहवें खण्ड तक मधुविद्या का प्रकरण है। वहां सूर्य को देवताओं का मधु बताया है। मनुष्यों के लिए साधना द्वारा प्राप्त होने वाली वस्तु देवताओं को स्वतः प्राप्त है। इस कारण देवताओं के लिए मधुविद्या अनावश्यक है। अतः उस विद्या में उनका अधिकार मानना संभव नहीं है। इसी प्रकार स्वर्गादि देवलोक के भोगों की प्राप्ति के लिए जो वेदों में यज्ञादि के द्वारा देवताओं की सकाम उपासना का वर्णन है, उसका अनुष्ठान भी देवताओं के लिए अनावश्यक होने के कारण उनके द्वारा किया जाना संभव नहीं है। अतएव उसमें उनका अधिकार नहीं है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जैसे मनुष्यों के लिए यज्ञादि कर्म द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति कराने वाली वेद वर्णित विद्याओं में देवताओं का अधिकार नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्या में भी उनका अधिकार नहीं है, ऐसा आचार्य जैमिनि कहते हैं)।

अथ मध्वाधिकरणम्

मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः ॥ १/३/३१ ॥

देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारः प्रसाधितः। इदानीं "असौ वा आदित्योदेवमध्वि" त्यादिना छान्दोग्योक्तमध्वादिषु विद्यासु देवा एवोपास्यास्तासु तेषामधिकारोऽस्ति नवेति? संशये जैमिनिराचार्यस्त्वनधिकारं मन्यते। कुतः "असम्भवात्" आदित्यवस्वादीनामुपास्यान्तर्गतानामुपासकत्वासम्भवात् प्राप्तृत्वादेव वसुत्वादेः प्राप्यत्वासम्भवाच्च। नहि वस्वादिभिरुपास्या आदित्यवस्वादयोऽन्ये सम्भवन्ति। मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवाच्च।।३१।।

(हिन्दी अनुवाद)

वे०कौ०प्रभा—देवता आदि का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है, यह देवताधिकरण द्वारा सिद्ध किया गया। अब "असौ वा आदित्यो देव मधु" इत्यादि मन्त्रों द्वारा छान्दोग्य उपनिषत् में प्रतिपादित मधु आदि विद्याओं में देवता ही उपास्य है। फिर उनमें उनका अधिकार है या नहीं, ऐसा संशय होने पर जैमिनि आचार्य अधिकार नहीं मानते। क्योंकि 'असंभवात्' अर्थात् आदित्य (सूर्य) वसु आदि देवताओं के उपास्य कोटि में आ जाने से उनमें उपासकत्व संभव नहीं है। उनमें प्राप्तृत्व होने से प्राप्यत्व संभव नहीं है। वसु आदि देवताओं द्वारा अन्य कोई उपास्य आदित्य वसु आदि संभव नहीं है। मधु विद्या का फल है, वसु आदि देवतात्व की प्राप्ति है। अर्थात् मधुविद्या के अनुसार उपासना करने पर मनुष्य सूर्य तथा वसु आदि देवता बन जाता है। जो वसु या सूर्य बना ही हुआ है, वह उसका अर्थी क्यों होगा? जब अर्थी नहीं होगा तो अधिकार कैसे होगा[1]? (इसलिए अर्थित्वाभाव होने से उसमें मधु विद्या में अधिकार नहीं) परन्तु ब्रह्म विद्या तो देवताओं को भी अभीष्ट है-अतः उसमें देवताओं का भी अधिकार है॥३१॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ १/३/३२ ॥

"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतमि"ति श्रुतेर्ज्योतिषि परस्मिन्ब्रह्मणि देवानामुपासकत्वेन भावाच्च न मधुविद्यास्वधिकारः। ब्रह्मोपासनस्य देवमनुष्योभयसाधारणत्वेऽपि ज्योतिषां ज्योतिः परं ब्रह्म देवा उपासते इति विशिष्य कथनं वस्वादिदेवानां ब्रह्मेतरोपासननिवृत्तिं द्योतयति।।३२।।

(हिन्दी अनुवाद)

"तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इस श्रुति से ज्योति स्वरूप परब्रह्म परमात्मा में देवताओं के उपासक होने से मधुविद्या में उनका अधिकार नहीं है। ब्रह्मोपासना में देवता एवं मनुष्य दोनों का स्वतन्त्र रूप से अधिकार होने पर भी "ज्योतिषां ज्योतिः परं

१– कुछ लोग इस सूत्र द्वारा देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है–ऐसा आचार्य जैमिनि का मत है–ऐसा मानते है जबकि इस सूत्र द्वारा केवल मधु विद्या में देवताओं के अधिकार का खण्डन है। उपनिषदों के समान उपासना भी है जैसे मधुविद्या। इस उपासना से सूर्यादि लोक की प्राप्ति कही गई है। (सं)

ब्रह्म देवाः उपासते" अर्थात् ज्योतियों में भी ज्योति पर ब्रह्म की देवता उपासना करते हैं, इस प्रकार विशेष रूप से कथन वसु आदि देवताओं के लिये ब्रह्म से इतर की उपासना का निषेध करता है।।३२।।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥१/३/३३॥

तुः पूर्वपक्षव्यावर्त्तकः। मध्वाद्युपासनास्वपि वस्वादीनां भावमधिकारसद्भावं भगवान् वादरायणो मन्यते। हि यत आदित्यादीनामपि सतामिह स्वान्तर्यामिब्रह्मोपासनेन कल्पान्तरेऽप्यादित्यवसुत्वादिप्राप्तिपूर्वकब्रह्मलिप्सासम्भवोऽस्ति। तथाचात्र कार्यकारणोभयावस्थ-ब्रह्मोपासनस्य विधीयमानत्वाद्वस्वादित्यादिशब्दानां स्वान्तर्यामिब्रह्मपर्यन्तत्वेन वस्वादीनामेवोपास्यत्वं, प्राप्यत्वं च सम्भवतीति। "य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेदे"त्युपसंहारस्य वस्वादिशब्दानां ब्रह्मपर्यन्तत्वे मानत्वात्। एवं च मध्वाद्युपासनास्वपि ब्रह्मण एवोपास्यत्वात्। "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिरि"तिश्रुतिरपि संगता। नच मधुविद्याफलस्य वसुत्वादिप्राप्तेः सिद्धत्वेनार्थित्वासम्भवः। लोके धनिनामेव सतां जन्मान्तरे धनादिप्रेप्सादर्शनात्।।३३।। इति मध्वधिकरणम्।।

(हिन्दी अनुवाद)

'तु' शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है। मधु आदि उपासनाओं में वसु आदि देवताओं का अधिकार भगवान् बादरायण मानते हैं। क्योंकि वसु आदि देवताओं को अभी जो आदित्य वस्वादि भाव प्राप्त है, उनको भी अपने-अपने अन्तर्यामी ब्रह्मोपासना द्वारा कल्पान्तर में भी आदित्य वस्वादि भाव प्राप्ति की लिप्सा है। इस प्रकार मधु आदि विद्यामें कार्य-कारणोभय अवस्थापन्न ब्रह्मोपासना का विधान होने से आदित्य वस्वादि शब्द को आदित्य वस्वादि अन्तर्यामी ब्रह्म पर्यवसायित्व होने से आदित्य वस्वादि को ही उपास्यत्व और प्राप्यत्व दोनों संभव है। "य एतां ब्रह्मोपनिषदं वेद"। जो इस ब्रह्मोपनिषद् की उपासना करता है इस उपसंहार वाक्य का ही वसु आदि शब्दों के ब्रह्म पर्यन्तत्व (पर्यवासित्व) होने में प्रमाणत्व है। इस प्रकार मधु आदि विद्याओं में ब्रह्म को ही उपास्य होने से "तद् देवा ज्योतषां ज्योतिः" इत्यादि श्रुतियां भी संगत् होती हैं। यदि कहें कि मधु विद्याका फल वसु आदि भावों की प्राप्ति है, वह तो वसु आदि देवताओं को प्राप्त ही है, तब उनमें अर्थित्व संभव नहीं, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि संसार में धनवान् होने पर भी धनिकों की जन्मान्तर में पुनः धनवान् होने की लिप्सा देखी जाती है। इस लिए मधु आदि विद्याओं में भी देवताओं का अधिकार सिद्ध है॥३३॥ इस प्रकार मधुअधिकरण पूरा हुआ।

अथ अपशूद्राधिकरणम्

अब अपशूद्राधिकरण प्रारम्भ होता है

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥१/३/३४॥

श्रुतौ देवशब्दोक्त्या देवानामप्यधिकारो यथोक्तस्तथा "अहहहारेत्वा शूद्र ! आजहारेमाः शूद्र" इत्यादौ शूद्रशब्दोक्त्या शूद्रस्याप्यधिकारः सम्भाव्यते, अर्थित्वसामर्थ्ययोः सम्भवात्।

तस्य ब्रह्मस्वरूपतदुपासनप्रकारज्ञानं चेतिहासपुराणादितः स्यात्। "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः"इति तस्यापि तच्छ्रवणानुज्ञानात्। अनग्नित्वं तु तस्याग्नि-साध्ययज्ञादिकर्मानधिकारमात्रे हेतुर्नविद्याधिकारनिषेधपरम्। विदुरादिषु ब्रह्मविद्यादर्शनाच्चेति प्राप्ते, उच्यते। न शूद्रस्तस्यामधिक्रियते ब्रह्मस्वरूपतदुपासनोपायज्ञाना- भावेनासमर्थत्वात् ब्रह्मोपासनस्य मनोवृत्तिमात्रनिर्वर्त्त्यत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपादिज्ञानस्योपनयनपूर्वकवेदा-ध्ययनजन्यत्वात् शूद्रस्योपनयनविध्यविषयत्वात् सामर्थ्याभावेऽर्थित्वस्याकिञ्चित्करत्वात्। कर्मविधेरिवोपासनविधीनामपि त्रैवर्णिकविषयत्वात् कर्मस्विव विद्यास्वपि निषेधस्य तुल्यत्वम्। इतिहासादीनामपि स्वाध्यायसिद्धज्ञानोपबृंहकत्वान्न ततोऽप्यस्य ज्ञानलाभः। श्रवणानुज्ञानं तु पापनाशादिफलार्थं नोपासनार्थम्। विदुरादीनां तु जन्मान्तरप्राप्तज्ञानाप्रमोषाद्ज्ञानवत्त्वं प्रारब्धवशाच्चेदृशजन्मेति। यत्तु सम्वर्गविद्यायां शूद्रशब्दोक्तया शूद्राधिकारः सम्भाव्यते, इति तन्नेत्याह, शुगिति। हि यतोऽस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्याब्रह्मयज्ञतया "कम्वरएनमेतत्सन्तं सयुग्वानमि रैक्कमात्थे"ति हंसोक्तानादर- वाक्यश्रवणात्तदैव ब्रह्मज्ञं रैक्वं प्रत्याद्रवणात् शुकसञ्जातेति सूच्यते। अतोऽशूद्रेपि शूद्रेति सम्बोधनं स्वस्य सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थम्। न चतुर्थवर्णत्वेन शोचतीति शूद्रः। "शुचेर्दश्चे"ति रक्प्रत्यये धातोश्च दीर्घे चकारस्य दकारइतिविद्योपदेशाऽयोग्यत्वख्यापनार्थं शोकएवास्य रैक्वेण सूचितो न जाति-योगइत्यर्थः।।३४।।

(हिन्दी अनुवाद)

(इस प्रकरण में रैक्क ने राजा जानश्रुति को जो शूद्र कहकर संबोधित किया, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह जाति से शूद्र था, बल्कि वह शोक से व्याकुल होकर दौड़ा आया था—इसलिए उसे शूद्र कहा। यही बात उस प्रकरण की समालोचना से सिद्ध होती है।)

छा०उ० में ४/१/१ से ४ तक वह प्रकरण इस प्रकार है—"राजा जानश्रुति बहुत दान देने वाला था। वह अतिथियों के भोजन के लिए बहुत अधिक अन्न तैयार कराकर रखता था। उनके ठहरने के लिए उसने बहुत सी विश्रामशालाएँ बनवा रखी थीं। एक दिन राजा जानश्रुति रात के समय अपने महल की छतपर बैठा था। उसी समय उसके ऊपर से कुछ हंस उड़ते हुए जा रहे थे। उनमें एक हंस ने दूसरे को पुकार कर कहा—"अरे ! सावधान इस राजा जानश्रुति का महान् तेज आकाश में फैला हुआ है, कहीं भूल से उसका स्पर्श न कर लेना, नहीं तो वह तुझे भस्म कर देगा।" यह सुनकर आगे जाने वाले हंस ने कहा–अरे भाई! तू किस महत्ता को लेकर इस राजा को इतना महान् मान रहा है। क्या तू इसको गाड़ी वाले रैक्क के समान समझता है ? इस पर पीछे वाले हंस ने कहा–रैक्क कैसा है। अगले हंसने उत्तर दिया–"यह सारी प्रजा जो कुछ भी श्रम कर्म करती है–वह सब उस रैक्क को प्राप्त होता है तथा जिस तत्व को रैक्क जानता है उसे जो कोई भी जान ले, उसकी भी ऐसी महिमा हो जाती है।" इस प्रकार हंसों से अपनी तुच्छता की बात सुनकर राजा के मन में शोक हुआ, फिर वह रैक्क की खोज कराकर उसके पास विद्या ग्रहण के लिए गया। रैक्क

मुनि सर्वज्ञ थे। वे राजा की मनःस्थिति जान गये। उन्होंने उसके मन में जगे हुए ईर्ष्याभाव को दूर करके उसमें श्रद्धाका भाव उत्पन्न करने का विचार किया और अपनी सर्वज्ञता सूचित करके उसे सावधान करते हुए शूद्र कहकर पुकारा[1]। यह जानते हुए भी जानश्रुति राजा क्षत्रिय है, रैक्क ने उसे शूद्र इसलिए कहा कि वह शोक के वशीभूत होकर दौड़ा आया था।

वै०कौ० प्रभा–"तद् यो देवानां प्रत्यवुध्यत"[2] इस श्रुति में देव शब्द के प्रयोग से देवों में अर्थित्व सामर्थ्य होने के कारण देवताओं का ब्रह्म विद्या में अधिकार का पूर्व अधिकरण में समर्थन किया गया – इसी प्रकार छा०उ० में मुमुक्षु जानश्रुति के लिये शूद्र शब्द का श्रवण होने से ब्रह्म विद्या में शूद्र का भी अधिकार प्राप्त होगा–क्योंकि उनमें भी अर्थित्व सामर्थ्य का सद्भाव है–इस संगति से इस सूत्र का अवतार करते हैं–"शुगस्येति" अर्थात् जैसे श्रुति में "देवं शब्द के कथन से देवताओं का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार बताया" उसी तरह "अहह हारेत्वा शूद्र! आजहारेमाः शूद्रं" इत्यादि श्रुति में शूद्र शब्द का कथज होने से शूद्र का भी ब्रह्मविद्या में अधिकार संभव है– क्योंकि उसमें अर्थित्व एवं सामर्थ्य संभव है। शूद्र को ब्रह्म स्वरूप एवं उस उपासना का ज्ञान इतिहास पुराणों द्वारा होगा। श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" अर्थात् ब्राह्मण मुख्य श्रोता बनाकर चारो वर्णों को कथा सुनाये। शूद्र के लिये अनग्नित्व अर्थात् अग्निकार्य में अनधिकार का कथन उसके द्वारा अग्नि साध्य यज्ञादि कर्म में अनधिकार में हेतु है। वह शूद्र के विद्याधिकार का निषेधक नहीं है। विदुर आदि में ब्रह्म विद्या का दर्शन भी है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं – जिसे ब्रह्म स्वरूप तथा उसकी उपासना के उपाय का ज्ञान नहीं है, वह असमर्थ है। ब्रह्म की उपासना मन की वृत्ति मात्र से समपद्यमान होने पर भी ब्रह्म स्वरूप आदि का ज्ञान, उपनयन पूर्वक वेदाध्ययन जन्म होने पर ही संभव है। उपनयन में अधिकार नहीं होने से सामर्थ्य में अभाव होने पर अर्थित्वमात्र से कुछ नहीं हो सकता। कर्मविधि की तरह उपासना विधियों में भी त्रैवर्णिक का ही अधिकार माना गया है। इतिहास आदि में भी स्वाध्याय सिद्ध ज्ञान का ही उपवृंहकत्व है, इसलिये उससे भी ज्ञान का लाभ नहीं होगा। उसके लिये श्रवण की अनुज्ञा तो पाप नाश आदि फल के लिये है उपासना के लिये नहीं। विदुर आदि में तो पूर्वजन्म में प्राप्त ज्ञान के अविस्मरण से ही ज्ञानवत्व है। 'शुगस्य------' इति, अर्थात् हंस द्वारा अनादर सूचक वाक्य श्रवण जनित शोक के पीछे दौड़ने के कारण ही जानश्रुति राजा को रैक्क ने शूद्र कहा था न कि शूद्र जाति के कारण – यहाँ शूद्र से भिन्न जानश्रुति राजा के लिये शूद्र यह संबोधन रैक्क ने अपने सर्वज्ञत्व ज्ञापन के लिये कहा था–न कि चतुर्थ वर्ण के अभिप्राय से। शोचतीति शूद्रः

१– शुचम् आद्रवति इति शूद्रः – जो शोक के पीछे दौड़ता है, वह शूद्र है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार रैक्क ने उसे शूद्र कहा। यहाँ जाति से अभिप्राय नहीं है।

२– देवताओं में जिसने ब्रह्म को जान लिया–वही वह ब्रह्म हो गया। इसी प्रकार छा०उ० में ८/७/२ से ८/१२/६ तक यह प्रसंग आता है कि इन्द्र और विरोचन ने ब्रह्माजी की सेवा में रहकर बहुत वर्षों तक ब्रह्मचर्य पालन करने के पश्चात् ब्रह्म विद्या प्राप्त की। इसी तरह देवताओं के कर्म के अधिकार होने में प्रमाण है "प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत तदुदिते सूर्येऽजुहोत" (तै.ब्रा० २/१/२/८ "देवा वै सन्नमासत्" (तै०सं० २/३/३) अर्थात् प्रजापति ने इच्छा की मैं उत्पन्न होऊँ भली भाँति जन्म ग्रहण करूँ। उन्होंने अग्निहोत्र रूप मिथुन पर दृष्टिपात किया और सूर्योदय होने पर उसका हवन किया। (स)

इस व्युत्पत्ति से शूद्र शब्द की निष्पत्ति होती है। "शुचेर्दश्च" सूत्र से रक् प्रत्यय करके चकार को दकार एवं दीर्घ करके शूद्र शब्द की निष्पत्ति होती है। यहाँ विद्योपदेश की अयोग्यता ख्यापित करने के लिये हमेशा शोक ही रैक्क द्वारा सूचित किया गया, न कि जाति।।३४।।

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥१/३/३५॥

इतश्च जानश्रुतौ न शूद्रत्वजातियोगः। उपक्रमे "बहुदायी बहुपाक्य" इत्यादिना दानपतित्वबहुतरपक्वान्नदायित्वप्रतीतेः। "क्षत्तारमुवाचे"ति क्षत्तृप्रेषणात् रैक्काय गोनिष्करथ-कन्यादिदानाच्चास्य क्षत्रियत्वावगमाच्च। उत्तरत्रच सम्वर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेनाभिप्रता-रिनाम्ना क्षत्रियेण सह समुच्चारणाल्लिङ्गादस्य क्षत्रियत्वमवगम्यते। "अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्ष" इति हि वाक्यशेषः। कापेयसहचारिणश्चैत्ररथस्य क्षत्रियत्वं चावगम्यते। "एतेन वै चैत्ररथं कापेयाअयाजयन्नि"ति। "तस्माच्चैत्ररथोनामैकः क्षत्रपतिरजायत" इत्यन्यत्र श्रवणात्। एवं चास्यां ब्रह्मविद्यायां ब्राह्मणक्षत्रिययोरेवान्वयदर्शनाद्रैक्वादन्योजानश्रुतिरपि क्षत्रियएव न चतुर्थवर्ण इति।।३५।।

(हिन्दी अनुवाद)

इस कारण से भी जानश्रुति में शूद्रत्व का योग नहीं है, क्योंकि उपक्रम में उसे बहुदायी बहुपाक्यः अर्थात् वह बड़ा दानी था एवं अतिथियों को भाँति-भाँति पक्वान्न बनाकर खिलाता था, ऐसा कहा गया है। इससे उसका दानपतित्व एवं नाना प्रकार का पक्वान्न दायित्व प्रतीत होता है। इसी तरह 'क्षत्तारमुवाच' इस वाक्य द्वारा क्षत्ता के प्रेषण, रैक्क के लिये कन्या दान आदि कारणोंसे उसका क्षत्रियत्व ज्ञात होता है, इसी प्रकार आगे संवर्ग विद्या के वाक्य शेष में चैत्ररथ नामक क्षत्रिय के साथ समुच्चारण लिंग से भी उसका क्षत्रियत्व अवगत होता है-वहाँ का वाक्य शेष इस प्रकार है-"अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे" अर्थात् शौनक और अभिप्रतारी चैत्ररथ-इन दोनों को जब भोजन परोसा जा रहा था-उस समय एक ब्रह्माचारी ने भिक्षा मांगी, इत्यादि इस आख्यायिका से राजा जानश्रुति के यहां शौनक और चैत्र रथ को भोजन परोसे जाने की बात कही गई है-इससे जानश्रुति का क्षत्रिय होना सिद्ध होता है क्योंकि शौनक ब्राह्मण और चैत्ररथ क्षत्रिय थे। इस ब्रह्म विद्या में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का अधिकार है। अन्वय दर्शन से रैक्क से अन्य जानश्रुति भी क्षत्रिय ही थे, न कि कोई और।।३५।।

ब्राह्मण साहचर्येण जानश्रुतेः क्षत्रियत्वावगतेर्नशूद्रोऽधिकारीति युक्त्या साधितं श्रुत्यादिभिरनुगृह्य दर्शयति-

(हिन्दी अनुवाद)

ब्राह्मण के साहचर्य से जानश्रुति के क्षत्रियत्व ज्ञात होने पर किनको ब्रह्म विद्या में अधिकार है, यह युक्ति से सिद्ध किया। अब उसे श्रुति आदि प्रमाणों से दिखाते हैं- संस्कारेति।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥१/३/३६॥

विद्योपदेशप्रदेशेषु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्य"मिति "उपत्वानेष्ये तं होपनिन्ये" इत्यादिषूपनयनसंस्कारपरामर्शात् शूद्रस्य च "न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। शूद्रश्चतुर्थोवर्ण एकजातिर्नच संस्कारमर्हती"-त्यादिषु "तदभावाभिलापाच्च" न शूद्रस्याधिकारः।।३६।।

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् विद्या के उपदेश स्थानों में "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत एकादशे क्षत्रियं द्वादशे वैश्यम्" अर्थात् ब्राह्मण का आठ वर्ष में उपनयन करे, क्षत्रिय का ग्यारह तथा वैश्य का बारह वर्ष में उपनयन करना चाहिये। "उपत्वा नेष्य (छ०उ० ४/४/२) ते होपनिन्ये" (तेरा उपनयन संस्कार करुंगा) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म विद्या के लिये उपनयन संस्कार का परामर्श है। संस्कार का अभाव होने से ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं होता है।।३६।।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः॥ १/३/३७॥

"नाहमेतद्वेद भो ! यद्गोत्रोऽहमस्मी" त्यादिना जाबालेनोक्ते सति "नैतदब्राह्मणो-विवेक्तुमर्हती"ति जाबाले शूद्रत्वाभावस्य निर्धारणे निर्णये सति तमुपनेतुमनुशासितुं च गौतमस्य प्रवृत्तेश्च नाधिकारः शूद्रस्य।।३७।।

(हिन्दी अनुवाद)

"नाहमेतद् वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्मि (मैं नहीं जानता कि मेरा क्या गोत्र है?) ऐसा जाबाल के कहने पर "नैतदब्राह्मणो विवेक्तुमर्हति (ऐसा स्पष्ट ब्राह्मणेतर नहीं बोल सकता) इसलिये यह ब्राह्मण ही हो सकता है। इस प्रकार के जाबाल के विषय में शूद्रत्वाभाव का निर्णय होने पर उसे उपवीत करने एवं ब्रह्मविद्या का अनुशासन करने के लिये गौतम की प्रवृत्ति होने से भी यह सिद्ध होता है।"

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् ॥१/३/३८॥

"पद्युह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यं तस्माच्छूद्रोबहुपशुरयज्ञीयः" इत्यादिना शूद्रस्य श्रवणादिप्रतिषेधात् नास्याधिकारः। अनुपशृण्वतोऽध्ययनतदर्थज्ञान-तदर्थानुष्ठानानामसम्भवात्तान्यपि प्रतिषिद्धान्येव।।३८।।

(हिन्दी अनुवाद)

"पद्युह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्" शूद्र के उपनयन का श्रवण नहीं होने से अथवा निषेध होने से उसके लिये वेद का अध्ययन, उसमें अर्थ का ज्ञान, अनुष्ठान आदि असंभव होने से ये सभी उसके लिये निषिद्ध हैं। अर्थात् जो शूद्र है, वह

श्मशान के तुल्य है, इसलिये शूद्र के समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये। शूद्र पशु के तुल्य है, इसलिये वह यज्ञ का अधिकारी नहीं है। इस श्रुति के द्वारा शूद्र के वेद-श्रवण का निषेध सूचित होता है। जब सुनने तक का निषेध है तब अध्ययन और अर्थ ज्ञान का निषेध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसलिये शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।।३८।।

स्मृतेश्च ॥१/३/३९ ॥

"नचास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्। न शूद्राय मतिं दद्यादि"तिच "अथास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुच्चारणे जिह्वाछेदोधारणे शरीरभेद इति च शूद्रस्य श्रवणादिनिषेधस्मरणाच्च।।39।।

(हिन्दी अनुवाद)

"न चास्योपदिशेद् धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्। न शूद्राय मतिं दद्यात्" मनु॰ अर्थात् शूद्र को धर्म का उपदेश नहीं करना चाहिये और न ही इसे व्रत का आदेश करें शूद्र को मति (वेद ज्ञान) नहीं देना चाहिये। "अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणमुच्चारणमुच्चारणे जिह्वाछेदो धारणे शरीर भेद' अर्थात् यदि शूद्र वेद श्रवण करने आये तो उसका कान रूई या लाक्षा से बन्द कर देना चाहिये, उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिये, यदि किसी प्रकार गुप्त रूप से या जाति छिपाकर वेद पढ़ लिया हो तो उसका शरीर काट देना चाहिये। इस प्रकार शूद्र के लिये वेद का श्रवण एवं अध्ययन आदि निषिद्ध हैं।।३९।।

अथ प्रमिताधिकरण शेष

अब प्रमितधिकरण प्रारम्भ होता है।

कम्पनात् ॥ १/३/४० ॥

"यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ती"ति कठवल्ल्यामङ्गुष्ठमात्रप्रकरणे स्वस्मान्निःसृतस्य कृत्स्नस्य जगतो महाभयानकोद्यत- वज्रवत् कम्पनात्कम्पकत्वाद्धेतोः प्राणशब्दितः अङ्गुष्ठमात्रः परमात्मैवेति निश्चीयते। पूर्वोत्तरवाक्ययोस्तस्यैव निर्दिश्यमानत्वात् तज्ज्ञानेन मोक्षश्रवणाच्च।।४०।।

(हिन्दी अनुवाद)

"यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति" अर्थात् उस परमात्मा से निकला हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, वह उस प्राणस्वरूप ब्रह्म में ही चेष्टा करता है, उस उठे हुए वज्र के समान महान् भयानक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं तथा "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः" "एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ भूतानाम्" (मा॰उ॰) परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च (श्वे॰६/८)

इसी के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्र, वायु तथा पाँचवे मृत्यु देवता, ये सब अपने-अपने कार्य में दौड़ रहे हैं अर्थात् अपने अपने कार्य में संलग्न रहते हैं। इस कठवल्ली उपनिषद् में अंगुष्ठमात्र प्रकरण में अपने से निःसृत समग्र जगत् के कम्पक होने से प्राण शब्द प्रतिपादित अंगुष्ठ प्रमाण परिमित परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय होता है-क्योंकि वहां पूर्व एवं उत्तर वाक्य में परमात्मा का ही निर्देश है और उसी के ज्ञान से मोक्ष का श्रवण है।

ज्योतिर्दशनात् ॥ १/३/४१ ॥

तत्रैवाङ्गुष्ठप्रमितप्रकरणे एतद्वाक्यात्प्राक् "न तत्र सूर्यो भाती"त्यादिवाक्ये भासाशब्द-वाच्यस्य परमात्मासाधारणस्य ज्योतिषो दर्शनादप्यङ्गुष्ठप्रमितः परमात्मैवेति सिद्धम्।।४१।। इति प्रमिताधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

वहीं अङ्गुष्ठमात्र प्रकरण में - इस वाक्य से पहले "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादि वाक्य में भासाशब्द प्रतिपाद्य परमात्मा के असाधारण ज्योति का वर्णन होने से वहाँ अंगुष्ठ प्रमाण परिमित परमात्मा ही सिद्ध होता है।।१/३/४१।। इस प्रकार प्रमित अधिकरण पूरा हुआ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥१/३/४२ ॥

"आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मे"ति छान्दोगैः पठ्यते। तत्र सन्देहः। किमिहाकाशशब्देन संसारबन्धविनिर्मुक्तो जीवः? उत परमात्मेति। "अश्व इव रोमाणि विधूये"त्यादिना मुक्तस्यैव पूर्वं प्रकृतत्वान्मुक्तजीव इति पूर्वः पक्षः। "ते यदन्तरे"ति च नामरूपविमुक्तस्योक्तेः नामरूपनिर्वोढृत्वस्य च तत्र भूतपूर्वगत्या सम्भवात् मुक्तात्मनोऽसंकुचितज्ञानप्रकाशवत्तयाऽऽकाशशब्दस्यापि तत्रोपपन्नत्वात्। "तद्ब्रह्म तदमृतमि" तिमुक्तावस्थोच्यते इतिप्राप्ते, उच्यते। आकाशशब्दितः परमात्मा। कुतः? "ते यदन्तरे"ति नामरूपास्पृष्टस्यैव नामरूपनिर्वोढृत्वोक्तिर्बद्धमुक्त-जीवादर्थान्तरमन्यमाकाशशब्दवाच्यं परमात्मानं व्यपदिशति। बद्धस्य कर्माधीनतया नामरूपे भजतः स्वयं ते निर्वोढुं व्याकर्तुमशक्यत्वात्। मुक्तस्य तु जगद्व्यापारासम्भवस्य वक्ष्यमाणत्वात् नितरां तन्निर्वोढृत्वम्। परमात्मनस्तु निखिलविश्वनिर्मितिप्रवीणस्य "अनेन जीवेनात्मना-ऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, तस्मादेतन्नामरूपमन्नं च जायते, सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्यदास्ते"इत्यादिश्रुत्यैव तन्निर्वोढृत्वं सुप्रतिपन्नम्। आदिना निरुपाधिकबृहत्वामृतत्वात्मत्वादिव्यपदेशो गृह्यते। नापि पूर्वं मुक्तः प्रकृतः "ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी"ति ब्रह्मलोकशब्दितपरमात्मन एव पूर्वं प्रकृतत्वात्। आकाशशब्दस्यापि व्यापकत्वेनासंगत्वेन च परमात्मन्येव प्रसिद्धत्वात्। अत आकाशः परमात्मैवेति।।४२।।

(हिन्दी अनुवाद)

"आकाशो हवै नामरूपयोनिर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तद्मृतं स आत्मा" (छा० ८/१४/१) अर्थात् आकाश नाम से प्रसिद्ध तत्त्व नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है, वे दोनों जिसके भीतर वह ब्रह्म वह अमृत है, वही आत्मा है। यहां संशय होता है क्या यहां आकाश शब्द से संसार रूपी बन्ध से विनिर्मुक्त जीव है या परमात्मा ? "अध्व इव रोमाणि विधूय" इत्यादि मन्त्रों द्वारा मुक्त जीव है। यहां प्रकृत है, इस लिये मुक्तजीव ही यहां आकाश पद वाच्य है, ऐसा पूर्वपक्ष है। 'ते यदन्तरा' इस अंश से नाम रूप से विमुक्त का यहां कथन है। मुक्तात्मा में नाम रूप निर्वाहकत्व भूतपूर्व गति से संभव है। मुक्तात्मा में असंकुचित ज्ञान का प्रकाश होने से आकाश शब्द का प्रयोग भी वहां उपपन्न हो सकता है। 'तद् ब्रह्म तद्मृतम्' से मुक्तावस्था का वर्णन है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—यहां आकाश पदवाच्य परमात्मा है, क्योंकि 'ते यदन्तरा' इस श्रुति अंश से नाम रूप से असंस्पृष्ट परमात्मा में ही नामरूपात्मक जगत् को निर्वोढृत्व (धारकत्व) का कथन बद्ध मुक्त जीव से भिन्न परमात्मा में ही आकाश पदवाच्यत्व सिद्ध करता है। वह जीव कर्म में अधीन हो स्वयं नामरूपकात्मक होने के कारण वह नामरूपात्मक जगत का धारण नहीं कर सकता। मुक्त जीव में जगद् व्यापार (सृष्टिकर्तव्य) असंभव है, यह आगे चतुर्थ अध्याय में कहेंगे, इसलिए उसमें नामरूपात्मक जगत् निर्वाहकत्व संभव नहीं है। परमात्मा जगत् के निर्माण में प्रवीण है-जैसा कि श्रुतिवचन है—"अनेन जीवेनात्मना प्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि तस्यादेतन्नाम रूपभवनं च जायते सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन्य दास्ते" इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमात्मा में जगत् धारकत्व उपपन्न होता है। आदि पद से निरूपाधिक बृहत्व, अमृतत्व तथा आत्मत्व आदि व्यवहार गृहीत होता है। यहाँ नहीं मुक्त प्रकृत है, बल्कि "ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इस श्रुति द्वारा ब्रह्म लोक शब्द प्रतिपाद्य परमात्मा ही प्रकृत है। आकाश शब्द भी व्यापक एवं असङ्ग होने के कारण परमात्मा में ही प्रसिद्ध है। इस लिए आकाश यहाँ परमात्मा ही है।।४२।।

ननु स्यादेतत्। प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरभूतः परमात्मैव नास्ति "अयमात्मा ब्रह्म, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति, तत्त्वमसी" त्यादिनैक्योपदेशात्। "नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यती"ति द्वैतप्रतिषेधाच्चातः प्रकृतान्मुक्तादपि जीवादभिसम्भवितुरभिसम्भाव्यो ब्रह्मलोको नार्थान्तरभूतः। भेदव्यपदेशस्तु घटाकाशा-दिवदुपाधिकृत इति चेत्तत्राह —

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जीव से भिन्न परमात्मा नामक कोई वस्तु ही नहीं है, कारण अयमात्मा ब्रह्म तत्त्वमसि आदि वाक्यों द्वारा एकत्वका उपदेश है और इसका प्रतिषेधभी भेद व्यपदेश उपाधिवत है-इस पर कहते हैं—

विशेष- नामरूप का तात्पर्य है—नाम रूपात्मक जगत्

उत्क्रान्ति-"एष सम्प्रसादः (जीवः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते एष आत्मा एतदमृतमयमेतद् ब्रह्म)"

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥१/३/४३ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते। "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरमि" तिसुषुप्तौ "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन् याती"त्युत्क्रान्तौ चाज्ञाज्जीवात् भेदेन सर्वज्ञतया परमात्मनोव्यपदेशात्। अन्वारूढोऽधिष्ठितः उत्सर्जन् घोरान् शब्दान् हिक्वशब्दान् वा कुर्वन् नहि स्वपत उत्क्रामतो वाऽज्ञस्य तदैव प्राज्ञेन स्वेनैव सता परिष्वंगान्वारोहौ सम्भवतः, नच जीवान्तरेण तस्यापि सार्वज्ञ्यासम्भवात्।।४३।।

(हिन्दी अनुवाद)

यहां पूर्व सूत्र से "व्यपदेशात्" की अनुवृत्ति होती है। "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" अर्थात् प्राज्ञ परमात्मा से सम्परिष्वक्त जीव बाह्य एवं अन्तर (कुछ नहीं जानता) इसी तरह "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ उत्सर्जन् याति" (प्राज्ञ परमात्मा से अन्वारूढ़ होकर जीवात्मा इस देह का परित्याग करता है) इस प्रकार सुषुप्ति एवं उत्क्रान्ति में अज्ञ जीव से भिन्न रूप में सर्वज्ञ परमात्मा का व्यपदेश है। अन्वारूढ़ माने अधिष्ठित उत्सर्जन् माने घोर शब्दों या हिक्व शब्दों का उच्चारण करता हुआ सोते समय या उत्क्रमण करते समय अज्ञजीव का अपने कारणभूत सत् के साथ परिष्वङ्ग या अन्वारोह संभव है और न किसी अन्य जीव के साथ क्योंकि उसमें भी सार्वज्ञ्य संभव नहीं है।।४३।।

इतश्च जी`ादन्यपरमात्मेत्याह—

इस हेतु से भी जीव से अन्य परमात्मा है, यह कहते हैं।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥१/३/४४ ॥

"सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाये"त्यादिनोत्तरत्रापि पत्यादिशब्दाः परिष्वञ्जकं परमात्मानमेव व्यपदिशन्ति। तैश्च मुक्तजीवादप्यन्यः परमात्मेति निश्चीयते। नहि सर्वाधिपतित्वसर्वेशितृत्वसर्वप्रशास्तृत्वसर्वेश्वरत्वजगद्विधरणादिकं मुक्तावस्थेऽपि जीवे वक्तुं शक्यते तस्य जगद्व्यापारप्रतिषेधात्। औपाधिकभेदस्तु पूर्वं प्रत्युक्तः। एकत्वोपदेशस्तु परमात्मनः सर्वव्यापकत्व– सर्वनियन्तृत्वसर्वाधारत्वसर्वकारणात्वादिमत्तया चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य जगतस्तु तद्व्याप्यत्वतन्नियम्यत्वतदाधेयत्वतत्कार्यत्वादिमत्तया सर्वदा सर्वत्र तदपृथक्स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिमत्तया संगच्छते इत्युपरिष्टाद्वक्ष्याम इति।।४४।।

इतिश्रीभगवदवतारश्रीसनन्दनादिप्रवर्तितसुदर्शनचक्रावतार श्री १०८ भगवन्निम्बार्क मुनीन्द्रोपवृंहितानादिवैदिकसम्प्रदायानुगतनिखिलशास्त्रपारावारीण श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टविरिचितायां वेदान्तकौस्तुभप्रभावृत्तौ ब्रह्मसूत्रकृतायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादः।

(हिन्दी अनुवाद)

"सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः, एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय" (वह परमात्मा सबका अधिपति है, सबको वश में करने वाला है, सबका शासक है संसार में कुछ भी दिखाई देता है उन सबको वही शासित करता है। वह साधु कर्म से बढ़ता नहीं, असाधु कर्म से घटता नहीं है, वह सबका ईश्वर है, वह समस्त भूतों का स्वामी है, सब भूतों का रक्षक है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को विनाश से बचाने के लिये इस सम्पूर्ण जगत् (पृथिवी-सूर्य-चन्द्रमा-सागर) को धारण करने के लिये सेतु के समान है) इत्यादि श्रुतियों द्वारा आगे भी पति आदि शब्द परमात्मा के ही सूचक हैं। उन श्रुतियों से मुक्त जीव से भी अन्य परमात्मा निश्चय होता है। सबका अधिपतित्व, सर्वशासकत्व, सर्वप्रशास्तृत्व, सर्वेश्वरत्व तथा विश्वधारकत्व आदि गुण मुक्त अवस्था में भी जीव में नहीं हो सकते, क्योंकि मुक्त जीव के लिए जगत् स्रष्टृत्व आदि धर्मों का प्रतिषेध है। औपाधिक भेद का पहले खण्डन किया गया है। एकत्व का उपदेश तो परमात्मा में सर्वव्यापकत्व, नियन्तृत्व, सर्वाधारत्व, सर्वकारणत्व आदि धर्म विशिष्ट रूप में चित् अचिदात्मक सम्पूर्ण जगत को तद्व्याप्यत्व तन्नियम्यत्व, तदाधेयत्व तथा तकार्यत्व आदि धर्म विशिष्ट रूप से जीव का सर्वदा सर्वत्र ब्रह्म से अपृथक् स्वरूप स्थिति तथा प्रवृत्ति के कारण संगत होता है। (इस सम्बन्ध में अर्थात् जीव जगत के साथ स्वाभाविक भेदाभेद विषयक विशेष जिज्ञासु को मेरे गुरुदेव नि० ली० ली० पं० भगीरथ झा द्वारा निर्मित द्वैताद्वैत पुस्तक देखनी चाहिए)

"एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" (५३२/१/३) (परमात्मा से प्राण मन इन्द्रियां आकाश वायु जल तथा विश्वधारिणी पृथिवी उत्पन्न होती है।)

इस प्रकार भगवान् के अवतार स्वरूप श्रीसनन्दन आदि महर्षियों द्वारा प्रवर्तित सुदर्शन चक्रावतार श्री १०८ भगवन्निम्बार्क महामुनीन्द्र द्वारा उपवृंहित अनादि वैदिक सम्प्रदायानुगत निखिल शास्त्र पारावारीण श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा विरचित वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति में झोपाख्य मैथिल पण्डित वैद्यनाथ झा द्वारा प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का अनुवाद पूरा हुआ।

प्रथम अध्याय

चतुर्थ पाद

विषय-सूची

प्रथमाध्याये चतुर्थपादः

अथ आनुमानिकाधिकरणम्।

एवं तावत्प्रथमे पादे मुमुक्षुभिर्मुक्त्युपायतया जिज्ञास्यस्य परस्य ब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्य जगज्जन्मादिकारणत्वमुक्त्वा तत्प्रधानपुरुषयोरपि वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य तानि सर्वज्ञं सर्वशक्तिं स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिं तमेव प्रतिपादयन्तीत्युक्तम्। द्वितीये तृतीये च कानिचित्स्पष्टजीवादिलिङ्गकानि कानिचिदस्पष्टलिङ्गकानि च यानि वाक्यानि तान्यपि सत्यसकंल्पसर्वान्तरात्म-भूतपरब्रह्मपराणीत्युक्तम्। इदानीं चतुर्थे तु पादे कापिलतन्त्रसिद्धाब्रह्मात्मकप्रधान-पुरुषादिप्रतिपादनच्छायानुसारिणां कासुचिच्छाखासु श्रूयमाणानां वाक्यानां परब्रह्मण्येव समन्वयः स्मर्यते। कठवल्लीष्विदं श्रूयते—"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति"रिति। तत्राव्यक्तशब्देन कपिलोक्तमब्रह्मात्मकं प्रधानमिहाभिप्रेतं शरीरं? वेति विचिकित्सायां प्रधानमेवेति पूर्वपक्षः। महदादिपुरुषान्तस्य स्मृतिक्रमप्रसिद्धस्यैवेह प्रत्यभिज्ञानात् पञ्चविंशकपुरुषातिरिक्ततत्त्वप्रतिषेधाच्च। शब्दादिहीनत्वेन न व्यक्तमव्यक्तमिति व्युत्पत्तेश्चेति प्राप्त आह —

(हिन्दी अनुवाद)

(प्रथम अध्याय के तीन पादों में ब्रह्म को जगत के जन्म आदि का कारण बताकर वेद वाक्यों द्वारा यह प्रमाणित किया गया कि जितने भी वेदान्त के कारण वाक्य, उनका ब्रह्म में ही समन्वय है। आकाश, आनन्दमय, ज्योति, प्राण आदि शब्द, जो भ्रामक थे—सभी ब्रह्म परक हैं। अब विचार होता है कि वेद में कहीं प्रकृति का नाम आया है या नहीं, है तो उसका क्या स्वरूप है?)

अब आनुमानिक अधिकरण प्रारम्भ होता है। प्रथम पाद में मुमुक्षुओं द्वारा मुक्ति के उपाय रूप में जिज्ञास्य परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम में जगत् कारणत्व का प्रतिपादन किया। तदनन्तर क्या वेदान्त वाक्य प्रधान या पुरुष को जगत कारण मानते हैं, ऐसी आशङ्का करके उसका निराकरण करते हुए वेदान्त वाक्य स्वभावतः अपास्त समस्त दोष, अशेष कल्याण गुणगण निलय सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म को ही जगत का कारण मानते हैं ऐसा कहा। द्वितीय एवं तृतीय पाद में कतिपय स्पष्ट जीवादि लिङ्गक तथा कतिपय अस्पष्ट जीव लिङ्गक वेदान्त वाक्यों का भी सत्यसंकल्प सर्वान्तरात्मा पर ब्रह्म में ही समन्वय है, अर्थात् ऐसे सभी वेदान्त वाक्य भी ब्रह्मपरक हैं ऐसा कहा। यहाँ इस चतुर्थ पाद में सांख्य मत सिद्ध अब्रह्मात्मक प्रधान कारणवाद तथा अब्रह्मात्मक पुरुषवाद प्रतिपादन की छाया का अनुसरण करने वाले कतिपय शाखाओं में श्रूयमाण वेदान्त वाक्यों का परब्रह्म परमात्मा में ही समन्वय है, ऐसा कहते हैं। कठवल्ली में ऐसा सुना जाता है –"महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्न परं

किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः” अर्थात् महत्तत्त्व (बुद्धि) से परे अव्यक्त (प्रकृति) है और अव्यक्त से परे पुरुष। परन्तु पुरुष से परे कुछ नहीं है। यहाँ सन्देह होता है कि यहां अव्यक्त कपिल ऋषि द्वारा प्रोक्त अब्रह्मात्मक प्रवृत्ति अभिप्रेत है या शरीर ? ऐसा संशय होने पर अब्रह्मात्मक प्रधान ही अभिप्रेत है ऐसा पूर्वपक्ष होता है, क्योंकि महत्तत्व से लेकर पुरुष तक कपिल तन्त्र में प्रसिद्ध तत्त्व की ही पहचान होती है – सांख्य मत सिद्ध पचीसवें पुरुष तत्त्व के अतिरिक्त तत्त्व का प्रतिषेध भी है। शब्द रूप आदि से रहित होने के कारण न व्यक्तम् इति अव्यक्तम् (जो व्यक्त या प्रत्यक्ष नहीं है वह अव्यक्त है) ऐसी व्युत्पत्ति भी है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं –

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न, शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१/४/१॥

एकेषां कठानां शाखायामानुमानिकमनुमाने भवं प्रधानमपि जगत्कारणत्वेन श्रूयत इति चेत् नेति। कुतः ? शरीरेति। अव्यक्त शब्देनात्र शरीरस्यैव रूपकेण रथसादृश्येन विन्यस्तस्य ग्रहीतेर्ग्रहणात्, केनचित्सादृश्येन वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरकल्पनं हि रूपकम्। अयम्भावः। पूर्वत्रात्मानं रथिनं विद्धीत्यारभ्य “तद्विष्णोः परमं पदमि”त्यन्तग्रन्थेन संसारमार्गस्य पारभूतं विष्णुपदं प्राप्तुमिच्छुमुपासकं रथित्वेन तच्छरीरादिकं रथरथांगत्वेन रूपयित्वा “यस्यैते रथादयो वश्याः सन्ति स एवाध्वनः पारं विष्णुपदं प्राप्नोती”त्युक्त्वानन्तरं रथादिरूपितशरीरादिषु येभ्यो येषां वशीकार्यतायां प्राधान्यं तान्युच्यन्ते। “इन्द्रियेभ्यः परा” इत्यादिना। अत्रेन्द्रियादयः पूर्वं रथरूपकल्पनायां हयादिभावेन रूपिताः स्वस्वशब्दैरेव गृह्यन्ते। रथरूपितं शरीरं तु परिशेषादव्यक्तशब्देनोच्यते। तत्र हयत्वेन रूपितेभ्य इन्द्रियेभ्यो गोचरत्वेन रूपिता विषया वशीकार्यत्वे परा उत्कृष्टाः। वश्येन्द्रियस्यापि विषयसन्निधाने इन्द्रियाणां दुर्निग्रहत्वात् तेभ्योपि प्रग्रहरूपितं मनः परम्। मनसि विषयाप्रवणे विषयसन्निधानस्याप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्मादपि सारथित्वरूपिता बुद्धिःपरा अध्यवसायाभावे मनसोऽप्यकिञ्चित्करत्वात्। तस्या अपि रथित्वरूपित आत्मा कर्त्तृत्वेन प्राधान्यात्परः सर्वस्यास्यात्मेच्छायत्तत्त्वात् स एव महानिति च विशिष्यते। ततोऽपि रथरूपितं शरीरं परं जीवस्य सर्वसाधनप्रवृत्तीनां शरीरायत्तत्त्वात्। ततोपि सर्वान्तरात्मभूतः संसाराध्वनः पारभूतः सर्वान्तर्यामितयोपासनसिद्ध्युपायभूतः प्राप्यश्च परमात्मा परः। सर्वस्य पूर्वोक्तात्मपर्यन्तस्य तत्संकल्पाधीनप्रवृत्तित्वान्नतुपञ्चविंशकः। तदिदमुच्यते “पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति”रिति “दैवं चैवात्रपञ्चममि”ति भगवद्गानाच्च। दैवमत्र पुरुषोत्तम एव “सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं चे”ति वचनात्। तस्य च वशीकरणं तच्छरणागतिरेवेति। अतोऽत्र न कापिलतन्त्रसिद्धप्रधानप्रसंगः। न च तन्त्रसिद्धप्रक्रिया प्रत्यभिज्ञा इन्द्रियेभ्योऽर्थानामर्थेभ्यो मनसश्च परत्वकीर्त्तनस्य तद्धेतुतया सांख्यैरस्वीकारात्। बुद्धिशब्देन च महत्तत्त्वाभिधानं तैरभ्युपगम्यते। तथात्वे महतो महत्परत्वासम्भवात्

महत् आत्मशब्दविशेषणासंगतेश्चातो रूपकविन्यस्ता एव गृह्यन्ते दर्शयति च रूपकपरिकल्पितग्रहणमेव वाक्यशेषः। इन्द्रियादीनां वशीकरणप्रकारं प्रतिपादयन् "यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञानआत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनी"ति ॥१॥

(हिन्दी अनुवाद)

एक कठ शाखावालों की शाखा में आनुमानिक यानी अनुमाने भवम् अनुमान से सिद्ध प्रधान भी जगत् के कारण रूप में सुना जाता है, ऐसा कहें तो कहते हैं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि शरीरेति अर्थात् अव्यक्त शब्द से यहाँ शरीर ही लिया गया है क्योंकि शरीर का ही रथ का रूपक देकर रथ के सादृश्य से ग्रहण किया गया है। किसी सादृश्य विशिष्ट अन्य वस्तु से वस्त्वन्तर की कल्पना को रूपक कहते हैं। भाव यह है कि पहले 'आत्मानं रथिनं विद्धि' से लेकर "तद् विष्णोः परमं पदम्" यहां तक के ग्रन्थ से संसार मार्ग के पारभूत विष्णुपद (वैकुण्ठ धामादि) प्राप्ति के इच्छुक उपासक को रथी एवं उसके शरीर आदि को रथ के अंग रूप में रूपित कर कहा है कि जिसके ये रथ आदि वशीभूत हैं, वही संसार मार्ग के पार विष्णु पद को प्राप्त होता है। तदनन्तर रथ आदि रूप में निरूपित शरीर आदि में जिनसे जिनकी वशीकारिता में प्राधान्य है, उन्हें कहते हैं-"इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्थाः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा यहाँ इन्द्रिय आदि पहले रथ रूप की कल्पना में अश्व आदि रूप में निरूपित किये गये अपने-अपने शब्दों से ही गृहीत होते हैं, परन्तु रथ रूप से निरूपित शरीर को परिशेषात् अव्यक्त[1] शब्द से कहते हैं। इनमें अश्वरूप में निरूपित इन्द्रियों से गोचर रूप में निरूपित विषय वशीकरण में उत्कृष्ट माने गये हैं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुषों का भी विषय सन्निधान होने पर इन्द्रियाँ निग्रह के लिये कठिन हो जाती हैं। इनमें भी प्रग्रह (लगाम) रूप में मन बलवान होता है। क्योंकि मन यदि इन्द्रियों का साथ नहीं दे तो विषय सन्निधान कुछ नहीं कर सकता है और उस मन से भी सारथि रूप में निरूपित बुद्धि बलवती होती है। बुद्धि अध्यवसाय नहीं करे तो मन भी अकिञ्चित्कर होता है। उस बुद्धि से भी रथी रूप में रूपित आत्मा कर्ता होने से प्रधान है इसलिये बुद्धि से भी पर आत्मा है, क्योंकि बुद्धि आत्मा के ही इच्छाधीन है, इसीलिये उसके लिये ही 'महान्' यह विशेषण लगाया गया है। उससे भी परे अव्यक्त (शरीर) है, क्योंकि जीवात्मा की सारी प्रवृत्तियाँ शरीराधीन हैं, कुछ लोगों ने महान् आत्मा से परे के रूप में अव्यक्त शब्द से माया लिया है-जैसा कि भगवान् ने कहा-"दैवी ह्येषा"-इस श्लोक के द्वारा माया को भगवान् ने सबसे प्रबल बताया है। उससे भी परे सर्वान्तरात्मा का संसार मार्ग के पारभूत तथा सर्वान्तर्यामी होने से उपासना सिद्धि के उपायभूतं तथा परम प्राप्य परमात्मा हैं। क्योंकि पूर्वोक्त आत्म-पर्यन्त सबकी परमात्मा के संकल्प अधीन प्रवृत्ति स्थिति है न कि सांख्योक्त पचीसवाँ तत्त्व पुरुष (जीवात्मा)। इसीलिये कहते हैं-"पुरुषान्न परं किञ्चित सा काष्ठा सा परा गति"। भगवान् ने भी कहा-"दैवं चैवात्र

१. उपनिषदाङ्क में अव्यक्त से माया लिया गया है - (सं)

पञ्चमम्" दैव शब्द से यहां पुरुषोत्तम गृहीत हैं। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः मन्त्रः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च"। अर्थात् मैं सबके हृदय में निवास करता हूँ। मेरे द्वारा ही प्राणियों को स्मृति, ज्ञान अपोहन प्राप्त होता है। उन सर्वेश्वर का वशीकरण उनकी शरणागति ही है। इसलिये यहां कपिल तन्त्र सांख्य सिद्धान्त में प्रसिद्ध प्रधान का प्रसंग नहीं है और ना ही सांख्य मत सिद्ध प्रक्रिया की ही यहां प्रत्यभिज्ञा है। इन्द्रियों से अर्थ, अर्थों से मन के परत्व सांख्य द्वारा स्वीकृत नहीं सांख्य बुद्धि शब्द से महत्वत्त्व को लेते हैं। ऐसी दशा में 'बुद्धेरात्मा महान् परः' में महान् शब्द से यदि महतत्त्व लेते हैं तो महत्तत्त्व से महत्तत्त्व बड़ा है- यह कथन असंगत होता है और आत्म शब्द के विशेषण रूप में महान् शब्द का प्रयोग भी असंगत है। इसलिये यहां रूपक रूप में कथित ही गृहीत होते हैं। वाक्यशेष में भी रूपक परिकल्पित का ग्रहण ही दिखाते हैं आगे इन्द्रिय आदि के वशीकरण की प्रक्रिया दिखाते हुए कहते हैं "यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेत् ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद्यच्छेत् शान्त आत्मनि" अर्थात् वाक् आदि कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों को मन में नियन्त्रण करे। मनसीं यह सप्तम्यन्त है। दीर्घ यहां छान्दस प्रयोग है। मन को बुद्धि में नियन्त्रित करें ज्ञान (बुद्धि) को महान् आत्मा जीवात्मा में नियन्त्रित करें और उस आत्मा जीवात्मा का शान्त आत्मा परमात्मा में नियन्त्रित करें॥१॥

ननु व्यक्तशब्दार्हं शरीरं कथमव्यक्तशब्दवाच्यं भवतीत्याशङ्क्याह—

यदि कहें कि व्यक्त शब्द प्रतिपाद्य शरीर अव्यक्त शब्द वाच्य कैसे हो सकता है? तो कहते हैं –

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥१/४/२॥

तुरवधारणे। सूक्ष्मं भूतसूक्ष्ममव्यक्तमेवावस्थान्तरापन्नं शरीरं भवति। कुतः? तदर्हत्वात्। तदवस्थस्यैवाव्याकृतस्य कार्यतार्हत्वात्। कारणात्मना शरीरमव्यक्तशब्दवाच्यं कार्यकारणयोरभेदादित्यर्थः॥२॥

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ 'तु' शब्द अवधारण अर्थ में है। सूक्ष्म माने भूत सूक्ष्म अव्यक्त ही अवस्थान्तर को प्राप्त होकर शरीर होता है। क्योंकि वही कार्यता के योग्य होता है। कारणात्मना शरीर (यानी कारण शरीर) ही अव्यक्त शब्द वाच्य होता है॥२॥

सूक्ष्मं तदर्हत्वात् – सूक्ष्म प्रधान को ही स्थूल शरीर रूप कार्यभाव प्राप्त करने की स्वरूप योग्यता है अथवा कार्यभूत स्थूल शरीर कारण प्रधानभाव होने की योग्यता है। जिस प्रकार "सर्व खल्विदं ब्रह्मं" (यह नाम रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म कार्य तथा ब्रह्म से अभिन्न कहा गया है, उसी प्रकार स्थूल शरीर भी प्रधान कार्य तथा प्रधान से अभिन्न है। इस लिये असंगत नहीं है। अथवा कारण वाचक अव्यक्त शब्द का स्थूल शरीर रूप कार्य के प्रयोग "गोभिः श्रृणीत मत्सरम्" (गो विकार दुध से मत्सर (सोमरस) पकावे, इस श्रुति के कारण

वाचक गो शब्द का जिस प्रकार कार्यभूत दूध से प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार कारण वाचक अव्यक्त शब्द का कार्यभूत स्थूल शरीर में प्रयोग भी उक्त है)

गीता प्रेस से प्रकाशित वेदान्त दर्शन में शरीर शब्द से सूक्ष्म शरीर मानकर अव्यक्त शब्द का प्रयोग उचित बताया है और बताया है कि परम धाम की यात्रा में रथ के स्थान में सूक्ष्म शरीर ही माना जा सकता है-स्थूल शरीर तो यहीं रह जाता है।

ननु यद्भूतसूक्ष्ममव्याकृतमभ्युपगम्यते तदेव भूतकारणं सांख्यैः प्रधानमित्युच्यते। एवञ्च तन्मतात्को विशेष इत्यत्राह–

(यदि कहें कि प्रकृति के अंश को अव्यक्त नाम से स्वीकार कर लिया तब सांख्य शास्त्र में कहे हुए प्रधान को स्वीकार करने में क्या आपत्ति) सांख्य शास्त्र भी भूतों के कारण रूप सूक्ष्म तत्त्व को ही प्रधान-प्रकृति कहता है इस पर कहते हैं।

यदि कहें कि अव्याकृत भूत सूक्ष्म ही यहां अव्यक्त शब्द से गृहीत है, तब तो वहीं भूतों का कारण सूक्ष्म भूत सांख्य वादियों का प्रधान है। इस प्रकार उस मत से आपके मत में क्या विशेषता है ? तो कहते हैं ॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥१/४/३॥

परमकारणभूतपरमात्माधीनत्वात्प्रधानमर्थवत् स्वकार्योत्पत्तिफलवत्। अयंभावः न वयं प्रधानं तत्कार्याणि च स्वरूपेण नाङ्गीकुर्मः। अपितु परब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन तदात्मकतयैव प्रधानं स्वकार्ये प्रवर्त्तते, तदिहाव्यक्तशब्देन गृह्यते। नाब्रह्मात्मकं स्वतन्त्रन्तन्त्रसिद्धमिति। श्रुतिस्मृतिषु सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः परब्रह्मात्मकतादर्शनात्। यद्वा "यदीन्द्रियेभ्यः परा"इत्यादिना रूपकविन्यस्तस्यात्मादेर्वशीकार्यत्वे परत्वमुच्यते, तर्हि "अव्यक्तात्पुरुषः परः, पुरुषान्न परमि"ति पुरुषः किमर्थं गृह्यते? इति। तत्राह "तदधीनत्वादर्थवत्"। रथित्वादिरूपितमात्मादिकं सर्वं परमात्माधीन- त्वादर्थवत्प्रयोजनवत्। अतः स एवेह वशीकार्य्यकाष्ठात्वेन "पुरुषान्न परं किंचिदि"त्युच्यते। तदर्थमिह रूपकविन्यस्तेषु गृह्यमाणेषु परत्वेन तस्यापि ग्रहणम् ॥३॥

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् परम कारणभूत परमात्मा के अधीन होकर ही प्रधान निज कार्य सृष्टि उत्पादन रूप फल से युक्त हो सकता है। तात्पर्य यह है कि हम (वेदान्ती) प्रधान (प्रकृति) तथा उसके कार्यों को स्वरूपतः अस्वीकार नहीं करते। अपितु हमारे सिद्धान्त के अनुसार (श्रुति सिद्धान्तानुसार) परब्रह्म को सर्वात्मा माना गया है। उस परमात्मा से प्रेरित होकर ही प्रकृति सृष्टि आदि करती है। (मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्) कहा गया है-वह ब्रह्मात्मक अव्यक्त यहां अव्यक्त शब्द से गृहीत है। हम अब्रह्मात्मक स्वतन्त्र सांख्य मत सिद्ध प्रधान नहीं

मानते। क्योंकि श्रुतियों एवं स्मृतियों में सर्वत्र समस्त चित् अचित् वस्तु को परब्रह्मात्मक माना गया है। अथवा "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा रूपक द्वारा विन्यस्त आत्मा आदि के वशीकरण की प्रक्रिया में आत्मा आदि के वलीयस्त्व कहा जाता है, तब अव्यक्तात् पुरुषः परः (अव्यक्त से पुरुष बलवान् हैं-पुरुष से बलवान् कोई नहीं, यहाँ पुरुष का ग्रहण क्यों करते हैं-इस जिज्ञासा में कहते है-तदधीनत्वादर्थवत्' अर्थात् रथी आदि रूप में निरूपित् आत्मा आदि सभी परमात्मा के अधीन हैं, इसलिये पुरुष का ग्रहण सार्थक है, प्रयोजन युक्त है, इसलिये वही बलवान् या प्रक्रिया में सर्वश्रेष्ठ है-इसी उद्देश्य से कहते हैं-"पुरुषान्न परं किञ्चित्"। इसलिये रूपक द्वारा प्रतिपादित तत्वों में पुरुष का भी ग्रहण है॥३॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥१/४/४॥

सांख्यैर्हि गुणपुरुषविवेकज्ञानान्मुक्तिं वदद्भिः प्रधानं ज्ञेयत्वेन स्मर्यते। इह च न तथाऽतो न तन्त्रसिद्धप्रधानस्याव्यक्तशब्देन ग्रहणम्॥४॥

(हिन्दी अनुवाद)

सांख्य शास्त्र गुण (प्रकृति) पुरुष के विवेक ज्ञान से मुक्ति मानता है। इस तरह उनके मत में प्रधान ज्ञेय तत्त्व के रूप में माना जाता है। वेदान्त में ऐसा नहीं है। इसलिये यहां (श्रुति में) सांख्य तन्त्र सिद्ध प्रधान का अव्यक्त शब्द से ग्रहण नहीं है॥४॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञोहि प्रकरणात्॥१/४/५॥

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" इत्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्वं वदतीयं श्रुतिरिति चेदत्राह। नेति। प्राज्ञः परमात्मैवात्र निचाय्यत्वेन निर्दिश्यते, न प्रधानम्। कुतः? प्रकरणात् "तद्विष्णोः परमं पदम्, एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरि"त्यादि परमात्मन एव हि प्रकरणम्। तस्य चाशब्दत्वादिधर्मवत्त्वं "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यामि" त्यादिश्रुतिसिद्धम् "महतः परमि"ति च "बुद्धेरात्मा महान्परः" इति पूर्वमन्त्रनिर्दिष्टाज्जीवात्परत्वमेवोच्यते॥५॥

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते" (अर्थात् जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत् से परे तथा ध्रुव निश्चल है, उसे (निचाय्य जानकर मनुष्य मृत्यु लोक से छूट जाता है) इस श्रुति द्वारा अव्यक्त शब्द से प्रतिपादित प्रधान

को ज्ञेय बताया गया है, ऐसा कहें तो ठीक नहीं-यहाँ प्राज्ञ परमात्मा ही ज्ञेयत्वेन कहा गया है-प्रधान नहीं। क्योंकि यहाँ परमात्मा का प्रकरण है-"तद् विष्णोः परमं पदम्" जो विवेक शील बुद्धि रूपी सारथि वाला व्यक्ति है, वह विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है। "एषु सर्वेषु भूतेषु गूढ़ात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः" (वह परमात्मा सम्पूर्ण भूतों में गुप्तरूप से विराजमान है, वह सबकी (अनधिकारी की) दृष्टि में प्रकाशित नहीं होता। उसे सूक्ष्मदर्शी सन्त ही निष्पाप एवं सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देख पाते हैं। इस प्रकार वहाँ परमात्मा का ही प्रकरण है, उसमें अशब्दत्वादि धर्म "यत्तदद्रेश्यमेग्राह्यम्" इत्यादि श्रुतिसिद्ध हैं। 'महतः परम्' द्वारा पूर्वमन्त्र द्वारा निर्दिष्ट जीव से परत्व कहा गया है॥५॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥१/४/६॥

इतश्च नाव्यक्तशब्दवाच्यं प्रधानम्। यतोऽत्र प्रकरणे त्रयाणामेव परमात्मतदुपासनोपासकानामेवमुपन्यासो वक्तव्यतया प्रश्नश्च ज्ञेयतया कठवल्लीषु दृश्यते। नतु सांख्यतन्त्रसिद्धस्य प्रधानादेरपि। तथा हि नचिकेतसे मृत्युना वरत्रये प्रतिज्ञाते प्रथमेन स स्वस्मिन् पितुः सौमनस्यं प्रतिलभ्य द्वितीयेन मुक्त्युपायभूतां नाचिकेताग्निविद्यां वृतवान् "सत्यमग्निं स्वर्ग्यमध्येषी"त्यादिना स्वर्गशब्दोऽत्र मोक्षसाधारणः। तस्यां हि "हिरण्यमयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिरावृतः धीरा अपयन्ति ब्रह्मविदः स्वर्ग लोकमि"ति "अपदृत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोकेज्येये प्रतितिष्ठती"ति तैत्तिरीयवृहदारण्यतलवकारादिषु मोक्षशास्त्रेषु तथादर्शनात्। अमृतत्वं भजन्तइति तत्रस्थानां जन्ममृत्योरभावश्रवणाच्च। तत्रैवोत्तरत्र क्षयफलकर्मनिन्दादर्शनाच्च। "ध्रुवसूर्यांतरं यत्तु नियुतानि चतुर्दशः। स्वर्गलोकः सोऽत्र कथितो लोकसंस्थानचिन्तकैरिति"ति। सूर्यध्रुवांतर्वर्त्तिलोकविशेषे। पौराणिकपरिकल्पित-स्वर्गशब्दरूढिस्तु सांख्यपरिकल्पिताव्यक्तशब्दरूढिवदिहानादरणीया। तृतीयवरेण च परमपुरुषार्थरूपपरमात्मप्राप्तिलक्षणमोक्षयाथात्म्यस्वरूपप्रश्नमुखेन प्राप्यस्वरूपं प्राप्तृ-स्वरूपमुपायभूतोपासनस्वरूपं च पृष्टम्। "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेषं वरस्तृतीयः" इति। एवं मोक्षस्वरूपे पृष्टे तदुपदेशयोग्यतापरीक्षापूर्वकं प्रतिवचनमपि "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति तदेवं सामान्यत उपदिष्टे देवमितिनिर्दिष्टस्य प्राप्यस्य स्वरूपं मत्वेति प्रतिपन्नस्य ज्ञानरूपोपायस्य स्वरूपं धीरइति प्रतिपन्नस्य प्राप्तुश्च स्वरूपं शोधयितुं पुनरप्य"न्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादि"त्यनेन पुण्यापुण्यरूपसाधनविलक्षणस्योपासनस्य "अन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अन्यत्र भूताच्चभव्याच्च यदि" त्यनेन कालापरिच्छिन्नस्योपेयस्य च प्रश्ने कृते प्राप्तुरपि चेतनस्य नित्य-त्वात्प्राप्यान्तर्गतत्वाच्च ततएव तस्यापि तन्त्रेण प्रश्नः कृतः। अथवोपेयप्रश्नपरमेवेदं वाक्यं "अन्यत्र धर्मादन्यत्राफर्मादि"ति प्रक्रमस्थाऽन्यत्रशब्दद्वयसामानाधिकरण्यवत्। "अन्यत्रास्मात् कृताकृतादन्यत्र भूतादि"त्युपरितनान्यत्र शब्दद्वयस्यापि सामानाधिक-

रण्यप्रतीतेरेवमप्युपेयप्रश्ने उपेतुरन्तर्भावादुपायस्याप्यन्तर्भूतत्त्वात्त्रयमेव पृष्टम्। ततो ब्रह्मपति-पादकतया प्रणवं प्रशस्य तद्वाच्यप्राप्यप्राप्तृस्वरूपम्वाचकरूपमुपायञ्च कथयन्प्रणवमुपदिश्य "न जायते" इत्यादिना प्राप्तृस्वरूपं "अणोरणीयानि" त्यारभ्य, क "इत्था वेदे" त्यन्तेन प्राप्यस्वरूपं "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य" इत्यादिना मध्ये उपासनस्य भक्तिरूपतां चोपदिष्टवान्। तत उपास्योपासकयोरेकगुहाप्रवेशेन परमात्मनः सूपास्यत्त्वम् "आत्मानं रथिनमि"त्यादि "तत्कवयो वदन्ती" त्यन्तेनोपासानप्रकारमुपासकस्य विष्णुपदप्राप्तिं चोक्त्वा अशब्दमित्यादिनोपसंहृतवानिति त्रयाणामेवात्र ज्ञेयतयोपन्यासः प्रश्नश्च। न तन्त्रसिद्धप्रधानस्येह ग्रहणम्।।६।।

(हिन्दी अनुवाद)

कठ उपनिषद् में, तीन का ही ज्ञेय रूप से उल्लेख हुआ है तथा इन्हीं तीनों के सम्बन्ध । में ही प्रश्न भी किया गया है)

कठोपनिषद् में नचिकेता ने अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा–इन्हीं तीनों को जानने के लिए प्रश्न किया है। इनमें अग्नि विषयक प्रश्न इस प्रकार है–"स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रबूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्" (क०उ० १/१/१३) अर्थात् हे यमराज ! आप स्वर्ग की प्राप्ति के साधन रूप अग्नि विद्या समझाकर कहिये। तदनन्तर जीव विषयक प्रश्न है–"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायस्तीति चैके एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्" (क०उ० १/१/२०) अर्थात् मरे हुए मनुष्य के विषय में कोई तो कहता है यह रहता है और कोई कहता है कि नहीं रहता है। इस शङ्का का निर्णय आपके द्वारा जानना चाहता हूँ। तत्पश्चात् परमात्मा के विषय में इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया गया है –

"अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद्।।"

(क०उ० १/२/१४)

'जो धर्म अधर्म दोनों से, कार्य कारण रूप जगत् से, भूत वर्तमान और भविष्यत्–इन तीन भेदों वाले काल से तथा तत्सम्बन्धी समस्त पदार्थों से अलग है, ऐसे जिस तत्त्व को आप जानते हैं, उसका मुझे उपदेश दीजिये। यहां न तो प्रकृति विषयक जिज्ञासा है, न उसका उत्तर।

वे०कौ०प्र०–इस हेतु से भी यहां अव्यक्त शब्द वाच्य प्रधान नहीं हैं, क्योंकि यहां (नाचिकेत उपाख्यान) में परमात्मा, उनकी उपासना तथा उपासक जीव–इन तीनों के ही सम्बन्ध में प्रश्न है (प्रभाकार ने पितृ प्रसन्नता को गौण मान लिया है। उनकी दृष्टि में मुख्य तीन ही प्रश्न हैं–अग्नि विद्या, जीव विद्या एवं परमात्म विद्या) न कि सांख्य तन्त्र प्रसिद्ध प्रधान आदि का। श्रुति में यम द्वारा नचिकेता को तीन वरदान प्राप्त करने की आज्ञा प्राप्त होने पर प्रथम वर द्वारा उसने अपने प्रति पिता का सौमनस्य प्राप्त कर द्वितीय वर द्वारा मुक्ति के उपायभूत नाचिकेत अग्निविद्या की जानकारी प्राप्त करना चाहा–"स त्वमग्निं स्वर्ग्य

मध्येषि"। स्वर्ग शब्द यहां मोक्ष वाची है-अर्थात् मोक्ष साधक अग्नि विद्या के उपदेश का वरदान मांगा। स्वर्ग शब्द यहां मोक्ष वाचक है-इसमें प्रमाण है-"हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिरावृतः धीरा अपयन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकम्" धीर वीर विवेकी ब्रह्मवेत्ता स्वर्गलोक जाते हैं। "अपहृत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतिष्ठिति" (समस्त पापों को नाशकर ब्रह्मवेत्ता स्वर्ग लोक में जाता है) ऐसा तैत्तरीय, बृहदारण्यक एवं तवलकार आदि श्रुतियों में देखा गया है। ब्रह्मवेत्ता का प्राप्य प्राकृत स्वर्ग इन्द्राधिष्ठित नहीं होता। अतः इन वाक्यों में स्वर्ग शब्द मोक्ष वाचक है, उसी तरह-"स त्वमग्निं स्वर्गमध्येषि" यहां भी स्वर्ग शब्द मोक्षवाचक ही जानना चाहिये। "अमृतत्वं भजन्ते" इस वाक्य द्वारा उस स्वर्ग लोक में स्थित जनों में जन्म मृत्यु का अभाव कहा गया है। और वहीं विनाशी फलवाला होने से कर्म की निन्दा की गई है। सूर्यलोक एवं ध्रुवलोक के मध्यवर्ती लोक विशेष को ही पुराणों में स्वर्ग कहा गया है जैसा कि पुराण का वचन है-"ध्रुव-सूर्यान्तरं यत्तु नियुतानि चतुर्दश। स्वर्ग लोकः सोऽत्र कथितो लोकसंस्थानचिन्तकैः।" परन्तु यहां पौराणिकों द्वारा कल्पित रूढ़ स्वर्ग सांख्य परिकल्पित रूढ़ अव्यक्त शब्द की तरह आदरणीय नहीं है। तृतीय वर द्वारा परम पुरुषार्थ परमात्म प्राप्तिरूप मोक्ष के यथार्थ स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न के माध्यम से प्राप्य स्वरूप (भगवत् स्वरूप) प्राप्तृ स्वरूप (जीव का स्वरूप) तथा उपायभूत उपासना का स्वरूप भी पूछा-"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम् वराणामेष वरस्तृतीयः" इस प्रकार मोक्ष का स्वरूप पूछने पर यम ने पहले उसमें उपदेश की पात्रता है या नहीं, इसकी परीक्षा ली-बदले में कई प्रलोभन दिये परन्तु जब नचिकेता ने समस्त प्रलोभनों को ठुकरा दिया, तब कहा-"तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं"। अर्थात् वह परमात्मा कष्ट से दर्शनीय है, परम गुह्य है। सर्वत्र कारण रूप से अनुप्रविष्ट है, 'गुहा-गुप्त' स्थान हृदयाकाश तथा परम व्योमाख्य निजधाम में स्थित है, हृदय में भी अत्यन्त अन्तरंग स्थान में सुप्रतिष्ठित है। उस पुराण पुरुष पुरुषोत्तमाख्य परम देव को अध्यात्म योग से जानकर धीर पुरुष हर्ष शोकादि प्राकृत विकारों को सर्वथा त्यागकर देता है। इस प्रकार सामान्यतः उपदेश प्राप्त कर लेने पर देव शब्द से निर्दिष्ट प्राप्य परमात्म स्वरूप 'मत्वा' इस शब्द से निर्दिष्ट ज्ञानरूप उपाय स्वरूप, धीर शब्द से निर्दिष्ट प्राप्ति कर्ता जीवात्मा के स्वरूप के परिशोधन के लिये पुनः प्रश्न करते हैं-"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" इत्यादि। इस वाक्य से पुण्य पाप से विलक्षण उपासना

विशेष- नचिकेता के तीन प्रश्न-१-वृद्धा गौओं के दान से उत्पन्न यज्ञ वैगुण्य निवृत्ति पूर्वक यज्ञ फल की प्राप्ति, क्रोध का उपशम एवं अपना परिचय, २-स्वर्ग साधन अग्नि विद्या, ३-आत्म विषयक प्रश्न (नोट-नचिकेता के प्रलोभन में न आने पर प्रसन्न होकर यम ने उसके हृदय में ब्रह्मविषयक रुचि पैदा की। तदनन्तर उसने परमात्म विषयक प्रश्न भी किये आत्मा परमात्मा दोनों को आत्मत्व जाति में मानकर एक प्रश्न मान लिया गया।

मूल उ० में पितृ प्रसन्नता, अग्निविद्या तथा जीवात्म विषयक तीन प्रश्न माने गये हैं। "एषः तृतीयो वरः" परमात्म विषयक प्रश्न अवान्तर प्रश्न है-इसलिए उसे अलग नहीं माना। गीता प्रेस के वे०द० में पितृ प्रसन्नता को गौण मानकर तीन प्रश्न-अग्नि विद्या, जीव विद्या एवं परमात्म विद्या को तीन प्रश्न माना है। (स)

का 'अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्' अर्थात् कृत कार्य तथा अकृत कारण यानी कार्यकारणात्मक संघात से विलक्षण भूत तथा भविष्य से भी विलक्षण जो आप जानते हैं, वह कहो (नचिकेता का यह परमात्म विषयक प्रश्न है) इस वाक्य से काल से सर्वथा अपरिच्छिन्न उपेय प्राप्य तत्व का प्रश्न होने से प्राप्ति कर्ता चेतन जीव के भी नित्य होने तथा प्राप्य के अन्तर्गत होने से उसी एक प्रश्न से जीवात्मा का भी तन्त्र द्वारा प्रश्न किया गया है।

अथवा उपेय (परमात्म) स्वरूप जिज्ञासापरक ही यह वाक्य है-"अन्यत्र धर्मात्---" इस वाक्य में धर्म अधर्म दोनों के साथ पृथक् पृथक् दो अन्यत्र शब्द का कथन होने पर भी कृत-अकृत दोनों को अन्यत्र शब्द के साथ सामानाधिकरण प्रतीत होता है। इसी प्रकार उपेय प्राप्य को उपेतृ उपाय कर्ता (जीव) के साथ नित्य साकांक्ष होने से उपाय का भी उसी में ही अन्तर्भाव होने से उपेय परमात्मा, उपेता-जीवात्मा तथा उपाय-उपासना, ये तीनों ही यहां जिज्ञास्य होते हैं। (अर्थात् उक्त मन्त्र में तीनों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे गये हैं। उसके बाद ब्रह्म के प्रतिपादक रूप में प्रणव (ओंकार) का उपदेश कर "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (विद्वान् जीव न जन्मता है, न मरता ही है। न कहीं से आता है, न कभी हुआ किन्तु वह नित्य सिद्ध है) यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, शरीर के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता, इत्यादि उपदेश वाक्य से प्राप्तृ जीवात्मा का स्वरूप तथा 'अणोरणीयान्' से लेकर 'क इत्था वेद यत्र सः' यहां तक के ग्रन्थों (मन्त्रों) से प्राप्य स्वरूप का वर्णन किया है, जिसका भाव है कि वह परमात्मा अणु से अणु तथा महान् से भी महान् है। वह इस जीवात्मा के हृदय गुहा में स्थित रहता है। उनको विषय वासना से रहित पुरुष उन परमात्मा की ही कृपा से शोक विहीन होकर देखता है या उनका दर्शनकर समस्त शोकों से रहित हो जाता है, जो परमात्मा का परम महिम स्वरूप है। यहां से लेकर "क इत्था वेद यत्र सः" वह कहां रहता है-इसे कौन जानता है, यहां तक के ग्रन्थ से प्राप्य परमात्म का स्वरूप तथा "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" इत्यादि वाक्य से मध्य के उपासना को भक्ति रूपत्व का उपदेश किया। तदनन्तर "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य" इत्यादि वाक्य से जीवात्मा परमात्मा को एक ही स्थान हृदयरूपी गुहावस्था में प्रवेश कथन द्वारा परमात्मा में सुलभ या उपास्यत्व वर्णन कर "आत्मानं रथिनं विद्धि" इत्यादि वाक्य से आरम्भ कर "तत्कवयो वदन्ति" यहां तक के वाक्यों द्वारा उपासना का प्रकार तथा उपासक को विष्णुपद की प्राप्ति का कथन किया। फिर "अशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि वाक्यों से उपसंहार किया। इस प्रकार कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान में उपास्य परमात्मा उपासक जीवात्मा तथा उपासना इन तीनों का ज्ञेयत्वेन उपन्यास है-प्रश्न है, सांख्य सिद्ध प्रधान का नहीं ॥६॥

विशेष– प्रलोभनों के त्याग से नचिकेता की निष्कामता जानकर उसे ब्रह्म विद्या का उत्तम अधिकारी समझते हुए परमात्मा में रुचि उत्पन्न करने के लिये कहा-'तं दुर्दर्शमित्यादि।' इसे सुनकर नचिकेता के हृदय में ब्रह्म विषयक जिज्ञासा हुई और उसने पूछा-"अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मादित्यादि"। (सं)

महद्वच्च ॥१/४/७॥

यथा च सांख्यैर्महच्छब्दो बुद्धौ प्रयुक्तोऽपि "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, बुद्धेरात्मा महान्परः, महान्तं विभुमात्मानमि"त्यादिवैदिकप्रयोगेषु पुरुषात्मशब्दसामानाधिकरण्यात्न महत्तत्त्वमभिधत्ते। तथाऽव्यक्तशब्दोऽपि वैदिकप्रयोगे न तान्त्रिकप्रधानमभिधातुं योग्यः ॥७॥

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् जिस प्रकार सांख्य शास्त्री यद्यपि महत् शब्द का बुद्धि में प्रयोग करते हैं। (सांख्य में महत्तत्व से बुद्धि लिया गया है। परन्तु वेदान्त में "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्" (मैं इस महापुरुष परमात्मा को जानता हूँ) "बुद्धेरात्मा महान् परः" (बुद्धि से महान् आत्मा (जीव) है) तथा "महान्तं विभुमात्मानम्" (उस महान् व्यापक परमात्मा को) इत्यादि वैदिक प्रयोग में पुरुष तथा आत्म शब्द के सामानाधिकरण्य (सान्निध्य) में महत्तत्व नहीं लिया जाता, इसी प्रकार अव्यक्त शब्द भी वैदिक प्रयोग में सांख्य मत सिद्ध त्रिगुणात्मक (अब्रह्मात्मक) जड़ प्रधान प्रतिपादन योग्य नहीं है।॥७॥

इत्यानुमानिकाधिकरणम्।

इस प्रकार आनुमानिक अधिकरण पूरा हुआ।

अथ चमसाधिकरणम्

अब चमस अधिकरण प्रारम्भ होता है॥७॥

चमसवदविशेषात् ॥१/४/८॥

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः" इति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रेऽजाशब्देन किं स्मृतिसिद्धा प्रकृतिः प्रत्यभिज्ञायते ? उत वैदिकी ब्रह्मात्मिकेति संशयः। स्मृतिसिद्धेति पूर्वपक्षः, अजामित्यकार्यत्वश्रवणात्। सृजमानामिति कर्त्रर्थशानचा स्वातन्त्र्येण स्वसमान-प्रजास्रष्टृत्वश्रवणाच्चेत्येवं प्राप्ते, आह नानेन मन्त्रेण सांख्यतन्त्रसिद्धा प्रकृतिर्निर्दिश्यते। कुतः ? अविशेषात्, ब्रह्मात्मिकाऽजाप्रतिपादनेप्यजात्वाविशेषात् चमसवत्। यथा "अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" इतिबृहदारण्यकमन्त्रे चम्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेर्भक्षणसाधनत्वमात्रप्रतीतेः न स्वातन्त्र्येणायं नामासौ चमसोऽभिप्रेत इतिविशेषो निर्णेतुं शक्यते। अर्थप्रकरणादिभि-

---

विशेष– नाचिकेत विद्या में — 'नायमात्मा प्रवचनेन-----------' ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके अणोरणीयान्। 'यस्यच ब्रह्म--------' तं दुर्दशं गुहाहितम् – 'अशब्दमस्पर्शम्' 'आत्मानं रथिनं विद्धि------' इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः पुरुषान्न परं किञ्चित् विज्ञानसारथिर्यस्तु–सोऽध्वन पारमाप्नोति तद् विष्णोः परम यद् इत्यादि वचन आए हैं। (सं)

र्विशेषव्यवस्थापकैर्विना यौगिकशब्देप्यर्थविशेषानिश्चयात्। नचात्र सांख्यतन्त्रसिद्धाजाग्रहका अर्थप्रकरणादयो दृश्यन्ते। नाप्यस्याः स्वातन्त्र्येण स्रष्टृत्वं स्रष्टृत्वमात्रप्रतीतेर्ब्रह्मात्मिकाया अपि साऽविरुद्धा परनियुक्तेऽपि तक्षादौ तक्षति काष्ठमिति कर्त्रर्थप्रत्ययदर्शनात्। तावन्मात्रेण स्वतन्त्रप्रकृतित्वनिश्चयासम्भवात्। अतो नास्मिन्मन्त्रेऽजाशब्देन सांख्यतन्त्रसिद्धप्रधानगन्धोऽपि। श्रुत्यर्थस्त्वस्मत्कृतश्वेताश्वतरप्रकाशिकायां द्रष्टव्यः। यथाच चमसमन्त्रस्य वाक्यशेषे "यथेदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस" इति शिरोरूपश्चमसविशेषो निश्चितस्तथा न तन्त्रसिद्धप्रधानग्रहणे विशेषोऽस्ति॥८॥

(हिन्दी अनुवाद)

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः" यह श्वेताश्वतर उपनिषद् का मन्त्र है इसका अर्थ है, जो अजन्मा है, नित्य है, वह एक है अद्वितीय है, उसके समान कोई नहीं है। अकेली उस अजा से कैसे विचित्र जगत् की उत्पादकता संभव है, इस पर बोले "लोहिते"ति (अर्थात् वह सत्वरजस्तमो गुणात्मक है अर्थात् गुण के भेद से जगत् की उत्पत्ति हो सकती है। वही बह्वीः प्रजाः सृजमाना– समस्त प्रजाओं की सृष्टि करती है जो पुरुष उसका भोग कर उसे परित्याग कर देते हैं–उन्हें नमस्कार है) इस मन्त्र में अजा शब्द से क्या सांख्य सम्मत प्रकृति (अब्रह्मात्मक) ली गई है अथवा वैदिकी ब्रह्मात्मिका? यहां पूर्वपक्ष होता है कि वह प्रकृति सांख्य मत सिद्ध अब्रह्मात्मक प्रकृति है, क्योंकि 'अजाम्' इस शब्द में उसे अकार्य कहा गया है–किसी का कार्य नहीं है। एतावता वह सबका कारण है। सृजमानां शब्द से कर्तृवाचक शानच् प्रत्यय से उसे स्वतन्त्र रूप से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर्त्री कहा गया है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, इस मन्त्र से सांख्य मत सिद्ध प्रकृति का निर्देश नहीं है, क्योंकि 'अविशेषात्' ब्रह्मत्मिका अजा का प्रतिपादन होने पर भी अजात्व में कोई भेद (फर्क) नहीं पड़ता–'चमसवत्' जैसे "अर्वाग्विलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न" यह बृहदारण्यक उपनिषद् का मन्त्र है। (२/२/३) (चमस शब्द रूढ़ि से सोमपान के लिये निर्मित पात्र विशेष का वाचक होने पर भी बृहदारण्यक के उक्त मन्त्र में शिर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार यहां अजा शब्द भगवान् की स्वरूप भूता अनादि अचिन्त्य शक्ति के अर्थ में हैं) अवयव शक्ति से केवल अजात्व का प्रतिपादन है–किसी विशेष की प्रतीति नहीं होती। इसलिये· वैदिक चमस शब्द की

विशेष– श्रुति में जहाँ कहीं भी प्रधान की चर्चा है। वहाँ उसे कहीं भी स्वतन्त्र नहीं माना है। किन्तु ब्रह्माधीन ब्रह्म शक्ति माना है–जैसे श्वे०उ० में आया "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" श्वे० १/१/ क्षर प्रधान भगवान् की अपराशक्ति अक्षर जीवभूता भग्की परा शक्ति दोनों के ईश भगवान् ही है। एतावता जो व्यक्ति "अक्षरादपि चोत्तम" में अक्षर शब्द से प्रधान लेते हैं, वह श्रुति विरुद्ध है मुक्ति श्रुति–यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति जब जीवात्मा (पश्य) जगत् कर्ता, ब्रह्मा के कारण दिव्य प्रकाश रूप अथवा कमनीय कान्ति परमात्मा का दर्शन करता है, तब वह पुण्य तथा पाप को धोकर भगवत् साम्य को प्राप्त करता है। (शं)

तरह वाक्यान्तर के बिना यहां भी विशेष अर्थ के निर्णय में अशक्य होती है–इसी आशय से मूल में कहते हैं। 'यथा' यहां चम्यते अनेन इति चमस' इस व्युत्पत्ति से चमस शब्द से भक्षण साधनत्व मात्र की प्रतीति होती है, न कि स्वतन्त्र रूप से अमुक नामक वस्तु चमस है। ऐसा निर्णय नहीं कर सकते। नाही यहां सांख्य मत सिद्ध अब्रह्मात्मक प्रकृति को साधक अर्थ एवं प्रकरण आदि ही दिखाई देते हैं। उक्त मन्त्र (अजामेका) में स्वतन्त्र रूप से प्रकृति के स्रष्टृत्व का ज्ञापक कोई शब्द नहीं है वहां तो केवल स्रष्टृत्व मात्र का कथन हैं, वह स्रष्टृत्व ब्रह्मात्मिका प्रकृति में संभव है, उसे (अजा) प्रकृति को ब्रह्मात्मक मानने पर भी कोई विरोध नहीं है। दूसरे द्वारा नियुक्त (प्रेरित) होने पर भी तक्षा (बढ़ई) तक्षति काष्ठम्' तक्षा काष्ठ काटता है–ऐसा प्रयोग होता है–कर्तृवाचक प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिये केवल अजा शब्द में प्रयोग होने से ही स्वतन्त्र प्रकृति का निश्चय संभव नहीं है। इसलिये इस मन्त्र में अजा शब्द से सांख्य सिद्धान्तानुसारी प्रधान का गन्ध भी नहीं है। श्रुति का अर्थ हमारे द्वारा रचित श्वेताश्वतर प्रकाशिका ग्रन्थ में देखना चाहिये। दूसरी बात चमस मन्त्र के वाक्य शेष में जिस प्रकार 'यथेदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस' के द्वारा शिरो विशेष रूप चमस का निश्चय होता है, उस प्रकार सांख्य मत सिद्ध स्वतन्त्र प्रधान के ग्रहण में कोई विशेष आधार नहीं है ॥८॥

अस्ति तु ब्रह्मात्मिकाया अजाया ग्रहणे विशेष इत्याह –

ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॥१/४/९॥

तुर्निश्चये "तद्देवाज्योतिषां ज्योतिः, अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ज्योतिर्ब्रह्म उपक्रमः कारणं यस्याः सा ज्योतिरुपक्रमा ब्रह्मकारणा। अस्यामेवोपनिषदि "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामि"त्युपक्रमवाक्यात्। उत्तरत्रापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः, मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्, यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" इत्यादिना ब्रह्मात्मिकाया एव प्रतिपादितत्वात्। "तथाह्यधीयत एके" हि यस्मात्तथा ब्रह्मकारणकत्वमस्या अजाया एके शाखिन आथर्वणिका मुण्डकोपनिषदि अधीयते "तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" इति ब्रह्मशब्दोदितं त्रिगुणात्मकं प्रधानमिहाभिप्रेतम् "मम योनिर्महद्ब्रह्मे"ति भगवद्गानाच्च। तैत्तिरीयके च "अणोरणीयानि"त्यादिना ब्रह्म प्रस्तुत्य "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि"त्यादिना प्राणोपलक्षितसकलप्रपञ्चोत्पत्तिं ततोऽभिधाय तदनन्तरं पठितस्य "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" इति मन्त्रस्य ब्रह्मात्मकप्रकृतिपरतया वक्तव्यत्वादिहापि तथात्वस्यावश्यम्भावाच्च ब्रह्मात्मिकैव प्रकृतिरजा मन्त्रप्रतिपाद्या ॥९॥

(हिन्दी अनुवाद)

(इदं तच्छिरः एष ह्यर्वाग्बिलश्चमसः (बृ० २/२/३) यह वह शिर है) इस वाक्य शेष से

चमस मन्त्र में शिर ही चमस है, यह जिस प्रकार जाना जाता है, उस प्रकार सांख्य सिद्ध 'अजा' निर्धारण में यहां पर कोई बीज नहीं है, अतः ब्रह्मात्मिका अजा अजा मन्त्र में पूर्वापर वाक्यों की एक वाक्यवश जाननी चाहिए। " तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः" (ज्योतियों का भी जो ज्योति, उस ब्रह्म की देवता लोग उपासना करते हैं, "अथ यदतः परोदिवो ज्योतिः"(इस द्युलोक से भी परे जो ज्योति है, दीप्यमान है) इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध ज्योतिः पदार्थ ब्रह्म उपक्रम आरम्भकर (प्रवर्तक) कारण है। वह ज्योति उपक्रमा ब्रह्मात्मक प्रकृति ही अजा पदार्थतया जानना चाहिये। वेद में विशेषतः ब्रह्म के स्वरूप गुण निर्णय प्रसङ्ग में अन्य प्रसङ्ग का अभाव होने से ब्रह्मात्मिका प्रकृति को ही उक्त मन्त्र में जानना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म' (ब्रह्म वादी लोग बोलते हैं-कारण भूत ब्रह्म क्या है) इत्यादि वाक्य से उपक्रम कर "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छः" इत्यादि वाक्य से सूचित कालवादी बौद्ध, मीमांसक, जैन, नैयायिक सांख्य आदि समस्त पक्षों का अनादर कर "ते ध्यान योगानुगता अपश्यन्" (वे ध्यान योग के अनुगत होकर निजगुणों से निगूढ़ इन परमात्म शक्ति को देखें। इस उपक्रम वाक्य से अन्तिम अजा मन्त्र में जगत् कारण ज्योतिरादि पद-वाच्य ब्रह्म की शक्तिरूपा वेद सिद्धा अजा ही जाननी चाहिये, यह 'ज्योतिरुप क्रमात्तु' इस सूत्रानयन का अर्थ है।

वेदोक्त अजा को वेद से ही दृढ़ता के लिये पुनः प्रतिपादन करते हैं-"तथा ह्यधीयते एके" हि अर्थात् जिस कारण इस अजा को ब्रह्मात्मकत्व एक शाखा वाले आथर्वणिक मुण्डकोपनिषद् में पढ़ते हैं-"तस्मादेतत् ब्रह्म नाम रूप मन्त्रञ्च जायते" (उस अक्षराख्य ब्रह्म से यह नामरूपात्मक सकारण जगत् उत्पन्न होता है) इत्यादि। मम योनिर्महद् ब्रह्म' इत्यादि भगवद्-वचन भी है। तैत्तरीय महानारायण भी -"अणोरणीयान् (जो अणु से अणु, महान् से भी अधिक महान् है) इत्यादि मन्त्र से ब्रह्म का प्रस्ताव कर "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" इत्यादि (सात प्राण उस ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं) इत्यादि मन्त्र वाक्यों से प्राण शब्द से उपलक्षित सकल प्रपञ्च की ब्रह्म से उत्पत्ति का अभिमान कर उसके अनन्तर पठित-'अजामेकां' इस मन्त्र का अजा रूप प्रकृति परक होने से श्वेताश्वतरोपनिषत् पठित "अजामेकाम्" इत्यादि मन्त्र में भी ब्रह्मात्मक प्रकृति परत्व का आवश्यक सर्वत्र वेद मन्त्र प्रतिपाद्य अजा ब्रह्मात्मक ही है, सांख्य तन्त्र प्रसिद्ध स्वतन्त्र प्रकृति नहीं॥९॥

नन्वाकाशादीनां ब्रह्मोपादानकत्वेन ब्रह्मात्मकत्ववत् प्रकृतेरपि ब्रह्मोपादानकत्वेनैव ब्रह्मात्मकत्वस्य वक्तव्यतयाऽनुत्पन्नायाश्च तस्या ब्रह्मोपादानकत्वासम्भवेन ब्रह्मात्मकत्वा-सम्भवइत्याशङ्कयाह—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जैसे आकाश आदि ब्रह्मोपादानक होने से ब्रह्मात्मक है, उसी तरह प्रकृति को भी ब्रह्मोपादानक होने के कारण ही ब्रह्मात्मत्व कहना होगा और अजाप्रकृति किसी में उत्पन्न न होने के कारण ब्रह्मोपादानक संभव नहीं है, इस आशङ्का पर कहते हैं—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१/४/१०॥

चशब्दः शङ्कानिरासार्थः। अस्याः प्रकृतेर्ब्रह्मोपादानकत्वमजात्वं च द्वयं सम्भवति। कुतः? कल्पनोपदेशात्, कल्पनायाः क्लृप्तेर्विश्वसृष्टेरुपदेशात् "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम- कल्पयदि"ति प्रयोगदर्शनात्। उपदिश्यते हि सूक्ष्मशक्तिकाद्ब्रह्मणो विश्वसृष्टिरिहापि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतदि"ति। अयंभावः। यदा प्रलयसमयेऽति- सूक्ष्मतया नामरूपविभागानर्हा कारणावस्थान्वयिनी परब्रह्माश्रिता तच्छक्त्यात्मनावतिष्ठते तदैषाजेत्युच्यते। यदा तु सृष्टिसमये उद्भूतसत्त्वादिगुणत्वेन विभक्तनामरूपा व्यक्तादिशब्दिता तेजोबन्नादि रूपेण च परिणता लोहितशुक्लाद्याकाराऽवतिष्ठते तदा ब्रह्मोत्पन्नेत्युच्यते, इति न विरोधः मध्वादिवत्। यथा मधुविद्यायाम् "असौ वा आदित्यो देवमध्वि" त्युपक्रम्य "अथ तत ऊद्ध्र्वम् उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्येस्थाता" इत्यन्तमन्त्रे आदित्यस्यैकस्यैव कारणावस्थायां मधुत्वव्यपदेशा- नर्हसूक्ष्मात्मना स्थितस्य कार्य्यावस्थायां वस्वादिदेवभोग्यमधुत्वेनोदयास्तमयत्वेन च कल्पनमविरुद्धं तद्वत्॥१०॥ इतिचमसाधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

इस प्रकृति में ब्रह्मोपादनकत्व एवं अजात्व दोनों संभव हैं–क्योंकि 'कल्पनोपदेशात्' कल्पना का विश्व सृष्टि का उपदेश है–"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।" ऐसा प्रयोग देखा गया है। सूक्ष्म शक्ति विशिष्ट ब्रह्म से विश्व सृष्टि का उपदेश यहाँ भी कहा गया है–"अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतद्" यह भाव है कि जब प्रलय के समय नाम रूप विभाग के अयोग्य अति सूक्ष्म रूप में कारणावस्था में पर ब्रह्म के आश्रित उनकी शक्ति के रूप में अवस्थित रहती है, तब यह अजा नाम से कही जाती है और यही जब सृष्टि के समय उद्भूत सत्त्व आदि गुण रूप में नाम रूप से विभक्त होता है, तब इसका नाम व्यक्त होता है–जब यह तेज, अय, अन्नाप आदि रूप में परिणत होकर लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण रूप में अवस्थित होती है, तब यह ब्रह्म उत्पन्न कहलाती है– इसमें दृष्टान्त कहते हैं–"मध्वादिवत्" जिस प्रकार मधुविद्या में असौ वा आदित्यो देव मधु (यह आदित्य सूर्य वसु आदि देवताओं के लिये मधु रूप है– इस प्रकार उपक्रम कर "अथ तत ऊर्ध्वम्", इसके बाद उदित होते हैं उससे पूर्व नहीं उगते हैं, न अस्त हाते हैं, किन्तु मध्य में ही स्थित रहेंगे) इत्यन्त मन्त्र में सूर्य को कारणावस्था में मधुत्व व्यपदेश के अयोग्य सूक्ष्म रूप से स्थित रहने वाले को ही कार्यावस्था में वसु आदि देवभोग्य मधुरूप में तथा उदय एवं अस्त में युक्त होने से कल्पना विरुद्ध नहीं है, उसी प्रकार यही नित्य सिद्धा प्रकृति नित्य सिद्ध जीवों की बन्ध मोक्ष व्यवस्था में अजा मन्त्र में कारण रूप से दिखाई गयी है, इस प्रकार की कल्पना में कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार चमस अधिकरण पूरा हुआ।

अथ संख्योपसंग्रहाधिकरणम्।

"अथ यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतमि"ति बृहदारण्यकश्रुतौ सांख्याभिमतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्रतिपाद्यन्ते उत न ? इति विषये तान्येव प्रतिपाद्यन्त इति पूर्वपक्षः। एवं च श्रुतिनिर्णीततत्त्वविशदीकरणपरा या "मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इतिस्मृतेः श्रुतिमूलकत्वेन तत्संगृहीतानां तत्त्वानामपि श्रौतत्वात् पञ्चविंशतिसंख्याकानि सांख्यांगीकृततत्त्वानि श्रुतिसिद्धान्येवेति। पञ्चपञ्चजना इति पञ्चकृत्वआवृत्ताः पञ्चपञ्चपञ्चाः पञ्चविंशतिरित्यर्थः। "संख्ययाव्ययासन्ने"ति समासः। "बहुव्रीहौ संख्येये डजि"ति डच्। पञ्चपञ्चाश्च ते जनास्तत्त्वानि चेति कर्मधारयः। यद्वा पञ्चजन इति समाहारे समासः। लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। ते कतीत्यपेक्षायां पञ्चशब्दविशेषिताः पञ्चजनसमूहा इति पञ्चविंशति- तत्त्वावगतौ ते के इत्यपेक्षायां मोक्षाधिकारान्मुमुक्षुज्ञेयाः स्मृति प्रसिद्धाः प्रकृत्यादय एवेति। एवं सति "तमेव मन्य आत्मानं विद्वानि" त्यस्य पञ्चविंशकमात्मानं ब्रह्मभूतं विद्वानमृतो भवतीत्यर्थ इति प्राप्त आह—

(हिन्दी अनुवाद)

अब संख्या उपसंग्रह अधिकरण आरम्भ होता है।

"अथ यस्मिन् पञ्च पञ्जनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोपम्" (बृ०उ०४/४/१७) (जिसमें पांच पञ्चजन और आकाश भी प्रतिष्ठित है, उसी आत्मा को मृत्यु से रहित मैं विद्वान् अमृत स्वरूप ब्रह्म मानता हूँ) इस बृहदारण्यक श्रुति में सांख्य अभिमत पचीस तत्त्व कहे गये हैं या नहीं ? ऐसा संदेह होने पर वे ही पचीस तत्त्व यहां कहे गये हैं, ऐसा पूर्व पक्ष होता है। इस प्रकार श्रुति द्वारा निर्णीत तत्त्वों का विचार करने वाली "मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त षोडकश्च विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः" इस सांख्य स्मृति के श्रुति मूलक होने से उसमे संगृहीत पचीस तत्त्वों के श्रुति सम्मत होने से पचीस संख्या वाले सांख्य स्वीकृत तत्त्व भी श्रुति सिद्ध ही है। 'पञ्च पञ्चजनाः' अर्थात् पचीस तत्त्व। यहां "संख्ययाव्ययासन्न" सूत्र से समास हुआ है तथा "बहुव्रीहौ संख्येये डच्" से डच् प्रत्यय। पञ्च पञ्चाश्च ते जना तत्त्वानि च ऐसा कर्मधारय समास है। अथवा पञ्चजन यहाँ समाहार में समास है। यहां छान्दसत्वात् लिंग व्यत्यय है। वे कितने हैं तो बोले पञ्च शब्द विशेषित पञ्चजन समूह। इस प्रकार पचीस तत्त्व का अवगम होने पर वे पचीस तत्त्व कौन ? ऐसी अपेक्षा में कहते हैं–मोक्षाधिकार होने से वे तत्त्व मुमुक्षुज्ञेय वे प्रसिद्ध प्रकृति आदि ही हैं। ऐसी स्थिति में "तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्" इस श्रुति का पचीस तत्त्वात्मक ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् अमृतत्व को प्राप्त होता है, यह अर्थ है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥१/४/११॥

अपि सम्भावनायाम्। पञ्चपञ्चजना इत्यत्र पञ्चविंशतिसंख्योपसङ्ग्रहणादपि न तन्त्रसिद्धप्रधानादयोऽत्र प्रतयन्ते। कुतः? नानाभावात्, श्रुतिस्थपञ्चजनशब्दितानां यस्मिन्निति निर्दिष्टब्रह्माधारतया ब्रह्मात्मकत्वप्रतत्या तान्त्रिकेभ्यः पृथक्त्वात्। अतिरेकाच्च। यस्मिन्निति पञ्चपञ्चजनस्याकाशस्य चाधारतया निर्दिष्टस्य परमात्मन आकाशस्य चातिरेकात्पञ्चपञ्चजना इत्यत्र पञ्चविंशतिसंख्याप्रततेरेवासम्भवः। अतो न बहुब्रीहिगर्भितकर्मधारयः न वा समाहारः। किन्तु पञ्चजना इति संख्याशब्दः संज्ञापरः। यथा सप्तर्षयः सप्तेत्यत्रैकैकोऽपि सप्तर्षिपद- वाच्यस्तथा पञ्चजनशब्दोऽपि बोध्यः। "दिक्संख्ये संज्ञायामि"ति स्मरणात्। "पुमांसः पञ्चजनाः" इत्यमरकोशाच्च। तथाचावयवार्थमनपेक्ष्य पुरुषाभिधानपरोऽयं पञ्चजनशब्द इति सिद्धम् ॥११॥

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ 'अपि' शब्द संभावना में है। पञ्च-पञ्च जना यहाँ पचीस तत्त्वों के संग्रह होने पर भी सांख्य स्मृति में प्रसिद्ध प्रधान आदि तत्त्व प्रतीत नहीं होते-क्योंकि 'नाना भावात्' अर्थात् श्रुति वर्णित पञ्चजन प्रतिपाद्य तत्त्वों के 'यस्मिन्' पद निर्दिष्ट ब्रह्माधारक होने से इसमें ब्रह्मात्मकत्व की सिद्धि होने से इनके सांख्य तन्त्र प्रसिद्ध तत्त्वों से पृथकत्व सिद्ध हो जाता है। 'अतिरेकाच्च' दूसरी बात उक्त मन्त्र 'यस्मिन् पञ्च-----आकाशश्च प्रतिष्ठितः। इस मन्त्र में पञ्च पञ्चजन के अतिरिक्त आकाश के भी आधार रूप में निर्दिष्ट परमात्मा एवं आकाश भी पचीस तत्त्वों से अतिरिक्त रूप में वर्णन होने से उक्त श्रुति के केवल पचीस तत्त्वों की प्रतीति ही संभव नहीं है। इसलिये न यहां बहुव्रीहि गर्भित कर्मधारय है, न ही समाहार। बल्कि पञ्चजना, 'यहां संख्या शब्द संज्ञा परक है। जैसे सप्तर्षयः यहां सप्तर्षि रूढ़ि संज्ञा है (जो कोई सात ऋषि सप्तर्षि नहीं कहला सकते) यहां सप्त में एक ऋषि भी सप्तर्षि पद वाच्य होते हैं। उसी प्रकार पञ्चजन शब्द भी समझना चाहिये। "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" ऐसा पाणिनि का सूत्र है। "पुमांसः पञ्चजनाः" ऐसा अमरकोश का भी वचन है। इस प्रकार यहां अवयवार्थ की अपेक्षा न करके यहां पञ्चजन शब्द पुरुष वाचक है। ऐसा सिद्ध होता है ॥११॥

पुरुषस्यात्रानुपपत्त्या के पुनस्ते पञ्चजना नामेत्यपेक्षायां लक्षणया पुरुषसम्बन्धिनः प्राणादयः पञ्चशब्दवाच्या इत्याह-

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १/४/१२॥

"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुरि"ति वाक्यशेषात्प्राणादयः पञ्चजनाः। ते कतीत्यपेक्षायां पञ्चेति पञ्चत्वसंख्यान्वयात्, पञ्च प्राणादय एव पञ्चजनशब्दवाच्याः श्रुतावभिप्रेता न स्मृत्युक्तप्रकृत्यादय इति सिद्धम् ॥१२॥

नानाभावात्- पृथक्त्वात्- बिना नाना हि पृथक् इति नै घण्टुका (सं)

(हिन्दी अनुवाद)

उक्त मन्त्र में पुरुष की उपपत्ति न होने से वे पञ्चजन कौन हैं? इस अपेक्षा में पुरुष शब्द से लक्षण या पुरुष सम्बन्धी पञ्च प्राण का ग्रहण है, वे कहते हैं—"प्राणादयो वाक्य शेषात्" प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं 'मनसो यं मनो विदुः' इस वाक्यशेष से पुरुष सम्बन्धी प्राण ही पञ्चजन शब्द से गृहीत हैं। वे प्राण कितने हैं तो इस अपेक्षा में कहते हैं—पञ्चेति पञ्चत्व संख्या का अन्वय होने से पञ्च प्राण आदि ही यहां पञ्चजन शब्द वाच्य है। श्रुति में अभिप्रेत है-न कि सांख्य स्मृति के उक्त प्रकृति आदि ॥१२॥

ननु काण्वमाध्यन्दिनशाखयो'र्यस्मिन्पञ्चजना' इति मन्त्रस्य समानत्वेऽपि काण्ववाक्यशेषस्यान्नशब्दहीनत्वात्कथं पञ्चत्वपूर्तिरित्याशङ्क्याह—

यदि कहें कि काण्व एवं माध्यन्दिन शाखा में 'यस्मिन् पञ्चजनाः' इस मन्त्र में समान रूप में पाठ होने पर भी काण्व शाखा में वाक्य शेष में अन्न शब्द न होने से पञ्चत्व संख्या की पूर्ति कैसे होगी? ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१/४/१३॥

एकेषां काण्वानां पाठे अन्ने असति 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरि'ति पूर्वमन्त्रपठितज्योतिषा पञ्चत्वसंख्या पूर्येत। ननु ज्योतिःशब्द उभयपाठे समानः कथमेकेषामेव तद्ग्रहो नान्येषामिति वैषम्यं नियामकाभावादिति चेन्न। अपेक्षाभेदस्यैवात्र नियामकत्वात्। माध्यन्दिनानां समानमन्त्रपठितप्राणादिपञ्चकस्य लाभात्। अन्यमन्त्र-पठितज्योतिःशब्दापेक्षाभावः। काण्वानां तु पञ्चमस्यालाभात् भवत्यन्यस्यापेक्षेति भावः। यथा समानेऽप्यतिरात्रे वचनभेदात् षोडशिनो ग्रहणाग्रहणे तद्वत्।।१३।। इति संख्योपसंग्रहाधिकरणम्

अथ कारणत्वाधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

एक काण्व शाखा के पाठ में अन्न के न होने पर "तद् देवाः ज्योतिषां ज्योतिः" इस पूर्व मन्त्र में पठित ज्योति शब्द से पञ्चत्व संख्या की पूर्ति होगी। यदि कहें कि ज्योतिः शब्द दोनों पाठ में समान रूप से पठित है, फिर एक का ही क्यों ग्रहण होगा, अन्य का नहीं, ऐसा वैषम्य कैसे होगा, कारण इसका कोई नियामक नहीं है ? तो ऐसा नहीं कह सकते, यहां अपेक्षा का भेद ही नियामक होगा ! माध्यन्दिन शाखा वालों को समान मन्त्र मे पठित प्राण आदि पञ्च वायुओं का लाभ है, यहां अन्य मन्त्र में पठित ज्योतिः शब्द की अपेक्षा का अभाव है। काण्व शाखा वालों के लिये पाँचवें तत्त्व का लाभ नहीं होने से उन्हें अन्य की अपेक्षा होती है। जैसे समान अतिरात्र में भी वचन भेद से षोडशी के ग्रहण एवं अग्रहण होते हैं, इस प्रकार संख्या उपसंग्रह अधिकरण पूरा हुआ।

अब कारणत्वाधिकरण प्रारम्भ होता है–

ननु यदुक्तं ब्रह्मैकहेतुकं विश्वमिति तन्न शक्यते वक्तुम्, वेदान्तवाक्येषु सृष्टेरनेककारणकत्वदर्शनात्। तथाहि क्वचित् "सदेव सोम्येदमग्र आसीदि"ति सद्धेतुका सृष्टिराम्नायते। क्वचित्तु "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यात्महेतुका, क्वचित्तु "असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सदजायत" तथा "असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीदि"त्यसद्धेतुका, क्वचिच्च "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" इत्याकाशहेतुका, "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति" इति क्वचित्प्राणहेतुका, "आत्मैवेदमग्र आसीत्, ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"त्यादिना बृहदारण्यक आत्मब्रह्महेतुका च सृष्टिः प्रोच्यते। अतोऽनेकहेतुकत्वाज्जगतो ब्रह्मैव कारणमिति न निश्चेतुं शक्यते। किन्तु प्रधानैककारणकं तदिति निश्चीयते। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति श्रवणात्। अस्य च परिणामितया चासत्सच्छब्दयोः स्वोत्पन्नतत्त्वपूरकतया प्राणशब्दस्य आकाशब्रह्मात्मशब्दानां विभुत्वेन तत्रैव सम्भवात्। एवं निश्चिते ईक्षणादयस्तत्र गौणा भवितुमर्हन्ति। अतः स्मृतिन्यायप्रसिद्धत्वात् प्रधानमेव जगद्धेतुतया वेदान्तवाक्यैः प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्याह–

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि जगत् का एक मात्र कारण ब्रह्म ही है, ऐसा जो कहा है, वह नहीं कह सकते क्योंकि वेदान्त वाक्यों में सृष्टि के अलग-अलग अनेक कारण बताये गये हैं। जैसे कहीं तो 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस श्रुति में सत् से सृष्टि का वर्णन किया है, कहीं "एतस्मादात्मनः आकाशः" श्रुति में आत्मा को सृष्टि का कारण बताया है, कहीं "असद् वा इदमग्र आसीत् ततः सदजायत" में असत् से सृष्टि का वर्णन है, कहीं "अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" इस श्रुति में आकाश को जगत् कारण बताया है, कहीं "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति" इस श्रुति में प्राण से जगत् की सृष्टि कही है। कहीं "आत्मैवेदमग्र आसीत्" ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् इत्यादि मन्त्रों द्वारा बृहदारण्यक श्रुति में आत्मा या ब्रह्म से सृष्टि का वर्णन है। इस प्रकार जब जगत् के कारण के सम्बन्ध में नाना मत हैं तो ब्रह्म ही जगत् का कारण है - ऐसा निश्चय कैसे किया जा सकता? बल्कि प्रधान ही एक मात्र जगत् का कारण है-ऐसा निश्चय है-"तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" ऐसा श्रवण है। इसके परिणामी होने से असत् तथा सत् शब्द में इनके द्वारा उत्पन्न तत्त्वों के पूरक होने से प्राण शब्द तथा आकाश, ब्रह्म एवं आत्म शब्द इन में विभु होने से प्रधान में ही संभव है। इस प्रकार जब श्रुतियों द्वारा यह निश्चित होता है कि प्रधान ही जगत् का कारण है-तब 'तदैक्षत' सोऽकामयत' आदि श्रुतियों में ईक्षण शब्द का प्रयोग गौण भी हो सकता है। इसलिये स्मृति एवं न्याय प्रस्थान में प्रसिद्ध प्रधान ही जगत् कारण रूप में वेदान्त वाक्य समर्थन करते हैं- इस आशंका में कहते हैं–

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१/४/१४॥

चशब्दः शङ्कानिरासे, तुशब्दार्थे वा। यथाशब्दः प्रकारवचने। सर्वज्ञः सर्वेश्वरः परमात्मैव जगदेकहेतुरिति निश्चेतुं शक्यते। कुतः? आकाशादिपदचिह्नितेषु सर्वेषु सृष्टिवाक्येषु यथाव्यपदिष्टस्योक्तेः। लक्षणसूत्रादिषु सार्वज्ञ्यादियुक्ततयाऽस्माभिर्यथाव्यपदिष्टं प्रतिपादितं ब्रह्म तस्यैकस्यैवाकाशादिकारणत्वेन सर्ववेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वात्। तथाहि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इतिपूर्वप्रकृतमेव ब्रह्म "तस्माद्वा एतस्मादि"त्यादिना कारणत्वेन व्यपदिश्यते। तथा "सदेव सोम्येदमि"त्यादिषु "तदैक्षत बहुस्यामि" ति निर्दिष्टमेव ब्रह्म "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिना व्यपदिश्यते। एवमन्योपनिषद्वाक्येष्वपीयमेव रीतिर्द्रष्टव्या। सृष्टिवैचित्र्यं च न कर्त्तृभेदमापादयति, यथा कुलालो मृण्मयपात्रजातं निर्मिमाणः कदाचित् घटपूर्विकां सृष्टिं कदाचिच्छरावपूर्विकां च करोति, स्वयं तु न भिद्यते। तथा परमात्माऽपि कदाचिदाकाशादिकां कदाचित्तेजआदिकां सृष्टिं कुर्वन्स्वयं न भिद्यते।।१४।।

(हिन्दी अनुवाद)

यहां 'च' शब्द शंका के निरास में है तथा 'यथा' शब्द प्रकार अर्थ में है। सर्वज्ञ सर्वेश्वर परमात्मा ही जगत के एक मात्र कारण हैं, ऐसा निश्चय किया जा सकता है, क्योंकि आकाश आदि समस्त कारण वाक्यों अथवा सृष्टि वाक्यों में "यथा व्यपदिष्टोक्ते-लक्षण सूत्रादि जगत् कारण को सार्वस्य आदि चेतन धर्म विशिष्टत्वेन जिस प्रकार हमने ब्रह्म कारण वाद का प्रतिपादन किया, उसी ब्रह्म का आकाश आदि कारण वाक्यों द्वारा समस्त वेदान्त वाक्य प्रतिपादन करते हैं अर्थात् सत् असत् आकाश आदि जितने भी कारण वाक्य हैं, सब ब्रह्म के ही वाचक हैं। जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति से पूर्व प्रकृत ब्रह्म ही-"एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित है। इसी प्रकार 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, इत्यादि श्रुति में तदैक्षत अंश से निर्दिष्ट ब्रह्म ही तत्तेजोऽसृजत्' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार अन्यान्य उपनिषदों में भी यही रीति देखनी चाहिए। सृष्टि वैचित्र्य कर्ता में भेद नहीं करता है। जैसे मिट्टी के पात्रों का निर्माण करने वाला कुम्हार कभी घट पहले बनाता है, कभी सकोरा पहले बनाता है, इससे उसके स्वयं में भेद नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा भी पहले आकाश से सृष्टि करता है-कभी तेज पहले बनाता है—इससे परमात्मा में भेद नहीं होता॥१४॥

तथासत्यसदव्याकृतशब्दयोः का गतिरितिचेत्तत्राह—

यदि कहें कि ब्रह्म ही कारण है तो फिर असत् तथा अव्याकृत शब्दों की क्या गति होगी? इस पर कहते है-"समाकर्षात्"।

समाकर्षात् ॥१/४/१५॥

"सोऽकामयत" इति प्रकृतस्यैव बहुभवनसंकल्पपूर्वकं विश्वं सृजतः सर्वज्ञस्य ब्रह्मणः "असद्वा इदमि"त्यत्र समाकर्षात् सृष्टेः पूर्वं नामरूपाविभागात् तत्सम्बन्धितयाऽस्तित्वाभावेन ब्रह्मैवासच्छब्देनोक्तम्। एवम् "आदित्यो ब्रह्मे"ति पूर्वप्रकृतस्य ब्रह्मण एवासदेवेदमित्यत्र समाकर्षो बोध्यः। "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमि"त्यत्राप्यव्याकृतशब्देन तदन्तरात्मा परमात्मैवोच्यते। "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन आत्मेत्युपासीत" इत्युत्तरवाक्ये स इति सर्वनाम्नाऽव्याकृतशब्दोदितस्य ब्रह्मण एव समाकर्षात्। प्रधानपरत्वे तु तस्याचेतनस्यान्तःप्रविश्य प्रशासितृत्वाद्यसम्भवात्। "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानामि"त्यादौ ब्रह्मण एव तत्प्रसिद्धेः। व्याक्रियत इति कर्मकर्त्तरि लकारः। अतो ब्रह्मैवैकं जगद्धेतुरिति सिद्धम्।।१५।। इति कारणत्वाधिकरणम्।४।

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् "सोऽकामयत" इस श्रुति द्वारा बहुभवन संकल्पपूर्वक विश्व की सृष्टि करने वाले सर्वज्ञ ब्रह्म का 'असद् वा इदम्' इस श्रुति में आकर्षण है। सृष्टि से पूर्व नाम रूप का विभाग नहीं था। इस लिये नाम रूपात्मक जगत् का अस्तित्व नहीं था। इसलिये ब्रह्म ही असत् शब्द से कहा गया है। इसी प्रकार 'आदित्यो ब्रह्म' इस श्रुति द्वारा पूर्व प्रकृत ब्रह्म का "असद् वा इदमग्र आसीत्" यहां भी अव्याकृत शब्द से उसके अन्तरात्मा परमात्मा ही कहा जाता है। "स एष इह प्रविष्टः आनखग्रेभ्यः पश्यन् चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रम् मन्वानो मन आत्मेत्युपासीत्" इस उत्तर वाक्य में 'स' इस सर्वनाम से अव्याकृत शब्द से प्रतिपादित ब्रह्म का बोधक है। इस वाक्य को प्रधान परक मानने पर उस अचेतन प्रधान के अन्दर प्रवेश कर प्रशास्तृत्व आदि असंभव है। बल्कि "अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्" इत्यादि मन्त्रों द्वारा ब्रह्म में ही प्रशास्तृत्व आदि प्रसिद्ध है। 'व्याक्रियते' में कर्मकर्तरि में लकार है। इस प्रकार एक मात्र ब्रह्म ही जगत् के हेतु हैं–यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार कारणत्व अधिकरण पूरा हुआ।

अथ जगद्वाचित्वाधिकरणम्

पुनरपि साङ्ख्यो निरस्यते। तथाहि कौषीतकीब्राह्मणे बालाक्यजातशत्रुसंवादे बालाकिना "ब्रह्म ते ब्रुवाणी"ति प्रतिज्ञाय "य एष आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः" इत्यादिना ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टान्पुरुषान् निरस्याजातशत्रुणा "यो वै बालाके ! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म स वै वेदितव्यः" इति तस्मा उपदिश्यते। किमत्र वेदितव्यतया निर्दिष्टः साङ्ख्यतन्त्रसिद्धः प्रकृत्यध्यक्षो भोक्ता पुरुषः उत परमात्मा? इति

संशये, तन्त्रसिद्धः प्रकृतिवियुक्तः पुरुष एवेति। "यस्य चैतत्कर्म" इति कर्मसम्बन्धोक्तेः। कर्मणश्च पुण्यापुण्यरूपस्य क्षेत्रज्ञ एव तत्परवशे सम्भवात्, परमात्मनि तत्सम्बन्धानभ्युपगमात्, जगदुत्पत्तेश्च तत्तद्भोक्तृकर्मनिमित्तत्वात्। उत्तरत्रापि "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिना भोक्ता जीव एवाजातशत्रुणा बालाकिं प्रति प्रतिपादितः। तथा परस्तादपि। "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति, एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते, एवमेवैते आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इति भोक्तुर्जीवस्यैव लिङ्गं दृश्यते। "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवती"ति प्राणशब्दोऽपि जीवस्य प्राणभृत्त्वात्तत्रैवोपपद्यते। यद्वाऽस्मिन्नात्मनि वर्तमाने प्राण इति व्यधिकरणे सप्तम्यौ प्राणशब्दस्य मुख्यप्राणपरत्वेऽपि स्वतस्तस्य जीवोपकरणत्वात् जीव एवात्र प्रतिपाद्यः। ततश्चायमर्थः। य एतेषामादित्यमण्डलादिस्थानां जीवभोगोपकरणभूतानां पुरुषाणां कर्त्ता कारणभूतः, यस्य चैतत्कारणत्वहेतुभूतं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म स प्रकृतिवियुक्ततया ज्ञातव्य इति। ततश्च "ब्रह्म ते ब्रुवाणी"ति वक्तव्यत्वेनोपक्रान्तं ब्रह्म स एव तदतिरिक्तेश्वरासिद्धेः। ईक्षादीनां च कारणगतानां चेतनधर्मत्वात्तत्रैवोपपत्तेः भोक्तृपुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगद्धेतुरिति प्राप्त आह—

(हिन्दी अनुवाद)

अब जगद्वाचित्व अधिकरण प्रारम्भ होता है। अब यहाँ पुनः सांख्य मत का खण्डन करते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण में बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में बालाकि ने अजातशत्रु से "ब्रह्म ते ब्रवाणि" ऐसी प्रतिज्ञा करके "य एष आदित्ये पुरुषश्चन्द्रमसि पुरुषः" (जो यह आदित्य में पुरुष है, वह ब्रह्म है, जो यह चन्द्रमा में पुरुष है, वह ब्रह्म है) यहां तक सोलह पुरुषों की उपासना करने वाला इस ब्रह्म रूप में निर्दिष्ट पुरुषों का खण्डन कर अजातशत्रु ने कहा, "यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य चैतद् कर्म स वै वेदितव्यः" (अर्थात् हे बालाके जो इन पुरुषों का कर्ता है और जिसका यह कर्म है, उसे जानना चाहिये) ऐसा उसके लिये उपदेश दिया। यहां प्रश्न है कि यहां ज्ञातव्य पुरुष सांख्य शास्त्र प्रसिद्ध प्रकृति का अध्यक्ष भोक्ता पुरुष है या परमात्मा? ऐसा संशय होने पर पूर्व पक्षी कहते है कि यहाँ सांख्य तन्त्र प्रसिद्ध प्रकृति से वियुक्त पुरुष (जीवात्मा) ही हैं, क्योंकि "यस्य चैतत् कर्म" इस श्रुति द्वारा इसमें कर्म का सम्बन्ध कहा गया है। पुण्यापुण्य रूप कर्म ब्रह्माधीन (प्रकृति अधीन) क्षेत्रज्ञ (जीव) में ही संभव है। परमात्मा में उसका सम्बन्ध नहीं माना गया है। जगत् की उत्पत्ति जगत् (विषय) भोक्ता जीव के कर्मनिमित्तक होती है। आगे भी "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादि श्रुतियों द्वारा भोक्ता जीव ही अजातशत्रु द्वारा बालाकि को कहा है। तथा आगे भी "तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते, यथा वा स्वाः, श्रेष्ठिनं भुञ्जन्ति एवमेवैष प्रज्ञात्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते, एवमे वैते आत्मान एनं भुञ्जन्ति" इस श्रुति में भोक्ता जीव का ही लिंग दिखाई देता है "अथास्मिन् प्राण एकधा भवति" यहां प्राण शब्द भी जीव के प्राणधारी होने से उसी में उपपन्न होता है। अथवा इस "आत्मनि वर्तमाने प्राण" यहां दोनों व्यधिकरण सप्तमी है। प्राण शब्द के

मुख्य प्राण परक मानने पर भी उसे स्वतः (स्वयं) जीव का उपकरण होने से जीव ही यहाँ प्रतिपाद्य है। इस प्रकार यह अर्थ हुआ जो इन आदित्य मण्डलादि स्थित जीव के उपकरण भूत पुरुषों का कर्ता कारणभूत है और जिसका इसमें कारणत्वभूत पुण्य पाप रूप कर्म है, उसे प्रकृति से भिन्न रूप में जानना चाहिए। इस प्रकार "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" इस मन्त्र द्वारा वक्तव्य रूप में उपक्रमित ब्रह्म वही है। कारण उसके अतिरिक्त ईश्वर की सिद्धि नहीं है। कारण गत ईक्षण आदि चेतन धर्म होने से ब्रह्म में ही उत्पन्न होते हैं। इस तरह भोक्तृ पुरुष से अधिष्ठित प्रकृति ही जगत् का हेतु है-ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं-

जगद्वाचित्वात् ॥१/४/१६॥

परमात्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते। न तन्त्रोक्तः कर्मपरवशः क्षेत्रज्ञः। कुतः? "यस्य चैतत्कर्म" इति एतच्छब्दान्वितस्य क्रियत इति व्युत्पत्त्या चेतनाचेतनात्मक-जगद्वाचित्वात्। नच कर्मशब्देनात्र पुण्यापुण्यलक्षणं कर्मैव वाच्यम्। "ब्रह्म ते ब्रुवाणी"ति प्रतिज्ञाय बालाकिना ब्रह्मत्वेन निर्दिष्टषोडशपुरुषाणामब्रह्मतयाऽजातशत्रु स्तमब्रह्मवादिनं "मृषा वै खलु मासंवदिष्ठाः" इत्यपोद्य तदविदितं तन्निर्दिष्टपुरुषकर्तृपरमात्मानं वेद्यत्वेन "यो वै बालाके!" इत्यादिनोपदिष्टवान्। अन्यथा पुण्यपापकर्मसम्बन्धिपुरुषाणां बालाकिनैव ज्ञातत्वेन वेदितव्यतया तदुपदेशस्य नैष्फल्यात्। अतश्चिदचिदात्मकप्रपञ्च-कार्यत्ववाच्येव कर्मशब्दो, न पुण्यापुण्यमात्रवाची, क्रियामात्रवाची वा। एवं सत्येतच्छब्दोपि सार्थकः, तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणोपस्थापितनिखिलचिदचिन्मिश्रजगद्विषयकत्वेन पुरुषमात्रकर्तृत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वात्। तथा चैष वाक्यार्थः। हे बालाके ! ये त्वया ब्रह्मत्वेन पुरुषा उक्ता एतेषां यः कर्त्ता ते यत्कार्यभूताः यस्य एतच्चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगच्च कर्म कार्यभूतं स सर्वेश्वरः परमात्मा वेदितव्य इति।।१६।।

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ परमात्मा का ही ज्ञातव्य रूप में उपदेश है, न कि सांख्य तन्त्र में उक्त कर्माधीन क्षेत्रज्ञ। क्योंकि "यस्य चैतत् कर्म" इस श्रुति में एतत् शब्द से अन्वित कर्म शब्द का 'क्रियते इति कर्म इस व्युत्पत्ति से कर्म चेतनाचेतनात्मक जगत्का वाची है। कर्म शब्द से पुण्य पाप रूप कर्म' वाच्य है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद बालाकि से ब्रह्मत्वेन निर्दिष्ट सोलह पुरुषों को ब्रह्मत्व न होने से बालाकि को अब्रह्मवादि का "मृषा वै खलु मासंवदिष्ठा" इत्यादि वाक्य से अपोहन करके "यो वै बालाके" (हे बालाकि जो ही इन पुरुषों का कर्ता हैं, इत्यादि वाक्यों से बालाकि से निर्दिष्ट पुरुषों में कर्ता परमात्मा का वेद्यत्वेन उपदेश है अन्यथा पुण्य-पाप सम्बन्धी पुरुषों को बालाकि द्वारा ही ज्ञात होने से वेदितव्यतया अजातशत्रु से भी उसी का उपदेश होने में कुछ फल नहीं इसलिये चिदचिदात्मक कार्यवाची ही यहां कर्मशब्द है, पुण्यापुण्यवाची अथवा क्रियमाणवाची

नहीं, ऐसा अर्थ मानने में 'एतत्' शब्द भी सार्थक है, क्योंकि उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपस्थापित निखिल चिदचित् मिश्र जगद्विषयक रूप में जीवमात्र कर्तृत्व शंका निवृत्यर्थकत्व है। इस प्रकार "यो वै बालाके" इस वाक्य का यह अर्थ हैं-हे बालाके ! तुमने ब्रह्म रूप में जो पुरुष कहे हैं, इन सबका जो कर्ता और वे जिसके कार्यरूप है तथा जिसका यह चिदचिदात्मक सारा जगत् कर्म कार्य भूत है, वह सर्वेश्वर परमात्मा जानना चाहिए॥16॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१/४/१७॥

"एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते"इत्यादिभोक्तृत्वरूपजीवलिङ्गात्। "अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवती"ति मुख्यप्राणलिङ्गाच्च तदन्यतरो ग्राह्यो न परमात्मेति चेत्। तस्य परिहारः प्रतर्दनविद्यायां "प्राणस्तथानुगमादि"त्यधिकरणेन व्याख्यातः। तत्र खलूपक्रमोपसंहाराभ्यां वाक्यस्य ब्रह्मविषयत्वे निश्चिते अन्यलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेतव्यानीति वर्णितम्। इहाप्युपक्रमे "ब्रह्म ते ब्रुवाणी"ति विषयत्वेन ब्रह्मोक्तम्। मध्येऽपि "यस्य चैतत्कर्म" इति निखिलजगदात्मककर्मकर्त्तृत्वेन ब्रह्मैवोक्तम्। उपसंहारश्च "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इति तदुपासकस्य निरतिशयफलश्रवणाद्ब्रह्मपर एवेति। एवमस्य वाक्यस्य ब्रह्मपरत्वे निश्चिते जीवादिलिङ्गान्यपि तत्परत्वेन नेयानीति। नच प्रतर्दनवाक्यनिर्णयेनैवेदमपि वाक्यं निर्णीतार्थमिति शङ्क्यम्। "यस्य चैतत्कर्म" इति कर्मपदस्य तत्राविचारात्॥१७॥

(हिन्दी अनुवाद)

"एवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते" इत्यादि प्रमाणों द्वारा भोक्तृत्व रूप जीव लिंग से "अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति" यहाँ मुख्य प्राण का लिंग होने से इन दोनों जीव या प्राण में से एक ग्राह्य है, परमात्मा नहीं, यदि ऐसा कहें तो इसका परिहार प्रतर्दन विद्या में "प्राणस्तथानुगमात्" इस अधिकरण द्वारा किया गया है। वहां उपक्रम तथा उपसंहार द्वारा वाक्य का ब्रह्म विषयकत्व निश्चित होने पर अन्य लिंग भी ब्रह्म परत्वेन लेना चाहिये। यहां भी उपक्रम में "ब्रह्म ते ब्रुवाणि" इस श्रुति द्वारा विषय रूप में ब्रह्म कहा गया है। मध्यमे भी "यस्य चैतत् कर्म" जिसका यह जगत् कर्म है (कार्य है) इस श्रुति द्वारा सम्पूर्ण जगत् रूप कर्म (कार्य) के कर्ता रूप में ब्रह्म ही कहा गया है। उपसंहार भी "सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां च श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद" इस श्रुति द्वारा उसके उपासक के लिये निरतिशय फल प्राप्ति का श्रवण होने से ब्रह्म परक ही है। इस प्रकार इस वाक्य (श्रुति) के ब्रह्म परत्व निश्चय होने पर जीव आदि के लिंग भी ब्रह्म परत्वेन ही लेना चाहिये। यदि कहें कि प्रतर्दन वाक्य निर्णय से ही इस वाक्य का भी निर्णय हो जाता, ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती, प्रतर्दन वाक्य में "यस्य चैतत् कर्म" इस श्रुति के कर्म पद का विचार नहीं किया गया है॥१७॥

नन्वस्तु तावत्प्राणशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धत्वात्तल्लिङ्गानां ब्रह्मपरत्वम्। कथं पुनर्जीवलिंगानां ब्रह्मपरत्वम्। "तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादिवाक्यं हि प्रबुद्धप्राणस्य सुप्तस्य यष्टिघातोत्थापनादिना शरीरेन्द्रियप्राणातिरिक्तजीवात्मसद्भावप्रतिपादनपरमिति प्रतीयत इत्याशङ्कायामाह–

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि प्राण शब्द ब्रह्म में प्रसिद्ध होने से उसके लिंग ब्रह्म परक हो सकते हैं, परन्तु जीव के लिंग ब्रह्म परक कैसे हो सकते हैं। "तौ हि सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः" इत्यादि वाक्य प्रबुद्ध प्राण वाला सुप्त जीव के लाठी के प्रहार द्वारा उत्थापन आदि व्यवहार से यहां शरीर, इन्द्रिय तथा प्राण के अतिरिक्त जीवात्मा में सद्भाव प्रतिपादन परक है, ऐसा प्रतीत होता है – इस आशङ्का में कहते हैं–

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१/४/१८॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। अत्र प्रकरणे जीवग्रहणमन्यार्थं, जीवव्यतिरिक्तब्रह्मबोधनार्थमिति जैमिनिराचार्यो मेने। कुतः? प्रश्नेति। प्रश्नस्तावत् "क्वैष एतद्बालाके! पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदगादि"ति जीवप्रतिबाधानन्तरं परमात्मविषयो दृश्यते व्याख्यानम्। प्रतिवचनमपि "यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यति, अथास्मिन्प्राणएवैकधा भवति, एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति जीवव्यतिरिक्तं परमात्मानमेव गमयति। सुषुप्तिसमयेऽयं जीवो मनसेन्द्रियग्रामं सङ्गृह्य परमात्मानमनुप्रविश्य सम्प्रसन्नः स्वस्थतामेति। पुनस्तस्मादेव भोगाय निष्क्रामति। सोऽयं सुषुप्त्याद्याधारतया प्रसिद्धः प्राणशब्दवाच्यः परमात्मैवात्र वेद्य इति। जैमिनिग्रहणमुक्तार्थस्य पूज्यत्वद्योतनार्थम्। अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रुसंवादे विज्ञानमयशब्दवाच्यजीवव्यतिरिक्तं परमात्मानं स्पष्टमामनन्ति। "य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत् कुत एतदगादि"ति प्रश्नः। "यएषोऽन्त- र्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते" इति प्रतिवचनमप्येवमेव। आकाशः परमात्मा "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" इत्यत्रोक्तः। तस्मात्परमात्मैवात्र वेदितव्यतयोपदिश्यते, सएव समस्तविश्वकारणं न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठितं प्रधानं वेति स्थितम्।।१८।। इति जगद्वाचित्वाधिकरणम्।

(हिन्दी अनुवाद)

यहां तु शब्द शंका के निरासार्थ है। इस प्रकरण में जीव का ग्रहण अन्यार्थ है। अर्थात् जीवातिरिक्त ब्रह्म बोधन के लिये है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं, क्योंकि "प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्" प्रश्न है–हे बालाके! यह पुरुष कहां सोया था, वह कहाँ रहा? कहाँ से आया। इस प्रकार जीव प्रतिबाध के अनन्तर परमात्म विषयक व्याख्यान दिखाई देता है। इसका उत्तर भी "यदा

सुप्तः स्वप्नं कंचन न पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति एतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इस प्रकार यह श्रुति जीव से भिन्न परमात्मा का ही बोध कराती है। सुषुप्ति के समय यह जीव मन से इन्द्रिय समूह का संग्रह करके परमात्मा में प्रवेश करके स्वस्थता को प्राप्त होता है और पुनः उसी से भोग के लिये निष्क्रान्त होता है। वही यह सुषुप्ति के आधार रूप में प्रसिद्ध प्राण शब्द वाच्य परमात्मा ही यहां वेद्य हैं। यहां जैमिनि शब्द का प्रयोग उक्त अर्थ की श्रेष्ठता के लिये है और इसी तरह वाजसनेयी शाखा वाले भी इसी तरह इसी बालाकि एवं अजातशत्रु के संवाद में विज्ञानमय शब्द वाच्य जीवातिरिक्त परमात्मा का ही स्वीकार करते हैं। "य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्? कुतः एतदगात्" यह प्रश्न तथा "य एषोऽन्तर्हृदय आकाश स्तस्मिन् शते" यह उत्तर भी इसी प्रकार का है। आकाश यहाँ परमात्मा है। "दहरोऽस्मिन् आकाशः" यहाँ कहा गया है। इसलिये परमात्मा ही यहां ज्ञेय रूप में उपदेश दिये गये हैं। वही समस्त विश्व का कारण है– न कि तन्त्र सिद्ध पुरुष तथा उनके द्वारा अधिष्ठित प्रधान ॥१८॥ इस प्रकार जगद्वाचित्व अधिकरण पूरा हुआ।

अथ वाक्यान्वयाधिकरणम्।

"न वा अरे! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्युपक्रम्य "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादिना वृहदारण्यके मैत्रेयीं प्रति याज्ञवल्क्येन द्रष्टव्यतयोपदिष्टः आत्मा किं तन्त्रसिद्धः पञ्चविंशकः उत परमात्मा? इति संशये तत्रोपक्रमे पतिजायापुत्रवित्तमित्रपश्वादिप्रियत्व सम्बन्धस्य मध्ये च "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इत्युत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया सांसारिकस्वभावप्रतीतेश्च। अन्ते च "विज्ञातारमरे! केन विजानीयादि"ति विज्ञातृत्ववचनस्य च तन्त्रसिद्धे पुरुष एव सम्भवात्स एवेति। नच "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इत्यादिना अमृतत्वप्राप्त्युपायोपदेशान्नैतद्वाक्यं जीवपरमिति वाच्यम्, मोक्षस्य प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपयाथात्म्यज्ञानेनैव सम्भवात्,। सर्वात्मनां प्रकृतिवियुक्तस्वरूपस्य ज्ञानैकाकारत्वेन सर्वत्रैकरूपत्वात्। तज्ज्ञानेन सर्वात्मविज्ञानमैकात्म्योपदेशश्चोपपद्यते। "सर्वं तं परादादि"त्यादिना तदन्यत्वनिषेधश्च देवाद्याकाराणामनात्माकारत्वादुपपद्यते। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" इत्यादिना कारणत्वं च तस्यैव प्रतिपाद्यते जगदुत्पत्तेः प्रकृत्यधिष्ठातृपुरुषनिमित्तत्वात्। यत्र हि "द्वैतमिव भवती"ति चैक रूपे ह्यात्मनि देवादिप्रकृतिपरिणामभेदेन नानात्वं वदत्तन्निषेधति। तस्मात्तन्त्रसिद्धः पुरुष उपदिश्यते तदधिष्ठिता प्रकृतिरेव जगत्कारणमिति प्राप्त आह–

(हिन्दी अनुवाद)

"न वा अरे! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" (पति के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने लिये पति प्रिय होता है।) यहां से उपक्रम करके

"आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (आत्मा का दर्शन करना चाहिये, उसी का मनन करना चाहिये उसी को सुनना चाहिये तथा उसी का ध्यान करना चाहिये।) इत्यादि मन्त्रों द्वारा बृहदारण्यक उ० में मैत्रेयी के प्रति याज्ञवल्यक्य ने द्रष्टव्य रूप में उपदिष्ट आत्मा क्या सांख्य तन्त्र के उपदिष्ट पचीसवां पुरुष तत्त्व (जीवात्मा) है या परमात्मा ऐसा संशय होने पर कहते हैं कि यहां उपक्रम में पति, जाया, पुत्र, वित्त, मिंत्र तथा पशु आदि के प्रियत्व के सम्बन्ध के मध्य में "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तन्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस श्रुति के अनुसार उत्पति तथा विनाश से सम्बन्धित होने के कारण सांसारिक स्वभाव की प्रतीति होती है। इस से भी सांख्य तन्त्र सिद्ध पुरुष का ही यहां सम्बन्ध है। अन्त में भी "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इस श्रुति द्वारा विज्ञातृत्व वचन भी तन्त्र सिद्ध पुरुष में ही संभव है, इसलिये वही यहां प्रतिपाद्य है। यदि कहें कि "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (धन से अमृतत्त्व की आशा नहीं है) इस वाक्य से यह प्रकरण अमृतत्व उपदेश होने से यह वाक्य जीवपरक नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि मोक्ष प्रकृति पुरुष विवेक से ही संभव है अर्थात् प्रकृति से भिन्न रूप में आत्म स्वरूप के याथात्म्य ज्ञान से ही संभव है। सभी आत्माओं के प्रकृति से वियुक्त स्वरूप का ज्ञान एकाकार होने से उसकी सर्वत्र एक रूपता है। इसलिये उसके ज्ञान से सर्वात्म विज्ञान तथा एकात्मता का उपदेश भी उत्पन्न होता है। "सर्वं तं परादात्" इत्यादि मन्त्रों द्वारा तदन्य का निषेध भी देवादि आकारों के अनात्म आकार होने से उपपन्न होता है, "अस्य महतो भूतस्य निश्वसित मेतद् ऋग्वेदः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा कारणत्व भी उसी का प्रतिपादन करते हैं। कारण जगत् की उत्पत्ति प्रकृति के अधिष्ठाता पुरुष निमित्तक है। "यत्रहि द्वैतमिव भवति" यह श्रुति एक स्वरूप आत्मा में देवादि प्रकृति परिणाम भेद से नानात्व का निषेध करती है। इसलिये यहां तन्त्र सिद्ध पुरुष (जीवात्मा) का ही उपदेश है और जीवात्म रूप पुरुष से अधिष्ठित प्रकृति ही जगत् का कारण है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं–

वाक्यान्वयात् ॥१/४/१९॥

परमात्मैवात्र द्रष्टव्यत्वादिना निर्दिश्यते। कुतः? वाक्यान्वयात्। वाक्यं नामैकार्थ-प्रतिपादनपरत्वे सत्याकाङ्क्षादिमत्पदसमुदायस्तस्य सर्वस्य पूर्वापरपर्यालोचने तत्रैवान्वयात् तथाहि "अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" इति याज्ञवल्क्याद्धनादेर्मोक्षानुपायत्त्वं श्रुत्वा "तदेव मे ब्रूही"त्यमृतत्वमाशासानया मैत्रेय्या प्रार्थितेन याज्ञवल्क्येन द्रष्टव्यत्वादिनोप-दिष्टोऽयमात्मा परमात्मैव। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, तमेवं विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति" इत्याद्यन्वयव्यतिरेकवाक्यैर्मोक्षस्य तदेकज्ञानोपायकत्वमवगम्यते। प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपज्ञानं तु न स्वातन्त्र्येण मोक्षोपायः। किन्तु परमात्मज्ञानोपयोगित्वेनैव एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञापि परमात्मन्येव सम्भवति तस्य सर्वात्मत्वात्। अन्यथा सर्वत्र ज्ञानस्वरूपतया सर्वात्मविज्ञाने जातेऽप्यचिद्वर्गज्ञानाभावेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्गापत्तेः

"इदूसर्वं यदयमात्मा" इत्यैकात्म्योपदेशोऽपि तत्रैवोपपद्यते। इदंशब्देन चिदचिन्मिश्र-प्रपञ्चनिर्देशात्। अतएव परमात्मनोऽत्यन्तभिन्नतया सर्वविदो निन्दोच्यते। "सर्वं तं परादादि"ति सर्वविश्वकारणत्वमपि कर्मपरवशानां जीवानां न सम्भवति, मुक्तानां तु जगद्व्यापाररहित्यं वक्ष्यते। यत्तूपक्रमे "आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवती"त्यादिना पत्यादिप्रियसम्बन्धितया मध्ये चोत्पत्तिविनाशसम्बन्धितया सांसारिकस्वभावप्रतीते-र्जीवात्मनोऽन्वेष्टव्यत्वमाशङ्कितं, तन्न युक्तम्, तत्र जीवात्मशब्देन परमात्मन एवाभिधानात्। तस्य सर्वकारणतया सर्वात्मतया च सर्वशब्दावाच्यत्वात्।।१९।।

तदेव मुन्यन्तरसम्मत्या दृढयति –

(हिन्दी अनुवाद)

इस श्रुति में द्रष्टव्य, श्रोतव्य आदि रूप में परमात्मा का निर्देश है। क्योंकि "वाक्यान्वयात्" एक अर्थ का प्रतिपादन होकर आकांक्षा, आसत्ति आदि युक्त पद समुदाय को वाक्य कहते हैं। इन समस्त वाक्यों में पूर्वापर प्रसंग के आलोचन से ब्रह्म में ही अन्वय होता है जैसे "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन" (अर्थात् धन से अमृतत्व की आशा नहीं है) याज्ञवल्क्य के इस वाक्य से धन आदि मोक्ष का उपाय नहीं है, ऐसा सुनकर "तदेव मे ब्रूहि" (मुझे उसी तत्त्व को कहिये जिसमें मोक्ष संभव हो) इस प्रकार अमृतत्व की आशा करने वाली मैत्रेयी द्वारा प्रार्थना करने पर याज्ञवल्क्य ने कहा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" याज्ञवल्क्य के इस वचन से द्रष्टव्यत्व आदि रूप में उपदिष्ट आत्मा परमात्मा ही है। कारण "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति" इत्यादि अन्वय व्यतिरेकि वाक्यों द्वारा मोक्ष केवल परमात्म ज्ञान से ही संभव है, ऐसा जाना जाता है। प्रकृति वियुक्त आत्म स्वरूप ज्ञान कहीं भी स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का उपाय नही माना गया है। किन्तु परमात्म ज्ञान के उपयोगी होने से ही एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा भी परमात्मा में ही संभव है, क्योंकि परमात्मा सर्वात्मा है। अन्यथा सबमें ज्ञानरूप से सर्वात्म विज्ञान होने पर भी अचिद् वर्ग का ज्ञान न होने से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इस प्रकार ऐकात्म्योपदेश भी यहां आत्म शब्द से परमात्म ग्रहण करने पर ही उपपन्न होगा। इदं शब्द से चित् अचित् से युक्त प्रपञ्च का निर्देश है। इसलिये परमात्मा से भिन्न रूप में सर्ववेत्ता की निन्दा कही जाती है। "सर्वं परादात्" इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का कारणत्व भी कर्म परवश जीव में संभव नहीं है। मुक्त जीव में भी जगत् स्रष्टृत्व का अभाव कहेंगे। यहां उपक्रम में "आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादि श्रुति द्वारा पति आदि के सम्बन्धि रूप में सांसारिक स्वभाव की प्रतीति होने से जीवात्मा में अन्वेषणीयत्व

विशेष– जैसे चमड़े की तरह आकाश को लपेटना असंभव है, उसी तरह परमात्मा को बिना जाने दुःख का अन्त नहीं हो सकता। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽनाय। 'यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति। (सं)

की आशंका की गई, वह ठीक नहीं है-वहां जीवात्म शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है। परमात्मा सबका कारण होने तथा सर्वात्मा होने से सर्व शब्द का वाच्य नहीं हो सकता। "आत्मनस्तु कामायं" इस आत्म पद में यदि जीवात्मा का ग्रहण होगा तो "आत्मा द्रष्टव्य"[२] इससे समन्वय नहीं होगा। यहां आत्मनस्तु कामाय का अर्थ है- आत्मा के इष्ट सम्पत्यर्थ ये पति पुत्रादि प्रिय होते हैं ॥१९॥

इसी बात को अन्य मुनि की सम्मति द्वारा दृढ़ करते हैं–

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥१/४/२०॥

आत्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाप्रसिद्धेरिदं लिङ्गं गमकम्। यज्जीवस्य परमात्मकार्यतया परमात्मानन्यत्वात् जीवात्मशब्देन परमात्मनोऽभिधानमित्याश्मरथ्य आचार्योमन्यते स्म ॥२०॥

(हिन्दी अनुवाद)

आत्म विज्ञान (परमात्म विज्ञान) से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की प्रसिद्धि होने से यहां परमात्म ग्रहण में लिंग हैं क्योंकि जीव परमात्मा का कार्य है, इसलिये परमात्मा से अनन्य है, यहां जीवात्मा शब्द से परमात्मा का अभिधान है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥२०॥

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥१/४/२१॥

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसम्पद्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"। "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय, तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमि"ति शरीरादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य एवंभावात्परमात्मना सह तादात्म्यभावात् जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते। नतु परमात्मकार्यतया "न जायते म्रियते वाविपश्चित्, ज्ञाज्ञौ द्वावजौ, अजो नित्यः शाश्वतोऽयमि"त्यादिश्रुतिस्मृतिभिस्तस्योत्पत्तिप्रतिषेधादित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म ॥२१॥

(हिन्दी अनुवाद)

"एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय, परं ज्योतिरुपसम्पद्य, स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"। (यह जीव इस शरीर से निकलकर परम ज्योति परमात्मा को प्राप्त कर अपने दिव्य रूप से सम्पन्न हो जाता है) "यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा

विशेष– आत्मनस्तु कामाय में आत्मा पद से जीवात्मा लेने पर 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्य' की संगति नहीं होगी। जीवात्मा के लिए जीवात्मा का श्रवण मनन निदिध्यासन आदि उपदेश नहीं बनता। इससे स्पष्ट है कि "आत्मावाऽरे" में आत्मा परमात्मा ही है, इस प्रकार तदनुरोधेन आत्मनस्तु में आत्मा परमात्मा ही मानना पड़ेगा। (सं)

विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्” (जैसे नदियां बहती हुई समुद्र में पहुँचकर अपना नाम रूप छोड़ देती हैं, उसी प्रकार विद्वान् अपना नाम रूप (देवदत्त आदि नाम तथा स्त्री पुरुषादि रूप) को छोड़कर परात्पर पुरुष दिव्य परमात्मा को प्राप्त होता है) इस प्रकार शरीर से उत्क्रमण कर जाते समय जीव के लिये परमात्मा के साथ तादात्म्य भाव होने से यहां जीव शब्द से परमात्मा कहा जाता है, न कि परमात्म के कार्य से। क्योंकि “न जायते म्रियते वा विपश्चित्” “ज्ञाज्ञौ द्वावजौ” “अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो” इत्यादि श्रुति एवं स्मृति प्रमाणों द्वारा उसकी (जीव) उत्पत्ति का प्रतिषेध है। ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं॥२१॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः॥ १/४/२२॥

“य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः, अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा” इत्यादिश्रुतेः स्वनियम्यभूते जीवात्मन्यात्मतया परमात्मनोऽवस्थितेर्हेतोर्जीवशब्देन परमात्माऽभिधीयते इति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते स्म। ततश्चायं मैत्रेयीब्राह्मण-निष्कर्षार्थः— वित्तादिकमनादृत्य मोक्षोपायं पृच्छन्त्याः स्वपत्न्या मैत्रेय्या “यदेव भगवान् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि” इति प्रार्थितेन याज्ञवल्क्येन “न वा अरे! पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय” इत्यारभ्य “आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः” इत्यन्तेन परमात्मोपासनं मोक्षोपायत्वेन कथितम्। “आत्मनस्तु कामाय” इत्यत्रात्मशब्दस्य जीवात्मपरत्वे “आत्मा वा” इति परवाक्येनानन्वयापत्तिः, तस्यां च सत्यां वाक्यभेदः, तस्मिंश्च सति पूर्ववाक्यस्य न किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते। “आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः” इत्यात्मनो द्रष्टव्यत्वौपयिकत्वेन तदुपदेशात्। उभयत्र जीवात्मपरत्वे तु परमात्मैकान्तधर्मश्रुतिर्व्याकुप्येत। अतोऽरे हे मैत्रेयि! पत्यादेः कामाय कामोऽभिलाषो मत्प्रयोजनायाहमस्य प्रियः स्यामित्येवंरूपस्तन्निर्वृत्तयेपत्यादयः प्रिया न भवन्ति, अपि त्वात्मनः परमात्मनः कामाय स्वाराधकप्रियप्रतिलम्भनरूपाभिलाष-सिद्ध्य इत्यर्थः। परमात्मा हि कर्मभिराराधितः स्वाराधकानां सर्ववस्तुगतं प्रियत्वमापादयति। “एषह्येवानन्दयाती”ति श्रुतेः। “योगक्षेमं वहाम्यहमि”तिस्मृतेश्च। ततश्च “आत्मनि खल्वरे दृष्टे”इत्यादिनोपास्यलक्षणं ब्रह्म “तं परादादि” त्यादिना च ब्रह्मणोऽत्यन्तभिन्न-चिदचित्सर्वपदार्थज्ञातृनिन्दापूर्वकं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तदभिन्नत्वात् “इदॄ सर्व यदयमात्मे”ति चिदचिद्वस्तुनोब्रह्मणाऽभेदमुपदिश्य, दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैश्चोपासनो-पकरणभूतकरणनियमनं च सामान्यतोऽभिधाय “सयथार्देन्धनाग्नेरि”त्यादिना स यथा सर्वा सामपाम” इत्यादिना च, पुनरुपास्यलक्षणं सर्वविश्वकारणत्वरूपं करणनिवहनियमनं च विस्तरत उक्त्वा, “स यथा सैन्धवखिल्यउदके प्रास्तः” इत्यादिना मोक्षोपाय-प्रवृत्तिप्रोत्साहनाय स्वनियम्यभूतजीवात्मतयाऽवस्थितस्य परमात्मनो व्यापकत्वं, उत्तरमैत्रेयीब्राह्मणे च “स यथा सैन्धवघनः” इत्यादिना जीवात्मतया तदभेदेनावस्थितस्य

परमात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानैकस्वरूपत्वमुपपाद्य, "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इत्यनेन च तमनुपासीनस्य जीवस्य संसारं "न प्रेत्य संज्ञास्ती" त्यनेन च तमुपासीनस्य मोक्षंचाभिधाय, पुनरपि "यत्र हि द्वैतमिव भवती"त्यादिना च विनष्टसर्वाज्ञानस्य ध्रुवास्मृतिमतो विश्वस्य ब्रह्मात्मकतया ब्रह्माभिन्नं सर्व वस्तु पश्यतो ब्रह्मभिन्नवस्त्वन्तराभावेन भेददर्शनं निखिलं निराकृत्य, "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इत्यनेन च जीवो येन स्वस्मिन्नात्मतयावस्थितेन परमात्मना बोधितः सन्निदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयान्न केनापीति तस्य दुर्ज्ञेयतामापाद्य, "विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्" इति सर्वविज्ञातारं सर्वजगदेककारणभूतं पुरुषोत्तममुपक्रमोक्तात्तदुपासनादृते केन विजानीयान्न केनापीति तदुपासनमेवामृतत्वोपायः परमात्मप्राप्तिरेवामृतत्वमित्युपसंहृतम्। अतः परमात्मैवात्र प्रकरणे निर्दिश्यते। सएव निखिलविश्वकारणं, न तन्त्रसिद्धः पुरुषस्तदधिष्ठिता प्रकृतिर्वेति स्थितम्।।२२।। इति वाक्यान्वयाधिकरणम्।।

(हिन्दी अनुवाद)

"य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरोऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" (जो आत्मा में रहकर आत्मा से भिन्न होकर, जिसे यह आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है, वह परमात्मा शासन करता है, वह सबकी आत्मा है इत्यादि श्रुतियों द्वारा परमात्मा के नियम्यभूत जीवात्मा में आत्मरूप से अवस्थिति होने से जीव शब्द से यहां परमात्मा ही लिया गया है, ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं। इस प्रकार मैत्रेयी ब्राह्मण का निष्कर्ष यह है—वित्त पुत्र आदि का अनादर कर मोक्ष को पूछने वाली अपनी पत्नी मैत्रेयी द्वारा यह पूछने पर कि "यदेव भगवान् वेत्थ तदेव मे ब्रूहि" (आप जिसमें हमारा कल्याण जानते हैं, वही कहिये) याज्ञवल्क्य ने कहा "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय" (पति पति के लिये प्यारा नहीं होता किन्तु अपनी आत्मा के लिये होता है) यहां से लेकर "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यन्त ग्रन्थ से परमात्मा की उपासना को मोक्ष के उपाय के रूप में कहा है। यहां यदि आत्मनस्तु कामाय में आत्मा शब्द से जीवात्मा का ग्रहण करें तो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इस पर वाक्य से अन्वय नहीं होगा। अन्वय न मानने पर वाक्यभेद की आपत्ति होगी। वाक्यभेद होने पर पूर्ववाक्य का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता। "आत्मा वा ऽरे द्रष्टव्यः" के द्वारा आत्मा (परमात्मा) को द्रष्टव्य मानकर उसके उपाय के रूप में "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' यह उपदेश है। यदि दोनों जगह 'आत्मनस्तु कामाय' यहाँ तथा "आत्मा वा अरे" यहाँ आत्मा शब्द से जीवात्मा का ग्रहण करें या दोनों जगह आत्म शब्द को जीवात्म परक मानें तो यहाँ परमात्मा के एकान्त धर्म (असाधारण धर्म) प्रतिपादक श्रुति का व्याकोप होगा। इसलिये "न वा अरे पत्युः कामाय" में काम का अर्थ है

अभिलाषा। मेरे प्रयोजन के लिये अर्थात् मैं इसका प्रिय होऊँ, इस प्रकार - एतद्, रूप अभिलाषा के सम्पादन के लिये पति आदि प्रिय नहीं होते, किन्तु परमात्मा की कामना से अर्थात् परमात्मा अपने आराधक की प्रियवस्तु की प्राप्ति-रूप अभिलाषा की सिद्धि की कामना करते हैं, (यानी भक्ताभीष्ट सिद्धि रूप परमात्मा की कामना के लिये) कर्मों द्वारा आराधना करने पर परमात्मा अपने आराधकों की समस्त प्रिय कामना पूर्ण करते हैं। "एष ह्येवानन्दयति" (यही परमात्मा सबको आनन्दित करते हैं) "योगक्षेमं वहाम्यहम्" मैं भक्तों का योग क्षेम वहन करता हूँ। ऐसे स्मृति वचन भी हैं। तदनन्तर "आत्मनि खल्वरे दृष्टे" (अर्थात् आत्मा के दर्शन से सब कुछ दृष्ट हो जाते हैं-उसके ज्ञात होने पर सब कुछ ज्ञात हो जाते हैं) यह कथन आत्मा शब्द से जीवात्म ग्रहण करने पर कैसे संभव हो सकता है। तथा "सर्वं तं परादात्" (जो चिदचिदात्मक निखिल वस्तु को ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न मानता है, वह संसारी हो जाता है-अर्थात् जन्म-बन्धन के चक्र में फँस जाता है। इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न रूप में चिदचिदात्मक प्रपञ्च को मानने वाले की निन्दा करके सम्पूर्ण प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक मानकर उससे अभिन्न माना है-"इदं सर्वं यदयमात्मा" इस प्रकार चिदचिदात्मक इस समस्त प्रपञ्च को ब्रह्म के साथ अभिन्न बताकर दुन्दुभि आदि दृष्टान्तों द्वारा उपासना के उपकरण स्वरूप करणों का नियमन भी सामान्य रूप से बताकर "स यथार्द्रेन्धनाग्नेः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा "स यथा सर्वासामपाम्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा पुनः उपाय ब्रह्म का सर्व विश्व कारणत्व रूप लक्षण तथा करण समूह का नियन्त्रण भी विस्तार पूर्वक कहकर "स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्तः" इत्यादि मन्त्रों से मोक्ष के उपाय में प्रवृत्ति के लिये प्रोत्साहनार्थ अपने नियम्य जीवात्मा रूप में अवस्थित परमात्मा का व्यापकत्व तथा उत्तर मैत्रेयी ब्राह्मण में "स यथा सैन्धव घनः" इत्यादि मन्त्रों द्वारा जीवात्मा रूप में तदभिन्नत्वेन अवस्थित परमात्मा में अपरिच्छिन्न ज्ञानैक स्वरूपता का उत्पादन कर "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" इस मन्त्र से उस परमात्मा की उपासना न करने वाले जीव की संसार दशा की प्राप्ति तथा "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इस मन्त्र से उसके उपासक को मोक्ष की प्राप्ति बताकर पश्चात् "यत्र हि द्वैतमिव भवति" इत्यादि मन्त्रों द्वारा समस्त अज्ञान के दूर हो जाने से ध्रुवा स्मृति अपर पर्याय पराभक्ति प्राप्त विश्व को ब्रह्मात्मक मान कर सम्पूर्ण विश्व को ब्रह्मभिन्न मानने से ब्रह्मभिन्न वस्तु के अभाव होने से निखिल भेद दर्शन का निराकरण "येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्" इस श्रुति से जीव जिस अपने में आत्मरूप स्थित परमात्मा से प्रेरित होकर इस समस्त संसार को जानता है-उसे किस साधन से जाना जा सकता है-इस प्रकार उसकी दुर्ज्ञेयता बतलाकर "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (उस सर्वविज्ञाता, सकल जगत् के कारणभूत पुरुषोत्तम भगवान् को उपक्रम में उक्त उपासना के बिना किस साधन द्वारा जाना जा सकता है, बल्कि उनकी उपासना ही अमृतत्व प्राप्ति का उपाय है तथा परमात्म-प्राप्ति ही अमृतत्व है, ऐसा उपसंहार है। इसलिये इस प्रकरण में परमात्मा का ही निर्देश है। वही अखिल विश्व के कारण हैं, न कि सांङ्ख्य तन्त्र सिद्ध पुरुष अथवा उससे अधिष्ठित प्रकृति, ऐसा सिद्ध होता है॥२२॥

इस प्रकार वाक्यान्वय अधिकरण पूरा हुआ।

इत्थं निरीश्वरसाङ्ख्यमतं निराकृत्य सेश्वरं तन्निराकुर्वता जगत्कारणत्वप्रतिपादक-वाक्यजातं सर्वज्ञे परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे समन्वेतुकामेनेदमारभ्यते। ननु ब्रह्मैव जगत्कारणम्, न प्रधानमित्युक्तेऽपि तत् किं जगतो निमित्तकारणमात्रमुतोपादानकारणमपीति संशये, निमित्तमात्रमेवेति। कुतः ? "स ईक्षाञ्चक्रे, तदैक्षत, स ऐक्षते" त्यादिश्रुत्युक्तेक्षा-पूर्वककर्त्तृत्वस्य लोके निमित्तकारणेषु कुलालसुवर्णकारादिष्विव निमित्तमात्र एव सम्भवात्, कार्यकारणयोश्च सारूप्यदर्शनात्। ब्रह्मणोऽपरिणामितया तदधिष्ठितेनाचेतनेन कार्यसधर्मेण परिणामिना प्रधानेनोपादानेन भाव्यम्। "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्। ध्यायते ध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठिता जगत्। गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी" त्यादिश्रुतेः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति। "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां सर्गकर्मणि। प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्निमित्तोपादानयो-र्मृत्कुलालादिवद् भेद प्रतिपादनाच्च, कार्यसिद्धेश्च लोकेऽनेककारकसापेक्षत्वदर्शनाच्च, अतोनिमित्तमात्रमेव ब्रह्म, तदधिष्ठितं प्रधानमेवोपादानमिति प्राप्ते राद्धान्तः—

(हिन्दी अनुवाद)

इस प्रकार निरीश्वर सांख्य मत का निराकरण करके अब सेश्वर सांख्य (योग) दर्शन का निराकरण करते हुए जगत् कारणत्व प्रतिपादक समस्त वेदान्त का सर्वज्ञ परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में समन्वय करने की इच्छा से यह प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। यदि कहें कि ब्रह्म ही जगत् का कारण है, प्रधान नहीं, ऐसा कहने पर भी वह ब्रह्म क्या जगत् का निमित्त कारण मात्र है या उपादान कारण भी, ऐसा संशय होने पर निमित्त कारण मात्र ही हैं, क्योंकि "स ईक्षांचक्रे, तदैक्षत स ऐक्षत" इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित ईक्षा पूर्वक कर्तृत्व लोक में निमित्त कारण कुलाल तथा सुवर्णकार आदि की तरह निमित्त कारण में ही संभव है। कार्यकारण में सारूप्य देखा जाता है। ब्रह्म अपरिणामी है-उससे अधिष्ठित कार्य सधर्मा परिणामी अचेतन प्रधान उपादान होना चाहिये। जैसा कि श्रुति वचन है-"निष्फलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं विकारजननी- मज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्। ध्यायते ध्यासिता तेन तन्यते प्रेरिता पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत्। गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी" इत्यादि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्, मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनंतु महेश्वरम्।" इसी प्रकार "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" "निमित्तमात्रमेवासौ सृष्टानां सर्गकर्मणि। प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः।" इत्यादि श्रुति एवं स्मृति प्रमाणों द्वारा निमित्त और उपादान में मृत्तिका और कुलाल आदि की तरह भेद का प्रतिपादन होने, कार्य सिद्धि होने तथा लोक के (कर्ता के) अनेक कारक सापेक्ष दर्शन से भी ब्रह्म केवल निमित्त कारण है, उससे अधिष्ठित प्रधान ही उपादान कारण है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्॥ १/४/२३॥

चकारो निमित्तसमुच्चयार्थः। प्रकृतिरुपादानं निमित्तं च ब्रह्मैव। कुतः ? प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञा च दृष्टान्तश्च तयोरनुपरोधात्सामञ्जस्यात्। प्रतिज्ञा च "उत तमादेशमप्राक्ष्योयेनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्युपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानविषया, कार्यस्य तदनतिरिक्तत्वात्। दृष्टान्तोऽपि "यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादि"त्यादिरूपः। उपादानकारणविज्ञानेन सर्वकार्य- विज्ञानगोचर एव ब्रह्मणो निमित्तमात्रत्वे तु कुलालादिज्ञानेन मृन्मयाज्ञानवत्तज्ज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानं न स्यादेवेति, तयोर्बाध एव स्यात्। यत्पुनरुक्तमीक्षापूर्वककर्तृत्वस्य लोके कुलालादाविव निमित्तमात्रे एव सम्भवादिति, तत्रोच्यते। न लोकवदिह भाव्यम् "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवे"ति सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणादद्वितीयपदेना- धिष्ठात्रन्तराभावज्ञापनाच्च। "उत तमादेशमप्राक्ष्यः" इत्यत्रापि निमित्तोपादानयोरैक्यस्य प्रतीयमानत्वाच्च। तथाहि "आदिशती"त्यादेशः। वाहुलकात्कर्तरि घञ्, यद्वा भावार्थघञन्तादादेशशब्दात् "अर्शआद्यच्" उभयत्रापि प्रशासितृत्वाधिकरणत्वमेवादेशशब्दस्य युक्तम्। तथा च "अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! प्रशासितारं सर्वेषाम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यामादेशशब्देन प्रशासनरूपव्यापाराश्रयः कर्त्ता विवक्षितः। तमादेशमादेष्टारमधिष्ठातारमप्राक्ष्यः येनादेष्ट्राधिष्ठात्रा श्रुतेनाश्रुतं सर्वं श्रुतं भवतीति। किञ्च ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, जन्माद्यस्य यतः, यतः सर्वाणि भूतानि भवन्ति" इत्यादिश्रुतिस्मृतिसूत्रेषु "जनिकर्तुः प्रकृतिरि"ति सूत्रेण प्रकृत्यर्थविहितपञ्चम्याः प्रामाण्यात्। ननु च वृत्तौ "पुत्रात्प्रमोदो जायते"इत्यनुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनात्प्रकृतिपदं हेतुपरमित्युपादानपरत्वनिषेधात्। न्यासेऽपीदमेवाश्रित्यासति प्रकृतिग्रहणे उपादान-स्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासन्नत्वान्नेतरस्य, प्रकृतिग्रहणात्कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽप्यपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थ- मित्युक्तत्वात्। महाभाष्यकृद्भिरपि "अयमपि प्रयोगः शक्योऽवक्तुम्, गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति ताभ्यः" इत्यादिना दूर्वादीन्प्रत्यवधित्वात्, "ध्रुवमपाये" इत्यनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेरिदं सूत्रमनारभ्यमिति प्रत्याख्याततत्वात्। कैयटेऽपि "अपक्रमणाव- धित्वे लोमादिषु कार्यप्रतीतिर्नसम्भवती"त्या-शङ्क्य बिलान्निष्क्रामतो दीर्घभोगस्य भोगिनोऽविच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत्कार्यस्यापि दूर्वादेस्तत्रोपलब्धिरित्यवधित्वस्यैव तत्रोपपादितत्वात्, अत उपादान एव, "जनिकर्तुरि"त्यनेन पञ्चमीति न नियमोऽन्यत्रापि सम्भवादिति चेन्न, कारणमात्रार्थकत्वेऽप्युपादान-परत्वाभ्युपगमात्, छागपशुन्यायेन यथा "पशुना यजेदि" त्यत्र पशुपदस्य पशुमात्रवाचकत्वेऽपि छागवपाया इति शेषात्पशु- विशेषपरत्वम्। तद्वत्प्रकृतेऽप्यनु-सन्धेयम्। न चोक्तन्यायविरोधोऽत्र निश्चयौपयिकवाक्यशेषा- भावादिति शङ्क्यम्, "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादावुपादाने पञ्चम्यां "सच्च त्यच्चाभवदि"ति वाक्यशेषेण "सोऽकामयत बहुस्यामि" त्येतच्छाखान्तरस्थवाक्येन प्रतीतसामानाधिकरण्यस्य नियामकत्वात्। अपि न ब्रह्मण उपादानत्वाभावे कार्ये व्याप्त्यभावात्तस्य

परिच्छिन्नत्वापत्तिरप्यावश्यकी। एतदुक्तं भवति, कारणत्वं नाम कार्योत्पत्तिप्राक्कालीन-नियतसम्बन्धाश्रयत्वम्। तद्द्विविधं निमित्तोपादानभेदात् तत्र निमित्तत्वं नाम कार्योत्पत्त्यनुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वे सति तद्व्यापाराश्रयत्वं, व्यापाराश्रयत्वंच स्वस्वानादिकर्मसंस्कारवशीभूतात्यन्तसङ्कुचितभोगानर्हज्ञानशक्तिधर्मकाणां चेतनानां कर्मफलभोगार्हज्ञानप्रकाशेन तत्तत्कर्मफलतत्तद्भोगकरणैः सह संयोजयितृत्वम्। परमते तु तत्त्वं दुर्घटं, कार्यस्य कल्पितत्वाङ्गीकारेण कुलालवदुपादानगोचरप्रयत्नचिकीर्षा-दिमत्त्वासम्भवात्। नहि कल्पितशुक्तिरूप्यादिकं प्रति भ्रान्तस्यान्यस्य वा कर्त्तृत्वं प्रामाणिकम्। नच रूप्यादौ साक्ष्येव कर्त्ता, नह्यदर्शनमात्रेणकर्त्रपलापो वक्तुं शक्यः। त्वन्मते सर्वज्ञस्य कर्तुरपलापापत्तेरिति वाच्यम्, इदमर्थावच्छिन्नस्येदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नस्य वा त्वदभिमतस्य साक्षिण इच्छाद्यभावे कर्तृत्वासम्भवात्। सर्वज्ञे कर्त्तरि श्रुत्यादेरिव शुक्तिरूप्यादिकर्तरि प्रमाणस्याभावात्। नहि "नामरूपे व्याकरवाणी"ति श्रुत्युक्तेश्वरस्येव शुक्तिरूप्यं करवाणीति कस्याप्यनुभवो दृश्यते। नच भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वं भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्त्तृत्वाभावात्। नच मायाविवद्व्यामोहकत्वं, व्यामोहनीयानामपि कल्पितत्वेन तद्दर्शने परेशस्य भ्रान्तत्वापत्तेः। नह्यैन्द्रजालिकः कल्पितान् मोहयति। किञ्च, जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यस्य स्फुरणार्थं शास्त्रयोनित्वा'दितिसूत्रमिति त्वन्मतस्य भङ्गापत्तेः। अध्यस्तद्रष्टृव्यामोहकस्य सार्वज्ञासम्भवात्। नच "करवाणी"ति सङ्कल्पपूर्वकं कर्त्तृत्वं मायिन्यप्यस्तीति वाच्यम्। कल्पितपदार्थकर्त्तृत्वा-भावेऽपि प्रतारकस्य मायिनः "करवाणि" "करोमि" इत्युक्तिसम्भवेऽपि परमाप्तस्य परमेश्वरस्य वास्तवकर्त्तृत्वं विना तथोक्त्यसम्भवादित्यलं कुतर्कोच्छेदैः। अथ किमुपादानस्य लक्षणमित्यपेक्षायामाहुरेके। भ्रमाधिष्ठानत्वं तत्त्वमिति चेन्न, उपादाने मृदादौ भ्रमाधिष्ठानत्वस्य भ्रमाधिष्ठाने च शुक्त्यादावुपादानत्वस्य च व्यवहारादर्शनात्, मृज्ज्ञानेन घटादिबाधाऽदर्शनात्, पारिभाषिकोपादानत्वस्य चानुपादानत्वे पर्यवसानात्। नन्वसत्यरूपान्तरापत्तिर्विवर्त्तः, सत्यरूपान्तरापत्तिस्तु परिणामः। रूपान्तरापत्तिमात्रमुपादानत्वं तच्च ब्रह्मणो विवर्त्तरूपविशेषेणापि सूपपन्नम्। निर्विकारश्रुतिस्तु तात्त्विकविकाराभावाभिप्रायिका। ब्रह्म चाज्ञातप्रपञ्चरूपेण विवर्त्तत इत्यज्ञानमपि परिणामितयोपादानान्तर्गतं रूप्यमपि शुक्तिविवर्तत्वात् अज्ञानपरिणामत्वाच्चोभयोपादानकमिति चेन्न। त्वयाऽपि मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतमेवोपादानमन्वेषणीयम्, सत्यत्वे कार्यस्यापि कारणस्वभावतया सत्यत्वप्रसङ्ग इति वदता सत्यस्यासत्यरूपतापत्तेर्निषेधात् स्वभावत्यागप्रसङ्गाच्च। किञ्चसत्यस्यासत्य-रूपतापत्तौ तदापत्तियोग्यतारूपधर्मोऽप्यवश्यं स्वीकार्यः, सर्वसामर्थ्यशून्यस्य तथात्वा-सम्भवादतिप्रसङ्गाच्च। तथात्वे च निर्विशेषप्रतिज्ञाभङ्गात्। नापि रूपान्तराभेदधी-विषयत्वमुपादानत्वमिति लक्षणं सम्भाव्यं, तत्त्वम्पदार्थयोः क्षीरनीरयोः खण्डगोत्वयोश्चो-पादानोपादेयभावप्रसङ्गात्। नच कार्याभेदधीविषयत्वमुपादानत्वमिति वक्तुं योग्यम्। सदृशे वस्तुनि सन्निहिते निमित्तेऽपि कार्याभेदभ्रमसम्भवेनातिव्याप्तेः। ननु मायोपादानमीश्वरो निमित्तं शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति चेन्न। अभिन्ननिमित्तोपादानासिद्ध्या त्वन्मते तदर्थस्यैतदधिकरणस्यैव बाधापत्तेरिति। किञ्च तन्मते ब्रह्मण उपादानत्वप्रतिपादनं

प्रामादिकमेव। भ्रमाधिष्ठाने शुक्त्योदावभवदिति प्रयोगाभावात्, तत्प्रयोगविषयबहुभवन-रूपोपादानताया ब्रह्मणस्तैरनभ्युपगमात्। नच शुक्ते रूप्यस्यानुपादानत्वाच्छुक्तिरूप्यमभवदिति व्यवहाराभावो युक्तइति वाच्यम्। इदं रूप्यमित्यत्र रूप्याभिन्नतया प्रतीतस्येदमर्थस्य रूप्योपादानतया त्वदभिमतस्येदं रूप्यमभवदिति व्यवहाराविषयत्वात्। किञ्च सृष्टेः प्रागहमर्थाभावे नोत्तमपुरुषप्रयोगानुपपत्तेः। न चाविद्यापरिणामविशिष्टेऽहमिति प्रयोगसम्भवेनोत्तमपुरुषोपपत्तिः सूपपन्नेति वाच्यम्। उक्तसङ्कल्पात्प्रागविद्यापरिणामाभावात्। अयम्भावः–सङ्कल्पात्प्रागविद्यापरिणामोऽस्ति न वेति? वक्तव्यम्। नाद्यः "एकमेवा-द्वितीयमि"ति श्रुतिविरोधात्। नान्त्यः, उक्तोत्तमपुरुष- प्रयोगासम्भवात्। किञ्च, 'तदात्मानं स्वयमकुरुते'ति श्रुतिविरोधात्। अन्यथा 'कुरुते'ति तत्त्वोक्त्ययोगात्, विवर्ताधिष्ठाने इदमर्थे आत्मानं रूप्यात्मना कुरुतेति व्यवहारादर्शनाच्च। किञ्च "तद्भूतयोनिमि"ति श्रुतिविरोधः, इदमर्थे रूप्याद्यधिष्ठाने योनिशब्दाप्रयोगात्, "सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानि"ति सहेतुकसामानाधिकरण्यश्रुतिबाधश्च। "नच स्थाणुरेव चौरः" इतिवद्बाधितसमानाधि-करणत्वाङ्गीकारात्र बाध इति वाच्यम्। स्थाणुपुरुषयोरुपादानोपादेयत्वाभावेन दृष्टान्तासम्भवादिति संक्षेपः। केचित्तु चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मोपादानम्, तथा चोपादानश्रुतीनां स्वार्थे प्रामाण्यान्न कोऽपि दोषः। नच विशिष्टस्योपादानत्वे परिणामोऽप्यवश्यम्भावी। तथात्वे च निर्विकारश्रुतिव्याकोपादसामञ्जस्यमिति वाच्यम्, विकारस्य विशेषणगतत्वात्। निर्विकारश्रुतीनां विशेष्यपरत्वान्नोक्तदोषलेशसम्बन्धावकाश इत्याहुस्तन्नासम्भवात्। तथाहि, विशिष्टस्य ब्रह्मत्वं भवतामभिप्रेतं न वेति? आद्ये, भवता "अंशोनाने"ति वक्ष्यमाणसूत्रभाष्ये विशेषणस्यांशत्वाङ्गीकारेणांशतः परिणामापत्तेर्दुर्वारत्वात्, निर्विकारश्रुतिबाधस्य तादवस्थ्याच्चासम्भवः। द्वितीये, ब्रह्मोपादानत्वप्रतिज्ञाया भङ्गात्, शुद्धविशिष्टयोर्भेदापत्त्या परमतप्रवेशाच्च। विशिष्टाभ्युपगमबाधाच्चासम्भव एव। किञ्च विशिष्टब्रह्मणो मुक्तगम्यत्वं भवतामभिप्रेतं न वा? नाद्यः, विकारिणो मुक्तोपसृप्यत्वे मुक्तावपि सविकारत्वा-पत्तेर्महाननिष्टः। द्वितीये, किम्वा मुक्तगम्यं ब्रह्मेति वक्तव्यं, न तावद्विशेषशून्यं, मायावादमतप्रवेशात् अनभ्युपगमाच्च, गत्यन्तराभावाच्चासम्भव एव तस्माद्विशिष्ट-ब्रह्मोपादानवादो महादोषवत्त्वादसम्भव एवेति संक्षेपः। अन्ये तु ब्रह्म जगतो निमित्तकारणमेव, नोपादानकारणमित्यां हुस्तत्सूत्रकारेणैव खण्डितं, श्रुतिस्मृतिविरोधादित्युपरम्यते। वस्तुतस्तु कार्याकारभजनार्हशक्तिमत्त्वे सति तदवस्थापत्तियोग्यत्वमुपादानत्वमिति क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-क्षराक्षरादिपदार्थभूतस्वाभाविकसूक्ष्मावस्थापन्नानां शक्तीनां तत्तद्गतसूक्ष्मसद्रूपकार्याणां च स्वाभाविकानां स्वान्वितानां स्थूलतया प्रकाशकत्वमित्यर्थः। प्रकृतमनुसरामः। एवं ब्रह्मण एव जगतो निमित्तोपादानत्वे निश्चिते "विकारजननीं गौरनाद्यन्तवती" इत्यादिश्रुतिभिः सूक्ष्माचिच्छक्तिकं ब्रह्मैव तत्तच्छब्दैरभिधीयते, ब्रह्मणः सर्वात्मतया सर्वशब्दवाच्यत्वात् स्थूलसूक्ष्मावस्थस्य सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनश्च तदात्मकत्वेन तदभिन्नत्वात्। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" त्यादिश्रुतेः। यत्तूक्तं लोके कार्यस्यानेककारकसाध्यत्वदर्शनादिति, तदपि न, सर्वाचिन्त्यानन्तशक्तेर्ब्रह्मणो जगन्निर्माणे कारकान्तरनिरपेक्षत्वात्।।२३।।

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ चकार निमित्त का समुच्चयार्थ है। अर्थात् ब्रह्म ही जगत् का प्रकृति यानी उपादान एवं निमित्त भी है। प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त के अनुरोध से अर्थात् सामञ्जस्य से। यहाँ प्रतिज्ञा है-"उत तमादेशमप्राक्षः येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" (अर्थात् तुमने गुरु से वह ज्ञान पूछा या सीखा-जिसके सुनने से अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है तथा अविज्ञात वस्तु विज्ञात हो जाती है) इस प्रकार उपादान कारण के विज्ञान से समस्त कार्यों का ज्ञान हो जाता है, यही उपादान कारण ज्ञानजनित सर्वकार्य विषयक ज्ञान यहाँ प्रतिज्ञा है-क्योंकि कार्य-कारण से अतिरिक्त नहीं है। दृष्टान्त है-"यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं भवति" (जैसे एक मृत्पिण्ड को जान लेने से समस्त मृद् विकार घट-शराब आदि विज्ञात होता है) उपादान कारण के विज्ञान से समस्त कार्यों का ज्ञान होता है। ब्रह्म को निमित्त मात्र मानने से तो जैसे कुलाल आदि के ज्ञान से मृद्विकार घटादि के अज्ञान की तरह ब्रह्म ज्ञान से समस्त कार्यजात का ज्ञान नहीं हो सकता। दोनों का बाध ही होगा। पहले जो कहा गया था, ईक्षा पूर्वक कर्तृत्व लोक में जैसे कुलाल आदि में ही होता है, उसी तरह निमित्त मात्र में ही संभव है - इस पर कहते हैं- लोक की तरह यहाँ नहीं है।"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस वचन के द्वारा सृष्टि से पहले एकत्व का अवधारण होने से अद्वितीय पद से अन्य अधिष्ठाता के अभाव का ज्ञापन होता है। "उत तमादेशमप्राक्षः" यहाँ भी निमित्त एवं उपादान में ऐक्य की प्रतीति होती है। "आदिशति इति आदेशः" यहाँ बाहुलकात् कर्ता में घञ् प्रत्यय का विधान है। अथवा भावार्थक घञन्त आदेश शब्द से "अर्शाद्यच्" से अच् है। दोनों स्थिति में प्रशास्तृत्व का अधिकरणत्व ही आदेश शब्द का अर्थ युक्त है। इस प्रकार "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्रशासितारं सर्वेषाम्" इत्यादि श्रुति-स्मृति प्रमाणों द्वारा प्रशासन रूप व्यापार का आश्रय कर्ता ही यहाँ विवक्षित है। तुमने उस आदेष्टा (उपदेष्टा) को पूछा—अधिष्ठाता को पूछा जिस अधिष्ठाता-शासयिता को सुनने पर सभी अश्रुत श्रुत हो जाते हैं। यहाँ ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने में "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते", "जन्माद्यस्य यतः", "यतः सर्वाणि भूतानि" इत्यादि श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों में "जनिकर्तुः प्रकृतिः" सूत्र से प्रकृत्यर्थ में विहित पञ्चमी को प्रमाण्य है, यदि कहें कि काशिका वृत्ति में "पुत्रात् प्रमोदो जायते" इस उदाहरण में उपादान से भिन्न में पञ्चमी का प्रयोग हुआ है, इसलिये सूत्र में प्रकृति पद हेतु-परक सिद्ध होता है-उपादान परत्व का निषेध होता है। न्यास (वृत्ति की टीका) में भी यही अर्थ लेकर कहा है कि प्रकृति ग्रहण न रहने पर उपादान की ही अपादान संज्ञा होती, क्योंकि वहाँ सामीप्य उसी का है, इतर का नहीं होता और प्रकृति ग्रहण रहने पर कारण मात्र में पञ्चमी विभक्ति होती है। इसीलिये प्रकृति पद उपादान से भिन्न में अपादान सिद्धि के लिये प्रकृति ग्रहण है। ऐसा कहा है महाभाष्यकारने भी। यह प्रयोग भी छोड़ सकते हैं

---

१. सूत्र में प्रकृति का अर्थ है उपादान अर्थात् इस सूत्र में उपादान में पञ्चमी है। (सं)

"गोलोमा विलोमभ्यः दूर्वाः जायन्ते अपक्रामन्ति ताभ्यः।" यहाँ दूर्वा आदि के प्रति अवधि मानकर "ध्रुवमपाये अपादानम्" इसी सूत्र से अपादान की सिद्धि हो जायेगी, ऐसा कहकर यह सूत्र (जनिकर्तुः प्रकृतिः) प्रत्याख्यान कर दिया। प्रदीप टीका में कैयट ने भी अपक्रमण का अवधित्व मानने पर लोभ आदि में कार्य की प्रतीति संभव नहीं है, ऐसी आशङ्का करके बिल से निकलते हुऐ लम्बे सर्प का अविच्छिन्न रूप में बिल में उपलब्धि की तरह कार्य दूर्वा आदि की वहाँ उपलब्धि है, इस प्रकार वहाँ अवधित्व का ही उपपादन है। इसलिये "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इस सूत्र से उपादान में ही पञ्चमी होती है ऐसा कोई नियम नहीं अन्यत्र भी संभव है, ऐसा नहीं कह सकते। उक्त सूत्र कारणमात्रार्थक होने पर भी उसे उपादान परत्व माना गया है। जैसे छाग पशुन्याय से "पशुना यजेत" यहाँ पशुपद पशुमात्र वाचक होने पर भी "छागवपायाः" ऐसा वाक्य शेष होने पर पशुपद पशु विशेष परक है, उसी तरह प्रकृत में भी अनुसंधान करना चाहिये। यदि कहें कि यहाँ उक्त न्याय (छागपशुन्याय) का विरोध है-क्योंकि यहाँ विशेष परत्व का निश्चायक वाक्य शेष नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता-"आत्मनः आकाशः संभूतः" इत्यादि वाक्यों में उपादान में पञ्चमी होने से "सच्च त्यच्चाभवत्" इस वाक्य शेष से "सोऽकामयत बहु स्याम्" इस शाखान्तरस्थ वाक्य से सामानाधिकरण्य की प्रतीति नियामक होगी। दूसरी बात यदि ब्रह्म जगत् का कारण न होने पर कार्य में उसकी व्याप्ति का अभाव होने के कारण उस (ब्रह्म के) परिच्छिन्नत्व की आपत्ति भी आवश्यक हो जायेगी। भावार्थ यह है-कारणत्व कहते हैं-कार्य की उत्पत्ति से प्राक्कालीन नित्य सम्बन्धाश्रयत्व को। वह दो तरह के होते हैं-निमित्त एवं उपादान। इनमें निमित्त कारण उसे कहते हैं, जिसमें कार्योत्पत्ति के अनुकूल ज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति होते हुए तदनुकूल व्यापार का आश्रय हो। व्यापाराश्रयत्व का मतलब है-अपने-अपने अनादि कर्म संस्कार के वशीभूत अत्यन्त संकुचित भोग के अयोग्य ज्ञान शक्ति धर्म वाले चेतन जीवों के कर्मफल के योग्य ज्ञान प्रकाश के द्वारा तत्-तत् कर्मफल एवं तत्-तत् भोग के कारण के साथ संयोजन कर्तृत्व। मायावादी के मत में ऐसा निमित्तत्व दुर्घट है, क्योंकि उनके मत में कार्य कल्पित मानने से कुलाल की तरह उपादान विषयक प्रयत्न, चिकीर्षा आदि असंभव है। कल्पित शुक्ति रूप्य आदि के प्रति भ्रान्तजन एवं अन्य किसी का कर्तृत्व प्रामाणिक नहीं होता है। यदि कहें कि रूप्य आदि में साक्षी ही कर्ता है, केवल अदर्शन मात्र से कर्ता का अपलाप नहीं कहा जा सकता, आपके मत में सर्वज्ञ कर्ता का अपलाप की आपत्ति हो जायेगी तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण इदमर्थावच्छिन्न अथ वा इदमाकार वृत्यवच्छिन्न आपके अभिमत साक्षी इच्छा आदि के अभाव में कर्तृत्व असंभव है। दूसरी बात सर्वज्ञ कर्ता में तो श्रुति आदि प्रमाण हैं, परन्तु शुक्ति रूप्य के कर्ता में प्रमाण का अभाव है। "नाम रूपे व्याकरवाणि" इस श्रुति द्वारा ईश्वर के कर्तृत्व की तरह "शुक्तिरूपां करवाणि" ऐसा किसी का अनुभव नहीं दिखाई देता है। यदि कहें कि भ्रान्तवत् अध्यास द्रष्टृत्व है तो ऐसा भी नहीं कह सकते। भ्रान्त में प्रेक्षापूर्वक आरोपित कर्तृत्व का अभाव है, न ही मायावी की तरह व्यामोहकत्व है, क्योंकि व्यामोहनीय भी कल्पित होने से उसके दर्शन में परमात्मा में भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी। ऐन्द्रजालिक कल्पितों को मोहित

नहीं करता और जन्मादि सूत्र में अर्थलभ्य सार्वज्ञ्य के स्फोरण के लिये "शास्त्रयोनित्वात्" यह सूत्र है, इस प्रकार आप के मत का भङ्ग होगा। अध्यस्त द्रष्टव्य के व्यामोहक में सार्वज्ञ्य संभव नही है। यदि कहें कि "करवाणि (मैं करूँ)" इस प्रकार का संकल्प कर्तृत्व मायी जन में भी है तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण कल्पित पदार्थ में कर्तृत्व के अभाव होने पर भी वञ्चक मायीजन में करवाणि (करूँ) या करोमि (करता हूँ) ऐसा कथन संभव होने पर भी परम आप्त परमेश्वर में वास्तव कर्तृत्व बिना उस प्रकार का कथन संभव नहीं है। इस प्रकार कुतर्क के उच्छेद के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है।

अब उपादान कारण का क्या लक्षण है, इस अपेक्षा में कहते हैं कि कुछ लोगों का मत है कि भ्रमाधिष्ठानत्व ही उपादानत्व है, पर यह मत ठीक नहीं है–मृत्तिका आदि उपादान में भ्रम का अधिष्ठानत्व तथा भ्रम के अधिष्ठान शुक्ति आदि में उपादानत्व का व्यवहार नहीं देखा गया है–मृत्तिका के ज्ञान से घट आदि का बाध कहीं नहीं देखा जाता, पारिभाषिक उपादानत्व अनुपादानत्व में ही पर्यवसित होता है। यदि कहें कि असत्य रूपान्तर की आपत्ति विवर्त कहलाता है और सत्य रूपान्तर की प्राप्ति परिणाम तथा रूपान्तरापत्ति मात्र उपादानत्व है, वह तो ब्रह्म में विवर्त रूप विशेष से भी हो सकता है। निर्विकार श्रुति का तात्पर्य है तात्त्विक विकाराभाव। ब्रह्म अज्ञात प्रपञ्च रूप में विवर्तित होता है, इस प्रकार अज्ञान भी परिणामी रूप में उपादान के अन्तर्गत आ गया है। रूप्य भी शुक्ति का विवर्त होने तथा अज्ञान का परिणाम होने से यह उभय उपादानक है तो ऐसा नहीं कह सकते। आपको तो मिथ्याभूत जगत् का मिथ्या स्वरूप उपादान का ही अन्वेषण करना चाहिये। सत्य मानने पर कार्य में भी कारण स्वभाव के कारण सत्यत्व का प्रसङ्ग होगा, ऐसा कहने वाले आपके द्वारा सत्य असत्यरूपतापत्तिका निषेध होगा तथा स्वभाव का त्याग प्रसङ्ग भी हो जायेगा और सत्य में असत्य रूपता की प्राप्ति होने पर उसकी आपत्ति योग्यता रूप धर्म भी अवश्य मानना होगा। जो सर्व सामर्थ्यशून्य है, उसमें तथात्व संभव नहीं होने से अतिप्रसङ्ग भी होगा और ऐसा होने पर आपकी निर्विशेष प्रतिज्ञा का भङ्ग होगा। यदि कहें कि रूपान्तर में अभेद ज्ञान विषयत्व उपादानत्व है–यह भी संभव नहीं, ऐसा मानने पर तत् त्वं पदार्थमें, क्षीर–नीर में, तथा षण्ड और गोत्व में भी उपादान उपादेय भाव का प्रसंग हो जायेगा। यदि कहें कि कार्य के साथ अभेद बुद्धि विषयत्व उपादानत्व है तो यह भी नहीं कह सकते, सदृश वस्तु के सन्निधान में निमित्त कारण में भी कार्य के साथ अभेद का भ्रम संभव होने से अतिव्याप्ति हो जायेगी। यदि कहें कि माया उपादान है, ईश्वर निमित्त कारण है और शुद्ध भ्रम अधिष्ठान है तो यह भी ठीक नहीं, ऐसी दशा में अभिन्न–निमित्तोपादान सिद्धान्त की सिद्धि न होने से आपके मत में अभिन्न निमित्तोपादन प्रयोजनक इस अधिकरण का ही बाध हो जायेगा। बल्कि मायावादी के मत में ब्रह्म में उपादानकारणत्व का प्रतिपादन प्रामादिक ही है। भ्रम के अधिष्ठान शुक्ति आदि में अभवत् ऐसे प्रयोग का अभाव है। वे (उस प्रयोग के विषय) बहुभवन (बहुस्याम्) रूप उपादानत्व का ब्रह्म में स्वीकार नहीं करते। यदि कहें कि शुक्ति में

रूप्य (रजत) के उपादानत्व का अभाव होने से शुक्तिरूप्य उत्पन्न हुआ, ऐसा व्यवहार का अभाव युक्त ही है तो ऐसा नहीं कह सकते। इदं रूप्यम् इस प्रतीति में रूप्य से अभेद रूप में प्रतीत इदमर्थ जो रूप्य के उपादान रूप में आपका अभिमत है, इदं रूप्य में अभवत् (यह रजत हो गया) इस प्रकार का व्यवहार विषयत्व है। दूसरी बात सृष्टि से पहले अहमर्थ का अभाव होने से उत्तम पुरुष के प्रयोग की उत्पत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि अविद्या के परिणाम विशिष्ट में 'अहम्' ऐसा प्रयोग संभव होने से उत्तम पुरुष के प्रयोग की उत्पत्ति भली-भाँति उत्पन्न होगी तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त संकल्प से पहले अविद्या के परिणाम का अभाव है। भाव यह है कि संकल्प से पूर्व अविद्या का परिणाम है या नहीं? पहला पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति का विरोध होगा। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते उक्त उत्तम पुरुष का प्रयोग संभव नहीं है। दूसरी बात "स्वयमकुरुत" इस श्रुति का भी विरोध होगा अन्यथा "अकुरुत" इस तत्त्वोक्ति का अयोग हो जायेगा। विवर्त के अधिष्ठान इदमर्थ में अपने को रूप्य (रजत) रूप में कर लिया, ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता और 'तद्भूतयोनिम्' इस श्रुति का भी विरोध होगा। रूप्य के अधिष्ठान इदमर्थ में योनि शब्द का प्रयोग नहीं होगा। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत" इस सहेतुक सामानाधिकरण्य प्रतिपादक श्रुति का बाध भी होगा। यदि कहें कि "स्थाणुरेव चौरः" की तरह यहाँ बाधित सामानाधिकरण्य स्वीकार करने से बाध नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। स्थाणु और पुरुष में उपादान उपादेय भाव का अभाव होने से दृष्टान्त संभव नहीं है, इस प्रकार संक्षेप में यह कहा गया है।

कुछ लोग चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान है-ऐसा मानते हैं। तब उपादान प्रतिपादन श्रुतियों का स्वार्थ में प्रामाण्य होने से कोई दोष नहीं है। यदि कहें कि विशिष्ट को उपादान मानें तो परिणाम भी अवश्य होगा, फिर तो निर्विकार बोधक श्रुति का व्याकोप होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते विकार विशेषणगत है और निर्विकार श्रुति विशेष्य परक है-इस प्रकार ब्रह्म में किसी प्रकार के दोष के लेशका अवकाश नहीं है-ऐसा कहते हैं-यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि आपके मत में विशिष्ट में ब्रह्मत्व अभिप्रेत है या नहीं। यदि मानते हैं तो आपके द्वारा "अंशो नानाव्यपदेशात्" इस वक्ष्यमाण सूत्र के भाष्य में विशेषण को अंश स्वीकार करने से ब्रह्म में अंशतः परिणाम की आपत्ति होगी-जिसे कोई रोक नहीं सकता-ऐसी स्थिति में निर्विकार श्रुति का बाध होता है-इसलिये यह संभव नहीं है यदि विशिष्ट को ब्रह्म नहीं मानते हैं तो ब्रह्मोपादानत्व प्रतिज्ञा भङ्ग होता हैं। दूसरी बात फिर तो आप के मत में शुद्ध और विशिष्ट में भेद हो जाने से परमत (मायावादिमत) का प्रवेश हो जाता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के स्वीकार में बाध होता है, इसलिए यह मत असंभव ही है। दूसरी बात आप विशिष्ट ब्रह्म को मुक्त गम्य मानते हैं या नहीं, पहला पक्ष नहीं मान सकते, क्योंकि विकारी में मुक्तोपसृप्यत्व मानने पर मुक्ति में भी सविकारत्व की आपत्ति होगी, तब तो महान् अनिष्ट हो जायेगा, द्वितीय पक्ष में हम पूछेंगे कि मुक्त गम्य ब्रह्म क्या है? विशेष

शून्य कह नहीं सकते, मायावाद मत का प्रवेश हो जायेगा जो आपको स्वीकार नहीं है। दूसरी कोई गति नहीं होने से असंभव ही है, इसलिये विशिष्ट ब्रह्मोपादानवाद महादोषावह होने से असंभव ही है। कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्म निमित्त कारण ही है उपादान कारण नहीं, यह मत सूत्रकार ने स्वयं खण्डित कर दिया है- क्योंकि इसमें श्रुति तथा स्मृति का विरोध है, इसलिये यहीं उपराम करते हैं। वास्तव में तो कार्याकार रूप में भजन योग्य शक्ति विशिष्ट होकर तत् अवस्था प्राप्ति योग्यत्व ही उपादानत्व है। इस प्रकार क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर आदि पदार्थ स्वरूप स्वाभाविक सूक्ष्मावस्थापन्न शक्तियों एवं तत् गत सूक्ष्म सहरूप स्वाभाविक कार्यों स्थूलाकार रूप में प्रकाशकत्व ही है।

अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् का निमित्त कारणत्व एवं उपादानत्व निश्चित होने पर "विकारजननीगौरनाद्यन्तवती" इत्यादि श्रुतियों द्वारा सूक्ष्म अचित् शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ही प्रकृति आदि शब्दों द्वारा प्रतिपादित होता है। ब्रह्म सर्वात्मक होने से वे सभी ब्रह्म से अभिन्न हैं। क्योंकि " सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ऐसा श्रुति वचन है। पहले जो कहा गया है कि लोक के सभी कार्य अनेक कारकों द्वारा साध्य होते हैं, वह भी संगत नहीं है। अनन्त अचिन्त्य शक्तिमान् ब्रह्म को जगत् के निर्माण में अन्य किसी कारक या सहायक की अपेक्षा नहीं होती है ॥२३॥

इतश्च ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च-

इस कारण भी ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादान कारण है-

अभिध्योपदेशात् ॥१/४/२४॥

अभिध्या संकल्पः "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय, तदैक्षत बहु स्यामि"ति विश्वस्रष्टुर्ब्रह्मणः स्वस्यैवाभिव्यक्तनामरूपजगदात्मना बहुभवनसङ्कल्पोपदेशात्। "तदैक्षते"ति स्रष्टृत्वम्। "बहु स्यामि"त्युपादानत्वमिति विवेकः ॥२४॥

(हिन्दी अनुवाद)

अभिध्या यानी संकल्प-"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय तदैक्षत बहुस्याम्" इन श्रुतियों द्वारा विश्व स्रष्टा ब्रह्म द्वारा स्वयं अभिव्यक्त नामरूपात्मक जगत् रूप में बहुत होने (बहुभवन) के संकल्प का उपदेश है। "तदैक्षत" अंश से स्रष्टृत्व (निमित्त) है। "बहु स्याम्" से उपादानत्व ऐसा समझना चाहिये ॥२४॥

विशेष- निम्बार्क-मत में शक्ति विक्षेप परिणाम वाद माना गया है। जिसका अग्रिम 26 वें सूत्र में स्पष्टतया प्रतिपादन है इसलिये शक्ति में विकार होने पर भी शक्तिमान् में कोई विकार नहीं आता, निर्विकार श्रुति शक्तिमान्परक है। (सं)

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥१/४/२५॥

चशब्दोऽवधारणे। "किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा पृच्छ्यते एतद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्नि"ति जगदुपादाननिमित्तादिप्रश्ने "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्माध्यायतिद् भुवनानि धारयन्नि"ति साक्षादुभयं निमित्तत्वमुपादानत्वं च ब्रह्मण आम्नायतेऽतस्तदेवोभयरूपम् ॥२५॥

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ "च" शब्द अवधारण अर्थ में है। " किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टत- क्षुर्मनीषिणो मनसा पृच्छ्यते एतद्यदध्यतिष्ठत् भुवनानि धारयन्" इस प्रकार जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर "ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुर्मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वो ब्रह्मा ध्यायति द्भुवनानि धारयन्" इस श्रुति द्वारा साक्षात् ब्रह्म को निमित्त एवं उपादान बताया गया है। इसलिये ब्रह्म जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है।।25।।

इतश्चोभयरूपं ब्रह्म—

इस कारण ब्रह्म निमित्त और उपादानकारण भी है—

आत्मकृतेः परिणामात् ॥१/४/२६॥

लोके हि कृतिमान् कर्ता कृतिविषयो मृदादिरुपादानमिति व्यवस्था। प्रकृते चात्मनः कृतिमत्वं कृतिविषयत्वञ्चोभयं श्रूयते "तदात्मानं स्वयमकुरुतेति"। आत्मानमिति द्वितीयया कृतिविषयत्वं स्वयमिति कृतिमत्त्वम्। एवञ्च ब्रह्मैव निमित्तमुपादानञ्च। कुतः ? आत्मकृतेः आत्मसम्बन्धिनी कृतिरात्मकृतिः। सम्बन्धो विषयविषयिभावः। कृतिः करणं तस्मादित्यर्थः। तत्राव्यक्तरूपेण कर्तृत्वं व्यक्तनामरूपत्वेन च कर्मत्वं कार्यकारणयोस्तादात्म्यात्। नन्वात्मनः कर्तृत्वेन पूर्वसिद्धस्य कथं पुनः कृतिकर्मत्वमत आह परिणामादिति। परिणामो द्विविधः स्वरूपपरिणामः शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामश्च। तत्राद्यो ब्रह्मानधिष्ठितस्वतन्त्रप्रकृतिस्वरूपपरिणामवादोऽयं साङ्ख्यानां सिद्धान्तः। द्वितीयश्चोपनिषदाम्। तथाच सर्वज्ञत्वसर्वाचिन्त्यानन्तशक्त्यादिनिलयः परब्रह्मभूतः श्रीपुरुषोत्तमः स्वात्मकस्वाधिष्ठितनिजशक्तिविक्षेपेण जगदाकारं स्वात्मानं परिणामयति। यथाप्रच्युतस्वरूपादिभ्य एवाकाशोर्णनाभ्यादिभ्यः शब्दवाय्वोस्तत्त्वादेश्च जन्मादिकम्। यथा वाऽप्रच्युतस्वरूपान्मनसः कामक्रोधलोभमोहादीनां परस्परविलक्षणानां समुद्रादूर्मीणाञ्चोद्भवनं प्रत्यक्षागमादिमानसिद्धम् तेषां तादृशपरिमितशक्तियोगादेव एवमचिन्त्यानन्तस्वाभाविकशक्तियोगाद् ब्रह्मणोऽपि निर्विकारादप्रच्युतस्वरूपाज्जगज्जन्मादिकं

बोध्यम्। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, विचित्रशक्तिपुरुषः पुराणो नचान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युरि"त्यादिश्रुतेः। शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णतां" इत्यादिस्मृतेः। नच शक्तिविक्षेपोपसंहारवादे किं प्रमाणमितिवाच्यम् "यथोर्णनाभिरि" त्यादुपपत्तिसहकृतश्रुतेः। "प्रधानं पुरुषञ्चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामासे" तिविक्षेपपर्य्यायक्षोभशब्दप्रयोगस्मृतेश्च मानत्वात्। किञ्च "प्रसार्य च यथाङ्गानि कूर्मः संहरते पुनः। तद्वद् भूतानि भूतात्मा सृष्टानि ग्रसते पुनरि"ति भारते दृष्टान्तोपपत्ति-पूर्वकभीष्मवाक्याच्च। शक्तिविक्षेपरूपपरिणामानङ्गीकारे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वनिरतिशयानन्दत्वादिकं विरुद्ध्येत। अज्ञत्वासुखित्वकर्मवश्यत्वादिकं प्रसज्येत। विवर्तवादे च प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरसम्भव एव सर्वस्य कार्यस्य भ्रान्तिमात्राङ्गीकारात् कस्य ज्ञानं स्यात्। किञ्च भ्रान्तिविषयकं ज्ञानं भ्रान्तिरूपमेव स्यात् तथाच भ्रान्तजल्पितमेव श्रुतिवाक्यं स्यात् बौद्धमतापत्तेश्च। अपिच यथा परिणाभदृष्टान्तानां मृद्विज्ञानेन घटशरावादिकार्याणां सुवर्णज्ञानेन कटककुण्डलादीनां श्रुत्युपात्तानां ज्ञानसम्भवः न तथाविवर्तदृष्टान्तानां शुक्तिरजतरज्जुसर्पादीनां शुक्तिरजतसर्पादीनां श्रुत्युपात्तत्वं शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानस्य रज्जुज्ञानेन सर्पजातस्य वा ज्ञानं दृष्टं श्रुतमुपपन्नं वा कार्यस्य सत्यत्वाङ्गीकारे चाद्वैतसिद्धान्तो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। तस्माद्विवर्तवा[1]दो हि श्रुतिप्रतिज्ञादृष्टान्तविरुद्धत्वादुपेक्षणीयो विवेकिभिः।।२६।।

(हिन्दी अनुवाद)

लोक में कृतिमान् कर्ता एवं कृति विषय मृत्तिका आदि उपादान कहलाता है। प्रकृत में आत्मा में कृतिमत्त्व एवं कृतिविषयत्व दोनों सुना जाता है-"तदात्मानं स्वयमकुरुत" (उसने अपने आपको जगत् रूप में कर दिया) यहां "आत्मानं" में द्वितीया द्वारा अपने में कृति विषयत्व तथा "स्वयम्" पद द्वारा अपने में कृतिमत्त्व भी दिखाया है-इस प्रकार ब्रह्म ही निमित्त एवं उपादान भी है, क्योंकि "आत्मकृतेः परिणामात्" आत्मकृतिः आत्म सम्बन्धिनी कृतिः आत्म सम्बन्धिनी में सम्बन्ध है, विषय विषयीभाव। कृति माने करण उससे। यहां अव्यक्त रूप से कर्तृत्व तथा व्यक्त नामरूपत्वेन कर्म है। कार्यकारण में तादात्म्य है। यदि कहें कि आत्मा कर्तृत्वेन (कर्ता रूप में) पूर्व से ही सिद्ध है-फिर उसमें कर्मत्व कैसे होगा इस पर कहते हैं "परिणामात्" परिणाम दो तरह के होते हैं-स्वरूप परिणाम एवं शक्ति विक्षेप लक्षण परिणाम। इसमें ब्रह्म से अनधिष्ठित स्वतन्त्र प्रकृति स्वरूप परिणाम वाद सांख्य शास्त्रियों का सिद्धान्त है तथा शक्ति विक्षेप लक्षण परिणामवाद औपनिषदों[1] का सिद्धान्त है। इस प्रकार सर्वज्ञत्व, सर्वाचिन्त्य, अनन्त शक्ति आदि गुणों के निलय परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम स्वात्मक स्वाधिष्ठित निज शक्ति के विक्षेप द्वारा जगदाकार में अपने को परिणत करते हैं। जिस प्रकार बिना स्व स्वभाव में विकार उत्पन्न हुए ही आकाश तथा ऊर्णनाभि आदि द्वारा

---

१. विवर्तवाद सिद्धान्त श्रीशंकराचार्यजी महाराज का है, जिसका यहाँ खण्डन है। (सं)

शब्द वायु तथा तत्त्व आदि के जन्म आदि होते हैं, जैसे अविकृत स्वरूप मन से काम क्रोध लोभ मोह आदि परस्पर विलक्षण तत्त्वों एवं समुद्र से ऊर्मियों का उद्भव प्रत्यक्ष तथा आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध है और ये उनके परिमित शक्ति योग से होता है, उसी तरह अचिन्त्य अनन्त स्वाभाविक शक्ति योग के बल से ब्रह्म से भी स्वरूप में कोई विकार हुए बिना ही जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय आदि होते हैं-ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि श्रुतिवचन है-"परास्य शक्ति र्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" "विचित्रशक्तिपुरुषः पुराणो न चान्येषां शक्तयस्तादृशाः स्युः" इत्यादि श्रुति वचन हैं। अर्थात् भगवान् में अनन्त अद्भुत स्वाभाविक शक्तियाँ है। पुराणों में भी कहा है-"शक्तयः सर्वभावामचिन्त्यज्ञानगोचराः। शतशो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्याः भाव शक्तयः।" अर्थात् मनुष्यों के लिये अचिन्त्य अनन्त शक्तियाँ भगवान् में हैं और वे शक्तियाँ अग्नि में उष्णता शक्ति की तरह भगवान् में स्वाभाविक रूप से रहती हैं औपाधिक नहीं। यदि कहें कि शक्ति विक्षेप एवं उपसंहार वाद में क्या प्रमाण है तो कहते हैं-"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" इत्यादि उपपत्ति युक्त श्रुति ही प्रमाण है तथा "प्रधानं पुरुषं चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास" इस प्रमाण वाक्य में विक्षेप के पर्यायवाची क्षोभ शब्द का प्रयोग भी प्रमाण है। दूसरी बात "प्रसार्य च यथाऽङ्गानिं कूर्मः संहरते पुनः। अर्थात् जैसे कछुआ अपने अङ्गों को निकालता है और पुनः अपने भीतर उन्हें समेट लेता है, उसी भाँति परमेश्वर जगत् को जो उनमें शक्ति रूप में (अव्यक्त रूप में) पहले से स्थित रहता है, निकालते प्रकट करते और प्रलय दशा में अपने में उसे उपसंहार कर लेते हैं। ऐसा महाभारत में दृष्टान्त एवं उपपत्ति पूर्वक भीष्म जी का वचन भी विद्यमान है। शक्ति विक्षेप (विस्तार) रूप परिणाम नहीं स्वीकार करने पर ब्रह्म में सर्वज्ञत्व तथा निरतिशय आनन्दत्वादि विरुद्ध हो जायेंगे तथा उनमें अज्ञत्व असुखित्व तथा कर्मवश्यत्व आदि दोषों का प्रसङ्ग हो जायेगा। विवर्तवाद में प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त दोनों असंभव है। उस मत में कार्यमात्र भ्रम है, मिथ्या है, तब किसका ज्ञान होगा। दूसरी भ्रान्ति विषयक ज्ञान भी भ्रान्ति रूप ही होगा। तब तो श्रुति वाक्य भी भ्रान्त जल्पित ही होगा फिर तो बौद्ध मत की आपत्ति होगी। दूसरी बात परिणाम वाद में तो दृष्टान्त स्वरूप प्रदर्शित मृद् विज्ञान से घट, शराब आदि कार्यों तथा सुवर्ण ज्ञान से कटक कुण्डल आदि का (श्रुति वर्णितों का) जैसे ज्ञान संभव है, उस प्रकार विवर्त के दृष्टान्त शुक्ति रजत तथा रज्जु सर्प आदिकों का श्रुत्युपात्तत्व, शुक्तिज्ञान से रजत के ज्ञान का एवं रज्जु के ज्ञान से सर्पमात्र का ज्ञान कहीं देखा गया है न सुना ही गया है-न यह किसी प्रकार उपपन्न है। कार्य को सत्य मानने पर तो अद्वैत सिद्धान्त समाप्त हो जाता है। इसलिये विवर्तवाद श्रुति तथा उसकी प्रतिज्ञा एवं दृष्टान्त से विरुद्ध होने के कारण विवेकी जनों के लिये सर्वथा उपेक्षणीय है॥२६॥

---

१. यहाँ ज्ञातव्य है कि परिणामवाद का सिद्धान्त वहुवादि सम्मत है-कारण औपनिषदों के अलावा सांख्य, योग तथा समस्त वैष्णवाचार्य परिणाम वादी हैं। (सं)

योनिश्च हि गीयते॥ १/४/२७॥

इतश्चोपादानं ब्रह्म। हि हेतौ यस्मात्सर्वस्य कार्यस्य **परमात्मा योनित्वेन गीयते** "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" इति। "कर्तारमीशं **पुरुषं ब्रह्मयोनिमिति च**" एषयोनिः सर्वस्येति च योनिशब्दस्य चोपादाने शक्तिः **सुप्रसिद्धा पृथिवीयोनिरौषधि-** वनस्पतीनामित्यादौ ॥२७॥ इतिप्रकृत्यधिकरणम्॥

(हिन्दी अनुवाद)

इस कारण भी ब्रह्म उपादान है। हि शब्द हेतु अर्थ में है। क्योंकि सम्पूर्ण कार्यजात की योनि (उपादान) रूप में परमात्मा कहे जाते हैं "यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" "एष योनिः सर्वस्य" इन स्थलों में योनि शब्द उपादान वाचक माना गया है। प्रसिद्ध है "पृथिवी योनि रौषधिवनस्पतीनाम्" (अर्थात् पृथिवी औषधि एवं वनस्पतियों की योनि है।)

इस प्रकार प्रकृति अधिकरण पूरा हुआ॥२७॥

एतेन सर्वे वेदान्ता व्याख्याता व्याख्याताः॥ १/४/२८॥

एतेन समन्वयाध्यायोक्ताधिकरणसमुदायेन सर्वेऽप्युक्तानुक्तकारणप्रतिपादनपराः वेदान्ता व्याख्याताः भवन्तीतिशेषः। पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति। तस्मात्सर्वज्ञानशक्ति- बलैश्वर्य्याद्यनन्तगुणादिनिलये निःशेषदोषगन्धाघ्रातसीम्नि परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे वेदान्तानां समन्वय इति सिद्धम्। यदि सर्वज्ञानशक्त्याद्याश्रयः परब्रह्मभूतो मुकुन्दाख्यो जगद्धेतुर्नस्यात्तर्हि प्रतिनियतदेशकालादिक्रिया तत्फलादिसिद्धिर्न स्यात् प्रतिनियतकालकोकिलाद्युत्पत्तिः प्रतिनियतकालमम्बुदादिगर्जनादिः प्रतिनियतब्राह्मणादिवर्णाश्रमक्रियादिः प्रतिनियतस्वर्गादिसुखं नरकादिदुःखञ्च न स्यात्। किञ्च मनसाप्यतर्क्यरचनस्य जगतस्तदल्पैकदेशवृत्तिविविध- नाडीजालादिसन्निवेशविशिष्टशरीरस्यचोत्पत्तिर्न स्यादित्यादिकाः शास्त्रैकमूलानुकूलतर्काश्चा- त्रानुसन्धेयाः।।२८।।

गुणैकनिलयो देवः सर्ववेदसमन्वितः पायाच्छ्रीमन्मुकुन्दो नः श्रीनिम्बार्कपदाश्रितान्॥१॥

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाद्याचार्यश्रीनिम्बार्कमतानुयायि श्रीमन्मुकुन्द
चरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण श्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन
विरचितायां वेदान्तकौस्तुभप्रभायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ
प्रथमाध्यायचतुर्थपादविवृतिः समाप्ता।
समाप्तश्चायं समन्वयाख्यः
प्रथमोऽध्यायः।

(हिन्दी अनुवाद)

इस प्रकार समन्वयाध्याय में उक्त अधिकरण समूह द्वारा कारण प्रतिपादन परक समस्त उक्त एवं अनुक्त वेदान्त वाक्यों की व्याख्या हो गई– ऐसा समझना चाहिये। यहाँ व्याख्यात पद का अभ्यास (दुबारा उच्चारण अध्याय की समाप्ति को द्योतित करता है) इस प्रकार समस्त ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि अनन्त गुण- गण निलय, समस्त दोषों से रहित परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का समन्वय है, यह सिद्ध हुआ। यदि समस्त ज्ञान, शक्ति आदि के आश्रय पर ब्रह्म स्वरूप भगवान् मुकुन्द जगत् के कारण नहीं होंगे तो नियमित रूप से देश कालोचित क्रिया, एवं तत्–तत् देश कालोचित फल आदि की सिद्धि नहीं होगी, यथा स्थान प्रतिनियत काक, कोकिल आदि की उत्पत्ति यथा समय मेघ आदि का गर्जन आदि, तत् तत् वर्णों के लिये विहित वर्णाश्रमोचित क्रिया आदि तथा नियमित रूप प्राप्त होने वाले स्वर्गादि सुख एवं नरक आदि से दुःख की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। एवं मन से भी अचिन्तनीय अनन्त ब्रह्माण्डात्मक जगत् की अद्‌भुत रचना, एवं जगत् के अल्प एक देश में वृत्ति नानाविध नाड़ी समूह के सन्निवेश से विशिष्ट शरीर की उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। इस प्रकार शास्त्र मूलक अनुकूल तर्क भी इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य हैं॥२८॥

अनन्त सद्‌गुणों के एकमात्र आश्रय, समस्त वेद वाक्यों से समन्वित भगवान् श्रीमुकुन्द हम श्रीनिम्बार्क चरणाश्रित वैष्णवों की रक्षा करें।

इस प्रकार श्रीसनक सम्प्रदाय प्रवर्तक आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क मतानुयायी श्रीकृष्ण चरणारविन्दमकरन्द लोभी श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा विरचित वेदान्त कौस्तुभप्रभा नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति में प्रथमाध्याय चतुर्थ पाद का पं. श्री वैद्यनाथ झा मैथिल द्वारा सम्पादित हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

साथ ही समन्वयाध्याय नामक प्रथम अध्याय भी समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

विषय-सूची

अथ द्वितीयाध्यायः प्रथमः पादः

स्मृत्यधिकरणम्

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥२/१/१ ॥

पूर्वत्र ब्रह्मणोऽन्यप्रमाणागोचरतया वेदैकवेद्यत्वं निर्णीतम् अतीन्द्रियत्वात्। "नेन्द्रियाणि नानुमानमि"तिश्रुतेः। एवं श्रुत्यर्थस्याप्तप्रणीततदुपवृंहणौपयिकस्मृतिं विना दुर्ज्ञेयत्वादल्पश्रुतानां मन्दमतीनां तन्निश्चयानुपपत्तेश्च स्मृतयोऽप्यवश्यमपेक्षिताः। तत्र च श्रुत्युपवृंहणाय सांख्यादिस्मृतिर्ग्राह्या, मन्वादिस्मृतिर्वेति विषये पूर्वपक्षमाह। स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इतिचेदिति मन्वादिस्मृतीनां स्वर्गाद्यभ्युदयफलकाग्निहोत्रज्योतिष्टोमादिनित्यनैमित्तिकादिधर्मप्रतिपादने सावकाशतया कृतार्थत्वात् "ऋषिं प्रसूतम् कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानंबिभर्ति जायमानञ्चपश्ये"दिति शास्त्रसंस्तुत्यमहर्षिप्रणीतायाः 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' ।१॥ विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ।२ ।१। अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितम् प्रधानस्य। ३ ।५९, इत्यादिसांख्यस्मृतेः। केवलपरतत्त्वप्रतिपादनपरत्वात्तदनुसारेणैव वेदान्तशास्त्रमपि व्याख्येयम्। अन्यथा तस्या अन्यत्र निरवकाशतया बाघरूपदोषापत्तेः। "सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीय" इति न्यायादित्येवं प्राप्ते राद्धान्तः। "नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रङ्गादि"ति। नेति पूर्वपक्षनिषेधपरः। पूर्वपक्षोक्तिनर्युक्ता कुतः। अन्यासां मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मैककारणकत्वप्रतिपादिकानां श्रुतिमूलकानामनवकाशत्वरूपदोषापत्तेर्बाधप्रसङ्गात्। तथाचाह भगवान्मनुः "महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः। सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजदि"ति। आपस्तम्बश्च "पूः" प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य ह्यहन्यमानस्य विकल्मषस्य। तस्मात्कायाः प्रभवन्ति सर्वे समूलं शाश्वतिकः स नित्यः" इत्यादि। भारते च "नारायणो जगन्मूर्त्तिरनन्तात्मा सनातनः। तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणाद्विजसत्तम" तत्रैव राजधर्मे युधिष्ठिरः। "योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण! त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे। विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने। नमोस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे" इत्यादि। भगवद्गीतायाञ्च "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" पराशरश्च "विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव संस्थितम्। स्थितिसंयमकर्त्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः।" इति। एतासां बाधः स्यादित्यर्थः। ननु तासां धर्मप्रतिपादनेन नैराकांक्ष्यमिति, चेन्न। शास्त्रप्रतिपाद्यश्रीपुरुषोत्तमज्ञानसाधनीभूतधर्ममात्रप्रतिपादनेऽपि धर्मसाध्यज्ञानविषयप्रतिपादनभागे बाध्यमाने दोषतादवस्थ्यात्। नच कपिलस्मृतिबाधोऽप्ययोग्यः स्मृतित्वाविशेषादिति वाच्यम्। श्रुतिविरुद्धायास्तस्या अप्रामाण्यस्येष्टत्वात्। तथा सूत्रितं भगवता जैमिनिना "विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानमि"ति। अस्यार्थः श्रुतिस्मृतीनां विरोधे कस्या बाध इति निर्णयार्थमिदमधिकरणम्। तत्र "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेदितिश्रुतिः" "औदुम्बरीं सम्वेष्टयितवे तिस्मृतिः। यदि स्पर्शाङ्गीकारस्तदा स्मृतिबाधः। यदि सर्ववेष्ठनं

तदा श्रुतिबाध इति प्राप्ते राद्धान्तः। विरोध इत्यादि। स्मृतीनां श्रुतिविरोधे सति स्मृतीनामनपेक्षं निरपेक्षतया प्रामाण्यं स्यात्। स्मृतिविरोधोऽत्र न विचारणीय इत्यर्थः। श्रुत्यविरोधे तु अनुमीयते श्रुत्यर्थो येन तदनुमानं स्मृतिरपि प्रमाणं नतु श्रुतिविरोधे श्रुतीनां निरपेक्षतया स्वार्थे प्रामाण्यं स्वतएव रवेरिव रूपविषये। स्मृतीनां तु तन्मूलत्वाच्छ्रुतिसापेक्षत्वात्तदविरोधे सत्येवेत्यर्थः। किञ्च "यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजमि"ति श्लाघ्यस्य भगवतो मनोरपि निर्णयरूपं वचनम्, "या वेदबह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। ताः सर्वा निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" इति। तस्माद्वेदविरुद्धानां साङ्ख्यादिस्मृतीनां बाधो न दोषावहः। औपनिषदानां श्रुतिस्थकपिलशब्देन च हिरण्यगर्भोग्राह्यः, कनककपिलवर्णत्वात्। "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानमि"त्यनेन समानार्थकत्वाच्च। श्रुतिविरुद्धस्मृतिप्रवर्त्तकस्त्वग्निवंशजो जीवविशेष एव, न कर्दमात्मजः। "कपिलो वासुदेवाख्यः साङ्ख्य"तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथैव च। तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपबृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह। साङ्ख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिबृंहितमि"तिपाद्मात्। "कपिलं परमर्षिं च यमाहुर्यतयः सदा। अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोगप्रवर्तकः" इति वनपर्वण्यग्निवंशवर्णने मार्कण्डेयवाक्याच्च ॥१॥

(हिन्दी अनुवाद)

अब द्वितीय अध्याय प्रारम्भ होता है–

प्रथम पाद

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैतपण्डितम् । द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

स्मृति अधिकरण

पूर्व अध्याय में ब्रह्म किसी अन्य प्रमाण से ज्ञेय न होने के कारण केवल वेदैक वेद्य है–ऐसा निर्णय किया गया, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है–"नेनिन्द्रयाणि नानुमानम्" (अर्थात् वह ब्रह्म न इन्द्रियों द्वारा गम्य है–न अनुमान से ही) ऐसा श्रुति वचन है। श्रुति का अर्थ, आप्त प्रणीत तथा श्रुत्यर्थ निर्णय में उपयोगी स्मृतिके बिना दुर्ज्ञेय होने से अल्पश्रुत मन्दमति जनों के लिये श्रुत्यर्थं के निश्चय की अनुपपत्ति होने से श्रुत्यर्थ निर्धारण के लिये स्मृतियाँ भी अवश्य अपेक्षित हैं। ऐसी दशा में श्रुत्यर्थ के निर्धारण के लिये सांख्य आदि स्मृति ग्राह्य हैं या मनु आदि स्मृति? इस विषय में पूर्वपक्ष कहते हैं–"स्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्ग इति चेत्" यहाँ विचारणीय है कि मनु आदि स्मृति स्वर्ग आदि अभ्युदय फल प्रदायक अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम आदि नित्य नैमित्तिक आदि धर्म तत्त्व के प्रतिपादन में सावकाश होने से कृतार्थ हैं अर्थात् मानव के सामान्य धर्म तथा वर्णाश्रम धर्म आदि के निरूपण द्वारा मनु आदि स्मृतियों की सार्थकता सिद्ध है। परं तु "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानं बिभर्ति जायमानं

च पश्येत्" (कपिल ऋषि सर्वप्रथम उत्पन्न हुए अर्थात् सर्व प्राचीन ऋषि हैं–वे सब ज्ञान को धारण करते हैं) इस शास्त्र प्रमाण के द्वारा कपिल महर्षि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे सर्वश्रेष्ठ कपिल ऋषि द्वारा सांख्य स्मृति का प्रणयन हुआ है। सांख्य स्मृति में कवल परतत्त्व का प्रतिपादन है–आत्मा (जीवात्मा) उसकी मुक्ति एवं तदुपयोगितया तत्त्व विवेचन मात्र ही उसका प्रयोजन है–जैसा कि सांख्य सूत्र के वचन हैं–"अथ त्रिविधदुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥१॥ (दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है) "विमुक्तमोक्षार्थो स्वार्थ वा प्रधानस्य ॥२/१॥

यहाँ पूर्व अध्याय के सूत्र से "कर्तृत्वम्" की अनुवृत्ति होती है-तब अर्थ होता है–स्वाभाविक रूप से दुःख सम्बन्ध से विमुक्त पुरुष के प्रतिबिम्ब भूत दुःख मोक्षार्थ अथवा प्रतिबिम्ब सम्बन्ध से दुःख मोक्ष के लिये प्रधान में कर्तृत्व है।

"अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ॥३।५९।" (दूध जैसे अचेतन होने पर भी प्रवृत्त होता है-उसी प्रकार अचेतन होने पर भी प्रधान सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होता है।) इत्यादि सांख्य स्मृतियाँ केवल परतत्त्व का ही प्रतिपादन करती हैं-यदि परतत्त्व निरूपण में भी इनका सिद्धान्त न माना जाय तब तो अन्यत्र निरवकाश होने के कारण इसका बाध ही हो जायेगा। यह महान् दोष होगा-इसलिये सांख्य स्मृति के अनुसार ही वेदान्तवाक्यों की व्याख्या करनी चाहिए। क्योंकि सावकाश निरवकाशयोर्निरवकाशो बलीयः' (सावकाश निरवकाश में निरवकाश शास्त्र बलवान् होता है) ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं "नान्यस्मृत्यनवकाश दोष प्रसङ्गात्" यहाँ न शब्द पूर्व पक्ष निषेध परक है-पूर्व पक्ष की उक्ति युक्त नहीं है क्योंकि यदि सांख्य स्मृति की बात मानते हैं तो मनु आदि अन्यान्य श्रुतिमूलक स्मृतियाँ, जो ब्रह्म को ही एकमात्र कारण मानती हैं, का निरवकाशत्व हो जायेगा और उनका बाध हो जायेगा। जैसा कि भगवान् मनु ने कहा है–

"महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्।।"

(अर्थात् प्रलय के अवसान के अनन्तर स्वयम् परमात्मा यह महाभूतादि आदि पद से महतत्त्व आदि तत्त्वों को अव्यक्त अवस्था में स्थित (प्रथम सूक्ष्म रूप में स्थित तत्त्वों को स्थूल रूप से प्रकाशित करते हुए वृत्तौजाः अर्थात अप्रतिहत सृष्टि सामर्थ्यवाला प्रकाशित हुआ। तदनन्तर वह परमात्मा नाना प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से (अभिध्याय) 'बहुस्याम्' इस प्रकार से, संकल्प करके सर्वप्रथम जल की सृष्टि की। यहाँ आदि का (सर्वप्रथम) तात्पर्य है-स्वकार्यभूत ब्रह्माण्ड सृष्टि से पूर्व। यहाँ जल की यह सृष्टि महत् अहंकार तथा तन्मात्रा के द्वारा जाननी चाहिये। उन जलों में बीज अर्थात् शक्ति रूप का आरोपण किया आपस्तम्ब ने "पू० प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य ह्यहन्यमानस्य विकल्मषस्य।

तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे समूलं शाश्वतिकः स नित्यः।" महाभारत में कहा है–"नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः, तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम।" अर्थात् श्रीनारायण जगन्मूर्ति हैं, अनन्तात्मा हैं। हे द्विजसत्तम, उनसे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ। उसी महाभारत में राजधर्म प्रकरण में महाराज युधिष्ठिर ने कहा "योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे। विश्वंचेदं त्वद्वशे विश्वयोने। नमोऽस्तु ते शार्ङ्चक्रासि पाणे।" हे कृष्ण ! तुम्हीं इस सम्पूर्ण जगत् के रचयिता एवं संहर्ता हो। सारा विश्व तुम्हारे अधीन है। हे–शार्ङ्ग एवं चक्रपाणि प्रभो! आपको नमस्कार है। भगवद्गीता में भी कहा है–"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" (मैं ही सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति स्थान हूँ। सब मुझसे प्रवर्तित होते हैं।) पराशर ऋषि ने भी कहा है–"विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत् तत्रैव संस्थितम्। स्थितिसंयमकर्तासौ। जगतोऽस्य जगच्च सः" (सारा जगत् विष्णु से उत्पन्न हुआ है–उसी में स्थित है। उसी के द्वारा सारा जगत् स्थित है एवं सबके नियन्त्रक भी वही है तथा वही जगत् रूप में विद्यमान है। जड़ प्रकृति को कारण मानने पर इन स्मृतियों का बाध होगा। यदि कहें कि इन स्मृतियों का धर्म प्रतिपादन द्वारा निराकांक्ष होने से बाध नहीं होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण शास्त्र प्रतिपाद्य पुरुषोत्तम ज्ञान के साधनीभूत धर्म मात्र प्रतिपादन भाग में अबाध होने पर भी धर्मसाध्य ज्ञान विषय के प्रतिपादन भाग का बाध होने पर दोष तादवस्थ्य रहेगा। यदि कहें कि कपिल स्मृति का बाध भी तो उचित नहीं है क्योंकि वह भी स्मृति ही है तो कहते हैं कि सांख्य स्मृति श्रुति विरुद्ध है, श्रुति विरुद्ध स्मृति का बाध या अप्रामाण्य इष्ट ही है। जैसा कि भगवान् जैमिनि ने कहा है–"विरोधेत्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" इसका अर्थ है–श्रुति एवं स्मृति में परस्पर विरोध होने पर किसका बाध हो, इसका निर्णय करने के लिये यह अधिकरण है–वहाँ "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" ऐसा श्रुतिवचन हैं। (उदुम्बर की लकड़ी का स्पर्श कर गान करें' यह श्रुति का भाव है) "औदुम्बरी संवेष्ट्ययित्वा उद्गायेत्" उदुम्बर को लपेटकर गान करें। यह स्मृति वाक्य है। यहां यदि स्पर्श का अङ्गीकार करें तो स्मृति का बाध होता है, यदि वेष्टन करते हैं तो श्रुति का बाध होता है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं–"विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्" अर्थात् स्मृतियों का श्रुति के साथ विरोध होने पर स्मृतियों की अपेक्षा नहीं की जाती अर्थात् श्रुति विरुद्ध स्मृति प्रमाण नहीं मानी जाती। यहाँ स्मृति का विरोध विचारणीय नहीं है। श्रुति के अविरोध होने पर श्रुत्यर्थ का अनुमान करना चाहिये, परन्तु यदि प्रत्यक्ष श्रुति विरुद्ध हो तो वह स्मृति प्रमाण नहीं है। जैसे रूप के विषय में सूर्य स्वतः प्रमाण होते हैं, उसी प्रकार श्रुति भी अपने विषय के प्रतिपादन में प्रमाण होती है। स्मृतियों में श्रुति मूलक ही प्रामाण्य है, वे श्रुति सापेक्ष होती हैं। वे श्रुति से अविरुद्ध होने पर ही प्रमाण मानी जाती हैं और दूसरी बात श्रुति का वचन है कि "यद् वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजम्" (मनु ने जो कुछ भी कहा है, वह भेषज (औषधि) तुल्य हितकारी है–इसी प्रकार परम श्लाघ्य भगवान् मनु का निर्णय रूप वचन भी विद्यमान हैं। "या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः। ताः सर्वाः निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (अर्थात् जो वेद विरुद्ध स्मृतियाँ

तथा कुदृष्टियाँ हैं, वे सभी मृत्यु के अनन्तर निष्फल हो जाती हैं, वे सभी तामसिक हैं। इसलिये वेद विरुद्ध साङ्ख्य आदि स्मृतियों का बाध दोषावह नहीं है। यदि कहें कि वेद में कपिल शब्द का प्रयोग देखा जाता है, फिर उनका मत कैसे अमान्य होगा तो उसका उत्तर देते हैं कि उपनिषदों में वर्णित कपिल शब्द से हिरण्यगर्भ लेना चाहिये। क्योंकि उनका तपाये हुए स्वर्ण की भाँति कपिल वर्ण का रूप माना गया है।"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" (जो भगवान् पहले ब्रह्मा को बनाते हैं और उन्हें वेद पढ़ाते हैं) "हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानम्" (जन्म के समय जो हिरण्यगर्भ को देखता है) एतत् समानार्थक हिरण्यगर्भ शब्द हैं। श्रुति विरुद्ध साङ्ख्य स्मृति प्रवर्तक यह कपिल तो अग्निवंशोत्पन्न कोई जीव विशेष है, न कि कर्दम ऋषि प्रसूत कपिल भगवान्। "कपिलो वासुदेवाख्यः साङ्ख्य तत्त्वं जगाद ह। ब्रह्मादिभ्यश्च देवेभ्यो भृग्वादिभ्यस्तथै व च । तथैवासुरये सर्ववेदार्थैरुपवृंहितम्। सर्ववेदविरुद्धं च कपिलोऽन्यो जगाद ह।" साङ्ख्यमासुरयेऽन्यस्मै कुतर्कपरिवृंहितम्" अर्थात् वासुदेव भगवान् के अवतार कपिल ने साङ्ख्यतत्त्व का वर्णन किया और उसे ब्रह्मा आदि देवताओं तथा भृगु आदि मुनियों को उपदेश किया तथा वेदार्थों से उपवृंहित (समन्वित) अपने साङ्ख्य शास्त्र का आसुरि मुनि को उपदेश दिया तथा समस्त वेद विरुद्ध साङ्ख्य किसी अन्य कपिल नामक व्यक्ति ने बताया तथा कुतर्कों से परिवृंहित अपने साङ्ख्य का अन्य आसुरि (उपर्युक्त आसुरि से भिन्न) को सुनाया, ऐसा पद्मपुराण का वचन है। "कपिलं परमर्षिंच यमाहुर्यतयः सदा । अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोगप्रवर्तकः।" (अग्निवंश में उत्पन्न कोई कपिल नाम के महान् ऋषि हुए जिन्होंने साङ्ख्य योग का प्रवर्तन किया, ऐसा महाभारत के वनपर्व में मार्कण्डेय मुनि का वचन भी है॥१॥

वेदविरुद्धसाङ्ख्यादिस्मृतिबाधो न दोषावह इत्यत्र हेतुमाह—

वेद विरुद्ध साङ्ख्य आदि स्मृति का बाध दोषावह नहीं है-इस पर हेतु कहते हैं—

इतरेषाञ्चनुपलब्धेः ॥२/१/२ ॥

इतरेषां मन्वादीनां वेदविदग्रेसराणां स्वयोगमहिम्नाऽतीन्द्रियार्थसाक्षात्कारसमर्थानां वेदस्य प्रधानपरत्वानुपलब्धेश्च साङ्ख्यस्मृतिर्नादर्त्तव्या॥२॥

(हिन्दी अनुवाद)

अर्थात् वेदवेत्ता में अग्रसर तथा अपने योग की महिमा से अतीन्द्रिय अर्थ का साक्षात्कार करने वाले मनु आदि अन्य स्मृतिकारों को वेद प्रधान परक रूप में उपलब्ध नहीं हुआ, इसलिये साङ्ख्य स्मृति कथमपि आदरणीय नहीं है॥२॥

● यहाँ मीमांसा सूत्र का उद्धरण देकर आचार्यपाद ज०गु० श्रीकेशव काश्मीरीपाद ने वेदकी असमोर्ध्व महिमा का प्रतिपादन किया है, जो श्रीनिम्बार्कीय वैष्णवों के लिए अनुसन्धेय है। (सं)

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥२/१/३॥

अतिदेशरूपमिदं सूत्रम्। तत्वं नाम असादृश्यशङ्कायां सादृश्यप्रतिपादनम्। केयमसादृश्य- शङ्केति, "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्ये" ति श्वेताश्वतरोपनिषदि। 'तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणामि"ति काठके च "योगः परमश्रेयोऽसाधारणहेतुज्ञानस्य साधनतया शिष्टैर्गृहीतः" तत्परमिदम् योगशास्त्रं तत्र ध्येयोऽपि श्रीपुरुषोत्तम इति साङ्ख्यस्मृतेरसादृश्याद्वेदान्तोपयोगित्वात् तेन वेदान्तोपवृंहणं युक्तमिति मन्दानां शङ्का मा भूदिति साङ्ख्यस्मृतेः सादृश्यं दर्शयन्समाधत्ते। एतेनेति। एतेन साङ्ख्यस्मृतिनिरासेन योगस्मृतिरपि निरस्ता बोध्या। समानं साङ्ख्यानामिवात्रापि परमेश्वरानधिष्ठितस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येणोपादानत्वप्रतिपादनात्। परमेश्वरस्य निमित्तमात्रत्वाङ्गीकाराच्च। "अथ योगानुशासन"मित्यादियोगस्मृतेरपि वेदान्तविरोध- स्तुल्य एव। अतो नानया वेदान्तोपवृंहणं युक्तम् किन्तु तत्रस्थविरुद्धांशस्य निरास एव श्रेयानिति। एवञ्च सति "त्रिरुन्नतमि"त्यादौ योगाङ्गत्वेन यदासनाद्यभिधीयते। यच्च तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यमि" तिश्रुतौ साङ्ख्ययोगशब्दाभ्यां ज्ञानं निष्कामकर्म"च तत् खलु तदन्यद्वैदिकमेव। तस्मादुक्तलक्षणं ब्रह्मैव जगत्कारणमिति ॥३॥

इति योगप्रत्युक्त्यधिकरणम्

(हिन्दी अनुवाद)

यह अतिदेश रूप सूत्र है। असादृश्य की शङ्का में सादृश्य प्रतिपादन को अतिदेश कहते हैं। यहाँ असादृश्य शङ्का कैसी है तो कहते हैं—"त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य" (श्वे०उ०) उरस्, ग्रीवा तथा शिर इन (तीन अङ्गों को उन्नत करके तथा हृदय देश में मन सहित समस्त इन्द्रियों को स्थापित कर) "तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" (स्थिर इन्द्रिय धारणा को योग कहते हैं) (क०उ०) इन उपनिषदों में योग को परम श्रेय के असाधारण हेतु ज्ञान के साधन रूप में शिष्ट जनों ने स्वीकार किया है। योग शास्त्र का यही (इन्द्रिय धारणा) मुख्य विषय है। योग शास्त्र में ध्येय भी पुरुषोत्तम ही है-इस अंश में सांख्य स्मृति से इसमें (योग में) असादृश्य है और यह वेदान्त का उपयोगी है। इस प्रकार योग के द्वारा वेदान्त का उपवृंहण युक्त है—ऐसी मन्द बुद्धियों की आशङ्का न हो-ऐसा विचार कर योग में साङ्ख्य दर्शन का सादृश्य दिखाते हुए समाधान करते हैं—"एतेन योग--" अर्थात् इस प्रकार साङ्ख्य स्मृति के खण्डन होने से योग स्मृति का भी खण्डन समझना चाहिये। इस मत में भी साङ्ख्य की तरह परमेश्वर से अनधिष्ठित प्रधान को स्वतन्त्र रूप में उपादान कारण माना गया है। परमेश्वर केवल निमित्त कारण माना गया है। "अथ योगानुशासनम्" इस उपक्रम सूत्र से निश्चित होता है कि इस दर्शन में योग का ही प्राधान्य है।(वह ईश्वर संसर्ग रहित केवल चित्तवृत्ति निरोधमात्र है) इस प्रकार योग से भी वेदान्त का विरोध समान है। इसलिये योग स्मृति द्वारा वेदान्त का उपवृंहण युक्त नहीं है।

किन्तु योगशास्त्रस्थ विरुद्ध अंश का खण्डन ही श्रेष्ठ है। इस तरह "त्रिरुन्नतम्" इत्यादि स्थलों में योग के अङ्ग के रूप में जो आसन आदि का कथन है तथा "तत्कारणं साङ्ख्ययोगाधिगम्यम्।" इस श्रुति में साङ्ख्य योग शब्द से जो ज्ञान तथा निष्काम कर्म का प्रतिपादन है, वह तो साङ्ख्य स्मृति से भिन्न है और वैदिक ही है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही जगत् का कारण है और वह अभिन्न निमित्तोपादान है।।३।।

इस प्रकार योग प्रत्युक्ति अधिकरण पूरा हुआ।

ननु ब्रह्मकारणावादेऽप्यसम्भवस्तुल्य एव विप्रतिपत्तिबाहुल्यात्। तथाहि, उपादेयभूतस्य विकारस्योपादानगतधर्मानुविधायित्वनियमो निर्विवादः। दृष्टश्चायं सुवर्णादिविकृतौ कुण्डलादौ। प्रकृते तु कारणस्य ब्रह्मणश्चेतनत्वशुद्धत्वसर्वज्ञत्वादि-धर्मस्याचेतनत्वाशुद्धत्वावच्छिन्ने कार्येऽनुवृत्यदर्शनादन्यथा कार्यस्यापि चैतन्यसाम्येन भोक्तृत्वभोग्यत्वविभागासिद्धेः। आकाशादिकार्यं न चेतनोपादेयमत्यन्तवैलक्षण्यात्। अग्निजलवत् गोऽश्ववच्चेतिप्रयोगात्। किञ्च न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव वैलक्षण्यं जगदुपलभ्यते। अपितु शब्दादपि तथात्वं विलक्षणत्वमवगम्यते "विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च, समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि" त्यादेरित्याह—

(हिन्दी अनुवाद)

(लोक में सारूप्य में ही कार्यकारण भाव देखा जाता है–विरूप में नहीं प्रकृत में ब्रह्म और प्रपञ्च में विरूपता होने के कारण विश्व के प्रति ब्रह्म कारण नहीं हो सकता–इसे तर्क के बल से आक्षेप करते हैं–) यदि कहें कि ब्रह्म कारणवाद में भी असंभव तुल्य ही है, क्योंकि इसमें भी अनेक विप्रतिपत्तियाँ है–जैसे–उपादेय भूत विकार में उपादानगत धर्म के अन्वय (सम्बन्ध) का नियम निर्विवाद है, जो सुवर्ण आदि के विकार कुण्डल आदि में देखा गया है। प्रकृत में कारणभूत ब्रह्म के चेतनत्व शुद्धत्व तथा सर्वज्ञत्व आदि धर्मों की अचेतनत्व अशुद्धत्व आदि धर्म विशिष्ट कार्य (जगत्) में अनुवृत्ति नहीं देखी जाती। अन्यथा यदि उसमें चेतनत्व आदि धर्म मानें तो कार्य में भी चेतनत्व की समानता के कारण भोक्तृत्व भोग्यत्व विभाग की सिद्धि नहीं होगी। इसलिये अनुमान होगा कि आकाश आदि कार्य चेतन के उपादेय नहीं हो सकते क्योंकि वे चेतन से अत्यन्त विलक्षण है–जैसे अग्नि तथा जल एवं गो एवं अश्व में उपादान उपादेय भाव नहीं होता। दूसरी बात प्रपञ्च एवं ब्रह्म में केवल प्रत्यक्ष आदि से ही वैलक्षण्य उपलब्ध नहीं होता अपितु शब्द (प्रत्यक्ष वेद) से भी उनकी विलक्षणता ज्ञात होती है–"विज्ञानं चाविज्ञानञ्च" (एक ज्ञान रूप है दूसरा अविज्ञान रूप) "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्" इस श्रुति द्वारा स्पष्टतया जीव ईश्वर में तथा जगत् और ईश्वर में वैलक्षण्य दिखाया गया है– इस पर कहते हैं ॥३॥

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ॥२/१/४॥

अस्य कार्यस्य जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्मकार्यं भवितुमर्हति, अपितु तत्सदृशस्याचेतनस्य प्रधानस्यैव कार्यं भवितुमर्हति। शेषन्तूक्तार्थम् ॥४॥

(हिन्दी अनुवाद)

यह कार्य जगत् ब्रह्म से विलक्षण है, इसलिये जगत् ब्रह्म का कार्य नहीं हो सकता, किन्तु अचेतन जगत् के सदृश अचेतन प्रधान का ही कार्य हो सकता, शेष का अर्थ तो स्पष्ट है ॥४॥

नन्वचेतनत्वाभिमतानामपि भूतेन्द्रियाणां क्वचिच्चेतनत्वं श्रूयते "यथा तं पृथिव्यब्रवीत्मृदब्रवीत्, आपो वा अकामयन्त आपोऽब्रुवन्, तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्ते"ति। ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेतीतिचेत्तत्राह–

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि अचेतन रूप में अभिमत (ज्ञात) महाभूत एवं इन्द्रियों में कहीं-कहीं चेतनत्व सुना जाता है, जैसे "तं पृथिव्यब्रवीत्" (पृथिवी बोली) "मृदब्रवीत्" (मृत्तिका बोली) "आपो वा अकामयन्त" (जलने इच्छा की) "आपोऽब्रुवन्" "तत्तेज ऐक्षत" ता आप ऐक्षन्त (तेज ने ईक्षण किया) जलने ईक्षण किया। "ते हेमे प्राणाः अहं श्रेयसे विवदमानाः ब्रह्म जग्मुः ते ह वाचमूचुः त्वं न उद्गायेति" (वे अपनी श्रेष्ठता के लिये विवाद करते हुए ब्रह्मा के पास गये, उन्होंने वाणी से कहा) आदि इस पर कहते हैं–

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषनुगतिभ्याम् ॥२/१/५॥

तु शब्दः शङ्कानिरासार्थः। श्रुत्या पृथिव्यादिशब्दैस्तदभिमानिन्यश्चेतनादेवतास्तत्र तत्र व्यपदिश्यन्ते। कुतः विशेषानुगतिभ्याम्। "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता"इति पृथिव्यादेर्देवताशब्देन विशेषणात्। "एता ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमाना" इति "ता वा एता देवताः प्राणा निश्रेःयसं विदित्वा" इति च कौषीतकिभिरिन्द्रियाणां देवताशब्देन विशिष्याभिधानाच्च। तथा "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी"त्यादिषु वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनामनुप्रवेशश्रवणाच्चेत्यतो नाचेतनस्य विश्वस्य चेतनं विलक्षणं ब्रह्मकारणम्। अपितु जगन्न ब्रह्मोपादानकम् तद्विलक्षणत्वात्। यद्यद्विलक्षणं तन्न तदुपादानकम् यथा मृद्विलक्षणा रुचकादयः। जगत्प्रधानोपादानकमचेतनत्वादिधर्मवत्वेन तत्सादृश्यात् यदेवं तदेवं मृद्विकारघटादिवत्। जगद्यदि प्रधानोपादेयं न स्यात्तर्ह्यचेतनत्वादिधर्मवदपि न स्यादित्यादितर्कसहकृतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानकत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति ॥५॥ एवं प्राप्ते राद्धान्तः–

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ 'तु' शब्द शङ्का के निरास के लिये है। उक्त श्रुतियों में पृथिवी आदि शब्दों द्वारा उनके अभिमानी चेतन देवता का प्रतिपादन हुआ है। कैसे तो बोले-"विशेषानुगतिभ्याम्" "हन्ताहमिमास्तिस्रोदेवता" इस श्रुति द्वारा पृथिवी आदि का देवता शब्द से व्यपदेश किया गया है। "एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः" "ता वा एताः देवताः प्राणाः निःश्रेयसं विदित्वा" इन श्रुतियों में कौषीतकियों ने इन्द्रियों को देवता शब्द से विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" (अग्नि वाणी होकर मुख में प्रवेश किया) "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी" (आदित्य चक्षु होकर नेत्र में प्रवेश किया) इत्यादि श्रुतियों में वाक् आदि इन्द्रियों के अभिमानी देवता के रूप में अग्नि आदि का प्रवेश श्रवण है। इसलिये अचेतन विश्व का चेतन विलक्षण ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। अपि तु जगत् न ब्रह्मोपादानकम् तद्विलक्षणत्वात् यद् यद् विलक्षणं तन्न तदुपादानकम् यथा मृद्विलक्षणरुचकादयः (जगत् ब्रह्मोपादनक नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म से विलक्षण है, जो जिससे विलक्षण होता है, वह तदुपादानक नहीं होता, जैसे मृत्तिका से विलक्षण रुचक आदि मृदुपादानक नहीं माना जाता। जगत् प्रधानरूपी उपादान वाला है क्योंकि वह अचेतनत्व आदि धर्मवान् होने से उसके सदृश है, जो ऐसा होता है वह वैसा होता है—जैसे मृतिका का विकार घटादि, दूसरी तरफ जगत् यदि 'प्रधानोपादेयं न स्यात् तर्हि अचेतनत्वादि धर्मवदपि न स्यात्' (अर्थात् जगत् यदि प्रधानोपादानक नहीं होगा, तो वह अचेतनत्वादि धर्मवत् नहीं होगा) इत्यादि प्रकारक तर्क सम्पृक्त स्मृति के अनुरोध से वेदान्त वाक्य जगत् को प्रधान उपादान वाला मानते हैं॥५॥

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं—

दृश्यते तु ॥२/१/६॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः। यदुक्तं जगन्न चेतनोपादेयमत्यन्तविलक्षणत्वादित्यादि तदयुक्तमाभासमात्रत्वात्। तथाहि यत्र यत्रोपादानोपादेयभावस्तत्र तत्र सादृश्यमिति व्याप्तिर्न तावन्नियता यतस्तथात्वं स्यात्, दृश्यते हि विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावः। यथा भुक्तादन्नात्केशनखादिरूपस्य विलक्षणस्य, गोमयाच्च वृश्चिकस्य, मक्षिकादिभ्यः कृम्यादेर्द्रव्याद् गुणादेः शृङ्गाच्छरस्य, दावाग्निदग्धकदलीकाण्डाद्वेत्राङ्कुरस्य श्वमस्तकोप्तगो-धूमयावनालादेः, पलाण्डुलशुनाङ्कुरस्य कार्यस्योत्पत्तेरुपलभ्मात्। किञ्च कार्यकारणभावे सर्वथा सादृश्यं विवक्षितं किञ्चित्सादृश्यं वा? नाद्यः। कार्यकारणभावस्यैवासिद्धेः। अन्यथा केशनखादावन्नादेर्वृश्चिकादौ च गोमयस्य सादृश्यप्रत्ययापत्तेः। द्वितीये त्विष्टापत्तिः। सत्तादेर्ब्रह्मधर्मकस्याकाशादावपि सत्वात्। आकाशोऽस्तीति प्रत्यक्षप्रतीतेः। आकाशादिप्रपञ्चजातं ब्रह्मोपादेयं सत्तादिधर्मत्वात्। यन्नैवं तन्नैवमग्निसेचनयोरि-वेत्यनुमानात्सत्प्रतिपक्षत्वञ्च बोध्यम्। आत्मन आकाशः सम्भूतः इत्यादिश्रुतेश्च॥६॥

(हिन्दी अनुवाद)

'तु' शब्द यहां पूर्व पक्ष का व्यावर्तक है। अर्थात् अभी यह जो कहा है कि जगत् चेतन का उपादेय नहीं हो सकता (जगत् का चेतन उपादान कारण नहीं हो सकता) क्योंकि ब्रह्म से जगत् अत्यन्त विलक्षण है (ब्रह्म चेतन है जगत् जड़ है) यह ठीक नहीं है, यह दोषाभास मात्र है, क्योंकि जहां-जहां उपादान उपादेय भाव होता है, वहां सादृश्य होता है, ऐसी व्याप्ति नियत नहीं है। यदि ऐसा होता तब ब्रह्म जगत का उपादान नहीं होता, परन्तु यहां तो विलक्षण में भी कार्य कारण भाव दिखाई देता है। जैसे भुक्त अन्न से विलक्षण केश नखादि, गोमय से वृश्चिक, मक्षिका आदि से कृमि आदि, द्रव्य से गुण आदि, श्रृङ्ग से शर, दावाग्नि से दग्ध कदली काण्ड से वेत्र के अङ्कुर तथा कुत्ते के मस्तक पर बोये हुए गेहूँ यव आदि से पलाण्डु लशुन के अङ्कुर आदि कार्य की उत्पत्ति देखी गई है। दूसरी बात हम पूछेंगे कि कार्यकारणभाव में सर्वथा सादृश्य विवक्षित है या यत् किञ्चित् सादृश्य? प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, फिर तो कार्यकारण भाव की सिद्धि नहीं हो सकती। अन्यथा केश नख आदि में अन्न आदि तथा वृश्चिक आदि में गोमय आदि के सादृश्य प्रत्यय की आपत्ति हो जायेगी। द्वितीय पक्ष में इष्टापत्ति है। सत्ता आदि ब्रह्म धर्म आकाश आदि में भी विद्यमान है। क्योंकि आकाश है यह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है-अनुमान करेंगे-आकाश आदि प्रपञ्च ब्रह्मोपादानक है क्योंकि सत्ता आदि ब्रह्म धर्म से युक्त है-जो जिसके धर्म से युक्त नहीं होता, वह तदुपादानक नहीं होता-अग्नि तथा सेचन की तरह- इस अनुमान से साङ्ख्य वादी के लिये सत्प्रतिपक्ष भी है-ऐसा समझना चाहिये। दूसरी बात "आत्मनः आकाशः सम्भूत" इस श्रुति से तो स्पष्ट ही जगत् का ब्रह्मोपादानकत्व सिद्ध होता है ॥६॥

ननु यदि विलक्षणयोरपि कार्यकारणभावस्तर्हि द्रव्यान्तरत्वेनोपादाने ब्रह्मणि उत्पत्तेः पूर्वमुपादेयं जगदसदिति प्रसज्जेत। असत एवोत्पत्तिः स्यादित्यसत्कार्यवादस्त्वयाङ्गीकृतः स्यादिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी अनुवाद)

विलक्षण उपादान से विलक्षण कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करने पर उपादेय कार्य का उत्पत्ति से पहले विलक्षण उपादान रूप में अवस्थान असंभव होने से असत् कार्यवाद का प्रसङ्ग हो जायेगा, यही आशङ्का करते हैं। यदि विलक्षणों में भी कार्यकारण भाव स्वीकार करें, तब द्रव्यान्तर होने से उपादान ब्रह्म में उत्पत्ति से पूर्व उपादेय जगत् असत् है, ऐसा प्रसक्त होगा, तब तो असत् की ही उत्पत्ति होगी- इस प्रकार तो असत् कार्यवाद आप के द्वारा स्वीकृत हो जायेगा-ऐसा कहें तो कहते हैं—

असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ २/१/७ ॥

कारणात्कार्यस्य विलक्षणत्वे उत्पत्तेः पूर्वमेकत्वावधारणात् कारणे कार्यं न विद्यते, इतिचेन्नैष दोषः। कुतः? प्रतीतिकार्यकारणयोः सर्वथा सादृश्यनियमस्य प्रतिषेधमात्रत्वात्।

पूर्वसूत्रे हि कार्यकारणयोः सर्वथा सादृश्यनियमाभावोऽभिहितः। नतु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमपि। कारणद्रव्यमेव स्वविलक्षणकार्याकारेण परिणमते इत्यङ्गीकृतत्वात्। कार्यं यथा सत्तथा "तदन्यत्वमि"ति सूत्रव्याख्याने वक्ष्यामः ॥७॥

(हिन्दी अनुवाद)

कारण से कार्य के विलक्षण मानने पर उत्पत्ति से पूर्व एकत्व का अवधारण होने से कारण में कार्य नहीं है, यदि ऐसा कहें तो यह दोष नहीं है क्योंकि कार्यकारण में सर्वथा सादृश्य नियम का प्रतिषेध मात्र है। पूर्वसूत्र में कार्यकारण में सर्वथा सादृश्य नियम का अभाव है, ऐसा कहा गया है, न कि कारण से कार्य का द्रव्यान्तरत्व भी। कारण दृश्य ही अपने से विलक्षण कार्य के आकार रूप में परिणत होता है, ऐसा अङ्गीकार किया गया है। कार्य जिस प्रकार सत् है, यह "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस सूत्र की व्याख्या में कहेंगे ॥७॥

ननु स्यादेतन्मृद्धघटयोरिव सुवर्णकुण्डलयोरिव च कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यम्। तथापि कार्यस्य जगत उपादाने ब्रह्मणि प्रलयवेलायां सत्वात् कार्यगताः सर्वेऽपि धर्मा अचेतनत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वाज्ञत्वकर्मवश्यत्वादयो ब्रह्मण्येव प्रसज्येरन्। तदा तेन तस्याभेदात्। तथा सति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः, यः सर्वज्ञः स सर्ववित्, इत्याद्युपनिषद्वाक्यानामसामञ्जस्यं स्यादिति पुनराक्षिपति—

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि मृत्तिका और घट की तरह अथवा सुवर्ण या कुण्डल की तरह कार्यकारण में ऐक्य है, तथापि जगत्रूपी कार्य का उपादान ब्रह्म में प्रलय काल में मिल जाने पर कार्यगत समस्त धर्म–अचेतनत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्धत्व, अज्ञत्व तथा कर्मवश्यत्व आदि ब्रह्म में भी प्रसक्त हो जायेंगे। उस समय कार्य के साथ कारण का अभेद होता है। फिर तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु" (आत्मा पाप से रहित है– जरा एवं मृत्यु से भी रहित है) "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" (वह सब वस्तुओं को सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से भी जानता है) इत्यादि उपनिषद् वाक्यों का असामञ्जस्य होगा, इस प्रकार ब्रह्म कारणवाद में पुनः आक्षेप करते हैं–

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥२/१/८॥

जगतो ब्रह्मोपादानकत्वे अपीतौ प्रलये तद्वत्कार्यस्येव ब्रह्मणोऽप्यचेतनत्वादिप्राप्तेः प्रसङ्गादसमञ्जसं वेदान्तवाक्यम्। "अपीतौ" इतिसृष्ट्यदिप्रदर्शनार्थः ॥८॥

(हिन्दी अनुवाद)

जगत् का ब्रह्मोपादानक मानने पर प्रलय दशा में कार्य की तरह ब्रह्म में भी अचेतनत्व आदि धर्मों की प्राप्ति का प्रसङ्ग हो जायेगा, फिर तो वेदान्त वाक्यों में असमञ्जसता आ जायेगी, "अपीतौ" यह सृष्टि आदि के प्रदर्शन के लिये ही॥८॥

तत्पूर्वकत्वात्सृष्ट्यादेः उत्पत्तावपि ब्रह्मणस्तद्धर्मापत्तिरित्यत्रोत्तरमाह—

सृष्टि आदि के ब्रह्मपूर्वक होने से उत्पत्ति में भी ब्रह्म में जगत् के अचेतनत्व आदि धर्मों की आपत्ति होगी, इस पर उत्तर कहते हैं—

न तु दृष्टान्तभावात्॥ २/१/९॥

तुशब्दः प्रसक्तस्यासम्भाव्यत्वद्योतकः। नैव तद्वत् प्रसङ्गः। कुतः ? एकस्यैव कार्यकारणा-वस्थाद्वयान्वयेऽपि कारणस्य शुद्धतयावस्थितौ दृष्टान्तस्य भावाद्विद्यमानत्वात्। यथा एक एव सुवर्णपिण्डं कार्यावस्थायां स्वपरिणामभूतकटककुण्डलाद्यात्मनावस्थितः, पुनस्तेषां शक्त्यात्मना स्वस्मिन्नप्यये च न तद्धर्मैः स्वयं संस्पृश्यते शक्तिधर्माणां शक्तिगतत्वनियमात्। यथा वा मृत्पिण्डः स्वपरिणतघटादिधर्मैः, यथा च पृथ्वी स्वविकारचतुर्विधभूतग्रामधर्मैर्न संस्पृश्यते, एवं ब्रह्मापि कार्यावस्थायां व्यक्तनामरूपचिदचिदात्मकजगदाकारेण स्थितमपि न तद्धर्मैः संस्पृश्यते। अचिन्त्या- नन्तशक्तिमत्तया निरतिशयानन्दैकस्वभावतया च तद्विलक्षणत्वात्। पुनस्तस्मिंस्तस्याप्यये च ब्रह्म शक्तिधर्माः परिच्छिन्नत्वाज्ञत्वकर्मवश्यत्वादयो ब्रह्मशक्तिभूतचिदचिद्वस्तुगता एव स्युरिति नासङ्गे शुद्धे ब्रह्मणि तेषां प्रसङ्ग इत्यतो न किञ्चिदसमञ्जसम्॥९॥

(हिन्दी अनुवाद)

'तु' शब्द यहाँ प्रसक्ति की असंभाव्यता का द्योतक है। यहाँ कार्य की तरह ब्रह्म में अचेतनत्व आदि धर्म का प्रसङ्ग नहीं होगा। एक ही पदार्थ का कार्य एवं कारण दोनों अवस्थाओं में अन्वय होने पर भी कारण के शुद्ध रूप से अवस्थान में दृष्टान्त विद्यमान है। जैसे एक ही सुवर्णपिण्ड कार्य अवस्था में अपने परिणाम रूप कटक कुण्डल आदि रूप में स्थित होता है, पुनः उन कटक कुण्डल आदि का शक्तिरूप में अपने कारण सुवर्ण पिण्ड में लय होने पर कार्य के धर्मों से स्वयं लिप्त होता है। कारण शक्ति के धर्मों का शक्तिगतत्व का ही नियम है। अथवा जैसे मृत्पिण्ड अपने परिणामभूत घटादि धर्मों अथवा पृथिवी अपने विकार स्वरूप चतुर्विधि भूत समूह के धर्मों से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार ब्रह्म भी कार्य अवस्था में व्यक्त नाम रूपात्मक चिदचिदात्मक जगदाकार रूप में होकर भी उसके धर्मों से लिपायमान नहीं होता क्योंकि ब्रह्म अपने अचिन्त्य अनन्त शक्ति से विशिष्ट होने के कारण तथा निरतिशय आनन्दमात्र स्वभाव वाला होने के कारण उससे विलक्षण है। पुनः उस ब्रह्म में जगत् का प्रलय होने पर भी ब्रह्म शक्ति धर्म–परिच्छिन्नत्व, अज्ञत्व तथा कर्मवश्यत्व आदि

ब्रह्म के शक्तिभूत चित्-अचित् (शक्ति) वस्तु गत ही होगे-इस प्रकार कोई भी असामञ्जस्य नहीं है ॥९॥

किञ्च त्वत्सम्भावितदोषास्त्वदभिमते प्रधानकारणवादेऽपि समाना इत्याह—

दूसरी बात आपके द्वारा दिये गये दोष आपके सम्मत प्रधान कारणवाद में भी समान हैं-यही बात कहते हैं—

स्वपक्षे दोषाच्च ॥२/१/१०॥

तथाहि "त्रिगुणमचेतनं निरवयवं प्रधानं तत्कार्याकारेण परिणमते" इति भवतो राद्धान्तः। तत्र निरवयवान्नीरूपात्प्रधानात्सावयवस्य रूपादिमतः कार्यस्योत्पत्तेरसम्भवे विशेषाभावात्। "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" इति न्यायात्। इतरथा सर्वस्यापि कार्यमात्रस्य निरवयवत्वं नीरूपत्वञ्च स्यात् तथात्वे च कार्यप्रत्यक्षं न स्यात्। नामरूपादिना विभक्तं कार्यञ्च नोपलभ्येतेति सङ्क्षेपः ॥१०॥

(हिन्दी अनुवाद)

त्रिगुणात्मक अचेतन निरवयव प्रधान कार्याकार रूप में परिणत होता है, यह आपका सिद्धान्त है। यहां निरवयव नीरूप प्रधान से सावयव रूपादिमान् कार्य की उत्पत्ति के असंभव में विशेष का अभाव है। "यत्रोभयोः समोदोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" (अर्थात् जहां दोनों पक्षों में समान दोष होता है और उन दोषों का परिहार भी समान ही है, वहां किसी एक को दोषी नहीं ठहरा सकते हैं) अन्यथा सभी कार्य निरवयव एवं नीरूप होंगे और ऐसा होने पर कार्यों का प्रत्यक्ष नहीं होगा तथा नाम रूप आदि से विभक्त कार्य की उपलब्धि भी नहीं होगी। इस तरह संक्षेप में इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं ॥१०॥

यच्चोक्तं तर्कसहकृतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानकत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति तत्प्रत्याह—

(हिन्दी अनुवाद)

प्रधान ही जगत् कारण है, यह साङ्ख्य सिद्धान्त तर्क सहमत है, अतः तर्कसहकृत साङ्ख्य स्मृति के अनुरोध से ही वेदान्त वाक्यों का अर्थ करना चाहिये, जो ऐसा कहते हैं, उनके प्रति कहते हैं—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथादनुमयेमितिचेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥ २/१/११ ॥

अपिशब्दश्चार्थे। तर्कस्याप्रतिष्ठानादनवस्थानाच्च शास्त्रमूलको ब्रह्मकारणवाद एव स्वीकार्यः, न तर्कमूलः प्रधानकारणवादः। "नारायणाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि

च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणीत्या"दिश्रुतेः। "अतश्च संक्षेपमिदं श्रृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदत्तिभूयः" इत्यादिस्मृतेश्च। शाक्योलूक्याक्षपादकणादकपिलपतञ्जलितर्काणां परस्परतर्कप्रतिहततयाऽप्रतिष्ठितत्वान्न तर्कमूलस्य कपिलपक्षस्य सम्भव इति भावः। किञ्च "नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठे"ति, अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेदि"त्यादिश्रुतिस्मृतिभिरपि तर्काणां निषेध्यत्वान्नोक्तानुमानस्यापि प्रामाण्यम्। ननु विलक्षणत्वादितर्काणामप्रतिष्ठितत्वेऽप्यन्यथा शाक्यादितर्काप्रतिहतत्वेन व्याप्तिपक्षधर्मतासम्पन्नेन केनचित्प्रतिष्ठितेनानागतेन तर्केण प्रधानमनुमेयम्। नच प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति वक्तव्यम् तर्काप्रतिष्ठानादित्यस्यैव तर्कस्यप्रतिष्ठितत्वात्। तर्कमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वे च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। भूतभवन्मार्गसाम्येनानागतेऽपि मार्गे सुखदुःखप्राप्तिपरिहाराय लोकप्रवृत्तिदर्शनात्। "प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता"। आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना। यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। इति वदता मनुना च तर्कस्य निर्णयहेतुत्वप्रतिपादनादिति चेदेवमपि तथापि तर्काप्रतिष्ठानदोषादनिर्मोक्षो दुर्वारः। त्वत्तोऽप्यधिकतमकुतर्ककुशलपुरुषसद्भावनासम्भवात्। अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणागोचरे परब्रह्मणि तर्काप्रवेशाच्छ्रुतिरेव प्रमाणम्। तन्मूलकतर्कश्च तदुपबृंहणायोपादेयो 'मन्तव्य' इति, श्रुतेः। नतु तद्विरुद्धः। "शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृती" इति भारतात्। तर्को नाम प्रमाणानुग्राहक ऊहः। अज्ञातनिश्चये वस्तुनि क्रियमाणस्तत्वज्ञानैकप्रयोजनः। "यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गा" इतिश्रुत्या प्रत्यगात्मनो जन्म प्रतीयते। "न जायते म्रियते वे"तिश्रुत्या च तदभावस्तत्रात्मनि नित्यत्वसंशये, आत्मा नित्य एव यदि नित्यो न स्यात्तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः स्यादित्यादिरूपः "अविनाशी वाऽरे आत्मानुच्छित्तिधर्मत्वादिति शास्त्रमूलकत्वात्प्रमाणसहायत्वेन गृह्यते। यदि प्रपञ्चो मिथ्या न स्यात्तर्ह्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः स्यात्। यदि सेश्वरं सवेदं जगन्मिथ्या न स्यात्तर्हि निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तसिद्धिर्न स्यादित्यादिरूपश्च शास्त्रनिर्मूलत्वान्निषिध्यते। "आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते" इति वचनात्। "अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ ऊहस्तर्कः" इति न्यायसूत्राच्च। एवं तर्कग्राहकश्रुत्यादेः श्रुतिमूलकतर्कविषयत्वं, तर्कनिषेधकश्रुत्यादेश्च शास्त्रनिर्मूलतर्कनिषेधविषयत्वमिति विवेक उक्तः। तस्मादचिन्त्यानन्ताघटघटनापटीयः शक्तिमत्तया निःशेषदोषगन्धाघ्रातमाहात्म्यं सार्वज्ञ्याद्यनन्तसद्गुणाश्रयं परं ब्रह्मैव जगत्कारणं न प्रधानमिति॥११॥

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ अपि शब्द च अर्थ में है । तर्क अप्रतिष्ठित और अनवस्थित होता है-इसलिये शास्त्र मूलक ब्रह्म कारणवाद ही स्वीकार करने योग्य है (भाव यह है कि तर्क में आपाद्य आपादक भाव व्याप्ति रूप होता है, उसमें भी यदि व्यभिचार शङ्का होती है, तो उसका

तर्कान्तर से दूरीकरण होता है, उसमें भी व्यभिचार शङ्का हो तो उसके लिये पुनः तर्कान्तर का अन्वेषण करना पड़ता है, इस प्रकार इसमें अनवस्था दोष है-जैसा कि कहा गया है-"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थ कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते" तर्क दो तरह के होते है-"श्रुतिमूलक एवं तर्कमूलक।" उनमें श्रुतिमूलक तर्क उपादेय होता है दूसरा नहीं।) यही बात कहते हैं-"शास्त्रमूलकः" इत्यादि ग्रन्थ से। ब्रह्म कारणवाद शास्त्रमूलक है, इसमें प्रमाण देते हैं-"नारायणाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" इत्यादि श्रुति। दूसरा वचन है-"अतश्च संक्षेपमिदं श्रृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः। स सर्गकाले च करोति सर्वं संहारकाले च तदत्ति भूयः।" इत्यादि अनेकानेक स्मृतियां ब्रह्म कारणवाद में प्रमाण हैं। शाक्य, उलूक्य, अक्षपाद, कणाद, कपिल तथा पतञ्जलि के तर्क परस्पर के तर्कों से खण्डित होने के कारण अनवस्थित होने से तर्कमूलक कपिल पक्ष संभव नहीं है। दूसरी बात श्रुति एवं स्मृति द्वारा भी तर्क का निषेध किया गया है जैसा कि श्रुति का वचन है-"नैषा तर्केण मतिरपनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" (यह ब्रह्म विषयक मति तर्क द्वारा नहीं जानी जा सकती अपितु, किसी सदगुरु द्वारा ही यह ज्ञेय है) "अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" (जो अचिन्त्य भाव हैं, उन्हें तर्क द्वारा नहीं जाना जा सकता) इत्यादि श्रुति स्मृति द्वारा भी तर्कों का निषेध किया गया है। इसलिये उक्त अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। यदि कहें कि विलक्षणत्व आदि तर्कों में अप्रतिष्ठितत्व होने पर भी प्रतिवादि शाक्यादि तर्कों से अप्रतिहत व्याप्ति आदि सम्पन्न प्रतिष्ठित तर्क है-तो उस अनागत तर्क से प्रधान में जगत्कारणत्व का अनुमान कर सकते हैं। यदि कहें कि वह तर्क भी तर्क जातीय होने के कारण अप्रतिष्ठित है, इसी आशय से कहते हैं 'न च' अर्थात् कोई तर्क प्रतिष्ठित है ही नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। तर्काप्रतिष्ठानात् यह कथन ही तर्क का प्रतिष्ठितत्व सूचित करता है क्योंकि तर्क से ही अनिष्टत्व का अनुमान कर लोक में मनुष्य इष्ट विषय में प्रवृत्त होता है, अनिष्ट से निवृत्त होता है-इसलिये तर्क को प्रतिष्ठित कहना पड़ेगा-कारण तर्क मात्र यदि अप्रतिष्ठित हो जायगा तो लोक व्यवहार उच्छेद हो जायगा, इसी का उपपादन करते हैं-(भूत भवन्निति-मार्गे विषये-अनागतपाकः सुखहेतुः पाकत्वात् अतीतपाकवत्, विषादिभक्षणं दुःखहेतुः विषभक्षणत्वात् अतीत विषभक्षणवत्-इस प्रकार तर्कात्मक अनुमान से ही लोक भविष्यत् विषय में भी इष्ट और अनिष्ट विषय में प्रवृत्त एवं निवृत्त होता है।) इसी प्रकार मनु के वचन ने भी तर्क को निर्णय का हेतु मानकर उसे प्रतिष्ठित माना है-"प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रं च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता" (अर्थात् धर्म की शुद्धि चाहने वालों को अर्थात् धर्मतत्त्व में निर्णय के लिये प्रत्यक्ष अनुमान तथा शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिये, इसी तरह "आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः" (वेदशास्त्र के अविरोधी तर्क द्वारा जो ऋषि प्रणीत धर्म का अनुसन्धान करता है, वही धर्म के रहस्य को जान सकता है, अन्य व्यक्ति नहीं) इस तरह भगवान् मनु ने भी तर्क का समादर किया है, यदि ऐसा कहें तो भी तर्क को अप्रतिष्ठितत्व दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता है, क्योंकि आपसे भी अधिकतम कुतर्क कुशल पुरुष संसार में संभव है।

इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण के अगोचर परब्रह्म में तर्क का प्रवेश नहीं होने से श्रुति ही प्रमाण है। हाँ श्रुतिमूलक या श्रुत्यनुकूल तर्क वेदार्थ के निर्णय के लिये उपादेय है- कारण "मन्तव्यः" ऐसा श्रुति वाक्य है, न कि श्रुति विरुद्ध तर्क । जैसा कि कहा है कि "शुष्कतर्कं परित्यज्य आश्रयस्व श्रुतिस्मृती" (महाभारत) अर्थात् शुष्क तर्क का परित्याग कर श्रुति स्मृति का आश्रय करना चाहिये।) प्रमाण के अनुग्राहक ऊह को तर्क कहते हैं, जो अज्ञात निर्णय वाली वस्तु के लिये किया जाता है, जिसका तत्त्व ज्ञान मात्र ही प्रयोजन होता है। जैसे "यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गाः" (जैसे अग्नि से चिनगारियां पैदा होती हैं) इस श्रुति से जीवात्मा की उत्पत्ति प्रतीति होती है, तथा "न जायते म्रियते वा कदाचित्" (आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है। इस श्रुति से उसके जन्म का अभाव) इस प्रकार विरुद्ध वचन का श्रवण होने से आत्मा में नित्यत्व का संशय होने पर तर्क करेंगे–आत्मा नित्य है, कारण यदि नित्यो न स्यात् तर्हि कृतनाशाकृताभ्यागम दोषप्रसङ्गः स्यात्। (आत्मा नित्य ही है, यदि नित्य नहीं होगा तब कृतनाश एवं अकृताभ्यागम दोष का प्रसङ्ग हो जायेगा, अर्थात् आत्मा का नाश मानने पर उसके द्वारा अनुष्ठित कर्म का नाश होने से जन्मान्तर में निर्हेतुक सुख दुःख का प्रसङ्ग हो जायेगा) अब उक्त तर्क की मूलभूत श्रुति का उदाहरण देते हैं–"अविनाशी वाऽरे आत्मानुच्छित्ति धर्मा" (यह आत्मा अविनाशी है नित्य है, इसके धर्म का नाश नहीं होता) इसलिये उक्त तर्क शास्त्रमूलक होने से प्रमाण के सहायक के रूप में गृहीत होता है) इसी तरह यदि प्रपञ्चो मिथ्या न स्यात् तर्हि अनिर्मोक्ष प्रसङ्गः स्यात्" तथा यदि सेश्वरं सवेदं जगत् मिथ्या न स्यात् तर्हि निर्विशेषाद्वैतसिद्धान्तसिद्धिर्न स्यात् (यदि वेद एवं ईश्वर सहित जगत् मिथ्या न हो तो निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त की सिद्धि न होगी) इत्यादि तर्क शास्त्रनिर्मूल होने से निषिद्ध है) और भी कहा है–"आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते" (शास्त्र के अविरोधेन ऊह को तर्क कहते हैं) तथा "अविज्ञाततत्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थ ऊहस्तर्कः" अर्थात् अज्ञात् तत्त्व के विषय में तत्त्वज्ञान के लिये कारण की उपपत्तिपूर्वक ऊह को तर्क कहते हैं) ऐसा न्याय सूत्र भी है। इस प्रकार श्रुति ने जहाँ तर्क की प्रशंसा की है, वहाँ शास्त्र सम्मत तर्क समझना चाहिये और जहां तर्क का निषेध श्रुति ने किया है, वहाँ शास्त्र विरोधी तर्क समझना चाहिये। ऐसा विवेक करना चाहिये। इस प्रकार अनन्त अचिन्त्यअघटघटना पटीयसी शक्ति विशिष्ट होने के कारण समस्त दोष गन्धों से रहित सार्वज्ञ्य आदि अनन्त गुणाश्रय परब्रह्म ही जगत् के कारण हैं, प्रधान नहीं॥११॥

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः॥२/१/१२॥

अतिदेशसूत्रमिदम्। परिगृह्यन्ते इति परिग्रहा न परिग्रहाः अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहाः शिष्टापरिग्रहाः शिष्टैर्मनुव्यासादिभिः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीता इत्यर्थः। यद्वा शिष्टाः परिशिष्टाः कपिलपतञ्जलिभ्यामन्ये न विद्यते वेदस्य परिग्रहो येष्वित्यपरिग्रहाः शिष्टाश्च तेऽपरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः वेदमगृह्णन्तः केवलतर्कपराः कणभक्षाक्षपाद-

क्षपणकभिक्षुप्रभृतिपरमाण्वादिकारणवादा अपि एतेन वेदविरोधिप्रधानकारणवादनिरासेन निरस्ता वेदितव्यास्तेषामपि तर्कमूलत्वाविशेषात् ॥१२॥

(हिन्दी अनुवाद)

यह अतिदेश सूत्र है। परिगृह्यन्ते इति परिग्रहाः (जिसका परिग्रहण होता है, उसे परिग्रह कहते है। न परिग्रहाः अपरिग्रहाः शिष्टानामपरिग्रहा शिष्टापरिग्रहाः जो शिष्टों द्वारा परिगृहीत नहीं है) शिष्ट-मनु तथा व्यास आदि द्वारा जो मत या सिद्धान्त किसी भी अंश में परिगृहीत नही है। अथवा शिष्ट माने परिशिष्ट कपिल पतञ्जलि से भिन्न, जिनमें वेद का परिग्रह नहीं है, वे यहाँ अपरिग्रह पद वाच्य हैं-वे शिष्ट अपरिग्रह जो वेद न मानकर केवल तर्क परायण हैं। कणाद, अक्षपाद, क्षपणक भिक्षु प्रभृति परमाणु आदि कारण वादी भी इस वेद विरोधी प्रधान कारणवाद के निरास से निरस्त समझना चाहिये। क्योंकि वे मत भी तर्कमूलक ही हैं ॥१२॥

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ २/१/१३ ॥

पुनरप्याशङ्क्य, समाधत्ते। ननु ब्रह्मैव जगदुपादानमिति यत्तत् युक्तं न वा? इति संशये, न युक्तमिति पूर्वः पक्षः। तथा सति कार्यकारणयोरभेदनियमेन ब्रह्मण एव कार्यकारणरूपत्वाज्जीवब्रह्मणोः स्वभावविभागः "अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावादि" त्यादिश्रुत्युक्तो न सम्भवति। अविभागे च सति ब्रह्मणोऽपि जीववत्सुखदुःखभोक्तृत्वापत्तेः। न च "सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यादि"त्यत्र परमात्मनः सम्भोगप्रसङ्गः परिहृत इति वाच्यं, तत्रोपास्यतयोपासक-हृत्स्थस्यैकशरीरान्तर्वर्तितामात्रेण सम्भोगप्रसङ्गो न भवतीत्युक्तम्, अत्र तु जीवब्रह्मणोरनन्यत्वाङ्गीकारेण तद्वत्तस्यापि तत्प्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्, कार्यगतसर्वदोषा-श्रयत्वप्रसङ्गाच्च प्रधानकारणवाद एव श्रेष्ठ इति चेत्तत्रोत्तरम्। "स्याल्लोकवदि"ति। लोके यथा मृत्पिण्डजन्यस्य मृन्मयस्य घटाद्यवस्थापन्नस्य मृदमन्तरेण पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हतया मृदभिन्नत्वेऽपि स्वरूपस्वभावनामरूपसङ्ख्याव्यवहारादिभेदः सुप्रसिद्धः, तद्वद् ब्रह्मोपदानकस्य जगतोऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हतया 'ब्रह्माभिन्नत्वेऽपि स्वरूपस्वभावा-दिभेदस्य श्रुतिस्मृतिसूत्रसिद्धस्य स्वाभाविकत्वात्। अयं भावः, न वयं ब्रह्मण उपादानत्वेऽपि तस्य चेतनाचेतनयोश्च स्वरूपैक्यमङ्गीकुर्मः, येनोक्तः दोषः स्यात्। अपि तु "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमपाणिपादः, अणोरणीयान्महतो महीयान्, अणुर्ह्येष आत्मा, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्, गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभावनी सितासिता च रक्ता च" इत्यादि श्रुत्युक्तं स्वरूपस्वभावादिवैलक्षण्यं स्वाभाविकं ब्रूमः। अनन्यत्वं च कारणं विना कार्यस्य, आत्मानं विनात्मीयस्य व्यापकं विना व्याप्यस्याधारं विनाधेयस्य, पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हत्वेनेति सुखदुःखभोक्तृत्वस्य च पुण्यापुण्यकर्मप्रयुक्तत्वान्न परब्रह्मणि तत्प्रसङ्गः। परब्रह्मणस्तु अपहतपाप्मत्वादिधर्मवत्तया कर्मसम्बन्धगन्धलेशासम्भवात् ॥१३॥

(हिन्दी अनुवाद)

अब पुनः आशङ्का करके समाधान करते हैं। विचारणीय है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, यह जो कहा है, वह युक्त है या नहीं, ऐसा संशय होने पर युक्त नहीं है, यह पूर्व पक्ष है, क्योंकि ब्रह्म को उपादान मानने पर कार्यकारण में अभेद नियम होने से ब्रह्म ही कार्यकारण रूप होगा, तब जीव ब्रह्म में "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते" "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" "अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ भावात्" इत्यादि श्रुत्युक्त स्वभाव विभाग संभव नहीं है और यदि अविभाग होगा तो ब्रह्म में भी जीव की तरह सुख दुःख के भोक्तृत्व की आपत्ति होगी। यदि कहें कि "सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्" इस सूत्र में परमात्मा में सम्भोग के प्रसङ्ग का परिहार किया गया है, ऐसा नहीं कह सकते। वहाँ उपास्य रूप में उपासक के हृदय में स्थित एक शरीर के वृत्तितामात्र से सम्भोग का प्रसङ्ग नही होता, ऐसा कहा गया है। यहाँ जीव ब्रह्म में अनन्यता स्वीकार करने से जीव की तरह ब्रह्म में भी सम्भोग प्रसङ्ग दुर्वार होगा तथा कार्यगत समस्त दोषों का भी प्रसङ्ग होगा–इसलिये प्रधान कारणवाद ही श्रेष्ठ है। ऐसा कहें तो उसका उत्तर है–"लोकवत्" लोक में जिस प्रकार "मृत्पिण्डजन्य मृण्मयघटादि अवस्थापन्न की मृत्तिका के बिना पृथक् स्थिति प्रवृत्ति नहीं होने से मृत्तिका से अभिन्न होने पर भी स्वरूप, स्वभाव, नाम, रूप तथा व्यवहार आदि में भेद सुप्रसिद्ध है। उसी प्रकार ब्रह्मोपादानक जगत् का भी ब्रह्म भिन्नत्वेन पृथक् स्थिति तथा प्रवृत्ति न होने से ब्रह्माभिन्न होने पर भी स्वरूप तथा स्वभाव आदि के भेद श्रुति स्मृति सिद्ध होने से स्वाभाविक है। भाव यह है कि हम ब्रह्म को उपादान मानने पर भी उसका तथा चेतन अचेतन का स्वरूपैक्य नहीं मानते–जिससे उक्त दोष होगा। अपितु उसे "अस्थूलमनणु, अह्रस्व, अदीर्घ तथा पाणिपाद रहित मानते हैं तथा अणोरणीयान् महतो महीयान्," "अणुर्ह्येष आत्मा" "अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्" "गौरनाद्यन्तवती जनित्री भूतभाविनी सितासिता च रक्ता च" इत्यादि श्रुतियों में उक्त जीव ब्रह्म में स्वरूप तथा स्वभाव आदि में स्वाभाविक वैलक्षण्य कहते हैं। अनन्य तो कारण के बिना कार्य, आत्मा के बिना आत्मीय, व्यापक के बिना व्याप्य, आधार के बिना आधेय की पृथक् स्थिति प्रवृत्ति न होने के कारण मानते हैं। सुख दुःख भोक्तृत्व तो पुण्य–पापात्मक कर्म जन्य होने से परब्रह्म में उसका प्रसङ्ग नहीं है। परब्रह्म में तो "अपहत पाप्मत्वादि धर्म विशिष्ट" होने के कारण उसमें कर्म सम्बन्ध के गन्ध का भी लेश नहीं है ॥१३॥[1]

अथ यदुक्तं कार्यस्य कारणादनन्यत्वं तदिदानीं स्पष्टमाह–

यह जो कहा गया था कि कार्य कारण से अनन्य होता है–उसे अब स्पष्ट रूप में कहते हैं–

१. यहाँ भी स्वाभाविक भेदाभेद का प्रतिपादन है। (सं)

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥२/१/१४॥

तत्र कार्यं मिथ्याऽनिर्वचनीयं वा? असद्रूपं वा? सद्रूपं वा? इति संशये, आहुरेके[1], "असच्चेन्न प्रतीयेत, सच्चेन्न बाध्येत, प्रतीयते बाध्यते च, अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीय-मेवाभ्युपगन्तव्यम्, अनिर्वचनीयत्वादेव मिथ्यात्वमिति, प्रपञ्चो यदि मिथ्या न स्यात्तर्हि ज्ञाननिवर्त्योऽपि न स्यात्। दृश्यते हि लोके मिथ्यापदार्थस्य शुक्तिरजतादेरधिष्ठानज्ञानान्निवृत्ति-रतोऽयं प्रपञ्चो ज्ञाननिवर्त्त्यत्वादिति, ज्ञाननिवर्त्त्यत्वान्यथाऽनुपपत्तिर्जगन्मिथ्यात्वे मानमिति तन्न, मिथ्यात्वानिर्वचनीयत्वादेर्लक्षणप्रमाणानुपपत्त्या पूर्वैर्विस्तरतोनिरस्तत्वादत्रोपरम्यते। किञ्च नहि ज्ञानमज्ञानस्यैव मिथ्याभूतस्य निवर्त्तकमिति नियमः, ज्ञानमात्रेण ज्ञानसमानविषयकाज्ञानानु-पादानकस्य सत्यस्य तज्ज्ञानप्रागभावस्य घटादिज्ञानेन पटादिज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञादिना संस्कारस्य यथा दोषदर्शनेन रागादेः सेत्वादिदर्शनेन ब्रह्महत्यादेश्च सत्यस्यैव निवृत्तिदर्शनात्। ननु सेत्वादिदर्शनमज्ञाननिवृत्तिद्वारेणादृष्टद्वारेण वा निवर्त्तकं? साक्षान्निवर्त्तकत्वेऽपि न ज्ञानत्वेन, किन्तु विहितक्रियात्वेनेति चेन्न। प्रकृतेऽपि साम्यात्, श्रुतदर्शनत्यागेन तत्प्राप्तिस्तज्जन्यादृष्टं वा निवर्त्तकं कल्प्यते चेदिहापि श्रवणज्ञानोत्तरब्रह्मध्यानं तज्जन्यादृष्टं वा निवर्त्तकमिति वक्तुं शक्यत्वात्। "तस्याभिध्यानादिति" श्रुतेः। ननु सेतुदर्शनमात्रं न निवर्त्तकं, किन्तु दूरगमनादिविशिष्टमिति चेन्न, अत्रापि ज्ञानमात्रं न निवर्त्तकं, किन्तु नियमाधीतवेदान्त-श्रवणादिनियमविशिष्टमन्यथा भाषाप्रबन्धादिश्रवणेऽपि असम्भावनादियुक्तस्याज्ञाननिवृत्त्यापत्तेः। किञ्च शूद्रादीनामपि म्लेच्छभाषानिरूपितवेदान्तार्थश्रवणादिनाऽपि मोक्षप्रसङ्गात्। नच नियमाध्ययनादीनामधिकारसम्पादनेनैवोपक्षीणत्वान्न ज्ञानसहकारित्वमिति वाच्यं, प्रकृतेऽपि दूरगमनादीनामधिकारसम्पादनेनैव नैराकांक्ष्यसाम्यात्। न च "दृष्ट्वैव तं मुच्यते" इति दर्शनमात्रस्य निवर्त्तकत्वश्रवणादिति वाच्यं, "प्रकृतेऽपि सेतुं दृष्ट्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहती"ति सेतोश्चाक्षुषज्ञानस्यैव निवर्त्तकत्वश्रवणात्।

किञ्च लोकेऽदृष्टत्वेऽपि विपक्षे बाधकाभावात्। श्रुतिबलात्सत्यस्यापि बन्धस्य निवृत्तिः किं न स्यादन्यथा लोकेऽधिष्ठानतत्त्वे साक्षात्कृते कर्मवशादपि निरुपाधिक-भ्रमानुवृत्तेः जीवन्मुक्तिदशायां कर्मवशादनुवृत्तस्य जगतः सत्यत्वमेव स्यात्। किञ्च तव मतेऽपि लोकेऽत्यन्ताप्रसिद्धस्यापि व्याप्तिशून्यस्याश्रौतस्यानाद्यध्यासस्य प्रतिपादनेन ह्यत्यन्ताप्रसिद्धाङ्गीकारसाम्यात्, न ह्यनाद्यध्यासे श्रुतिर्मानं नापि लोकप्रसिद्धा व्याप्तिः। यत्राध्यासस्तत्रानादित्वमिति प्रत्युत सादिव्याप्तिः शुक्तिरूप्यादौ प्रसिद्धा, किन्तु युक्तिमात्रं मानं, तथाऽपि कुलधर्मतया तवाङ्गीकारः। अस्माकं तु श्रुतिबलात्सत्यस्यैव श्रौतब्रह्मज्ञानान्निवृत्त्यङ्गीकारे को वा दोष इति मनीषिभिर्विवेचनीयम्। ननु ज्ञानैकनिवर्त्त्यस्य किं नाम सत्यत्वं न तावदज्ञानाजन्यत्वं "मायां तु प्रकृतिमि"ति श्रुतिविरोधात्

---

१. मायावादिनः श्रीशंकराचार्यानुयायिनः

मायाविद्ययौरैक्यात्। नापि स्वाधिष्ठाने स्वभावशून्यत्वमस्थूलादिश्रुतिविरोधात्। नापि व्यवहारकाले बाधशून्यत्वं तर्हि व्यावहारिकमेव सत्त्वमागतमेवाध्य[1] स्तत्त्वं तच्च श्रुत्यर्थयोग्यताज्ञानार्थं वर्णनीयमेवेति चेन्न। सर्वस्य जगतः "तत्तेजोऽसृजत्, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, नारायणाज्जायते प्राणः, अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रमाणेन ब्रह्मजन्यतयाऽज्ञानजन्यत्वाभावात्सत्यत्वमेव। नापि "मायांतु" इति श्रुतिविरोधः, तस्याः प्रकृतिपदवाच्यश्रीपुरुषोत्तमाधीनाचित्प्रकृतिप्रतिपादनेनैव नैराकाङ्क्ष्यान्नाज्ञानपरत्वं मायाशब्दस्या ज्ञाने शक्त्यभावात्। यदुक्तं स्वाधिष्ठान इत्यादि तत्तुच्छं "गौरनाद्यन्तवती"ति श्रुतिबलात्तद्धतपरतन्त्रसत्ताया अनाद्यनन्तत्वाभ्युपगमस्यादोषात्। श्रुतेश्च सर्वविलक्षणब्रह्मप्रतिपादनपरतया प्रपञ्चनिषेधपरत्वाभावात्। यच्चोक्तं व्यवहारकाले बाधशून्यत्वमित्यादि, तदपि तुच्छमनाद्यनन्तत्वविधायकश्रुत्यैवैतद्विकल्पस्य निरासात्। किञ्च संस्कारसापेक्षगरुड़भ्रमरादिध्यानज्ञाननिवर्त्यविषकीटत्वादौ सत्यत्वदर्शनेन श्रवणादिजनितसंस्कार-सापेक्षज्ञाननिवर्त्त्यस्य प्रपञ्चस्य सत्यत्वमेव स्यात्। किञ्च लोके निवृत्तिनिवर्त्ययोः समानसत्ताकत्वनियमात् अज्ञाननिवृत्तिवदज्ञानमपि तात्त्विकं स्यात्, ज्ञानज्ञेययोर्दोषा-धिष्ठानयोश्च समान सत्ताकत्वनियमात् ब्रह्मवदज्ञानमपि सत्यं स्यात्। किञ्च यथानादिभावरूपस्याज्ञाजस्यान्यत्रादृष्टाऽपि निवृत्तिः श्रुतिबलादङ्गीकृता तथा प्रकृतेऽपि किं न स्यात्। किञ्च शङ्खस्य श्वेतत्वानुमित्यादिना तदीयस्य श्वेतत्वविषयकाज्ञानस्यारोपितपीतत्वस्य वा निवृत्तिवत्त्वन्मते बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यसाक्षात्कारेणैक्याज्ञानस्यारोपितभेदस्य वा निवृतिश्चेत् श्वेतत्वानुमित्यादिना तदज्ञाननिवृत्तावज्ञानकार्यस्यारोपितपीतत्वादेरनुवृत्तिर्न स्यात्। नच तस्य सोपाधिकत्वेन यावदुपाधिस्थायित्वनियमान्नोक्तदोष इति वाच्यं, उपादाननिवृत्तौ कार्यानुवृत्त्ययोगात्, ज्ञानस्य स्वप्रागभावनिवर्त्तन इवाज्ञाननिर्वतने-ऽप्यन्यानपेक्षणात्। अपि च चरमसाक्षात्कारेण जीवन्मुक्तिदशानुवृत्तस्याज्ञानलेशस्य वाऽज्ञानसंस्कारस्य वा प्रारब्धकमदिर्वा निवृत्तिः किं न स्यात्? तस्मात्त्वयाप्यज्ञानस्यारोपितभेदस्य वाऽज्ञानविरोधिन एव ज्ञानेन निवृत्तिर्विरोधश्च कार्यनिरूप्य इत्येव वक्तव्यम् एतन्ममापि समानम्, ज्ञाननिवर्त्त्यत्वे न तावत्सत्त्वं मिथ्यात्वं वा नियामकमपि तु ज्ञानविरोधित्वमेवेति सिद्धमित्यलं विस्तरेण।

वस्तुतस्तु भगवत्प्रसादादेव बन्धनिवृत्तिर्न प्रकारान्तरेण। "श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, यस्य प्रसादात्परमार्तिरूपादस्मात्संसारान्मुच्यते नापरेण" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेः। "मत्प्रसादात्तरिष्यती"ति स्मृतेश्च। नचैवं ज्ञानस्य वैयर्थ्यापत्त्या तत्प्रतिपादकशास्त्रव्याकोपप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तस्य तत्प्रसादहेतुत्वात्। तथाह श्रीप्रह्लादः "एवं ज्ञाते सभगवाननादिः पुरुषोत्तमः प्रसीदत्यच्युते तस्मिन्प्रसन्ने

१. यहाँ पाठ स्पष्ट नहीं होने से संगति ठीक नहीं बैठती दूसरी प्रति प्राप्त नहीं होने से इसका खुलासा नहीं हो सका। (सं)

क्लेशसंक्षयः तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यमि"त्यादिना। अतो ज्ञानस्य करणत्वं भगवत्प्रसादस्यावान्तरव्यापारत्वमित्युभय शास्त्रस्याविरोधादित्यलं प्रासङ्गिकेन।

अथ पराहतं च सत्तकैरेतदन्यथानुपपत्तिरूपं प्रमाणम्। तर्काश्च "प्रपञ्चो यदि सत्यो न स्यात्तर्हि श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणः परिपाल्यो न स्यात्, तत्परिपाल्यत्वं च श्रुतिस्मृतिसूत्रैरुद्धुष्यमाणं तस्मात्सदेवेति। तथाहि अध्यस्ते प्रवृत्तिरधिष्ठानसाक्षात्काराभाववत एव पुरुषस्य दृश्यते घटते च, नतु शुक्तिं शुक्तित्वेन साक्षादनुभवितुः शुक्तिरूप्यादाने प्रवृत्तिः, स्वाप्निकपुत्रादिगजतुरगादिपालनार्था प्रवृत्तिश्च जाग्रतोऽनुन्मत्तस्य कस्यचिद् दृष्टा युक्ता वा। तथा सर्वस्याधिष्ठानतत्त्वं सर्वदा पश्यतः परमेश्वरस्य प्रपञ्चमिथ्यात्वे कथं तस्य पालने प्रवृत्तिरिति पण्डितम्मन्यैर्वैदिकत्वाभिभानिभिरेकाग्रमनसा विचारणीयम्। परमेश्वरस्याज्ञत्वकल्पनायां परमेश्वरत्वमेव न स्यात्, सर्वज्ञत्वे च मिथ्यावस्तुपरिपालने प्रवृत्त्यसम्भव एव। अन्यथा परमेश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसक्त्या तत्प्रतिपादकवेदो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। नन्वैन्द्रजालिकवत्तस्य मिथ्यापालनं भवत्विति चेन्न। दृष्टान्त वैषम्यात्। ऐन्द्रजालिको मन्त्रौषधादिबलादतीतानागतान् देशान्तरस्थितांश्च सत एव पदार्थान्प्रदर्शयत्येव, नत्वपरोक्षतया स्वयं पश्यति पालयति वा। प्रकृते तु "यः सर्वज्ञः सः सर्ववित्, स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च, नामरूपे व्याकरवाणि, आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वाहिता, सर्वाणि रूपाणि विचिंत्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते। एकं बीजं बहुधा यः करोती"त्यादिश्रुतिभ्यः ईक्षणबहुभवनसंकल्पपूर्वकसृष्टत्रादिकर्त्तृत्वम्।

"स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदि" त्यादिना बहुभवितृत्वेनोपादानत्वं चोपलभ्यत इति विपरीतत्वाद्दृष्टान्तस्येत्यर्थः। नन्वैन्द्रजालिकस्य स्वमाययाऽमोहितस्य विषयापरोक्षत्वाभावे पश्यन्त्विदमाम्रफलमिति प्रतिज्ञावचनं तथैव प्रदर्शयितृत्वं चानुपपन्नम्, एतदन्यथाऽनुपपत्त्वा तस्य विषयापरोक्षम- स्तीत्यवश्यमङ्गीकार्यमिति चेन्न तस्यान्यथोपपन्नत्वात्। तथा हि यथा वैद्यो गुरूपदेशादिना ज्ञातौषधिप्रभावो भविष्यद्रोगनाशादिविषयकापरोक्षाभावेऽपीदमौषधमिमं रोगं सद्यो नाशयति, पश्यन्त्वस्य प्रभावमिति वदति ददाति च, तथैन्द्रजालिकोऽप्यस्मान्मन्त्रादेरेते भ्राम्यन्तीति ज्ञातमन्त्रादिप्रभावः पश्यन्त्विदमित्यादि वदति दर्शयति चेति भावः। न चैन्द्रजालिकस्याप्येन्द्र- जालिकान्तरात्स्वसृष्टानां रक्षणदर्शनात्। तथात्वे च नोक्तवैषम्यमिति चेन्न। भ्रमजनक- स्वमन्त्रौषधादिगतसामर्थ्यस्यैव रक्षणान्न विषयस्येति। ननु मम पक्षे परमेश्वरस्यापि व्यावहारिकत्वेन तद्गुणशक्त्यादीनां सार्वज्ञादीनामपि तथात्वेन पारमार्थिकत्वाभावात्। तथा चाह भाष्यकारः—"ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्त्वान्य- त्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार....प्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरि"ति श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते, ताभ्यामन्यः सर्वज्ञ ईश्वरः, "आकाशोह वै नाम.... नामरूपे. ... सर्वाणि रूपाणि.... एकं बीजमि"त्यादिश्रुतिभ्यः। एवमविद्याकृतनामरूपोपाध्यनु- रोधीश्वरो भवति व्योमेव घटकरकाद्युपाध्यनुरोधि। स च स्वात्मभूतानेव घटाकाश- स्थानीयानविद्यात्मकोपाधिप्रत्युपस्थापितकार्यकरणसङ्घातानुरोधिनो जीवाख्यान्

विज्ञानात्मनः प्रतीष्टे व्यवहारविषये तदेवमविद्यात्मकोपाधिपरिच्छेदापेक्ष्यमेवेश्वरस्येश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं, न परमार्थतो विद्ययाऽपास्तसर्वोपाधिस्वरूप आत्मनीशित्रीशितव्य-सर्वज्ञत्वादिव्यवहार उपपद्यते इत्यादिनेति चेन्न। अश्रौतत्वेन कल्पनामात्रत्वात्। तथाहि परमेश्वरस्य मिथ्यात्वे किं मानमिति वक्तव्यम्? न च "आकाशोह वै" इत्यादिश्रुत्यः इति पूर्वमेवोक्ता इति वाच्यम्, तासु मिथ्याव्यावहारिकादिप्रतिपादकपदानामेकतम-स्याप्यदर्शनात्। प्रत्युत नामरूपादिहेतुत्वप्रतिपादनपराणां पदानामेवोपलभ्यमानत्वात्। अतएव न नामरूपयोरपि मिथ्यात्वम्, "यस्य नाम महद्यशः, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं, प्राणा वै सत्यं, तेषामेष सत्यमि"त्यादिना सत्यत्वश्रवणात्। नापि तस्य ज्ञानशक्तयादीनां व्यावहारिकत्वं वक्तुं शक्यम्, "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति कण्ठरवेण स्वाभाविकत्वश्रवणात्। नच तासां व्यावहारिकसत्त्वपरत्वं तत्त्वञ्च ज्ञानबाध्यत्वं भेदवाक्यानां प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यभेदविषयकत्वेनानुवादपरत्वाभ्युपगमा-दितिवाच्यम्, आपातोक्तेः। तथाहि "जीवब्रह्मभेदे प्रत्यक्षादीनामप्रसरादि"ति विवरणाचार्यवचनात् प्रत्यक्षादिशक्त्यभावेन भेदवाक्यानां स्वार्थे एव प्रामाण्यम्, अन्यथा स्वरूपस्यापि बाधोऽभ्युपगन्तव्यः, स्वाभाविकत्वसाम्यात्। किञ्च घटोऽस्तीति प्रत्यक्षेण निर्विशेषा-धिष्ठानवस्तुनो गम्यत्वादभेदवाक्यानामेव तदनुवादपरत्वेन स्वार्थेऽप्रामाण्यं, प्रत्यक्षगृहीतग्राहित्वात्। तथाच तवैव सिद्धान्तविरोधः, अन्वथा विवरणावाक्यभङ्गः। किञ्च "ईश्वरस्यात्मभूते इवे" त्यस्य कोवाऽर्थो विवक्षितः। स्वरूपात्यन्ताभिन्नत्वं वा? शुक्तिरजतवदसत्त्वस्य प्रतीयमानत्वं वा? स्वरूपापृथक्सिद्धत्वमात्रं वा? नाद्यः, श्रुतिप्रमितत्वात्। अन्यथा "नामैव ब्रह्म रूपमेव ब्रह्मे"ति प्रतीत्यापत्तेः। नापि द्वितीयः, प्रतीयमानत्वे प्रमाणाभावात्, प्रत्युत "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्वमि"ति सत्यत्वश्रवणात्। "व्याकरवाणी"ति व्यक्तीकरणश्रुतेश्च। अन्यथा "प्रत्यापयामी"ति श्रवणं स्यात्। चरमश्चेदिष्टापत्तिः, तदात्मकत्वेन स्वरूपापृथक्सिद्धत्वस्य सिद्धान्तेऽप्यङ्गीकारात्। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेः। नाप्यनिर्वचनीयत्वम्, अनिर्वचनीयख्यातिनिरासे तस्य पूर्वाचार्यैर्विस्तरेण निरस्तत्वात्। तस्मात्सदेव।

किञ्चेश्वरस्यातात्त्विकत्वे निरीश्वरसाङ्ख्यादिभ्यऽवैदिकेभ्यस्तव सिद्धान्तस्य परवञ्चनं विना कोवा विशेषः? सर्वस्य वेदस्य सार्वज्ञसर्वशक्त्यादिनिलयपरब्रह्मपरत्वेन भवतां पारिभाषिततर्कमात्रं बिना प्रमाणान्तरं नास्तीत्यलं कुतर्कनिरासैः। किञ्च यदि प्रपञ्चमिथ्यावादः श्रौतः स्यात्तर्हि शुक्तिरजतादिदृष्टान्ता वेदे उपन्यस्ताः स्युः। यद्यनिर्वचनीयवादः सूत्रकाराभिप्रेतः स्यात्तर्हि सूत्रितोऽपि स्यान्नतु तथा दृश्यते, तस्मात्कार्यं सदेवेत्यादितर्का अत्रानुसन्धेयाः। ननु ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वे, असद्भिन्नत्वे, च सति चिदन्यन्मिथ्या, दृश्यत्वाज्जडत्वा- त्परिच्छिन्नत्वाच्च, शुक्तिरूप्यवदित्यनुमानमत्र प्रमाणमिति चेन्न। तस्य पक्षसाध्यहेतु- दृष्टान्तानामसम्भवेनाभासमात्रत्वात्। तथाहि चिदन्यद्रूपः पक्षः प्रमितो न वा? नाद्यः प्रमितस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्। ननु प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षगोचरत्वेऽपि सत्त्वानधिकरणत्वादिना मिथ्यात्वं वक्तुं शक्यमेवेति चेन्न। तव मते

निर्विशेषस्य शुद्धस्य ब्रह्मणोऽपि सत्त्वानधिकरणात्वाभ्युपगमात्तत्रातिव्याप्तिः। शुद्धं ब्रह्म मिथ्या सत्त्वानधिकरणत्वात्, तवाभिप्रेतप्रपञ्चवदित्यनुमानात्। नद्वितीयः। शशश्रृङ्गं तीक्ष्णाग्रं श्रृङ्गत्वात्, हरिणश्रृङ्गवत्, खपुष्पं गन्धवत्, पुष्पत्वात्प्रसिद्धपुष्पवदिति प्रयोगस्ये-वाश्रयासिद्धत्वाच्च। अथास्य साध्योऽपि दुर्निरूपः, तथाहि साध्यमत्र मिथ्यात्वं, तच्च सत्यं वा? तुच्छं वा?। आद्ये मिथ्यात्वस्य सत्यत्वे अद्वैतभङ्गः। द्वितीये मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तिः, घटाभावाभावस्य घटरूपत्ववज्जगन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वस्य सद्रूपत्वात्, सिद्धसाधनतापत्तिश्च। यथा केनचिल्लौकिकेनोक्तं देवदत्तो मृतः, परेण चाप्तेन निर्णीयोक्तस्तदभावः। एवं चाप्तवाक्याद्देवदत्तमरणस्य मृषात्वे तस्य जीवनं सिद्धं, तद्वत् मिथ्यात्वस्याबाध्यत्वेऽद्वैतहानिः बाध्यत्वे जगतः सत्यत्वमित्युभयथाऽपि पाशारज्जू इत्यर्थः।

किञ्च किं तावन्मिथ्यात्वं? नच सदसत्त्वानधिकरणत्वं च सत्त्वविशिष्टासत्त्वा-भावरूपमिति वाच्यम्, सदेकस्वभावे जगति विशिष्टाभावस्येष्टत्वात्। नच सत्त्वात्यन्ताभावासत्त्वात्यन्ताभावरूपंद्वयमिति वाच्यम्, सत्त्वासत्त्वयोरेकतराभावेऽपरस्य सत्त्वावश्यकत्वेन व्याघातात्, निर्धर्मकब्रह्मवत्, सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वोपपत्त्या मिथ्यात्वासिद्धेः। एतेन सत्त्वात्यन्ताभावविशिष्टा- सत्त्वात्यन्ताभावरूपं विशिष्टं तत्त्वमित्यपि निरस्तं, दोषसाम्यात्। ननु क्वचिदुपाधौ सत्त्वेनाप्रतीयमानत्वमसत्त्वं, त्रिकालाबाध्यत्वं सत्त्वं तयोरभावः साध्य इति चेन्न। असल्लक्षणस्या सङ्गे ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः। तस्याप्युक्तासत्त्वाङ्गीकारे चिद्भन्नेति चासद्भिन्नेति विशेषणस्य वैयर्थ्यापत्तेः, शब्दाभासेन तुच्छस्यापि क्वचिदुपाधौ सत्त्वेन धीसम्भवाच्च, उक्तासत्त्वाभावस्य शून्यवादिप्रपञ्चे स्वीकाराच्च, लाघवात्सत्त्वासत्त्वयोः परस्पराभाव- स्यैवौचित्याच्च। नन्वेकेनैव सर्वानुगतेन ब्रह्मसत्त्वेन सर्वत्र सदितिज्ञानोपपत्तौ प्रत्येकं सद्रूपत्वकल्पन- मयुक्तमन्यथाऽनुगतव्यवहारानुपपत्तेरिति चेन्न। सत्ता त्रैविध्यस्य त्वयाऽपि स्वीकारात्, लाघवेन "यदासीत्तदधीनमासीदि"ति श्रुतेः प्रामाणिकपरतन्त्रसत्तयाऽप्यनुगत- धीदर्शनाच्च। एतेन सत्प्रतियोगिकासत्प्रतियोगिकभेदद्वयं साध्यमिति निरस्तं, निर्धर्मकेब्रह्मण्यतिव्याप्तेश्च। नच सद्रूपं ब्रह्म तत्तदभावाधिकरणामिति वाच्यम्, प्रपञ्चेऽपि साम्यात्। नच ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात्सत्त्वासत्त्ववत्तत्तदधिकरणत्वमपि नास्तीति वाच्यम्, निर्धर्मकत्वहेतुसत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातात्, सत्त्वासत्त्वाद्यनधिकरणत्वनिषेधे सदसत्त्वाधि- करणत्वापत्तेरिति साध्यासम्भवः। एवं हेतूनामप्याभासत्वमेव। तत्र दृश्यत्वं नाम किंवृत्तिव्याप्यत्वं? वा फलव्याप्यत्वं? वोभयव्याप्तत्वं वा? नाद्यः, ब्रह्मण्यतिव्याप्तेः, तस्यापि वेदान्तजन्यवृत्तिविषयत्वात्। अन्यथा वेदान्तस्य वैयर्थ्यापत्तेः। नच "यत्तदद्रेश्यमि"ति श्रुतेः। शुद्धं न दृश्यं, किन्तूपहितमेव, तस्य मिथ्यात्वं चेष्टापन्नम्। नहिवृत्तिदशायामनुपहितं तद्भवतीतिवाच्यम्, उपहितभाने उपधेयभानावश्यकत्वात्, प्रसिद्धार्थकयत्तच्छब्दयोरयोगाच्च। विशिष्टभाने विशेष्यभानं ह्यावश्यकं, नहि दण्डीति ज्ञाने पुरुषस्य विषयता नास्ति, नच विशेष्यतापन्नं मिथ्यैवेति वाच्यम्। अधिष्ठानस्याधिकसत्ताकनियमेन विशेष्यतापन्नस्य मृषात्वेऽधिष्ठानत्वासम्भवात्। नहि विशेष्यतापन्नं सर्वथा ज्ञानाविषयं ह्यधिष्ठानं भवति

जगतोऽपि विशेष्यतापन्नत्वादिना मिथ्यात्वं, स्वरूपेण तु सत्यत्वमित्यापत्त्याऽद्वैतहानिः स्यात्। किञ्च शुद्धस्याविषयत्वे मोक्षाभावप्रसङ्गः उपहितज्ञानेनैव मोक्षसिद्ध्याऽप-सिद्धान्तापत्तेश्च। किञ्च सत्यस्य शुद्धस्यैव व्यावहारिकघटाद्यधिष्ठानस्य घटादिगोचरचाक्षुषादि-वृत्तिविषयतायाः सत्वान्नह्यधिष्ठानमविषयीकृत्याध्यस्तं वृत्तिर्विषयीकरोति "मनस्यैवानुद्रष्टव्यं, दृश्यते त्वग्रया बुद्धये"ति श्रुतेः। न चोपहितविषयिकैवेयं श्रुतिरिति वाच्यम्, त्वन्मतभाष्यविरोधात्। तथाहि "तदव्यक्तमाह ही"ति सूत्रभाष्ये अव्यक्तं परं ब्रह्मेन्द्रियाग्राह्यं निरूप्य, "अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्यामि"ति सूत्रभाष्ये च अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्तीत्यादिना परस्यैव पश्यतेः क्रियायाः कर्मत्वस्वीकारेण तद्बाधात्, तत्रोदाहृतश्रुतिस्मृतीनां "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः"इति। "ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमि" त्यादीनां बाधाच्च। किञ्चोक्तश्रुत्यादीनां यदि शुद्धविषयकत्वं नाङ्गीक्रियते, तर्हि शुद्धस्य ज्ञानाभावे तादवस्थ्ये तदाच्छादकमूलाज्ञानस्याप्यनिवृत्याऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः। सबलज्ञानस्य मोक्षासाधकत्वाभ्युपगमात्।

"परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इत्यादिना परात्परस्यैव ब्रह्मणो दर्शन-क्रियाकर्मश्रवणाच्च। तद्बाधोऽपि दुष्परिहरः। नापि फलव्याप्यत्वम्, अतीन्द्रियेष्वपञ्चीकृतभूतेषु चोदनैकवेद्यधर्मादौ तव मते साक्ष्येकवेद्ये सुखादौ तदभावेनाव्याप्तिप्रसङ्गात्तेषां सत्यत्वापत्तेः। सुखादयो धर्मादयश्च सत्याः, फलव्याप्यत्वराहित्यात्, ब्रह्मवत् इति प्रयोगात्। नाप्युभयव्याप्यत्वं तत्त्वं, विशेषस्य सामान्यानतिरेकेण वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादेव दृश्यत्वसिद्ध्या ब्रह्मण्यतिव्याप्तिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वादिति संक्षेपः। नापि जडत्वं हेतुः। तत्त्वं न तावदज्ञानत्वं, वृत्तिज्ञाने भागासिद्धेः, आत्मनि व्यभिचाराच्च। तथाहि आत्मरूपं ज्ञानं सविषयं? न वा? आद्ये, स्वविषयं? परविषयं वा? नाद्यः, त्वयाऽनभ्युपगमात्। न द्वितीयः, मोक्षे परस्याभावात्, त्वन्मते वर्त्तमानस्यैव विषयत्वात्। न चार्थोपलक्षितप्रकाशस्यैव ज्ञानत्वात् तस्य मोक्षेऽप्यनपाय इति वाच्यम्। यदा कदाचिद्विषयसम्बन्धान्मोक्षे ज्ञानत्ववद्यदा कदाचिद्दुःखादि- सम्बन्धाद्दुःखित्वाद्यापत्तेः। अभावादिषु सप्रतियोगित्वादेरिव ज्ञाने सविषयत्वस्यापि स्वाभाविकस्य धर्मिसमसत्ताकस्य दर्शनात्। न च सविषयत्वं ज्ञानस्य विषयेण सहाध्यासिकः सम्बन्धः। स च न स्वाभाविकः, एतद्धेत्वधीनमिथ्यात्वसिद्धेः, प्रागाध्यासिकसम्बन्धासिद्धेः। मोक्षे अध्यासिकसम्बन्धासिद्धेरिति वाच्यम्, अज्ञानेच्छादेरिव ज्ञानस्यापि सविषयतायाः स्वाभाविकत्वात्। भोक्तृभोज्यं विना भुजेरिव, ज्ञातृज्ञेयं विना ज्ञानस्यासम्भवात्। न चानादौ तदनपेक्षा, अनादेः प्रागभावस्य प्रतियोग्यपेक्षाया जात्यादेर्व्यक्त्यपेक्षाया अज्ञानस्य विषयाश्रयापेक्षाया दर्शनात्। ज्ञानस्य ज्ञानत्वं हि ज्ञेयोल्लेखित्वं, तच्चातीतादिज्ञानस्या- प्यक्षतम्, तच्च तवानिष्टं, उल्लेखस्य तव संसारत्वेन मोक्षे तदुल्लेखे तद्विप्लवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञानस्य निर्विषयत्वं सम्भवति ज्ञानत्वहानेः, अर्थप्रकाशत्वरूपज्ञानस्वभावाभावे घटादेरपि ज्ञानत्वापातात्, ज्ञातुरर्थप्रकाशस्य ज्ञानत्वादिति विवरणोक्तिबाधाच्च। किञ्चात्मरूपं ज्ञानं प्रमा? भ्रमः? वा, नाद्यः। तद्वेद्यस्याविद्यादेः

सत्यत्वापत्तेः। नान्त्यः, भ्रमस्य दोषजन्यत्वनियमेनात्मनस्तदभावात्। उभयभिन्नत्वे ज्ञानमेव न स्यात्। नच तार्किकाभिमतेश्वरज्ञानवत् घटादिनिर्विकल्पकवच्चोभयवैलक्षण्येऽपि ज्ञानत्वोपपत्तिः, ईश्वरज्ञानस्य प्रमात्वे गुणजन्यत्वस्य भ्रमत्वे दोषजन्यत्वस्य चापत्तेः। निर्विकल्पकस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वाभावादिति वाच्यम्, अबाधितार्थकत्वरूपयाथार्थ्यप्रामाण्यस्येश्वरीयज्ञानादावक्षतेः, विशेष्यावृत्त्यप्रकारकत्वरूपप्रामाण्यस्येश्वरज्ञाननिर्विकल्पकयोरक्षतत्वाच्च। प्रमासामान्ये च न गुणजन्यत्वं नियामकं, किन्तु तद्विशेष एव।

प्रमामात्रे च "नानुमतो गुण" इति मणि[1]कृतोक्तेः, किन्तु दोषाजन्यत्वमेव हि तन्नियामकम्, नापि ज्ञानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यभिन्नत्वं जडत्वं, वृत्त्यात्मकाज्ञाने भागासिद्धेः, लाक्षणिकज्ञानपद- जन्यधीविशेष्यत्वस्य देहेन्द्रियादावपि सत्त्वेनासिद्धेः। नाप्यनात्मत्वं जडत्वं, तथाहि आत्मत्वं न जातिः, तस्यैकत्वात्, विशिष्टानां भेदेऽपि पक्षान्तःपातित्वात् प्रतियोग्यसिद्ध्या तदभावासिद्धेः। नचानानन्दत्वं जडत्वं, वैषयिकानन्दे भागासिद्धेः। नच सोऽपि ब्रह्मानन्द इति वाच्यं, क्षीरनीरपानजान्यानन्दानां तारतम्योपलब्ध्या ब्रह्मत्वासम्भवात्। नच दुःखनिष्ठोत्कर्षापकर्षयोरानन्दे उपचारः, दुःखलेशाप्रतीतावप्यानन्दतारतम्यस्य प्रतीतेः। नाप्यज्ञातृत्वं जडत्वं, तव मतेऽन्तःकरणस्य ज्ञातृत्वेन तत्राव्याप्तेः, शुद्धे ब्रह्मण्यतिव्याप्तेश्च। शुद्धं ब्रह्म मिथ्या, अज्ञातृत्वादाकाशादिवदित्याभाससाम्यात्। नच कल्पितज्ञातृत्वं शुद्धेऽपि स्वीक्रियते इति वाच्यं, कल्पितेन हेत्वभावेनातिव्याप्त्यनुद्धारात्, शुद्धत्वभङ्गाच्च, शुद्धाशुद्धविभागासिद्धेश्चेति संक्षेपः। नापि परिच्छिन्नत्वस्य हेतुत्वम्, आभाससाम्यात्। तथाहि तत्त्वं नाम देशकालवस्तुपरिच्छेदवत्त्वं, तत्रात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं देशपरिच्छिन्नत्वं, ध्वंसाभावप्रतियोगित्वं कालपरिच्छिन्नत्वम्, अन्योऽन्याभावप्रतियोगित्वं वस्तुपरिच्छिन्नत्वमिति विवेकः। तत्र नाद्यद्वितीयौ, आकाशरूपदेशस्य कालस्य चापरिच्छिन्नत्वेन तत्राव्याप्तेः। आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, अथ मर्त्त्योऽमृतो भवति सर्वमात्मैवाभूत्, अथ संपत्स्ये" इत्यादिश्रुतिभिः सदा सर्वत्र कार्यदर्शनादित्यादियुक्त्या धर्मिग्राहिणा साक्षिणा च तथा त्वावगमात्। नच "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इत्याकाशस्य कालपरिच्छेदश्रवणादुक्तविरोध इति वाच्यं, भूताकाशस्योत्पत्तिनाशादिसम्भवेऽपि अव्याकृताकाशस्य तदयोगात्। नहि पूर्तिं विनाऽवकाशनाशः सम्भवति, एतेन विमतं मिथ्या, विभक्तत्वात्। सन् घटः सम्पटः इति घटादिकमननुगतमनुगतसद्रूपे विभज्यते इति निरस्तम्। नीलो घटो नीलः पटो घटश्चलति पटश्चलति, असन्नृशृङ्गमसत् खपुष्पमित्यादौ. नीलादिषु घटादीनामसति नृशृङ्गादीनामध्यासापत्तेः। अयं सर्पोऽयं सर्प इति रज्जुमालादिष्वननुगतेष्वनुगतस्य सर्पस्यारोपवदननुगतेषु घटादिष्वनुगतसद्रूपस्यारोपापत्तेश्च। खण्डो गौर्मुण्डो गौरित्यादावनुगतगोत्वादौ व्यक्तेरारोपापत्तेश्च। नच सद्रूपब्रह्मभिन्नगोत्वादेरनभ्युपगमान्नोक्तदोष इति वाच्यम्। (अगवादिव्यावृत्तस्य गवादिवैलक्षण्यव्यवहारस्यानुपपत्तेः। सद्रूपस्य सर्वानुगतत्वेन व्यावृत्तेरसम्भवात्।) नच

---

१. एतावता तत्त्व चिन्तामणिकृतो नव्यन्यायाद्याचार्यात् श्रीगंगेशोपाध्यायादनन्तर्भाविनः एते नव्यन्यायस्यापि प्रकाण्ड पण्डिताः। (सं)

तत्तद्व्यक्तिविशिष्टं सत्सामान्यमेव तत्तद्व्यवहारजनकमिति वाच्यं, तत्तद्व्यक्तिविशिष्टस्य मिथ्याभूतस्य व्यक्त्यनधिष्ठानत्वेन तत्र व्यक्तेरध्यासायोगात्। तत्सामान्यव्यक्त्यो-राध्यासिकसम्बन्धातिरिक्तसम्बन्धस्य त्वयाऽनङ्गीकारात्। एतेन घटादिकं सद्रूपेकल्पितं प्रत्येकं तदनुविद्धत्वेन प्रतीयमानत्वात्, प्रत्येक चन्द्रानुविद्धजलतरङ्गचन्द्रवदिति निरस्तम्।

रूपादिहीनस्य ब्रह्मणश्चाक्षुषत्वायोगात् चक्षुरादिगृहीतस्य दृश्यस्य मिथ्यात्वेन घटाद्यनधिष्ठानत्वात्। किञ्च ब्रह्मणः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वे घटादिवन्मिथ्यात्वस्यावश्यंभावात्, अधिष्ठानरूपनिर्विशेषं वस्तु मिथ्या, इन्द्रियगोचरत्वात्तव मते घटादिवदित्यनुमानात्। किञ्च ब्रह्मण इन्द्रियग्राह्यत्वाङ्गीकारे महावाक्योपदेशस्यानुवादकत्वापत्तेः। महावाक्योपदेशो न स्वार्थपरः, इन्द्रियगृहीतग्राहकत्वेनानुवादरूपत्वात्, अग्निर्हिमस्य भेषजमिति वाक्यवदित्यनुमानात्। एतेन द्रव्यग्रहे रूपाद्यपेक्षा, ब्रह्मणस्तु द्रव्यत्वाभावेन तदनपेक्षत्वान्नोक्त-दोषावकाशः "अस्थूलमनण्वि"ति परिमाणनिषेधादिति निरस्तम्। उक्तश्रुतेः प्राकृतपरिमाण-निषेधेन नैराकांक्ष्यात्। अन्यथा "अणोरणीयान्महतो महीयानि"त्यादिश्रुतिव्याकोपात्। नापि तृतीयोऽन्योन्याभावप्रतियोगित्वरूपो वस्तुपरिच्छेदरूपो हेतुः, अनृतादौ ब्रह्मात्यन्ता-भावान्योऽन्याभावयोः सत्वात्तत्रातिव्याप्तेः। ब्रह्म मिथ्या, अनृतादिवृत्त्यन्योऽन्याभाव-प्रतियोगित्वात्तवमते घटपटादिवदित्युनमानात्। नन्वनृतादौ ब्रह्मात्यन्ताभावान्योऽन्याभावयो-र्मिथ्यात्वात् तत्र ब्रह्मसंसर्गस्य चाभिन्नत्वान्नोक्तदोष इति चेन्न। तथात्वे मिथ्यात्वाभिन्नत्व-संसर्गयोस्तात्त्विकत्वापत्त्या तद्भिया पारमार्थिकस्यैवाभावस्याकामेनापि त्वयाऽङ्गीकार्यत्वात्, सन्दिग्धानैकान्त्यस्य दुर्वारत्वात् अप्रयोजकत्वाच्च। किञ्च ब्रह्माभिन्नत्वस्य तात्त्विकस्य प्रपञ्चेप्यभावात् ब्रह्मण्यनृतव्यावृत्तिस्तात्त्विकी तया तस्य तथात्वमनुमातुंशक्यते, कल्पितस्य त्वात्मनि सत्त्वात् सिद्धं दृश्यत्वादिहेतूनामाभासत्वं सोपाधिकत्वात्। उपाधयश्च, सप्रकारकधिबाधार्हत्वम्, अध्यस्ताधिकदोषप्रयुक्तभानत्वं प्रतिभासमात्रशरीरत्वं चेत्यादयः। देहात्मैक्याध्यासस्यापि सप्रकारकभेदविषयज्ञानबाधयोग्यत्वात् न तत्र साध्याव्याप्तिः। नच सप्रकारकेति अध्यस्ताधिकेति च विशेषणावैयर्थ्यं, तद्भिनैवोपाधेः साध्यव्यापकत्वादिति वाच्यं, विशिष्टाभावस्यातिरिक्तत्वेन तद्विशिष्टस्यैव साध्यव्यापकतया वैयर्थ्याभावात्। तावन्मात्रस्य तु साधनव्यापकत्वान्नोपाधित्वमिति संक्षेपः।

किञ्चास्य प्रयोगस्य दृष्टान्तोऽपि दुर्निरूपः, शुक्त्यादेः पक्षान्तःपातित्वेन तत्प्रयोगस्याभासमात्रत्वात्। न च माऽस्तु शुक्त्यादिदृष्टान्तः व्यतिरेकिदृष्टान्तस्य ब्रह्मणः सत्वान्नोक्तदोषावकाश इति वाच्यं, विकल्पासहत्वात्। तथा हि शुद्धस्य दृष्टान्तत्वं? विशिष्टस्य वा? नाद्यः सर्वप्रमाणागोचरस्य ब्रह्मणः शशशृङ्गकल्पत्वेन दृष्टान्तानर्हत्वात्, प्रमाणविषयत्वे शुद्धत्वहानेरद्वैतभङ्गाच्च। न द्वितीयः, विशिष्टस्य पक्षान्तःपातित्वात्, तव मते व्यतिरेकानुमानानङ्गीकाराच्च। तस्मात्पक्षादीनामाभासत्वेनापातरमणीयत्वमुक्तानु-मानस्येति सिद्धम्। किञ्च विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तर्हि साधिष्ठानं स्यात्, सामान्यतो ज्ञातत्वे सति अज्ञातविशेषवत्त्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निःसामान्ये ब्रह्मण्यसम्भवात्। विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तर्हि सप्रधानं स्यात्, न चैवमस्ति तस्मान्न

तथा। विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि ससंस्कारं स्यान्नतु तदस्ति, तस्मान्न तथा। नच स्वेनाध्यस्तः स्वारोपहेतुरिति वाच्यं, भ्रमात्पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासकारणत्वा-सम्भवात्। अन्यथा भ्रमहेतुसंस्कारस्याधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दुर्वारम्। न च संस्कारोऽज्ञातो व्यावहारिकः स्वेनारोपितः स्वाध्यासहेतुरस्त्येवेति वाच्यम्, अज्ञातस्याध्यस्तत्वे मानाभावेन पारमार्थिकत्वप्रसङ्गात्। किञ्च विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्हि ससादृश्यं स्यान्न चैवमस्ति तस्मान्न तथा। न च पीतः शङ्ख इति सादृश्यं विनाऽपि भ्रमो दृष्ट इति वाच्यं, द्रव्यत्वादिना तत्रापि सादृश्यज्ञानवत्त्वस्यानुमेयत्वात्, स्वर्णामयशङ्खमूर्त्तौ तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च। किञ्च विश्वं यद्यध्यस्तं स्यात्तर्ह्यनादिकर्मादिजन्यं न स्यात्, अध्यासानादित्वस्य क्वाऽपि प्रसिद्ध्यभावात्, प्रत्युत सादित्वस्य शुक्तिरूप्यादौ दर्शनात्तस्मान्नाध्यस्तत्वमित्यादिप्रतिकूलतर्कैः प्रतिहतमिदमनुमानं न प्रामाण्यार्हमित्यलं विस्तरेण।

अप्रमाणत्वात्सूत्रकारपक्षहीनत्वाच्चोपेक्षणीयोऽयमनिर्वचनीयवादो मुमुक्षुभिः। असद्वादस्त्वग्रे निरस्यते। तस्मात्सदेवेदं विश्वं "सदेव सौम्येदमग्र आसीदिति" श्रुतेः। "सत्वाच्चावरस्येति" वक्ष्यमाणसूत्राच्च। तच्च कार्यकारणात्मकत्वात्तदपृथक्सिद्धमित्याह भगवान्सूत्रकारः। "तदनन्यत्वमिति"। तस्य कार्यस्य ब्रह्मणः सकाशादनन्यत्वं, यद्वा तस्मात्कारणात् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं तदात्मकत्वादिनाऽपृथक्सिद्धत्वं कार्यस्य जगतः। तत्र प्रमाणमाह। "आरम्भणाशब्दादिभ्यः" इति। आरम्भणशब्दादिर्येषां "विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं, सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, तत्तेजोऽसृजत, ऐतदात्म्यमिदं सर्व" तत्सत्यं, स आत्मा तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति, तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते"त्यादीनां तान्यारम्भणाशब्दादीनि तेभ्यो वाक्येभ्यः प्रमाणेभ्यः। अत्रामनन्ति छन्दोगाः। "येनाश्रुतं भवती" त्यादिना ह्येकोपा दानकारणाविज्ञानेन सर्वकार्यविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये दृष्टान्तोपन्यासः। "यथा सोम्यैकेनमृत्पिण्डेन सर्व मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणां विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति।" यथेति दृष्टान्ते मृत्पिण्डेन मृद्द्रव्यरूपतया विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं मृद्विकारजातघटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकतया विज्ञातं भवति तत्तदवस्थाविशेषमात्रत्वादुपादेयजातस्य स्वोपादानापृथक्सिद्धत्वादित्याह, वाचारम्भणामिति। कार्यजातं वाचा वागिन्द्रियेणारभ्यते "घटेन जलमाहरे"त्यादिना व्यवह्रियते इति वाचारम्भणं "कृत्यल्युटोबहुलमिति" कर्मणिल्युट्। तद् द्विविधं विकारो नामधेयं चेति। तत्र कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्तिविशेषरूपो विकारशब्दवाच्यः, नामधेयं च घटादिशब्दवाच्यः शब्दविशेष एव। ननु यथा कारणं मृत्तिका स्वतन्त्रसत्ताश्रयत्वात्सत्या तथा घटादीनां कार्याणामपि पृथक्स्वतन्त्रसत्त्वं भवतु, उपलभ्यमानत्वादित्यत्राह मृत्तिकेत्येव सत्यमिति। एवकारोऽन्ययोग-व्यवच्छेदार्थः। इति शब्दः कारणपरामर्शपरः। मृत्तिकाकारणभूतैव स्वतन्त्रसत्ताश्रया, न तु तथा घटादिकार्यं स्वातन्त्र्येण सत्यं, कारणव्यतिरेकेणानुपलभ्यमानत्वात्, तदन्वितस्य

चोपलभ्यमानत्वाच्चेति दृष्टान्तः। एवमाकाशादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मोपादेयतया तदात्मकतया च स्वतन्त्रसत्ताऽनधिकरणत्वात् स्वोपादानकारणभूतब्रह्मापृथक्सत्त्वमेवेति सिद्धान्तः।

"ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति",श्रुतेः। "वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च" इत्यादिस्मृतेश्च। यत्तु कैश्चित्स्वकपोलकल्पितानश्रौतदृष्टान्तान् शुक्तिरूपमृग-तृष्णोदकादीनुपन्यस्याकाशादि- कार्यस्य मृषात्वं प्रतिपादयन्वेरेतत्सूत्रं विवर्त्तपरत्वेन व्याख्यायते, तदसमीचीनं, प्रतिज्ञादृष्टान्तासम्भवात्। तथाहि "येनाश्रुतं श्रुतमित्यादि" श्रौतप्रतिज्ञावाक्ये कारणविज्ञानेन कार्यविज्ञानं प्रतिज्ञातं, तत्र किं तावत्कारणं शुद्धं निर्विशेषं ब्रह्म वा उपहितं वा? नाद्यः, तस्य कारणत्वानभ्युपगमात्, तत्र प्रमाणाभावेन तद्विज्ञानस्यैवासम्भवाच्च। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा" इत्यन्वय- व्यतिरेकश्रुतिव्याकोपाच्च, तज्ज्ञानाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च। न द्वितीयः, तद्विज्ञानस्य मोक्षाहेतुत्वेनाप्रयोजकत्वात्, उपहितस्यैव ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेन तज्ज्ञानेन तदुपादेयज्ञाने- जातेपि तस्य मोक्षहेतुत्वेन मिथ्यात्वेन चानिर्मोक्षप्रसङ्गस्यावश्यंभावात्। अन्यथोपहितं ब्रह्मैव मुक्तोपसृप्यं स्यात् शुद्धस्यासिद्धेश्चेत्यर्थः। किञ्च शुक्तिरूप्य-मृगतृष्णोदकादि-दृष्टान्तानामप्याप्रामाण्यम्, अश्रौतत्वात्, श्रौततात्पर्यविरोधाच्च। मृत्तिकाद्युपादान-पदार्थज्ञानाद्यथा घटादितत्कार्यजातस्य विज्ञानं तदुपादेयत्वात्सर्वप्राणिगोचरं, न तथा शुक्तिज्ञानाद्रूप्यमात्रस्य ऊषरज्ञानाद्वा उदकमात्रस्य विज्ञानं कस्याप्यनुन्मत्तस्य जायते उपादेयत्वाभावात्। तस्माद् दृष्टान्ताभासत्वमेव तेषामिति सिद्धं "लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" इति [1]गौतमीयलक्षणसूत्रात्। ननु घटादीनामपि मृदादावध्यस्तत्वेन विवर्त्तपक्षेऽपि दृष्टान्तत्वसम्भवान्नाभासत्वमिति चेन्न। मृदादिज्ञानेन घटादीनां बाधादर्शनात्, बाधं विना चारोपे मानान्तराभावात्। मृदादिज्ञानेऽपि घटादीनां पूर्ववद्विद्यमानानां प्रातीतिकत्वासम्भवाच्च। किञ्च व्यावहारिकविवक्षायां मृदादिवत् कारकव्यापारसाध्यानां जलाहरणादिकार्योपयुक्तानां चावस्थाविशेषाणां घटादीनामपि सत्त्वात् तात्त्विकसत्त्वविवक्षायां च मृदादेरपि सत्यत्वाभावाच्च दृष्टान्ताभासत्वम्। ननु घटादयो न तावन्मृदादिमात्रेऽध्यस्ताः किन्तु मृदाद्यवच्छिन्नचेतने एव, तथात्वे च मृदाद्यवच्छिन्नतत्त्वज्ञानाभावात्तदबाधो युक्त एवेति चेन्न। प्रमाणहीनत्वात्, श्रौतदृष्टान्तविरुद्धत्वाच्च। नहि श्रुतौ मृदाद्यवच्छिन्न-चेतनविज्ञानेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यादिति दृष्टान्त उपन्यस्तः, किन्तु मृत्पिण्डमात्र एव, तस्मात्कपोलकल्पितपारिभाषिकमात्रत्वाद् दृष्टान्ताभासत्वमेव। ननु "शुक्तौज्ञातायां रूप्यं तत्त्वतो ज्ञातं भवति। साहि तस्य तत्त्वं, एवं ब्रह्मज्ञानात्सर्वं तत्त्वतो ज्ञातं भवती"ति श्रीवाचस्पतिमिश्रैर्भामतीप्रबन्धे प्रतिपादनात्। किञ्च यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्, स्वरूपेणानुपाख्यात्वादेवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यमि" त्यादि श्रीभगवत्पादैर्भाष्यकारैश्चोक्तत्वात्कथं प्रलाप इति चेन्न। एवं तर्हि ब्रह्मज्ञानेन

१. प्राचीनन्यायस्याधार्याः, कृष्णमन्त्रकृष्णोपासना परम प्रधान तन्त्र गौतमीय तन्त्र रचयितार एते श्रीगौतम महर्षयः श्रीजानकी जन्मभूमि जाज्वल्यमाण रत्नमृताः। तेषामेव दृष्टान्त सूत्र मुदाहृत मिहाचार्यवर्यैरिति सम्पादको वैद्यनाथः। (सं)

ब्रह्मैव ज्ञातं भवतीत्यर्थ उक्तः स्यात्। तच्चायुक्तं, सर्वमिति साधारणश्रवणात्स्वस्य स्वहेतुत्वायोगात्, "येनाश्रुतमिति" श्रुतिगताश्रुतादिपदवैयर्थ्याच्च। किञ्च तत्त्वं नाम स्वासाधारणं स्वरूपं, स्वासाधारणधर्मो वा, नतु भ्रमाधिष्ठानं, श्रौतदृष्टान्तानां मृत्पिण्डादीनां घटाद्यधिष्ठानत्वाभावात्, अन्यथा रजतादिवत् घटादीनामपि बाधप्रसक्तेः बाधाभावान्यथा-नुपपत्तेरप्यत्र प्रामाण्यात्। एवं दार्ष्टान्तेऽपि ब्रह्मज्ञानात्प्रपञ्चाबाधदर्शनस्याप्यनध्यस्तत्वे मानत्वं बोध्यम्। अन्यथा शुक्तितत्त्वज्ञानाद्रूप्यनाशवद्ब्रह्मज्ञानात्सर्वनाशापत्त्या सर्वविज्ञाना-सम्भवादिति भावः। अपि च वाचारम्भणशब्दस्य मिथ्यार्थकत्वे योगरूपयोरभावात् वाचारम्भकाव्यादेर्मिथ्यात्वादर्शनात्, वागालम्बनमात्रमिति व्याख्यानेऽश्रुतकल्पनात्, त्वया नामधेयमित्यस्यापि नाममात्रं ह्येतदिति व्याख्यातत्त्वेन पौनरुक्त्याच्च। ननु "को भवानति निर्देशो वाचारम्भो ह्यनर्थक" इति स्मृत्या वाचारम्भशब्दस्य मिथ्यापरत्वदर्शनात्तथाऽत्रापि बोध्यमिति चेन्न। स्मृतावपि पूर्वोक्तरूढ्याद्यभावेन त्वदिष्टपरत्वाभावात्। तथाहि—देहानां प्रकृत्युपादेयत्वेन प्राकृतत्वाविशेषात्, "कोभवानिति निर्देशो" देहविषयकप्रश्नोऽनर्थकः प्रकृतेः स्वतन्त्रभिन्नतया निर्धारणारूपार्थशून्यः, किन्तु वाचारम्भो वाग्व्यवहारयोग्य, इति स्मृत्यर्थः। अन्यथा शब्दमात्रस्यापि वागिन्द्रियारभ्यत्वसाम्यात् वाचेति वैयर्थ्यापत्तेः। अर्थासत्त्वेन वागादिप्रयोगस्य त्वयैवानुभूतत्वात्, न तु त्वदन्यैः कैश्चिदिति भावः।

ननु वाचारम्भणनामधेयपदाभ्यां विचारासहत्वं विवक्षितं, तथाहि भूविकारस्य घटादेः स्वरूपविचारे विकारो मिथ्या। भूः सत्या तत्स्वरूपविचारे च साऽपि मिथ्या, तद्धेतुभूताप ञ्चीभूतान्येव सत्यानि। तत्स्वरूपविचारे च तेषामपि मिथ्यात्वं, किन्तु तत्परमकारणं ब्रह्मैव सत्यमिति मृत्तिकेत्येव सत्यमिति, सत्यमित्यत्र हेतुर्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं वाङ्मात्रं विचारासहं, तस्मान्निर्विकारं ब्रह्मैव सत्यमिति चेन्न। विपरीतत्वात्। तथा च विकारस्य कारणात्पृथक्सत्त्वा- सिद्ध्या स्वतन्त्रसत्ताभावमेव बोधयति श्रुतिः, न तु स्वरूपेण मृषात्वम्, अन्यथा विचारासहत्वमात्रेण मिथ्यात्त्वकल्पनायां ब्रह्मणोऽपि "न सन्नासदुच्यते" इति स्मृतेः सदसद्भ्यां विचारासहत्वेन मिथ्यात्वप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात्। ब्रह्म मिथ्या सदसद्भ्यां विचारासहत्वात् तव मते पृथिव्यादिवदिति प्रयोगात्। किञ्च विकारो नामधेयमित्यत्र साक्षात्कण्ठरवेण विकारशब्दपाठादपि विवर्तासिद्धेः। यदि श्रुतेर्विवर्त्तोऽभिप्रेतः स्यात्तर्हि विकार इति मृत्पिण्डादिदृष्टान्तांश्च न श्रावयेत् अपि तु भ्रान्तिर्नामधेयमिति ब्रूयात्, शुक्तिरजतादि- दृष्टान्तांश्चोपन्यसेत्। नहि विवर्तकार्यं विकारोऽपितु भ्रममात्रमन्यथा विवर्त्त एव न स्यात्। किञ्च यदि नामरूपात्मकं कार्यमनृतमेव तर्हि वेदान्तशास्त्रस्य तद्विचारस्य चापि मृषात्वाविशेषेण तस्मात्सद्रूपब्रह्मभावापत्तिलक्षणमोक्षस्यापि कथमिव सिद्धिरिति मनीषिभिर्वैदिकम्मन्यैर्विचारणीयमेकाग्रमनसा। "कथमसतः सज्जायेते"ति श्रुतेः "साधनं चेदवश्यं च परमार्थास्तिता भवेत्। सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते" इति भट्टपादैरुक्तत्वाच्च ॥१४॥

(हिन्दी अनुवाद)

यहाँ कार्य मिथ्या है, या अनिर्वचनीय सद्रूप है या असद्रूप है, ऐसा संशय होने पर

एक ने कहा–"असत् होता तो प्रतीति नहीं होती, सत् होता तो बाधित नहीं होता, प्रतीत भी होता है और बाधित भी होता है, इसलिये सद् असत् से विलक्षण अनिवर्चनीय ही इसे (जगत् को) मानना चाहिये और अनिवर्चनीय होने के कारण ही मिथ्या है–उसमें तर्क देते हैं-प्रपञ्चों मिथ्या न स्यात्तर्हि ज्ञान निवर्त्यो न स्यात्" (यदि प्रपञ्च मिथ्या न होता तो ज्ञान निवर्त्य नहीं होता है) लोक में मिथ्या पदार्थ शुक्ति रजत आदि के अधिष्ठान (शुक्ति) के ज्ञान से निवृत्ति देखी जाती है, अतः यह प्रपञ्च ज्ञान निवर्त्य होने से मिथ्या है। यहां ज्ञान निवर्त्यत्व की अन्यथा अनुपपत्ति जगत् के मिथ्यात्व में कारण है, यह कथन ठीक नहीं, मिथ्यात्व एवं अनिवर्चनीयत्व आदि का लक्षण एवं प्रमाण की अनुपपत्ति (अभाव) आदि का •पूर्वाचार्यों ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है, अतः यहां इस विषय में उपराम करते हैं। दूसरी बात ज्ञान मिथ्याभूत वस्तु का ही निवर्तक है ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान मात्र से सत्यभूत उस ज्ञान के प्रागभाव का जो अज्ञान अनुपादानक है, घट आदि के ज्ञान से, पट आदि के ज्ञान का प्रत्यभिज्ञा आदि से संस्कार का, दोष दर्शन से रागादि का तथा सेतु आदि के दर्शन से ब्रह्म हत्यादि सत्य की ही निवृत्ति होती है। यदि कहें कि सेतु आदि का दर्शन अज्ञान निवृति द्वारा अथवा अदृष्ट की उत्पत्ति द्वारा ब्रह्म हत्या आदि पापों का निवर्तक है। तुष्यतु दुर्जनन्याय से साक्षात् निवर्तक मान लेने पर भी पाप निवर्तकतावच्छेदक ज्ञानत्व नहीं है किन्तु विहित क्रियात्व है–ऐसा कहें तो ठीक नहीं, यह दोष प्रकृत में समान है। यदि श्रुतदर्शन के त्याग से उसकी प्राप्ति अथवा तज्जनित अदृष्ट को निवर्तक की कल्पना करें तव यहाँ भी (वेदान्त) श्रवण ज्ञानोत्तर ब्रह्मध्यान अथवा तज्जन्य अदृष्ट निवर्तक है ऐसा कह सकते हैं–जैसा कि श्रुति वचन है–"तस्याभिध्यानात्" यदि कहें कि सेतु दर्शन मात्र निवर्तक नहीं है, किन्तु दूर गमनादि विशिष्टः सेतु दर्शन निवर्तक है, यह भी ठीक नहीं। यहाँ भी ज्ञान मात्र निवर्तक नहीं है। किन्तु नियमपूर्वक अधीत वेदान्त वाक्य श्रवण आदि नियमों से युक्त ज्ञान ही निवर्तक है। अन्यथा भाषा प्रबन्ध आदि के श्रवण से भी असंभावना आदि दोषयुक्त व्यक्ति की अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी। इसी तरह शूद्र आदि को भी म्लेच्छ भाषा के माध्यम से वेदान्तार्थ श्रवणादि द्वारा भी मोक्ष की आपत्ति होगी। यदि कहें कि नियमपूर्वक अध्ययन आदि अधिकार सम्पादन मात्र से ही उपक्षीण हो जाने से वह ज्ञान में सहकारी नहीं हो सकता तो ऐसा भी नहीं कह सकते। फिर तो प्रकृत में भी दूर गमन आदि अधिकार सम्पादन से ही निराकांक्ष हो जाता है–यहाँ भी समानता है। यदि कहें कि "दृष्ट्वैव तं मुच्यते" इस प्रमाण के आधार पर दर्शन मात्र ही निवर्तक माना गया है तो कहते हैं कि प्रकृत में भी "सेतुं दृष्ट्वा ब्रह्महत्यां व्यपोहति" इस श्रुति के अनुसार (सेतु के दर्शन मात्र में ही ब्रह्महत्या निवर्तकत्व कहा गया है।)

• पराभिमत, मिथ्यात्ववाद, अनिर्वचनीयवाद, अविद्यावाद तथा अध्यायवादका बड़े विस्तार के साथ सम्प्रदाय के परम प्रसिद्ध ग्रन्थ परपक्ष गिरिव्रज में पूज्य पूर्वाचार्य ने खण्डन किया है–जो वैष्णव मात्र के लिए पठनीय है। (सं)

दूसरी बात लोक में ऐसा न देखने पर भी विपक्ष में कोई बाधक नहीं होने से श्रुति के बल से सत्यस्वरूप बन्धन की निवृत्ति क्यों नहीं होगी। अन्यथा लोक में अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार करने पर कर्म के वश से भी निरुपाधिक भ्रम की अनुवृत्ति होने से जीवन्मुक्ति दशा में कर्मवशात् प्राप्त जगत् का सत्यत्व ही होगा। दूसरी बात आपके मत में भी लोक में अत्यन्त अप्रसिद्ध होने पर भी व्याप्ति शून्य और श्रुति प्रमाण वर्जित अनादि अध्यास का प्रतिपादन होने से अत्यन्त अप्रसिद्ध वस्तु के अङ्गीकार की समानता है। अनादि अध्यास में न श्रुति प्रमाण है, न लोकप्रसिद्ध व्याप्ति। बल्कि जहां अध्यास होता है, वहां सादित्व होता है, ऐसी सादि व्याप्ति शुक्तिरूप्य आदि में प्रसिद्ध है, किन्तु युक्तिमात्र मान है, फिर भी आप कुल धर्म के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। हमारे मत में तो श्रुति के बल से सत्य का ही श्रौत ब्रह्मज्ञान से निवृत्ति मानने पर कौन दोष है, ऐसा मनीषियों को विचार करना चाहिये। यदि कहें कि ज्ञानमात्र से निवर्त्य वस्तु का सत्यत्व क्या है? अज्ञानाजन्यत्वं कह नहीं सकते–मायां तु प्रकृतिम्' माया और अविद्या एक ही है। इस श्रुति से विरोध होगा अपने अधिष्ठान के स्वभाव शून्यत्व को भी सत्यत्व नहीं कह सकते "अस्थूलम्" इत्यादि श्रुति से विरोध होगा। व्यवहार काल में बाधशून्यत्व भी नहीं कह सकते, तब तो व्यावहारिक ही सत्य आ गया, (अध्यस्तता तो रह ही गई) वह तो श्रुत्यर्थ योग्यता–ज्ञानार्थ वर्णनीय है ही, ऐसा नहीं कह सकते। सम्पूर्ण जगत् में "तत्तेजोऽसृजत्" "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" "नारायणाज्जायते प्राणः" "अहं सर्वस्य प्रभवः" इत्यादि श्रुति स्मृति प्रमाणों से जगत् के ब्रह्मजन्य होने से अज्ञान जन्यत्व न होने के कारण सत्यत्व ही है। इसमें "मायां तुं" इस श्रुति से भी विरोध नहीं है। उस श्रुति की प्रकृति पदवाच्य श्रीपुरुषोत्तमाधीन अचित् तत्त्व के प्रतिपादन करने मात्र से ही निराकांक्षता हो जाती है। इसलिये उसके द्वारा माया में अज्ञानपरत्व नहीं हो सकता। माया शब्द की अज्ञान में शक्ति नहीं है। स्वाधिष्ठान में स्वभाव शून्यत्व रूप सत्यत्व जो आपने कहा, वह तो अत्यन्त तुच्छ है। "गौरनाद्यन्तवती" इस श्रुति के बल से तद्गत परतन्त्र सत्ता में अनादित्व एवं अनन्तत्व का अभ्युपगम दोष नहीं है। श्रुति, ब्रह्म सर्व विलक्षण है एतावन्मात्र उसका विवक्षित है, प्रपञ्च निषेध उसका उद्देश्य नहीं है। यह जो कहा था कि व्यवहार काल में बाधशून्यत्व इत्यादि, वह भी तुच्छ ही है, इसका तो अनादि अनन्तत्व विधायक श्रुति द्वारा ही खण्डन हो जाता है। दूसरी बात संस्कार सापेक्ष गरुड़ तथा भ्रमर आदि के ध्यान एवं ज्ञान से निवर्त्य विषकीटत्व आदि में सत्यत्व दर्शन से श्रवणादि जनित संस्कार सापेक्ष ज्ञाननिवर्त्य प्रपञ्चकी सत्यता ही होगी। तथा लोक में निवृत्ति एवं निवर्त्य में समान सत्ताकत्व नियम होने से अज्ञान की निवृत्ति की तरह अज्ञान भी तात्विक होगा। ज्ञानज्ञेय तथा दोष एवं अधिष्ठान में समान सत्ताकत्व नियम से ब्रह्म की तरह अज्ञान भी सत्य होगा। दूसरी बात अनादि भाव रूप अज्ञान की अन्यत्र कहीं निवृत्ति नहीं दीखने पर भी श्रुतिबल से जैसे मानी जाती है, वैसे प्रकृत में भी क्यों नहीं होगी एवं शङ्ख में श्वेतत्व की अनुमिति आदि से उसके श्वेतत्व विषयक अज्ञान अथवा उसके आरोपित पीतत्व की निवृत्ति की तरह आपके मत में बिम्ब प्रतिबिम्ब के ऐक्य के साक्षात्कार से ऐक्य का अज्ञान

एवं उसमें आरोपित भेद की निवृत्ति यदि होगी, तब श्वेतत्व की अनुमिति आदि से उसके अज्ञान की निवृत्ति होने पर अज्ञान के कार्य आरोपित पीतत्व आदि की अनुवृत्ति नहीं होगी। यदि कहें कि उसके सोपाधिक होने से उसमें उपाधि समान कालीन स्थायित्व का नियम होने से उक्त दोष नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उपादान की निवृत्ति (नष्ट) होने पर कार्य की अनुवृत्ति (सत्ता) नहीं होती। ज्ञान के अपने प्रागभाव निवर्तन की तरह अज्ञान की निवृत्ति में अन्य की अपेक्षा नहीं होती। और भी दोष है-चरम साक्षात्कार से जीवन्मुक्तिदशा में प्राप्त अज्ञान लेश, अथवा अज्ञान संस्कार अथवा प्रारब्ध कर्मादि की भी निवृत्ति क्यों नहीं होगी। इसलिये आपको भी अज्ञान अथवा आरोपित भेद के अज्ञान विरोधी होने पर ही ज्ञान से निवृत्ति एवं विरोध भी कार्यनिरूप्य ही है, ऐसा ही कहना पड़ेगा-यह तो मेरे लिये भी समान है। इसलिये ज्ञान निवर्त्यत्व में न सत्यत्व वा मिथ्यात्व नियामक है-अपितु ज्ञानविरोधित्व ही, ऐसा सिद्ध होता है-अब इस पर विस्तार करना निरर्थक है।

अब श्री पुरुषोत्तम का अनुग्रह ही जीवात्मा के बन्ध [1]निवृत्ति में कारण है-न केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि यह निर्णय करते हैं-"वस्तुस्तु भगवत् प्रसादादेव" इत्यादि। इस बात को श्रुति प्रमाण से दृढ़ करते हैं-"शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः (जिसे वेदान्त वाक्यों को सुनकर भी बहुत से लोग नहीं जान पाते)" "यमैवेष वृणुते तेन लभ्यः" (भगवान् अहैतुकी कृपा करके जिसे स्वीयत्वेन वरण कर लेते हैं, वही भगवान् को पा सकता है) "यस्य प्रसादात् परमार्तिरूपादस्मात् संसारान्मुच्यते नापरेण" (भगवान् की कृपा से ही इस दुःखालय संसार से जीव मुक्त हो सकता है- दूसरा कोई साधन नहीं है।) यह अन्वय व्यतिरेक श्रुति है। "मत्प्रसादात्तरिष्यसि" (मेरी कृपा से भवसागर को पार करोगे) ऐसा स्मृति वचन भी है। यदि कहें कि फिर तो ज्ञान व्यर्थ हो जायेगा और उसके व्यर्थ होने से उसके प्रतिपादक शास्त्र का व्याकोप होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, ज्ञान भगवत् प्रसाद में हेतु है। जैसा कि श्री प्रह्लाद जी महाराज का वचन है-"एवं ज्ञातः स भगवाननादिः पुरुषोत्तमः। प्रसीदत्यच्युते तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशसंक्षयः।" "तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यम्"इत्यादि। (इस प्रकार भगवत् स्वरूप जानने पर वह प्रसन्न होते हैं और उनके प्रसन्न होने पर संसार में क्या अलभ्य है) इसलिये ज्ञान बन्ध निवृत्ति में करण है और भगवत् प्रसाद अवान्तर व्यापार। इस प्रकार प्रसङ्ग वशात् यहां यह बात कही गई-इसे यहीं समाप्त किया जाता है।

श्रेष्ठ तर्कों द्वारा यह अन्यथा अनुपपत्ति रूप प्रमाण पराहत भी है, यह दिखाते हैं।[2] तर्क है-प्रपञ्चो यदि सत्यो न स्यात् तर्हि श्री पुरुषोत्तमस्य पर ब्रह्मणः परिपाल्यो न स्यात्

---

१. यहाँ एक बहुत अच्छी सिद्धान्त की बात श्री आचार्य चरण ने कही है जो केवल वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से ही बन्ध निवृत्ति नहीं हो सकती, बल्कि उसके लिए श्रीपुरुषोत्तम का अनुग्रह परमावश्यक है। इसे सप्रमाण आपने सिद्ध किया है।

२. जगत् सत्य है-असत्य नहीं, इस सम्बन्ध में श्रीआचार्य चरण द्वारा यहाँ दी गई श्रुतियाँ कितनी सटीक हैं, जरा पढ़िये, इस सूत्र की व्याख्या में। (सं)

(प्रपञ्च यदि सत्य नहीं होगा तो पुरुषोत्तम परब्रह्म का परिपाल्य नहीं होगा) जगत् पुरुषोत्तम का परिपाल्य है, यह बात श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों द्वारा उद्घोषित है, इसलिये जगत् सत्य ही है क्योंकि अध्यस्त में प्रवृत्ति, अधिष्ठान के साक्षात्कार न करने वाले पुरुष की ही देखी जाती है, उचित भी है, न कि शुक्ति को शुक्ति रूप में साक्षात् अनुभव करने वाले व्यक्ति की शुक्ति रूप्य के आदान में प्रवृत्ति होती है। स्वप्नावस्था के पुत्र आदि, गज तुरंग आदि के पालन के लिये जाग्रत् अवस्था में प्रवृत्ति पागल के सिवा अन्य किसी के नहीं देखी गई है और न यह युक्त है बल्कि ऐसा काम कोई पागल ही कर सकता है। उसी प्रकार सबके अधिष्ठान तत्व को सदा देखने वाले परमेश्वर की प्रपञ्च के मिथ्या होने पर कैसे उसके पालन में प्रवृत्ति होगी, ऐसा पण्डितम्मन्य वैदिकत्वाभिमानी व्यक्तियों को एकाग्र मन से विचार करना चाहिये। परमेश्वर में अज्ञत्व की कल्पना करने पर परमेश्वरत्व ही नहीं रहेगा। सर्वज्ञ होने पर मिथ्या वस्तु के परिपालन में प्रवृत्ति असंभव है। अन्यथा परमेश्वर में भ्रान्तत्व की प्रसक्ति हो जाने से उसके प्रतिपादक वेद की तिलाञ्जलि हो जायेगी। यदि कहें कि ऐन्द्रजालिक की तरह परमेश्वर द्वारा मिथ्या वस्तु का पालन होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते, यह विषम दृष्टान्त है। ऐन्द्रजालिक मन्त्र एवं औषधि के बल से अतीत अनागत तथा देशान्तर स्थित सत् पदार्थ को दिखाता है, न कि साक्षात् रूप में उसे वह देखता है, न पालन करता है। प्रकृत में "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" "नामरूपे व्याकरवाणि" "आकाशो हवै नामरूपयो निर्वहिता" (परमात्मा नामरूपात्मक जगत् को धारण करता है) "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" "एकं बीजं बहुधा यः करोति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा ईक्षण, बहुभवन संकल्प पूर्वक सृष्टि आदि कर्तृत्व बताया गया है। "स्वयमात्मानमकुरुत" "सच्च त्यच्चाभवत्" वही सत् चेतन तथा त्यत् अचेतन हुआ। अर्थात् ब्रह्म ही चेतनाचेतनात्मक नामरूपात्मक जगत् बन गया है। इस प्रकार स्वयं बहुत रूप से होने के कारण उपादानत्व भी सिद्ध होता है। इस प्रकार ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त विपरीत दृष्टान्त है। यदि कहें कि ऐन्द्रजालिक (स्वमाया से अमोहित) को विषय के अपरोक्षत्व के अभाव मानने पर यह देखो, यह आम का फल है-ऐसी प्रतिज्ञा करना तथा वैसे ही आम दिखा देना, यह सब अनुपपन्न होगा, अतः इसकी अन्यथा अनुपपत्ति से उसे विषय का अपरोक्ष अनुभव है, ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा, ऐसा नहीं कह सकते, इसकी अन्यथा उपपत्ति हो सकती है। जैसे वैद्य गुरु के उपदेश आदि द्वारा औषध का प्रभाव जानकर भविष्यत् रोग तथा उसके नाश आदि विषय में अपरोक्ष के अभाव होने पर (प्रत्यक्षाभाव) भी यह औषध इस रोग को तुरन्त नाश कर देता है-इसका प्रभाव देखिये-ऐसा कहता है और देता है-उसी प्रकार ऐन्द्रजालिक भी इस मन्त्र द्वारा ये भ्रमित होते हैं, इस प्रकार मन्त्र के प्रभाव जानकर-"इसे देखिये, ऐसा बोलते हैं और दिखाते भी हैं।" यदि कहें कि ऐन्द्रजालिक का भी अन्य ऐन्द्रजालिक द्वारा स्वसृष्ट पदार्थों का रक्षण दिखाई देता है-फिर तो उक्त विषमता नहीं होगी, ऐसा नहीं कह सकते। भ्रमजनक निज मन्त्र औषधादि गत सामर्थ्य का ही रक्षण होता है न कि विषय का। यदि कहें कि हमारे मत में (शांकरमत में तक) परमेश्वर की भी व्यावहारिक सत्ता होने से उनके

गुण, शक्ति सार्वज्ञ्य आदि के भी व्यावहारिक होने से पारमार्थिकत्व का अभाव है। जैसा कि भाष्यकार ने कहा है-"ईश्वरस्यात्मभूते इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते"। नामरूप (जगत्) तत्व और अन्यत्व से अनिवर्चनीय है और प्रपञ्च के बीजभूत है जो ईश्वर के आत्मभूत के सदृश है और अविद्या से कल्पित है। सर्वज्ञ ईश्वर की माया शक्ति प्रकृति है, ऐसा श्रुति एवं स्मृति में कहा गया है। उन दोनों से सर्वज्ञ ईश्वर भिन्न है। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता" (परमात्मा नामरूप (जगत) का धारण करने वाला है) "नामरूपः" "सर्वाणि रूपाणि" "एक बीजम्" इत्यादि श्रुतियों से। इस प्रकार आकाश की तरह अविद्याभूत नामरूपात्मक उपाधि का अनुरोधी ईश्वर होता है, जैसे घट करक आदि उपाधि अनुरोधी ईश्वर होता है। वह ईश्वर निज आत्मभूत घटाकाश स्थानीय, अविद्यात्मक उपाधि प्रत्युपस्थापित, नामरूप कृत कार्य कारण संघातानुरोधी जीवाख्य विज्ञानात्माओं को व्यवहार के विषय में शासन करता है। इस प्रकार अविद्यात्मक उपाधि स्वरूप परिच्छेद की अपेक्षा करके ही ईश्वर की ईश्वरता है। अर्थात् अविद्यावच्छिन्न चेतन ईश्वर है। उनका सर्वज्ञत्व एवं सर्वशक्तित्व भी अविद्यापेक्षिक ही है-पारमार्थिक नहीं है। अविद्या से आत्मामें ईशितृत्व, ईशितव्यत्व तथा सर्वज्ञत्वादि व्यवहार उपपन्न होता है, ऐसा कहें तो कहते है ऐसा नहीं कह सकते-क्योंकि यह सिद्धान्त अश्रौत होने से कल्पना मात्र है। हम पूछते हैं, परमेश्वर मिथ्या है इसमें क्या मान है। यदि कहें "आकाशो ह नामरूपयो" इत्यादि श्रुतियां ही प्रमाण हैं, तो इस पर कहते हैं कि उन श्रुतियों में मिथ्या या व्यावहारिक आदि का प्रतिपादक एक भी शब्द नहीं है बल्कि नामरूपादि हेतुत्व प्रतिपादन परक पद ही उपलभ्यमान है, इसलिये नामरूप को मिथ्या नहीं कह सकते "यस्य नाम महद् यशः" "अथ नाम धेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यम्" "तेषामेव सत्यम्" इत्यादि प्रमाणों द्वारा सत्यत्व का श्रवण है, नाही उसके ज्ञान शक्ति आदि में व्यावहारिकत्व कह सकते हैं,"पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" इस श्रुति के द्वारा स्पष्ट रूप में भगवान् में ज्ञान-बल आदि की स्वाभाविक रूप में विद्यमानता का श्रवण है (स्वाभाविक धर्म का कभी नाश नहीं होता-जैसे जल गत शैत्य का) यदि कहें कि ये श्रुतियां व्यावहारिक सत्ता परक हैं, क्योंकि व्यावहारिक सत्त्व का तात्पर्य ही ज्ञानबाध्यत्व, भेद वाक्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा बुद्धिगम्य भेद विषयक होने से अनुवाद परक स्वीकार किया गया है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह उक्ति आपात रमणीय है जैसा कि "जीवब्रह्म भेदे प्रत्यक्षादीनामप्रसरात्" (जीव-ब्रह्म में भेद में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अवसर नहीं है) इस विवरणाचार्य के वचन से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के नहीं होने से भेद वाक्यों का स्वार्थ में ही प्रामाण्य है, अन्यथा स्वरूप का भी बाध मानना पड़ेगा क्योंकि वहां भी स्वाभाविकत्व की समानता है और घटोऽस्ति (घट है) इस प्रत्यक्ष प्रमाण से निर्विशेष अधिष्ठान वस्तु के गम्यमान होने के कारण अभेद वाक्यों में ही अभेद के अनुवाद परत्व होने

१. इससे जगत् की सत्यता सिद्ध होती है-मिथ्या होने पर प्रत्यापयामि कहा जाता है। (सं)

से स्वार्थ में अप्रामाण्य होगा, क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत वस्तु का ही ज्ञानजनकत्व है। इस प्रकार आप के मत में ही सिद्धान्त विरोध है–अन्यथा विवरणाचार्य का वचन भङ्ग होगा। दूसरी बात—"ईश्वरस्य आत्मभूते इव" इस वाक्य का क्या अर्थ विवक्षित है–स्वरूपसे अत्यन्त अभिन्नत्व अथवा शुक्ति रजत की तरह असत् का प्रतीयमान किं वा स्वरूप से अपृथक् सिद्धत्व मात्र? पहला पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि वह श्रुति प्रमित है। अन्यथा "नामैव ब्रह्म रूपमेव ब्रह्म" इस प्रकार की प्रतीति की आपत्ति होगी–दूसरा भी नहीं कह सकते–प्रतीयमानता में कोई प्रमाण नहीं है–बल्कि "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्" (नामधेय (जगत्) सत्य का भी सत्य है, इस श्रुति से उसे सत्य माना है तथा "व्याकरवाणि" श्रुति से जगत् का व्यक्तीकरण कहा गया है। अन्यथा "प्रत्यापयामि" ऐसा कहा जाता है, चरम पक्ष कहें तो इसमें मेरी इष्टापत्ति है। जगत् के ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्म स्वरूप से अपृथक् सिद्धित्व हमारे सिद्धान्त में स्वीकार किया गया है। क्योंकि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ऐसी श्रुति है अनिवर्चनीयत्व वाला पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि इसका खण्डन अनिवर्चनीय ख्यातिवाद के खण्डन के प्रसंग में पूर्वाचार्यों ने विस्तार से किया है[1]– इसलिये जगत् सत् ही है।

दूसरी बात ईश्वर को अतात्विक (व्यावहारिक) मानने पर निरीश्वर साङ्ख्यवादी अवैदिकों से आपके सिद्धान्त में परवञ्चना के बिना क्या विशेषता है? सम्पूर्ण वेद सार्वज्ञ्य, सर्वशक्तिमत्त्व आदि अनन्त गुण–गण निलय ब्रह्म परक हैं। इसलिये आपके मायावाद एवं निर्विशेषब्रह्मवाद सिद्धान्त में आपके केवल निजी तर्क प्रमाण के अलावा कोई प्रमाण नहीं है, अब इस कुतर्क के खण्डन में प्रयास व्यर्थ है।

दूसरी बात यदि प्रपञ्च मिथ्यावाद श्रौत होता तो वेद में शुक्ति एवं रजत के भी दृष्टान्त दिये जाते। यदि अनिर्वचनीय वाद श्रुति सम्मत होता तो इस आशय का सूत्र व्यासजी बनाये होते, ऐसा नहीं देखा जाता, इस लिये कार्य सत् ही है, इत्यादि तर्क यहां अनुसंधेय हैं। यदि कहें कि ब्रह्मज्ञान से इतर से अबाध्यत्व एवं असद्भिन्नत्व होकर जो चिद् से अन्य है, वह मिथ्या है। दृश्यत्वात् जड़त्वात् परिच्छिन्नत्वाच्च–दृश्य होने जड़ होने एवं परिच्छिन्न होने के कारण शुक्ति रूप्य की तरह यह अनुमान यहां प्रमाण है तो ऐसा नहीं कह सकते, यह अनुमान पक्ष, साध्य, हेतु तथा दृष्टान्त के असंभव होने से आभास मात्र है– जैसे चित् से अन्य पक्ष प्रमित है या नहीं, पहला पक्ष कह नहीं सकते, क्योंकि प्रमित का निषेध नहीं हो सकता। यदि कहें कि प्रपञ्च के प्रत्यक्ष गोचर होने पर भी सत्व के अनधिकरणत्व आदि होने से मिथ्यात्व कह सकते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में निर्धर्मक शुद्ध ब्रह्म में सत्वानधिकरणत्व स्वीकार किये जाने से वहाँ अतिव्याप्ति होगी, शुद्ध ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि सत्त्व का अनधिकरण है। आपके अभिमत प्रपञ्च की तरह। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते–शशश्रृङ्गं, तीक्ष्णाग्रं, श्रृङ्गत्वात् (खरगोश की सींग तीखी होती है, क्योंकि वह सींग

१. परपक्ष गिरिव्रज में अनिवर्चनीय ख्यातिवाद का घोर खण्डन है। (सं)

है-हरिण की सींग की तरह, ख पुष्पं गन्धवत् पुष्पत्वात् (आकाश का फूल सुगन्ध युक्त है, क्योंकि वह पुष्प है-इन प्रयोगों की तरह यहाँ आश्रयासिद्ध है। इसका साध्य भी निरूपणीय नहीं हो सकता, साध्य यहाँ मिथ्यात्व है, वह सत्य है या तुच्छ? मिथ्यात्व सत्य होने पर अद्वैत भङ्ग द्वितीय पक्ष-मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर प्रपञ्च में सत्यत्वापत्ति - घटाभावाभाव जैसे घट रूप होता है - जगन्मिथ्यात्व का मिथ्यात्व सद्‌रूप होता है- सिद्धसाधनतापत्ति होगी-जैसे किसी लौकिक ने कहा- देवदत्त मर गया-तदनन्तर किसी आप्त पुरुष ने निर्णय करके कहा-नहीं मरा है-इस प्रकार आप्त वाक्य से देवदत्त के मरण का मृषात्व सिद्ध होने पर उसका जीवन सिद्ध होता है-उसी प्रकार मिथ्यात्व के अबाध्य होने पर अद्वैत हानि-बाध्य होने पर जगत् की सत्यता इस प्रकार उभयतः पाशा-रज्जू वाली बात होती है। फिर पूछते हैं- मिथ्यात्व क्या है? यदि कहें कि सत् असत्वानधिरकणत्व मिथ्यात्व है और वह सत्वविशिष्ट असत्वाभावरूप है तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सन्मात्र स्वभाव जगत् में विशिष्टाभाव इष्ट है। यदि कहें कि सत्वात्यन्ताभाव एवं असत्वात्यन्ताभाव दोनों रूप मिथ्यात्व है-ऐसा भी नहीं हो सकता, सत्त्व असत्व में अन्यतर के अभाव होने पर अपर का सत्व आवश्यक होने से व्याघात होगा निर्धर्मक ब्रह्म की तरह। सत्व के राहित्य होने पर भी सद्‌रूपत्व की उपपत्ति से मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी। इसी से सत्वात्यन्ता भावविशिष्ट असत्वात्यन्ताभाव रूप विशिष्ट मिथ्यात्व है-ऐसा मत भी खण्डित हो जाता है-दोष की समानता होने से। यदि कहें कि सत्वरूप में अप्रतीयमान असत्व है, तीनों कालों में आबध्यत्व सत्यत्व है और उन दोषों का अभाव (मिथ्यात्व) साध्य है तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि किञ्चित् धर्मिनिष्ठ सत्वेन अप्रतीयमानत्व रूप असत्व लक्षण ब्रह्म में अतिव्याप्त हो जायेगा। इष्टापत्ति में दोष कहते हैं - उसमें भी उक्त असत्व अङ्गीकार करने पर चिद्‌भिन्न और अचिद्‌भिन्न यह विशेषण व्यर्थ हो जायेगा। शब्द में आभास से तुच्छ वस्तु की भी किसी उपाधि में सत्व होने से ज्ञान संभव है। उक्त असत्वाभाव शून्यवादी के प्रपञ्च में स्वीकार किया गया है- इसलिये लाघवात् सत्व असत्व में परस्पर अभाव ही उचित है। यदि कहें कि एक सर्वानुगत ब्रह्म की सत्ता से ही सर्वत्र सत् ज्ञान की उपपत्ति संभव है-प्रत्येक में सद्‌रूपता की कल्पना अयुक्त है, अन्यथा अनुगत व्यवहार की अनुपपत्ति होगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते- सत्ता का त्रैविध्य आप भी स्वीकार करते है-लाघव के लिये "यदासीत्तदधीनमासीत्" इस श्रुति में प्रामाणिक परतन्त्र सत्ता से भी अनुगत बुद्धि का दर्शन होता है। इसी से सत् प्रतियोगिक एवं असत् प्रतियोगिक भेदद्वय साध्य है-ऐसा मत भी निरस्त हो जाता है-निर्धर्मक ब्रह्म में अतिव्याप्ति भी होगी। यदि कहें सद्‌रूप ब्रह्म तत् तत् अभाव का अधिकरण है- तो ऐसा नहीं कह सकते- ऐसा तो प्रपञ्च में भी समान है। यदि कहें कि ब्रह्म के निर्धर्मक होने से सत्त्व असत्व की तरह उसका अधिकरणत्व भी नहीं है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। निर्धमकत्व हेतु में सत्व असत्व से व्याघात होगा। सत्व असत्व आदि के अनधिकरणत्व के निषेध होने पर सदसत्त्वाधिकरणत्व की आपत्ति होगी- इस प्रकार यहां साध्य असंभव है। इसी प्रकार यहां हेतुओं में भी आभासत्व है। हेतु में दृश्यत्व क्या

है–क्या वृत्ति व्याप्यत्व अथ फलव्याप्यत्व अथवा उभयव्याप्यत्व? पहला पक्ष कह नहीं सकते क्योंकि ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी'– क्योंकि ब्रह्म भी वेदान्तजन्य वृत्ति विषय होता है। अन्यथा वेदान्त व्यर्थ हो जायेगा। यदि कहें "यत्तदद्रेश्यम्" (वह ब्रह्म अदृश्य है) इस श्रुति द्वारा शुद्ध ब्रह्म दृश्य नहीं होता किन्तु मायोपहित ब्रह्म और उसका मिथ्यात्व इष्ट है, वृत्ति दशा में वह अनुपहित नहीं होता तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उपहित के भान होने पर उपधेय का भान आवश्यक होता है, प्रसिद्धार्थ में यत्–तत् शब्द का योग भी नहीं है, विशिष्ट के भान में विशेष्य भान आवश्यक होता है, दण्डी (दण्ड विशिष्ट पुरुष) इस ज्ञान में पुरुष की विषयता नहीं है–ऐसा नहीं कह सकते। यदि कहें कि विशेष्यतापन्न मिथ्या ही है तो ऐसा भी नहीं कह सकते। अधिष्ठान अधिक सत्ताक होता है, ऐसा नियम है – विशेष्यतापन्न को मिथ्या मानने पर अधिष्ठान संभव नहीं है। सर्वथा ज्ञान का अविषय विशेष्यतापन्न अधिष्ठान नहीं होता। इस प्रकार तो जगत् में भी विशेष्यतापन्न रूप से मिथ्यात्व और स्वरूपतः सत्यत्व ऐसी आपत्ति हो जायेगी फिर तो अद्वैत की हानि होगी। दूसरी बात यदि शुद्ध ब्रह्म ज्ञान का अविषय होगा तो मोक्ष के अभाव का प्रसङ्ग हो जायेगा और उपहित के ज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होने से अपसिद्धान्तापत्ति होगी और व्यावहारिक घट आदि के अधिष्ठान सत्य स्वरूप शुद्ध ब्रह्म में ही घटादि गोचर चाक्षुष ज्ञान विषयता होने से अधिष्ठान को बिना विषय किये वृत्ति अध्यस्त को विषय नहीं करती–"मनसैवानुद्रष्टव्यम्" (मन से ही देखना चाहिये) "दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या" (पवित्र बुद्धि के द्वारा ही ब्रह्म का दर्शन होता है) ऐसी श्रुति है। यदि कहें कि यह श्रुति उपहित ब्रह्म विषयक ही है तो यह ठीक नहीं– आपके मतानुयायी भाष्य का विरोध होगा। जैसा कि "तदव्यक्तमाह हि" इस सूत्र के भाष्य में अव्यक्त पर ब्रह्म को इन्द्रिय से अग्राह्य बताकर "अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस सूत्र के भाष्य में "अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति" (अर्थात् उस परमात्मा को आराधनाकाल में दर्शन करते हैं) इत्यादि ग्रन्थ से परमात्मा को ही दर्शन क्रिया का कर्मत्व स्वीकार करने से उपहित ब्रह्म ही वृत्ति विषय होता है शुद्ध नहीं, इसका बाध हो जाता है तथा उदाहृत श्रुतियों एवं स्मृतियों "ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमानः" (तदनन्तर उस निष्कल ब्रह्म का ध्यान करने पर दर्शन करता है।) "ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्" इत्यादि वचनों का भी बाध होगा। दूसरी बात यदि उक्त श्रुति आदि को शुद्ध ब्रह्म विषयक नहीं माने, तब शुद्ध का ज्ञानाभाव तदवस्थित रहने पर उसके आच्छादक मूलाविद्या की निवृत्ति न होने से मोक्ष का अभाव होगा। माया सबल ब्रह्म का ज्ञान मोक्ष का असाधक माना गया है। "परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इस श्रुति द्वारा परात्पर परमात्मा ब्रह्म को दर्शन क्रिया का कर्म बताया गया है। उसका बाध नहीं किया जा सकता। फलव्याप्यत्वरूप दृश्यत्व नहीं कह सकते क्योंकि अतीन्द्रिय अपञ्चीकृत भूतों एवं वेदैकवेद्य धर्म आदि में तथा आपके मत में साक्षीमात्र वेद्य सुख आदि में उसका अभाव होने से अव्याप्ति का प्रसङ्ग होगा, तब उनमें सत्यत्व की आपत्ति होगी–अनुमान का प्रयोग होगा–सुखादयः धर्मादयश्च सत्याः फलव्याप्यत्वरहितत्वात् ब्रह्मवत् उभयव्याप्यत्व रूप दृश्यत्व भी नहीं कह

सकते, सामान्य से अतिरिक्त कोई विशेष नहीं होता, इस लिये वृत्ति व्याप्यत्व का अभ्युपगम होने से उस में ब्रह्म के दृश्यत्व सिद्ध हो जाने के कारण ब्रह्म में अतिव्याप्ति का दुर्वार है-इस प्रकार दृश्यत्व हेतु का संक्षेप से खण्डन हुआ। जड़त्व हेतु भी नहीं हो सकता, क्योंकि जड़त्व क्या है अज्ञानत्व, अज्ञानत्व नहीं हो सकता-वृत्तिज्ञान में भागासिद्धि होगी और आत्मा में व्यभिचार भी होगा जैसे आत्मरूप ज्ञान सविषय है या नहीं, आद्य पक्ष में स्वविषय है या परविषय - पहला पक्ष नहीं कह सकते-वह आपको स्वीकार नहीं है-दूसरा भी नहीं कह सकते, मोक्ष में पर का अभाव है, आपके मत में वर्तमान ही विषय होता है यदि कहें कि अर्थ से उपलक्षित प्रकाश ही ज्ञान है और उसका मोक्ष में भी अपाय नहीं होता तो ऐसा नहीं कह सकते-यदा कदाचित् विषय सम्बन्ध से मोक्ष में ज्ञानत्व की तरह यदा कदाचित् दुःख आदि के सम्बन्ध से उसमें दुःखित्व आदि की भी आपत्ति होगी। अभाव आदि में सप्रतियोगित्व आदि की तरह ज्ञान का सविषयत्व भी स्वाभाविक है। और धर्मि समसत्ताक होता है। यदि कहें कि ज्ञान में सविषयत्व विषय के साथ उसका आध्यासिक सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक नहीं है। इस हेतु के अधीन होने वाली मिथ्यात्व सिद्धि से पहले आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होगी तो ऐसा नहीं कह सकते। अज्ञान इच्छा आदि की तरह ज्ञान में भी विषयता का स्वाभाविकत्व है। भोक्ता एवं भोग्य के बिना भुंजिक्रिया की तरह ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान भी असंभव है। अनादि विषय में ज्ञान, ज्ञातृ, ज्ञेय की अपेक्षा नहीं होती, ऐसा नहीं कह सकते। अनादि प्रागभाव में प्रतियोगी की अपेक्षा जाति आदि में व्यक्ति की अपेक्षा तथा अज्ञान में विषयाश्रय की अपेक्षा देखी जाती है। ज्ञान में ज्ञानत्व है-ज्ञेय का उल्लेखित्व। वह अतीत अनागत आदि ज्ञान में भी आवश्यक है, वह आपके मत में अनिष्ट है। ज्ञेय का उल्लेख आपके मत में संसार है। मोक्ष में उसका उल्लेख होने पर मोक्ष में विप्लव का प्रसङ्ग हो जायेगा। ज्ञान निर्विषय भी नहीं हो सकता तब उसमें ज्ञानत्व की हानि होगी। अर्थ प्रकाशकत्व रूप ज्ञान के स्वभाव का अभाव होने पर घटादि में भी ज्ञानत्व की आपत्ति होगी। ज्ञाता के अर्थ प्रकाश में ज्ञानत्व है, इस विवरण कार की उक्ति का बाध होगा। दूसरी बात आत्मरूप ज्ञान प्रमा है या भ्रम-प्रमा नहीं कह सकते क्योंकि उसके द्वारा वेद्य अविद्या आदि में सत्यत्व की आपत्ति होगी। भ्रम भी नहीं कह सकते। भ्रम में दोषजन्यत्व का नियम होने से अनात्मा में दोषजन्यत्व का अभाव है। प्रमा एवं भ्रम दोनों से भिन्न मानने पर ज्ञान ही नहीं हो सकता। यदि कहें कि तार्किक सम्मत ईश्वर के ज्ञान की तरह तथा घटादि की निर्विकल्पक ज्ञान की भाँति उभय वैलक्षण्य होने पर भी ज्ञानत्व की उपपत्ति होगी। ईश्वरीय ज्ञान को प्रमा मानने पर गुणजन्यत्व एवं भ्रम मानने पर दोषजन्यत्व की आपत्ति होगी। निर्विकल्पक ज्ञान में तद्वत् में तत्प्रकारकत्व का अभाव है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अबाधित अर्थ युक्तत्व रूप यथार्थ किं वा प्रमात्व ईश्वरीय ज्ञान में विद्यमान है तथा विशेष रूप से अवृत्ति अप्रकारत्व रूप प्रामाण्य ईश्वर ज्ञान एवं निर्विकल्पक ज्ञान में अक्षत है। दूसरी बात प्रमा सामान्य में गुणजन्यत्व का नियम नहीं किन्तु प्रमाविशेष में ही

वह कारण होता है। प्रमा मात्र में "नानुमतो गुणः" (गुण कारण नहीं है) ऐसा चिन्तामणिकार[१] (गङ्गेश ने) कहा है किन्तु दोषाजन्यत्व ही उस (प्रमा) का नियामक है। इसी प्रकार ज्ञानपदजन्य प्रतीति विशेष्य भिन्नत्व भी जड़त्व नहीं है- वृत्यात्मक अज्ञान में भागासिद्धि होगी। लाक्षणिक ज्ञान पदजन्य ज्ञान विशेष्यत्व का देह इन्द्रिय आदि में सद्भाव होने से उसमें जड़त्व की सिद्धि नहीं होगी। अनात्मत्व भी जड़त्व नही कह सकते, तब आत्मत्व जाति नहीं हो सकती, वह एक है-विशिष्ट में भेद मानने पर भी पक्ष कोटि में प्रविष्ट होने के कारण प्रतियोगी के असिद्ध होने पर उसके अभाव की सिद्धि नहीं होगी। आनन्दभिन्नत्व भी जड़त्व नहीं है वैषयिक आनन्द में भागासिद्धि दोष होगा। यदि कहें कि वह भी ब्रह्मानन्द ही है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्षीर-नीर पानजन्य आनन्द में तारतम्य दर्शन से उसमें ब्रह्मत्व संभव नहीं है। दुःखनिष्ठ उत्कर्ष एवं अपकर्ष का आनन्द में उपचार है, ऐसा भी नहीं कह सकते। दुःख के लेश मात्र की भी प्रतीति न होने पर भी आनन्द में तारतम्य की प्रतीति होती है। यदि कहे कि अज्ञातृत्व जड़त्व है वह भी नहीं कह सकते, आापके मत में अन्तःकरण में ज्ञातृत्व होने से वहां जड़त्व की अव्याप्ति होगी। और शुद्ध ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, शुद्ध ब्रह्म, मिथ्या है, अज्ञातृत्व के कारण आकाश आदि के समान इस प्रकार आभास की समानता है। यदि कहें कि कल्पित ज्ञातृत्व शुद्ध में भी स्वीकार करते हैं तो ऐसा नहीं कह सकते, कल्पित हेतु से अति व्याप्ति का उद्धार नहीं होगा और शुद्धत्व का भङ्ग होगा तथा शुद्ध अशुद्ध विभाग की भी असिद्धि होगी। इसी तरह परिच्छिन्नत्व भी हेतु नहीं हो सकता, इसमें भी दोष की समानता है-जैसे परिच्छिन्नत्व है, देशकाल तथा वस्तु निरूपित परिच्छेदवत्त्व। इसमें अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व है देशपरिच्छिन्नत्व, ध्वंसाभाव प्रतियोगित्व है-काल परिच्छिन्नत्व तथा अन्योऽन्याभाव प्रतियोगित्व है वस्तु परिच्छिन्नत्व। इनमें पहला तथा दूसरा नहीं कह सकते क्योंकि आकाश रूप देश तथा काल के अपरिच्छिन्न होने से वहां अव्याप्ति होगी। "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "अथ मर्त्योऽमृतो भवति सर्वमात्मैवाभूत्" "अथ सम्पत्स्य" इत्यादि श्रुतियों द्वारा सदा सर्वत्र कार्य दर्शानात् (सदा सब स्थानों में कार्य दर्शन होने से इत्यादि युक्ति द्वारा तथा धर्मिग्राह्य साक्षि से भी उस प्रकार का अवगम होता है। यदि कहें कि "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है) इस श्रुति द्वारा आकाश में कालपरिच्छिन्नत्व का श्रवण होने से उक्त कथन का विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि भूताकाश की उत्पत्ति तथा विनाश संभव होने पर भी अव्याकृत आकाश का काल परिच्छेद नहीं है, पूर्तिके बिना अवकाश का नाश संभव नहीं है। इसी ग्रन्थ से विमत मिथ्या है, क्योंकि विभक्त है। सन् घटः सन् पटः इस प्रकार परस्पर अननुगत घटादि अनुगत सत रूप में विभक्त होता है, यह मान्यता भी निरस्त हो जाती है। नीलो घटो नीलः पटः घटश्चलति पटश्चलति। असत् नृश्रृङ्गम्, असत् खपुष्पम् इत्यादि स्थानों में नील

---

१. यह नव्यन्याय के आदि आचार्य मिथिला निवासी प्रामाण्यवाद के प्रकाण्ड पण्डित थे आचार्यपाद श्री वे०का० भ० नव्यन्याय के धुरंधर आचार्य थे, जो उनकी इस सूत्र की व्याख्या से सूचक होता है। (सं)

आदि में घट आदि का असत् में नृशिङ्ग आदि के अध्यास की आपत्ति होगी। अयं सर्पः अयं सर्पः (यह सर्प है, यह सर्प है, ऐसा रज्जू की माला आदि में अननुगतों में अनुगत सर्प के आरोप की तरह अननुगत घट आदि में अनुगत सद्रूप के आरोप की आपत्ति होगी। खण्डो गौः मुण्डो गौः (खण्ड गौ मुण्ड गौ) इत्यादि अनुगत गोत्व आदि में व्यक्ति के आरोप की भी आपत्ति होगी। यदि कहें कि सद्रूप ब्रह्म से भिन्न गोत्व आदि का स्वीकार न होने से उक्त दोष नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते-क्योंकि गौभिन्न आदि से व्यावृत्त गौ आदि से विलक्षण व्यवहार की अनुपपत्ति होगी। क्योंकि सद्रूपता सर्वानुगत होने से उसकी व्यावृत्ति संभव नहीं। यदि कहें कि तत्-तत् व्यक्ति विशिष्ट सद्रूप सामान्य ही तत्-तत् व्यवहार का जनक है तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि मिथ्याभूत तद् व्यक्ति विशिष्ट का अधिष्ठान न होने से उसमें व्यक्ति का अध्यास नहीं होगा क्योंकि उस सामान्य एवं व्यक्ति में आध्यासिक सम्बन्ध के अतिरिक्त सम्बन्ध आप नहीं मानते। इसी से घट आदि सद्रूप में कल्पित है क्योंकि प्रत्येक घट उससे अनुविद्ध रूप में प्रतीयमान होता है, प्रत्येक चन्द्रानुविद्ध जलतरङ्ग में प्रतिबिम्बित चन्द्र की तरह यह कथन भी निरस्त हो जाता है। रूप आदि से रहित ब्रह्म के चाक्षुष प्रत्यक्ष न होने से चक्षु आदि से गृहीत दृश्य पदार्थ में मिथ्या होने से घट आदि का अधिष्ठान नहीं होता और ब्रह्म में सर्वेन्द्रिय ग्राह्य होने पर घट आदि की तरह उसमें मिथ्यात्व अवश्य हो जायेगा क्योंकि अनुमान होगा- अधिष्ठान रूप निर्विशेष वस्तु मिथ्या है- इन्द्रिय गोचर होने से आप के मत में घट आदि की तरह। दूसरी बात ब्रह्म के इन्द्रिय ग्राह्य मानने पर "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों में अनुवादकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि अनुमान होगा-महावाक्यों का उपदेश स्वार्थपरक नहीं है बल्कि इन्द्रिय गृहीत ज्ञान का ग्राहक होने से - वह अनुवाद रूप है-जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (अग्नि हिम का, शीत का, औषध है) इस वाक्य की तरह इसी से द्रव्य के ज्ञान में रूप आदि की अपेक्षा होती है, ब्रह्म तो द्रव्य नहीं है, उसमें रूप की अपेक्षा नहीं होगी, उक्त दोष का अवकाश नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म में "अस्थूलमनणु" इस श्रुति से परिमाण का निषेध है-यह कथन भी निरस्त हो जाता है, क्योंकि उक्त श्रुति प्राकृत परिमाण का निषेधक होने से निराकांक्ष है। अन्यथा "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इस श्रुति का व्याकोप होगा। तीसरा अन्योऽन्याभाव प्रतियोगित्व रूप वस्तुपरिच्छेद रूप हेतु भी नहीं हो सकता- अनृत आदि में अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव की सत्ता है। वहां अतिव्याप्ति होगी-अनुमान होगा-ब्रह्म मिथ्या है क्योंकि उसमें अनृत आदि वृत्ति अन्योऽन्याभाव प्रतियोगित्व है आपके मत में घट आदि की तरह। यदि कहें कि अनृत आदि में- ब्रह्म के अत्यन्ताभाव एवं अन्योऽन्याभाव मिथ्या है और उसमें ब्रह्म संसर्ग का अभेद है इसलिए उक्त दोष नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा मानने पर मिथ्यात्वाभिन्नत्व एवं

टिप्पणी :- इस सूत्र की विशाल व्याख्या में मिथ्यावादी मायावादियों ने दृश्यत्व आदि हेतुओं को प्रौढ़ तार्किक शैली में जो जोरदार खण्डन किया, वह बड़े-बड़े बुद्धिवादियों को भी चमत्कृत करने वाला है, पर हमें समझने के लिए कल्पन्याय का परिज्ञान परमावश्यक है। (सं)

संसर्ग में तात्विकत्व की आपत्ति होने से उसके भय से पारमार्थिक अभाव को ही विना इच्छा से ही आपको मानना पड़ेगा। संदेह युक्त अनैकान्त्य दुर्वार है और अप्रयोजक भी है और तात्विक ब्रह्म भिन्नत्व का प्रपञ्च में भी अभाव होने से ब्रह्म में अनृत की व्यावृत्ति तात्विक है उसके द्वारा उसका वह रूप अनुमान कर सकते है क्योंकि कल्पित वस्तु की आत्मा में सत्ता है? इस प्रकार दृश्यत्व आदि हेतुओं का आभासत्व सिद्ध होता है सोपाधिक होने से। उपाधियाँ सप्रकारकधी बाधार्हत्व, अध्यस्त से अधिक दोष प्रयुक्त भानत्व तथा प्रतिमासमात्र शरीरत्व इत्यादि होती है। देह के साथ आत्मा के ऐक्याध्यास का भी सप्रकारक भेद विषयक ज्ञान बाधयोग्यत्व होने से उसमें साध्य की अव्याप्ति नहीं है। यदि कहें कि सप्रकारक तथा अध्यस्ताधिक यह विशेषण व्यर्थ है क्योंकि उनके बिना ही उपाधि में साध्य व्यापकत्व है तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण विशिष्टाभाव के अतिरिक्त होने से तद्विशिष्ट में ही साध्य व्यापकता होने से वैयर्थ्य का अभाव है–तावन्मात्र में तो साधन का व्यापक होने से उपाधि तत्व नहीं है–इस प्रकार संक्षेप करते हैं।

अब मिथ्यात्व साधक अनुमान के साध्य एवं हेतु का खण्डन करके शुक्ति रूप्य के दृष्टान्त का खण्डन करते हैं–किञ्चास्य प्रयोगस्य – अर्थात् इस प्रयोग का दृष्टान्त भी दुर्निरूप्य है–कारण शुक्ति आदि के पक्ष के अन्तर्गत होने से उक्त प्रयोग आभास मात्र है। यदि कहें कि शुक्ति आदि का दृष्टान्त न हो, व्यतिरेकि दृष्टान्त ब्रह्म के होने से उक्त दोष का अवकाश नहीं है तो यह भी नहीं कह सकते। यहां विकल्प उपस्थित करने पर उसका उत्तर नहीं हो सकता, जैसे दृष्टान्त शुद्ध ब्रह्म है या विशिष्ट। प्रथम पक्ष नहीं कह सकते–सकल प्रमाण के अगोचर ब्रह्म शशश्रृङ्ग के समान दृष्टान्त का अयोग्य है। प्रमाण विषय होने पर शुद्धत्व की हानि तथा अद्धैत भङ्ग होता है। विशिष्ट भी नहीं कह सकते। विशिष्ट तो पक्ष के अन्तर्गत है और आपके मत में व्यतिरेक अनुमान स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार पक्ष आदि आभास होने से आपका मिथ्यात्व साधक अनुमान आपात रमणीय है–दोषयुक्त है, यह सिद्ध होता है और बात–विश्व यदि कल्पित होगा तो अधिष्ठान युक्त होगा और अधिष्ठान वही होता है तो सामान्य रूप से ज्ञात होकर विशेष रूप से अज्ञात होता है अर्थात् जिसका सामान्य धर्मज्ञात हो और विशेष धर्म ज्ञात न हो–वही अधिष्ठान होता है–आपके मत में ब्रह्म निःसामान्य एवं निर्विशेष है–अर्थात् उसमें न कोई सामान्य धर्म है, न कोई विशेष। दूसरी बात विश्व यदि कल्पित होता तो सप्रधान होता है, ऐसा नहीं है इसलिये कल्पित नहीं है और भी– विश्व यदि अध्यस्त होता तो संस्कार सहित होता– ऐसा नहीं होने से अध्यस्त भी नहीं है। यदि कहें स्व द्वारा अध्यस्त निज आरोप का हेतु है तो यह ठीक नहीं। भ्रम से पूर्व कार्य से अनुमेय संस्कार के अध्यास का कारण स्वयं नहीं हो सकता, असंभव है, अन्यथा भ्रम के हेतु संस्कार का अधिष्ठान समसत्ताकत्व अनिवार्य हो जायेगा। यदि कहें कि संस्कार अज्ञात एवं व्यावहारिक जो स्व द्वारा ही आरोपित है, वह निज अध्यास का हेतु है ही तो ऐसा भी नहीं कह सकते। अज्ञात के अध्यस्त होने में प्रमाण का अभाव होने से परमार्थिकत्व का प्रसङ्ग हो जायेगा, दूसरी बात यदि विश्व अध्यस्त होता तो सादृश्य से युक्त होता–ऐसा नहीं है–इसलिये विश्व अध्यस्त नहीं है। यदि कहें कि पीतः शङ्खः यहां सादृश्य के बिना भी भ्रम

देखा जाता है तो ऐसा भी नहीं कह सकते, द्रव्यत्व आदि धर्म पुरस्कारेण वहां भी सादृश्य ज्ञान का अनुमान होगा। स्वर्णमय शंङ्ख की मूर्ति में यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है और बात - विश्व यदि अध्यस्त होता तो यह अनादि कर्म जन्य नहीं होता, क्योंकि अध्यास का अनादित्व कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, बल्कि शुक्ति रूप्य आदि में उसका सादित्व देखा गया है-इसलिये अध्सस्तत्व नहीं है इत्यादि अनेक प्रतिकूल तर्कों द्वारा मिथ्यात्व साधक यह अनुमान खण्डित हो जाने से कथमपि प्रमाण नहीं हो सकता-अब इस पर विस्तार करना व्यर्थ है। इसलिये अप्रमाण होने तथा सूत्रकार द्वारा अनुमत न होने से यह अनिवर्चनीय वाद या मिथ्यावाद मुमुक्षुओं के लिये उपेक्षणीय है। असद्‌वाद का आगे निरास करेंगे। इसलिये यह विश्व सत् ही है-इसमें प्रमाण "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" यह श्रुति है। तथा "सत्त्वाच्चावरस्य" यह वक्ष्यमाण सूत्र भी सद्‌वाद का समर्थक है। वह जगत् कारणात्मक होने से ब्रह्म रूप कारण से अपृथक् सिद्ध है-यही बात कहते हैं भगवान सूत्रकार-"तदनन्यत्वमारम्भणेति" अर्थात् कार्य जगत् ब्रह्म से सर्वथा अनन्य है, अभिन्न है। अथवा कारण ब्रह्म से जगत् में अनन्यत्व है-चूंकि जगत् तदात्मक है-तदात्मक होने से ब्रह्म से अपृथक्‌सिद्धत्व ही कार्य जगत् में अनन्यत्व है। इसमें प्रमाण कहते हैं-"आरम्भण शब्दादिभ्यः" आरम्भण शब्द आदिर्येषाम्" "विकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" - "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत् ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते तानि आरम्भण शब्दादीनि तेभ्य वाक्येभ्यः प्रमाणेभ्यः" अर्थात् उपर्युक्त श्रुति वाक्यों द्वारा जगत् में ब्रह्मानन्यत्व सिद्ध होता है और अनन्यत्व कथन से ही जगत् की सत्ता भी सिद्ध होती है-यदि जगत् मिथ्या होता या खपुष्प की तरह अलीक होता-तब जगत ब्रह्म से अभिन्न है यह कथन ही असंगत होता- जब जगत् नामक कोई वस्तु ही सत् नहीं है, तब उसे ब्रह्म से अभिन्न कहना नहीं बनता। यहां छान्दोग्य श्रुति कहती है-"येनाश्रुतं श्रुतं भवति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा एक उपादान कारण ब्रह्म के ज्ञान से समस्त कार्य विज्ञान की प्रतिज्ञा करके उसकी सिद्धि के लिये दृष्टान्त देते हैं-"यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" यहां दृष्टान्त में मृत्तिका रूप द्रव्य रूप में विज्ञात एक मृत्पिण्ड से समस्त मृत्तिका के विकार शराब उदञ्चन आदि जिस प्रकार मृतिका रूप में विज्ञात होते हैं-क्योंकि उपादेय कार्य घटादि मृत्तिका की अवस्था विशेष रूप होने से मृत्तिका से अपृथक् सिद्ध हैं-यही कहते है-"वाचारम्मणम्" अर्थात् कार्य समूह वाचा वाक् इन्द्रिय से आरम्भ किया जाता है। घटेन जलमाहर, घट से जल लाओ इस प्रकार व्यवहार करते हैं। वाचारम्भ्ण में "कृत्य ल्युटो बहुलम्" सूत्र से कर्म में ल्युट् प्रत्यय किया गया है। वह दो प्रकार का है-विकार और नामधेय इसमें कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्ति विशेष रूप विकार शब्द वाच्य है और नामधेय घटादि शब्द वाच्य शब्द विशेष ही है। यदि कहें कि कारण मृत्तिका स्वतन्त्र सत्ताश्रय होने से सत्य है, उसी प्रकार घट आदि कार्यों का भी पृथक् स्वतन्त्र सत्ता हो, चूंकि घट रूप में उसकी उपलब्धि होती है। इस पर कहते है-"मृत्तिकेत्येवसत्यम्"। यहां एवकार अन्ययोग व्यवच्छेद के लिये है और इति शब्द कारण बोधक है। कारणभूत मृत्तिका

ही स्वतन्त्र सत्ताश्रय है – उस प्रकार घट आदि स्वतन्त्र सत्ताश्रय रूप में सत्य है–कारण रूप मृत्तिका के बिना उसकी उपलब्धि नहीं है–मृत्तिका से अन्वित ही घट की उपलब्धि है–ऐसा दृष्टान्त है। इसी प्रकार आकाश आदि प्रपञ्च ब्रह्म का उपादेय होने से तदात्मक है– ब्रह्मात्मक है– वह स्वतन्त्र सत्ताश्रय नहीं है–बल्कि अपने उपादान कारणभूत ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध सत्ताक ही है। यह सिद्धान्त है। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है। "वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च" ऐसा स्मृति वचन भी है। जो कोई अपने निज कपोल कल्पित अश्रौत दृष्टान्त शुक्तिरूप, मृगतृष्णोदक आदि का उपन्यास कर आकाश आदि कार्यों का मिथ्यात्व प्रतिपादन करते हैं तथा इस सूत्र का विवर्तवाद परत्वेन व्याख्या करते हैं, वह समीचीन नहीं है। इसमें प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त संभव नहीं है जैसे–येनाश्रुतं श्रुतम् इत्यादि – यहां श्रौत प्रतिज्ञावाक्य मे कारण विज्ञान से कार्य विज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है–वह कारण शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म है। या उपहित – प्रथम पक्ष नहीं कह सकते– उसे कारण नहीं माना गया है–उस शुद्ध ब्रह्म में प्रमाण के अभाव से उसका विज्ञान ही असंभव है तथा निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान के अभाव में "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा" इस प्रकार अन्वय व्यतिरेकि श्रुति का व्याकोप होगा और उसके ज्ञान के अभाव में मोक्ष का अभाव भी होगा। दूसरा नहीं कह सकते, उसका ज्ञान मोक्ष का सजनक होने से अप्रयोगक है। उपहित ब्रह्म के ज्ञान से कार्यजात का विज्ञान कह नहीं सकते, उसका ज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं हो सकता। आपके मत में उपहित ब्रह्म जगत् का ज्ञान होने पर भी उपहित ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं होने एवं उसके मिथ्या होने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग अवश्य भावी है। अन्यथा उपहित ब्रह्म ही मुक्तजनों का प्राप्य होगा, शुद्ध ब्रह्म की असिद्धि भी होगी। दूसरी बात शुक्ति रूप्य, एवं मृग तृष्णोदक आदि दृष्टान्त भी अप्रामाणिक हो जायेंगे क्योंकि ये दृष्टान्त अश्रौत हैं तथा श्रौत तात्पर्य से विरुद्ध है। मृत्तिका आदि उपादान पदार्थ के ज्ञान से जैसे घट आदि समस्त कार्यों का मृत्तिका के उपादेय होने से ज्ञान हो जाता है, यह समस्त प्राणियों ज्ञान गोचर होता है, वैसे शुक्ति के ज्ञान से रूप्य (रजत) मात्र का, ऊषर भूमि के ज्ञान से उदक मात्र का ज्ञान पागल के बिना किसी को नहीं होता क्योंकि शुक्ति का रूप्य उपादेय नहीं है। इसलिये वे दृष्टान्ताभास ही है, यह सिद्ध है। क्योंकि लौकिक एवं परीक्षक दोनों का जहां बुद्धि साम्य होता है, वहीं दृष्टान्त होता है। "लौकिक परीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः" ऐसा गौतम का लक्षण सूत्र है। यदि कहें कि घट आदि भी मृत्तिका आदि में अध्यस्त है, विवर्तपक्ष में दृष्टान्त सम्भव है, फिर दृष्टान्त में आभासत्व नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। मृत्तिका आदि के ज्ञान से घट आदि का बाध नहीं होने से मृत्तिका में घट का अध्यास नहीं कह सकते–बाध के बिना अध्यास में दूसरे प्रमाण का अभाव है। मृत्तिका के ज्ञान में भी घट आदि पूर्व की भाँति विद्यमान रहते हैं, इसलिये उसमें अध्यासत्व असंभव है तथा व्यावहारिक विवक्षा में मृत्तिका आदि की तरह कारक (कर्ता) व्यापार साध्य जलाहरण आदि कार्य में उपयोगी अवस्था विशेष घट आदि की भी सत्ता मानी गई है। पारमार्थिक सत्ता की विवक्षा में मृत्तिका आदि भी असत्य है–दृष्टान्ता में आभासत्व होगा। यदि कहें कि घट आदि केवल मृत्तिका मात्र में अध्यस्त नहीं हैं, किन्तु मृत्तिकावच्छिन्न चैतन्य

में अध्यस्त है-ऐसा होने पर मृत्तिकावच्छिन्न तत्त्वज्ञान के अभाव से उसका अबाध युक्त ही है तो ऐसा नहीं कह सकते, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और श्रौत दृष्टान्त से विरुद्ध है-श्रुति में मृदाद्यवच्छिन्न चेतन विज्ञान से समस्त मृद्विकार ज्ञात होता है-ऐसा दृष्टान्त दिया गया है, किन्तु मृत्पिण्ड मात्र ही। इसलिये यह कथन कपोल कल्पित पारिभाषिक मात्र होने से दृष्टान्ताभास ही है। यदि कहें कि शुक्ति के ज्ञात होने पर रूप्य तत्त्वतो ज्ञात होता है, "शुक्ति ही रूप्य का तत्त्व है, इसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान से सब कुछ तत्त्वतः ज्ञात होता है" ऐसा श्री वाचस्पति मिश्र ने [1]भामती प्रबन्ध में कहा है तथा जैसे घट करका आदि में आकाशों की (घटाकाशों की) महाकाश से अभिन्नता है तथा मृगतृष्णा के जल आदि में ऊषर आदि से अभिन्नता है, क्योंकि ऊषर के दर्शन से मृगतृष्णोदक का स्वरूप नष्ट हो जाता है तथा स्वरूप से उपाख्यान नहीं होता है, इसी प्रकार इस भोग्य भोक्त्रात्मक प्रपञ्च का भी ब्रह्म व्यतिरेकेण अभाव है-ऐसा जानना चाहिये-ऐसा भगवत्पाद भाष्यकार ने कहा है-फिर प्रलाप कैसे कहा जा सकता है तो ऐसा भी नहीं कह सकते- इस प्रकार तो ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म ही ज्ञात होता है, ऐसा अर्थ उक्त होगा-जो कि सर्वथा अयुक्त है। श्रुति में सर्वं विज्ञातं भवति' ऐसा सामान्य रूप से सबका ज्ञान कहा गया है। स्व, स्व का हेतु नहीं होता। तथा "येनाश्रुतं" इस श्रुति में अश्रुत आदि पद का वैयर्थ्य होगा और बात ब्रह्म ज्ञान से सबका तात्विक ज्ञान हो जाता है, यहां तत्त्व क्या है-अपना असाधारण स्वरूप अथवा अपना असाधारण धर्म, न कि भ्रम का अधिष्ठान, मृत्पिण्ड आदि श्रौत दृष्टान्त घट आदि का अधिष्ठान नहीं है, अन्यथा रजत आदि की तरह घट आदि का भी बाध हो जायेगा बाधाभाव की अन्यथा अनुपपत्ति भी इसके प्रमाण है, इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी ब्रह्म ज्ञान से प्रपञ्च के बाध का अदर्शन भी अनध्यस्तत्व मे प्रमाण समझना चाहिये। अन्यथा शुक्तितत्त्व के ज्ञान से रूप्य के नाश की तरह ब्रह्म के ज्ञान से सबके नाश की आपत्ति होने से सबका विज्ञान ही असंभव है, यह भाव है। दूसरी बात 'वाचारम्भण' शब्द का मिथ्यार्थक होने में न योगार्थ संभव है न रूढ़ि, वाणी से आरब्ध काव्य आदि मिथ्यात्व नहीं देखा जाता है। वाणी का आलम्बन मात्र है, ऐसा व्याख्यान अश्रुत कल्पना है दूसरी बात आपने "नामधेयम्" इसका भी यह जगत् नाममात्र है- ऐसी व्याख्या की है फिर तो पुनरुक्ति होती है। यदि कहें कि "को भवानिति निर्देशो वाचारम्भो ह्यनर्थकः" इस स्मृति के द्वारा वाचारम्भ शब्द में मिथ्या परत्व देखा गया है-फिर तो उक्त स्मृति के आधार पर यहां भी मिथ्या अर्थ हो सकता है-ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। स्मृति में भी पूर्वोक्त रूढ़ि एवं योग आदि के अभाव से आपका

वाचारम्भणम्-विकार (घटपटादि) तथा उसका नाम घट पट आदि वाणी द्वारा व्यवहार मात्र के लिये है-सत्य केवल मृत्तिका है।

१. भामती प्रबन्ध ब्र०सू० शांकरभाष्य की सर्वोपरि प्रामाणिक व्याख्या है। यह ग्रन्थ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र षड्दर्शन टीकाकार महामनीषी मिथिला विभूति श्रीवाचस्पति मिश्र की दिव्य रचना है, जो उन्होंने अपनी पत्नी के नाम से लिखी है। कहते हैं जब तक आचार्य वाचस्पति ने ब्र०सू० शांकरभाष्य पर टीका नहीं लिखी तब तक उत्तर भारत में शांकरभाष्य का प्रचार नहीं हो पाया। इन्हीं के नाम पर अद्वैत वेदान्त में भामती प्रस्थय नाम से स्वतन्त्र प्रस्थान चल रहा। (सं)

सम्मत मिथ्या अर्थपरक नहीं हो सकता। जैसे देहों के प्रकृति के उपादेय (कार्य) होने से उनमें प्राकृतत्व के कारण "को भवान्" (आप कौन है) यह देह विषयक प्रश्न निरर्थक है– प्रकृति से स्वतन्त्र एवं भिन्न रूप में निर्धारण रूप अर्थ शून्य है किन्तु वाचारभ्य है अर्थात् वाणी के व्यवहार योग्य है। ऐसा स्मृति का अर्थ है। अन्यथा शब्द मात्र में वाक् इन्द्रिय से आरभ्यत्व की समानता होने से "वाचा" इस पद का वैयर्थ्य हो जायेगा। बिना अर्थ के भी वाणी का प्रयोग केवल आप का ही अनुभव है अर्थात् आप ही करते हैं–आपके अलावा और कोई नहीं।

यदि कहें कि वाचारम्भण और नामधेयं पदों द्वारा विचार असहत्व विवक्षित है–जैसे भू के विकार घट आदि के स्वरूप विचार करने पर निश्चय होगा कि विकार मिथ्या है, भू सत्य है, उसके स्वरूप का भी विचार करे तो निश्चय होगा कि भू भी मिथ्या है, उसके हेतु भूत अपञ्चीकृत भूत ही सत्य है, उनका स्वरूप विचार करे तो वे भी मिथ्या हो जायेगें, किन्तु इन सबकापरम कारण ब्रह्म ही सत्य है, "मृत्तिकैव सत्यम्" यहां सत्य में हेतु है–वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्–इसमें वाणीमात्र विचारासह है–इसलिये निर्विकार ब्रह्म ही सत्य है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, विपरीत होने से। यहां विकार के कारण से पृथक् सत्व नहीं होने से स्वतन्त्र सत्ता का अभाव ही श्रुति बोध कराती है–स्वरूपतः जगत् को मिथ्या नहीं कहती है। अन्यथा विचारासहत्व मात्र से मिथ्यात्व कल्पना करने पर "न सन्नासत्" इस स्मृति के बल पर सत् असत् विचारासह होने के कारण ब्रह्म में भी मिथ्यात्व प्रसक्ति दुर्वार हो जायेगा। अनुमान होगा– ब्रह्म मिथ्या है, क्योंकि वह सत् असद् रूप में विचार सह नहीं है, आपके मत में पृथिवी आदि की तरह। दूसरी बात 'विकारो नामधेयम्' इस श्रुति में साक्षात् कण्ठरव द्वारा विकार शब्द पाठ से भी विवर्त की सिद्धि नहीं होती। यदि श्रुति को विवर्त इष्ट होता तो विकार शब्द एवं मृत्पिण्ड आदि दृष्टान्त नहीं सुनाती, अपितु भ्रान्ति नाम धेयम् ऐसा कहती तथा दृष्टान्त के रूप में शुक्ति रजत आदि दृष्टान्त ही उपन्यास करती। विवर्त कार्य विकार नहीं होता अपितु भ्रममात्र अन्यथा वह विवर्त ही नहीं होगा और यदि नाम रूपात्मक कार्य अनृत ही होता तब तो वेदान्त शास्त्र और उसका विचार भी मिथ्या होने के कारण सद्रूप ब्रह्म भावापत्ति रूप मोक्ष भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, यह बात वैदिकम्मन्य मनीषीगण एकाग्र मन से विचार करें। 'कथमसतः सज्जायेत' असत से सत कैसे होगा, यह श्रुति स्पष्ट कहती है। इसी तरह [1]भट्टपाद ने कहा है–"साधनं चेदवश्यं च परमार्थास्तिता भवेत्। सिद्धिर्नापरमार्थेन परमार्थस्य युज्यते।।" (यदि साधन है तो अवश्य ही परमार्थ का अस्तित्व होगा। अपरमार्थ से परमार्थ की सिद्धि युक्त नहीं है॥१४॥

नन्वसत्यमपि प्रतिबिम्बं बिम्बस्य रेखारोपितो वर्णश्चार्थस्य वर्णदैर्ध्यादिकं नगो

---

१. भट्ट मीमांसा के सर्वमान्य आचार्य तथा वैदिक सनातन धर्म के महान् संरक्षक थे। प्रसिद्ध दार्शनिक मण्डन मिश्र आपके ही शिष्य थे। आप दोनों ही मिथिला विभूति थे। (सं)

नाग इत्यर्थभेदस्य शङ्काविषं मरणस्य सवितृसुषिरादिश्चारिष्टादेः रज्जुसर्पो भयकम्पादेः स्वाप्निकः स्त्रीसङ्गमः सुखस्य स्वाप्नोऽर्थः शुभाशुभयोः साधकं दृष्टम्, आह च भगवान्भाष्यकारः "नैषदोषः। शङ्काविषादिनिमित्तमरणादिकार्योपलब्धेः, स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादिकार्यदर्शनात्। तथा च श्रुतिः "यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने:" इत्यसत्यस्वप्ननिदर्शनेन सत्यसमृद्धेः प्रतिपत्तिं दर्शयति, तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषु चिदनिष्टेषु जातेषु न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यादित्युक्त्वा, अथ "स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ती"त्यादिना तेन तेनासत्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यते इति दर्शयति, प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यते ईदृशेनासाध्वागमः"इति "तथाऽऽकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टारेखानृताक्षरप्रतिपत्तेरि" त्यादिनेति चेत्तत्राह भगवान्सूत्रकारः–

(हिन्दी अनुवाद)

यदि कहें कि बिम्ब का असत्य प्रतिबिम्ब रेखाओं में आरोपित वर्ण आदिक, वर्ण में दीर्घता आदि – नग (पर्वत एवं नाग (सर्प) रूप अर्थ भेद का, विष की शङ्का मरण का, सूर्य में छिद्र दर्शन अरिष्ट आदि का, रज्जू का सर्प भय एवं कम्प का, स्वाप्निक स्त्रीसंगम सुख का तथा स्वप्न विषय शुभ-अशुभ का साधक देखा गया है– जैसा कि भगवान् भाष्यकार ने भी कहा है–"यह दोष नहीं है– विष की शङ्का आदि निमित्त से मरण आदि कार्य की उपलब्धि होती है, स्वप्न में अशुभ दर्शन से सर्प दंशन एवं उदक स्नानादि कार्य देखा जाता है। श्रुति भी कहती है–"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शनेः।" अर्थात् यदि काम्य कर्म के अनुष्ठान के समय स्वप्न में स्त्री को देखता है तो कार्य में समृद्धि होती है। इस वचन के द्वारा असत्य स्वप्न दर्शन से सत्य समृद्धि की प्राप्ति बताई गई है तथा किसी अनिष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन होने पर वह व्यक्ति चिरकाल तक नहीं जीवित रहेगा, ऐसा जाने। ऐसा कहकर प्रमाण रूप में कहा–"स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति" अर्थात् यदि कोई सपने में कृष्ण दन्त वाले काले पुरुष को देखता है, तो वह काला पुरुष उस स्वप्न द्रष्टा को मार देता है) इत्यादि प्रमाणों द्वारा तत् तत असत्य स्वप्न दर्शन से ही सत्य स्वरूप मरण सूचित होता है, ऐसा दिखाते हैं और यह बात प्रसिद्ध है—लोक में अन्वय-व्यतिरेक कुशल जनों को ऐसे स्वप्न दर्शन से शुभ प्राप्ति तथा ऐसे स्वप्न दर्शन से अशुभ की भी प्राप्ति होती है।। "तथाकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षर प्रतिपत्तेः" इत्यादि वाक्यों द्वारा, ऐसी शङ्का पर "सूत्रकार वेदान्ताचार्य भगवान् व्यास" कहते हैं –

भावे चोपलब्धेः॥ २/१/१५॥

कारणस्य सद्भावे सत्येव कार्योपलब्धिर्दृष्टचरा। यथा मृदादिभाव एव घटादिकार्योपलम्भो नान्यथा, देशान्तरे कालान्तरे वा, तस्मात्सदेवोपादानमुपादेयस्य तदनन्यत्वं च। ननु चाग्निकार्ये धूमे गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ चानन्यत्वं न दृश्यते। तत्रोच्यते–अग्निर्हि निमित्तकारणं पितेव पुत्रस्य विनष्टेऽप्यग्नौ धूमस्थितिदर्शनात्, अग्निसंयुक्तार्द्रेन्धनाद्धि धूमो जायते गन्धैक्याच्चार्द्रेन्धनकार्यमेव धूमः, वृश्चिकादौ चाद्यकारणपृथिवीद्रव्यत्वेनान्यत्वोपलब्धेः। नापि पूर्वोक्तव्यभिचारकल्पना युक्ता, सर्वत्र कारणस्य सत्त्वात्। तथाहि–बिम्बाभाववदवृत्तिरूपव्याप्तेः प्रतिबिम्बे सत्त्वात् तज्ज्ञानस्यैव सतो बिम्बानुमितिजनकत्त्वाच्च न व्यभिचारः। रेखायाश्च वर्णे पदस्यार्थे इव सङ्केतितत्वेन रेखास्मारितवर्णस्यैव बोधकत्वात्, रेखाभेदज्ञानवतामपि तथा बोधात्, दीर्घत्वादिकं वर्णगतं सत्यमेव। तार्किकमते नानादीर्घादयोऽनित्या वर्णाः। सिद्धान्ते तु नित्या एव, त्वन्मते त्वनित्या एव, शास्त्रयोन्यधिकरणे वेदानित्यत्वस्य त्वयाङ्गीकारात्। दीर्घत्वादिज्ञानस्यैव हेतुत्वेन मतान्तरेऽप्यनुपपत्त्यभावात्। शङ्कानिमित्तभयजन्यधातुव्याकुलतैव मरणहेतुर्नविषं पुत्रमरणश्रवणवत्, भारतयुद्धादौ घटोत्कचादिभिः शक्तिविशेषात्सृष्टमर्थक्रियाकारिगजादिकं सत्यमेव, सवितृसुषिररज्जुसर्पज्ञान- मेवारिष्टभयादिहेतुः सत्यप्यर्थे तदज्ञाने भयाद्यभावात्, स्वाप्नस्त्रीज्ञानस्यैव सुखहेतुत्वं, न तु तत्सङ्गमस्य तदज्ञानां तदभावात्। स्वाप्निकपदार्थानामपि परमात्मसृज्यत्वेन सत्कार्यजनकत्वात्, नासतः क्वापि कार्यकारित्वमिति भावः। किञ्चैकत्र सत एवान्यत्रारोपो नियतः स्वरूपेणासतः खपुष्पादेः कचिदप्यारोपादर्शनात्। नचारोपे तद्विषयकप्रतीतिमात्रमेवापेक्षितं, नतु विषयसत्त्वमपीति वाच्यम्, असतः प्रतीतेरेवासम्भवात्। ननु शुक्तौ रजतप्रतीतिवत् रज्जौ सर्पप्रतीतिवच्च भेदप्रतीतेरपि दोषमात्रकारणमपेक्षितं, न विषयसद्भाव इति चेन्न। त्वन्मते दोषमात्रकारणस्यापि तुच्छत्वसाम्येन ततः प्रतीतिरूपकार्योत्पतेरसम्भवात्, कार्यस्य कारणसत्तापेक्षत्वनियमात्। न चासत्यस्याप्यारोपित-सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्वदर्शनात् उक्तहेतोर्व्यभिचार इति वाच्यम्। स्वरूपेणासतः कार्योत्पत्त्यनुकूलशक्तिमत्त्वाभावात्, आरोपितसर्पस्थलेऽपि सर्पज्ञानस्यैव भयादिहेतुत्वं नारोपित- विषयस्येति पूर्वमेवोक्तम्, अन्यथा सर्पज्ञानाभाववतो बालस्य भ्रमो भयादिश्च भवेत्, ननु तदस्ति, प्रत्युत सत्यसर्पस्यापि बालैः स्वहस्तस्पर्शदर्शनात्। न चासतोऽपि रज्जुसर्पादेः स्वज्ञानजनकता इव भयकम्पादिजनकतापि किं न स्यादिति वाच्यं, तत्रापि दोषस्यैव ज्ञानजनकत्वान्नारोपितविषयस्य। अन्यथाऽसत्यपि तमोदोषे रज्जौ सर्पज्ञानोत्पत्तिः केन वार्यते, तवाभिप्रेतासतः कारणस्य विद्यमानत्वात्। एवं च मृगतृष्णाजलेन मृगादीनां तृष्णानिवृत्तिः, गुञ्जारोपिताग्निना शीतनिवृत्तिः, विषारोपितामृतेन मरणाभावः, शूद्रात् ब्राह्मण्यां जातस्य चाण्डालस्य ब्राह्मणत्वेन ज्ञातस्य वेदाधिकारः, तत्कृतयज्ञस्य ज्योतिष्टोमादेः स्वर्गादिजनकत्वम्, आरोपितात्मत्वादेश्च देहादेः श्रवणादितो मुक्तिः, स्वाप्निकयज्ञादेश्च स्वर्गादिप्राप्तिश्च स्यादिति भावः। तस्मात्सदेवोपादानमिति सिद्धम्–।।१५।।

तथैव कार्यमपि सदेवोत्पद्यते इत्याह—

(हिन्दी अनुवाद)

कारण के सद्भाव में ही कार्य की उपलब्धि देखी गई है जैसे मृत्तिका आदि के सद्भाव में ही घट आदि कार्य का उपलम्भ होता है, अन्यथा नहीं-देशान्तर या कालान्तर में नहीं। इसलिये सद् वस्तु ही उपादेय (कार्य) का उपादान होता है और उसी सत् कारण से कार्य में अनन्यता होती है। यदि कहें कि अग्नि के कार्य धूम में तथा गोमय आदि से कार्य वृश्चिक आदि में अनन्यता नहीं देखी जाती है-इस पर कहते हैं-अग्नि धूम का निमित्त कारण है, जैसे पिता-पुत्र का। अग्नि के विनष्ट होने पर भी धूम की स्थिति देखी जाती है, अग्नि से युक्त गीली लकड़ी से धूम पैदा होता है-गन्ध की एकता के कारण आर्द्र काष्ठ का कार्य ही धूम है। वृश्चिक आदि में आदि कारण पृथिवी द्रव्य होने से भिन्नता की उपलब्धि होती है। यहां पूर्वोक्त व्यभिचार की कल्पना भी युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वत्र कारण की सत्ता रहती है। विम्बाभावाधिकरण निरूपित वृत्तित्वाभाव रूप व्याप्ति प्रतिबिम्ब में विद्यमान है। उसका ज्ञान सत् है, जो बिम्ब की अनुमिति का जनक है, इसलिये कोई व्यभिचार नहीं है। जैसे अर्थ का वर्ण में संकेत होता है, उसी तरह रेखा के वर्ण में संकेतित होने से वहाँ रेखा स्मारित वर्ण ही बोधक होता है, रेखा सम्बन्धी भेद ज्ञान वालों को भी उस प्रकार बोध होता है। दीर्घत्व आदि वर्णगत सत्य ही है। तार्किक मत में दीर्घ आदि अनित्य वर्ण हैं। वैदिक सिद्धान्त में तो नित्य ही है, केवलाद्वैतवादी आपके मत में तो अनित्य ही है। शास्त्रयोनित्वाधिकरण में आपने वेद के अनित्यत्व को स्वीकार किया है। दीर्घत्व आदि का ज्ञान ही हेतु होने से अन्य मत में भी अनुपपत्ति का अभाव है। विष शङ्का मरण का हेतु नहीं है, किन्तु शङ्का निमित्त भयजन्य व्याकुलता ही मरण का हेतु है, विष नहीं। पुत्र मरण के श्रवण की तरह। महाभारत युद्ध में घटोत्कच आदि द्वारा शक्ति विशेष से सर्जित अर्थ क्रियाकारी गज आदि सत्य ही था, इसी तरह सूर्य के छिद्र एवं रज्जु के सर्प का ज्ञान ही अरिष्ट तथा भय का हेतु होता है। अर्थ होने पर भी उसके अज्ञान में भय आदि नहीं होते, इसी प्रकार स्वप्न की स्त्री का ज्ञान ही सुख का हेतु है। न कि उसका संगम। कारण स्त्री विषयक अज्ञानी को उसके सुख का अभाव होता है। दूसरी बात स्वाप्निक पदार्थ भी परमात्मा द्वारा ही सृज्य होने से सत्कार्य जनक है, इस तरह असत् कहीं भी कार्य कारी नहीं होता। दूसरी बात एक किसी स्थान में सत् का ही अन्यत्र आरोप होता है। स्वरूपतः असत् खपुष्प आदि का कहीं भी आरोप नहीं देखा जाता है। यदि कहें कि आरोप में उस विषय की प्रतीति मात्र की अपेक्षा है, न कि विषय की सत्ता तो यह भी नहीं कह सकते, असत् की प्रतीति ही असंभव है। यदि कहें कि शुक्ति में रजत की प्रतीति में दोषमात्र कारण है अर्थ की सत्यता नहीं, इसी तरह भेद प्रतीति में भी दोष ही कारण है, विषय सद्भाव नहीं तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में दोष रूप कारण तुच्छ ही है, फिर उसमें प्रतीति रूप कार्य की उत्पत्ति असंभव है-कारण कार्य के लिए कारण की सत्ता अपेक्षित है ऐसा नियम है। यदि कहें कि आरोपित

सर्प असत्य होने पर भी भय तथा कम्प आदि का जनक देखा गया है, फिर तो उक्त हेतु में व्यभिचार होगा तो यह भी नहीं कह सकते है, स्वरूप से असत् वस्तु में कार्य के अनुकूल शक्ति का अभाव होता है। आरोपित सर्प स्थल में भी सर्प का ज्ञान ही भय आदि का हेतु होता है। आरोपित विषय नहीं है, यह बात पहले ही कहीं गई है। अन्यथा सर्प के ज्ञान से रहित बालक को भी भ्रम एवं भय होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता, बल्कि सत्य सर्प को भी बालक अपने हाथ से स्पर्श कर लेता है। ऐसा देखा जाता है।

यदि कहें कि रज्जू का सर्प असत् होने पर भी जिस प्रकार अपने ज्ञान का जनक होता है-उसी प्रकार उसमें भय कम्पादि जनकता भी क्यों नहीं होगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते, वहां भी दोष ही ज्ञान जनक होता है, आरोपित विषय नहीं, अन्यथा अन्धकार रूप दोष के अभाव में भी रज्जु में सर्प ज्ञान की उत्पत्ति को कौन रोक सकता है। क्योंकि आपके मतानुसार असत् कारण विद्यमान है। इसी तरह मृगतृष्णा के जल से मृग आदि की तृष्णा भी निवृत्ति तथा आरोपित अग्नि से शीत की निवृत्ति एवं विषारोपित अमृत से मरण का अभाव, शूद्र द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न चाण्डाल में ब्राह्मणत्व का आरोप करके उसे वेद का अधिकार एवं उसके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ में स्वर्गादि जनकत्व, आरोपित आत्मत्व विशिष्ट देह आदि के श्रवण आदि से मुक्ति तथा स्वाप्निक यज्ञ आदि से स्वर्गादि भी होना चाहिये। इसलिये सत् वस्तु ही उपादान हो सकता है-यह सिद्ध होता है।।१५।।

इसी प्रकार कार्य भी सत् ही उत्पन्न होता है-

सत्वाच्चावरस्य ॥ २/१/१६ ॥

अवरस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात् यत्र यस्याभावो न तत्तत उत्पद्यते, यथाऽग्नेर्व्रीह्यङ्कुरादिः सिकताभ्यस्तैलमित्यर्थः। यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति, तथा कार्यरूपं विश्वमपि त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरतीति परैरपि तथैवोक्तेः। अन्यथा "सदेव सौम्येदमग्र आसीदात्मा वा इदमग्र आसीदि"त्यादाविदंशब्दगृहीतस्य कार्यस्य भूतकालीनसत्तायोगश्रवणस्य बाधात्, अत्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽवस्तुत्वेन कालसम्बन्धासम्भवात्। ननु स्वप्नरथादिसृष्टिदर्शने विषयस्य दुर्निरूपत्वेन मृषात्वं सुप्रसिद्धं, तद्वज्जाग्रत्प्रपञ्चस्यापि मृषात्वमेव। तथा च विषयासिद्ध्या तज्ज्ञानमपि मृषैवेति चेन्न। विषयस्य तत्रापि सत्त्वात्। तथा हि स्वाप्नपदार्थस्येश्वरसृज्यत्वेन याथात्म्यसद्रूपत्वात् आकाशादिवत्। एवं च तद्विषयकज्ञानयाथार्थ्यस्य विवादोनिरवकाशः। ननु यदि स्वप्नसृष्टिः पारमेश्वरीया तर्हि तात्कालिकबाधो न स्यात्, तत्समीपवर्तिभिरन्यपुरुषैश्चानुभूयेत, नतु तदस्ति, तस्माज्जीवसृष्टिरेवातस्तन्मिथ्यात्वस्य सुतरां सिद्धिरिति चेन्न। न तावदीश्वरसृष्टेः सर्वस्या अप्याकाशादिवद्बहुकालावस्थायित्वनियमो वक्तुं शक्यः, तत्संकल्पानुसारित्वात्, तत्कार्यस्य तत्र कस्यचिदाकाशादेर्महाप्रलयावसानावस्थितिरितरस्य देवदत्तपुत्रादेर्यत्किञ्चित्कालावस्थायित्व-नियमः कस्यचित्पदार्थस्य तात्कालिकोत्पत्तिविनाशयोगश्च प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः, तस्मात् स्थिति-कालस्य तत्कर्त्तृपरमेश्वरसंकल्पाधीनत्वेन बह्वल्पकालावस्थानानियमान्नोक्तदोषावकाशः। नापि

समीपवर्तिभिरननुभूयमानत्वं मिथ्यात्वे नियामकं, देवदत्तादिमनोगतसुखदुःखादेरन्यैरननुभूयमानत्वेऽपि तस्य मिथ्यात्वाभावात्, तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम्। नच मनोगतसुखादेर्जीवजन्यत्वमिति शङ्कनीयम्, ईश्वरसृज्यत्वस्य श्रीमुखगीतत्वात् "सुखं दुःखमि"त्यारभ्य, "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एवे"ति वाक्येन। किञ्च तत्तत्प्राणिपुण्यापुण्यानुरूपतत्तत्पुरुषानुभाव्यतावत्कालावस्थानुकूलभगवत्संकल्पसृष्ट्या एव, स्वाप्नपदार्था न जीवसृष्ट्यास्तेषां बद्धावस्थायां सत्यसंकल्पत्वाभावात्। अन्यथा तेषां सुखमेव सर्वदा स्यान्न कदाचिदपि दुःखयोगः, जाग्रत्समयेऽपि स्वसंकल्पानुसारिणी सृष्टिः कुर्युः, न तु तथा दृश्यते, प्रमाणाभावादसम्भवाच्च। किञ्च "एषु जाग्रति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणस्तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते, तस्मिंलोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चने"ति स्वाप्नसृष्टिश्रुत्युक्तलिंङ्गानि न कथमपि जीवात्मन्यन्वेतुं शक्यानि परमेश्वरासाधारणधर्मत्वाद्विशेषार्थस्तु तृतीयाध्याये तत्प्रकरणे वक्ष्यते, तस्मात्परमेश्वरसृज्या एव स्वाप्नपदार्था इति सिद्धम्। किञ्च तत्कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तिरपि तत्सत्यत्वे मानत्वेनानुसन्धेया। किञ्च ब्रह्मणः सर्वकारणात्वान्यथानुपपत्तिश्चापि स्वाप्नपदार्थानां तत्सृज्यत्वे प्रमाणम्। ननु ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वाऽनुपपत्तिः तथा ह्यचेतनस्य परिणामिसत्तायोगाद्भवतु तत्कारणत्वं ब्रह्मणः, चेतनस्य तु कूटस्थसत्ताश्रयत्वेन जन्माद्यसम्भवात् कथं तत्कारणत्वमन्यथाऽनित्यत्वापत्तेः। प्रत्यगात्मानोऽनित्याः जन्मादिमत्त्वात् घटादिवदिति प्रयोगात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि"त्यादि शास्त्रव्याकोपात् कृतनाशा दिप्रसङ्गाच्चेति चेन्न, प्रामादिकोक्तेः। स्वाप्नादिकर्मणां मध्ये फलं दातुमुन्मुखस्य प्रबलस्यैकतमस्य कर्मविशेषस्य फलानुभूतये तदनुकूलदेहादिसंयोगे सति तद्भोगार्हज्ञानशक्त्यादिविकाशस्य जीवजन्मपदार्थत्वात् अत्यन्तविस्मृतिपूर्वकस्थूलदेहादिवियोगेन भोगाद्यनर्हतापत्तेश्च मृत्युनाशादिपदार्थत्वान्नोक्तदोषावकाशः। वस्तुतस्तु अस्याः शङ्काया उन्मत्तप्रलापत्वमेव। श्रुतेस्तावत्सर्वकार्यं प्रत्येव ब्रह्मणः कारणात्वप्रतिपादकत्वेन जीवे तत्प्रसङ्गाभावात्, यदि प्रत्यगात्मा कार्यंस्याद् ब्रह्मणश्च तदुपादानत्वाभावे सर्वकारणत्वे न्यूनताप्रसक्तिः स्यान्नतु तदस्ति, तस्यानाद्यनन्तकूटस्थत्वश्रवणादिति भावः। ननु "अनादिनिधनानित्ये"ति वेदस्याप्यनाद्यनन्तत्वश्रवणात्तत् कारणत्वं ब्रह्मणोऽनुपपन्नं, तथात्वे च ब्रह्मणः समस्तकारणत्वेऽव्याप्तिरिति चेन्न, तस्यापि निःश्वसितन्यायेनाविर्भावकारणत्वस्य ब्रह्मगतत्वेनोक्तदोषानवकाशात्, "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेद" इति श्रुतेरुक्तन्याये मानत्वात्। "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः समानि जज्ञिरे" इति श्रुतेश्च तदाविर्भावि मानत्वात्। "वेदानां जन्मादयस्तु निर्विकारित्वेनैवाविर्भावतिरोभावमात्रत्वं, नत्वानुपूर्व्यन्यथाभाव" इति—[1]सिद्धान्तसेतुकायां—"श्रीसुन्दरभट्टपादोक्तेः"। अचेतनप्राकृतवर्गस्याकाशादेस्तु परिणामिसत्ताकत्वेन स्थूलसूक्ष्मावस्थान्तरव्यक्ताव्यक्तनामरुपान्तरविभागेनावस्थितिरेवोत्पत्तिलयशब्दाभ्यां प्रतिपाद्यते, नतु तार्किकवत् असतो जन्मनाशौ शशशृङ्गादावतिप्रसङ्गात्, नाप्यन्येषामिवारोपापवादौ

---

१. श्रीसुन्दरभट्ट आचार्यपाद संस्कृत एवं दर्शन के उद्भट विद्वान् थे। उनकी 'सिद्धान्त सेतुका' प्रपन्नकल्पतरु मञ्जरी आदि ग्रन्थ सम्प्रदाय सिद्धान्त की जानकारी के लिये अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों में श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणों का प्रबलतम समर्थन है। (सं)

श्रुतिप्रमाणशून्यत्वादिति संक्षेपः। एवं मिथ्यात्वे प्रमाणासिद्ध्या कार्यं सदेव स्वोपादानब्रह्मापृथक्सिद्धं चोपादानात्मकत्वादुपादेयमात्रस्येति सिद्धम् "सदेव सौम्य, ऐतदात्म्यमित्यादि" श्रुतेरिति राद्धान्तः। "सदसच्छब्दयोः पञ्चमहाभूतपरत्वस्य श्रुत्यैव कण्ठरवेण व्याख्यातत्वात्" "यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चासदि"ति श्रुतेः। अन्यथा "न सत्तन्नासदुच्यते" इति स्मृत्याऽऽत्मनोऽप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गादिति पूर्वमेवोक्तमलं विस्तरेण ॥१६॥

(हिन्दी अनुवाद)

अवर माने कार्य कारण में पूर्व से ही विद्यमान रहता है। जिसमें जिसका अभाव होता है, वह उससे नहीं उत्पन्न होता है, जैसे अग्नि से व्रीहि, अङ्कुर आदि तथा सिकता से तेल। जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में अपनी सत्ता को नहीं त्यागता, वैसे कार्य रूप विश्व भी अपनी सत्ता को नहीं त्यागता, यह बात भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने भी कही है। अन्यथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियों में इदम् शब्द प्रतिपाद्य कार्य का भूतकालीन सत्ता का योग सुना जाता है, इसका बाध हो जायेगा। अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी के अवस्तु (मिथ्या) होने से उससे काल का सम्बन्ध संभव नहीं है। यदि कहें कि स्वप्न के रथ आदि की सृष्टि के दर्शन में विषय दुर्निरूप होने से उसका मिथ्यात्व प्रसिद्ध है, उसी तरह जाग्रत् प्रपञ्च भी मिथ्या ही है। इस प्रकार विषय की सिद्धि न होने से उसका ज्ञान भी मिथ्या ही है तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि विषय की सत्ता वहां भी है। जैसे आकाश आदि पदार्थ ईश्वर सृज्य होने से सद्रूप है, उसी प्रकार स्वाप्निक पदार्थ भी ईश्वर सृज्य होने से सत्य है, इस प्रकार उसके ज्ञान के यथार्थ्य विषयक विवाद व्यर्थ है। यदि कहें कि स्वप्न सृष्टि यदि परमेश्वर कृति होगी तो उसका तात्कालिक बाध नहीं होगा तथा उसके समीपवर्ती अन्य पुरुषों द्वारा भी उसका अनुभव होता, पर ऐसा नहीं होता, इसलिये यह जीव सृष्टि ही है, इस प्रकार उसका मिथ्यात्व स्पष्ट सिद्ध है, तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि सभी ईश्वर की सृष्टि का भी आकाश आदि की तरह चिरकाल तक स्थायित्व का नियम नहीं है। कारण कार्य की अवस्थिति ईश्वर के संकल्पानुसार होती है। जैसे किसी आकाश आदि भूतों का प्रलयकाल तक स्थिति होती है-देवदत्त के पुत्र आदि का यत् किञ्चित् काल ही स्थायित्व होता है और किसी पदार्थ का तो दो-तीन क्षण तक ही स्थायित्व होता है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ही सिद्ध है, इसलिये किसी वस्तु का स्थिति काल उसके कर्ता परमेश्वर के संकल्पाधीन होने से, अधिक या अल्पकाल तक अवस्थान का कोई नियम नहीं होने से उक्त दोष का यह अवकाश नहीं है।

समीपवर्ती मनुष्यों द्वारा अनुभूयमान न होना भी मिथ्यात्व का नियामक नहीं है। देवदत्त आदि मनुष्यों के मनोगत सुख-दुःख आदि का अन्य पुरुषों द्वारा अनुभव न होने पर भी उसका मिथ्यात्व नहीं होता है, इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये। मनोगत सुख आदि जीव जन्य होते हैं-ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। वे ईश्वर सृज्य ही हैं- ऐसा भगवान्

ने स्वयं श्रीमुख से कहा है-"सुखं दुःखम्" "भवन्ति भावाः भूतानां मत्त एव" अर्थात् सुख दुःख आदि भाव मेरे द्वारा ही होते हैं। स्वाप्न पदार्थ तत्-तत् प्राणियों के पुण्य एवं पाप के अनुरूप तत्-तत् पुरुषों द्वारा अनुभव विषय उतने ही कालतक अवस्थिति के अनुकूल भगवान् के संकल्प से ही निर्मित होते हैं, न कि स्वाप्निक पदार्थ जीव सृष्ट होते हैं, क्योंकि जीव बद्ध अवस्था में सत्य संकल्प नहीं होते। अन्यथा जीवों को सदा सुख ही होता, कभी भी दुःख का योग उन्हें नहीं होता। जाग्रत अवस्था में भी जीव अपने संकल्प के अनुसार ही सृष्टि करता, परन्तु वैसा देखा नहीं जाता, न इसमें कोई प्रमाण है न यह संभव है। स्वाप्निक पदार्थ ईश्वर द्वारा ही सृष्ट हैं- इसमें श्रुति प्रमाण उपस्थित करते हैं-"एषु जाग्रति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण स्तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" अर्थात् सभी जीवों के सुप्त हो जाने पर पुनः पुनः संकल्प करके अपनी इच्छानुसार निर्माण करने वाला जो पुरुष है, वही प्रकाशक है, वही अन्य के अनधीन अर्थात् स्वतन्त्र है, अमृत है। उस सर्वात्मक ब्रह्म का कोई अति क्रमण नहीं कर सकता, इस श्रुति के द्वारा स्वाप्निक सृष्टि कथमपि जीवात्मक संभव नहीं है, चूँकि सृष्टि परमेश्वर का असाधारण धर्म है। इस सम्बन्ध में विशेष अर्थ तृतीय अध्याय में सम्बन्धित प्रकरण में कहेंगे। इस प्रकार स्वाप्निक पदार्थ, परमेश्वर द्वारा सृज्य है, यह बात सिद्ध होती है। दूसरी बात स्वाप्निक पदार्थों द्वारा कार्यकारित्व की अन्यथा अनुपत्ति भी स्वाप्निक पदार्थ की सत्यता में प्रमाण रूप में अनुसंधान की जा सकती है। इसी प्रकार ब्रह्म सब के कारण हैं-इस मान्यता की अनुपपत्ति भी स्वाप्निक पदार्थों की ईश्वर सृज्यता में प्रमाण है। यदि कहें कि ब्रह्म में सर्वोपादानत्व की अनुपपत्ति अचेतन में परिणामी सत्ता के योग से उसका कारणत्व ब्रह्म में होवे, चेतन का तो कूटस्थ सत्ता के आश्रय होने से जन्म आदि असंभव है। फिर उसका कारणत्व कैसे हो सकता है। अन्यथा उसमें अनित्यत्व की आपत्ति होगी। अनुमान करेंगे- प्रत्यात्गामा अनित्य है- जन्मादि युक्त होने के कारण जैसे घट आदि। इस प्रकार "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इत्यादि शास्त्रों का व्याकोप होगा तथा कृतनाश आदि दोषों का प्रसङ्ग भी होगा तो ऐसा नहीं कह सकते- उक्त कथन प्रामादिकों का कथन है। स्वाप्न आदि कर्मों के मध्य में फल प्रदान करने के लिये उन्मुख किसी प्रबल कर्म विशेष का फल की अनुभूति के लिये तदनुकूल देहादि के संयोग होने पर उसमें भोगक्षम ज्ञान शक्ति आदि का विकास ही जन्म पदार्थ है। अत्यन्त विस्मृति पूर्वक स्थूल देह आदि के वियोग से उसमें भोग आदि की अयोग्यता की आपत्ति ही मृत्यु एवं नाश आदि पदार्थ होने से उक्त दोष का अवकाश नहीं है। वास्तव में तो यह शङ्का उन्मत्त प्रलाप ही है। श्रुति तो समस्त कार्यों के प्रति ही ब्रह्म को कारण मानती है। इसलिये जीव में इसका प्रसङ्ग ही नहीं है। यदि जीव कार्य होता और ब्रह्म उसका उपादान कारण नहीं होता-तब ईश्वर की सर्व कारणता में न्यूनता का प्रसङ्ग होता-पर ऐसा तो है नहीं, जीव अनादि अनन्त तथा कूटस्थ माना गया है। यदि कहें कि वेद भी "अनादि निधना नित्या" इस प्रमाण के आधार पर अनादि और अनन्त माना गया है, फिर उसका कारणत्व ब्रह्म में अनुपपन्न होगा और कारण न मानने पर ब्रह्म के सर्वकारणत्व में

अव्याप्ति होगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वेद ब्रह्म का निःश्वास है। ब्रह्म वेद में आविर्भाव का कारण होने से ब्रह्म में उक्त दोष का अवकाश नहीं है। "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदो सामवेद" इस श्रुति के आधार पर श्रुति के आविर्भाव में ब्रह्म को कारण मानने में प्रमाण है। "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे" यह श्रुति ब्रह्म से श्रुति के आविर्भाव में प्रमाण है। वेदों का जन्म आदि कथन निर्विकार रूप में ही श्रुति का ब्रह्म से आविर्भाव होना जन्म एवं तिरोभाव होना अभाव है, न कि आनुपूर्वी में अन्यथा भाव– ऐसा सिद्धान्त सेतुका में श्री सुन्दर भट्टपाद ने कहा है। अचेतन प्राकृत वर्ग आकाश आदि का तो परिणामी सत्ता वाला होने से स्थूल सूक्ष्म रूप अवस्थान्तर स्वरूप व्यक्त एवं अव्यक्त नाम रूपान्तर विभाग से उनकी अवस्थिति ही उत्पत्ति एवं लय शब्द से कहा जाता है, न कि तार्किक की तरह असत् का जन्म एवं नाश नहीं माना जाता है–फिर तो शश–शृङ्ग आदि में अति प्रसङ्ग होगा, न ही मायावादियों की तरह आरोप एवं अपवाद है–क्योंकि यह मान्यता श्रुति प्रमाण से शून्य है।

इस प्रकार मिथ्यात्व में प्रमाण की सिद्धि नहीं होने से कार्य (जगत्) सत्य ही है और वह अपने उपादान कारण ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है, क्योंकि उपादेय मात्र उपादानात्मक होता है–यह सिद्ध है।[1]

"कारण" "सदेव सौम्येदम्" "ऐतदात्म्यमिदम्" इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण है। सत् एवं असत् शब्द पञ्चमहाभूत परक है, यह विषय श्रुति ने स्वयं श्रीमुख से कहा है– जैसा कि श्रुति वचन है–"यदन्यद् वायोरन्तरिक्षाच्चैतद् सद्वायुरन्तरिक्षं चासत्" अन्यथा " न सत्तन्नासदुच्यते" इस स्मृति द्वारा आत्मा में भी अनिवर्चनीयत्व का प्रसंग होगा, ऐसा हमने पहले ही कहा है अब इस विषय में विस्तार व्यर्थ है॥१६॥

ननु माऽस्तु कार्यस्याध्यस्तत्वासिद्ध्या मिथ्यात्वमनिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभावात्, किन्त्व- सत्त्वमेवास्तु प्रपञ्चस्य, तत्र श्रुतिप्रमाणस्य सत्त्वादित्याक्षिप्योत्तिष्ठन्त्यसत्कार्यवादिनोवैशेषिकादयः–

यदि कहें कि कार्य में अध्यस्तत्व की सिद्धि नहीं होने से उसमें मिथ्यात्व न हो, क्योंकि अनिवर्चनीयत्व में प्रमाण का अभाव है, किन्तु उसे असत् मान लें तो क्या हर्ज? क्योंकि असत् मानने में श्रुति प्रमाण है, ऐसी आशङ्का करते हुए असत्कार्य वादी वैशेषिक आदि कहते हैं–

1– "तदनन्यत्व" तथा 'सत्वाच्चावरस्य' इन दोनों सूत्रों एवं जिज्ञासाधिकरण आदि अधिकरणों में सत्कार्यवाद (जगत् की सत्यता) सविशेषब्रह्मवाद, परिणामवाद आदि के समर्थन एवं निर्धर्मकब्रह्मवाद एवं विवर्तवाद के खण्डन में जगद् विजयी आचार्य पाद का लाजवाब लेक्चर है। असाधारण व्याख्या है, जो उनके जगद् विजयित्वका वस्तुतः सूचक है। पर दुःख है कि ऐसे ग्रन्थ को आज कोई निम्बार्की वैष्णव साधु नहीं पढ़ते, न इसका प्रचार करते हैं। (सं)

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्म्मान्तरेण वाक्यशेषाद्युक्तेः शब्दान्तराच्च ।२।१।१७।।

तथा चायं तेषामभिप्रायः—कार्यमसदेव कारणवैलक्षण्यात्। तथाहि—नहि कार्यकारणविषयकज्ञान- स्यैकरूपत्वनियमः शब्दभेदात्, घटः पट इति शब्दात्कार्यप्रत्ययः, मृत्तन्तव इति शब्दात्कारणप्रत्ययः। जलाहरणादिदेहाच्छादनादि च घटपटादेः कार्यस्य फलं, कुड्यनिर्माणादि रज्जुनिर्माणादि च मृत्तन्त्वादिकारणस्य फलम्। नहि घटादिना कुड्यनिर्माणादिसम्भवो नाऽपि मृदादिना जलाहरणादिसम्भवश्चेत्यन्वयव्यतिरेकेण फलभेदाच्च। कालभेदादपि प्राक्कालीनं कारणमुत्तरकालीनं च कार्यम्। आकृतिसङ्ख्याभेदाच्च पिण्डाकारमेकसङ्ख्याकञ्च कारणं, कम्बुग्रीवपृथुबुध्नोदराकारमनेकसङ्ख्याकञ्च कार्यम्। किञ्च कार्यस्य सत्त्वेकारकव्यापारवैयर्थ्याच्चेत्यादिभ्यो हेतुभ्यः कार्यस्यासत्त्वमिति तात्पर्येण शङ्क्यते कणभक्षादिभिः। ननु "असदेवेदमग्र आसीत्, असद्वा इदमग्र आसीदि" त्यादिश्रुतिभिः कार्यस्योत्पत्तेः प्राक्कालेऽसत्त्व व्यपदेशात्कथं सत्त्वमिति चेत्तत्रोत्तरमाह भगवान्सूत्रकारः। नेति । प्रागपि कार्यस्यासत्त्वं व्यपदिश्यत इति नाशासनीयम्। तत्र हेतुमाह, 'धर्मान्तरेणे'ति। अभिव्यक्तनामरूपात्सत्त्वधर्माद्धर्मान्तरमनभिव्यक्तनामरूपमसत्त्वं, तेन योगादियं श्रुतिरसत्त्वं व्यपदिशति। नतु स्वरूपासत्त्वं, सत्त्वासत्त्वे हि द्रव्यधर्मौ अनभिव्यक्तनामरूपकमति-सूक्ष्ममासीदित्यर्थः। तत्र हेतुः। 'वाक्यशेषादि'ति। उपक्रमे जाते संशये वाक्यशेषाद्विनिश्चीयते तात्पर्यमिति प्रेक्षावतां प्रक्रिया, यथाऽक्ताशर्करा उपदध्यादित्युपक्रमे केनाक्ता इति सन्देहे 'तेजो वै घृतमि'ति वाक्यशेषाद्घृतेनेति निश्चयः। एवमत्राप्युपक्रमेऽ "सदेवेदमग्र आसीदि" त्यादिनाऽसदिति निर्दिष्टे तस्यैव पुनः "तत्सदासीदि"ति वाक्यशेषेण तच्छब्देन परामृश्य, सत्त्वाभिधानादसत्त्वसंशयं वारयति। असतः कालत्रयसम्बन्धायोगात्तथात्वे चासीदिति प्रयोगानुपपत्तेः। सच्छब्देन परामर्शानुपपत्तेश्च, अपिच 'असद्वा इदमि'त्यत्रापि "तदात्मानं स्वयमकुरुते"ति वाक्यशेषे विशेषश्रवणान्न स्वरूपासत्त्वं, किन्त्वव्यक्तनाम-रूपकत्वादतिसूक्ष्मं वस्त्वसच्छब्देनोच्यत इत्यर्थः। तस्मात्कार्यं सदेवोपलभ्यमानत्वात्, नह्यत्यन्तासतः खपुष्पादेः क्वाऽप्युपलब्धिर्दृष्टा चोपपन्ना वा। यदुक्तं कारणवैलक्षण्यादिति कार्यासत्त्वे हेतुः सोऽपि स्वरूपासिद्धत्वे नाभासरूप एव। नहि कारणान्वयहीनं कार्यं क्वाऽप्युपलभ्यते, नापि कालभेदात्तयोरत्यन्तभेदो वक्तुं शक्यः, तस्यावस्थाभेदविषयत्वान्न द्रव्यपरत्वमसम्भवात्, कारणावस्थाभेदेनैवाकारसंख्याफलादिभेदस्याप्युपपद्यमानत्वेनोक्त-दोषायोगात्। अन्यथा बालस्याप्यवस्थाभेदेन स्वरूपभेदोऽङ्गीक्रियतां तर्कनिपुणैस्तथात्वे च योऽहं पितुरुत्सङ्गेऽक्रीडं सोऽहं वृद्धौ बालाँल्लालयामीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तेः, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गच्च। नापि तस्य भावे कारकव्यापारवैयर्थ्यं, पूर्वानभिव्यक्तस्याभि-व्यञ्जनेनैव तस्य सार्थक्योपपत्तेः। अन्यथाऽसतोऽभिव्यक्त्यङ्गीकारे कारकादिव्या-पारेणाग्नेर्यवादीनां, जलमन्थनात् घृतादेः, सिकताभ्यस्तैलस्याप्यभिव्यक्तिप्रसङ्गात्। किन्त्वसत्कार्यवादिनामपि कारकव्यापारोऽनुपपन्न एव। प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वेन

कार्यादन्यत्रैव कारकव्यापारेण भवितव्यं, तत्रान्यत्वाविशेषात्तन्तुगतकारकव्यापारेण घटादीनामुत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। तस्मान्नासत्त्वं कार्यस्येति भावः। किञ्च युक्तेः शब्दान्तराच्चेति हेतुद्वयेन कार्यस्य सत्त्वं निश्चीयत इत्यक्षरार्थः। तत्र युक्तिर्नाम अनुपपत्ति-निरासेनोपपत्तिसमर्थनेन वस्तुनिर्णायकवाग्विसर्गः। तथा हि यद्यसदेव कार्यं तर्हि दध्यर्थिभिः क्षीरस्यैव घटार्थिभिर्मृद एव च ग्रहो न स्यात्, प्रत्युत विपर्ययश्च स्यात्, दध्यर्थिभिर्मृदादिग्रहो, घटार्थिभिश्च क्षीरादिग्रहः स्यादसत्त्वाविशेषात्सर्वत्र, नतु तदस्ति, तस्मान्न तथा। अतः कारणे व्यक्ताव्यक्तोभयावस्थायां कार्यस्य सद्भावः स्थूलसूक्ष्मव्यवस्थया सदसत्पदाभ्यां श्रुत्या व्यपदिश्यत इत्यर्थः। अन्यथा सर्वत्र सर्वाभावाविशेषेणाग्न्यादेरप्यङ्कुराद्युत्पत्तिः कथं न जायते? ननु साम्येऽप्यसत्त्वे क्षीर एव दधिघृतादेः कश्चिदतिशयो न मृदादौ, मृद्येव घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीरादाविति चेन्न, अतिशयाङ्गीकारे प्रागवस्थायामसत्कार्य-वादहानिः, सत्कार्यवादसिद्धिश्च तव श्रीमुखेनैव सिद्ध्यति। नच सत्कार्यवादे कारकव्यापारवैयर्थ्यं शङ्क्यं, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्, कारणस्य कार्याकारव्यवस्थापकत्वेनैव तस्य सार्थकत्वात्। कारणमेव हि कार्याकारं प्रतिपद्यमानं कार्यमित्युच्यते कार्याकाराणां कारणात्मकत्वनियमात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" तिश्रुतेः, "वासुदेवात्मकान्याहुरि"ति स्मृतेश्चेत्यादियुक्तेः कार्यस्य प्रागुत्पत्तेः सत्त्वनिश्चयात्। किञ्च शब्दान्तराच्चेति सत्त्वनिश्चय इति योज्यं पूर्वोदाहृतादसत्प्रतिपादकादसच्छब्दादन्यस्तद्विपर्ययप्रतिपादनपरः शब्दः शब्दान्तरः "सदेव सौम्येदमि" त्यादिस्तस्मादपीति यावत्। यद्वा "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदि" त्यसद्व्यपदेशपरस्ततो वैलक्षण्यपरः "कथमसतः सज्जायेते"ति शब्दान्तरस्तस्मादप्युत्पत्तेः प्राक् कार्यस्येदं शब्दाभिधेयस्य सत्त्वनिश्चयात्। अन्यथा तस्येदंशब्दव्यपदिष्टस्य कार्यस्य सच्छब्दवाच्येन कारणेन सह श्रूयमाणसामानाधिकरण्यस्यासम्भवो दुर्वारः, सदसतोरित-रेतरात्यन्तविरुद्धयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात्। एतेन "स्थाणुरेव चौर" इतिवत् "सर्वं खल्विदं ब्रह्मे"ति जगत्कारणयोः सामानाधिकरण्यं सूपपन्नमित्युक्तिर्निरस्ताऽश्रौत-त्वादन्यथाऽसत्कार्यवादप्रसङ्गात्। स्थाणुचौरयोरुपादानोपादेयत्वाभावेन दृष्टान्तासिद्धेश्च "तज्जलानिती"ति वाक्यशेषात्। एतेन कार्यकारणयोरत्यन्तभेदपक्षोऽपि निरस्तः। अत्यन्तभिन्नयोर्गवाश्वयोरिव सामानाधिकरण्यासम्भवात् "गौरनाद्यन्तवती, ऊर्ध्वमूलो-ऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः, तत्सदासीत्, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं, अथैनमाहुः सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदमसौ सृजते ऽष्टरूपामजां ध्रुवामि" त्यादिश्रुतिभ्य "ऊर्ध्वमूलमधःशाखमि" त्यादिस्मृतेश्च। ननूक्तश्रुत्यादीनां भेदपराणां व्यावहारिकसत्तापरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यान्न पारमार्थिकत्वमभेदपरश्रुत्यादीनां तु परमार्थसत्त्वपरत्वात्प्राबल्यमिति चेन्न, कपोलकल्पनां विना प्रमाणान्तराभावात्। नच षड्लिङ्गोपेतत्वेन प्राबल्यमिति वाच्यं, भेदपरश्रुत्यादीनामपि तथात्वस्य पूर्वाचार्यैः प्रतिपादितत्वाद्विस्तरभियाऽत्रोपरम्यते। नचाभेदपराणां निरवकाशत्वेन प्राबल्यं, भेदपराणामपि तथात्वात्। नच तद्विषयभेदस्य प्रत्यक्षप्राप्तत्वेन तासामनुवादपरत्वतमिति वाच्यं, निर्विशेषाधिष्ठानरूपसत्तायां अभेदशास्त्रविषयायां अपि घटोऽस्ति घटः स्फुरति पटोऽस्तीति

प्रत्यक्षप्राप्ततयाऽभेदश्रुतीनामपि तदनुवादपरत्वसाम्यात्। किञ्चाभेदश्रुतिगम्यं निर्विशेषाद्वितीयं ब्रह्म तासां विषयो न वेति? नाद्यः, तस्य पदार्थत्वेन भेदशास्त्रवदभेदश्रुतीनामपि व्यवहारपरत्वं भवतां श्रीमुखेनैव सिद्धं, निर्विशेषाद्वितीयं ब्रह्म व्यावहारिकमभेदश्रुतिविषयत्वात्पदार्थत्वाच्च, तव मते व्योमादिवदिति प्रयोगात्। नद्वितीय, इदमर्थत्वेन शब्दादिप्रमाणागोचरे भेदशास्त्रवदभेदशास्त्रास्यापि व्यवहारविषयत्वं सूपपन्नम्। किञ्च सर्वप्रमाणाविषयस्य शशशृङ्गायमाणत्वेन द्वितीयपरशास्त्रस्यापि निर्विषयत्वेन बाधप्रसक्तेर्दुवार्रत्वात्। तव पक्षेऽभेदशास्त्रस्य निर्विषयत्वेनैव बाधः। अस्मत्पक्षे तस्य सर्वज्ञसर्वशक्तेर्विश्वकारणस्यैक्य- प्रतिपादनपरत्वेनैव नैराकाङ्क्ष्यान्नोक्तदोषयोग इत्यलं विस्तरेण। ननु यदि विवर्त्तपक्षानङ्गीकारस्तर्हि कोवा पक्षोऽभिप्रेतः संघातवादो वा? आरम्भवादो वा? परिणामवादो वा? इति। नाद्यः, वाह्यपक्षप्रवेशात्। न द्वितीयः, तार्किकपक्षावलम्बनप्रसङ्गात्। नापि चरमः, आनुमानिकसांख्यमतप्रवेशात्, पक्षान्तराभावाच्चेति चेन्न। चरमपक्षस्यैवास्मदभिप्रेतत्वात्सूत्रकाराभिमतत्वाच्च। "आत्मकृतेः परिणामात्।" 'स्वयमात्मनमकुरुते'ति श्रुतिसूत्राभ्याम्। ननु आकाशकल्पस्य विभोर्वस्तुनः परिणामोऽसम्भव एव। तथा च ब्रह्म परिणामानर्हं भवितुमर्हं विभुपरिमाणकत्वात्, निरवयवत्वाच्चाकाशवदिति चेन्न। परिणामस्वाभाव्यात् क्षीरवत् सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तिमत्वाच्च स्वेच्छयापरिणामयेदात्मानमिति शक्यते वक्तुम्। ननु सावयवस्यैव क्षीरादेः परिणामदर्शनान्न निरवयवस्येति तादवस्थ्यमेवास्य दोषस्येति चेन्न।

(हिन्दी-अनुवाद)

उनका अभिप्राय यह है कि कार्य असत् ही होता है कारण वैलक्षण्य से। जैसे कार्य तथा कारण विषयक ज्ञान में एक रूपत्व का नियम नहीं है- शब्द भेद के कारण। घट-पट शब्द से कार्य की प्रतीति होती है तथा मृत् एवं तन्तु शब्द से कारण की प्रतीति होती है। इसी प्रकार जलाहरण आदि घटकार्य एवं देहाच्छादन पट कार्य का फल है। इसी तरह कुड्य निर्माण मृत्तिका रूप कारण का फल है एवं रज्जु का निर्माण तन्तु कारण का फल है। घट आदि से कुड्य आदि का निर्माण एवं मृत्तिका आदि से जलाहरण आदि कार्य सम्भव नहीं है- इस प्रकार के अन्वय व्यतिरेक से स्पष्ट फल भेद भी है। काल भेद से भी भिन्नता की प्रतीति होती है जैसे कारण पूर्वकालीन होता है और कार्य उत्तरकालीन होता है। आकृति एवं संख्या के भेद से दोनों में भेद है। कारण पिण्डाकार और एक होता है तथा कार्य कम्बुग्रीव तथा पृथु बुघ्न के समान उदराकार वाला अनेक होता है। दूसरी बात यदि कारण में कार्य पहले से सत् हो तो कारक का व्यापार व्यर्थ हो जायगा इत्यादि हेतुओं से कार्य असत् होता है, इस तात्पर्य से कणाद अक्षपाद आदि शङ्का करते हैं- यदि कहें कि "असदेवेदमग्र आसीत्, असद्वेदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा कार्य की उत्पत्ति से पहले असत्त्व व्यपदेश है, फिर कार्य सत्

• 'आयुर्वैघृतम्' ऐसा भी वाक्य है- अर्थात् घृत तेज एवं आयु का वर्धक है।

कैसे हो सकता है? इस पर उत्तर देते हैं भगवान् सूत्रकार- 'नेति' कार्य पहले असत् था ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। इसमें हेतु देते हैं 'धर्मान्तरेण' अर्थात् नाम रूप से अभिव्यक्त होना कार्य का सत्त्व है एवं नाम रूप से अनभिव्यक्त रहना ही कार्य का असत्त्व होता है, इस प्रकार सत्त्व धर्म से भिन्न नाम रूप से अनभिव्यक्त स्थिति रूप असत्त्व के योग के कारण श्रुति जगत् को असत् कहती है अर्थात् जगत् पहले असत् था, इसका तात्पर्य होता है नाम रूप से अनभिव्यक्त था, न कि स्वरूपतः असत्। सत्त्व एवं असत्त्व द्रव्य के धर्म हैं अर्थात् जगत् पहले अनभिव्यक्त नाम रूप वाला होकर अतिसूक्ष्म था। इसमें हेतु 'वाक्यशेषात्' अर्थात् उपक्रम में संशय होने पर वाक्य शेष से तात्पर्य का निश्चय करते हैं। यही बुद्धिमानों की प्रक्रिया है। जैसे 'अक्ता शर्करा उपदध्यात्' मिली हुई (चुपड़ी हुई) शर्करा का प्रक्षेप करे। ऐसा उपक्रम में कहा गया है। यहाँ सन्देह होता है- किससे मिली हुई या किससे आर्द्र तो इसका निश्चय इस प्रकरण में शेषवाक्य (अन्तिम वाक्य) 'तेजो वै घृतम्' (घृत तेजवर्धक है) करता है। इससे ज्ञात होता है कि घृत से आक्त (आर्द्र) ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार यहाँ भी उपक्रम में "असदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि वचनों द्वारा जगत् को असत् बताकर उसी को पुनः 'तत्सदासीत्' इस वाक्य शेष द्वारा तत् शब्द से ग्रहण करके सत् कहने से असत्त्व की शङ्का का निवारण करते हैं, असत् का कालत्रय से सम्बन्ध होता। यदि जगत् असत् होता तो फिर 'आसीत्' ऐसा प्रयोग नहीं हो सकता तथा सत् शब्द से उसका परामर्श भी नहीं होता तथा 'असद्वेदम्' यहाँ भी 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इस वाक्य शेष से विशेष श्रवण होने से जगत् का स्वरूपतः असत्व सिद्ध नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति से पूर्व जगत् ब्रह्म में अव्यक्त नामरूपात्मक होने से अतिसूक्ष्म वस्तु रूप में रहता है, वही अतिसूक्ष्म वस्तु यहाँ असत् शब्द से कही जाती है। इसलिए कार्य सत् ही है, क्योंकि उसकी उपलब्धि होती है। अत्यन्त असत् खपुष्प आदि की कभी भी उपलब्धि नहीं होती, नहीं दिखाई देती, न उसकी उत्पत्ति हो सकती। यह जो कहा गया था कि कारण से वैलक्षण्य होने से कार्य असत् है। यहाँ कार्य की असत्ता में कारण वैलक्षण्य हेतु स्वरूपासिद्ध होने से आभास रूप (दोष रूप) ही है। कारण के अन्वय के बिना कार्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, कालभेद से भी कारण कार्य में अत्यन्त भेद नहीं कह सकते। वह तो अवस्था भेद विषयक है- द्रव्यपरक नहीं है। क्योंकि ऐसा असंभव है। कारण कि अवस्था भेद से ही आकार, संख्या तथा काल आदि के भेद की उपपत्ति होने से उक्त दोष का सम्बन्ध नहीं होगा अन्यथा बालक की भी अवस्था भेद से भेद मानना पड़ेगा। आप जैसे तर्क निपुणों को और यदि भेद मानेंगे तो जो मैं बचपन में पिता की गोद में खेलता था, वहीं मैं बुढ़ापे में अपने बच्चों को लाड़ लड़ाता हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी तथा भेद मानने पर कृतनाश एवं अकृताभ्यागम का प्रसङ्ग भी हो जायगा। आपने कहा था, कार्य का कारण में पूर्व सद्भाव मानने पर कारक व्यापार व्यर्थ हो जायगा, वह भी नहीं होगा। पूर्व में अव्यक्त रूप से स्थित कार्य का अभिव्यक्त करने में उसकी सार्थकता है। अन्यथा असत् की यदि कारक व्यापार से अभिव्यक्ति मानें तो कारक व्यापार से, अग्नि से वायु आदि की, जलमन्थन से घृत आदि की तथा सिकताओं से तैल

की भी अभिव्यक्ति का प्रसङ्ग होगा। किन्तु असत् कार्यवादियों के मत में भी कारक व्यापार अनुपपन्न ही है। कार्य की उत्पत्ति से पहले कार्य के असत् होने से कार्य से अन्यत्र ही कारक व्यापार होगा, तब कार्य का असत्व जैसे कपाल में है, उसी तरह तन्तु में भी है फिर तो तन्तुगत कारक व्यापार से घट आदि की उत्पत्ति का प्रसंग होगा। इसलिए कार्य असत् नहीं होता है। तथा युक्ति एवं शब्दान्तर इस हेतुद्वय से भी कार्य का सत्व निश्चित होता है। यहाँ युक्ति है– अनुपपत्ति का निरास करके उपपत्ति के समर्थन द्वारा वस्तु निर्णायक वाग्रचना जैसे यदि कार्य असत् होकर ही उत्पन्न होता है तब दधि के इच्छुकजनों द्वारा दूध का ही एवं घटार्थीजनों द्वारा मृत्तिका का ही ग्रहण नहीं किया जाता, प्रत्युत विपरीत भी होता। दधि के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा मृत्तिका आदि का ग्रहण एवं घटार्थीजनों द्वारा क्षीर आदि का ग्रहण किया जाता, कार्य का दधि का असत्त्व जैसे दूध में है, वैसे मृत्तिका में भी, पर ऐसा होता नहीं है इसलिए असत् कार्य नहीं है। इसलिए कारण में व्यक्त एवं अव्यक्त उभय अवस्था में कार्य का सद्भाव है, स्थूल सूक्ष्म की व्यवस्था से सत् असत् पदों द्वारा श्रुति व्यवहार करती है। अन्यथा सर्वत्र सबके अभाव की समानता होने से अग्नि आदि से भी अंकुर आदि की उत्पत्ति क्यों नहीं होती। यदि कहें कि असत्व की समानता होने पर भी क्षीर में ही दही एवं घृत का कोई अतिशय (धर्म विशेष) है, जिससे दूध से ही दही की उत्पत्ति होती है, मृत्तिका आदि में दही का अतिशय नहीं है, इसी प्रकार मिट्टी में ही घट का कोई अतिशय है न कि क्षीर आदि में तो ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण यदि अतिशय अङ्गीकार कहते हैं तो पूर्व अवस्था में असत् कार्यवाद की हानि तथा सत् कार्यवाद की सिद्धि भी आपके श्रीमुख से ही सिद्ध हो जाती है। सत्कार्यवाद में कारक व्यापार भी व्यर्थ नहीं होता, इस शंका का पहले ही निस्तार कर दिया है। कारण की कार्याकार रूप में कार्य की व्यवस्था द्वारा ही सार्थक है। कारण ही कार्याकार रूप में परिणत होकर कार्य कहलाता है। कार्याकार कारणात्मक होता है ऐसा नियम है 'ऐतदात्म्यमिदम्' ऐसा श्रुतिवचन है– "वासुदेवात्मकान्याहुः" ऐसा स्मृति वाक्य भी है। इस तरह कार्य की उत्पत्ति से पहले कारण में सत्व का निश्चय होता है। और शब्दान्तर से भी सत्व का निश्चय होता है, ऐसी योजना करनी चाहिए। पूर्व में उदाहृत सत् प्रतिपादक असत् शब्द से अन्य उसमें विपरीत (सत्व) अर्थ का प्रतिपादक शब्द शब्दान्तर है– जैसे 'सदेव सौम्येदम्' इत्यादि। इससे भी सत्व की सिद्धि होती है। अथवा 'तद्धैके आहुः असदेवेदमग्र आसीत्' इस श्रुति द्वारा असद् व्यपदेश और उससे वैलक्षण्य परक 'कथमसतः सज्जायेत' यह शब्दान्तर इसके द्वारा भी उत्पत्ति से पहले इदं शब्दाभिधेय कार्य की सत्ता का निश्चय होता है। अन्यथा इदं शब्द से व्यपदेश्य कार्य का सत् शब्द वाच्य कारण के साथ श्रूयमाण सामानाधिकरण्य (अभेद) असंभव हो जायगा। सत् असत् परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है, उनमें सामानाधिकरण्य असंभव है। इसी से 'स्थाणुरेव चौरः' स्थाणु ही चोर है, इसी तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुति में जगत् और उसके कारण ब्रह्म में सामानाधिकरण्य अच्छी तरह उपपन्न होता है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि यह मत अश्रौत है। अन्यथा असत् कार्यवाद का प्रसङ्ग हो जायगा। स्थाणु और चोर में उपादान उपादेय भाव न

होने से दृष्टान्त भी असिद्ध है। कारण वाक्यशेष में "तज्जलानिति" ऐसा वाक्य है। इसी से कार्यकारण में अत्यन्त भेद पक्ष भी निरस्त हो जाता है। अत्यन्त भिन्न गौ और अश्व की तरह सामानाधिकरण्य संभव नहीं है। 'गौरनाद्यन्त', 'ऊर्ध्वमूलोऽर्वाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः", "तत्सदासीत्, अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यम्" "अथैनमाहुः सत्यकर्मेति सत्यं ह्येवेदमसौ सृजते, अष्टरूपामजां ध्रुवाम्" एवं "ऊर्ध्वमूलमधः शाखम्" इत्यादि स्मृतियों से यही सिद्ध होता है। यदि कहें उक्त भेद प्रतिपादक श्रुतियाँ व्यावहारिक सत्तापरक होने से निराकांक्ष है, इसलिए ये पारमार्थिक नहीं हैं और अभेदपरक श्रुतियाँ पारमार्थिक सत्तापरक है, इसलिए ये अभेद श्रुतियाँ प्रबल हैं तो ऐसा नहीं कह सकते। यह कथन कपोल कल्पना मात्र है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि अभेद श्रुति उपक्रम उपसंहार आदि तात्पर्य निर्णायक षड्लिङ्गों से युक्त होने से प्रबल है तो यह भी नहीं कह सकते। भेद प्रतिपादक श्रुति आदि में भी षड्लिङ्गोपेतत्व का पूर्वाचार्यों ने प्रतिपादन किया है, इसलिए विस्तार के भय से इस विषय में यहीं विराम करते हैं। अभेद श्रुति में निरवकाश होने से प्राबल्य है तो यह भी नहीं कह सकते- भेद प्रति पादक श्रुति भी निरवकाश है। यदि कहें भेद प्रत्यक्ष प्राप्त है, इसलिए भेद प्रतिपादक श्रुतियाँ अनुवाद मात्र हैं, यह भी नहीं कह सकते क्योंकि अभेद शास्त्र के विषय निर्विशेष अधिष्ठान रूप सत्ता का भी घटोऽस्ति (घट है) घटः स्फुटति (घट स्फुटित होता है) पटोऽस्ति (पट है) इस प्रतीति द्वारा प्रत्यक्ष प्राप्त होने से अभेद श्रुतियों में भी अनुवाद परत्व की समानता है। हम पूछते हैं अभेद श्रुति का विषय निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म है या नहीं? पहला पक्ष नहीं कह सकते। ऐसा मानने पर ब्रह्म के पदार्थ हो जाने से भेद शास्त्र की तरह अभेद श्रुतियों में व्यावहारिक परत्व भी आपके श्रीमुख से ही सिद्ध होता है। प्रयोग होगा- निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म व्यावहारिक है क्योंकि वह अभेद श्रुति का विषय है और पदार्थ भी है आपके मत में व्योम आदि की तरह। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते। कारण इदमर्थ होने से शब्द आदि प्रमाणों के अगोचर ब्रह्म में भेद शास्त्रों की तरह अभेद शास्त्र में भी व्यवहार विषयत्व उपपन्न होता है और सकल प्रमाण के अविषय वस्तु शशशृङ्ग में समान होता है और शशशृङ्ग तुल्य होने से अभेद प्रतिपादक श्रुति भी निर्विषय होने से उसका भी वैयर्थ्य हो जायगा। इस प्रकार आपके मत में अभेद शास्त्र का निर्विषय होने से ही बाध हो जायगा। हमारे पक्ष में अभेद शास्त्र का विश्वकारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के साथ ऐक्य प्रतिपादक पद होने से ही निराकांक्ष होने के कारण उक्त दोष नहीं होगा, इस प्रकार अब इस विषय पर अधिक चर्चा निरर्थक है।

यदि कहें कि विवर्तवाद का पक्ष अङ्गीकार नहीं है तो कौन सा पक्ष अभिप्रेत है? संघातवाद या आरम्भवाद अथवा परिणामवाद। पहला पक्ष कह नहीं सकते। उसे मानने पर श्रुति स्मृति बहिर्भूत नास्तिकों के पक्ष में प्रवेश होगा। आरम्भवाद भी नहीं कह सकते। तब तो तार्किक मत के अवलम्बन का दोष हो जायगा। अन्तिम पक्ष भी नहीं कह सकते, यह तो आनुमानिक सांख्यवादियों का मत है। उसमें प्रवेश हो जायगा और इस सबसे भिन्न कोई पक्ष है नहीं तो यह भी ठीक नहीं है। हमें तो चरम पक्ष (परिणामवाद) अभिमत है, यह मत

सूत्रकार सम्मत है क्योंकि 'आत्मकृतेः परिणामात्' ऐसा सूत्रकार का वचन है और 'स्वयमात्मानमकुरुत' यह श्रुतिवचन स्पष्ट है। यदि कहें कि आकाशकल्प व्यापक वस्तु का परिणाम असंभव है। प्रयोग होगा- ब्रह्म परिणाम का अनर्ह है, क्योंकि वह विभुपरिणाम वाला है, जैसे निरवयव होने से आकाश तो यह ठीक नहीं है, परिणाम स्वभाव में कारण क्षीर की तरह परमात्मा के सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् होने के कारण स्वेच्छा से अपने आप को जगदाकार रूप में परिणत करता है, ऐसा कह सकते हैं। यदि कहें कि लोक में सावयव क्षीर का ही परिणाम दर्शन होता है निरवयव का नहीं, इस प्रकार उक्त दोष पूर्ववत् रह ही जाता है तो ऐसा भी नहीं कह सकते।

क्षीरपरमाण्वादौ तद्व्यभिचारात्। तथा हि-नहि सावयवत्वं वस्तुपरिणामे प्रयोजकमपि तु वस्तुगता तादृशी शक्तिरेव। अन्यथा जलस्यापि सावयवत्वाविशेषेण दधिभावे परिणामापत्तेर्दुर्वारत्वात्, क्षीरावयवानां निरवयवत्वाच्च। अयम्भावःद्रव्यपरिणामेऽवयविगता शक्तिः कारणमवयवगता वा? नाद्यः, नहि द्रवद्रव्ये व्यतिरिक्तिस्यावयवित्वं त्वयाऽभ्युपगम्यते। द्वितीये तु क्षीरावयवाः सावयवा? निरवयवा वेति? आद्ये, अनवस्थापत्तिः क्षीराब्धिः कुण्डे स्यादवयवानामानन्त्यात्, तस्मान्निरवयवा एवेत्यकामेनापि त्वयाऽभ्युपगन्तव्याः। एवं निरवयवस्य परिणामाभाववत्त्वनियमभङ्गात् विरुद्धो हेतुर्निरवयवत्वादिति। नापि विभोः परिणामाभावनियमः आकाशस्यापि वाय्वात्मना शब्दात्मना च परिणामदर्शनात्। "आकाशाद्वायुरि"ति श्रुतेः। एतेन द्वितीयस्यापि हेतोः सत्प्रतिपक्षत्वं दृष्यन्तविकलत्वं चोक्तं भवति। तथा च ब्रह्मपरिणामयोग्यं विभुत्वादाकाशवदिति। नच तस्यापि सावयवत्वं जन्यत्वादिनावगम्यत इति वाच्यं, अपञ्चीकृतस्यात्र विवक्षितत्वात्। "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य" इति श्रुतेः। ननु स्यादेतन्निरवयवस्यापि विभोस्तादृशशक्तियोगादेव परिणामस्तथापि तत्र कृत्स्नस्य ब्रह्मणः परिणामोऽभिप्रेतः? तदेकदेशस्य वा? आद्ये, सर्वस्यापि परिणतत्वान्मुक्तोपसृप्यब्रह्माभावप्रसङ्गः विकारित्वानित्यत्वप्रसक्तिश्च, तथात्वे "नित्यं विभुं सर्वगतमि" त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च। किञ्च विकारापन्नस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जगदाकारतया प्रत्यक्षगोचरत्वेन सर्वेषामपि प्राप्तत्वात् सर्वमोक्षप्रसङ्गः, साधनतत्प्रतिपादकशास्त्रतदुपदेष्टॄणामानर्थक्यं च, न द्वितीयः, सदेशत्वापत्त्या सावयवत्वयोगेन "निष्कलं निष्क्रियं शान्तमि" त्यादिनिरवयवत्वप्रतिपादकशास्त्रव्याकोपाच्चायोग्य एव परिणाम पक्ष इति चेन्न। उदाहृतेष्वाकाशादिषु निरवयवत्वविभुत्वसाम्येऽपि निर्विकारित्वदर्शनेन निर्दोषत्वात्। तस्मान्निरवयवस्यापि विभोर्ब्रह्मणः परिणामेऽपि तादृशशक्तियोगादेवाविकारित्वमपीति ध्येयम्, सोऽयं परिणामो न्यग्रोधधानादृष्टान्तेन षष्ठे' श्रुत्या वर्णितः। वस्तुतस्तु शक्तिविक्षेपस्यैव परिणामशब्दवाच्यत्वाद्ब्रह्मस्वरूपपरिणामानभ्युपगम एवेति पूर्वमेवोक्तम्।।१७।।

एवञ्च न कश्चन दोष इत्यादि तात्पर्यं बुद्धौ कृत्वा सूत्रयति भगवान् बादरायणः—

(हिन्दी–अनुवाद)

क्षीर के परमाणु आदि में व्यभिचार होगा। दूसरी बात सावयवत्त्व परिणाम में कारण नहीं है, बल्कि वस्तुनिष्ठ परिणाम जनक शक्ति ही कारण है। अन्यथा सावयवत्त्व होने से

जल का भी दधि रूप में परिणाम दुर्वार हो जायगा तथा क्षीर में अवयव निरवयव होने से भी। तात्पर्य यह है कि द्रव्य के परिणाम में अवयविगत शक्ति कारण है या अवयवगत। पहला पक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि आपके मत में द्रवद्रव्य में अवयवावयविभाव आप नहीं मानते (द्रवद्रव्य में अतिरिक्त अवयवित्व आपके मत में स्वीकार नहीं किया जाता है) द्वितीय पक्ष में क्षीर के अवयव सावयव है या निरवयव ? आद्य पक्ष में अनवस्था की आपत्ति तथा अवयवों के आनन्त्य के कारण कुण्ड भी क्षीराब्धि हो जायगा। इसलिए उसे निरवयव ही बिना इच्छा के भी आपको मानना पड़ेगा। इस प्रकार निरवयव का परिणाम नहीं होता, इस नियम का भङ्ग हो जाने से निरवयत्व हेतु विरुद्ध दोष ग्रस्त हो जाता है। विभु पदार्थ के परिणाम का भी कोई नियम नहीं है, आकाश का भी वायु रूप में तथा शब्द रूप में परिणाम देखा जाता है। जैसा कि श्रुतिवचन है "आकाशाद्वायुः" इसी से द्वितीय हेतु में सत्प्रतिपक्षत्व एवं दृष्टान्तहीनत्व दोष का कथन हो जाता है। इस तरह हम कह सकते हैं कि ब्रह्म परिणाम योग्य है क्योंकि वह विभु है, आकाश की तरह। यदि कहें कि आकाश भी जन्यत्व हेतु से सावयव है, ऐसा जाना जाता है, ऐसा भी नहीं है। अपञ्चीकृत यहाँ विवक्षित है तथा "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" ऐसी श्रुति है। यदि कहें कि मान लेता हूँ कि शक्ति विशेष के योग से निरवयव विभु का भी परिणाम हो सकता है, तथापि सम्पूर्ण ब्रह्म का परिणाम अभिप्रेत है या एक देश का ? प्रथम पक्ष में सम्पूर्ण ब्रह्म के जगत् रूप में परिणत हो जाने पर मुक्त के लिए प्राप्य ब्रह्म का अभाव प्रसङ्ग होगा और विकारित्व-अनित्यत्व की प्रसक्ति भी होगी। तथा अनित्य होने पर "नित्यं विभु सर्वगतम्" इत्यादि श्रुतियों का व्याकोप होगा। दूसरी बात विकार भाव को प्राप्त समग्र ब्रह्म के जगदाकार रूप में प्रत्यक्ष विषय होने से सबके प्राप्त हो जाने के कारण सबके मोक्ष का प्रसङ्ग भी हो जायगा एवं साधन तथा उसके प्रतिपादक शास्त्र एवं उसके उपदेशकों का वैयर्थ्य हो जायगा। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, क्योंकि फिर तो ब्रह्म में सदेशत्व की प्राप्ति होने से सावयवत्व आने के कारण "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इत्यादि निरवयवत्व प्रतिपादक शास्त्रों का व्याकोप भी होगा- इसलिए यह परिणामवाद पक्ष अयोग्य ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते। पूर्वोदाहृत आकाश आदि में निरवयवत्व एवं विभुत्व की समानता होने पर भी निर्विकारित्व दर्शन से निर्दोष है। इसलिए निरवयव तथा विभु ब्रह्म का परिणाम मानने पर भी शक्ति विशेष के योग से ही अविकारित्व भी होता है। यह परिणामवाद न्यग्रोध एवं धाना दृष्टान्त से षष्ठ अध्याय में श्रुति द्वारा वर्णित है। वास्तव में तो शक्ति विक्षेप ही परिणाम शब्द वाच्य है ब्रह्म को स्वरूप का परिणाम स्वीकार नहीं किया गया है, ऐसा पूर्व में कहा ही गया है।।१७।।

इस प्रकार कोई दोष नहीं है इत्यादि तात्पर्य बुद्धि विषय करके भगवान् व्यास सूत्र बनाते हैं —

---

१. छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके

पटवच्च। २। १। १८।।

यथा सङ्कुचितः पटः पटत्वेनागृह्यमाणोऽपि पट एव, प्रसारणे तु स्पष्टं प्रत्यक्षतया गृह्यते तथा तिरोभावसमयेऽनभिव्यक्तं विश्वं नामरूपाभ्यामगृह्यमाणमपि सदेवाविर्भावसमये तु प्रत्यक्षागमादिना स्पष्टं नामरूपाभ्यां गृह्यत इति सूत्रार्थः। तथोक्तं वैष्णवे श्रीध्रुवेण "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि।। बीजादङ्कुरसम्भूतोन्यग्रोधः स समुत्थितः। विस्तारं च यथा याति त्वत्तः सृष्टौ तथा जगदि" त्यादिना।।१८।।

उक्तसिद्धान्तसिद्धये तदुपोद्बलनरूपं दृष्टान्तरमाह भगवान् सूत्रकारः —

(हिन्दी–अुनवाद)

जैसे सङ्कुचित पट पटरूप में स्पष्टरूप में ज्ञात न होने पर भी पट ही होता है, फैलाने पर तो प्रत्यक्षतया स्पष्ट ही गृहीत होता है, उसी प्रकार तिरोभाव दशा में जगत् अव्यक्त रूप में स्थित होने से नाम रूपात्मक रूप में ज्ञात न होने पर भी सत् ही रहता है परंतु आविर्भाव के समय प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाणों द्वारा स्पष्ट तथा नाम रूप में गृहीत होता है यह सूत्रार्थ है। जैसा कि वैष्णव शास्त्र में ध्रुव जी ने कहा है– "न्यग्रोधः सुमहानल्पे यथा बीजे व्यवस्थितः। संयमे विश्वमखिलं बीजभूते तथा त्वयि।। अर्थात् जैसे महान् वटवृक्ष सूक्ष्म बीज में व्यवस्थित रहता है। उसी तरह प्रलय काल में सम्पूर्ण विश्व बीज स्वरूप आप में सन्निहित रहता है। बीज से अङ्कुर तथा अङ्कुर से महान् वट वृक्ष उत्पन्न होता है और महान् विस्तार को प्राप्त होता है, उसी प्रकार पहले से ही आप में जगत् बीज रूप में स्थित रहता है, और क्रमशः विस्तार भाव को प्राप्त होता है।।१८।।

उक्त सिद्धान्त की सिद्धि के लिए उसमें समर्थन के अनुरूप दृष्टान्त कहते हैं– भगवान् सूत्रकार —

यथाच प्राणादिः। २। १। १९।।

यथा प्राणायामसङ्कुचितशक्तिः प्राणः प्राणापानादिना विशेषरूपेणागृह्यमाणोऽपि सूक्ष्मसद्रूपप्राणापानादिविशेषवानेव। मुक्तायामस्तु तत्तद्विशेषरूपेणाकुञ्चनप्रसारणादि-कार्यान्यथानुपपत्त्या स्पष्टं गृह्यते, तद्वत्सृष्टेः प्राक् अनभिव्यक्तनामरूपकं कार्यं तत्तन्नामरूपाभ्यामगृह्यमाणमपि स्वोपादेन सदेव, सृष्टिसमये तु व्याकृतनामरूपत्वात् स्पष्टं गृह्यत इत्यक्षरार्थः। ननु कार्यस्य सत्त्वमनुपपन्नं, तथाहि– "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, नेह नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यती" त्यादिश्रुतिभिः सावधारणाभिरन्वयव्यतिरेकेण कारणैकत्वनिश्चायिकाभिः कारणेतरवस्तुमात्रस्य निषिध्यमानत्वान्मृषात्वमेव, तस्माद्रज्जुज्ञानेन सर्पादिबाधवत् ब्रह्मात्मत्वज्ञानेन शारीरत्वस्य बाधे तत्कृतसर्वव्यवहारस्यापि बाधः स्यादिति, "यत्र त्वस्य

सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदि" तिश्रुतेः। तथैवाह च भगवान्भाष्यकारः, "मृत्तिकेत्येव सत्यमि"ति। प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात् वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्यानृतत्वाभिधानात्। दार्ष्टान्तिकेऽपि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यमि'ति च परमकारणस्यैकस्य सत्यत्वावधारणात्। 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो!' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात् स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरसाध्यमतश्चैवं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरत्वस्य बाधकं सम्पद्यते रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनां, बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवतीत्यादिनेति चेन्न, एकत्वावधारणश्रुतीनां जगत्कारणसार्वज्ञ्यादिमत्परब्रह्मैकत्वपरत्वेन "नेह नाने" त्यादिश्रुतीनां च कारणगतस्वतन्त्र-सत्तावच्छिन्नवस्तुमात्रनिषेधपरत्वेन चास्मत्पक्षे स्वार्थ एव प्रामाण्यात्, न तावत्कारणैकत्वावधारणं निषेधश्चेतरस्य वस्तुजातस्यानृतत्वे नियामकम्। अपितु स्वविषयसमसत्ताकत्वनिषेधमात्र एव। यथा चोलराज एकोऽद्वितीयोऽभूदिति वाक्यं न तद्राजान्तरमात्रस्य तत्सेनादीनां वा निषेधपरं, किन्तु तत्तुल्यनृपान्तरस्य निषेधमात्रपरमेव। एवं प्रकृतेऽपि समञ्जसम्। किञ्च कार्यजातस्यानृतत्वेऽसत्कार्यवादापत्त्या वैदिकत्वं दत्ततिलाञ्जलिः स्यातद"सत्यमप्रतिष्ठं च जगदाहुरनीश्वरमि"ति आसुरपक्षाभ्युपगमश्च, "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्, सत्त्वाच्चावरस्ये" त्यादिशास्त्रव्याकोपश्च। नापि "यत्र त्वस्ये" तिश्रुतिः प्रपञ्चबाधपरा, किन्तु कारकजातस्य स्वतन्त्रसत्तानिषेधेन तस्य ब्रह्मात्मकत्वविधान-परेति सर्वं समञ्जसम्। अन्यथा "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इत्यादिश्रुतिविरोधात्। श्रुत्यर्थस्तु सदेवेत्यत्र स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सत्पदार्थः। "आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुण" इति श्रुतेः। एकपदं ब्रह्मणः क्षराक्षराभ्यामुत्कर्षरूपप्राधान्यं विधत्त 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरोक्तेः। 'एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहाय-संख्याप्रथमसमानवाची'ति "एकोगोत्र" इति सूत्रे कैयटोक्तेश्च। सहायान्तरशून्यत्वोत्कर्षपरो वा "ष्णान्ताः षडि"ति सूत्र एकशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्ति संख्यार्थेऽस्त्यसहायवाची, "अस्त्यन्यार्थ" इति महाभाष्यकारोक्तेश्च। तथा च क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टमन्यसहायहीनमेक-संख्याकमेकपदार्थः। "प्रधानक्षेत्रज्ञपति अक्षरात्परतः पर" इत्यादिश्रुतेः। "यस्मात्क्षरमतीतोऽहं", मत्तः परतरं नान्यदि"ति श्रीमुखोक्तेश्च, अयोगव्यवच्छेदार्थः प्रथम एव शब्दः, तदधिकोत्कृष्टव्यवच्छेदपरो द्वितीयः, स्वातिशयवस्तुशून्य इत्यर्थः। अद्वितीयशब्दश्च समाननिषेधपरः। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्चे"ति श्रुतेः। "नत्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्य" इति स्मृतेश्च। यद्वा एकशब्दः संख्यापरः, एवाद्वितीयशब्दयोश्चेतननिषेधपरत्वम्, उभयोरपि ब्रह्मसमस्वतन्त्रसत्ताकत्वाभवात्। किञ्च स्वगतानन्तासंख्येयज्ञानादिकल्याण-धर्माणामपि स्वरूपेतरस्वतन्त्रसत्ताभावेन तद्गतस्वतन्त्रसत्तानिषेधोऽप्यविरुद्धः। "तदासीत्तदधीनमासीदि"ति श्रुतेः। तथाच चेतनाचेतनानां स्वगतधर्माणां न तदात्मकत्वाद्यविशेषेण तदपृथक्सिद्धत्वात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" त्यग्रिमवाक्यात् "वासुदेवात्मकान्याहुरि" तिस्मृतेश्च। एष एव स्वतन्त्रसत्ताश्रयः सत्पदार्थ आत्मा यस्य स तदात्मा तस्य भावस्तत्त्वमितिश्रुत्यर्थः। सदात्मकमिति यावत्। नन्वस्य वाक्यस्य

सजातीयादिभेदशून्यपरत्वमेव, तत्राचेतनवृत्तिभेदः सजातीयभेदो जडभेदो विजातीयभेदो, धर्मभेदः स्वगतभेदस्तथा च त्रिविधभेदस्य श्रुत्यैव निषिद्धत्वेन तद्विषयस्य कथं पारमार्थिकत्वमिति चेन्न, स्वप्राङ्गणेऽश्वधावनमात्रत्वात् तथाहि- अद्वितीयपदेनैव द्वितीयपदार्थमात्रस्य निषेधसिद्धौ पदान्तरवैयर्थ्यात्, ब्रह्मेतरस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं वदन्तोऽत्र प्रष्टव्याः, श्रुत्यभिहितद्वितीयमात्राभावः कालत्रयेऽस्ति ? न वा ? नाद्यः स्वोक्तव्याघातात्। अन्त्ये, द्वितीयस्य सत्तापत्तेः। नच नाभावो द्वितीयोऽद्वैतविरोधीति वाच्यम्, अभावत्वाधेयत्वाधारत्वादिभावैरविनाभूतेनातिशयोऽप्यद्वैतभङ्गात्, अभावत्वरूपप्रवृत्ति-निमित्तसम्भवेन वेदान्तानां सखण्डार्थत्वापत्तेश्च। किञ्च को वा सत्पदार्थः? शुद्धोवोपहितोऽव्याकृतो वा? नाद्यः, "तदैक्षत बहु स्यामि"ति श्रुत्येक्षणबहुभवनसंकल्पयोग-श्रवणादन्यथा शुद्धत्वभङ्गात्। त्वया शुद्धस्य पदार्थत्वानङ्गीकाराच्च। अन्यथा मिथ्यात्वप्रसङ्गात्। शुद्धं ब्रह्म मिथ्या पदार्थत्वात्तव मते घटादिवदित्यनुमानात्। द्वितीये, ततो मायाभूतोपाधि-र्भिन्नोऽभिन्नोवा? नाद्यः, द्वैतापत्तेः। नान्त्यः, उपाधिर्ब्रह्मेति सिद्धान्तापत्तेः, उपहितस्य पारमार्थिकसत्ताऽसम्भवाच्च। अन्यथा तस्यैव मुक्तगम्यत्वेन शुद्धस्याप्रयोजकत्वापत्तेश्च। नाप्यव्याकृतः, सिद्धान्तभङ्गादस्मदिष्टत्वाच्च। अव्याकृतस्य जीवादिभेदेऽपि नास्माकं हानिः, जीवादीनां तादात्म्यसम्बन्धाभ्युपगमात्, ब्रह्मणः सविशेषत्वाङ्गीकाराच्च। अव्याकृतं नाम भूतसूक्ष्माणिं कर्मसंस्कारसहिताश्च जीवास्तदन्तर्यामी परमेश्वरश्चाधिष्ठाता एतेषां समुदायस्तस्य चानेकविशेषत्वात्सुतरां तव सिद्धान्तभङ्गः, उक्तव्याख्याविरोधश्च। अन्यथा भूतसूक्ष्माभावेऽसत्कार्यवादापत्तिः, जीवानङ्गीकारे कृतनाशादिप्रसङ्गः, सृष्टिवैचित्र्य हेतुभूतकर्माभावे सृष्ट्यभावप्रसङ्गः, तस्याः साम्यप्रसङ्गश्च, ब्रह्मणि वैषम्यनैर्घृण्यप्रसक्तिश्च। परमेश्वरानङ्गीकारे स्रष्ट्रभावेन सृष्ट्यसम्भवः, वाह्यपक्षाङ्गीकारप्रसङ्गाच्च। किञ्च द्वितीयमात्रनिषेधे श्रुतावग्रपदवैयर्थ्यम्। किञ्च कोवाऽद्वितीयपदार्थः, न द्वितीयोऽद्वितीय इति नञ्समासे नञर्थस्तु षड्विधः। तत्र न तावत्सादृश्यं द्वितीयसदृशमितिपदार्थापत्तेः, निर्विशेषे सादृश्यधर्मासम्भवाच्च। नाप्यभावः, असदेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेदि"ति निन्दाश्रवणात्। नापि तदन्यत्वं, द्वैतापत्तिप्रसङ्गात्। नापि तदल्पता, ईषद्द्वितीय इति पदार्थः स्यात्। नाप्यप्राशस्त्यं अप्रशस्तद्वितीय इत्यर्थः स्यात्। नापि विरोधोऽनङ्गीकारात्। किञ्चाद्वितीयपदस्य द्वितीयाभावमात्रसंङ्कोचापेक्षया सकलकल्पनाऽविरोधाय स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नद्वितीयनिषेधपरत्वस्यैवौचित्यात्। नचावान्तरतात्पर्येण द्वितीयाभावसिद्धि-र्महातात्पर्येण चाखण्डार्थसिद्धिरिति वाच्यं, द्वितीयाभावस्य सत्त्वेऽद्वैतहानिः मृषात्वे द्वैतस्य सत्यत्वापत्तिः। द्वितीयाभावविशिष्टतया ज्ञाते ब्रह्मणि विशेष्यमात्रे सन्देहाद्यभावेन तत्र तात्पर्यकल्पनस्याप्रमाणिकत्वात्। अन्यथा शब्दमात्रस्य तात्पर्यद्वयं स्वीकृत्याखण्डार्थ-कत्वापत्तिरिति संक्षेपः। एतेन "आत्मा वा इदमग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत् एको ह वै नारायण आसीदि" त्यादिश्रुतयोपि व्याख्याताः, तुल्यार्थत्वात्। अथ "नेह नाने"ति, इह जगत्कारणे ब्रह्मणि नानात्वं नास्ति, तस्य सर्वास्वप्युपनिषत्स्वेकत्वाव- धारणात्। कारणनानात्वदर्शनस्य फलमाह। "मृत्योः स "मृत्युमाप्नोती"ति नित्यसंसारी भवति परमेश्वरे नानात्वदर्शित्वात्" इव शब्दोऽल्पार्थः "इवोपमायामल्पे चे"ति कोशात्। स च

कैमुत्यन्यायपरः, कारणे ब्रह्मणि यद्यल्पनानात्वदर्शनस्येदृक्फलं किं पुनर्बहुत्वेनेत्यर्थः। एतेन "द्वितीयाद्वै भयं भवती" त्यापि श्रुतिर्व्याख्याता तुल्यार्थत्वात्। ननु कारणे ब्रह्मणि भेदाप्रसक्तिरप्रसक्तस्य च निषेधायोगादिति चेन्न, जगत्कारणेनाऽनेकत्वप्राप्तेः, शास्त्रसिद्धत्वात् "जीवाद्भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः। जीवे प्रलयमृच्छन्ति न जीवात्कारणं परमि"ति "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता, न सन्नचासच्छिव एव केवलः स्वभावमेके कवयो वदन्ति, कालं तथाऽन्य" इत्यादिश्रुतिभिः कारणनानात्वस्य सुप्रसक्तत्वात्। "इहे"ति। विशेषणान्नानात्वमात्रनिषेधसम्भवः निषेधतदाधारब्रह्मणोर्निषेधनिषेध्ययोर्नानात्वतदभावयोश्च भेदावश्यकत्वादिति संक्षेपः। अथ नानाशब्दोऽत्र विनार्थकः "विनञ्भ्यां नानाञौ न सहे"ति सूत्रे महाभाष्यकारैर्नाना-विनाशब्दयोरेकार्थत्वोक्तेः। तथा चैवं योजना, इह जगति नाना स्वोपादानं परमेश्वरं बिना किञ्चनापि वस्तुजातं नास्ति, सर्वकार्यत्वावच्छिन्नस्य स्वोपादानाविनाभूतत्वात्। "यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरमि"ति श्रीमुखोक्तेः। अन्यत्स्पष्टं, "सर्वं तं परादाद्य आत्मनोऽन्यत्सर्वंवेदे"तिश्रुत्यन्तराच्च। एतेनैव "नाना विष्णुं मोक्षदो नान्यदेवः" इत्यपि श्रुतिर्व्याख्याता, विष्णुं विनाऽन्यदेवो ब्रह्मादिर्मोक्षदो नास्तीत्यर्थः। 'बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः। कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः' इति स्मृतेः। "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरि"ति श्रुत्यन्तराच्चेति। अथ "यत्र त्वस्ये"ति यत्र यस्यां ध्रुवास्मृत्याख्यावस्थायामस्य विदुषः सर्वं कर्तृकरणकर्मादिकारक-जातमात्मैवाभूदिति आत्मशब्दोऽत्र विश्वात्मभूतपरब्रह्मपरः ब्रह्मात्मकत्वेन तदपृथक्-सिद्धत्वात्तत्ताविधानमविरुद्धं ब्रह्मैव, ब्रह्मापृथक्सिद्धमेवाभूत् तर्हि केन स्वतन्त्रसत्तावच्छिन्नकरणेन कं वा स्वतन्त्रत्वेन पृथक्वस्तुजातं कर्मकारकरूपं, को वा स्वतन्त्रभूतो द्रष्टा कर्तृकारकरूपः पश्येदिति योजना, सर्वकारकजातस्य तत्प्रयोज्यतया केषुचिदपि कर्त्रादिषु स्वातन्त्र्याभावेन "स्वतन्त्रः कर्त्ते"ति सूत्रोक्तकर्त्रादिकारकलक्षणासमन्वये तत्ताभावात् तदात्मकतत्प्रयोज्यत-दाध्येयतद्व्याप्यत्वाद्यवछिन्नैस्तत्तत्कारकैस्तत्तत्कर्मकारयिता श्रीपुरुषोत्तम एव "एष एव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, स कारयेत्पुण्यमथापि पापमि" त्यादिश्रुतेः तस्मात्तदात्मकेन करणेन तदात्मकं वस्तुजातं तदात्मको द्रष्टेत्यर्थः। ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुतेरिति संक्षेपार्थः। तस्मात्कार्यं सदेव, कारणादनन्यं चेति सिद्धम्।।१९।। इत्यारम्भणाधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे प्राणायाम द्वारा प्राणायाम काल में प्राणवायु की शक्ति संकुचित रहती है, अवरूद्ध रहने से प्राणवायु प्राण, अपान आदि विशेष रूप से गृहीत न होने पर भी सूक्ष्म रुप में सत् प्राण अपान आदि विशेषवान् ही होता है- परंतु श्वासावरोध जब त्याग दिया जाता है, तब स्पष्टतया गृहीत होता है, उसी प्रकार सृष्टि से पहले अव्यक्त नाम रूप वाला, यह जगत् रूप कार्य तत् तत् नाम रूपों द्वारा अगृहीत होने पर भी अपने उपादान के साथ सद् रूप में विद्यमान ही रहता है। सृष्टि के समय व्यक्त नाम रूप वाला होकर स्पष्टतया गृहीत होता

है- यह अक्षरार्थ है। यदि कहें कि कार्य का सत्त्व उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, य इह नानेव पश्यति" यह जगत् सृष्टि से पहले सद् रूप ही था, वह एक मात्र अद्वितीय था। इस संसार में नाना तत्त्व नहीं है। वह व्यक्ति भी मृत्यु को प्राप्त करता है, जो इस संसार में नाना तत्त्व देखता है इत्यादि सावधारण तथा अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कारण ब्रह्म की एकता का निर्णय करने वाली श्रुतियों द्वारा कारण ब्रह्म से इतर वस्तुमात्र का निषेध होने से उसका मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। इसलिए रज्जु के ज्ञान से सर्प आदि के बाध की तरह, ब्रह्मात्मत्व ज्ञान से शारीरत्व (जीवत्व) के बाध होने पर जीवकर्तृक समस्त व्यवहार का बाध हो जायगा। जैसा कि श्रुतिवचन है- "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" (जिस मुक्ति दशा में सब कुछ आत्मा हो जाता है वहाँ कौन किसको देखेगा) भगवान् भाष्यकार ने भी ऐसा ही कहा है- "मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति। प्रकृति मात्र के होने पर सत्यत्व का अवधारण होता है। 'वाचारम्भण' शब्द से विकारमात्र (कार्यमात्र) के अनृतत्व का कथन हो जाता है। दार्ष्टान्तिक में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' का यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है। वह सत्य है, इस श्रुति द्वारा एकमात्र परम कारण ब्रह्म को ही सत्य माना है। "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (वह आत्मा है और वही तुम हो) इस श्रुति द्वारा जीवात्मा के ब्रह्मभाव का उपदेश है। इस उपदेश से इस जीवात्मा के स्वयं प्रसिद्ध ब्रह्मात्मत्व का उपदेश है, यत्नान्तर साध्य नहीं है। इसलिए इस प्रकार जीव का शास्त्रीय ब्रह्मात्मत्व ज्ञात होने पर वह शारीरत्व का बाधक होता है। इस तरह, जिस प्रकार रज्जु आदि का ज्ञान सर्प आदि की बुद्धियों का बाधक होता है, उसी प्रकार जीवात्मत्व के बाधित होने पर तत्प्रयुक्त समस्त स्वाभाविक व्यवहार बाधित हो जाता है, इत्यादि प्रकार से कार्य का सत्व अनुपपन्न होगा तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि एकत्व निश्चायक 'एकमेवाद्वितीयम्' श्रुतियों का तात्पर्य है कि जगत्कारण, सार्वज्ञ्यादि गुण गण विशिष्ट परब्रह्म एक है तथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य है कि ब्रह्म के समान स्वतन्त्र सत्ताश्रय कोई अन्य तत्त्व नहीं है, इस तरह हमारे पक्ष में स्वार्थ में ही प्रमाण है। कारणगत एकत्वावधारण तथा नानात्व निषेध ब्रह्मातिरिक्त वस्तु मात्र के अनृतत्व में नियामक नहीं है। किन्तु ब्रह्म समान सत्ता के निषेध मात्र से ही तात्पर्य है। जैसे कहें कि चोलराज एक अद्वितीय पुरुष हुए हैं। यह वाक्य न ही अन्य राजा या उसकी सेना आदि का निषेधक होता है किन्तु उसके समान अन्य राजा के निषेध मात्र में उसका तात्पर्य होता है। इस प्रकार प्रकृत में भी सब बात समझनी चाहिए। दूसरी बात यह कार्यमात्र के अनृत होने से असत् कार्य वाद की आपत्ति हो जाने से वैदिकत्व ही सर्वथा विनष्ट हो जायगा। और 'असत्यमप्रतिष्ठं च जगदाहुरनीश्वरम्' जो जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठ एवं अनीश्वर (ईश्वर रहित) मानता है, वह असुर है, इस भगवद्वचन के अनुसार आसुर पक्ष का स्वीकार होगा। तथा 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' 'सत्वाच्चावरस्य' इत्यादि शास्त्रों का व्याकोप होगा। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" यह श्रुति भी प्रपञ्च बाध परक नहीं है, किन्तु कारक मात्र में स्वतन्त्र सत्ता का निषेध होने से सब श्रुति ब्रह्मात्मकत्व विधान परक है, इतना ही तात्पर्य है। अन्यथा 'सर्वंहि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः' मुक्त जीव मुक्त अवस्था में सब कुछ देखता है- सब कुछ प्राप्त करता है, इत्यादि

श्रुति के साथ विरोध होगा। उक्त श्रुति का अर्थ है 'सदेव' यहाँ सत्पदार्थ स्वतन्त्र सत्ताश्रय है। क्योंकि 'आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः' आत्मा परम स्वतन्त्र तथा अनेकानेक गुणों से युक्त है। ऐसी श्रुति है। एक पद ब्रह्म में क्षर अक्षर दोनों से उत्कर्ष रूपी प्रधानता का विधान करता है, यह प्रतिपादन करता है। एक शब्द के मुख्य, अन्य तथा केवल ये तीन अर्थ होते हैं- 'एके मुख्यान्यकेवलाः' ऐसा अमर कोष का वचन है। यह एक शब्द अन्य, प्रधान, असहाय, संख्या, प्रथम तथा समान अर्थ का वाची है, ऐसा 'एको गोत्रे' सूत्र की भाष्य व्याख्या में कैयट की उक्ति है। सहायान्तर शून्यत्व (सहायक रहित) रूप उत्कर्ष परम है। इस प्रकार 'ष्णान्ता षट्' सूत्र के भाष्य में यह एक शब्द बह्वर्थक माना गया है। एक शब्द संख्या अर्थ में है, यहा असहाय वाची भी है- तथा अन्यार्थक भी है। ऐसा महाभाष्यकार ने भी कहा है। इस प्रकार यहाँ (एकमेवाद्वितीयम्) में एक पद का क्षर अक्षर से उत्कृष्ट, अन्य सहायक से रहित एक मात्र ब्रह्म ही तत्व है, यह अर्थ है जैसा कि श्रुति का वचन है- "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिः" "अक्षरात् परतः परः" इत्यादि "यस्मात् क्षरमतीतोऽहम्" "मत्तः परतरं नान्यत्" ऐसा भगवान् ने श्रीमुख से भी कहा है। यहाँ अयोग व्यवच्छेदार्थक पहला एक शब्द है। उनसे अधिक का व्यावर्तक दूसरा एव शब्द है अर्थात् ब्रह्म से उत्कृष्ट कोई वस्तु नहीं है। अद्वितीय शब्द समानतत्व निषेधपरक है- 'जैसा कि श्रुति वचन है- 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते' 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' ऐसा स्मृति वचन भी है। अथवा एक शब्द संख्या परक है तथा एव एवं अद्वितीय शब्द चेतनाचेतन निषेधपरक है, इन दोनों में ब्रह्म सदृश स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इसी तरह- स्वगत ब्रह्मगत अनन्त असंख्येय ज्ञान आदि कल्याण गुण गणों में भी स्वरूप से इतर स्वतन्त्र सत्ता के अभाव से उन गुणगणगत स्वतन्त्र सत्ता का निषेध विरुद्ध नहीं है- "तदासीत्तदधीनमासीत्" ऐसी श्रुति है। इस प्रकार चेतन (जीव) अचेतन (प्रकृति-प्राकृत ...) तथा ब्रह्म में स्वगत धर्म इन सबमें ब्रह्मात्मकत्व होने से ये सब ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध हैं। क्योंकि 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' ऐसा अग्रिम वाक्य है। तथा "वासुदेवात्मकान्याहुः" ऐसा स्मृति वचन भी है। यह स्वतन्त्र सत्ताश्रय सत् पदार्थ परमात्मा आत्मा है, जिसका वह तदात्मा उसके भाव को तादात्म्य कहते हैं, यह श्रुत्यर्थ है। यदि कहें कि 'एकमेवाद्वितीयम्' यह वाक्य सजातीय विजातीयादि त्रितय भेद शून्य परक ही है, यहाँ चेतन वृत्ति भेद सजातीय भेद है, धर्मभेद स्वगत भेद हैं, तथा जड़भेद विजातीय भेद है- इस त्रिविध भेद का श्रुति ने निषेध किया है, फिर पारमार्थिक कैसे हो सकता तो ऐसा नहीं कह सकते- यह अपने अंगने में घोड़ा दौड़ने या दौड़ाने के समान है। क्योंकि अद्वितीय पद से ही द्वितीय पदार्थमात्र का निषेध सिद्ध होने से दूसरे एक पद का उच्चारण व्यर्थ है। ब्रह्म से इतर में त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगित्व है, ऐसा कहने वालों को पूछना चाहिए कि श्रुति द्वारा प्रतिपादित द्वितीय मात्र का अभाव कालत्रय में है या नहीं, प्रथम पक्ष में अपनी• उक्ति का व्याघात होगा (क्योंकि अप्रसिद्ध प्रतियोगिक अभाव अमान्य होता है) अन्त्य पक्ष में द्वितीय की सत्त्वापत्ति होगी (क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगी स्वरूप होता है) यदि कहें कि द्वितीय अभाव अद्वैत का विरोधी नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते। द्वितीय अभाव को अतिरिक्त मानने के पक्ष में भी

● क्योंकि अप्रसिद्ध प्रतियोगिक अभाव नहीं होता। (सं)

उसमें अभावत्व सत्ता मानने पर अद्वैत भङ्ग होगा। द्वितीयाभाव को अधिकरण स्वरूप मानने के पक्ष में भी द्वितीयाभावनिष्ठ आधेयता निरूपित अधिकरणत्व की आवश्यकता होने से अद्वैत व्याघात होता है- यही बात कहते हैं- अभावत्व, आधेयत्व आधारत्वादि भावों से अविनाभूत अतिशय द्वारा भी अद्वैत भङ्ग हो जायगा तथा अभावत्व रूप प्रवृतिनिमित्त की संभावना से वेदान्त वाक्यों में सखण्डार्थत्व की आपत्ति भी हो जायगी। दूसरी बात हम पूछते हैं- सत् पदार्थ क्या है- शुद्ध ब्रह्म सत् पदार्थ है या उपहित ब्रह्म या अव्याकृत? प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, "तदैक्षत बहु स्याम्" इस श्रुति के द्वारा सत् में ईक्षण बहुभवन रूपी संकल्प के योग का श्रवण है और निरुक्त संकल्प योग होने पर शुद्धत्व भङ्ग होता है। आप शुद्ध[1] पदार्थत्व नहीं मानते हैं, अन्यथा पदार्थ मानने पर मिथ्यात्व का प्रसङ्ग हो जायगा। अनुमान करेंगे- शुद्ध ब्रह्म मिथ्या है- पदार्थ होने से आपके मत में घट आदि की तरह, जब आप कहते हैं कि जो पद का अर्थ होता है यानी पदवाच्य होता है- वह मिथ्या होता है तब तो शुद्ध ब्रह्म किसी पद का अर्थ नहीं है और जो किसी पद का अर्थ ही नहीं, वह तो मिथ्या होता है- जैसे खपुष्प। इस प्रकार आपका शुद्ध ब्रह्म मिथ्या हो जायगा। यदि सत् पदार्थ उपहित ब्रह्म है तो हम पूछते हैं कि उसकी उपाधि माया को उस ब्रह्म से भिन्न या अभिन्न मानने पर द्वैतापत्ति, अभिन्न है तो उपाधि माया ब्रह्म है ऐसा सिद्धान्त होगा, जो आप मानते नहीं। आपके मत में माया को ब्रह्म नहीं माना जाता। उपहित ब्रह्म में पारमार्थिक सत्ता संभव नहीं है, इसलिए उपहित ब्रह्म सदेव श्रुति का सत् पदार्थ नहीं हो सकता अन्यथा यदि उपहित ब्रह्म को पारमार्थिक सत् पदार्थ कहें तो वही मुक्त गम्य होगा फिर तो शुद्ध अप्रयोजक हो जायगा। उसका कोई प्रयोजन नहीं होगा। तृतीय पक्ष अव्याकृत भी नहीं कह सकते, आपका सिद्धान्त भङ्ग होगा और हमारा इष्ट सिद्ध होगा। अव्याकृत के जीव आदि भेद होने पर भी हमारी कोई हानि नहीं है, क्योंकि हम जीव आदि का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं और ब्रह्म को सविशेष मानते हैं। अब अव्याकृत की व्याख्या करते हैं 'अव्याकृतं नाम' भूतसूक्ष्म, कर्म संस्कार सहित जीव तथा उसके अन्तर्यामी परमेश्वर अधिष्ठाता इनका समुदाय अव्याकृत है। यह अव्याकृत अनेक विशेषताओं से युक्त हैं, इसे मानने पर तो निश्चित ही आपका सिद्धान्त भङ्ग होगा और उक्त व्याख्या का विरोध होगा। अन्यथा सूक्ष्म भूत के अभाव में असत् कार्यवाद की आपत्ति होगी। जीव स्वीकार न करने पर कृतनाश आदि का प्रसंग होगा तथा सृष्टि वैचित्र्य के कारण भूत कर्म के अभाव मानने पर सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा और सृष्टि में समानता का प्रसंग भी होगा तथा ब्रह्म में वैषम्य एवं नैघृण्य का प्रसङ्ग होगा। परमेश्वर के न मानने पर स्रष्टा के अभाव के कारण सृष्टि संभव नहीं होगी तथा नास्तिक पक्ष के अङ्गीकार का प्रसङ्ग होगा। दूसरी बात यदि अद्वितीय पद से द्वितीय मात्र का निषेध मानें तो श्रुति में अग्र पद का वैयर्थ्य होगा और हम पूछते हैं- अद्वितीय पदार्थ क्या है- न द्वितीयः अद्वितीयः, यह नञ् समास है। नञ् के छः अर्थ होते हैं, इसमें सादृश्य अर्थ नहीं कह सकते, तब तो द्वितीय सदृश ऐसा अर्थ होगा, निर्विशेष ब्रह्म में सादृश्य धर्म असंभव है। अभाव अर्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि "असदेव स भवति असद्ब्रह्मेति चेद् वेद" (जो ब्रह्म

---

१. शुद्ध जब कोई पदार्थ ही नहीं, तब शुद्ध की चर्चा ही क्या? (सं)

को असत् कहता है, वह असत् हो जाता है, साधुजनों द्वारा विगर्हित होता है) इस प्रकार अभाव पक्ष की निन्दा है (तथा द्वितीय पदार्थ असत् होने से असत् प्रतियोगिक अभाव अमान्य होने के कारण द्वितीय प्रतियोगिक अभाव रूप अर्थ भी नहीं कह सकते) द्वितीयभिन्नत्व रूप अद्वितीय भी नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा कहने पर द्वैतापत्ति का प्रसङ्ग होगा। अल्पता रूप अर्थ भी नहीं कह सकते, तब अर्थ होगा थोड़ा-सा, द्वितीय यह अर्थ भी इष्ट नहीं है। क्योंकि आपके मत में किञ्चिन्मात्र द्वितीयत्व इष्ट नहीं है। अप्राशसत्य भी नहीं कह सकते, तब अर्थ होगा अप्रशस्त द्वितीय। विरोध अर्थ भी नहीं कह सकते, ऐसा अङ्गीकार नहीं है। इसलिए अद्वितीय पद का द्वितीयाभाव मात्र रूप अर्थ का संकोच करने की अपेक्षा समस्त कल्पनाओं से अविरोध के लिए अद्वितीय पद का स्वतन्त्र सत्तावच्छिन्न द्वितीय निषेध परक मानना ही उचित है। यदि कहें कि अवान्तर तात्पर्य से यहाँ द्वितीय के अभाव की सिद्धि है और महातात्पर्य से अखण्डार्थ की सिद्धि है तो ऐसा भी नहीं कह सकते, यह भी ठीक नहीं है, द्वितीय अभाव के सत्य मानने पर अद्वैत की हानि, द्वितीयाभाव विशिष्ट रूप में ज्ञात ब्रह्म में विशेष्यमात्र से सन्देह आदि का अभाव होने से उसमें तात्पर्य कल्पना अप्रामाणिक होगा। अन्यथा शब्द मात्र के दो तात्पर्य स्वीकार कर अखण्डार्थत्व की आपत्ति होगी। इसी से "आत्मा वा इदमग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्" "एको ह वै नारायण आसीत्" इत्यादि श्रुतियों की व्याख्या भी हो गई, क्योंकि इनका समान अथ है, "नेह नानास्ति किञ्चन" अर्थात् इस जगत्कारण ब्रह्म में नानात्व नहीं है, क्योंकि उस ब्रह्म के सभी उपनिषदों में एकत्व का अवधारण (निश्चय) है। कारण को नाना मानने का फल कहते हैं, "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यः नानेव पश्यति" अर्थात् वह नित्य संसारी होता है, जो जगत् के अनेक कारण मानते हैं अर्थात् जो अनेक ईश्वर मानता है, यहाँ 'इव' शब्द अल्पार्थक है- "इवोपमायामल्पे च" ऐसा कोष वाक्य है। और वह कैमुत्य न्याय बोधक है अर्थात् कारण ब्रह्म में थोड़ा भी नानात्व दर्शन का जब ऐसा फल है फिर बहु नानात्व की तो बात ही क्या? इसी से "द्वितीयाद् वै भयं भवति" इस श्रुति की भी व्याख्या हो जाती है समानार्थक होने के कारण। यदि कहें कि कारण ब्रह्म में भेद की प्रसक्ति ही नहीं है, फिर उसका प्रतिषेध कैसा तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि जगत्कारण में अनेकत्व की प्राप्ति शास्त्र सिद्ध है- जैसा कि कहा है "जीवाद् भवन्ति भूतानि जीवे तिष्ठन्त्यचञ्चलाः। जीवे प्रलयमृच्छन्ति न जीवात्कारणं परम्" तथा "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता" "न सन्न चासञ्छिव एव केवलः", "स्वभावमेके कवयो वदन्ति", "कालं तथान्ये" इत्यादि श्रुतियों द्वारा कारण का नानात्व प्रसिद्ध है। यहाँ 'इह' इस विशेषण से नानात्व मात्र का निषेध संभव है। निषेध तथा उसके आधार ब्रह्म तथा निषेध में और नानात्व तथा उसके अभाव में भेद आवश्यक है, इस प्रकार संक्षेप किया जाता है। यहाँ नाना शब्द बिना अर्थ में है 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' इस सूत्र में महाभाष्यकार ने नाना बिना शब्द को एकार्थक माना है। इस प्रकार श्रुति की योजना इस प्रकार है, इस संसार में नाना उपादान परमेश्वर के बिना कोई भी वस्तु नहीं है। समस्त कार्यजात अपने उपादान बिना नहीं हो सकता। "यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन। न तदस्ति बिना यत् स्यान्मया भूतं चराचरम्" ऐसा भगवान ने श्रीमुख से कहा है अन्य बात सब स्पष्ट है। "सर्वं

तं परादाद्य आत्मनोऽन्यत् सर्वं वेद" अर्थात् जो आत्मा से भिन्न कुछ मानता है, उसका सब कुछ नाश होता है। ऐसा श्रुत्यन्तर है। इसी से "नाना विष्णुं मोक्षदो नान्यदेवः" इस श्रुति की भी व्याख्या हो जाती है अर्थात् विष्णु के बिना अन्य ब्रह्मा आदि देवता मोक्ष दाता नहीं है। "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" "कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः" ऐसा स्मृति वचन है। "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः" ऐसा श्रुतिवाक्य भी है। अब "यत्र त्वस्य" इस श्रुति की व्याख्या में कहते हैं- जिस ध्रुवा स्मृति नामक अवस्था में इस विद्वान् पुरुष के सब कर्ता, करण कर्म आदि समस्त कारक आत्मा ही हो जाता है। यहाँ आत्म शब्द विश्वात्म स्वरूप पर ब्रह्म परक है। ब्रह्मात्मक होने से जीव के इससे अपृथक् सिद्ध होने के कारण 'आत्मैवाभूत्' के द्वारा आत्मत्वाभिधान विरुद्ध नहीं है अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध हुआ, तब किस स्वतन्त्र सत्तावच्छिन्न करण द्वारा किस स्वतन्त्र रूप से पृथक् सिद्ध वस्तु समूह कर्म कारक स्वरूप को कौन स्वतन्त्र भूत द्रष्टा कर्तृकारक रूप देखेगा, ऐसी योजना है। समस्त कारक ईश्वर प्रयोज्य होने से किसी भी कर्ता आदि कारकों में स्वातन्त्र्य का अभाव होने से 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस सूत्र में उक्त कर्तृ आदि कारक लक्षण का समन्वय नहीं होने से जीव में स्वतन्त्र कर्तृता का अभाव होने से समस्त कारकों में तदात्मकत्व (ब्रह्मात्मकत्व) तत्प्रयोज्यत्व तदाधेत्व तथा तद्व्याप्यत्व आदि धर्मों से अवच्छिन्न तत् तत् कर्तृ आदि कारकों द्वारा कर्म कराने वाले श्रीपुरुषोत्तम ही हैं। इसी बात का अब श्रुति प्रमाण से उपसंहार करते हैं "एष एव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते" "स कारयेत् पुण्यमथापि पापम्" इत्यादि। अर्थात् परमात्मा उस व्यक्ति से साधु कर्म कराता है जिसे इस लोक से ऊपर उठाना होता है। वही परमात्मा पुण्य एवं पाप कराता है, इसलिए ब्रह्मात्मक कारण से ब्रह्मात्मक समस्त वस्तु ब्रह्मात्मक द्रष्टा है यह अर्थ है। कारण "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" ऐसा श्रुति वचन है। इसलिए कार्य सत् ही है तथा कारण से अनन्य है, यह सिद्ध होता है।।१९।।

इस प्रकार आरम्भण अधिकरण पूरा हुआ।

अथाक्षिप्यते

अब फिर आक्षेप करते हैं।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः। २। १। २०।।

ननु ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने इतरस्य जीवस्य "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्मे" त्यादिवाक्यैर्ब्रह्मत्वोपदेशात्, इतरस्य ब्रह्मणो वा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये" त्यादिना शारीरत्वव्यपदेशात् तथा च ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यसर्वशक्त्याद्याश्रयस्यात्मनोहितरूपजगद-करणमहितरूपजगत्करणमित्यादिदोषप्रसक्तिः स्यात्।।२०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर जीव को "तत्त्वमसि" आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्मत्व का उपदेश अथवा ब्रह्म को "अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य" इत्यादि वाक्यों से जीवत्व का उपदेश है, ऐसी दशा में सार्वज्ञ्य तथा सर्वशक्ति आदि के आश्रय ब्रह्म में अपने

लिये कल्याणकारी जगत् का न करना एवं अमङ्गलकारी जगत् का करना इत्यादि दोषों का प्रसङ्ग होगा।।२०।।

नह्याध्यात्मिकादिविविधदुःखहेतुरूपे कार्ये स्वाधीनोबुद्धिमान्प्रवर्तते, जीवब्रह्मणोर्भेदवादिन्यः श्रुतयोजगतोब्रह्मणोऽनन्यत्वं वदद्भिर्भवद्भिरेवपरित्यक्ता भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः, तस्माद्ब्रह्मणोजगत्-कारणत्वमनुपपन्नमिति प्राप्ते समाधत्ते —

आध्यात्मिक आदि त्रिविध दुःख के हेतु रूप कार्य में कोई भी स्वाधीन बुद्धिमान् प्रवृत्त नहीं होता। जीव और ब्रह्म की भेदवादिनी श्रुतियाँ, जगत् को ब्रह्म से अनन्य कहने वाले आपने ही छोड़ दी हैं- भेद होने पर अनन्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्राप्त होने पर समाधान करते हैं —

अधिकं तु भेदनिर्देशात्। २। १। २१।।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। यत्सार्वज्ञ्याद्यनन्ताचिन्त्यासंख्येयकल्याणधर्माश्रयं जगदभिन्ननिमित्तोपादान- कारणं तत्तस्माच्छारीरादधिकमुत्कृष्टं तदत्यन्तविलक्षणं परं ब्रह्मेति नोक्तदोषावकाशः। कुतः? "भेदनिर्देशात्" "आत्मा वाऽरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इति कर्त्तृकर्मादिभेदस्य "ब्रह्मविदाप्नोति परमि"ति प्राप्तृप्राप्तव्यभेदस्य, "य आत्मानमन्तरो यमयती"ति नियन्तृनियम्यभेदस्य च निर्देशात्। अयं भावः—यदि चेतनस्य शारीरस्य जगत्कारणत्वं सूत्रकृतोऽभिप्रेतं स्यात्तर्हि तस्य सार्वज्ञ्यादिसर्वशक्त्ययोगेन हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः स्यान्नतु तदस्ति, प्रत्युत तदत्यन्तविलक्षणस्य सर्वज्ञानशक्तिबलैश्वर्यादिकल्याणधर्मार्णवस्य परब्रह्मणः समस्तदोष-गन्धाघ्रातमाहात्म्यस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य स्वतन्त्रसत्ताश्रयस्य कारणत्वनिर्देशान्नोक्तदोषयोगः। एतेन वक्ष्यमाणो भेदाभेदलक्षणसिद्धान्तोऽपि सूत्रकृता सूचितः, तादात्म्यादभेदोक्तेः ब्रह्मणः स्वरूपेण भेदनिर्देशात्। तथा च परतन्त्रसत्तावच्छिन्नस्वरूपेण भिन्नत्वेऽपि तदात्मकत्वादिना तदपृथक्त्वाद्भिन्नाभिन्नत्वमिति भावः।।२१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ तु शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है। जो सार्वज्ञ्य आदि अनन्त, अचिन्त्य, असंख्येय कल्याण गुणगणाश्रय, जगदभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है वह शारीर (जीव) से अधिक उत्कृष्ट तथा जीव से अत्यन्त विलक्षण परब्रह्म है, इसलिए ब्रह्म कारणवाद में उक्त दोष का अवकाश नहीं है क्योंकि "भेदनिर्देशात्" "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुति द्वारा जीव ब्रह्म में कर्तृकर्मादिभेद तथा "ब्रह्म विदाप्नोति परम्" (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त करता है) द्वारा प्राप्तृ प्राप्तव्य भेद एवं "य आत्मानमन्तरो यमयती" (जो आत्मा के भीतर विद्यमान होकर उसे नियंत्रण करता है) इस श्रुति द्वारा नियन्तृ नियम्य भेद का स्पष्ट निर्देश है। भाव यह है कि यदि जीव को जगत् का कारण मानना सूत्रकार का अभिप्रेत होता, तब उसमें हिताकरण आदि दोषों का प्रसङ्ग होता। ऐसा तो है नहीं बल्कि जीव से अत्यन्त

विलक्षण सर्वज्ञान, सर्वशक्ति, बल, ऐश्वर्य आदि अनन्त कल्याण गुण गणों के सागर, समस्त दोषों की गन्ध से सर्वथा विरहित स्वतन्त्र सत्ताश्रय परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम के कारण मानने से उक्त दोष का योग संभव नहीं है। इसी से वक्ष्यमाण भेदाभेद रूप सिद्धान्त भी सूत्रकार ने सूचित कर दिया। तादात्म्य होने से अभेद का कथन होता है और स्वरूपतो भेद का निर्देश है। इस तरह परतन्त्र सत्तावच्छिन्नत्वेन रूपेण भेद होने पर तदात्मकत्वादि हेतु से उससे अपृथक् सिद्ध होने से भिन्नाभिन्नत्व है।।२१।।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः। २। १। २२।।

यथा लोके पृथिवीविकाराणामश्मनां वज्रवैदूर्यपद्मरागसूर्यकान्तादीनां प्रहीणपाषाणादीनां च पृथिव्यात्मकतया पृथिवीत्वाविशेषेऽपि न पृथिवीस्वरूपैक्यमुपपद्यते। आदिना लोष्टकाष्ठतृणादिपरिग्रहः। तथा जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वादिना ब्रह्मत्वाविशेषेऽपि न स्वरूपैक्यमिति परब्रह्मैव जीवकर्मानुगुणसुखदुःखहेतुजगत्सर्गकर्तृ इति तदनुपपत्तिः परकल्पितदोषानुपपत्तिः।।२२।। इतीतरव्यपदेशाधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे लोक में पृथिवी के विकारों- (अश्मन् (पत्थरों) वज्र, वैदूर्य, पद्मराग आदि तथा पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े पृथिव्यात्मक होने से पृथिवी होने पर भी (पृथिवी से अविशेष होने पर भी) पृथिवी स्वरूप के साथ एकता को नहीं प्राप्त करते हैं, इस प्रकार परब्रह्म ही जीव के कर्मों के अनुसार सुख-दुःखों का हेतु, जगत् की सृष्टि का कर्ता होता है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

अथ उपसंहाराधिकरणम्।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न, क्षीरवद्धि। २। १। २३।।

ननु पुनरपि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं न सम्भवति, कुतः? उपसंहारदर्शनादिति। बाह्यकारकोपादानमुपसंहारः। लोके हि घटपटादिकार्य्यजननशक्तियुक्ता अपि कुलालतन्तु-वायादयस्तदुप-करणमृद्दण्डचक्रसूत्रतन्तुतूरीवेमाद्यनेककारकाण्युपसंहृत्यैव तत्तकार्य्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते, सृष्टेः प्राक् च बाह्यसाधनसामग्री नास्ति। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा-द्वितीयमि" त्यादिश्रुतेस्तत्कथमसहायं ब्रह्म जगत्सृष्टौ प्रवर्त्तेत? अतो न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत्, समाधत्ते, नेति। न हि कार्यजनिशक्तानां सर्वेषां बाह्यकारकोपादानसापेक्षत्वं दृश्यते, यथा हि क्षीरं दधिभावाय, नीरं हिमभावाय, स्वयमेव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्, तथा ब्रह्मापि। नच क्षीरादावातञ्चनाद्यपेक्षत इति वाच्यं, तत्रातञ्चनस्य दधिभावानुपयोगि-त्वात्, किन्तु शैध्र्याय रसविशेषाय च तदुपयुज्यते पयसः स्वत एव परिणामशक्तिः, कुलालादीनां त्वनीश्वरत्वेन स्वतः सामर्थ्याभावादुप-संहारसापेक्षत्वं युक्तं, ब्रह्म तु सर्वज्ञं सर्वशक्ति "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, पराऽस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वभाविकी" त्यादिश्रुतेः।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि फिर भी ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि "उपसंहार दर्शनात्" बाह्य कारक के उपादान को उपसंहार कहते हैं। लोक में देखा जाता है कि घट आदि कार्यों की उत्पादन शक्ति से युक्त होने पर भी कुलाल, तन्तु वाय (जुलाहा) आदि मृत्तिका, दण्ड, चक्र, सूत्र, तन्तु, तूरी तथा वेमा आदि अनेक कारकों का संग्रह करके ही तत् तत् कार्य-घट पट आदि करते दिखाई देते हैं। यहाँ सृष्टि से पहले कोई भी बाह्य सामग्री नहीं रहती है, क्योंकि श्रुति कहती है "सदेव सोम्येदमग्रआसीत्" अर्थात् सृष्टि से पहले एक मात्र सत् ब्रह्म ही था, दूसरा कोई नहीं था, फिर असहाय ब्रह्म जगत् की सृष्टि में कैसे प्रवृत्त हो सकता है? इसलिए ब्रह्म जगत् का कारण नहीं है तो इसका समाधान करते हैं- 'नहि' अर्थात् कार्य की उत्पत्ति में समर्थ सभी वस्तुओं या व्यक्तियों के लिए बाह्य कारक उपादान की अपेक्षा नहीं देखी जाती, जैसे दूध, दही रूप में जल हिमभाव रूप में स्वयं ही परिणत हो जाता है क्योंकि उसका वैसा स्वभाव है, वैसे ब्रह्म भी जगत् रूप में परिणत हो जाता है। यदि कहें कि क्षीर के दधिभाव रूप में परिणत होने में आतञ्चन (मैथिली जोड़न) की अपेक्षा होती है तो कहते नहीं- आतञ्चन दधिभाव में उपयोगी नहीं है, किन्तु उसका केवल शीघ्रता के लिए तथा रस विशेष के लिए उपयोग किया जाता है दूध में तो स्वयमेव परिणाम शक्ति है। कुलाल आदि अनीश्वर (असमर्थ) होने से अनेक सामर्थ्य के अभाव के कारण उन्हें उपसंहार अन्य सहायक सामग्री की अपेक्षा उचित है। ब्रह्म तो सर्वज्ञ है सर्वशक्तिमान् है- "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबल क्रिया च", ऐसा श्रुतिवचन है।।२३।।

देवादिवदपि लोके। २। १। २४।।

अपिशब्दश्चेतनसादृश्यं सम्भावयति। यथा देवाः पितर ऋषयः स्वे स्वे लोके बाह्यसाधनमनपेक्ष्याभिध्यानमात्रेण स्वापेक्षितानि वस्तूनि सृजन्ति, तन्तुनाभश्च स्वयमेव प्रवर्तते, बलाका च रेतःसेकमन्तरेण गर्भं धत्ते, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः स्वसङ्कल्पमात्रेण सर्वं सृजतीति।।२४।। इत्युपसंहाराधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ अपि शब्द चेतन सादृश्य को संभावित करता है। जैसे देवता, पितर, ऋषि अपने-अपने लोक में बाह्य साधन की अपेक्षा किये बिना ही ध्यानमात्र से ही अपने अपेक्षित वस्तुओं की सृष्टि करते हैं। मकड़ी को जाला बनाने के लिए अन्य साधन की अपेक्षा नहीं होती और बलाका (बगुली) वीर्यपात के बिना ही गर्भधारण करती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण संकल्प मात्र से सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करते हैं।।२४।।

इस प्रकार उपसंहार अधिकरण पूरा हुआ।

अथ कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्।

अब कृत्स्नप्रसक्ति अधिकरण प्रारम्भ होता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा। २। १। २५।।

पुनरप्याक्षिपति। ननु निरवयवं सावयवं वा ब्रह्म कार्याकारेण परिणमते? आद्ये, कृत्स्नस्य ब्रह्मणः क्षीरवत् कार्यरूपतापत्तौ कार्यातिरिक्तं ब्रह्म न स्यात्, कार्यस्य च सर्वप्रत्यक्षत्वात्सर्वमोक्षप्रसङ्गः। द्वितीये, निरवयत्ववाचकः शब्दः "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोऽह्यज" इत्यादि कुप्येद्विरुध्येत, अतो ब्रह्मणः परिणामानुपपत्तेर्जगदुपादानत्वं न सम्भवति, किन्तु प्रधानमेवेष्टव्यमित्याक्षेपे प्राप्ते।।२५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म कारण वाद में पुनः आक्षेप करते हैं- पूछते हैं कि ब्रह्म यदि कारण है- ब्रह्म का परिणाम जगत् है तो क्या ब्रह्म निरवयव या सावयव कार्य जगत् के आकार के रूप में परिणत होता है? यदि ब्रह्म निरवयव है तब उसका परिणाम होता है फिर तो दूध की तरह सम्पूर्ण ब्रह्म के कार्य रूप में परिणत होने पर कार्य के अतिरिक्त ब्रह्म की सत्ता नहीं रहेगी तथा कार्य का सबको प्रत्यक्ष होने से सबको मोक्ष हो जायगा। दूसरा पक्ष मानें अर्थात् यदि कहें कि सम्पूर्ण ब्रह्म का परिणाम नहीं होता किन्तु उसमें किसी एक देश या एक अवयव का परिणाम होता है, तब ब्रह्म में निरवयत्व वाचक "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं, दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः, स बाह्याभ्यन्तरोऽह्यज" आदि श्रुतियों का व्याकोप होगा। इसलिए ब्रह्म का परिणाम नहीं होने से ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता किन्तु प्रधान ही जगत् का उपादान होगा, ऐसा आक्षेप प्राप्त होने पर समाधान करते हैं —

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्। २। १। २६।।

तु शब्दः आक्षेपनिरासार्थः। ब्रह्मणो जगदुपादानत्वेऽपि न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिः। कुतः? 'श्रुतेः' यथा जगदुपादानत्वं ब्रह्मणः श्रूयते, तथा कार्यवैलक्षण्येन सत्त्वं चापि श्रूयते "सोऽकामयत बहु स्यां स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवदि" त्यादिना "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमि"त्यादि, "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पुरुष" इत्यादिना च। नापि निरवयवत्वशब्दकोप, ऊर्णनाभेरिव शक्तिविक्षेपलक्षणपरिणामाङ्गीकारस्य पूर्वमुक्तत्वात्स्वरूपे परिणामानङ्गीकारात् ब्रह्म ह्यनन्तशक्तिभोग्यशक्तिं विक्षिप्याकाशाद्यचेतनरूपेण परिणामयते, भोक्तृशर्क्ति चेतनाख्यां देवादिरूपेण विक्षिप्य, तदन्तर्यामितया तत्फलं भोजयति। उपसंहरति चेति। सूर्यो यथा स्वरश्मीन्। ननूपमानमात्रेण कथ निर्दोषत्वसिद्धिरिति चेत्तत्राह। शब्दमूलत्वादिति। उक्तवैदिकसिद्धान्तस्य शब्दमूलत्वान्निर्दोषत्वमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, यथा पृथिव्या औषधयः सम्भवन्ति, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वमि"ति "प्रसार्य्य च यथाऽङ्गानि कूर्म" इति भीष्मोक्तेश्च। एवं च यद्यचेतनानामेव परस्परं परिणामवैचित्र्यं पृथिव्या औषध्यादिलक्षणः परिणामःअन्नस्य केशनखदन्तपिशितादिलक्षणः, चेतनोर्णनाभेश्चोर्णापरिणामोऽप्रच्युतस्वरूपतयैव प्राण्यन्तरेष्वत्यन्ता-संभाव्यमानो दृश्यते, किमुत चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वाचिन्त्यशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य जगत्कारणस्य ब्रह्मण इति भावः। नहि भावानां शक्तयः केन चित्प्राकृतबुद्धिना परिच्छेतुं शक्यन्ते, तर्काणामप्रतिष्ठितत्वात्।।२६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'तु' शब्द आक्षेप निरास के लिए है। ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर भी ब्रह्म के कृत्स्नप्रसक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म का जगदाकार रूप में परिणाम दोष नहीं होगा। क्योंकि 'श्रुतेः' श्रुति में जिस प्रकार ब्रह्म में जगत् का उपादानत्व सुना जाता है, उसी प्रकार कार्य (जगत्) से विलक्षण रूप में उसकी सत्ता भी सुनी जाती है- "सोऽकामयत बहु स्यां स्वयमात्मानमकुरुत" (उसने इच्छा की मैं स्वयं बहुत हो जाऊँ) उसने अपने आपको जगत् रूप में परिणत कर दिया "सच्च त्यच्चाभवदि"ति (वही जीव जगत् रूप में हो गया) "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमि"ति (वह स्थूल नहीं, अणु नहीं, ह्रस्व नहीं तथा दीर्घ नहीं है) इत्यादि "एतावानस्य महिमा ततोज्यायांश्च पुरुष" (यह सारा जगत् ब्रह्म की महिमा है उसी का कार्य है, रचना है और वह इस जगत् से भी महान् है।) इस प्रकार "स्वयमात्मानमकुरुत" अपने आपको जगत् रूप बना दिया, ऐसा कहने पर भी निरवयवत्व शब्द का व्याकोप नहीं होता है। ऊर्णनाभि मकड़ी की तरह शक्ति विक्षेप लक्षण परिणामवाद स्वीकार करने की बात पहले कही गई है- इसलिए स्वरूप में परिणाम स्वीकार नहीं किया जाता। ब्रह्म अपनी अनन्त शक्ति वाली भोग्य शक्ति अचित् शक्ति का विक्षेप (विस्तार) करके आकाश आदि अचेतन रूप में उसको परिणत करता है तथा भोक्तृ शक्ति (चित् शक्ति) को देवता आदि रूपों में विक्षेप करके तथा उसमें अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर उसका फल उसे भुगतवाता है और अन्त में उसका उपसंहार भी करता है। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों को। यदि कहें कि उपमान मात्र से कैसे ब्रह्म में निर्दोषत्व की सिद्धि होगी, इस पर कहते हैं- "शब्द मूलत्वात्" उक्त वैदिक सिद्धान्त श्रुति मूलक होने से निर्दोष है, जैसा कि श्रुतिवचन है- "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" "यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि, यथा पृथिव्या औषधयः सम्भवन्ति, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" जैसे मकड़ी अपने पेट से सूत निकाल कर जाला बनाती है और उसमें निवास करती है, विहार करती है और अन्त में उसे अपने भीतर समा लेती है। उसी प्रकार अक्षर अविनाशी परमात्मा अपने ही भीतर नित्य विद्यमान अपने से अपृथक् सिद्ध अर्थात् अभिन्न अचित् शक्ति का विस्तार करके जगत् का निर्माण करता है, इससे उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता। "प्रसार्य्य च यथाऽङ्गानि कूर्मः संहरते प्रजाः" अर्थात् जैसे कछुआ अपने भीतर विद्यमान अपने अंगों को बाहर करता है और वही उसे भीतर समेट सकता है, उसी तरह परमात्मा भी सृष्टि करते समय अपनी अचित् शक्ति प्रकृति का विस्तार करके अचेतन जगत् एवं चित् शक्ति (पराप्रकृति) का विस्तार कर चेतन जगत् का निर्माण करता है। ऐसा भीष्म पितामह ने कहा है। इस प्रकार यदि अचेतन पदार्थों में पृथिवी आदि के स्वरूप में कोई विकार न होते हुए औषधि आदि स्वरूप परिणाम हो सकता है, अन्न का केश, नख, दन्त, पिशित आदि परिणाम हो सकता है। इसी प्रकार जब चेतन ऊर्णनाभि (मकड़ी) से ऊर्णा का उसके स्वरूप में बिना कोई विकार हुए परिणाम, जो अन्य प्राणी में अत्यन्त असंभव है, देखा जाता है फिर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् अचिन्त्य शक्ति कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् सर्व समर्थ चेतन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शास्त्रैकसमधिगम्य जगत् कारण ब्रह्म के लिए क्या नहीं संभव है। इस प्रकार वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होने से "स्वयमात्मानमकुरुत" होकर स्वयं जगदाकार रूप में परिणत होकर भी ब्रह्म रूप से पृथक् स्थित रह सकता है यही

ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता है। श्रुति ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानकर भी उसकी निर्विकार रूप से पृथक् स्थिति भी बताई है, देखें- श्वेताश्वतर ६/१६/१९ तथा मुण्डक १/१/९। अतः श्रुति प्रमाण से यही मानना ठीक है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से नित्य स्थित है। वह अवयव रहित और निष्क्रिय होते हुए भी जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। उस सर्वशक्तिमान् के लिए कोई बात असंभव नहीं है 'श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्' इस सूत्र का यही तात्पर्य है।।२६।।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि। २। १। २७।।

न चैतदाश्चर्य, ब्रह्मणोविचित्रजगत्स्रष्टृत्वेऽपि स्वरूपाप्रच्युतित्वमिति, हि यत आत्मनि जीवात्मनि च देवादिशरीरेऽप्रच्युतस्वरूपतयैवैवं विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते, किमुत ब्रह्मण इति। द्वितीयश्चशब्दः कैमुत्यद्योतकः।।२७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म द्वारा विचित्र जगत् का स्रष्टृत्व मानने पर भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। जैसे स्वप्नावस्था में अवयव रहित निर्विकार जीवात्मा से नाना प्रकार की हस्ती अश्वादि सृष्टि होती देखी जाती है। योगी लोग भी स्वयं अपने स्वरूप से अविकृत रहते हुए भी अनेक प्रकार की रचना करते हुए देखे जाते हैं, फिर ब्रह्म की तो बात ही क्या है। यहाँ द्वितीय च शब्द कैमुत्य का द्योतक है।।२७।।

स्वपक्षे दोषाच्च। २। १। २८।।

प्रधानकारणवादेऽपि त्रिगुणस्य प्रधानस्य निरवयवात्वाभ्युपगमान्महदाद्याकारेण परिणामे कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वप्रतिज्ञाहानिर्वेति दोषः समानः। गुणा एव तस्यावयवा इति चेत्, तत्रापि गुणसमूहस्य प्रधानत्वे गुणानां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां तेषां स्थूलमहदाद्यारम्भकत्वासिद्धिः। गुणैरारब्धस्य प्रधानत्वे प्रधानं कारणमिति सिद्धान्तविरोध इति वैशेषिकमतेऽप्येवं दोषाः, परमाणूनां निरवयवत्वाभ्युपगमात्।।२८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रधान कारणवाद में भी त्रिगुण प्रधान के निरवयव मानने से उनके महत्तत्व आदि आकार रूप में परिणाम होने पर कृत्स्न प्रसक्ति अथवा निरवयत्व प्रतिज्ञा की हानि रूप दोष समान है। यदि कहें कि प्रकृति के गुण ही अवयव हैं तो वह भी नहीं कह सकते क्योंकि तब पूछेंगे कि सत्त्वादि गुणों का समूह प्रधान है अथवा सत्त्व आदि गुणों से आरब्ध (निर्मित) प्रधान है। यदि गुणसमूह को प्रधान कहें तो गुणों के निरवयव होने से प्रदेश भेद की अपेक्षा के बिना संयुक्त हुए उन निरवयव तीन गुणों में स्थूल महत्तत्व आदि कार्यों का आरम्भकत्व सिद्ध नहीं होगा। गुणों द्वारा निर्मित को प्रधान मानने पर प्रधान कारण है, इस सिद्धान्त का विरोध होगा। इस प्रकार वैशेषिक मत में भी ऐसे दोष हैं क्योंकि उन्होंने भी परमाणु को निरवयव माने हैं।

सर्वोपेता च सा तद्दर्शनात्। २। १। २९।।

पूर्वमुपादानस्य ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्तियोगात् कृत्स्नप्रसक्त्यादयो दोषा निरस्ताः। तत्र न केवलं सर्ववैलक्षण्येन सर्वशक्त्युपेता सा परा देवतेत्युच्यतेपि तु तद्दर्शनाच्च। दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः सर्वशक्तियोगश्रुतेश्चेत्यर्थः। "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इत्यादिश्रुतेः।।२९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पहले उपादान ब्रह्म के सबसे विलक्षण होने तथा अनन्त शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण उनमें कृत्स्न प्रसक्ति आदि दोषों का निराकरण किया। वह ब्रह्म केवल सबसे विलक्षण होने एवं सर्वशक्ति से युक्त होने के कारण पर देवता (परा देवता), 'सेयं देवता ऐक्षत' इत्यादि कहे जाते हैं। अपितु ऐसा दर्शन है- श्रुतिवाक्य है। 'दर्शयतीति दर्शनं श्रुतिः' (सब कुछ दिखा देने के कारण श्रुति को दर्शन कहते हैं) ब्रह्म में सर्वशक्ति का योग है ऐसा श्रुतिवाक्य है, "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, सत्यकामः सत्यसङ्कल्प" इत्यादि।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्। २। १। ३०।।

सर्वशक्तिमत्त्वेति "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इति करणरहितस्य तस्य न कार्यारम्भः सम्भवति, लोके हि देवादयः सर्वशक्तिमन्तोऽपि करणसम्पन्ना एव कार्याय प्रभवन्तीति चेद्यदत्र वक्तुं योग्यं तदुक्तं "शब्दमूलत्वादि"ति, श्रुत्यवगाह्यो तर्काप्रवेशात्। तथा च श्रुतिः, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः" इति।।३०।। इति कृत्स्नप्रसक्त्यधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि सर्वशक्तिमान् होने पर भी "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इस श्रुति द्वारा ब्रह्म के करण रहित होने से उसके द्वारा कार्य (जगत्) का आरम्भ संभव नहीं है। देवता आदि तो सर्वशक्तिमान् भी हैं और करण सम्पन्न भी है इसलिए वे तो कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं तो यह भी ठीक नहीं है। यहाँ जो समाधान उचित है- वह "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" इस सूत्र की व्याख्या में कह चुके हैं। श्रुति सिद्धान्त में तर्क का प्रवेश नहीं होता। श्रुति कहती है- "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः" (वह बिना पैर के चल सकता है, बिना हाथ के ग्रहण कर सकता है, बिना आँख के देख सकता है तथा बिना कान के सुन सकता है।) इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् को हाथ पैर या आँख कान नहीं है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् कान बन्द करके भी सुन सकते हैं अर्थात् आँख का भी कार्य कान से कान का कार्य आँख से, हाथ का कार्य पैर से, पैर का हाथ से कर सकते

हैं। सब इन्द्रिय से सब काम कर सकते हैं। उनकी इन्द्रियों में अस्मदादि इन्द्रियों की भाँति प्रतिनियतता नहीं है, "अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति।" इसीलिए उन्हें सहस्र शीर्षा सहस्राक्ष तथा सहस्रपाद कहा गया है, ऐसा नहीं कि उनके हजार आँख या हजार कान हैं। यह विराट् का वर्णन नहीं है। मूल पुरुष का वर्णन है। विराट् तो उस आदि पुरुष सहस्त्रशीर्षा से उत्पन्न होता है 'ततो व्विराडजायत' इसलिए उस परमात्मा को जगत् निर्माण के लिए करण आदि की भी अपेक्षा नहीं होती, यह भाव है– (निज विचार अनुवादक)

अथ प्रयोजनवत्वाधिकरणम्।

अब प्रयोजनवत् अधिकरण प्रारम्भ होता है।

न प्रयोजनवत्त्वात्। २। १। ३१।।

पनुरप्याक्षिपति। न ब्रह्मणः कारणत्वं सम्भवति, सर्वप्रवृत्तीनां प्रयोजनवत्त्वात्। तस्य चाप्तसमस्तकामत्वेन प्रयोजनाभावादन्यथा स्वार्थप्रवृत्तौ पूर्णकामत्वहानिः, परार्थप्रवृत्तौ अनन्तदुःखबहुलं जगत्सृजतः करुणावत्तादिहानिः।।३१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

पुनः आक्षेप करते हैं– ब्रह्म कारण नहीं हो सकता। कारण प्रवृत्ति मात्र प्रयोजन सापेक्ष होती है। परमात्मा के आप्तकाम होने से कोई प्रयोजन नहीं है। यदि वह स्वार्थ की पूर्ति के लिए प्रवृत्त हो तो उसकी पूर्णकामता की हानि होती है। दूसरों के लिए प्रवृत्ति मानें तो अनन्त प्रकार के दुःखों से युक्त इस दुःख बहुल जगत् की सृष्टि करने में उसकी दयालुता की हानि है।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। २। १। ३२।।

तुशब्द आक्षेपनिरासार्थः। आप्तसमस्तकामस्यापि परब्रह्मणो विचित्रविश्वसृष्टौ प्रवृत्तिर्लीलैव केवला, न तत्र प्रयोजनोद्देशो, लोकवत्। यथा लोके राजादीनां परिपूर्णकामानामपि क्रीडाप्रवृत्तिर्दृश्यते, यथा वा सुखोन्मत्तस्य सुखोद्रेकात्फलनिरपेक्षनर्तनादि।।३२।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ तु शब्द आक्षेप निरास के लिए है। परमात्मा के आप्त समस्त काम होने पर भी उसके द्वारा विचित्र विश्व सृष्टि में प्रवृत्ति केवल लीला मात्र है, इसमें कोई प्रयोजन उद्देश्य नहीं है, लोक की तरह। जैसे राजा–महाराजों को किसी बात की कमी नहीं रहती, फिर भी उन्हीं क्रीड़ा में प्रवृत्ति दिखाई देती है, अथवा जैसे सुखोन्मत्त व्यक्ति सुख के उद्रेक होने पर किसी फल की कामना के बिना ही नृत्य आदि करता है।।३२।।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति। २। १। ३३।।

ननु लीलयापि ब्रह्मणो विश्वसृष्टिप्रवृत्तौ वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्। वैषम्यं

नाम देवमनुष्यादीनामुत्तममध्यमादिरूपविषमसृष्टिकर्त्तृत्वम्, नैर्घृण्यं नाम दुर्विषहदुःखगर्भजगन्निर्मातृत्वेन तत् संहर्त्तृत्वेन च निर्दयालुता। तत्रोत्तरमाह, नेति। नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्ज्येते, कुतः? सापेक्षत्वात्। तत्तत्प्राणिपुण्यापुण्य-कर्मसापेक्षत्वादीश्वरस्य व्रीहियवाम्रादिसृष्टिवैचित्र्ये तत्तद्बीजगतासाधारणसामर्थ्यसापेक्ष-पर्जन्यवत्। न च सापेक्षत्वेऽप्राधान्यं भृत्यादिसेवानुसारेण फलदातॄ राज्ञोऽप्राधान्यादर्शनात्। तथाहि दर्शयति श्रुतिः "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवती" त्यादिः।।३३।।

हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि लीला से भी वह (ब्रह्म) विश्व सृष्टि में प्रवृत्त होता है तो उसमें वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोष की प्रसक्ति होती है। यहाँ विषमता है- देवता, मनुष्य आदि के उत्तम मध्यम आदि विषम रूप कर्तृत्व। नैर्घृण्य है- भयानक दुःखों से युक्त जगत् का निर्मातृत्व और जगत् बनाकर उसका संहार यह है निर्दयालुता। इसका उत्तर देते हैं- 'न' ईश्वर में वैषम्य एवं नैर्घृण्य दोष नहीं आ सकता क्योंकि "सापेक्षत्वात्" अर्थात् उक्त विषमता तत् तत् प्राणियों के पुण्य-पाप रूपी कर्म सापेक्ष है। व्रीहि, जौ तथा आम्र आदि की सृष्टि की विलक्षणता में जैसे मेघ दोषी नहीं होता, कारण नहीं होता, बल्कि उक्त आम्र आदि की विलक्षणता में व्रीहि आदि के बीजगत विलक्षणता ही कारण होती है। यदि कहें कि ब्रह्म द्वारा निर्मित सृष्टि यदि कर्म सापेक्ष होती तो ब्रह्म में अप्रधानता होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते, जैसे भृत्य आदि की सेवा के अनुसार उसको फल प्रदान करने वाले राजा की अप्रधानता नहीं होती, उसी तरह कर्म सापेक्ष होने से ब्रह्म में भी अप्रधानता नहीं होगी।।३३।।

न कर्माऽविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते। २। १। ३४।।

ननु "सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवे"ति सृष्टेः पूर्वं क्षेत्रज्ञतत्कर्माविभागश्रवणात् कथं कर्मापेक्षया वैषम्याद्यप्रसक्तिरिति चेन्न, कुतः? क्षेत्रज्ञानां तत्कर्मणां चानादित्वात्, संसारस्य हेतुहेतुमद्भावोपपत्तेः, पूर्वसृष्टिसम्पादितधर्मप्रपञ्चस्यात्यन्तिकनाशाभावात्, तदपेक्षयोत्तरसृष्टौ न किञ्चिद्बाधकमिति भावः। ननु कुतस्तेषामनादित्वमित्यत आह। उपपद्यते च क्षेत्रज्ञानां तत्कर्मप्रवाहाणां चानादित्वं, क्षेत्रज्ञानां स्वरूपोऽनादित्वेऽप्यविभागश्रवणं च नामरूपविभागाभावादन्यथा कृतनाशादिप्रसङ्गात्। उपलभ्यते च क्षेत्रज्ञानामनादित्वं श्रुतिस्मृत्योः। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपी"ति।।३४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के अनुसार सृष्टि से पूर्व न कोई जीव था, न कर्म, उसका कोई विभाग भी नहीं था, फिर कर्म की अपेक्षा से वैषम्य आदि दोषों का अप्रसङ्ग कैसे कह सकते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि- जीवों के कर्म अनादि है। संसार में हेतु-हेतु मद्भाव की उत्पत्ति है। पूर्व सृष्टि में सम्पादित धर्म

कर्म का आत्यन्तिक नाश नहीं होता है। इसलिए उसकी अपेक्षा करके उत्तर सृष्टि में कोई बाधा नहीं है। यदि कहें कि वे कर्म कैसे अनादि हैं इस पर कहते हैं– 'उपपद्यते च' जीवों में तत् कर्मों के प्रवाह अनादि माने गए हैं। जीवों के स्वरूपतः अनादि होने पर भी उनका अविभाग के श्रवण, नाम रूप के विभाग के अभाव में कारण है– अन्यथा कृतनाश एवं अकृताभ्यागदोष का प्रसङ्ग हो जायगा। जीवों के अनादित्व में श्रुति स्मृति उपलब्ध भी होता है– "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते" तथा "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" अर्थात् प्रकृति एवं पुरुष (जीव) दोनों अनादि हैं।।३४।।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च। २। १। ३५।।

प्रधानपरमाण्वादिष्वनुपपन्नानां सार्वज्ञ्यादीनां सर्वेषां धर्माणां कारणत्वोपपादकानां ब्रह्मण्येवोपपत्तेश्च ब्रह्मैव कारणं न प्रधानादिः, परिमितशक्तित्वात्। ब्रह्मणश्चाचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वात् सर्वमनवद्यमिति।।३५।। इति प्रयोजनवत्त्वाधिकरणम्।।

(हिन्दी–अनुवाद)

प्रधान तथा परमाणु आदि में अनुपपन्न सार्वज्ञ्य आदि समस्त धर्मों के कारणत्व या जगत् कर्तृत्व के लिए परम आवर्श्यक हैं, एक मात्र ब्रह्म में ही रहते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत् का कारण हो सकता है, प्रधान आदि नहीं। इनमें परिमित शक्ति है और ब्रह्म तो अनन्त अचिन्त्य शक्तिमान् है। इस प्रकार ब्रह्म कारणवाद का सिद्धान्त अनवद्य अर्थात् निर्दुष्ट है। इस प्रकार प्रयोजनवत्व अधिकरण पूरा हुआ।

इति श्री भगवदवतारश्रीसनन्दनादिप्रवर्तितसुदर्शनचक्रावतार श्री १०८ भगवन्निम्बार्क मुनीन्द्रोपवृंहितानादिवैदिकसम्प्रदायानुगतनिखिलशास्त्रपारावारीण श्री केशवकाश्मीरिभट्टविरिचितायां वेदान्तकौस्तुभप्रभाविवृत्तौ ब्रह्मसूत्रवृत्त्यां द्वितीयाध्यायस्य प्रथमपाद विवरणम्।१।

(हिन्दी–अनुवाद)

इस प्रकार भगवान् के अवतार श्री सनकादि मुनि प्रवर्तित श्रीसुदर्शनचक्रावतार १०८ भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र द्वारा उपवृंहित अनादि वैदिक सम्प्रदायानुगत निखिल शास्त्र पारावारीण श्रीकेशव काश्मीरि भट्ट विरचित वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति के (ब्रह्मसूत्रवृत्ति टीका) द्वितीयाध्याय में प्रथमपाद का मिथिला निवासी पं० वैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय पाद

विषय-सूची

द्वितीयाध्याये द्वितीयपादारम्भः।

❖❖❖❖❖❖❖

साङ्ख्यतार्किकबौद्धैश्च जैनैः पाशुपतादिभिः।
दुर्विज्ञेयं गुरुं कृष्णं निम्बार्कं समुपाश्रये।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

साङ्ख्य, तार्किक, बौद्ध, जैन तथा पाशुपत आदि प्रतिवादियों द्वारा दुर्विज्ञेय श्रीकृष्ण स्वरूप गुरुदेव श्रीनिम्बार्क भगवान् का हम आश्रय ग्रहण करते हैं।

अथ रचनानुपपत्त्यधिकरणम्

एवं परोद्भावितदूषणपरिहारपूर्वकं परब्रह्मणोविश्वजन्मादिकारणत्वमुक्तम्। इदानीं परपक्षान्निराकर्तुं परपादः प्रवर्तते। अन्यथा परतन्त्रप्रज्ञाः प्राणिनस्तेषां परपक्षाणां प्रामाणिकत्वशङ्कया तेष्वेवावलम्बेरन्नतु वैदिकपक्षमाद्रियेरन्, पूर्वं तु- "ईक्षतेर्नाशब्दं, कामाच्च नानुमानापेक्षा, एतेन सर्वे व्याख्याताव्याख्याता" इत्यादिना तदुदाहृतवैदिकवाक्यानामतत्परत्वमुक्तमिह तु वाक्यान्यनपेक्ष्य स्वातन्त्र्येण तद्युक्तयः प्रतिषिध्यन्त इति न पुनरुक्तिः। तत्र साङ्ख्या मन्यन्ते, त्रिगुणमचेतनं प्रधानं जगत्कारणं, तस्य सत्त्वे पञ्चहेतूनाहुस्तथा हि "भेदानां परिमाणात्, समन्वयाच्छक्तितः, प्रवृत्तेश्च कार्यकारणविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्ये"ति, विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं विचित्रसन्निवेशं जगत्तस्य ये च परिमितास्ते सामान्यकारणपूर्वकाः यथा घटादयः। एवं परिमिता महदादिपृथिव्यन्ता भेदास्तेषामेकं देशकालापरिमितं गुणत्रयसामान्यं कारणमस्ति। ये च यदन्विता दृश्यन्ते, ते तदेककारणपूर्वका, यथा मृदन्विताः शरावादयस्तत्पूर्वकाः। तथा सुखदुःखमोहान्विता बाह्याध्यात्मिका भेदाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यकारणपूर्वका भवितुमर्हन्ति। तथा घटादिकार्याणां कारणशक्तितः प्रवृत्तिवन्महदादिकार्याणामपि कारणशक्तितः प्रवृत्तिर्वाच्या तच्छक्तिमत्कारणमव्यक्तम्। किञ्च कारणात्कार्यस्य विभागो जन्म, अविभागो लयश्च, तत्र दृश्यते। एतौ विभागाविभागौ वैश्वरूप्यस्य विचित्रसन्निवेशस्य जगतो दृश्यमानौ क्वचित्कारणे विश्रान्तौ विभागत्वादविभागत्वाच्च मृदि घटविभागाविभागवदिति त्रिगुणस्य जगतो गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानादुत्पत्तिस्तस्मिन्नेव लयश्चेत्यनुमीयत इति प्राप्ते तत्राह-

(हिन्दी-अनुवाद)

अब रचनानुपपत्ति अधिकरण प्रारम्भ होता है—

इस प्रकार प्रतिवादियों द्वारा ब्रह्मकारण वाद में प्रदत्त प्रदूषणों का परिहार करके परब्रह्म परमात्मा के जगत्कारणत्व का समर्थन किया। अब परपक्ष का निराकरण करने के लिए दूसरा पाद प्रारम्भ करते हैं। अन्यथा परतन्त्र के अध्येता बुधजन उन परपक्षों में प्रामाणिकत्व की आशङ्का से प्रवृत्त हो जायेंगे, न कि वैदिक पक्ष का समादर करेंगे। पहले प्रथम अध्याय के

प्रथम पाद में "ईक्षतेर्नाशब्दम्" "कामाच्च नानुमानापेक्षा" "एतेन सर्वेव्याख्याता व्याख्याताः" इत्यादि सूत्रों द्वारा साङ्ख्यवादियों द्वारा उदाहृत वैदिक वाक्यों के अचेतन कारणवाद परकत्व का निराकरण किया अर्थात् तदैक्षत एकोऽहं बहुस्याम", सोऽकामयत, स सर्वमिदमसृजत् इत्यादि वैदिक वाक्यों द्वारा साङ्ख्याभिमत अचेतन कारणवाद का निराकरण किया। अब इस तर्क पाद में श्रुति वाक्यों के बिना तर्क के आधार पर साङ्ख्यादि वादियों की युक्तियाँ खण्डित की जातीं हैं, इसलिए पुनरुक्ति दोष नहीं है।

साङ्ख्यवादी मानते हैं कि त्रिगुण अचेतन प्रधान जगत् का कारण है। प्रधान की सत्ता में वे पांच कारण बताते हैं- [1]"भेदानां परिमाणात्, समन्वयाच्छक्तितः, प्रवृत्तेश्च कार्य कारणविभागाद- विभागाद्वैरूप्यस्येति, विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यं" स्वार्थ में ष्यञ् हुआ है अर्थात् विश्वरूप यानी अद्भुत प्रकार के सन्निवेश से युक्त जगत्। उसका कारण प्रधान नामक वस्तु है जिसमें भेदानां परिणामात् आदि पांच हेतु दिये गये हैं। अर्थात् जो परिमित पदार्थ होते हैं, वे सभी सामान्यतया कारण पूर्वक होते हैं अर्थात् उनका कोई न कोई कारण होता है जैसे घट पट आदि। इस प्रकार महत्तत्व आदि भेद भी परिमित पदार्थ हैं। उनका भी एक देशकाल से अपरिमित गुणत्रय साम्यावस्थापन्न द्रव्य कारण है। इसी प्रकार जो जिससे समन्वित होता है, वे तद् रूप कारण पूर्वक होते हैं जैसे मृत्तिका से समन्वित घट शराब आदि मृत्तिका रूप कारणपूर्वक होते हैं। अर्थात् मृत्तिका रूप कारण वाले होते हैं। इसी प्रकार सुख दुःख मोह से अन्वित बाह्य आध्यात्मिक भेद (महत्तत्वादि) सुख-दुःख मोहात्मक सामान्य कारण पूर्वक होने चाहिए। इसी प्रकार जैसे घट आदि कार्य कारण शक्ति से ही प्रवृत्त होते हैं, उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार महत्तत्व आदि कार्य भी कारण शक्ति से ही प्रवृत्त होंगे, उत्पन्न होंगे। वह शक्तिमान् कारण व्यक्त (प्रकृति) है। इसी कारण से कार्य के विभाग को जन्म कहते हैं तथा अविभाग को लय कहते हैं। (सत् कार्यवाद के कारण) विचित्र सन्निवेशमय इस जगत् के भी विभाग-अविभाग, आविर्भाव-तिरोभाव, जन्म-नाश देखे जाते हैं, जिनका किसी कारण में विश्राम होगा- विभाग अविभाग होने से। जैसे घट का मृत्तिका से विभाग (जन्य) और उसमें अविभाग (नाश या लय) होता है। इस प्रकार त्रिगुणात्मक जगत् का त्रिगुणात्मक गुणत्रय साम्यावस्थापन्न प्रकृति से उत्पत्ति तथा उसी में लय भी होता है ऐसा अनुमान किया जाता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं-

रचनाऽनुपपत्तेश्च नाऽनुमानम्। २। २। १।।

जगद्धेतुतयाऽनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं न जगत्कारणं, कुतः? 'रचनाऽनुपपत्तेः' तत्स्वभावाभिज्ञचेतनानधिष्ठितं प्रधानं न विचित्रजगद्रचनासमर्थमचेतनत्वात् रथप्रसादादिरचनाहेतु-भूतकेवलदार्वादिवदिति। च शब्देनान्वयानुपपत्तिः समुच्चीयते। न हि बाह्यारूपादयःसुखदुःखमोहान्विता

---

[1]. महत्तत्व आदि 24 भेद प्रभेद हैं, ये सब देशकाल परिमित हैं, जो परिमित पदार्थ होते हैं, उनका कोई कारण अवश्य होता है। (सं)

अवभासन्ते सुखादीनां चित्तधर्मत्वेन प्रतिपुरुषमान्तरत्वेन सम्पद्यमानत्वात्। न बाह्यार्थाकारतयाऽनुगताः सुखादयः सम्पद्यन्ते चेतनस्यात्मीयवासनानुसारेण बाह्यविषयनिमित्तास्तूत्पद्यन्त इति सत्तादेश्चान्वितस्य द्रव्यगुणत्वेन शौक्ल्यादेरिवोपादानकारणत्वासम्भवात्। नच सत्त्वादीन्यपि द्रव्याणि तेषां द्रव्यगुणतया प्रसिद्धेः शक्तितः प्रवृत्तेरित्यादिहेतवस्तु ब्रह्मण्युपपद्यन्ते तस्याप्यपरिमितत्वात् जगतस्तदधीन-स्थितिप्रवृत्तित्वात् जगदुत्पत्तिलयवत्त्वादिति।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जगत् के कारण के रूप में जिसका अनुमान किया जाता है, उसे अनुमान (प्रधान) कहते हैं, वह जगत् का कारण नहीं है क्योंकि 'रचनानुपपत्तेः' प्रकृति के स्वभाव के ज्ञाता चेतन से अनधिष्ठित प्रधान इस विचित्र अद्भुत जगत् की रचना में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है, रथ, प्रासाद आदि की रचना में केवल दारु आदि की तरह। च शब्द से अन्वयानुपपत्ति का समुच्चय है। क्योंकि बाह्य रूप आदि सुख-दुःख तथा मोह से समन्वित नहीं भासित होते हैं। सुख आदि चित्त के धर्म होने से प्रत्येक पुरुष में वे आन्तर रूप में (भीतर में ही) सम्पद्यमान होते हैं। बाह्य अर्थ के रूप में अनुगत होकर सुख आदि नहीं सम्पन्न होते हैं। चेतन के लिए आत्मीय वासना के अनुसार तो बाह्य विषय निमित्तक उत्पन्न होते हैं। सत्ता आदि के अन्वित पदार्थ में द्रव्यगुण होने से शौक्ल्य आदि गुणों की तरह उपादान कारणत्व संभव नहीं है। यदि कहें कि सत्त्व आदि भी द्रव्य हैं, (फिर भी) उनकी द्रव्य में गुण रूप में प्रसिद्धि है। शक्तितः प्रवृत्तेः इत्यादि हेतु तो ब्रह्म में उपपन्न होते हैं क्योंकि वे भी अपरिमित हैं। जगत् की ब्रह्माधीन स्थिति एवं प्रवृत्ति है और जगत् की उत्पत्ति और लय का आधार है।।१।।

प्रवृतेश्च। २। २। २।।

अनुपपत्तेरिति वर्त्तते। अचेतनस्य प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च न कारणं तत्, मृदादीनां रथादीनां वा चेतनाऽधिष्ठितानामेव स्वकार्येषु प्रवृत्तिदर्शनात्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"अनुपपत्तेरिति वर्तते" अर्थात् इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'अनुपपत्तेरिति' की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् अचेतन प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति की उपपत्ति भी नहीं हो सकती। अतः प्रधान कारण नहीं हो सकता। लोक में मृत्तिका आदि तथा रथ आदि का भी चेतन की सहायता से ही अपने कार्यों में प्रवृत्ति देखी जाती है।

[1]पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि। २। २। ३।।

ननु पयो यथा चेतनाऽनधिष्ठितमेव दध्यात्मना स्वतः परिणममानं दृश्यते,

---

१. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।। — सांख्य कारिका

वत्सविवृद्धये प्रवर्त्तते च, अम्बु च जलधरविमुक्तमेकरसं जम्बीराम्रनारिकेलादिविचित्ररसरूपेण स्वतः परिणमते स्यन्दते च लोकानुग्रहाय तथा प्रधानमपीति चेत्तत्परिहरति। 'तत्राऽपी'ति। क्षीरादावपि चेतनाऽनधिष्ठिते प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तयोश्चेतनाधिष्ठितत्वं चान्तर्यामिब्रह्मणे "योऽप्सुतिष्ठन्नि" त्यादिश्रुतिसिद्धम्। वत्सवृद्धये च धेनुः पयः प्रवर्त्तयति द्रवत्वाच्च वत्सचूषणेन क्षरति। अम्बु च चेतनाधिष्ठितमेव निम्नदेशापेक्षया द्रवत्वात्स्यन्दते।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि दूध जैसे चेतन से अधिष्ठित न होने पर भी दधि रूप में स्वयं परिणत होता दिखाई देता है एवं बछड़े की वृद्धि के लिए स्वयं प्रवृत्त होता है तथा मेघ से गिरा हुआ वह जल एक रस होता हुआ भी जम्बीर (नीबू) आम्र तथा नारिकेल आदि के विचित्र विलक्षण रसों के रूप में स्वतः परिणत हो जाता है और लोगों पर अनुग्रह के लिए स्वयं स्यन्दित (द्रवित) होता है, उसी प्रकार जड़ प्रधान भी बिना चेतन के जगत् रूप में परिणत होता है तो ऐसा नहीं कह सकते 'तत्रापि' क्षीर आदि की भी चेतन में अधिष्ठान के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। क्षीर एवं नीर का चेतनाधिष्ठितत्व अन्तर्यामी ब्राह्मण में प्रसिद्ध है- 'योऽप्सु तिष्ठन्' इत्यादि। वत्स के पालन-पोषण निमित्त धेनु क्षीर को प्रवृत्त कराती है। द्रव पदार्थ होने से बछड़ों के चूसने से क्षरित होता है। जल भी चेतन से अधिष्ठित होने से निम्न देश की अपेक्षा द्रव पदार्थ होने से स्यन्दित होता है।।३।।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चावानपेक्षत्वात्। २। २। ४।।

प्रधानव्यतिरिक्तस्य प्रवर्त्तकस्य निवर्तकस्य वा हेत्वन्तरस्य सृष्टेः प्रागनवस्थितेरवस्थित्यभावात् प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिः सा च नित्या स्यादनपेक्षत्वात्। ततश्च सर्वदा सृष्टिरेव स्यात्। पुरुषसन्निधिरूपहेत्वन्तरस्वीकारेणापेक्षणादपि न केवलं प्रधानं परिणामकर्त्तृ सन्निधिसातत्येन प्रवृत्तिसातत्यापत्त्या प्रलयाभावोऽपवर्गाभावश्च।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जड़ प्रधान को कारण मानने पर प्रश्न होता है कि उस प्रधान का कोई प्रवर्तक या निवर्तक अन्य हेतु है या नहीं। यदि नहीं है तब तो सदा सृष्टि की उत्पत्ति की आपत्ति। यदि कोई प्रवर्तक है और वह पुरुष सन्निधि रूप है, तब एक दोष तो यह होता है कि केवल प्रधान में जगत् कर्तृत्व संभव नहीं है और पुरुष सन्निधि सार्वकालिक होने से सर्वदा सृष्टि की उत्पत्ति होने से प्रलय एवं अपवर्ग का लोप हो जायगा।।४।।

(व्यतिरेकानवस्थितेः- सांख्य मत में प्रधान के सिवा दूसरा कोई उसकी प्रवृत्ति या निवृत्ति का नियामक या प्रवर्तक नहीं माना गया है और प्रधान को भी किसी की अपेक्षा नहीं है इसलिए भी प्रधान कभी सृष्टि में प्रवृत्त होता है कभी नहीं होता, यह बात संभव नहीं जान पड़ती। यदि जगत् की उत्पत्ति करना उसका स्वभाव या धर्म है, तब तो प्रलय कार्य में

उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि स्वभाव नहीं है तो उत्पत्ति के लिए प्रवृत्ति नहीं होगी। इस प्रकार कोई व्यवस्था न होने के कारण प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता।)

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्। २। २। ५।।

न च यथा धेन्वाद्युपभुक्तं तृणोदकपल्लवादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणमते तद्वत्प्रकृतिरपि महदाद्याकारेण परिणंस्यत इति वक्तुं शक्यमन्यत्राभावात्, अन्यत्रानडुहाद्युपभुक्तेषु तेषु क्षीराकारेण परिणामाभावात्। अतः प्राज्ञाधिष्ठतमेव तृणादि क्षीरीभवति तथा प्रधानमपि।।५।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि जैसे धेनु आदि से उपभुक्त तृण उदक पल्लव आदि स्वयमेव क्षीर आदि आकार में परिणत हो जाता है, उसी तरह प्रकृति भी महत्तत्व आदि आकारों के रूप में परिणत होगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि तृण आदि स्वयं में क्षीराकार में परिणत हो सकते तो वृषभ आदि द्वारा उपभुक्त तृण आदि क्षीराकार में परिणत क्यों नहीं होता? वहाँ क्षीराकार में परिणत न होने से ज्ञात होता है कि चेतन से अधिष्ठित होने पर ही तृण आदि क्षीरादि भाव को प्राप्त होते हैं– उसी प्रकार प्रकृति भी चेतनाधिष्ठित होकर ही जगत् का निर्माण कर सकती है।।५।।

[1]अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्। २। २। ६।।

एवं तावत्प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्तिर्नास्ति जडत्वादित्युक्तम्, सा चेत्तव हर्षायाऽस्माभिरभ्युपगम्येत तथापि तया न किञ्चित्प्रयोजनं सिध्यति। तथाहि प्रधानप्रवृतेः किं प्रयोजनं भोगो वा? अपवर्गो वा? उभयं वे? ति। आद्ये प्रधानस्याचेतनत्वात्पुरुषभोगार्था सेति चेत्प्रवृत्तेः प्राक्चैतन्यमात्रवपुषोनिर्विकारस्य निष्क्रियपुरुषस्य प्रकृतिदर्शनरूपभोगासंभवात् सन्निधिमात्रं भोगहेतुरितिचेत्सन्निधेर्नित्यत्वात् सन्ततत‌द्भोगप्रसङ्गादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। द्वितीये प्रवृत्तेः प्रागप्यवर्गस्य सिद्धत्वादनर्थका सा। तृतीये भोक्तव्यानामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्ग एवेति।।६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

इस प्रकार प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति नहीं है क्योंकि वह जड़ है ऐसा कहा है। यदि किसी प्रकार आप की प्रसन्नता के लिए मान भी लें फिर भी प्रकृति से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। हम पूछते हैं– प्रधान की प्रवृत्ति का क्या प्रयोजन है, भोग या अपवर्ग अथवा दोनों? प्रथम पक्ष में प्रधान तो स्वयं अचेतन है वह भोग क्या करेगा? तब तो पुरुष के

---

१. सांख्य मत में प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के भोग एवं अपवर्ग के लिए मानी गई है– 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।' परंतु उनकी मान्यता के अनुसार पुरुष असङ्ग चैतन्य मात्र निष्क्रिय निर्विकार, उदासीन नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव माना गया है। उसके लिए प्रकृति दर्शन रूप भोग तथा उससे विमुक्त होना रूप अपवर्ग दोनों की ही आवश्यकता नहीं है। इसलिए उसका माना हुआ प्रयोजन व्यर्थ है। (सं)

भोग के लिए वह प्रवृत्त होता है ऐसा कहें तो यह भी संभव नहीं। प्रवृत्ति से पहले पुरुष चैतन्य मात्र रहता है, निर्विकार रहता है, निष्क्रिय होता है, फिर उसमें दर्शन रूप भोग असंभव है। नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव माना गया है। उसके लिए प्रकृति दर्शन रूप भोग क्या? उससे विमुक्त होना रूप अपवर्ग दोनों की ही आवश्यकता नहीं है। इसलिए इसका माना हुआ प्रयोजन व्यर्थ है। पुरुष का सन्निधान मात्र भोग का हेतु है ऐसा कहें तो सन्निधान के नित्य होने से जीव में सार्वकालिक भोग प्रसङ्ग हो जाने से जीव का अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। द्वितीय पक्ष में प्रवृत्ति से पहले भी अपवर्ग के सिद्ध होने से प्रवृत्ति अनर्थक है, तृतीय पक्ष में भोक्तव्य के अनन्त होने से फिर अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग ही होगा।।६।।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि। २। २। ७।।

ननु यथा पङ्गुपुरुषोऽन्धपुरुषमधिष्ठाय प्रवर्त्तयति, अश्मावाऽयस्कान्तोयः प्रवर्त्तयति एवं पुरुषः प्रधानं प्रवर्त्तयिष्यतीति चेत् तत्रोच्यते। तथाऽपीति। तेनापि प्रकारेण नैव दोषान्निर्मोक्षः, त्वया पुरुषस्य निष्क्रियत्वाभ्युपगमेन प्रवर्त्तकत्वासम्भवात् तदभ्युपगमे च स्वसिद्धान्तविरोधः। पङ्गुर्हि वागादिभिरन्धं प्रवर्त्तयति, अयस्कान्तश्च सामीप्यात्। तव पुरुषस्य तु निष्क्रियनिर्गुणत्वान्न कश्चित्प्रवर्त्तनव्यापारोऽस्ति, सन्निधिमात्रेण प्रवर्त्तकत्वे प्रलयाभावोऽपवर्गाभावश्च सन्निधेर्नित्यत्वादित्युक्तमेव।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि पङ्गु पुरुष अन्ध के ऊपर आरूढ़ होकर अन्धे को प्रवृत्त कराता है तथा अयस्कान्त निकटस्थ अयस् को प्रवृत्त कराता है। उसी प्रकार पुरुष रूपी पङ्गु अन्धरूपी प्रकृति को प्रवृत्त कराता है। तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं- यही कहते हैं। “तथापि” इस प्रकार भी दोष से छुटकारा नहीं मिल सकता है। आप पुरुष को निष्क्रिय मानते हैं- इसलिए वह प्रवर्तक नहीं हो सकता। सक्रिय मानें तो स्वसिद्धान्त का विरोध होता है। पङ्गु वाणी आदि से अन्धे को प्रवृत्ति कराता है। अयस्कान्त (चुम्बक) भी सामीप्य होने से प्रवृत्त कराता है। आपके मत में पुरुष के निष्क्रिय निर्गुण होने से कोई भी प्रवर्तन व्यापार नहीं है। सन्निधि मात्र से प्रवर्तक मानें तो प्रलयाभाव एवं अपवर्गाभाव का प्रसंग होता है क्योंकि सन्निधि नित्य है यह पूर्व में कहा गया है।।७।।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च। २। २। ८।।

इतश्च प्रधानस्याप्रवृत्तिः प्रलये सत्त्वादीनां साम्येनावस्थितानां स्वरूपनाशापत्त्या परस्परं प्रत्यङ्गाङ्गिभावानुपपत्तिर्बाह्यस्य च कस्यचिद्वैषम्यहेतोरभावात्। “प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः। क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वर” इत्युक्तौ चेश्वराभ्युपगमेन वेदान्तवाद एवेति नात्र नो विवादः “सदेवेति” श्रुतेः।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस कारण से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि सत्त्व, रजस, तमस इन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। प्रलय अवस्था में गुणों में उपमर्द उपमर्दक भाव नहीं है। ऐसा होने पर तब उसका स्वरूप नाश हो जायगा। दूसरा कोई वैषम्य जनक हेतु है नहीं, इसलिए उस अवस्था में प्रकृत्ति के गुणों में अङ्गाङ्गि भाव की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिए प्राज्ञ (चेतन) से अनधिष्ठित प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता। यदि कहें कि "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः" परात्पर परमेश्वर प्रकृति पुरुष में योग बल से प्रवेश कर उसे क्षोभित करता है तब सृष्टि होती है। ऐसा कहें तो ईश्वरवाद स्वीकार हो जाता है तब तो यह वेदान्त वाद ही हो गया। इसमें तो हमारा कोई विवाद नहीं है क्योंकि "सेदेवेति" ऐसा श्रुतिवचन है।।८।।

अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्। २। २। ९।।

नन्वन्यथा दूषितप्रकारभिन्नप्रकारान्तरेण गुणाननुमिमीमहे। तथाहि चलं गुणवृत्तमित्यभ्युपगमात्साम्यावस्थिता अपि गुणा यथा कार्यं वैषम्योपगमयोग्या एवेति चेदेवमपीदमहमेवं करिष्यामीति प्रधानस्य ज्ञातृत्वशक्तिवियोगात्पूर्वोक्ता रचनानुपपत्त्यादयोदोषा दुष्परिहरा एव। वैषम्योपगमयोग्यत्वेऽपि तेषां साम्यावस्थायां वैषम्यहेतोरभावेन वैषम्यासम्भवः। हेत्वभावेऽपि वैषम्यभाजश्चेत्सर्वदा वैषम्यं स्यादिति।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि दूषित प्रकार से भिन्न प्रकारान्तर से गुणों का हम अनुमान करते हैं। कार्य के अनुसार गुणों का स्वभाव साङ्ख्यवादी स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कार्य की उत्पत्ति उपपन्न होती है उसी प्रकार उसका स्वभाव बन जाता है। यही कहते हैं 'तथाहि' इत्यादि ग्रन्थ से अर्थात् गुण का स्वभाव चल है, ऐसा स्वीकार करने से साम्य अवस्था में स्थित होकर भी गुण कार्य के अनुसार वैषम्य भाव की प्राप्ति के योग्य ही होते हैं। ऐसा मानने पर भी ऐसे कार्य को भी मैं ऐसा दूसरे प्रकार से करूँगा, इस प्रकार की रचना ज्ञातृत्व शक्ति के अभाव के कारण प्रकृति नहीं कर सकती। इस तरह रचना अनुपपत्ति आदि पूर्वोक्त दोष अपरिहार्य ही रहता है। वैषम्योपगम योग्यता रहने पर उनकी साम्यावस्था में वैषम्य के हेतु का अभाव होने से वैषम्य संभव नहीं है। हेतु के अभाव में यदि उसे वैषम्य स्वभाव वाला मानें, तब तो सर्वदा वैषम्य रहेगा फिर तो प्रलय का अभाव दोष रहेगा ही।।९।।[1]

---

१. असङ्गोऽयं पुरुष (सां.सू. १/१५), २. निष्क्रियस्य तदसंभवात् (सा.सू. १/४९), ३. द्रष्टृत्वादिरात्मन कारणत्वमिन्द्रियाणाम् (सा.सू. २/२९), ४. भोक्तृभावात् (सा.सू. १/१४३), ५. न नित्यशुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते (सा.सू. १/१९), ६. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य (सांख्यकारिका २१) विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् (सा.सू. ३/८४)

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्। २। २। १०।।

पूर्वापरविरोधाच्चासमञ्जसं कापिलमतं, तथा ह्येवं ते वदन्ति–प्रकृतिः परार्था दृश्या भोग्या। पुरुषस्तु तस्या द्रष्टा भोक्ताधिष्ठाता साक्षी चेति, सा च तस्य भोगापवर्गार्थतया प्रयोजनवती। तयैव साधनभूतया स भोगमपवर्गं च लभते इति (च)। स च नित्यनिर्विकारश्चैतन्यमात्रस्वरूपो, न द्रष्टा न भोक्ता न कर्त्तेत्यत एव न स बध्यते न मोक्षार्थं यतते न मुच्यत इति च। पुरुषसन्निधानमात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं स्वस्यां स्वस्याश्च कर्तृत्वं पुरुषे चानुसन्धायाचेतना प्रकृतिरेव बध्यते, मोक्षार्थं यतते, मुच्यत चेति, पुरुषस्यानुपकारिणो भोगापवर्गरूपप्रयोजनं साधयन्ती प्रकृतिरुपकारिणीति च वदन्ति। अध्यासरूपबन्धादयः पुरुषस्यापि सन्त्यन्यथा कस्तस्योपकार इत्येवमाद्यनेके विप्रतिषेधास्तत्स्मृतौ द्रष्टव्याः।।१०।। इति रचनाऽनुपपत्त्यधिकरणम्।।

(हिन्दी–अनुवाद)

पुरुष न बँधता है न मुक्त होता है, ऐसा कहकर पुरुष के भोगार्थ प्रधान की प्रवृत्ति होती है, ऐसा साङ्ख्य कहता है– वह वेदान्तार्थ से विरुद्ध होने से असमञ्जस है। यह साङ्ख्य तन्त्र अभिमत प्रधान जगत् का उपादान है, ऐसा प्रदर्शित करते हुए सूत्रार्थ करते हैं।

पूर्वापर विरोध होने के कारण कापिल मत असंभव है। जैसा कि वे कहते हैं प्रकृति परार्थ है, दृश्य है, भोग्य है, पुरुष उसका द्रष्टा है भोक्ता है, अधिष्ठाता है और साक्षी है। पुरुष को भोग तथा अपवर्ग प्रदान करना ही प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। उसी प्रकृति रूप साधन से पुरुष भोग एवं अपवर्ग प्राप्त करता है। पुरुष नित्य निर्विकार चैतन्य मात्र स्वरूप है, वह न द्रष्टा है, न भोक्ता, न कर्ता ही है इसलिए न वह बद्ध होता है, न मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है, न मुक्त होता है। पुरुष के सन्निधान मात्र से पुरुष के चैतन्य को प्रकृति अपने में तथा प्रकृति अपना कर्तृत्व पुरुष में आरोपित करती है। इसलिए अचेतन प्रकृति ही बद्ध होती है, मोक्ष के लिए यत्न करती है और मुक्त होती है। पुरुष के लिए भोग एवं अपवर्गरूप प्रयोजन का साधन संपादन करती हुई प्रकृति उपकारिणी है। ऐसा कहते हैं। अध्यास रूप बन्धन पुरुष के भी होते हैं अन्यथा उसका उपकार कैसा, इत्यादि अनेक विप्रतिषेध सांख्य स्मृति में देखे जा सकते हैं। (सांख्य दर्शन मे बहुत–सी परस्पर विरुद्ध बातों का वर्णन है जैसे पुरुष को असङ्ग[1] निष्क्रियं मानना फिर उसी को प्रकृति का द्रष्टा और

---

१. साङ्ख्य स्मृति में अव्यक्त महत्, अहंकार प्रभृति समस्त तत्त्व परार्थ हैं पुरुषार्थ हैं, क्योंकि ये सब संघात हैं– शयन आसन और अभ्यङ्ग की तरह सुख दुःख मोहात्मक होने से अव्यक्त आदि सभी पदार्थ संघात कहलाते हैं, दृश्य हैं, भोग हैं। ये बुद्धि आदि कार्यकारण में अनन्य होने के कारण प्रकृति से अभिन्न हैं। द्रष्टा के बिना दृश्यता नहीं होगी इसलिए द्रष्टा है, दृश्य बुद्धि आदि से अतिरिक्त वह प्रसङ्ग पुरुष न बँधता है न मुक्त होता है, ऐसा कहकर पुरुष भोगार्थ प्रधान की प्रवृत्ति होती है, साङ्ख्य कहता है। यह वेदान्तार्थ से विरुद्ध होने से असमञ्जस है। अब साङ्ख्य तन्त्र अभिमत प्रधान जगत् का उपादान है, ऐसा प्रदर्शित करते हुए सूत्रार्थ करते हैं। (सं)

भोक्ता बताना और प्रकृति के साथ उसका संयोग कहना, प्रकृति को पुरुष के लिए भोग और मोक्ष प्रदान करने वाली बताना तथा प्रकृति और पुरुष के नित्य पार्थक्य ज्ञान से दुःख निवृति एवं मोक्ष का स्वरूप मानना इत्यादि (गी.प्रे.वे.द.) कहीं सात इन्द्रियाँ, कहीं ग्यारह, कहीं महत्तत्व से तन्मात्रा की सृष्टि, कहीं अहंकार की, कहीं तीन अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार, कहीं एक ही बुद्धिमात्र (भामती से अनुवादक)। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध होने से साङ्ख्यमत असमञ्जस है।।१०।।

इस तरह दस सूत्रों में सांख्य मत का खण्डन है।

इस प्रकार से रचनानुपपत्ति अधिकरण पूरा हुआ।

अथ परमाणुकारणवादं निराकरोति।

तथा चायं तेषां सिद्धान्तः पार्थिवाप्यतैजसवायवीयभेदात् चतुर्विधाः परमाणवस्ते च नित्या निरवयवा रूपादिमन्तः पारिमाण्डल्यपरिमाणाः प्रलयेऽनारब्धकार्या अवतिष्ठन्ते। सर्वत्र त्रिभ्यः कारणेभ्यः समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्येभ्यः कार्यनिष्पत्तिः यथा पटरूपकार्यस्य तन्तवः समवायिकारणं, तेषामितरेतरसंयोगोऽसमवायिकारणं, तुरीवेमाकुविन्दादिनिमित्तकारणं। तत्रेश्वरेच्छावशेनाद्यं कर्म वायवीयेषु परमाणुषूत्पद्यते, ततः संयोगस्तेन द्वाभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकं ह्रस्वमुत्पद्यते, त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकं महदुत्पद्यते, चतुर्भिस्त्र्यणुकैश्चतुरणुकमित्येवं क्रमेण महान्वायुरुत्पद्यते। एवं तैजसपरमाणुभ्यो महानग्नि, आप्येभ्यो महान् जलधिः, पार्थिविभ्यो महती पृथिव्युत्पद्यते। कारणगुणेभ्यश्च कार्ये गुणान्तरमुत्पद्यते। यथा परमाणुगतशुक्लादिभ्यो द्व्यणुकशुक्लादि-स्तद्गतद्वित्वसङ्ख्यातश्च द्व्यणुके ह्रस्वत्वाणुत्वे परिमाणे चोत्पद्येते, परमाणुपरिमाणरूपपारिमाण्डल्यं तु न द्वयणुके पारिमाण्डल्यान्तरमारभते, ततोऽप्यतिसौक्ष्म्यापत्तेः। द्व्यणुकगतत्रित्वसङ्ख्यातस्त्र्यणुके महत्वदीर्घत्वपरिमाणो चोत्पद्येते, द्व्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वे तु महत्वादेर्नारम्भके प्रथमानुपपत्तेः, संहारे चेश्वरेच्छया परमाणुषु कर्म, तेन संयोगनाशस्तेन द्व्यणुकनाश इत्येवं क्रमेण पृथिव्यादिनाश इति तस्याप्यसामञ्जस्यं प्रतिपाद्यते—

(हिन्दी-अनुवाद)

परमाणु कारणवादी नैयायिकों का इस प्रकार सिद्धान्त है। इनके मत में पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय भेद से चार तरह के परमाणु होते हैं। ये सभी परमाणु नित्य, निरवयव तथा रूपादिमान् होते हैं। तथा ये सभी अणु परिमाण वाले होते हैं तथा प्रलय में बिना कार्य के रहते हैं। कार्य मात्रों के प्रति तीन कारण होते हैं समवायी, असमवायी एवं निमित्त कारण। जैसे पटरूप कार्य के प्रति समवायीकरण तन्तु होते हैं। तन्तुओं का परस्पर संयोग असमवायी कारण एवं तुरी, बेमा तन्तुवाय आदि निमित्त कारण होते हैं। इस सिद्धान्त में ईश्वर की इच्छा से सर्वप्रथम वायवीय परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है, तब दो परमाणुओं का संयोग होता है, जिससे ह्रस्व परिमाण वाला द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। तीन द्वयणुकों

से त्रसरेणु महत् परिमाण वाला उत्पन्न होता है। चार त्र्यणुकों से चतुरणुक पैदा होता है। इस प्रकार महान् वायु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार तैजस परमाणुओं से महान् अग्नि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार जलीय परमाणु से द्व्यणुकादि क्रम से महान् सागर तथा पार्थिव परमाणुओं से महान् पृथिवी उत्पन्न होती है। कारण के गुणों से कार्य में गुणान्तर की उत्पत्ति होती है। जैसे परमाणु वृत्ति शुक्ल आदि गुणों से द्व्यणुक आदि में शुक्ल आदि रूप उत्पन्न होते हैं। द्व्यणुक गत द्वित्व संख्या से द्व्यणुक में ह्रस्वत्व अणुत्व दो परिमाण उत्पन्न होते हैं। परमाणु के परिणाम रूप पारिमाण्डल्य द्व्यणुक में अणुपरिमाण का आरम्भ नहीं करते। क्योंकि फिर तो त्रसरेणु द्व्यणुक से भी अति सूक्ष्म हो जायगा। द्व्यणुक गत द्वित्वसंख्या से त्र्यणुक में महत्त्व एवं दीर्घत्व परिमाण उत्पन्न होते हैं। द्व्यणुक गत ह्रस्वत्व एवं अणुत्व महत्त्व आदि के आरम्भ नहीं होते हैं, प्रथम की अनुपपत्ति होगी। इसी प्रकार प्रलय काल में ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में कर्म होता है, जिससे संयोग का नाश होता है, जिससे द्व्यणुक का नाश होता है इस प्रकार पृथिवी आदि का नाश होता है। यह सिद्धान्त भी तर्क संगत नहीं है इसका प्रतिपादन करते हैं—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्। २। २। ११।।

पूर्वतोऽसमञ्जसमिति वर्त्तते। वेति चार्थे। अनुक्तं ह्रस्वद्व्यणुकवदिति समुच्चिनोति। ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्व्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घवत् त्र्यणुकोत्पत्तिवादवत् अणुह्रस्वद्व्यणुकोत्पत्तिवादवच्चान्यदपि काणादमतं सर्वमसमञ्जसमिति। तथाहि—तन्त्वाद्यवयवानां स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमानानामेव पटाद्यवयवव्युत्पादकत्वदर्शनात्परमाणवोऽपि सावयवा एव द्व्यणुकाद्युत्पादकाः स्युरन्यथा परमाणुसहस्रस्यापि संयोगे पारिमाण्डल्यानतिरिक्तपरिमाणतयाऽणुत्वह्रस्वत्वमहत्वाद्यसिद्धिर्भवेत्, कारणबहुत्वेन कार्यमहत्वोत्पत्तेश्च कल्पनामात्रत्वात्। तेषां सावयवत्वाङ्गीकारे चानवस्था।।११।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पूर्वसूत्र से 'असमञ्जसम्' पद की अनुवृत्ति होती है। वा शब्द च अर्थ में है। जो अनुक्त ह्रस्वद्व्यणुकवत् ऐसा समुच्चय करता है जैसे ह्रस्व परिमण्डल (अणु) द्व्यणुक परिमाणों से महत् एवं दीर्घ परिमाण वाले त्र्यणुक की उत्पत्ति की तरह तथा अणु ह्रस्व द्व्यणुक की उत्पत्तिवाद की तरह अन्य भी काणादमत असमञ्जस है। जैसे तन्तु आदि के अवयवों के अपने अंशभूत छः पार्श्वों से संयुक्त होने पर ही उनमें पट आदि के अवयवों का सम्पादकत्व देखा जाता है। इसी तरह परमाणु भी सावयव होने पर ही द्व्यणुक आदि के उत्पादक होंगे, अन्यथा हजार परमाणुओं के संयोग होने पर भी पारिमाण्डल्य के अतिरिक्त परिमाण रूप में अणुत्व ह्रस्वत्व महत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहें कि कारण नानात्व से कार्य में महत्त्व की उत्पत्ति होगी तो यह कल्पना मात्र है। परमाणुओं के सावयव मानने पर अनवस्था होगी । इस प्रकार यह परमाणु कारणवाद भी असमञ्जस ग्रस्त है।।११।।

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः। २। २। १२।।

आद्यकर्मोत्पत्तिरनुपपन्ना प्रलये यत्नाभिघातादीनां कर्महेतूनामभावात्। शरीरप्रविष्टे हि मनस्यात्ममनः संयोगे सत्यात्मगुणस्य प्रयत्नस्य जायमानत्वात्तदा च शरीराभावात्स न सम्भवति, ईश्वरेच्छायाश्च नित्यत्वेन नित्यं तत्प्रसङ्गः स्यात्, न चादृष्टस्यात्र हेतुत्वं कल्प्यत इति वाच्यं, विकल्पासहत्वात्। तथाहि परमाणुगतमाद्यं कर्म स्वगतादृष्टप्रयुक्त-मात्मगतादृष्टप्रयुक्तं वा ? नाद्यः, अदृष्टस्यात्मासाधारणधर्मविशेषस्य परमाणुवृत्तित्वासम्भवात्, अनभ्युपगमाच्च। अभ्युपगमे च सदोत्पादकत्वप्रसङ्गादपसिद्धान्तापत्तेश्चादृष्टस्याचेतनत्वेन प्रवर्त्तकत्वासम्भवाच्च। न द्वितीयः। तस्यात्मगत्वेऽपि तदात्मनां चैतन्याभावेन कार्य्योत्पादनयोग्यताऽसम्भवात्। अन्यथा प्रलयाभावप्रसङ्गो दुर्वारः, तदेवं नियतस्य कस्य चित्कर्महेतोरभावान्न कर्मोत्पत्तिस्तदभावाच्च न संयोगः, नापि विभागस्तथात्वे च सर्गप्रलययोरभाव एव स्यात्।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

परमाणुओं में आदि कर्मों की उत्पत्ति भी उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि यत्न, अभिघात आदि कर्म के हेतुओं का अभाव है क्योंकि शरीर में मन प्रविष्ट होने पर जब आत्म मनः संयोग होता है, तभी आत्मा में प्रयत्न गुण उत्पन्न होता है तब शरीर है नहीं, इसलिए प्रयत्न असंभव है। ईश्वर की इच्छा से कहें तो ईश्वर की तो इच्छा नित्य है, तो सदा सृष्टि प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि हम तो अदृष्ट को हेतु कहते हैं तो वह भी नहीं कह सकते क्योंकि इसके विकल्प करने पर इसका कोई उत्तर नहीं है जैसे परमाणु वृत्ति आदि कर्म परमाणुगत अदृष्ट प्रयुक्त है अथवा आत्मगत अदृष्ट प्रयुक्त? अदृष्ट आत्मा का असाधारण धर्म है, जो परमाणु वृत्ति नहीं हो सकता और ऐसा स्वीकार भी नहीं किया गया है, स्वीकार करें तो सदा उत्पादकत्व का प्रसङ्ग होगा तथा अपसिद्धान्त भी होगा। दूसरी बात अदृष्ट अचेतन है उसमें प्रवर्तकत्व असंभव है। यदि आत्मगत अदृष्ट प्रयुक्त कर्म माने तो अदृष्ट के आत्मगत होने पर भी सर्ग के आदि काल के आत्माओं में चैतन्य के अभाव होने से कार्योत्पादन योग्यता संभव नहीं है, अन्यथा प्रलयाभाव का प्रसङ्ग दुर्वार हो जायगा। इस प्रकार कर्म का कोई नियत हेतु न होने से कर्म की उत्पत्ति नहीं होगी और कर्म के अभाव से न तो संयोग होगा न विभाग फिर तो सर्ग और प्रलय का अभाव ही होगा।।१२।।

अथायुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह प्रत्ययहेतुः समवायः, यथेह तन्तुषु पटः, गवि गोत्वं, पटे शुक्लादिरूपमिति कार्यकारणयोः सामान्यविशेषयोर्गुणगुणिनोश्च सम्बन्धः समवाय एव। स चैको नित्यः सर्वगतो व्योमवदिष्यते, युतसिद्धानां तु संयोगः सम्बन्धः, यथा पृथक्सिद्धयो रज्जूघटयोरित्यपि तत्सिद्धान्तस्तत्र समवायसम्बन्धं निराकरोति—

अयुत सिद्ध आधाराधेयभूत पदार्थों में इह प्रत्यय का हेतु समवाय कहलाता है जैसे इह

तन्तुषु पटः (इन तन्तुओं में पट है), गवि गोत्वम् (गाय में गोत्व है) पटे शुक्लादि रूपम् (पट में शुक्ल आदि रूप हैं) इस प्रकार कार्यकारण में (अवयव अवयवी में) सामान्य विशेष में, गुण गुणी में जो सम्बन्ध है, वह समवाय है। वह एक है और नित्य है तथा व्योम की तरह नित्य है तथा पृथक् सिद्ध द्रव्यद्वयका सम्बन्ध संयोग है। जैसे पृथक सिद्ध रज्जू (रस्सी) और घट, ऐसा उनका सिद्धान्त है। यहाँ समवाय सम्बन्ध का निराकरण करते हैं।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः। २। २। १३।।

तदभाव इत्यनुवर्त्तते। कार्यकारणयोः समवायाभ्युपगमाच्च प्रकृतकणभुक्प्रक्रिया-ऽसम्भवः। कुतः ? साम्यात्, समवायस्यापि सम्बन्धित्वसाम्यात्। तथाहि यथा द्व्यणुकं समवायसम्बन्धेन स्वकारणे समवैत्यत्यन्तभिन्नत्वात् तथा समवायोऽपि समवायिभ्यां समवायसम्बन्धान्तरेण सम्बध्येत, अत्यन्तभेदसाम्यात्। सोऽपि सम्बन्धान्तरेणेत्यनवस्थानात्। अतो न समवायाभ्युपगमः प्रामाणिकः। नच समवायस्य स्वयं सम्बन्धरूपत्वान्न सम्बन्धान्तरापेक्षेति वाच्यं, संयोगस्यापि सम्बन्धरूपत्वसाम्येन समवायाऽनपेक्षत्वापत्तेः। सम्बन्धान्तरापेक्षेति वाच्यं, संयोगस्यापि सम्बन्धरूपत्वसाम्येन समवायाऽनपेक्षत्वापत्तेः। तथात्वे च संयोगस्य संयोगिभ्यां संबन्धः समवायपूर्वक इति प्रतिज्ञाभङ्गापत्तेः। न च संयोगो गुणत्वात्समवायमपेक्षत इति वाच्यं, पारिभाषिकमात्रत्वात्, समवायस्यापि गुणत्वं वक्तुं शक्यते, न च कार्यकारणयोरयुतसिद्धत्वं, कारणस्य पूर्वसिद्धत्वात्कार्य-स्योत्तरकालीनत्वात्, तथात्वेऽपृथक्सिद्धत्वासम्भवात्। न चान्यतरापेक्षत्वमयुतसिद्धत्वमिति वाच्यं, तथापि द्वयोः सतोः सम्बन्ध इति कृत्वोत्पन्नं कार्यं क्षणमात्रं पृथगवस्थाय समवायेन सम्बध्यत इति दूषणस्य तादवस्थ्यात्। अथोत्पत्तिरेव समवाय इत्यप्ययुक्तं तथात्वे समवायस्य नित्यत्वासम्भवात्, उत्पत्तिनित्यत्वयोरत्यन्तविरोधात्, उत्पत्तेर्नित्यत्वाङ्गीकारे कार्यत्वावच्छिन्नस्य नित्यत्वापत्तेः कारकव्यापारानर्थक्याच्च। तस्मात्तादात्म्यलक्षण एव सम्बन्धो न समवायकृत इति।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस सूत्र में पूर्व सूत्र से तदभावः की अनुवृत्ति होती है। कार्यकारण में समवाय सम्बन्ध स्वीकार करने से भी कणाद की सृष्टि प्रक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि 'साम्यात्' (अप्रामाणिक परमाणुकरणवाद स्वीकार करने से जैसे कणादमत असमञ्जस है, वैसे समवाय सम्बन्ध स्वीकार करने से भी यह मत असमञ्जस है) इसी आशय से परिहार करते हैं, तत्र समवाय सम्बन्धं निराकरोति अर्थात् सिद्ध पदार्थों- अवयवि, गुण, क्रिया तथा जातियों में अयुत सिद्धि के उत्पादन के लिए नैयायिक समवाय स्वीकार करते हैं, तब तो समवाय के लिए भी समवाय सम्बन्धान्तर स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि उसमें भी अयुत सिद्धि की साम्यता है, इसी तरह उसका भी सम्बन्धान्तर फिर उसका भी सम्बन्धान्तर अयुत सिद्धि का उत्पादक मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था होगी, इसी आशय से कहते हैं 'समवायस्यापि सम्बन्धित्व साम्यात्' जैसे अवयवी से अत्यन्त भिन्न अवयवी समवायसम्बन्ध से अवयवों से

सम्बन्धित होता है, उसी प्रकार समवाय भी सम्बन्धियों से सम्बन्धित होता है, समवाय भी सम्बन्धियों से अत्यन्त भिन्न होकर भी अन्य समवाय सम्बन्ध से समवायियों से सम्बन्धित होगा। क्योंकि अत्यन्त भेद की समानता है, फिर उसका भी दूसरा समवाय सम्बन्ध अन्वेषण करना पड़ेगा। इसी का उपपादन करते हैं 'तथाहि' ग्रन्थ से। इसलिए कणाद का समवाय का अभ्युपगम भी प्रामाणिक नहीं है। यदि कहें कि समवाय स्वयं सम्बन्ध रूप है, उसे सम्बन्धान्तर (अन्य सम्बन्ध) की अपेक्षा नहीं है– तो ऐसा नहीं कह सकते। फिर तो संयोग भी सम्बन्ध रूप है, उसे समवाय सम्बन्ध की अनपेक्षत्व की आपत्ति होगी फिर तो संयोग का दो संयोगियों से सम्बन्ध समवाय पूर्वक है अर्थात् संयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है, इस प्रतिज्ञा का बाध होगा। यदि कहें कि संयोग गुण है इसलिए उसे समवाय की अपेक्षा होती है तो यह भी ठीक नहीं, यह तो अपनी मनःकल्पित परिभाषा मात्र है फिर तो समवाय को भी गुण कह सकते हैं। दूसरी बात न्याय का कार्यकरण में अयुत सिद्धत्व कथन भी सही नहीं है, कारण पूर्व सिद्ध है– कार्य उत्तरकालीन है, ऐसी स्थिति में कार्यकारण में अपृथक् सिद्धत्व संभव नहीं। यदि कहें कि एक में दूसरी अपेक्षा ही अयुत सिद्धत्व पदार्थ है तो यह भी नहीं कह सकते, कारण दो सत् पदार्थों में सम्बन्ध होता है– कार्य उत्पत्ति क्षणावच्छेदेन कारण से पृथक् रहकर समवाय सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। यह दूषण तदवस्थ ही रहता है। अर्थात् असत् कार्यवाद होने से पहले कार्य कारण में नहीं करता। कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर कार्य की सत्ता होने पर कारण से सम्बन्धित होता है। उत्पत्ति क्षण में कार्य कारण में पृथक् रहता है। पश्चात् समवाय से सम्बन्धित होता है, इस प्रकार भी कार्यकारण अयुत सिद्धि नहीं है। यदि कहें कि उत्पत्ति ही समवाय है। यद भी अयुक्त है– फिर तो समवाय अनित्य हो जायगा। उत्पत्ति एवं नित्यत्व में विरोध है। उत्पत्ति को नित्य मानें तो तब तो कार्यत्वावच्छिन्न में नित्यत्वापत्ति होगी और कारक व्यापार निरर्थक होगा, इसलिए कार्यकारण में तादात्म्य सम्बन्ध ही उचित है, समवाय नहीं है।।१३।।

नित्यमेव च भावात्। २। २। १४।।

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेर्भावान्नित्यसृष्टिप्रसङ्ग इत्यक्षरार्थः। अयमभिप्रायः परमाणवः प्रवृत्तिस्वभावाः? निवृत्तिस्वभावाः? उभयशीलाः? अनुभयशीला वा? आद्ये, सृष्टेर्नित्यत्वं प्रलयाभावश्च। द्वितीये सर्गाभावो नित्यप्रलयप्रसक्तिश्च। न तृतीयचतुर्थौ उभयस्वभावत्वस्येतरेतरविरोधात्सर्वथाऽनुपपत्तिरिति।।१४।।

(हिन्दी–अनुवाद)

परमाणुओं का प्रवृत्तिस्वभाव मानने से नित्य सृष्टि का प्रसङ्ग होगा यह अक्षरार्थ है। भाव यह है कि परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं या निवृत्ति स्वभाव वाले अथवा उभयशील है या अनुभयशील? प्रथम पक्ष में सृष्टि में नित्यता एवं प्रलयाभाव का प्रसङ्ग होगा। द्वितीय पक्ष में सृष्टि का अभाव तथा नित्य प्रलय का प्रसङ्ग होगा। तीसरा एवं चौथा विकल्प भी नहीं कह सकते। उभय स्वभाव परस्पर विरुद्ध होने से सर्वथा अनुपपन्न है।।१४।।

रूपादिमत्वाच्च विपर्य्ययोदर्शनात्। २। २। १५।।

परमाणवो रूपादिगुणवन्तो न वा? आद्ये रूपादिमत्त्वाच्च परमाणूनां नित्यत्वविपर्ययोऽनित्यत्वं स्यात्, रूपादिमतां घटादीनामनित्यत्वदर्शनात्। परमाणवोऽनित्या रूपादिमद्द्रव्यत्वात् घटादिवदिति प्रयोगात्। द्वितीये सिद्धान्तभङ्गात्, कार्यस्यापि रूपादिशून्यत्वापत्तेश्च। अथ रूपादिर्नेष्येत कार्यं रूपादिमन्न स्यादतो रूपादिमन्तो नित्याश्चेति तब वचनात्।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

परमाणु रूपादि गुणवान् है या नहीं? प्रथम पक्ष में परमाणुओं में नित्यत्व विपरीत अनित्यत्व दोष आ जायगा, क्योंकि रूपादिमान् घट आदि अनित्य देखे गये हैं, अनुमान का प्रयोग होगा। परमाणु सभी अनित्य है क्योंकि वे रूपादिमान् द्रव्य हैं, घट आदि की तरह। द्वितीय पक्ष कह नहीं सकते क्योंकि इसमें आपका सिद्धान्त भङ्ग होता है और फिर तो द्व्यणुकादि कार्य भी रूपादि शून्य हो जायंगे। इसलिए यदि रूप आदि नहीं मानेंगे तब कार्य भी रूपादिमान् नहीं होंगे। आपका पक्ष है परमाणु रूपादिमान् हैं और नित्य भी है। इसलिए भी यह मत असमञ्जस है।

उभयथा च दोषात्। २। २। १६।।

परमाणूनामुपचितगुणवत्त्वाङ्गीकारे सर्वेषां तुल्यत्वापत्तेरप्स्वपि गन्ध उपलभ्येत, तेजसि गन्धरसौ वायौ रूपरसगन्धाश्च तेषां स्थौल्यहेतुत्वात्, परमाणूनामपि स्थूलत्वापत्त्याऽपरमाणुत्वप्रसङ्गात्। अपचितगुणवत्त्वे च सर्वेषामेकैको गुणः स्यात्तथात्वे च तेजसि स्पर्शो न स्यादप्सु रूपस्पर्शौ, पृथिव्यां रूपस्पर्शरसा न स्युः, कारणगुणपूर्वकत्वात्कार्य्यगुणानामित्युभयथापि दोषादिति सूत्रार्थः। ननु केचिदुपचितगुणाः केचिदपचितगुणा इति विचित्रत्वाङ्गीकार इति चेन्न। तथाऽप्युपचितगुणानां परमाणुत्वहानिप्रसङ्गात्, दृश्यादृश्यादिमूर्त्तामूर्ताद्यवान्तरविचित्रताया गुणोपचयनिवन्धनत्वात् चतुर्विधपरमाणूनां स्वतोभेदात्। सिद्धान्ते तु महाभूतवृत्तिगुणानां नियमश्रुतिसिद्धत्वेन दोषाभावादिति भावः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिव्यागुणास्तेषु गन्धहीनाश्चत्वारोऽपां गुणास्तेषु रसहीनास्त्रयो गुणा अग्नेः शब्दस्पर्शाविति वायोः शब्द एक आकाशस्ये"ति लौकिकोपनिषच्छ्रुतेः। "आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा। शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मसंयुक्तान्युत्तरोत्तरैरि"ति विष्णुपुराणोक्तेश्च सर्वज्ञसर्वशक्तिब्रह्माधिष्ठितत्वाच्च महाभूतादिप्रपञ्चस्येत्यलं प्रासङ्गिकेन।।१६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब परमाणु कारणवाद की अनुपपत्ति में दूसरा हेतु कहते हैं- 'उभयथा च' अर्थात् परमाणुओं में तुल्यगुण अथवा अतुल्य गुण मानने पर दोनों स्थिति में दोष का निश्चय होने

से परमाणुवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, यही कहते हैं 'परमाणूनामुपचित' इस ग्रन्थ से अर्थात् यदि सभी परमाणुओं में उपचित चारों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) गुण मानें तो सभी पृथिवी, जल, तेज, वायु भूतों में तुल्यत्व की आपत्ति होगी– जल में भी गन्ध, तेज में गन्ध रस, वायु में रूप, रस गन्ध की उपलब्धि की आपत्ति होगी। दूसरी बात गुणों का उपचय द्रव्य की स्थूलता में हेतु होने के कारण परमाणुओं में गुणों के उपचय होने से उनमें अपरमाणुत्व का प्रसङ्ग होगा। मूर्ति की स्थूलता के बिना गुणों का उपचय नहीं होता, जैसा कि भूत कार्यों में उसकी उपलब्धि होती है। अब अपचित गुण मानने पर दोष कहते हैं, 'अपचित गुणवत्त्वेच' अर्थात् अपचित गुण मानने पर सभी भूतों में एक-एक गुण ही होगा। तब तेज में स्पर्श नहीं होगा, जल में रूप स्पर्श तथा पृथिवी में रूप, स्पर्श, रस गुण नहीं होंगे क्योंकि कार्य के गुण कारण गुणपूर्वक होते हैं। इस प्रकार दोनों तरह से दोष हैं– यह सूत्रार्थ है। यदि कहें कि कतिपय भूत उपचित गुणवाले हैं जैसे पृथिवी इसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श चारों गुण रहते हैं। अतः पृथिवी उपचित गुणवाली है– इससे भिन्न अन्य सभी अपचित गुणवान् हैं, इस प्रकार वैलक्षण्य मानने पर उक्त दोष नहीं होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते। ऐसा मानने पर भी उपचित गुण वाले परमाणुओं में परमाणुत्व की हानि का प्रसङ्ग होगा। कोई वस्तु दृश्य होती है। कोई दृश्य नहीं होती, इसमें गुण ही नियामक होते हैं यही कहते हैं "दृश्यादृश्यादि" अर्थात् परमाणुओं में परस्पर वैचित्र्य गुणों के उपचय एवं अपचय प्रयुक्त हैं, न कि स्वरूप भेद प्रयुक्त। हमारे (वेदान्त) सिद्धान्त में महाभूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आदि) के गुण श्रुति सिद्ध होने से दोष नहीं है जैसा कि श्रुति का वचन है– "शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिव्याः गुणास्तेषु गन्धहीनाश्चत्वारो अपां गुणास्तेषु रसहीनास्त्रयो गुणा अग्नेः शब्दस्पर्शौ वायोः शब्द एकः आकाशस्य (लौकिक उपनिषत्) आकाश वायुतेजांसि सलिले पृथिवी तथा। शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्म संयुक्तान्युतरोत्तरैः (विष्णु पुराण) तथा ये पाँचों महाभूत सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से अधिष्ठित माने गये हैं। तथा—

आकाशं शब्दमात्रं तु स्पर्शमात्रं समाविशत्।
द्विगुणस्तु ततो वायुः शब्दस्पर्शात्मकोऽभवत्।।१।।
रूपं तथैवाविशतः शब्दस्पर्शगुणावुभौ।
त्रिगुणस्तु ततो वह्निः स शब्द स्पर्शवान् भवेत्।।२।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसमात्रं समाविशत्।
तस्माच्चतुर्गुणा आपो विज्ञेयास्तु रसात्मिकाः।।३।।
शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसश्चेद्गन्धमाविशत्।
संहतान् गन्धमात्रेण तानाचष्टे महीमिमाम्।।४।।
तस्मात् पञ्चगुणा भूमिः स्थूला भूतेषु दृश्यते।
शान्ताः घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः।।५।।
परस्परानुप्रवेशात् धारयन्ति परस्परम्।।६।।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से वहाँ कहा गया है (अर्थात् आकाश में शब्द मात्र, वायु में शब्द– स्पर्श (दो), तेज में शब्द, स्पर्श, रूप (तीन), जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस (चार), पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गन्ध ये (पांच) गुण हैं।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा। २। २। १७।।

प्रधानकारणवादस्य कश्चित्सत्कार्यवादाद्यंशो मन्वादिभिरौपनिषदैर्गृहीतः असत्कार्यवादस्य वैशेषिकादिपरिकल्पितपरमाणुकारणवादस्य च केनाऽप्यंशेनापरिग्रहादत्यन्तमनपेक्षातिशयेनानादरणीयोऽयं पक्षः श्रेयोऽर्थिभिरिति सूत्रकृतोऽभिप्रायः।।१७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

प्रधान कारणवाद का तो सत्कार्यवाद आदि कतिपय अंश मनु आदि औपनिषदों द्वारा स्वीकृत भी है, परंतु वैशेषिकादि द्वारा परिकल्पित असत्कार्यवाद तथा परमाणु कारण वाद तो किसी भी अंश में उक्त औपनिषदों द्वारा गृहीत न होने से यह परमाणु कारणवाद का पक्ष तो श्रेयः कामीजनों के लिये अत्यन्त ही अनादरणीय है। यह सूत्रकार का अभिप्राय है।।१७।।

अथ इतरव्यपदेशाधिकरणम्

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः। २। २। १८।।

बौद्धसिद्धान्तग्राहिणो हि चत्वारस्तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिनौ वैभाषिकसौत्रान्तिकौ, तयोरपि बाह्यार्थप्रत्यक्षवादी आद्यः, विज्ञानानुमेयबाह्यार्थबादी द्वितीयः, निरालम्वनविज्ञानास्तित्ववादी योगाचारः, त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकं वदन्ति। सर्वशून्यवादी माध्यमिकः, स चाऽऽसंस्कारक्षयात् ग्राह्यग्राहकाकारविमुक्ता संवित्सन्ततिर्निर्वातस्थदीपवत् क्षणपरम्परयाऽवतिष्ठते, संस्कारक्षये सा प्रदीपवदेव निर्वाणमृच्छति, सेयमभावप्राप्तिरपवर्ग इति मन्यते। अन्ये तु सन्तत्यविच्छेदमिच्छन्ति। तत्र बाह्यार्थास्तित्ववादिमतं भूतभौतिकचित्तचैत्यभेदेन समुदायद्वयम्, तथाहि–रूप–विज्ञान–वेदना–संज्ञा–संस्काराख्याः–पञ्चस्कन्धाः। तत्र रूपस्कन्धो नाम पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि भौतिकं च शरीरेन्द्रियविषयरूपम्। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शाः खरस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः पृथिवीरूपेण संहताः पृथिवीव्यापारायावत्तिष्ठन्ते, रूपरसस्पर्शाः स्नेहस्वभावा आप्याः परमाणवः सलिलात्मना संहन्यन्ते, रूपस्पर्शा उष्णस्वभावास्तैजसास्तेजोरूपेण संहताः, तथा स्पर्शा ईरणस्वभावा वायवीया वायुरूपेण संहन्यन्ते। पृथिव्यादिचतुष्टयं च शरीरेन्द्रियविषयरूपेण संहन्यते इत्येवमेते चतुर्विधाः क्षणिकाः परमाणवो भूतभौतिकसंघातहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते। सोऽयं परमाणुहेतुको भूतभौतिकरूपो रूपस्कन्धो बाह्यसमुदायः। विज्ञानस्कन्धो नामाभ्यन्तरोऽहंप्रत्ययसमारूढो घटज्ञानं पटज्ञानमित्येवमविच्छेदेन वर्त्तमानोविज्ञानसन्तानः, अयमेव कर्त्ता, भोक्ता चात्मा नाऽन्यो नित्योऽस्तीति। वेदनास्कन्धश्च सुखवेदना दुःखवेदना च, संज्ञास्कन्धो नामोपलक्षणप्रत्ययो यथा स्वस्तिमती गौरिति स्वस्तिमत्तया गौरुपलक्ष्यते, ध्वजेन गृहं, दण्डेन पुरुष इति। संस्कारस्कन्धो नाम

रागद्वेषमोहमदमात्सर्यभयशोक विषादादयश्चैतसिका धर्माः, ते चामी चतुर्विधाः स्कन्धाश्चित्तचैत्तिका उच्यन्ते, सर्वव्यवहारास्पदभावेनान्तः संहन्यन्ते। सोऽयं विज्ञानादिचतुःस्कन्धीहेतुक आन्तरः समुदायः सर्व वस्तुजातं समुदायद्वयरूपं यदतोऽन्यत्तत्सर्वमवस्तु कालाकाशादि तावेतौ लोकयात्रामावहतः। सिद्धे च लोकव्यवहारे नित्येनात्मना नास्ति प्रयोजनमिति मन्येते। तत्रेदमभिधीयते उभयहेतुकेऽपि समुदायेऽभ्युपगम्यमाने तदप्राप्तिः समुदायासम्भवः, न तावत्स्वतः समुदायापत्तिः समुदायिनामचेतनत्वात् क्षणिकत्वाच्च, नाप्यन्यतः नित्यस्य भोक्तुः प्रशासितुः संहन्तुश्चेतनस्यानभ्युपगमात्। समुदायासिद्धौ स्थूलाभावेन व्यवहारो न सिध्येत्परमाणूनां च क्षणध्वंसित्वादतीन्द्रियत्वान्न तैर्व्यवहारोऽस्तीति लुप्येत लोकयात्रा।।१८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

बौद्धमत के मानने वाले चार है। इनमें बाह्य अर्थ के अस्तित्ववादी वैभाषिक और सौत्रान्तिक हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष अस्तित्व मानते हैं और सौत्रान्तिक बाह्य अर्थ का अनुमान से अस्तित्व मानते हैं। माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक नाम के चार बौद्ध हैं। ये सभी आदि बौद्ध के शिष्य हैं- जो क्रमशः सर्वशून्यत्व, बाह्यार्थ शून्यत्व, बाह्यार्थानुमेयत्व तथा बाह्य प्रत्यक्षवादी है। इनमें "बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते। अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च दर्शिताः। यथा यथा विचार्यन्ते तथा तथा" इत्यादि न्यायों से गुरु द्वारा सर्वशून्यम् सब कुछ शून्य है, ऐसा समझाने पर जिन्होंने गुरु की उक्ति को ज्यों की त्यों मानकर उस पर कोई विवाद या अश्रद्धा नहीं किया, वे गुरु की बात को श्रद्धापूर्वक स्वीकार करने के कारण उत्तम कहलाये। जिन्होंने उनकी बात पर शङ्का समाधान किया वे अधम कहलाये। इस प्रकार उनमें उत्तम और अधम का सम्बन्ध बना। मध्यम स्थिति को मानने वाले माध्यमिक कहलाये। जिन्होंने बाह्य अर्थ को शून्य मानकर कहा कि विज्ञान शून्य कैसे होगा, तब तो जगत् में आन्ध्य प्रसङ्ग होगा, ऐसा गुरु के साथ संदेह प्रकट किया- वे गुरु की उक्ति को आंशिक अङ्गीकार करने से क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार कहलाये। गुरु ने उनके प्रति कहा कि आन्तर केवल विज्ञान मात्र है, वह क्षणिक दीपशिखा की तरह। वह विज्ञान दो तरह का होता है आलय विज्ञान, प्रवृत्ति विज्ञान। अहम् अहम् इत्यादि प्रतीति विषय आलय विज्ञान कहलाता है। वही आत्मा है, वह दीप की लौ की तरह क्षणिक है, उसकी धारा अखण्ड रूप से दीपशिखा की तरह चलती रहती है। वहाँ जैसे दीप की लौ अखण्ड प्रतीत भर होती है, अखण्ड होती नहीं टूटती रहती है, प्रवाह नित्य होता है। उसी तरह आत्मा क्षणिक है, पर इसकी धारा अखण्ड चलती रहती है। अयं घटः अयं पटः इत्यादि ज्ञान प्रतीति विज्ञान कहलाता है। यह सब क्षणिक विज्ञान स्वरूप (आलय विज्ञान) का आकार विशेष है। क्षणिक विज्ञान स्वरूप आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है, वही विज्ञानाकारात्मक नीलादि (नील घटपटादि) अनादि वासना के अनुसार बाह्य विषय के समान भासित होता है, ऐसा समझाने पर बाह्य अर्थ कैसे सर्वथा शून्य होगा- बाह्य नील (घट) आदि का अवभास होता है तथा 'अहम्' ऐसा उल्लेख करके विज्ञान (आत्मा) का

आन्तर रूप में तथा 'इदम्' ऐसा उल्लेख करके नील आदि का बाह्य रूप में भेद रूप से अवभास होता है। सह उपलभ्म नियम मात्र अप्रयोजक होने से अभेद साधन में अक्षम है। सहत्व उक्ति से ही भेद की अनुमिति होतीं हैं, ऐसा जिसने कहा उनके प्रति कहा कि बाह्य विषय नील आदि सत्य तो है, पर वह प्रत्यक्ष नहीं है, क्योंकि अनुत्पन्न एवं अविद्यमान वस्तु प्रत्यक्ष योग्य नहीं होती। उत्पन्न क्षणिक वस्तु की स्थिति नहीं होती किन्तु उत्पद्यमान नीलादि विज्ञान में अपना आकार समर्पित कर नष्ट हो जाता है- तदनन्तर विज्ञानगत आकार से अतीत उस नीलादि का अनुमान होता है। ऐसा समझाने पर उन्होंने कहा कि इस प्रकार शिष्य के प्रश्नों के अनुरोध से कहाँ तक उपदेश सूत्र बनाते रहेंगे- इस प्रकार सूत्र का अन्त पूछने पर गुरु ने कहा- "आप ने सूत्र का अन्त पूछा है, इसलिए आप सब सौत्रान्तिक हो जायें।" इसलिए वे सौत्रान्तिक कहलाये। इसलिए विज्ञान से बाह्य (पदार्थ) अनुमेय है- यह विरुद्ध भाषा है वह विज्ञान ही तद् विषयक प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष किसी वस्तु के अभाव होने पर व्याप्ति सम्वेदन स्थान के अभाव होने से अनुमान की प्रवृत्ति भी नहीं होगी, ऐसा जिसने पर्यनुयोग किया- वे वैभाषिक कहलाये। उनके प्रति बाह्य को प्रत्यक्ष बताया। इस प्रकार जिसने जैसा सुना, उसने उसी प्रकार अपने-अपने प्रश्नों के उत्तर पर श्रद्धा करते हुए वैसा मत बना लिया। यहाँ वैभाषिक आदि क्रम से चारों बौद्धों का खण्डन करने के लिए क्रमशः चार अधिकरण हैं। (तदनन्तर क्षपण के खण्डन के लिए एक अधिकरण है। वैदिक कापिल, कणभुक् मतों के निराकरण के बाद उन अवैदिकों का खण्डन करते हैं। यहाँ पूर्व अधिकरण में असत्कार्यवादी वैशेषिकों का खण्डन किया, बौद्ध सिद्धान्त भी उनके तुल्य हैं, इसलिए उसका खण्डन करते हैं- यही संगति दिखाते हुए कहते हैं- "बौद्ध सिद्धान्तस्येति")[१]

बौद्धों के चार भेद हैं- वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक ये दोनों बाह्यपदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि वैभाषिक प्रत्यक्ष दीखने वाले बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानता है और सौत्रान्तिक विज्ञान से अनुमित बाह्य पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है। वैभाषिक के मत में घट पट आदि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय है- सौत्रान्तिक घट आदि रूप में उत्पन्न विज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है और उसके द्वारा घट आदि पदार्थों का अनुमान करता है। योगाचार के मत में निरालम्ब विज्ञान मात्र की ही सत्ता है। बाह्य पदार्थ स्वप्न की तरह मिथ्या ही है। माध्यमिक सबको शून्य ही मानता है। उसके मत में दीपशिखा की भाँति संस्कारवश क्षणिक विज्ञान की धारा ही बाह्य पदार्थों के रूप में प्रतीत होती है। जैसे दीपक की शिखा प्रतिक्षण मिट रही है

---

१. यहाँ तक न्यायाचार्य निम्बार्क भूषण नि. ली. ली. पं. श्रीअमोलक राम जी शास्त्री की टीका का अनुवाद है।पं श्री अमोलक राम जी शास्त्री श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के अति उद्भट विद्वान् थे तथा श्रीराधा-माधव युगल किशोर के अनन्य उपासक थे। उन्होंने प्रसिद्ध ईशादि दसों उपनिषदों एवं परपक्षगिरिवज्र, वेदान्त कौस्तुभप्रभा आदि समस्त दार्शनिक ग्रन्थों की संस्कृत में व्याख्या लिखी है। खेद है, ऐसे उपकारी विद्वान् का सम्प्रदाय में कोई सम्मान नहीं। (सं)

फिर भी एक धारा सी बनी रहने के कारण उसकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ भी प्रतिक्षण नष्ट हो रही है, उनकी विज्ञान धारा मात्र प्रतीत होती है। जैसे तेल चुक जाने पर दीपशिखा बुझ जाती है, उसी प्रकार संस्कार नष्ट होने पर विज्ञान धारा भी शान्त हो जाती है। इस प्रकार अभाव या शून्यता की प्रतीति या प्राप्ति ही उसकी मान्यता के अनुसार अपवर्ग या मुक्ति है।

इस सूत्र में वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक के मत (बाह्यार्थ सत्तावादी) को एक मानकर उनका निराकरण किया जाता है। उन दोनों की मान्यता का स्वरूप इस प्रकार है, इसमें भूत भौतिक तथा चित्त चैत्य भेद से दो समुदाय हैं। इन मतों में रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार ये पाँच स्कन्ध हैं, पृथिवी आदि चार भूत तथा भौतिक वस्तुएँ- शरीर, इन्द्रिय तथा विषय ये रूपस्कन्ध कहलाते हैं। पार्थिव परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन चार गुणों से युक्त एवं कठोर स्वभाव वाले होते हैं। वे ही समुदाय रूप में एकत्र होकर पृथिवी के आकार रूप से संगठित होते हैं। जलीय परमाणु रूप, रस और स्पर्श इन तीन गुणों से युक्त स्निग्ध स्वभाव के होते हैं, वे ही जल के आकार रूप में संगठित होते हैं। तेज के परमाणु रूप और स्पर्श गुण से युक्त एवं उष्ण स्वभाव के हैं, वे अग्नि के आकार रूप में संगठित हो जाते हैं। वायु के परमाणु स्पर्श की योग्यता वाले एवं गतिशील होते हैं, वे ही वायु रूप में संगठित हो जाते हैं। इस प्रकार के ये क्षणिक परमाणु हैं। जो भूत भौतिक संघात की उत्पत्ति के रूप में कारण बनते हैं। यह परमाणु हेतु भूत भौतिक वर्ग ही रूपस्कन्ध एवं बाह्य समुदाय कहलाता है। विज्ञान स्कन्ध कहते हैं आभ्यन्तरिक विज्ञान के प्रवाह को। इसी में मैं की प्रतीति होती है। यही घट ज्ञान पट ज्ञान आदि के रूप में अविच्छिन्न धारा की भाँति स्थित है। इसी को कर्ता, भोक्ता और आत्मा कहते हैं। इसी से सारा लौकिक व्यवहार चलता है। सुख-दुःख आदि की अनुभूति का नाम वेदना स्कन्ध है। उपलक्षण से जो वस्तु की प्रतीति करायी जाती है- जैसे ध्वज से गृह की, दण्ड से पुरुष की, उसी का नाम संज्ञास्कन्ध है।

राग-द्वेष, मोह, मद-मात्सर्य, भय, शोक और विषाद आदि जो चित्त के धर्म है, उन्हीं को संस्कार स्कन्ध कहते हैं। विज्ञान आदि चार स्कन्ध चित्त चैत्तिक कहलाते हैं। विज्ञानस्कन्ध रूप चित्त का नाम ही आत्मा है, शेष तीन स्कन्ध चैत्य अथवा चिति कहलाते हैं। ये सब प्रकार के व्यवहारों का आश्रय बनकर अन्तःकरण में संगठित होते हैं। यह चारों स्कन्धों का समुदाय या चित्त चैत्तिक वर्ग आभ्यन्तर समुदाय कहलाता है। इन दोनों समुदायों से भिन्न आत्मा आकाश काल आदि की सत्ता ही नहीं है। ये ही दोनों बाह्य और आभ्यन्तर समुदाय समस्त लोक व्यवहार के निर्वाहक हैं। इनसे ही सब कार्य चल जाता है। इसलिए नित्य आत्मा को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

इसके उत्तर में कहा जाता है कि परमाणु जिसमें हेतु बताये गये हैं, वह भूत भौतिक

बाह्य समुदाय एवं स्कन्ध हेतु आभ्यन्तर समुदाय, ये दोनों प्रकार के समुदाय तुम्हारे कथनानुसार मान लिये जायें तो भी उक्त समुदाय की सिद्धि असंभव ही है क्योंकि समुदाय के अन्तर्गत जो भी वस्तुएँ है, वे सब अचेतन हैं, एक दूसरे की अपेक्षा से शून्य है, अतः उनके द्वारा समुदाय अथवा संघात बना लेना असंभव है। परमाणु आदि तुम्हारी मान्यता के अनुसार क्षणिक भी है। एक क्षण में जो परमाणु है, वह दूसरे क्षण में नहीं है फिर वे क्षण विध्वंसी परमाणु पृथिवी आदि भूत समुदाय या संघात के रूप में एकत्र होने का प्रयत्न कैसे कर सकते हैं। कैसे उनका संघात बन सकता है। समुदाय की सिद्धि न होने पर स्थूल पदार्थ नहीं बनेगा और स्थूल पदार्थ के बिना व्यवहार सिद्ध नहीं होगा। परमाणुओं के क्षण ध्वंसी एवं अतीन्द्रिय होने से उनसे व्यवहार नहीं होगा। इस प्रकार लोक यात्रा ही लुप्त हो जायगी। इस प्रकार उनके संघात पूर्वक जगत् की उत्पत्ति की कल्पना करना सर्वथा युक्ति विरुद्ध है। अतः वैभाषिकों एवं सौत्रान्तिकों के मत मानने योग्य नहीं हैं।।१८।।

[१]इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न, सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात् ।२।२।१९।।

कार्यं प्रत्ययते गच्छतीति व्युत्पत्तेः प्रत्ययशब्दो हेतुवाची। नन्वितरेतरहेतुत्वादुपपन्नमस्मद्दर्शनम्। तथाहि योऽयं विज्ञानस्कन्धोऽहंप्रत्ययसमारूढः सन्ततिरूपेण वर्त्तते तस्याविद्यादयोऽनादिकालप्रवृत्ता हेतवः, स च तेषामिति अविद्यानामविपरीतबुद्धिः, अस्थिरे स्थिरदृष्टिरमार्गे मार्गदृष्टिरिति। तया रागद्वेषादिलक्षणसंस्कारस्कन्धो जन्यते, ततः पुण्यापुण्यकर्मलक्षणा प्रवृत्तिः, ततो जन्मशरीरग्रहणम्, ततः पञ्चबुद्धीन्द्रियमनोरूपं षडायतनं, ततः षड्विज्ञानानीन्द्रियमनोविषयेषु रूपादिषूत्पद्यन्ते, तदेवं प्रमातृप्रमाणप्रमेयव्यवहारसिद्धेः सर्वमुपपन्नमिति चेत्तत्परिहरति। नेति। कुतः? "सङ्घातभावाऽनिमित्तत्वात्" नह्यविद्यादीनां भूतभौतिकसङ्घातापत्तौ निमित्तत्वमुपपद्यते पूर्वपूर्वक्षणस्योत्तरोत्तरहेतुत्वेऽपि न सङ्घातापत्तिहेतुत्वं, विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्। कर्मणोऽपि क्षणिकत्वादुत्पत्तिनिरोधमात्रं सर्वत्र भवेत्। न सङ्घातापत्तौ सामर्थ्यं शक्यं कल्पयितुं, प्रमाणाभावात्।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

(बौद्ध दर्शन में विज्ञान सन्तति के कतिपय कारण माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं– अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख तथा दुर्मनसता आदि क्षणिक वस्तुओं में नित्यता और स्थिरता आदि का जो भ्रम है, वही अविद्या कहलाता है। यह अविद्या विषयों में रागादि रूप संस्कार उत्पन्न करने के कारण बनती है। वह संस्कार गर्भस्थ शिशु में आलय विज्ञान उत्पन्न

१. यहाँ १९ एवं २० सूत्र का भावार्थ पहले दिया गया है, बाद में उनका वे.कौ.प्रभा के अनुसार अनुवाद किया है। (अनुवादक – झा)

करता है। उस आलय विज्ञान से पृथिवी आदि चार भूत होते हैं- जो शरीर में समुदाय के कारण हैं। वही नाम का आश्रय होने से नाम भी कहा गया है। वह नाम ही श्याम गौर आदि रूप वाले शरीर का उत्पादक होता है। गर्भस्थ शरीर की जो कलल बुद्बद् आदि अवस्थाएँ हैं, उन्हीं को नाम तथा रूप, शरीर, विज्ञान और धातु- ये छः जिनके आश्रय हैं, उन इन्द्रियों के समूह को षडायतन कहते हैं। नाम, रूप तथा इन्द्रियों के परस्पर सम्बन्ध का नाम स्पर्श है। उससे सुख आदि की वेदना की अनुभूति होती है। उससे क्रमशः तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरावस्था, मृत्यु, शोक, परिदेवना तथा दुर्मनस्ता मन की उद्विग्नता आदि भी इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर उन अविद्या आदि में क्रम से पूर्वोक्त सभी बातें प्रकट होती रहती हैं। ये घटीयन्त्र की भाँति निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। अतः इस मान्यता को लेकर कहा जाय कि इन्हीं में समुदाय की भी सिद्धि हो जाती है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त अविद्या आदि में से जो पूर्ववर्ती है, वह बाद में कहे हुए संस्कार आदि की उत्पत्ति मात्र के कारण होता है, संघात की उत्पत्ति में नहीं अतः उसकी सिद्धि संभव नहीं है।।१९।।)

कार्य के प्रति जो जाता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यय शब्द हेतु वाची है। यदि कहें कि इतरेतर हेतु से हमारा सिद्धान्त उपपन्न है, जैसे यह जो 'अहम्' इस प्रतीति का विषय विज्ञान स्कन्ध सन्तति रूप से विद्यमान है, उसमें अनादि काल प्रवृत्त अविद्या आदि हेतु है। अर्थात् अस्थिर पदार्थों में स्थिरत्व की भ्रान्ति रूप अविद्या तो विज्ञानस्कन्ध की हेतु है और वह विज्ञानस्कन्ध आदि का हेतु है। उस अविद्या से रागद्वेष आदि रूप संस्कार स्कन्ध उत्पन्न होता है, उससे पुण्य पाप रूप कर्म की प्रवृत्ति होती है, उससे जन्म अर्थात् शरीर ग्रहण होता है, तदनन्तर पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ- मनरूप षडायतन होता है। उससे छः प्रकार का विज्ञान तथा मन के विषयरूप रूप आदि में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रमातृ, प्रमाण एवं प्रमेय रूप सकल व्यवहार की सिद्धि होती है। इस प्रकार हमारे मत में सब व्यवहार उपपन्न हो जाता है, तो यह भी संभव नहीं है। इसी का परिहार करते हैं 'न' इति क्योंकि 'सङ्घातभावानिमित्तत्वात्' अर्थात् अविद्या आदि भूत-भौतिक सङ्घात की उपपत्ति में निमित्त नहीं हो सकते। पूर्व-पूर्व क्षण उत्तरोत्तर में हेतु होने पर भी सङ्घात भाव की प्राप्ति में हेतु नहीं हो सकता क्योंकि आपके मत में विज्ञान क्षणिक है कर्म भी क्षणिक है। इस प्रकार उत्पत्ति एवं विनाश ही सब जगह होगा, ऐसे क्षणिक तत्त्वों के सङ्घात की उत्पत्ति में सामर्थ्य नहीं कह सकते, इसमें कोई प्रमाण नहीं है।।१९।।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। २। २। २०।।

एवं पूर्वक्षणस्योत्तरहेतुत्वमभ्युपगम्यापि सङ्घातानुपपत्तिरित्युक्तमथेदानीं हेतुत्वस्याप्यसम्भव उपपाद्यते। उत्तरक्षणस्योत्पत्तिवेलायां पूर्वक्षणस्य निरोधात् विनष्टत्वात् उत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तिरेव। तथाहि पूर्वस्तावद्धटक्षणः, स किमुत्पन्नः सन्नुत्तरहेतुरनुत्पन्नोवा ? नानुत्पन्नः, शशविषाणतुल्यत्वात्।

नाप्युत्पन्नः, अभाववत्तुच्छत्वात्, उत्पन्नविनष्टस्यानुत्पन्नस्य चाभावत्वाविशेषात्। अभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत। ननु पूर्वक्षणविनाश उत्तरक्षणोत्पत्तिश्च युगपद्भवेतां, तुलान्तयोर्नामोन्मानवदिति चेन्न, तत्र मध्ये सूत्रधारणादन्तयोश्च युगपदुपस्थितयोरेकस्य गुरुत्वान्नामस्तद्रहितस्योन्नाम इति, न चात्रोत्तरोत्पत्तिकाले पूर्वस्य स्थितिरिष्यते, येनासौ तद्धेतुत्वं प्रतिपद्येत, अवतिष्ठते चेत् क्षणिकत्वहानिः। किञ्च कारणधर्मानुविधायित्वमन्तरेणेदं कार्यमिदं कारणमिति कल्पनायामतिप्रसङ्गो मृदन्विताः शरावादयो दृश्यन्ते सुवर्णान्विताश्च कुण्डलादयो नचाकारसमर्पणो सामर्थ्यं क्षणिकत्वात्तस्मान्नित्यपक्ष एव कार्यकारणव्यवस्था युज्यते प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानाच्च कुम्भादीनां नित्यत्वम्। ननु च नित्यत्वेऽपि कार्यकारणभावोनोपपद्यते, क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। किं कुशूलस्थो व्रीहिरङ्कुरजननस्वभावः? अतत्स्वभावो वा? यद्यतत्स्वभावो न कथंचिदपि जनयेत्। अथ तत् स्वभावस्तदानानीमेवोत्पादयेत्ततश्च यानि कर्माणि व्रीहिणा कर्तव्यानि तानि सर्वाणि युगपत्कुर्यात्। नच सामग्रीवशेनाङ्कुरं जनयेदतत्स्वभावत्वे सामग्र्या अकिञ्चित्करत्वात्। यच्चोक्तं प्रत्यभिज्ञानाच्च नित्यत्वमिति तदनैकान्तिक, प्रदीपज्वालादिष्वदर्शनात्। यदि च नित्यो भावः स्यादन्ते विनाशदर्शनं न प्राप्नुयात्। अथ मुद्गरादिना घटस्य विनाशः क्रियत इति चेत्तदयुक्तं, तथाहि विनाशः किं द्रव्यभिन्नोऽभिन्नो वा क्रियते? आद्ये, घटस्य किमायतं यथा घटे कृते पटस्य न किञ्चिद्भवति, तथा विनाशेऽपि भिन्ने। द्वितीये घटस्वरूपमेव विनाशस्तच्च कुलालेन कृतमिति मुद्गरः किमपरं करोति, अथ मन्यसे घटस्य सम्बन्धी विनाशः क्रियत इति। तत्र कः सम्बन्धः? किन्तादात्म्यलक्षणस्तदुत्पत्तिलक्षणोवा? आद्ये पूर्वोक्तमेव दूषणं तादात्म्यं तत्स्वभावता सा च कुलालेन कृतेति। द्वितीये घटमुद्गराभ्यां विनाश उत्पाद्यत इति घटस्य न किञ्चिदिति। तस्मात्स्वाभाविको विनाश एष्टव्य इति। अत्रोच्यते–योऽयं विकल्पः कृतः स तवैव सिद्धान्तं बाधते। कथं विसदृशसन्तानोत्पत्तिप्रतिनिरोधाय योऽयमन्त्यो घटक्षणोऽभिमतो यतः कपालोत्पत्तिरिष्यते, स सदृशसन्तानजननस्वभावो घटक्षणत्वादतीतानन्तरघटक्षणवदित्यसावेव विसदृशसन्तानजननस्वभावो– ऽप्यभ्युपेयेत। अन्यथा कुम्भकारादारभ्य कपालपङ्क्तिरेव स्यादेवं सति मुद्गरेण घटक्षणस्य सदृशसन्तानजननस्वभावता विनाश्यते, विसदृशसन्तानजननस्वभावता चोत्पाद्यत इत्यवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा कपालोत्पत्त्यसम्भवात्। ततश्च भवता सहेतुकं विनाशमभ्युपगच्छता विकल्पः परित्यक्तः। यदि विकल्पोऽङ्गीक्रियते तर्हि विसदृशसन्तानस्त्यक्तव्य इति सिद्धहानिर्दृष्टविरोधश्च। तत्र यथा तव सदृशसन्तानजननस्वभावविनाशो मुद्गरेण क्रियते, तया ममापि घटविनाश एव क्रियत इति स्थितः सहेतुको विनाशः प्रत्यभिज्ञानाच्च कालान्तरावस्थायित्वं, ज्वालादिष्वपि सामान्यं समाश्रित्य प्रत्यभिज्ञावृद्धिह्रासदर्शनात् व्यक्तीनामनित्यतैव। यद्यवस्थायिनी व्यक्तिः स्यात् गृहदाहादिष्वपि सामान्यं समाश्रित्य प्रत्यभिज्ञाप्रसङ्ग इत्यव्यवभिचारः प्रत्यभिज्ञायाः। नहि क्षणिकत्वं प्रत्यक्षमनुभूयते, प्रथमोत्पन्ने निर्विकल्पज्ञाने विशेषापरामर्शात्। यच्चोक्तं क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादिति ससमानो यो सावन्त्यो व्रीहिक्षणो यस्मादङ्कुरोत्पत्तिरिष्यते, सोऽप्यङ्कुरजननस्वभावो न भवति व्रीहिक्षणत्वादनन्तरातीतव्रीहिक्षणवत्। नहि समानसन्ततावकस्माद्विलक्षणक्षणान्तरोत्पत्तिसम्भवः। अथ सहकारिवशादुत्पादक इति चेन्ममापि तदविशिष्टमिति। किञ्च विनाशोत्पादौ भावव्यतिरिक्तावव्यतिरिक्तौ वा? आद्ये, भावस्य क्षणत्रयप्रसङ्गः,

उत्पत्तिक्षणः स्थितिक्षणो नाशक्षणश्चेति। द्वितीये तूत्पादविनाशयोरभावाद्भावोनित्यः स्यात्। किञ्च विनाशो नामाभावः, सच किं भावस्य पूर्वभावी सहभावी वा पश्चाद्भावी वा? इति। आद्ये भावोत्पत्तिर्न स्यात्। द्वितीयेऽप्यविरोधाद्भावस्य शाश्वतत्वप्रसङ्गः। तृतीये सहेतुको विनाशः प्राप्नोतीति दिक्।।२०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

(घट और पट आदि में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कारण भूत मृत्तिका और तन्तु आदि अपने कार्य के साथ विद्यमान रहते हैं। तभी उनमें कार्य कारण भाव की सिद्धि होती है। किन्तु बौद्ध मत में समस्त पदार्थों का प्रत्येक क्षण में नाश माना गया है। अतः उनके मतानुसार कार्य में कारण की विद्यमानता सिद्ध नहीं होगी। जिस क्षण में कार्य की उत्पत्ति होगी, उसी क्षण में कार्य का विनाश हो जायगा। इसलिए उनकी मान्यता के अनुसार कार्यकारण भाव की सिद्धि न होने से अविद्या आदि हेतु, संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावों की उत्पत्ति के कारण नहीं हो सकते।)

इस प्रकार पूर्वक्षण को उत्तर के प्रति हेतु स्वीकार करने पर भी सङ्घात की उपपत्ति नहीं हो सकती, ऐसा कहा। अब पूर्वक्षण उत्तर का हेतु भी नहीं हो सकता, इसका उपपादन करते हैं, क्यों कि उत्तर क्षण की उत्पत्ति बेला में पूर्वक्षण का विनाश हो जाता है। इस प्रकार उत्तर क्षण के प्रति हेतुत्व की अनुपपत्ति ही है। जैसे पूर्वक्षण घट की उत्पत्ति का क्षण है। वह घट उत्पन्न होकर उत्तर का हेतु है या अनुत्पन्न? अनुत्पन्न पक्ष कह नहीं सकते क्योंकि अनुत्पन्न घट तो शशश्रृङ्ग की तरह है। उत्पन्न भी नहीं कह सकते क्योंकि वह तो अभाव की तरह तुच्छ है। क्योंकि उत्पन्न होकर तुरंत विनष्ट एवं अनुत्पन्न दोनों अभाव के समान होते हैं और यदि अभाव हेतु हो तब तो सब जगह सर्वथा उत्पन्न हो जायेंगे। यदि कहें कि पूर्वक्षण का विनाश तथा उत्तरक्षण की उत्पत्ति एक काल में होगा, तुला में नाम उन्मान की तरह तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि तुला में बीच में सूत्र के धारण से दोनों ओर एक काल में उपस्थित दो पदार्थों में एक के गुरु होने से नमन तथा दूसरे में उस अनुपात में गुरुता के अभाव से उत्थान है। इसलिए वहाँ उत्तर के उत्पत्ति काल में पूर्व की स्थिति नहीं चाहते हैं। इष्ट नहीं है- इसलिए वह उसके हेतु भाव को प्राप्त होता है। यदि उसका अवस्थान मानें तो क्षणिकत्व की हानि होती है। दूसरी बात कारण धर्म के अन्वय के बिना यह कार्य है यह कारण है- इस कल्पना में अतिप्रसङ्ग होगा। कारण मृत्तिका से अन्वित शराब आदि में देखे जाते हैं तथा सुवर्ण से अन्वित कुण्डल आदि। यदि कहें कि कारण में स्वाकार समर्पण रूप सामर्थ्य है तो यह भी ठीक नहीं है। क्षणिक होने से वह भी संभव नहीं है। इसलिए नित्य पक्ष में ही कार्यकारण व्यवस्था संभव है। प्रत्यक्ष प्रमाण एवं प्रत्यभिज्ञा से भी कुम्भ आदि का नित्यत्व सिद्ध होता है। यदि कहें कि नित्य होने पर भी कार्य कारण भाव उपपन्न नहीं होता है, क्रम और यौगपद्य से अर्थ क्रिया का विरोध है। क्या कुशूलस्थ ब्रीहि

के अङ्कुरोत्पादक स्वभाव है अथवा वह स्वभाव नहीं है? यदि वह स्वभाव नहीं है, तब तो कभी भी अङ्कुर को उत्पन्न नहीं कर सकता, यदि वह स्वभाव है, तब तो तभी उत्पन्न कराये तब तो ब्रीहि के द्वारा जो कर्म कर्तव्य है वे सभी एक काल में करे। यदि कहें कि सामग्री विशेष के समवधान से ही अङ्कुर को उत्पन्न करेगा तो उसका उत्तर देते हैं कि स्वभाव नहीं होने पर सामग्री कुछ नहीं कर सकती है। यह जो कहा है कि प्रत्यभिज्ञान से नित्यता सिद्ध होती है। यह हेतु व्यभिचरित है, प्रदीप की ज्वाला आदि में नित्यता का अदर्शन है। यदि नित्य भाव होगा तो अन्त में विनाश दर्शन नहीं होगा। यदि कहें कि मुद्गर आदि के द्वारा घट का विनाश किया जाता है, यह युक्त नहीं है- जैसे विनाश द्रव्य से भिन्न या अभिन्न किया जाता है? प्रथम पक्ष में घट का क्या हुआ, जैसे घट के बनाने पर पट का कुछ नहीं होता, उसी प्रकार विनाश में भी कुछ नहीं होगा। द्वितीय पक्ष में भी घट स्वरूप ही विनाश है, वह कार्य तो कुलाल ने किया फिर मुद्गर कौन सा अपर कार्य करता है। तब वहाँ कौन सम्बन्ध है, क्या तादात्म्य सम्बन्ध या उत्पत्ति लक्षण सम्बन्ध? प्रथम पक्ष में पूर्वोक्त ही दोष है। कारण तादात्म्य है तत्स्वभावता, वह तो कुलाल ने ही कर दी है। द्वितीय पक्ष में घट और मुद्गर द्वारा विनाश उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार घट का कुछ नहीं होता है। इसलिए स्वाभाविक विनाश मानना पड़ेगा।

यहाँ कहते हैं - यहाँ जो विकल्प किया है- यह आपके सिद्धान्त का ही बाध करता है- कैसे विसदृश सन्तान की उत्पत्ति के प्रतिरोध के लिए जो यह अन्तिम घट क्षण अभिमत किया है। जिससे कपाल की उत्पत्ति चाहते हैं, वह सदृश सन्तान उत्पत्ति स्वभाव वाला है क्योंकि वह घट का क्षण है, अतीत एवं अनन्तर घट क्षण की तरह। इस प्रकार यही विसदृश सन्तान जनन स्वभाव भी स्वीकार करेंगे। अन्यथा कुम्भकार से आरम्भ करके कपाल की पंक्ति ही होगी। ऐसा होने पर मुद्गर के द्वारा घट क्षण में सदृश सन्तान जनन स्वभावत्व का नाश होता है तथा विसदृश सन्तान जनन स्वभावत्व उत्पादन किया जाता है, ऐसा अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा कपाल की उत्पत्ति असंभव है। तब तो सहेतुक विनाश स्वीकार करते हुए आपने विकल्प का परित्याग कर दिया। यदि विकल्प अङ्गीकार करते हैं, तब विसदृश सन्तान का परित्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार सिद्धि की हानि एवं दृष्ट विरोध भी होगा। उसमें जैसे आपके मत में सदृश सन्तान जनन स्वभाव का विनाश मुद्गर के द्वारा किया जाता है वैसे मेरे मत में भी घट का विनाश किया जाता है, इस प्रकार सहेतुक विनाश स्थित हुआ और प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से कालान्तर में अवस्थायित्व। पदार्थों के स्थायित्व पक्ष में भी प्रदीप की ज्वाला आदि में, जो अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) कहा, उसका परिहार करते हैं- 'ज्वालादिष्वपि' से। ज्वाला आदि में भी सामान्य 'ज्वालात्व' का आश्रय करके प्रत्यभिज्ञा, वृद्धि तथा ह्रास दर्शन से व्यक्तियों की अनित्यता ही सिद्ध होती है। यदि व्यक्ति अवस्थायिनी होगा, तब गृह दाह आदि में भी सामान्य (जाति) का आश्रय करके प्रत्यभिज्ञा प्रसङ्ग होगा।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का व्यभिचार नहीं होगा। क्षणिकत्व का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। प्रथम उत्पन्न होने वाले निर्विकल्प ज्ञान में विशेष का परामर्श नहीं होता। यह जो कहा था कि क्रम एवं यौगपद्य के द्वारा अर्थ क्रिया का विरोध होता है, यह तो समान ही है, यह जो अन्तिम ब्रीहि का क्षण है। जिससे अङ्कुर की उत्पत्ति मानते हैं, वह भी अंकुर जनन स्वभाव वाला नहीं होता, क्योंकि वह ब्रीहि का क्षण होता है, अनन्त और अतीत ब्रीहि क्षण की तरह। समान सन्तति में अकस्मात् विलक्षण अन्तर उत्पत्ति संभव है ? यदि कहें कि सहकारी वशात् उत्पादक होगा तो यह तो मेरे मत में भी अवशिष्ट है। दूसरी बात हम पूछते हैं कि विनाश और उत्पाद भावव्यतिरिक्त हैं या अव्यतिरिक्त ? प्रथम पक्ष में क्षणत्रय का प्रसङ्ग होगा– उत्पत्ति क्षण, स्थिति क्षण एवं नाशक्षण। द्वितीय पक्ष में उत्पाद एवं विनाश के अभाव से भाव नित्य होगा। दूसरी बात विनाश का मतलब है अभाव, वह क्या भाव के पूर्वभावी है, सद्भावी है अथवा पश्चात् भावी है ? प्रथम पक्ष में भाव की उत्पत्ति नहीं होगी। द्वितीय पक्ष भी अविरोध के कारण भाव में शाश्वतता का प्रसङ्ग होगा तृतीय पक्ष में सहेतु विनाश प्राप्त होता है, इति।।२०।।

इस प्रकार क्षणिकवाद मत में पूर्वक्षण विरोध ग्रस्त होने से उत्तर क्षण का हेतु नहीं हो सकता, यह कहा गया, अब असत् की उत्पत्ति निरास करते हैं।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा। २। २। २१।।

असति हेतौ कार्यमुत्पद्यते चेत्प्रतिज्ञाया उपरोधो हानिः स्यात्। चतुर्भ्यः करणेभ्यः कार्योत्पत्तिरितीयं प्रतिज्ञा हीयेत। अधिपतिप्रत्ययः, सहकारिप्रत्ययः, समनन्तरप्रत्ययः, आलम्बनप्रत्ययश्चेति विज्ञानोत्पत्तौ कारणचतुष्टयमिति वः प्रतिज्ञा, तत्र चक्षुरादि इन्द्रियमधि–पतिप्रत्ययः, प्रकाशः सहकारिप्रत्ययः, मनस्कारः समनन्तरप्रत्ययो घटादिरालम्बनप्रत्यय उच्यते, निर्हेतुकोत्पत्तौ च प्रतिबन्धाभावात्सर्वं सर्वत्रोत्पद्येत। अन्यथा हेतौ सत्येव कार्यं जायते चेत्तर्हि द्वयोः कार्यकारणयोर्घटक्षणयोर्यौगपद्यं स्यात्। कार्योत्पत्तिकालं यावत्कारणस्यावस्थानात्। क्षणवादहानिः। नहि विनष्टस्य पितुः पुत्रोत्पत्तौ सामर्थ्यं दृष्टम्।।२१।।

एवमाद्यसूत्राभ्यां समुदायं निरस्य, द्वाभ्यां कार्यकारणभावक्षणिकत्वे च निरस्य, सम्प्रति तदभिमतो द्विविधविनाशो निरस्यते——

(हिन्दी–अनुवाद)

कारण के न रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति मान लें तो क्या आपत्ति ? इस पर कहते हैं, 'असति प्रतिज्ञोपरोधः' ऐसा मानने पर प्रतिज्ञा भङ्ग होती है, नहीं तो कारण और कार्य की एक काल में सत्ता माननी पड़ेगी।

कारण के न होने पर भी यदि कार्य की उत्पत्ति होती है तो प्रतिज्ञा की हानि होगी। बौद्ध मत में चार कारणों से विज्ञान कार्य की उत्पत्ति होती है। उनके नाम हैं- अधिपति प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय, समनन्तर प्रत्यय एवं आलम्बन प्रत्यय। यह आप लोगों (बौद्धों) की प्रतिज्ञा है। इनमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय हैं। प्रकाश सहकारी प्रत्यय है। मनोयोग समनन्तर प्रत्यय तथा घट आदि विषय आलम्बन प्रत्यय हैं। निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर प्रतिबन्ध के अभाव होने से सब कुछ सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगा। अन्यथा यदि हेतु के रहने पर ही कार्य होगा, तब दोनों कार्य कारण यौगपद्य होगा। कार्य की उत्पत्ति काल तक कारण के अवस्थान से क्षण वाद की हानि होगी। मरे हुए पिता की पुत्र उत्पत्ति में सामर्थ्य देखी जाती है।।२१।।

इस प्रकार आद्य दो सूत्रों द्वारा समुदाय का निराकरण करके कार्यकारण भाव एवं क्षणिकत्व का निरास करके सम्प्रति बौद्धाभिमत द्विविध विनाश का निराकरण करते हैं—

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाऽप्राप्तिरविच्छेदात्। २। २। २२।।

मुद्‌गराभिघातादिहेतुकः सदृशसन्तानावसानरूपः स्थूलो यो भावविनाशः स प्रतिसंख्यानिरोधः, सूक्ष्मस्वाभाविको निर्हेतुकः सदृशसन्ताने प्रतिक्षणभावी यो भावविनाशः सोऽप्रतिसंख्यानिरोधस्तयोरप्राप्तिरसम्भवः। कुतः? अविच्छेदात्, उत्पत्तिविनाशधर्मभाविनो द्रव्यस्याविच्छेदात्। एतौ हि सन्तानगोचरौ स्यातां? सन्तानिगोचरौ वा? नाद्यः, सन्तानेषु सन्तानिनामविच्छिन्नत्वेन सन्तानविच्छेदस्यासम्भवात्, तस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात्। न द्वितीयः, सन्तानिनां घटादीनां प्रत्यभिज्ञानान्न सूक्ष्मो न स्थूला विनाशः। त्वत्पक्षे विनाशस्य भावाव्यतिरेकान्न हेतुना विनाशः क्रियते, यस्य तु व्यतिरिक्तो विनाशस्तस्य सहेतुको विनाशः।।२२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

बौद्ध मतानुयायी मानते हैं कि प्रति संख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश, इन तीनों के अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ क्षणिक (प्रतिक्षण नष्ट होने वाली) हैं। दोनों निरोध एवं आकाश तो कोई वस्तु ही नहीं हैं, वे अभाव मात्र हैं। निरोध तो विनाश का बोधक होने से अभाव है ही, आकाश भी आवरण का अभाव मात्र ही है। इनमें आकाश की अभावरूपता का निराकरण तो 24वें सूत्र में किया जायगा। यहाँ उनमें माने हुए दो प्रकार के निरोधों का निराकरण कहते हैं। प्रतिसंख्येति मुद्‌गर द्वारा अभिघात आदि हेतुजन्य सदृश सन्तान का अवसान रूप स्थूल जो भाव विनाश है, उसे प्रतिसंख्या विरोध कहते हैं। सूक्ष्म स्वाभाविक तथा निर्हेतुक सदृश सन्तान में जो भाव विनाश है, उसे अप्रतिसंख्या निरोध कहते हैं। उन दोनों की अप्राप्ति यानी असंभव होगा क्योंकि 'अविच्छेदात्' उत्पत्ति विनाश रूप धर्म भावी द्रव्य का विच्छेद नहीं होता। ये दोनों सन्तान गोचर होंगे या सन्तानि गोचर? प्रथम नहीं कह

सकते, क्योंकि सन्तानों में सन्तानियों का अविच्छिन्न सम्बन्ध होने से सन्तान विच्छेद कथमपि संभव नहीं है, क्योंकि उसे कोई वस्तु ही नहीं माना गया है। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, सन्तानी स्वरूप घट आदि का प्रत्यभिज्ञा दोनों से उसका न सूक्ष्म या न स्थूल विनाश ही संभव है। आपके पक्ष में विनाश भाव से व्यतिरिक्त न होने से उसका विनाश नहीं किया जाता है और जिसका व्यतिरेक (विनाश) है उसका सहेतुक विनाश होता है।।२२।।

[1]उभयथा च दोषात्। २। २। २३।।

अविद्यादिनिरोधस्तैर्मोक्षोऽभिमतः स निरोधः सहेतुकः? निर्हेतुको वा? आद्ये, अथ सत्यचतुष्टयाभ्यासान्मुक्तिः, समुदायसत्यं, निरोधसत्यं, दुःखसत्यं, मार्गसत्यं चेति। सर्वमुत्पत्तिमदिति यन्निर्णयज्ञानं तत्समुदायसत्यं, सर्वं क्षणिकमिति निरोधसत्यं, सर्वं दुःखात्मकमिति दुःखसत्यं, सर्वं शून्यं सर्वं निरात्मकमिति मार्गसत्यम्, इत्येवं भावयतो रागादिनिवृत्तावभ्युपगम्यमानायां निर्हेतुको विनाश इतीयं प्रतिज्ञा हीयेत। द्वितीये, साधनोपदेशानर्थक्यप्रसङ्ग इत्युभयथाऽपि दोषादसमञ्जसं सौगतमतम्।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अविद्या आदि के निरोध से मोक्ष उन लोगों ने माना है। वह निरोध सहेतुक या निर्हेतुक? प्रथम पक्ष में अब सत्य चतुष्टय के अभ्यास से मुक्ति होती है। सत्य चतुष्टय है- समुदाय सत्य, निरोधसत्य, दुःखसत्य तथा मार्ग सत्य। इनमें सब कुछ उत्पत्तिशाली है। यह निर्णयात्मक ज्ञान समुदाय सत्य है। सब कुछ क्षणिक है, यह निरोध सत्य है। सब दुःखात्मक है यह दुःख सत्य है, सब कुछ शून्य है सर्व निरात्मक है, यह मार्गसत्य है। इस प्रकार भावना करने वाले व्यक्ति को राग आदि की निवृत्ति होने पर निर्हेतुक विनाश होता है, यह प्रतिज्ञा नष्ट हो जायेगी। द्वितीय पक्ष में साधन के उपदेश का आनर्थक्य प्रसङ्ग होगा, इस प्रकार दोनों प्रकार से दोष की संभावना होने से सौगत मत (बौद्धमत) असमंजस है।।२३।।

आकाशे चाविशेषात्। २। २। २४।।

आवरणाभावमात्रमाकाशमिति तन्मतम्। तत्राहआकाशे अभावप्रतिज्ञा न युक्ता। कुतः? "अविशेषात्" वाय्वादेरिव तस्यापि भावरूपत्वेन प्रतिपत्तेरविशेषात्। "आत्मन आकाशः सम्भूत" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यात् "आकाशस्य स्थितिर्यावद्यावच्च जगतः स्थितिः। तावन्मम स्थितिर्भूयात् जगद्दुःखानि निध्नतः" इति दयापरेण वदता बुद्धेनाप्याकाशस्य भावत्वमभ्यनुज्ञातम्। किञ्च चक्षुषा विशिष्टमाकाशं गृह्यते, पञ्चीकरणेन तस्य रूपवत्वात्

---

१. बौद्ध मत वाले ऐसा मानते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक और असत्य होते हुए भी भ्रान्ति रूप अविद्या के कारण स्थिर और सत्य प्रतीत होते हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्या का अभाव होने से सबका अभाव हो जाता है- इस प्रकार बुद्धि पूर्वक निरोध की सिद्धि होती है, इसका निराकरण करने के लिए कहते हैं- उभयथा च दोषात्।।२।२।२३।। (सं)

रोहितशुक्लकृष्णवर्णतेजोवन्न रूपिद्रव्यसमवायित्वाच्च। ये पुनः शब्दगुणानुमेयमाकाशमिच्छन्ति तेषां तन्न सिध्यति। शब्दस्याकाशेन सह सम्बन्धाग्रहणात्। असत्यपि शब्दे नभसि बुद्ध्युत्पत्तेः। श्रूयमाणेऽपि शब्दे तद्द्वारेणाकाशे बुद्ध्यनुत्पत्तेश्च।।२४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

आवरण का अभाव ही आकाश है ऐसा उनका मत है, इस पर कहते हैं, आकाश में अभाव की प्रतिज्ञा युक्त नहीं है क्योंकि 'अविशेषात्' वायु आदि की तरह आकाश भी भावरूप होने से प्रतिपत्ति में कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि इसमें 'आकशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुति प्रमाण है 'आकाशस्य स्थितिर्यावत् यावच्च जगतः स्थितिः तावन्मम स्थितिर्भूयात् जगद् दुःखानि निध्नतः।' जब तक आकाश की स्थिति है और जब तक जगत् की स्थिति है, तब तक संसार के प्राणियों के दुःखों को दूर करते हुए मेरी स्थिति बनी रहे। इस प्रकार परम कारुणिक भगवान् बुद्ध ने भी आकाश की भावरूपता स्वीकार की है। दूसरी बात नेत्र द्वारा रूपविशिष्ट आकाश का ग्रहण होता है। पञ्चीकरण प्रक्रिया द्वारा आकाश में रूपवत्ता है। रक्त, शुक्ल तथा कृष्ण रूपवान् तेज, अप् एवं पृथिवी आदि रूपी द्रव्य समवायी होने से भी वह रूपवान् है। अब तार्किक पक्ष पर आक्षेप करते हुए कहते हैं, 'ये पुनः' अर्थात् जो लोग शब्द गुण द्वारा आकाश का अनुमान करते हैं, उनका मत सिद्ध नहीं होता। शब्द का आकाश के साथ सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। शब्द के न होने पर भी आकाश में बुद्धि की उत्पत्ति होती है और शब्द के सुनने पर भी उसके द्वारा आकाश में बुद्धि की उत्पत्ति नहीं होती।।२४।।

अनुस्मृतेश्च। २ ! २। २५।।

अनुस्मृतेश्चाप्ययुक्तं सौगतमतम्। अनुभूते वस्तुनि पश्चादुत्पद्यमानं विज्ञानमनुस्मृतिः प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः। अहमिदमदर्शमिति यः पूर्वेद्युरनुभूतवान्सोऽहमिदानीमिदमनुभवामीति, क्षणभङ्गवादिनोऽनुस्मृतिर्नोपपद्यते तदभावात्सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः। सर्वश्च लोकोऽहमस्मीति प्रत्यभिजानाति नाहं नास्मीति, कश्चिदवैत्याजन्मन आमरणादेतस्मिन्नन्तराले सोऽहमस्मीत्यनुसन्दधानः कथमिव बौद्धो नापत्रपते। य एवात्मा नास्तीति, निराकरोति स एवासि त्वमात्मा निराकरणस्य प्रमाता, न ह्यात्मानमात्मा निराकरोति। नच सादृश्यनिबन्धनोऽयं व्यवहारः, क्षणिकवादे सदृशयोर्वस्तुनो र्ग्रहीतुरेकस्य स्थायिनोऽभावात्सादृश्यनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानमिति मिथ्यालाप एवान्यथा क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिः। आत्मव्यतिरिक्ते हि पदार्थे भावाभावप्रत्ययौ भवतो नात्मन्यभावप्रत्यय आत्मानं लभते। न चैकसन्तानत्वे सतीति विशेषणं सम्भवति, सन्तानिव्यतिरिक्तस्य सन्तानस्यानभ्युपगमात्तदभ्युपगमे तु स एवात्मा स्यान्नास्ति विवादः। तस्मात्त्वत्पक्षे सन्तानिनो विज्ञानक्षणाः परस्परं भिन्ना एव सन्ति तत्प्रातर्दृष्टे वस्तुनि मध्याह्ने स्मृतिर्नोपपद्यते। तत्र द्रष्टुः स्मर्तुश्च कार्यकारणभावाभावात्। नच विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तं, नचान्यदृष्टमन्यः स्मरति। स्मरणं खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणम्, नच विज्ञानसन्तानस्य परलोकगमनं सम्भवति, यत् "अन्तराभवदेहमनुप्रविश्य विज्ञानसन्तानपरलोकं गच्छती" ति मन्यत

अन्तराभवदेहकल्पनायां प्रमाणाभावात्। नच मरणवेलायां मण्डूकवदुत्प्लुत्य विज्ञानक्षणः प्रविशत्यमूर्त्तत्वात्। नच प्रेरकोऽस्ति? कर्म प्रेरकमिति चेत्तादृशकर्मणि प्रमाणाभावात्। ततश्च स्वर्गनरकगमनाभावात्तत आगत्य गर्भप्रवेशासिद्धेरुत्पत्तिभावानुपपत्तिरिति दिक्। एतेन पराभिमतो दृष्टिसृष्टिवादोऽपि निरस्तः, तत्राप्यर्थतः क्षणिकत्वाविशेषात्।।२५।।

यच्च तैरभ्युपगतमभावाद्भावोत्पत्तिरिति तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

अनुस्मृति के कारण भी सौगत मत (बौद्धमत) अयुक्त है। अनुभूत वस्तु में पश्चात् उत्पन्न होने वाला विज्ञान अनुस्मृति कहलाता है अर्थात् प्रत्यभिज्ञा। मैंने इसे देखा था यह जो पूर्व दिन में अनुभव किया, वहीं मैं इस समय इसका अनुभव कर रहा हूँ। क्षणभङ्ग वादी को अनुस्मृति की उपपत्ति नहीं होती। उसके अभाव से समस्त व्यवहार के लोप का प्रसङ्ग होगा। सभी लोग मैं हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा करते हैं, मैं नहीं हूँ, ऐसा कोई नहीं जानता। जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इस अन्तराल में 'वहीं मैं हूँ' ऐसा अनुसंधान करने वाला बौद्ध, क्यों नहीं लज्जा का अनुभव करता है? जो आत्मा नहीं है- ऐसा निराकरण करता है, वही तुम आत्मा हो निराकरण करने वाला प्रमाता। आत्मा आत्मा का निराकरण नहीं करता। यदि कहें कि यह सादृश्य प्रयुक्त व्यवहार है, तो यह नहीं कह सकते। कारण क्षणिकवाद में दो सादृश्य वस्तुओं के जानने वाले, एक स्थायी ज्ञान वाले का अभाव होने से सादृश्य निबन्धन यह प्रत्यभिज्ञा है यह मिथ्यालाप ही है। अन्यथा क्षणिकत्व प्रतिज्ञा की हानि होगी। आत्मा से भिन्न पदार्थ में भाव अभाव के प्रत्यय होते हैं, न कि आत्मा के अभाव का प्रत्यय आत्मा को प्राप्त करता है। न ही एक सन्तान होने पर यह विशेषण संभव है, कारण सन्तानी से भिन्न सन्तान का स्वीकार नहीं है। उसे स्वीकार करने पर वही आत्मा होगा, फिर विवाद नहीं है। इसलिए आपके पक्ष में सन्तानी के विज्ञान के क्षण परस्पर भिन्न ही हैं। प्रातःकाल देखी गई वस्तु में मध्याह्न में स्मृति नहीं उपपन्न हो सकती। वहाँ द्रष्टा एवं स्मृति में कार्यकारण भाव का अभाव है। विज्ञाता के नष्ट होने पर पूर्व उपलब्धि का स्मरण युक्त नहीं है, न ही अन्य पुरुष द्वारा देखी गई वस्तु का अन्य व्यक्ति स्मरण करता है। स्मरण तो पूर्व में ज्ञात वस्तु का समानज्ञाता (एक ज्ञाता) द्वारा ही ग्रहण होता है। और न ही विज्ञान सन्तान का परलोक में गमन संभव है जो आपके देह के मध्य में प्रवेश कर विज्ञान के सन्तान लोक में जाता है, ऐसा मानता है। मध्यवर्ती देह की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। न ही मरण की बेला में मण्डूकप्लूति न्याय से उछल कर विज्ञानक्षण प्रवेश करता है। क्योंकि वह अमूर्त है। यदि कहें कि कर्म प्रेरक का कोई प्रेरक है तो कहते हैं, ऐसे कर्म में कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार स्वर्ग, नरक के गमन आगमन के अभाव से वहाँ से आकर गर्भ में प्रवेश की सिद्धि न होने से उत्पत्ति भाव की अनुपत्ति होगी। इसी से परपक्षी द्वारा अभिमत दृष्टि सृष्टि वाद भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि उस मत में भी एक तरह से क्षणिकत्व समान है।।२५।।

उन्होंने जो स्वीकार किया है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, उस पर कहते हैं–

नासतोऽदृष्टत्वात्। २। २। २६।।

असतोऽभावाद्भाव उत्पद्यत इति तत्परिहरति, नेति। कुतः? "अदृष्टत्वात्" असतः शशविषाणादेरङ्कुरोत्पत्त्यदर्शनात्। अभावस्य निरुपाख्यत्वाच्छशविषाणबीजाभावयोः को विशेषः। ततश्च कारणनियमानुपपत्तिरिति सर्वं सर्वस्मादुपपद्येत। ननु बीजमनुपमृद्य नांकुरः प्रादुर्भवति, क्षीरमुपमृद्य दधीव। मृत्पिण्डमुपमृद्य घट इव च बीजमुपमृद्यैवांकुर उत्पद्यत, इत्यतोऽभावाद्भावोत्पत्तिरिति चेन्न, तत्र बीजसंस्थानमात्रं निवर्त्ततेऽविरोधिबीजद्रव्यमेव त्वङ्कुराकारेणावस्थान्तरतया परिणमत इति प्रत्यक्षमेतन्न प्रत्याख्यातुं शक्यम्।।२६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

असत् यानी अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, इस मान्यता का खण्डन करते हैं- 'नेति' ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अदृष्टत्वात्, असत् शशविषाण आदि से अङ्कुर आदि की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। अभाव कोई चीज नहीं होने से शशविषाण एवं बीजाभाव में क्या विशेषता है। अभाव से कार्य की उत्पत्ति मानने वाले बौद्धों के यहाँ कारण का कोई नियम नहीं उपपन्न होता। इस दशा में सबसे सब कार्य की भी उत्पत्ति की आपत्ति होगी, कारण अभाव सर्वत्र सुलभ है। यही कहते हैं- 'ततश्च कारण नियमानुपपत्तिः' फिर सबसे सबकी उत्पत्ति हो जावेगी। शशविषाण एवं बीजाभाव में क्या विशेषता है। यदि कहें कि बिना बीज का उपमर्दन किये अंकुर प्रादुर्भूत नहीं होता, बल्कि बीज के उपमर्दन के बाद ही अंकुर होता है जैसे क्षीर का उपमर्दन (विनाश) करके ही दही बनता है। मृत्पिण्डका उपमर्दन करके घट की तरह बीज का विनाश (अभाव) करके ही अंकुर उत्पन्न होता है, इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है तो ऐसा नहीं कह सकते। (बीज और दूध का अभाव नहीं होता किन्तु रूपान्तर मात्र होता है) वहाँ बीज के संस्थान मात्र की निवृत्ति होती है। अविरोधी बीज द्रव्य ही अंकुर के आकार में परिणत होता है, यह विषय प्रत्यक्ष है, इसे अपलाप नहीं किया जा सकता।।२६।।

(किसी नित्य चेतनकर्ता के बिना क्षणिक पदार्थों से अपने आप कार्य उत्पन्न होते हैं- इस मान्यता का खण्डन दूसरी युक्ति के द्वारा करते हैं- 'उदासीनानाम्')

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः। २। २। २७।।

अभावाद्भावोत्पत्तावुदासीनानां प्रयत्नशून्यानामप्यैहिकामुष्मिकसर्वार्थसिद्धिः स्यादभावस्य सुलभत्वादिति।।२७।। इति समुदायाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर प्रत्यक्ष शून्य उदासीन पुरुषों की ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त कार्यों की सिद्धि होनी चाहिए क्योंकि अभाव तो सदा सुलभ है।।२६।।

इस प्रकार समुदाय अधिकरण पूरा हुआ।
अथ विज्ञानवादियोगाचारपक्षो निरस्यते—

नाऽभाव उपलब्धेः। २। २। २८।।

शमथविपश्यना युगनद्धवाही मार्गो योगः। तत्र शमथेति समाधिरुच्यते। विपश्यना सम्यग्दर्शनलक्षणो यथा युगनद्धौ वलीवर्दौ वहतस्तथा यो मार्गः सम्यग्दर्शनवाही स योगस्तेनाचरतीति योगाचार उच्यते। किं पुनः सम्यग्दर्शनं सर्वं बाह्यार्थं शून्यं विज्ञानं सर्वं क्षणिकं सर्वं निरात्मकमिति कथं पुनर्विज्ञानमात्रं प्रतिज्ञायते, साकारं प्रत्यक्षं च विज्ञानं नीलं पीतमिति हि साकारं विज्ञानमेव प्रकाशते, प्रत्यक्षं च तत्प्रदीपवत्प्रकाशकत्वादप्रत्यक्षस्योपलम्भे तस्य स्वपरोत्पन्नयोर्विज्ञानयोरविशेषप्रसङ्गः। अस्ति च विशेषः स्वोत्पन्नेन विज्ञानेन प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं व्यवहार पुरुषो निर्वर्त्तयति। तथा चोक्तं विप्रभिक्षुणा— "अप्रत्क्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति। अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसम्वित्तिभेदवानिव लक्ष्यत" इति तत्र ग्राह्याकारः प्रमेयं ग्राहकाकारः प्रमाणं स्वसम्वित्तिः फलमिति त्रयमेकस्मिन्विज्ञानेऽवकल्पते। तस्मान्नास्ति बाह्यार्थः। इतश्च सहोपलम्भनियमान्न भेदो नीलतद्धियोः, यदैव नीलज्ञानं तदैव नीलमुपलभ्यते तस्मादनयोरभेद इति, इतश्च बाह्यार्थशून्यो जाग्रत् प्रत्ययः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्। कथं बाह्यार्थाभावे प्रत्ययवैचित्र्यमिति चेद्वासनावैचित्र्यात्। बीजाङ्कुरवद्विज्ञानानां वासनानां चान्योऽन्यं निमित्तनैमित्तिकभावेन वैचित्र्यस्योपपन्नत्वात्वादिति प्राप्ते, अत्रोच्यते, न बाह्यार्थस्याभावः। कुतः? उपलब्धेः। सहि बहिर्देशसम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते, पावकः पर्वतः पृथिवी सलिलमित्याकारवान्निराकारं च विज्ञानमन्तर्देशेऽहङ्कारसमारूढं विज्ञानमात्मापरोक्षमुत्पद्यते, तयोर्ज्ञानज्ञेययोर्भिन्नदेशयोरनुभूयमानयोः कथमेवैकत्वमाश्रीयते, क्षीरोदकयोस्तु परसंसर्गात्– स्यादेकत्वाभिमानः प्रत्यक्षत्वं तु विज्ञानस्यास्माकमप्यभीष्टमेव। न पुनः पूर्वमेव विज्ञानं प्रत्यक्षमनु– भूयते। ग्राह्याकारोपश्लेषमन्तरेण ग्राह्याकारपुरःसरमेव हि सम्बेदनं सम्बेदयितुरपरोक्षीभवति। घटसम्वेदनं पटसम्वेदनमिति हि वेद्याकारपूर्वकमेव निर्दिश्यते। यदुक्तं सहोपलम्भनियमादिति तदनिरूपिताभिधानं साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात्। सहत्वं नामैकदेशवर्त्तित्व मेककालवर्त्तित्वं वा द्वयोर्भिन्नयोः पदार्थयोस्ततश्च भिन्नोपलम्भनियमादिति हेत्वर्थोऽभेद इति प्रतिज्ञा, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः। प्रतिज्ञायां सत्यां हेतुर्बाध्यते, तस्मिन्प्रतिज्ञा बाध्यत इति। नच दृष्यन्तोऽस्ति ग्राह्यग्राहकयोरभेदे द्विचन्द्रज्ञानादिष्वपि ग्राह्यग्राहकयोर्भेदो दृष्टो मीमांसकैरिति संक्षेपः।।२८।।

यच्चोक्तं स्वप्नप्रत्ययवदिति तत्राह—

(हिन्दी–अनुवाद)

(यहाँ तक बौद्धों में क्षणिक वाद का खण्डन किया गया। अब क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार के मत का खण्डन किया जाता है। योगाचार क्षणिक विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि प्रतीत होने वाला बाह्य पदार्थ वास्तव में कुछ नहीं है, बुद्धि की कल्पना मात्र है। स्वप्न

की भाँति सब कुछ क्षणिक विज्ञान ही है। आत्मा भी क्षणिक विज्ञान रूप है इसका खण्डन है।)

अब विज्ञानवादी योगाचार का मतखण्डन करते हैं– "नाभाव उपलब्धेः"

शमथविपश्यना युगनद्धवादी मार्ग को योग कहते हैं। शमथ कहते हैं– समाधि को तथा विपश्यना माने सम्यक् दर्शन रूप। जैसे जूए में बँधे हुए दो बैल गाड़ी के होते हैं। उसी प्रकार जो मार्ग सम्यक् दर्शनवादी होता है, उसे योग कहते हैं। उसके द्वारा जो आचरण करता है, उसे योगचार कहते हैं। सम्यक् दर्शन क्या है– समस्त बाह्य अर्थ शून्य है विज्ञान सभी क्षणिक होते हैं, सब निरात्मक हैं फिर कैसे विज्ञान मात्र की प्रतिज्ञा करते हैं। साकार एवं प्रत्यक्ष विज्ञान नील तथा पीत साकार विज्ञान को ही प्रकाशित करता है। प्रदीप की तरह प्रकाशक होने से अप्रत्यक्ष के उपालम्भ में उसका अपने एवं परकीय जन में उत्पन्न विज्ञान के अविशेष का प्रसङ्ग होगा, परंतु विशेषता तो है। अपने उत्पन्न विज्ञान से प्रवृति एवं निवृत्यात्मक व्यवहार पुरुष सम्पादन करता है। जैसा कि विप्रभिक्षु ने कहा है—

अत्प्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति,
अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसम्वित्तिर्भेदवानिव लक्ष्यते।।

इत्यादि। यहाँ ग्राह्याकार को प्रमेय तथा ग्राहकाकार को प्रमाण कहते हैं, स्वसम्वित्ति को फल कहते हैं। ये तीनों एक विज्ञान में प्रतीत होते हैं। इसलिए बाह्यार्थ कोई नहीं है। इसलिए भी साथ-साथ उपलम्भ नियम होने से नील एवं नील ज्ञान में कोई भेद नहीं है। जभी नील का ज्ञान होता है, तभी नील की उपलब्धि होती है इसलिए इन दोनों में अभेद है। बाह्य अर्थ से शून्य जाग्रत् प्रत्यय होता है। इस हेतु से भी प्रत्यय होने के कारण जैसे स्वप्न प्रत्यय प्रतीति बाह्य अर्थ शून्य है। यदि कहें कि बाह्य अर्थ के अभाव होने पर प्रतीति के वैचित्र्य कैसे होगा? तो कहते हैं कि वासना के वैचित्र्य से हो जायगा। बीजाङ्कुर की तरह विज्ञानों एवं वासनाओं में परस्पर निमित्त एवं नैमित्तिक भाव से वैचित्र्य उपपन्न होगा, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, बाह्य अर्थ का अभाव नहीं है क्योंकि 'उपलब्धेः' वह बाह्य देश सम्बन्ध या बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। जैसे यह पावक है, यह पर्वत है, यह पृथिवी है, यह जल है- इस प्रकार साकार तथा निराकार विज्ञान अन्तर्देश में अहंकार समारुढ़ होकर विज्ञान आत्मा अपरोक्ष उत्पन्न होता है। उन भिन्न देशवर्ती अनुभूयमान ज्ञान एवं ज्ञेय में कैसे एकत्व का ग्रहण होता है। क्षीर एवं नीर में तो पारस्परिक संसर्ग से एकत्व का अभिमान होता है। विज्ञान का प्रत्यक्ष तो हमें भी अभीष्ट ही है। फिर पूर्व में ही विज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। ग्राह्य आकार पुरःसर ही संवेदन संवेत्ता को अपरोक्ष नहीं होता। घट संवेदन तथा पट संवेदन, यह वेद्य आकार पूर्वक ही निर्दिष्ट होता है। यह जो पहले कहा गया था कि साथ-साथ उपलम्भ का नियम है, वह बिना निरूपित का अभिधान था क्योंकि साहित्य अर्थ भेद हेतुक होता है। सहत्व का अर्थ है- एकदेशवर्तित्व अथवा एककालवर्तित्व, दो भिन्न पदार्थों

का भिन्न-भिन्न उपलम्भ का नियम है। इस तरह हेतु का अर्थ अभेद है यह प्रतिज्ञा है। यहाँ प्रतिज्ञा एवं हेतु में विरोध है। प्रतिज्ञा होने पर हेतु बाधित होता है। हेतु बाधित होने पर प्रतिज्ञा बाधित होती है। ग्राह्य एवं ग्राहक के अभेद में कोई दृष्टान्त नहीं है। मीमांसकों ने द्विचन्द्र ज्ञान आदि से भी ग्राह्य ग्राहक में भेद देखा है, इस प्रकार संक्षेप में कहा गया है।।२८।।

यहाँ जो कहा गया है कि स्वाप्निक प्रतीति के समान बाह्य पदार्थ (जगत्) मिथ्या है, इस पर कहते हैं—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।। २। २। २९।।

स्वप्नमनोरथज्ञानवद्भवितुं जागरितज्ञानानि नार्हन्ति। कुतः? वैद्यर्म्यात निद्रादिदोषदुष्टकरणजन्यानि बाधितानि च स्वप्नज्ञानानि, जागरितज्ञानानि तु तद्विलक्षणानीइति न तत्साधर्म्यम्, न च प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययत्वं मिथ्यात्वे हेतुरभिप्रेयेत। स्वप्नज्ञानस्य मिथ्यात्वासिद्धेः। प्रबोधप्रत्ययस्य बाधकस्याप्यमिथ्यात्वाद् दृष्टान्ताभावः। तस्माज्जाग्रत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वमनुमानेन साधयितुमशक्यं, प्रत्यक्षानुभवस्य बलीयस्त्वात्। ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्ता वेदितव्याः। यदि बाह्योऽर्थो नाभिप्रेतः स्यात्, किमर्थमित्थं यतेत सूत्रकारः। अतोऽर्थवैचित्र्यकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम्। तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसम्बन्धाधीनं, न स्वतो? निराकारत्वात्। सम्बन्धश्च संयोगलक्षणः। ज्ञानमपि हि द्रव्यमेव, प्रभाद्रव्यस्य प्रदीपगुणभूतस्यैव ज्ञानस्याप्यात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वे विरोधाभावात्।।२९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

स्वप्न मनोरथ ज्ञान की तरह जाग्रत् अवस्था का ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता क्योंकि उन दोनों में विषमता है। स्वाप्निक ज्ञान निद्रा आदि दोषदुष्ट करण जन्य होते हैं तथा उत्तर काल में बाधित होते हैं, परंतु जाग्रत् ज्ञान उनसे विलक्षण है, इसलिए उनके साथ इसकी तुलना नहीं हो सकती। यदि कहें कि प्रत्यय (प्रतीति विषय) होने से स्वाप्न प्रत्यर्यत्व मिथ्यात्व में हेतु है, तो कहते हैं स्वप्न ज्ञान में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं है। जाग्रत् प्रत्यय बाधक होने पर भी अमिथ्या है इसलिए दृष्टान्त का अभाव है। इसलिए जाग्रत् प्रत्यय में अनुमान द्वारा सिद्धि करना अशक्य है, प्रत्यक्ष अनुभव सबसे बलवान् होता है। जो बौद्धमतावलम्बी मायावादी लोग हैं, वे भी इसी युक्ति से सूत्रकार द्वारा ही निरस्त समझने चाहिए। यदि बाह्य अभिप्रेत नहीं होता तो फिर सूत्रकार ऐसा प्रयत्न क्यों करते? इसलिए अर्थ वैचित्र्य प्रयुक्त ही ज्ञान में वैचित्र्य होता है। तत् तत् अर्थ व्यवहार की योग्यता सम्पादन रूप के कारण साक्षात् प्रतीयमान् ज्ञान का तत् तत् अर्थ सम्बन्धाधीन होता है, स्वतः नहीं, क्योंकि वह

निराकार होता है। सम्बन्ध संयोग स्वरूप है। ज्ञान भी द्रव्य ही है जैसे प्रदीप के गुणरूप प्रभा द्रव्य होता है, उसी प्रकार आत्मा के गुणभूत ज्ञान के द्रव्यत्व में कोई विरोध नहीं है।।२९।।

यदप्युक्तं बाह्यार्थाभावेऽपि वासनानिबन्धनं ज्ञानवैचित्र्यं स्यादिति तत्राह—

यह जो कहा गया था कि बाह्यार्थ के अभाव में भी वासना प्रयुक्त ज्ञान में वैचित्र्य होगा। इस पर कहते हैं—

न भावोऽनुपलब्धेः।। २। २। ३०।।

वासनानां भावो न, कुतः? अनुपलब्धेः। निर्हेतुकविनाशिनां ज्ञानानामनुवर्त्तमान-स्थिराकारस्याप्राप्तेः। विनष्टेन पूर्वज्ञानेन उत्पन्नमुत्तरज्ञानं कथं वास्यते। बाह्यार्थानुपलब्धेरपि प्रत्यर्थं नानारूपवासनानां ह्यर्थोपलब्धिनिमित्तत्वात्। किञ्च वासना नाम अनुभवजनितः स्मृतिहेतुः संस्कारः। तस्य चाश्रयं विना ज्ञेयाकारवैचित्र्ये सामर्थ्यं कल्पयितुं न शक्यम्। ननु आलयविज्ञानमहंप्रत्ययाख्यं तेन घटादिज्ञानैर्वासना आधार्यन्ते, ताभ्यश्च घटादिज्ञानानीति परस्परहेतुहेतुमद्भावेन विज्ञानवासनाचक्रं प्रवर्त्तत इति चेन्न। विज्ञानस्कन्ध-मात्रवादिनः कुतो व्यतिरिक्तवासनास्तदभ्युपगमे विज्ञानवादहानिः।।३०।।

(हिन्दी–अनुवाद)

वासनाओं का भाव नहीं है, क्योंकि उनकी उपलब्धि नहीं है। निर्हेतुक विनाशशील ज्ञानों के अनुवर्तमान स्थिर आकार की प्राप्ति नहीं होती है। बिना विनष्ट पूर्वज्ञान से उत्पन्न उत्तर ज्ञान कैसे रह सकता है। बाह्य अर्थ की अनुपलब्धि के कारण भी प्रत्येक अर्थ के प्रति नाना प्रकार की वासना ही अर्थ की उपलब्धि का निमित्त है। दूसरी बात वासना कहते हैं- अनुभव से उत्पन्न तथा स्मृति के हेतु संस्कार को। उसमें आश्रय के बिना ज्ञेय आकार के वैचित्र्य में सामर्थ्य की कल्पना नहीं कर सकते। यदि कहें कि अहं अहमित्याकारक ज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं और उसके द्वारा घट आदि प्रवृत्तिज्ञानों से वासनाएँ बनती हैं तथा उनसे घटादि ज्ञान होते हैं, इस प्रकार परस्पर हेतुहेतुमद् भाव के द्वारा विज्ञान के वासनाचक्र की प्रवृत्ति होती है तो ऐसा नहीं कह सकते। विज्ञान स्कन्ध मात्र वादी के लिए कहाँ से भिन्न वासनाएँ होंगी, ऐसा मानने पर तो विज्ञानवाद की हानि होगी।।३०।।

क्षणिकत्वात्।। २। २। ३१।।

नेति वर्त्तते। आलयविज्ञानस्य चाधारत्वं नोपपद्यते। कुतः? क्षणिकत्वात् प्रवृत्तिविज्ञानवदिति संक्षेपः।।३१।। इत्युपलब्ध्यधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'न' की अनुवृत्ति होती है। आलय विज्ञान आधार नहीं हो सकता। क्योंकि वह भी क्षणिक है। प्रवृत्ति विज्ञान की तरह इस प्रकार संशय है।

इस प्रकार उपलब्धि अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

अथ सर्वथानुपपत्त्यधिकरणम्।।५।।

अब सर्वथा अनुपपत्ति अधिकरण प्रारम्भ होता है-

अथ सर्वशून्यवादिमाध्यमिकपक्षो निरस्यते—

अब सब कुछ शून्य है, ऐसा मानने वाले माध्यमिक बौद्ध का पक्ष खण्डन किया जाता है।

सर्वथानुपपत्तेश्च।। २। २। ३२।।

शून्यवाद एव बुद्धमतस्य पराकाष्ठा, शिष्यबुद्धिवैशद्याय बाह्यार्थाद्यभ्युपगमेन तत्र क्षणिकत्वादयस्तेन कल्पिताः। नच बाह्यार्था घटादयो विज्ञानं च सर्वे भावाः सन्ति उत्पत्त्यनिरूपणात्तेषां शून्यापत्तिरेव च मोक्ष इत्येव बुद्धाभिप्रायः। स्वतःसिद्धं हि शून्यं न हेतुसाध्यं सत एव हि हेतुरपेक्ष्यतेऽसतश्च पदार्थस्य न भावादभावाद्वोत्पत्तिः सम्भवति। घटादिर्हि पिण्डादिकमनुपमृद्य नोत्पद्यते पश्चादभावादुत्पद्यमानश्चाभावात्मक एव स्यात्, स्वतः परतो वाप्युत्पत्तिर्न सम्भवति। स्वतश्चेत् आत्माश्रयदोषापत्तेः प्रयोजनाभावाच्च। परतश्चोत्पत्तौ परत्वाविशेषात्सर्वतः सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गः। जनेरभावादेव न विनाशः, अतो जनिनाशसदसदादिकं भ्रान्तिरेवेति शून्यमेव तत्त्वमिति प्राप्त आह। सर्वथेति। नेत्यनुवर्त्तते। त्वदभिमतं सर्वशून्यत्वं न सम्भवति, सर्वं शून्यमिति वादे सर्वस्य सत्त्वं वा असत्त्वं वा सदसत्त्वं वा प्रतिजानतस्तव सर्वथा नाभीष्टसिद्धिः। कुतः? अनुपपत्तेः। सर्वशून्यत्वानुपपत्तेः। लोके भावाभावशब्दयोस्तद्बुद्ध्योश्च विद्यमानवस्त्ववस्थाविशेष एव भावाभावरूपो विषयः। प्रमाणेनोपलभ्यमानघटाद्यवस्थाविशेषो भावबुद्धिविषयः, तद्विरोधिपिण्डकपालाकारा-द्यवस्थाविशेषोऽभावबुद्धिविषयः। ततश्च सर्वं सदिति सर्वमसदिति वा प्रतिजानता विद्यमानवस्त्ववस्थाविशेषयोगितैव प्रतिज्ञातास्तीति न त्वदभिमततुच्छतासिद्धिः। किञ्च येन प्रमाणेन शून्यत्वं साध्यते तस्यासत्यत्वे सर्वस्य सत्यत्वापत्तिरिति सर्वथा शून्यवादोऽनुपपन्न एवेति।।३२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

शून्यवाद में ही बौद्ध मत की पराकाष्ठा है। शिष्य बुद्धि के वैशद्य के लिए ही बाह्य अर्थ स्वीकार किया और उसके द्वारा उसमें क्षणिकत्व आदि की कल्पना की। बाह्य अर्थ घट आदि तथा विज्ञान ये सब भाव नहीं है, क्योंकि इनकी उत्पत्ति का निरूपण नहीं है। इसलिए उनकी शून्यापत्ति ही मोक्ष है, यही बुद्ध का अभिप्राय है। शून्य स्वतः सिद्ध है वह हेतु साध्य नहीं है। सत् वस्तु ही हेतु की अपेक्षा करती है। असत् पदार्थ का भाव नहीं है, न अभाव

से उत्पत्ति संभव है। घट आदि मृत्पिण्डका बिना उपमर्दन किये उत्पन्न नहीं हो सकते। पश्चात् अभाव से उत्पन्न अभावात्मक ही होगा। स्वतः अथवा परतः उत्पत्ति संभव नहीं है। स्वतः उत्पत्ति मानें तो आत्माश्रय दोष की उत्पत्ति के अभाव से ही विनाश नहीं होगा, इसलिए उत्पत्ति, नाश, सत्-असत् आदि सब भ्रम ही है, इसलिए शून्य ही परम तत्त्व है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सर्वथेति'। यहाँ 'न' की अनुवृत्ति होती है। आपका अभिमत सर्वशून्यवाद (कथमपि) संभव नहीं है। सब कुछ शून्य ही है। इस मत में सर्व पदार्थ सत् है या असत्? या सत् असत्, इन सबकी प्रतिज्ञा करने वाले आपका अभीष्ट कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इनकी उपपत्ति नहीं हो सकती, सर्वशून्यवाद की उपपत्ति नहीं हो सकती। लोक में भाव अभाव शब्दों में तथा उनकी बुद्धियों में विद्यमान वस्तु का अवस्था विशेष ही भाव अभाव रूप विषय है। इनमें प्रमाण द्वारा उपलभ्यमान घट आदि का अवस्था विशेष भावबुद्धि का विषय है तथा उसमें विरोधी पिण्ड कपालाकारादि अवस्था विशेष्र अभाव बुद्धि विशेष है। तब सब कुछ सत् है यह अथवा सब कुछ असत् है, ऐसी प्रतिज्ञा करने वालों के लिए विद्यमान वस्तु की अवस्था विशेष से संयोग ही प्रतिज्ञात है, इस प्रकार आप के अभिमत तुच्छता (शून्यवाद) की सिद्धि नहीं होती। दूसरी बात जिस प्रमाण से शून्यवाद का आप समर्थन करना चाहते हैं, वहीं यदि असत्य है तो सबकी सत्यतापत्ति होगी। इस प्रकार सभी प्रकार से शून्यवाद अनुपपन्न ही है।।३२।।

अब सब कुछ शून्य है- ऐसा मानने वाले माध्यमिक बौद्ध का पक्ष खण्डन किया जाता है।

अथ एकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्।

एवं मुक्तकच्छबौद्धमतं निरस्याथेदानीं विवसनजैनमतं निरस्यते —

नैकस्मिन्नसम्भवात्।। २। २। ३३।।

सप्त चैषां निरीश्वरवादिनां पदार्थाः शास्त्रसंग्रहभूताः—जीवाऽजीवाऽऽश्रवसंवरनिर्जर बन्धमोक्षाइति। तत्र जीवाश्चेतनाज्ञानदर्शनसुखवीर्यगुणाः सावयवा देहपरिमाणास्ते त्रिविधा बद्धात्मानो मुक्तात्मानो नित्यसिद्धाश्चेति। ये मुक्तात्मानस्ते सर्वज्ञा निरतिशयसुखाश्चासते। जीवभोग्यवस्तुजातमजीवः। सच धर्माधर्मपुद्गलकालाकाशभेदभिन्नः। सम्यक् प्रवृत्त्यनुमेयो द्रव्यविशेषो धर्मः। अमुक्तानां स्थितिहेतुरधर्मः। वर्णगन्धरसस्पर्शवद्द्रव्यं पुद्गलः। स द्विधा परमाणुतत्सङ्घातभेदात्। पृथिव्यादिहेतवः परमाणवस्ते च न तार्किकानामिव चतुर्विधाः, किन्त्वेकस्वभावाः। पृथिव्यादिभेदस्तु परिणामकृतः। पृथिव्यादिचतुष्टयं तनुभुवनादिकश्च तत्सङ्घातः। कालस्तु भूतादिव्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्यविशेषः आवरणाभाव आकाशो द्विधाऽलोकाकाशः, सांसारिकः। आलोकाकाशो मुक्ताश्रयः। आश्रावयति पुरुषं विषयेष्वितीन्द्रियप्रवृत्तिराश्रवः, कर्त्तारमभिव्याप्याश्रवत्यनुगच्छतीत्याश्रवं कर्मेति वा। इन्द्रियवृत्तीः संवृणोतीति संवर इन्द्रियनिरोधः समाधिरूपः। पूर्वसञ्चितं कल्मषं निर्जरयतीति

निर्जरो नाम अस्नानमौनवीरासननिष्ठ्यू तभोजनतप्तशिलारोहणकेशोपलुञ्चनादिलक्षणमर्हदुपदेशावगतं तपः। बन्धस्त्वष्टविधः कर्मलक्षणः। तत्र ज्ञानावरणीयं दर्शनावरणीयं मोहनीयमन्तरीयमिति चत्वारि घातिकर्माणि। वेदनीयं नामिकं गोत्रिकमायुष्कमिति चत्वार्यघातिकर्माणि। बन्धनिवृत्तौ नित्यसिद्धार्हदनुग्रहात्स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावो मोक्षो भवतीति। तेषामेवापरः प्रपञ्चः पञ्चास्तिकायोनाम–जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, धर्मास्तिकायः। अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायश्चेति। अनेकदेशवर्त्तिसाङ्केतिकपदार्थवाची अस्तिकायशब्दः, जीवश्चासावस्तिकायश्चेत्येवं सर्वत्र कर्मधारयः। इमञ्च सप्तभङ्गीनयं सर्वत्रावतारयन्ति। [१]स्यादस्ति, [२]स्यान्नास्ति, [३]स्यादवक्तव्यः, [४]स्यादस्तिच नास्ति च, [५]स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, [६]स्यान्नास्ति चावक्तधश्च, [७]स्यादस्तिच नास्ति चावक्तव्यश्चेति। अतः सर्वं वस्तुजातं द्रव्यपर्यायात्मकमनैकान्तिकं, द्रव्यस्वरूपस्य चैकत्वात्। स्थिरत्वात्सद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मना सत्त्वैकत्वनित्यत्वाद्युपपद्येत। पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः। घटत्वपटत्वादिरूपास्तेषां चानेकत्वादस्थिरत्वादसद्बुद्धिबोध्यत्वात्तदात्मनाऽसत्त्वादिकमुपपद्येतेति। तत्रेदमुच्यते। नैकस्मिन्निति। एकस्य द्रव्यस्यास्तित्वनास्तित्वनित्यत्वानित्यत्वादिभिरनैकान्तिकत्वं न युक्तम्। कुतः? एकस्मिन्धर्मिणि सत्त्वाऽसत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपदसम्भवात्। कथमेको भावोऽस्ति नास्ति च स्यात् विरोधात्। ननु पटरूपेण घटो नास्ति स्वेन रूपेणास्तीति न विरोध इति चेन्न। स्वरूपेऽपि सप्तभङ्गीनयस्याविशेषात्स्वरूपमस्तीत्यपि स्यान्नास्तीत्यपि तत्रानध्यवसानमेव स्यात्। किञ्च ये सप्तपदार्थास्ते तथैव स्युरन्यथा वेत्यनिश्चितज्ञानमप्रमाणमेव स्यात्। ननु सर्वमनैकान्तिकमित्यवधारणज्ञानं निश्चितमेवेति चेन्न। अवधारणमप्यनैकान्तिकमेव स्यात्। अवधारणं स्यान्नास्ति चावधारणमिति न क्वचिन्निश्चयः स्यात्। मोक्षोऽस्ति नास्तीत्यवधारणादप्रवृत्तिरेव स्यात्तत्रैवं शास्त्रं प्रणयन्नुन्मत्ततुल्यस्तीर्थंकरः स्यात्। यच्चोक्तं पुद्गलसञ्ज्ञकपरमाणुसङ्घाताः पृथिव्यादयस्तत्पूर्वोक्तेश्वरानधिष्ठितपरमाणुवादनिरासेनैव निरस्तमिति ज्ञेयम्। तथा पञ्चास्तिकायानामपि पञ्चत्वसङ्ख्याऽस्ति न वेति? विकल्पे, आद्ये स्यात्। द्वितीये न स्यादिति न्यूनाधिकसङ्ख्यात्वमेव स्यादिति संक्षेपः।।३३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

इस प्रकार मुक्तकक्ष बौद्धों का मत खण्डन कर अब दिगम्बर जैनमत का खण्डन करते हैं—

(एक सत्य पदार्थ में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म नही रह सकते, क्योंकि वह असंभव है।)

इन निरीश्वर वादियों के मत में उनके शास्त्रों का संग्रहभूत– जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जर, बन्ध तथा मोक्ष, ये सात पदार्थ माने गये हैं। इनमें जीव वे हैं– जो ज्ञान, दर्शन, सुख तथा वीर्य गुणों से युक्त चेतन वस्तु हैं। जीव, अजीव विवेकेन पदार्थ ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। राग द्वेष शून्य तथा पदार्थविबोधन को दर्शन कहते हैं। वेदों का सुख वैषयिक सुख कहलाता है। मुक्तों का सुख स्वात्म सुख है और वीर्य भी वे सावयव हैं, देह के सदृश परिणाम वाले हैं। वे तीन तरह के होते हैं– बद्ध मुक्त एवं नित्य सिद्ध। इनमें जो मुक्त आत्मा है, वे सर्वज्ञ है तथा निरतिशय सुख रूप हैं। जीवभोग्य वस्तुओं को अजीव कहते हैं। वह

धर्म, अधर्म, पुद्गल काल तथा आकाश भेद से अनेक हैं। उसमें सम्यक् प्रवृत्यनुमेय द्रव्य विशेष धर्म पदार्थ है। अमुक्तों की स्थिति हेतु अधर्म है। वर्ण, रूप तथा स्पर्शवत् द्रव्य को पुद्गल कहते हैं। वह दो तरह के होते हैं- एक परमाणु दूसरा पृथिव्यादि संघात। पृथिव्यादि संघात के हेतु परमाणु हैं। वे परमाणु नैयायिकों की तरह पार्थिव जलीय आदि भेद से चार तरह के नहीं है, किंतु एक स्वभाव के हैं। पृथिवी आदि भेद तो संघ विशेषार्थ परिणाम भेद से होता है। पृथिवी आदि चतुष्टय एवं देह भुवन आदि वस्तु संघात है। चिर, क्षिप्र, प्रभूत तथा भूत भविष्यद् आदि व्यवहार का हेतु अणु स्वरूप द्रव्य विशेष को काल कहते हैं। आवरणाभाव को आकाश कहते हैं। वह आकाश लोकाकाश एवं आलोकाकाश भेद से दो प्रकार का है। इनमें लोकाकाश सांसारिक पुरुषों के विचारण योग्य सांसारिक है तथा मुक्तों का आश्रय अलोकाकाश है। जो पुरुषों को विषयों में आश्रवित कराता है, उस इन्द्रिय प्रवृत्ति को आश्रव कहते हैं। अथवा कर्ता पुरुष को अभिव्याप्त करके आश्रवित होता है, अनुगत होता है, इसलिए कर्म को आश्रव कहते हैं। इन्द्रिय की वृत्तियों का जो संवरण करे उसे संवर कहते हैं- इन्द्रिय निरोध समाधि रूप। पूर्व संचित कर्म को जला देता है उसे निर्जर कहते हैं, जैसे अस्नान, मौन, वीरासन, निष्ठ युक्त भोजन तप्त शिलारोहण, केशोपलुञ्चन आदि रूप कर्म को निर्जर कहते हैं, जो अर्हत्तम के उपदेश से आगततप है। कर्मलक्षण बन्धन आठ प्रकार के होते हैं, इनमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तरीय भेद से चार प्रकार के घातिकर्म है। जीव गुण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य नाम से प्रसिद्धों का प्रतिघात करने वाला वेदनीय, नामिक, गोत्रिक तथा आयुस्क ये चार अघाति कर्म है, जो शरीर, शरीराभिमान तन्निबन्धन निवृत्त होने पर नित्य सिद्ध अर्हत् के अनुग्रह से स्वाभाविक आत्मा के आविर्भाव रूप से मोक्ष होता है। इसी का प्रकारान्तर से विस्तार पञ्चास्तिकाय शब्द से कहा जाता है, जैसा कि जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशस्तिकाय अनेक देशवर्ती सांकेतिक पदार्थवाची आस्तिकाय शब्द है। जीवश्चासौ आस्तिकायश्च इस प्रकार सर्वत्र कर्मधारय है। इस प्रकार से सप्तभंगीवाद को जैन लोग याजना करते हैं- स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य स्यादस्ति च नस्ति च, स्यादस्ति च अवक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इत्यादि सप्तभंगी[1] का जो समाहार है, उसको सप्तभंगी कहते हैं, उसकी युक्ति को नय कहते हैं। स्यात् यह तिङ्नन्त प्रतिरूपक अव्यय जो किञ्चित् अर्थ में प्रयुक्त होता है एवं च स्यादस्ति स्यान्नास्ति अर्थ को किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति इस प्रकार संयोजित करना चाहिए। आशय यह है कि सब वस्तुजात जो द्रव्य पर्याय है, अनैकान्तिक है- वस्तुतः एक रूप नहीं है, क्योंकि वस्तुतः द्रव्य रूप वह है, जिसको एकत्व स्थिरत्व, सद्बुद्धि वेधत्व है जो स्व स्वरूप से सत्व, एकत्व नित्यत्व होने से ही उपपन्न हो सकता है। पर्याय तो द्रव्य की अवस्था विशेष है, जिसको घटपटादि कहा जाता है, क्योंकि उसमें अनेकत्व, अस्थिरत्व असद् बुद्धिवेधत्व है, जो घटपटादि रूप से असत्व

---

१. जैनी लोग सप्तभङ्गी न्याय के अनुसार एक ही पदार्थ की सत्ता और असत्ता दोनों स्वीकार करते हैं उनकी इस मान्यता का निराकरण करने के लिए सूत्रकार कहते हैं- "नैकस्मिन्नसंभवात्" (सं)

अनित्यत्व होने से उपपन्न होता है। यहाँ ऐसा कहते हैं कि "नैकस्मिन्निति" अर्थात् एक अर्थ में किञ्चिदस्ति किञ्चिन्नास्ति इत्यादि सप्तभंगी उचित नहीं। तमस और प्रकाश दोनों की युगपत् उपलब्धि नहीं देखी जाती, न सुनी जाती है। इसी प्रकार एकत्र अस्तित्व नास्तित्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्मद्वय का सहभाव असंभव है। (पूर्वपक्षी कहता है कि आपके मत में एक धर्मी में परस्पर विरुद्ध धर्मद्वय का अंगीकार देखा जाता है। जैसा सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सब कुछ ब्रह्म है, इत्यादि श्रुति वाक्यों में सबके एकत्व का प्रतिपादन होना और पुनः प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः द्वासुपर्णा (जीव और ईश्वर ही पक्षी) इत्यादि श्रुतियों में भेद का भी प्रतिपादन होना इत्यादि। उत्तर देते हैं।) कैसे एक भाव पदार्थ है भी, नहीं भी है, ऐसे कैसे होगा, इसमें विरोध है। यदि कहें पट रूप से घट नहीं है, स्वरूप से है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है। तो ऐसा नहीं कह सकते। आपके मत में स्वरूप में भी सप्तभंगीनय मानने से स्वरूप है भी, नहीं भी है, जो संभव नहीं है। दूसरी बात जो सात पदार्थ माने गये हैं, वे वैसे ही रहेंगे या अन्यथा भी होंगे, यह अनिश्चित ज्ञान अप्रमाण ही होगा। यदि कहें कि सब कुछ अनैकान्तिक है, यह अवधारण ज्ञान निश्चित ही है तो यह भी नहीं कह सकते, कारण अवधारण भी अनैकान्तिक ही होगा। अवधारणा है, अवधारणा नहीं भी, ऐसा कहीं निश्चय नहीं होगा। इस तरह मोक्ष है, नहीं भी है, ऐसा अवधारण होने से मोक्ष के लिए अप्रवृत्ति ही होगी और जब मोक्ष का कोई निश्चय ही नहीं है, फिर तो मोक्षार्थ शास्त्र का प्रणयन करने वाला तीर्थङ्कर उन्मत्त के समान होगा। यह जो कहा गया कि पुद्गल संज्ञक परमाणु संघात ही पृथिवी आदि है, यह मान्यता पूर्वोक्त ईश्वरानधिष्ठित परमाणुवाद के खण्डन से खण्डित हो जाती है। इसी प्रकार पाँच अस्तिकायों की पञ्चत्व संख्या भी है या नहीं, ऐसा विकल्प होने पर प्रथम पक्ष में है- द्वितीय पक्ष में नहीं है इस प्रकार न्यूनाधिक संख्या ही होगी, इस प्रकार संक्षेप से उक्त मान्यता का निराकरण किया गया।।३३।।

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्।। २। २। ३४।।

एवमेकस्मिन्धर्मिणि विरूद्धधर्मसमावेशासम्भवदोषवदात्मनोऽपि यदिष्टं देहपरिमाणत्वं तदपि पक्षे स्यात्पक्षे नेत्यकात्स्न्र्यमपरिपूर्णत्वं च दोषः प्रसज्ज्येतेत्यर्थः। तत्र शरीरैकदेशे जीव इत्येकदेशा जीवशून्यः स्यात् किञ्च मनुष्यदेहपरिमाणो जीवः केनचित्कर्मविपाकेन पिपीलिकादेहे प्रविशन्न सम्मीयेत।।३४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

एक धर्मी में विरुद्ध धर्म का असमावेश दोष की तरह, आत्मा के देह परिणामवाद भी पक्ष में है- एक पक्ष में नहीं- इस प्रकार अकात्स्न्र्य एवं अपरिपूर्णत्व दोष का प्रसङ्ग होगा। इस मत में शरीर एक देश में जीव है- ऐसा मानने से एक देश जीव शून्य होगा। दूसरी बात यदि जीव को परिमाण वाला माने तो मनुष्य देह परिमाण वाला जीव किसी कर्म विपाक से चींटी के शरीर में प्रवेश करते समय उसमें कैसे समा सकता?।।३४।।

न च पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।। २। २। ३५।।

ननु मनुष्यदेहपरिमाणस्य जीवस्य हस्तिशरीरादावकात्स्नर्यं परिहर्तुं शक्यं, कथमनन्तावयव आत्मा महति शरीरे तदवयवानामुपचयोऽर्भकशरीरेऽपचय इत्येवं पर्यायादविरोध इति चेन्नेति। कुतः? विकारमूर्त्तत्वादिदोषप्रसङ्गात्। अवयवोपगमापगमाभ्यामनिशमापूर्यमाणस्यापक्षीयमाणस्य च जीवस्य विकारित्वं स्यात्तथात्वे चर्मादिवदनित्यत्वप्रसङ्गस्ततश्च बन्धमोक्षौ कस्य स्याताम्। यदि सावयवो जीवः स्याद्देहवद्विनाशी स्यान्मूर्त्तत्वाच्च। नचोपचयापचयौ कल्पयितुं शक्यौ प्रमाणाभावात्। येऽपगतास्तेऽपगता एव, न तेषां पुनरात्मसम्बन्धो निरूपयितुं शक्यत इति।।३५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि मनुष्य देह परिमाण वाले जीव के गज शरीर में होने वाले अकात्स्नर्य गज देह व्यापित्व दोष का परिहार हो जायगा, क्योंकि मेरी आत्मा सावयव है, उपचय अपचय शाली है, महान् गज शरीर में उसके अवयव का उपचय एवं अर्भक शरीर में अपचय होता है। इस प्रकार अवयव में पदार्थ के उपचय अपचय मानने से अविरोध है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा में विकारित्व एवं मूर्तत्व आदि दोषों का प्रसङ्ग होगा। अवयवों में उपचय एवं अपचय मानने से अहर्निश आपूर्यमाण एवं अपक्षीयमाण जीव में विकारित्व होगा और ऐसा मानने से धर्म आदि की तरह उसमें अनित्यत्व प्रसंग होगा, फिर बन्ध और मोक्ष किसका होगा। यदि जीव सावयव होगा तो देह की तरह विनाशी होगा और उसमें मूर्तत्व भी होगा और उसमें उपचय अपचय की कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, जो अपगत हो जाते हैं, वे अपगत ही रहते हैं। फिर उनका आत्मसम्बन्ध नहीं होता।।३५।।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।। २। २। ३६।।

अन्त्यस्य चरमदेहगतस्य परिमाणस्यावस्थितिरिष्यते विसिग्भिः। भिन्नेदेहे मुक्तः सर्वगतो देहान्तरावच्छेदाभावात्तन्नित्यं परिमाणं, ततश्चाद्यमध्ययोरप्यवस्थयोर्नित्यत्वं स्यादतोऽविशेषः। सर्वदाऽणुर्वा महान्वा जीवो न शरीरपरिमाण इति वक्तुं शक्यते। एवं चोपचयापचयप्रतिज्ञाहानिरतो दिगम्बरमतमपि सौगतमतवदत्यन्तमनादरणीयमिति।।३६।। इत्येकस्मिन्नसम्भवाधिकरणम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

दिगम्बरजैनीजन अन्तिम देहगत परिमाण का अवस्थान मानते हैं। अन्त्य मोक्ष अवस्था में स्थूल सूक्ष्म शरीर नहीं रहने पर संकोच विकाश हीन जो आत्मा का परिमाण है, वह नित्य है। इस प्रकार की आत्मा परिमाण में नित्यता के अंगीकार होने से, आदि मध्य परिमाण में भी नित्यत्व है, ऐसा कहें तो वह भी नहीं कह सकते, तब तो तीनों अवस्था में एक ही प्रकार के परिमाण में विशेषता नहीं रही। तब उपचयापचय युक्त देहाकार परिमाणवाद तुम्हारा विनष्ट हुआ।

जीव सर्वदा अणु अथवा महान् जीव शरीर परिमाण वाला है ऐसा नहीं कह सकते। इस प्रकार आपकी उपचय अपचय की प्रतिज्ञा की हानि है। इसी प्रकार दिगम्बर जैन मत भी बौद्ध मत की तरह ही अत्यन्त अनादरणीय है।।३६।।

इस प्रकार एकस्मिन् असंभव अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।

अथ पशुपत्यधिकरणम्।

अथ पशुपतिपक्षनिरास उपक्रम्यते—

पत्युरसामञ्जस्यात्।। २। २। ३७।।

इयं तावत्पशुपतिमतानुगामिनां प्रक्रिया, पशुपतिनेश्वरेण प्रणीतं पञ्चाध्यायिशास्त्रं पञ्च तत्र पदार्था निर्णीयन्ते। [1]कारणं, [2]कार्यं, [3]योगो, [4]विधिः, [5]दुःखान्त, इति। कारणं प्रधानमीश्वरश्च। कार्यं महदादि। योगोऽ"प्योङ्कारमभिध्यायात्सकृदि"ति कुर्याद्धारणमित्येव-मुक्तः। विधिपदार्थः विधिस्त्रिषवणस्नानादिगूढचर्यावसानः। मोक्षो दुःखान्तः। सच तार्किकादिवत्पाषाणकल्पावस्थितिः पाशुपतकापालिकयोः। शैवानां तु साङ्ख्यवच्चैतन्या आत्मानस्तिष्ठन्तीति विशेषः। ते चतुर्विधाः कापालाः, कालमुख्याः पाशुपताः शैवाश्च। सर्वेऽपि वेदविरुद्धाचारान् निःश्रेयःसाधनतया मन्यन्ते। निमित्तोपादानयोर्भेदं निमित्तकारणं पशुपतिं मन्यन्ते। तथैव साधनमपि मुद्रिकाषट्कधारणादि। तथा चाहुः कापालाः— "मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः। भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति।। कण्ठिका रुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिः। भस्मयज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते।। आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायत" इत्यादि। तथा कालमुखा अपि "कपालपात्रशवभस्मस्नानतत्प्राशनलगुडधारणसुराकुम्भस्थापनतदाधारदेवतापूजादिकमैहिका-मुष्मिकसकलफलसाधनमि"ति मन्यन्ते। "रुद्राक्षं कङ्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके। कपालं भस्मना स्नानमि" त्यादिकं शैवागमे प्रसिद्धम्। तथा केनचित्क्रियाविशेषेणेतर-जातीयानामपि ब्राह्मणत्वप्राप्तिमुत्तमाश्रमप्राप्तिं च विदधति। "दीक्षाप्रवेशमात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणात्। कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानव" इति। तन्निराकरोति। पत्युरिति। नेत्यनुवर्त्तते। पशुपतेः पक्षः श्रेयोऽर्थिभिर्नादरणीयः। कुतः ? असामञ्जस्यात् वेदबाह्यत्वात्। मुद्राषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुम्भस्थापनतत्स्थदेवतार्चनगूढाचारश्मसानभस्म-स्नानप्रणवपूर्वाभिध्यानादेरन्योऽन्यविरुद्धत्वाद्वेदबाह्यधर्मत्वाच्च। तदुक्तसाधनानां वेदोक्तवेदान्त-श्रवणादिभगवदुपासनादीनां च परस्परात्यन्तविरोधाच्च। पाषाणकल्पावस्थितिरूपमोक्षस्याप्य-वैदिकत्वात्। तथा पशुपतेरपि जन्यत्वेन जगत्कारणत्वासम्भवाच्च। "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायते" त्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेस्तस्य जन्यत्वावगमात्। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, नारायणात्प्राणो जायते मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी बिश्वस्य धारिणी, नारायणाद्ब्रह्मा

जायते नारायणद्रुद्रः" इत्यादिश्रुतयः परब्रह्मश्रीपुरुषोत्तमं जगदभिन्ननिमित्तोपादानं वदन्त्योऽन्यस्य वस्तुजातस्य तदुपादेयत्वं निश्चिन्वन्ति। क्वचित् श्रूयमाणाः शिवादिशब्दा अपि आकाशशब्दवद्ब्रह्मपरा एव। तच्च "सिद्धान्तजाह्नव्यां" श्रीदेवाचार्यपादैर्विशदं निर्णीतम्।।३७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब पशुपति अधिकरण आरम्भ होता है। अब पशुपति पक्ष के निरास (खण्डन) का उपक्रम करते हैं। पशुपति मतानुयायियों की प्रक्रिया इस प्रकार है। पशुपति के द्वारा प्रणीत शास्त्र पाँच अध्यायों वाला है। इस शास्त्र में पाँच पदार्थ है– कारण, कार्य, योग, विधि तथा दुःखान्त। कारण माने प्रधान और ईश्वर। कार्य महत्तत्व आदि। योग माने– 'ओंकारमभिध्यायात् सकृत्' इस वचन के अनुसार कथित धारणा। विधि अर्थात् त्रिकाल स्नान आदि से लेकर गुप्तचर्यान्त। मोक्ष माने दुःखान्त, वह तार्किक आदि की तरह शिलातुल्य अवस्थिति। ऐसा पाशुपत एवं कापालिक मत वाले मानते हैं। शैव मत में साङ्ख्य मत की तरह आत्मा को चिद्रूप में अवस्थान मोक्ष दशा में माना जाता है। शैव चार तरह के होते हैं– कापाल, कालमुख्य, पाशुपत तथा शैव। ये सभी वेद विरुद्ध आचारों को ही कल्याण का साधन मानते हैं। निमित्त एवं उपादान कारण में भेद मानते हैं। निमित्त कारण पशुपति को मानते हैं। इसी प्रकार साधन भी छः प्रकार की मुद्रिका धारण आदि मानते हैं। जैसा कि कापालिकों का कथन है– "मुद्रिका षट्कतत्वज्ञः परमुद्रा विशारदः भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति" अर्थात कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म तथा यज्ञोपवीत, ये छः मुद्राएँ हैं– इनके द्वारा जो अपने शरीर को मुद्रित यानी चिह्नित कर लेता है, वह मोक्ष को पा लेता है– वह पुनः जन्म धारण नहीं करता। इसी प्रकार काल मुखों का कहना है कि कपालपात्र (हाथ में खप्पर) धारण, मुर्दे की खोपड़ी, श्मसान में भस्म का धारण, उसी का भक्षण, लगुडधारण, सुराकुम्भ का स्थापन (सुरापान) तथा मदिरा के कलश पर देवताओं का पूजन आदि क्रियाएँ ही ऐहिक एवं आमुष्मिक कल्याण का साधन हैं। जैसा कि शैवागम का प्रसिद्ध वचन है, "रुद्राक्षं कङ्कणं हस्ते जटा चैका च मस्तके। कपालं भस्मना स्नानमि" इत्यादि अर्थात् हाथ में रुद्राक्ष का कङ्कण, मस्तक पर जटा धारण, मुर्दे की खोपड़ी हाथ में लिए रहना तथा शरीर में भस्म लगाना, इन सबसे ही मुक्ति मिलती है और किसी क्रिया विशेष के द्वारा ब्राह्मणेतर जातियों को ब्राह्मणत्व की प्राप्ति एवं उत्तमाश्रम की प्राप्ति स्वीकार करते हैं। जैसा कि उनका कथन है, "दीक्षा प्रवेशमात्रेण ब्राह्मणो भवति क्षणात्। कापालं व्रतमास्थाय यतिर्भवति मानवः" अर्थात् कापालिक मत में दीक्षा मात्र लेने से ही कोई ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत का अनुष्ठान करने से यति हो जाता है। इस मान्यता का खण्डन करते हैं– 'पत्युरसामञ्जस्यात्' यहाँ पूर्व सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् पशुपति का मत कल्याणवादी के लिए आदरणीय नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त वेदबाह्य है। क्योंकि षड् मुद्राओं का धारण, भगासन पर आत्मतत्त्व का ध्यान, सुराकुम्भ का स्थापन, उस पर देवताओं का

पूजन, गुप्त आचार, श्मसान में भस्म का शरीर में लेपन तथा प्रणवपूर्वक ध्यान आदि परस्पर विरुद्ध होने के कारण वेदबाह्य धर्म हैं। इस मत में प्रतिपादित साधनों तथा वेद वेदान्त में प्रतिपादित श्रवण मननादि एवं भगवद् उपासनादि में परस्पर विरोध है। इसी तरह मोक्ष अवस्थान शिलातुल्य रूप में अवस्थान की अवैदिक सिद्धान्त है। दूसरी बात पशुपति के जन्य होने से उनके जगत् कारणत्व संभव नहीं है। कारण "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात्त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषोऽजायते" इत्यादि श्रुति के आधार पर पशुपति का जन्यत्व ज्ञात होता है। 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' 'नारायणात् प्राणो जायते नारायणाद् मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी नारायणात् ब्रह्मा जायते नारायणात् रुद्रः' इत्यादि श्रुतियाँ परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम को ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानती हैं और उनसे भिन्न समस्त भूतजातों को उनका उपादेय मानती हैं। कहीं कहीं श्रूयमाण शिव आदि शब्द भी आकाश शब्द की तरह ब्रह्मपरक ही है। इस बात को सिद्धान्त जाह्नवी में देवाचार्यपाद ने विस्तार पूर्वक स्पष्ट निर्णय किया है।।३७।।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च।। २। २। ३८।।

पशुपतेरदेहस्य प्रधानादिसम्बन्धानुपपत्तिरपि जगद्धेतुत्वं न सम्भवति, लोके सशरीरस्यैव कुविन्दादेस्तन्त्वादिसम्बन्धदर्शनात्।।३८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पशुपति उनके मत से देह रहित है। शरीर रहित होने के कारण उनका प्रधान आदि से सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतएव उसके द्वारा सृष्टि रचना भी नहीं हो सकती। लोक में शरीरधारी तन्तुवाय (जुलाहा) का ही तन्तु आदि के साथ सम्बन्ध देखा जाता है।।३८।।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च।। २। २। ३९।।

पशुपतेः कुलालादिवत्प्रधानाधिष्ठातृत्वं नोपपद्यते, अशरीरत्वात्सशरीरस्यैव कुलालादेर्मृदाद्यधिष्ठातृत्वदर्शनाच्च।।३९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

कुलाल आदि की तरह पशुपति में प्रधान का अधिष्ठातृत्व भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह अशरीरी माने गये हैं। शरीरधारी कुलाल आदि में ही मृत्तिका आदि का अधिष्ठातृत्व देखा जाता है।।३९।।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः।। २। २। ४०।।

यथाऽशरीरस्यैव जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठातृत्वं, तथा पशुपतेरपि प्रधानाद्यधिष्ठातृत्वं सम्भवतीति चेन्न। कुतः? भोगादिभ्यः। स्वार्जितपुण्यादिरूपकर्मफलभोगनिमित्तं

पुण्यादिरूपादृष्टकारितं च जीवस्याधिष्ठातृत्वं, तथा पशुपतेरपि पुण्यादियोगादीश्वरत्वा-सम्भवस्तस्मान्नाधिष्ठातृत्वं सम्भवति।।४०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि जैसे अशरीरी जीव में इन्द्रियादि करण एवं कलेवर आदि का अधिष्ठातृत्व होता है, उसी प्रकार पशुपति में भी अधिष्ठातृत्व संभव है, तो ऐसा नहीं कह सकते, (क्योंकि अपने द्वारा उपार्जित पुण्य-पाप रूप कर्म फल भोग निमित्तक पुण्यपापादिस्वरूप अदृष्ट द्वारा जीव में अधिष्ठातृत्व होता है) उसी प्रकार यदि पशुपति में पुण्यादि का योग मानें तो उनमें ईश्वरत्व असंभव हो जायगा, इस प्रकार उनमें अधिष्ठातृत्व संभव नहीं है।।४०।।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा।। २। २। ४१।।

वाशब्दश्चार्थे। पशुपतेः पुण्यादिरूपादृष्टयोगे जीववदन्तवत्त्वम्, सृष्ट्याद्यन्तःपातित्वमसर्वज्ञता च स्यादिति संक्षेपः।।४१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ वाशब्द च अर्थ में है। पशुपति में पुण्य पापादि रूप अदृष्ट का भोग मानने पर उनमें जीव की तरह सान्तत्व, सृष्टि आदि में अन्तःपातित्व एवं असर्वज्ञता रूप दोष आ जायगा।।४१।।

उत्पत्त्यसम्भवात्।। २। २। ४२।।

श्रीभगवत्प्रणीतपरमश्रेयोबोधकस्यापि भगवच्छास्त्रस्य कपिलादिशास्त्रवदप्रामाण्यमाशङ्क्य, तत्परिहरति। तत्र शङ्कते, परमात्मनः परब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानाच्छ्रीवासुदेवात् सङ्कर्षणो नाम जीवो जायते। सङ्कर्षणात्प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते। ततोऽनिरुद्धाख्योऽहङ्कारो जायत" इति पाञ्चरात्राणां प्रक्रिया। तत्र जीवस्योत्पत्त्यसम्भवात् श्रुतिविरुद्धैव सेति प्रतिभाति "अजो ह्येको जुषमाणो, न जायते म्रियते वे" त्यादिश्रुतेः।।४२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब भगवान् द्वारा प्रणीत परम कल्याणकारी भागवत शास्त्र (पाञ्चरात्र आगम) में कपिल शास्त्र आदि की तरह अप्रामाण्य की आशङ्का करके उसका परिहार करते हैं। पाञ्चरात्र शास्त्र में भगवान् वासुदेव को साक्षात् परब्रह्म परमात्मा माना गया है। उनसे संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न संज्ञक मन उत्पन्न होता है, उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार उत्पन्न होता है। ऐसी पाञ्चरात्र की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया श्रुति विरुद्ध है। क्योंकि जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है। कारण श्रुति स्पष्ट कहती है कि "अजो ह्येको जुषमाणः, न जायते म्रियते वा" अर्थात् आत्मा अजन्मा है, उसकी न उत्पत्ति होती और न ही वह मरती है।।४२।।

न च कर्त्तुः करणम्।। २। २। ४३।।

नापि कर्तुः सङ्कर्षणाख्यजीवात्सकाशात्प्रद्युम्नाख्यस्य मनसः करणस्योत्पत्तिः सम्भवति विरुद्धत्वात्। नहि कुलालादेर्दण्डादीनामुत्पत्तिः कस्यचिद्दृष्टचरोपपन्ना वेति। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे" त्यादिश्रुतिविरोधाच्चाप्रमाणमिदमपि तन्त्रमिति प्राप्ते राद्धान्तः।।४३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

कर्ता संकर्षण नामक जीव से प्रद्युम्न संज्ञक करण रूपी मन की उत्पत्ति संभव नहीं है क्योंकि यह विरुद्ध है। कुलाल आदि से दण्ड आदि की उत्पत्ति कहीं न तो देखी गई है, न ऐसा उपपन्न है। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादि श्रुति विरोध के कारण यह पाञ्चरात्र शास्त्र अप्रमाण है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं।।४३।।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः।। २। २। ४४।।

वाशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। सङ्कर्षणादीनां विज्ञानादिभावे विज्ञानं च तदादि चेति विज्ञानादिब्रह्म "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे"ति श्रुत्युक्तब्रह्माभावे सति तत्प्रतिपादनपरस्यास्य तन्त्रस्य प्रमाणात्वादप्रतिषेधः। तत्प्रामाण्यं न प्रतिषिध्यत इत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः। प्रमाणत्वाप्रमाणत्वयोः शास्त्रमेकं नियामकं, तदेकगम्यत्वात्तयोः। तत्र श्रुतिमूलं च प्रामाण्यं शिष्टग्राह्यम्, श्रुतिविरुद्धं चाप्रामाण्यं हेयं चेति सर्वप्रमाणविदां समानम्। एवं च पञ्चरात्रस्य श्रुतिमूलत्वं, तत्तुल्यत्वेन मोक्षधर्मे श्रीसूत्रकारेणैव निर्णीतम्। "गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथभिक्षुकः। य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत स" इत्यादियुधिष्ठिरप्रश्नानां पञ्चरात्रोक्तप्रक्रियया ह्युत्तरं दत्त्वाह "इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्। आविध्यमतिमन्थानं दध्नो घृतमिवोद्धृतम्। नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा। आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्यो यथाऽमृतम्। इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्। साङ्ख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्। इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम्। ऋग्यजुःसामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा। भविष्यति प्रमाणं वा ह्येतदेवानुशासनमिति।" तथा चास्याप्रामाण्यं प्रमाणाभावाद्वा,? निषेधाद्वेति? नाद्य, उक्तप्रमाणस्य सत्त्वात्। न द्वितीयो, भारतादौ क्वाप्यदर्शनात्। नच "कापालं पञ्चरात्रञ्च यामलं वामनार्हतम्। एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि त्वि" त्यादिः क्वचित् कूर्मपुराणादौ निषेधो दृश्यत इति शङ्कनीयं, भारतादिविरुद्धस्मृतेरनङ्गीकारात् "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचिदि"ति सूत्रकारप्रतिज्ञावचनात्। भारतस्य तु सर्वैरपि शिष्टैर्निःसंशयेन परिग्रहान्न तत्राप्रामाण्यशङ्कावकाशः। अन्यथा भगवद्गीताया अपि तथात्वापत्तिर्दुर्वारेति, तस्मान्मोहनादिशास्त्रसाहचर्य्यपाठानुपपत्त्या पञ्चरात्रशब्देन पञ्चरात्रान्तरं किमपि तन्त्रं कल्पनीयम्। किञ्च नारायणीये पञ्चरात्रप्रतिपाद्यविषयस्य निर्णयौपयिकषड्लिङ्गोपेतवाक्यसिद्धत्वादप्यस्य प्रमाणतमत्वम्। तथाहि "गृहस्थो ब्रह्मचारी

चे" त्यादिना राज्ञः प्रश्नोपक्रमः, सर्वाश्रमिणां स्वानुरूपपुरुषार्थोपपत्तये को देवो यजनीयो, वैश्वदेवं पैत्र्यं कर्म कथं कर्तव्यं? विष्णुनिवेदितान्नेनेतरेण वा? किमात्मको मोक्षः? किं सर्ववेदसारः?" इत्युपक्रम "एष एकान्तधर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम!। मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिरि"ति वैशम्पायनः। एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम। श्वेतानां पतीनां चाह ह्येकान्तगतिमव्ययाम्। व्यासश्चाकथयत्प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते। पञ्चरात्रविदो ये च यथाक्रमपरा नृप!" इति। भीष्मश्च "मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै। यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृत" इत्युपसंहारः।१। "ये च तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता। काम्यं नैमित्तिकं राजन्! यज्ञीयाः परमक्रियाः सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः। पञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः।[1] प्रापणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते चाग्रभोजनमि"ति शतशोऽभ्यासः।२। "नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः। एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप! सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुखनिःसृतमि" त्यादिनाऽपूर्वता।३। "एतदभ्यधिकं तेषां यत्तेजः प्रविशन्त्युत। अहो ह्येकान्तिनः श्रेष्ठान्प्रीणाति भगवान्स्वयम्। विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान्स्वयम्। एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम्। नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः। सहोपनिषदान्वेदान् ये विप्राः सम्यगाश्रिताः। पठन्ति विधिमास्थाय, ये चापि यतिधर्मिणः। तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्। एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप!। यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत्स्यात्कुरुनन्दन! अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः। भवेत्कृतयुगप्राप्तिराशीः कर्मविवर्जितैः। नारायणात्मके मोक्षे ततो याति परां गतिमि" त्यादिशतशः फलोक्तिः।४। इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितं, साङ्ख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तिसेवितः। सर्वेषु च नृपश्रेष्ठो! ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः। न चैनमेवं जानन्ति तमोभूता विशांपते!। तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः। निष्ठां नारायणमृषिं नान्योस्तीति वचो मम। निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिरि" त्यादिनाऽर्थवादः।५। किञ्च जनमेजयेन पृष्टो वैशम्पायनः प्रतिकल्पं पञ्चरात्रं श्रीनारायणादाविर्भवति तिरोभवति च पाषण्डप्राचुर्यादिति सम्पूर्णाध्यायेनाह। "यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्। ब्रह्मणः पृथिवीपाल! तदा नारायणः स्वयम्। तेन धर्मेण कृतवान्दैवं पैत्र्यं च भारत!। फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे। वैखानसाः फेनपेभ्यो धर्ममेतं प्रपेदिरे। वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनरि" त्यादिना कल्पेकल्पे सम्प्रदायपूर्वकप्रवृत्त्युक्तयोऽत्रोपपत्तयः।६। अथ तन्निष्ठावतां ह्यन्यत्क्रियावद्भ्यः स्वरूपवैलक्षण्योक्तेरपि श्रेष्ठत्ववर्णनात्। "सहोपनिषदान्वेदानि" त्यादिजनमेजयोक्तेः। "एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः। इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः। नतु मां ते ददृशिरे नतु द्रक्ष्यति कश्चन। ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वं च

१. प्रापणं क्वचित् पाठ

ह्येकान्तिको मत" इति नारदं प्रति श्वेतद्वीपपतिवचनात्। किञ्च "पञ्चरात्रविदो ये च यथा--- क्रमपरा नृप! एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै। यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्। शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः। नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयस्तथा। हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते। कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते। याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतिबुद्धिभिस्ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम्। तत्रैवाशरीरिणी वागेकतानान्ब्रह्मपुत्रान्प्रति दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः। दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमाः। गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात्। न स शक्तस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन। कालं कालेन महता एकान्तत्वं समागतैः। शक्यो द्रष्टुं स भगवान्प्रभामण्डलदुर्दर्श" इति श्रीनारायणो नारदं प्रति "तं देवा आश्रमाश्चैव नानातनुसमाश्रिताः। भक्त्या सम्पूजयन्त्येनं गतिं चैषां ददाति सः। ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। एतदभ्यधिकं तेषां तत्तेजः प्रविशन्त्युत। इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारदकीर्तितः। भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे! अस्मद्भक्त्या च ते श्रुत इति" किञ्च वेदोपवृंहणाय "भारतसंहिता" कुर्वता श्रीबादरायणेन बहुषु स्थलेषु पञ्चरात्रप्रामाण्यं प्रतिष्ठापितवता तर्कपादे तत्प्रामाण्यं निराक्रियत, इत्यस्यासङ्गतत्वमेव भ्रान्तत्वापत्तेः। ननु "परं तत्त्वमिदं कृत्स्नं साङ्ख्यानां विदितात्मनाम्। यदुक्तं यतिभिर्मुख्यैः कपिलादिभिरीश्वरैः। यस्मिन्नविभ्रमाः केचिद्दृश्यन्ते मनुजर्षभ!। गुणाश्च यस्मिन्बहवो दोषहानिश्च केवले"ति कपिलमतस्यापि भारते भ्रमादिदोषाभावप्रतिपादनम्। "तथा सर्वेषु च नृपश्रेष्ठे" त्यनेन साङ्ख्यपाशुपतादीनामपि नारायणनिष्ठत्वप्रतिपादनम्। 'तथा तमेव शास्त्रकर्त्तार" इति तच्छास्त्रकर्तॄणामपि नारायणप्रतिपादकत्वप्रतिपादनम् "साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिरि"ति साङ्ख्यादीनामात्मप्रमाणत्वप्रतिपादनं सर्वे प्रमाणं हि तथा "यथैतच्छास्त्रमुत्तममि"ति पञ्चरात्रदृष्टान्तेनेतरशास्त्राणामपि प्रामाण्यप्रतिपादनं च दृश्यते। तथात्वेऽपि शारीरके साङ्ख्यपाशुपताद्यागमानां निषेधदर्शनात्तन्न्यायेनास्यापि निषेधो युक्त एव। नच साङ्ख्यादौ वेदविरुद्धभागस्यापि सत्त्वात्तन्मात्रनिषेध इष्ट इति वाच्यम्, श्रुतिविरुद्धभागस्य सङ्कर्षणाद्युत्पत्तिरूपस्यात्रापि सत्त्वात्तन्मात्रनिषेधोऽत्रापि युक्त इति चेन्न, भगवच्छास्त्रविचारशून्यानां पदवाक्य-प्रमाणत्वनिर्णयाशक्तानां स्वाङ्गणेऽश्वधावनमात्रत्वात्तथा हि साङ्ख्यादीनां पौरुषेयत्वेन वेदविरुद्धांशस्यापि सम्भवात्तन्मात्रनिषेधः सूपपन्नः। प्रकृते तु "पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयमि"ति श्रीमुखनिर्गतत्वेन श्रीभगवद्गीतावत्कृत्स्नस्यापि वेदार्थरूपत्वेन प्रामाण्यतमत्वान्नोक्तन्यायस्यात्रावकाशः। नहि साङ्ख्यादीनां तत्पठनमात्रेण तत्तुल्यत्वं वक्तुं शक्यम्, उक्तरीत्या तेषां षड्लिङ्गोपेतवाक्यैर्निर्णयाभावेनोक्तन्यायस्य महद्वैषम्यात्। किञ्च साङ्ख्योक्ततत्त्वानामब्रह्मात्मतैव शारीरके निराकृता, न स्वरूपम्। योगपाशुपतादिषु चेश्वरस्य केवलं निमित्तकारणता परतत्त्वविपरीतकल्पना वेदवाह्याचारश्च निराकृतः। न योगस्वरूपं पशुपतिस्वरूपं चेत्यत "परं तत्त्वमि" त्यादिना "साङ्ख्यं योग" इत्यादिना

च तत्तदभिहिततत्त्वस्वरूपमात्रं ग्राह्यं नतु बुद्ध्याद्यभिहिततत्त्ववत्सर्वं त्याज्यमित्युच्यते। नापिसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां जीवमनोऽहङ्काररूपत्वं सम्भावनार्हमपि तु श्रीवासुदेवाख्यस्य परब्रह्मणो व्यूहात्मत्वमेव। तदुक्तं पौष्करसंहितायां "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपासते। क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिर्ब्राह्मणैरागमं तु तदि"ति। तच्च चातुरात्म्यौपासनं परब्रह्मोपासनमेवेति। "ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनाम्। विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महदिति सात्वतसंहितोक्तेः। "यस्मात्सम्यक्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययं। अस्मादवाप्यते शास्त्राज्ज्ञानपूर्वेण कर्मणे"ति पौष्करोक्तेर्यस्तदेव वासुदेवाख्यं परं ब्रह्म यथाधिकारं भक्तैर्ज्ञानपूर्वेण कर्मणा समाराधितं सत्समवाप्यते। तस्मात्सङ्कर्षणादीनामपि श्रीवासुदेवस्यैव स्वेच्छाव्यूहरूपत्वम्। "अजायमानो बहुधा व्यजायत" इति श्रुतेः। "धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युग" इतिगीतोक्तेः। "चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छती"ति कूर्मोक्तेश्च। जीवमनोऽहङ्कारतत्त्वाधिष्ठातृत्वाच्चतेषां जीवादिशब्दैः कथनस्याविरोधः। "यथा ता आप ऐक्षन्त तत्तेज ऐक्षते" त्यत्राबाद्यचेतनेष्वीक्षणादिचेतनासाधारणधर्मादिरनुपपत्त्या ऽबादिशब्दानां तदधिष्ठातृपरत्वं तदन्तरात्मब्रह्मपरत्वं चाभ्युपगम्यते। यथा वा आकाशप्राणज्योतिरादिशब्दानां भूताकाशादौ तत्रोक्तलिङ्गानुपपत्त्या च ब्रह्मपरत्वं सूत्रितं तद्वत्प्रकृतेऽपि सूपपन्नम्।।४४।।

(हिन्दी–अनुवाद)

वा शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। संकर्षण आदि में विज्ञान आदि रूप भाव होने पर विज्ञानं च तदादि च, "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (विज्ञान ब्रह्म है और वह आनन्द रूप है) इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का अभाव होने पर उसके प्रतिपादक इस पाञ्चरात्र शास्त्र के प्रमाण होने से इसका प्रतिषेध नहीं हो सकता। अर्थात् उसमें प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं किया जाता है। यहाँ अभिप्राय यह है कि प्रमाणत्व एवं अप्रमाणत्व में शास्त्र ही नियामक है। कारण उन दोनों का ज्ञान शास्त्र से ही होता है। जहाँ श्रुतिमूलक प्रामाण्य होता है अर्थात् जिसे श्रुति प्रमाण बताती है, वही प्रमाण है शिष्ट ग्राह्य है। जो श्रुति विरुद्ध है वह अप्रमाण है, हेय है। इस विषय में समस्त प्रमाणवेत्ताओं का समान विचार है। इस प्रकार पाञ्चरात्र शास्त्र श्रुतिमूलक है श्रुति तुल्य है, ऐसा सूत्रकार ने स्वयं निर्णय दिया है। "गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथभिक्षुकः। य इच्छेत्सिद्धिमास्थातुं देवतां कां यजेत सः" गृहस्थ, ब्रह्मचारी तथा वानप्रस्थी आदि यदि सिद्धि प्राप्त करना चाहे तो उसे किस देवता की आराधना करनी चाहिए, इस प्रकार युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर पाञ्चरात्र प्रक्रिया से उत्तर देकर कहा "इदं शतसहस्राद्धि भारताख्यानविस्तरात्। आविध्यमतिमन्थानं दध्नो घृतमिवोद्धृतम्। नवनीतं यथा दध्नो द्विपदां ब्राह्मणो यथा। आरण्यकं च वेदेभ्य औषधिभ्यो यथाऽमृतम्। इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम्। साङ्ख्ययोगकृतान्तेन पञ्चरात्रानुशब्दितम्। इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं हितमनुत्तमम्। ऋग्यजुःसामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा। भविष्यति प्रमाणं वा ह्येतदेवानुशासनमिति" इत्यादि प्रमाणों द्वारा पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया गया है। (उक्त गृहस्थो ब्रह्मचारी च

इत्यादि वाक्यों द्वारा महाभारत शान्ति पर्व के मोक्ष धर्म प्रकरण में ३४२वें अध्याय में विस्तार से पाञ्चरात्र का प्रामाण्य सिद्ध किया गया है। इसके आगे का श्लोक है– "कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैःश्रेयसं परम्। विधिना केन जुहुयाद्दैवं पित्र्यं तथैव च। मृतश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः। स्वर्गतश्चैव किं कुर्याद् येन न च्यवते दिवः। देवतानां च को देवः पितृणां च पिता तथा तस्मात्परतरं यच्च तन्मे ब्रूहि पितामह।" 'इदं श्रेयः' अर्थात् इस शास्त्र पाञ्चरात्र में उक्त साधन ही श्रेय है, सांसारिक फल साधन है। 'इदं ब्रह्म' अर्थात् इस पाञ्चरात्र में उक्त ब्रह्म ही परम प्राप्य ब्रह्म है। 'इदमनुत्तमं हितम्' यही अपवर्ग साधन है। अथर्वाङ्गिरसैः– अथर्वा एवं अङ्गिरस ऋषि द्वारा दृष्ट अथर्ववेद प्रदेशों द्वारा ऋग् आदि शब्दों से तत् तत् अर्थ अभिप्रेत है। ऐसे पाञ्चरात्र शास्त्र का अप्रामाण्य कैसे हो सकता[1] है?) क्या इसमें अप्रामाण्य प्रमाण के अभाव के कारण है अथवा निषेध के द्वारा प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, उक्त प्रमाण का सद्भाव है। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता। महाभारत आदि में कहीं भी इसका निषेध नहीं है। यदि कहें कि "कापालं पञ्चरात्रञ्च यामलं वामनार्हतम्। एवंविध ाानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु" इत्यादि कूर्म पुराणादि वाक्यों द्वारा पाञ्चरात्र आदि का निषेध देखा जाता है तो ऐसा नहीं कह सकते। महाभारत से विरुद्ध शास्त्रवाक्यों का अङ्गीकार नहीं किया जाता है। "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्" जो महाभारत में है, वही अन्यत्र है, जो महाभारत में नहीं है, वह कहीं नहीं है। यह सूत्रकार का प्रतिज्ञावाक्य है। महाभारत को समस्त शिष्ट पुरुषों ने निश्चित रूप से परिग्रह किया है इसलिए उसमें अप्रामाण्य की शङ्का का प्रश्न ही नहीं है। अन्यथा भगवद्गीता में भी अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इसलिए मोहन आदि शास्त्र साहचर्य पाठ की अनुपपत्ति से यहाँ पञ्चरात्र शब्द से कोई भिन्न पञ्चरात्र शास्त्र की कल्पना करनी चाहिए। दूसरी बात महाभारत की नारायणीय में पञ्चरात्र प्रतिपादित विषय के निर्णय के उपयुक्त षड् लिङ्ग (उपक्रमोपसंहार आदि) वाक्य सिद्ध होने के कारण भी पञ्चरात्र के वाक्य में प्रमाणतमत्व है। अर्थात् इसमें श्रेष्ठ प्रामाणिकता है। इसी का उपपादन करते हैं तथाहि 'गृहस्थो ब्रह्मचारी च' इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रश्न का उपक्रम है। अर्थात् सभी आश्रमवासियों को अपने अनुकूल पुरुषार्थ की उपपत्ति के लिए किस देवता का भजन करना चाहिए। वैश्वदेव या पितृ कर्म कैसे करना चाहिए। विष्णु को निवेदित अन्न से या उससे भिन्न किसी अन्न से? मोक्ष का क्या स्वरूप है, सम्पूर्ण वेद का क्या सार है? इस प्रकार प्रश्नों का उपक्रम है। "एष एकान्तध ार्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम!। मया गुरुप्रसादेन दुर्विज्ञेयोऽकृतात्मभिः" ऐसा वैशम्पायन ने कहा। "एवं हि स महाभागो नारदो गुरवे मम। श्वेतानां पतीनां चाह ह्येकान्तगतिमव्ययाम्। व्यासश्चाकथयत्प्रीत्या धर्मपुत्राय धीमते। पञ्चरात्रविदो ये च यथाक्रमपरा नृप" भीष्म ने भी कहा– "मत्तोऽन्यानि च ते राजन्नुपाख्यानशतानि वै। यानि श्रुतानि सर्वाणि तेषां सारोऽयमुद्धृतः"

---

१. कोष्ठक में प्रतिपादिका पाञ्चरात्र प्रामाण विवरण श्रीनिम्बार्कीय उद्भट विद्वान् नि०ली० तीन पं० श्री अमोलक राम जी शास्त्री की टीका से लिया गया है– (सं)

ऐसा उपसंहार है। "ये च तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता। काम्यं नैमित्तिकं राजन्। यज्ञीयाः परमक्रियाः सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः। पञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः। प्रापणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते चाग्रभोजनम्" इस प्रकार सैकड़ों वाक्यों द्वारा पञ्चरात्र की प्रशंसा में अभ्यास वाक्य हैं "नारदेन तु सम्प्राप्तः सरहस्यः ससंग्रहः। एष धर्मो जगन्नाथात्साक्षान्नारायणान्नृप सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुखनिःसृत" इत्यादि वाक्यों द्वारा पञ्चरात्र की अपूर्वता में प्रमाण वाक्य हैं। इस प्रकार पञ्चरात्र के श्रवण पठन में शतशः फल श्रुति वाक्य हैं जैसे, "एतदभ्यधिकं तेषां यत्तेजः प्रविशन्त्युत। अहो ह्येकान्तिनः श्रेष्ठान्प्रीणाति भगवान्स्वयम्। विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान्स्वयम्। एकान्तिनस्तु पुरुषा गच्छन्ति परमं पदम्। नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः। सहोपनिषदान्वेदान् ये विप्राः सम्यगाश्रिताः। पठन्ति विधिमास्थाय, ये चापि यतिधर्मिणः। तेभ्यो विशिष्टां जानामि गतिमेकान्तिनां नृणाम्। एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप!। यद्येकान्तिभिराकीर्णं जगत्स्यात्कुरुनन्दन! अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः। भवेत्कृतयुगप्राप्तिराशीः कर्मविवर्जितैः। नारायणात्मके मोक्षे ततो याति परां गतिम्" इत्यादि सैकड़ों फल श्रुति वाक्य हैं "इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितं, साङ्ख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तिसेवितः" यह पञ्चरात्र शास्त्र महान् उपनिषद् है। इसमें चारों वेद समन्वित है। यह सांख्य योग के बराबर है। इस शास्त्र में प्रतिपादित धर्म (भागवत धर्म) अनन्य भागवतों द्वारा सेवित है। सर्वेषु च नृपश्रेष्ठो ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते। यथागमे यथा न्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः, यह भागवत धर्म सभी प्रकार के ज्ञानों में श्रेष्ठ हैं। इसमें नारायण में निष्ठा है। 'न चैनमेव जानन्ति तमोभूता विशांपते!' तामसी प्रकृति के लोग इन नारायण भगवान् को नहीं जानते। "तमेव शास्त्रकर्तारः प्रवदन्ति मनीषिणः। निष्ठां नारायणमृषिं नान्योस्तीति वचो मम। निःसंशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः" (शास्त्र कर्ता मनीषी लोग) नारायण को सर्वश्रेष्ठ मानकर उनमें निष्ठा करते हैं। उनसे अतिरिक्त कोई भगवान् नहीं है। ऐसा उनका वचन है। जो संशय रहित है, उनमें हरि का निवास है इत्यादि वचनों द्वारा पञ्चरात्र में अर्थवाद है। आगे जनमेजय के द्वारा पूछने पर वैशम्पायन ने कहा है कि प्रतिकल्प में पञ्चरात्र शास्त्र श्रीनारायण द्वारा प्रकट होता है और पाखण्ड मत के प्राचुर्य होने पर तिरोहित होता है, ऐसा एक पूरे अध्याय में कहा है, इसी तरह "यदासीन्मानसं जन्म नारायणमुखोद्गतम्। ब्रह्मणः पृथिवीपाल्! तदा नारायणः स्वयम्। तेन धर्मेण कृतवान्दैवं पैत्र्यं च भारत!। फेनपा ऋषयश्चैव तं धर्मं प्रतिपेदिरे। वैखानसा फेनपेभ्यो धर्ममेतं प्रपेदिरे। वैखानसेभ्यः सोमस्तु ततः सोऽन्तर्दधे पुनः" इत्यादि प्रमाणों द्वारा प्रत्येक रूप में सम्प्रदाय पूर्वक प्रवृति का कथन यहाँ उपपत्ति वाक्य है। और पञ्चरात्र पर निष्ठा रखने वालों में (पञ्चरात्र के अनुसार साधना करने वालों में) अन्य कर्मकाण्डियों से स्वरूप वैलक्षण का कथन होने से भी पञ्चरात्र का श्रेष्ठत्व वर्णन होता है। 'सहोपनिषदान् वेदान्' इसमें उपनिषदों सहित समस्त वेदों का सार है। ऐसा जनमेजय का वचन है। "एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चैव महर्षयः। इदं मे समनुप्राप्ता मम दर्शनलालसाः। नतु मां ते ददृशिरे नतु द्रक्ष्यति कश्चन। ऋते ह्येकान्तिकं चैषां त्वं च ह्येकान्तिको मतः" ऐसा नारद जी के

प्रति श्वेतद्वीपपति भगवान् का वचन है। और भी कहा है– "पञ्चरात्रविदो ये च यथाक्रमपरा नृप! एकान्तभावोपगतास्ते हरिं प्रविशन्ति वै। यद्ब्रह्मा ऋषयश्चैव स्वयं पशुपतिश्च यत्। शेषाश्च विबुधश्रेष्ठा दैत्यदानवराक्षसाः। नागाः सुपर्णा गन्धर्वाः सिद्धा राजर्षयस्तथा। हव्यं कव्यं च सततं विधियुक्तं प्रयुञ्जते। कृत्स्नं तु तस्य देवस्य चरणावुपतिष्ठते। याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताश्च एकान्तगतिबुद्धिभिः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम्। वहीं पर अनन्य भाव से अवस्थित ब्रह्मपुत्रों के प्रति आकाशवाणी है– दृष्टा वः पुरुषाः श्वेताः पञ्चेन्द्रियविवर्जिताः। दृष्टो भवति देवेश एभिर्दृष्टैर्द्विजोत्तमाः। गच्छध्वं मुनयः सर्वे यथागतमितोऽचिरात्। न स शक्तस्त्वभक्तेन द्रष्टुं देवः कथञ्चन। कालं कालेन महता एकान्तत्वं समागतैः। शक्यो द्रष्टुं स भगवान्प्रभामण्डलदुर्दर्श" इति तथा श्रीनारायण नारद के प्रति "तं देवा आश्रमाश्चैव नानातनुसमाश्रिताः। भक्त्या सम्पूजयन्त्येनं गतिं चैषां ददाति सः। ये तु तद्भाविता लोके ह्येकान्तित्वं समाश्रिताः। एतदभ्यधिकं तेषां तत्तेजः प्रविशन्त्युत। इति गुह्यसमुद्देशस्तव नारदकीर्तितः। भक्त्या प्रेम्णा च विप्रर्षे! अस्मद्भक्त्या च ते श्रुत इति" इत्यादि। और वेदों की व्याख्या करने के लिए भारत संहिता (महाभारत) जैसे ग्रन्थ का निर्माण करने वाले भगवान् बादरायण व्यास ने महाभारत में अनेक स्थानों में पञ्चरात्र का प्रामाण्य प्रतिष्ठापित किया। उन्हीं के द्वारा तर्कवाद में पंचरात्र की प्रामाणिकता का निराकरण करना असंगत होगा। इस तरह से उनमें भ्रान्तत्व की आपत्ति हो जायगी। "परं तत्त्वमिदं कृत्स्नं साङ्ख्यानां विदितात्मनाम्। यदुक्तं यतिभिर्मुख्यैः कपिलादिभिरीश्वरैः। यस्मिन्नविभ्रमाः केचिद्दृश्यन्ते मनुजर्षभ!। गुणाश्च यस्मिन्बहवो दोषहानिश्च केवला" अर्थात् कपिल आदि मतिप्रवणों द्वारा कहे गये शास्त्रों में गुण बहुत हैं। दोष नहीं है। इस प्रकार कपिल मत में भी महाभारत में भ्रमादि दोषों का अभाव कहा गया है। और "सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ" इस वचन से सांख्य एवं पाशुपत आदि मतों में भी नारायण के प्रति निष्ठा का प्रतिपादन है। तथा तमेव शास्त्रकर्त्तार इस ग्रंथ से इस शास्त्र के कर्त्ताओं में भी नारायण प्रतिपादकत्व का प्रतिपादन है। और "साङ्ख्यं योगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा। आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिरिति" इस वचन के द्वारा सांख्यादि के प्रमाणत्व का प्रतिपादन है। और "यथैतच्छास्त्रमुत्तमम्" इस वचन के द्वारा पञ्चरात्र शास्त्र के दृष्टान्त से अन्य शास्त्रों का भी प्रामाण्य प्रतिपादन देखा जाता है। फिर भी शारीरिक शास्त्र में सांख्य पाशुपत आदि आगमों का भी निषेध देखा जाता है। इस न्याय से इसका निषेध इष्ट ही है। यदि कहें कि सांख्य शास्त्रों में वेद विरूद्ध भाग के होने से तन्मात्र का निषेध ईष्ट ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते। श्रुति विरूद्ध भाग संकर्षण आदि उत्पत्ति यहाँ भी विद्यमान होने से तन्मात्र का निषेध यहाँ भी उचित ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते। भगवत् शास्त्र विचार शून्य तथा पद वाक्य प्रमाणत्व के निर्णय में अशक्तजनों के लिए अपने आंगन में अश्वधावन की तरह हैं। सांख्य आदि शास्त्रों के पौरुषेय होने के कारण उसमें वेद विरूद्ध अंश भी संभव है। इसलिए वहाँ तावन्मात्र का निषेध उपपन्न है। प्रकृत में पाञ्चरात्र शास्त्र में 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्' (सम्पूर्ण पञ्चरात्र में वक्ता स्वयं नारायण है) इस वचन के अनुसार भगवान् के श्रीमुख से निर्गत होने के कारण भगवद् गीता की तरह सम्पूर्ण पञ्चरात्र वेदार्थ

रूप होने के कारण प्रामाण्यतम होने से उक्त न्याय का यहाँ अवकाश नहीं है। सांख्य आदि केवल पाठ मात्र से पञ्चरात्र तुल्यता कथमपि संभव नहीं है। उपर्युक्त प्रकार से सांख्य आदि में षड्विध लिङ्ग युक्त वाक्यों द्वारा निर्णय का अभाव होने से उक्त न्याय का यहाँ महान् वैषम्य है। दूसरी बात ब्रह्म सूत्र के द्वारा सांख्योक्त पच्चीस तत्वों की उसके द्वारा प्रतिपादित अब्रह्मात्मकता का ही निराकरण किया गया है, उन तत्त्वों का नहीं। इसी प्रकार योग पाशुपत आदि शास्त्रों में ईश्वर में केवल निमित्त कारणता, परतत्त्व विपरीत कल्पना तथा वेद बाह्याचार का ही निराकरण किया गया है- न कि यम नियमादि योग स्वरूप का एवं पशुपति स्वरूप का। इसलिए "परंतत्त्वम्" इत्यादि ग्रन्थों तथा 'सांख्य योगः' इत्यादि वचनों द्वारा तत् शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित तत्-तत् स्वरूप मात्र ग्राह्य है, न कि बुद्ध आदि द्वारा कथित तत्-तत् तत्त्व की तरह सब त्याज्य है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि बुद्धतन्त्र 'बौद्धदर्शन में वेद का अप्रामाण्य एवं तद्विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन है। सांख्य आदि शास्त्रों में तो वेद प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। इसलिए उनमें वेदविरुद्धांश का ही निराकरण किया जाता है। संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध ये वासुदेव रूप परमात्मा के व्यूह स्वरूप हैं, अंश है, व्यूहावतार है, इनका जन्म नहीं प्राकट्य होता है, यही पाञ्चरात्र आगम का तात्पर्य है। जैसा कि पौष्कर संहिता में कहा गया है। "कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपासते। क्रमागतैः स्वसंज्ञाभिर्ब्राह्मणैरागमं तु तत्" इत्यादि। यह चतुर्व्यूह उपासना परब्रह्म की उपासना ही है। इसी बात को सात्वत संहिता के वचन द्वारा प्रमाणित करते हैं- "ब्राह्मणानां हि सद्ब्रह्मवासुदेवाख्ययाजिनम्। विवेकदं परं शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदं महदिति सात्वतसंहितोक्तेः" इसी तरह पौष्कर संहिता में भी कहा है- "यस्मात्सम्यक्परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययं। अस्मादवाप्यते शास्त्राज्ज्ञानपूर्वेण कर्मणा" इत्यादि अर्थात् वासुदेवाख्य परब्रह्म की यदि अधिकारानुसार भक्तजन ज्ञान पुरस्सर कर्म के द्वारा आराधना करते हैं तो उनकी प्राप्ति होती है। इसलिए संकर्षण आदि भी श्रीवासुदेव भगवान् की ही इच्छा व्यूह स्वरूप है- "अजायमानो बहुधा व्यजायत" (वह परमात्मा अजन्मा होकर भी अनेक रूपों में अवतार लेते हैं) ऐसा श्रुतिवाक्य है। 'धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'[1] ऐसा गीता में कहा गया है। कूर्मपुराण में भी कहा है- "चतुर्विभक्तः पुरुषः स क्रीडति यथेच्छति" अर्थात् वह परमात्मा चार रूपों में विभक्त होकर इच्छानुसार क्रीड़ा करता है। जीव, मन तथा अहंकार में अधिष्ठाता होने के कारण क्रमशः संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को जीव आदि शब्दों से प्रतिपादन करना विरुद्ध नहीं है और उत्पत्ति का अर्थ प्राकट्य समझना चाहिए। वस्तुतः संकर्षण प्रद्युम्न अनिरुद्ध भगवान् के ही व्यूहावतार हैं- ये जीव नहीं, इनकी उत्पत्ति नहीं प्राकट्य होता है, यही पञ्चरात्र का तात्पर्य है। इसलिए पञ्चरात्र आगम में कोई भी वेद विरुद्ध बात नहीं है। जैसे "यथा ता आप ऐक्षन्त तत्तेज ऐक्षते" इत्यादि स्थलों में अचेतनों में ईक्षण आदि चेतन के असाधारण धर्म आदि भी अनुपपत्ति से अप आदि उसमें अधिष्ठाता परम

१. टिप्पणी : इस सूत्र की व्याख्या में ज०गु० श्रीकेशवकाश्मीरी प्रभु में अति विस्तार से अनेकानेक प्रमाणों के द्वारा पाञ्चरात्र शास्त्र की प्रामाणिकता का समर्थन किया है, जो वैष्णवों के लिए देखने योग्य है।

माने जाते हैं अथवा उसके अन्तर्यामी ब्रह्म परम स्वीकार किये जाते हैं और जैसे आकाश, प्राण, ज्योति आदि शब्दों का भूत आकाश आदि में उनके लिङ्ग की अनुपपत्ति होने के कारण ब्रह्मपरत्व का सूत्रकार ने समर्थन किया है- उसी प्रकार यहाँ भी जीव आदि शब्द अधिष्ठातृपरक हैं।।४४।।

विप्रतिषेधाच्च।। २। २। ४५।।

विप्रतिषिध्यते हि जीवोत्पत्तिरस्मिन्नपि शास्त्रे"ऽचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया। त्रिगुणं कर्मणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च। स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चित" इति परमसंहितोक्तेः। ननु तर्हि पूर्वापरविरोधादुभयविधवाक्यानामपि हेयत्वमिति चेन्नोक्तन्यायस्य वेदे व्यापनात्तत्रापि निषेधः सावकाशः। तथाहि "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा" इत्यारभ्य "सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ती" तीतरेतरविरोधस्य साम्यात्। न चोत्पत्तिश्रुतेर्देहयोगमात्रविधानपरत्वे तात्पर्यादविरोधः। अन्यथा "नात्मा श्रुतेरि" त्यादिवक्ष्यमाणशास्त्रबाधादिति वाच्यम्, उक्तन्यायस्यात्रापि साम्यात्। किञ्च सर्वसंहितासु जीवस्य नित्यत्वनिर्णयाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पञ्चरात्रशास्त्रनिषिद्धैव। नापि सङ्कर्षणाख्यजीवात्प्रद्युम्नाख्यस्य मनसः करणस्योत्पत्तिर्विरुद्धेति पूर्वोक्तदोषावकाशः शङ्कनीयः। सङ्कर्षणादीनां ब्रह्मत्वे सिद्धे ततो मनआदीनामुत्पत्तेः सूपपन्नत्वात् "एतस्माज्जायते प्राण" इति श्रुतिरपि स्वार्थपरत्वेन सूपपन्ना चेति। एतेन यदुच्यते कैश्चित्प्राप्नोत्येवायमुत्पत्त्यसम्भवो दोषः प्रकारान्तरेणेत्यभिप्रायः। कथं, यदि तावदयमभिप्रायः, परस्परभिन्ना एवैते वासुदेवादयश्चत्वार ईश्वरास्तुल्यधर्माणो नैषामेकात्मत्वमस्तीति ततोऽनेकेश्वरकल्पना- नर्थक्यमेकेनेश्वरेणेश्वरकार्यसिद्धेः सिद्धान्तहानिश्च। "भगवानेको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमि" त्यभ्युपगमात्। अथायमभिप्रायः-एकस्यैव भगवत एते चत्वारो व्यूहास्तुल्य धर्माण इति, तथापि तदवस्थ एवोत्पत्त्यसम्भवो दोषः। नहि वासुदेवात्सङ्कर्षणोत्पत्तिः सम्भवति सङ्कर्षणाच्च प्रद्युम्नस्य, प्रद्युम्नाच्चानिरुद्धस्यातिशयाभावात्। भवितव्यं च कार्यकारणयोरतिशयेन। यथा मृद्घटयोर्नह्यसत्यतिशये कार्यकारणमित्यवकल्पते। नच पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिषु एकैकस्मिन्सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद्भेदोऽभ्युपगम्यते। वासुदेवा एव हि सर्वे व्यूहा निर्विशेषा इष्यन्ते। न चैते भगवद्व्यूहाश्चतुःसङ्ख्यायामेवावतिष्ठेरन्, ब्रह्मादेः स्तम्बपर्यन्तस्य समस्तस्यैव जगतो भगवद्व्यूहत्वावगमादिति तन्निरस्तम्। वासुदेवस्यैकत्वेऽपि व्यूहावतारादिनावस्थाने तत्तद्रूपेण प्रादुर्भावे च विरोधाभावात्स्वरूपेणैकत्वं मूर्त्यात्मनाऽनेकत्वं च शास्त्रसम्मतमेव। "अजायमानो बहुधा विजायत" इति श्रुतेः। नापि सङ्कर्षणाद्युत्पत्तिप्रकारो विरुद्धः। अधिष्ठेयानामधिष्ठातृपरत्वस्य तेजआदिदृष्टान्तेन पूर्वमेवोक्तेस्तद्वत्प्रकृतेऽपि सङ्कर्षणादिशब्दानां तदधिष्ठेयपरत्वव्याख्याने विरोधाभावात्। तथा चैवमभिप्रायः— श्रीवासुदेवात्सङ्कर्षणाधिष्ठेयसमष्टिजीवगता स्थूलदेहादियोगरूपोत्पत्तिः। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा" इत्यादिश्रु तेर्नतु स्वरूपेणैव जन्म अनित्यत्वापत्तेः। कृतनाशादिप्रसङ्गादजत्वबोधकश्रुतिविरोधाच्च। तथैव सङ्कर्षणाख्याद्ब्रह्मणा एव प्रद्युम्नाधिष्ठेयमनोवर्गोत्पत्तिः, प्रद्युम्नाख्याच्च ब्रह्मण एवानिरुद्धा- धिष्ठितसमष्ट्यहंकारस्येति सर्वसामञ्जस्यात्। "नारायणाज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" तिश्रुतेः। सङ्कर्षणादिरूपादपि

नारायणात्तत्तत्कार्योत्पत्तेः सम्भवात्। न चैवं श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनाप्रसङ्ग इति शङ्कनीयम्। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा" इति श्रुतिव्याख्याने सर्वेषां तुल्यत्वेन तव मतेऽप्यविशेषात्। तस्माच्छास्त्रवाक्यानामितरेतरविरोधे तद्व्यवस्थायामुक्तदोषस्यायोगात्। नापि ब्रह्मादीनां व्यूहत्वोक्तिः सुवचा प्रमाणशून्यत्वात्। ब्रह्मेशानादीनां तज्जन्यत्वतदुपदिष्टत्वतद्दत्तैश्वर्यादिभिर्जीवत्वाविशेषात्। यच्चोच्यते "प्रतिषेधश्चास्मिञ्च्छास्त्रे बहुविध उपलभ्यते गुणगुणित्वकल्पनादिलक्षणः ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि गुणा आत्मना एवैते भगवन्तो वासुदेवा" इत्यादिदर्शनादिति तत्तुच्छम्। गुणादीनां श्रुतिसिद्धत्वेन स्वाभाविकत्वात्। "परास्य शक्तिरि" ति श्रुतेः। यदप्युक्तं "चतुर्वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान्" त्यादिवेदनिन्दादर्शनादप्यस्या- प्रामाण्यमिति। तत्प्रामादिकम्, तस्य तत्प्रशंसामात्रपरत्वात्। यथा श्रीनारदेन "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चममि" त्यादिन "सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविदि" त्यन्तेन वाक्यसमुदायेन सर्वविद्यास्थानमभिध ााय, भूमविद्यातिरिक्तसर्वविद्यास्वात्मवेदनालाभोक्तिः प्रकृतभूमविद्याप्रशंसार्थकैव। सर्वविद्यास्वधीयमानासु सतीष्वपि तत्प्रतिपाद्यपरतत्त्वनिर्णयालाभनिमित्तका वा। यद्वा श्रीनारदस्य भगवतः सार्वज्ञ्ययोगेऽपि सर्वलोकोपकारार्थकावतारत्वादन्येषां गुर्वभिगमनप्रकारसंग्राहणार्थका वा, न तद्विरुद्धप्रख्यापनार्था। अन्यथा सर्वविद्यास्थानानां वेदादीनां सर्वेषां बाधप्रसङ्गात्। भूमविद्याया अपि साम्न एवैकदेशत्वेन तदन्तर्भूततया तन्निषेध्यत्वविरोधाच्च। यथा वा "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति। पुरोदयाज्जुहति येऽग्निहोत्रमि" त्यनुदितहोमनिन्दोदितहोमप्रशंसार्थेति। तथा प्रकृतेऽपि शाण्डिल्याख्यानवचनस्य तत्प्रशंसार्थत्वान्न वेदविरुद्धतास्फोटनार्थत्वमिति तात्पर्यार्थः। तथा च परमसंहितायां "अधीता भगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः। श्रुतानि च मयाङ्गानि वाकोऽनुवाक्ययुतानि च। न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना क्वचित्। श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति। वेदान्तेषु यदा सारं संगृह्य भगवान्हरिः। भक्तानुकम्पया विद्वान्सञ्चिक्षेप यथा सुखमि"ति। एषामर्थः- हे भगवन्साङ्गोपाङ्गा वेदा मया श्रुतास्तदङ्गान्यपि श्रुतानि। तथापि संशयेन विना येन सिद्धिर्भविष्यति, तच्छ्रेयोमार्गं न पश्यामि निर्णेतुं न शक्नोमि। तेषां दुरवगाहत्वेन दुर्बोधनार्थकत्वात्। अतो यथा श्रीभगवान्स्वभक्तानुकम्पया तान्संशयनिरासपूर्वकं सौकर्येण वेदोक्ततत्त्वं ग्राहयितुं यथासुखं येन सिद्धिर्भविष्यतीति विद्वान् सर्वज्ञः वेदान्तेषु यत् आसमन्ततः सारं सर्ववेदार्थतत्त्वं सङ्गृह्य, स्वासाधारणानुग्रहवशात्सञ्चिक्षेप, तद्वदस्वेति शेषः। एवं च सर्ववेदान्तवेद्यो जगज्जन्मादिहेतुर्ब्रह्मे- शादिकिरीटकोटीडितपादपीठो हेयधर्मास्पृष्टमहिमदिक्तटः सार्वज्ञ्यवात्सल्यकारुण्याद्यपरिमितस्वाभाविक- नित्यकल्याणगुणार्णवो मुमुक्षुध्येयो भगवान्परब्रह्माख्यः श्रीवासुदेव एव परमश्रेयोज्ञापकानामृग्यजुः सामाथर्वसंज्ञकानां विधिनिषेधादिपञ्चविधवाक्यकदम्बरूपाणां शब्दतोऽर्थतश्च मन्त्रिःश्वासरूपत्वेन दुर्ज्ञेयत्वान्मया बिना तद्याथात्म्यस्य वेत्तुमशक्यत्वात् सुरादिभिरपि तद्याथात्म्यज्ञानाभावे श्रेयसस्तत्साधनादीनां चासिद्धेरिति निश्चित्य, तदर्थयाथात्म्योपपत्तये तत्तदधिकारिणां पुंसां स्वानुरूपपुरुषार्थसिद्धये च स्वाश्रितानन्यजनजातमधिकृत्य, तेषां स्वस्वरूपगुणादिविषयकतत्त्वज्ञानोपलब्धये स्वयं तान्वेदान्पञ्चरात्राख्य- शास्त्रार्थरूपेण विशदं व्याचकार। तथा चात्र सर्वस्यापि वेदार्थस्य स्वयमेव श्रीमुखेन निर्णीतत्वात्सर्वांशेनापि तस्य प्रमाणतमत्वं सिद्धमिति संक्षेपः। वस्तुतस्तु शक्तिवादनिराकरणपरमिदमधिकरणं, न पञ्चरात्राप्रामाण्यशङ्कागन्धोऽपि। तथाहि सर्वस्यापि कर्तृजातस्य

तत्तच्छक्तिमत्तयैव तत्तत्कार्यकर्तृत्वं दृश्यते न शक्तिं बिना। यत्र यत्कर्तृत्वं, तत्र तच्छक्तिहेतुकं, यथाऽग्नेर्दाहकर्चृत्वं दाहकशक्तिहेतुकं मणिमन्त्रादिना शक्त्यवरोधे तददर्शनादतः शक्तिरेव जगज्जनयित्रीति शाक्ता आहुस्तत्राह। उत्पत्त्यसम्भवात्। नेत्यनुवर्त्तते। न शक्तेर्विश्वहेतुत्वं सम्भवति। कुतः ? उत्पत्त्यसम्भवात्। पुरुषसंसर्गं बिना तस्याः सकाशात् विश्वोत्पत्तेरसम्भवात्। तस्याः पुरुषसंसर्गोऽस्तीति चेत्तत्राह। "न च कुर्तुः करणम्"। तस्यापि शरीरेन्द्रियादिकरणाभावेना-नुग्राहकत्वानुपपत्तेः। करणाङ्गीकारे च पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गः। ननु प्राकृतकरणाभावेऽपि तस्य स्वाभाविकज्ञानबलक्रियेच्छादिकरणमस्तीति चेत्तत्राह। "विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः।" वा शब्दस्त्वर्थे। तस्य विज्ञानादिभावे तु तदप्रतिषेधः। ब्रह्मवादान्तर्गततया विश्वहेतुत्वं न प्रतिषिध्यते। ब्रह्मणो विश्वोत्पत्त्यङ्गीकारात्। केवलशक्तिकारणवादस्तु तुच्छ इत्युपसंहरति "विप्रतिषेधाच्च"। श्रुतिस्मृति-विरोधाच्च शक्तिवादो न श्रेयोऽर्थिभिरादरणीय इति संक्षेपः।।४५।। इत्युत्पत्त्यसम्भवाधिकरणम्।।८।।

इतिश्रीभगवदवतारश्रीसनन्दनादिप्रवर्तितसुदर्शनचक्रावतार श्री १०८ भगवन्निम्बार्क मुनीन्द्रोपवृंहितानादिवैदिकसम्प्रदायानुगतनिखिलशास्त्रपारावारीण श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टविरिचितायां वेदान्तकौस्तुभप्रभावृत्तौ ब्रह्मसूत्रवृत्यां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयपादः।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस पञ्चरात्र शास्त्र में भी जीव की उत्पत्ति का प्रतिषेध किया गया है। जैसा कि पञ्चरात्र का वचन है- "अचेतना परार्था च नित्या सततविक्रिया। त्रिगुणं कर्मणां क्षेत्रं प्रकृते रूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण सम्बन्धस्तस्याश्च पुरुषस्य च। स ह्यनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः" ऐसा परम संहिता का वचन है। इस प्रकार पञ्चरात्र की सभी संहिताओं में जीव को नित्य बताया गया है। उसकी उत्पत्ति मानने पर जीव में अनित्यत्व आदि दोषों की प्रसक्ति हो जायगी। 'स ह्यनादिरनन्तश्च' इस अंश द्वारा जीव को नित्य कहा गया है। यदि कहें कि तब तो पूर्वापर विरोध होने के कारण दोनों प्रकार के वाक्यों में हेयत्व आ जायगा तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त प्रकारक न्याय वेद में सर्वत्र व्याप्त होने से वहाँ भी निषेध सावकाश हो जायगा, जैसे "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इसके द्वारा जीव का नित्यत्व तथा, "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा" यहाँ से लेकर सर्व एवात्मानः व्युच्चरन्ति, जैसे अग्नि से चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी तरह परमात्मा से जीव उत्पन्न होते हैं इत्यादि वाक्यों द्वारा उत्पत्ति प्रतिपादन होने से अनित्यत्व रूप परस्पर विरोध स्पष्ट है। यदि कहें कि उत्पत्ति श्रुति से देह योग मात्र विवक्षित होने से विरोध नहीं है। अन्यथा "नात्मा श्रुतेः" इत्यादि वक्ष्यमाण शास्त्रों का बाध होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते, उक्त न्याय देह योग मात्र वाले की यहाँ भी समानता है। इस प्रकार पञ्चरात्र की सभी संहिताओं में जीव में नित्यत्व का प्रतिपादन होने से जीव की उत्पत्ति पञ्चरात्र शास्त्र में निषिद्ध है। संकर्षण रूप जीव से प्रद्युम्न रूप करण स्वरूप मन की उत्पत्ति विरुद्ध नहीं है, इसलिए इस पूर्वोक्त दोष का भी यहाँ अवकाश नहीं है। संकर्षण आदि में ब्रह्मत्व सिद्ध होने पर उससे मन आदि की उत्पत्ति युक्त ही है, "एतस्माज्जायते प्राणः" यह श्रुति भी स्वार्थ परत्वेन सम्यक् तथा उपपन्न है। अब यहाँ भगवत्

पाद श्रीशंकराचार्य महाराज की 'विज्ञानादि भावे वा तदप्रतिषेधः' इस सूत्र की व्याख्या को खण्डन करने के लिए पहले उसका अनुवाद करते हैं। इस उक्त ग्रन्थ से कुछ लोग जो कहते हैं कि यह उत्पत्ति असंभव रूप दोष प्रकारान्तर से (यहाँ पञ्चरात्र में) होता ही है कैसे, यदि यह अभिप्राय है कि ये वासुदेव आदि चारों परस्पर भिन्न ईश्वर हैं, ये सभी समान धर्म वाले नहीं हैं, इनमें एकात्मता नहीं है। ऐसा कहें तो अनेक ईश्वर कल्पनारूपी आनर्थक्य होगा, क्योंकि एक ईश्वर से ही कार्य की सिद्धि हो सकती है और सिद्धान्त की हानि भी होगी। एक भगवान् वासुदेव ही परमतत्व हैं ऐसा पञ्चरात्र का अभ्युपगम सिद्धान्त है। अभिप्राय यह है कि एक ही वासुदेव भगवान् के ये चार व्यूह (अंश या अवतार) हैं और ये सभी समान धर्म वाले हैं। फिर भी उत्पत्ति असंभव रूप दोष तदवस्थ है (है ही)। वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति संभव नहीं, इसी तरह संकर्षण से प्रद्युम्न एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की भी, क्योंकि इनमें अतिशय नहीं है और कार्यकरण में अतिशय होना ही चाहिए। जैसे मृत्तिका एवं घट में कोई अतिशय न होने पर कार्य कारण भेद नहीं हो सकता। पञ्चरात्र सिद्धान्तवादी वासुदेव आदि व्यूहों में एक-एक में या सबके ज्ञान ऐश्वर्य आदि प्रयुक्त तारतम्य जनित कोई भेद स्वीकार नहीं करते। सभी वासुदेव स्वरूप ही है उनमें कोई भेद नहीं है। ये चारों भगवद् व्यूह चार संख्याओं में ही नहीं रहते। ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त जगत् को ही भगवद् व्यूह माना गया है। इसलिए वह निरस्त हो जाता है। वासुदेव के एक होने पर भी व्यूह अवतार के रूप में अवस्थान होने एवं तद् तद् रूप से प्रादुर्भाव होने पर कोई विरोध नहीं है। स्वरूपतः एकत्व है मूर्ति रूप में अनेकत्व है यह शास्त्रसम्मत है। क्योंकि "अजायमानो बहुधा विजायते" ऐसा श्रुतिवचन है। इसी तरह संकर्षण आदि की उत्पत्ति का प्रकार भी विरुद्ध नहीं है। अधिष्ठेय पदार्थ में 'अधिष्ठातृ परत्व तत्तेज ऐक्षत' इत्यादि स्थलों में तेज आदि दृष्टान्त द्वारा पहले ही कहा गया है। उसी प्रकार संकर्षण आदि शब्दों का उनके अधिष्ठेयपरक मानकर व्याख्यान में कोई विरोध नहीं हैं। इस प्रकार यह अभिप्राय है कि श्रीवासुदेव से संकर्षण के अधिष्ठेय समष्टि जीवगत स्थूल देहादि योग रूप उत्पत्ति जैसे "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गाः" इत्यादि श्रुति द्वारा वैसा ही अवगत होता है। स्वरूपत जन्म नहीं होता क्योंकि फिर तो अनित्य की आपत्ति हो जायगी। इसी प्रकार कृतनाश अकृताभ्यागम रूप दोष का प्रसंग होगा तथा अजत्व श्रुति का व्याकोप होगा। उसी प्रकार संकर्षण रूप ब्रह्म से प्रद्युम्न में अधिष्ठेय मनोवर्ग की उत्पत्ति तथा प्रद्युम्नाख्य ब्रह्म से अनिरुद्धाधिष्ठित समष्टि अहंकार की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार सभी प्रकार से सामञ्जस्य होता है। श्रुति भी, "नारायणज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" संकर्षण रूप नारायण से तत् कार्य की उत्पत्ति संभव है। यदि कहें कि फिर तो श्रुत के त्याग एवं अश्रुत के ग्रहण का प्रसङ्ग होगा तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। "यथाग्नेः क्षुद्राः" इस श्रुति की व्याख्या में सबकी तुल्यता है। उसी प्रकार आपके मत में भी कोई विशेष बात नहीं है। इसलिए शास्त्र वाक्यों के परस्पर विरोध होने पर उस की व्यवस्था में उक्त दोष का योग नहीं है। और न ही ब्रह्म आदि में व्यूहत्व का कथन संभव है क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ब्रह्म-शिव आदि में तज्जन्यत्व नारायणजन्यत्व तथा तत्प्रदत्त ऐश्वर्य आदि के कारण जीवत्व सामान्य

रूप से है, और यह जो कहा जाता है कि इस शास्त्र में अनेक प्रकार का प्रतिषेध उपलब्ध होता है, गुण गुणत्व कल्पना स्वरूप इसमें ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य, तेज ये गुण हैं। ये सब भगवान् वासुदेव में हैं इत्यादि ऐसा दर्शन होने से वह तुच्छ है। गुण आदि श्रुति सिद्ध होने से स्वाभाविक हैं। जैसा कि श्रुतिवचन है "परास्य शक्तिः" इत्यादि यह भी जो कहा है– "चतुर्वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान्" अर्थात् चारों वेदों में कल्याण का मार्ग प्राप्त न करके शाण्डिल्य ने इस शास्त्र का अध्ययन किया। इस प्रकार वहाँ वेद की निन्दा का दर्शन होने से भी पंचरात्र शास्त्र अप्रमाणित हैं। वह कथन स्वाभाविक है। यह कथन पंचरात्र के प्रशंसा मात्र परक है। जैसे श्रीनारद जी ने भूमविद्या में कहा "ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चम्" ऐसा कहकर आगे कहा "सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्" समुदाय से सम्पूर्ण विद्याओं को कहकर भूमविद्या के अतिरिक्त समस्त विधाओं में आत्मज्ञान के व्यतिरिक्त की बात कही हैं। यह कथन जिस प्रकार प्रकृति भूमविद्या का संशय मात्र है। अथवा सम्पूर्ण विद्याओं के अध्ययन करने पर भी इन शास्त्रों के प्रतिपाद्य परमतत्त्व निर्णय के अप्राप्तनिमित्तक है। अथवा भगवान् नारद जी के सर्वज्ञ होने पर भी समस्त लोगों के उपकारार्थ अवतार होने के कारण अन्यजनों के गुरु समीप गमन के संग्रहार्थक है, न कि वेद विरूद्धख्यापन के लिए। अन्यथा सम्पूर्ण विद्या के स्थान समस्त वेदादि शास्त्रों का वाद प्रसंग हो जायेगा। और भूमविद्या सामवेद का एक भेद होने से वेदान्तान्तर्गत होने के कारण उसके निषिद्धत्व का निषेध होगा। अथवा जैसे "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति। पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्" यहाँ अनुदित होम की निन्दा उदित होम की प्रशंसा के लिए है। उसी प्रकार शाण्डिल्य का वचन भी भक्ति की प्रशंसा के लिए ही है। वेद की निन्दा कहने के लिए नहीं, यह तात्पर्य है। जैसा कि परम संहिता में कहा है "अधीता भगवन् वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः। श्रुतानि च मयाङ्गानि वाकोऽनुवाक्ययुतानि च। न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना क्वचित्। श्रेयोमार्गं प्रपश्यामि येन सिद्धिर्भविष्यति। वेदान्तेषु यदा सारं संगृह्य भगवान्हरिः। भक्तानुकम्पया विद्वान्सञ्चिक्षेप यथा सुखम्" अर्थात् हे भगवन् मैंने सांगोपाङ्ग समस्त वेदों का श्रवण किया। उनके अंगों का भी अध्ययन किया फिर भी संशय रहित सिद्धि जिसके द्वारा प्राप्त होगी, वह कल्याण का मार्ग मैं नहीं देखता हूँ। इसका निश्चय नहीं कर सकता हूँ क्योंकि वे सभी शास्त्र दुरवग्राह होने के कारण दुर्बोध हैं। इसीलिए भगवान् ने अपने भक्तों के ऊपर कृपा करके उनको संशय निराकरण पूर्वक उनको सुगमता के साथ वेदों के तत्त्व को समझाने के लिए जिस प्रकार उन्हें सुख की प्राप्ति हो, ऐसा सोचकर वेदान्त वाक्यों में जो विषय चारों ओर फैलाया हुआ है, उसका सार सम्पूर्ण वेदार्थ का तत्त्व संग्रह करके अपनी अकारण करुणा के वश उसे संक्षिप्त किया। आप कृपया उसे कहिये। इस प्रकार समस्त वेदान्तों के वेद्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के हेतु ब्रह्मा शिवादि देवताओं के मस्तकों पर विराजमान मुकुटों द्वारा वन्दित चरणारविन्दवाले समस्त दोषों से रहित "सार्वज्ञ्यवात्सल्यकारुण्याद्यपरिमितस्वाभाविक– नित्यकल्याणगुणार्णवो मुमुक्षुध्येयो भगवान्परब्रह्माख्यः" श्री वासुदेव ही परमश्रेय ज्ञापक ऋग्वेद, यर्जुवेद, सामवेद तथा अथर्ववेद के विधि निषेधादि पाँच प्रकार के वाक्य समूहों के शब्दतः एवं अर्थतः मेरे निःश्वासरूप होने से

दुर्विज्ञेय होने के कारण, मेरे बिना उसके यथार्थ भाव को समझना देवताओं के लिए भी अशक्य है। उसके यथार्थ ज्ञान के अभाव में कल्याण एवं उसके साधन आदि की सिद्धि नहीं होती। ऐसा निश्चय करके उसके यथार्थ स्वरूप की उत्पत्ति के लिए एवं उसके अधिकारी पुरुषों के अनुकूल पुरुषार्थ सिद्धि के लिए, अपने आश्रित अनन्य जन समूह के लिए, उनके स्वरूप, गुण आदि विषयक तत्त्वज्ञान की उपलब्धि के लिए, भगवान् ने स्वयं उन चारों वेदों की पंचरात्र नामक शास्त्र के रूप में विस्तार पूर्वक व्याख्या की। इस प्रकार इस पंचरात्र शास्त्र में वेदार्थ का भगवान् ने स्वयं ही श्रीमुख से निर्णय किया। इसलिए यह पंचरात्र शास्त्र सर्वांश में पूर्ण प्रमाण है, श्रेष्ठ प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। वास्तव में तो यह अधिकरण शक्तिवाद निराकरण परक ही है। इसमें पंचरात्र के विषय में अप्रामाण्य शंका की गन्ध भी नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्तृजगत् में तत्तत्तशक्तिविशिष्टत्वेनैव तत्तत्तकार्यकर्तृत्व देखा जाता है, शक्ति के बिना नहीं। जिसमें जिस कार्य निरूपित कर्तृत्व होता है, उसमें उसकी शक्ति हेतु होती है। जैसे अग्नि में दाहकर्तृत्व बह्निनिष्ठ दाहशक्ति निमित्तक होती है। मणिमंत्रादि के द्वारा शक्ति के अवरुद्ध होने पर दाह नहीं होता है। इसीलिए शक्ति ही जगत् की जननी हैं। इसलिए ऐसा शाक्त लोग कहते हैं। इस पर कहते हैं। 'उत्पत्यसंभवात्', यहाँ पूर्वसूत्र से न की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् शक्ति विश्व की हेतु नहीं हो सकती है क्योंकि केवल शक्ति से जगत् की उत्पत्ति संभव नहीं है। क्योंकि पुरुष संसर्ग के बिना शक्ति के द्वारा विश्व की उत्पत्ति असंभव है। यदि कहें कि उस शक्ति का पुरुष के साथ संसर्ग है तो इस पर कहते हैं "न च कर्तुः करणम्" अर्थात् कर्त्ता का भी शरीर इन्द्रियादिकरण के अभाव होने से उसमें अनुग्राहकत्व की उपपत्ति नहीं है। करण अंगीकार करने पर पूर्वोक्त दोष का प्रसंग होगा। यदि कहें कि प्राकृत करण के अभाव होने पर भी उसमें स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया, इच्छादि करण है, इस पर कहते हैं कि 'विज्ञानादि भावे वा तदप्रतिषेधः' यहाँ वा शब्द अर्थ में है। उसके विज्ञान आदि भाव में उसका प्रतिषेध नहीं है। तब तो ब्रह्म वाद के अन्तर्गत होने पर विश्वहेतुत्व का प्रतिषेध नहीं होता है। क्योंकि ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। केवल शक्तिकारण वाद तो अतितुच्छ है। इसलिए उपसंहार करते हैं। 'विप्रतिषेधाच्च' अर्थात् श्रुति एवं स्मृति विरोध होने से यह शक्तिवाद कल्याणकारी लोगों के लिए कथमपि आदरणीय नहीं है।।४५।। इस प्रकार उत्पत्यसंभवाधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।८।।

इस प्रकार भगवान् के अवतार श्रीसनन्दनादि मुनि प्रवर्तित श्रीसुदर्शनचक्रावतार १०८ भगवान् श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्र द्वारा उपबृंहित अनादिवैदिक सम्प्रदायानुगत निखिल शास्त्र पारावारीण श्रीकेशवकाश्मीरि भट्ट विरचित वेदान्त कौस्तुभ प्रभा वृत्ति के द्वितीय अध्याय में द्वितीय पाद का दार्शनिक सार्वभौम आबालकृष्णभक्त पं० श्रीभगीरथ झा जी के कृपापात्र शिष्य पं. श्रीवैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

द्वितीय अध्याय

तृतीय पाद

विषय-सूची

द्वितीयाध्याये तृतीयपादारम्भः।

****

अथ वियदधिकरणम्

एवं सर्वस्य जगतः परब्रह्मैककारणत्वं प्रतिष्ठापयता श्रीबादरायणेन साङ्ख्यादिवेदवाह्य-प्रधानादिवादानां युक्त्याभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चासङ्गतत्वमभिधायाथेदानीं वैदिके स्वपक्षे विप्रतिषेधादिदोषगन्धस्पर्शाभावप्रदर्शनायायं परः प्रपञ्च आरभ्यते। तत्र तावदाकाश उत्पद्यते न वेति संशये पूर्वपक्षमाह —

(हिन्दी–अनुवाद)

अब वियत् अधिकरण प्रारम्भ होता है

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् परब्रह्म परमात्मा का ही कार्य है, इस सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित करने वाले भगवान् बादरायण व्यास ने सांख्य आदि वेद बाह्य प्रधान आदि कारण वादों में, दोषपूर्ण युक्ति मूलक होने एवं श्रुति स्मृति द्वारा प्रतिषिद्ध होने, के कारण असङ्गतत्व का प्रतिपादन कर, अब अपने वैदिक सिद्धान्त में किसी प्रकार श्रुति स्मृति विरोधरूप दोष गन्ध का स्पर्शाभाव प्रदर्शन के लिए, यह दूसरा प्रकरण या तीसरा पाद प्रारम्भ करते हैं। यहाँ सर्वप्रथम आ ाश उत्पन्न होता है या नहीं, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष कहते हैं—

न वियदश्रुतेः।।२।३।१।

न खल्वाकाश उत्पद्यते। कुतः? अश्रुतेः। छान्दोग्ये हि सृष्टिप्रकरणे "तत्तेजोऽसृजते" त्यादिना तेजाऽबन्नानां त्रयाणामेव सृष्टिरुक्ता नाकाशस्य।।१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उसकी उत्पत्ति बोधक श्रुति का अभाव है। छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि प्रकरण में "तत्तेजोऽसृजत" (उस परमात्मा ने तेज की सृष्टि की) इत्यादि वचनों द्वारा तेज, जल एवं अन्न आदि तीनों की सृष्टि कही है। आकाश की नहीं।।१।।१ ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अस्ति तु।।२।३।२।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। अस्ति तु वियदुत्पत्ति "रात्मन आकाशः सम्भूत" इति तैत्तिरीयकश्रुतेः।।२।।

नन्वेवं सत्याकाशस्योत्पत्त्यनुत्पत्तिश्रुत्योर्विरोधस्तत्र चावश्यमेका श्रुतिर्गौणी कल्पनीयोभयोः प्रमाणसमुत्वल्वादिति वैशेषिकमतमनुसृत्य पुनश्चोदयति——

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। आकाश की उत्पत्ति वेद में कही गई है- "आत्मन आकाशः सम्भूतः" ऐसा तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है।।२।।

यदि कहें कि इस प्रकार आकाश की उत्पत्ति एवम् अनुत्पत्ति बोधक श्रुति में विरोध होगा। ऐसी स्थिति में अवश्य एक श्रुति को गौण मानना पड़ेगा। क्योंकि दोनों प्रकार के श्रुतियों में प्रामाण्यतुल्यता है। इस प्रकार वैशेषिक मतानुसार पुनः कहते हैं—

गौण्यसम्भवाच्छब्दाच्च।।२।३।३।

आकाशस्योत्पत्तिश्रुतिर्गौणी, यथालोके "आकाशं कुरु जातमाकाशमि" त्युच्यते तद्वत् कुतः? असम्भवात्। समानजातीयैरनेकैर्हि द्रव्यैः परमाणुसङ्घैरेकं भूम्यादिद्रव्यमारभ्यते, न च निरवयवस्य विभोराकाशस्यानेकद्रव्यमारम्भकमवयवभूतं सम्भवति, "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमि"ति वियतोऽमृतत्वशब्दाच्चाप्यजत्वम्। किञ्चाकाशस्योत्पत्तिमत्त्वे "आकाशशरीरं ब्रह्म आकाश आत्मे"ति तस्य ब्रह्मविशेषणत्वं न स्यात्।।३।।

नन्वेकस्मिन्नेव वाक्ये सम्भूतशब्दस्याकाशोत्पत्तौ गौणत्वमुत्तरत्र मुख्यत्वमिति कथं भावनार्हमर्द्धजरतीयन्यायप्रसङ्गादिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

आकाश की उत्पत्ति श्रुति गौण है, जैसे लोक में आकाश को बनाओ, आकाश बन गया इत्यादि गौण प्रयोग होता है क्योंकि आकाश की उत्पत्ति असंभव है। कारण समानजातीय अनेक द्रव्य परमाणु संघों द्वारा एक भूमि आदि द्रव्य का आरम्भ होता है, न कि निरवयव विभु आकाश में अवयवभूत अनेक आरम्भक द्रव्य संभव है। दूसरी बात "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" श्रुति द्वारा आकाश को अमृत कहने से भी उसका अजत्व सिद्ध होता है और आकाश को उत्पत्तिशाली मानने पर 'आकाशशरीरं ब्रह्म आकाश आत्मा' इस श्रुति द्वारा आकाश को ब्रह्म विशेषण माना है, तो यह नहीं हो सकता।।३।।

यदि कहें कि एक ही वाक्य 'तस्माद् एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' में संभूत तेज आदि में मुख्य एवं आकाश में गौण कैसे हो सकता है? इसमें अर्धजरती न्याय का प्रसंग हो जायगा। ऐसा यदि कहें तो इस पर कहते हैं —

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्।।२।३।४।

चशब्दः सम्भावनायाम्। एकस्यापि सम्भूतशब्दस्याकाशे गौणत्वं वाय्वादिषु च मुख्यत्वं स्यात्, ब्रह्मशब्दवत्।।४।।

यथा "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो वै ब्रह्मे" त्यत्र ज्ञानसाधने तपसि ब्रह्मशब्दो गौणो जिज्ञास्ये ब्रह्मणि च मुख्यस्तद्वत् प्रकृतेऽपि सम्भाव्यमिति प्राप्तेऽभिधीयते —

(हिन्दी-अनुवाद)

'च' शब्द संभावना में है। एक ही संभूत शब्द का आकाश में गौणत्व तथा वायु आदि में मुख्यत्व होगा। ब्रह्म शब्द की तरह।।४।।

जैसे "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो वै ब्रह्म" यहाँ ज्ञान साधन तप शब्द में ब्रह्म शब्द गौण और जिज्ञास्य ब्रह्म में मुख्य, इसी तरह यहाँ भी संभव है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः।।२।३।५।

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि" ति "आत्मनि खल्वरे! दृष्टे श्रुते मते ज्ञात" इति सर्वं विदितमिति प्रतिवेदान्तं प्रतिश्रुता या प्रतिज्ञा, तस्याश्च प्रतिज्ञाया आकाशादिसर्वप्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादेयत्वेनोत्पत्त्यऽभ्युपगमेऽनुरोधः स्यात्। उपादेयस्योपादानाऽव्यतिरेकात्, स्वतन्त्रसत्ताभावात्। व्यतिरेके प्रतिज्ञाहानिः। प्रतिज्ञा-नुपरोधान्यथानुपपत्त्याकाशाद्युत्पत्तिर्मुख्यैव। प्रतिज्ञाहानौ वेदस्याप्रामाण्यप्रसङ्गादिति भावः। नाप्युक्तदृष्टान्तः साधीयान् वैषम्यात्। दृष्टान्ते ब्रह्मशब्दस्य पाठभेदादेकस्य मुख्यत्वं द्वितीयस्य च गौणत्वं सूपपन्नम्। प्रकृते तु "सम्भूत" इति शब्दस्य सकृत्पाठादुभयार्थकत्वं महद्विरुद्धमिति सिद्धं दृष्टान्तस्य वैषम्यमित्यर्थः। किञ्च शब्देभ्यः "सदेव सौम्येदमग्र आसीदि"ति सृष्टेः प्रागेकत्वमवधार्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति चेतनाचेतनवस्तुजातस्य तदात्मकतया तदपृथक् सिद्धताविधायकशब्देभ्यः सर्वस्यापि कार्यत्वेन मुख्योत्पत्तेः सम्भवात्।।५।।

नन्वाकाशस्यामृतत्वश्रवणादुत्पत्त्यश्रवणाच्चोत्पत्तिरनुपपन्नेति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्", "आत्मनि खल्वरे! दृष्टे श्रुते मते ज्ञाते" आत्मा को जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है- ऐसा प्रत्येक वेदान्त वाक्य में कहा गया है, ऐसी प्रतिज्ञा की गई है। उस प्रतिज्ञा का आकाश आदि समस्त प्रपञ्च को ब्रह्म का उपादेय मानकर ब्रह्म से उसकी उत्पत्ति स्वीकार करने पर अबाध होगा। कारण उपादेय उपादान से अभिन्न होता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होगी। यदि आकाश को ब्रह्मोपादेय नहीं मानेंगे तो उक्त प्रतिज्ञा की हानि होगी। तप शब्द वाला दृष्टान्त ठीक नहीं है- दोनों में विषमता है, दृष्टान्त में ब्रह्म शब्द का पाठ भेद है इसलिए वहाँ एक में मुख्यत्व दूसरे में गौणत्व संभव है। प्रकृत में संभूत शब्द का एक ही पाठ है इसलिए उसका उभयार्थत्व विरुद्ध है, इस प्रकार दृष्टान्त में विषमता है- दूसरी बात 'शब्देभ्य सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इस

श्रुति द्वारा सृष्टि से पहले जगत् का ब्रह्म के साथ एकत्व बता कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुति द्वारा चेतनाचेतनात्मक समस्त वस्तुजात के ब्रह्मात्मक होने से जगत् की ब्रह्म से अपृथक् सिद्धता विधायक शब्दों द्वारा आकाश आदि समस्त वस्तुओं को कार्य होने से उसकी मुख्य उत्पत्ति संभव है।।५।।

यदि कहें कि आकाश को अमृत कहने तथा उसकी कहीं उत्पत्ति श्रवण न होने से उसकी उत्पत्ति उपपन्न नहीं हो सकती? इस पर कहते हैं—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्।।२।३।६।

तु शब्द उत्पत्त्यसम्भवशङ्कानिवृत्त्यर्थः। यावद्विकारं प्रपञ्चमात्रस्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि"ति श्रुत्या विभाग उत्पत्तिरवगम्यते। लोकवदिति। यथा लोके "देवदत्तस्यैते पुत्रा" इति प्रतिज्ञाय तेषां मध्ये त्रयाणामुत्पत्तिकथने सर्वेषामुत्पत्तिलाभस्तद्वदाकाशोत्पत्तिरपि। यच्चोक्तं निरवयवस्येत्यादि, तन्न, अतीन्द्रियार्थविषयया श्रुत्याऽभिहितेऽर्थे निरवयवत्वादिहेतुकस्यानुत्पत्त्यनुमानस्योदेतुमशक्यत्वात्। प्रत्युताकाश उत्पत्तिविनाशवान्, भूतत्वादनित्यगुणाश्रयत्वाच्चाग्निवत्, व्यतिरेके आत्मवच्चेत्यनुमातुं शक्यत्वात्। अमृतत्वश्रुतेरपि "अमरादेवा आयुर्घृतमि"तिवत् गौणतया बहुकालावस्थितिपरत्वमिति संक्षेपः।।६।। इति वियदधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'तु' शब्द उत्पत्ति के असंभव के निराकरण के लिए है। प्रपञ्च मात्र का "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इस श्रुति के द्वारा 'विभाग' उत्पत्ति ज्ञात होता है। 'लोकवत्' जैसे लोक में देवदत्तस्य एते पुत्रा- ये सब देवदत्त के पुत्र हैं, ऐसी प्रतिज्ञा करके उनमें तीन पुत्रों की उत्पत्ति कहने पर अन्य सभी की उत्पत्ति का लाभ हो जाता है, उसी प्रकार आकाश की उत्पत्ति भी अवगत हो जाती है। यह जो कहा कि निरवयव की उत्पत्ति कैसे? इत्यादि वह भी ठीक नहीं। अतीन्द्रिय विषय श्रुति के द्वारा जब आकाश की उत्पत्ति प्रतिपादित है, तब निरवयवत्व आदि हेतुओं में अनुत्पत्ति का अनुमान नहीं कर सकते। बल्कि आकाश उत्पत्ति विनाश शाली है— क्योंकि वह भूत है, तथा अनित्य गुणाश्रय है। अग्नि की तरह। व्यतिरेक के आत्मा की तरह। ऐसा अनुमान कर सकते हैं। अमृतत्व श्रुति 'अमरा देवा' 'आयुर्वैघृतम्' आदि की तरह गौण प्रयोग है। अथवा आकाश के बहुकाल स्थायित्वपरक है।।६।।

इस प्रकार वियत् अधिकरण पूरा हुआ।

अथ मातरिश्वाधिकरणम्।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः।।२।३।७।

एतेनाकाशोत्पत्तिप्रतिपादनेन वायोरुत्पत्तिरपि प्रतिपादिता भवतीत्यर्थः। "आकाशाद्वायुरि"ति श्रुतेरिति संक्षेपः।।७।। इति मातरिश्वाधिकरणम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब मातरिश्वा अधिकरण प्रारम्भ होता है।

आकाश की उत्पत्ति के कथन से वायु की उत्पत्ति का भी कथन हो जाता है। "आकाशाद् वायुः" ऐसी श्रुति है। इस प्रकार संक्षेप में कहा गया है।।७।।

इस प्रकार मातरिश्वाधिकरण पूरा हुआ।

अथ असम्भावाधिकरणम्।

अथाकाशवाय्वोरमृतत्वश्रवणेऽपि यद्युत्पत्तिरभ्युपगता, तर्हि ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिः किं ? स्यादि ?ति सम्भाव्याह—

अब असम्भावाधिकरण आरम्भ होता है।

आकाश और वायु के अमृतत्व श्रवण होने पर भी यदि उनकी उत्पत्ति मानते हैं तो फिर ब्रह्म की उत्पत्ति क्यों नहीं होगी ? ऐसी संभावना करके कहते हैं—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः।।२।३।८।

तु शब्द उत्पत्तिसम्भावनाव्यावृत्त्यर्थः। सतो ब्रह्मणोऽसम्भवः। जन्माभावः। कुतः ? अनुपपत्तेः उत्पत्त्यश्रवणात्। प्रत्युत "सकारणं कारणाधिपाधिपः, नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इति ब्रह्मणः सर्वकारणत्वमुक्त्वा तदन्यकारणस्य निषेधश्रवणादन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्सर्वश्रुतिव्याकोपाच्च।।८।। इत्यसम्भवाधिकरणम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द उत्पत्ति की संभावना की व्यावृत्ति के लिए है सत् ब्रह्म की उत्पत्ति असंभव है- क्योंकि उसकी उत्पत्ति कहीं श्रुत नहीं है- अपितु 'सकारणं कारणाधिपाधिपः, नचास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" इस प्रकार उसको सबका कारण बताकर उसके अन्य कारण का निषेध किया गया है। अन्यथा अनवस्था का प्रसंग होगा तथा समस्त श्रुतियों का व्याकोप होगा।।८।।

इस प्रकार असंभवाधिकरण पूरा हुआ।

अथ तेजोऽधिकरणम्।

एवं ब्रह्मान्तरेण सर्वस्योत्पत्तिमत्त्वं श्रावितमिदानीं वियदादीनि वाय्वादिकार्यं स्वयमेव स्वतन्त्रत्वेन सृजन्ति उत परमेश्वर एव तत्तदन्तरात्मतया सर्वं कार्यं सृजतीति संशये स्वयमेव स्वतन्त्रत्वेन सृजन्तीति "आकाशाद्वायुरि"त्यादिश्रुतेः परमेश्वराधिष्ठित-त्वाश्रवणाच्चेति पूर्वपक्षयति—

तेजोऽतस्तथा ह्याह।।२।३।९।

अतो वायोस्तेज उत्पद्यते। हि निश्चये। कुतः ? श्रुतिस्तथैवाह "वायोरग्निरि"ति।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब तेजोधिकरण प्रारम्भ होता है-

इस प्रकार ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति कहकर अब वियत् (आकाश) आदि वायु आदि कार्यों को स्वतन्त्र रूप से बनाते हैं अथवा परमेश्वर ही उनके अन्तर्यामी रूप से सब कार्य की सृष्टि करते हैं, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष करते हैं। आकाश आदि स्वयं ही स्वतन्त्र रूप से सृष्टि करते हैं, क्योंकि "आकाशाद् वायुः" ऐसा श्रुति का स्पष्ट वचन है, परमेश्वर से अधिष्ठित होकर सृष्टि करता है, ऐसा श्रवण नहीं है—

इसलिए वायु से तेज की उत्पत्ति होती है। यहाँ हि शब्द निश्चय अर्थ में है, क्योंकि श्रुति वैसे ही कहती है- "वायोरग्निः"।।९।।

आपः।।२।३।१०।

अत इत्युनुवर्त्तते। अतस्तेजसआप उत्पद्यन्त "अग्नेराप" इति श्रुतेः।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अतः शब्द की यहाँ अनुवृत्ति होती है। इस तेज से आप की उत्पत्ति होती है। "अग्नेरापः" ऐसी श्रुति है।।१०।।

पृथिवी।।२।३।११।

"अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते" "ता अन्नमसृजन्त" इति श्रुतेः।।११।।
नन्वन्नशब्दस्यादनीये ब्रीहियवादौ शक्तत्वात्कथं पृथिवीवाचकत्वमित्याशङ्क्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"अद्भ्यः पृथिव्युत्पद्यते" जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। "ता अन्नमसृजन्त" ऐसी श्रुति है।।११।।

अन्न शब्द का भक्षण अर्थ होने पर ब्रीहि यवादि प्राप्त है, पृथिवीवाचक कैसे ? इस पर कहते हैं—

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः।।२।३।१२।

अधिकारश्च रूपं च शब्दान्तरं चेति तेभ्यो हेतुभ्यः अन्नशब्दस्य पृथिवीपरत्वं निश्चीयत इत्यर्थः। तत्र "तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजते"ति महाभूताधिकारदर्शनात् क्रमप्राप्तां

पृथिवीमेव बोधयत्यन्नशब्दः। किञ्च "यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपश्रवणात्, कृष्णं रूपं पृथिव्या एव। "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्ये"ति रूपविभागश्रुतेरित्यर्थः। शब्दान्तराच्च "अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी"ति "तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवदि" ति श्रुतेः।।१२।।

किञ्च पृथिव्या अन्नोत्पत्तिश्रवणादपि कार्यकारणयोरभेदविवक्षया तद्व्यपदेशः सपपन्नः। "पृथिव्या औषधय औषधिभ्योऽन्नमि"ति श्रुतेरिति प्राप्ते राद्धान्तः —

(हिन्दी-अनुवाद)

"अधिकारश्च रूपं च शब्दान्तरं चेति" इस प्रकार द्वन्द्व समास है अर्थात् इन तीन हेतुओं से अन्न शब्द पृथिवी परक है। यहाँ "तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजत" श्रुतियों में महाभूत का अधिकार है (प्रसंग है)। इस प्रकार क्रम प्राप्त पृथिवी ही यहाँ अन्न शब्द बोधक है। और "यत्कृष्णं तदन्नस्य" श्रुति द्वारा उसका रूप श्रवण है। कृष्ण रूप पृथिवी का ही है। "यदग्ने रोहितं रूपम्" वह तेज का लाल रूप है। 'यच्छुक्लम्' जो शुक्ल रूप है वह जल का रूप है। 'यत्कृष्णं' जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है। इस प्रकार रूप विभाग श्रुति द्वारा भी अन्न शब्द पृथिवी का ही वाचक है। शब्दान्तराच्च "अग्नेराप अद्भ्यः पृथिवी"ति "तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्" इत्यादि श्रुत्यन्तर द्वारा भी स्पष्ट रूप से जल से पृथिवी की ही सृष्टि बताई गई है।।१२।।

दूसरी बात पृथिवी से अन्न की उत्पत्ति श्रवण होने से भी कार्यकारण में अभेद विवक्षा से अन्न शब्द से पृथिवी का व्यपदेश होता है। उक्त अर्थ को श्रुति से प्रमाणित करते हैं "पृथिव्या औषधय औषधिम्योऽन्नम्" इत्यादि। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त की बात कहते हैं—

तदभिध्यानात्तु तल्लिङ्गात्सः।।२।३।१३।

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये"ति तदीक्षणबहुभवनसङ्कल्प-स्तदभिध्यानपदार्थः। तदेव तदसाधारणं लिङ्गं तस्मात्स परमेश्वर एव तत्तदन्तरात्मा तत्तत्कार्यस्य स्रष्टेति निश्चीयते "य आकाशे तिष्ठन्नि" त्यादिश्रुतेः। एतेन "तत्तेज ऐक्षते" त्यादिश्रुतेरपि मुख्यार्थपरत्वं निरूपितम्। तत्रापि पूर्वोक्तरीत्या परस्यैवेक्षण-विधानात्।।१३।। इति तेजाऽधिकरणम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" यहाँ ईक्षण तथा बहुभवन संकल्प उसका अभिध्यान पदार्थ है अर्थात् अनेक रूपों में हो जाने का विचार किया संकल्प किया। यही यहाँ असाधारण लिङ्ग जो तत्तेज में तेज पदार्थ परमात्मा ही है और वही

तत्-तत् तेज आदि की अन्तरात्मा अन्तर्यामी होकर जलादि कार्यों का स्रष्टा है। जैसा कि श्रुतिवचन है "य आकाशे तिष्ठन्" इत्यादि। इसी से "तत्तेज ऐक्षत" इत्यादि श्रुतियों में मुख्यार्थ (परमेश्वर) का निरूपण होता है। वहाँ पूर्वोक्तरीति से परमात्मा का ही ईक्षण हैं।

यह तेज अधिकरण पूरा हुआ।

अथ विपर्ययाधिकरण्

अथ लयप्रकारमाह—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च।।२।३।१४।

तुशब्दः कारणलयपूर्वककार्यलयवादितार्किकादिपक्षव्यावृत्त्यर्थः। उपादानलय उपादेयस्थित्यसम्भवात् सृष्टिक्रमाद्विपर्ययेण प्रातिलोम्येन लयक्रमो बोध्यः। तत्र हेतुः, 'अत उपपद्यते चे'ति। अत आप्यस्य हिमकरकादेरब्भावापत्तेर्दर्शनात् उपपद्यते च। यस्माद्यस्योत्पत्तिस्तत्रैव तस्य लय उपपद्यते, नान्यथेति। "अन्नेन सौम्य! शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छे" त्यादिश्रुतेः। "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च। मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते। नास्ति तस्मात्परतरः पुरुषाद्वै सनातनादि" त्यादि स्मृतेश्च। एतेन तदाहुः" किं तदासीत्तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदि"ति "तस्मात्तमः सञ्जायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी तदण्डमभवदि"ति सुबालोपनिषच्छ्रुतिस्तत्र तम आकाशयोर्मध्येऽक्षराव्यक्तमहद्भूतादितन्मात्रेन्द्रियाणि क्रमतो ज्ञेयानि। "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुराकाशे विलीयते आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते। भूतादिर्महति विलीयते, महानव्यक्ते विलीयते, अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति, परस्मान्न सन्नासन्न सदसदि" त्यग्रिमलयवाक्यानुरोधात्। "सहोवाच तं ह वै पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्तस्मादव्यक्तमव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महान्महतो वाऽहङ्कारस्तस्मादहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि तैरावृतमक्षरं भवती"ति गोपालोपनिषच्छ्रुतिश्च व्याख्याता। तथा हि सृष्टेः पूर्वमविनाशिवस्तु किमासीदिति शिष्यवर्गेण पृष्टो गुरुस्तस्मै ह स्फुटमुवाच। सृष्टेः प्राक् यद्वस्त्वासीत्तत्सत्स्थूलं तेजोऽबन्नरूपं नासीत्, असत्सूक्ष्मं प्रधानादिरूपं च नासीत्, सदसद्वायुरूपं च नासीत्, तर्हि किमासीदिति चेत्? तत्तद्विलक्षणं सूक्ष्मशक्तिकं ब्रह्मैवासीदिति शेषः। तस्माद्ब्रह्मणस्तमः संजायते गुणसाम्यावस्थं प्रधानं समजायतेत्यर्थः। ततोऽक्षरं सञ्जायते। गुणसाम्यावस्थं प्रधानमेव गुणक्षोभावस्थमभवत्। ततोऽव्यक्तं संजायते, गुणक्षोभावस्थं प्रधानमेव कार्योन्मुख्यावस्थमभवत्, गुणसाम्यगुणक्षोभकार्योन्मुख्यावस्थाभेदेन तमोऽक्षरमव्यक्तमिति प्रकृतेरेवावस्थात्रयं "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययावि"ति

स्मृतेः। "अव्यक्तात्त्रि- विधोमहान्महतस्त्रिविधोऽहङ्कारः, सात्त्विकात्तस्मादिन्द्रियाधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च, राजसादिन्द्रियाणि, तामसात्तत्तन्मात्रद्वारा खादीनि संहतैरेतैरण्डं, तत्र हिरण्यगर्भपुरुषस्तत्र तदन्तर्यामिनारायणस्तन्नाभिपद्मे वैराजस्य भोगविग्रहश्चतुर्मुखः, ततः क्षेत्रज्ञानां स्थूलदेहसंयोगेन यथावसरं जन्मेति सृष्टिक्रमस्तद्विपर्ययेण लयक्रमो ज्ञेयः। तथाहि पृथिवी गन्धतन्मात्रद्वारा अप्सु प्रलीयते, आपो रसतन्मात्रद्वारा तेजसि, तेजो रूपतन्मात्रद्वारा वायौ, स च स्पर्शतन्मात्रद्वारा व्योम्नि, आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादावि" त्यत्र पाठक्रमादर्थक्रमस्य वलीयस्त्वेनाकाश-स्तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ तामसाहङ्कारे इत्यन्वयः। तन्मात्रेष्विति बहुवचनं पृथिव्यादीनां गन्धादितन्मात्रद्वारा लयप्रदर्शनार्थम्। इन्द्रियाणीन्द्रियेषु कार्यकारणयोरभेदेनेन्द्रियेषु राजसाहङ्कारे दशेन्द्रियाणि लीयन्ते। इन्द्रियेष्विति बहुवचनात्सात्त्विकाहङ्कारे तदधिष्ठात्र्यो देवता मनश्च लीयते, भूतादिस्त्रिविधोऽहङ्कारो महति, महानव्यक्ते प्रधाने, ऽव्यक्तमक्षरे, प्रधानमेव कार्योन्मुख्यावस्थां परित्यज्य गुणक्षोभावस्थं भवति। अक्षरं तमसि प्रधानमेव गुणक्षोभावस्थां परित्यज्य गुणसाम्यावस्थं भवति, तमः परे देवे एकीभवति, तमः प्रकृतिः पुरुषेण सह परे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे लीयत इत्यर्थः। "प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनी"ति वैष्णवात्। गोपालोपनिषच्छुत्यर्थस्तु तस्माद् ब्रह्मणोऽव्यक्तं प्रधानमासीत्, अव्यक्तमेवेति एवकारोऽयोगव्यवच्छेदार्थम्, यदव्यक्तं तदैवाक्षरशब्दवाच्यं, यद्वा यदव्यक्तं तदक्षरं ब्रह्मैव शक्तितद्वतोरभेदात्। तस्मादक्षराद्ब्रह्माधिष्ठितात् व्यक्तान्महानिति शेषं प्राग्वत्। तैः पञ्चीकृतैः भूतैरक्षरं जीवरूपमावृतं भवति तन्निमित्तस्थूलशरीरवान्भवतीति सृष्टिक्रमस्तद्व्युत्क्रमेण लयक्रम इति संक्षेपः।।१४।। इति विपर्ययाधिकरणम्।।५।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब लय का प्रकार बताते हैं।

तु शब्द से कारणलयपूर्वक कार्यलयवादी तार्किक आदि के पक्ष की व्यावृत्ति होती है। उपादान के लय हो जाने पर उपादेय की स्थिति असंभव है। इसलिए सृष्टि क्रम से विपरीत प्रतिलोभ भाव से लय का क्रम समझना चाहिए। इसमें हेतु है 'अत उपपद्यते च' इसलिए जैसे जल के कार्य हिम बरफ आदि का जल में ही लय होता देखा गया है ऐसा ही उपपन्न होता है। जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, उसी में उसका लय होता है, अन्यथा नहीं। जैसा कि श्रुति का वचन है "अन्नेन सौम्य! शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ" तथा "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते। ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते, खे वायुः प्रलयं याति मनस्याकाशमेव च। मनो हि परमं भूतं तदव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्त तम से उत्पन्न भूतादि, भूतादि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी इस प्रकार ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। ऐसा सुबालोपनिषत् श्रुति का वचन है। यहाँ तम और आकाश के मध्य में

अक्षर अव्यक्त, महद्भूतादि तथा तन्मात्राएँ क्रमशः जानने चाहिए। क्योंकि "पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि प्रलीयन्ते, तेजो वायौ विलीयते, वायुराकाशे विलीयते आकाशमिन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते। भूतादिर्महति विलीयते, महानव्यक्ते विलीयते, अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति, परस्मान्न सन्नासन्न सदसद्" इस अग्रिम लय वाक्य के अनुरोध से वैसा ही मानना पड़ेगा। "स होवाच तं ह वै पूर्वं ह्येकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत्तस्मादव्यक्तमव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महान्महतो वा अहङ्कारस्तस्माद-हङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि तेभ्यो भूतानि तैरावृतमक्षरं भवति" यह श्रीगोपालतापिनी श्रुति भी व्याख्यात हुई। सृष्टि से पूर्व अविनाशी वस्तु कौन थी, यह प्रश्न शिष्य वर्ग द्वारा पूछने पर गुरु ने उसे स्पष्ट रूप से कहा, सृष्टि से पूर्व जो वस्तु थी, वह स्थूल तेज जल तथा अन्न रूप नहीं थी। असत् सूक्ष्म प्रधान आदि रूप भी नहीं थी। सत् असत् वायु रूप भी नहीं थी, तब क्या थी, ऐसा कहें तो उसका उत्तर है, वह उन सबसे विलक्षण सूक्ष्म शक्ति विशिष्ट ब्रह्म ही था। उस ब्रह्म से तम उत्पन्न होता है अर्थात् गुणसाम्यावस्थापन्न प्रधान होता है। उससे अक्षर अर्थात् गुण साम्यावस्थापन्न प्रधान ही गुण क्षोभावस्थापन्न होता है। उससे अव्यक्त गुणक्षोभावस्थापन्न प्रधान ही कार्योन्मुख अवस्थापन्न होता है। गुणसाम्य, गुणक्षोभ तथा कार्योन्मुख अवस्था भेद से तम, अक्षर तथा अव्यक्त- ये तीनों प्रकृति की ही तीन अवस्थाएँ हैं। जैसा कि स्मृति वचन है "प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः। क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ" इति। अव्यक्त से तीन प्रकार का महान् (महत्तत्व), महत्तत्व से त्रिविध अहंकार इनमें सात्विक अहंकार से इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता तथा मन, राजस अहंकार से समस्त इन्द्रियाँ और तामस अहंकार से तन्मात्रा द्वारा पञ्चमहाभूत तथा इनके सबके समूह से ब्रह्माण्ड। उसमें हिरण्यगर्भ पुरुष, उसमें उसके अन्तर्यामी नारायण, उनमें नाभिपद्म में भोग विग्रह चतुर्मुख ब्रह्मा। उससे क्षेत्रज्ञ जीवों का स्थूल देह के संयोग द्वारा अवसर के अनुसार जन्म होता है, यह सृष्टि का क्रम है। इसके विपरीत लय का क्रम जानना चाहिए, जैसे पृथिवी गन्धतन्मात्रा द्वारा जल में, जल रसतन्मात्रा द्वारा तेज में, तेज रूपतन्मात्रा द्वारा वायु में, वायु स्पर्शतन्मात्रा द्वारा आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में तन्मात्रा भूत आदि में। यहाँ पाठक्रम से अर्थ क्रम के बलवान् होने के कारण अवकाश का तन्मात्राओं में और तन्मात्रों का तामस अहंकार में लय होता है ऐसा अन्वय है। तन्मात्र शब्द में बहुवचन पृथिवी आदि का गन्ध आदि तन्मात्राओं द्वारा लय प्रदर्शन के लिए है। इन्द्रियाणि इन्द्रियेषु कार्यकारण में अभेद होने से इन्द्रियेषु अर्थात् राजस अहंकार में दश इन्द्रियाँ विलीन होती है। 'इन्द्रियेषु' के बहुवचन होने से सात्विक अहंकार में इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता तथा मनका लय होता है। भूतादि त्रिविध अहंकार महत्तत्व में लीन होता है। महान् अव्यक्त में प्रधान में, अव्यक्त अक्षर में, प्रधान ही कार्योन्मुख्य अवस्था का परित्याग करके गुण

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। (जीवात्मा) महतः परम व्यक्त (माया) मव्यक्तात् पुरुषः (परमात्मा), पुरुषान्न पर किञ्चित् सा काष्ठा सापरागतिः" (सं)

साम्यावस्थापन्न होता है। तमः परम देव परमात्मा में लीन होता है। "प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि" ऐसा वैष्णव शास्त्र का वचन है। श्रीगोपालतापिनी श्रुति का अर्थ तो, उस ब्रह्म से अव्यक्त प्रधान हुआ। 'अव्यक्तमेव' में एवकार अयोग व्यवच्छेयार्थ है। जो अव्यक्त है वही अक्षर शब्दवाच्य है। अथवा जो अव्यक्त है वह अक्षर ब्रह्म ही है क्योंकि शक्ति एवं शक्तिमान् में अभेद होता है। इसलिए ब्रह्म अधिष्ठित से महत्तत्व होता है। शेष पूर्ववत् समझना चाहिए। उन पञ्चीकृत भूतों द्वारा जीव रूप अक्षर आवृत होता है। तन्निमित्तक स्थूल शरीरवान् होता है, यह सृष्टिक्रम है। इससे विपरीत क्रम से लय होता है, इस प्रकार संक्षेप में यह कहा गया है।।१४।।

इस प्रकार विपर्यय अधिकरण पूरा हुआ।।५।।

अथ अन्तराविज्ञानमनस्याधिकरणम्।

एवं ब्रह्मणः सकाशाद्भूतानामनुलोमप्रतिलोमभ्यां सृष्ट्यप्ययक्रमौ निरूपिताविदानी-मिन्द्रियमनोबुद्धीनां क्रमो भूतक्रमाविरोधेन प्रतिपाद्यते–

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्।।२।३।१५।

विज्ञानशब्देन विज्ञानसाधनत्वादिन्द्रियं बुद्धिश्च गृह्यते, तदुभयं मनश्चेति विज्ञानमनसी। ब्रह्मणो भूतानां चान्तराले विज्ञानमनसी स्यातां, तयोरपि क्रमेण तत्रैवोत्पत्तिलयावुपसंग्राह्यौ, सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वाभ्युपगमात् तल्लिङ्गात् "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे" त्यादिलिङ्गात्। ततो भूतानां पूर्वोक्तोत्पत्तिप्रलयक्रमभङ्गप्रसङ्ग इति चेत्तत्परिहरति। नाविशेषादिति। "एतस्माज्जायते प्राण" इत्यनेन ब्रह्मणः सकाशादेव विज्ञानमनसोः खादीनां चोत्पत्तेरविशेषात्। तथा च दर्शयति श्रुतिः "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽन्नमि" ति सादृश्यमात्रपरा हीयं श्रुति "ऐतस्माज्जायते" इति न श्रुत्यन्तरसिद्धक्रमपरा। भूतानुग्रहसापेक्षत्वाच्चेन्द्रियाणां क्रमो न विरुद्ध्यते, भूतानुग्रहं च दर्शयति "अन्नमयं हि सौम्य मन, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि" ति संक्षेपः।।१५।। इत्यन्तराविज्ञानमनस्यधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार ब्रह्म से समस्त भूतों की सृष्टि एवं प्रलय के क्रम बताये गये। अब इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि का क्रम भूतक्रम के अविरोध से कहते हैं- "अन्तरा विज्ञानमनसी।"

यहाँ विज्ञान शब्द से विज्ञान में साधन इन्द्रिय तथा बुद्धि का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इन्द्रिय, बुद्धि एवं मन 'विज्ञानमनसी' शब्द से गृहीत होते हैं। ब्रह्म एवं भूतों के मध्य में विज्ञान और मन लिए जाते हैं। विज्ञान एवं मनका भी क्रमशः उसी में उत्पत्ति एवं लय करना चाहिए, क्योंकि सब कुछ ब्रह्म के कार्य माने गये हैं। इसका प्रत्यक्ष लिङ्ग है

"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादि। इससे पूर्वोक्त उत्पत्ति एवं प्रलय क्रम के भङ्ग का प्रसङ्ग होगा, ऐसा कहें तो इसका परिहार करते हैं "न विशेषात्" इस पर श्रुति प्रमाण दिखाते हैं "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियमनोऽन्नम्" इति यह सादृश्य मात्र परम श्रुति है। "एतस्माज्जायते" यह श्रुति अन्य श्रुति द्वारा प्रतिपादित क्रम परक नहीं है। इन्द्रियों के भूतानुग्रह सापेक्ष होने के कारण क्रम में विरोध नहीं होता है। भूतों का अनुग्रह दिखाते हैं- "अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमय प्राणस्तेजोमयी वाक्" इस प्रकार संक्षेप में कहा गया है।।१६।।

इस प्रकार अन्तराविज्ञानमनसी अधिकरण पूरा हुआ।।६।।

अथ आत्माधिकरणम्

अथ जीवात्मनो जन्मादयः सन्ति न वा किं तावत्प्राप्तं सन्तीति। कुतः ? देवदत्तो जातोऽस्ति मृत इत्यादि प्रतीतेः। अत्र राद्धान्तः ——

चराचरव्यपाश्रयस्तुस्यत्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्।।२।३।१६।

तस्य जीवस्योत्पत्त्यादिव्यपदेशो भाक्तो वाच्यैकदेशे भज्यत इति तथा औपचारिक इत्यर्थः। तर्हि किं विषयकोऽयं मुख्यो व्यपदेश इत्याशङ्क्याह। चराचरव्यपाश्रय इति। चराचरशरीरमाश्रित्य जन्मादिव्यपदेशस्य प्रवृत्तिर्नात्मस्वरूपमुपदिश्येत्यर्थः। कुतः ? तद्भावे शरीरभावे जन्ममरणयोर्भावित्वात्। "स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन्म्रियमाण" इति स्थूलशरीरसंयोगवियोगयोरेव जन्मादिपदार्थत्वश्रवणादित्यर्थः।।१६।।

नन्वग्निविस्फुल्लिङ्गादिदृष्टान्तैरात्मजन्मादेः श्रूयमाणत्वात्कथं भाक्तत्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते——

(हिन्दी-अनुवाद)

अब आत्माधिकरण प्रारम्भ होता है।

अब विचार करते हैं कि जीवात्मा की उत्पत्ति आदि होती है या नहीं। प्राप्त क्या है ? तो कहते हैं, क्योंकि देवदत्त उत्पन्न हुआ है, मर गया, इत्यादि प्रतीति होती है। इस विषय में सिद्धान्त कहते हैं——

जीव की उत्पत्ति आदि विषयक व्यवहार भाक्त (गौण) है। अर्थात् औपचारिक है। तब किस विषय में यह मुख्य हैं, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं 'चराचरव्यपाश्रयः' चराचर शरीर को आश्रय करके जन्म-मरण आदि व्यवहार की प्रवृत्ति है, न कि आत्मस्वरुप को उद्देश्य करके। क्योंकि शरीर में ही जन्म-मरण का सद्भाव होता है "स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन्म्रियमाणः" अर्थात् आत्मा के नये शरीर ग्रहण करने पर

जन्म, भावी स्थूल शरीर के संयोग में जन्म एवं उसके वियोग में मरण का व्यवहार होता है, आत्मा न जनमती है और ही मरती है।।१६।।

यदि कहें कि "यथाग्नेविस्फुल्लिङ्गा प्युच्चरन्ति" जैसे अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार परमात्मा अक्षर ब्रह्म से जीवात्मा निकलती है, इत्यादि दृष्टान्तों से जीवात्मा में जन्म आदि के सुने जाने से जन्म आदि का प्रयोग कैसे भाक्त (गौण) है? ऐसी आशङ्का करके समाधान करते हैं—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः।।२।३।१७।

आत्मा जीवात्मा स्वरूपेण नोत्पद्यते। कुतः? "अश्रुतेः" सृष्टिप्रकरणेषु तज्जन्मादेरश्रवणा दुक्तश्रुतेः पूर्वोक्तरीत्या भाक्तत्वमेव। किञ्च तस्य ताभ्यः श्रुतिभ्य एव नित्यत्वावगमात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः, अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराण" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। न चैवमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्ग इति वाच्यम्। तस्य तदात्मकत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वाभ्युपगमात्स्वतन्त्रसत्ताना- श्रयत्वाच्चेति संक्षेपः।।१७।। इत्यात्माधिकरणम्।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

आत्मा स्वरूपतः उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि अश्रुतेः सृष्टि प्रकरणों में आत्मा की उत्पत्ति की बात कहीं नहीं सुनी गई है। उक्त श्रुति द्वारा पूर्वोक्त रीति से उत्पत्ति कथन भाक्त ही हैं। अपितु जीवात्मा की उन श्रुतियों द्वारा नित्यत्व का अवगम होता है। "न जायते म्रियते वा विपश्चित्, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्, अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः, अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों द्वारा आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। यदि कहें कि आत्मा नित्य है (ब्रह्म से उत्पत्ति नहीं है) फिर एक विज्ञान से सर्वविज्ञान प्रतिज्ञा का भङ्ग होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। जीवात्मा में ब्रह्मात्मकत्व ब्रह्म का व्याप्यत्व तदधीन स्थितिप्रवृत्तिनिमित्तकत्व होने से उसमें ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध शक्ति स्वीकार करने एवं स्वतन्त्र सत्ताश्रय न होने से उक्त प्रतिज्ञा का भङ्ग नहीं होगा। यह संक्षेप में कहा गया है।।१७।।

इस प्रकार आत्माधिकरण पूरा हुआ।।७।।

अथ ज्ञाधिकरणम्

अथ किं प्रत्यगात्मस्वरूपमित्यपेक्षायां तन्निर्णीयते तथाहि स किञ्चार्वाकाभि- मतदेहरूप उत [2]दिगम्बराभिमतदेहातिरिक्तपरिमाणकोवा? [3]लोकायतिकाभिमतभूत-

चतुष्टयसमुदायो वा? [५]वैभाषिकाभिमतक्षणिकबाह्यार्थो वा? [६]योगाचाराभिमतक्षणिक-विज्ञानमेव वा? [७]माध्यमिकाभिमतशून्यमेव वा? [८]इन्द्रियाण्येव वा? [९]मनोबुद्धिर्वा? [१०]प्राणो वा? [११]तार्किकाभिमतदेहेन्द्रियाद्विभिन्नो ज्ञानेच्छादिप्रयत्नाद्याश्रयो विभुः प्रतिदेहं भिन्न आगन्तुकचैतन्यगुणोवा? [१२]साङ्ख्याद्यभिमतचिन्मात्रमेव वा? [१३]देहादिभिन्नो ज्ञानस्वरूपो ज्ञातृत्वादिधर्म्माश्रयो वेऽति। तत्र नाद्यो देहे मृते चैतन्यानुपलब्धेः। देहो नात्मा भौतिकत्वात् घटादिवदित्यनुमानात्। न द्वितीयो नित्यत्वापत्तेर्देहपरिमाणको नात्मा सावयवत्वात् घटादिवत्। न तृतीयः संघातत्वात्, भूतचतुष्कसमूहो नात्मा संघातत्वात् व्रीह्यादिराशिवत्। न तुर्य्यो भौतिकत्वात्, क्षणिकबाह्यार्थो नात्मा जडत्वात् घटादिवत्। न पञ्चमः क्षणिकत्वात्, क्षणिकविज्ञानं नात्मा क्षणिकत्वात् शब्दादिवत्। न षष्ठः शून्यं नात्मा जडत्वादाकाशवत्। न सप्तमः स्वापादौ तल्लयात्। इन्द्रियवर्गो नात्मा सर्वावस्थाऽननुगतत्वात् देहवत् करणत्वाद्वास्यादिवच्च। नाष्टमो मनो बुद्धिश्च नात्मान्तःकरणत्वाद्बाह्यकरणवत्। न नवमो जडत्वात्, सुषुप्तौ चौरादिभिर्भूषणादौ मुषिते चैतन्याभावेनाऽननुभूयमानत्वात्। प्राणो नात्मा वायुत्वात् व्यजनजन्यवायुवदित्यनुमानेभ्यो, देहादिबुद्धिपर्यन्तः पदार्थो यद्यनात्मा न स्यात्तर्हि घटादिवद्ध्वंसाभावप्रतियोग्यपि न स्यात्, प्रत्यक्षगृहीतध्वंसाभावप्रतियोगित्वान्यथानुपत्त्यापि देहादेरनात्मत्वमेवमग्रेऽप्यूह्यम् इन्द्रियमनोबुद्ध्यादयो यद्यनात्मभूता न स्युस्तर्हि वास्यादिवज्जाग्रदादिसर्वावस्थाननुगता न स्युः, प्राणो यदि बाह्यवायुवज्जन्यो न स्यात् तर्हि घटादिवदचेतनोऽपि न स्यादित्याद्यर्थापत्तिभ्यश्च। नापि दशमोऽसम्भवात्। तथाहि आत्मनो विभुत्वे चैत्रचरणप्रविष्टकण्टकादिजन्यदुःखानुभवकाले सर्वेषामप्यात्मनां तत्र सत्त्वेन वेदनानुभवप्रसक्तेस्तत्र विनिगमनाभावेनासम्भावितत्वाऽवगमात्। न च यस्य शरीरे कण्टकवेधादि तस्यैव वेदनानुभवो नान्येषामिति व्यवस्थाङ्गीकारान्नोक्तदोषप्रसङ्ग इति वाच्यम्, सर्वेषां सान्निध्याविशेष एकस्यैवानुभवो नान्येषामिति नियन्तुमशक्यत्त्वात्। नच यददृष्टोत्पादितं शरीरं तत्तदीयमिति नियम इति वाच्यम्। अदृष्टस्याप्युक्तन्यायेन नियामकत्वासम्भवात्। यदा हि तादृशादृष्टोत्पादनायैकेन संयुज्यते मनस्तदान्यैरपि मनोयोगस्याविशेषात्। कथमिव कारणसाधारणे क्वचिदेवादृष्टोत्पत्तिर्नान्यत्रेति। ननु मनःसंयोगासाधारण्येऽपि अहमिदं फलं प्राप्स्यामीत्यभिसन्धिरदृष्टोत्पादककर्मानुकूल-कृतिरित्येवमादिव्यवस्थानमिति तत एवादृष्टनियमो भविष्यतीति चेन्न, अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणमनः संयोगनिष्पाद्यतया व्यवस्थित्यसिद्धेः। ननु स्वकीयमनस्संयोगोऽभि-सन्ध्यादिकारणमिति मनस्संयोग एवासाधारणो भविष्यतीति चेन्न, नित्यं सर्वात्मसंयुक्तं मनः कस्य चिदेवेति नियन्तुमशक्यत्वात्। न चादृष्टविशेषादात्मविशेषेण मनसः स्वस्वामिभावसिद्धिरितिवाच्यम्, तस्याप्यदृष्टस्य पूर्ववद्व्यवस्थित्यसिद्धेः। न चात्मनां विभुत्वेऽपि तेषां प्रदेशविशेषा एव बन्धभाज इत्यात्मान्तराणां चैत्रशरीरे तत्प्रदेशविशेषाभावात् सुखदुःखादिव्यवस्था भविष्यतीति वाच्यम्। यस्मिन्प्रदेशे चैत्रः सुखाद्यनुभूय

तस्माद्देशादपक्रान्तस्तस्मिन्नेव मैत्रे समागते सति तस्यापि तत्र सुखादिदर्शनेन शरीरान्तर आत्मान्तरप्रदेशविशेषस्याप्यन्तर्भावात्। तस्माद्विभुब्रह्मात्मवादितार्किकादीनां व्यवस्था सुदुर्घटेति संक्षेपः। नाप्यागन्तुकश्चैतन्यगुणः। एवं हि ते मन्यन्त आत्मनश्चैतन्यमात्ममनःसंयोगजमग्नि-घटसंयोगजरोहितादिगुणवत्। नित्यचैतन्यत्वे हि सुप्तमूर्च्छितग्रहाविष्टानामपि चैतन्यं स्यादतः कादाचित्कचैतन्यत्वादागन्तुकचैतन्य आत्मेति तन्न। "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवती"ति "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादि" त्यादिश्रुतिविरोधात्। सुप्तमूर्च्छादौ तु सदेव ज्ञानं कर्मणा संकुचितमनोभिव्यक्तमपि जागरादौ विकाशितमभिव्यज्ज्यत इति न विरोधः। यथा वियदाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात्, तद्वत् प्रत्यगात्मा ज्ञानस्वरूपः चेतनत्वात् स्वप्रकाशत्वादचिद्भिन्नत्वाच्च ब्रह्मवत्। प्रत्यगात्मा यदि ज्ञानस्वरूपो न स्यात्तर्हि देहादिप्रकाशकोऽपि न स्यात् "योऽयं विज्ञानघन" इति श्रुते, रेतेन मीमांसकपक्षोऽपि निरस्तो दोषतुल्यत्वात्। इयांस्तु विशेषः तन्मते आत्मवन्मनसामपि विभुपरिमाणकत्वमिति तथा च तत्रापि सर्वैर्मनोभिः सर्वेषां जीवात्मनां संयोगादेः साम्यम्। किञ्चात्मवत् सर्वैरपि चक्षुरादिभिरिन्द्रियैः साकं मनस्संयोगस्य साम्यात्, श्रवणस्पर्शनादिज्ञानानां युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गो दुर्बार इति दोषविशेषश्चिन्तनीयः। दुग्धादिभिर्द्रव्यैर्मनोयोगस्य युगपत्सद्भावात्। नच श्रावणादिज्ञाने श्रवणादिभिरिन्द्रियैः शब्दादियोगस्यासाधारणहेतुत्वात् मनोभिर्विषयसन्निकर्षेऽपि ज्ञानानुत्पत्तिः सुवचेति वाच्यम्। मनसामिन्द्रियैर्नित्यसंगोगस्य सत्वेनेन्द्रियसंयुक्त- मनसां विषयसन्निकर्षाविशेषात्। किञ्चअस्तु वा कयाचित्कूटकल्पनया सुषुप्त्यादौ वाह्यश्रवणादिज्ञानानुत्पत्तिमनोविषयसंयोगस्य सत्त्वेऽपि तत्रेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् तथापि जाग्रदादौ इन्द्रियसंयुक्तमनसां शब्दादिभिर्नित्यसंयोगस्य दुर्बारत्वेन शब्दादित्वावच्छिन्नशब्दादिमात्रविषयकज्ञानस्योत्पत्तेरवश्यंभावात्,मनस्त्वावच्छिन्नैर्मनइन्द्रियसंयोगाभावेऽपि शब्दादित्वावच्छिन्नविषयस्मरणस्य सदा सद्भावापत्तेश्चेत्यलं विस्तरेण। नापि चिन्मात्रवेति पक्षः सम्भवति "विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्, जानात्येवायं पुरुषः, एष एव हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष" इत्यादिश्रुतिव्याकोपात्। तस्माच्चरम एव पक्षः सूत्रकाराभिमत इत्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अब ज्ञाधिकरण प्रारम्भ होता है।

अब उस जीवात्मा का क्या स्वरूप है, इसका निर्णय करते हैं। क्या वह [1]चार्वाक मतानुसार देह रूप है अथवा [2]दिगम्बर जैन मतानुसार देह से अतिरिक्त देह परिमाण वाला है, किं वा [3]लोकायत सिद्धान्तानुसार भूतचतुष्टय समुदाय रूप है या[4] वैभाषिक मत के अनुसार क्षणिक बाह्यार्थ है, अथवा [5]योगाचार सिद्धान्तानुसार क्षणिक विज्ञान ही है या [6]माध्यमिक वाद के अनुसार शून्य स्वरूप है, [7]इन्द्रिय है [8]मन है या बुद्धि किंवा [9]प्राण अथवा तार्किकसिद्धान्तानुसार

[10]देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि गुणों के आश्रय विभुपरिमाणयुक्त प्रतिदेह में आगन्तुक चैतन्य गुण वाला है अथवा [11]सांख्य मतानुसार चिन्मात्र है या [12]देहादि से भिन्न ज्ञान स्वरूप ज्ञातृत्व आदि धर्माश्रय है? यहाँ पहला पक्ष नहीं कह सकते, देह के मरने पर चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती और देहो नात्मा भौतिकत्वात्, देह आत्मा नहीं है क्योंकि वह भौतिक है, घटादि की तरह, इस अनुमान से देह आत्मा सिद्ध नहीं होता। दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं, उसमें अनित्यत्वापत्ति है। देह परिमाण वाला आत्मा नहीं है सावयव होने से घटादि की तरह। तीसरा भी नहीं कह सकते संघात होने से। भूतचतुष्क समूह आत्मा नहीं है संघात होने से, ब्रीहि आदि (धान्य समूहों की) राशि की तरह। चौथा वैभाषिक मत भी नहीं कह सकते। भौतिक होने से क्षणिक बाह्यार्थ आत्मा नहीं है, जड़ होने के कारण घटादि की तरह। योगाचार का पाँचवाँ सिद्धान्त भी सही नहीं है। क्षणिक होने के कारण, क्षणिक विज्ञान आत्मा नहीं है क्षणिक होने से शब्द आदि की तरह। छठा माध्यमिक मत भी युक्त नहीं, जड़ होने के कारण आकाश की तरह। सातवां इन्द्रिय आत्मा नहीं क्योंकि स्वप्न में उनका लय हो जाता है। इन्द्रिय वर्ग आत्मा नहीं है सर्वावस्था में वह अनुगत नहीं होता, देह की तरह, करण होने से कुठार आदि की तरह। आठवां मन और बुद्धि भी आत्मा नहीं, अन्तःकरण होने से बाह्यकरण की तरह। नौवां भी नहीं, जड़ होने से। सुषुप्ति में चोर आदि के द्वारा भूषण आदि के अपहृत होने पर चैतन्य के अभाव के कारण अनुभव न होने के कारण। प्राण आत्मा नहीं है। वायु होने के कारण पंखे की हवा की तरह इत्यादि अनुमानों द्वारा देह से लेकर बुद्धि पर्यन्त पदार्थ यदि अनात्मा नहीं, तब घटादि की तरह ध्वंसाभाव का प्रतियोगी भी नहीं है। प्रत्यक्ष गृहीत ध्वंसाभाव प्रतियोगित्व की अन्यथा अनुपपत्ति से भी देह आदि में आत्मत्व नहीं हो सकता। ऐसे आगे भी ऊहा करनी चाहिए। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्मभूत नहीं होंगे तो वास्य आदि की तरह जाग्रत आदि सर्वावस्थाओं में अननुगत नहीं होगा, इत्यादि अर्थापत्ति प्रमाणों से भी उक्त आत्मा नहीं हो सकते। दशवां नैयायिकों का आत्मा भी नहीं हो सकता क्योंकि वह असंभव है, क्योंकि आत्मा को विभु मानने पर चैत्र के चरण में प्रविष्ट कण्टक आदि जन्य दुःख के अनुभव काल में सबके आत्मा में वह रहने के कारण सबमें वेदना के अनुभव का प्रसंग होगा। इस विषय में विनिगमक के अभाव के कारण असंभावितत्व का अवगम होता है। यदि कहें कि जिसके शरीर में कण्टक बेध आदि होते हैं, उसे ही वेदना का अनुभव होगा, दूसरों को नहीं, ऐसी व्यवस्था स्वीकार करने से उक्त दोष का प्रसंग नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सभी आत्माओं में शरीर के साथ समान रूप से सान्निध्य होने के कारण एक को अनुभव होगा, दूसरों को नहीं, ऐसा कोई नियामक नहीं है। यदि कहें कि जिसके अदृष्ट द्वारा जो शरीर उत्पन्न हुआ है, वह उसका है, ऐसा नियम है। ऐसा कहें तो यह भी नहीं कह सकते। उक्त न्याय से अदृष्ट भी नियामक नहीं हो सकता, क्योकि जब उस प्रकार के अदृष्ट उत्पादन के लिए एक शरीर के साथ मन का संयोग होता है तब अन्य शरीरों के साथ भी मन का संयोग समान रूप होता है फिर कारण के साधारण होने पर कहीं अदृष्ट की उत्पत्ति होगी, कहीं नहीं, ऐसा कैसे

हो सकता है। यदि कहें कि मनः संयोग सब आत्मा के साथ साधारणतया होने पर भी मैं इस फल को प्राप्त करूँगा; इस प्रकार का संकल्प तथा अदृष्टोत्पादक कर्मानुकूल कृति इत्यादि व्यवस्था अदृष्ट नियामक होगी तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि अभिसन्धि आदि भी साधारणतया मनःसंयोग द्वारा ही निष्पादन होने से व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहें कि निज मनः संयोग ही अभिसन्धि आदि का कारण होगा तो यह बात भी नहीं बन सकती, सर्वात्मा से नित्य संयुक्त मन किसी आत्मा विशेष का अदृष्ट उत्पादक होगा, ऐसा नियम नहीं हो सकता। यदि कहें कि अदृष्ट विशेष से आत्म विशेष के साथ मन के स्वस्वामिभाव की सिद्धि होगी तो ऐसा भी नहीं हो सकता। उस अदृष्ट की भी पूर्व की भाँति सिद्धि नहीं हो सकती। यदि कहें कि आत्माओं के विभु होने पर भी उनके प्रदेश विशेष ही बन्धन के कारण हैं, इसलिए अन्य आत्माओं का चैत्र के शरीर में प्रदेश विशेष के अभाव के कारण सुख–दुःख आदि की व्यवस्था होगी तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि जिस प्रदेश में चैत्र सुख–दुःख आदि का अनुभव कर उस देश से अलग होता है, उसी देश में मैत्र के आने पर उसके भी सुख–दुःख आदि के दर्शन होने से अन्य शरीर में अन्य आत्मा के प्रदेश विशेष का भी अन्तर्भाव होता है। इसलिए विभु तथा नाना आत्मवादी तार्किक आदि के लिए व्यवस्था दुर्घट है, इस प्रकार संक्षेप में कहा गया है। इसी तरह आगन्तुक चैतन्य गुणवादी तार्किक का सिद्धान्त भी युक्ति युक्त नहीं है। उनकी मान्यता है कि आत्मा के चैतन्य अर्थात् ज्ञान मनःसंयोग जन्य होता है, जैसे घट में रक्तगुण अग्नि संयोग जन्य है। उसमें चैतन्य गुण मानने पर सुप्त, मूर्छित तथा ग्रहों से आविष्ट जनों में चैतन्य होगा, अतः चैतन्य को कादाचित्क गुण ही मानना चाहिए। इसलिए आगन्तुक चैतन्य गुणवान् आत्मा है ऐसा तार्किक लोग मानते हैं, यह मत ठीक नहीं है क्योंकि श्रुति का वचन है "अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति" आत्मा स्वयं ज्योतिः स्वरूप यानी ज्ञान स्वरूप है। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" आत्मा के ज्ञान का लोप नहीं होता, वह अविनाशी है। इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा (इन श्रुतियों के आधार पर आत्मा ज्ञान स्वरूप एवं ज्ञान धर्मी सिद्ध होता है) सुषुप्ति एवं मूर्छा आदि में ज्ञान रहने पर भी कर्म से संकुचित हो जाता है, अभिव्यक्त नहीं होता है, किन्तु अव्यक्त रूप रहता ही है, जो जाग्रत अवस्था में विकसित होकर अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार चैतन्य गुण मानने पर कोई विरोध नहीं है। जैसे आकाश आश्रित प्रकाश के प्राकश्य का अभाव होने से अभिव्यक्ति नहीं होती न कि स्वरूप के अभाव से। उसी प्रकार जीवात्मा ज्ञानस्वरूप है चेतन होने एवं स्वप्रकाश होने से ब्रह्म की तरह। यदि जीवात्मा ज्ञान स्वरूप नहीं होगा तब तो देह आदि का प्रकाशक भी नहीं होगा। श्रुति कहती है "योऽयं विज्ञानघनः" आत्मा ज्ञान घन है अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। मीमांसक भी आत्म विभुत्ववादी है। इसी तरह इनका पक्ष भी निरस्त होता है क्योंकि दोनों में बराबर दोष है। पर इतना विशेष है जो उनके आत्मा की तरह मन भी विभु परिमाण वाला माना गया है। उनके मत में भी सभी मन के सभी जीवों का संयोग समान है और आत्मा की तरह सभी चक्षुआदि इन्द्रियों के साथ मनःसंयोग भी समान है, श्रवण तथा स्पर्श आदि ज्ञानों की एक

काल में उत्पत्ति का प्रसंग दुर्वार है, यह दोष विशेष भी होगा। ऐसा सोचना चाहिए। दुग्ध आदि द्रव्यों के साथ मनोयोग का एक काल में सद्भाव है। यदि कहें कि श्रावण प्रत्यक्ष आदि ज्ञान में श्रवण आदि इन्द्रियों के साथ शब्द आदि का योग असाधारण कारण माना गया है। इसलिए मन के साथ विषय सन्निकर्ष होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, मनों का इन्द्रियों के साथ नित्य संयोग होने से इन्द्रिय संयुक्त मनों का विषय सन्निकर्ष है। और मान लें कि किसी कूट कल्पना के द्वारा सुषुप्ति आदि में बाह्य श्रावण आदि ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि मन और विषय का संयोग होने पर भी वहाँ इन्द्रिय सन्निकर्ष का अभाव है, तथापि जाग्रत अवस्था में इन्द्रिय संयुक्त मनों का शब्दादि विषयों के साथ नित्य संयोग दुर्वार होने से शब्दादित्वाच्छिन्न शब्दादि मात्र विषयक ज्ञान की उत्पत्ति अवश्य होगी तथा मनस्त्वावच्छिन्न मनों के साथ मन इन्द्रिय संयोग के अभाव होने पर भी शब्दादित्वावच्छिन्न शब्दादि विषयक स्मरण की सदा सद्भावापत्ति होगी। इस प्रकार इस विषय में अब विस्तार व्यर्थ है। इसी तरह आत्मा में सम्बन्ध का चिन्मात्र पक्ष (सांख्य आदि का) संभव नहीं है। "विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्, जानात्येवायं पुरुषः, एष एव हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" इत्यादि श्रुतियों का व्याकोप होगा। इन श्रुतियों द्वारा आत्मा को ज्ञान धर्मी बताया गया है। इसलिए चरम पक्ष अर्थात् ज्ञान स्वरूप ज्ञातृत्व धर्मवान् वाला पक्ष सूत्रकार का अभिमत है।[1] इसी बात को कहते हैं—

ज्ञोऽत एव।।२।३।१८।

अयमात्मा ज्ञ एव, ज्ञानस्वरूपत्वे सति ज्ञातृस्वरूप एव, न पाषाणकल्पः नापि ज्ञानमात्रम् कुतः? अतएव श्रुतिभ्य एवेत्यर्थः। श्रुतयस्तु पूर्वमुदाहृता बोध्याः। प्रत्यगात्मा ज्ञाता आत्मत्वात्; ब्रह्मवत्। प्रत्यगात्मा यदि ज्ञानाश्रयो न स्यात्तर्हि तदुपदेशशास्त्रस्य सार्थक्यमपि न स्यात् "जानात्येवायमि"ति पूर्वोक्तश्रुतेः। ननु ज्ञानाख्यधर्मस्य स्वरूपज्ञानवतोऽत्यन्तसाजात्यात्। कथमिवाध ाराधेयभावः? जले क्षिप्तस्य जलान्तरस्याधाराधेयभावादर्शनादिति चेन्न। विषमदृष्टान्तत्वात्। जलयोर्द्रव्यत्वाद्भेदानुपलब्धिरिष्टापन्नाऽत्यन्तसाजात्यात्। परन्तु सावयवद्रव्यत्वेन भेदस्य तत्राप्यनुमेयत्वात्। अन्यथा वृद्धिह्रासानुपपत्तेः। प्रकृते तु धर्मत्वधर्मित्वयोरवच्छेदकत्वान्नोक्तदोषावकाशः। मणिद्युमण्यादिष्वाधाराधेयभेदस्य प्रत्यक्षोपलभ्यमानत्वात् प्रकृष्टप्रभावान् सूर्य इत्यादिप्रतीतेश्च। नच मण्याद्यवयवेष्वेव प्रभात्वव्यवहारः, सूर्यस्यावयवा एव विशीर्य्यमाणा लोके व्याप्नुवन्तीति वाच्यम्, कालान्तरे द्रव्यनाशप्रसङ्गात्। नच तत्रावयवान्तरोत्पत्तिः कल्पनीयेति वाच्यम्, प्रमाणाभावात्। प्रभातद्वतोर्भेदस्य च प्रमाणसिद्धत्वात्। "रामेणानुगता सीता भास्करेण प्रभा यथे"ति सर्वज्ञश्रीवाल्मीक्युक्तेः। अन्यथा रजतादिसम्पुटनिहितायाः कस्तूरिकाया अवयवनाशे कालान्तरे सर्वस्या अप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः स्यात्। तस्माद्यथा सूर्यतत्प्रभयोस्तैजसत्वाविशेषेऽपि सूर्यत्वप्रभात्वावच्छिन्नतयाऽऽधाराधेयभावः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः तथा प्रकृतेऽपि उभयोर्ज्ञानत्वसामान्येऽपि

---

१. यही श्रीनिम्बार्क मत है— "ज्ञानस्वरूपं ज्ञातृत्ववन्तम्" (वेदान्त कामधेनु) (सं)

धर्मत्वधर्मित्वावच्छिन्नतया तथात्वस्य सामञ्जस्यादिति। उपलक्षणं चैतदहमर्थस्यापि ज्ञात्रभिन्नाहमर्थस्वरूप इत्यर्थः। अहं जानामि, अहं करोमि, "अहं वै त्वमसि देवते? त्वं वा अहमस्मी" त्यादिभ्यः।[१] यत्तु कैश्चिदुच्यते सत्यमनिदं चैतन्यम्। अनृतं युष्मदर्थोऽचेतनस्तयोर्मिथुनीकरणमध्यासः। तत्राहमित्याध्यात्मिककार्याध्यासेषु प्रथमोऽध्यास इति सत्यानृते मिथुनीकृत्याहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहार इति श्रीभगवत्पादभाष्यकारोक्तेस्तस्मादहमर्थो नात्मा सुषुप्तौ स्वप्रकाशस्यात्मनः सत्त्वेऽप्येवंविधस्याहमर्थस्याभावात्। "अथातोऽहङ्कारादेशः, अथात आत्मादेशः" इत्यादिश्रुत्योभयोः पार्थक्योपदेशात्। "अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे"ति स्मृत्या च क्षेत्रान्तः पातित्वोपदेशादहमर्थो नात्मा, सुषुप्त्याद्यवस्थानानुगतत्वात् स्थूलदेहादिवत्, करणत्वाच्च चक्षुरादिवदित्यनुमानाद्वेत्यादि। तन्न सम्यक्, असम्भवात्। तथाहि इदं रजतमिदं जलमयं सर्प इत्यादिवदध्यासमात्रस्याधिष्ठानारोप्यांशद्वयभानवत्वात्। अहमर्थेऽशद्वयभानाभावात्। नन्वयो दहतीतिवदहमुपलभ इति दृक्दृश्ययोरुपलम्भादस्त्यंशद्वयभानमिति चेन्न। उक्तवाक्यस्याग्निना सिञ्चेदितिवद्वाक्याभासत्वेन त्वदीयकल्पनामात्रत्वात्। किञ्चायोऽदहतीत्यस्य वाक्यत्वेन तत्राप्यंशद्वयस्य न भानमअन्यथाग्निना सिञ्चेदित्यत्राप्यध्यासाऽभ्युपगन्तव्यः पण्डितम्मन्यैः। किञ्चास्तु वाऽयो दहतीत्यस्य प्रामाण्यं तत्रायःशब्दोऽजहल्लक्षणया दाहाश्रयाग्निविशिष्टयोऽर्थे वर्त्तमानतया लाक्षणिक एव। शोणो धावतीतिवदग्निर्माणवक इतिवद्वा तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाबीजत्वात्। अन्यथात्राप्यध्यासः कल्पनीयो मनीषिभिः। अननुभूयमाने हि द्व्यंशताकल्पने मानाभावात्। अन्यथात्मेत्यत्रापि द्व्यंशताकल्पनापत्तेः, नाप्यहमुपलभ इत्यत्र द्व्यंशताभानसम्भवो ब्रह्म स्फुरति, आत्मास्ति, चैतन्यं भातीत्यादावपि द्व्यंशतापत्तेः। तस्माद्द्व्यंशताभानाभावादहमर्थ आत्मैवेति सिद्धम्। "द्व्यंशतापि न च भाति चेतनेऽहंप्रतीतिविषयेऽहमर्थक इति पूर्वाचार्योक्तेः। ननु यद्यात्मस्वरूप एवाहमर्थोऽभिप्रेतश्चेत्तर्हि सुषुप्त्यादौ किमिति न स्फुरतीति चेन्मैवमहमर्थस्तावदिच्छादिविशिष्ट एव स्फुरतीत्यावयो–र्निर्विवादत्वात्समम्। सुषुप्तौ चेच्छादेरभावादहमर्थस्य विशेषाऽननुभवोऽविरुद्ध इति ब्रूमः। एवमहं सुखीच्छामी"ति प्रतीतिभिन्नात्मविषयकप्रतीतेरसत्त्वेनात्मनो ऽपीच्छादिविशिष्टितयैव ग्रहणम्। इच्छादिग्रहं विनात्मग्रहाङ्गीकारश्चेदहमर्थस्याप्यङ्गीकारे क्षतेरभावात्। सुखत्वेनात्मनोऽनुभव इति चेत्तर्हि "सुखमहमस्वाप्समि" त्यहमर्थस्यैव सुखत्वेनानुभवादात्मत्वमविरुद्धमिति "न किञ्चिदवेदिषमि" त्यज्ञानाश्रयत्वेनानुभवाच्च। ननु सुषुप्तौ नाहमर्थानुभवः। न च परामर्शानुपपत्तिरिति वाच्यम्, परामृश्यमान आत्मा इदानीं जातेनान्तःकरणेनाहमर्थेनावच्छेदादहं त्वं गतस्तथात्वे नानुभूयते, तथाच नोक्तपरामर्शानुपपत्तिरितिचेन्न। न किञ्चिदहमवेदिषमित्यादावज्ञानाद्यंशेऽप्यपरामर्शत्वप्रसङ्गात्। नह्यज्ञानादिकं निराश्रयमन्याश्रयं वा परामृश्यते किन्त्वहमर्थाश्रयं, एतावन्तं कालं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रदासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यवाप्यहमंशे परामर्शानुभवाच्च। अन्यथा यः पूर्वं दुःखी सोऽधुना सुखीजात इतिवद्यः पूर्वं मदन्यः सुप्तः सोऽधुनाहं जात इति धीः स्यात्। ननु जागरे समुत्पन्नेऽनुभूयमानेऽहमर्थे परामृश्यमानात्माऽभेदारोपात्परामर्शत्वोपपत्तिरिति चेन्न। इदं रूप्यमित्यादावारोप्याभिन्नतयेदमर्थस्येवाहमित्यत्राहमर्थाभिन्नतयात्मनोऽप्रतीते, रन्यथैतावन्तं कालं

---

१. श्री भगवत् श्रीशंकराचार्य

सुप्तोहमन्यो वेति कदाचित्संशयः स्यान्नत्वहमेवेति निश्चयः। न च सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासान्निश्चयोपपत्तिरिति वाच्यम्। अहमर्थातिरिक्तात्मानुभवस्यालीकत्वात्। न च परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्तदुपपत्तिरिति वाच्यम्। अपरामर्शे परामर्शत्वारोपस्य क्वाप्यदर्शनात्। सिद्धेऽहमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृश्यमानात्मैक्यारोपः। सिद्धे च तस्मिन्सुषुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वमित्यन्योन्याश्रयापत्तेश्च। एतेन "सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे स्मर्येत ह्यस्तन इवाहमर्थ" इति निरस्तम्। अहंशब्दोल्लेखितपरामर्शापादने सुषुप्तौ तदुल्लेख्यनुभवाभावादेव तदभावोपपत्तेः। तावन्मात्रे च ह्यस्तनोवैषम्यात्। अहमर्थविशेष्यकस्याहम्प्रकारस्य च परामर्शापादन इष्टापत्तेः। "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्समि"ति सुषुप्तिकालीनसुखावच्छिन्नोऽहमर्थ इति स्मृतेश्च। अन्यथा स्मर्येत ह्यस्तन इवाहमर्थ इति चोद्यं निरुत्तरं स्यात्। ननु तथाप्येतावन्त कालमहमित्यभिमन्यमान आसमिति परामर्शः स्यादिति चेन्न। कर्णे स्पृष्टः कटिं चालयस्यहमर्थप्रकाशेन तदभिमानपरामर्शापादनस्य व्यधिकरणत्वात्। अन्यथा तवापि आत्मेत्यभिमन्यमान आसमिति परामर्शः स्यात्, तस्मात्सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशत एव। अपि च सुषुप्तावहमर्थाभावेऽहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्त्यर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। योऽहं सुप्तः स एव जागर्मीति प्रत्यभिज्ञा न स्यात्। योऽहं पूर्वेद्युरकार्षं सोहमद्य करोमीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिश्च। ननु कृशोऽहं स्थूलः स्यामितिवत्प्रवृत्त्युपपत्तिरिति चेन्न। कार्श्यस्य परम्परासम्बन्धेनारोपितस्यानारोपितस्य वाहमर्थस्य विद्यमानत्वे प्रवृत्त्युपपत्तावपि सुषुप्तावहमर्थस्य नाशात्तदानींतनसुखादिसम्बन्धाभावेन प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। विवेकिनां मम देहः स्थूलः स्यादितीच्छयैव प्रवृत्तेश्च। नहि ममात्मा निर्दुःखः स्यादितीच्छया कस्यापि सुषुप्तौ प्रवृत्तिर्दृश्यते तस्माद्दृष्टान्तानुपपत्तिरेव वैषम्यात्। अहंव्यक्तिभेदात् कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च। कर्त्तुर्भोक्तुश्चाहमर्थस्य भेदात्। अभिन्ने च चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात्, कर्तृत्वाद्यारोपस्य च देहादावपि सत्त्वात्, अहं करोमीत्येव प्रतीत्याहमर्थाऽन्यात्मनि कर्तृत्वाद्यारोपस्याप्यभावाच्च। अन्यथाऽऽत्मा करोतीति प्रतीतिः स्यात्। न च सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्यैवोत्पत्त्यङ्गीकारान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्। कर्तृभोक्तृकारणस्य कर्तृत्वादिशून्यस्य स्थितावपि कृतहान्यादेरनुद्धारात्। किञ्च त्वन्मतेऽहङ्कार एव क्रियाशक्त्या प्राणः विज्ञानशक्त्या मन इति। तथाच सुषुप्तौ लये प्राणकार्यं निःश्वासादि न स्यात्। ननु प्राणस्याहङ्काराद्भेदपक्षेऽहङ्कारस्य लयो युक्तः। अभेदपक्षेऽपि प्राणांशविहीनस्य क्षयाङ्गीकारान्नोक्तदोष इति चेन्न। प्राणस्याहमर्थत्वाभावे कर्तृत्वस्य प्राणोपाधिकत्वेनाहं कर्त्तेति बुद्ध्ययोगात्। अहमर्थत्वे तु सुषुप्तावप्यहमुल्लेखापातात्। ननु पूर्वोक्तयोः श्रुतिस्मृत्योरनुमानस्य च विरोधस्तदवस्थ एव शास्त्रबाधस्तु तवाप्यनिष्ट इति चेन्न। श्रुत्यादेरन्यविषयत्वेन बाधाभावात्। तत्राऽयातोऽहङ्कारादेश इत्यादि श्रुतिस्मृत्योः "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कार" इत्यभिधानाद् गर्वादिवाचकाहङ्कारो विषयः। स तु प्राकृत एव। अहङ्कारश्चाऽ"हं कर्त्तव्यञ्चे"ति श्रुत्यन्तरात्। स च मान्तोऽव्ययरूपः कारप्रत्ययान्तः। आत्मवाच्याहंशब्दस्तु दकारान्तोऽस्मच्छब्दस्तस्मादुभयोरर्थतः शब्दतश्च भेदान्नोक्तदोषावकाशः। नचोभयोरप्यहङ्कार एव शक्तिरिति वाच्यम्। अहङ्करस्यानेकप्रयोगदर्शनेनैकत्र शक्तर्नियन्तुमशक्यत्वात्। अहंशब्दस्त्वहङ्कारशब्दवदात्मभिन्ने प्रयोगप्राचुर्य्याभावादात्मपर एवेति भावः। एवमहमर्थस्य सर्वावस्थानुगतत्वसिद्ध्या परोक्तानुमानवह्निहेतोः स्वरूपासिद्धत्वेनाप्रमाणत्वं

सुप्रसिद्धम्। ननु ज्ञातुस्सद्भावे किमिति विशेषज्ञानं न स्यादिति चेन्न, तत्र विषयाभावात्। नहि ज्ञातुः सत्त्वमात्रं विषयानुभवे प्रयोजकमपितु विषयसत्त्वसहकृतमेव तस्माज्ज्ञातुः सत्त्वेऽपि विषयाभावाद्विशेषज्ञानानु दयोऽविरुद्ध इति भावः। न चैतावन्तं कालं मामप्यहन्नावेदिषमित्यस्मदर्थाभाव-विषयकप्रत्ययस्य "न जानात्ययमहमस्मी"ति श्रुतेश्च सुषुप्तावहमर्थाभावे मानत्वात् कथमस्मत्प्रयुक्तहेतोः स्वरूपासिद्धत्वं, तस्मादननुगमस्य तादवस्थ्यमिति वाच्यम्। उक्तप्रत्ययेऽहमर्थस्यानुवृत्तिदर्शनात्। तथाहि तत्र मामिति द्वितीयान्तस्य कर्मरूपाहमर्थस्य जाग्रदनुभूतानादिकर्म्मसंस्कारप्रयुक्तात्म-त्वाभिमतदेहाद्यवच्छिन्नो विषयः। अहमिति प्रथमान्तस्य कर्त्तुरस्मदर्थस्य देहादिविलक्षणशुद्ध-ब्रह्मात्मकप्रत्यगात्मा ज्ञाता विषयः। तथाच मामित्युक्तलक्षणस्य देहेन्द्रियादिसम्बन्धस्य तथैवाहमिति देहादिवियुक्तस्य तद्विशिष्यभावविषयकानुभूत्याश्रयाभिन्नस्य तत्रापि सत्तेन ज्ञातृतया तत्राभावान्निषेध-विषयत्वं सूपपन्नम्। तथैवाहमितिदेहादिवियुक्तस्य तया भानमपि सूपपन्नतरम्। तथाचाहमर्थस्यानुभवितु-स्सर्वावस्थानुगतत्वेन हेत्वसिद्धेः सूपपन्नतमत्वादप्रामाण्यमनुमानस्य। एतेनोक्तायाः श्रुतेरपि व्याख्यानमुक्तम्भवति। तस्या अप्युक्तलक्षणविशिष्ट प्रतियोगिकाभावविषयज्ञानविधानपरत्वेन तुल्यार्थकत्वात्। नन्वहमर्थो नात्माऽहंप्रतीतिविषयत्वात् शरीरादिवदिति प्रयोगात्तस्यानात्मत्वावगम इति चेन्न। त्वन्मतेऽहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभूतचितोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वेन तत्र व्यभिचारात्। नच येन रूपेणाहन्धीविषत्वं तेन रूपेणानात्मत्त्वं स्वरूपेणात्मत्वमिति न व्यभिचार इति वाच्यम्। "अहमात्मागुडाकेशे" त्यात्मत्वेनाप्यहंप्रतीतिविषयत्वात् स्वरूपेणात्मत्वे मानाभावाच्च। नचाहमर्थ आत्मान्योऽहंशब्दाभिधेयत्वादहङ्कारशब्दाभिधेयवदित्यत्रमानमिति वाच्यम्। "अहमात्मा गुडाकेशे" त्यहंशब्दाभिधेये विश्वात्मनि श्रीवासुदेवे परब्रह्मणि व्यभिचारात्। अथ यत्त्वया आत्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मा नभूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्व, महमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकवैधुर्येणात्मनः प्रकाशत्वं चोक्तं तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वेऽयुक्तं स्यादुक्तस्य सर्वस्याहमर्थ एव पर्यवसानात्। नच प्रेमास्पदात्मैक्यारोपादहमर्थे तथा प्रतीतिरिति वाच्यम्, अन्योन्याश्रयापत्तेः। अहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्यात्मप्रेम्णोऽनुभवाभावाच्च। अहिते हितबुद्ध्या प्रेमोत्पत्तावपि अप्रेमास्पदे प्रेमास्पदत्वस्यारोपादशर्नाच्च। "समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान्भवेत्। विषयस्य तु रुपेण समारोप्यं न रूपवदि"ति वाचस्पत्युक्तेः। अध्यस्तान्तःकरणगताऽप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तेश्च। अनिदमितिरूप्ये शुक्तिनिष्ठेदन्तादिभानवदधिष्ठननिष्ठसाधारणधर्म्मस्यारोप्ये भानेप्यसाधारणधर्मस्य प्रेमास्पदत्वादेर्भानासम्भवात्। आरोप्यासाधारणधर्म्माणां भीषणत्वादीनां रज्ज्वामिवारोप्यासाधारणानामप्रेमास्पदत्वादीनामेवात्मनि भानापत्तेरित्यर्थः। त्वद्रीत्या सुखानुभवरूपस्यात्मनोऽहं सुखमनुभवामीति सुखानुभवाद्भेदेनैव प्रतीतेश्च। किञ्च मोक्षेऽहमर्थाभाव आत्मनाशो मोक्ष इति बाह्यमतापत्तेः। प्रेमास्पदाहमर्थस्य त्वनमतेऽपि नाशात्। तदतिरिक्त शून्यस्य त्वन्मतेप्यनाशात्। नह्यहमर्थभिन्न आत्मनि प्रेमधीः कदाचिदस्तीति भावः। किञ्च "माऽमृतं कृन्धि ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासमि" ति श्रुत्याहमर्थस्यैवामृतत्वोक्तेः। अहम्मुक्तः स्यामितीच्छा च न स्यात् तस्यास्तद्विषयत्वात्। नन्वात्मन एव मुक्तिरिष्यतेऽहङ्कारेतरारोपाद् मुक्तः स्यामितीच्छापि सूपपन्ना। यथा शरीरस्यैव पुष्टीच्छायामप्यात्मनि तदैक्यारोपाद् पुष्टः स्यामितीच्छा

तथात्मन एव सुखेच्छयामपि तदैक्यारोपाच्छरीरं सुखि स्यादितीच्छा चेति चेन्न। अन्योऽन्याश्रयापत्तेः। तत्र शरीरं पुष्टं स्यादितीच्छावदहंसुखी स्यामितीच्छावच्चेह चिन्मात्रंमुक्तं स्यादितीच्छायाः कदाप्यदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्वप्रसङ्गाच्च। यः कश्चिदात्मा मुक्तः स्यादितीच्छा चेन्न कदापि मुमुक्षुप्रवृत्तिः स्यात्, ममात्मा मुक्तः स्यादितीच्छाया अदर्शनात्। ननु यद्यपीच्छासमयेऽन्तःकरणाध्याससम्भवेनात्ममात्रमुक्तीच्छा नास्तीति सत्यम्, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छाया एव विशेष्यगतमुक्तिविषयत्वपर्यवसानाभ्युपगम इति चेन्न। अहमर्थाभिन्नतयात्मनो भानस्य क्वाप्यदर्शनेनैतत्कल्पनाया अप्रामाणिकत्वात्। अपि चाहमर्थो यद्यन्तः करणगर्भितस्तर्हि मम मन इति प्रत्ययो न स्यात्तदवच्छिन्नस्य पुनस्तदनन्वयात्। किञ्चैवं मनः स्फुरति, मनोऽस्तीति ज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात्। चिदचित्सम्बलनविषयत्वाविशेषात्। तस्मादहमर्थस्यानात्मत्वे किमपि मानं नास्तीति सिद्धम्। आत्मत्वे तु प्रत्यक्षानुमानश्रुत्यादीनां सत्त्वात्तस्यात्मत्वं सुतरां सिद्धम्। तथाहि—जानाम्यनुभवामीच्छामी-त्यादिप्रतीतिभ्योऽहमर्थो मोक्षान्वयी तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्सम्मतवदिति। नच स्वर्गसाधनकृत्याश्रय ऋत्विजि व्यभिचार इति वाच्यम्। उद्देश्यतासम्बन्धेन हि यत्र कृतिस्तत्रैव फलमिति नियमः। ऋत्विजां तु दक्षिणाया एवोद्देश्यत्वान्नोक्तव्यभिचारयोगः। अहमर्थोऽनर्थनिवृत्त्याश्रयोऽनर्था-श्रयत्वात्सम्मतवत्। नचासिद्धोऽहमज्ञोऽहमनुभवामीत्यबाधितानुभवात् देहस्यानर्थाश्रयत्वाभावान्न व्यभिचारः। अनात्मत्वं नाहमर्थवृत्तिअनात्ममात्रवृत्तित्वात् घटत्वादिवदित्याद्यनुमानेभ्यः। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय नामरूपे व्याकरवाणि, त्रिवृतं करवाणि, ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्सचात्मानं वेदाहं हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" इत्यादिश्रुतिभ्यः। किञ्च प्राकृतप्रलये विश्वलयात्मकेऽवशिष्यमाणस्यैकाद्वितीयादिशब्दाभिधेयस्य परब्रह्मणः श्रीपुरुषोत्तमस्यापि प्राणमनोभूतादिसृष्टेः प्रागपि ज्ञात्रभिन्नाहमर्थस्वरूपत्वमेवेत्यवगम्यते। तस्य नित्यमुक्तत्वं तावन्निर्विवादम्। एवं तत्साम्यापन्नानां "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्यादिश्रूयमाणानामप्यहमर्थस्वरूपत्वमेवेति मुक्तावपि तथात्वसिद्धेः। "अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि यदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मीती" त्यत्रावधारणेनाहमर्थाभिन्नब्रह्मतादात्म्योपदेशात्। तथाभूतवेदनस्यात्मभावप्राप्तिरूपमोक्षफलकत्वो-पदेशाच्च। अनविद्यस्यापि ब्रह्मणोऽहमुल्लेखोक्तेश्च। "अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः। स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोरि"ति कण्ठरवेणाहमर्थस्य मोक्षान्वयित्वश्रवणाच्च। "अहं मनुरभवं सूर्यश्चे"ति मुक्ततयावगम्यस्य वामदेवास्यानुभवाच्च। "अहमात्मा गुडाकेशे" ति सर्वात्मत्वम्, "नत्वेबाहं जातु नासमि" त्यादिना कालत्रयाबाध्यत्वं, "ददामि बुद्धियोगं तमि" ति मोक्षौपयिकज्ञानदातृत्वं, "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतामि"ति मायातरणासाधारणोपायरूपशरणा-पत्तिविषयत्वम् "हं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथे"ति जगत्कारणत्वं, "वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य" इति शास्त्रविषयत्वं, "ततो मां तत्वतो ज्ञात्वाविशते तदनन्तरमि"ति मुक्तोपसृप्यत्वं, "मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यत" इत्यपुनरावृत्तिलक्षणफलत्वं, "मामेकं शरणं ब्रजे"ति सर्वशरण्यत्वम्, "हं त्वां सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामी"ति सर्वपापनिवर्त्तकत्वञ्चाहमर्थस्यैव श्रीमुखेन निर्णीतं भगवता श्रीपुरुषोत्तमेन। किञ्चाहमर्थादन्य आत्मा यदि स्यात्तह्युपलभ्येत, न तथोपलभ्यत इति योग्यानुपलब्धेरप्यत्र मानत्वात्। अपिचास्मदर्थानामप्रतीत्यभावान्यथानुपपत्तेरप्यत्र प्रामाण्यम्।

किञ्च परैरपि भाष्ये सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहस्मीति यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयादिति न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वादिति चान्वयव्यतिरेकेणात्मनोहमर्थतयैव प्रतिपादनात्। अन्यथा स्वोक्तिबाध इत्यर्थस्तस्मादहमर्थाभावाभाव एवात्मेत्यलं पल्लवनेन।।१८।। इति ज्ञाधिकरणम्।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह आत्मा ज्ञान स्वरूप होकर ज्ञातृत्व धर्मवान् है। पाषाण कल्प नहीं, न केवल ज्ञानमात्र है। अतएव 'श्रुतिभ्य एव' अर्थात् श्रुति के द्वारा ही वह ज्ञातृत्व धर्मवान् सिद्ध होता है। श्रुतियाँ पहले बताई गई हैं। प्रत्यगात्मा (जीव) ज्ञाता है आत्मा होने के कारण, ब्रह्म की तरह। जीव यदि ज्ञानाश्रय नहीं होगा तो उसके लिए उपदेश देने वाले शास्त्र का सार्थक्य भी नहीं होगा। श्रुति का वचन है "जानात्येवायं पुरुषः" अर्थात् यह पुरुष (जीव) ज्ञानाश्रय है। यदि कहें कि स्वरूपतः ज्ञानरूप पुरुष में ज्ञान स्वरूप धर्म का साजात्य होने से आधाराधेय भाव कैसे हो सकता है, क्योंकि एक ही वस्तु में आधाराधेय भाव नहीं होता। जल में निक्षिप्त अन्य जल का आधाराधेय भाव नहीं देखा जाता तो यह नहीं कह सकते। यह विषम दृष्टान्त है। वहाँ दोनों जल के द्रव्य होने के कारण भेद की अनुपलब्धि इष्ट है चूँकि वहाँ अत्यन्त साजात्य है। परन्तु सावयव द्रव्य होने के कारण भेद का वहाँ भी अनुमान होता है। अन्यथा वृद्धि तथा ह्रास की उपपत्ति नहीं होगी। प्रकृत में धर्मत्व एवं धर्मित्व के अवच्छेदक होने से उक्त दोष का अवकाश नहीं है। मणि, द्युमणि (सूर्य) आदि में आधाराधेय भाव प्रसिद्ध है। प्रकृष्ट प्रभावान् सूर्य है, ऐसी प्रतीति प्रसिद्ध है। यदि कहें कि मणि आदि के अवयवों में ही प्रभात्व का व्यवहार होता है, सूर्य के अवयव ही विशीर्ण होकर लोक में व्याप्त होते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते। तब कालान्तर में द्रव्य के नाश का प्रसंग हो जायेगा। यदि कहें कि वहाँ अवयवान्तर की उत्पत्ति होती है तो यह नहीं कह सकते। इसके कोई प्रमाण नहीं है। प्रभा और प्रभावान् में भेद प्रमाण सिद्ध है। "रामेणानुगता सीता भास्करेण प्रभा यथा" ऐसा सर्वज्ञ श्रीवाल्मीकि मुनि का वचन है। अन्यथा रजत (चांदी) के सम्पुट में निहित कस्तूरी के अवयव का नाश होने पर कालान्तर में सम्पूर्ण कस्तूरी की अनुपलब्धि हो जायगी। इसलिए जैसे सूर्य और उसकी प्रभा में तैजसत्व होने पर भी सूर्यत्वेन प्रभात्वेन (सूर्यत्व तथा प्रभात्व धर्म के भेद होने से) आधाराधेय भाव प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सिद्ध है, उसी प्रकार प्रकृत में ज्ञानरूप आत्मा एवं उसके ज्ञानरूप धर्म के ज्ञानत्व सामान्य होने पर भी धर्मत्व एवं धर्मित्व भेद से आधाराधेय भाव का सामञ्जस्य है। यह अहमर्थ का भी उपलक्षण है अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप ज्ञातृत्व धर्माश्रय आत्मा अहमर्थ है अर्थात् अहं पदवाच्य है। "अहं जानामि, अहं करोमि, अहं वै त्वमसि देवते ? त्वं वा अहमस्मि" इत्यादि श्रुति वचनों से यह सिद्ध है। अब यहाँ शांकर भाष्य की समीक्षा करते हुए कहते हैं 'यत्तु कैश्चिदुच्यते' यहाँ कुछ लोग कहते हैं, इदं पदार्थ भिन्न चैतन्य सत्य है तथा अचेतन युष्मत् पदवाच्य बुद्धि। इन्द्रिय देहादि अनृत है, इन दोनों का मिथुनीकरण अर्थात् एक में दूसरे का आरोप अध्यास है। यहाँ आध्यात्मिक

कार्याध्यासों में अहं पद प्रथम अध्यास है। सत्य और अनृत को मिथुनीकरण करके (मिलाकर) अहम्, इदम्, मम, इयम् यह नैसर्गिक लोकव्यवहार है, ऐसा श्रीभगवत् पाद भाष्यकार श्रीशंकराचार्य (पाद) का कथन है। इसलिए अहमर्थ आत्मा नहीं है, सुषुप्ति में स्वप्रकाश आत्मा के रहने पर भी इस प्रकार के अहमर्थ का अभाव है। इस विषय में श्रुति प्रमाण देते हैं। "अथातोऽहङ्कारादेशः, अथात आत्मादेशः" यह स्पष्ट तथा अहमर्थ से भिन्न रूप से आत्मा का कथन है। "अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिष्टधा" इस स्मृति वचन के द्वारा भी क्षेत्र के अन्तःपाती होने से अहमर्थ आत्मा नहीं है क्योंकि वह सुषुप्ति आदि अवस्था में अनुगत नहीं है स्थूल देहादि की तरह। अथवा करणत्वात् चक्षु आदि की तरह। किन्तु यह ठीक नहीं, यह असंभव है। क्योंकि इदं रजतम्, इदं जलम्, अयं सर्प इत्यादि अध्यासों की तरह अध्यास मात्र अधिष्ठान एवं आरोप्य इन दो अंशों से युक्त होता है। अहमर्थ से अंश द्वय का भान नहीं है। यदि कहें कि अयोदहति की तरह अहम् उपलभे (मैं देखता हूँ), द्रष्टा एवं दृश्य का ज्ञान होने से यहाँ भी दो अंशों का भान है, तो यह नहीं कह सकते। उक्त वाक्य में अग्निना सिञ्चेत् (अग्नि से सिंचन करें) इस वाक्य की तरह वाक्याभास होने से यह आप का कल्पनामात्र होगा। और अयोदहति इस वाक्य के होने से वहाँ भी अंश द्वय का भान नहीं है। अन्यथा अग्निना सिञ्चेत् यहाँ भी उन पण्डितमानी जनों को अध्यास मानना पड़ेगा। दूसरी बात अयो दहति अय-लोहा इस वाक्य में प्रामाणिकता भले ही हो परंतु वहाँ अयस् शब्द अजहत् लक्षणा के द्वारा दाह के आश्रय अग्नि विशिष्ट अयस् (लोहा) अर्थ में वर्तमान होने से लाक्षणिक ही हैं। जैसे शोणो धावति, अग्निर्माणवकः, ये वाक्य रक्तरूपाक्ष एवं अग्निसदृश अर्थ में लाक्षणिक है। कारण तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज माना जाता है। अन्यथा यहाँ उक्त मनीषियों को अध्यास मानना पड़ेगा। जो द्वयंशता की कल्पना अनुभूयमान नहीं है, उसके कोई प्रमाण नहीं है। अन्यथा आत्मा में भी द्वयंशता की कल्पना हो जायगी। और नाही अहम् उपलभे यहाँ द्वयंशता का भान संभव है। तब तो ब्रह्म स्फुरति, आत्मा अस्ति, चैतन्यं भाति इनमें भी द्वयंशता की आपत्ति हो जायेगी। इसलिए द्वयंशता के भान का अभाव होने से अहमर्थ आत्मा ही है। ""द्वयंशतापि न च भाति चेतनेऽहंप्रतीतिविषयेऽहमर्थके" अर्थात् अहं प्रतीति के विषय में अहमर्थक चेतन आत्मा में द्वयंशता की प्रतीति नहीं होती। ऐसा पूर्वाचार्यो का कथन है। यदि कहें कि आत्मा ही अहमर्थ है तो सुषुप्ति आदि अवस्था में उसका अहम् अहम् करके स्फुरण क्यों नहीं होता तो कहते हैं ऐसा नहीं। अहमर्थ आत्मा इच्छा विशिष्ट होकर ही स्फुरित होता है, यह तो हमारे और आपके मत में निर्विवाद रूप से समान है। सुषुप्ति में इच्छा आदि का अभाव होने से अहमर्थ का विशेष रूप से अनुभव न होना विरुद्ध नहीं है। ऐसा हम कहते हैं। इसी प्रकार मैं सुखी हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, इस प्रतीति से भिन्न कोई आत्मविषयक प्रतीति न होने से आत्मा का इच्छादि विशिष्ट रूप में ही ग्रहण होता है। इच्छादि ग्रहण के बिना यदि आत्मा का ज्ञान स्वीकार करें, तो अहमर्थ का भी अङ्गीकार करने पर कोई क्षति नहीं है। सुख रूप में आत्मा का अनुभव होगा, ऐसा कहेंगे तब तो 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस प्रतीति में अहमर्थ ही सुख रूप में अनुभव होने से आत्मत्व

है और न 'किञ्चिदवेदिषम्' इस प्रतीति में अज्ञानाश्रयत्वेन अनुभव भी होता है। यदि कहें कि सुषुप्ति में अहमर्थ का अनुभव नहीं होता, न ही परामर्श की अनुपपत्ति होती, तो ऐसा नहीं कह सकते। परामर्श से ज्ञायमान आत्मा तत्काल उत्पन्न अहमर्थस्वरूप अन्तःकरण से अवच्छिन्न होने से 'मैं, तुम गये' इस रूप में अनुभूयमान होता है। इस प्रकार उक्त परामर्श की अनुपपत्ति नहीं होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मैंने कुछ नहीं जाना इत्यादि प्रतीति में अज्ञान आदि अंश में भी परामर्श के अभाव का प्रसंग होगा। अज्ञान आदि का बिना आश्रय अथवा अन्याश्रय का परामर्श नहीं होता है किन्तु अहं अर्थाश्रय प्रतीत होता है। जैसे उतनी देर मैं स्वप्न देखता था। जाग रहा था। यहाँ की प्रतीति की तरह यहाँ भी अहं अंश में परामर्श का अनुभव होता है, अन्यथा जो पहले दुःखी था, अब वह सुखी हो गया। इस प्रतीति की तरह जो पहले इससे भिन्न सो रहा था वह इस समय अहं हो गया, ऐसी बुद्धि हो गयी। यदि कहें जाग्रत अवस्था आ जाने पर अहमर्थ के अनुभव होने पर परामृश्य आत्मा के साथ अभेद के आरोप होने से परामर्श की उत्पत्ति होगी, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इदं रूप्यं (यह चाँदी है) इत्यादि स्थानों में आरोप्य से अभिन्न रूप में अहमर्थ की तरह अहं इस प्रतीति में अहमर्थ से अभिन्न अर्थ में आत्मा की प्रतीति नहीं होती है। अन्यथा इतने काल तक सोया हुआ मैं था या अन्य कोई ऐसा कदाचित् संशय होगा, न कि मैं ही था ऐसा निश्चय। यदि कहें सुषुप्ति काल में अनुभूति आत्मा के साथ एकता का अध्यास होने से निश्चय ही उत्पत्ति होगी तो ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि अहमर्थ से अतिरिक्त आत्मा का अनुभव अलीक है। यदि कहें कि परामृश्यमान आत्मा के साथ एक्य का आरोप्य होने से उसकी उत्पत्ति होगी। ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अपरामर्श में परामर्शत्व का आरोप कहीं भी देखा नहीं गया। अहमर्थ में आत्मा से भिन्नत्व सिद्ध होने पर परामृश्यमान आत्मा के साथ ऐक्य का आरोप्य होता है। और आरोप्य सिद्ध होने पर सुषुप्ति काल में अप्रकाश के कारण अहमर्थ का आत्मा से अन्यत्व होता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय की आपत्ति होगी। इसी (ग्रन्थ) से सुषुप्ति काल में अहमर्थ के प्रकाश होने पर गत दिन की तरह अहमर्थ का स्मरण होगा। ऐसा कथन भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि अहं शब्द से उल्लेखित परामर्श के अपादन कहने पर सुषुप्ति अवस्था में उसके उल्लेखनीय अनुभव के अभाव के कारण ही उसके अभाव की (उत्पत्ति) होगी। तावन्मात्र मानने पर गत दिन के कथन से वैषम्य होगा। अहमर्थ विशेष्यक अहं प्रकारक परामर्श कहने में इष्टापत्ति होगी। "एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सम्" (इतनी देर तक मैं सुखपूर्वक सोया) यह सुषुप्ति कालीन सुखावच्छिन्न अहमर्थ है। ऐसा स्मृति का कथन है। अन्यथा गत दिन की भाँति अहमर्थ का स्मरण किया जायेगा। यह कथन निरुत्तर हो जायेगा। यदि कहें इतनी देर तक मैं इस प्रकार अभिमान करता था, ऐसा परामर्श होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। "कर्णे स्पृष्टः कटिं चालयसि" (कान छूने पर कमर मटकाते हो) अहमर्थ के प्रकाश के द्वारा उसके अभिमानी के परामर्श का कथन व्यधिकरण होता है। अन्यथा आपके मत में भी आत्मा का अभिमान करते हुए था, यह परामर्श होगा। इसलिए सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ का प्रकाश होता ही है।

दूसरी बात सुषुप्ति अवस्था में अहमर्थ के अभाव मानने पर मैं दुःख रहित हो जाऊँ, इस इच्छा से सुषुप्ति के लिए लोगों की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होगी और जो मैं सुषुप्ति में था, वही मैं जाग रहा हूँ ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी न होगी और जो मैंने पहले दिन किया था, वही मैं आज भी करता हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति भी होगी। यदि कहें, मैं कृशव्यक्ति स्थूल होऊँगा, इस प्रतीति की तरह उक्त प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि परंपरा सम्बन्ध से आरोपित कृशता की अथवा अनारोपित अहमर्थ के विद्यमान होने पर प्रवृत्ति की उपपत्ति होने पर भी सुषुप्ति में अहमर्थ का नाश होने से तत्कालीन सुखादि संबंध के अभाव होने से प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं होगी। क्योंकि विवेकीजनों, की मेरा देह स्थूल हो जाये इस इच्छा से ही प्रवृत्ति होती है। मेरी आत्मा दुःख रहित हो जाये, इस इच्छा से किसी भी मनुष्य की सुषुप्ति में प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। इस लिए यहाँ पर दृष्टान्त की अनुपपत्ति ही वैषम्य है। और अहं व्यक्ति के भेद से कृतनाश एवं अकृतवाक्यागम का प्रसंग भी है। कारण कर्त्ता एवं भोक्ता अहमर्थ का भेद है। चैतन्य के अभिन्न होने पर कर्तृत्व का अभाव होता है। कर्तृत्व आदि का आरोप देहादि में भी है। 'अहं करोमि' ऐसी प्रतीति होने से अहमर्थ से भिन्न आत्मा में कर्तृत्व आदि आरोप का भी अभाव है। अन्यथा आत्मा करोति ऐसी प्रतीति होगी। यदि कहें कि सुषुप्ति अवस्था में कारणात्मना स्थित पदार्थ की उत्पत्ति का अङ्गीकार होने से किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी तो यह भी नहीं कह सकते। कर्तृत्व आदि शून्य कर्तृ भोक्तृ रूप कारण की स्थिति में भी कृत हानि आदि दोषों से उद्धार नहीं है। दूसरी बात आपके मत में अहंकार की क्रिया शक्ति के द्वारा प्राण एवं विज्ञान शक्ति के द्वारा मन कहलाता है। तब सुषुप्ति में लय होने पर प्राण के कार्य निःश्वास आदि नहीं होंगे। यदि कहें कि प्राण के अहंकार से भेद पक्ष में अहंकार का लय युक्त है, अभेद पक्ष में भी प्राणांश से विहीन का क्षय स्वीकार करने से उक्त दोष नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। प्राण के अहमर्थ न होने से कर्तृत्व के प्राणोपाधिक होने के कारण अहं कर्त्ता ऐसी बुद्धि नहीं होगी। अहमर्थ मानने पर सुषुप्ति में भी अहं का उल्लेख होगा। यदि कहें कि पूर्वोक्त श्रुति स्मृति तथा अनुमान का विरोध तो तदवस्थ (वैसा ही है) और शास्त्र बाध आपको भी इष्ट नहीं है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते, श्रुति आदि के अन्य विषय होने के कारण कोई बाध नहीं है। यहाँ "अथातोऽहंकारादेशः" इत्यादि श्रुति एवं स्मृति एवं "गर्वोऽभिमानोऽहङ्कार" इस कोश वचन के अनुसार गर्व आदि का वाचक अहंकार विषय है, वह प्राकृत ही है। "अहङ्कारश्चाहं कर्तव्यञ्च" ऐसा अन्य श्रुतिवचन भी है, वह मान्त अव्यय रूप है तथाकार प्रत्ययान्त है। आत्म वाच्य अहं शब्द तो दकारान्त अस्मत् शब्द वाच्य है। दोनों में शब्दतः एवं अर्थतः भेद होने से उक्त दोष का यहाँ अवकाश नहीं है। यदि कहें कि दोनों अहं शब्द की अहंकार में ही शक्ति है, तो ऐसा नहीं कह सकते। अहंकार का अनेक अर्थ में प्रयोग दर्शन होने से एक अर्थ में उसकी शक्ति का नियमन करना अशक्य है। अहं शब्द के अहंकार शब्द की तरह आत्म भिन्न अर्थ में प्रयोग का प्राचुर्य नहीं है, वह आत्म परक ही है। इस प्रकार अहमर्थ को सभी अवस्थाओं में अनुगतत्व की सिद्धि होने से परपक्ष द्वारा प्रयुक्त अनुमान से दिये

गये हेतु का स्वरूपासिद्ध होने से अप्रमाणत्व सुप्रसिद्ध है। यदि कहें कि ज्ञाता के सद्भाव में विशेष ज्ञान क्यों नहीं होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वहाँ विषय नहीं है। ज्ञाता का सत्त्वमात्र (सद्भाव मात्र) विषय के अनुभव में प्रयोजक नहीं है। अपितु विषय की सत्ता सहकृत ही ज्ञाता का सद्भाव। इसलिए ज्ञाता के सद्भाव होने पर भी विषय के अभाव होने से विशेष ज्ञान का न होना विरूद्ध नहीं है। यदि कहें कि इतनी देर तक मैं अपने आपको भी नहीं समझा, इस अस्मदर्थ विषयक प्रतीति तथा "न जानात्ययमहमस्मि" यह श्रुति भी सुषुप्ति में अहमर्थ के अभाव में प्रमाण है। फिर हमारे द्वारा प्रयुक्त हेतु में स्वरूपासिद्धत्व कैसे होगा, इसलिए यहाँ अननुगम तदवस्थ है तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त प्रतीति में अहमर्थ की अनुवृत्ति देखी जाती है। यहाँ माम् यह द्वितीयान्त कर्मरुप अहमर्थ का जाग्रत अवस्था में अनुभूत अनादि कर्म संस्कार प्रयुक्त आत्मत्वाभिमत देहाद्यवच्छिन्न विषय है और अहम् इस प्रथमान्तकर्ता अस्मदर्थ का देहादि विलक्षण शुद्ध ब्रह्मात्मक प्रत्यगात्मा ज्ञाता विषय है। (इस प्रकार इस उक्त लक्षण 'माम्' इस देहादि सम्बन्ध तथा उसी प्रकार 'अहम्' इस देहादि विशिष्ट अभाव विषयक अनुभूति के आश्रय से अभिन्न का वहाँ होने से ज्ञाता रूप से नहीं होने के कारण निषध विषयत्व उपपन्न हो जाता है। देहादि वियुक्त अहम् इसका भी उसके द्वारा भान भी अच्छी तरह उपपन्न होता है।) इस तरह अनुभव करने वाले अहमर्थ के सभी अवस्थाओं में अनुगत होने से हेतु की असिद्धि सम्यक् प्रकार से उपपन्न होने के कारण अनुमान का अप्रामाण्य होता है। इस तरह उक्त श्रुति का व्याख्यान उक्त हो जाता है। क्योंकि उसको भी उक्त रूप विशिष्ट प्रतियोगिकाभाव विषयक ज्ञान विधानपरक होने से तुल्यार्थकत्व है। यदि कहें कि अहमर्थ आत्मा नहीं है अहं इस प्रतीति का विषय होने से शरीर आदि की तरह ऐसा अनुमान प्रयोग होने से अहमर्थ में अनात्मत्व का ज्ञान होता है तो ऐसा नहीं कह सकते। आपके मत में अहमर्थ के अन्तर्गत अधिष्ठान भूत चित् के भी उक्त प्रतीति का विषय होने से वहाँ व्यभिचार है। यदि कहें कि जिस रूप में 'अहं' इस बुद्धि का विषयत्व है, उसी रूप से अनात्मत्व और स्वरूपतः आत्मत्व है। इस प्रकार कोई व्यभिचार नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते। 'अहमात्मा गुडाकेश' इस वचन के आधार पर आत्मत्वेन अहं प्रतीति का विषयत्व है, स्वरूपत्वेन आत्मत्व में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि अहमर्थ आत्मा अन्य है, अहं शब्द का अभिधेय होने से अहंकार शब्द में अभिधेय की तरह, यही यहाँ मान है तो ऐसा भी नहीं हो सकता। अहमात्मा गुडाकेश यहाँ अहं शब्दाभिधेय विश्वात्मा परब्रह्म श्री वासुदेव में व्यभिचार होगा। इसी प्रकार आपने जो आत्मा में गौरोऽहम् इस प्रतीति के द्वारा अनात्मा के आरोप का अधिष्ठान तथा "मा अहं न भूवम् अपितु भूयासम् मा नभूवं भूयासम्" इत्यादि वाक्यों द्वारा परम प्रेमास्पदत्व तथा अहमर्थ की निज सत्ता में प्रकाश भिन्न के वैधुर्य से आत्मा का प्रकाशत्व कहा, वह सब अहमर्थ के आत्मत्वाभाव में अयुक्त हो जायगा। उक्त सभी प्रतीतियों का अहमर्थ में ही पर्यवसान है। यदि कहें कि प्रेमास्पद आत्मा के साथ ऐक्य आरोप के कारण अहमर्थ में उस प्रकार की प्रतीति होती है। ऐसा कहने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी। प्रेम रूप अहमर्थ से अन्य आत्म प्रेम के अनुभव का अभाव है।

अहित में हित बुद्धि से प्रेम की उत्पत्ति होने पर भी अप्रेमास्पद में प्रेमास्पदत्व का आरोप कहीं नहीं देखा जाता। "समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान्भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्" (समारोप के रूप से विषय रूपवान् होता है परंतु विषय के आरोप से आरोप्य रूपवान् नहीं होता।) ऐसा वाचस्पति का कथन है। अध्यस्त अन्तःकरणगत अप्रेमास्पदत्व की ही आत्मा में प्रतीति की आपत्ति होगी। शुक्तिनिष्ठ इदं भिन्न रूप में इदन्ता के अभिमान की तरह अधिष्ठान निष्ठ साधारण धर्म का आरोप्य में भान होने पर भी असाधारण धर्म प्रेमास्पदत्व आदि का भाव संभव नहीं है। रज्जु में जिस प्रकार आरोप्य असाधारण भीषणत्व आदि का आरोप होता है, उसी प्रकार आरोप्य असाधारण धर्म प्रेमास्पदत्व आदि धर्मों की आत्मा में भानापत्ति होगी। आपके अनुसार सुखानुभव रूप आत्मा की 'अहं सुखमनुभवामि' के अनुसार सुख के अनुभव के कारण भेद रूप में ही प्रतीति होगी और यदि मोक्ष दशा में अहमर्थ का अभाव मानें, तब तो आत्मनाश ही मोक्ष का स्वरूप होगा। इस प्रकार बाह्य मत की आपत्ति होगी। प्रेमास्पद अहमर्थ का आपके मत में भी नाश होता है। उससे भिन्न शून्य का आपके मत में भी नाश नहीं होता। अहमर्थ से भिन्न आत्मा में प्रेम बुद्धि कदापि नहीं होती। इसी प्रकार "माऽमृतं कृन्धि ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्" इस श्रुति के द्वारा अहमर्थ में ही अमृतत्व कहा गया है। 'अहं मुक्तः स्याम्' (मैं मुक्त हो जाऊँ) ऐसी इच्छा नहीं होगी। उस श्रुति का वही विषय है। यदि कहें कि आत्मा की मुक्ति चाहते हैं। अहंकार से इतर का आरोप होने से मुक्त हो जाऊँ, ऐसी इच्छा भी उपपन्न होगी। जैसे शरीर की पुष्टि की इच्छा होने पर भी आत्मा में उसकी एकता का आरोप करके मैं पुष्ट होऊँ, यह इच्छा होती है, उसी प्रकार आत्मा में ही सुख की इच्छा होने पर भी उसके साथ शरीर में ऐक्य का आरोप होने से शरीर सुखी हो, ऐसी इच्छा भी होती है तो यह नहीं कह सकते, फिर तो अन्योऽन्याश्रय की आपत्ति होगी। यहाँ शरीर पुष्ट हो, इस इच्छा की भाँति तथा मैं सुखी होऊँ, इस इच्छा की तरह भी चिन्मात्र आत्मा मुक्त हो, ऐसी इच्छा कदापि नहीं होने से मुक्ति में अनिष्टत्व का प्रसंग होगा। जिस किसी की 'आत्मा मुक्त हो' ऐसी इच्छा हो तब कदापि मुमुक्षु की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि मेरी आत्मा मुक्त हो ऐसी इच्छा नहीं है। यदि कहें कि यद्यपि इच्छा के समय अन्तःकरण के साथ अध्यास संभव होने से आत्म मात्र की मुक्ति की इच्छा नहीं है, यह सत्य है, तथापि विशिष्ट वृत्ति मुक्ति की इच्छा में ही विशेषगत मुक्ति विषयक पर्यवसान का अभ्युपगम है, तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण अहमर्थ से अभिन्न रूप में आत्मा का भान कहीं भी नहीं दिखाई देने से इस कल्पना में अप्रामाणिकत्व है और अहमर्थ यदि अन्तःकरण गर्भित है तो मेरे मन में ऐसी प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि जो यदवच्छिन्न होता है पुनः उसका उसके साथ अन्वय नहीं होता है। दूसरी बात इस प्रकार मानने पर मनः स्फुरति, मनः अस्ति, इस ज्ञान से अहं इस ज्ञान में वैषम्य का अनुभव नहीं होगा कारण। उनमें चित् अचित् संवलन विषयत्व का भेद नहीं है। इसलिए अहमर्थ के अनात्मत्व में कोई प्रमाण नहीं है अर्थात् अहमर्थ आत्मा है, यह सिद्ध होता है। जैसे जानामि, अनुभवामि, इच्छामि इत्यादि प्रतीतियाँ द्वारा अहमर्थ मोक्षान्वयी है। क्योंकि वह मोक्ष

साधन कृति का आश्रय है सम्मत की तरह। यदि कहें कि स्वर्ग के साधन कृति के आश्रय ऋत्विग् में इसका व्यभिचार है तो ऐसा नहीं कह सकते। उद्देश्यता सम्बन्ध से जहाँ कृति है, वहीं फल होता है, ऐसा नियम है। ऋत्विजों को तो दक्षिणा ही उद्देश्य होता है, वहाँ व्यभिचार का योग नहीं है। दूसरा अनुमान है– अहमर्थ अनर्थ निवृत्ति का आश्रय है, क्योंकि वह अनर्थ का आश्रय है सम्मत की तरह है, यहाँ असिद्ध दोष भी नहीं है। मैं अज्ञ हूँ मैं अनुभव करता हूँ, ऐसा अबाधित अनुभव होता है। देह के अनर्थ का आश्रय न होने से व्यभिचार नहीं है। अनात्मत्व अहमर्थ वृत्ति नहीं है क्योंकि वह अनात्म मात्र वृत्ति होता है, घटत्व आदि की तरह इत्यादि अनुमानों द्वारा "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय, नामरूपे व्याकरवाणि, त्रिवृतं करवाणि, ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्सचात्मानं वेदाहं हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता" इत्यादि श्रुतियों द्वारा आत्मा में अहमर्थत्व सिद्ध होता है। विश्वलयात्मक प्राकृत लय में अवशिष्यमान (शेष बचे) एक अद्वितीय आदि शब्दों के प्रतिपाद्य परब्रह्म पुरुषोत्तम में भी प्राण, मन तथा भूत आदि की सृष्टि से पहले ज्ञाता से अभिन्न अहमर्थ होता है। उस पुरुषोत्तम का नित्यमुक्तत्व तो निर्विवाद ही है। इसी प्रकार "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा उस ब्रह्म के साथ सर्वथा साम्यभाव को प्राप्त आत्मा का मोक्ष दशा में भी अहमर्थ स्वरूपत्व ही है, यह सिद्ध है। "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि यदात्मानमेव वेदाहं ब्रह्मास्मि" इस श्रुति से निश्चय के साथ अहमर्थ से अभिन्न ब्रह्म के साथ तादात्म्य का उपदेश है। इसी प्रकार वेदन का आत्मभाव प्राप्ति रूप मोक्षफल का भी उपदेश है। अविद्या रहित ब्रह्म के द्वारा आत्मा के लिए 'अहं' का उल्लेख है। "अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः। स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः" (अहम् इस प्रतीति का जो वेद्य है, वही जीव है, वही सुखी दुःखी होता है और वही बन्ध एवं मोक्ष का पात्र होता है।) इस प्रकार यहाँ स्पष्टतया अहमर्थ को मोक्षान्वयी कहा गया है। "अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इत्यादि श्रुतियों में मुक्त रूप से प्रसिद्ध वामदेव ऋषि का स्पष्ट अनुभव है। "अहमात्मा गुडाकेश" यहाँ अहमर्थ को सर्वात्मा कहा है। "नत्वेवाहं जातु नासम्" इत्यादि वचनों द्वारा अहमर्थ को कालत्रय में अबाध्य बताया है। "ददामि बुद्धियोगं तम्" इस वचन के द्वारा मोक्षोपयोगी ज्ञानदातृत्व कहा है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' वचन द्वारा माया से तरने के लिए असाधारण उपाय स्वरूप शरणागति विषयत्व कहा है। "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" द्वारा जगत्कारणत्व कहा है। "वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः" के द्वारा शास्त्रवेद्य कहा है। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" द्वारा उसे (अहमर्थ को) मुक्त प्राप्य कहा है। "मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" द्वारा अपुनरावृत्ति स्वरूप फल कहा है। "मामेकं शरणं ब्रज" द्वारा सर्वशरण्य कहा है। "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि" द्वारा सर्वपाप निवर्तक भी अहमर्थ को ही श्रीमुख से भगवान् श्री पुरुषोत्तम ने निर्णय किया है और यदि अहमर्थ से अन्य आत्मा होती तो कभी उसकी उपलब्धि होती, उसकी उपलब्धि नहीं होने से यह योग्य अनुपलब्धि भी आत्मा में अहमर्थ में मान है। दूसरी बात अस्मदर्थ आत्मा की प्रतीति के अभाव की अन्यथा अनुपपत्ति भी इसके प्रमाण है। दूसरी बात प्रतिवादी भाष्यकार ने भी

अपने भाष्य में कहा है- "सर्वोह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति" (सब अपनी आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हैं) "न नाहमस्मि" (कोई यह नहीं कहता कि मैं नहीं हूँ) "यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात्" (यदि आत्मा में अस्तित्व की प्रसिद्धि नहीं होती।) तो "सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयादिति" तो सभी मैं नहीं हूँ ऐसा अनुभव करते, इसलिए यह आत्मा निश्चित ही प्रतीति का विषय नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह अस्मत् शब्द की प्रतीति का विषय है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से आत्मा के अहमर्थत्व का प्रतिपादन है। अन्यथा अपनी ही उक्ति का बाध होगा। इसलिए अहमर्थ के अभाव का अभाव ही आत्मा है, "इत्यलं पल्लवनेन" अब हमें इस विषय में विस्तार करना व्यर्थ है।।१८।।

इस प्रकार ज्ञाधिकरण पूरा हुआ।।८।।

अथ उत्क्रान्त्यधिकरणम्

अथ तत्परिमाणं निर्णीयते। तथाहि स किं मध्यमपरिमाणको विभुपरिमाणकोऽणुपरिमाणको वेत्याकांक्षायामाह——

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्।।२।३।१९।।

प्रत्यगात्माऽणुपरिमाणक एव कुतः? "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीति ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चान्द्रमसमेव ते गच्छन्तीति तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्म्मण इत्यादिना तस्योत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणादिति शेषः। न मध्यमपरिमाणको विभुपरिमाणको चा तत्र दोषाणामुक्तत्वात्। ननु स्यादेतत् मनसामात्मनां च विभुत्वबहुत्वयोग उक्तदोषाणां योगो, न त्वेकत्वविभुत्वयोगे तथाचैक एव विभुरात्माऽनेकोपाधिभिरवच्छिन्नो घटावच्छिन्नाकाशवत् भिन्नतया भाति। स्वस्वोपाधिप्रयुक्ताश्च स्वीयसुखदुःखानुभूतय उपाधीनामेवेतरेतरभिन्नानां भेदनियामकत्वेन सुखाद्यनुभवसाङ्कर्याभावाद्व्यवस्यासामञ्जस्यम्। यद्वा बिम्बस्थानीयमेकं ब्रह्म जलादिस्थानीये-ऽन्तःकरणाद्युपाधौ प्रतिबिम्बितं सञ्जीवत्वमापद्यत, उपाधेश्चाऽऽविद्यकत्वात्तत्प्रयुक्तभेदोप्याविद्यकः। यथा सूर्यस्य जलपरिपूरितघटेषु तत्र तत्र प्रतिबिम्बविशेषो घटोपाधिकृतो भेदश्च तत्रैकस्मिँश्चाल्यमाने घटजले घटे नष्टे च तद्गतस्यैकस्यैव प्रतिबिम्बस्य चाञ्चल्यबिम्बभावापत्तिर्नान्येषां तथैकस्मिन्नेवान्तः करणे सुखादिवृत्तरूपपरिणामे सति तद्गतैकस्यैव चेतनप्रतिबिम्बस्य तत्तद्दुःखाद्यनुभवो नान्येषाम्। तथाचैकस्मिन्नेवोपाधौ तत्त्वमस्यादिवाक्यश्रवणजन्यजीवब्रह्मैक्यज्ञानान्नष्टे सति तस्यैव ब्रह्मभावापत्तिर्नान्येषामिति सर्वस्या अपि सुखदुःखभोगसाङ्कार्य्याभावव्यवस्थाया बन्धमोक्षव्यवस्थायाश्च सुवचत्वमिति चेन्न। उभयपक्षेऽपि बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः सुखादिभोगसाङ्कर्यापत्तेश्च पूर्वमेव विस्तृतत्वात् परमतप्रयोजननिराकरणप्रकरणे यस्य ब्रह्मभावापत्तिलक्षणो मोक्षः प्रयोजनत्वेनाभ्युपगम्यत इत्यारभ्य जीवब्रह्मैक्यं वक्तुमशक्यमित्यन्तेन ग्रन्थेन। किञ्च सर्वगताद्धितीयात्मवाद उपाधेर्विभुत्वाङ्गीकारश्चेत् सर्वस्यापि चेतनस्यावृत्तत्वेन जगदान्ध्यप्रसङ्गः प्रकाशकाभावात्। गत्याद्यनुपपत्तिर्मुक्तोपसृप्यब्रह्मोच्छेदप्रसङ्गश्च "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, पूता मद्भावमागता"

इत्यादिमोक्षशास्त्रबाधश्च। उपाधिपरिच्छिन्नानेकात्मत्ववादे च पदे पदे बन्धमोक्षापत्त्यादिदोषाणां पूर्वमेव विस्तृतत्वात्। किञ्च मोक्षस्योक्तन्यायेनाकस्मात्पदे पदे सिद्धौ "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवा" इत्याद्यन्वयव्यतिरेकावधारणयुक्तमोक्षसाधनबोधकश्रुतीनां बाधप्रसङ्गः। मोक्षोद्देशेन जिज्ञासाशास्त्रारम्भवैयर्थ्यञ्च। किञ्च उभयपक्षेऽप्यावरकोपाधेः सत्यत्वं मिथ्यात्वं वा? नाद्यः। द्वैतापत्तेः, सत्यस्य ज्ञाननाश्यत्वानङ्गीकारेणानिर्मोक्षप्रसङ्गाच्च परमतप्रवेशाच्च। न द्वितीयः। अनुपपन्नत्वात्। तथाहि यथा बिम्बस्य सावयवत्वरूपवत्वादिना सजातीयसमसत्ताकोपाधौ प्रतिबिम्बनियमस्तथावच्छेदकस्याप्युपाधेः समसत्ताकस्यैवावच्छेदकत्वनियमोऽन्यथा स्वप्नरज्ज्वा जाग्रदवस्थायां राजभटनिगृहीतचौरादीनां बन्धनापत्तेर्मृगमरीचिकाजले सूर्यादेः प्रतिबिम्बनापत्तेश्च। नतु तदस्ति दृष्टश्रुतागोचरत्वात्। किञ्च तत्त्वज्ञानाज्जीवोपाधिनाशे सति जीवो नश्यति न वा? आद्ये स्वरूपनाशस्यैव मोक्षत्वापत्तिः। द्वितीयेऽविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गो ब्रह्मातिरिक्तजीवस्वरूपावस्थानात्। नच दर्पणादिषूपलभ्यमानमुखमालिन्या दिवच्छुद्धादिव्यवस्थोपपत्तिरिति वाच्यम्। आपततोक्ते, मालिन्यादय औपाधिका दोषाः कदा नश्येयुः? दर्पणाद्युपाध्यपगम इति चेत्, किन्तदा मालिन्याद्याश्रयः प्रतिबिम्बस्तिष्ठति न वा? आद्ये तत्स्थानीयस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्षप्रसङ्ग। द्वितीये तद्वदेवं जीवनाशात्स्वरूपनाश एव मोक्षःस्यात्। किञ्च यस्यापुरुषार्थरूपदोषप्रतिभासस्तदुच्छेदः पुरुषार्थः। तत्र किमौपाधिकदोषप्रतिभासो बिम्बस्थानीयस्य ब्रह्मण उत प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्य वाभिप्रेतस्तदितरस्य वा? आद्ययोः कल्पयोर्दृष्टान्तासिद्धिः, मुखस्य तत्प्रतिबिम्बस्य वा मालिन्यादिदोषशून्यत्वात्। नहि मुखं प्रतिबिम्बं वा चेतयत उभयोर्जडत्वात्, तदुभयेतरद्रष्टुरभावान्न तृतीयः। किञ्चाविद्याकल्प्यस्य जीवस्य को वा कल्पकोऽविद्येति चेन्न तस्या अचेतनत्वात्। नापि जीव आत्माश्रयापत्तेः, शुक्तिरजतवदविद्याकल्पितत्वाच्च जीवस्य ब्रह्मैव कल्पकमितिचेन्न। ब्रह्मण्यज्ञानस्यैवापातात्। किञ्च ब्रह्मण्यज्ञानाङ्गीकारे किं ब्रह्म जीवान्पश्यति न वा?' न पश्यति चेदीक्षादिपूर्विका विचित्रसृष्टिर्नामरूपस्यव्याकरणादि च ब्रह्मणो न स्यात्। अथ पश्यति चेदखण्डैकरसं ब्रह्म नाविद्यामन्तरेण जीवान्पश्यतीति ब्रह्मण्यज्ञानप्रसङ्गः। अतएव मायाविद्याविभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमन्तरेण हि मायिनो ब्रह्मणो जीवदर्शित्वाऽसम्भवात्। नहि मायावी परानदृष्ट्वा मोहयितुमलं, नापि मायाऽमायाविनो दर्शनसाधनं दृष्टेषु परेषु तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः। अथ ब्रह्मणो माया जीवदर्शित्वं कुर्वन्ती जीवमोहनस्य हेतुरितिचेन्न। तर्हि परिशुद्धस्याखण्डैकरसस्य स्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शित्वं कुर्वन्ती मायाऽपरपर्यायाऽविद्यैव स्यात्। ननु विपरीतदर्शनहेतुरविद्या, माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्यात्वेन दर्शयन्ती न ब्रह्मणो विपरीतहेतुरतस्तस्या अनादित्वमिति। मैवमेकत्वे ज्ञायमाने द्विचन्द्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात्। यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वव्यतिरिक्तं जानाति, तर्हि कथं तान्मोहयति। नह्यनुन्मत्तो मिथ्यात्वेन ज्ञातान्मोहयितुमीहते। अथ पुरुषार्थापरमार्थदर्शनेहतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो नापुरुषार्थदर्शनहेतुरतोऽस्या अनादित्वमिति मतम्, तत्र द्विचन्द्रदर्शनस्य दुःखहेतुत्वाभावेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तद्धेतुरविद्यैव, तन्निरसनप्रयासदर्शनात्। यदि च नापुरुषार्थदर्शनकरी माया, तर्ह्यनुच्छेद्यतया ब्रह्मस्वरूपानुबन्धिनी स्यात्। अस्तु को दोष इति चेत्? द्वैतदर्शनमेव दोषः। "यत्र द्वैतमिव भवति तत्रेतर इतरम् पश्यति यत्रत्वस्य सर्वामात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येद्" इत्याद्यद्वैतश्रुतिव्याकोपात्। परमार्थविषया अद्वैतश्रुतयः

मायायास्त्वपरमार्थत्वान्न विरोध इति चेत्। अपरिच्छिन्नानन्दैकरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादिदर्शनं तद्वत्त्वं चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते, तव मते ह्यविद्यकमेव ब्रह्म मायादिदर्शित्वादिति। ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्ये"ति श्रुतेर्न जीवब्रह्मणोर्वास्तवो भेदः, किन्तु कल्पितभेदाश्रयणे नैवेयं व्यवस्थोच्यते। नच कस्य कल्पना? न तावद्ब्रह्मणः तस्य परिशुद्धज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्, नापि जीवानाम् अन्योन्याश्रयापत्तेः, कल्पनाधीनोहि जीवभावो जीवाश्रया च कल्पनेति वाच्यम्। अविद्याजीवत्वयो बीजांकुरन्यायेनानादित्वात् जीवानां भ्रमस्यानादित्वान्न तद्धेतुरन्वेषणीय इति चेन्न, स्वकपोलकल्पनाविजृम्भितत्वात्। तथाहि जीवस्याकल्पितस्वरूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्, तदतिरिक्तेन तस्मिन् कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जडस्याविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्। नहि मायावादे तदुभयातिरिक्ताकारस्याङ्गीकारः। नच कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमितिवाच्यम्, अखण्डैकरसस्य स्वरूपस्याविद्यामन्तरेण विशिष्टत्वासम्भवात्। किञ्च जीवाज्ञानाश्रयणे किं प्रयोजनमिति वक्तव्यम्, बन्धमोक्षव्यवस्थासिद्धिरेवेति चेन्न। सा तु तत्पक्षेऽपि न सम्भवत्यविद्याया विनाशो हि मोक्षस्तत्रैकस्मिन्मुक्तेऽविद्याविनाशात् सर्वे मुच्येरन्। अन्येषां ह्यमुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत्तर्हि न कस्यापि मुक्तिः स्यादविद्याया अविनष्टत्वात्। प्रतिजीवमविद्याभेदः कल्प्यते चेत्। भेदः स्वाभाविको वोत कल्पितः? नाद्योऽनङ्गीकारात्, भेदसिद्धयेऽविद्याकल्पनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न द्वितीयोऽन्योऽन्याश्रयात्, जीवभेदसिद्धौ तासां सिद्धिस्तासु च जीवभेदसिद्धिरिति। नच बीजाङ्कुरन्यायेन तस्यादोषत्वमुक्तमेवेति वाच्यम्। उक्तन्यायस्यात्रानवसरात् तथाहि बीजांकुरेषु तावदन्यदन्यद्बीजमन्यस्यान्यस्याङ्कुरस्योत्पादकं प्रत्यक्षादिप्रमाणासिद्धम्। इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिः। अथ बीजाङ्कुरन्यायेन पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्याभिरुत्तरोत्तरजीवकल्पनां मन्यस उत विज्ञानवादिवज्जीवोत्पत्तिम्? आद्ये; असम्भवः कल्पनायाः प्राक् कल्पकस्याभावात्। द्वितीये जीवानां भङ्गुरत्वं कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्चेति। अतएव ब्रह्मणः पूर्वपूर्वजीवाश्रयाभिरविद्या-भिरुत्तरोत्तरजीवभावकल्पनमित्यपि निरस्तम्। अविद्याप्रवाहेऽभ्युपगम्यमाने तत्कल्पितजीवभावस्यापि तद्वत्प्रवाहानादिता स्यान्न ध्रुवरूपता, तथात्वे चामोक्षाज्जीवभावस्य ध्रुवत्वमपि तवेष्टं न सिद्ध्येत्। ननु प्रासादनिगरणादिवदनुपपन्नैतकवेद्यायामविद्यायामवस्तुभूतायां नेतरेतरादिदोषा अनवक्लृप्तिमावहन्तीति चेन्न। तथात्वे च सति मुक्तानपि परं ब्रह्म चाश्रयेदविद्येति मन्तव्यं पण्डितम्मन्यैः, तेषां शुद्धज्ञानरूपत्वादशुद्धाविद्या न तत्र सज्जतीति चेत्तर्ह्युक्तोपपत्तिभिर्जीवानपि नाश्रयेत्तेषामपि स्वरूपतो ब्रह्माभिन्नत्वेन शुद्धत्वाऽविशेषात्। अन्यथा तव मते शुद्धस्य ब्रह्मणो विद्याश्रयत्वाङ्गीकारेण मुक्तानां शुद्धानां पुनरविद्याश्रयणेऽपि कियान्दोषः। तथोक्तं विवरण "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवले" त्यादिना। अतः प्रतिबिम्बवादः श्रेयोऽर्थिभिःसर्वथोपेक्षणीयः। श्रुत्यादिमानशून्यत्वात्। न"न्वेक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदि" तिश्रुतिसिद्धत्वात्कथमश्रौतत्वमिति चेन्न। उक्तश्रुतेरन्तर्यामिणो निर्लेपत्वप्रतिपादनपरत्वेन प्रतिबिम्बविषयकत्वाभावात्तस्मिन्वाक्ये प्रतिबिम्बशब्दादर्शनात् काल्पनिकार्थस्य बुद्धिकौशलमात्रत्वात्। श्रुत्यर्थस्तु भूतात्मा भगवान्वासुदेव एक एव भूते भूते चेतनाचेतनवर्गे, यद्वाऽभूत इति छेदो भूते कार्यवर्गे-अभूते कारणवर्गे, यद्वा भूते सृष्टिगते बद्धचेतनवर्गे, अभूते सृष्ट्यनन्तर्गति नित्यमुक्तचेतनवर्गे

तदन्तर्यामितया व्यवस्थितो विशेषेण सदैकरसानन्दरूपेणावस्थितोऽपि तद्गतदोषासंस्पृष्टमाहात्म्य एव दृश्यते महात्मभिस्तदनुग्रहभाजनैरुपनिषच्चक्षुष्कैरित्यन्वयः। ननु गुणदोषसम्पृक्ते वस्तुनि वर्त्तमानस्य कथमिव तन्निर्लेपत्वमित्याशङ्कां दृष्यन्तेन निराकरोति। चन्द्रवदिति। यथा चन्द्रः श्रीगङ्गादिपुण्यजलेषु शूकरादिविलोडितदुर्गन्धिगर्त्तादिजलेषु च स्वकरनिकरव्याप्त्यावर्त्तमानोऽपि तद्गतगुणदोषैर्न युज्यत, एवं ब्रह्मादिश्वपाकान्तेषु चेतनाचेतनेषु साम्येन स्वरूपव्याप्त्या तिष्ठन्नपि परमेश्वरो न तद्गतगुणदोषैर्युज्यतेऽस्पृष्टस्वभावत्वात्। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" इत्यग्रिमवाक्यात्। तत्रैकधासमष्ट्यन्तर्यामितया बहुधा व्यष्ट्यन्तरात्मतयेति संक्षेपः। किञ्च तवाभिप्रेतं बिम्बभूतं ब्रह्मोपाध्यन्तःस्थम्? तदनन्तर्गतं वा? नाद्यः। जलान्तरस्थस्य मत्स्यकूर्मादेः प्रतिबिम्बादर्शनात्। नान्त्यः तव पक्षे ब्रह्मणोऽविद्यावहिः स्थत्वासम्भवात्। अन्यथा सदेशत्वापत्तेः परिच्छिन्नत्वप्रसङ्गाच्च, तथात्वे च मिथ्यात्वं दुर्वारम्। ब्रह्म मिथ्या सदेशत्वात् पृथिव्यादिवत्परिच्छिन्नत्वाद्धट्यदिवच्चेत्यनु-मानादित्याद्युक्तं पूर्वमेव, एवमवच्छेदवादेऽप्युक्तदोषा ऊह्या अविशेषात्। नाप्येकजीववादस्य सम्यक्त्वं पूर्वमेव निरस्तत्वात्प्रमाणशून्यत्वाच्च। नच "पुरत्रये क्रीडति देव एक, एको देवः सर्वभूतेषु गूढ" इत्यादिश्रुतीनां तत्र मानत्वमिति वाच्यम्। तासामेकजीवपरत्वाभावात्, श्रुत्यर्थस्तु पुरत्रये जाग्रदाद्यवस्थावच्छिन्नदेहत्रय एकएव जीवो देवः प्रकाशरूपत्वात् क्रीडनशीलत्वाद्वा, नत्ववस्थाभेदाज्जीवभेदः। अन्यथा कृतनाशादिप्रसङ्गादिति प्रथमवाक्यार्थः। एको देव इत्यादिवाक्यं तु ब्रह्मपरं। सर्वव्यापित्वसर्वभूतान्तरात्मत्वकर्म्माध्यक्षत्वसर्वसाक्षित्वादीनां ब्रह्मासाधारणलिङ्गानां जीवे कथमप्यसम्भवात्, तस्मादेकजीववादोऽश्रौत एवेति सिद्धम्। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां, नत्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपा, बहवो ज्ञानतपसा पूता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधात्। शास्त्रे क्वचिदेकवचनोक्तिर्जातिपरा "ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्यादिवत्। औपाधिकभेदवादे तु कायव्यूहस्थले योगिनः सर्वदेहेषु भोग इवैकजीवस्य सर्वदेहगतसुखाद्यनुभवापत्तिः। ब्रह्मण एव जीवत्वेन नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिव्याकोपश्चैकस्यानेकदेहेषु प्रत्यक्त्वपराक्त्वासम्भवश्च। न चान्तःकरणभेदस्यात्र नियामकत्वमिति वाच्यम्। योगिनः कायव्यूहानामन्तःकरणभेदेऽपि प्रत्यक्त्वपराक्त्वदर्शनात्प्रत्युताहमित्येव सर्वत्र प्रतीतिदर्शनाच्च। अवच्छेदवादोक्तदोषाणामत्र तुल्यत्वं किन्तूपाधिसत्त्वमिथ्यात्वयोरेव विशेष इत्यलं विस्तरेण। तस्मादणुपरिमाणक एवेति प्रकृतमनुसरामः।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब उत्क्रान्ति अधिकरण प्रारम्भ होता है।

जीवात्मा के परिमाण का निर्णय करते हैं। वह आत्मा मध्यम परिमाण वाला है या विभु परिमाण वाला किंवा अणु परिमाण वाला? इस आकांक्षा में कहते हैं——

जीवात्मा अणु परिमाण वाला ही है, क्योंकि श्रुति का वचन है "स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीति ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चान्द्रमसमेव ते गच्छन्तीति तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे" यह समष्टि जीव जब इस लोक से प्रारब्ध कर्म के

अवसान होने पर इस शरीर से उत्क्रमण करता है (जाता है) तब इन बुद्धियों तथा इन्द्रियों के साथ जाता है और चन्द्रलोक में जाता है और उस चन्द्रलोक से इस लोक में कर्म करने के लिए आता है इत्यादि श्रुतिवचनों द्वारा जीवात्मा की उत्क्रान्ति (बहिर्गमन) गति तथा आगति (आगमन) का प्रतिपादन किया गया है। (जो विभु परिमाण में संभव नहीं है) अतः अणु परिमाण सिद्ध होता है न मध्यम परिमाण या विभु परिमाण, इन दोनों परिमाणों में दोष पहले कहे गये हैं। (यदि प्रत्यगात्मा को मध्यम परिमाण वाला माने तब घटादि की तरह सावयव होने से अनित्य हो जायगा। अनित्य होने से नित्यत्व प्रतिपादक श्रुति का बाध होगा। यदि जीवात्मा को विभु परिमाण वाला मानें तो उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि संभव नहीं होगा, ऐसी स्थिति में उत्क्रान्ति आदि प्रतिपादक श्रुतियों का बाध होगा। अब जीवात्मा को एक एवं विभु मानकर उसे बुद्धि आदि उपाधि सम्बन्धानुसार भेद मानना वास्तविक नहीं। इसप्रकार अवच्छेदकवाद का आश्रय लेकर शङ्का करते हैं ननु इति) यदि कहें कि उक्त दोष मन एवं आत्मा के विभु एवं अनेक मानने पर ही होता है उन्हें एक या विभु मान लें तब उक्त दोष नहीं होंगे। इस प्रकार विभु आत्मा (जीव) एक ही है जो कि अनेक उपाधियों से अवच्छिन्न होकर घटाकाश मठाकाश की तरह भिन्न रूप से भासित होता है। अपने-अपने उपाधि प्रयुक्त ही अपनी-अपनी सुख-दुःख की अनुभूतियाँ होती है। परस्पर भिन्न उपाधि ही भेद का नियामक होगी। इस तरह सुख-दुःख आदि के अनुभव में कोई सांकर्य भी नहीं होगा। इस प्रकार व्यवस्था में सामञ्जस्य हो जायगा अथवा बिम्ब स्थानीय एक ब्रह्म है और जलादि स्थानीय अन्तःकरण आदि उपाधि में प्रतिबिम्बित होकर वह जीवत्व को प्राप्त होता है। उपाधि आविद्यक होने से तत्प्रयुक्त भेद भी आविद्यक है। जैसे सूर्य का जलपूरित नाना घटों में तत् घटों में प्रतिबिम्ब विशेष तथा घटादि उपाधिकृत है और भेद भी एक घट के जल को डुलाने एवं घट के नष्ट होने पर तद्गत एक ही प्रतिबिम्ब में चाञ्चल्य भावापत्ति होती है अन्य में नहीं, उसी प्रकार एक ही अन्तःकरण में सुखादि वृत्ति रूप परिमाण होने पर तद्गत एक ही चेतन प्रतिबिम्ब का तत् दुःखादि अनुभव होगा अन्य को नहीं। इस प्रकार एक ही उपाधि के तत्त्वमसि आदि महावाक्य श्रवण जन्य जीव ब्रह्मैक्य ज्ञान से नष्ट होने पर उस उपाधि से अवच्छिन्न जीव को ही ब्रह्मभावापत्ति होगी अन्य को नहीं। इस प्रकार सभी प्रकार के सुख-दुःख भोग के सांकर्य को अभाव की व्यवस्था तथा बन्ध मोक्ष की व्यवस्था संभव हो जायगी तो ऐसा नहीं कह सकते- अवच्छेदकवाद एवं प्रतिबिम्बवाद उभयपक्ष में बन्ध मोक्ष व्यवस्था की अनुपपत्ति तथा सुख-दुःखादि भोग की सांकर्यापत्ति होगी ही, यह मैंने पहले ही विस्तार से कहा है। जहाँ पहले परमत में प्रयोजन के निराकरण का प्रकरण है, वहाँ "यस्य ब्रह्मभावापत्तिलक्षणो मोक्षः प्रयोजनत्वेनाभ्युपगम्यते" यहाँ से लेकर "जीवब्रह्मैक्यं वक्तुमशक्यमित्यन्तेन ग्रन्थेन" तक दूसरी बात सर्वगत अद्वितीय आत्मवाद में उपाधि को विभु मानने पर सभी चेतनों में आवृत हो जाने से जगत् में अन्धकार का प्रसंग होगा। कारण तब कोई प्रकाशक नहीं होगा। गति, आगति आदि की अनुपपत्ति तथा मुक्त प्राप्य ब्रह्म का उच्छेद प्रसंग भी हो जायेगा। तथा "ब्रह्मविदाप्नोति परम्, पूता मद्भावमागताः" इत्यादि मोक्षशास्त्र में बाध का

प्रसंग भी होगा। उपाधि परिच्छिन्न अनेकात्मवाद मानने पर पद-पद पर बन्ध मोक्ष की आपत्ति आदि दोषों की उत्पत्ति होगी। यह विषय पहले ही विस्तारपूर्वक कहा गया है। उक्त न्याय से मोक्ष अकस्मात् पद पद पर सिद्ध होने पर "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति, यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः" इत्यादि अन्वय व्यतिरेक के अवधारण से युक्त मोक्ष साधन बोधक श्रुतियों का बाध होगा। तथा मोक्ष उद्देश्य से जिज्ञासा शास्त्र का वैयर्थ्य भी होगा। दूसरी बात हम पूछेंगे आवरक उपाधि सत्य है या मिथ्या? पहला पक्ष नहीं कह सकते इसमें द्वैतापत्ति है तथा सत्य का ज्ञान से नाश नहीं मानने से अनिर्मोक्ष प्रसंग भी होगा। सत्य का भी ज्ञान नाश मानकर मुक्ति स्वीकार करने पर परमत का प्रवेश होगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि वह अनुपपन्न है, जैसे बिम्ब के सावयव एवं रूपवान् होने पर ही सजातीय समसत्ताक उपाधि में प्रतिबिम्ब का नियम है। उसी तरह अवच्छेदक उपाधि में भी समसत्ताक तत्त्व का ही अवच्छेदकत्व का नियम है अन्यथा स्वप्न कालिक रज्जु से जाग्रत अवस्था में राजकीय पुरुषों द्वारा निगृहीत चोर आदि बन्धन की आपत्ति होगी तथा मृग-मरीचिका जल में सूर्य आदि के प्रतिबिम्ब की आपत्ति भी होगी। पर ऐसा होता नहीं है क्योंकि ऐसा न कहीं देखा गया, न सुना ही गया है। दूसरा प्रश्न है कि तत्त्वज्ञान से जीव की उपाधि अविद्या का नाश होने पर जीव का नाश होता है या नहीं? प्रथम पक्ष में स्वरूप नाश में ही मोक्षत्वापत्ति द्वितीय पक्ष में अविद्या नाश होने पर भी अनिर्मोक्ष का प्रसंग होगा क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त जीव स्वरूप का अवस्थान है। यदि कहें कि दर्पण आदि में उपलभ्यमान मुख मालिन्य आदि की तरह शुद्ध आदि की व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी तो ऐसा नहीं कह सकते, यह कथन आपात रमणीय है। हम पूछते हैं मालिन्य आदि औपाधिक दोष कब नष्ट होंगे। दर्पण आदि उपाधि के नष्ट होने पर कहें तो पूछेंगे, क्या उस समय मालिन्य आदि का आश्रय प्रतिबिम्ब रहता है या नहीं? प्रथम पक्ष में तत्स्थानीय जीव के भी स्थित होने पर अनिर्मोक्ष का प्रसंग होगा, द्वितीय पक्ष में तद्वत् ही जीव नाश से स्वरूप नाश, स्वरूप ही मोक्ष होगा। और जिसको अपुरुषार्थ रूप दोष का प्रतिभास है उसका उच्छेद ही पुरुषार्थ होगा। यहाँ प्रष्टव्य है, क्या औपाधिक दोष का प्रतिभास बिम्ब स्थानीय ब्रह्म को होता है या प्रतिबिम्ब स्थानीय जीव को अथवा इन दोनों से भिन्न को। प्रथम दो पक्षों में दृष्टान्त की असिद्धि है, मुख एवं उसके प्रतिबिम्ब में मालिन्य आदि दोष का अभाव है, मुख या उसका प्रतिबिम्ब चेतन नहीं है, दोनों जड़ हैं उन दोनों से भिन्न द्रष्टा के अभाव होने से तीसरा पक्ष नहीं हो सकता। दूसरी बात अविद्या द्वारा कल्पित जीव का कौन कल्पक है, अविद्या कहें तो नहीं कह सकते, वह अचेतन है। जीव नहीं हो सकता, तब तो आत्माश्रय दोष लगता है। शुक्ति रजत् की तरह अविद्या कल्पित है। जीव का ब्रह्म ही कल्पक है, ऐसा भी नहीं कह सकते, ब्रह्म में अज्ञान का आपात होगा। यदि ब्रह्म में अज्ञान स्वीकार करें तो प्रश्न है कि ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं? नहीं देखता है कहें तो फिर ईक्षा (ईक्षण) पूर्वक ब्रह्म की विचित्र सृष्टि तथा नाम रूपात्मक जगत् की रचना ब्रह्म में नहीं हो सकती। यदि देखता है कहें तो अखण्ड एक रस ब्रह्म बिना अविद्या के जीवों को नहीं देखता, ऐसा

कहने पर ब्रह्म में अज्ञान का प्रसंग होगा। इसीलिए माया एवं अविद्या का विभाग वाद भी खण्डित होता है। अज्ञान के बिना माया युक्त ब्रह्म में जीव दर्शित्व संभव नहीं है। मायावी दूसरों को देखकर मोहित करने में समर्थ नहीं हो सकता और न ही माया अमायावी के दर्शन का साधन हो सकता है क्योंकि अन्य के दृष्ट होने पर उसके मोहन का वह साधन मात्र होता है। अब विधि कोटि के अभिप्राय से कहते हैं- "अथ ब्रह्मणः" यदि कहें कि ब्रह्म की माया जीव दर्शन कराती हुई जीव के मोहन का हेतु है तो ऐसा नहीं कह सकते, तब परिशुद्ध अखण्ड एक रस स्व प्रकाश ब्रह्म का परदर्शित्व करती हुई माया अपर पर्याय वाली अविद्या ही होगी। यदि कहें कि विपरीत दर्शन की हेतु अविद्या है और माया तो ब्रह्म व्यतिरिक्त वस्तु को मिथ्या बताती हुई ब्रह्म के विपरीत हेतु नहीं है, इसलिए इसमें अनादित्व है तो ऐसा नहीं कह सकते। एकत्व ज्ञायमान होने पर द्विचन्द्रदर्शन हेतु से भी अविद्यात्व है। यदि कहें कि ब्रह्म मिथ्या रूप से स्वभिन्न पदार्थ को जानता है, तब उसे मोहित कैसे करता है। उन्मत्त व्यक्ति को छोड़ कर कोई भी व्यक्ति मिथ्या रूप से ज्ञात तत्व को मोहित करने की चेष्टा नहीं करता। यदि कहें कि पुरुषार्थ को अपरमार्थ रूप में दर्शन की हेतु को अविद्या कहते हैं, माया तो ब्रह्म के अपुरुषार्थ दर्शन में हेतु नहीं है इसलिए इसमें अनादित्व है, ऐसा मत है। यहाँ द्विचन्द्र दर्शन में दुःख हेतुत्व का अभाव होने से अपुरुषार्थ का अभाव होने पर भी उसका हेतु अविद्या ही है क्योंकि उसके निरास के लिए प्रयास देखा जाता है। यदि कहें कि अपुरुषार्थ दर्शनकरी माया नहीं है, तब अनुच्छेद्य होने से ब्रह्म स्वरूप की अनुबन्धिनी होगी। यदि कहें कि ऐसा मान लें तो क्या दोष है? तो कहते हैं कि द्वैत दर्शन ही दोष है "यत्र द्वैतमिव भवति तत्रेतर इतरम् पश्यति यत्र त्वस्य सर्वामात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" इत्यादि अद्वैत श्रुतियों का व्याकोप होगा। यदि कहें कि अद्वैत श्रुति परमार्थ विषयक है और माया अपरमार्थ है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं है, तो यह भी नहीं हो सकता। अपरिच्छिन्न आनन्दैक स्वरूप ब्रह्म में अपरमार्थभूत माया का दर्शन और माया युक्तत्व अविद्या के बिना संभव नहीं है, आपके मत में ब्रह्म अविद्या रहित है क्योंकि उसमें माया आदि का दर्शित्व है। यदि कहें कि "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इस श्रुति के द्वारा जीव और ब्रह्म में वास्तव में कोई भेद नहीं है, किन्तु कल्पित भेद के आश्रय से ही यह व्यवस्था कहीं जाती है। यदि कहें कि यह किसी की कल्पना है तो ब्रह्म की कह नहीं सकते। कारण वह ब्रह्म परिशुद्ध ज्ञान स्वरूप है, वह कल्पना शून्य है। जीवों की भी नहीं कह सकते। तब तो अन्योऽन्याश्रय की आपत्ति होगी क्योंकि कल्पनाके अधीन जीवभाव और जीवाश्रय है। यदि कहें कि अविद्या और जीवत्व में बीजाङ्कुर की तरह अनादित्व है, जीवों का भ्रम अनादि है, इसलिए उसका हेतु अन्वेषण नहीं करना चाहिए तो ऐसा नहीं कह सकते, यह कथन निज कपोल कल्पना मात्र है। जैसे जीव को अकल्पित स्वरूप से अविद्या का आश्रय मानने पर ब्रह्म में अविद्याश्रयत्व माना जायेगा, उससे अतिरिक्त और उसमें कल्पित आकार द्वारा अविद्या का आश्रय मानने पर जड़ को अविद्याश्रय माना जायेगा। मायावाद में उन दोनों से अतिरिक्त आकार अङ्गीकार नहीं किया गया है। यदि कहें कि कल्पित आकार से विशिष्ट स्वरूप में ही अविद्याश्रयत्व है

तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अखण्ड एक रसस्वरूप तत्त्व में अविद्या के बिना विशिष्टत्व संभव नहीं है। दूसरी बात जीव के अज्ञानाश्रयण में क्या प्रयोजन है? तब यह कहना पड़ेगा कि बन्ध तथा मोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि ही प्रयोजन है, तो यह भी नहीं कह सकते, वह व्यवस्था तो उस पक्ष में भी संभव नहीं है। अविद्या का विनाश ही मोक्ष है, इसमें एक के मुक्त होने पर अविद्या के विनाश से सभी मुक्त हो जायेंगे। अन्य लोगों के मुक्त न होने के कारण अविद्या रहती है, ऐसा यदि कहें तब तो किसी की भी मुक्ति नहीं होगी क्योंकि अविद्या का नाश नहीं हुआ है। यदि कहें कि प्रत्येक जीव की अविद्या अलग-अलग है सबकी अविद्या में भेद है तो प्रश्न है कि भेद स्वाभाविक है या कल्पित। प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, स्वाभाविक भेद अङ्गीकार नहीं है, भेद सिद्धि के लिए अविद्या की कल्पना में वैयर्थ्य का प्रसंग है। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते, उसमें अन्योऽन्याश्रय होता है। जीव के भेद सिद्ध होने पर उसकी सिद्धि होगी, उनमें होने पर जीव के भेद की सिद्धि होगी। यदि कहें कि बीजांकुर न्याय से वह दोष नहीं माना जायेगा, यह पहले कहा ही है तो यह भी नहीं कह सकते। बीजांकुर न्याय का यहाँ अवसर नहीं है क्योंकि बीजांकुर में अन्य-अन्य (अलग-अलग) बीज अलग-अलग अंकुर का उत्पादक होता है यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है। यहाँ तो जिन अविद्याओं से जो जीव कल्पित होते हैं, उन जीवों का आश्रय करके ही उन अविद्याओं की सिद्धि होती है। यहाँ विकल्प द्वारा भी उक्त शङ्का का निराकरण करते हैं 'अथेति' अर्थात् यहाँ बीजांकुर न्याय से पूर्व-पूर्व जीवाश्रित अविद्याओं द्वारा उत्तरोत्तर जीवों की उत्पत्ति मानते हैं। आद्य पक्ष में असंभव है, कल्पना से पहले कल्पक का अभाव है। द्वितीय पक्ष में जीवों में भंगुरत्व तथा कृतनाश एवं अकृताभ्यागम दोष का प्रसंग है। इसलिए ब्रह्म द्वारा पूर्व-पूर्व जीवाश्रय अविद्याओं द्वारा उत्तरोत्तर जीवभाव की कल्पना की बात भी निरस्त हो जाती है। अविद्या का प्रवाह स्वीकार करने पर उसके द्वारा कल्पित जीव भाव को भी उसकी तरह प्रवाह रूप से अनादित्व होगा, न कि ध्रुवरूपता। ऐसा होने पर मोक्ष पर्यन्त जीव भाव में ध्रुवत्वरूप आपका इष्ट सिद्ध नहीं होगा। यदि कहें कि प्रासाद निगरण आदि की तरह अनुपपन एकमात्र वेद्य अवस्तुभूत अविद्या में अन्योऽन्याश्रय आदि दोष अनिश्चय भाव को प्राप्त होते हैं, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। ऐसा होने पर मुक्त जीवों एवं परब्रह्म को भी अविद्या घेर लेगी। यह भी पण्डित मानी जनों को नहीं भूलना चाहिए (मानना चाहिए)। यदि कहें कि मुक्त जीव परब्रह्म के शुद्ध ज्ञान रूप होने से अशुद्ध अविद्या का संस्पर्श नहीं हो सकता तो यह भी नहीं कह सकते। तब तो उक्त युक्तियों (उपपत्तियों) से (वरध) जीवों को भी अविद्या स्पर्श नहीं कर सकती क्योंकि जीव भी स्वरूपतः ब्रह्म से अभिन्न होने से सर्वथा शुद्ध ही है। अन्यथा आपके मत में शुद्ध ब्रह्म में विद्याश्रयत्व का अङ्गीकार करने से पुनः शुद्ध मुक्त जीवों में अविद्या के आश्रय में भी कितना दोष होगा। जैसा विवरण ग्रन्थ में कहा है "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला" इत्यादि। इसलिए श्रेय चाहने वालों को प्रतिबिम्ब वाद सर्वथा त्याग देना चाहिए। कारण इसमें श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहें कि "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इस श्रुति के द्वारा

प्रतिबिम्बवाद सिद्ध होने से यह वाद कैसे अश्रौत हो सकता है, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि उक्त श्रुति के द्वारा अन्तर्यामी परमात्मा के निर्लेपत्व प्रतिपादनपरक होने से उक्त श्रुति में प्रतिबिम्बवाद समर्थनपरकत्व का अभाव है। कारण उक्त वाक्य में प्रतिबिम्ब शब्द का दर्शन नहीं है। काल्पनिक अर्थ केवल बुद्धि कौशल मात्र होता है। श्रुति का अर्थ तो केवल इतना ही है कि भूतात्मा भगवान् वासुदेव अकेले ही भूते भूते अर्थात् चेतन अचेतन वर्ग में अथवा अभूते ऐसा छेद है यानी भूत कार्य वर्ग तथा अभूत कारण वर्ग में अथवा भूत-सृष्टि गत बद्ध चेतन वर्ग, अभूत सृष्टि बहिर्भूत नित्यमुक्त चेतन वर्ग में उसके अन्तर्यामी रूप से व्यवस्थित विशेष रूप से सदा एकरस आनन्दरूप में अवस्थित होने पर भी तद्गत दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट दिखाई देते हैं। उन महापुरुषों को जो परमपिता परमात्मा के अनुग्रह के भाजन है तथा उपनिषत् ही जिनका एक मात्र चक्षु है ऐसा अन्वय है। यदि कहें कि गुणों एवं दोषों से संयुक्त वर्तमान वस्तु में कैसे निर्लेपत्व होगा, इस आशंका का दृष्टान्त द्वारा निराकरण करते हैं। चन्द्रवत्, जैसे चन्द्रमा श्रीगंगा आदि पवित्र जलों एवं शूकर आदि अपवित्र जन्तुओं द्वारा विलोड़ित दुर्गन्ध युक्त गर्त जलों में व्याप्त होने पर भी तद्गत गुण दोषों से सपृक्त नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म से लेकर चाण्डाल पर्यन्त चेतन अचेतन वर्गों में समान रूपसे अपने स्वरूप के सम्बन्ध से विद्यमान रहने पर भी परमेश्वर तद्गत गुण दोषों से संयुक्त नहीं होता क्योंकि उनका दोषास्पृष्टत्व स्वभाव है। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्य" ऐसा अग्रिम वचन है। यहाँ एकधा का अर्थ है समष्टि अन्तर्यामी तथा बहुधा से तात्पर्य है व्यष्टि अन्तरात्मा। दूसरी बात आपके अभिप्रेत बिम्बभूत ब्रह्म उपाधि के अन्तःस्थ होता है या उसके बहिर्गत। पहला पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि जलान्तर्गत मत्स्य कूर्मादि का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता। दूसरा पक्ष नहीं कह सकते। आपके मत में ब्रह्म की अविद्या के बाहर अवस्थिति असंभव है। अन्यथा उससे सदेशत्व की आपत्ति होगी और परिच्छिन्नत्त्व का प्रसंग भी होगा। सदेशत्व एवं परिच्छिन्नत्व होने पर मिथ्यात्व दुर्वार हो जायगा। अनुमान होगा ब्रह्म मिथ्या है। क्योंकि वह सदेश है पृथिवी आदि की तरह अथवा परिच्छिन्नत्व हेतु से घटादि की तरह। इसी प्रकार अवच्छेदवाद में उक्त दोष होगा, कारण दोनों में समानता है। एक जीववाद वाला पक्ष भी ठीक नहीं, इसका तो पहले ही खण्डन कर दिया गया है और इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहें कि एक जीववाद में "पुरत्रये क्रीडति देव एकः, एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि श्रुतियाँ एक जीववाद में प्रमाण हैं तो यह ठीक नहीं, उक्त श्रुतियाँ एक जीववाद परक नहीं है। यहाँ प्रथम श्रुति का अर्थ है पुरत्रय अर्थात् जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थावच्छिन्न देहत्रय में एक ही जीव रहता है, जो देव प्रकाश रूप है या क्रीड़नशील है, न कि अवस्था भेद से जीव का वहाँ भेद होता है। अन्यथा कृतनाश अकृताभ्यागम दोष का प्रसङ्ग होगा, यह 'एको देवः' श्रुति तो स्पष्ट ब्रह्मपरक है क्योंकि वहाँ सर्वव्यापित्व, सर्वभूतान्तरात्मत्व, कर्म्माध्यक्षत्व तथा सर्वसाक्षित्व आदि ब्रह्म में असाधारण लिङ्ग जीव में कथमपि संभव नहीं होने से उक्त श्रुति जीवपरक कभी भी नहीं हो सकती। इसलिए एक जीववाद सर्वथा अवैदिक है। दूसरी बात एक जीववाद "नित्यो

नित्यानां चेतनश्चेतनानां, नत्वेवाहं जातु नाऽऽसं न त्वं नेमे जनाधिपाः, बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः" इत्यादि स्मृति के विरुद्ध भी है। शास्त्र में कहीं जो जीव के लिए एकवचन का प्रयोग किया गया है उसे जातिपरक समझना चाहिए जैसे "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" यदि कहें कि औपाधिक भेदवाद लेकर जीव में बहुत्व कथन है, यह ठीक नहीं। औपाधिक भेदवाद में जीव को एक मानने पर कायव्यूह में योगी की तरह समस्त देहावच्छेदेन जीव का सुख तथा दुःख का अनुसंधान होगा और ब्रह्म ही जीव होने से नित्य मुक्तत्वादि श्रुति का व्याकोप होगा। एक ही जीव का प्रत्यक्त्व एवं पराक्त्व भी संभव नहीं है। यदि कहें कि अन्तःकरण का भेद नियामक होगा तो वह भी नहीं हो सकता। योगी के कायव्यूहों का अन्तःकरण भेद होने पर भी प्रत्यक्त्व पराक्त्व दर्शन होता है। प्रत्युत अहम् इसी प्रकार सर्वत्र प्रतीति दर्शन है। अवच्छेदवाद में उक्त दोषों की यहाँ तुल्यता है किन्तु उपाधि की सत्यता एवं मिथ्यात्व का विशेष है। इस प्रकार अब इस विषय में विस्तार व्यर्थ है। इसलिए जीव अणु परिमाण वाला ही है। अब प्रकृत विषय का अनुसरण करते हैं।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।।२।३।२०।।

च शब्दोऽवक्लृप्त्यर्थः। यद्यप्युत्क्रान्तेः शरीरवियोगरूपत्वेन सा कथञ्चित् स्थितेनापि सम्पाद्या स्यादुत्तरयोर्गत्याऽऽगत्योस्तु स्वात्मनैव सम्पाद्यत्वमिति विशेषः।।२०।।

(हिन्दी–अनुवाद)

'च' शब्द अवक्लृप्ति अर्थ में है। यद्यपि उत्क्रान्ति शरीर वियोग रूप है, वह स्थिर तत्त्व का भी हो सकता। ग्राम स्वामी की ग्राम्य स्वाम्य निवृत्ति की तरह, परंतु गति एवं आगति (आगम) आत्मा के स्वरूप से ही साध्य है, जो उसे अणु मानने से ही सिद्ध हो सकता है।।२०।।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।२।३।२१।।

ननु नायमणुः कुतः? अतच्छ्रुतेरणुभिन्नविभुत्वश्रुतेरित्यर्थः। "योऽयं विज्ञानमय" इति जीवप्रस्तावे "स वा एष महानज आत्मे"ति महत्त्वश्रुतेरिति चेत्तत्परिहरति नेति। कुतः? इतरस्य परमात्मनोऽधिकारात्। "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मेति"ति मध्ये परमात्मप्रतिपादनात्तस्यैव परामर्श इत्यर्थः।।२१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि यह जीवात्मा अणु नहीं है क्योंकि उसके लिए अणु भिन्न विभुत्व प्रतिपादक श्रुति है। "योऽयं विज्ञानमय" इस श्रुति द्वारा उत्थापित जीव के प्रस्ताव (प्रकरण) में "स वा एष महानज आत्मा" ऐसी महत्त्व प्रतिपादक श्रुति है, ऐसा कहें तो यह नहीं कह सकते, यहाँ परमात्मा का अधिकार है। मध्य में "यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा" के द्वारा परमात्मा का प्रतिपादन होने से उसका (परमात्मा का) ही परामर्श है।।२१।।

स्वशब्दोन्मानाभ्याञ्च।।२।३।२२।।

इतश्चायमणुरात्मा "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा सम्विवेशे"ति कण्ठरवेणाणुत्वश्रवणात्। अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य यन्मानं तदुन्मानं "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पत, आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट" इति चोन्मानश्रवणात्। प्रत्यगात्माऽणुपरिमाणक उत्क्रान्त्यादिमत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवं परमात्मवत्। जीवो यद्यणुपरिमाणको न स्यात्तदा गत्याद्युपदेशोऽपि न स्यादिति "ते धूममभिसम्भवन्ती" त्यादिश्रुतेरिति संक्षेपः।।२२।।

ननु तर्हि सर्वावयवगतसुखदुःखाद्यनुभवयौगपद्यव्यवस्थानुपपत्तिः स्वरूपस्याणुमात्र-देशवृत्तित्वादित्यत आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए भी यह जीवात्मा अणु है क्योंकि "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा सम्विवेश" इस श्रुति ने श्रीमुख से स्पष्टतया जीव को अणु बताना चाहा तथा उन्मान के द्वारा भी जीव का अणुत्व सिद्ध होता है। अणुसदृश वस्तु का उदाहरण देकर जो मान बोध है, उसे उन्मान कहते हैं जैसे "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते, आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट" ऐसा उन्मान भी है। बाल-केश के अग्रभाग का जो शत भाग शतांश भाग, उसका भी जो शतांशभाग होगा, वैसा अणु परिमाण जीव का स्वरूप है। यह उन्मान शब्द है अणुत्व उन्मापक शब्द है। आराग्रमात्र अर्थात् चर्मभेदी सुई के अग्रभाग के समान अणु जीव है प्रत्यगात्मा अणु परिमाण वाला है क्योंकि वह उत्क्रान्ति मान है, जो उत्क्रमणशील नहीं है, वह अणु परिमाण वाला नहीं है। जैसे परमात्मा जीव यदि अणु परिमाण वाला नहीं होगा, तब उसकी गति आदि उपदेश भी नहीं होगा। उसके लिए कहा है "ते धूममभिसम्भवन्ति" इत्यादि।।२२।।

यदि कहें कि अणु मानने पर अणु आत्मा के शरीर के एक देश में स्थित होने से शरीर के सर्वावयव गत सुख दुःखादि का अनुभव की व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी, इस पर कहते हैं—

अविरोधश्चन्दनवत्।।२।३।२३।।

यथा हरिचन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशे निपतितः कृत्स्नं शरीरमाह्लादयति धर्म्मिणोऽणुत्वेऽपि तद्धर्म्मभूतज्ञानस्य विभुत्वात्। "अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवास्य प्रकाशो व्याप्तो वै पुरुष" इति श्रुतेः। "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत!" "अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुष" इत्यादिस्मृतेश्च। "यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते। एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतन" इत्यश्वमेधपर्वणि। नच प्रकाशादेर्धर्म्मस्य स्वाश्रयं विना व्याप्त्यसम्भव इति

शङ्कनीयम्? दीपं विना तत्प्रभाया वह्निं विना तदौष्ण्यादेः, पुष्पं विना तद्गन्धस्य व्याप्तिः प्रत्यक्षागमाभ्यां सिद्धतरा। धर्मिणं विना जातिसमवायादीनां व्याप्तिरन्यैरपि स्वीकृता च। एतेन क्वचिद्विभुपरं शास्त्रमपि व्याख्यातं, विभुधर्माश्रयाणां तथात्वस्य शक्त्यैवावगमान्मुख्यत्वमेवेति। नन्वात्मनोऽणुत्वाङ्गीकारेऽपि सुखादिव्यवस्था दुरुपपादा, आत्मवृत्तिविभुपरिमाणकधर्म्मभूतज्ञानेन स्वशिरः पाण्यादिगतसुखाद्यनुभूतिवत्परशरीरगतसुखाद्यनुभवोऽपि दुर्वारो, ज्ञानव्याप्तेस्तत्राऽपि सत्त्वात्, सर्वजीवनिकायवृत्तिसुखादि सर्वेषामप्यवश्यमनुभाव्यमेव। विभुवादे कल्पितदोषाणां भोगसाङ्कर्यस्य च तवापि दुर्वारत्वेन व्याप्तिसाम्यादिति चेन्न। आपाततोक्तेः तथाहि अस्मत्सिद्धान्ते "ऽज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति, आवृतं ज्ञानमेतेने" त्यादिमानादात्मज्ञानस्य विभुत्वेऽपिवृद्धावस्थायां कर्म्मात्मकाज्ञानावृतत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षसापेक्षत्वात्। यत्रेन्द्रियसन्निकर्षस्तस्यैवानुभवो नान्यस्येति। एवं देवदत्तस्य स्वशरीरगतसुखादिभिः स्वान्तःकरणसन्निकृष्टत्वात्तेषामेवानुभवो, न यज्ञदत्तशरीरगतसुखादीनां स्वकरणसन्निकर्षाभावात्। मोक्षावस्थायान्तु तदावरकाज्ञानस्य ध्वंसात्सर्वविषयकानुभवस्येष्टापत्तिः। "सर्वं हि पश्यः पश्यति, सर्वमाप्नोति सर्वश" इत्यादिश्रुतेः। परमते तु स्वरूपस्यैकत्वादुक्तदोषोद्धारासम्भवः, सिद्धान्ते तु प्रतिदेहं स्वरूपभेदान्नोक्तदोषावकाश इति संक्षेपः।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे हरिचन्दन का बिन्दु शरीर के एक देश में लगने पर समग्र शरीर को आह्लादित करता है, उसी प्रकार एक देश में स्थित अणु आत्मा का धर्मी रूप से अणु होने पर भी उसके धर्मभूत ज्ञान के विभु होने से सर्वावयवगत सुख-दुःख का अनुभव होगा। "अणुनश्चक्षुषः प्रकाशो व्याप्त एवमेवास्य प्रकाशो व्याप्तो वै पुरुषः" जैसे अणु चक्षु का प्रकाश व्याप्त रहता है, इसी प्रकार अणु जीव का प्रकाश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। ऐसा श्रुति वाक्य है "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।" "अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः" (विप्रुषः बिन्दु) इत्यादि स्मृति। इसी प्रकार अश्वमध पर्व में कहा है "यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते। एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतनः।" यदि कहें कि प्रकाश आदि धर्म का अपने आश्रय में व्याप्ति असंभव है, तो ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। दीप के बिना उसकी प्रभा, वह्नि के बिना उसकी उष्णता तथा पुष्प के बिना उसके गन्ध की व्याप्ति प्रत्यक्ष एवं आगम से सिद्ध है। धर्मी के बिना तार्किकों के सिद्धान्त में जाति तथा समवाय आदि (प्रलय में गोत्व आदि) की व्याप्ति स्वीकार की गयी है। इसी से यदि कहीं विभु प्रतिपादक शास्त्र भी है तो उसका समाधान हो जाता है अर्थात् धर्म रूप से विभुत्व का प्रतिपादन है। यदि कहें कि आत्मा के अणुत्व अङ्गीकार करने पर भी सुख-दुःख आदि की व्यवस्था संभव नहीं है। आत्मा वृत्ति विभु परिमाण युक्त धर्मभूत ज्ञान के द्वारा अपने शिर, पाणि, पाद आदि गत सुखादि अनुभूति की तरह, परकीय शरीरगत सुखादि का अनुभव भी दुर्वार हो जायगा। ज्ञान की व्याप्ति (सम्बन्ध) वहाँ भी है। समस्त जीव वृत्ति सुखादि सबके लिए अनुभव गम्य होगा।

विभुवाद में कल्पित दोषों एवं भोग ससार्य की अणुवादी आपके मत में भी व्याप्ति साम्य के कारण दुर्वार होगा, तो यह नहीं कह सकते। यह कथन आपातता से युक्त है, जैसे हमारे सिद्धान्त में ज्ञान रूप धर्म को विभु स्वीकार करने पर भी ब्रह्म अवस्था में 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' अर्थात् अज्ञान से ज्ञान के आवृत होने से जीव मोहित होता है। 'आवृतं ज्ञानमेतेन' इत्यादि प्रमाणों से धर्मरूप ज्ञान के कर्मात्मक अज्ञान से आवृत हो जाने के कारण उक्त दोष संभव नहीं है। सुख-दुःख इन्द्रिय सन्निकर्ष सापेक्ष है, जहाँ इन्द्रिय सन्निकर्ष होगा उसी को अनुभव होगा, दूसरे को नहीं। इस प्रकार देवदत्त के स्वशरीरगत सुख आदि के साथ अपने अन्तःकरण के साथ सन्निकर्ष होने से उनको ही अनुभव होगा, न कि यज्ञदत्त शरीरगत सुख आदि का क्योंकि उनके साथ अपने करण का सन्निकर्ष नहीं है। मोक्ष अवस्था में आवरक अज्ञान के ध्वंस होने से सकल विषयक अनुभव इष्टापत्ति है। जैसा कि श्रुतिवचन है "सर्वं हि पश्यः पश्यति" मुक्त जीव सब कुछ देखता है। "सर्वमाप्नोति सर्वशः" सब कुछ प्राप्त करता है। परमत में स्वरूप जीव के एक होने से उक्त दोषों से उद्धार असंभव है। हमारे सिद्धान्त में प्रति देह में आत्मा स्वरूपतः भिन्न होने से उक्त दोष का अवकाश नहीं है, इति संक्षेप।।२३।।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाऽभ्युपगमात् हृदि हि।।२।३।२४।।

ननु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं, हरिचन्दनबिन्दोर्हि देहैकदेशविशेषेऽवस्थितेर्विशेष-भावाच्छरीरैकदेशावस्थानस्य प्रत्यक्षत्वात्तथाभावः। आत्मनस्तु न तथेति चेन्न। आत्मनो-ऽप्यवस्थितेर्देशविशेषाभ्युपगमात्। तथाह्याह श्रुतिः "हृदि ह्येष आत्मा स वा एष आत्मा हृदी"ति "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिरि" त्यादि।।२४।।

आत्मनो देशविशेषे स्थितिख्यापनाय चन्दनदृष्टान्तं प्रदर्श्य एकदेशवर्त्तिनोऽपि सकलदेहं व्याप्यकार्यकरत्वे प्रकारमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्त में वैषम्य है, चन्दन बिन्दु की देह के एक देश विशेष में स्थिति प्रत्यक्ष है, इसलिए वहाँ तो सम्पूर्ण देहव्यापी आह्लाद जनकत्व ठीक है परंतु आत्मा का एक देह में स्थितत्व प्रत्यक्ष नहीं है तो ऐसा नहीं कह सकते। आत्मा की भी शरीर में एक देश विशेष में अवस्थिति को स्वीकार किया गया है। जैसा कि श्रुतिवचन है "हृदि ह्येष आत्मा स वा एष आत्मा हृदि" (प्र.उ. ३/६) तथा कतम आत्मेति "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः"। आत्मा कौन है ऐसा पूछने पर कहा है, प्राणों में हृदय के अन्दर जो यह विज्ञानमय ज्योति स्वरूप पुरुष है। (बृ०उ० ४/३/७)

चन्दन दृष्टान्त के माध्यम से आत्मा के देश विशेष में अवस्थिति का कथन कर एकदेशवर्त्ति होते हुए भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर कार्य करने के प्रकार को कहते हैं।

गुणाद्वालोकवत् ।।२।३।२५।।

वाशब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः। आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यावस्थितः। आलोकवत्, यथा मणिद्युमण्यादीनामेकदेशस्थितानामप्यालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते तद्वदात्मज्ञानमपि।।२५।।

ननु ज्ञानस्य व्यापकत्वेऽणुजीवव्यतिरेकेणावस्थानं वक्तव्यं तच्चायुक्तं, गुणिव्यतिरिक्तदेशे गुणस्यावस्थानादर्शनात्। नच दीपप्रभान्यायेनेति वाच्यं, प्रभाया दीपसंयुक्तद्रव्यान्तरत्वादित्यत आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ वा शब्द मतान्तर की व्यावृत्ति के लिए है। आत्मा अणु होने पर भी अपने गुण स्वरूप ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण देह को व्याप्त कर अवस्थित है। आलोक प्रकाश की तरह जैसे मणि, द्युमणि आदि के एक देश में स्थित होने पर भी उनका प्रकाश अनेक देश व्यापी दिखाई देता है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान भी ।।२५।।

यदि कहें कि ज्ञान को व्यापक मानने पर अणु जीव से अतिरिक्त रूप में उसकी अवस्थिति माननी पड़ेगी, वह युक्त नहीं है। गुणी (द्रव्य) से पृथक् देश में गुण का अवस्थान नहीं देखा जाता। यदि कहें दीप प्रभा न्याय से अवस्थान संभव है तो यह संभव नहीं है, प्रभा दीप से संयुक्त द्रव्यान्तर है। इस पर कहते हैं—

व्यतिरेको गन्धवत्तथा हि दर्शयति।।२।३।२६।।

यथा गुणस्यापि गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पपेटिकातो दूरस्थितस्य गन्धोपलम्भदर्शनात्त— द्वद्गुणिव्यतिरेकेण ज्ञानस्येत्यर्थः। अतएवात्मनश्चैतन्यगुणेनैव देहे व्याप्तिरित्यत्र श्रुतिमाह, तथा चेति, ज्ञानगुणेन सर्वदेहव्यापित्वमाप्त्मनो दर्शयति श्रुतिः "स एष इह प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः" इति।।२६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे गन्ध गुण होने पर भी गुणी से व्यतिरेक अर्थात् गुणी द्रव्य से अतिरिक्त देश में रहता है, पुष्प की पेटी से दूर में स्थित व्यक्ति को भी गन्ध की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार गुणी के बिना भी ज्ञान गुण की स्थिति हो सकती है। इसीलिए आत्मा के चैतन्य रूप अपने गुण के द्वारा ही सम्पूर्ण देह में व्याप्ति होती है। इस विषय में श्रुति प्रमाण है "स एष इह प्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः" (बृ.उ. १/४/७१/२६)।।२६।।

पृथगुपदेशात्।।२।३।२७।।

इतश्च आत्मगुणो व्यतिरिक्तः। कुतः? "प्रज्ञया शरीरं समारुह्ये"ति "तद्देषां

प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये" ति च जीवाद्विज्ञानस्य पृथगुपदेशात्। "अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मे" त्यादिना तस्य नित्यत्वप्रतिपादनाच्च। तथा च स्मृति "र्यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्या एषात्मनो हि त" इति।।२७।।

ननु "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं", "नित्यः सर्वगतः स्थाणुरि" त्यादिविभुत्व-प्रतिपादकश्रुतिस्मृतिविरोधस्तदवस्थ एवेत्याशङ्कायामाह——

(हिन्दी–अनुवाद)

इस कारण से भी आत्मा का गुण आत्मा से भिन्न है क्योंकि "प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" तथा "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" इत्यादि श्रुतियों में जीव से विज्ञान का पृथक् उपदेश है। "अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्म्मा" आत्मा नित्य है और उसका ज्ञान रूप धर्म भी नित्य है इत्यादि श्रुतियों द्वारा उसके नित्यत्व का प्रतिपादन है। उसी प्रकार स्मृतिवाक्य भी प्रमाण है "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा। यथोदपानखननात् क्रियते न जलान्तरम्। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते" जैसे मल प्रक्षालन से मणिगत ज्योत्स्ना (प्रकाश) को दूर नहीं किया जा सकता, उसी तरह दोषों के अपाकरण से धर्मरूप ज्ञान को धर्मी रूप ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता इत्यादि।।२७।।

यदि कहें कि "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं", "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" इत्यादि विभुत्व प्रतिपादक श्रुति स्मृति का विरोध तो तदवस्थ (वैसे का वैसा) रह गया, इस आशंका में कहते हैं--

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।।२।३।२८।।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। स विभुज्ञानगुण एव सारो विभुत्वव्यपदेशो मुख्यो यस्य तस्य भावस्तस्मात्तद्व्यपदेशो विभुत्वव्यपदेशः। तत्रैकदेशिदृष्टान्तमाह। प्राज्ञवदिति। यथा प्राज्ञस्य ब्रह्मणो बृहन्तो गुणा अस्मिन्निति ब्रह्मेति श्रुत्युक्ता निरुक्तिः, एवं प्रत्यगात्मनोऽपि विभुगुणत्वाद्विभुत्वव्यपदेशो न स्वरूपेण, ऽन्यथा पूर्वोदाहृतानि श्रुतिस्मृतिसूत्राणि बाधेरन्।।२८।।

(हिन्दी–अनुवाद)

'तु' शङ्का निरासार्थ है। 'स विभुज्ञानगुण एव सारो विभुत्वव्यपदेशो मुख्यो यस्य' अर्थात् गुणरूप के विभु होने से आत्मा में विभुत्व का व्यपदेश होता है। इस विषय में एक देशी दृष्टान्त कहते हैं। 'प्राज्ञवत्' जैसे प्राज्ञ ब्रह्म को बृहन्तो गुणा अस्य ऐसी व्युत्पत्ति के आधार

पर ब्रह्म कहते हैं। उसी तरह प्रत्यगात्मा में भी विभु गुण के कारण ही विभुत्व का व्यपदेश होता है, स्वरूप से नहीं। अन्यथा पूर्व में उदाहृत श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों का बाध होगा।।२८।।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।।२।३।२९।।

यावदात्मवृत्तित्वान्नित्यत्वाच्च गुणस्यातस्तेन प्रत्यगात्मनो विभुत्वव्यपदेशो न विरुद्ध इत्यर्थः। खण्डो गौरित्यादिषु तथा दर्शनात्।।२९।।

ननु तस्य नित्यत्वे सुषुप्त्यादौ विषयानुभवापत्तिरिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

गुण यावत् आत्मवृत्ति एवं नित्य है इसलिए उसके द्वारा प्रत्यगात्मा में विभुत्व व्यपदेश विरुद्ध नहीं है। खण्डो गौः इत्यादि स्थलों में वैसा देखा गया है जैसे खण्ड मुण्डादि धर्म यावत्स्वरूप में वर्तमान होने से 'गौ' ऐसा व्यवहार में देखे जाते हैं।।२९।।

यदि ज्ञाता आत्मा के गुणरूप ज्ञान को नित्य माने तब सुषुप्ति में विषय का अनुभव होगा। चूँकि सुषुप्ति में विषयानुभाव नहीं होता, इसलिए उस समय ज्ञान की सत्ता नहीं है। जब ज्ञान की सत्ता नहीं होगी फिर वह आत्मा का स्वरूपानुबन्धी धर्म नहीं होगा, यही शङ्का करते हैं।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्।।२।३।३०।।

तुशब्दोऽवधारणे। सुषुप्त्यादौ सत एव, तस्यानभिव्यक्तस्य जाग्रदादावभिव्यक्तिसम्भावाद्या-वदात्मभावित्वमेव, प्रत्यगात्मज्ञानस्य पुंस्त्वादिवत्। यथा बाल्ये विद्यमानस्यैव पुंस्त्वस्य सप्तमधातो-र्यौवनेऽभिव्यक्तिरन्यथा पुंस्त्वादेरागन्तुकतापत्तेस्तथात्वे च पुंस्त्वक्लीबत्वविभागासिद्धिरित्यर्थः।।३०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसके उत्तर में कहते हैं पुंस्त्वादिवत्वस्य, यहाँ तु शब्द अवधारण में है। अर्थात् सुषुप्ति आदि में ज्ञान रहता ही है परंतु उस समय वह अनभिव्यक्त रूप में रहता है, जाग्रत् अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति संभव होती है। इसलिए वह यावदात्मभावी गुण है जैसे पुंस्त्व आदि। जैसे बाल्य अवस्था में पुंस्त्व (सप्तम धातु) अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, जो यौवन में अभिव्यक्त होता है। अन्यथा पुंस्त्व आदि में आगन्तुकत्व की आपत्ति होगी और आगन्तुक मानने पर पुंस्त्व, क्लीवत्व विभाग की असिद्धि होगी।।३०।।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा।।२।३।३१।।

अन्यथा प्रत्यगात्मनो ज्ञानमात्रत्वे सर्वगतत्वे च नित्यमेवोपलब्ध्यनुपलब्धी प्रसज्ज्येयातां, तयोरन्यतरनियमो वा उपलब्धिरेव वा नित्यं स्यादनुपलब्धिरेव वेति। अयम्भाव उपलब्धिरनुपलब्धिश्च तावल्लोकसिद्धा तयोरयं सर्वगतो ज्ञानात्मा चेत्कारणं तर्हि सर्वलोकस्य सर्वदा सर्वत्र ते प्राप्नुयाताम्। यद्युपलब्धेरेव हेतुस्तदा सर्वदा सर्वत्र कस्याप्यनुपलब्धिर्न स्यात्। अनुपलब्धेरेव

चेद्धेतुस्तर्हि कस्यापि कुत्राप्युपलब्धिर्न स्यादिति। नच करणायत्ता तयोर्व्यवस्था, सर्वात्मनां विभुत्वेन सर्वकरणैः सर्वदा संयोगस्याविशेषादित्यादिपूर्वमेव विस्तृतम्। सिद्धान्ते तु तस्य शरीरान्तरेऽवस्थितत्वात्तत्रैवोपलब्धिर्नान्यत्रेति व्यवस्था सिद्ध्यति।।३१।। इत्युत्क्रान्त्यधिकरणम्।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अन्यथा प्रत्यगात्मा के ज्ञानमात्र होने या सर्वगत (विभु) होने पर उसकी नित्य उपलब्धि या अनुपलब्धि का प्रसंग होगा, या उनमें अन्यतर उपलब्धि ही होगी या नित्य अनुपलब्धि ही होगी। भाव यह है कि उपलब्धि या अनुपलब्धि लोक सिद्ध है, उन दोनों का यदि सर्वव्यापी ज्ञानात्मा प्रत्यगात्मा कारण है तब सभी लोगों को सर्वदा सर्वत्र वे उपलब्धि या अनुपलब्धि प्राप्त होंगे। यदि उपलब्धि का ही वह हेतु है तब सर्वदा सर्वत्र किसी को अनुपलब्धि नहीं होगी। यदि वह अनुपलब्धि ही हेतु है, तब किसी को कहीं भी उपलब्धि नहीं होगी। यदि कहें कि यह उपलब्धि अनुपलब्धि की करणों (ज्ञानेन्द्रियों) के अधीन व्यवस्था है, तब तो सभी आत्माओं के विभु होने से सभी के करणों से सर्वदा समानरूप से संयोग होने से नहीं आपत्ति होगी, यह विषय पूर्व में ही विस्तार से कहा गया है। सिद्धान्त में उसके शरीरान्त में अवस्थित होने से वही उपलब्धि होगी, अन्यत्र नहीं, ऐसी व्यवस्था सिद्ध होती है।।३१।।

इस प्रकार उत्क्रान्ति अधिकरण पूरा हुआ।।९।।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्।।२।३।३२।।

आत्मनो ज्ञातृत्ववत्कर्तृत्वमप्यस्ति न वेति संशय, आत्मा कर्त्तैव। कुतः? "यजेत्स्वर्गकामो, मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" इत्यादिभोगमोक्षसाधनोपदेशशास्त्रस्यार्थवत्त्वात्। नन्वकर्तैवात्मा, तथाहि "न जायते म्रियते वे" ति तस्य जन्मादिविकारं प्रतिषिध्य, "हन्ता चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" हननक्रियाया व्यापाराशयत्वं फलाश्रयत्वं वा मन्यमानोऽज्ञ इति कठवल्ल्युक्तेः। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते। नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति। कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरूच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरूच्यत" इत्यादिस्मृतिभ्यश्च प्रकृतेरेव कर्तृत्वेन पुरुषस्य भोक्तृत्वमात्रमेव, यथा जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिके भाति तद्वन्मनोवृत्तिकृत्यादिकमात्मन्यध्यस्तं भासते नतु तात्त्विकम्, तथात्वे ह्यात्मनो विकारित्वापत्तेः। सुषुप्तौ मनसोऽभावे कृत्यादीनामदर्शना, दकर्त्रात्मबोधक श्रुतिव्याकोपाच्चेति चेन्न। असम्भवादिति ब्रूमः। तथाहि यथा प्रत्येकं स्फटिके जपाकुसुमे च लौहित्यं भेदेन भाति प्रत्यक्षप्रमाणेन, तथात्मनि मनसि च प्रत्येकं कर्तृत्वाभावात्। आत्मा कृत्याद्याश्रयत्वेनाध्यस्तत्वात् कर्त्तेति, मनः स्वतः कर्त्रीति कदापि साक्षात्काराभावात् दृष्टान्तवैषम्यं, अन्यथा मनः कर्त्रीति आत्माऽकर्तेति कदाचिद्भेदेनापि भानं स्यादित्यर्थः। विकल्पासहत्वाच्च। तथाहि सोपाधिकोऽयमध्यासो निरुपाधिको वा? नान्त्यः। नेदं रजतमितिवत् सकृदेव नायं कर्तेति, अकर्तृत्वयाथात्म्यज्ञानेन तन्निवृत्त्यापत्तेः। कुसुमस्यैवोपाधेः प्रतिबन्धकस्याभावात् नाद्यः। रक्तं पुष्पमिति प्रमावत् कदाचिन्मनः कर्त्रीति

प्रमया, लोहितः स्फटिक इति भ्रमवच्चैतन्यं कर्त्रीति भ्रमेण चावश्यं भाव्यमानत्वात्। ननु कुसुमस्य स्फटिकात्मनाऽनध्यस्तत्वान् मनसस्तु चिदात्मनाऽध्यस्तत्वादिति वैषम्येन तज्ज्ञानाऽभावोऽदिरुद्ध इति चेन्न। अधिष्ठनात्मनानध्यस्तं जपाकुसुमादिस्थानीयमुपाधिं बिना भीषणत्वयुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनैव कर्तृत्वादियुक्तमनसश्चिदात्मनाध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्यैवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्याध्यासस्य सोपाधिकत्वायोगात्। न चात्मनि कर्तृत्वान्तरमेवाध्यस्तमिति वाच्य। ध्यस्यमानधर्माश्रयस्याभेदारोप औपाधिकत्वासम्भवात्। ननु रज्जुसर्पादावध्यस्यमानभीषणत्वादिविशिष्ट-सर्पापेक्षयाधिकसत्ताकसर्पान्तरस्य सम्भवेनास्य निरुपाधिकत्व, मत्रत्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टेतरस्याधिक सत्ताकस्यात्यन्ताभावात्। अन्तःकरणमात्रस्योपाधित्वमिति चेन्न। स्फटिकेऽध्यस्यमानप्रातिभासिकलौहित्या पेक्षयाऽधिकसत्ताकलौहित्यान्तरस्य सत्त्वेन तस्यापि निरुपाधिकत्वापत्तेः। न च यत्र धर्मी तादात्म्येनारोपितस्ततोऽधिकसत्ताकोऽतिरिक्तश्चास्ति स निरुपाधिकोऽध्यासो रज्जुसर्पादिवत्। लोहितः स्फटिक इत्यत्र तु न धर्मिणस्तादात्म्येनारोप इति सोपाधिकलोहितोपपत्तिरिति वाच्य। मम मनो मम बुद्धिर्ममान्तःकरणमिति भेदधिया प्रतिबन्धादभेदारोपासम्भवेन धर्ममात्रस्यैव वक्तव्यतया लौहित्यादेरिव कर्तृत्वादेरुभयत्र प्रतीतेर्दुवार्रत्वात्। सोपाधिकस्थले धर्मारोपेणैवोपपत्त्या धर्म्यारोपस्याप्रामाणिकत्वाच्च। समीपे स्थित उपदधाति स्वीयं धर्ममन्यत्रेत्युपाधिलक्षणत्वात्। अभेदग्रहणदशायामप्ययं भीषणः, सर्पो भीषणोऽहं गौरः, शरीरं गौरमितिवन्मनः कर्तृ, चैतन्यं 'कर्त्रीति प्रतीत्यापत्तेः। अपि चास्मिन्नेवाधिकरणे भवद्भिरपि साङ्ख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन स्वोक्तविरोधाच्च। बुद्ध्यात्मनोरविवेक-निबन्धनस्य जीवनिष्ठकर्तृत्वस्य साङ्ख्यमतेऽपि सत्त्वेनाविशेषात्। किञ्च बन्धतन्निवृत्त्यौपयिककृत्योः स्वध्वंसाभावस्वफलभाक्त्वाभ्यां सामानाधिकरण्यनियमेन बुद्धेः कर्तृत्वायोगात्। कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थरूपो बन्धो बुद्धिगतश्चेत्ततो मोक्षोऽपि तद्गतः स्यात्। बन्धमोक्षयोः सामानाधि- करण्यनियमात्। अज्ञानमपि दुःखादिभोगद्वारेणैवानर्थ इति तव सिद्धान्तादित्यर्थः। न च बुद्धिगतं सद्रूपं भोक्तृत्वादिकं तद्धर्मत्वात् नानर्थरूपं किन्तु तदुपाधिकं मिथ्याभोक्तृत्वादिकमिति वाच्य, एतत्कल्पनायाः कर्तृत्वाध्याससिद्ध्यधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। मोक्षस्यापि सत्यस्यैव पुरुषार्थत्वात्। भोक्तृत्वादिबन्धस्यापि सत्यस्यैवानर्थत्वाच्च। तदुक्तं वार्तिके बौद्धं प्रति 'नहि स्वप्नसुखाद्यर्थं पुमान् कश्चित्प्रवर्त्तते। यादृच्छिकत्वात् स्वाप्नस्य तूष्णीमास्येत पण्डितैरि'ति। स्थूलो भुञ्जे, स्थूलः करोमीत्यादिना देहस्यानर्थान्वयापाताच्च। नापि बुद्ध्युपाधिकं ह्यात्मस्थभोक्तृत्वादिकमनर्थं नतु देहस्थमिति वाच्यम्। अनर्थाश्रयस्यात्मनोऽनर्थकोटित्वायोगात्। भ्रमसमयेऽहम्भोक्तेति प्रमाकाले बुद्धिर्भोक्त्रीति प्रतीत्यापत्त्या शुद्धात्मनि कदापि तत्प्रतीत्यभावापत्तेश्च। अपि च मनसः श्रवणादिसाधनकर्तृत्वेन तत्फलमोक्षस्यापि तत्रैवापत्तेः शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायात्। यत्र साधनकृतिस्तस्यैव फलभाक्त्वात्। अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तेश्च। नच शुद्धोपहितयोः स्वाभाविकभेदाभावेन बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्यं सूपपन्नमिति वाच्यम्। उपहितगतानर्थस्य शुद्धगतत्ववत्तद्गतदृश्यत्व-मिथ्यात्वादीनामपि शुद्धगत्वापत्तेः। नच जातेष्टिपितृश्राद्धादौ व्यभिचार इति वाच्यम्। कृतिफलयोः सामानाधिकरण्योपपादकोद्देश्यतासंबन्धस्य फलाधिकरणे पुत्रपित्रादौ सत्त्वात्। जातेष्ट्यवपि पित्रर्थं पुत्रगतपूतत्वादि तदनुष्ठातुः पितुरेव फलमित्यर्थः। तथैव श्राद्धेऽपि बोध्यम्। आरोपितानारोपित-

साधारणकर्तृत्वस्य फलं प्रति प्रयोजकत्वे बुद्धिदेहयोर्मोक्षान्वयापत्तिः। किञ्च "तन्मनोऽनुकुरुत" इत्यादिश्रुतौ मनसः कृतिकर्मत्वस्य, शृण्वन्तः "श्रोत्रेण विद्वांसो मनसे"ति करणत्वस्य, "मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्पिबन्नास्त" इत्यादौ मन उत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वस्य, "पारं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण" इत्यादौ स्वरूपाविभवि परमुक्तावपि कर्तृत्वस्य, "विज्ञानं यज्ञं तनुते विज्ञानात्मा योऽयं वेद जिघ्राणी"ति स आत्मा आनन्दभुक् चेतोमुखप्राज्ञ" इत्यादौ श्रुतौ विज्ञानात्मनिष्ठकर्तृत्वस्य श्रवणात्। न चात्र विज्ञानशब्दो बुद्धि पर इति वाच्यम्। 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्च न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान्कामान्समश्नुत' इति वाक्यशेषात्। किञ्चाहं करोमीत्यादिप्रत्यक्षेणात्मा मोक्षसाधनकृतिमान् फलान्वयित्वात्सम्मतवत्। अज्ञानं ज्ञानसमानाधिकरणं बन्धरूपत्वात्सम्मतवदित्याद्यनुमानैश्च 'कर्ता विज्ञानात्मा योऽयं वेद जिघ्राणी' त्यादिश्रुतिभिश्च, यद्यात्मा कर्त्ता न स्यात्तर्हि भोगमोक्षसाधनोपदेशोऽपि न स्यादित्यर्थापत्त्या च सिद्धस्यात्मकर्तृत्वस्य बाधकादर्शनात्। न च श्रुतिरनुवादपराहमर्थान्यात्मकर्तृत्वस्य "नामरूपे व्याकरोत्स हि सर्वस्य कर्ते"ति श्रुत्युक्तेश्वरकर्तृत्वस्य च प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वात्। नच निर्धर्मकत्वं बाधकं निर्धर्मकत्वरूपधर्मस्य भावाभावाभ्यां व्याघातात्। नापि निष्क्रियत्वं बाधकं क्रियाया धात्वर्थत्वे ह्यात्मन्यप्यस्त्यादिधात्वर्थसत्तादेः सत्त्वेन तत्त्वासिद्धत्वात्। परिस्पन्दादिपरत्वे चेष्टापत्तेः। कृतिपरत्वे च "रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिमि" त्यादिश्रुत्या कर्तृत्वस्य चेतने विहितत्वेनासिद्धेः। नच निष्क्रियत्वश्रुतिविरोधः। तस्या ब्रह्मणि परतन्त्रक्रियायाः प्रत्यगात्मनि स्वतन्त्रकर्तृत्वस्य निषेधकत्वात्। अन्यथा "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे"ति श्रुतेः। "नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, नहि श्रोतुः श्रुतेः, नहि मन्तुर्मतेरि" त्यादिश्रुतेश्च बाधस्य तवापि साम्यात्। नापि निर्विकारत्वं बाधक, माकाशस्य संयोगाद्याश्रयत्वेऽपि विकारित्वायोगात्। "अविकार्योऽयमुच्यत" इत्यादिशास्त्राच्च। ननु सुषुप्तौ मनसोऽभावे कर्त्तृत्वादिदर्शनं बाधकमिति चेन्न, तत्रापि श्वासादिकर्त्तृत्वदर्शनात् तत्सिद्धेः। 'सुप्तो भूर्भूरित्यादिश्वसिती' त्यादिश्रुतेः। देहादिवन्मनसो निमित्तरूपत्वेनापि तदुपपत्तेश्च। "कामः सङ्कल्प" इत्यादिश्रुतिरपि मनसः करणत्वबोधनविषयकैव "मनसैवाग्रे सङ्कल्पयती"ति श्रुत्यन्तरात्। अत्र स्पष्टं कण्ठरवेण करणपाठदर्शनाच्च। "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण" इति श्रुतेस्तु ह्यात्मनो भोक्तृत्वे देहादिवन्मनसोऽपि सहकारित्वमात्रमित्येतत्परत्वात्। किञ्च "ध्यायतीव लेलायतीवे"ति श्रुताविवशब्दः परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेतिवत् जीवकर्त्तृत्वस्येश्वरपारतन्त्र्य-प्रदर्शनपरः। नापि "प्रकृतेः क्रियमाणानी"ति स्मृतिर्बाधिका, तस्या अपि स्वतन्त्रकर्त्तृत्वनिषेध-परत्वाविशेषात्। सांसारिकप्रवृत्तावस्य कर्तृत्वं प्राकृतगुणप्रयुक्तं न स्वरूपप्रयुक्तमिति विवेचनाय गुणेषु कर्त्तृत्वं तथा च 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति। "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिरि"ति? केवलशब्दः स्वातन्त्र्यपरः। उक्तार्थे मानं सांसारिकप्रवृत्तावधिष्ठानादिपञ्चकस्य हेतुत्वात् केवलं स्वातन्त्र्येण स्वात्मानं कर्तारं मन्यमानो दुर्मतिरित्यर्थः। अन्यथा गुणानां कर्त्तृत्वे तेषामेव भोक्तृत्वापत्तिः, तयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। नह्यन्यकर्त्तृककर्मणामन्येषां भोक्तृत्वं लोकवेदयोः प्रसिद्धम्। किञ्च गुणकर्त्तृकप्रवाहस्य नित्यत्वेनानिर्मोक्षप्रसङ्गो मुक्तानामपि पुनर्भोक्तृत्वप्रसङ्गश्च दुर्वार, रितरकर्तृकत्वप्रसङ्गात्। किञ्च भोक्तृत्वमात्रस्वीकारे भुजिक्रियाया व्यापाराश्रयत्वेनावश्यम्भावात् कथमकर्तृत्वमात्मन इति

पण्डितममन्यैर्विचारणीयम्। "दैवं चैवात्र पञ्चममि" त्यत्र दैवशब्दः परमात्मपरः। तथा च परमात्माधीनमेव प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वमिति वक्ष्यते सूत्रकारः। 'स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशितापी' त्यादिश्रुतेः। 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमी' त्यादिस्मृतेश्च बद्धावस्थायामनादिप्रकृतिसम्बन्धरूपया कर्मरूपया वाऽविद्यया सङ्कुचितज्ञानक्रियाशक्तिकानां ज्ञानक्रियादौ मन आदिपारतन्त्र्यात् तत्सहायापेक्षा। मुक्तावस्थायां तु स्वपरस्वरूपयोराविभविन बुद्धीन्द्रियादिनिरपेक्षत्वमिति विवेकः। "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति श्रुते 'र्यः सर्वज्ञः स हि सर्वस्य कर्त्ता, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेत्यादिश्रुतिरस्य ईश्वरस्य तावन्नित्यक्रियाश्रयत्वं निर्विवादमेव तथैव मुक्तानामपि ज्ञानक्रियादियोगोऽविरुद्धः। 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः सङ्कल्पादेवास्य पितर इत्यादिश्रुतेः। "विहारोपदेशात् सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेरिति वक्ष्यमाणसूत्राच्च। ननु ज्ञानेच्छाकृत्यादीनां नित्यत्वे सदा सृष्ट्याद्यापत्तिः। नच कालस्य तत्र निमित्तत्वात्तद्भावाभावयोस्तत्र नियामकत्वेन नोक्तदोषावकाश इति वाच्यं, प्रधानादाविच्छादिसम्बन्धापादककालादेरपि सदा सत्त्वादिति चेन्न, सृष्टिप्रलयकालाभ्यां सम्बद्धाया ईश्वरेच्छाया एव सिसृक्षात्वजिहीर्षात्वसम्भवात्। यथा परेषां वृत्तिश्चेदुपरागार्थेति मते व्यापकस्यापि चैतन्यस्य वृत्तिद्वारक एव घटादिसम्बन्धः। यथा च तार्किकमते सर्वगतस्यापि गोत्वादेः सास्नादिमत्येव सम्बन्धो नान्यत्र, यथा चास्मत्पक्षे विश्वात्मनः श्रीपुरुषोत्तमस्य परब्रह्मणः सर्वदेशकालवस्तुपरिच्छिन्न-पदार्थेतरतया व्यापकत्वेन सर्वत्र सत्त्वेऽपि कस्मिंश्चिच्चरमजन्मन्ये वाधिकारिविशेषे साक्षात्कारो नान्यत्र, तद्वत्पारमेश्वरीयेच्छादेरपि सृष्टि कालादिविशेषावच्छिन्नप्रधानादिसम्बन्धो नान्यदेति नोक्तदोषसम्बन्धावकाश इत्यनवद्यम्। नच कर्तृत्वस्य क्लेशावहत्वान्न तत्र श्रौतं तात्पर्यमिति वाच्यम्। दर्शपौर्णमासादावपि श्रवणमननादावपि चातात्पर्यप्रसङ्गात्, श्वासादेरकरण एव क्लेशदर्शनाच्च। 'यदा करोत्यथ निस्तिष्ठती'ति श्रुत्यैव कर्तृत्वस्य फलसम्बन्धविधानाच्च। एतदुक्तं भवति कर्तृत्वं बुद्धिगतं वा? शुद्धगतं वा? अहमर्थगतं वा? नाद्यः, तस्या जडत्वेन तत्र कर्तृत्वाङ्गीकारे घटादावतिव्याप्तेः। नापि द्वितीयः। अहमर्थभिन्नात्मासिद्धेः पूर्वमेव विस्तृतत्वात्। परिशेषादहमर्थाभिन्नात्मनिष्ठमेव सिद्धम्। ननु माऽभूत्केवलयोर्बुद्ध्यात्मनोरेकतरस्य कर्तृत्वमुक्तदोषात् तथाप्युपाधिसम्पर्कादकर्तुरप्यात्मन एव कर्तृत्वमिति चेन्न। तथात्वे षण्डस्यापि स्त्रीसम्बन्धमात्रेण प्रजोत्पादकत्वप्रसङ्गात्। तस्मात्स्वाभाविक- कर्तृत्वाद्याश्रयस्यैवाहमर्थाभिन्नज्ञातुरात्मनो बद्धावस्थायां कारणविषयसम्बन्धनिमित्तकमेव कर्तृत्वं स्वाभाविकदाहकत्वाश्रयाग्नेः काष्ठादिसम्बन्धनिमित्त-कदाहकत्ववत्सूपपन्नम्। सुषुप्तिमूर्छादौ करणविषयादेरभावेन विशेषकर्तृत्वाभानस्यापि सूपपन्नत्वात्सामान्यश्वासादिकर्तृत्वस्योक्तश्रुत्या तत्रापि सत्त्वाच्च सर्वावस्थानुगतत्वमपि पूर्वोक्तरीत्या सूपपन्नतरम्। ननु तर्हि कर्तृत्वपक्षे जाग्रदवस्थायां कदापि तदुपरमो न स्यात्करणकलापस्य तदा सत्त्वादिति चेन्न। कर्मक्रियाभावस्य तदुपरमे प्रयोजकत्वात्। किञ्च सर्वस्यापि सचेतनस्य कर्मकर्त्रादिकलापस्य सर्वान्तरात्मश्रीपुरुषोत्तमपरतन्त्रत्वात् तन्नियन्तृत्वस्य च बद्धजीवानाद्यदृष्टफल-भोगानुरूपदेशकालसापेक्षत्वेन तत्प्रेरणसङ्कल्पस्य भावाभावौ तद्भानोपरत्योर्नियामकौ भवतः, तथात्वे च तत्प्रयोजकसत्त्वे तद्भानं, तदभावे चोपरतिरित्यर्थः। बद्धजीवेत्याद्युक्त्या ब्रह्मणि वैषम्यादिशङ्कापि दूरतो निरस्ता, तस्य स्वस्वादृष्टवृत्तितया तत्प्रयोजके ब्रह्मणि तदस्पर्शात्। 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह'

इत्यादिश्लोकद्वयेन श्रीमुखगानात्। 'फलमत उपपत्तेरि'ति वक्ष्यमाणन्यायाच्च। न चैवं शास्त्राचार्योपदेशस्य निर्विषयत्वेन वैयर्थ्यापत्तिरिति वाच्यम्। उपदेशस्य श्रीहरिप्रयोजकताज्ञानप्राक्कालीनप्रवृत्तिविधायकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यादिति भावः। एवं भोक्तृत्वादयोऽप्यूहनीयाः। तथाहि सुषुप्त्यादौ 'सुखमहमस्वाप्समि'ति 'योऽहं जागर्मि स एवाहं सुख सुप्त' इति स्मरणप्रत्यभिज्ञानप्रमाणसिद्धम्। मोक्षे च "जक्षन् क्रीडन्नि'ति श्रुतिप्रमाणसिद्धं भोक्तृत्वमिति सङ्क्षेपः।।३२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ज्ञातृत्व की तरह आत्मा में कर्तृत्व भी है या नहीं ऐसा संशय होने पर कहते हैं, 'कर्ता' आत्मा कर्ता ही है क्योंकि "यजेत्स्वर्गकामः, मुमुक्षुर्वै शरणं व्रजेत्, सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि भोग तथा मोक्ष के साधन उपदेश शास्त्र की सार्थकता तभी संभव है। यदि कहें कि आत्मा अकर्ता ही है जैसा कि "न जायते म्रियते वा" इत्यादि शास्त्र द्वारा आत्मा के जन्म आदि विकारों का प्रतिषेध करके "हन्ता चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" (यदि कोई मानता है कि मैं मारने वाला हूँ, मैंने उसको मारा) इस प्रकार जो जानता या मानता है, वे दोनों अज्ञानी है। यहाँ हनन क्रिया के आश्रय या उस क्रिया के फलाश्रय किसी व्यक्ति को मानने वालों को श्रुति अज्ञानी बताती है, ऐसा कठवल्ली श्रुति का कथन है। "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते" (प्रकृति के गुणों द्वारा होने वाले कर्मों का अहङ्कार विमूढ़ात्मा अपने को कर्ता मानता है), इसी प्रकार "नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति। कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" (गुणों से भिन्न जब कर्ता को देखता है। कार्य, कारण तथा कर्तृत्व में प्रकृति कारण कही जाती है, पुरुष सुख-दुःख के भोक्तृत्व में हेतु है) इत्यादि स्मृतियों से कर्तृत्व प्रकृति का ही धर्म सिद्ध होने से पुरुष केवल भोक्ता ही है। जैसे जपाकुसुम में स्थित लौहित्य स्फटिक में भासित होता है, उसी प्रकार मन में रहने वाला कर्तृत्व आत्मा में अध्यस्त होकर भासित होता है, न कि वह तात्त्विक है। उसमें कर्तृत्व मानने पर विकारित्व की आपत्ति होगी। सुषुप्ति में मन के अभाव होने पर कृति आदि नहीं देखी जाती तथा कर्तृत्व मानने पर अकर्तृत्व बोधक श्रुति का व्याकोप होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा असंभव है, जैसे प्रत्येक स्फटिक में तथा जपाकुसुम में प्रत्यक्ष प्रमाण से लौहित्य भिन्न रूप से भासित होता है, उस प्रकार आत्मा एवं मन में प्रत्येक में कर्तृत्व का अभाव है। आत्मा में कृत्याश्रयत्व का अध्यास होने से आत्मा कर्ता है और मन स्वतः कर्ता है, ऐसा कभी भी साक्षात्कार नहीं होता इसलिए, यहाँ दृष्टान्त वैषम्य है। अन्यथा मन कर्ता है और आत्मा अकर्ता, इस प्रकार कभी भिन्न रूप से भी भान होता। दूसरी बात यहाँ विकल्प उठने पर उसका कोई उत्तर नहीं है। जैसे यह उपाधि सोपाधिक है या निरुपाधिक? अन्तिम नहीं कह सकते नेदं रजतम् (यह रजत नहीं है) की भाँति नायं कर्ता (यहाँ कर्ता नहीं है) इस प्रकार के अकर्तृत्व याथात्म्य ज्ञान से कर्तृत्व ज्ञान की निवृत्यापत्ति होगी। कुसुम की तरह उपाधि रूप प्रतिबन्धक का अभाव है। पहला पक्ष भी नहीं कह सकते 'रक्तं पुष्पम्' इस

प्रमात्मक ज्ञान की तरह कदाचित् मन कर्ता है, इस प्रकार से लोहित स्फटिक इस भ्रमात्मक ज्ञान की तरह चैतन्य कर्ता है, इस प्रकार का भ्रम अवश्य भाव्यमान होता। यदि कहें कि कुसुम स्फटिक रूप से अध्यस्त नहीं है और चिदात्मा रूप से अध्यस्त है, इस प्रकार के वैषम्य से उसका ज्ञानाभाव अविरुद्ध है, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अधिष्ठान रूप से अनध्यस्त जपा कुसुम स्थानीय उपाधि के बिना भीषणता युक्त सर्प का रज्ज्वात्मना ही कर्तृत्व आदि युक्त मन में चिदात्मा में अध्यास मानने पर रज्जू में भीषणत्वान्तर की तरह आत्मा में कर्तृत्वान्तर रूप अध्यास में सोपाधिकत्व का योग नहीं है। यदि कहें कि आत्मा में कर्तृत्वान्तर ही अध्यस्त है, अध्यस्ययान धर्म के आश्रय में अभेद का आरोप होने पर औपाधिकत्व संभव नहीं है। यदि कहें कि रज्जु सर्प आदि में अध्यस्यमान भीषणत्वादि विशिष्ट सर्प के अपेक्षया अधिकसत्ताक सर्पान्तर (सत्य सर्प) के संभव होने से इसमें निरुपाधिकत्व है और यहाँ अध्यस्यमान अन्तःकरण की अपेक्षा या कर्तृत्व आदि विशिष्ट अधिक सत्ताक अन्य का अत्यन्ताभाव है, इसलिए अन्तःकरण मात्र को ही उपाधित्व कहते हैं, तो यह भी नहीं कह सकते। स्फटिक में अध्यस्यमान प्रातिभासिक लौहित्य की अपेक्षा अधिक सत्ता वाला अन्य लौहित्य के होने के कारण उसमें भी निरुपाधिकत्व की आपत्ति होगी। यदि कहें कि जहाँ धर्मी तादात्म्य रूप से आरोपित है और उससे अधिकसत्ताक तथा अतिरिक्त भी है। वह रज्जु सर्पादि की तरह निरुपाधिक अध्यास है। लोहितः स्फटिक यहाँ तो धर्मी का तादात्म्येन आरोप नहीं है, इसलिए सोपाधिक लोहित की उपपत्ति होती है, तो यह नहीं कह सकते। मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अन्तःकरण इस प्रकार की भेद बुद्धि से प्रतिबन्ध होने के कारण आरोप असंभव होने से धर्ममात्र ही वक्तव्य होने के कारण लौहित्य आदि की भाँति कर्तृत्व आदि धर्म का दोनों जगह प्रतीति दुर्वार है। सोपाधिक स्थल में धर्म के आरोप से ही उपपत्ति होने के कारण धर्मी का आरोप अप्रमाणिक भी है। समीप में स्थित पदार्थ में अपने धर्म का जो आधान करता है, उसे उपाधि कहते हैं, यही उपाधि का लक्षण है। अभेद ग्रहण दशा में भी यह भीषण है, सर्प भीषण हैं, मैं गोरा हूँ, शरीर गोरा है, इस भाँति मेरा मन कर्ता है, चैतन्य कर्ता है, ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। दूसरी बात इसी अधिकरण में आपने भी सांख्य पद्धति के अनुसार बुद्धि में कर्तृत्व प्राप्त होने पर जीव में ही कर्तृत्व पक्ष का सिद्धान्त किया है, इस तरह आपको स्वोक्ति का विरोध होगा। यदि कहें कि आपने वहाँ बुद्धि एवं आत्मा में अविवेक प्रयुक्त जीवनिष्ठ कर्तृत्व का सिद्धान्त किया है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। इस पर कहते हैं 'बुध्यात्मनोरविवेक बिन्धनम्' अर्थात् बुद्धि तथा आत्मा में अविवेक जनित जीव निष्ठ कर्तृत्व तो सांख्य मत में भी होने से दोनों में अन्तर नहीं है। और बन्धन तथा तन्निवृत्ति उपयोगी कृतियों में स्वध्वंसाभाव एवं स्वफलभागित्व के द्वारा सामानाधिकरण्य का नियम होने से बुद्धि में कर्तृत्व नहीं हो सकता। कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि अनर्थ रूप बन्धन यदि बुद्धि गत है, तब तो मोक्ष भी बुद्धि को ही होगा, कारण बन्ध एवं मोक्ष में सामानाधिकरण्य का नियम है। अज्ञान भी दुःख आदि के भोग द्वारा ही अनर्थ रूप है, यह आपका सिद्धान्त है। यदि कहें कि बुद्धिगत सद्रूप भोक्तृत्व आदि उसके धर्म होने से अनर्थ

रूप नहीं है किन्तु तदुपाधिक भोक्तृत्व आदि मिथ्या है, तो यह भी नहीं कह सकते। इस प्रकार की कल्पना कर्तृत्वाध्यास सिद्धि के अधीन होने से यहाँ अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी। मोक्ष भी सत्य होकर ही पुरुषार्थ है तथा भोक्तृत्व आदि बन्धन भी सत्य होने पर ही अनर्थ रूप होता है। जैसा कि वार्तिक ग्रन्थ में बौद्ध के प्रति कहा है कि स्वप्न के सुख के लिए कोई भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता। स्वाप्न सुख आकस्मिक होता है, उसमें पण्डितजन मौन हो जाते हैं 'नहि स्वप्नसुखाद्यर्थं पुमान्कश्चित्प्रवर्त्तते। यादृच्छिकत्वात् स्वाप्नस्य तूष्णीमास्येत पण्डितैः' स्थूल मैं भोजन करता हूँ, कार्य करता हूँ इत्यादि प्रतीति के द्वारा देह में अनर्थ का अन्वय हो जायगा। बुद्धि रूपी उपाधि प्रयुक्त आत्मस्थित भोक्तृत्व आदि भी अनर्थ नहीं है, न ही देहस्थ भी, तो यह भी नहीं कह सकते। अनर्थ के आश्रय आत्मा में अनर्थ कोटित्व का योग नहीं है। भ्रम काल में अहम् भोक्ता तथा प्रमाकाल में बुद्धि भोक्त्री है, ऐसी प्रतीति की आपत्ति होने से शुद्ध आत्मा में कदापि भी उसकी प्रतीति के अभाव की आपत्ति भी होगी। दूसरी बात श्रवण, मनन आदि साधनों का कर्तृत्व मन में होने से उक्त साधनों का फल मोक्ष भी मन में ही होगा। शास्त्र फलं प्रयोक्तरि (शास्त्र का फल उसके प्रयोक्ता को ही प्राप्त होता है) इस न्याय से जिसमें साधन की कृति होती है वही फल का भागी होता है। अन्यथा कृतनाथ एवं अकृताभ्यागम का प्रसंग होगा तथा बन्ध एवं मोक्ष में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। यदि कहें कि शुद्ध एवं उपहित में स्वाभाविक भेद का अभाव होने से बन्ध एवं मोक्ष में सामानाधिकरण्य सम्यक्तया उपपन्न होता है तो यह भी नहीं कह सकते। उपहितगत अनर्थ का शुद्धगतत्व की तरह उपहितगत दृश्यत्व, मिथ्यात्व आदि में शुद्धगतत्व की आपत्ति होगी। यदि कहें कि इसका जातेष्टि (जात संस्कार) तथा पितृश्राद्ध आदि में व्यभिचार होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। कृति एवं फल में सामानाधिकरण्य के उपपादक उद्देश्यता सम्बन्ध का फलाधिकरण पुत्र, पितृ आदि में विद्यमान है। जातेष्टि में पिता के लिए पुत्रगत पूतत्व आदि उसके अनुष्ठाता पिता का ही फल होता है। इसी प्रकार श्राद्ध में भी समझना चाहिए। आरोपित एवं अनारोपित साधारण कर्तृत्व को फल के प्रति प्रयोजक मानने पर बुद्धि एवं देह के मोक्ष में अन्वय की आपत्ति होगी और "तन्मनोऽकुरुते" इत्यादि श्रुति में मन के कृति कर्मता शृण्वन्तः "श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा" (विद्वान् लोग श्रोत्र मन से सुनते हुए) यहाँ श्रवण क्रिया में प्रति करणत्व तथा "मन उत्क्रामन्मीलित इवाश्नन्पिबन्नास्ते" इत्यादि श्रुतियों में मन के उत्क्रमण में भी आत्मा में कर्तृत्व "पारं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाण" इत्यादि श्रुतियों में स्वरूप के आविर्भाव होने पर सर्वोपरि मुक्ति में भी कर्तृत्व एवं "विज्ञानं यज्ञं तनुते विज्ञानात्मा योऽयं वेद जिघ्राणि "स आत्मा आनन्दभुक् चेतोमुखप्राज्ञ" इत्यादि श्रुतियों में विज्ञानात्मा (जीवात्मा में) कर्तृत्व का श्रवण है। यदि कहें कि यहाँ विज्ञान शब्द बुद्धि परक है तो यह नहीं कह सकते क्योंकि उक्त श्रुति के शेष में 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्च न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान्कामान्समश्नुते' कहा है। इसलिए विज्ञान शब्द से यहाँ बुद्धि नहीं ली जा सकती और 'अहं करोमि' इत्यादि प्रत्यक्ष से आत्मा मोक्ष के साधन कृति का आश्रय है, फल का अन्वयी

होने से सम्मत की तरह, इसी तरह अज्ञान ज्ञान समानाधिकरण है, बन्ध रूप होने से सम्मत की तरह इत्यादि अनुमानों से भी तथा 'कर्ता विज्ञानात्मा योऽयं वेद जिघ्राणि' इत्यादि श्रुतियों द्वारा भी आत्मा में कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि की सिद्धि होती है। एवं यदि आत्मा कर्ता न हो तो भोग तथा मोक्ष के साधन का उपदेश भी नहीं होगा। इस अर्थापत्ति प्रमाण से भी आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होता है, इसका कोई बाधक नहीं देखा जाता। उक्त श्रुति अनुवाद परक हैं ऐसा नहीं कह सकते, अहमर्थ से अन्य आत्म कर्तृत्व तथा "नामरूपे व्याकरोत्स हि सर्वस्य कर्ता" इस श्रुति के द्वारा ईश्वर कर्तृत्व प्रत्यक्ष प्राप्त है, निर्धर्मकत्व बाधक है, ऐसा भी नहीं कह सकते। निर्धर्मकत्व रूप धर्म का भाव एवं अभाव के द्वारा व्याघात होता है। निष्क्रियत्व भी बाधक नहीं हो सकता। क्रिया के धात्वर्थ होने पर आत्मा में भी अस्ति आदि धात्वर्थ सत्ता आदि के होने से तत्त्व की सिद्धि नहीं होगी, उसे परिस्पन्दपरक मानने पर चेष्टा की आपत्ति होगी। कृतिपरक मानने पर "रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा चेतन में कर्तृत्व विहित होने से सिद्धि नहीं होगी। यदि कहें कि निष्क्रियत्व श्रुति का विरोध होगा क्योंकि वह श्रुति ब्रह्म में परतन्त्र क्रिया तथा प्रत्यगात्मा में स्वतन्त्र क्रिया का निषेधक है। अन्यथा "स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इस श्रुति, तथा "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, नहि श्रोतुः श्रुतेः, नहि मन्तुर्मतेः" इत्यादि श्रुति का बाध आपके मत में बराबर ही होगा। निर्विकारत्व भी बाधक नहीं होगा, जैसे आकाश के संयोग आदि के आश्रय होने पर भी निर्विकारत्व रहता है, वैसे आत्मा अज्ञान एवं उसके ध्वंस के आश्रय होने पर भी निर्विकारत्व रहता है। उसमें ज्ञानादि गुण के आश्रय होने पर भी विकारित्व नहीं होगा। "अविकार्योऽयमुच्यते" ऐसा शास्त्र वचन भी है। यदि कहें कि सुषुप्ति में मन का अभाव कर्तृत्व आदि के दर्शन में बाधक होगा तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उस अवस्था में भी श्वास आदि क्रियाओं का कर्तृत्व देखा जाता है, इसलिए आत्मा में कर्तृत्व सिद्ध होता है क्योंकि 'सुप्तो भूर्भूरित्यादिश्वसिति' इत्यादि श्रुतिवचन हैं। मन के अभाव में कर्तृत्व आदि का अदर्शन मन के कर्तृत्व को नहीं सिद्ध करता किन्तु उसके निमित्तत्व को बताता है। निमित्तकारण के बिना भी कार्य दर्शन संभव है। दण्ड के अभाव में घट आदि का अदर्शन दण्ड के कर्तृत्व को नहीं बताता, इसी आशय से कहते हैं 'देहादिवत्' अर्थात् देह आदि की तरह मन के निमित्त रूप होने पर भी उसकी उपपत्ति हो सकती है। 'काम संकल्पः' इत्यादि श्रुतियाँ भी मन के करणत्व का बोधक ही हैं, कर्तृत्व बोधक नहीं, जैसा कि इस विषय में अन्य श्रुति भी हैं "मनसैवाग्रे सङ्कल्पयति" यहाँ स्पष्टतया मन को करण कहा गया है। "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" (इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है) यह श्रुति आत्मा के भोक्तृत्व में देह आदि की तरह मन उसके सहकारी मात्र है, एतावन्मात्र बोधक है। "ध्यायतीव लेलायतीव" इस श्रुति में इव शब्द परतन्त्र प्रभु में प्रभुरिव (प्रभु के समान) जीवगत कर्तृत्व परमेश्वराधीन है, इस बात को समझाने के लिए है। "प्रकृतेः क्रियमाणानि" यह स्मृतिवचन भी जीवगत कर्तृत्व का बाधक नहीं है, वह भी जीवगत स्वतन्त्र कर्तृत्व निषेध परक ही है। सांसारिक प्रवृत्ति में जीव का कर्तृत्व प्राकृत गुण प्रयुक्त ही है,

न कि स्वरूप प्रयुक्त। इस बात के विवेचन के लिए गुणों में कर्तृत्व बताया गया है। तथा 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' (गुण सङ्ग ही जीवात्मा के सद् या असत् योनि में जन्म का कारण है) इसी प्रकार "तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति" यहाँ केवल शब्द स्वातन्त्र्यपरक है अर्थात् जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है इसका बोधक है। उक्त अर्थ में प्रमाण है, सांसारिक प्रवृत्ति में अधिष्ठान आदि पञ्चम हेतु है। अपने को स्वतन्त्र रूप से कर्ता मानने वाला दुर्मति (अज्ञानी) है, यह भाव है। अन्यथा गुणों में कर्तृत्व मानने पर भोक्तृत्व भी उनमें ही मानना पड़ेगा, कारण कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व में सामानाधिकरण्य का नियम है। अन्य कर्तृक या कर्मों का किसी अन्य व्यक्ति में भोक्तृत्व लोक या वेद में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। दूसरी बात गुणों का प्रवाह नित्य होने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा तथा मुक्तों के भी पुनः भोक्तृत्व का प्रसङ्ग दुर्वार होगा और केवल भोक्तृत्वमात्र स्वीकार करने पर भुजि क्रिया (व्यापार) के आश्रय अवश्यंभावी होने के कारण, तब भी आत्मा में अकर्तृत्व कैसे हो सकता है, यह भी पण्डितमानी जनों के लिए अवश्य विचारणीय है। "दैवं चैवात्र पञ्चमम्" यहाँ देव शब्द परमात्मा परक है, इस प्रकार जीवात्मा का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन ही है, ऐसा सूत्रकार कहेंगे। इस भाव का श्रुतिवचन भी है 'स कारयेत् पुण्यमथापि पापं न तावता दोषवानीशितापि' अर्थात् पुण्य पाप कराने वाला परमात्मा ही है। 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' ऐसा स्मृति वचन भी है। बद्ध अवस्था में अनादि प्रकृति सम्बन्ध रूप अथवा कर्मरूप अविद्या से जीवात्मा में ज्ञान तथा क्रिया शक्ति के संकुचित होने से ज्ञान तथा क्रिया में जीव का मन आदि का पारतन्त्र्य होता है, उसकी सहायता की अपेक्षा होती है। मुक्त अवस्था में तो स्वरूप एवं परकीय (परमात्मा) के स्वरूप का आविर्भाव होने से बुद्धि तथा इन्द्रिय आदि की निरपेक्षता हो जाती है ऐसा विवेक करना चाहिए। "सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः" (मुक्त अवस्था में सर्वद्रष्टा जीव सब कुछ देखता है, सब कुछ प्राप्त करता है) 'यः सर्वज्ञः स हि सर्वस्य कर्त्ता, तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ईश्वर का नित्य क्रियाश्रयत्व तो निर्विवाद ही है। उसी प्रकार मुक्त जीवों का भी ज्ञान एवं क्रिया का योग अविरुद्ध है (निश्चित है) 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः सङ्कल्पादेवास्य पितरः' इत्यादि। अर्थात् मुक्त अवस्था में जीव परमात्मा के साथ खेलता है, खाता है, अनेक प्रकार से रमण करता है, इत्यादि वचनों द्वारा जीव का कर्तृत्व स्पष्ट है। इसी तरह "विहारोपदेशात् सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेरिति" इन वक्ष्यमाण सूत्रों द्वारा भी जीव का कर्तृत्व सिद्ध होता है। यदि कहें कि ज्ञान, इच्छा तथा कृति आदि नित्य होने पर सदा सृष्टि आदि की आपत्ति होगी। यदि कहें कि उसमें काल निमित्त होता है, इसलिए सृष्टि के भाव अभाव में काल के नियामक होने से उक्त दोष नहीं होगा, प्रधान आदि में इच्छा आदि में सम्बन्धजनक काल आदि भी सदा विद्यमान रहते तो ऐसा नहीं कह सकते। सृष्टि, प्रलय के विषय में तत्सम्बन्धी ईश्वरेच्छा से ही सृष्टि, सिसृक्षा एवं संहारेच्छा संभव है। जैसे परकीय वृत्ति यदि उपरागार्था है, इस मत में व्यापक चैतन्य का भी वृत्ति द्वारा ही घटादि के साथ सम्बन्ध होता है और जैसे तार्किक आदि के मत में गोत्व आदि का सर्वव्यापक होने पर भी

सास्वादि विशिष्ट में सम्बन्ध होता है, अन्यत्र नहीं है और जैसे हमारे मत में विश्वात्मा परमब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम का सर्वदेश, काल तथा वस्तु से परिच्छिन्न पदार्थ से इतर होने के कारण, व्यापक होने से सर्वत्र होने पर भी किसी अन्तिम जन्म में ही अधिकारी विशेष को साक्षात्कार होता है, अन्यत्र नहीं, उसी प्रकार परमेश्वर की इच्छा आदि का भी सृष्टि कालादि विशेष से सम्बद्ध प्रधान आदि का सम्बन्ध होता है अन्यकाल में नहीं। इसलिए उक्त दोष का यहाँ अवकाश नहीं है, इस प्रकार सब सही है। यदि कहें कि कर्तृत्व क्लेशप्रद है, इसलिए उसमें श्रुति का तात्पर्य नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते, तब तो दर्शपौर्णमास आदि यज्ञ तथा श्रवण मनन आदि से भी श्रुति का तात्पर्य नहीं होगा। श्वास आदि का नहीं करने में ही क्लेश देखा जाता है। बल्कि 'यदा करोत्यथ निस्तिष्ठति' इस श्रुति के द्वारा कर्तृत्व में फल सम्बन्ध का विधान है। भाव यह है कि कर्तृत्व बुद्धिगत है या शुद्धगत या अहमर्थगत? पहला पक्ष नहीं कह सकते। बुद्धि के जड़ होने से उसमें कर्तृत्व अङ्गीकार करने पर घट आदि में अतिव्याप्ति होगी। दूसरा विकल्प भी नहीं हो सकता। अहमर्थ भिन्न से आत्मा की असिद्धि को पहले ही विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। अन्ततः अहमर्थ से अभिन्न आत्मनिष्ठ कर्तृत्व ही सिद्ध होता है। यदि कहें कि केवल बुद्धि या केवल आत्मा एक में उक्त दोष के कारण कर्तृत्व भले न हो, फिर भी उपाधि के सम्पर्क से कर्ता न होने पर भी आत्मा में ही कर्तृत्व मान लें तो ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा मानने पर नपुंसकजन में भी स्त्री सम्बन्ध मात्र से सन्तति उत्पादकत्व का प्रसङ्ग हो जायेगा। इसलिए अहमर्थ आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व है, और उसमें ज्ञातृत्व भी, जिसमें बद्ध अवस्था में कारण और विषय सम्बन्धनिमित्तक ही कर्तृत्व है। जैसे स्वाभाविक दाहकत्व के आश्रय अग्नि में काष्ठादि सम्बन्ध निमित्तक दाहकत्व की तरह भली-भाँति उपपन्न है। सुषुप्ति एवं मूर्छा आदि अवस्था में करण तथा विषय आदि के अभाव होने से श्वासादिक कर्तृत्व का उक्त श्रुति से उस अवस्था में भी सद्भाव होने से सभी अवस्था में अनुगतत्व भी पूर्वोक्त रीति से भली-भाँति है। यदि कहें कि तब कर्तृत्व पक्ष में जाग्रत अवस्था में कभी भी उसका उपराम नहीं होगा। कारण करण समूह उस समय विद्यमान रहेगा तो ऐसा नहीं कह सकते। उस उपराम में कर्म क्रिया भाव प्रयोजक है और सभी सचेतन कर्म कर्तृ आदि समूह सर्वान्तरात्मा श्रीपुरुषोत्तम के परतन्त्र हैं। उसमें नियन्तृत्व के बद्ध जीव के अनादि अदृष्टानुसार फल भोग के अनुरूप देश, काल सापेक्ष होने से उसके प्रेरणात्मक संकल्प के भाव एवं अभाव उसमें भान एवं उपरति के नियामक होते हैं। इस प्रकार उसमें प्रयोजक होने पर उसका भान और उसके अभाव में उपराम होता है यह भाव है। बद्ध जीव इत्यादि उक्ति से ब्रह्म में वैषम्य आदि की शङ्का भी निरस्त होती है। वैषम्य अपने-अपने अदृष्ट वृत्ति द्वारा होने से उसमें प्रयोजक ब्रह्म में वैषम्य स्पर्श भी नहीं होता जो कि 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्यादि श्लोकों द्वारा भगवान् ने स्वयं कहा है। 'फलमत उपपत्तेः' इस वक्ष्यमाण सूत्र (न्याय) से भी यह सिद्ध होता है। यदि कहें कि इस प्रकार शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश के निर्विषय हो जाने से उनमें वैयर्थ्य की आपत्ति होगी तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि जीव का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है। इस

ज्ञान के अभाववान् पुरुष के प्रति शास्त्र में प्रवर्तकत्व बोध जनन द्वारा होता है, यही कहते हैं "उपदेशस्य श्रीहरिप्रयोजकताज्ञानप्राक्कालीनप्रवृत्तिविधायकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यादिति भावः" इत्यादि वाक्यों द्वारा। इसी प्रकार भोक्तृत्व आदि भी जीव वृत्ति होते हैं, इसका ऊह करना चाहिए। जैसे सुषुप्ति आदि में 'सुखमहमस्वाप्सम्' 'योऽहं जागर्मि स एवाहं सुखं सुप्तः' इस स्मरणात्मक प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से सिद्ध है। मोक्ष दशा में भी "जक्षन् क्रीडन्" इस श्रुति प्रमाण से जीव का भोक्तृत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार यह संक्षेप कथन है।।३२।।

विहारोपदेशात्।।२।३।३३।।

इतश्चाप्यस्य कर्तृत्वं, विहारः सञ्चरणं, 'स ईयतेऽमृतो यत्र काममि'ति 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तत' इति च विहारमुपदिशति श्रुतिः।।३३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस हेतु से भी जीव में कर्तृत्व सिद्ध होता है, विहार माने सञ्चरण। "स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्" 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' अपने शरीर में अपनी कामनानुसार जीव परिभ्रमण करता है। इस श्रुति द्वारा विहार का उपदेश होने से जीवात्मा कर्ता है।।३३।।

उपादानात्।।२।३।३४।।

इतश्चास्य कर्त्तृत्वम्। "स यथा महाराज" इति प्रकृत्यै "वमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वे" ति "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाये" ति चोपादानं सङ्कीर्त्त्यते। प्राणानामिन्द्रियाणां विज्ञानेन बुद्ध्यादिना विज्ञानं ग्राहकसामर्थ्यमादायेत्यर्थः।।३४।।

इतश्चाप्यस्य कर्त्तृत्वमित्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

इस लिए भी जीव में कर्तृत्व है। "स यथा महाराजः" (वह जिस प्रकार महाराज) इस तरह प्रस्ताव कर "एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वा" (इस प्रकार यह आत्मा इन प्राणों को ग्रहण कर) "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" (इन प्राणों का विज्ञान से विज्ञान लेकर) इत्यादि श्रुतियों से उपादान (जीवों का ग्रहण कर्तृत्व) श्रूयमाण है। प्राणों के तथा इन्द्रियों के विज्ञान से बुद्धि आदि में ज्ञानग्राहक (कर्त्तृत्व) के सामर्थ्य को लेकर जीव कर्त्ता है।।३४।।

इस हेतु से भी कर्तृत्व है—

व्यपदेशाच्च क्रियाया न चेन्निर्देशविपर्य्ययः।।२।३।३५।।

यतोऽस्य लौकिकवैदिकक्रियासु "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि चे" ति श्रुत्या कर्त्तृत्वं व्यपदिश्यते। विज्ञानशब्देन जीवस्य न व्यपदेशो, ऽपि तु बुद्धेरिति चेत्तर्हि निर्देशविपर्ययः स्यात्। बुद्धेः करणत्वेन विज्ञानेनेति करणविभक्त्या निर्देशः स्यात्।।३५।।

ननु जीवस्य कर्त्तृत्वे सदा स्वात्मनो हितमेव कुर्यान्न त्वहितमित्यत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

लौकिक वैदिक क्रियाओं में "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इस श्रुति के द्वारा जीवात्मा में कर्तृत्व का व्यपदेश है। यदि कहें कि विज्ञान शब्द से बुद्धि का व्यपदेश है जीव का नहीं, तब निर्देश में विपर्यय होगा क्योंकि बुद्धि के करण होने से विज्ञानेन ऐसा करण विभक्ति के साथ निर्देश होना चाहिए।।३५।।

यदि कहें कि, यदि जीव कर्ता हो, तो वह सदा अपना हित ही करेगा अहित कभी नहीं करेगा, इस पर कहते हैं—

उपलब्धिवदनियमः।।२।३।३६।।

तस्य परतन्त्रत्वाद्यथेष्टानिष्टयोरुपलब्धिस्तथा क्रियायामनियमः।।३६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीव के परतन्त्र होने से जैसे उसे इष्ट तथा अनिष्ट की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार क्रिया में भी अनियम है।।३६।।

शक्तिविपर्ययात्।।२।३।३७।।

यदि विज्ञानशब्दो बुद्धिपरः स्यात्तर्हि बुद्धेः करणशक्तिर्हीयते, कर्तृत्वादिशक्तिश्च स्यादतश्चापि जीवस्य कर्त्तृत्वम्।।३७।।

इतश्च प्रत्यगात्मनः कर्तृत्वमित्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि विज्ञान शब्द बुद्धि परक होगा, तब बुद्धि की करण शक्ति का नाश होगा और कर्तृत्व शक्ति उत्पन्न होगी, इसलिए भी जीव कर्ता है।।३७।।

इसलिए भी जीवात्मा में कर्त्तृत्व है—

समाध्यभावाच्च।।२।३।३८।।

जीवस्य कर्त्तृत्वाभावे मोक्षसाधनभूतसमाध्यभावश्च स्यात्, बुद्ध्यादेरन्योऽस्मीति समाधौ बुद्धेः कर्त्तृत्वायोगात्।।३८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीव में कर्त्तृत्व न मानने पर मोक्ष में साधनभूत समाधि का अभाव होगा। मैं बुद्धि आदि से अन्य हूँ, इस प्रतीति के द्वारा समाधि में बुद्धि में कर्त्तृत्व योग नहीं होता।।३८।।

यथा तक्षोभयथा।।२।३।३९।।

आत्मनः कर्त्तृत्वे हि स्वस्य भोगवाञ्छायां करोति तदभावे न करोतीत्युभयथापि व्यवस्था सिध्यति। बुद्धेः कर्त्तृत्वे तस्या इच्छाया अभावाद्व्यवस्था न सिध्येत्। यथा तक्षा स्वकार्य इच्छया व्यवस्थितः।।३९।। इति कर्त्रधिकरणम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

आत्मा में कर्तृत्व मानने पर आत्मा उसकी भोगवाञ्छा होने पर करता है, उसके अभाव में नहीं करता है। इस प्रकार दोनों तरह की व्यवस्था सिद्ध होती है। बुद्धि में कर्तृत्व मानने पर उसमें इच्छा के अभाव होने के कारण उक्त व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सकती जैसे तक्षा (बढ़ई) अपने कार्य में अपनी इच्छा के अनुसार व्यवस्था करता है।।३९।।

इस प्रकार कर्तृ अधिकरण पूरा हुआ।।१०।।

अथ परायत्ताधिकरणम्

अब परायत्त अधिकरण प्रारम्भ होता है।

परात्तु तच्छ्रुतेः।।२।३।४०।।

तत्पुनर्जीवस्य कर्तृत्वं किं स्वायत्तं परमात्मायत्तं वा? इति विषये स्वायत्तमेवेति विधिनिषेधशास्त्रस्य सार्थक्यात्। यः स्वातन्त्र्येण प्रवृत्तिनिवृत्तिशक्तः स एव विधिनिषेधविषयो निग्रहानुग्रहास्पदं च भवतीति प्राप्ते ब्रूमः। परादिति। तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। जीवस्य कर्तृत्वं परमेश्वराधीनमेव। कुतः? तच्छ्रुतेः। कर्तृत्वादेरीश्वराधीनत्वश्रुतेः। "एष ह्येव साधु कर्म करायति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां य आत्मानमन्तरो यमयती" त्यादिश्रुतेः। पूर्वमेव विस्तृतमेतत्।।४०।।

नन्वीश्वरस्य कारयितृत्वे धर्ममेव कारयेन्नाधर्ममन्यथा केनचित्पुरुषेण धर्मं, केनचिदधर्मं कारयतो वैषम्यादिप्रसक्तिरित्यत आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

वह जीव का कर्त्तृत्व क्या स्वाधीन है या ईश्वराधीन? तो कहते हैं स्वाधीन ही कर्तृत्व है, तभी विधि निषेध शास्त्र का सार्थक्य है। जो व्यक्ति विधि एवं निषेध में स्वतन्त्र होता है, वही विधि निषेध का विषय होता है या निग्रह अनुग्रह का आस्पद होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं "परात्तु"। तु शब्द पूर्वपक्ष के व्यावर्तन के लिए है, जीव का कर्तृत्व परमेश्वराधीन ही है क्योंकि ऐसा ही श्रुतिवचन है- जीव का कर्त्तृत्व ईश्वराधीन है। ऐसा श्रुति का वाक्य है- "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधोनिनीषते, अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां य आत्मानमन्तरो

यमयति" इत्यादि। परमात्मा उससे अच्छा कर्म कराता है, जिसे ऊर्ध्व लोक में ले जाना चाहता है और उससे बुरा कर्म, जिसे अधो लोक ले जाना चाहता है। वह परमात्मा जीवात्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसका शासन करता है, उसका नियन्त्रण करता है। इस विषय में पूर्व में ही विस्तार से विचार किया गया है।।४०।।

यदि कहें कि ईश्वर ही यदि सब कुछ कराता है, तब तो उसे सदा जीव से धर्म कार्य ही कराना चाहिए, अधर्म नहीं। अन्यथा किसी पुरुष द्वारा धर्म किसी के द्वारा अधर्म कराने पर उनमें वैषम्य आदि दोष का प्रसङ्ग हो जायगा। इस पर कहते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः।।२।३।४१।।

तुरुक्तशङ्कानिरासार्थः। जीवेन कृतो यो धर्माधर्मलक्षणः प्रयत्नस्तमपेक्ष्यैवान्यस्मिन्नपि जन्मनि परमेश्वरो धर्मादिकं कारयति, तदपेक्ष्य सुखादिफलं च ददातीति। कुत एवमिति चेदत आह। विहितेति ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे हि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्याद्योर्विहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यं भवति। अन्यथा तच्छास्त्रमनर्थकमेव स्यात्। धर्मकृतो दुःखमधर्मकृतश्च सुखं सम्पादयेदित्यादिदोष आदिशब्दार्थः।।४१।। इतिपरायत्ताधिकरणम्।।११।।

अथ अंशाधिकरणम्

(हिन्दी–अनुवाद)

'तु' शब्द उक्त शङ्का के निरास के लिए है। जीव के द्वारा किया गया जो धर्म अधर्मरूप प्रयत्न है, उसकी अपेक्षा करके ही अन्य जन्म में परमेश्वर उससे धर्मादि कराते हैं और उसके अनुसार सुख–दुःख आदि फल देते हैं। पूर्व–पूर्व प्राणी कर्म की अपेक्षया जीवों को धर्म–अधर्म कार्य में प्रवृत्त कराने के कारण ईश्वर में द्वेष एवं पक्षपात के कारण ईश्वर में न तो वैषम्य होगा न नैर्घृण्य (निर्दयता)। ईश्वर कर्म सापेक्ष है इस में प्रमाण पूछते हैं "कुत एवमिति चेदत" ईश्वर में कर्म सापेक्ष होने के कारण "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इन विहित एवं प्रतिषिद्ध कर्मों का वैयर्थ्य नहीं होता। अन्यथा वह शास्त्र अनर्थक होगा। धर्म करने वालों को दुःख तथा अधर्मकारी को सुख का सम्पादन करे इत्यादि दोष यहाँ आदि शब्द का अर्थ है।।४१।।

इस प्रकार परायत्त अधिकरण पूरा हुआ।

अब अंशाधिकरण प्रारम्भ होता है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके।।२।३।४२।।

जीवस्य कर्तृत्वमीश्वराधीनमिति निरूपितमिदानीं "तस्य अंशो ह्येष परस्ये"ति श्रुत्या ब्रह्मांशत्वाभिधानात् "निष्कलं निष्क्रियमि"ति श्रुत्या च ब्रह्मणो निरवयवत्वाभिध ानादित्युभयश्रुतिविरोधसन्देहे तदविरोधप्रकारोऽत्र मीमांस्यते। तथा च किमत्यन्तभिन्नांशोऽयं,

किंस्वित्सदुपाध्यवच्छिन्नो ब्रह्मप्रदेशः? ब्रह्मैवाऽविद्यया कल्पितांश इति वा? उत शक्तिमतः शक्तिरिव स्वाभाविकभिन्नाभिन्नः? इति संशये किन्तावत्प्राप्तम्? स्वामिभृत्यपुत्रभ्रातृसखिवदत्यन्तभिन्न एवांशोऽयमिति। कुतः? नानाव्यपदेशात् "द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाज्ञाज्ञौ, द्वावजावीशानशौ, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, अनशीश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्, अनशीया शोचति मुह्यमान" इत्यादिश्रुतिभ्यः। अभेदश्रुतयस्तु नरपतिरेव सर्वलोक इति वदौपचारिक्य इति। नैतद्युक्तं ब्रह्मणो निरवयवत्वेनात्यन्तभिन्नांशत्वासम्भवात्। अभेदश्रुतीनामपि प्राबल्येनौपचारिकत्वायोगात् भेदनिन्दाश्रवणाच्च। अथोपाध्यवच्छिन्नस्यानन्यभूतस्य वाचकोऽयमंशशब्दः प्रयुक्तो यथाऽग्नेर्विस्फुल्लिङ्गस्य, कथं तर्हि निरवयवस्य परमात्मनोंऽशः सम्भवति। आगमादित्यवगम्यते। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा व्युच्चरन्ती"ति दृष्टान्तप्रणयनात्। यथा चाकाशस्य पार्थिवाधिष्ठ-नावच्छिन्नकरणछिद्रं यथा च वायोः पञ्चवृत्तिः प्राणो यथा च मनसः कामादयो वृत्तयः। स च भिन्नाभिन्नरूपोऽभिन्नरूपं स्वाभाविकमौपाधिकं तु भिन्नरूपमुपाधीनां च वलवत्त्वात्। "तत्सम्मूर्छितस्तन्मयः संसरती" त्यभेदोऽभ्युपगम्यते। "स एव किं नेष्यते नानाव्यपदेशात्, "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" इति तत्र तत्र जीवपरयोर्भेदव्यपदेशाद अस्तु तर्हि भेद एवात आह। 'तत्त्वमसि नान्योऽतोस्ति द्रष्टे' त्याद्यभेदव्यपदेशाच्चेत्यपि न सङ्गतं, विकल्पासहत्वात्। तथा हि न तावदुपाधि नावच्छिन्नो ब्रह्मखण्डो जीवः, ब्रह्मणोऽच्छेद्यत्वात्, जीवस्य सादित्वापत्तेश्च। नाप्यच्छिन्न एवाणुरूपोपाध यवच्छिन्नो ब्रह्मप्रदेशविशेषो जीवोंऽशः, ब्रह्मैकप्रदेश उपाधिसम्बन्धापत्त्या सर्वे दोषास्तस्यैव स्युः। किञ्चोपाधौ गच्छति सति ब्रह्मप्रदेशाकर्षणानर्हत्वेनानुक्षण मुपहितब्रह्मप्रदेशभेदेन क्षणे क्षणे बन्ध मोक्षौ स्याताम्। आकर्षणपक्षाभ्युपगमे चाच्छिन्नत्वात्कृत्स्नस्याप्याकर्षणं स्यात्। तदसम्भवाभ्युपगमे पूर्वोक्तदोषस्य तादवस्थ्यम्। अविच्छिन्नब्रह्मप्रदेशेषु सर्वोपाधिसंसर्गेण सर्वजीवानां ब्रह्मण एव प्रदेशत्वेनैकत्वप्रतिसन्धानं स्यात्प्रदेशभेदादप्रतिसन्धानाङ्गीकारे चैकस्यापि स्वोपाधौ गच्छति सति स एवाहमिति प्रतिसन्धानं न स्यात्।।४२।।

(हिन्दी–अनुवाद)

जीव का कर्तृत्व ईश्वराधीन है यह निरूपित किया। अब "तस्य अंशो ह्येष परस्य" इस श्रुति के द्वारा जीव को ब्रह्म का अंश माना गया है तथा "निष्कलं निष्क्रियमि"ति इस श्रुति द्वारा ब्रह्म को निरवयव बताया गया है। इस प्रकार दोनों श्रुतियों में विरोध होने से अब दोनों में जिस प्रकार अविरोध हो सकता है, सामञ्जस्य हो सकता है, यह विचार किया जाता है। यहाँ प्रश्न है कि अंश से क्या तात्पर्य है। अत्यन्त भिन्न अंश अथवा सद्रूप उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म प्रदेश[1] अथवा (शंकराचार्य) ब्रह्म ही अविद्या से कल्पित अंश है किंवा शक्तिमान् की तरह स्वाभाविक भिन्नाभिन्न स्वभाव शक्ति रूप है क्योंकि इस विषय में नाना व्यपदेश है। जैसे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ज्ञाज्ञौ, द्वावजावीशानशौ प्रेरितारं च मत्वा, अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात्, अनीशया शोचति मुह्यमानः" इत्यादि श्रुति भेद परक हैं। "नरपतिरेव सर्वलोकः" राजा ही सबलोक है, की तरह अभेद श्रुति औपचारिक है, यह कथन युक्ति संगत नहीं है। ब्रह्म निरवयव होने से उसके अत्यन्त भिन्न अंश संभव नहीं है। अभेद

श्रुतियाँ भी प्रबल हैं उन्हें औपचारिक मानना संभव नहीं है बल्कि भेद की निन्दा में कई श्रुतिवचन हैं। यदि कहें कि उपाधि से अवच्छिन्न अनन्यभूत का वाचक यह अंश शब्द है, जैसे अग्नि का विस्फुलिंग। यदि कहें कि निरवयव परमात्मा का अंश संभव कैसे हो सकता है तो कहते हैं, श्रुति से ऐसा जाना जाता है– यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा व्युच्चरन्तीति" जैसे अग्नि से चिंगारियाँ निकलती हैं ऐसा श्रुति दृष्टान्त है। जैसे आकाश का पार्थिव अधिष्ठान से अवच्छिन्न करण छिद्र जैसे वायु की प्राणादि पाँच वृत्तियाँ, जैसे मनकी कामादि वृत्तियाँ। वह भिन्नाभिन्न रूप अभिन्न रूप से स्वाभाविक है, औपाधिक तो भिन्न रूप है, उपाधियाँ बलवान् होती हैं। "तत्सम्मूर्छितस्तन्मयः संसरति" इससे अभेद स्वीकार किया जाता है। तब वही अभेद क्यों नहीं मानते। तो कहते हैं[1] 'नानाव्यपदेशात्', "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा एवं परमात्मा में भेद का व्यपदेश है, तो कहते हैं तो फिर भेद ही मानिये। इस पर कहते हैं, "तत्त्वमसि" "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इत्यादि अभेद व्यपदेश है तो यह भी संगत नहीं है यह पक्ष विकल्प कहने योग्य नहीं है। कारण उपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म खण्ड जीव नहीं है क्योंकि ब्रह्म अच्छेद्य है तथा जीव में सादित्व की आपत्ति भी होगी। न ही बिना छिन्न हुए अणु रूप उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म का प्रदेश विशेष जीव अंश है। ब्रह्म के एक देश में उपाधि सम्बन्ध की आपत्ति से समस्त दोष ब्रह्म में ही होंगे। दूसरी बात उपाधि के गमन करने पर ब्रह्म के प्रदेश का आकर्षण योग्य न होने से अनुक्षण उपहित ब्रह्म प्रदेश के भेद से क्षण–क्षण बन्ध तथा मोक्ष होंगे। आकर्षण पक्ष स्वीकार करने पर अच्छिन्न होने से समग्र का आकर्षण होगा। उसको असंभव मानने पर पूर्वोक्त दोष का तादवस्थ्य होगा। अविच्छिन्न ब्रह्म प्रदेशों में सभी उपाधियों के संसर्ग से सभी जीवों के ब्रह्म का ही प्रदेश होने से एकत्व का प्रतिसंधान होगा। प्रदेश भेद से अप्रतिसंधान अङ्गीकार करने पर एक भी अपनी उपाधि में जाने पर वहीं मैं हूँ, यह प्रतिसंधान नहीं होगा।

किञ्चोपाधिना ब्रह्मणो जीवभावे सार्वज्ञ्यादिधर्मा आच्छादिताः स्वरूपं वा ? नाद्यः, असम्भवात्। तथाहि सार्वज्ञ्यादयः स्वाभाविका धर्मा औपाधिका वा ? नान्त्यः, औपाधिकत्वे उपाधेः सत्त्वमसत्त्वं वा ? सत्त्वेऽपि ब्रह्माभिन्नत्वमभिन्नत्वं वा ? भिन्नत्वेऽपि स्वप्रयुक्तत्वमन्यप्रयुक्तत्वं ब्रह्मप्रयुक्तत्वं वा ? नाद्यः, आत्माश्रयात्। न द्वितीयः अनवस्थानात्। न तृतीयः, अन्योऽन्याश्रयात्, प्रयोजकस्य नित्यत्वेनानिवृत्तिप्रसङ्गाच्च। अभिन्नत्वे चौपाधिकभेदासिद्धिः, उपाधिर्ब्रह्मेति समानाधिकरण–घटितप्रतीत्यापत्तिश्च। नाप्यसत्यः, परमतप्रवेशापत्तेरनङ्गीकाराच्च। अथ स्वाभाविकत्वपक्षे तेषां स्वरूपं भिन्नाभिन्नं वा ? भिन्नाभिन्नत्वं वा ? अत्यन्तभेदे शास्त्रविरोधः। "एवं गुणान्पृथक्पश्यन्नि" त्यादिनिषेधश्रवणात्। अभिन्नत्वे ब्रह्मणा तेषां सामानाधिकरण्यापत्तिस्तथात्व "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्पराऽस्य शक्तिरि"ति व्यधिकरणश्रुतिव्याकोपः। अन्त्ये स्वाभाविकभिन्नाभिन्नानां

---

१. श्रुति में भेद व्यपदेश "आत्मानमन्तरो यमयति अन्तः प्रविष्ट शास्ताजनानाम्" "ज्ञाज्ञौद्वावजौ ईशानीशौ अभेदव्यपदेश तत्त्वमसि" 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि तथा 'ब्रह्मदाशाः इत्यादि श्रुतियों द्वारा भेद तथा अभेद दोनों व्यपदेश होने से जीव अंश है 'अंशो ह्येष परस्य' अंश यहाँ शक्तिरूप है खण्ड रूप नहीं क्योंकि खण्डरूप मानने पर निष्कलं श्रुति का बाध होगा। (सं)

ह्यावरणासम्भवोऽस्मत्पक्षप्रवेशश्च। अन्यथा स्वरूपस्यावरणापत्तिस्तदङ्गीकारे सार्वज्ञ्यादिहानिः। किञ्चोपाधिः सहेतुको निर्हेतुको वा? नाद्यो, ऽनवस्थानात्। नान्त्यो, मुक्तस्यापि पुनर्बन्धप्रसङ्गात्। किञ्च ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादयो व्याप्यवृत्तय उतैकदेशवृत्तयः? आद्ये सर्वज्ञस्य सर्वस्यापि बन्धयोगेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गो जगदान्ध्यापत्तिश्च। द्वितीये तद्गुणानां परिच्छिन्नत्वेनाकिञ्चित्कर-त्वापत्तिर्मायावादपक्षप्रवेशापत्तिश्च। किञ्च मुक्तावस्थायां जीवः स्वरूपेण तिष्ठति न वा? आद्य, उपाधिविगमेऽपि जीवस्वरूपस्य विद्यमानताङ्गीकार औपाधिकभेदवादो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्स्वरूपेणैव भेदाङ्गीकारात्। द्वितीये, स्वरूपनाश एव मुक्तस्वरूपः स्यात्। तथात्वे च प्रच्छन्नबाह्यान्मायावादिनः को वा विशेष इति त्वयैव चिन्तनीयः। नाप्युदाहृतदृष्यन्ता- नामग्निविस्फुलिङ्गप्राणमनोवृत्तीनामत्र प्रामाण्यं वैषम्यात्। अग्निवाय्योः सावयवद्रव्यत्वेन तत्रांशानां स्वाभाविकानामेव सत्त्वेनोपाधिकल्पनाया अप्रयोजकत्वात्। कामादिवृत्तीनां च मनःपरिणामत्वादेवं जीवस्य ब्रह्मपरिणामत्वापत्तेस्तथात्वे चोभयोरनित्यत्वं स्यात्। तस्मान्न जीवस्योपाधिकृतांशत्वम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात उपाधि के द्वारा ब्रह्म में जीव भाव होने पर उसमें सार्वज्ञ्य आदि धर्म आच्छादित होंगे या स्वरूप? प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, यह असंभव है। जैसे सार्वज्ञ्य आदि धर्म स्वाभाविक धर्म है या औपाधिक? अन्तिम नहीं कह सकते। औपाधिक होने पर उपाधि सत् है या असत्? सत् होने पर भी ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? भिन्न होने पर स्वप्रयुक्त है या अन्य प्रयुक्त अथवा ब्रह्म प्रयुक्त? पहला कह नहीं सकते। इसमें आत्माश्रय दोष होगा। दूसरा भी नहीं कह सकते, इसमें अनवस्था का प्रसंग है। तीसरा भी नहीं कह सकते, अन्योऽन्याश्रय होने से और प्रयोजन के नित्य होने से अनिवृत्ति प्रसंग भी है। अभिन्न होने पर औपाधिक भेद की असिद्धि होगी। उपाधि ब्रह्म है, इस प्रकार समानाधिकरण घटित प्रतीति की आपत्ति होगी। असत्य भी नहीं कह सकते, परमत का प्रवेश हो जायगा, जो स्वीकार नहीं है। इसी तरह स्वाभाविक पक्ष में उनका स्वरूप भिन्न है या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न, अत्यन्त भेद मानने पर शास्त्र विरोध होगा। "एवं गुणान्पृथक्पश्यन्" इत्यादि वचनों द्वारा निषेध श्रवण भी है। अभिन्न होने पर ब्रह्म के साथ उनके सामानाधिकरण्य की आपत्ति होगी और वैसा होने पर "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" "परास्य शक्तिः" इत्यादि व्यधिकरण श्रुति का व्याकोप होगा। अन्तिम पक्ष में स्वाभाविक भिन्नाभिन्नों का आवरण असंभव और हमारे पक्ष का प्रवेश भी। अन्यथा स्वरूप की आवरणापत्ति और स्वरूप का आवरण स्वीकार करने पर सार्वज्ञ्य आदि की हानि और उपाधि हेतु है या निर्हेतुक? पहला नहीं कह सकते, अनवस्था दोष। अन्तिम भी नहीं कह सकते। मुक्त का भी पुनः बन्धन प्रसंग। दूसरी बात ब्रह्म में सार्वज्ञ्य आदि गुण व्याप्यवृत्ति हैं या एक देश वृत्ति? प्रथम पक्ष में सर्वज्ञ ब्रह्म के समग्र में बन्धन योग होने पर अनिर्मोक्ष प्रसंग होगा और जगत् में आन्ध्य की आपत्ति भी होगी। द्वितीय पक्ष में उनके गुणों के परिच्छिन्न होने से उनके अकिञ्चित्करत्वापत्ति तथा मायावाद पक्ष में प्रवेश की आपत्ति भी होगी। दूसरी बात मुक्त अवस्था में जीव स्वरूप रहता है या

नहीं? प्रथम पक्ष में उपाधि के नाश होने पर भी जीव के स्वरूप की विद्यमानता स्वीकार करने पर औपाधिक भेदवाद की भी सदा के लिए तिलाञ्जलि हो जायेगी क्योंकि स्वरूप से ही भेद अङ्गीकार है। द्वितीय पक्ष में स्वरूप नाश ही मुक्त का स्वरूप होगा। ऐसी स्थिति में प्रच्छन्न बाह्य मत से मायावादी के मत में क्या विशेषता रह जायेगी, यह आप ही सोचें और न ही अग्नि विस्फुलिंग, प्राण तथा मनोवृत्ति आदि उदाहृत दृष्टान्तों में प्रामाण्य है क्योंकि वैषम्य है। अग्नि तथा वायु के सावयव द्रव्य होने से उनमें अंशों के स्वाभाविक रूप से होने से उनमें उपाधि की कल्पना में कोई प्रयोजक नहीं है। काम आदि वृत्ति के मनका परिणाम होने से जीव का उसी प्रकार ब्रह्म में परिणामत्व की आपत्ति होगी और ऐसा होने पर दोनों में अनित्यत्व की आपत्ति होगी। इसलिए जीव में उपाधि प्रयुक्त अंशत्व नहीं है।

न चोक्तश्रुतेर्निर्विषयत्वेन व्याकोपप्रसङ्ग इति वाच्यम्। तस्याः प्रत्यगात्मनोऽजत्वेऽपि जन्मप्रतिपादकश्रुति- सार्थक्याय देहसम्बन्धाज्जन्मप्रतिपादनपरत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्। वस्तुतोऽत्यन्ताभेद एव पर्यवसानाद्भेदाभेदाङ्गीकारास्य वैयर्थ्यमेव। किञ्च परैरपि विवरणे न तावद् ब्रह्मणो जाति व्यक्तिभावो गुणगुणिभावः कार्यकारणभावो विशिष्टस्वरूपत्वमंशांशिभावो वा विद्यते मानाभावात्। नच तद्भावे भेदाभेदौ दृश्येते। नच "ममैवांशो जीवलोक" इति स्मृतेरंशांशितेति वाच्यम्। 'निष्कलं निष्क्रियमि"ति निरंशत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्। "पादोऽस्य विश्वाभूतानी"ति श्रुतिर्नांशांशिभावं ब्रूते। किन्तु ब्रह्मानन्त्यप्रतिपादनाय जीवस्याल्पमात्रत्वमाह। अन्यथा सांशस्य ब्रह्मणो घटादिवदवयवारभ्यत्वप्रसङ्गात्। ननु स्वाभाविकी निरवयवता बुद्ध्याद्युपाधिनिमित्तं सांशत्वमिति नोक्तदोष इति चेन्न। एवमपि वास्तवो भेदो न सिध्येत्। नहि निरवयवमाकाशं खड्गधारादिभिर्वस्तुतो भेत्तुं शक्यम्। अथान्तःकरणोपाधीनां वस्तुब्रह्मदारणसामर्थ्यमस्ति तर्हि ब्रह्म स्वस्यानर्थाय कथमुपाधीन् सृजेत्? नच जीवार्था तत्सृष्टिः, तत्सृष्टेः प्राग्जीवविभागासिद्धेः। नच कर्माविद्यासंस्कारा अन्तःकरणोत्पत्तेः प्राग्विद्यमाना जीवं विभजन्ते। अन्तःकरणद्रव्यस्यैव जीवोपाधित्वाङ्गीकारादित्यादिना बहुशो निरस्तत्वाच्च। तस्माद् दुरुपपादोऽयमौपाधिकभेदवाद इति संक्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें फिर तो उक्त श्रुति (अग्नि विस्फुलिंग) के निर्विषय होने से व्याकोप का प्रसंग होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। उस श्रुति में प्रत्यगात्मा के अजन्मा होने पर भी जन्म प्रतिपादक श्रुति के सार्थक्य के लिए (नवीन) देह सम्बन्ध मात्र ही जन्य प्रतिपादन परक होने से ही नैराकांक्ष्य होता है। वस्तुतः अत्यन्त अभेद में ही पर्यवसान होने से भेदाभेद पक्ष का वैयर्थ्य ही है। इसीलिए विवरण ग्रन्थ में मायावादियों ने भी कहा है कि ब्रह्म में न जाति व्यक्तिभाव है, गुणगुणी भाव है, कार्यकारण भाव है, विशिष्ट स्वरूपत्व है न अंशाशिभाव है— कारण कोई मान नहीं है, उसमें अभाव के भेदाभेद नहीं देखे जाते। यदि कहें कि "ममैवांशो जीवलोके" इस स्मृति के आधार पर अंशाशिभाव है तो यह भी नहीं कह सकते। "निष्कलं निष्क्रियं" इस निरवयवत्व प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा। "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" यह श्रुति अंशाशिभाव नहीं कहता है किन्तु ब्रह्म में आनन्त्य मात्र प्रतिपादन तथा जीव का

अल्पमात्रत्व प्रतिपादन करता है। अन्यथा ब्रह्म को सांश मानने पर उसमें घट आदि की तरह अवयवों द्वारा आरभ्यत्व का प्रसंग होगा। यदि कहें कि उनमें स्वाभाविक निरवयवता तथा बुद्धि रूपी उपाधिनिमित्तक सांशत्व (अंशविशिष्टत्व) है, तब तो कोई दोष नहीं होगा तो यह भी नहीं कह सकते। इस प्रकार से भी वास्तव में अभेद नहीं सिद्ध हो सकता। निरवयव आकाश को खड्ग की धार आदि के द्वारा वास्तव में भेद नहीं किया जा सकता? अन्तःकरण उपाधि द्वारा ब्रह्म का खण्डन नहीं किया जा सकता, जिससे ब्रह्म का खण्ड जीव हो सकता है। ब्रह्म खण्डन के योग्य नहीं है इसी बात को कहा है 'अथान्तः करणोपाधिनां' से। यदि कहें कि उपाधियों की सृष्टि जीव के लिए है तो यह भी नहीं कह सकते। उपाधि की दृष्टि से पूर्व जीव के विभाग की सिद्धि नहीं है। अन्तःकरण की उत्पत्ति से पहले विद्यमान कर्म, अविद्या तथा संस्कार जीव का विभाग नहीं करते हैं। अन्तःकरण रूपी द्रव्यों को भी जीव का उपाधि स्वीकार किया गया है इत्यादि कथनों द्वारा बहुत बार इसका निरास किया गया है। इसलिए इस औपाधिक भेदवाद का उपपादन नहीं हो सकता है, इस प्रकार संक्षेप से यह कहा जाता है।

ननु स्यादेतदौपाधिकभेदवाद उक्तदोषाणां सम्भवात् तदनङ्गीकारः। अपितु निरंशत्वश्रुति विरोधात्स्वाभाविकांशत्वाभावेऽपि सूर्यप्रतिबिम्बयोरिव जीवपरयोः कल्पितोंऽशांशिभावो भेदस्याविद्य-कत्वात्स्वरूपैक्यमेव परमार्थ इति चेन्न। तुच्छत्वादुक्तसिद्धान्तस्य सूर्यप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन जीवस्य ब्रह्मांशत्वकल्पनाया दृष्टान्तवैषम्येनासम्भवात्। तथाहि यथा सूर्य्यजलयोर्बिम्बोपाध्योः सावयवत्वरूपादिमत्त्वात्तत्र प्रतिबिम्बसम्भवो, न तथा दार्ष्टान्ते ब्रह्मरूपबिम्बस्याविद्यारूपोपाधेश्च निरवयवत्वनीरूपत्वाभ्यां तत्सम्भव इति पूर्वमेवोक्तम्। ननु यज्जन्यं तत्सावयवं कार्यत्वाद् घटादिव- दित्यनुमानादन्तःकरणस्य सावयवत्वाङ्गीकारान्नोक्तदोषयोग इति चेन्न। "तद्गुणसारत्वादि" त्यस्य भाष्ये भवद्भिरेव जीवस्य स्वरूपेण विभुत्वं निरूप्याणुत्वोत्क्रान्त्यादिप्रतिपादकसूत्रश्रुतयश्च बुद्ध्यणुत्वपरिमाणपरत्वेन व्याख्यातास्तद्बाधापत्तेः। उपाधेर्निरवयवत्वे प्रतिबिम्बानुपपत्तिः। सावयवत्वे चाणुत्वप्रतिपादकश्रुतिसूत्रभाष्याणां बाध इत्युभयया पाशा रज्जु इत्यलं विस्तरेण।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि मानते हैं कि औपाधिक भेदवाद में उक्त दोषों के संभव होने से उसे न स्वीकार किया जाय अपितु निरंशत्व श्रुति के विरोध के कारण स्वाभाविक अंशत्वाभाव होने पर भी सूर्य और प्रतिबिम्ब की तरह जीव परमात्मा में अशांशिभाव कल्पित है, भेद आविद्यक होने से स्वरूपैक्य ही परमार्थ है, तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त सिद्धान्त तुच्छ है। सूर्य तथा उसके प्रतिबिम्ब दृष्टान्त से जीव के ब्रह्मांशत्व की कल्पना दृष्टान्त वैषम्य के कारण असंभव है। जैसे सूर्य और जल रूपी बिम्ब एवं उपाधि के सावयव एवं रूपादिमान् होने के कारण वहाँ तो प्रतिबिम्ब संभव है किन्तु दार्ष्टान्त में वैसा नहीं है। वहाँ ब्रह्म रूप बिम्ब एवं अविद्या रूप उपाधि के निरवयव एवं नीरूप होने से प्रतिबिम्ब संभव नहीं है, यह पहले ही कहा गया है। यदि कहें कि जो जन्य होता है वह सावयव होता है, कार्य होने से घट आदि की तरह इत्यादि अनुमान से अन्तःकरण को सावयव मानने से उक्त दोष संभव नहीं है तो ऐसा भी नहीं कह सकते। 'तद्गुण सारत्वात्' इस सूत्र के भाष्य में आपने जीव को स्वरूपतः विभु

निरूपण करके अणुत्व एवं उत्क्रान्ति प्रतिपादक श्रुति सूत्रों का बुद्धि अणुत्व प्रतिपादक रूप में व्याख्यान किया है, जिनका बाध होगा। उपाधि के निरवयव होने पर उसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। सावयव होने पर अणुत्व प्रतिपादक श्रुति, सूत्र तथा भाष्य का बाध होगा, इस प्रकार उभयतः पाशा रज्जु है।

एवं च नैतेषु पक्षेषूभयश्रुत्यविरोधः सम्भवत्यतः परिशिष्टपक्ष एव सूत्रकृतामभिप्रेत इति निश्चीयते। तथा च परमात्मनोंऽशोऽयं जीवः। कुतः? नानाव्यपदेशात्। कथं तर्ह्युक्तविरोधपरिहार इति चेत्तत्राह। अन्यथा चापीति। अनानात्वेनापि अभेदेनापि व्यपदेशादित्यर्थः। तथा च भेदाभेदव्यपदेश एव सर्वविरोधपरिहारहेतुरिति भावः। न चौपाधिकपक्षेऽपि तेनैव सर्वाविरोधसम्भव इति वाच्यम्। उक्तदोषयोगात्। अत्र तूभयोः स्वाभाविकत्वाङ्गीकारात्। नानाव्यपदेशस्तावत् नियन्तृत्वनियम्यत्वस्वतन्त्रत्वपरतन्त्रत्व-सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वाधारत्वाधेयत्वोपास्यत्वोपासकत्वानुग्राहकत्वानुग्राह्यत्वप्राप्यत्वप्राप्तृत्वोपकारकत्वोप-कार्यत्वैकत्वानेकत्वविभुत्वाणुत्वादिभिः श्रूयते। "य आत्मानमन्तरो यमयति अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्, आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे, आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यो, ब्रह्मविदाप्नोति परं, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्य" इत्यादिश्रुतिषु। अभेदव्यपदेशश्च "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मी" त्या देश्रुतिषु।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार उपर्युक्त पक्षों में किसी में भी उभय श्रुति का अविरोध संभव नहीं है, इसलिए अवशिष्ट पक्ष ही सूत्रकार का अभिप्रेत है, यह निश्चित होता है। देह ही आत्मा है यह चार्वाक पक्ष है। भूत चतुष्टय आत्मा है लौकायतिक। क्षणिक बाह्यार्थ ही आत्मा है सौत्रान्तिक। वैभाषिक क्षणिक विज्ञान आत्मा है। योगाचार देह इन्द्रिय आदि से भिन्न इन्द्रियादि का अधिष्ठाता। आगन्तुक ज्ञानादि गुणवान् जीवात्मा नैयायिक। शरीरभिन्न ज्ञानस्वरूप प्रति धर्महीन आत्मा सांख्य। ज्ञान स्वरूप प्रति शरीर में एक आत्मा श्री शंकराचार्य। ज्ञानस्वरूप ज्ञानाधिकरण प्रति शरीर भिन्न आत्मा श्रीनिम्बार्काचार्य। जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न अंश है, यह अत्यन्त भेदवादी का पक्ष है। उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म प्रदेश जीव है, यह भट्ट तथा भास्कर का पक्ष है। ब्रह्म का ही अविद्या कल्पित अंश जीव है यह शंकराचार्य का पक्ष है। शक्तिमान् की शक्ति की तरह स्वाभाविक भिन्नाभिन्न स्वभाव है निम्बार्क का। इस तरह परमात्मा का यह जीव अंश है क्योंकि "नानाव्यपदेशात्" यदि कहें कि तब उक्त विरोध का परिहार कैसे होगा, इस पर कहते हैं 'अन्यथाचापि' अर्थात् अनानात्वेनापि यानी अभेदेन भी व्यपदेश है। इस प्रकार भेदाभेद व्यपदेश ही समस्त विरोधों के परिहार का हेतु है, यह भाव है। यदि कहें कि औपाधिक पक्ष में भी उसी हेतु से सबका अविरोध संभव है तो ऐसा

नहीं कह सकते। उक्त दोष संभव है। यहाँ तो भेद अभेद दोनों को स्वाभाविक माना गया है। नानाव्यपदेश इस प्रकार है- नियन्तृत्वनियम्यत्व, स्वतन्त्रत्वपरतन्त्रत्व, सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, आधारत्व-आधेयत्व, उपास्यत्व-उपासकत्व, अनुग्राहकत्व- अनुग्राह्यत्व, प्राप्यत्व-प्राप्तृत्व, उपकारकत्व-उपकार्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, तथा विभुत्व अणुत्व आदि धर्मों द्वारा नानात्व का व्यपदेश है। "य आत्मानमन्तरो यमयति अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणो जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरः, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे, आत्मावारे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यो, ब्रह्मविदाप्नोति परं, नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, अणुर्ह्येष आत्मा चेतसा वेदितव्यः" इत्यादि श्रुतियों में भेद व्यपदेश है तथा "तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि", इत्यादि श्रुतियों में अभेद व्यपदेश है।

अपि चैके शाखिन आथर्वणिकाः ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमधीयते ब्रह्मसूक्ते "ब्रह्म दाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा"इत्यादिना दाशाःकैवर्ताः प्रसिद्धा ये चामी दासाः स्वामिष्वात्मानमुपक्षिपन्ति, ये चान्ये कितवा द्यूतकृतस्ते सर्वे ब्रह्मैवेत्यर्थः। तथा चोभयोः स्वरूपस्वभावयाथात्म्यप्रतिपादनेन भेदव्यवहारोमुख्य "एष सर्वभूतान्तरात्मा ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" त्यादिश्रुत्या ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वस्य तदपृथक्सिद्धत्वादभिन्नत्वमितिवत् प्रकृतेऽपि जीवस्य ब्रह्मशक्तित्वाद्ब्रह्मांशत्वेन भिन्नत्वम्। तदपृथक्सिद्धत्वेन चाभिन्नत्वं मुख्यमेवेति राद्धान्त, उभयविधावाक्यानां तुल्यबलत्वात्। तथाहि वेदान्तशास्त्रे विविधानि वाक्यानि दृश्यन्ते। तत्र "नित्यो नित्यानां, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, प्रधानक्षेत्रज्ञपति, रक्षरात्परतः पर" इत्यादीनि भेदपराणि। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, एको ह वै नारायण आसीत्, सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मी" त्यादीन्यभेदपराणि। सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदे" त्यादीनि भेदनिषेधपराणि। "अस्थूलमनण्वि" त्यादीनि च स्थौल्यादिसामान्यनिषेधपराणि। तत्र भेदवाक्यानां परतन्त्रसत्त्वविषयकत्वेन स्वार्थाभिधायित्वं तस्य बहुत्वात्। स्वतन्त्रसत्त्वविषयिका चाभेदवाक्यप्रवृत्तिः तस्यैकत्वात्, तयैव तेषां नैराकाङ्क्ष्यम्। सत्ता हि द्विधा, स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदात्। आत्माश्रितत्वे सति स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तिकता प्रथमा, नियन्तृत्वादिवत्तत्समानाधिकरणासाधारणधर्मविशेषस्तस्य च भगवद्ब्रह्मादिशब्दवाच्ये श्रीकृष्णे एवान्वयः तस्यैव सर्वनियन्तृत्वात्। नियन्तृत्वस्वतन्त्रसत्त्वयोः सामानाधिकरण्यनियमात्। "आत्मा हि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, सत्त्वं त्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापर" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब सूत्र के शेष भाग का विचार करते हैं "अपि चैके शाखिन आथर्वणिकाः ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमधीयते ब्रह्मसूक्ते" अथर्ववेद में एक शाखा वाले कहते हैं "ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः" इत्यादि दाश कैवर्त प्रसिद्ध है। दास उसे कहते हैं, जो स्त्री के प्रति अपने आपको समर्पण करते हैं। इसके अलावा कितव हैं द्यूत कर्ता, वे सभी ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार जीव एवं ब्रह्म का स्वरूप, स्वभाव तथा याथात्म्य का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन होने से भेद' व्यवहार

मुख्य है। तथा "एष सर्वभूतान्तरात्मा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम" इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म के सर्वात्मा होने से सबके (जीव-जगत् के) ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध होने से अभिन्नत्व है। वैसे ही प्रकृत में जीव में ब्रह्म के (अंश) शक्ति होने से भिन्नत्व भी है। फिर भी यह अपृथकसिद्ध होने से अभिन्नत्व ही मुख्य है, यह सिद्धान्त है। कारण दोनों प्रकार के वाक्य समान रूप से बलवान् हैं। वेदान्त वाक्य में नाना प्रकार के वाक्य देखे जाते हैं। इनमें "नित्यो नित्यानां, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः, पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः, अक्षरात्परतः परः" इत्यादि श्रुतियाँ भेदपरक हैं। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, एको ह वै नारायण आसीत्, सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, तत्त्वमस्ययमात्मा ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वं, सर्व खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि श्रुतियाँ अभेदपरक हैं। इसी प्रकार "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यादि भेद निषेध परक वचन है। "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुति स्थौल्य आदि सामान्य धर्मों का निषेधक है। इनमें भेद वाक्य परतन्त्रसत्ताकविषयक होने से स्वार्थ का अभिधायी है। भेद परक वाक्य बहुत हैं। स्वतन्त्रसत्व विषयक अभेद वाक्य है उसमें एकत्व है। उसमें निराकांक्षता होती है। सत्ता दो तरह की होती है, स्वतन्त्रसत्ता एवं परतन्त्रसत्ता। आत्माश्रित होकर स्वाधीन स्थितिप्रवृत्तिकसत्ता को स्वतन्त्रसत्ता कहते हैं। नियन्तृत्व आदि की तरह तत्समानाधिकरण स्वाधीन स्थितिप्रवृत्तिनिमित्तकत्व परमात्मा का असाधारण धर्म विशेष है। इस असाधारण धर्म का भगवत् तथा ब्रह्म के प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण में ही अन्वय है। वही सबके नियन्ता हैं। नियन्तृत्व और स्वतन्त्रसत्व में सामानाधिकरण्य का नियम होता है। "आत्माहि परमः स्वतन्त्रोऽधिगुणः, सत्त्वं स्वातन्त्र्यमुद्दिष्टं तच्च कृष्णे न चापरे" इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों से सिद्ध हैं।

परायत्तस्थितिप्रवृत्तिकता द्वितीया। सा च चिदचिदात्मकनियम्यवर्गवृत्तिस्तदसाधारण-धर्मत्वात्। "यदासीत् तदधीनमासीत्, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरोस्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारते" त्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। परतन्त्रसत्त्वं द्विविधं, कूटस्थं विकारशीलं च, तत्र कौटस्थ्यं नाम जन्मादिविकारशून्यत्वे सति नित्यत्वं तच्च जीववर्गाश्रितं तदाश्रयो जीवप्रत्यगक्षरपुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दाभिधेयः। विक्रियायुक्तत्वे सत्यनाद्यनन्तत्वं द्वितीयं, तच्च प्रकृतिवर्गाश्रितम्। तदाश्रयश्च कार्यकारणात्मकप्रधानप्रकृत्यादिशब्दवाच्योऽचिद्वर्गः। तथैव भेदनिषेधपराणां चिदचिद्वस्तुवृत्तिस्वतन्त्रसत्त्वनिषेधपरत्वेन स्वार्थे प्रामाण्यम्। भिन्नत्वं नाम स्वतन्त्रसत्तावत्त्वेन स्थितिप्रवृत्त्यर्हत्वं, तच्च नियम्यवर्गे नास्त्येव। तस्य ब्रह्मापृथक्-सिद्धत्वादिति भेदनिषेधस्य तात्पर्यार्थः। सामान्यनिषेधपराणाञ्च ब्रह्मणः सर्ववैलक्षण्यज्ञापनेन स्वार्थे प्रामाण्यमिति सर्वेषामपि तुल्यबलत्वान्न परस्परं बाध्यबाधकभावः। ननु कथं तुल्यबलत्वं श्रौतत्वादिति चेत्तर्ह्यर्थवादानामपि स्वार्थे प्रामाण्यापत्तिस्तेषामपि तदविशेषादतो भेदवाक्यानां प्रत्यक्षसिद्धभेदविषयकत्वेनानुवादपरत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवाक्यवत्

१. पूर्ववद्वा - (१३/२/२८) सूत्र में श्रीरामानुजाचार्य महाराज ने भी भेद एवं अभेद दोनों को मुख्य मानकर प्रकारान्तर से स्वाभाविक भेदाभेद ही माना है। (सं)

स्वार्थहीनत्वेन श्रुतिनिन्दितभेदविषयकत्वाच्च दुर्बलत्वमभेदवाक्यानां तु प्रमाणान्तरा-प्राप्ताभेदविषयकत्वा दुपक्रमादिषड्लिङ्गोपेतत्वाच्च प्राबल्यमिति चेन्न। जीवेशयोः प्रतियोग्यनुयोगिनोः प्रत्यक्षागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रत्यक्षाविषयत्वात्। निन्दायाश्च पृथक्स्थितिप्रवृत्तियोग्यभेदविषयकत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्। तव सिद्धान्ते प्रत्यक्षप्रमाणस्य सन्मात्रानुभूतिग्राहित्वेनाभिन्ननिर्विशेषसन्मात्रानुभूतेः प्रत्यक्षप्राप्तत्वादभेदवाक्यानामेव तदनुवादपरत्वस्य वक्तुं सुशक्यत्वात्। भेदवाक्यानामपि षड्लिङ्गोपेतत्वाच्च पूर्वोक्तहेतूनामाभासत्वमेव।

(हिन्दी-अनुवाद)

पराधीन स्थितिप्रवृत्तिकत्व द्वितीय सत्ता है। वह चित् अचिदात्मक नियम्य वर्ग वृत्ति है क्योंकि वह चित् अचित् का असाधारण धर्म है। "यदासीत् तदधीनमासीत्, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रोऽवरो- स्वातन्त्र्यात्तदन्येषामसत्त्वं विद्धि भारत" इत्यादि श्रुति स्मृति से सिद्ध है। परतन्त्र सत्त्व दो प्रकार का है, कुटस्थ तथा विकारशील। यहाँ कूटस्थ कहते हैं, जो जन्म आदि विकारों से शून्य होकर नित्य होता है, यह जीववर्गाश्रित होता है। इसका आश्रय जीव, प्रत्यगात्मा, अक्षर तथा क्षेत्रज्ञ शब्द का वाच्य होता है। विकार युक्त होकर अनादि अनन्त तत्त्व को विकारशील परतन्त्र सत्त्व कहते हैं। यह प्रकृति वर्गाश्रित होती है। इसके आश्रय हैं कार्यकारणात्मक प्रधान, प्रकृति आदि शब्दों के वाच्य अचिद् वर्ग। भेद निषेध परक श्रुतियाँ चित् अचित् वस्तु वृत्ति स्वतन्त्र सत्ता के निषेध परक है, इसी से उसका स्वार्थ में प्रामाण्य है। भिन्नत्व का तात्पर्य है स्वतन्त्र सत्ता के रूप में स्थिति, प्रवृत्ति योग्यत्व। ऐसा (भेद) नियम्य वर्ग में नहीं है। वह ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है। (जल से जलगत शैत्य पावनत्व आदि की तरह) भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिए भेदवाक्य दुर्बल है, अभेद खण्डन भेद के प्रतियोगी एवं अनुयोगी जीव प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है। इसलिए अभेद वाक्य प्रबल है, ईश के अप्रत्यक्ष होने से उनका भेद भी प्रत्यक्ष नहीं है) यही भेद निषेधक श्रुति का तात्पर्यार्थ है। सामान्यतः निषेध परक श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म का सबसे विलक्षण प्रतिपादन करने से स्वार्थ में प्रामाण्य है। सब श्रुतियों का तुल्यबल होने से परस्पर बाध्य बाधक भाव नहीं है। यदि कहें कि इनमें तुल्य बलत्व कैसे है? श्रुति होने से तुल्यबल हैं कहें तब तो अर्थवाद वाक्यों की भी स्वार्थ प्रामाण्यापत्ति होगी। उनमें भी श्रौतत्व सामान्य रूप से है, इस लिए भेद वाक्य प्रत्यक्ष सिद्ध भेद विषयक होने से अनुवाद मात्र परक है। "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (अग्नि शैत्य की दवा है।) की तरह, स्वार्थ हीन होने तथा श्रुति से निन्दित भेद विषयक होने के कारण भी दुर्बलत्व है, परंतु अभेद वाक्यों में तो प्रमाणान्तर से अप्राप्त अभेद विषयक होने तथा उपक्रम आदि षड्लिङ्गों से युक्त होने के कारण उनमें प्राबल्य है तो ऐसा नहीं कह सकते। भेद के प्रतियोगी और अनुयोगी जीव तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष न होने से उनका भेद भी प्रत्यक्ष का विषय नहीं। भेद निन्दक श्रुतियों के पृथक् स्थिति प्रवृत्ति योग्यरूप भेद विषयक होने से वे भी निराकांक्ष हैं। आपके सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण के सत् मात्र की अनुभूति ग्राहित्व होने से अभिन्न निर्विशेष सन्मात्र की अनुभूति के प्रत्यक्ष प्राप्त होने से अभेद वाक्य

में ही अनुवाद परत्व कहा जा सकता है और भेदवाक्य षड्लिङ्ग वाक्यों से युक्त है। इसलिए पूर्वोक्त हेतुओं में आभासत्व ही है।

ननु कोऽयं भेदः स्वरूपं वा धर्मो वा? नाद्यः। स्वरूपवद्भेदस्यापि प्रतियोगिनिरपेक्षव्यवहारापत्तेः। हस्तः कर इत्यादिवत् भेदो घट इत्यादीनां पर्यायत्वापत्तेश्च। नापि धर्मस्तथात्वे स्वरूपाद्भेदोऽप्यवश्यङ्भावी। अन्यथा स्वरूपमेव स्यात्। भेदे च तस्यापि भेदस्तद्धर्मस्तस्यापीत्यनवस्था। धर्मिग्रहे भेदग्रहो भेदग्रहे च धर्मिग्रह इत्यन्योन्याश्रयश्च। तस्माद्भेदस्यैवासिद्धेः कुतस्तद्विषयकवाक्यानां प्राबल्यामिति चेन्न तव पक्षेऽपि साम्यात्। तथापि अभेदः स्वरूपं वा धर्मो वा? नाद्यः। स्वरूपवदभेदस्यापि ग्रहापत्त्या, "ऽयं घटो" ऽयं पट इत्यादिप्रतीतिविषयाणां घटादीनामलीकत्वापत्तेः। सर्वप्रत्यक्षाणां सन्मात्रनिर्विशेषानुभूति- ग्राहकत्वाविशेषे घटाद्यनुभवेनैव सत्तानुभवापत्त्या वेदान्तविचारो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। नापि धर्मः। त्वदुत्प्रेक्षित दोषाणामत्रापि तौल्यात्। द्वैतापत्तेर्निर्विशेषत्वप्रतिज्ञाहानेरपसिद्धान्ताच्च। वस्तुतस्तु भेदो जातिवद्धर्मविशेष एव गोत्वादिवत्प्रीत्यपेक्षया वस्तुनः स्वस्य च भेदव्यवहारहेतुत्वान्नोक्तदोषावकाश इति संक्षेपः। तत्सिद्धं सर्वेषामपि वाक्यानां तुल्यबलत्वं, तेषां सर्वेषां स्वार्थसिद्ध्ये विश्वभिन्नाभिन्नं ब्रह्म सूत्रकृतामभिप्रेतम्। ततश्चैवं तेषां समन्वयः। अभेदवाक्यैर्जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यं निरूप्यते। तद्द्विविधं, यथार्थायथार्थभेदात्। अयथार्थमपि द्विविधमध्यासो बाधश्च। तत्राध्यासो नाम प्रमाणबलादन्यत्रान्यस्योपासनाद्यर्थं तत्ताविधानम्। यथा "नाम ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिश्रुत्या नामादिप्रतीकेष्वतद्वस्तुषु ब्रह्मत्वेनोपासनाविधानम्। बाधितत्वं चोत्तरविरोधिज्ञानविषयत्व, यथा स्थाणुरेव चौरः स्थाणुज्ञानाच्चौरस्य बाधितत्वात्। उभयोरप्यनयोः सामानाधिकरण्यलक्षणहीनत्वेन गौणत्वादयथार्थत्वम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब पूछते हैं यह भेद क्या है, स्वरूप अथवा धर्म? पहला पक्ष नहीं कह सकते स्वरूप की भाँति भेद में भी प्रतियोगि निरपेक्ष व्यवहार की आपत्ति होगी। हस्तः करः की तरह 'भेदो घट' इत्यादि में पर्यायत्व की आपत्ति होगी। वह धर्म भी नहीं हो सकता। वैसा होने पर स्वरूप से भेद भी अवश्यम्भावी होगा। अन्यथा स्वरूप ही होगा। भेद मानें तो फिर उसका भी भेद और धर्म मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था होगी। धर्मी ज्ञान में भेद का ज्ञान तथा भेद के ज्ञान में धर्मीग्रह, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। इसलिए भेद ही असिद्ध होगा। फिर भेद के विषयक वाक्यों का प्राबल्य कैसे होगा तो यह भी नहीं कह सकते। यह दोष आपके मत में भी समान हैं। जैसे अभेद स्वरूप है या धर्म? पहला नहीं कह सकते क्योंकि स्वरूप की तरह अभेद का ग्रहण होने से "अयं घटः, अयं पटः" इत्यादि प्रतीतियों के विषय घट आदि में अलीकत्व (मिथ्यातत्व) की आपत्ति होगी। सभी प्रत्यक्षों में सन्मात्र की निर्विशेष अनुभूति ग्राहकत्व सामान्य रूप से होने पर घटादि के अनुभव होने से ही सत्ता के अनुभव होने से वेदान्त विचार दत्ततिलाञ्जलि (व्यर्थ) हो जायेगा। वह धर्म भी नहीं है क्योंकि आपके द्वारा प्रदत्त दोषों की यहाँ भी समानता है। द्वैतापत्ति होने से निर्विशेषत्व प्रतिज्ञा की हानि के कारण अपसिद्धान्त भी होगा। वास्तव में भेद जाति की तरह धर्म विशेष ही है, गोत्व आदि की तरह। इस प्रकार कहीं किसी प्रकार के दोष का अवकाश नहीं है। इस प्रकार सिद्ध

होता है कि भेद अभेद दोनों प्रकार के वाक्य समान बलवान् हैं। उन समस्त वाक्यों के स्वार्थ सिद्धि के लिए विश्व से (चित् अचिदात्मक प्रपञ्च से) स्वाभाविक भिन्नाभिन्न स्वभाव ब्रह्म है। यही सूत्रकार का अभिमत है। इस प्रकार इस रूप से इनका समन्वय होता है। पहले अभेद वाक्यों द्वारा जगत् एवं ब्रह्म का सामानाधिकरण्य निरूपण करते हैं। यह सामानाधि करण्य दो तरह के होते हैं, यथार्थ एवं अयथार्थ। अयथार्थ भी दो तरह के होते हैं, अध्यास एवं बाध। इनमें अध्यास का अर्थ है, प्रमाण के बल से अन्य में अन्य की उपासना की सिद्धि के लिए सामानाधिकरण्य का विधान है। जैसे 'नाम ब्रह्म' (नाम को ब्रह्म मानकर उपासना करें) इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्मभिन्न नाम आदि प्रतीक वस्तुओं में ब्रह्म रूप से उपासना विधान। बाधितत्व का अर्थ है, उत्तर कालीन विरोधिज्ञानविषयत्व। जैसे स्थाणु ही चोर है। यहाँ स्थाणु के ज्ञान से चोर बाधित होता है। इन दोनों में सामानाधिकरण्य लक्षण की हीनता के कारण गौण होने से इसमें अयथार्थता है।

यथार्थं च विविधं, कार्यकारणव्याप्यव्यापकाधाराधेयविशेष्यविशेषणात्मात्मीयादिभेदाद्। तत्र न तावदध्यासः विरुद्धत्वात्प्रयोजनाभावेन प्रतीकादिवदत्र प्रमाणाभावाच्च। नापि वाधः ज्ञानाबाध्यत्वादन्यथा शुक्तिरूप्यवदाकाशादेरपि बाधापत्तिः। सा चादृष्टचराऽनुपपन्नाच्च। नापि विशेषणविशेष्यता तदनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् परिशेषात्कार्यकारणभावादिरूपमेव ग्राह्यम् तथा च सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णः स्वाश्रितात्मसत्तया स्वनियम्यव्याप्यात्मीयादिरूपात् विश्वस्मादभिन्नः। तथैव चिदचिन्नियम्यवर्गवृत्तिपरतन्त्रसत्त्वाभावरूपेणास्थूलादिवाक्यप्रतिपाद्येन विश्वविलक्षणत्वापरपर्यायेण सार्वज्ञ्यादिवद्भावरूपेण स्वासाधारणधर्मेण विश्वस्माद्भिन्न इति स्वभावतो विश्वभिन्नाभिन्नः श्रीपुरुषोत्तमः सर्ववेदान्तार्थः। एतदभिप्रायं पुरस्कृत्य तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽनुसन्धेयः। तथाहि सर्वज्ञः सर्वशक्तिः स्वतन्त्रसत्ताश्रयः श्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थः तदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयश्चेतनस्त्वं पदार्थः। असिशब्दश्च तयोस्तादात्म्यसम्बन्धाभिधायकः। एवं च विश्वात्मपरब्रह्मसर्वज्ञसर्वशक्तिस्वतन्त्रसत्त्वावच्छिन्न-तत्पदार्थाभिन्नतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयचेतनस्त्वमसीति वाक्यार्थः। पूर्वाचार्यैस्तु सर्वज्ञसर्वशक्तिस्वतन्त्रसत्ताश्रयश्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थः। तदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रय-जीवान्तरात्मभूतः स एव च त्वं पदार्थः। ब्रह्मणः सर्वात्मत्वस्वतन्त्रसत्वाश्रयत्वाभ्यां सर्वशब्दवाच्यत्वात् तयोस्तादात्म्योपदेशार्थोऽसिशब्दः। इत्थं च विश्वात्मपरब्रह्मसर्वज्ञसर्वशक्ति-स्वतन्त्रसत्ताश्रयतत्पदार्थाभिन्नतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयत्वंपदार्थजीवावच्छिन्नसर्वान्तरात्मा वासुदेवस्त्वं पदार्थोऽसीति वाक्यार्थ उक्तः। तत्र ननु त्वं पदस्य जीवपरतया प्रसिद्धस्य कथं जीवान्तरात्मपरत्वमित्याशङ्कय ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वादेवेति समाधानं "सर्वाणि नामानि यमाविशन्ति, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य" इत्यादिशास्त्रात्। विस्तृतश्चैषोऽर्थोऽग्न्यादिदृष्टान्तेन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैरिति संक्षेपः।

(हिन्दी-अनुवाद)

यथार्थ भी नाना प्रकार के होते हैं- कार्यकारण, व्याप्यव्यापकभाव, आधार आधेयभाव,

विशेष्य विशेषणभाव तथा आत्मा आत्मीय भेद से। इनमें अध्यास भी नहीं हो सकता विरुद्ध होने के कारण, प्रयोजन के अभाव के कारण प्रतीक आदि की तरह और इसके प्रमाण भी नहीं हैं। बाध भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह ज्ञान से बाध्य नहीं है, अन्यथा शुक्ति रूप्य की भाँति आकाश आदि का भी बाध हो जायेगा और आकाश आदि का बाध न ही देखा गया, न ऐसा उपपन्न है। इनमें विशेषण विशेष्यता भी नहीं कह सकते, उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती, ऐसा आगे कहेंगे। फलतः कार्यकारणभाव रूप ही ग्राह्य होगा। इसलिए सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वाश्रित आत्मसत्ता के द्वारा स्वनियम्य, स्व व्याप्य तथा आत्मीय स्वरूप विश्व से अभिन्न है और इसी प्रकार चिद् अचित् रूप नियम्यवर्ग वृत्ति अस्थूल आदि वाक्य प्रतिपाद्य परतन्त्र सत्ताभावरूप असाधारण धर्म से विश्व से भिन्न है तथा स्वभाव से संसार से भिन्न अभिन्न रूप श्रीपुरुषोत्तम ही सम्पूर्ण वेदान्त के परमार्थ हैं। इसी अभिप्राय को लेकर 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का अर्थ अनुसंधान करना चाहिए। इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, स्वतन्त्रसत्ताश्रय, श्रीपुरुषोत्तम उक्त महावाक्य में तत् पदार्थ हैं तथा तदात्मक (पुरुषोत्तम ब्रह्मात्मक) परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन 'त्व' पदार्थ है, असि शब्द उन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का वाचक है। इस प्रकार विश्वात्मा परब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वतन्त्रसत्ता अवछिन्न तत् पदार्थ से अभिन्न तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन तुम हो, यह तत्त्वमसि वाक्य का अर्थ है। पूर्वाचार्यों ने सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वतन्त्रसत्ताश्रय श्रीपुरुषोत्तम को तत् पदार्थ कहा। तदात्मक परतन्माश्रय जीव के अन्तरात्मभूत वही पुरुषोत्तन ही त्वं पदार्थ है। ब्रह्म सर्वात्मत्व तथा स्वतन्त्र सत्ताश्रयत्व धर्मों से सर्वशब्द वाच्य है। इसलिए उन दोनों में तादात्म्योपदेश के लिए यहाँ असि शब्द है। इस प्रकार विश्वात्मा परब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति स्वतन्त्र सत्ताश्रय तत् पदार्थाभिन्न, तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय, त्वं पदार्थ जीवावच्छिन्न सर्वान्तरात्मा वासुदेव त्वं पदार्थ है ऐसा वाक्यार्थ है, ऐसा कहा है। वहाँ शङ्का है कि त्वं पद जीव परकरूप में प्रसिद्ध है उसे जीवान्तरात्मापरक कैसे कह सकते। ऐसी आशङ्का करके ब्रह्म में सर्वात्मत्व होने के कारण सर्व शब्द वाच्य होने से ही ऐसा समाधान किया है। क्योंकि "सर्वाणि नामानि यमाविशन्ति, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, नमामः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि शास्त्र वाक्यों से। इस अर्थ को अग्नि आदि दृष्टान्त से श्री पुरुषोत्तमाचार्यपाद ने विस्तार से बताया है।

नन्वेवं त्वं शब्दस्य जीवान्तर्यामिपरत्वे त्वमसीति मध्यमपुरुषो न घटेत। नहि त्वदन्तर्यामिपरमात्माऽसीत्यन्वयो युज्यत इति चेत्। उच्यते त्वदन्तर्यामीत्यादि-शब्दान्तरेणोपस्थापिते जीवान्तर्यामिणि मध्यमपुरुषान्वयासम्भवेऽपि त्वमिति युष्मत्पदोपस्थापिते तस्मिन् तदन्वयो युज्यत एव। तथाच पाणिनिसूत्रं "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यम" इति। प्रत्यगर्थबोधकयुष्मच्छब्दोपपदे मध्यमपुरुषो भवतीत्यर्थः। न पुनर्युष्मच्छब्दस्य प्रत्यगर्थद्वारा परमात्मपर्यन्तत्वे मध्यमनिवृत्तिरिति। "अधिकं तु प्रविष्टं न तद्धानिरि" ति न्यायात्। एवं "सोऽहमस्मि त्वंवाऽहमस्मी" त्यादिष्वस्मीत्युतमपुरुषेऽयह पदेनाभिमुखचेतन द्वारा तदन्तर्यामिणोऽभिधानाभ्युपगमात्तत्रायि "स्मद्युत्तम" इति हि स्मर्यते। न त्वस्मच्छब्दस्य स्वाभिमुखचेतनद्वारा तदन्तर्यामिपर्यन्तत्व

उत्तमनिवृत्तिरिति। ये तु "तत्त्वमसि, सोऽहमस्मी" त्यादिष्वहंत्वमादिशब्दैर्युष्मदस्मदर्थत्यागेन निर्विशेषचिन्मात्रस्वरूपैक्यमेव वाक्यवेद्यमाहुस्तान् "तत्त्वमसी" त्यादिवाक्यस्थोऽसिशब्दः "सोऽहमस्मी" त्यादिवाक्यस्थोऽस्मिशब्दश्च खण्डयति। श्रोतरि अनुसंधातरि च युष्मदस्मदी, ते हि तैः परित्यक्ते। नहि तेषामसिना कश्चित्प्रबोधनीयः। न चास्मिना कश्चिद्विशिष्यानुसन्धेयोऽस्ति। ननु "त्वंवाऽहमस्मि, अहं वै त्वमसी" त्यादौ त्वमहंपदयोरुभयोरपि श्रवणात्कथं पुरुषव्यवस्थेति चेत्? उद्देश्यविषयकमेव युष्मदादिपदमुपपदत्वेन पाणिनिसूत्राभिप्रेतम् तथा चोद्देश्यसमर्पकोपपदवशादेवात्र मध्यमोत्तमयोर्व्यवस्था सिध्यति। एवं "तत्त्वमसी" त्यत्रापि त्वं पदार्थ उद्देश्य एव। ततश्चोद्देश्यविषयकं त्वं पदमेव पुरुषनिमित्तं, नतु तत्पदमपीति न प्रथमपुरुषप्रसङ्ग इति।।४२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि त्वं शब्द को जीवान्तर्यामी परक मानने पर त्वमसि यह मध्यम पुरुष नहीं घटित होगा, वही तुम्हारा अन्तर्यामी परमात्मा है, ऐसा अन्वय कैसे होगा, ऐसा कहें तो कहते हैं, तुम्हारे अन्तर्यामी इत्यादि शब्दान्तर से उपस्थापित जीवान्तर्यामी मध्यम पुरुष का अन्वय संभव न होने पर भी तुम इस प्रकार युष्मद् शब्द से उपस्थापित जीवान्तर्यामी के होने पर मध्यम पुरुष का अन्वय युक्त ही है। जैसा कि पाणिनि का सूत्र है "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः" इति। यहाँ प्रत्यगात्म बोधक युष्मद् शब्द उपपद होने पर मध्यम पुरुष होता है। युष्मत् शब्दों को प्रत्यगात्मा रूप अर्थ द्वारा परमात्मा पर्यन्त होने पर मध्यम पुरुष की निवृत्ति नहीं होगी। "अधिकं तु प्रविष्टं न तद्धानिः" (अधिक प्रविष्ट होने पर हानि नहीं होती) इस न्याय से। इसी प्रकार "सोऽहमस्मि त्वं वा अहमस्मि" इत्यादि वाक्यों में 'अस्मि' इस उत्तम पुरुष में भी अहं पद से अभिमुख चेतन द्वारा उसमें अन्तर्यामी का अभिधान स्वीकार होने से वहाँ भी "अस्मद्युत्तमः" इस सूत्र का स्मरण किया जाता है। यहाँ अस्मत् शब्द में निजाभिमुख चेतन द्वारा उसमें अन्तर्यामी पर्यन्त होने पर उत्तम पुरुष की निवृत्ति नहीं होती। जो लोग 'तत्त्वमसि' सोऽहमस्मि' इत्यादि वाक्यों में अहं त्वम् आदि शब्दों द्वारा युष्मद् तथा अस्मद् शब्दार्थ का परित्याग कर भागत्याग लक्षण से निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूपमात्र का ऐक्य ही उक्त महावाक्य का वेद्य अर्थ कहते हैं, उन्हें 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यस्थ असि शब्द तथा 'सोऽहमस्मि' इत्यादि वाक्यस्थ 'अस्मि' शब्द खण्डन करता है। श्रोता एवं अनुसंधाता में युष्मद् अस्मद् शब्द का प्रयोग होता है। उनका उन्होंने परित्याग कर दिया। ऐसे लोगों को कोई डंडे से नहीं समझा सकता। अस्मि शब्द के द्वारा कोई विशेष करके अनुसंधेय नहीं है। यदि कहें कि 'त्वं वा अहमस्मि' या तू मैं हूँ "अहं वै त्वमसि' (मैं ही तू है) यहाँ त्वम् (तू) एवं अहम् दोनों का श्रवण है, यहाँ पुरुष व्यवस्था कैसे होगी तो कहते हैं। जो युष्मद् या अस्मद् उद्देश्य विषयक होता है, वही युष्मद् आदि पद उपपद रूप में पुरुष व्यवस्था कारक सूत्र के पाणिनि के अभिप्रेत होते हैं। इस प्रकार उद्देश्य समर्थक उपपद के अनुसार ही मध्यम उत्तम पुरुष की व्यवस्था होती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि यहाँ भी त्वं पदार्थ उद्देश्य ही है। इसलिए वहाँ उद्देश्य विषयकत्व पद ही पुरुष का निमित्त है, न कि तत् पद भी, इसलिए प्रथम पुरुष का वहाँ प्रसङ्ग नहीं है।।४२।।

मन्त्रवर्णात् ।।२ ।३ ।४३ ।।

मन्त्रवर्णादप्युक्तार्थस्य निश्चयः। "एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवी" ति भूतशब्देन जीवप्रधानानि स्थावरजङ्गमानि दर्शयति। पादशब्दोंऽशवाची चिच्छक्तेरेवांशत्वाभिधानं चात्र।।४३।।

कुतश्चायमर्थोऽवगम्यतेऽत आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

मन्त्र वर्ण से भी उक्त अर्थ का निश्चय होता है। "एतावानस्य महिमाऽतोज्यायांश्च पूरुषः, पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" यहाँ भूत शब्द से जीव प्रधान स्थावरजङ्गमात्मक भूतों को बताते हैं। पाद शब्द अंशवाची है। यहाँ चित् शक्ति को ही अंश कहा है।।४३।।

यह अर्थ कैसे जानते हैं, इस पर कहते हैं——

अपि च स्मर्यते ।।२ ।३ ।४४ ।।

भगवद्गीतासु श्रीमुखेनेति शेषः। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति; चकाराच्छक्तित्वपरामर्शः। तथा चा "परेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतामि" त्यनेन जीवस्य शक्तित्वोक्तेस्तस्यैवांशत्वगानादिति भावः। "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा, परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्। विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तयापरे" ति वैष्णवे जनकवाक्याच्चास्य शक्तित्वनिश्चयः। तस्माच्चिच्छक्तेरेव स्वाभाविकभिन्नाभिन्नांशत्वमिति सिद्धम्।।४४।।

स्यादेतत्तथापि जीवस्य स्वाभाविकाभिन्नांशत्वे जीवगता दोषा ब्रह्मण एव स्युरित्याशङ्क्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

भगवत् गीता में श्रीमुख से भगवान् ने कहा है "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" यहाँ चकार से शक्तित्व का परामर्श है और "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्" इस वचन के द्वारा जीव को शक्ति कहा है, शक्ति को अंश कहा है। इसी प्रकार विष्णु पुराण का वचन है "एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा, परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत्। विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथापरा" विष्णु पुराण में जनक जी के वाक्य से जीव एवं जगत् के ब्रह्म की शक्तित्व का निश्चय होता है। इसलिए चित् शक्ति में ही[1] स्वाभाविक भिन्नाभिन्नत्व रुप अंश है।।४४।।

कहते हैं, ऐसा ही हो, फिर भी जीव के स्वाभाविक भिन्नाभिन्न अंश मानने पर जीवगत दोष ब्रह्म के होंगे, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ।।२।३।४५।।

यथा जीवः कर्मवशात्सुखदुःखमनुभवति नैवं परः परमात्मा तस्य तद्धेतोरभावात्। दृष्टान्तमाह। प्रकाशादिवदिति। यथा प्रकाशस्य सूर्यादेरंशः प्रभारूपा शक्तिरेवाभ्रादिभि- रूपरूध्यते न सूर्यादिः। यथा वाऽग्नेर्दाहकत्वशक्त्यंश एव मणिमन्त्रादिना निरुध्यते यथा वा देहिनो मनुष्यादेर्देहरूपांश एव शस्त्रव्याध्यादिभिः छिद्यते विक्रियते च न देही चेतनः। 'न हन्यते हन्यमाने शरीर' इति गानात्। तथा ब्रह्मांशस्यापि जीवस्यानादि- कर्मात्मिकाविद्यापरियुक्तत्वात्तत्कृतसुखदुःखानुभवितृत्वं न परस्य तद्योगो दोषास्पृष्ट- स्वभावत्वात् ।।४५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीव जैसे कर्मवश सुख-दुःख का अनुभव करता है, इस प्रकार परमात्मा नहीं करता, क्योंकि परमात्मा में सुख-दुःख के हेतु का अभाव है। दृष्टान्त कहते हैं प्रकाशादिवत् जैसे प्रकाश स्वरूप सूर्य आदि का अंश प्रभारूप शक्ति ही अभ्र (मेघ) आदि के द्वारा अवरुद्ध होती है, सूर्य आदि नहीं। अथवा जैसे अग्नि का दाहकत्व शक्तिरूप अंश ही मणि मन्त्र आदि के द्वारा निरुद्ध होता है अथवा देही मनुष्य आदि का देह रूप अंश ही शस्त्र, व्याधि आदि के द्वारा काटा जाता है विकृत किया जाता है। न कि चेतन देही का क्योंकि वह तो 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' कहा गया है। इसी प्रकार ब्रह्म के अंश जीव में अनादि कर्मात्मक अविद्या प्रयुक्त तत्कृत सुख-दुःख का अनुभव होता है। परमात्मा को नहीं क्योंकि परमात्मा में दोष का स्पर्श स्वभाव नहीं है।।४५।।

स्मरति च।।२।३।४६।।

यथा जीवदुःखेनेश्वरस्यादुःखित्वं तथा ऋषयः स्मरन्ति। "तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्ध ैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनरि" ति। चकारात्समामनन्ति चेति ज्ञेयम्। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकसी"ति। येषां तु जीवो वास्तवो नास्ति, ब्रह्मैवाविद्यया जीवभावं प्राप्तं तेषां कदापि कथंचिदपि नोक्तदोषोद्धारः सम्भवति। कर्मवश्यस्य वस्तुतोऽभावात्

१. स्वाभाविक भेद-अभेद या द्वैत-अद्वैत तमः प्रकाश की तरह विरुद्ध है, कारण जब सारा जगत् 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतिवचनों द्वारा ब्रह्मात्मक है। फिर उसमें तादात्म्य सम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगिता का भावरूप भेद कैसे रह सकता है? इस तरह स्वाभाविक भेदाभेद वाद में सामानाधिकरण्य कैसे संभव हो सकता है, ऐसी उक्त वाद में प्रतिपक्षियों द्वारा शङ्का की जाती है, इसका अति सुन्दर समाधान हमारे पूज्य गोलोकवासी गुरुदेव पं. भगीरथ जी झा ने स्वरचित द्वैताद्वैत विवेक नामक पुस्तक में किया है। सम्प्रदाय में अन्य किसी ग्रन्थ में इसका समाधान नहीं है। वहाँ स्वाभाविक भेदाभेद तथा द्वैताद्वैत न्यायिक भाषा से परिष्कार किया गया है और बताया गया है श्रुति सम्मत भेदाभेद तार्किक भेदाभेद नहीं किन्तु धर्म विशेष भाव रूप है जिज्ञासुजनों को यह प्रसङ्ग वहीं देखना चाहिए। (सं)

ब्रह्मण एव सर्वदोषप्रसङ्गः। अतएवोदाहृतश्रुतिस्मृत्योरपि न तत्र प्रामाण्यमस्ति। यदि तस्य स्वप्रकाशत्वेन निर्लेपत्वाङ्गीकारस्तर्हि सुखदुःखात्मककर्मसम्बन्धस्य तत्फलभोक्तुश्चाभावात्सर्वं शास्त्रं दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। केचित्तु यथा शुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां गवादिवस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशा यथा वा देहिनो देवमनुष्यादेर्देहोऽशस्तद्वत्। एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वं विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। तथा च विवेचका विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयं विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशन्ति। विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यत, एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यत इति सिद्धान्तयन्ति। तदसमीचीनं, दृष्टान्तदार्ष्टान्तवैषम्यात्। तथाहि यदुक्तं 'गोत्वादिविशिष्टानां शुक्लेकृष्णादीनां गवादिवस्तनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशा इत्यारभ्यांशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यत इत्यन्तं तत्सत्यं, नात्र विवादः। गोत्वादेर्देवमनुष्यादेर्देहस्य च विशेषणत्वसम्भवात्। व्यावर्त्त्यानां सत्त्वेन व्यावर्त्तकत्वात्। परन्तु यत्पुनरुक्तमेवं "जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चे"ति तदयुक्तं, जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वासम्भवात्। चिदचितोर्ब्रह्मविशेषणत्वे ब्रह्मणश्च विशेष्यत्वे चिदचिद्ब्रह्मेतरतत्वानङ्गीकारात्। व्यावर्त्त्याभावेन व्यावर्त्तकत्वं विशेषणत्वमिति विशेषणलक्षण-समन्वयाभावात्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जिस प्रकार जीव के दुःख से ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसमें आर्ष वाक्य का प्रमाण देते हैं। "तत्र यः परमात्माऽसौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा। कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः" (परमात्मा नित्य है निर्गुण है। वह कर्म फलों द्वारा लिप्यमान नहीं होता) दूसरा "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकसीति" (इन दोनों जीव-परमात्मा में, एक जीव कर्मजन्य फल का आस्वादन करता है। दूसरा परमात्मा रूपी पक्षी बिना उस फल (कर्मफल) को भक्षण करते हुए प्रकाशमान होता है) जिनके मत में जीव कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है। ब्रह्म ही अविद्या से जीव भाव को प्राप्त हुआ है, उनके मत में कथमपि उक्त दोष से उद्धार संभव नहीं है। कारण कर्म वश्य जीव नामक कोई वस्तु वास्तव में नहीं है। इसलिए सब दोष ब्रह्म को ही होगा। इसलिए उदाहृत श्रुति स्मृतियों का वहाँ प्रामाण्य नहीं है। यदि कहें कि वह ब्रह्म स्वप्रकाश होने से उसमें निर्लेपत्व का अङ्गीकार किया गया है, तब सुख-दुःखात्मक कर्म सम्बन्ध तथा उसके फल भोक्ता के अभाव से समस्त शास्त्र दत्ततिलाञ्जलि (व्यर्थ) हो जायेगा। अब 'केचित्तु' के द्वारा भगवान् श्रीरामानुजाचार्य जी के मत की समीक्षा करते हैं, जैसे गोत्वादि विशिष्ट शुक्ल कृष्ण गौ आदि वस्तुओं के गोत्व आदि विशेषण अंश है अथवा जैसे देव, मनुष्य आदि देही के देह अंश हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है। एक वस्तु का एक देश ही अंश है। एक विशिष्ट वस्तु विशेषण अंश ही है। जैसे विवेचक लोग विशिष्ट वस्तु में यह विशेषणांश और यह विशेष्यांश है, ऐसा व्यवहार करते हैं तथा विशेषण विशेष्य में अंशांशित्व होने पर भी स्वभाव वैलक्षण्य दिखाई देता है। इसी प्रकार जीव और

परमात्मा के भी अंशाशि भाव है तथा स्वभाव वैलक्षण्य (भेद) है, ऐसा सिद्धान्त मानते हैं, यह समीचीन नहीं है क्योंकि यहाँ दृष्टान्त तथा दार्ष्टन्तिक में वैषम्य है। जैसे यह जो कहा गया है कि गोत्व आदि विशिष्ट शुक्ल, कृष्ण गौ आदि वस्तुओं के गोत्व आदि विशेषण अंश है, यहाँ से लेकर 'अंशाशित्वेऽपि स्वभाव वैलक्षण्यं दृश्यते' यहाँ तक यह तो सत्य है, इसमें कोई विवाद नहीं हैं। गोत्व आदि तथा देव मनुष्य आदि का देह विशेषण संभव है, क्योंकि वहाँ व्यावर्त्त्य होने से उसके व्यावर्त्तकत्व (विशेषण) संभव है। परंतु यह जो कहा है, जीव परमात्मा विशेषण विशेष्य में अंश-अंशी एवं स्वभाव भेद है, यह अयुक्त है। जीव ईश्वर में विशेषण विशेष्य भाव संभव नहीं है। चित् अचित् को ब्रह्म का विशेषण मानने तथा ब्रह्म को विशेष्य मानने पर, चित् अचित् को ब्रह्म से इतर पदार्थ नहीं मानने से व्यावर्त्त्य न होने से व्यावर्तकत्व रूप विशेषण लक्षण संभव नहीं है।।१।।

नापि विशेष्यरञ्जकविशेषज्ञानहेतुत्वं विशेषणत्वं, "यथा स्वरूपसत्त्वमात्रेण नहि किञ्चिद्विशेषणम्। स्वबुद्ध्या रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणमि" ति वचनात्। "अतसीपुष्पसङ्काशो गोविन्द" इत्यत्रातसीपुष्पसादृश्यविशेषणजन्यज्ञानेन गोविन्दपदार्थो रज्यते ध्यातृबुद्धावुपस्थाप्यते। तथा चेतनाचेतनयोरेकतरज्ञाने तदुभयज्ञाने वा विशेष्यभूतस्य ब्रह्मणो रञ्जकत्वाभावादुपस्थापकत्वासम्भव एव। अन्यथाऽहमर्थतया ज्ञातजीवस्य देहादिरूपेण ज्ञाताऽचेतनस्य च पुंसो ब्रह्मज्ञानोपस्थितिप्रसङ्गात्। ननु स्वाभाविकभेदाभेदपक्षोऽपि दोषबाहुल्यादसम्भव एव। तथाहीश्वरः स्वरूपेणैव देवासुरनरतिर्यगादिभेदेनावस्थित इति तदात्मकत्ववर्णनात्। तथा च सत्येकमृत्पिण्डारब्ध-घटशरावादिगतान्युदकाहरणादिसर्वकार्याणि यथा तस्यैव भवन्त्ये, वं सर्वजीवगतसुखदुःखादिकं सर्वमीश्वरगतमेव स्यात्। घटशरावादिसंस्थानानुपयुक्तं मृद्द्रव्यं यथा कार्यान्तराननिवतमेवं सुरासुरपशुमनुजादि जीवत्वानुपयुक्तेश्वरांशः सार्वज्ञ्यादिगुणाकरः। नच सर्वेश्वर एकांशेन कल्याणगुणाकरः, स एवान्यांशेन हेयगुणाकर इति युक्तम्, द्वयोरंशयोरीश्वरत्वाविशेषात् कस्तेन लाभः ? एकस्यैवैकांशेन नित्यदुःखित्वमंशान्तरेण सुखित्वम्। किञ्चांशान्तरेण सुखित्वमपि नेश्वरत्वाय कल्पते। यथा देवदत्तस्यैकस्मिन्हस्ते चन्दनागुरुलेपकेयूराद्यलङ्कार, एकस्मिन्हस्ते मुद्गरादिपातो ज्वालाप्रवेशश्च तद्वदीश्वरस्यैव स्यादिति ब्रह्मज्ञानवादादपि महापापीयानयं पक्षः। अपरिमितदुःखस्य पारमार्थिकत्वाभ्युपगमात्संसारिणामनन्तत्वेन दुस्तरत्वादिति चेन्न। उक्तशंकाया महद्भ्रान्तिकल्पितत्वात्। अस्माभिः स्वरूपभेदस्य स्वाभाविकत्वाभ्युपगमाद् नोक्तदोषसंपृक्तवातलेशस्पर्शावकाशः। श्रुत्यादिषु स्वाभाविकभेदाभेदपक्षस्यैव राद्धान्तत्वात्। यदि जीवपरयोः स्वरूपेणाभेदोऽङ्गीकृतः स्यात्तर्हि भवदुक्तदोषकल्पनावकाशः, सतु नास्त्येवेत्यर्थः। न चैवं परपक्षप्रवेशः। उत्तरभाविनामेव पूर्वसिद्धसिद्धान्तोपजीवित्वनियमात्। युष्मत्पक्षस्यैवास्मत्पक्षानुगामित्वसिद्धिरित्यर्थः। किञ्चाहो मनीषा पूर्वपक्षारोपकाणां स्वप्रयुक्तवज्रस्य स्वसिद्धान्तपर्वते पातो नालोचितः श्रीमद्भिः। सार्वज्ञादिगुणाढ्ये भगवति परब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे चेतनाचेतनयोः पापादिजाड्यादिसंपृक्तयोर्वैशिष्ट्याङ्गीकारात्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

विशेष्य रञ्जक विशेषज्ञान हेतुत्व विशेषणत्व कहें तो यह भी नहीं कह सकते। जैसे

स्वरूप सत्ता मात्र से कोई विशेषण नहीं होता, किन्तु अपनी बुद्धि से जो विशेष्य को रञ्जित करे, वह विशेषण कहलाता है। यथा "अतसीपुष्पसङ्काशो गोविन्दः" यहाँ अतसीपुष्प सादृश्य विशेषण जन्य ज्ञान के द्वारा गोविन्द पदार्थ अनुरञ्जित होता है, ध्याता की बुद्धि में उपस्थापित होता है। उस प्रकार चेतन अचेतन में अन्यतर के ज्ञान अथवा दोनों के ज्ञान से विशेष रूप ब्रह्म में कोई रञ्जकत्व नहीं होता। इसलिए उनमें उपस्थापकत्व संभव नहीं है। अन्यथा अहम् शब्दार्थ के रूप में ज्ञात जीव का तथा देह आदि रूप में ज्ञात अचेतन पुरुष में ब्रह्मज्ञान की उपस्थिति का प्रसङ्ग होगा। यदि कहें कि स्वाभाविक भेदाभेद पक्ष भी दोष बहुल्य के कारण असंभव है। जैसे ईश्वर स्वरूप से ही देवता, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेद से अवस्थित है क्योंकि उन सबका तदात्मकत्वेन वर्णन है। ऐसी स्थिति में एक मृत्पिण्ड से निर्मित घट, शराब (सकोरा) आदि वस्तुओं के जलाहरण आदि कार्य जैसे मृत्पिण्ड के ही होते हैं, इसी प्रकार सर्वजीवगत सुख-दुःखादि सब कुछ ईश्वर गत ही होगा। घट, शराब आदि संस्थान के अनुपयुक्त मृत्तिका रूप द्रव्य जैसे कार्यान्तर से अनन्वित होता है, इसी प्रकार सुर, असुर, पशु तथा मनुष्य आदि जीव के अनुपयुक्त ईश्वरांश सार्वज्ञ्य आदि गुणों का आकार है। वह सर्वेश्वर एक अंश से कल्याणमय गुणों का आकार है और वही अन्य अंश से हेय गुणाकार है, यह युक्त नहीं है क्योंकि उनके दोनों अंशों में ईश्वरत्व सामान्य रूप से विद्यमान है, इसलिए उससे क्या लाभ है? एक ही तत्त्व का एक अंश से नित्य दुःखित्व तथा अन्य अंश से सुखित्व। और अंशान्तर से सुखित्व भी ईश्वरत्व के लिए नहीं हो सकता। जैसे देवदत्त के एक हाथ में चन्दन, अगर आदि सुगन्धित द्रव्यों का लेप और केयूर आदि अलंकार हो तथा दूसरे हाथ में मुद्गर का प्रहार एवं अग्निज्वाला प्रवेश, उसी प्रकार ईश्वर का ही हाल होगा। इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान वाद से भी यह निकृष्ट पक्ष है। अपरिमित दुःख को पारमार्थिक स्वीकार करने से संसारी जीव में अनन्त होने से उनका संतरण दुस्तर है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। उक्त शङ्का महान् भ्रम से कल्पित है। हम स्वरूप भेद को स्वाभाविक मानते हैं। इसलिए उक्त दोष से संश्लिष्ट वायु के लेशमात्र के स्पर्श का भी अवकाश नहीं है। श्रुति आदि में स्वाभाविक भेदाभेदवाद पक्ष को ही सिद्धान्त माना गया है। यदि जीव और ईश्वर में स्वरूपतः अभेद माना गया होता तब आपके दोष का वहाँ अवकाश हो सकता है, वह तो है ही नहीं। यदि कहें कि इस प्रकार परपक्ष का प्रवेश हो जायेगा। उत्तर काल भावी में ही पूर्व सिद्ध सिद्धान्त के उपजीवित्व का नियम है। आपके पक्ष में ही हमारे पक्ष का अनुगामित्व सिद्ध होता है। बलिहारी है- पूर्व पक्ष में आरोपी आपकी बुद्धि को जो अपने द्वारा प्रयुक्त वज्र का अपने सिद्धान्त रूपी पर्वतपर ही प्रहार हो जायेगा। ऐसा श्रीमान् जी ने कभी विचार नहीं किया क्योंकि सार्वज्ञ्य आदि गुण गणों से आढ्य परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण में पाप आदि अनेक जाड्य आदि दोषों से संपृक्त चेतन अचेतन का वैशिष्ट्य अङ्गीकार किया है।।२।।

तथाहि सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य ब्रह्मणश्चेतनाचेतनविशेषणेऽभिप्रेते केवलस्य वा? नान्त्यः। निर्विशेषत्वानभ्युपगमादि, तथा सार्वज्ञ्यादीनामव्याप्यवृत्तित्वप्रसङ्गाद, मायावादप्रवेशाच्च। किञ्च

सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य चेतनाचेतनाविशिष्टस्य चेतरेतरभिन्नत्वे विशिष्टद्वयसिद्ध्या विशिष्ट्यद्वैतभङ्गात्। चेतनादिविशिष्टप्रदेशस्य सार्वज्ञ्यादिहीनत्वापत्त्या नियन्तृत्वभङ्गाच्च। तथात्वे च त्वत्सिद्धान्त एव त्वदुक्तिवज्रनिपातः। तथाहि यथा कस्यचिन्मानवस्य देहैकदेशे चन्दनागुरुलेपादि देशान्तरे क्षारकर्दमादिलेपनं परिहासार्थं बालैर्लीलया क्रियते, तथा प्रकृतेऽपि परमेश्वरस्यैकदेशे मङ्गलगुणगणादिविविधभूषणयोगो, देशान्तरे सर्वदोषसम्पन्नजीवादियोगस्तस्मान्महाबीभत्सितोऽयं भवतां सिद्धान्तः। नाप्याद्यः। विशिष्टवैशिष्ट्यापत्त्या विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तभङ्गात्। किञ्च सार्वज्ञ्यादिसमस्तकल्याणगुणाढ्यस्यैव यदि चेतनादिवैशिष्ट्याभ्युपगमोऽभिप्रेतस्तर्हि सर्ववस्त्रभूषणा-युधादिदिव्यालङ्कारसम्पन्नस्य पुंसोऽतिजीर्णबीभत्सितनीलवस्त्रायोभूषणादिवेष्टनवत्सर्व-दिव्यगुणगुणाद्यलङ्कृतस्य भगवतः परब्रह्मण उपर्यपरिमितदुःखाद्यवच्छिन्नजीववैशिष्ट्यमभ्युपगतं स्यात्। तस्मान्मायावादादपि महादुष्टोऽयं पक्षः। तत्पक्षे सार्वज्ञ्यादिविशिष्टस्य भिन्नत्वाङ्गीकारात्। भवन्मते तूत्तमगुणभूषणस्यैव पापावच्छिन्नजीववैशिष्ट्याङ्गीकारात्। किञ्च तन्मते कल्पितत्वाङ्गीकारेण कदाचिन्निवृत्तिसम्भावनाऽपि भवति। भवन्मते तु कदाचिदपि कथमपि निवृत्तिमनोरथस्याप्यसम्भवः यावदात्मवृत्तित्वाङ्गीकारात्। तस्मान्महत्पापीयानयं पक्षः श्रेयोऽर्थिभिरुपेक्षणीयः। अपि च ब्रह्मणो विशिष्ट्यद्वैतत्वाङ्गीकारेऽपि तस्य चेतनाचेतनाभ्यां स्वभावतोऽभेदस्तयोश्च परस्परभेदः स्वाभाविक एवाभ्युपगम्यते भवद्भि, रन्यथा स्वभावसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। एवं च भेदस्याभेदस्य च स्वाभाविकत्वमङ्गीकृत्य पुनर्विशिष्ट्यङ्गीकारे गौरवमात्रत्वाद्वरीयस्त्वं स्वाभाविकभेदाभेदपक्षस्यैव लाघवादिति संक्षेपः।।४६।।

ननु ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्मांशत्वेन ज्ञानस्वरूपत्वेन च सर्वेषां समानत्वे केषांचिद्वेदाध्ययन-तदर्थानुष्ठानाद्यनुज्ञा केषाञ्चित्तत्परिहारः, केषांचिद्दर्शनस्पर्शनाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु कथमुपपद्यत इत्याशङ्क्याह—

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ पूछते हैं कि आपंने सार्वज्ञ्य आदि विशिष्ट ब्रह्म का चेतन अचेतन दोनों विशेषण हैं या केवल ब्रह्म का अन्तिम पक्ष कह नहीं सकते, क्योंकि निर्विशेषत्व पक्ष आपके यहाँ स्वीकार नहीं है। अन्यथा सार्वज्ञ्य आदि गुणों से अव्याप्य वृत्तित्व का प्रसङ्ग होगा और मायावाद का प्रवेश होगा। दूसरी बात सार्वज्ञ्य आदि विशिष्ट ब्रह्म तथा चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म में परस्पर भेद मानने पर दो विशिष्ट तत्त्व की सिद्धि होने से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त भङ्ग होगा तथा चेतनादि जीवादि विशिष्ट प्रदेश में सार्वज्ञ्यादि गुणों के हीनत्व होने से नियन्तृत्व का भङ्ग भी होगा। इस प्रकार आपके सिद्धान्त में ही आपके कथनरूपी वज्र का निपात होगा। जैसे किसी मनुष्य के देह के एक देश में चन्दन अगरु आदि का लेप हो तथा अन्य भाग में कीचड़ आदि का लेप परिहास के लिए बालकों द्वारा लीला में किया जाता है, इसी प्रकार प्रकृत में परमेश्वर के एक देश में मङ्गलमय गुणगण आदि विविध भूषणों का योग और देशान्तर में सर्वदोष सम्पन्न जीव आदि का संयोग। इस प्रकार महान् बीभत्स यह आपका सिद्धान्त है। प्रथम भी नहीं कह सकते– विशिष्ट में वैशिष्ट्य की आपत्ति होने से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त भङ्ग होता है तथा सार्वज्ञ्य आदि समस्त कल्याण गुण गणाढ्य ब्रह्म में ही यदि चेतन

आदि का वैशिष्ट्य स्वीकार है तब तो सकल वस्त्र, भूषण, आयुध आदि दिव्य अलंकार सम्पन्न पुरुष के ऊपर अत्यन्त जीर्णशीर्ण बीभत्स काला वस्त्र तथा लौहमय भूषण आदि के वेष्टन (आच्छादन) की तरह सकल दिव्य गुण गणादि समलंकृत पर ब्रह्म भगवान् के ऊपर अपरिमित दुःखादि युक्त जीव का वैशिष्ट्य स्वीकार माना जायेगा। इस प्रकार मायावाद से भी महान् दुष्ट यह पक्ष है। उस पक्ष में सार्वज्ञ्य आदि ईश्वर से भिन्न माना गया है। आपके मत में उत्तम गुण भूषण भगवान् के पाप विशिष्ट जीव का वैशिष्ट्य माना गया है। बल्कि उनके मत में कल्पित मानने से कदाचित् उसकी निवृत्ति की भी संभावना है। आपके मत में तो कदापि किसी प्रकार भी निवृत्ति का मनोरथ असंभव है क्योंकि उसे यावत् आत्मवृत्ति स्वीकार किया गया है। इसलिए यह पक्ष महान् पाप युक्त है। अतः कल्याणेच्छुजनों को यह मत सर्वथा त्याग देना चाहिए। दूसरी बात ब्रह्म में विशिष्टाद्वैतत्व स्वीकार करने पर भी उस ब्रह्म का चेतन अचेतन के साथ स्वाभाविक अभेद तथा चेतन अचेतन के परस्पर स्वाभाविक भेद ही आप स्वीकार करते हैं। अन्यथा स्वभाव में सांकर्य का प्रसंग होगा। इस प्रकार भेद एवं अभेद स्वाभाविक मानकर पुनः विशिष्ट अङ्गीकार करने पर गौरव मात्र ही है। इसलिए लाघवात् स्वाभाविक भेदाभेदवाद ही श्रेष्ठ है। इति संक्षेप।।४६।।

अब प्रश्न है कि सब जीव ब्रह्मात्मक हैं, ब्रह्म के अंश है तथा ज्ञानस्वरूप हैं, तब तो उक्त प्रकार से सभी समान हैं, फिर किसी को वेद के अध्ययन तथा वेदोक्त कर्मानुष्ठान की अनुज्ञा, कुछ को अनधिकार। कुछ को मन्दिरों में दर्शन स्पर्श का अधिकार, कुछ को अनधिकार शास्त्रों में ऐसा भेद कैसे? इस आशङ्का पर कहते हैं—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्।।२।३।४७।।

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञानस्वरूपत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेह-सम्बन्धनिबन्धनावनुज्ञापरिहारावुपपद्येते ज्योतिरादिवत्। यथाऽग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारा-दग्निराह्रियते, श्मशानादेस्तु परिह्रियते। यथाऽन्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते, अन्त्यजादेस्तु परिह्रियते। यथा वा मूत्रपुरीषादि गवां पवित्रतयाऽनुज्ञायते, तदेव जात्यन्तरात्परिवर्ज्यते तद्वत्।।४७।।

ननु सर्वेषामेकरूपत्वे देहसम्बन्धादनुज्ञापरिहारौ चेदेकेनाश्वमेधे कृते सर्वैः कृतं स्यादेकेन सुरापाने कृते सर्वैः कृतमिति कथं नोच्यते आत्मनो वास्तवैकत्वादित्याशङ्क्याह—

(हिन्दी–अनुवाद)

जीवमात्र के ब्रह्मांशत्व एवं ज्ञानस्वरूपत्व आदि रूप से एक रूप होने पर भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि शुचि अशुचि देह सम्बन्ध प्रयुक्त ही अनुज्ञा एवं निषेध किया गया है। ज्योति आदि की तरह अर्थात् अग्नित्वेन अग्नि के एक रूप होने पर भी श्रोत्रिय ब्राह्मण के गृह से ही अग्नि का आहरण (आनयन) किया जाता है, श्मसान आदि से नहीं। श्रोतिय आदि अन्न आदि ग्रहण किया जाता है अन्त्यज आदि का त्याग किया जाता है। तथा

जैसे मूत्र पुरीष पवित्रता आदि के लिए गौओं के ही लिये जाते हैं परंतु अन्य जाति के नहीं, उसी प्रकार जानना चाहिए।।४७।।

यदि कहें कि ब्रह्म के अंश होने से सबके एक रूप होने पर भी देह सम्बन्ध के कारण अनुज्ञा परिहार है तो एक व्यक्ति के द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने पर सबके द्वारा किया हुआ हो जायेगा तथा एक व्यक्ति द्वारा सुरापान करने पर सबने सुरापान कर लिया, ऐसा क्यों नहीं कहते, आत्मा वास्तव में एक है। इस आशङ्का पर कहते हैं—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः।।२।३।४८।।

ब्रह्मांशत्वेनैकरूपत्वे सत्यपि न व्यतिकरः। कुतः? असन्ततेः अव्याप्तेः। सर्वजीवात्मनामणुपरिमाणकत्वात्प्रतिशरीरं स्वरूपेणैव भिन्नत्वाच्च न कर्मसङ्करः फलभोगसाङ्कर्यं वा। कर्तुर्भोक्तुः स्वे स्वे शरीरे स्वरूपेणैव वैलक्षण्यादित्यर्थः। अविद्याकल्पितजीववादे सत्युपाधयवच्छिन्नब्रह्मजीववादे वा जीवब्रह्मणोः परस्परं जीवानां च कर्मतत्फलभोगव्यतिकरादयः सर्वे दोषाः सन्ति, नास्मन्मत इति यावत्।।४८।।

नन्वविद्याकृतजीवपक्षेऽपि उपाधितन्त्रो हि जीव उपाध्यसन्तानाच्च नास्ति जीवसन्तानस्ततश्च कर्मतत्फलभोगस्य व्यतिकरादयो दोषा न सन्तीत्यत आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म के अंश होने से एक रूप होने पर भी सांकर्य नहीं है क्योंकि उसकी व्याप्ति नहीं है। समस्त जीव अणु अणुपरिमाणक होने से प्रतिशरीर स्वरूप से ही भिन्न होने के कारण कर्म का सांकर्य नहीं होता, न ही फलभोग का सांकर्य होता है। कारण कर्ता एवं भोक्ता आत्मा अपने-अपने शरीर में स्वरूप से ही भिन्न है। अविद्याकल्पित जीववाद अथवा उपाधि से अवच्छिन्न जीववाद में जीव और ब्रह्म तथा जीवों में भी परस्पर कर्म तथा उसके फल भोग में सांकर्य आदि दोष होते हैं, हमारे मत में नहीं।।४८।।

यदि कहें कि अविद्याकृत जीव पक्ष में भी उपाधि अधीन जीव है, उपाधि के अभाव में जीव का सन्तान नहीं है, इस प्रकार कर्म एवं उसका फल भोग के सांकर्य आदि दोष नहीं हो सकते, इस पर कहते हैं—

आभासा एव च।।२।३।४९।।

अखण्डस्वप्रकाशचिन्मात्रशुद्धस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधिभेदोपपादनरूपो हेतुराभास एव प्रकाशैकस्वरूपस्य प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति धर्मान्तरानङ्गीकारात्। आभासा इति पाठे हेतव इति बहुवचनं ज्ञेयम्। चकारः श्रुत्यादिप्रमाणाभावं समुच्चिनोति। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यतत्त्ववादिनां मते ब्रह्मण्युपाधिकल्पने युक्तय आभासा एव, शास्त्रप्रमाणाभावश्चेति यावत्। चकारात् "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ज्ञाज्ञौ तयोरन्यः

पिप्पलं स्वाद्वत्ती" त्यादिश्रुतिविरोधश्चेति। अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वोपाधि-भिरुपहितस्वरूपस्यैक्याभ्युपगमाद्भोगव्यतिकरस्तदवस्थ एव। किञ्चापरे त्वाभास एवेत्येकवचनान्तं सूत्रं पठित्वाऽन्यमर्थं वर्णयन्ति, परमात्माभासो जीवः प्रतिबिम्बात्मा संसार्यविद्याकल्पितः। तस्य परिमितत्वादसन्ततेरव्यतिकर इति, तदयुक्तमाभासस्यावस्तुत्वाभ्युपगमात्। अवस्तुनः शशविषाणकल्पस्याचेतनस्य कुतो बन्धो मोक्षो वा कर्माधिकरो वा। न च परमात्मनः संसारित्वमस्तीत्यादिनाऽन्यैरपि निरस्तत्वात्।।४९।।

ननु पारमार्थिकोपाध्यवच्छिन्नब्रह्मजीववादेऽनाद्यदृष्टप्रवाहेणोपाधिप्रवाहस्यानादित्वात्तत्सम्बन्धिनि जीवे ये दोषा, न ते ब्रह्मणि प्रसज्यन्त इत्यत आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अखण्ड, स्वप्रकाश, चिन्मात्र शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप तिरोधानपूर्वक उपाधि भेद का उपपादन रूप हेतु आभास ही प्रकाशस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश तिरोधान प्रकाश नाश ही है क्योंकि धर्मान्तर का अङ्गीकार नहीं है। आभासा ऐसा पाठ मानने पर 'हेतवः' ऐसा बहुवचन जानना चाहिए। सूत्र का 'चकार' श्रुति आदि प्रमाणों के अभाव का समुच्चय करता है। सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य तत्त्ववादी मायावादी के मत में ब्रह्म में उपाधि की कल्पना में युक्तियाँ आभासा ही है। शास्त्रीय प्रमाणों का अभाव ही है। यहाँ चकार से "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा ज्ञाज्ञौ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" इत्यादि श्रुतियों का विरोध भी होता है। अविद्या कल्पित उपाधि भेद होने पर भी स.भी उपाधियों से उपहित स्वरूप चेतन में ऐक्य स्वीकार करने से भोग का सांकर्य तदवस्थ ही (विद्यमान ही) है। अब श्री शंकराचार्य की व्याख्या दूषित करने के लिए कहते हैं- "किञ्च अपरे" अर्थात् श्री शंकराचार्यजी महाराज यहाँ 'आभास एव' ऐसा एक वचनान्त सूत्र का पाठ मानकर अन्य प्रकार का अर्थ करते हैं। अर्थात् परमात्मा का आभास अर्थात् प्रतिबिम्ब जीव है, जो संसारी एवं अविद्या कल्पित है। उसके परिमित होने से अव्यापक होने के कारण सांकर्य नहीं होता, पर यह युक्ति युक्त नहीं है। आभास कोई वस्तु नहीं होता ऐसा स्वीकार किया गया है। इस प्रकार जो अवस्तु है शशविषाण की तरह अलीक है। ऐसे अलीक अचेतन जीव का कैसा बन्ध एवं मोक्ष अथवा कर्माधिकार? और न ही परमात्मा में संसारित्व है। इत्यादि प्रकार से अन्य लोगों ने भी इसका खण्डन किया है।।४९।।

यदि कहें कि पारमार्थिक उपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्म जीव वाद में अनादि अदृष्ट के प्रवाह से उपाधि प्रवाह के अनादि होने से तत्सम्बन्धी जीवगत जो दोष हैं, वे ब्रह्म में प्रसक्त नहीं होते, इस पर कहते हैं।

अदृष्टानियमात्।।२।३।५०।।

अदृष्टैरपि नियमो न सम्भवति। अदृष्टैस्तत्कृतोपाधिभिश्च ब्रह्मणश्छेदनासम्भवात्तत्कृता दोषा ब्रह्मण्येव स्युः।।५०।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अदृष्टों के द्वारा भी नियम संभव नहीं हैं। अदृष्टों तथा उसके द्वारा निर्मित उपाधियों द्वारा भी ब्रह्म का छेदन असंभव होने से तत्कृत दोष ब्रह्म में ही होंगे।।५०।।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्।।२।३।५१।।

अदृष्टहेतुभूताऽभिसन्ध्यादिषु सङ्कल्पादिष्वपि चैवं नियमासम्भव उपाधिब्रह्म-व्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावात् पूर्वपूर्वोपाधिसंयुक्तं ब्रह्मैव संकल्पादयस्तद्गता एवेति न कश्चिद्विशेषः। आदिना श्रद्धादिपरिग्रहः।।५१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अदृष्ट के हेतुभूत अभिसन्धि (संकल्प) आदि में भी इस प्रकार का नियम संभव नहीं है, उपाधि ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य वस्तु के अभाव होने से पूर्व–पूर्व उपाधि संयुक्त ब्रह्म ही है और संकल्प आदि तद्गत ही है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। आदि से श्रद्धा आदि का परिग्रह है।।५१।।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात्।।२।३।५२।।

ननूपाधिसम्बन्धिब्रह्मप्रदेशादनुपहितब्रह्मप्रदेशो भिद्यतेऽतो व्यवस्थोपपद्यत इति चेन्न उपाधीनां तत्र तत्र गमनात्सर्वप्रदेशानां सर्वोपाध्यन्तर्भावाद्भोगादिव्यतिकरस्तदवस्थ एव। प्रदेशभेदेन सम्बन्धेऽपि सर्वस्य ब्रह्मप्रदेशत्वात्प्रदेशसम्बन्धिदुःखं ब्रह्मण्येव स्यात्।।५२।। इति अंशाधिकरणम्।।१२।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां द्वितीयाध्याय–तृतीयपादविवरणम्।।३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि उपाधि सम्बन्धी ब्रह्म प्रदेश से अनुपहित ब्रह्म प्रदेश भिन्न है, इसलिए व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी, तो ऐसा नहीं कह सकते। उपाधियों के जहाँ तहाँ गमन के कारण सभी प्रदेशों के सभी उपाधियों में अन्तर्भाव होने के कारण भोगादि में सांकर्य तदवस्थ ही हैं। प्रदेश भेद से सम्बन्ध होने पर भी सबके ब्रह्म प्रदेश होने से प्रदेश सम्बन्धी दुःख ब्रह्म में ही होगा।।५२।।

इस प्रकार अंशाधिकरण पूरा हुआ।।१२।।

इस प्रकार जगद् विजयी केशव काश्मीरि भट्ट कृत वेदान्त कौस्तुभ प्रभा के द्वितीयाध्याय में तृतीय पाद का पं. श्रीवैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैतपण्डितम्।
द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

द्वितीय अध्याय

चतुर्थ पाद

विषय-सूची

द्वितीयाध्याये चतुर्थपादारम्भः।

❖❖❖❖❖❖❖

अथ प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्।

अथेन्द्रियाणां सृष्टिविप्रतिपत्तिं परिहरति। तत्र "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, तत्तेजोऽसृजते" त्यादिसृष्टिप्रकरणे प्राणोत्पत्त्यश्रवणा "दसद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदसदासीदिति, ऋषयो वाव तेऽग्रेसदासीत्तदाहुः के त ऋषय इति प्राणा वाव ऋषय" इत्यत्र प्रागुत्पत्तेः प्राणानां सत्त्वश्रवणाच्च। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा" इति। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे" ति "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि" ति "स प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धामि" त्यादिषूत्पत्तिश्रवणाच्च किं प्राणा जायन्ते न वा? इति संशये किन्तावत्प्राप्तं, न जायन्त इति। कुतः? "असद्वा इदमि" ति सर्वाभावकथनपूर्वकतत्सद्भावश्रवणादत्र राद्धान्तः।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब द्वितीय अध्याय का चतुर्थ पाद आरम्भ होता है।

वृन्दावने केशिघट्टे मन्त्रराजप्रदं गुरुम्। आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

अब प्राणोत्पत्ति अधिकरण प्रारम्भ होता है।

अब इन्द्रिय सम्बन्धी सृष्टि की विप्रतिपत्ति का परिहार करते हैं। "एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि सृष्टि प्रकरण में प्राण की उत्पत्ति का श्रवण नहीं है। "असद्वा इदमग्र आसीत्तदाहुः किं तदसदासीदिति, ऋषयो वाव तेऽग्रेसदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः" इस श्रुति में उत्पत्ति से पहले भी प्राणों के सत्ता का श्रवण है। "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुल्लिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा" इति तथा "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" एवं "सप्तप्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" "स प्राणमसृजत प्राणात् श्रद्धाम्" इत्यादि श्रुतियों में प्राण की उत्पत्ति का भी श्रवण है। इस तरह संशय होता है कि प्राण की उत्पत्ति होती है या नहीं क्योंकि इस सम्बन्ध में दोनों तरह की श्रुतियाँ प्राप्त हैं। ऐसी दशा में क्या प्राप्त है तो कहते हैं, न जायन्ते, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि "असद्वा इदम्" के द्वारा सब वस्तुओं के अभाव कथन पूर्वक उसका श्रवण है। इसमें सिद्धान्त कहते हैं—

तथा प्राणाः ।२।४।१।।

यथा आकाशादिभूतानामुत्पत्तिस्तथा प्राणपदाभिधेयेन्द्रियाणामुत्पत्तिर्बोध्या उक्तश्रुतिभिः। "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः, पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमि" त्युत्पत्तिश्रुतीनां बाहुल्यात्।।१।।

ननु सद्भावश्रवणविरोधादुत्पत्तिर्गौणीति चेदत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे आकाश आदि भूतों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उक्त श्रुतियों द्वारा प्राण पद वाच्य इन्द्रियों की उत्पत्ति जाननी चाहिए। "स प्राणानसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः, पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नम्" इस प्रकार प्राण आदि श्रुतियों का बाहुल्य है।

यदि कहें कि सद्भाव सूचक श्रुति वाक्य के श्रवण का विरोध होने से उत्पत्ति सूचक श्रुति गौण है तो इस पर कहते हैं—

गौण्यसम्भवात् ।२ ।४ ।२ ।।

गौण्या असम्भवो गौण्यासम्भवस्तस्मात्। प्राणोत्पत्तिश्रुतेर्गौणत्वं न सम्भवति, प्रतिज्ञाविरोधात्। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवती" त्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धय इदमुच्यत "एतस्माज्जायते प्राण" इत्यादि। सा च प्रतिज्ञा प्राणादेः सर्वविकारजातस्य तदुपादेयत्वाङ्गीकार एव सिध्यति नान्यथा, उपादानापृथक्सिद्धत्वादुपादेयस्येत्यर्थः। तथा "आत्मनो वा अरे! दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितमि" त्याद्यन्यत्रापि श्रवणात्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

गौणी के असंभव को गौण्यसंभव कहते हैं। (वह होने से) प्राण के उत्पत्ति सूचक श्रुति में गौणत्व संभव नहीं है क्योंकि प्रतिज्ञा विरोध होगा। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (हे भगवान्, कौन ऐसा तत्व है जिसके ज्ञात होने पर सब कुछ विज्ञात होता है) इस प्रकार एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा करके उसकी सिद्धि के लिए कहते हैं "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि। वह प्रतिज्ञा प्राण आदि सम्पूर्ण विकारों के ब्रह्म का उपादेय स्वीकार करने पर ही सिद्ध होती है। अन्यथा नहीं क्योंकि उपादान से उपादेय अपृथक् सिद्ध होता है। तथा "आत्मनो वा अरे! दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" अर्थात् आत्मा के दर्शन श्रवण मनन तथा विज्ञान से ये सम्पूर्ण विश्व विदित हो जाता है, ऐसा अन्यत्र भी श्रुति कहती है।

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।२ ।४ ।३ ।।

तस्य जायत इति पदस्याकाशादिषु मुख्यस्य प्रागपि प्राणादिषु श्रवणादाकाशादिवत्प्राणानां मुख्यैव जन्मश्रुतिः। "एतस्माज्जायते प्राण" इति सकृदुच्चरितो बहुभिः सम्बध्यमानो जायत इति शब्दः क्वचिन्मुख्यः क्वचिद्गौण इति निर्णेतुमशक्यत्वाद् वैरूप्यप्रसङ्गात्। तथा "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धामि" त्यादावपि प्राणे श्रुतः सृजति परेष्वपि श्रद्धादिष्वनुषज्यते। तथा "आत्मानो व्युच्चरन्ती" त्यादावप्येष न्यायो बोध्यः।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तस्य जायते' इस पद का आकाशादि में मुख्य का पहले भी प्राण आदि में श्रवण होने से आकाश आदि की तरह प्राणों का भी मुख्य ही जन्मश्रुति है। "एतस्माज्जायते प्राणः" इस श्रुति में एक बार उच्चरित 'जायते' शब्द कहीं मुख्य कहीं गौण ऐसा निर्णय नहीं कर सकता क्योंकि इससे वैरूप्य का प्रसंग होगा। तथा "स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धाम्" इत्यादि श्रुतियों में भी प्राणों की सृष्टि सुनी गयी है। तथा 'आत्मानो व्युच्चरन्ति' इत्यादि श्रुतियों में भी यह न्याय जानना चाहिये।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।२।४।४।।

यद्यपि सृष्टिप्रकरणे तेजोऽबन्नानां त्रयाणामेवोत्पत्तिः श्रूयते, तथापि वाक्प्राणमनसां ब्रह्मप्रकृतिकतेजोऽबन्नपूर्वकत्वाभिधानाद "न्नमयं हि सौम्य! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागि" त्यत्र भूताप्यायकत्वादपि मुख्यमेव जन्मेति निश्चीयते। नहि स्वतः सिद्धं वस्तु परानुग्राहकत्वमपेक्षत इति भावः। तस्माद्वागादीनां भूतानुग्राह्यत्वं वदन्ती श्रुतिः तत्सद्भावमनुवदतीति तात्पर्यार्थः।।४।। इति प्राणोत्पत्त्यधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यद्यपि सृष्टि प्रकरण में तेज, अप् तथा अन्न, इन तीनों की ही उत्पत्ति सुनी जाती है। फिर भी वाक्, प्राण तथा मन का ब्रह्म उपादानक तेज, अप् तथा अन्न पूर्वक सृष्टि के अभिधान होने से "अन्नमयं हि सौम्य! मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" इस श्रुति में भूत से भी मुख्य जन्म ही निश्चित होता है। स्वतः सिद्ध वस्तु कभी भी दूसरों के अनुग्राहकत्व की अपेक्षा नहीं करती। इसलिए वाक् आदि में भूतों का अनुग्राह्यत्व बताने वाली श्रुति उसके सद्भाव का अनुवाद करती है, यही तात्पर्यार्थ है।।४।। इस प्रकार प्राणोत्पत्ति अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

अथ प्राणविषयकसङ्ख्याविप्रतिपत्तिपरिहारायेदमारभ्यते—

अब प्राण विषयक संख्या की विप्रतिपत्ति के परिहार के लिए यह प्रकरण आरम्भ करते हैं—

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।५।।

कतीतरे प्राणा इति विषयो"ऽत्र सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि" ति अष्टौ ग्रहा" इति, "सप्त वै शीर्षण्या द्वाववाञ्चावि"ति, "नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी" ति, "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे" त्यादिश्रुतिषु सप्तादिचतुर्दशपर्यन्ताप्राणसङ्ख्या दृश्यते। अतः संशयः कतीतरे प्राणा इति। किं तावत्प्राप्तम्? सप्तैव। कुतः? गतेरिति। "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मादि" ति

श्रुत्यावगमात्। नच "गुहाशया निहिताः सप्त सप्ते" ति वीप्साश्रुतिविरोध इति वाच्यम्। वीप्सायाः पुरुषभेदाभिप्रायकत्वात्। तथा च प्रतिपुरुषं सप्तेत्यर्थः। नन्वेवमष्टत्वाद्यधिकसङ्ख्याश्रुतेर्व्याकोप इति चेत्तत्राह। विशेषितत्वाच्चेति। "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा" इति तावन्मात्रेण श्रुत्या विशेषितत्वात्। अधिकस्य चात्रैवान्तर्भावादित्यर्थः।।५।।

अत्र सिद्धान्तः —

(हिन्दी-अनुवाद)

इतर प्राण कितने हैं यह विषय है। "अत्र सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्" उससे सात प्राण उत्पन्न होते हैं। "अष्टौ ग्रहाः" आठ ग्रह हैं। "सप्त वै शीर्षण्या द्वाववाञ्चौ" "नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी" इत्यादि श्रुतियों में सात से लेकर चौदह तक प्राणों की संख्या देखी जाती है। इसी लिए संदेह होता है। यहाँ क्या प्राप्त है, तो बोले – सप्तैव अर्थात् सात ही प्राण हैं। क्योंकि गते अर्थात् 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' इस श्रुति से सात का ही अवगम होता है। यदि कहें कि "गुहाशया निहिताः सप्त सप्त" इसी श्रुति में प्रतिपादित वीप्सा से विरोध होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। वीप्सा पुरुष भेद के अभिप्राय से कही गयी है। अर्थात् प्रत्येक पुरुष में सात प्राण होते हैं। यदि कहें फिर भी आठ, नौ, दस इत्यादि अधिक संख्या वाचक श्रुति का व्याकोप होगा। इस पर कहते हैं– विशेषितत्वाच्च– "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा" इस श्रुति में सात संख्या मात्र से ही उसको विशेषित किया गया है। अधिक का यही अन्तर्भाव किया गया है।।५।।

अब सिद्धान्त कहते हैं —

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम्।२।४।६।।

हस्तादयस्त्वन्ये प्राणाः सप्तभ्यो भिन्नाः श्रुत्या पठ्यन्ते। "हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोती" त्यादिश्रुतिषु स्थिते सप्तत्वातिविलक्षणे सप्तानां तदधिकसङ्ख्यायामन्तर्भावो युक्तो, नत्वधिकसङ्ख्याया हीनसङ्ख्यायामन्याय्यत्वात्। अतो हस्तादीनां सप्तातिरिक्तत्वादेव नैवं, सप्तैवेति न मन्तव्यम्। तथा चैवं व्यवस्था। प्राणास्तावदेकादशसङ्ख्याका एव। कार्यस्यापि तावन्मात्रत्वात्, फलाभावे साधनापेक्षाभावात्। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे" ति अत्रात्मशब्दोऽन्तःकरणरूपमनोवाचकः। करणस्यैवाधिकारात्। तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयकानि पञ्चज्ञानानि तत्करणानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणाख्यानि। वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दरूपाश्च पञ्चकर्मविशेषास्तत्करणानि च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्हस्तपादपायूपस्थाख्यानि। सङ्कल्पादिकं चान्तरं कर्म, तत्करणं च मन इति। "इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचरा" इति श्रीमुखोक्तेः। तत्र सप्तसङ्ख्याया अन्तभवि दोषलेशावकाशोऽपि नास्ति। अधिकसङ्ख्याश्रुतेस्तु मनोवृत्तिभेदमादाय सामञ्जस्यं बोध्यम्। तथाहि मनस एव वृत्तिभेदेन चातुर्विध्यात् तस्यैव द्वित्वविवक्षया द्वादशत्वं, त्रित्वविवक्षया त्रयोदशत्वं, चतुष्कविवक्षया च चतुर्दशत्वं श्रुतिभिरुच्यते।

तथात्वे च सर्वश्रुतीनां स्वार्थपरत्वे नैराकाङ्क्ष्यात्सामञ्जस्यमेव। अधिकसङ्ख्याकल्पनस्य वैयर्थ्यादेकादशैव प्राणा इति सिद्धम्।।६।। इति सप्तगत्यधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

हस्त आदि अन्य प्राण सात से भिन्न हैं, जो श्रुति में पढ़े गये हैं। "हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्रहेण गृहीतो हस्ताभ्यां हि कर्म करोति" इत्यादि श्रुतियों में सात से अधिक का सप्त संख्या में ही अधिक है, न कि अधिक संख्या में क्योंकि वह अनुचित है। इसलिए हस्त आदि का सात से अतिरिक्त होने से सात ही है। ऐसा नहीं मानना चाहिए, इस प्रकार व्यवस्था होती है। प्राण इन्द्रियों की ग्यारह संख्या है। कार्य भी उतने हैं। फल के अभाव होने पर साधन की अपेक्षा का अभाव होता है। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं। इसमें प्रमाण "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश" यहाँ आत्म शब्द अन्तःकरण मन का वाचक है क्योंकि यहाँ करण का ही अधिकार है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच ज्ञान हैं। इनके करण पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राणेन्द्रिय। इसी प्रकार वचन (बोलना), आदान (ग्रहण), विहरण, उत्सर्ग, आनन्द, ये पाँच कर्म विशेष हैं। उनके ५ करण हैं। ये ५ कर्मेन्द्रिय हैं। संकल्पादि आन्तरिक कर्म है। उनके कारण मन हैं। प्रमाण "इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः" ऐसा भगवान् ने श्रीमुख से कहा है। इसमें सप्त संख्या का अन्तर्भाव होने पर दोष के लेश का अवकाश भी नहीं है। ११ से अधिक संख्या बोधक श्रुति का मनोवृत्ति के भेद को लेकर सामंजस्य समझना चाहिए। जैसे मन के ही वृत्ति भेद से चार प्रकार होते हैं (मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार)। उसी मन के ही द्वित्व विवक्षा से बारह, त्रित्व विवक्षा से तेरह, चतुष्क विवक्षा से चौदह भेद श्रुति कहती है। ऐसा होने पर समस्त श्रुतियों का स्वार्थ परक होने से निराकाङ्क्ष हो जाने से सामञ्जस्य ही है। अधिक संख्या की कल्पना करना व्यर्थ है। इसीलिए ग्यारह ही प्राण सिद्ध होते हैं।।६।।

इस प्रकार सप्त गति अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।२।।

अथेन्द्रियाणां परिमाणविवादं परिहरति——

अब इन्द्रियों के परिणाम विवाद का परिहार करते हैं——

अणवश्च।२।४।७।।

प्रकृताः प्राणा इन्द्रियाणि विभवोऽणवो वा? किन्तावत् प्राप्तं, विभव इति। कुतः? "त एते सर्वे समा अनन्ता" इत्यनन्तत्वश्रुतेः। अत्र राद्धान्तः। अणवश्च। च नियोगे। प्रकृताः प्राणा अणव

---

१. इसी प्रकार पाँच महाभूतों के जो सूक्ष्म रूप हैं, जिन्हें अन्य दर्शनकारों ने परमाणु कहा है, उनकी उत्पत्ति भी ब्रह्म से होती है, ऐसा अर्थ किया है– गीता प्रेस ने। इन्द्रियों को अणु मानना ठीक नहीं, त्वक् इन्द्रिय व्यापी है।

२. अणवश्च सूत्र की व्याख्या में कतिपय व्याख्याकारों ने परमाणु परमात्मा से उत्पन्न होते हैं, ऐसी व्याख्या की है, परंतु श्रीकेशवकाश्मीरी प्रभु ने इन्द्रियाँ अणु हैं, ऐसी व्याख्या की है। (सं)

एव। कुतः ? "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" ति उत्क्रान्त्यादिश्रवणात्। तेषामुत्क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वाच्च न स्थौल्यमपीति भावः। न चानन्तविधायकवाक्यविरोधः शङ्कनीयः, तस्यासङ्ख्यातत्वविधानपरत्वात्। यद्वा "अथ यो हैताननन्तानुपास्त" इति श्रुत्युक्तोपासनार्थत्वात्। नच मनसोऽणुत्वे सर्वदेहगतसुखदुःखाद्यनुभवाभावप्रसङ्ग इति वाच्यम्। तस्य सङ्कोचविकाशशीलत्वात्। अन्यथा ध्रुवादिविषयपर्यन्तानुभवानुपपत्तेः। अन्येषां चक्षुरादीनां तेन विनाऽकिञ्चित्करत्वादिति भावः।।७।। इति प्राणाणुत्वाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ये इन्द्रियाँ विभु हैं, या अणु ? क्या प्राप्त है ? बोले विभु, क्यों "त एते सर्वे समा अनन्ता" इस श्रुति में उन्हें अनन्त कहा गया है। अब सिद्धान्त कहते हैं। 'अणवश्च' यहाँ पर च नियोग में है। अर्थात् प्रकृत प्राण अणु ही हैं क्योंकि "प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इन मन्त्रों में प्राणों की उत्क्रान्ति आदि श्रवण है। इन प्राणों के उत्क्रमण काल के आदि में समीपवर्ती मनुष्यों द्वारा नहीं दिखाई देने के कारण भी उनकी सूक्ष्मता सिद्ध होती है, न कि स्थूलता। यदि कहें कि अनन्त विधायक श्रुति का विरोध होगा तो ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। उक्त श्रुति असंख्यात्व बोधक है। अथवा "अथ यो हैताननन्तानुपास्ते" इस श्रुति में प्रतिपादित उपासनार्थ है। यदि कहें कि मन को अणु मानने पर सम्पूर्ण देहव्यापी सुख-दुःख आदि के अनुभव का अभाव प्रसङ्ग होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। मन संकोच विकासशील है, ऐसा नहीं मानने पर ध्रुव लोक आदि पर्यन्त के अनुभव की अनुपपत्ति होगी। अन्य चक्षु आदि मन के बिना अकिञ्चित्कर हैं, यह भाव है।।७।।

इस प्रकार प्राण अणुत्व अधिकरण पूरा हुआ।।३।।

श्रेष्ठश्च।२।४।८।।

प्राणसम्वादे शरीरधारणहेतुतया निश्चितो मुख्यः प्राणः श्रेष्ठशब्दाभिधेयः "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चे"ति श्रुतेः। स च जायते न वेति संशये, न जायते। कुतः ? "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नासे"ति श्रुतौ आनीदिति प्राणकर्मोपादानात् प्रागुत्पत्तेः प्राणस्य सद्भावावगमादिति प्राप्ते राद्धान्तः। श्रेष्ठश्चेति। श्रेष्ठो मुख्यः प्राणोऽपि भूतादिवदुत्पद्यते। कुतः ? "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे" त्यत्र मनस इन्द्रियेभ्यश्च तस्य पार्थक्येनोत्पत्तिश्रवणात्। न चोक्तश्रुतिविरोध इति वाच्यम्। तस्याः परमकारणब्रह्मपरत्वात्। नाप्यानीदिति पदं प्राणसद्भावे मानम्। अवातमिति विशेषणश्रवणात्। "अप्राणो ह्यमना" इति श्रुत्यन्तरोक्तब्रह्मलिङ्गत्वादवातस्य अवातमप्राणमित्यर्थः। अन्यथाऽद्वितीयादिश्रुतिव्याकोपादित्यर्थः। पूर्वन्यायसिद्धे पृथग्योगकरणमुत्तरचिन्तार्थम्।।८।। इति मुख्यप्राणोत्पत्त्यधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ श्रेष्ठ शब्द से इन्द्रियों से मुख्य प्राणवायु लिया गया है। प्राण सम्वाद यह छान्दोग्य उपनिषद् का प्रकरण विशेष है। इस सम्वाद में इन्द्रियों की अपेक्षा शरीर धारण में मुख्य कारण होने से प्राण श्रेष्ठ शब्द से कहा जाता है, जैसा कि श्रुतिवचन है "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च"। वह प्राण उत्पन्न होता है या नहीं? ऐसा संशय होने पर उत्पन्न नहीं होता क्योंकि "न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः आनीदवातं स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च नास" इस श्रुति में 'आनीद्' पद के द्वारा प्राण की क्रिया का उपादान होने से उत्पत्ति से पहले प्राण का सद्भाव अवगत होता है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं। श्रेष्ठश्च अर्थात् श्रेष्ठ मुख्य प्राण भी पञ्च महाभूतों की तरह उत्पन्न होते हैं क्योंकि "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" (इस परमात्मा से प्राण, मन तथा सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।) (मु.उ. २/१/३) इस मन्त्र में मन तथा इन्द्रियों से पृथक् रूप से उसकी उत्पत्ति बताई गई है। यदि कहें कि उक्त श्रुति से विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त श्रुति परमकारण ब्रह्मपरक है। आनीद् पद भी प्राण के सद्भाव में प्रमाण नहीं है क्योंकि अवातं (वायुभिन्न) ऐसे विशेषण का श्रवण है। "अप्राणो ह्यमनाः" (वह ब्रह्म प्राण एवं मन से भिन्न है) इस भिन्न श्रुति में उक्त ब्रह्म लिङ्ग के होने से अवात का अर्थ है प्राणभिन्न। अन्यथा अद्वितीय आदि श्रुति का व्याकोप होगा। प्राणों की उत्पत्ति 'तथा प्राणाः' इस सूत्र से ही सिद्ध थी। पुनः पृथक् सूत्र (श्रेष्ठश्च) का विधान अधिक शङ्का के निराकरणार्थ है।।८।।

इस प्रकार मुख्य प्राणोत्पत्ति अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।९।।

स पुनः स मुख्यः प्राणः किं वायुरुत करणव्यापार अथवा वायुरेव कञ्चन विशेषमापन्न इति संशये राद्धान्तमाह। प्राणः वायुतत्त्वान्तर्गत इन्द्रियो व्यापाररूपा तत्क्रिया च न भवति। कुतः? पृथगुपदेशात्। न चैवं 'यः प्राणः स वायुः। स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान' इति श्रवणविरोध इति वाच्यम्। "प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थपादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति चे" ति श्रुतेः। नहि वायुरेव सन्वायोः पृथगुपदिश्येतेत्यर्थः। तथा क्रियाख्यः करणव्यापारोऽपि पृथक्त्वेनोपदिश्यत, "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि चे" त्यत्र प्राणस्य करणेभ्यः पृथगुपदेशात्। नहि सर्वेषां कारकाणामेकव्यापारत्वसम्भवः। प्रत्येकं तेषां भिन्नव्यापारत्वनियमात्। अन्यथा सर्वेषामपि सर्वव्यापारकत्वापत्तेः। नच "यः प्राणः स वायुरि" त्यादिश्रुतिविरोधस्य तादवस्थ्यमिति वाच्यम्। वायुरेवायमध्यात्मभावात्मकावस्थापन्नः पञ्चरूपात्मना वर्त्तमानः प्राणाख्ययोच्यते न द्रव्यान्तरं, न वा वायुमात्रमित्यविरोध उभयश्रुतेः। एतेन "सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्चे"ति करणानां सामान्या वृत्तिः प्राण इति साङ्ख्यपक्षो निरस्तः।।९।।

ननु "सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्ति, प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः, प्राणः सम्वर्गो वागादीन्सम्वृङ्क्ते, प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रानि"ति, प्राणस्य शरीरेन्द्रियादीन् प्रति स्वातन्त्र्यश्रवणात् स्वतन्त्रः प्राण इत्यभ्युपगन्तव्यमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

(हिन्दी-अनुवाद)

वह मुख्य प्राण क्या वायु है या करण का व्यापार? अथवा वायु ही किसी विशेषता को प्राप्त है, ऐसा संशय होने पर सिद्धान्त कहते हैं। प्राण वायु तत्त्वान्तर्गत इन्द्रिय, उसके व्यापार रूप तथा इन्द्रिय की क्रिया नहीं है क्योंकि इनसे पृथक् इसका उपदेश है, (वहाँ वायु की उत्पत्ति का वर्णन पृथक् है) यदि कहें कि 'यः प्राणः स वायुः स एष वायुः पञ्चविधः प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानः' इस श्रुति का विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। "प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थपादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च" ऐसी श्रुति है वायु का ही वायु से पृथक् उपदेश नहीं किया जाता। व्यापार रूप करण व्यापार भी नहीं कह सकते "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इस श्रुति में प्राण का करणों से पृथक् उपदेश है। सभी कारकों का एक व्यापार संभव नहीं है। उनमें प्रत्येक का भिन्न-भिन्न व्यापार है। अन्यथा सबका सब व्यापार हो जायेगा। यदि कहें "यः प्राणः स वायुः" इत्यादि श्रुति के साथ विरोध होगा तो यह भी नहीं कह सकते। वायु ही अध्यात्म भावावस्थापन्न पाँच रूपों में वर्तमान प्राण शब्द से कहा जाता है, द्रव्यान्तर नहीं। न वायु मात्र ही। इस प्रकार दोनों श्रुतियों का अविरोध है। इसी से "सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" अर्थात् प्राण आदि पञ्चवायु करणों की सामान्य वृत्ति है, यह साङ्ख्य पक्ष भी निरस्त होता है।

यदि कहें कि वाक् आदि करणों के सुप्त होने पर प्राण अकेले जागता रहता है। प्राण सभी इन्द्रियों की माता की तरह रक्षा करता है, "सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको जागर्ति प्राण एको मृत्युनाऽनाप्तः प्राणः सम्वर्गो वागादीन्सम्वृङ्क्ते, प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्" इस श्रुति में शरीर, इन्द्रिय आदि के प्रति स्वातन्त्र्य श्रवण होने से प्राण एक स्वतन्त्र तत्त्व है। ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसी आशङ्का करके समाधान करते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।२।४।१०।।

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। तथा चक्षुरादीनि जीवकर्तृत्वादिव्यापारं प्रति करणानि तथा मुख्यप्राणोऽपि राजमन्त्रिवदुपकरणभूत एव, न स्वतन्त्रः। कुतः? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः। शिष्टिः शासनं चक्षुरादिभिः सह तस्यापि शासनश्रवणात्प्राणसम्वादे। तत्सजातीयत्वे हि तैः सह शासनं युज्यते, प्राणशब्दपरिगृहीतकरणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्देन ग्राह्यम्। अथ "य एवायं मुख्यः प्राणो योऽयं मध्यमः प्राण" इत्यादिषु विशिष्याभिधानाज्जीवं प्रति चक्षुरादिवदुपकारकत्वमिति सिद्धम्।।१०।।

ननु यदि चक्षुरादिवदस्य जीवं प्रत्युपकरणत्वं तर्ह्यस्य विषयरूपकार्यमपि द्वादशमङ्गीकार्यं, तथा चैकादशसङ्ख्याककार्याभ्युपगमसिद्धान्तभङ्ग इत्याशङ्कायां समाधानमाह—

(हिन्दी–अनुवाद)

तु शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है। जैसे जीव के कर्तृत्व आदि व्यापार के प्रति चक्षु आदि करण हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी राजा के मन्त्री के तरह जीव का उपकरण भूत ही है, जीव की तरह स्वतन्त्र नहीं क्योंकि 'तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः' शिष्टि माने शासन, चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ प्राण संवाद में इसका शासन है। उसके सजातीय होने पर ही उसके साथ शासन युक्त होता है। प्राण शब्द से गृहीत करणों (इन्द्रियों) में इसका विशेष रूप से अभिध ान (ही) आदि शब्द से ग्राह्य है। जैसे "य एवायं मुख्यः प्राणः योऽयं मध्यमः प्राणः" इत्यादि श्रुतियों में प्राण को इन्द्रियों में श्रुति में वर्णित मुख्य प्राण न तो वायुतत्त्व है, न वायु की क्रिया, न करण व्यापार ही है। कारण श्रुति में जहाँ प्राण की उत्पत्ति का वर्णन आया है, (म. उ. २/१/३) वहाँ वायु की उत्पत्ति का वर्णन अलग है किन्तु चक्षु आदि की तरह इन्द्रियों की भाँति जीवात्मा उपकरण ज्ञान विशेष का करण नहीं। मुख्य अभिधान होने से जीव के प्रति यह चक्षु आदि की तरह जीव का मुख्य उपकारक है, यह सिद्ध होता है।

यदि कहें कि प्राण चक्षु आदि की तरह जीव के प्रति उपकरण है, तब तो इसका विषय रूप कार्य भी बारहवाँ मानना पड़ेगा, फिर तो ग्यारह संख्या वाले कार्य को स्वीकार करने से सिद्धान्त भङ्ग होगा, इस आशङ्का के समाधान में कहते हैं—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति।२।४।११।।

च शङ्कोच्छेदार्थः। नोक्तदोषप्रसङ्गावकाशः। चक्षुरादिवद् मुख्यप्राणस्याकरणत्वाद् जीवव्यापारं प्रति तस्य करणत्वाभावात्। तर्हि किमर्थोऽस्याङ्गीकारस्तत्राह। तथाहि दर्शयति। हीति निश्चयार्थः। श्रुतिस्तस्य भिन्नमसाधारणं कार्यान्तरं दर्शयतीत्यर्थः। तथाहि प्राणसम्वादे "ऽथ ह प्राणा अहं श्रेयसे व्यूदिर" इत्यपक्रम्य, "यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ" इत्युक्ते वागादीनां प्रत्येकमुत्क्रान्तौ प्रवचनादिवृत्तिमात्रहीनं यथापूर्वं जीवनं दर्शयित्वा प्राणस्योच्चिक्रमिषायां वागादिशैल्यापत्ति शरीरपातप्रसक्तिं च निरूप्य, प्राणधीनं देहादिस्थितिं प्राणासाधारणकार्यभूतां दर्शयति। "तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्येया अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामी"ति। किञ्च "प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायमि" ति चक्षुरादीनां लये प्राणकृतदेहादिरक्षां दर्शयति। किञ्च "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामी" ति। "स प्राणमसृजते" त्यादिना प्राणाधीनं जीवस्य स्थितिमुत्क्रान्तिं च दर्शयतीति।।११।।

ननु तथापि नैकत्वं प्राणस्यानेकत्वश्रवणात्। तथाहि प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानश्चेति। तत्र प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा नासादिसञ्चारी प्राणः। अपानोऽर्वाग्वृत्तिः। निःश्वासादिकर्मा व्यानस्तयोः

सन्धौ वर्तमानो वीर्यवत्कर्महेतुरुदानः। ऊर्ध्ववृत्तिरुत्क्रान्त्यादिहेतुः समानः। "समं सर्वेष्वंगेषु रसन्नयती"ति। एवं संज्ञासङ्ख्याकार्यभेदात्तत्त्वान्तरत्वमेव तेषामिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

'च' शब्द शङ्का के उच्छेद के लिए है। उक्त दोष में प्रसङ्ग का अवकाश नहीं है। चक्षु आदि की तरह मुख्य प्राण करण नहीं है, जीव व्यापार के प्रति उसे करण नहीं माना गया है। फिर इसे क्यों माना जाता है? 'तथाहि दर्शयति' हि (शब्द) निश्चय के लिए है। श्रुति उसका दूसरा ही असाधारण कार्यान्तर बताती है। जैसा कि प्राण सम्वाद में आया "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसे व्यूदिरे" (विवादं चक्रिरे) एक बार सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करने लगीं, 'मैं श्रेष्ठ तो मैं श्रेष्ठ' यहाँ से उपक्रम करके अन्त में कहा कि "यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठः" (अर्थात् जिसके उत्क्रमण करने पर यह शरीर पापिष्ठ (शव) हो जाता है वही तुम सबमें श्रेष्ठ हैं, ऐसा कहने पर वाक् आदि के प्रत्येक में अलग-अलग बारी-बारी उत्क्रमण करने पर केवल प्रवचन आदि वृत्तिमात्र का ही अभाव हुआ परंतु जीवन पूर्ववत् रहा। इसे दिखाकर तथा प्राण के उत्क्रमण करने की इच्छा करने मात्र से ही (प्राण के जाने की तैयारी में) वाणी आदि में शैथिल्य तथा शरीर पात का प्रसङ्ग बताकर, देह आदि की स्थिति प्राणाधीन बताया अर्थात् देह आदि की स्थिति, प्राण का ही असाधारण कार्य है, यह बताया। तब सबसे वरिष्ठ प्राण ने उन इन्द्रियों से कहा- तुम सब मोह (अभिमान) को मत प्राप्त होना। मैं ही अपने आपको पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को धारण करता हूँ। "तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्येथाऽहमेवैतत्पञ्च- धात्मानं विभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि" प्राण का कार्यान्तर भी अन्य श्रुति के द्वारा दिखाते हैं "प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्" अर्थात् इस निम्न देहनामक गृह की, प्राण द्वारा रक्षा करता हुआ जीव सोता है। चक्षु आदि के लय होने पर (ज्ञातव्य है प्राण शब्द का प्रयोग इन्द्रियों के लिए भी होना उसकी प्राण के लिए मुख्य प्राण शब्द का प्रयोग होना है।) देह की रक्षा प्राण ही करता है। और "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि" किसके उत्क्रमण करने पर मेरा उत्क्रमण होगा, मैं भी शरीर से निकल जाऊँगा अथवा किसके प्रतिष्ठित रहने पर रहूँगा। इस लिए "स प्राणमसृजत" उसने प्राण की सृष्टि की (देह रक्षा प्राण का मुख्य कार्य है।) जीव की उत्क्रान्ति एवं स्थिति प्राण के अधीन है।।११।।

यदि कहें कि फिर भी प्राण का एकत्व सिद्ध नहीं होगा क्योंकि उसका अनेकत्व वर्णित है। जैसे प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। इनमें ऊर्ध्व भाग में रहने वाला उच्छ्वास आदि क्रियाशील नासा आदि में संचारी वायु को प्राण कहते हैं। अधोभाग से निकलने वाली वायु को अपान कहते हैं। निःश्वास आदि कर्म करने वाली वायु को व्यान कहते हैं। उन दोनों की सन्धि में वर्तमान शक्तिशाली कर्म के हेतु वायु को उदान कहते हैं। ऊर्ध्व भाग में रहने

वाली अथवा ऊर्ध्व की ओर वृत्तिवाली उत्क्रान्ति आदि की हेतु को समान वायु कहते हैं। "समं सर्वेष्वंगेषु रसन्नयति" जो सभी अंगों में समान रूप से रस को पहुँचाती है। इस प्रकार कार्य भेद से संख्या एवं संज्ञा होती है। इसलिए ये तत्त्वान्तर ही हैं, ऐसा यदि कहें तो इस पर कहते हैं—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ।२।४।१२।।

प्राणादिसंज्ञकाः पञ्च पञ्चवृत्तिः प्राण एव न तत्त्वान्तरमे, "तत्सर्वं प्राण एवे" ति वचनात्। तत्र दृष्यन्तः। मनोवदिति। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवे" ति वत्। यथा सङ्कल्पादयो मनोवृत्तिविशेषास्तथा प्राणापानादयोऽपि प्राणवृत्तय इत्यर्थः।।१२।। इति वायुक्रियाधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्राण आदि संज्ञक पांच तथा पांच प्रकार के कार्य वाले ये प्राण आदि प्राण ही हैं, तत्त्वान्तर नहीं क्योंकि "एतत्सर्वं प्राण एव" ऐसा वचन है। इसमें दृष्टान्त है- मनोवत्- "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" जैसे संकल्प आदि मन की विशेष वृत्तियाँ हैं। एक ही मन को संकल्प विकल्पात्मक वृत्ति के कारण मन, निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति को बुद्धि, अहंकारात्मक वृत्ति को अहंकार कहते है। मन, बुद्धि अहंकार आदि सब मन ही हैं, उसके कोई भेद नहीं। उसी प्रकार प्राण अपान आदि भी प्राण की वृत्तियाँ हैं, अतः तत्त्व में कोई फर्क नहीं।।१२।। इस प्रकार वायुक्रियाधिकरण पूरा हुआ।।४।।

अणुश्च ।२।४।१३।।

व्याख्यातप्रायमितरप्राणोक्तन्यायस्यात्राप्यवतरणीयत्वात्। ननु "समःप्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं प्राणेनावृतमि" ति विभुत्वश्रवणाद्विभुत्वमेव। अन्यथोक्तशास्त्रविरोधो दुःपरिहर इति चेन्न, उक्तश्रुतेः समष्टिप्राणपरत्वेना-विरुद्धत्वात्।।१३।। इति श्रेष्ठाणुत्वाधिकरणम्।।५।।

अथेन्द्रियाणि स्वतन्त्रतया स्वयमेव स्वकार्ये प्रवर्तन्ते स्वस्वाधिष्ठतृदेवताप्रेरितानि वा? किन्तावत्प्राप्तं, स्वयमेव प्रवर्त्तन्त इति। कुतः? तेषां तादृक्शक्तिमत्त्वात्। अत्र ब्रूते—

(हिन्दी-अनुवाद)

वह प्राण अणु है, यही कहते हैं। 'अणुश्च' प्रायः इसकी व्याख्या हो चुकी है। इतर प्राणोक्त न्याय यहाँ भी अनुकरणीय है। यदि कहें कि "समःप्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितं प्राणेनावृतम्" इस श्रुति में प्राण को विभु कहा गया है। उसे विभु नहीं मानने से उक्त शास्त्र का विरोध होगा तो ऐसा

नहीं बोल सकते। उक्त समष्टि प्राण को लेकर कही गई है, इसलिए कोई विरोध नहीं है।।१३।।

इस प्रकार श्रेष्ठ अणुत्व अधिकरण पूर्ण हुआ।।५।।

अब प्रश्न है कि ये इन्द्रियाँ स्वतन्त्र रूप से स्वयं ही अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। अथवा अपने अधिष्ठातृ देवता से प्रेरित होकर? क्या प्राप्त है? स्वयमेव प्रवृत्ति होती हैं, कोई उनमें ऐसी शक्तियाँ विद्यमान है। इस पर कहते हैं—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।२।४।१४।।

ज्योतिरादिभिरग्न्यादिभिरधिष्ठानमधिष्ठितं वागादिकरणजातं देवताप्रवर्तितं सत् स्वकायार्थं प्रवर्तते, न स्वातन्त्र्येण। कुतः? तदामननात्। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशदि" त्यादिश्रवणात्। अध्यात्माधिभूताधिदैवैः सर्वज्ञानक्रियाव्यवहारसिद्धिरिति तात्पर्यार्थः। तत्राध्यात्मशब्दः करणपरः। अधिभूतशब्दो विषयपरो, ऽधिदैवशब्दश्च करणाधिष्ठातृदेवतावर्गवाचकः। "चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं, श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं, नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं, जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं, त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतमि" त्यादिश्रुतिभ्यः। अत्र पृथिवीशब्देनाश्विनौ लक्षेते, शास्त्रान्तरविरोधपरिहारार्थं जडायाः प्रेरकत्वासम्भवात्। "वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणाः तत्त्वदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतमि" त्यादिस्मृतेश्च। उक्तहेतोराभासत्वं निर्णीतं भवति, रथादीनां शक्तिमत्त्वेऽपि अनुडुहादिकं विना प्रवृत्त्यदर्शनात्। अप्रयोजकत्वं जडत्वेन सत्प्रतिपक्षत्वं च। इन्द्रियाणि न स्वातन्त्र्ययोग्यानि जडत्वात्, करणत्वाद्वा रथादिवत्, वास्यादिवच्चेति। तस्माच्छस्त्रादिप्रमाणबलेन पराधिष्ठितत्व- सापेक्षत्वमेवेति सिद्धम्।।१४।।

ननु यदि देवताधिष्ठितत्वमेव तेषामङ्गीक्रियते तर्हि तदधिष्ठातृदेवतानामेव भोक्तृत्वमपि स्वीकार्यं, चेतनत्वात्तथात्वे च शरीरिभोक्तृत्वस्याप्रयोजकत्वापत्तिरित्याशङ्क्य तत्परिहारमाह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अग्नि आदि ज्योतियों से अधिष्ठित अर्थात् अधिष्ठात्री देवताओं द्वारा प्रवर्तित वाक् पाणि तथा नेत्र आदि करण समूह अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है, स्वतन्त्र रूप से नहीं क्योंकि 'तदामननात्' "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" ऐसा कहा गया है, अर्थात् अध्यात्म, अधिभूत तथा अधिदेवों द्वारा समस्त ज्ञान, क्रिया तथा व्यवहार की सिद्धि होती है, यह तात्पर्यार्थ है। यहाँ अध्यात्म शब्द करण परक है, अधिभूत शब्द विषय परक है तथा अधिदेव शब्द करणाधिष्ठातृ देवता वर्ग वाचक है। जैसा कि श्रुतिवचन है "चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नासाऽध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं जिह्वाऽध्यात्मं रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतम्" इत्यादि। यहाँ पृथिवी शब्द से अश्विनी कुमार लक्षित है। शास्त्रान्तर विरोध परिहारार्थ के कारण, जड़ पृथिवी में प्रेरकत्व संभव नहीं है। इस सम्बन्ध में स्मृति वचन भी है– "वागध्यात्ममिति प्राहुर्ब्राह्मणाः तत्त्वदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतं च वह्निस्तत्राधिदैवतम्" इन वचनों के द्वारा उक्त हेतु में आभासत्व निर्णीत होता है। रथ आदि में शक्ति होते हुए भी बैलों के बिना उनमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। प्रथम पक्ष के हेतु में अप्रयोजकत्व जड़त्व हेतु से सत्प्रतिपक्ष है। जैसे इन्द्रियाणि न स्वातन्त्र्ययोग्यानि जडत्वात्– इन्द्रियाँ प्रवृत्ति में स्वतन्त्र नहीं हैं क्योंकि वे जड़ हैं अथवा करण हैं, रथ आदि की तरह या कुठार आदि की तरह। इसलिए शास्त्र आदि के प्रमाण के बल से इन्द्रियों की प्रवृत्ति इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता सापेक्ष है, यह सिद्ध होता है।।१४।।

यदि कहें कि अधिष्ठातृ देवताओं की प्रेरणा से ही इन्द्रियों में प्रवृत्ति होती है, तब विषय भोक्तृत्व भी उन देवताओं में ही मानना चाहिए क्योंकि वे चेतनत्व है, फिर तो शरीरी (जीव में) अप्रयोजक हो जायेगा, ऐसी आशङ्का करके उसका परिहार कहते हैं—

प्राणवता शब्दात् ।२ ।४ ।१५ ।।

प्राणोऽस्यास्तीति प्राणवांस्तेन प्राणवता प्राणोपलक्षितदेहेन्द्रियादिसमुदायस्वामिना शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धो, न देवताभिः। कुतः? शब्दात्। श्रुतिमुखेन तथैवावगमात्। "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमि" त्यादिश्रुतिः शारीरेणैव प्राणानां सम्बन्धं दर्शयति। परमपुरुषेणेन्द्रियाधिष्ठातृदेवानां द्वारि द्वारपालानामिव करणप्रवर्तकत्वे निरूपितत्वात् न भोक्तृत्वादिषु। नहि स्वामिभोगे द्वारपालानामधिकारः सम्भवति। तासां तद्भिन्नदिव्य भोगदानाच्च। तस्माद्भगवदाज्ञया शारीरकरणानि स्वस्वकार्ये प्रेरयन्त्यो दिव्यभोगान् भुञ्जन्ति, श्रीभगवदाज्ञाभङ्गभिया नान्यत्र भोगे तासां प्रवृत्तिरिति भावः। "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यो भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम, एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत" इत्यादिना देवतानां परनियोज्यत्वश्रवणात्। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट" इत्यादिस्मृतेश्च।।१५।।

(हिन्दी–अनुवाद)

प्राणोऽस्य अस्ति अर्थात् प्राणवान्, उस प्राणवान् के साथ अर्थात् प्राणोपलक्षित देह, इन्द्रिय आदि के स्वामी शारीर जीवात्मा से ही प्राणों का सम्बन्ध है, देवता आदि के साथ नहीं क्योंकि 'शब्दात्' श्रुति के द्वारा ऐसा ही अवगम होता है। "अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः

पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्" इत्यादि श्रुतिवचन है। परम पुरुष परमात्मा द्वारा इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवताओं को द्वार पर द्वारपालों की तरह, करण के प्रवर्तक रूप में ही निरूपित किया गया है, भोक्तृत्व आदि में नहीं। स्वामी के भोग में द्वारपालों का अधिकार नहीं होता। वे देवता उससे भिन्न भोग प्रदान करते हैं। इसलिए देवता वृन्द भगवान् की आज्ञा से जीवात्मा के करणों (इन्द्रियों) को प्रेरित करते हुए दिव्य भोगों का भोग करते हैं। भगवान् की आज्ञा के भङ्ग के भय से अन्य भोगों में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यो भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम, परमात्मा के भय से वायु बहती है, सूर्य उदित होते हैं, उनके भय से ही अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु ये सब अपने कार्य में प्रवृत्त होते हैं। "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (हे गार्गी! उसी अविनाशी परमात्मा के शासन में सूर्य-चन्द्र यथास्थान में टिके रहते हैं, उससे टस से मस नहीं होते) इत्यादि श्रुतिवचनों के द्वारा देवताओं का परनियोज्यत्व परमात्माधिष्ठितत्व ईश्वरप्रेरितत्व तथा ईश्वराधीन कार्यकर्तृत्व सिद्ध होता है। "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः" सर्व के हृदय में स्थित होकर मैं ही सबको प्रेरित करता हूँ इत्यादि स्मृति वचन है।।१५।।

तस्य नित्यत्वात् ।२।४।१६।।

तस्य करणसम्बन्धस्य शारीरेणैव नित्यत्वान्न देवताभिरिति सूत्रार्थः। उत्क्रान्त्यादौ तदनुवृत्तिदर्शनात् "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रमन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" तिश्रुतेः। तस्मात्करणाधिष्ठतृदेवतानां सत्त्वेऽपि शारीरस्यैव भोक्तृत्वं, न देवतानामिति सिद्धम्। अत्र कैश्चित् तदिदं जीवस्याग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं परायत्तं? वेति विशये स्वायत्तमिति प्राप्त उच्यते। ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति। प्राणवता जीवेन सह ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं तदा मननात् तस्य परमात्मनः सङ्कल्पादेव भवतीत्यर्थः। कुतः? शब्दात्। इन्द्रियाणां साभिमानिदेवतानां जीवात्मनश्च परमपुरुष आमननाय तत्त्वं शास्त्रादिति सिद्धान्तितं, तच्चिन्त्यम्। यद्यपि चेतनाचेतन- स्वरूपस्थित्यादिकं परमेश्वरायत्तमिति सर्वसम्मत, मस्माकं तु अभीष्टतममेव श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात्। तथापि उक्तार्थस्य "पराच्चु तच्छ्रुतेरि" त्याद्युक्तशास्त्रेणैव सिद्धतया पौनरुक्त्यदोषस्यावश्यम्भावादिति मनीषिभिरनुसन्धेयम्।।१६।।

ननु यथा प्राणापानादयो मुख्यप्राणस्य वृत्तिविशेषास्तथेतरे प्राणाश्चक्षुरादयोऽपि तद्वृत्तय एव। न तत्त्वान्तराणि। कुतः? तथैव श्रूयमाणत्वात् 'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नि' त्यादिना। किञ्च प्राणैकशब्दश्रवणादपि तत्त्वाभेदो निश्चीयत इत्याशङ्क्योत्तरमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

वह करणों का सम्बन्ध जीवात्माओं के साथ ही नित्य है, देवताओं के साथ नहीं। यह सूत्रार्थ है क्योंकि जीव के शरीर से उत्क्रमण के समय इन्द्रियों का उसके साथ अनुगमन देखा

जाता है। "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रमन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती" अर्थात् शरीर से जीव के उत्क्रमण पर इन्द्रियाँ उसके साथ उत्क्रमण करती हैं, उसके पश्चात् सभी प्राण भी उत्क्रमण करते हैं, ऐसा श्रुतिवाक्य है। इसलिए करणों के अधिष्ठातृ देवताओं के रहते हुए भी भोक्तृत्व जीवात्मा में ही होता है देवताओं में नहीं यह सिद्ध होता है। यहाँ कुछ लोगों जीव एवं अग्नि आदि देवताओं का इन्द्रियों का अधिष्ठातृत्व क्या स्वाधीन है या पराधीन, ऐसा संशय करने पर, स्वाधीन है ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं "ज्योतिराद्यधिष्ठानम्" अर्थात् प्राणवान् जीव के साथ ज्योति आदि अग्नि आदि देवताओं का प्राण (इन्द्रिय) विषयक अधिष्ठान परमात्मा के संकल्प से ही होता है क्योंकि 'शब्दात्' अभिमानी देवताओं सहित इन्द्रियों एवं जीवात्मा का प्राण विषयक अधिष्ठान परमात्मा के संकल्प से ही होता है, यह शास्त्र द्वारा सिद्धान्तित है, ऐसा कहते हैं पंरतु यह व्याख्या चिन्त्य है। यद्यपि चेतन, अचेतन सबकी स्वरूप, स्थिति प्रवृत्ति आदि परमेश्वराधीन है, यह बात सर्वसम्मत है। और हमारा तो सर्वथा अभीष्ट है क्योंकि यह सिद्धान्त श्रुति सम्मत है। फिर भी उक्त कथन 'पराच्तु तुच्छ्रुतेः" इत्यादि सूत्रों द्वारा ही सिद्ध होने से इस सूत्र से भी उसी अर्थ का प्रतिपादन होने पर पुनरुक्ति दोष अवश्यम्भावी है, यह विद्वानों द्वारा विचारणीय है।।१६।।

यदि कहें कि जैसे प्राण अपान आदि मुख्य प्राण के वृत्ति विशेष हैं, उसी प्रकार अन्य चक्षु आदि प्राण (इन्द्रियाँ) मुख्य प्राण की वृत्तियाँ ही हैं अन्य तत्त्व नहीं क्योंकि ऐसा उपनिषदों में सुना गया है 'हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नि'त्यादि। समस्त इन्द्रियाँ इसी मुख्य प्राण के रूप हैं। दूसरी बात इन्द्रियों के लिए भी प्राण शब्द का ही (प्रयोग) श्रवण है। इसलिए भी प्राण और इन्द्रियों में तत्त्व का अभेद निश्चित होता है। ऐसी आशङ्का करने पर उत्तर में कहते हैं—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१७।।

ते प्रकृताः प्राणा वागादय इन्द्रियाण्युच्यन्ते। तानि तत्त्वान्तराण्येव। न मुख्यप्राणस्य वृत्तयः। कुतः? तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्। श्रेष्ठादन्यत्र मुख्यप्राणं विना तद्भिन्नतयेति याबत्। तेषां वागादीनां श्रुतौ व्यपदेशात्। "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" त्यादिना। ननु तर्हि मनसोऽपीन्द्रियत्वं न स्यात्, पृथगुपदेशाविशेषादिति चेन्न तस्य मनसः श्रुतिव्याख्यारूपस्मृतौ हीन्द्रियत्वाभ्युपगमात्। "इन्द्रियाणि दशैकं चे" ति श्रीमुखोक्तेः। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशे" तिश्रुतेश्च। समानजातीयत्वमेकां जातिं क्रियां गुणं चाश्रित्य सङ्ख्याप्रयोगाः प्रवर्तन्ते, यथाष्टौ ग्रहाः रूपादिज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वाच्चेन्द्रियत्वं मनस इति भावः। ननु कथं तर्हि चक्षुरादौ प्राणशब्दप्रयोग इति चेन्न। प्राणाधीनप्रवृत्तिकत्वेनेन्द्रियाणां तत्तानिर्देशस्य गौणत्वेनाविरोधात् "तस्मादेत एतेनाख्यायन्त" इतिश्रतेर्मुख्यप्राणविषयस्यैव प्राणशब्दस्येन्द्रियेषु लाक्षणिकत्वावगमादित्यर्थः।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वे प्रकृत प्राण वाक् आदि इन्द्रियाँ कहलाती हैं। वे तत्त्वान्तर (स्वतन्त्र तत्त्व ही) हैं मुख्य प्राण की वृत्तियाँ नहीं है। क्योंकि 'तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्' श्रेष्ठादन्यत्र अर्थात् मुख्य प्राण के बिना उससे भिन्न रूप में उसका व्यवहार होता है। श्रुति में भिन्न रूप में व्यपदेश है- "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" उस परमात्मा से प्राण, मन तथा समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, ऐसा पृथक् रूप से व्यवहार हुआ है। यदि कहें कि फिर तो मन भी इन्द्रिय नहीं हो सकता, इसका पृथक् उपदेश है तो ऐसा नहीं कह सकते। श्रुति की व्याख्या रूप स्मृति में मन को इन्द्रिय कहा गया है। गीता में भी इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द का प्राचुर्येण प्रयोग हुआ है। प्रभु ने श्रीमुख से कहा है "इन्द्रियाणि दशैकं च" अर्थात् बहिरिन्द्रिय दस, एक अन्तरिन्द्रिय, कुल ग्यारह हैं। तथा इस श्रुति में इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द का एवं मन के लिए आत्मा शब्द का प्रयोग हुआ है। "दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादश" इत्यादि श्रुतिवचन भी पुरुष में दस इन्द्रिय और ग्यारहवां मन कुल ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। ऐसा प्रतिपादन करता है। जाति, गुण तथा क्रिया को लेकर संख्या का प्रयोग होता है। जैसे मनस्त्व जाति को लेकर मन में एकत्व का प्रयोग होता है। श्रुति स्मृति में सभी इन्द्रियों के नायक होने से मन का पृथक् व्यपदेश होता है। वहीं क्रिया लेकर संख्या का प्रयोग होता है। जैसे पांच कर्मेन्द्रिय। गुण का उदाहरण- जैसे "अष्टौ ग्रहाः" कहीं आठ प्राण ग्रहत्व रूप गुण से संकीर्तित होते हैं। यदि कहें कि प्राण की अपेक्षा इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर है फिर चक्षु आदि प्राण शब्द का प्रयोग कैसे होता है ? तो कहते हैं, इन्द्रियों की प्रवृत्ति प्राणाधीन होने से इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द का प्रयोग गौण है (गुण निमित्तक) है। इसलिए कोई विरोध नहीं है। "तस्मादेत एतेनाख्यायन्त" ऐसा श्रुतिवचन है। मुख्य रूप से प्राण शब्द प्राण का ही वाचक है, इन्द्रियों के लिए प्राण शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है।।१७।।

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ।२ ।४ ।१८।।

मुख्यप्राणस्येन्द्रियाणां च भेदश्रवणादपि मुख्यप्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः। "ते ह वाचमूचुरि" त्युपक्रम्य वागादीनामसुरविध्वस्तानामुपन्यासं कृत्वा तत्प्रकरणोपसंहारे "ऽथ हेममासन्यं प्राणमूचुरि" त्यसुरविध्वंसिनो मुख्यस्य प्राणस्य पृथक्त्वेनोपक्रमणात्। अत्रैव हेत्वन्तरमाह। वैलक्षण्याच्चेति। मुख्यप्राणादितरेषां वैलक्षण्यादपि तत्त्वान्तरत्वमिति सूत्रार्थः। तथाहि प्राणस्य वागादिषु सुप्तेषु जागरणमि, न्द्रियाणां मृत्युव्याप्तत्वेन प्राणस्य मृत्युनाऽनाप्तत्वं, तेषां विषयग्रहणहेतुत्वं, प्राणस्य तु देहादिधारणपातनहेतुत्वं च श्रुतिषु दर्शनाद्वैलक्षण्येन तत्त्वान्तरत्वमित्यर्थः। इन्द्रियेषु श्रवणालोचनाद्यसाधारणवृत्तयः, प्राणस्य च सर्वेन्द्रियेषु परिस्पन्दरूपासाधारणवृत्तिरिति विवेकः। अत्र प्रमाणभूताः श्रुतयस्तु पूर्वमेव पठिता अनुसन्धेया इति सङ्क्षेपः। ननु "तत्तेजोऽसृजत, तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत, एतस्माज्जायते प्राण" इत्यादिजगत्सृष्टिविषयश्रुतीनां

परस्परविरुद्धसृष्टिक्रमपरत्वदर्शनादितरेतरबाध्यबाधकभावापत्त्या ह्येकतमस्यापि क्रमस्य प्रामाणिकत्वं न स्यात्। सर्वेषामपि श्रौतत्वाविशेषादिति चेन्न, गुणोपसंहारन्यायेन न्यूनाधिकसङ्कोचोपक्रमस्य पौर्वापर्य्यक्रमस्याविरोधेन सर्वस्यापि सामञ्जस्यात्। तथा चोक्तं विवरणकारैः श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैः "गुणोपसंहारन्यायेन सर्वस्य वाक्यजातस्य सामञ्जस्यमेवे" त्यादिना। एतदुक्तं भवति– सृष्टिक्रमश्रुतीनां परस्परविरोधे कयाचिद्विधवस्ययैव भाव्यम्। अन्यथैकतमस्या अपि श्रुतेर्बाधायामर्द्धनास्तिकत्वापत्तिः। तत्र प्रलयश्रुतेः प्रबलत्वात् तदनुसारेण सर्वास्वपि सृष्टिविषयकासु श्रुतिषु गुणोपसंहारन्यायेन सृष्टिक्रमोपन्यासः कर्त्तव्यः। तथात्वे तु न कश्चिद्विरोधावकाशः। तथैवाम्नायते सुबालोपनिषदि लयक्रमः "पृथिव्यप्सु प्रलीयते। आपस्तेजसि प्रलीयन्ते। तेजो वायौ प्रलीयते। वायुराकाशे प्रलीयते। आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ प्रलीयन्ते भूतादिर्महति प्रलीयते। महानव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तमक्षरे, ऽक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवती" त्यादिना। व्याख्याता चेयं श्रुतिर्वैष्णवे श्रीपराशरेण। "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते। वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयत" इत्युक्त्वा "प्रकृतिर्या मया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः। विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयत" इत्यादिनेति सङ्क्षेपः।।१८।। इति ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरणम्।।७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

मुख्य प्राण एवं इन्द्रियों का परस्पर भेद श्रवण से भी मुख्य प्राण से इन्द्रियों का तत्त्वान्तरत्व सिद्ध होता है। "ते ह वाचमूचुः" यहाँ से उपक्रम करके वाक् आदि इन्द्रियों के असुरों द्वारा विध्वंस का उपन्यास करके उस प्रकरण के उपसंहार में "अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः" इस श्रुति में असुर विध्वंसी मुख्य प्राण का पृथक् से उपक्रम है। इसी विषय में अन्य हेतु कहते हैं– 'वैलक्षण्याच्च' मुख्य प्राण से अन्य इन्द्रियों में वैलक्षण्य होने से भी इन्द्रियाँ तत्त्वान्तर (अन्यतत्व) हैं, ये सूत्र का अर्थ है। जैसे वाक् आदि इन्द्रियों के सुप्त होने पर भी प्राण जाग्रत् रहता है। उस समय इन्द्रियाँ मृत्यु से व्याप्त होतीं हैं और प्राण मृत्यु से अग्रस्त होता है। वे विषय ग्रहण में हेतु हैं और प्राण में देह आदि के धारण एवं पातन का हेतुत्व बताया गया है। इसलिए इन्द्रियों से प्राण में विलक्षणता के कारण वह तत्त्वान्तर हैं। इन्द्रियों की श्रवण आलोचन आदि असाधारण वृत्तियाँ हैं और प्राण की सभी इन्द्रियों में परिस्पन्द रूप असाधारण वृत्ति है, ऐसा भेद है। इस विषय में प्रमाण भूत श्रुतियों का पूर्व में ही पाठ किया गया है, ऐसा अनुसंधान करना चाहिए। यह सङ्क्षेप में कहा गया। यदि कहें कि "तत्तेजोऽसृजत" (उसने तेज की सृष्टि की) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (उस परमात्मा से आकाश उत्पन्न हुआ।) 'एतस्माज्जायते प्राणः' (उससे प्राण पैदा हुआ।) इत्यादि जगत् की सृष्टि विषयक श्रुतियों में परस्पर विरुद्ध सृष्टिक्रम देखा गया है। फिर तो इनमें परस्पर बाध्यबाधक भाव की आपत्ति होने से इनमें एक श्रुति का क्रम भी प्रामाणिक नहीं होगा। कारण श्रौतत्व सबमें समान रूप से है, तो ऐसा नहीं कह सकते।

('सर्वमिदं प्रशास्ति' दोनों जगह वेद्य के अभिन्न होने से विद्या की एकता का निश्चय करके सत्य संकल्पत्व आदि एवं सर्ववशित्व आदि गुणों का उपसंहार होता है, वैसे प्रकृत में भी समझना चाहिए) 'गुणोपसंहार न्याय से न्यून तथा अधिक संख्योपक्रम रूप पौर्वापर्य क्रम का अविरोध होने के कारण सबका सामञ्जस्य होता है। यहीं बात विवरणकार श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपाद ने "गुणोपसंहारन्याय से सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यसमूह का सामञ्जस्य होता है" कहा है। यह भाव है कि सृष्टि क्रम बोधक श्रुतियों में परस्पर विरोध होने पर कोई व्यवस्था तो करनी ही पड़ेगी। अन्यथा एक भी श्रुति के प्रबल होने पर अर्धनास्तिकतापत्ति होगी। यहाँ प्रलय श्रुति के प्रबल होने के कारण तदनुसार समस्त सृष्टि क्रम विषयक श्रुतियों में गुणोपसंहार न्याय से सृष्टि क्रम का उपन्यास करना चाहिए। ऐसा करने पर किसी प्रकार के विरोध का अवकाश नहीं होता। जैसा कि सुबालोपनिषद् में लयक्रम कहा गया है "पृथिव्यप्सु प्रलीयते। आपस्तेजसि प्रलीयन्ते। तेजो वायौ प्रलीयते। वायुराकाशे प्रलीयते। आकाश इन्द्रियेषु, इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु, तन्मात्राणि भूतादौ प्रलीयन्ते भूतादिर्महति प्रलीयते। महानव्यक्ते प्रलीयते। अव्यक्तमक्षरे, ऽक्षरं तमसि, तमः परे देवे एकीभवति" इत्यादि। इस श्रुति की व्याख्या विष्णुपुराण में महर्षि पाराशर ने किया है, "जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे! पृथिव्यप्सु प्रलीयते। तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते। वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते" पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का व्योम में, आकाश का अव्यक्त प्रकृति में लय होता है। ऐसा कहकर "प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि। परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः। विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते" इत्यादि वाक्यों द्वारा उपसंहार किया गया है। इस प्रकार संक्षेप रहा।।१८।।

इस प्रकार ज्योतिरादि अधिष्ठान अधिकरण पूरा हुआ।।७।।

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।२।४।१९।।

छान्दोग्ये सत्प्रकरणे "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी" ति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी" ति नामरूपव्याकरणमाम्नातं, तत्र संशयः। एतन्नामरूपव्याकरणव्यापाराश्रयो जीवः परमात्मा वेति? किन्तावत्प्राप्तं, जीव एवेति। कुतः? "अनेन जीवेनात्मने" ति विशेषोक्तेः। यथा चारेणाहं परसैन्यमनुप्रविश्य सङ्कलयानीति प्रयोगे चारकर्तृकमेव परसैन्यप्रवेशकलनं हेतुकर्तृत्वेन राज्ञि उपचर्यत उत्तमपुरुषप्रयोगेणैव तथा जीवकर्तृकमेव सन्नामरूपव्याकरणं हेतुकर्तृत्वेन परमात्मन्युपचर्यत उत्तमपुरुषप्रयोगेणेत्यत्र राद्धान्तः।

१. गुणोपसंहार न्याय का तात्पर्य है- अनेक शाखाओं में पठित विद्याओं में तत् तत् शाखा में वर्णित न्यूनाधिक गुणों का एक दूसरे से निकालकर संयोजन। जैसे वाजसनेय अग्नि रहस्य की शाण्डिल्य विद्या में सर्वमिदं प्रशास्ति' दोनों जगह वेद्य के अभिन्न होने से विद्या की एकता का निश्चय करके सत्य संकल्पत्व आदि एवं सर्ववशित्व आदि गुणों का उपसंहार किया जाता है, वैसे प्रकृत में भी समझना चाहिए। मनोमयः पुरुषः सत्यं तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एक एष सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। (सं)

सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिरिति। संज्ञा च मूर्त्तिश्च संज्ञामूर्त्ती, तयोः क्लृप्तिः समर्थनं व्याकरणं, सा च त्रिवृत्कुर्वतः त्रिवृतिकर्तुः परमेश्वरस्यैव कर्म, न जीवस्य। कुतः ? उपदेशात् "सेयं देवतैक्षते" त्यादिना व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषप्रयोगेण परस्यैव व्याकर्तृत्वोपदेशात् व्याकरणप्रवेशयोः समानकर्तृत्वोपपत्तेश्चेति सूत्रार्थः।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य में सत् प्रकरण में "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इस श्रुति द्वारा नाम रूपात्मक जगत् का व्याकरण (विस्तार) कहा गया है। यहाँ संशय होता है कि इस नाम रूप के व्याकरण रूप व्यापार का आश्रय जीव है या परमात्मा ? क्या प्राप्त है, तो बोले जीव क्योंकि "अनेन जीवेनात्मना" इस प्रकार जीव का विशेष कथन है। जैसे चार (गुप्तचर) के द्वारा मैं शत्रुसेना में प्रवेश कर संकलन करूँ, इस प्रयोग में परसैन्य प्रवेश एवं शत्रु संकलन प्रयोजक कर्ता होने के कारण उत्तम पुरुष के प्रयोग द्वारा राजा में उपचरित होता है। उसी प्रकार जीव द्वारा किया हुआ नाम रूप व्याकरण कर्तृत्व, प्रयोजक कर्त्ता होने के कारण, उत्तमपुरुष प्रयोग के द्वारा परमात्मा में उपचरित होता है। (नाम रूप व्याकरण व्यापाराश्रय जीव ही है) तो इस पर सिद्धान्त कहते हैं 'संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति' संज्ञा च मूर्तिश्च इति संज्ञामूर्ति। संज्ञा और मूर्ति (नाम रूप) तयोः क्लृप्ति समर्थक यानी व्याकरण (विस्तार) त्रिवृत्त कर्ता तेज जल पृथ्वी। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी आदि में कर्तृत्व परमेश्वर का ही है जीव का नहीं क्योंकि 'उपदेशात्' "सेयं देवतैक्षत" उस देवता ने संकल्प किया, इत्यादि वाक्यों द्वारा व्याकरवाणि इस उत्तम पुरुष के प्रयोग से परमात्मा द्वारा ही व्याकरण का उपदेश है। तथा प्रवेश और व्याकरण दोनों क्रियाओं के समान कर्तृत्व का उपदेश है- ऐसा सूत्र का अर्थ है।।१।।

ननु "अनेन जीवेनाऽत्मने" ति विशेषश्रवणाज्जीवस्यैव कर्त्तृत्वं युक्तमिति चेन्न। नामरूपव्याकरणात्प्राक्कर्त्तृत्वे जीवस्य सामर्थ्याभावात्। अन्यथा प्रलयेऽपि तस्य कर्त्तृत्वसामर्थ्ययोगे प्रलयाभावप्रसङ्गात्। एतेन समष्टिजीवाभिमानिचतुर्मुखस्यैव नामरूपव्याकरणं कर्मेति पक्षो निरस्तः। तस्यापि त्रिवृत्कृतभूतनिर्मितब्रह्माण्ड-जन्मानन्तरोत्पत्तिकत्वात्। "तस्मिन्नेवाभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहे" ति स्मरणात्। किञ्च त्रिवृत्करणपूर्वकमेवेदं नामरूपव्याकरणमित्यवगम्यते। प्रत्येकं नामरूपव्याकरणस्य तेजोऽबन्नोत्पत्तिवचनेनैव निर्णयात्। नामरूपव्याकरणं बिना तेजोऽबन्नमित्यादिनाम्ना निर्देष्टुमशक्यत्वात् तेज इत्यादिनामाद्यभावे केन निर्दिशेत्। यथा नामरूपव्याकरणात् प्राक् देवदत्तस्य पुत्रा इति सामान्य निर्देशे सत्यपि देवदत्तस्य त्रयः पुत्रा यज्ञदत्तोऽग्निदत्तो ब्रह्मदत्तश्चेति निर्देशासम्भव, नामादिव्याकरणोत्तरं तु सम्भवत्येव। तथा नामरूप-व्याकरणात्प्राक् परमेश्वरसृज्यमिदं जगदिति सामान्येन निर्देष्टुं शक्येऽपि तेजोऽबन्नमिति

नामादिविशेषविभागेन वक्तुमशक्यत्वात्। व्याकरणे तु सम्भवतीति भावः। तच्च त्रिवृत्करणमग्न्यादित्यचन्द्रविद्युत्सु श्रुत्या दर्शितं, "यदग्नेरोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्ये" त्यादिना। तत्राग्निरिति रूपव्याकरणं रूपप्रागभावे नामकरणासम्भवात् रूपाभावे तदनुपलब्धिप्रसङ्गात् रूपव्याकरणमेव विषयोपलब्धेरसाधारण-हेतुरित्यर्थः। तथैवाग्निरिति वर्णसमुदायरूपं नामव्याकरणमेवमादित्यादिष्वपि विवेचनीयम्। एतेनैव पार्थिवाप्यतैजसेष्वपि पदार्थेषु त्रिवृत्करणं सूपपन्नम्। उपक्रमोपसंहारसाधारण्यात्तत्र "इमास्तिस्रो देवता त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवती"ति उपक्रमसामान्यात्। यद्रोहितमिवाभूदिति तैजसरूपमित्युपसंहारसाम्याच्चेति सङ्क्षेपः।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि 'अनेन जीवेनात्मना' के द्वारा विशेष श्रवण से जीव का ही कर्तृत्व उचित है तो ऐसा नहीं कह सकते। नाम रूपात्मक जगत् के व्याकरण से पूर्व में कर्तृत्व का सामर्थ्य जीव में नहीं है। अन्यथा प्रलय में भी उसमें कर्तृत्व के सामर्थ्य का योग होने पर प्रलय का अभाव प्रसंग होगा। इसी से समष्टि जीवाभिमानी चतुर्मुख ब्रह्मा का यह नामरूप व्याकरणात्मक कर्म है, यह पक्ष भी निरस्त होता है। वह भी (ब्रह्मा भी) त्रिवृत कृत भूत निर्मित ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के अनन्तर ही उत्पन्न होता है। "तस्मिन्नेवाभवद् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः" ऐसा वचन है। त्रिवृत करण पूर्वक ही यह नाम रूप व्याकरण है, ऐसा अवगम होता है। प्रत्येक नामरूप व्याकरण का तेज, जल, अन्न की उत्पत्ति सूचक वचन से ही निर्णय होता है। नामरूप व्याकरण के बिना तेज, जल, अन्न इत्यादि नामों से निर्देश अशक्य है। तेज इत्यादि नामों के अभाव में किसके द्वारा निर्देश होगा। जैसे नामरूप व्याकरण से पूर्व देवदत्त पुत्र है, ऐसा सामान्य निर्देश होने पर भी देवदत्त के तीन पुत्र यज्ञदत्त, अग्निदत्त तथा ब्रह्मदत्त ऐसा निर्देश संभव नहीं हो सकता। नाम आदि के व्याकरण के पश्चात् तो संभव ही है तथा नामरूप के व्याकरण से पहले यह जगत् परमेश्वर द्वारा सृज्य है, ऐसा सामान्य रूप से निर्देश संभव होने पर भी तेज, अप्, अन्न इस प्रकार नाम आदि के विशेष विभाग पूर्वक निर्देश संभव नहीं है। व्याकरण करने पर तो संभव है। यह त्रिवृत्करण अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् में श्रुति ने वर्णित किया है, जैसे "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य" अग्नि में जो लाल रूप है, वह तेज का रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जल का रूप तथा जो कृष्ण रूप है वह पृथिवी का। यहाँ 'अग्नि' यह कथन रूप का व्याकरण है। रूप के प्रागभाव में नामकरण संभव नहीं है। रूप के अभाव में उसकी उपलब्धि नहीं होगी। रूप का व्याकरण (निर्माण) ही विषयोपलब्धि का असाधारण हेतु है। इसी प्रकार 'अग्नि' यह वर्ण समुदाय रूप नाम का व्याकरण ही आदित्य आदि में भी विवेचनीय है। इसी से पार्थिव, जलीय तथा तैजस पदार्थों में भी त्रिवृत करण उपपन्न होता है। उपक्रम एवं उपसंहार साधारण के कारण "इमास्तिस्रो देवता त्रिवृत्त्रिवृदेकैका

भवति" ऐसा सामान्य उपक्रम है। यह 'रोहितमिवाभूत्' जो लाल रूप के समान हुआ, यह तैजस रूप है, इस प्रकार उपसंहार में भी साम्य है। इस प्रकार संक्षेप है।।२।।

यच्चोक्तं चारेण परसैन्यं प्रविश्येत्यादि तत्तुच्छं, दृष्टान्तवैषम्यात्। राजचारयोरत्यन्त-भेदेन पृथक् सिद्धत्वात्। प्रकृते जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तदपृथक्सिद्धत्वात्। ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्तिनो जीवस्य तद्बहिर्भूतवर्त्तिपदार्थानां नामरूपव्याकरणासम्भवात्। चतुर्मुखादेः स्वसृज्यानां नामादिव्याकरणे शक्तिमत्त्वेऽपि स्वप्राक्वस्तूनां नामादिव्याकर्तृत्वेन शक्तिरिति ध्वन्यर्थः। किञ्च जीवबुद्ध्यगोचररचनस्य जगतो नामादिव्याकृतौ परमेश्वरस्यैव समर्थत्वान्नान्यस्य। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिते" त्यादिनोपनिषत्सु तस्यैव तथात्वश्रवणात्। श्रुत्यर्थस्तु इमाः साकल्येन करनिहितफलवत् परमेश्वरस्य श्रुत्यर्थाभिमानिदेवविशेषस्य प्रत्यक्षगोचरास्तेजोऽबन्नसंज्ञकास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन स्वात्मकसमष्टिजीवावच्छिन्नेन जीवनहेतुनाऽन्तरात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। देवतिर्यग्मनुष्यादिविचित्रा-सङ्ख्येयस्वेतरागोचरव्यक्त्यात्मना विभज्य तत्तन्नामादिना संयोजयामीति। एतत्सङ्कल्पविषय-संसिद्धये तासामन्योऽन्यसंसृष्टानां तत्कार्यासमर्थानां संसर्गलक्षणसामर्थ्यं विधायैकैकां त्रिवृतमकरोदिति यावत्।।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह जो कहा गया है 'चारेण परसैन्यं प्रविश्य' इत्यादि वह तुच्छ है। कारण यह दृष्टान्त विषम है। राजा और गुप्तचर के अत्यन्त भेद होने से वे पृथक् सिद्ध हैं। प्रकृत में जीव के ब्रह्मात्मक होने से वह ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्वर्ती जीव के लिए उससे बहिर्भूतवर्ती पदार्थों के नाम रूप का व्याकरण संभव नहीं है। चतुर्मुख ब्रह्मा आदि में उनके द्वारा सृज्यमान पदार्थों के नाम रूपादि व्याकरण की शक्ति होने पर भी, उनसे प्राग्वर्ती पदार्थों के नाम आदि व्याकरण में शक्ति नहीं है यह ध्वन्यार्थ है। दूसरी बात जीव की बुद्धि के अविषय (बाहर) रचनावाली जगत् के नाम रूप के व्याकरण में परमेश्वर ही समर्थ है, अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं है। "आकाशो ह वै नामरुपयोर्निर्वहिता" इत्यादि उपनिषदों में वैसा ही कहा गया है। श्रुति का अर्थ इस प्रकार है- श्रुत्यर्थाभिमानी देव विशेष परमेश्वर के लिए करामलकवत् प्रत्यक्ष गोचर तेज, जल, पृथिवी संज्ञक तीन देवताओं में इस स्वात्मक समष्टि जीवावच्छिन्न जीवन हेतु अन्तरात्मा के साथ प्रवेश करके नाम रुपात्मक जगत् का व्याकरण करूँ अर्थात् देव, तिर्यग् मनुष्य आदि विचित्र असंख्येय अपने से इतर व्यक्ति द्वारा अगोचर व्यक्ति रूप में विभाग करके तत् तत् नाम आदि के द्वारा संयोजन करूँ। इस संकल्प रूप विषय की सिद्धि के लिए उन परस्पर संसृष्ट परंतु तत् कार्य करने में असमर्थों में संसर्ग रूप सामर्थ्य का विधान कर एक-एक का त्रिवृत् करण किया।।३।।

ननु एवम् "नेन जीवेनात्मने" ति सामानाधिकरण्यस्य मुख्यताभङ्ग इति चेन्न, ब्रह्मणः सर्वात्मत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वात्सामानाधिकरण्यं मुख्यमेवेति। अत्र ये जीवब्रह्मणोरत्यन्ताभेद-

मभ्युपगच्छन्ति ते प्रष्टव्याः ? सृष्टेः प्राक्प्रलयसमयेऽनभिव्यक्तनामरूपकस्य जीवस्य जीवात्मना सद्भावो न वेति ? नाद्योऽद्वैतभङ्गात्। ब्रह्मण एव जीवभावापत्त्या प्रवेश इति सिद्धान्तभङ्गात्। सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं निर्विशेषं ब्रह्मासीदिति "सदेव सौम्ये"ति श्रुत्यर्थ इत्युपक्रमवाक्यार्थसिद्धान्तभङ्गाच्च। न द्वितीयो, जीवस्याजत्वानादित्वभङ्गात्। तद्बोधकशास्त्र-व्याकोपाच्च। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गाच्च। किञ्च सदेवेति वाक्यस्योक्तलक्षणनिर्विशेषपरत्वाङ्गीकारे "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेये" त्यादिश्रुतिप्रतिपादितेक्षणबहुभवनसङ्कल्पाश्रयस्य तत्पूर्वकसृष्टिकर्तुरभावेन सृष्ट्यभावप्रसङ्गः। वाक्यस्य निर्विषयत्वापत्त्या बाधप्रसङ्गश्च नालोच्यते वैदिकाभिमानिभिर्देवानां प्रियैः। यच्च कैश्चिद 'ऽनेन जीवेनेत्येतदनुप्रविश्येत्यनेन सम्बध्यत आनन्तर्य्यान्न व्याकरवाणीत्यनेने'ति श्रुत्यक्षराणि योजितानि तदप्यपेशलं, तदानीं तन्मते जीवस्याभावात्। अन्यथाऽद्वैतसिद्धान्तभङ्गात्। किञ्च क्त्वाप्रत्ययेन समानकर्तृकत्वप्रतीतिबाधप्रसंगाच्च। यत्तु चारेण परसैन्यं प्रविश्येत्यादिव्याख्यानं तन्महत्क्षुद्रं, दृष्टान्तवैषम्योक्त्या पूर्वमेव निरस्तत्वात्। अत्यन्तभेदपरत्वे ब्रह्मणो जगदुपादानत्वाभावप्रसङ्गात्। तथात्वे च अवैदिकतार्किकादिपक्षे प्रवेशात्। अन्यैस्तु अनेन जीवेनेत्यस्य जीवविशिष्टेनेति व्याख्यानमुक्तं तदप्यपेशलं, विशिष्टवादस्य पूर्वमेव निरस्तत्वादित्यलं विस्तरेण।।१९।।

अथ त्रिवृत्कृतानां तेजोऽबन्नानां कार्यविभागमाह —

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि इस प्रकार 'अनेन जीवेन आत्मना' द्वारा प्रतिपादित सामानाधिकरण्य की मुख्यता का भंग होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। ब्रह्म में सर्वात्मा होने से सर्वशब्द होने के कारण सामानाधिकरण्य मुख्य ही है। यहाँ जो जीव और ब्रह्म में अत्यन्त अभेद मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि सृष्टि से पहले प्रलय के समय जब जीव का नाम रूप अनभिव्यक्त रहता है, उस समय उसका जीवात्मना सद्भाव रहता है या नहीं। पहला पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि अद्वैत भंग होगा। ब्रह्म का ही जीव भाव में आपत्ति होकर प्रवेश होता है, यह सिद्धान्त भंग होगा। सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद शून्य निर्विशेष ब्रह्म ही पहले था, यह 'सदेव सौम्य' इस श्रुति का अर्थ है, इस उपक्रम वाक्यार्थ का तथा सिद्धान्त का भंग होगा। दूसरा भी नहीं कह सकते, जीव का अजत्व एवं अनादित्व भंग होगा तथा तद्बोधक शास्त्र का व्याकोप होगा एवं कृतनाश अकृताभ्यागम का भी प्रसंग होगा। दूसरी बात 'सदेव' इस श्रुति वाक्य का उक्त लक्षण निर्विशेषत्व परत्व अंगीकार करने पर 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित ईक्षण, बहुभवन संकल्पाश्रय संकल्पपूर्वक सृष्टिकर्ता के अभाव होने से सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा। दूसरी बात उक्त वाक्य में निर्विषयत्व की आपत्ति से बाध प्रसंग भी होगा, यह वैदिकाभिमानी देवानां प्रियों को नहीं दिखाई देता है। कतिपय लोगों ने 'अनेन जीवेन' यहाँ अनुप्रविश्य के साथ सम्बन्ध है, आनन्तर्य के कारण व्याकरवाणि के साथ नहीं, ऐसा श्रुति के अक्षरों का संयोजन किया है, वह भी ठीक नहीं। उस समय उनके मत

में जीव का अभाव है अन्यथा अद्वैत सिद्धान्त भंग होगा और क्त्वा प्रत्यय के साथ समान कर्तृकत्व का बाध प्रसंग होगा। अब विशिष्टाद्वैतवादियों के मत खण्डन हेतु कहते हैं 'यत्तु चारेण' यह जो कहा गया है कि चार द्वारा परसैन्य में प्रवेश करके इत्यादि यह तो अत्यन्त ही क्षुद्र व्याख्यान है। इसे तो दृष्टान्त विषम उक्ति होने से पहले ही निरस्त कर दिया गया है। अत्यन्त भेद परक होने पर ब्रह्म में जगत् के उपादानत्व के अभाव का प्रसंग होगा। ऐसा होने पर अवैदिक तार्किक आदि के पक्ष में प्रवेश होगा। कुछ लोग (विशिष्टाद्वैतवादी) 'अनेन जीवेन' इसका जीवविशिष्टेन ऐसा व्याख्यान करते हैं, वह भी सही नहीं है। विशिष्टवाद का पहले ही निरास कर दिया गया है, इसलिए अब इस पर विस्तार करना ठीक नहीं।।१९।।

अब त्रिवृत्कृत तेज, अप् तथा पृथिवी के कार्य विभाग कहते है-

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ।२ ।४ ।२० ।।

भूमेस्त्रिवृत्कृतायाः पुरुषेण भुज्यमानाया इदं भौमं मांसादि कार्यं यथाशब्दं श्रुतिरूपशब्दं निरूप्यावगन्तव्यम्। "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति मध्यमं मांसमणिष्ठं तु मन एवे" ति श्रुतेः। एवमितरयोरप्तेजसोश्च कार्यमपि बोध्यम्। मूत्रं लोहितं प्राणश्चेत्यपां कार्यं, मस्थिमज्जावाक् च तेजसः कार्यमित्यर्थः।।२०।।

ननु सर्वं भूतभौतिकवस्तुमात्रं त्रिवृत्कृतमेव, तर्हीदं भूमेः कार्यमिदमपामिदं तेजस इति भेदनिर्देशासम्भवप्रसंगो दुर्वारः सर्वेषां सर्वत्र सत्त्वादित्याशङ्कां परिहरन्नाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

त्रिवृत्कृत भूमि का पुरुष द्वारा भोग के वाद मांस आदि भूमि का कार्य श्रुति के अनुसार समझना चाहिए। जैसा कि कहा है "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति मध्यमं मांसमणिष्ठं तु मन एव" अन्न को खाने पर उसका स्थूल भाग विष्ठा होता है, मध्यम भाग मांस होता है और सूक्ष्म भाग से मन होता है (बनता है) इस प्रकार इतर जल और तेज का भी कार्य समझना चाहिए। जल के स्थूल भाग से मूत्र मध्यम भाग से रक्त तथा सूक्ष्म भाग से प्राण बनता है। तेज के स्थूल भाग से अस्थि, मध्य से मज्जा सूक्ष्म भाग से वाक् बनता है।।२०।।

यदि कहें कि सब भूत भौतिक पदार्थ जब त्रिवृत्कृत ही है, तब यह भूमि का कार्य है, यह जल का, यह तेज का यह भेद निर्देश असंभव है क्योंकि सब में सब है। इस आशंका का परिहार करते हुए कहते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२ ।४ ।२१ ।।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थकः। विशेषस्य भावो वैशेष्यं भागभूयस्त्वमिति यावत्। तस्य

पृथिव्यादौ दर्शनात्तद्वादः। स तेजोऽबन्नविशेषवादो भौतिकवस्तुविशेषवादश्च सूपपन्न इत्यर्थः। द्विरुक्तिरध्याय- परिसमाप्त्यर्थाः।।२१।। इति संज्ञामूर्त्तिक्लृप्त्यधिकरणम्।।८।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारूण-पद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीद्द्श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन संगृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्याय-चतुर्थपादविवरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द शङ्का निरासार्थक है। विशेष के भाव को वैशेष्य कहते हैं अर्थात् भाग का आधिक्य उसका पृथिवी आदि में दर्शन होने से उक्त कथन है। वह तेज, जल तथा अन्न (पृथिवी) इत्यादि शब्दों का व्यवहार तथा भौतिक वस्तु विशेष वाद भी उपपन्न होता है। यहाँ द्विर्वचन अध्याय समाप्ति सूचनार्थ कहा गया है।।२१।।

इस प्रकार संज्ञामूर्त्तिक्लृप्ति अधिकरण पूरा हुआ।।८।।

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैतपण्डितम्।
द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

इस प्रकार मिथिला महीमण्डलान्तर्गत धोधरडीहा ग्राम निवासि पं. श्रीवैद्यनाथ झा कृत वेदान्त कौस्तुभप्रभा द्वितीय अध्याय में चतुर्थपाद का हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

विषय-सूची

अथ तृतीयोऽध्यायः
प्रथमः पादः

साधनोपाययुक्तानां भक्तानां पुरुषोत्तमः।
ददाति वाञ्छितं सर्वं वर्ण्यन्ते तान्यतस्त्विह।।

इत्थं द्वितीयेऽध्याये श्रुतिविरुद्धस्मृतीनां तर्काणां च भ्रममूलत्वं प्रदर्श्य, श्रुतीनामितरेतरविरोधाभासं निराकृत्य, समन्वयाविरोधो निर्णीतस्तेन च श्रीपुरुषोत्तमस्यैव परब्रह्मणो मुमुक्षुध्येयस्य निखिलजगदेककारणत्वं वेदान्ताः प्रतिपादयन्तीति स्थापितम, थेदानीमस्मिंस्तृतीयाऽध्याये तत्प्राप्त्युपायभूतसाधनानि निरूप्यन्ते। तानि च कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्यादिरूपाणि श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपादैर्विस्तरेण भाषितानीत्यत्रोपरम्यते। इयं तावच्छ्रेयःसाधनप्रक्रिया। आदौ जन्मसमये पुंसि भगवतः श्रीमुकुन्दस्य कृपाकटाक्षो मुमुक्षोत्पादना– साधारणहेतुभूतः। ततः सात्विकं मुमुक्षार्हं जन्म, मुमुक्षायां सत्यां तत्साधने स्वाधिकारानुरूपं यतते। तत्रादौ यथाधिकारभगवदर्पितनिष्कामकर्मयोगस्तेन भगवदीयानुग्रहसहकृतेन संस्कृतमनस्कस्य मुमुक्षोर्वैराग्यादिपूर्वकजिज्ञासया श्रवणादिलक्षणया तत्स्वरूपादिविषयकपरोक्षज्ञानं, ततो ध्यानपरिपाकजन्या पराभक्तिपर्यायरूपा ध्रुवा स्मृतिस्तया च तदनुग्रहेण तत्साक्षात्कारस्ततो मोक्ष इति। तत्र मुमुक्षोपायश्च प्राप्यवस्त्वतिरिक्तवैतृष्णं प्राप्यतृष्णा चेति। तत्सिद्धये प्रथमद्वितीयपादयोरारम्भः। तत्र प्रथमे पादे पञ्चाऽग्निविद्यामाश्रित्य संसारि जीवस्य लोकगत्यागतिरूपदोषाः प्रदर्श्यन्ते। "वैराग्यार्थं तस्माज्जुगुप्सेते" ति श्रुतेः। तत्रायं जीवो देहाद्देहान्तरं गच्छन् देहबीजभूतैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्तो गच्छति उतापरिवृतः? इति संशय, ऽसम्परिष्वक्त इति पूर्वः पक्षः "स्वर्गे नरके वा यत्र फलमनुभूयते तत्रैव भूतानि लभ्यन्ते" इति साङ्ख्यसिद्धान्तादिति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—

(हिन्दी–अनुवाद)

साधनाध्याय

वंशीवटे हरेर्धाम्नि युग्ममन्त्रप्रदायकम्।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

भगवत् प्राप्ति के साधन के उपायों से युक्त भक्तों को भगवान् पुरुषोत्तम समस्त इच्छित वरदान प्रदान करते हैं। उन सब साधनों का इस अध्याय में वर्णन करते हैं–

द्वितीय अध्याय में श्रुति से विरुद्ध स्मृतियों तथा तर्कों का भ्रममूलत्व प्रदर्शित करके, श्रुतियों में परस्पर प्रतीयमान विरोधाभास का खण्डन करके, समन्वय का अविरोध निर्णीत किया और उसके द्वारा मुमुक्षुध्येय परब्रह्म पुरुषोत्तम को ही सम्पूर्ण वेदान्त, समग्र जगत् का एकमात्र कारण प्रतिपादित करते हैं, इसकी स्थापना की। अब इस तृतीय अध्याय में उस

परमात्मा की प्राप्ति के साधन का निरूपण करते हैं। वे साधन हैं– कर्म, ज्ञान, भक्ति एवं प्रपत्ति आदि। इन सबका श्रीपुरुषोत्तमाचार्यपाद ने विस्तार से वर्णन किया है–[1] इसलिए उस सम्बन्ध में यहाँ उपराम करते हैं। श्रेयप्राप्ति की साधना की प्रक्रिया इस प्रकार है। सर्वप्रथम जन्मसमय में जिस पुरुष के ऊपर भगवान् मुकुन्द के कृपाकटाक्ष का पात होता है, उसी के हृदय में मुमुक्षा होती है, वह मुमुक्षोत्पादन का असाधारण हेतु है। भगवत् कृपाकटाक्ष के अनन्तर सात्विकता होती है। तभी व्यक्ति में मुमुक्षा होती है, मुमुक्षा होने पर उसकी साधना में अपने अधिकार के अनुरूप मनुष्य प्रयत्न करता है। इसमें पहले अधिकार के अनुरूप भगवान् में समर्पण भाव से निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान होता है। तब उस भगवदीय अनुग्रह सहकृत निष्काम कर्म से मन संस्कृत होता है। मन पवित्र होने पर मुमुक्षु के हृदय में वैराग्य आदि पूर्वक जिज्ञासा उत्पन्न होती है। फिर वेदान्त वाक्यों के श्रवण, मनन निदिध्यासन आदि के द्वारा भगवत् स्वरूप आदि विषयक परोक्ष ज्ञान होता है। तदनन्तर ध्यान के परिपाक से पराभक्ति पर्यायस्वरूप ध्रुवास्मृति प्राप्त होती है। उस ध्रुवा स्मृति से भगवत्कृपा से भगवत् साक्षात्कार होता है, तब मोक्ष होता है। इस मुमुक्षा का उपाय है, भगवत् स्वरूप के अतिरिक्त अन्यवस्तु में वैतृष्ण्य विराग तथा भगवत्स्वरूप में अनुराग। इन दोनों उपायों द्वारा जगत् से वैराग्य एवं प्रभु में अनुराग की सिद्धि के लिए प्रथम एवं द्वितीय पाद का आरम्भ है। उसमें प्रथम पाद में पञ्चाग्नि विद्या का आश्रय करके संसारी जीव का संसार में गमनागमन रूप दोष का प्रदर्शन करते हैं। "वैराग्यार्थं तस्माज्जुगुप्सेत" संसार से वैराग्य के लिए उससे जुगुप्सा (घृणा) करे, ऐसा श्रुतिवचन है। यह जीव एक देह से दूसरे देह में जाते समय देह के बीज भूत सूक्ष्म भूत से परिवेष्टित होकर जाता है अथवा उससे बिना परिवेष्टित हुए। ऐसा संशय होने पर बिना परिवेष्टित ही जाता है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है। स्वर्ग या नरक जहाँ भी जीव जाता है, वहीं उसे फल भोग के लिए शरीर प्राप्त होता है। ऐसा सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१।।

तदन्तरप्रतिपत्तौ देहाद्देहान्तरप्रवेशे देहवीजैर्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्तः परिवेष्टितो जीवो रंहति गच्छति। कुतः? प्रश्नेति। प्रश्नस्तावत् छान्दोग्ये पञ्चाऽग्निविद्यायां श्वेतकेतुं प्रति पाञ्चालः प्रवाहणः कर्मिणां गन्तव्यदेशादिप्रश्नान् कृत्वेदमपि पृष्टवान्। "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति (छा० ५/३/३) निरूपणं नाम प्रतिवचनं तत् द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषिद्रूपेषु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाऽऽहुतीर्दर्शयित्वेति तु "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ती"ति। अतः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देहबीजभूतभूतसूक्ष्मैः सहैव तत्र तत्र गच्छतीत्यवगम्यते।।१।।

नन्वा"पः पुरुषवचस" इत्युक्ते केवलाभिरद्भिर्वेष्टनं श्रुतं, तत्कथं सर्वैर्भूतसूक्ष्मैर्वेष्टनमित्यत्राह—

१. वेदान्तरत्न मञ्जूषा ग्रन्थ में (स)

(हिन्दी-अनुवाद)

एक देह से दूसरे देह में प्रवेश के समय देह के बीजभूत सूक्ष्मभूतों (सूक्ष्म शरीर) से परिवेष्टित होकर ही जीव जाता है क्योंकि "प्रश्न निरूपणाभ्याम्" प्रश्न हैं छान्दोग्य उपनिषद् में पञ्चाग्नि विद्या में श्वेतकेतु के प्रति पाञ्चाल राजा प्रवाहण का। प्रवाहण ने कर्मकाण्ड में आसक्त जीवों के गन्तव्य देश आदि प्रश्नों को करके यह भी पूछा "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (क्या तुम जानते हो जिस प्रकार पाँचवी आहुति में आप पुरुष रूप हो जाता है?) निरूपण का अर्थ- उत्तर है, द्युलोक, मेघ, पृथिवी, पुरुष तथा स्त्रीरूप पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा वीर्यरूप पाँच आहुतियों को दिखाकर कहा कि "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (अर्थात् पाँचवी आहुति में जल पुरुषसंज्ञक होता है।) इस प्रकार प्रश्न एवं प्रतिवचन द्वारा देह बीजभूत सूक्ष्मभूतों के साथ ही नवीन देह में जाता है, ऐसा ज्ञात होता है।।१।।

यदि कहें कि "आपः पुरुषवचसः" ऐसा कहने से तो केवल जल से ही वेष्टन कहा गया है। फिर यह कैसे कहा जायेगा कि सभी भूतसूक्ष्मों से वेष्टित होता है। इस पर कहते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२।।

चोद्यनिवृत्त्यर्थस्तु शब्दः। त्रिवृत्करणेनापां त्र्यात्मकत्वादन्नतेजसोरपि परिग्रहः। भूयस्त्वाद्बाहुल्यात्पञ्चम्यामाहुतावाप इत्युक्तं बाहुल्यदर्शनात्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ तु शब्द चोद्य पदार्थ की निवृत्ति के लिए है। त्रिवृत्करण होने से जल के त्र्यात्मक होने के कारण पृथिवी और तेज का परिग्रह है। तेज का कार्य है, अशित, (भुक्त) पीत आहार का परिपाक। जल का कार्य है, स्नेह, स्वेद आदि तथा पृथिवी का कार्य है गन्ध आदि। देह का आरम्भ केवल जल से नहीं होता। देह में स्नेह, गन्ध आदि कार्यों के दर्शन होने तथा पृथिवी, जल, तेज का त्रिवृत्करण होने से देह त्र्यात्मक होता है। जल का भाग अधिक होने से पाँचवी आहुति में आप शब्द का प्रयोग हुआ है। शुक्र और शोणित में जल का बाहुल्य देखा जाता है।।२।।

प्राणगतेश्च ।३।१।३।।

इतश्च भूतसूक्ष्माणां गमनमित्यवगम्यते। प्राणानामिन्द्रियाणां जीवेन सह गमनश्रुतेः "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ती"ति (बृ० ४/४) "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयादि" ति स्मरणाच्च (गी० १५/७) निराश्रयाणां च तेषां गतिरनुपपन्नाऽतस्तदाश्रयभूतभूतसूक्ष्माणामपि गतिरनुमन्तव्या।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीव की गति में इन्द्रियों का गमन श्रुतिसिद्ध है। यही बात कहते हैं 'इतश्च' इत्यादि ग्रन्थ से। इस कारण भी सूक्ष्म भूतों का गमन होता है, ऐसा जाना जाता है। प्राणों तथा इन्द्रियों का जीव के साथ गमन वेद में सुना जाता है। "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति", (बृ० ४/४) जीवात्मा के शरीर से उत्क्रमण करने पर प्राण भी उसके पीछे उत्क्रमण करता है और प्राण वायु के उत्क्रमण पर समस्त प्राण उत्क्रमण करते हैं। गीता में भी कहा है "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति। शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्" जीव जब एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तब मन सहित छवों इन्द्रियों को साथ में लेकर जाता है, ऐसा स्मृति वचन है (गी० १५/७)। निराश्रय इन्द्रियों का गमन अनुपपन्न है, इसलिए इन्द्रियों के आश्रयभूत भूतसूक्ष्मों की गति माननी पड़ेगी। एतावता जीव जब एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तब समस्त इन्द्रियों सहित सूक्ष्म शरीर के साथ जाता है।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्नाक्तत्वात् ।३।१।४।।

"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यमि" (बृ० ५/४/२) त्येवं वाक्प्राणादीनामग्न्यादिगतिश्रुतेर्न जीवेन सह प्राणानां गमनमिति चेन्न भाक्तत्वात्। भज्यते मुख्या वृत्तिर्यया गौण्या वृत्त्या सा भक्तिः, तत्र भवं भाक्तम्। वागादीनामग्न्यादिगमन-श्रवणमौपचारिकम्, मग्न्यादीनामधिष्ठातृत्वनिवृत्त्यर्थम्, लोमकेशयोर्गत्यदर्शनात्। "औषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" इति।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

श्रुति द्वारा मरण काल में प्राणों की अग्नि आदि में गति का वर्णन है। जीव के साथ गमन नहीं ऐसी आशंका करते हैं। "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्" (बृ० ५/४/२) अर्थात् जब मनुष्य मरता है, तब उसकी वाणी अग्नि में, प्राण वायु में तथा चक्षु आदित्य में चली जाती है। इस प्रकार वाक् तथा प्राण आदि का जीव के साथ गमन नहीं, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं 'भाक्तत्वात्' जहाँ गौणीवृत्ति से मुख्यवृत्ति का भङ्ग (बाध) हो जाता है, उसे भक्ति कहते हैं, उसमें होने वाले को भाक्त कहते हैं। वाक् आदि का अग्नि आदि में गमन कथन भाक्त है, औपचारिक है, गौण है। अग्नि आदि में अधिष्ठान निवृत्त्यर्थ है। इसी श्रुति में इसी प्रसङ्ग में "औषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा" लोम औषधियों में तथा केश वनस्पतियों में चले जाते हैं। यहाँ लोम केश का औषध एवं वनस्पति में गमन प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इसलिए उसे भाक्त (गौण) मानना ही पड़ेगा। तन्मध्यपतित न्याय से अग्नि आदि में गमन भी श्रुति विरोध के कारण भाक्त ही मानना होगा। अतः ये अग्नि आदि श्रुति अधिष्ठातृत्व निवृत्त्यर्थ है।।४।।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः।३।१।५।।

प्रथमेऽग्नौ द्युलोकाख्ये "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वती"ति (छा० ५/४/२) प्रत्ययविशेषरूपायाः श्रद्धायाः श्रवणादपामश्रवणात्कथं पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेन्नैष दोषः। हि यतस्ता एवापः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते याः प्रश्ने उपन्यस्ताः। कुतः? 'उपपत्तेरु'पक्रमोपसंहार- योरेवमुपपत्तेरन्यथा प्रश्नप्रतिवचनयोरेकवाक्यता न स्यात्। सादृश्यप्रयोगोपपत्तेश्च "श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजत" इति प्रयोगदर्शनात्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

भूतान्तर संसृष्ट आप (जल) से परिवेष्टित जीव जाता है। यह विषय इन प्रश्न एवं प्रतिवचन द्वारा माना जाता है। यह उपपन्न नहीं होता। क्योंकि द्युलोक रूपी अग्नि प्रथम होने से उस प्रथम अग्नि में देवतागण श्रद्धा का हवन करते हैं। इस श्रुति में हवनीय रूप से श्रद्धा का विधान है, न कि जल का। यह अनुपपन्न है, जैसे पशु आदि के अवयव हृदय आदि का हवन किया जाता है वैसे प्रत्यय स्वस्वरूप श्रद्धा का हवन नहीं किया जा सकता। इस आशंका पर सूत्र के भाग की व्याख्या (विचार) करते हैं। 'प्रथमेऽश्रवणादिति' द्युलोक रूप प्रथम अग्नि में "तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति" (छा० ५/४/२) प्रत्यय विशेषरूप से श्रद्धा का श्रवण है, जल का श्रवण नहीं है, फिर पाँचवी आहुति में जल पुरुष भाव को प्राप्त होता है, यह कथन कैसे सङ्गत हो सकता है? यदि प्रथम आहुति से लेकर सभी आहुतियाँ जल की होती, तो यह कथन सङ्गत होता कि पाँचवी आहुति में जल (वीर्य) पुरुष भाव को प्राप्त होता है? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वही जल यहाँ श्रद्धा शब्द से कहा गया है। गौणी वृत्ति (अप्रसिद्धा शक्ति) से आप में यहाँ श्रद्धा शब्द का प्रयोग हुआ है जो प्रश्न में कहा गया है क्योंकि उपक्रम तथा उपसंहार से ऐसा ही सिद्ध होता है अन्यथा प्रश्न प्रतिवचन में एक वाक्यता नहीं होगी सादृश्य प्रयोग की उपपत्ति होगी। श्रुति में प्रयोग है "श्रद्धा वा आपः श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजत" अथवा श्रद्धा ही आप हैं। श्रद्धा को लेकर ही यज्ञ के द्वारा यजन करते हैं।।५।।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः।३।१।६।।

ननु प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषभावं प्रतिपद्यन्त इति श्रूयते, नतु तत्सम्परिष्वक्तो जीवः श्रूयते। अतस्तत्परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति वक्तुमशक्यमिति चेन्न। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः। तस्मिन्नेव वाक्ये ह्युत्तरत्रा "य य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ती" (छा० ५/९/३) त्युपक्रम्य धूमादिना पितृयानेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति। "आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजेति त इह प्रतीयन्ते तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सामो राजा सम्भवती" ति भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितं जीवं द्युलोके फलभोगाय देवाः प्राणाः प्रक्षिपन्ति। सोऽयं प्रक्षेपो होम इहाभिप्रेतः।।६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि प्रश्न एवं प्रतिवचन द्वारा आप, श्रद्धा आदि के क्रम से पाँचवी आहुति में पुरुषभाव को प्राप्त करता है ऐसा सुना जाता है। न कि उससे सम्परिष्वक्त जाता है ऐसा सुना जाता है। इसलिए उससे परिवेष्टित जीव जाता है, ऐसा नहीं कह सकते, तो कहते हैं ऐसा नहीं कह सकते, कारण वहाँ इष्ट आदि शुभ अशुभ कर्म करने वालों की प्रतीति है। उसी वाक्य में आगे "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" (छा० ५/९/३) ऐसा उपक्रम करके धूम आदि पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति कहते हैं। "आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा सम्भवति" इस श्रुति द्वारा सूक्ष्मभूत से परिवेष्टित जीव को द्युलोक में फलभोग के लिए देवता प्राण का प्रक्षेप करते हैं। वह प्रक्षेप यहाँ होम अभिप्रेत है।।६।।

यदि कहें कि उक्त श्रुति में जीवात्मा उन तत्त्वों (सूक्ष्म भूतों) को लेकर जाता है, ऐसी बात नहीं कही गई है, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उसी प्रकरण में आगे चलकर कहा है कि 'तद य इह रमणीय' जो अच्छे आचरणों वाले लोग होते हैं, वे उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं ("तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" और नीच कर्म करने वाले होते हैं। वे नीच योनि को जाते हैं। इस वर्णन से अच्छे बुरे कर्म करने वाले जीवात्मा का उन तत्त्वों के साथ एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होना सिद्ध होता है। इसलिए कोई विरोध नहीं है।

ननु "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती" ति (छा० ५/१०/५) चन्द्रकिरणारब्धदेहानां कथमन्नभाव इत्याशङ्क्याह——

यदि कहें कि वह देवताओं का अन्न है, उसको देवता भक्षण करते। यहाँ चन्द्रकिरण से आरब्ध शरीरों का अन्नभाव कैसे सम्भव है। ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं——

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति।३।१।७।।

वेति चोद्यव्यावृत्त्यर्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं, न मुख्यम्। "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ती"ति (छा० ३/६/१) चर्वणनिषेधात्। "यथा राज्ञां विशोऽन्नं विशामन्नं पशव" इति। अनात्मवित्त्वाच्च ह्येषां केवलकर्मिणां गुणभावो देवान्प्रति। तथाहि दर्शयति श्रुतिस्तेषां देवोपभोग्यत्व, "मथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मी" ति "न स वेद यथा पशुः पशुरेव स देवानामि" ति (बृ० ३/४/१०)। स्मृतिरप्यनात्मविदां देवोपभोग्यत्वमात्मविदां च ब्रह्मप्राप्तिं दर्शयति। "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ताः यान्ति मामपी" ति (गी० ७/३)। तस्माद्भूतसूक्ष्मैः सम्परिष्वक्त एव जीवो गच्छतीति युक्तमुक्तम्।।७।। इति तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरणम्।।१।।

एवमविदुषामारोहणप्रकारो निरूपितः। अथेदानीमवरोहणं तत्प्रकारं चाह—

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि "तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ती" वह स्वर्ग में जाने वाला पुरुष देवताओं का अन्न है। देवता लोग उसका भक्षण करते हैं। इस श्रुति के अनुसार तो स्वर्ग में जाने वाले पुरुष को देवताओं का अन्न कहा गया है, फिर यज्ञ आदि शुभ कर्म करने वालों द्वारा स्वर्ग का भोग भोगना कैसे संभव हो सकता है। ऐसी आशंका करके कहते हैं, भाक्तं वा इत्यादि यहाँ 'वा' शब्द चोद्य की व्यावृत्ति के लिए है। इनमें अन्नत्व कथन भाक्त है, गौण है, मुख्य नहीं है। "न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति। एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" (६/०३/६) देवता लोग न खाते हैं, न पीते हैं, इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। इस श्रुति द्वारा देवताओं द्वारा चवर्ण का निषेध है। "यथा राज्ञां विशोऽन्नं विशामन्नं पशवः" इस कथन का भाव यह है कि राजा के नौकरों की भाँति वह देवताओं का भोग्य यानी सेवक होता हैं। जो परमेश्वर को न जानकर दूसरे देवताओं की उपासना करता है, वह जैसे यहाँ लोगों के घरों में पशु होते हैं, वैसे ही वह देवताओं का पशु होता है। पाँचवी आहुति (स्त्री की योनि में वीर्य की आहुति) के बाद आत्मा पुरुषभाव, नर भाव को प्राप्त होता है। जब तक आयु रहती है यहाँ का भोग कर देहान्तर प्राप्त करता है। पुनः भोग भोगने के लिए स्वर्गादि लोकों में जाता है। वहाँ का भोग भोगकर पुनः आता है। यह आना–जाना तब तक लगा रहता है, जब तक भक्ति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती। आत्मज्ञानी नहीं होने के कारण इन केवल कर्मकाण्डियों का देवताओं के प्रति गुणभाव होता है। इस विषय में श्रुति उन कर्मियों में देवभोग्यत्व बताती है "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मि" जो अन्य देवता की उपासना करता है वह अन्य है, मैं अन्य हूँ। "न स वेद यथा पशुः पशुरेव स देवानाम्" वह नहीं जानता है, वह पशु के समान है, वह देवताओं के लिए पशु ही है। स्मृति भी आत्मज्ञानविहीन जनों में देव भोग्यत्व तथा आत्मवेत्ता को ब्रह्म की प्राप्ति बताती है "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ताः यान्ति मामपि" (गी० ७/३) इसलिए भूतसूक्ष्मों के साथ ही जीव जाता है, यह कथन सही है।।७।।

इस प्रकार तदनन्तर प्रतिपत्ति अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

(आत्मज्ञानहीन जनों को परलोक में भृत्यत्व आदि प्रयुक्त दुःख की तरह, उस लोक (स्वर्गादि) के भोग के क्षयी होने के भी कारण दुःख है, यह कहते हैं। ऐसे लोगों को देह सम्बन्ध की तरह देहहेतुक कर्म सम्बन्ध भी अनिवार्य होता है। यज्ञ यागादि कर्मकाण्डों में रत रहने वाले मनुष्य परलोक में कर्मफल भोगने के बाद पुनः संसार में जन्म लेते हैं। इस प्रकार उनकी पुनरावृत्ति की बात श्रुति में कहीं गई है। "यावत् सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तते" जबतक पुण्य है, तबतक वहाँ भोग भोगने के बाद इसी मार्ग से लौटता है। ऐसा अवरोह कहा गया है। उसी का प्रकार निरूपण करने के लिए कहते हैं– [1]अथेति) अब अवरोहण का प्रकार कहते हैं—

१. श्री अमोलक राम जी शास्त्री की टीका। (सं)

कृताऽत्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवञ्च ।३।१।८।।

इष्टादिकारिणां धूमादिवर्त्मना चन्द्रमण्डलमारुह्य तत्र भुक्तभोगानां 'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्त' (छा० ५/१०/४) इत्यादिनाऽवरोहः श्रूयते। स किं निरनुशयानां तेषां भवत्युत सानुशयानामिति? विशये निरनुशयानामिति पूर्वः पक्षः। यावत्सम्पातमित्युक्तेः। सम्पतन्त्यनेनेति सम्पातं कर्म यावत्तदस्ति तद्भुक्त्वेत्यर्थः। "प्राप्याऽन्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मण" इति श्रवणादित्येवं प्राप्तेऽभिधीयते। कृतस्य यागादेरत्यये भोगेन क्षये सति अनुशयवान् कर्तारमनुशेते फलोपभोगाय यः सोऽनुशयो भुक्तशिष्टं कर्म, तद्वानवरोहति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्याम्। श्रुतिस्तावत् "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे" ति (छा० ५/९/७) चरणशब्द आचरणीयकर्मपरः। कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणः। स्मृतिरपि "वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्त" इति सानुशयानामवरोहं दर्शयति। स्वर्गप्राप्तिहेतुभूतज्योतिष्टोमादिकर्मभ्यः कर्मान्तरमनुशयपदवाच्यं, शेषशब्दश्चोपयुक्तात्कर्मणः कर्मान्तराभिप्रायो। नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणः कश्चित् शेषः शक्यते कल्पयितुम्। श्रुतिप्रमाणत्वादस्यार्थस्य नानुमानमत्र क्रमते। तस्माद्यावत्सम्पातमिति यत्किञ्चेह करोत्ययमिति चैवं द्रष्टव्यं यावदामुष्मिकफलं कर्म तत्सर्वं तत्रैव क्षपयित्वाऽवशिष्टेनैहिक फलेन जपहोमादिनाऽवरोहतीति। यथा कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणैः राजकुलं प्रविष्टश्चिरावस्थानादुपक्षीणबहूपकरणः छत्रपादुकादिमात्रपरिच्छदः स्थातुमशक्नुवन्निवर्तत इत्येवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डले स्थातुं शक्नोतीति। यथेतमनेवं च आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्तत इत्यर्थः। पितृयाने धूमाकाशयोर्निर्दिशेनावरोह-श्रवणादारोहरणानुसारोऽवरोहः, तद्विरुद्धवाय्वादिश्रवणाच्चान्यथापीति।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यज्ञ यागादि सकाम कर्म करने वाले धूम मार्ग (पितृयान) से चन्द्रमण्डल में आरोहण करके, वहाँ भोग भोगने के बाद 'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते' (छा० ५/१०/४) इस श्रुति द्वारा अवरोह बताया गया है। वह अवरोह कर्मशेषरहित आत्माओं का होता है या कर्म शेषयुक्त जनों का? ऐसा संदेह होने पर कर्मशेषरहित जनों का होता है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है। कारण 'यावत् सम्पातम्' कहा है अर्थात् जब तक पुण्य है तब तक भोग भोगकर लौटता है। 'सम्पतति अनेन' जिसके द्वारा पतन होता है, वह सम्पात है कर्म। जब तक कर्म है, तब तक भोग भोगकर लौटता है। अन्यत्र भी कहा गया है "प्राप्याऽन्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे" अर्थात् कर्म के अन्त होने पर परलोक से आता है (लौटता है) ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, कृत याग आदि के भोग के द्वारा क्षय होने पर 'कर्तारमनुशेते फलोपभोगाय यः सोऽनुशयः' फलोपभोग के लिए जो कर्ता में निवास करता है उसे अनुशय कहते हैं अर्थात् भुक्त कर्म का शेष, उसके सहित जीव का

अवरोह होता है क्योंकि 'दृष्टस्मृतिभ्याम्' ऐसा श्रुति एवं स्मृति का वचन है। श्रुतिवचन है– "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा" जो पुण्य आचरण वाले प्राणी होते हैं, वे रमणीय योनि, उत्तम योनि, ब्राह्मणयोनि या क्षत्रिययोनि किम्वा वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं, "अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वे" ति, (छा० ५/१०/७) पापाचरण वाले निश्चित ही शूकर, कूकर योनि अथवा चाण्डालयोनि को प्राप्त होते हैं। यहाँ चरण शब्द आचरणीय कर्मपरक है। कुत्सित आचरण वालों को कपूय चरण कहते हैं। स्मृति भी कहती है "वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुख– मेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते" वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाले प्राणी मरने के बाद कर्मफल का अनुभव करके तदनन्तर भोग से बचे अवशेष कर्म द्वारा विशिष्ट देश, जाति, कुल, रूप, आयु, विद्या, आचार, धन तथा मेधा से युक्त होकर जन्म ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अनुशययुक्त जनों का ही अवरोह बताती है। स्वर्गप्राप्ति के कारण ज्योतिष्टोम आदि कर्मों से अन्य कर्म अनुशय पद वाच्य कहलाता है। शेष शब्द उपयुक्त कर्म से अन्य कर्म का सूचक है। स्वर्ग के लिए किये गये कर्म का कोई भी शेष–भाग नहीं बचता। यह बात श्रुति प्रमाण से सिद्ध है, इसमें अनुमान कुछ नहीं कर सकता। इसलिए 'यावत् सम्पातम्' का अर्थ है 'यत्किञ्चेह करोत्ययमिति' अर्थात् इसलोक में जो भी आमुष्मिक फलार्थ कृतकर्म होता है, उन सबका वही फल भोग करके अवशिष्ट इस लोक में भोगप्रदायक जप होम आदि कर्म के साथ अवरोहण करता है। जैसे कोई राजसेवक समस्त सेवोपकरणों के साथ राजकुल में प्रविष्ट होता है। वहाँ चिरकाल तक निवास करने के कारण उनके सेवा के उपकरणों के क्षीण होने पर, केवल छत्र पादुका मात्र उपकरण बच रहने के कारण, वहाँ निवास करने में असमर्थ होकर उन अवशिष्ट उपकरणों सहित लौट जाता है। उसी तरह अनुशय मात्र को लेकर चन्द्र मण्डल में नहीं रह सकता। इसलिए जिस प्रकार (जिस मार्ग से) गया था, उसी क्रम से (आरोहण क्रम से) अथवा प्रकारान्तर से पुनः लौट जाता है। पितृयान में धूम एवं आकाश का निर्देशानुसार अवरोह श्रवण होने से आरोहण के अनुसार अवरोह होता है। इसके विपरीत वायु आदि मार्ग का भी श्रवण होने से अन्य मार्ग से भी अवरोह होता है।।८।।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः।३।१।९।।

ननु "रमणीयचरणाः कपूयचरणा" इत्यत्र चरणमाचारः शीलं वृत्तमिति नार्यान्तरम्। "अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधा" इति स्मृतेः। ततश्च न चरणशब्देन पुण्यापुण्यरूपं कर्मोच्यते। वेदेऽपि चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते। "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणी"ति (तै०शि०/११/२)। अतश्च न कर्मणाऽवरोहो वर्ण्यते, किन्तु चरणाच्छीलाद्यो निर्विशेषप्राप्तिरिति चेत्। तन्न, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते स्म। सुखदुःखे हि पुण्यापुण्यरूपकर्मफले। न हि केवलादाचारात्तयोः प्राप्तिः सम्भवति।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि "रमणीयचरणाः कपूयचरणा" शब्द में चरण शब्द आचरणपरक है तथा आचरण, शील तथा वृत्त समान पर्यायवाची है। "अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधा" ऐसा श्रुतिवचन है। इस प्रकार चरण शब्द से पुण्य पाप रूप कर्म नहीं लिया जाता है। जैसे "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणी"ति (तै०शि०/११/२)। इसलिए कर्म द्वारा अवरोह का वर्णन नहीं किया जाता किन्तु चरण द्वारा अर्थात् शील विशेष से योनिविशेष की प्राप्ति होती है, तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण चरणश्रुति कर्म का उपलक्षण है। ऐसा कार्ष्णाजिन आचार्य मानते हैं। सुख-दुःख, पुण्य एवं पाप रूप कर्म के फल हैं, केवल आचार से उन दोनों की प्राप्ति संभव नहीं है।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।३ ।१ ।१० ।।

आचारस्यानर्थक्यमेवं सति स्यादिति चेन्न। तदपेक्षत्वात्सुखसाधनपुण्यकर्माधिकार-स्याचारपूर्वकत्वात्। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इत्यादिस्मृतेः।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि इस प्रकार तो आचार का आनर्थक्य हो जायेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सुख साधन पुण्यादि कर्मों के अधिकार प्राप्ति के लिए आचार की आवश्यकता होती है जैसा कि शास्त्र का वचन है "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः। सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इत्यादि। अर्थात् जो सन्ध्यावन्दन कर्म से हीन है, वह अपवित्र है इसलिए ऐसा व्यक्ति किसी शुभ कर्म का अधिकारी नहीं होता।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ।३ ।१ ।११ ।।

सुकृतदुष्कृत एव चरणशब्देनोच्येते। चर्यत इति चरणं कर्म, नहि लोकवेदयोश्चरण-शब्दः शीले प्रसिद्धः। तुशब्द उपलक्षणार्थनिवृत्त्यर्थो, नहि मुख्ये सम्भवति लक्षणाऽऽश्रयणीया। कर्मचरणयोर्भेदव्यपदेशस्तु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनेति वादरिराचार्यो मेने।।११।। इति कृतात्ययाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

सुकृत दुष्कृत रूप कर्म ही चरण शब्द से कहा जाता है। 'चर्यते इति चरणम्' जो किया जाता है अर्थात् कर्म। लोक एवं वेद में चरण शब्द कहीं भी शील अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है। कर्म एवं चरण में भेद व्यवहार ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से ही है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं।।११।।

इस प्रकार कृतात्यय अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३ ।१ ।१२ ।।

जीवस्य गतिस्त्रिधा–अर्चिरादिका, धूमादिका, यमवशगा च। तत्र विदुषां मोक्षहेतुका प्रथमा। सा च फलाध्याये वक्ष्यते। अविदुषां पुण्यकर्मणां च धूमादिकाऽत्रनिरूपिता। तदुभयविधुराणां तु नरकाद्यापत्तिश्चेदानीं निरूप्यते। तथाहि ये विहितं न कुर्वन्ति, ये च निषिद्धं कुर्वन्ति, ते उभयेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि चन्द्रमसं गच्छन्ति उत नेति संशये तेषामपि श्रुतं गमनं कौषीतक्याम्नाये "ये वै के वास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति (कौ०अ० १/२) सर्वेषामविशेषेण गतिश्रवणात् ।।१२।।

ननु सुकृतिनां दुष्कृतकर्मणां च समानफलत्वमयुक्तमित्याशङ्क्याह—

(हिन्दी–अनुवाद)

जीव की गति तीन प्रकार की होती है, अर्चिरादि गति, (देवयान) धूमयान, तथा यमवशगा। इनमें प्रथमा गति मोक्षकारी विद्वानों की होती है, वह फलाध्याय में कहेंगे। तत्त्वज्ञानविहीन पुण्यात्माओं की धूमयानगति, इन दोनों से भिन्न जीवों को नरक आदि की प्राप्ति होती है, जिसका अब निरूपण करते हैं। जो शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते तथा निषिद्ध कर्म करते हैं, ये दोनों अनिष्टादिकारी हैं, वे भी चन्द्रलोक जाते हैं या नहीं ? ऐसा संशय होने पर कहते हैं कि कौषीतकि (३०) में उनका भी चन्द्रलोक गमन कहा गया है "ये वै के वास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ती"ति (कौ०अ० १/२)। इस प्रकार सबका सामान्य रूप से चन्द्रलोक गमन कहा गया है।।१२।।

यदि कहें कि पुण्यात्मा एवं पापात्मा दोनों का समान फल प्राप्ति तो अनुचित है, इस आशङ्का पर कहते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ।३ ।१ ।१३ ।।

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। संयमने यमालये दुःखमनुभूयेतरेषामनिष्टादिकारिणां चन्द्रारोहावरोहौ। कुतस्द्गतिदर्शनात्। दर्शयति च श्रुतिस्तेषां यमवश्यताम् "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" इति। "वैवस्वतं संयमनं जनानां यम राजानमि"ति (वि०पु० ३/७/५) च।।१३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

तु शब्द शंका निरास के लिए है। अनिष्ट (पापादि) अशुभकारीजनों का यमपुरी में दुःख भोगकर चन्द्रलोक से आरोह–अवरोह होता है, क्योंकि श्रुति में चन्द्रलोक की गति कही गई है। उनकी यमलोक गति का वर्णन है– "न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढ्म्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे" धन के मोह से मोहित हुए निरन्तर प्रमाद करने वाले अज्ञानी को परलोक नहीं दीखता। वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष

दीखने वाला लोक ही सत्य है। दूसरा कोई परलोक नहीं है इस प्रकार मानने वाला मनुष्य बार-बार चंगुल में पड़ता है। (क०उ०/१/२/६)। "वैवस्वतं संयमनं जनानां यमं राजानमि"ति (वि०पु० ३/७/५) पापीजन यमराज की पुरी संयमनी पुरी को जाते हैं।।१३।।

स्मरन्ति च ।३ ।१ ।१४ ।।

स्मरन्ति च सर्वेषां यमवश्यत्वं पराशरादयः। "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किले" त्यादिषु।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पराशर आदि ऋषियों ने पापीजनों के लिए यमयातना की बात कहीं है- "सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन्किले" अर्थात् हे भगवन् सभी पापी यमयातना को प्राप्त करते हैं।।१४।।

अपि सप्त ।३ ।१ ।१५ ।।

अपिशब्दः स्मरणस्य समुच्चयार्थः। पापिनां गन्तव्यत्वेन सप्तनरकान् रौरवमहा रौरवप्रभृतीन् स्मरन्ति।।१५।।

ननु सप्तसु नरकेषु कथं यमयातनाप्राप्तिर्यतो रौरवादिषु चित्रगुप्तादीनामन्येषाम-धिष्ठातृणां स्मरणादित्यत आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ अपि शब्द स्मरण के समुच्चय के लिए है। स्मृतियों में पापियों के गन्तव्य के रूप में रौरव महारौरव आदि का वर्णन है।।१५।।

यदि कहें कि सातों नरकों में कैसे यमयातना की प्राप्ति होती है क्योंकि रौरव आदि नरकों में चित्रगुप्त आदि अन्य अधिष्ठाताओं का स्मरण है, इस पर कहते हैं-

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।३ ।१ ।१६ ।।

रौरवादिष्वपि यमव्यापारादाज्ञाकरणादविरोधः।।१६।।

इति प्राप्ते सिद्धान्तः——

(हिन्दी-अनुवाद)

रौरव आदि में भी यमराज की आज्ञा से सब कुछ होता है, इस लिए कोई विरोध नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं——

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३ ।१ ।१७ ।।

तुशब्दः पक्षनिवृत्तौ। विद्याकर्मविहीनानां देवयानपितृयानगती न स्तः, कारणाभावात्।

पञ्चाग्निविद्यायां "वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यत" (छा० ५/१०/८) इति प्रश्नस्य प्रतिवचने "ऽथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यत" इत्यनिष्टादिकारिणामनवरोहं (छा० ६/३/१) दर्शयति। पथोरिति च विद्याकमणोर्निर्दिशस्तयोः प्रकृतत्वात्। "तद्य इत्थं विदुरिति देवयानः पन्था इष्ट्यपूर्ते दत्तमि" (छा० ५/१०/३)ति पितृयानस्तयोरन्यतरेणापि ये न गच्छन्ति तानीमानि तृतीयस्थानभाञ्जिभूतानीति।।१७।।

नन्वेवं तर्हि तेषां चन्द्रगमनाभावे शरीरयोगस्यैवासम्भवः पञ्चमाहुत्यभावादित्यत आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द यहाँ पक्ष निवृत्ति के लिए है। विद्या एवं शुभ कर्म से विहीन जनों के लिए देवयान पितृयान गति नहीं है क्योंकि कारण नहीं है। पञ्चाग्नि विद्या में प्रश्न होता है "वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यते" पापी लोग चन्द्रलोक नहीं जाते क्योंकि वे विद्या एवं कर्म से विहीन होते हैं। वे जिस प्रकार विद्या एवं कर्म से विधुर होते हैं, वह कहते हैं "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" जो पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं और जो वन में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं वे अर्चिरादि (देवयान) मार्ग को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार विद्यावान् को प्रकृत में आम्नात देवयान गति नहीं होती है। इसी प्रकार "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" जो ग्राम में गृहस्थाश्रम में इष्टापूर्त दान इन साधनों की उपासना करते हैं, वे पितृयान के अधिकारी धूम को सर्वप्रथम मार्ग रूप में प्राप्त करते हैं। जो इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग में भी नहीं जाते, वे तृतीय स्थान भागी हैं इत्यादि श्रुति द्वारा वर्णित पितृयान गति भी नहीं संभव होता है। इसलिए उन्हें चन्द्रलोक की प्राप्ति भी संभव नहीं होती। इस तरह जो दोनों मार्गों से परिभ्रष्ट है, ऐसे तृतीय स्थान वालों को पाँचवी आहुति की अपेक्षा नहीं होती। पञ्चाग्नि विद्या प्रकरण में ही "वेत्त्थ यथा केनासौ लोको न सम्पूर्यते" ऐसा प्रश्न एवं प्रतिवचन है। "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्त्तीनि भूतानि भजन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यते तस्माज्जुगुप्सत ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः" सत्त्व गुण में स्थित रहकर मरने वाले लोग ऊपर के लोकों में जाते हैं। देवयान और पितृयान दोनों मार्ग इसके अन्तर्गत है। राजसी लोग बीच में इस मनुष्य लोक में जन्मते मरते रहते हैं। यह छा० उप. में बतायी गई तीसरी गति के अन्तर्गत है। निन्दनीय तमोगुण की वृत्ति में स्थित तामसी जीव नीचे के लोक में जाते हैं। इसी के अन्तर्गत तीसरी गति में यह अधम यमयातना रूप गति भी है। देवयान, पितृयान इन दोनों मार्गों में से एक भी मार्ग से क्षुद्र असकृत् आवर्ती प्राणी नहीं जाते। उन को तो जन्मों, मरो यही तृतीय स्थान है। इसलिए ब्रह्मलोक चन्द्रलोक भरता नहीं है। ऐसा श्रवण होने से जो दोनों मार्गों से भ्रष्ट हैं वे यहीं (भूलोक में) कीड़े-मकोड़े के रूप में बार-बार जन्मते एवं मरते हैं। इसी तृतीय स्थान वालों का यही परिवर्त्तन होने से उनको परलोक की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए परलोक की पूर्ति नहीं होती। इस प्रकार पुण्य कर्मों से रहितजनों का अवरोह का अभाव श्रुति बताती है। पथोः शब्द से

विद्या एवं कर्म का निर्देश है, कारण वे ही यहाँ प्रकृत हैं, जैसा कि कहा है "तद्य इत्थं विदुरिति देवयानः पन्था इष्टापूर्त्ते दत्तम्" (छा० ५/१०/३) यह पितृयान है जो इन दोनों मार्गों से नहीं जाते हैं, वे प्राणी तीसरे स्थान के भागी होते हैं।।१७।।

यदि कहें कि यदि उनका चन्द्रलोक गमन नहीं होगा, तब तो उनका शरीर योग ही असंभव हो जायगा, क्योंकि उसकी पाँचवी आहुति नहीं हुई, इस पर कहते हैं—

न तृतीये तथोपलब्धेः।३।१।१८।।

तृतीय स्थाने शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा। कुतः? तथोपलब्धेः। तथा तेनोक्तप्रकारेण 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यत' (छा० ६/३/१)[1] इति तृतीयस्थानस्य केवलपापकर्मणोद्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोकासम्पूर्तिवचनादस्य तृतीयस्थानस्य शरीरारम्भाय न पञ्चमाहुत्यपेक्षा। न चैवं पञ्चमाहुतिवाक्यबाध इति वाच्यम्। तस्य पुरुषवचस्त्वप्रतिपादनमात्रेणोपक्षीणतयाऽन्यनिवारकत्वे मानाभावादवधारणदर्शनादन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्।।१८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

तृतीय स्थान में शरीर आरम्भ के लिए पाँचवी आहुति की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ऐसी ही उपलब्धि है। उक्त प्रकार से 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनाऽसौ लोको न सम्पूर्यते' (छा० ६/३/१) देवयान, पितृयान इन दोनों मार्गों में से किसी भी मार्ग से ऊपर के लोकों में नहीं जाते, वे क्षुद्र तथा बार-बार जन्मने एवं मरने वाले प्राणी होते हैं। उत्पन्न होओ और मरो, यह मृत्युलोक ही उनका तृतीय स्थान है। इस प्रकार तृतीय स्थानीय के शरीरारम्भ के लिए पाँचवी आहुति की अपेक्षा नहीं होती। यदि कहें कि इस तरह तो पञ्चमी आहुति वाले वाक्य का विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, इस श्रुति का पुरुषवचनत्व प्रतिपादन मात्र से ही शक्ति उपक्षीण होने से उसे अन्य निवारण में मान नहीं है, यहाँ अवधारण का दर्शन है अन्यथा वाक्य भेद का प्रसंग होगा।।१८।।

स्मर्य्यतेऽपि च लोके।३।१।१९।।

अपि च लोके पुण्यकर्मणां धृष्टद्युम्नद्रौपदीप्रभृतीनां पञ्चमाहुत्यनपेक्षमयोनिजं जन्म स्मर्यते।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात पुण्यात्मा धृष्टद्युम्न द्रौपदी प्रभृति लोगों के जन्म में पाँचवी आहुति की अपेक्षा के बिना ही जन्म का वर्णन सुना जाता है।।१९।।

---

१. देवयान पथ से विद्यावान् तथा पितृयान पथ से इष्टापूर्तनिष्ठ व्यक्ति जाते हैं। उक्त उभयविध साधनहीन क्षुद्र प्राणी तृतीय स्थान भागी होता है। इसलिए पापियों की चन्द्रगति नहीं होती। उसको और जन्म-मरण परम्परा में ही रहना पड़ता है। (सं)

दर्शनाच्च ।३ ।१ ।२० ।।

इतश्च चतुर्विधो भूतग्रामो जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणस्तत्र योषित्पुरुषसम्बन्धमन्तरेण स्वेदजस्थावरयोरुत्पत्तिदर्शनान्न पञ्चमाहुत्यपेक्षा।।२०।।

ननु "त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जमि" (छा० ६/३/१) त्यत्र त्रिविधो भूतग्रामः श्रूयते, कथं तस्य चतुर्विधत्वमित्यत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

और बात चार तरह के प्राणी होते हैं- जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज। इनमें स्त्रीपुरुष के सम्बन्ध के बिना ही स्वेदज तथा स्थावर प्राणी की उत्पत्ति देखी गई है। इसलिए उसमें पञ्चमी आहुति की अपेक्षा नहीं होती।।२०।।

यदि कहें कि "त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्" (छा० ६/३/१) यहाँ तीन ही प्रकार के प्राणी कहें गये हैं, फिर वे चार प्रकार के कैसे होते हैं? इस पर कहते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३ ।१ ।२१ ।।

तृतीयेनोद्भिज्जशब्देन संशोकजस्य स्वेदजस्यावरोधोऽन्तर्भावः, स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युद-कोष्मप्रभवतुल्यत्वात्।।२१।। इत्यनिष्टादिकार्य्यधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

तृतीय उद्भिज्ज शब्द से स्वेदज का अन्तर्भाव होता है। कारण स्वदेज एवं उद्भिज्ज की भूमि और उदक एवं ऊष्मा से उत्पत्ति की तुल्यता है।।२१।।

इस प्रकार से अनिष्टादि कार्य अधिकरण पूरा हुआ।।३।।

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ।३ ।१ ।२२ ।।

इष्टादिकारिणां भूतसूक्ष्मपरिवेष्टितसानुशयानामवरोह उक्तः। अथ तत्प्रकारश्चिन्त्यते। "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षती" (छा० ५/१०/५) त्यत्र संशयः, किमाकाशादिप्रतिपत्तौ देवमनुष्यादि भाववदाकाशादिभावः? आहोस्वित्तत्सादृश्यप्राप्तिरिति? तत्राकाशादिभाव इति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु तत्स्वाभाव्यापत्तिराकाशादिसाम्यप्राप्तिरित्यर्थः। कुतः? उपपत्तेः। नह्यन्यस्यान्यभाव उपपद्यते, तत्सादृश्यं तु युज्यते।।२२।। इति तत्स्वाभाव्यापत्त्यधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इष्टादि कर्मों को करने वाले प्राणियों का भूत सूक्ष्म से परिवेष्टित होकर अनुशय सहित ही अवरोह होता है, ऐसा कहा गया है। अब इसके प्रकार का चिन्तन करते हैं "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं

भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति" (छा० ५/१०/५) जो गृहस्थ लोग ग्राम में इष्टा पूर्त और दत्त ऐसी उपासना करते है, वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को, कृष्ण पक्ष से जिन छः महीनों के लिए सूर्य दक्षिण मार्ग में जाता है उनको प्राप्त होता है। ये सम्वत्सर को नहीं प्राप्त होते। दक्षिणायन के महीनों से पितृलोक को जाते हैं। पितृलोक से आकाश, आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमा राजा लोक है। वह देवताओं का अन्न है। देवता उसका भक्षण करते हैं। वहाँ कर्मों को क्षय करके फिर उस मार्ग से लौटते हैं। वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं, आकाश से वायु को, वायु से होकर धूम को, धूम से अभ्र, अभ्र से मेघ होकर बरसता है। यहाँ संशय होता है कि क्या आकाश आदि की प्रतिपत्ति में देव मनुष्यादि भाव की तरह आकाशादि भाव होता है अथवा उसके सादृश्य की प्राप्ति होती है। यहाँ आकाशादि भाव होता है। ऐसा पूर्वपक्ष होता है। यहाँ सिद्धान्त पक्ष है आकाश आदि की साम्य प्राप्ति क्योंकि 'उपपत्तेः' अन्य पदार्थ का अन्यभाव उपपन्न नहीं होता है- अन्य सादृश्यता हो सकता है।।२२।।

इस प्रकार तत् स्वभाव की आपत्ति अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

नातिचिरेण विशेषात् ।३।१।२३।।

आकाशवायुधूमाभ्रमेघवर्षप्राप्तौ किं द्राधिष्ठं कालं सादृश्येनावस्थानमुताल्पकालमिति विशयेऽल्पकाले हेत्वभावाद्द्राधिष्ठमिति प्राप्ते ब्रूमः। नातिचिरेणाल्पेन कालेनावरोहो यावद्ब्रीह्यादिप्राप्तिरित्यर्थः। कुतः? विशेषश्रवणात्। अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरमिति एकस्तकारश्छान्दसत्वाल्लुप्तो ज्ञेयः। ब्रीह्यादिभावादुत्तरं दुःखतरं निःसरणमिति वदन्सर्वत्र पूर्वत्राचिरकालं बोधयति।।२३।। इति नातिचिराधिकरणम्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

आकाश आदि के सादृश्य को प्राप्त, इष्ट आदि करने वालों का अवरोहण के समय स्वल्पकाल तक अवस्थान होता है अथवा दीर्घकाल तक यह संशय दिखाते हैं, "आकाश"इति आकाश, वायु, धूम, अभ्र, मेघ तथा वर्षा की प्राप्ति में दीर्घकाल तक सादृश्य रूप में अवस्थान होता है या अल्पकाल तक ऐसा संशय होने पर, अल्पकाल में हेतु न होने से दीर्घकाल तक सादृश्य रूप में अवस्थान होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं- अल्पकाल में ही अवरोह होता है, ब्रीहि आदि भाव की प्राप्ति होती है क्योंकि इस विषय में विशेष श्रवण है, इसलिए ब्रीहि आदि भाव में उत्तर (आगे) निःसरण कठिन है, ऐसा कहकर पूर्व में सर्वत्र अचिरकाल का बोधन करता है। यहाँ एक तकार छान्दस होने के कारण लुप्त जानना चाहिए।।२३।।

इस प्रकार नातिचिराधिकरण पूरा हुआ।।५।।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।।

"त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्त" इति श्रूयते। तत्र ते किं

ब्रीह्यादिशरीरा जायन्ते ? उत क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितं ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रं प्रपद्येरन्निति विशयः। ब्रीह्यादिदेहभोक्तारो जायन्त इति पूर्वः पक्षः। जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेरिति प्राप्ते सिद्धान्तः। अन्याधिष्ठिते ब्रीह्यादिशरीरिजीवविशेषाधिष्ठिते ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रं प्राप्नुवन्त्यनुशायिनो, न तु ब्रीह्यादिशरीरत्वम्। कुतः ? पूर्ववदिति। आकाशादिवत्तेषामपि कथनात् तत्कर्मजन्यत्वाभावान्न स्थावरयोनित्वमित्यर्थः।।२४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"त इह ब्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते" (वे इस लोक में ब्रीहि, यव, औषधि, वनस्पति, तिल तथा माष होकर जन्मते हैं।) ऐसा सुना जाता है। यहाँ सन्देह होता है, क्या आत्मा ब्रीहि आदि शरीर वाला होता है अथवा क्षेत्रज्ञ से अधिष्ठित ब्रीहि आदि में संसर्गमात्र होता है, ऐसा संशय होता है। यहाँ ब्रीहि आदि देह का भोक्ता होता है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है। कारण इसी में जन् धातु के मुख्यार्थत्व की उपपत्ति होती है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं- 'अन्याधिष्ठिते' अर्थात् ब्रीहि आदि शरीर वाले जीव विशेष से अधिष्ठित ब्रीहि आदि में अनुशय विशिष्ट आत्मा संसर्ग मात्र प्राप्त करते हैं, न कि ब्रीहि आदि शरीरवान् होते हैं क्योंकि 'पूर्ववदभिलापात्' आकाश आदि की तरह उनका भी कथन है। उस कर्म से जन्य न होने से स्थावर योनित्व की प्राप्ति नहीं होती।।२४।।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५।।

अत्र साङ्ख्यश्चोदयति। कर्म द्विविधं शुद्धमशुद्धं च। तत्र शुद्धमहिंसादि, द्वितीयं ज्योतिष्टोमादि पशुहिंसात्वात्। अनुशायिनां ज्योतिष्टोमादिकर्तृत्वेनाशुद्धव्यामिश्रकर्मफलभोगाय मुख्यमेव स्थावरं जन्मेति प्राप्ते राद्धान्तः। शुद्धमेव ज्योतिष्टोमादि कर्म। कुतः ? शब्दात्। शास्त्रप्रमाणकत्वात्। "धर्माधर्मयोः सामान्यविधेर्विशेषविधिर्बलीयान्" "न हिंस्यात्सर्वभूतानी" ति सामान्यनिषेधस्य बाह्यहिंसाविषयकत्वेन सावकाशत्वात्। क्रतुगतहिंसाविधेस्तु निरवकाशत्वेन बलीयस्त्वात्तेन सामान्यनिषेधस्य बाधो युक्त एवातो गौणमत्र जन्मेति।।२५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ साङ्ख्य शङ्का करता है। कर्म दो तरह के होते हैं, शुद्ध और अशुद्ध। इनमें शुद्ध कर्म अहिंसा आदि है। दूसरा अशुद्ध कर्म है ज्योतिष्टोम आदि। कारण पशु हिंसा होती है। अनुशय वाले प्राणियों का ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ करने से अशुद्ध मिश्रित कर्मफल भोग के लिए मुख्य ही हैं स्थावर योनि में जन्म। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं, ज्योतिष्टोम आदि कर्म शुद्ध ही है कारण इसमें शास्त्र प्रमाण है। "धर्माधर्मयोः सामान्यविधेर्विशेषविधिर्बलीयान्" (धर्म अधर्म में सामान्य विधि से विशेष विधि बलवती होती है) "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" किसी प्राणी की हिंसा न करें, यह सामान्य निषेध है। इस वचन में बाह्य हिंसा विषयक होने से सावकाशत्व है। यज्ञगत हिंसा विधि निरवकाश होने से बलवती होती है। इस प्रकार यह विशेष विधि होने से इसके द्वारा सामान्य निषेध का बाध उचित ही है, इसलिए जन्म यहाँ गौण है।।२५।।

रेतःसिग्योगोऽथ ।३ ।१ ।२६ ।।

इतश्च ब्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं ब्रीह्यादिभाववचनानन्तरं "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवती" (छा० ५/१०/५)ति श्रुतेः। रेतःसिग्योगो यथा तद्योगमात्रं वक्ति, तद्वद्ब्रीह्यादिभावोऽपि तद्योगमात्रमेव भूय एव भवति, तदाकृतिर्भवतीत्यर्थः। मनुष्येण भक्षितो मनुष्यो जायते, पश्वादिना भक्षितः पश्वादिर्भवतीति यावत्।।२६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस हेतु से भी यहाँ ब्रीहि आदि का संश्लेष मात्र ही ज्ञेय है क्योंकि ब्रीहि आदि भाव के अनन्तर "यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति" ऐसा श्रुतिवचन है (जो अन्न खाता है, जो रेतः सिञ्चन करता है वह पुनः जनमता है।) यह श्रुति जैसे रेतस् सिञ्चन का योग उसका केवल संयोग मात्र है, इसी प्रकार ब्रीहि आदि भाव भी केवल ब्रीहि आदि का योग मात्र ही है। "भूय एव भवति" अर्थात् उसकी आकृति होती है। यानी मनुष्य द्वारा भक्षित जैसे मनुष्य होता है, उसी प्रकार पशु आदि से भक्षित पशु आदि होता है।।२६।।

योनेः शरीरम् ।३ ।१ ।२७ ।।

योनिप्राप्तेः पश्चादेवानुशयिनां देहप्राप्तिः। तत्रैव सुखदुःखादिभोगस्य सत्त्वात्। ततः पूर्वं ह्याकाशादिप्राप्तौ तद्योगमात्रमेवेति सिद्धम्।।२७।। इत्यन्याधिष्ठिताधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

योनि प्राप्ति के अनन्तर ही ब्राह्मण आदि शरीर की प्राप्ति होती है। उससे पहले आकाश से लेकर पिता पर्यन्त केवल संश्लेष मात्र होता है यही बात कहते हैं, 'योनि प्राप्तेः' अर्थात् योनि प्राप्ति के पश्चात् ही अनुशय युक्त आत्माओं की देह प्राप्ति होती है, उसी में सुख-दुःख आदि भोग होता है। उससे पहले आकाश आदि की प्राप्ति में उनके साथ संयोग मात्र ही होता है।।२७।।

इस प्रकार अन्याधिष्ठित अधिकरण पूरा हुआ।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि श्रीमन्मुकुन्दचरणारुण पद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीक्ष्श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्याय प्रथमपादविवरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार सनक सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य श्री श्रीनिम्बार्कमतानुयायी श्रीमुकुन्दचरणारुण पद्ममकरन्दभृङ्ग जगद्विजयी श्रीक्ष्श्री केशवकाश्मीरि भट्ट द्वारा संगृहीत श्रीवेदान्त कौस्तुभ प्रभा नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति में तृतीय अध्याय प्रथम पाद का मिथिला महीमण्डलान्तर्गत धोधरडीहा ग्राम निवासी पं. वैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

तृतीय अध्याय

द्वितीय पाद

विषय-सूची

तृतीयोऽध्याये द्वितीयपादारम्भः

****

अथ सन्ध्यधिकरणम्

सन्ध्ये सृष्टिराह हि।३।२।१।।

इत्थं जाग्रदवस्थायां जन्ममरणस्वर्गनरकगमनादिदुःखजातं जीवस्य विरागार्थं प्रपञ्चितम्। एतेनात्मानात्मविवेकोऽपि सिद्धः। अथेदानीं तयोर्विवेकविरागयोर्दार्ढ्यार्थं स्वाप्नाद्यवस्था निर्णीयते। तत्र स्वप्ने सृष्टिः श्रूयते बृहदारण्यके "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते, न तत्रानन्दामुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ते" (बृ०/६/३/१०)ति। तत्र संशयः-सा सृष्टिः किं जीवकृतोत परमेश्वरकृतेति?। जीवनिर्मितेति। कुतः? सन्ध्ये स्वप्नस्थाने "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानमि" (कठ०/२/५/२)ति श्रुतेः। हि यतः "सृजते स हि कर्ते" ति श्रुतिराह स्वप्नदृग्जीवस्यैव तत्र प्रतीयमानत्वात्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार जाग्रत् अवस्था में जन्म-मरण, स्वर्ग तथा नरक गमन आदि दुःखों का जीव के वैराग्य के लिए वर्णन किया गया। इससे आत्म एवं अनात्म का विवेक भी सिद्ध हो जाता है। अब उन विवेक और वैराग्य को दृढ़ करने के लिए स्वप्न आदि अवस्था का निर्णय करते हैं। स्वप्न सृष्टि की बात सुनी जाती है, जैसा कि बृहदारण्यक में कहा गया है "न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान् रथयोगान्पथः सृजते, न तत्रानन्दामुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते, न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान्पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता" (बृ०/६/३/१०) उस स्वप्न अवस्था में न रथ होता है, न रथ योग है, न मार्ग है, फिर भी वह रथ, रथयोग तथा पथ का सर्जन करता है। न वहाँ आनन्द होता है, न मोद प्रमोद होता है, फिर भी वहाँ आनन्द मोद, प्रमोद का सृजन करता है। न वहाँ वेशान्त पुष्करिणी प्रस्रावित होती है, फिर भी पुस्करिणी का सृजन होता है। यहाँ संशय होता है कि वह स्वप्न की सृष्टि जीव कृत है या परमेश्वर कृत? तो कहते हैं जीव निर्मित है क्योंकि सन्ध्य में (स्वप्न अवस्था में) जीव सृष्टि करता है, ऐसा श्रुति कहती है। सन्ध्य कहते हैं स्वप्न अवस्था को। "सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्" (कठ०/२/५/२) क्योंकि 'सृजते स हि कर्ता' ऐसा श्रुतिवचन है। वहाँ कर्ता के रूप में स्वप्नद्रष्टा जीव ही प्रतीयमान होता है।।१।।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च।३।२।२।।

किञ्चैकेशाखिनः स्वाप्नार्थानां निर्मातारं जीवमधीयते। "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणे" ति (क०/१/१/२५)। अत्र कामशब्देन काम्यन्त इति कामाः पुत्रादय एवोच्यन्ते, नेच्छामात्रम्। "सर्वान्कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः

पुत्रपौत्रान्वृणीष्वे"ति प्रक्रमात्। अतो जीवनिर्मितैव स्वप्नसृष्टिः। उपकरणाद्यभावेऽपि तस्य प्रजापतिवाक्ये सत्यसङ्कल्पत्वश्रवणेन सृष्ट्युपपत्तेरिति प्राप्ते राद्धान्तमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

एक शाखा वाले स्वाप्निक पदार्थ के निर्माता जीव को मानते हैं, जैसा कि श्रुतिवचन है "य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण" इति (क०उ०/१/१/२५)। यह नाना प्रकार के भोगों की रचना करने वाला पुरुष अन्य सबके सो जाने पर स्वयं जागता रहता है। इसमें पुरुष को कामनाओं का निर्माता कहा गया है। (क०उ० १-१-२२-२४ के अनुसार पुत्र-पौत्र आदि कामना के विषय है।) यहाँ काम शब्द से 'काम्यन्ते इति कामाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कामना के विषय पुत्र-पौत्रादि ही काम शब्द से गृहीत होते हैं, इच्छा मात्र नहीं। "सर्वान्कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व" (यमराज नचिकेता से कहते हैं कि तुम अपनी इच्छानुसार शतायु पुत्र-पौत्रों का वरण करो।) ऐसा वहाँ का प्रकरण है। इसलिए स्वप्न की सृष्टि जीवनिर्मित ही है। यदि कहें कि उपकरणों आदि के अभाव में जीव स्वप्न में सृष्टि कैसे कर सकता है, तो कहते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् के प्रजापति वाक्य में जीव के लिए "सत्यसंकल्पः सत्यकामः" कहे जाने से सत्यसंकल्पत्व आदि से युक्त जीव के लिए रथ आदि का निर्मातृत्व युक्त ही है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं।।२।।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।३।२।३।।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। स्वाप्नसृष्टिः परमेश्वरनिर्मितैव, न जीवकृता। कुतः? यतो मायामात्रं मायाशब्द आश्चर्यवाची "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिते" त्यत्रैवं दर्शनात्। जीवस्योपकरणाद्यभावेन तच्छक्तिशून्यत्वात् तस्य सत्यसङ्कल्पत्वादिधर्माणां कार्त्स्न्येनाऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्, बद्धावस्थायां तिरोधानादित्यर्थः। तस्मात्तत्तज्जीव-कर्मानुसारेण तदैकैकजीवानुभवयोग्यमितरसकलपुरुषाननुभूय मानमाश्चर्यरूपं रथादिकं श्रीपुरुषोत्तमेनैव निर्मीयते। तस्य सर्वशक्तिसत्यसङ्कल्पत्वादिस्वाभाविक धर्मयोगात्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है। स्वाप्न सृष्टि परमेश्वर निर्मित ही है, जीवकृत नहीं क्योंकि माया शब्द यहाँ आश्चर्यवाची है। जैसे "जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता" अर्थात् भगवती जानकी जनक-वंश में देवमाया की भाँति आश्चर्य रूपिणी उत्पन्न हुई थीं। यहाँ माया शब्द आश्चर्य अर्थ में ही है। जीव को स्वप्न अवस्था में उपकरण आदि के अभाव से रथादि सृष्टि कर्तृत्व शक्ति का अभाव है। सत्यसंकल्पत्वादि धर्म बद्ध अवस्था में सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं होता, उस समय उसके उक्त धर्म तिरोहित रहते हैं। इसलिए तत् तत् जीव के कर्मों के अनुसार उस समय एक-एक जीव के अनुभव योग्य तथा तदितर सकल पुरुषों द्वारा अननुभूयमान आश्चर्यरूप रथ आदि श्रीपुरुषोत्तम द्वारा ही निर्मित होते हैं। कारण उनमें सर्वशक्ति, सत्यसंकल्पत्व आदि स्वाभाविक धर्मों का योग है।।३।।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३ ।२ ।४ ।।

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियमि" (छा०/५/२/९)त्यथ "यदा स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तमि" (स्वप्नाध्यायी) त्यादिना स्वप्नस्येष्ट्यदिसूचकत्वश्रवणात्। तच्च जीवकर्तृकत्वे न सम्भवति। यदि जीवः सृष्टिकर्ता तर्हि शुभसूचकमेव स्वप्नं दृष्ट्वा सदा सुखमेवानुभूयेत न कदापि दुःखी स्यात्। नहि चेतनः स्वदुःखार्थं कोऽपि यतत इति भावः। स्वाप्नाध्यायविदश्व स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते। "आरोहणं गोबृषकुञ्जराणां स्वप्ने स्वगम्यागमनं च धन्यमि"ति "खरयानतैलाभ्यञ्जनान्यधन्यानी"ति। "कामं काममि"ति परमेश्वरमेव निर्मातारमाह "य एषु सुप्तेषु जागर्ति, (कठ०/१/१/५) तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चने" (कठ०/५/८) ति वाक्यशेषे परमात्मासाधारणधर्मश्रवणात्। तेषां च जीवे कथमप्यसम्भवात्तस्माज्जीवानामल्पतरकर्मानुसारिफलभोगाय तावन्मात्रकालीनं तदेकतमेनानुभाव्यं रथादि परमेश्वर एव सृजतीति। विशेषार्थस्तु पूर्वमेवोक्तः।।४।।

ननु जीवस्य सत्यसङ्कल्पादिकं कुतस्तिरोहितमिति चेत्तत्राह——

(हिन्दी–अनुवाद)

"यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियम्" (छा०/५/२/९) जब काम्य कर्मों के प्रसङ्ग में स्वप्नों के दृश्यों में स्त्री को देखें, तो ऐसे स्वप्न देखने का परिणाम यह समझना चाहिए कि उस किये जाने वाले भाग्य कर्म में भलीभाँति अभ्युदय होने वाला है। आगे कहा है "यदा स्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तम्" (ऐतरेय आरण्यक ३/२/४/१७) यदि स्वप्न में काले दांत वाले काले पुरुष को देखें तो वह मृत्यु का सूचक है (स्वप्नाध्यायी) इत्यादि श्रुतिवचनों द्वारा स्वप्न को इष्ट तथा अनिष्ट सूचक बताया गया है। यह बात स्वाप्न पदार्थ को जीवकर्तृत्व मानने पर संभव नहीं है। यदि जीव उक्त स्वाप्निक सृष्टि का कर्ता होता तो सदा शुभ सूचक पदार्थ की सृष्टि करता, उसे देखकर सदा सुख का ही अनुभव करता, कभी दुःखी नहीं होता। कोई भी चेतन अपने दुःख के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है। स्वाप्नाध्यायविद स्वप्न को शुभ अशुभ सूचक कहते हैं। जैसे "आरोहणं गोबृषकुञ्जराणां स्वप्ने स्वगम्यागमनं च धन्यम्" गाय, बैल तथा हाथी आदि पर आरोहण तथा पर्वत के ऊपर, प्रासाद तथा वृक्ष आदि पर आरोहण, विष्ठानुलेपन, रोदन, मरण, अगम्यागमन आदि के स्वप्न में दर्शन शुभ सूचक है तथा "खरयानतैलाभ्यञ्जनान्यधन्यानि" गधे की सवारी, तैलाभ्यञ्जन आदि अशुभ सूचक हैं। इसी प्रकार कृष्णमाला और कृष्ण चन्दन लेपन की हुई स्त्री जिस पुरुष का आलिंगन करती है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है। (वेदान्त कौस्तुभ में) "कामं कामम्" यह श्रुति परमेश्वर को ही स्वाप्निक सृष्टि का निर्माता बताती है। आगे भी वाक्य शेष के "य एषु सुप्तेषु जागर्ति", जो परमात्मा इन जीवों के सोने पर जागता है। (क०/१/१/५) "तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन" (कठ०/५/८) वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है, उसी में सब लोक आश्रित है। उसको कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता इत्यादि वचनों द्वारा परमात्मा के असाधारण धर्म का वर्णन है। ये धर्म जीव में कथमपि संभव नहीं हैं। इसलिए जीवों के स्वल्प कर्मों के अनुसार फल भोग के लिए केवल स्वप्न कालमात्र के

लिए केवल उसी स्वप्नद्रष्टा जीव के अनुभव योग्य रथ आदि की परमात्मा ही सृष्टि करते हैं। इसका विशेष अर्थ पूर्व में कहा गया है।।४।।

यदि कहें कि जीव का सत्य संकल्प आदि कैसे तिरोहित हो जाता है, इस पर कहते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ।३।२।५।।

तुशब्दः शङ्कोच्छेदकः। पराभिध्यानात् अनादितत्कर्मानुगुणपरमेश्वरसङ्कल्पादेव तिरोहितमिति ब्रूमः। ततस्तत्सङ्कल्पादेव ह्यस्य बन्धमोक्षौ श्रूयेते। "संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुरि" त्यादिश्रुतेः, "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचक" इत्यादिस्मृतेश्च।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द शंका का उच्छेदक है "पराभिध्यानात्" जीव के अनादि कर्मानुरूप परमेश्वर के संकल्प के अनुसार ही जीव के सत्यसंकल्पत्व आदि तिरोहित होते हैं और भगवत् संकल्प से ही जीव का बन्ध एवं मोक्ष होता है, जैसा कि श्रुतिवचन है "संसारबन्धस्थितिमोक्ष हेतुः" अर्थात् परमात्मा सृष्टि स्थिति बन्ध एवं मोक्ष के हेतु हैं। "बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः" ऐसा स्मृतिवचन भी है।।५।।

देहयोगाद्वा सोऽपि।३।२।६।।

सोऽपि तिरोभावोऽपि देहयोगाद् वा भवति। वा विकल्पे। व्यवस्थितश्च विकल्पः। सृष्टिकाले देहावस्थचिद्वस्तुसंयोगात् प्रलये च नामरूपविभागानर्हाचिद्वस्तुसंयोगात्। अतोऽनभिव्यक्तस्वरूपत्वान्न जीवस्य स्वाप्नसृष्टिकर्तृत्वमिति सिद्धम्।।६।। इति सन्ध्याधिकरणम्।।१।।

अथ सुषुप्त्यवस्था श्रूयते। "अथ यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवती" ति छान्दोग्ये (८/६/३) तथा "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कञ्चन वेद तदा हि ता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिःप्रत्यवसृप्य पुरीतति शेत" (बृ०/४/१/१९) इति। "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेत" इति च बृहदारण्यके। आकाशशब्दोऽत्र ब्रह्मवाचकः। तथा "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवती"ति। "नाड्यः पुरी तद्ब्रह्म चे" ति त्रिविधसुषुप्तिस्थानपराः श्रुतयो दृश्यन्ते। ताः किमन्योन्यनिरपेक्षतया सुषुप्तिस्थानं विकल्पयन्ति? उत परस्परापेक्षतयैकं सुषुप्तिस्थानं प्रतिपादयन्ति? इति संशयः। निरपेक्षत्वेन प्रतीतेर्युगपदनेकस्थानबृत्त्यसम्भवाच्च विकल्पयन्तीति प्राप्त आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

देहयोग से तिरोभाव भी विकल्प से होता है। यहाँ वा विकल्प अर्थ में है और विकल्प व्यवस्थित है, सृष्टि काल में देहावस्थित चिद् वस्तु के संयोग से। इसलिए अभिव्यक्त स्वरूप न होने से जीव में स्वाप्निक सृष्टि कर्तृत्व नहीं है। यह सिद्ध होता है।।६।। इस प्रकार सन्ध्याधिकरण पूरा हुआ।।१।।

अब सुषुप्ति अवस्था कहते हैं "अथ यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति" (छ० ८/६/३) जिस समय यह सोया हुआ, भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकार से प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह इन नाड़ियों में चला जाता है। तब इसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता, वह तेज से व्याप्त हो जाता है। "अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कञ्चन वेद, तदा हि ता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिःप्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" (बृ०/४/१/१९) जब जीव सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है, तब कुछ नहीं जानता। इसके शरीर में जो बहत्तर हजार नाड़िया हृदय से निकलकर समस्त शरीर में व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है, "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते" इति च बृहदारण्यके। आकाशशब्दोऽत्र ब्रह्मवाचकः। अन्दर हृदय में जो आकाश है, उसमें यह सोता है। आकाश शब्द यहाँ ब्रह्म का वाचक है तथा "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति" जब यह पुरुष सोता है, तब परमात्मा में लीन हो जाता है। "नाड्यः पुरी तद्ब्रह्म च" ये तीन तरह के सुषुप्ति स्थान प्रतिपादक श्रुतियाँ देखी जाती हैं। क्या वे परस्पर निरपेक्ष होकर सुषुप्ति स्थान हैं अथवा परस्पर सापेक्ष, एक ही सुषुप्ति स्थान है? ऐसा संशय उपस्थित होता है। यहाँ कहते हैं कि निरपेक्ष रूप से प्रतीति होने तथा एक काल में अनेक स्थान में वर्तन असंभव होने से विकल्प करते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं– स्वाप्निक पदार्थ के निर्माता परमात्मा हैं जीव नहीं। यह विचार कर अब सुषुप्ति का विचार करते हैं—

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७।।

चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः। तदभावः स्वप्नदर्शनाभावः सुषुप्तिरिति यावत्। सा नाडी पुरी तदात्मसु भवति। कुतः? तच्छ्रुतेः। तेषां नाडी पुरी तदात्मनां सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रवणात्। तत्र नाडीपुरीततौ प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म च पर्यङ्कस्थानीयमतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानमिति।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

चकार यहाँ पुरीतत् नाड़ी के समुच्चय के लिए है। तदभाव माने स्वप्न दर्शनाभाव अर्थात् सुषुप्ति। वह पुरीतत् नाड़ी होती है क्योंकि ऐसी श्रुति है। सुषुप्ति में आत्मा पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है। यहाँ नाड़ी और पुरीतत् क्रमशः प्रासाद एवं खट्वा स्थानीय है और ब्रह्म पर्यङ्क स्थानीय है। इसलिए ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान है।।७।।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८।।

यतो ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानमतोऽस्माद् ब्रह्मणो जीवस्य प्रबोधो जागरितस्थान-प्राप्तिरुपपद्यते। "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह" (छा० ६/१०/२) इति।।८।। इति तदभावाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार ब्रह्म ही सुषुप्ति स्थान है, इसलिए ब्रह्म से जीव का प्रबोध होता है। अर्थात् जागरित स्थान की प्राप्ति उत्पन्न होती है। "सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" (छा०

६/१०/२) हे सौम्य! ये सम्पूर्ण प्रजा सत् से आने पर यह नहीं जानतीं कि हम सत् के समीप से आयी हैं।।८।।

इस प्रकार तदभावाधिकरण पूरा हुआ।।२।।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः।३।२।९।।

किं यः सुप्तः स एव प्रबोधसमये समुत्तिष्ठति तदन्यो वेति? विशयः। नियमहेत्वभावादनियम इति पूर्वपक्षे प्राप्त उच्यते— स एव त्विति, तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। यः सुप्तः स एव प्रबोधसमय उत्तिष्ठति। कुतः? कर्मेत्यादि। पूर्वेद्युरर्धं कृतं कर्मानुस्मृत्य परेद्युस्तत्समाप्तये प्रवृत्तिदर्शनात्। "योऽहमस्वाप्सं स एवाहं जागर्मी"ति प्रत्यभिज्ञानात्। "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ती" (छा० ६/१०/२) त्येवमादिशब्देभ्यश्च। "अग्निहोत्रं जुहुयादात्मानमुपासीते" त्यादिविधिभ्यश्च। अन्यथाऽ-ग्निहोत्रादिकर्मस्वर्धकृतेष्वन्यश्चेदुत्तिष्ठति तदाऽग्निहोत्रादिश्रवणादिभोगमोक्षसाधनविधायिकाः श्रुतयोऽनर्थकाः स्युः, कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च। अहरहर्जीवानामुत्पत्तिविनाशौ च स्यातामिति भावः।।९।। इति कर्मानुस्मृतिशब्द- विध्यधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्या जो सोता है, वही जगने पर उठता है या कोई अन्य? ऐसा संशय है। इसमें कोई नियम नहीं है, अतः अनियम है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर कहते हैं- 'स एव त्विति' तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। जो सोता है, वही जागने पर उठता है। क्योंकि कर्मेत्यादि। पूर्व दिन में आधे किये हुए कर्म का अनुस्मरण कर अगले दिन उसकी समाप्ति के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है। "योऽहमस्वाप्सं स एवाहं जागर्मि" जो मैं रात सोया था, वही अब जाग रहा हूँ, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्ति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तथा भवन्ति" (छा० ६/१०/२) इत्यादि श्रुति प्रमाणों एवं "अग्निहोत्रं जुहुयादात्मानमुपासीत" इत्यादि विधिवाक्यों से भी उक्त अनुभव की पुष्टि होती है। अन्यथा अग्निहोत्र आदि कार्य आधा करने पर अन्य व्यक्ति जब उठता है, तब अग्निहोत्र आदि श्रवण एवं भोग मोक्ष साधन विधायक श्रुतियाँ अनर्थक हो जायेंगी तथा कृतनाश एवं अकृताभयागम आदि दोषों का भी प्रसंग होगा, अतः सोने वाला व्यक्ति (आत्मा) ही उठने वाला होता है अन्य नहीं। प्रतिदिन जीवों की उत्पत्ति और विनाश भी होगा।

इस प्रकार कर्मानुस्मृति शब्दविधि अधिकरण पूरा हुआ।

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्।३।२।१०।।

मुग्धो नाम मूर्च्छितः स किमवस्थ इति चिन्त्यते। चतस्रोऽवस्थास्तावज्जीवस्य प्रसिद्धाः जागरितं स्वप्नः सुषुप्तिरुत्क्रान्तिरिति। न पञ्चमी क्वापि प्रसिद्धाऽस्ति। तत्र केयं

मूर्च्छाऽऽसामन्यतमा? उतावस्थान्तरमि? ति विषयेऽन्यतमेति पूर्वः पक्षः। अवस्थान्तरकल्पने मानाभावादिति प्राप्ते राद्धान्तः। मुग्धे मूर्च्छिते मुषलाद्यभिहते पुरुषे या तस्यावस्था सार्द्धसम्पत्तिर्मरणस्थानस्यार्द्धं सम्पद्यते मुग्धः। कुतः? परिशेषात्, जागरादावनन्तर्भावात्। तथाहि न तावत्स्वप्नजागरौ, विशेषज्ञानाभावात्। नापि मरणम्, प्राणोष्मणोर्विद्यमानत्वात्, नापि सुषुप्तिस्तद्वैलक्षण्यात्। सुषुप्तस्य प्रसन्नवदनत्वनेत्रनिमीलनश्वासमुञ्चनादीनामुलम्भात्। अतः परिशेषान्मरणार्द्धसम्पत्तिर्मूर्च्छा। मरणं च सर्वप्राणादिसम्बन्धोपरतिः। सूक्ष्मप्राणदेह-सम्बन्धेनावस्थितिर्मूर्च्छेति विवेकः। यत्तूक्तं न पञ्चमी क्वापि प्रसिद्धाऽस्तीति। नैष दोषः। अस्याः कादाचित्कत्वात्। लोकायुर्वेदयोरर्द्धसम्पत्त्याभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इति। तस्माज्जन्ममरणस्वर्गनरकादिभोगेन स्वप्नादिदुःखभोगेन च तेषु दोषं निश्चित्य, तेभ्यश्च सर्वानात्मवर्गेभ्य आत्मनां विविच्य ततः सर्वतो विरज्य श्रेयसे यतेतेति तात्पर्यार्थः। "परीक्ष्य लोकान् कर्मजितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत" इत्यादिश्रुतेः।।१०।। इति मुग्धाधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

मुग्ध मूर्छित व्यक्ति को कहते हैं, यह मूर्छा कौन अवस्था है? अब इसका विचार करते हैं। जीव की चार अवस्थाएँ होती हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं उत्क्रान्ति। पाँचवी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है। फिर यह मूर्छा क्या है? इन्हीं अवस्थाओं में कोई अन्यतम अवस्था है या अवस्थान्तर है। ऐसा संशय होने पर कहते हैं, जाग्रत् आदि चतुष्टय में ही यह अन्यतम है, कारण ऐसा पूर्व पक्ष है। अवस्थान्तर कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं, मुग्ध यानी मूर्छित अवस्था में मूसल आदि से आघात होने पर जो जीव की अवस्था होती है वह अर्धसम्पत्ति है, मरण स्थान की सम्पत्ति है अर्थात् आधामरण अवस्था है। क्योंकि 'परिशेषात्' उसे जाग्रत आदि में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। कारण उसे स्वप्न एवं जाग्रत् नहीं कह सकते, उस समय विशेष ज्ञान का अभाव होता है। उसे मरण भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय प्राण और ऊष्मा विद्यमान रहते हैं। सुषुप्ति भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह सुषुप्ति से विलक्षण होता है उसमें प्रसन्नवदनत्व तथा श्वासभरितत्व का अभाव होता है। सुषुप्तजन में प्रसन्नवदनत्व, नेत्रनिमीलन, श्वासमुञ्चन आदि का उपलम्भ होता है। इसलिए 'परिशेषात्' मरण की अर्धसम्पत्ति अर्थात् अर्धमरणावस्था मूर्छा कही जा सकती है। मरण में समस्त प्राण आदि के सम्बन्ध का उपराम हो जाता है। परन्तु सूक्ष्म प्राण तथा देह के सम्बन्ध से अवस्था विशेष को मूर्छा कहते हैं, ऐसा विवेक है। जो कहा गया कि पाँचवी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, यह दोष नहीं है- यह अवस्था (मूर्छा) कादाचित्क (कभी-कभी) होती है। लोक एवं आयुर्वेद में अर्धसम्पत्ति अवस्था स्वीकार की गई है इसलिए इसे पाँचवीं अवस्था कहकर नहीं गिना जाता है। इसलिए जन्म-मरण स्वर्ग-नरक आदि के भोग तथा स्वप्न आदि में दुःख के भोग से भी उन सबमें दोष का निश्चय करके उन समस्त अनात्म वर्गों से आत्मा को पृथक् रूप में जानकर उन सबसे विरक्त होकर आत्म कल्याण के लिए सदा प्रयत्न करें, यह तात्पर्यार्थ है। "परीक्ष्य लोकान् कर्मजितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते" इत्यादि अर्थात् कर्मों द्वारा प्राप्त भोगों, लोकों को क्षयी मानकर उनसे विरक्त हो जाय।।१०।।

इस प्रकार मुग्ध अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।३।२।११।।

दोषदर्शनेन वैराग्योत्पादनाय जीवस्यावस्थाविशेषा निरूपिताः। अथेदानीं ब्रह्मप्राप्तितृष्णोत्पादनाय ब्रह्मणः समस्तहेयसम्बन्धरहितत्वाशेषकल्याणगुणसागरत्वप्रतिपादनाय चेदमारभ्यते। तत्र जागरादिस्थानस्थितस्य जीवस्येव तदन्तर्यामितया स्थितस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तत्स्थानप्रयुक्ता दोषाः सम्भवन्ति उत नेति संशये सम्भवन्तीति। कुतः? तत्र तत्र शरीरेऽन्तर्यामितया सर्वावस्थास्ववस्थानात्। अतः स्वेच्छया प्रविष्टस्याकर्मवश्यस्यापि नानाविधाशुचिदेहसम्बन्धः छन्दतोऽपि पूयशोणितादिमज्जनं चापुरुषार्थ एवेत्यतः सम्भवन्ति सर्वे दोषा इति प्राप्त-आह न स्थानत इति। परस्य ब्रह्मणः सर्वत्र चेतनाचेतनवस्तुमात्रे शुद्धाशुद्धपदार्थे स्वेच्छया प्रविष्टस्यापि स्थानतश्चेतनाचेतनादिस्थानभूतैः पदार्थैर्नापुरुषार्थ-भूतहेयधर्मसम्बन्धगन्धः। हि यस्मात्सर्वत्र सर्वास्वपि श्रुतिस्मृतिषूभयलिङ्गं ब्रह्माम्नातम्। तत्र "य आत्माऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च, भीषास्माद्वातः पवते, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्, अथात आदेशो नेति नेति, अस्थूलमनण्वि" त्यादिश्रुतयः। "समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः। तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।। परःपराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे (वि०पु० ६/५/८४), यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरं मयाऽध्यक्ष्येण प्रकृतिः, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, सर्वज्ञः सर्वकृत्ससर्वशक्तिज्ञानबलादिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनो नादिमान्वशी। कामतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः निरवद्यः परः प्राप्ते-र्निरधिष्ठोऽक्षरक्रम" इत्यादिस्मृतयश्च समस्तहेयलेशास्पृष्टमाहात्म्यमशेषकल्याणगुणसागरं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। एतदभिप्रेत्योक्तं श्रीभगवताऽऽद्याचार्येण वाक्यकारेण। "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिमि" त्यादिना।।११।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दोष दर्शन द्वारा वैराग्य उत्पादन के लिए, जीव के अवस्था विशेषों का निरूपण किया गया। अब ब्रह्म प्राप्ति की तृष्णा उत्पादन के लिए, ब्रह्म में समस्त हेय दोष राहित्य तथा उनके अनन्त कल्याण गुणगणों के प्रतिपादन के लिए यह अधिकरण प्रारम्भ किया जाता है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जाग्रत् आदि अवस्थाओं में अवस्थित जीव की तरह उसके अन्तर्यामी रूप से वर्तमान ब्रह्म में तत्-तत् स्थान प्रयुक्त दोष उत्पन्न होते हैं या नहीं, ऐसा संशय होने पर संभव है क्योंकि परमात्मा जीव के साथ शरीर में अन्तर्यामी रूप में सभी अवस्थाओं (पुण्यपाप) में सर्वथा विद्यमान रहता है। इसलिए अपनी इच्छा से जीव के शरीर में प्रविष्ट तथा कर्म के अधीन न होने पर भी उसमें नाना प्रकार के अशुचि देह से सम्बन्ध तथा स्वेच्छा से भी पूय शोणित आदि का संस्पर्श अपुरुषार्थ ही है, इसलिए ब्रह्म में भी जीव के समस्त दोष प्राप्त हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, "न स्थानतः" अर्थात् पर ब्रह्म परमात्मा के चेतनाचेतन सर्वत्र वस्तुमात्र में शुद्ध-अशुद्ध सभी पदार्थों में स्वेच्छा से प्रविष्ट होने पर भी स्थानतः चेतन-अचेतन के स्थान स्वरूप पदार्थों से अपुरुषार्थ भूत त्याज्य धर्मों के सम्बन्ध का गन्ध भी नहीं होता क्योंकि समस्त श्रुतियों एवं स्मृतियों में ब्रह्म को उभयलिङ्ग कहा गया है।

जैसे "य आत्माऽपहतपाप्मा" (वह आत्मा समस्त पापों से रहित है) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः स सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, भीषास्माद्वातः पवते, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम, थात आदेशो नेति नेति, अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को स्वभावतोऽपास्त समस्त दोष एवं अशेषकल्पाणगुणाकर बताती हैं। इसी तरह "समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशोद्धृतभूतसर्गः। तेजोबलैश्वर्यमहावबोधः स्ववीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः।। परःपराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे (वि०पु० ६/५/८४)" तथा "यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरं मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलादिमान्। अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनो नादिमान्वशी। कामतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः निरवद्यः परः प्राप्तेर्निरधिष्ठोऽक्षरक्रम" इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्म को समस्त दोषों से रहित एवं अनन्त कल्याण गुणगण निलय कहती हैं। इन्हीं सब बातों तथा प्रमाणों को ध्यान में रखकर भगवान् आद्याचार्य वाक्यकार (श्रीनिम्बार्काचार्य ने) भगवान् को "स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्" कहा है।।११।।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२।।

ननु यदुक्तं ब्रह्म उभयलिङ्गत्वाच्छुद्धाशुद्धपदार्थेषु स्वेच्छया प्रविष्टस्यापि नापुरुषार्थभूतहेयधर्मसम्बन्धगन्ध इति। तन्न सम्भवति। यथा जीवस्य स्वतोऽपहत-पाप्मत्त्वादियुक्तस्यापि तत्तद्देहसम्बन्धावस्थाभेदादुक्तदोषास्तथा परस्यापि सर्वान्तर्यामितया तत्तद्देहसम्बन्धित्वावस्थाभेदात्ते दाषाः स्युरिति चेन्न। कुतः? प्रत्येकमतद्वचनात्। "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इति प्रतिपर्यायमन्तर्यामिणो निर्दोषत्वाभिधानेन दोषासम्बन्धित्व-वचनात्। जीवस्य तु बद्धावस्थायामपहतपाप्मत्त्वादिकं तिरोहितमित्युक्तं पराभिध्यानादित्यनेन। किञ्च सर्वं वस्तु परमेश्वरसङ्कल्पादेव कालभेदेन सुखदुःखात्मकं भवति। न स्वरूपतस्तथाऽस्ति। अन्यथा सर्व सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्। तथोक्तं "नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम ! वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु दुःखात्मकं कुतः।। तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्मादुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकमि" ति। अतः कर्मवश्यानां जीवानामेव तत्तत्कर्मानुगुण्येनेश्वरसङ्कल्पेन तत्तद्वस्तुसम्बन्धप्रयुक्तो दोषो, ब्रह्मणस्तु स्वाधीनस्य सर्वत्रान्तर्यामितयाऽवस्थितस्यापि न दोषगन्धस्पर्शः सम्भवति। अपि तु सर्वनियमनरूपलीलारसपोषक एव तत्तद्वस्तुसम्बन्ध इति।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह जो कहा गया है कि ब्रह्म उभयलिङ्ग होने से शुद्ध-अशुद्ध सभी पदार्थों में स्वेच्छया प्रविष्ट होने पर भी उसमें अपुरुषार्थ हेतु भूत, त्याज्य धर्मों के सम्बन्ध का गन्ध भी नहीं है, यह संभव नहीं है, जैसे जीव स्वयं श्रुति के अनुसार स्वतः अपहत पाप्मत्वादि गुण विशिष्ट होने पर भी तत्-तत् देह सम्बन्ध एवं अवस्था भेद से उक्त दोष सम्वलित होता है। उसी प्रकार परमात्मा के भी अन्तर्यामी रूप से सबके भीतर रहने के कारण तत्-तत् देह से सम्बन्धित अवस्था भेद से वे दोष हो जायँगे तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'प्रत्येकमतद्वचनात्'

"एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" वह परमात्मा सबका अन्तर्यामी है और अमृत है (दोष रहित है), इस प्रकार उस अन्तर्यामी ब्रह्म को प्रत्येक पर्याय में निर्दोष कहा है और दोष से असंपृक्त कहा है ऐसा वचन है। जीव की बद्ध अवस्था में अपहतपाप्मत्त्व आदि तिरोहित रहता है, ऐसा कहा है'पराभिध्यानात्' इस वचन से। और बात, सब वस्तु परमेश्वर के संकल्प से ही काल भेद से सुख-दुःखात्मक होता है, न कि स्वरूप से वैसा है। अन्यथा सब वस्तु सर्वदा सबके सुख के लिए ही होता या दुःख के लिए ही होता। जैसा कि कहा है- "नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम ! वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तु दुःखात्मकं कुतः।। तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते। तस्माद्दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्" इसलिए कर्माधीन जीवों का ही तत्-तत् कर्म के अनुसार ईश्वर के संकल्प से तत्-तत् वस्तु संसर्ग प्रयुक्त दोष होता है। ब्रह्म स्वाधीन होने के कारण सर्वान्तर्यामी रूप से सर्वत्र अवस्थित होने पर भी उसमें किसी प्रकार के दोष के गन्ध का स्पर्श संभव नहीं हैं। बल्कि सबके नियन्त्रणरूप लीला रस का पोषक ही है उनका तत्-तत् वस्तु सम्बन्ध।।१२।।

अपि चैवमेक।३।२।१३।।

अपि च जीवपरयोरेकत्र स्थितिमत्त्वेऽपि यदिदं दोषभाक्त्वाभाक्त्वमुक्तमेवमेवैके शाखिनोऽधीयते "द्वासुपर्णा सयुजे" त्यादिना।।१३।।

ननु यदुक्तं जीवस्य कर्मवश्यतया कर्मफलभोक्तृत्वं, ब्रह्मणस्तु तदभावान्न तद्भोक्तृत्वमिति। नैतदुपपद्यते। यतो "ऽनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी"ति स्वात्मकजीवानुप्रवेशपूर्वकं ब्रह्मणो नामरूपव्याकरणश्रुतेस्तस्यापि तदन्तर्यामितया तदात्मभूतस्य जीववत् देवमनुष्यादिरूपवत्वं तन्नामभाक्त्वं चाविशिष्टम्। तथात्वे च विधिनिषेधविषयतया कर्मवश्यत्वमप्यवर्जनीयमिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

जीव तथा परमात्मा के एक शरीररूप वृक्ष पर साथ-साथ रहने पर भी इनमें जो क्रमशः दोष भागित्व एवं दोषाभागित्व कहा गया है। इस विषय में एक शाखा वाले तदनुरूप मन्त्र पढ़ते हैं "द्वासुपर्णा सयुजे" त्यादि।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि यह जो कहा है कि जीव में कर्माधीनत्व होने के कारण कर्मफल भोक्तृत्व है तथा ब्रह्म में कर्माधीनता न होने के कारण कर्मफल भोक्तृत्व नहीं है, यह उपपन्न नहीं होता क्योंकि "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इस श्रुति द्वारा स्वात्मक जीवात्मा के द्वारा इस शरीर में प्रवेश कर, ब्रह्म के द्वारा नामरूपात्मक जगत् के व्याकरण की श्रुति है। इसके अनुसार जीवात्मभूत ब्रह्म के भी जीव में अन्तर्यामी रूप से जीव की भाँति देव, मनुष्य आदि रूपविशिष्टत्व तथा तत्-तत् नाम भागित्व समान रूप से होता है और तथात्वे यानी जीव में अन्तर्यामी होकर उसके आत्मभूत होने, देव मनुष्य आदि रूपवत्व होने

और तत्-तत् नाम भागित्व होने पर उसमें भी विधि निषेध का विषय हो जाने पर उसमें भी कर्मवश्यत्व अवर्जनीय हो जायेगा, ऐसा कहें तो उस पर कहते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३ ।२ ।१४ ।।

तत्तच्छरीरेऽन्तर्यामितयाऽनुप्रविष्टमपि तद्ब्रह्म अरूपवदेव देवमनुष्यादिरूपरहितमेव। कुतः? देवतिर्यग्मनुष्यादिनामरूपनिर्वोढृत्वेन प्रधानत्वात्। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्मे" (छा. ८/१४/१) ति श्रुतेः। अयं भावो-जीवस्य कर्मजन्यसुखदुःखभोक्तृत्वेन तत्तद्रूपसम्बन्धित्वं, ब्रह्मणस्तु कर्माभावे तत्फलभोक्तृत्वाभावादरूपत्वं, विधिनिषेधशास्त्रमपि कर्मवश्यमेवाधिकुरुते। अत उभयलिङ्गमेव हि परं ब्रह्म।।१४।।

[1]ननु स्यादेतद्यदि ब्रह्मणः सत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसर्वान्तरात्मत्वादिकं सत्यं स्यात्तत्तु शवलगततया नेति नेतीत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धत्वेन मिथ्याभूतमतः "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे" (तै०आ०/१/१) त्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यप्रकाशैकस्वरूपस्य ब्रह्मणः कथमुभयलिङ्गत्वमिति चेत्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

तत्-तत् शरीर में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होने पर भी वह ब्रह्म देव, मनुष्य आदि रूप रहित ही होता है क्योंकि देव, तिर्यक (पक्षी) मनुष्य आदि नाम रूपों के निर्वाहक होने से प्रधान होता है। "आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" (छा. ८/१४/१) भाव यह है कि ब्रह्म जीव के साथ शरीर में प्रविष्ट होने पर भी जीव में कर्मजन्य सुख-दुःख भोक्तृत्व होने से तद्रूप मनुष्य देवादि रूप सम्बन्धित्व होता है। ब्रह्म में कर्म के अभाव के कारण कर्मफल भोक्तृत्व के अभाव के कारण अरूपत्व होता है। विधि निषेध शास्त्र भी कर्मवश्य जीव को ही अधिकृत करते हैं। इसलिए ब्रह्म उभयलिङ्ग ही है।।१४।। (दोष रहित तथा सर्वगुण विशिष्ट)।

यदि कहें कि यह तब हो सकता है यदि ब्रह्म में सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, जगत्कारणत्व, सर्वान्तर्यामित्व आदि गुण सत्य हों, ये तो मायाशवल ब्रह्म (ईश्वर) के गुण हैं। ब्रह्म के नहीं, ब्रह्म में तो 'नेति नेति' कहकर श्रुति ने गुणों का प्रतिषेध किया है। अतः ब्रह्म में गुण मिथ्याभूत है। ब्रह्म तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै०आ०/१/१) इत्यादि श्रुति के अनुसार निर्धर्मक प्रकाशमात्रैक स्वरूप है, फिर ब्रह्म में उभय लिङ्गत्व कैसे होगा? इस पर कहते हैं——

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३ ।२ ।१५ ।।

यथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे" त्यादिवाक्यावैयर्थ्यात्प्रकाशैकस्वरूपं ब्रह्मेत्यभ्युपगतं तथा सत्यकामत्वादिसमस्तहेयलेशास्पृष्टमाहात्म्यत्वकल्याणगुणसागरत्वाभिधायिवाक्यावैयर्थ्यादुभयलिङ्गत्वं ब्रह्मण इति।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों के सार्थक्य के लिए ब्रह्म को प्रकाशैकस्वरूप

१. मायावादी शंकरमत के अनुसार यह पूर्वपक्ष है। (स)

माना जाता है। उसी प्रकार सत्यकामत्व आदि समस्त हेयलेश से असंस्पृष्टकल्याणगुणसागरत्व प्रतिपादक वाक्यों की सार्थकता के लिए ब्रह्म का उभय लिङ्गत्व मान्य है।।१५।।

आह च तन्मात्रम् ।३ ।२ ।१६ ।।

"सत्यं ज्ञानमि" ति वाक्यं प्रकाशस्वरूपं ब्रह्मेत्येतावन्मात्रमाह, न तुवाक्यान्तरावगतं कल्याणगुणसागरत्वसत्यकामत्वादिकं निषेधति।।१६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"सत्यं ज्ञानम्" यह वाक्य ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है, एतावन्मात्र कहता है, न कि वाक्यान्तर (श्रुत्यन्तर) से अवगत कल्याणगुणसागरत्व तथा सत्यकामत्व आदि का निषेध करता है।।१६।।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ।३ ।२ ।१७ ।।

दर्शयति च वेदान्तवाक्यगणः परस्य समस्तहेयलेशास्पृष्टमाहात्म्यत्वं कल्याणगुणसागरत्वम्। "च आत्माऽपहतपाप्मा निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (छा. ८/७/१) पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, (श्वे०/६/८) तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् (श्वे०/३/७), स कारणं कारणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत" इत्यादि। अयो स्मर्यतेऽ "प्यहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!" (गीता०/७/६) इत्यादिना।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वेदान्तवाक्य परमात्मा को सभी प्रकार के दोषों के लेशों से असंस्पृष्ट तथा कल्याणगुणसगरत्व बताते हैं। "य आत्माऽपहतपाप्मा निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनं सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः यः सर्वज्ञः सर्ववित्, (छा. ८/७/१) पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च, (श्वे०/६/८) तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतं (श्वे०/३/७), स कारणं कारणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यादि। उसमें अनेक प्रकार की शक्तियाँ हैं। स्वाभाविक ज्ञान बल क्रिया है। वह ईश्वरों का भी परम ईश्वर है। देवताओं का भी परम देवता है, वह सबका कारण है। उसका कोई कारण नहीं है। उसका न कोई उत्पन्न करने वाला और न स्वामी है। उसका न कार्य है, न कारण है। न कोई उसके समान है, न कोई उससे बड़ा है इत्यादि। इसी प्रकार गीता में भी कहा है "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!" (गीता०/७/६) इत्यादि।।१७।।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ।३ ।२ ।१८ ।।

यतः सर्वत्रान्तर्यामितयाऽवस्थितस्यापि परस्योभयलिङ्गवत्तया निर्लेपत्वान्न तत्तत्स्थानप्रयुक्तदोषसम्बन्धित्वमत एव शास्त्रे सूर्यकादिवत् सूर्यस्य प्रतिकृतयः सूर्यकास्तद्वत् जलसूर्यादिवदित्युपमोपादीयते। आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक्भवेत्। "यथाऽऽत्मैको

ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्। एक एव हि भूतात्मे" (या०प्रा०) त्यादिषु। श्रुत्यर्थस्तु पूर्वमेव जीवात्मस्वरूपनिर्णय उक्तः।।१८।।

नन्वम्बुन्यनवस्थित एव सूर्यो भ्रान्त्या तत्रस्थ इव गृह्यते परमात्मा तु "यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्नि" (बृ० ५/७/३) त्येवमादिश्रुत्या परमार्थत एव स्थितो गृह्यते, ऽतो न सूर्यादि दृष्टान्तो ब्रह्मणि सम्भवतीति दार्ष्टान्तवैधर्म्यादित्याक्षिपति—

(हिन्दी-अनुवाद)

क्योंकि वह परमात्मा सर्वत्र अन्तर्यामी रूप से अवस्थित होने पर भी उभय लिंग होने के कारण निर्लेप होने से तत्-तत् स्थान प्रयुक्त दोष से असम्बन्धित होता है। इसीलिए शास्त्र में सूर्यकादिवत् कहकर उपमा दी गई है। सूर्य की प्रतिकृति को सूर्यक कहते हैं। इसी की तरह अर्थात् जल सूर्य आदि की भाँति उपमा दी जाती है। जैसे आकाश एक होने पर भी घट आदि उपाधि के कारण पृथक्-पृथक् होता है। उसी प्रकार परमात्मा भी होता है। "यथाऽऽत्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्। एक एव हि भूतात्मे" (या०प्रा०) त्यादिषु श्रुति का अर्थ तो पहले ही जीवात्मा के स्वरूप निरूपण में कहा है।।१८।।

यदि कहें कि जल में बिना रहे ही सूर्य ब्रह्म से उसमें स्थिति के समान जाना जाता है। परन्तु परमात्मा तो "यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्" (बृ० ५/७/३) अर्थात् जो पृथ्वी में रहकर, जल में रहकर, आत्मा में रहकर सब का नियन्त्रण करता है इत्यादि श्रुति के द्वारा प‌रमार्थ रूप में ही स्थिति होकर जाना जाता है। इसलिए सूर्य आदि का दृष्टान्त ब्रह्म में सम्भव नहीं है। इस प्रकार दृष्टान्त में वैषम्य है। ऐसा आक्षेप करते हैं—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१९।।

अम्बुवदिति सप्तम्यन्ताद्वतिः, अम्बुनीव सूर्यस्य ब्रह्मणोऽग्रहणान्न तथात्वम्, सूर्यस्येव तत्प्रयुक्तदोषगन्धाभाववत्त्वं नेति।।१९।। तत्परिहरति—

(हिन्दी-अनुवाद)

अम्बुवत् यहाँ सप्तयन्त से वति प्रत्यय है। 'अम्बुनीव सूर्यस्य ब्रह्मणोऽग्रहणान्न तथात्वम्' जल में सूर्य की तरह ब्रह्म का ग्रहण न होने से वह दृष्टान्त ठीक नहीं है अर्थात् सूर्य की भाँति ब्रह्म में जीव प्रयुक्त दोष के गन्ध का अभाव नहीं कहा जा सकता।।१९।। इसका परिहार करते हैं—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ।३।२।२०।।

नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरत्यन्तसाधर्म्यं विवक्षितमसम्भवादपि तु विवक्षितांश एव तथा च सूर्यादिदृष्टान्तेन ब्रह्मणो निर्लेपत्वमात्रे तात्पर्यं, कथमिदमवगम्यते? उभयस्य दृष्टान्तद्वयस्य सामञ्जस्यादेवं निश्चीयते। तथाहि यथा सूर्यः शुद्धाशुद्धेषु जलाधारेषु स्वकरनिकरव्याप्त्याऽवस्थितो

वस्तुतोऽनवस्थितस्तत्तद्गुणैर्दोषैर्वृद्धिह्रासादिभिर्न स्पृश्यते, यथा चाकाशो वृद्धिह्रासभाक्षु घटकर्कादिषु वस्तुतोऽनवस्थितस्तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैर्न लिप्यते। एवं परं ब्रह्माप्यन्तर्भावात् विषमेषु वस्तुतोऽवस्थितोऽपि तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैर्न लिप्यत इति वृद्धिह्रासभाक्त्वमात्रं तत्तदन्तरात्मत्वात्तत्र तत्रावस्थितमपि तत्तद्गतवृद्धिह्रासादिदोषैर्न लिप्यत इति वृद्धिह्रासभाक्त्वमात्रं दृष्टान्तद्वयेन निवर्त्त्यते।।२०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दृष्टान्त एव दार्ष्टान्त में अत्यन्त सादृश्य विवक्षित नहीं होता। क्योंकि अत्यन्त साधर्म्य असम्भव होता है। अपितु विवक्षित अंश में ही साधर्म्य होता है। इस प्रकार सूर्य आदि के दृष्टान्त से ब्रह्म में निर्लेपत्व मात्र में ही तात्पर्य है। ऐसा कैसे जानते हैं? तो कहते हैं दोनों दृष्टान्त के सामञ्जस्य के कारण ही ऐसा निश्चय किया जाता है। जैसे सूर्य शुद्ध एवं अशुद्ध जल के आधार में अपनी किरण समूहों के सम्बन्ध से ही अवस्थित होता है। वस्तुतः अवस्थित नहीं होता। फिर भी तत्-तत् गुणों एवं दोषों, वृद्धि एवं ह्रास आदि जैसे आकाश वृद्धि, ह्रास भागी घट, गगरी आदि विषय से स्पृष्ट नहीं होता। पदार्थों में अवस्थित होकर भी तद्गत बुद्धि ह्रास आदि दोषों से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार परब्रह्म भी अन्तर्यामी रूप से तत्-तत् स्थानों में अवस्थित होने पर भी तत्-तत् गत वृद्धि तथा ह्रास आदि दोषों से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार वृद्धि एवं ह्रास भागित्व मात्र इन दोनों दृष्टान्तों से बताया गया है।।२०।।

दर्शनाच्च ।३ ।२ ।२१।।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वात्मना साम्याभावेऽपि व्याघ्र इव पुरुष इत्यादिषु दृष्टान्तोपादानदर्शनादप्येवमवगम्यते।।२१।। इत्युभयलिङ्गाधिकरणम्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्त में सर्वथा साम्य के अभाव होने पर भी व्याघ्र इव पुरुषः, यह व्याघ्र के समान पुरुष है इत्यादि स्थानों में दृष्टान्त के उपादान का दर्शन होने से भी ऐसा जाना जाता है।।२१।।

इस प्रकार उभय लिंग अधिकरण पूरा हुआ।।५।।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।३ ।२ ।२२।।

पूर्वं ब्रह्मणश्चेतनाचेतनवस्त्वन्तरात्मत्वेऽपि यथा जीवस्य तत्र तत्रावस्थितस्य तत्तद्दोषयोग उक्तो न तथा परस्य। यतः श्रुतिस्मृतिषु स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्वमनन्त-कल्याणगुणगणाकरत्वं चोच्यत, अत उभयलिङ्गमिति निरूपितम्। इदानीं प्रत्यक्षादिप्रमाणैर्दुर्ज्ञेयस्य ब्रह्मणो ज्ञानाय स्थूलादिरूपोपदेशेन प्राप्ते यत्तानिषेधपूर्वकं सत्यज्ञानाद्यनन्तकल्याणगुणाश्रयमपरिच्छिन्नस्वरूपं मीमांस्यते बृहदारण्यके। तत्र स्थूलदृष्टीनां ज्ञानाय "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं चे" (बृ०४/३/१) त्यादिना तेजोऽबन्नात्मकं वाय्वाकाशात्मकं चेति पञ्चभूतात्मकस्थूलरूपमुपदिश्य, महारजनादीनि रूपाणि चोपदिश्य पठ्यत "अथात आदेशो नेति नेति (बृ०४/३/६)" न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति, "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमि" (बृ०३/३/७) त्यत्र

संशयः। नेति नेतीति श्रुतिः किं पूर्वोपदिष्टं मूर्त्तामूर्त्तादिरूपमात्रं प्रतिषेधति? उत प्राप्तं ब्रह्मण एतावत्त्वं प्रतिषेधतीति किं तावत्प्राप्तं, ब्रह्मणो रूपादिमात्रं प्रतिषिध्यते, श्रुत्येति सामान्यनिषेधश्रवणात्। अतो मूर्त्तामूर्त्तादिनामरूपं प्रतिषिध्य, नीरूपं नित्यशुद्धबुद्धं मुक्तस्वभावमद्वितीयं ब्रह्म प्रतिपादयतीदं वाक्यं, तस्य सत्त्वे च ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वादि विरुद्ध्येतेति प्राप्ते सिद्धान्तमाह-प्रकृतैतावत्त्वमिति। हिरवधारणे, अन्ययोगव्यवच्छेदार्थकः। प्रकृतैतावत्त्वमेव ब्रह्मणः प्रतिषेधति। प्रकृतं यन्मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चमेतावदेव ब्रह्म न भवतीत्य "थात आदेशो नेति नेती" त्यत्र प्रतिपाद्यते, नतु प्रपञ्चस्वरूपं निषिध्यते, ऽतत्परत्वाद्वाक्यस्य। द्वौ नञौ द्वित्वसङ्ख्यावच्छिन्नरूपमेतावत्त्वतं प्रतिषेधतः। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविध ब्रह्ममेतदि" (श्वे० १/१२) त्यन्यत्रापि त्रिरूपत्वप्रतिपादनात्। तदेवाह-ततो ब्रवीति च भूयः। ततः पूर्वोक्तान्मूर्त्तामूर्त्तरूपद्वयाद्भू यस्त्वं ब्रवीति च वाक्य शेषः। न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीत्येतस्मात्पूर्वोक्तादन्यद् ब्रह्मस्वरूपं न हीति न वक्तव्य, मन्यत्परमस्तीति। एतस्मात्परमुत्कृष्टमिन्द्रियाग्राह्यमेतन्नियन्तृ-पुरुषोत्तमाख्यमन्यत्स्वरूपमस्तीत्यर्थः। "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम" (गी०/१५/१८) इति वाक्यात्। यद्वैवमक्षरयोजना, प्रकृते यत् स्थूलसूक्ष्मादिधर्म-वद्वस्तुजडाजडवर्गो ब्रह्मगतं चैतावत्त्वमिदमियदिति परत्र वृत्तिपरिमितत्वं नेति नेतीति श्रुतिर्निषेधति। नतु ब्रह्मण उभयप्रकारत्वं, ह्यस्पृष्टाखिलदोषत्वमचिन्त्यापरिमितसार्वज्ञ्यादि-धर्मवत्वं चेति। कुतः? ततोऽनन्तरं भूयोऽपरिमितं ब्रह्मण उभयगुणादीन्ब्रवीति प्रतिपादयतीति। एवं नेतिनेतीति नञ्भ्यां प्राकृतस्थूलसूक्ष्मादिधर्मवज्जडवस्तु तदवच्छिन्नजीववस्तुविलक्षणं ब्रह्मेति प्रतिपाद्यत इत्यन्यत्समानम्। किं तदित्यपेक्षायामाह। "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमि"ति तस्य निर्वचनं "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमि" (बृ/४/३/६)ति प्राणशब्देन प्राणवन्तो जीवा उच्यन्ते, ते हि वियदादिवदनुत्पाद्या, अतस्तेषां सत्यशब्दवाच्यत्वं, परन्तु तेऽप्यनादिकर्मवशाद्देहयोगेन जन्मभाजः ज्ञानसङ्कोचविकाशरूप-विकारवन्तश्च। एतत्परमात्मनो नास्तीति तेषामेष सत्यमिति। यद्वा, "यदासीत्तदधीनमासीदि" ति श्रुत्यनुसारात्प्राणास्तदुपलक्षिताः चेतनजातं तत्सम्बन्धिनश्चेतनाश्च परतन्त्रसत्ता-श्रयास्तेषामपि सत्यं स्वतन्त्रसत्ताश्रयं चेतनादिवर्गादियत्तावच्छेदेन निर्दिष्टादत्यन्तविलक्षणं परं ब्रह्म निखिलहेयगन्धाघ्रातमाहात्म्यं समस्तकल्याणगुणैकार्णवमित्यर्थः। "सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः, संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः। अक्षरात्परतः पर" इत्यादिश्रुतिभ्य एतदभिप्रायमादाय पूर्वाचार्य्यैरप्युक्तं "नेति नेति च निषेधिताश्रयस्तद्विशेषविषयोऽपि सम्मत" इत्यादिना। यथैवाह भगवान् सनत्सुजातः "तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ! निर्दिश्य सम्यक्प्रचरन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ती" ति। विश्ववैरूप्यं स्थौल्यादिधर्मवतो विश्वस्माद्विलक्षणमित्यर्थः। नाप्युक्ताद्वितीयत्वविरोधः साम्याधिकशून्यत्वस्यैवाद्वितीयत्वस्य श्रुतिसम्मतत्वात्। केचित्तु "नेति नेती" ति किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयं प्रतिषेधति आहोस्विदेकतरम्? यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति? रूपे परिशिनष्टि आहोस्विद्रूपे मूर्त्तामूर्त्ते प्रतिषेधति? ब्रह्म परिशिनष्टीति? सन्देहं कृत्वा वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपातिप्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति, तस्माद्ब्रह्मणो रूप प्रपञ्चं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि च ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यमिति

स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम "ऽथात आदेशो नेति नेती" ति तत्र कल्पितरूप-स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम प्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते, तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धं युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं नतु ब्रह्मणः, प्रतिषेध सर्वकल्पनामूलत्वादिति सिद्धान्तयन्ति, तदसत्। न तावदुक्तसन्देहो युक्तो ब्रह्मणः प्राप्तेरभावात्, प्रपञ्चस्यापि स्वरूपनिषेधपरत्वाभाद्वाक्यस्य। नहि शास्त्र स्वयमेव ब्रह्मणो रूपं दर्शयित्वा पुनः स्वयमेव प्रतिषेधति, "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमि" ति न्यायात्। ननु नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृश्यते प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपावेदनाय चेति चेन्न। तस्य कल्पकाभावेन कल्पितत्वासम्भवात्। तथा हि को वा तस्य कल्पक इति विवेचनीयम्, ब्रह्मैव वा जीवो वा? इति। नाद्यः, शुद्धस्य निर्विशेषस्य कल्पनाश्रयत्वायोगात्। अन्यथा शुद्धत्वहानेः। न द्वितीयः। भवन्मते तस्यापि कल्पितत्वेन कल्पकत्वासम्भवात्। नहि प्रतिबिम्बः कल्पनाश्रयो दृष्टः श्रुतः सम्भवति वा जडत्वात्। वास्तवचेतनान्तराङ्गीकारेऽद्वैतभङ्गः, कल्पितत्वानुपपत्तिश्चेत्यादिना पूर्वैर्विस्तृतत्वा-दलमस्माभिरत्र। नापि वाचारम्भणशब्दः प्रपञ्चासत्त्वपरः, पूर्वामेवारम्भणाधिकरणे निरस्त-त्वात्। किञ्च यदि प्रपञ्चासत्त्वमेवाभिप्रेतं तर्हि "तदनन्यत्वामारम्भणशब्दादिभ्य" इत्यस्मिन्न-धिकरणेऽसत्कार्यवादं निरस्य किमर्थं सत्कार्य्यवादसमर्थनम्। तस्मात्तत्रोक्तप्रतिज्ञादृष्टान्त-विरोधादधिकरणविरोधः स्ववाक्यविरोधश्चानिर्वायः। अपि च वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाती-त्युक्त्वा पुनः शुद्धब्रह्मस्वरूपावेदनायेत्यपि स्वोक्तिविरोधः, सर्वप्रमाणाविषयस्यावेदना-सम्भवात्। विषयत्वाङ्गीकारे च मिथ्यात्वप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण तस्मान्नेति नेतीति शब्दो ब्रह्मणः प्राप्तमूर्त्तामूर्त्तरूपे यत्तामेव प्रतिषेधति। वाक्यशेषश्चोक्ताद्भूयस्त्वं तद्वैलक्षण्येन स्वरूपतः सत्यत्वोपलक्षितसार्वज्ञ्याद्यनन्तगुणतश्चानन्तत्वं प्रतिपादयतीति सूत्रकारतात्पर्यार्थः। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, (तै०आ०/१/१) यः सर्वज्ञः सर्वविदि" त्यादिश्रुतिभ्यः।।२२।।

यद्येवं तर्हि कथं गृह्यत इत्याशङ्क्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्म चेतन अचेतन समस्त वस्तुओं के अन्तरात्मा होने पर भी जैसे तत्-तत् स्थानों में अवस्थित जीव में तत्-तत् दोष का योग होता है। वैसे परमात्मा का नहीं क्योंकि श्रुतियों एवं स्मृतियों में ब्रह्म में स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषत्व एवं अनन्त कल्याणगुणाकरत्व का वर्णन किया गया है। अतः उभयलिङ्ग का निरूपण हुआ। अब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से दुर्ज्ञेय ब्रह्म के ज्ञान के लिये स्थूल आदि रूप के उपदेश से प्राप्त इयत्ता का निषेधपूर्वक सत्य ज्ञान आदि अनन्त कल्याण गुणाश्रय तथा अपरिच्छिन्न ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हैं। बृह्मारण्यक में स्थूल दृष्टियों के ज्ञान के लिए "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च" (बृ०४/३/१) ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त एवं अमूर्त इत्यादि वाक्यों द्वारा तेज, जल तथा पृथिव्यात्मक तथा वायु आकाशात्मक, इस प्रकार पञ्चभूतात्मक स्थूल रूप का उपदेश करके [1]महारजन आदि रूप का

१. महारजनी दिव्या हरिद्रा को कहते हैं- उससे रक्त वस्त्र को महारजन कहते हैं। (अमोलकराम जी शास्त्री) (सं)

उपदेश करके कहते हैं "अथात आदेशो नेति नेति (बृ०४/३/६)" उस परमात्मा के नाम, रूप, गुणों की इति-इयत्ता नहीं है। न हि एतस्मात् इति इति नेति (नेति नेति श्रुति का अर्थ ब्रह्म के प्रत्यक्ष विषयत्व का निरूपण नेति नेति प्रकृत का एतावत्त्व जगत् इतना ही इसका ही निषेध है न कि जगत् का) अर्थात् इसके आगे इति नहीं है जिसके नाम रूप गुणों का अन्त नहीं है, अन्य कोई पर नहीं है "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" (वृ०३/३/७) वह सत्य का भी सत्य है यानी परम सत्य है त्रिकालाबाधित है। यहाँ संशय होता है- 'नेति नेति' यह श्रुति क्या पूर्व में उपदिष्ट मूर्तामूर्तात्मक पृथिवी जल तेज (मूर्त) वायु आकाश (अमूर्त) सम्पूर्ण जगत् का प्रतिषेध है अर्थात् दृश्यमान यह सारा जगत् मिथ्या है। अथवा ब्रह्म में प्राप्त एतावत्त्व यानी ब्रह्म इतना ही है उसमें इतने ही गुण तथा शक्तियाँ हैं। एतद् रूपं एतावत्त्वं का प्रतिषेध करती हैं। यहाँ प्राप्त क्या है ? ब्रह्म के मूर्तामूर्तात्मक समस्त रूप का प्रतिषेध श्रुति में इति शब्द के द्वारा सामान्य जगत् का निषेध है। इसलिए मूर्तामूर्तात्मक नामरूपात्मक जगत् का प्रतिषेध करके नीरूप (निराकार) नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव अद्वितीय ब्रह्म का यह वाक्य (नेति नेति) से प्रतिपादन करता है। नाम रूपात्मक जगत् के रहते हुए ब्रह्म में अद्वितीयत्व आदि का विरोध होगा, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं— 'प्रकृतैतावत्वं हि' यहाँ हि अवधारण अर्थ में है। अन्ययोग व्यवच्छेदार्थक है। प्रकृतैतावत्त्वमेव ब्रह्मणः प्रतिषेधति, अर्थात् प्रकृत जो मूर्तामूर्त प्रपञ्च है, वह इतना ही ब्रह्म नहीं है, वह "एतावानस्य महिमा अतोज्यायांश्च पुरुषः पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्या मृतं दिवि।" "अथात आदेशो नेति नेति" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित होता है। इससे प्रपञ्च के स्वरूप का निषेध नहीं है। कारण यह वाक्य तत्परक (जगत् निषेधपरक) नहीं है। दो नञ् द्वित्व संख्यावच्छिन्नरूप एतावत्व का प्रतिषेध करते हैं। "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्त्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्" (श्वे० १/१२) यहाँ भी त्रिरूपत्व का प्रतिपादन है। उसे ही कहते हैं "ततो ब्रवीति च भूयः"। उस मूर्त अमूर्त रूप दो से अधिक तत्त्व होने की बात कही जाती है या कही गई है। यह वाक्य शेष है अधिक कथन है, भोक्ता भोग्यं प्रेरिताम्" यहाँ तीन का कथन है, नहि एतस्मात् इति नेति इससे आगे और कुछ नहीं। इस पूर्वोक्त तत्त्व से अन्य ब्रह्म स्वरूप नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए, यह अर्थ है नेति नेति का। अर्थात् इस मूर्तामूर्तात्मक प्रपञ्च से आगे कुछ नहीं है कोई तत्त्व नहीं है, ऐसा नहीं किन्तु इससे श्रेष्ठ इन्द्रियाग्राह्य, इन सबका नियन्ता पुरुषोत्तम नामक परम तत्त्व है। "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः" (गी० १५/१८) इत्यादि। अथवा यहाँ इस तरह अक्षर की योजना करनी चाहिए। प्रकृत में स्थूल सूक्ष्म आदि धर्म विशिष्ट चेतनाचेतनात्मक वर्ग है तथा ब्रह्मगत जो एतावत्त्व माने, यह इतना ही है, अन्यत्र वृत्ति परिमितत्त्व को नेति नेति श्रुति निषेध करती है, न कि ब्रह्म के उभलिङ्गत्त्व, स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषत्व एवं अचिन्त्य अपरिमित सार्वज्ञ्यादिधर्मवत्त्व का क्योंकि उसके अनन्तर पुनः ब्रह्म में अपरिमित गुण आदि का श्रुति प्रतिपादन करती है। इसी प्रकार नेति नेति इन दो नञों के द्वारा प्राकृत स्थूल सूक्ष्मादि धर्म विशिष्ट जड़वस्तु तथा तदवच्छिन्न जीव वस्तु विलक्षण ब्रह्म का प्रतिपादन करती है, अन्य सब समान हैं। वह क्या है, इस अपेक्षा में कहते हैं "अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्" इसके बाद नामधेय है वह सत्य का भी सत्य है। उसका निर्वचन है "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" (बृ/४/३/६) यहाँ प्राण

शब्द से प्राणवान् जीव कहे जाते हैं। वे आकाश आदि की तरह अनुत्पाद्य हैं। इसीलिए उनमें सत्य शब्द वाच्यता है परंतु वे जीव भी अनादि कर्म के वश देह के सम्बन्ध से जन्म के भागी होते हैं तथा ज्ञान के संकोच तथा विकास रूप विकारवान् होते हैं। ये विकार परमात्मा में नहीं होते, इसलिए उन सबमें यह सिद्ध है। अथवा "यदासीत्तदधीनमासीत्" जो कुछ था, वह उसके अधीन था। इस श्रुति के अनुसार प्राण अर्थात् तदुपलक्षित चेतन तत्सम्बन्धी समस्त चेतन परतन्त्र सत्ताश्रय है इन सबका सत्य स्वतन्त्र सत्ताश्रय यानी इयत्ता विशिष्ट रूप में निर्दिष्ट चेतन आदि वर्ग से अत्यन्त विलक्षण परब्रह्म अशेष दोषों से विनिर्मुक्त एवं अनन्त अचिन्त्य कल्याणमय गुण गणार्णव है। वह परमात्मा "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः" "संसार बन्धस्थितिमोक्षहेतु" तथा अक्षरात् परतः परः इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है। इसी अभिप्राय को लेकर पूर्वाचार्यों ने कहा है "नेति नेति च निषेधिताश्रयस्तद्विशेषविषयोऽपि सम्मतः" वह परमात्मा 'नेति नेति' इस निषेध का आश्रय तथा उसका विशेष विषय भी माना गया है। भगवान् सनत् सुजात ने भी वैसा ही कहा है "तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव ! निर्दिश्य सम्यक्प्रचरन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति" हे महानुभाव ! उन्हीं के नाम आदि विशेष रूपों से यह सारा जगत् भासित होता है। चारों वेद स्थौल्य आदि धर्मयुक्त विश्व से विलक्षण परमात्मा को बताते हैं। उक्त अद्वितीयत्व का भी विरोध नहीं है। कारण साम्य एवं आधिक्य से शून्यत्वरूप अद्वितीयत्व ही श्रुति सम्मत है। अब यहाँ श्रीशंकराचार्य का मत दूषित करते हैं। "केचितु इत्यादि शब्दों से कुछ लोग 'नेति नेति' के विषय में कहते हैं कि क्या यह प्रतिषेध रूप एवं रूपवान् दोनों का प्रतिषेध है अथवा एक का? यदि एक का ही प्रतिषेध है तब भी क्या ब्रह्म का प्रतिषेध करती है, रूप को परिशेष करती है अथवा मूर्त अमूर्त का प्रतिषेध करती है, ब्रह्म का परिशेष? ऐसा संदेह करके वाक् मन से अतीत विषय रहित अन्तर्वर्ती प्रत्यगात्मभूत नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म में रूप प्रपञ्च प्रतिषेध करती है और ब्रह्म का परिशेष करती है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार स्वरूप जिज्ञासा में ऐसा उपक्रम किया है "अथातः आदेशो नेति नेति" यहाँ कल्पित रूप के प्रत्याख्यान से ब्रह्म में स्वरूप का यह आवेदन है, यह निर्णय करते हैं और यह तदास्पद समस्त कार्य नेति के द्वारा प्रतिषिद्ध है। कार्य का वाचारम्भण शब्द आदि के द्वारा असत्त्व नेति नेति द्वारा प्रतिषेध युक्त है, न कि ब्रह्म का प्रतिषेध क्योंकि वह समस्त कल्पनाओं का मूल है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं वह सही नहीं है। यहाँ यह संदेह युक्त नहीं है क्योंकि ब्रह्म की प्राप्ति का अभाव है। वाक्य द्वारा प्रपञ्च के स्वरूप का निषेधपरत्व नहीं है। शास्त्र स्वयं ब्रह्म का रूप दिखाकर पुनः स्वयं प्रतिषेध नहीं करता। क्योंकि "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" यह न्याय है। यदि कहें कि यह शास्त्र प्रतिपाद्य रूप से ब्रह्म का दो रूप नहीं निर्देश करता है। लोकप्रसिद्ध यह रूप इस ब्रह्म में कल्पित दिखाया जाता है। उसमें प्रतिषेध एवं ब्रह्म को स्वरूप में आवेदन के लिए, तो ऐसा नहीं कह सकते। उसमें कल्पक के अभाव से उसमें कल्पितत्त्व संभव नहीं है क्योंकि विचरणीय है कि उसका कल्पक कौन है? ब्रह्म या जीव? पहला पक्ष नहीं हो सकता। निर्विशेष ब्रह्म में कल्पनाश्रयत्व का योग नहीं हो सकता, अन्यथा शुद्धत्व की हानि होगी। दूसरा भी नहीं कह सकते- आपके मत में जीव ही कल्पित है, उसमें कल्पकत्व संभव नहीं है। प्रतिबिम्ब में कभी कल्पना का

आश्रय न देखा गया, न सुना गया है न संभव है क्योंकि वह जड़ है। वास्तविक किसी चेतन के अङ्गीकार करने पर अद्वैत भङ्ग होता है तथा कल्पितत्त्व की अनुपपत्ति भी है इत्यादि ग्रन्थों द्वारा पूर्वाचार्यों ने विस्तार से विचार किया है, इस विषय में हमें अधिक लिखना व्यर्थ है। वाचारम्भण शब्द भी प्रपञ्च के असत्त्व (अभाव) परक नहीं है। इसका भी पहले ही आरम्भण अधिकरण में खण्डन कर दिया गया है। दूसरी बात यदि प्रपञ्च का असत्त्व ही अभिप्रेत होता तो "तदनन्यत्वामारम्भणशब्दादिभ्यः" इस अधिकरण में असत्कार्यवाद का निराकरण करके पुनः सत्कार्यवाद का समर्थन क्यों किया है। इसलिए वहाँ प्रतिपादित प्रतिज्ञा दृष्टान्त के विरोध के कारण अधिकरण विरोध तथा स्ववाक्य का विरोध भी अनिवार्य है। (शंकराचार्य को) और वाक् मन से अतीत, अविषय अन्तःपाती ऐसा कहकर के पुनः शुद्ध ब्रह्म के आवेदन के लिये इस कथन में भी अपनी ही उक्ति का विरोध है जो ब्रह्म समस्त प्रमाणों का अविषय है, उसका आवेदन असंभव है। विषयत्व स्वीकार करने पर मिथ्यात्वका प्रसङ्ग होगा। अतः अधिक विस्तार व्यर्थ है। इसलिए नेति नेति शब्द ब्रह्म में प्राप्त मूर्त अमूर्त रूप में इयत्ता का ही प्रतिषेध करता है। वाक्य शेष भी उक्त से आधिक्य तथा उससे विलक्षणतया स्वरूपत सत्यत्व से उपलक्षित सार्वज्ञ्य आदि अनन्त गुण से भी ब्रह्म में अनन्तत्व का प्रतिपादन करता है, यही सूत्रकार का तात्पर्यार्थ है। इसी बात को "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तै०आ०/१/१) यः सर्वज्ञः सर्ववित्" श्रुतियाँ भी प्रतिपादित करती हैं।।२२।।

यदि ब्रह्म का ऐसा स्वरूप है फिर उसका अनुभव या साक्षात्कार कैसे होता है? इस आशङ्का पर कहते हैं—

तदव्यक्तमाह हि।३।२।२३।।

हि यस्मात्तद्ब्रह्माव्यक्तं तस्मान्न गृह्यत इति शास्त्रमाह, "न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा, नान्यैर्देवैर्मनसा कर्मणा वे" (मु०/३/१२) त्यादि।।२३।।

"एवमात्मा वाऽरे ! द्रष्टव्यः मनसैवानुद्रष्टव्य" इत्यादिश्रुतीनां निर्विषयत्वेन व्याकोपः। दर्शनाभावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गो दुर्वार इति चेत्तत्राह——

(हिन्दी–अनुवाद)

क्योंकि वह ब्रह्म अव्यक्त है इसीलिए उसका ग्रहण नहीं होता है, ऐसा शास्त्र कहता है। "न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा, नान्यैर्देवैर्मनसा कर्मणा वा" (मु०/३/१२) अर्थात् वह ब्रह्म न नेत्र से देखा जाता है, न वाणी से, न अन्य देवताओं द्वारा, न मन से, न कर्म से इत्यादि।।२३।।

"एवमात्मा वाऽरे ! द्रष्टव्यः मनसैवानुद्रष्टव्यः" अर्थात् वह आत्मा द्रष्टव्य है तथा मन से ही अनुद्रष्टव्य है इत्यादि श्रुति वाक्यों का निर्विषयत्व हो जाने से व्याकोप हो जायेगा और दर्शन के अभाव में अनिर्मोक्ष का प्रसंग भी दुर्वार होगा। इस पर कहते हैं —

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।३।२।२४।।

संराधने सम्यग्भक्तियोगे ध्याने परं ब्रह्म व्यक्तं भवति प्रकाशते, ध्यानेन प्रीतः

परमात्मा तस्मै मुमुक्षवे स्वयमात्मानं दर्शयतीत्यर्थः। कुतः इदमवगम्यत इत्यत आह प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिश्रुतेः "यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनमि" त्यादिस्मृतेश्च।।२४।।

किमात्मना ब्रह्म प्रकाशत इत्यपेक्षायामाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

संराधन अर्थात् विधिपूर्वक भक्तियोग से ध्यान करने पर परब्रह्म व्यक्त होता है। अर्थात् ध्यान से प्रसन्न होकर परमात्मा उस मुमुक्षु पुरुष को अपने आप का दर्शन करा देता है। ऐसा कैसे जानते हैं, इस पर कहते हैं। 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' अर्थात् श्रुति स्मृति के द्वारा। श्रुति कहती है "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" अर्थात् ज्ञान की महिमा से अन्तःकरण शुद्ध होने पर ध्यान करने से उस परमात्मा का दर्शन होता है और स्मृति वचन भी है। "यं विनिद्रा जितश्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः। ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः।। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्"।।२४।।

वह ब्रह्म किस रूप में प्रकाशित होता है इस अपेक्षा में कहते हैं—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्।३।२।२५।।

प्रकाशादिवदिति सूर्यवाय्वादिवत्। यथा सूर्यः तमःशीतादिदोषरहितः प्रभासङ्गत्वादिगुणयुक्तश्च, यथा वा वायुर्नीचोत्तमादिसङ्गदोषरहितोऽपि शब्दस्पर्शादिगुणवांश्चेति लोके शास्त्रे च सुप्रसिद्धम्। तद्वद्ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यं, विशेषो मायिकधर्मस्तत्सन्बन्धराहित्यं, चकाराद्वैशेष्यं च सार्वज्ञ्याद्यनन्तकल्याणविशेषधर्माश्रयत्वं च शास्त्रे प्रसिद्धम्। "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युरि" त्यादि। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चे" त्यादिश्रुतिभ्यः। तस्य प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्। कर्मणि संराधने सम्यग्भक्तियोगे अभ्यासादसकृतावर्त्तमानान्नि-दिध्यासनाद्भवति, नतु सकृद्ध्यानेनेत्यर्थः। "आवृत्तिरसकृदुपदेशादि"ति वक्ष्यमाणसूत्रात्। "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य" (वृ०/२/४/५) इत्यादिश्रुतेः। "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरे"ति भगवदुक्तेश्च। "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनरि" (गी०) ति सूत्रकारवाक्याच्च।।२५।।

प्रसङ्गात्तत्फलमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

सूर्य वायु प्रकाश आदि की तरह जैसे सूर्य तम एवं शीत आदि दोष से रहित होकर प्रभा एवं असंगत्व आदि गुणों से युक्त होकर अथवा जैसे वायु नीच उत्तम आदि संग दोष रहित होने पर भी शब्द स्पर्श आदि गुणवान् के रूप में लोक एवं शास्त्र में प्रसिद्ध है। उसी प्रकार ब्रह्म भी है। अविशेष्य है। विशेष कहते हैं मायिक धर्मसम्बन्ध को, तद्राहित्य का नाम अवैशेष्य। चकार

से वैशेष्य भी है अर्थात् सार्वज्ञ्य आदि अनन्त कल्याण धर्माश्रयत्व जो शास्त्र में प्रसिद्ध है "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः" इत्यादि "यः सर्वज्ञः सर्ववित्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि श्रुतियों से उसका प्रकाश है कर्म में अभ्यास। संराधन रूपी कर्म में अभ्यास अर्थात् पुनः-पुनः आवर्तन निदिध्यास से होता है, न कि एक बार के ध्यान से यह भाव है। सूत्र भी है "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य" (वृ०/२/४/५) "तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर" ऐसा श्रीभगवान् ने कहा है। "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः" (गी०) सूत्रकार का भी वाक्य है।।२५।।

प्रसंग से उसका फल भी कहते हैं—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।३ ।२ ।२६ ।।

अतोऽस्माद् ब्रह्मप्रकाशात्साक्षात्काराद्धेतोः अनन्तेन स्वरूपगुणशक्त्यादिभिरपरिच्छिन्नेन परब्रह्मणा श्रीपुरुषोत्तमेन सह साम्यं गच्छतीति शेषः। तत्र प्रमाणमाह-तथाहि लिङ्गमिति। एतदर्थंगमकं श्रौतवाक्यमित्यर्थः। हि निश्चये। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती (मु०७/३/१३)"ति। केचित्तु ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादित्याशङ्क्य नेत्युच्यते। यथा सौरप्रकाश आकाशावाङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव वक्र इव भाति। वस्तुतस्त्वेकस्वरूप एव, तद्वत्प्रकाश आत्माऽपि ध्यानज्ञानादौ कर्मण्युपाधौ भिन्न इव भाति। वस्तुतस्त्ववैशेष्यमेकरूपत्वमेवात्मनः। कुतः? अभ्यासात्। "तत्त्वमसी" त्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासात्। अतो भेदस्यौपाधिकत्वाद्विद्यया भेदं निरस्य जीवोऽनन्तेन परमात्मनैकतां गच्छति। तथाहि लिङ्गमपूर्वार्थज्ञापकं "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती" त्यादीत्याहुस्तदसङ्गतं, ब्रह्मण्युपाधिसम्बन्धासम्भवात्। तथाहि उपाधिः शुद्धेऽभ्युपगत ईश्वरे वा?। नाद्य उपाधिसम्बन्धस्यैवाशुद्धत्वहेतुत्वेन शुद्धत्वहानेः। न द्वितीय, ईश्वरस्याविद्यासम्बन्धोत्तरभावित्वादौपाधिकं निरूप्य उपाधिस्तन्निरूप्य औपाधिकश्चेत्यन्योऽन्याश्रयात्। प्रतिबिम्बावच्छेदवादयोस्तत्र तत्र विस्तरशो निरस्तत्वाच्च। किञ्च न तावत् "तत्त्वमसी" त्याभासो भेदनिरासे हेतु "एष ते आत्माऽन्तर्यामी (बृ०/३/१/३)" ति ततोऽप्याधिक्येन भेदाभ्यासस्यापि सत्त्वात्। सिद्धान्ते भेदाभेदवाक्ययोस्तुल्यबलत्वात्। अन्यथा परस्परं बाध्यबाधकभावाभ्युपगम उभयोरपि प्रामाण्याभावप्रसङ्गेन सर्ववेदान्तो दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्। तस्मादभ्यासशब्द उक्तार्थक एव, तस्यैव प्रकरणात्। यदप्युक्तं 'विद्यया भेदं निरस्य, जीवोऽनन्तेन परमात्मनैकतां गच्छतीति। तदप्यप्रमाणं, स्वरूपभेदस्य स्वाभाविकत्वात्स्वाभाविकस्यापि नाशाङ्गीकारे स्वरूपनाशस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्स्वरूपनाश एव मुक्तिः स्यात्। नापि "ब्रह्मैव सन्नि" ति श्रुतेरत्यन्ताभेदे लिङ्गत्वं, तत्राप्युभयभानस्य सत्त्वात्। ब्रह्मैव सन्निति वृहद्गुणयोगाद्ब्रह्मत्वस्यापि तत्र सत्त्वेनाभेदप्रत्ययः। "ब्रह्माप्येती" ति प्राप्तृप्राप्यभावश्रवणेन भेदस्यापि भानात्सर्वं समञ्जसं, नैकस्यापि विरोध इत्यलं विस्तरेण।।२६।।

एवं ब्रह्मणो मूर्त्तामूर्त्तप्रपञ्चैतावत्त्वं रूपं प्रतिषिध्य, ततो भूयस्त्वमनन्तकल्याणविशेषवत्त्वं च निरूप्य, तत्प्रकाशप्रकारं च प्रतिपाद्य, ब्रह्मणो निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थं चिदचिद्रूपप्रपञ्चस्य तेन भेदाभेदप्रकारं निर्धारयति सूत्राभ्याम्। तत्र तावदचेतनस्य ब्रह्मणा भेदाभेदः सूपपन्न इत्यादि—

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए इस ब्रह्म प्रकाश रूपी साक्षात्कार हेतु से अनन्त अर्थात् स्वरूप गुण शक्ति आदि से अपरिच्छिन्न परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम के साथ साम्य को प्राप्त हो जाता है। इसमें प्रमाण कहते हैं 'तथाहि लिङ्गम्' इसके लिए ज्ञापक श्रौतवाक्य है। हि यहाँ निश्चय अर्थ में है। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति (मु०७/३/१३)" यहाँ पूर्वसूत्र में शांकर भाष्य को दूषित करने के लिए कहते हैं, केचित्तु यदि कहें कि संराध्य संराधकभाव स्वीकार करने पर जीव परात्मा में भिन्नत्व होगा, ऐसी आशंका करके- नहीं, ऐसा कहते हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश अथवा आकाश अङ्गुलि आदि उपाधि कर्म में भिन्न की तरह वक्र की भाँति होता है। वस्तुतः एक स्वरूप ही होता है। उसी प्रकार प्रकाश आत्मा भी ध्यान ज्ञान आदि कर्म रूपी उपाधि में भिन्न के समान होता है। वस्तुतः अवैशेष्य आत्मा की एकरूपता ही है क्योंकि अभ्यासात् तत्त्वमसि इत्यादि अभेद श्रुति का अभ्यास है। इसलिए भेद औपाधिक होने से विद्या के द्वारा भेद का निरास करके जीव अनन्त परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त करता है, जैसा कि अपूर्व अर्थ का ज्ञापक लिङ्ग है, "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। ऐसा कहा है, वह असंगत है। ब्रह्म में शांकरमत सम्मत उपाधि संभव नहीं हैं। जैसे शुद्ध में स्वीकार करते हैं या ईश्वर में? पहला पक्ष नहीं कह सकते, उपाधि सम्बन्ध अशुद्धत्व का हेतु होने से शुद्धत्व की हानि होगी। दूसरा भी नहीं कह सकते। ईश्वर अविद्या सम्बन्ध के वाद ही होता है। औपाधिक निरूप्य उपाधि तथा उसमें निरूप्य औपाधिक इस तरह अन्योऽन्याश्रय भी होता है। प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद वाद का जहाँ-तहाँ विस्तार से खण्डन किया गया है। दूसरी बात 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों का अभ्यास भेद में खण्डन में हेतु नहीं कह सकते, "एष ते आत्माऽन्तर्यामी (बृ०/३/१/३)" इत्यादि भेद बोधक श्रुति का अभेद से भी अधिक अभ्यास है। हमारे सिद्धान्त में भेद अभेद वाक्यों का समान बल है। अन्यथा परस्पर बाध्य बाधक भाव स्वीकार करने पर दोनों में प्रामाण्याभाव का प्रसंग हो जाने से सम्पूर्ण वेदान्त की ही तिलाञ्जलि हो जायेगी। इसलिए अभ्यास शब्द उक्तार्थक ही है। उसी का प्रकरण है। यह जो कहा कि विद्या के द्वारा भेद का निरास करके जीव अनन्त परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त होता है, यह भी अप्रामाणिक है। स्वरूप भेद स्वाभाविक होने से स्वाभाविक का भी नाश स्वीकार करने पर स्वरूप का नाश भी कह सकते हैं, फिर तो स्वरूप नाश ही मुक्ति होगी। "ब्रह्मैव सन्" यह श्रुति अत्यन्त अभेद में लिङ्ग नहीं है। वहाँ भी उभय का मान रहता है, 'ब्रह्मैव सन्' इससे वृहद् गुण योग से ब्रह्मत्व का भी वहाँ सद्भाव होने से अभेद प्रत्यय है तथा "ब्रह्माप्येति" वचन से प्राप्य भाव का श्रवण होने से भेद का भी भाव होने से सब कुछ समञ्जस है। एक का भी विरोध नहीं है।।२६।।

इस प्रकार ब्रह्म में मूर्तामूर्त्तप्रपञ्चैतावत्त्व का प्रतिषेध कर उसमें प्रपञ्च से आधिक्य एवं अनन्तकल्याणगुणाकरत्व का निरूपण कर उसमें प्रकाश (साक्षात्कार) का प्रकार भी निरूपण कर ब्रह्म में निर्दोषत्व सिद्ध करने के लिए चित् अचित् प्रपञ्च का ब्रह्म के साथ भेदाभेद का प्रकार दो सूत्रों द्वारा निर्धारण करते हैं। यहाँ पहले अचेतन जगत का ब्रह्म के साथ भेदाभेद सम्यकतया उपपन्न है, यह कहते हैं—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।३ ।२ ।२७ ।।

अचिद्वस्तुनो ब्रह्मणा भेदाभेद एव सम्बन्धः। कुतः? उभयव्यपदेशात्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति (छा०३/१४/१), ब्रह्मैवेदं सर्व मात्मैवेदं सर्वमि'त्यभेदव्यपदेशात् "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इत्यादिना। "भेदव्यपदेशाच्चे" त्युभयविधशास्त्राविरोधात्स्वाभाविकभेदाभेद एव सिध्यति। अन्यथा चैकतरस्य शास्त्रस्यावश्यं बाधप्रसङ्गात्। ननु भेदाभेदयोरितरेतरविरोधात्कथमेकत्रावस्थानमित्याशङ्क्यतत्साधकदृष्टान्तमाहअहिकुण्डलवदिति। यथाऽहिकुण्डलयोरहित्वेन कुण्डलत्वेन च भेदो ऽह्यात्मकत्वादिना च कुण्डलस्याभेदः। तथा च कुण्डलावस्थापन्नस्याहेः कुण्डलस्य व्यक्तत्वात्प्रत्यक्षप्रमाणगोचरत्वेन भेदः स्वाभाविकः। सर्पात्मकत्वतदाधेयत्वतद्व्याप्यत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वादभेदोऽपि स्वाभाविकः। लम्बायमानावस्थायां तु सर्वदा सर्पायत्तत्वावच्छिन्नस्वरूपस्य कुण्डलस्य सूक्ष्मरूपेण तत्र सत्वेऽप्यव्यक्तनामरूपतया प्रत्यक्षाग्राह्यत्वमित्युभयोरपि स्थूलसूक्ष्मावस्थयोरनुगतत्वाद्भिन्नाभिन्नत्वम्। अन्यथा तस्य तत्राभावे पुनराविर्भावो न स्यात्। तथा स्थूलावस्थापन्नस्य कार्यस्य कारणापृथक्सिद्धपरतन्त्रसत्तावच्छिन्नस्वरूपेण व्यक्तनामरूपत्वाद्भेदः श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धः, तदात्मकत्वादिना चाभेदः। अव्याकृतावस्थायां तु बीजेऽङ्कुरस्येव कार्यस्य कारणे सूक्ष्मरूपेण सद्भावेऽप्यव्यक्तनामरूपत्वात् प्रत्यक्षाग्राह्यत्वमित्युभयावस्थायामपि तदात्मकत्वतदाधेयत्वतदायत्तसत्ताकत्वादिना तदपृथक्सिद्धत्वेनाभिन्नत्वेऽपि परतन्त्रसत्तावच्छिन्नतदात्मीयस्वरूपेण नामरूपविभागेन च भिन्नत्वमपीति स्वाभाविकभिन्नाभिन्नत्वमेवेति सङ्क्षेपः। केचित्तु इदं सूत्रं जीवात्मभेदाभेदपरत्वेन व्याख्याय 'अहिकुण्डलवदि'ति पक्षे जीवस्यावस्थारूपस्यानित्यत्वप्रसक्तिरित्यनित्यत्वं प्रतिपादयन्तो दूषयन्ति। तत्तुच्छतरं, तस्योक्तरीत्या जीवभेदाभेदपरत्वाभावात्। अचेतनस्यावस्थापत्तिरूपानित्यत्वं सर्वसम्मतत्वादस्माकमभीष्टमेवेति।।२७।।

एवमचेतनस्य भिन्नाभिन्नत्वप्रकारं निरूप्य चेतनस्य तत्त्वं प्रतिपादयति—

(हिन्दी–अनुवाद)

अचित् वस्तु का ब्रह्म के साथ भेदाभेद ही सम्बन्ध है। क्योंकि 'उभयव्यपदेशात्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति (छा०३/१४/१), ब्रह्मैवेदं सर्व, मात्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों में अभेद व्यपदेश है तथा "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि, यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" (वह परमात्मा जीव के साथ तीनों देवताओं में प्रवेश करके) जो पृथिवी में रहकर पृथिवी का नियमन करता है, जिसे पृथिवी नहीं जानती इत्यादि श्रुतियों तथा "भेदव्यपदेशाच्च" इत्यादि सूत्रों से अविरोध के लिए स्वाभाविक भेदाभेदवाद ही सिद्ध होता है। अन्यथा एक शास्त्र का अवश्य बाध प्रसंग होगा। यदि कहें कि भेदाभेद में परस्पर विरोध होने से दोनों का एकत्र सामानाधिकरण्य कैसे संभव है, ऐसी आशंका करके उसका साधक दृष्टान्त कहते हैं, "अहि कुण्डलवत्" जैसे अहि कुण्डल में सर्पत्वेन कुण्डलत्वेन भेद है तथा सर्पात्मना कुण्डल का

अभेद है। उसी प्रकार कुण्डलावस्थापन्न अहि में कुण्डल के व्यक्त होने से प्रत्यक्ष प्रमाण गोचर होने के कारण भेद स्वाभाविक है और सर्पात्मकत्व, तदाधेयत्व तथा तद्प्याप्यत्व आदि होने तथा सर्प से अपृथक् सिद्ध होने के कारण अभेद भी स्वाभाविक है। सर्प की लम्बायमान अवस्था में सर्पायत्तत्वावच्छिन्न स्वरूप कुण्डल का सूक्ष्म रूप से सर्प में सत्त्व होने पर भी अव्यक्त नाम रूप होने से प्रत्यक्षाग्राह्यत्व है। इस प्रकार दोनों स्थूल सूक्ष्म अवस्था में अनुगत होने से स्व-भिन्नाभिन्नत्व है। अन्यथा कुण्डल के सर्प अवस्था में अभाव मानने पर उससे पुनः उसका आविर्भाव नहीं होगा तथा स्थूलावस्थापन्न कार्य (अहिकुण्डल) के कारण अहि अपृथक् सिद्ध तथा परतन्त्र सत्तावच्छिन्न स्वरूप होने से व्यक्त नाम रूप होने से भेद श्रुति आदि प्रमाणों से सिद्ध है तथा तदात्मकत्व आदि धर्मों से अभेद है। अव्याकृत अवस्था में बीज में अङ्कुर की तरह कार्य का कारण में सूक्ष्म रूप से सद्भाव होने पर भी उस दशा में अव्यक्त नाम रूप होने से प्रत्यक्ष ग्राह्यत्व नहीं होता। इस प्रकार उभय अवस्था में भी तदात्मकत्व तदाधेयत्व आदि में कारण सर्प से अपृथक् सिद्ध होने के कारण अभिन्न होने पर भी परतन्त्र सत्तावच्छिन्न तदात्मीय स्वरूप से तथा नाम रूप विभाग से भी भिन्नत्व भी है। इस प्रकार स्वाभाविक भिन्नाभिन्नत्व ही है, इति सङ्क्षेपः। अब यहाँ औपाधिक भेदाभेदवादी की व्याख्या का खण्डन करते हैं- कुछ लोग इस सूत्र को जीवात्मा एवं परमात्मा के भेदाभेद परत्वेन व्याख्या करके 'अहि कुण्डलवत्' इस पक्ष में अवस्था रूप जीव में अनित्यत्व की प्रसक्ति है, इस प्रकार अनित्यत्व का प्रतिपादन करते हुए दूषित करते हैं। वह अत्यन्त तुच्छ है, उस सूत्र का उक्त रीति से जीव भेदाभेद परत्व नहीं है। अचेतन की अवस्थापत्ति रूप अनित्यत्व सर्वसम्मत होने से हमारा अभीष्ट ही है।।२७।।

इस प्रकार अचेतन के भिन्नाभिन्न प्रकार का निरूपण करके अब चेतन (जीव) के भिन्नाभिन्नत्व प्रकार का प्रतिपादन करते हैं—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्।३।२।२८।।

वा शब्दोऽतिदेशार्थः। पूर्वोक्ताचेतनवच्चेतनस्यापि ब्रह्मणा भिन्नाभिन्नत्वं दर्शयति। कुतः? उभयव्यपदेशादित्यनुवर्त्तते। "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति ध्यातृध्येयत्वेन द्रष्टृदृश्यत्वेन च "ब्रह्मविदाप्नोति परं परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमि"ति प्राप्तृप्राप्यत्वेन च स्वाभाविकस्य भेदस्य व्यपदेशात्। "तत्त्वमस्यहं ब्रह्माऽस्मि, अयमात्मा ब्रह्मे" त्यादिना च स्वाभाविकाभेदस्य च व्यपदेशाद्भिन्नाभिन्नत्वमिति। अधिकशङ्का तु यदि पूर्वदृष्टान्तेन चेतनस्य भिन्नाभिन्नत्वं, तर्ह्यचेतनवदवस्थाभाक्त्वमङ्गीकृतं स्यादिति तन्निरासयन्दृष्टान्तरमाह-प्रकाशाश्रयवदिति। यथा सूर्यमणिदीपादिप्रकाशस्तत्प्रभारूपः स्वाश्रयात्सूर्यादेर्भिन्नतया प्रत्यक्षेणोपलभ्यते, स्वाभाविकभेदवत्त्वात्। सूर्यदीपादेर्दृष्ट्यगोचरत्वेऽपि दूरस्थत्वेऽपि सूर्यप्रभेयं दीपप्रकाशोऽयमिति भेदप्रतीतेः सर्वजनप्रसिद्धत्वात्। तथा तदाधेयत्वतदात्मकत्वादिभिश्च हेतुभिस्तदविनाभावादभिन्नत्वमपि प्रत्यक्षादिमानसिद्धमेव। अतोऽभेदस्यापि स्वाभाविकत्वमिति। तद्वत्प्रत्यगात्मनामपि परतन्त्रसत्तावच्छिन्नब्रह्मात्मीय-स्वरूपत्वाणुपरिमाणकत्वाल्पज्ञत्वादिहेतुभिः स्वभावाद्भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मात्मकत्वतदाधेयत्व-तद्व्याप्यत्वतदधीनस्थितिप्रवृत्तिकत्वादिभिर्हेतुभिस्तदविनाभावादभिन्नत्वमपि स्वाभाविकमेवेति न केनापि वाक्येन विरोधलेशस्य सम्भावनेति। तत्र हेतुमाह— तेजस्त्वादिति। उभयोरपि

तेजोरूपत्वाद्गुणतोऽप्यभेदः सम्भवतीत्यर्थः। केचित्तु सवितृप्रकाशपक्षेऽप्या धाराधेयभावः "प्रत्यहमुदयास्तमयौ च भवत" इत्याहुस्तत्तुच्छ, माधाराधेयभावस्य शास्त्रप्रमाण सिद्धत्वेनेष्टापन्नत्वात्। "यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, यस्मिन्द्यौश्च पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वै" इत्यादिश्रुतेः। "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रेमणिगणा इवे"ति स्मृतेश्च। "द्युभ्वाद्यायतनमि" त्युक्तसूत्राच्च। नाप्युदयास्तमयौ दोषौ वक्तुं शक्यौ, तयोर्नित्यसम्बन्धात्। नहि सूर्याद्विच्छिद्य प्रकाशस्योदयास्तमयौ भवतो दृष्टश्रुतागोचरत्वात्। नाप्युभयोः सप्रकाशस्य सूर्यस्य लोकान्तरगमनागमन-व्यवहारेणैवोदयास्तमयत्वव्यवहार औपचारिको, न मुख्यः। किन्तु तस्य लोकान्तरे सप्रकाशस्य सत्त्वेऽपि मनुष्यादेः स्वदृष्ट्यावरणान्न स दृश्यते। तत्रत्यैरनावृतचक्षुभिर्दृश्यते। एवं जीवपरमात्मनोरपि प्रकाशाश्रयवत्सर्वदा वर्त्तमानत्वेऽप्य "ज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तव" इति प्रमाणादज्ञानावृतधर्माणां न दर्शनम्। भगवत्प्रसादेन भग्नावरणानां दिव्यदृष्टीनां तद्दर्शनं शास्त्रसिद्धम्।। "नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरमि" ति भगवद्वचनात्।।२८।।

ननु ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि बाधिता भवेयुरित्याशङ्कायां समाधत्ते ——

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'वा' शब्द अतिदेशार्थक है। पूर्वोक्त अचेतन की तरह चेतन जीव का भी ब्रह्म के साथ भिन्नाभिन्नत्व है, यह दिखाते हैं क्योंकि 'उभयव्यपदेशात्' की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इस श्रुति के द्वारा जीव ब्रह्म में ध्यातृ ध्येयभाव एवं द्रष्टृदृश्यभाव एवं "ब्रह्मविदाप्नोति परं, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इस श्रुति में प्राप्तृ प्राप्यत्व भाव का वर्णन होने से स्वाभाविक भेद का व्यपदेश है। तथा "तत्त्वमस्यहं ब्रह्माऽस्मि, अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव ब्रह्म में स्वाभाविक अभेद का व्यपदेश होने से भिन्नाभिन्नत्व है, यह सिद्ध होता है। यदि पूर्व दृष्टान्त (अहि कुण्डल) से चेतन का भिन्नाभिन्नत्व कहें तब अचेतन की तरह जीव में अवस्थाभागित्व स्वीकृत होगा। इसीलिए उसका खण्डन करते हुए दृष्टान्तर कहते हैं- प्रकाशाश्रयवद्वा। जैसे सूर्य, मणि तथा दीपक आदि का प्रकाश जो उसकी प्रभारूप ही है, फिर भी (प्रभा) अपने आश्रय सूर्य से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है क्योंकि उसमें स्वाभाविक भेद है। सूर्य तथा दीप आदि के दृष्टि अगोचर होने पर भी या दूरस्थ होने पर भी यह सूर्य प्रभा है, यह दीपक का प्रकाश है, यह भेद प्रतीत होता है। जो सर्वजन प्रसिद्ध है तथा तदाधेयत्व तदात्मकत्व आदि हेतुओं से तदविनाभाव के कारण अभिन्नत्व भी प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध ही है। इसलिए अभेद भी स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार प्रत्यगात्माओं में भी परतन्त्र सत्तावच्छिन्नत्व, ब्रह्मात्मीयस्वरूपत्व, अणुपरिमाणकत्व तथा अल्पज्ञत्व आदि हेतुओं से स्वाभाविक भिन्नत्व होने पर भी ब्रह्मात्मकत्व तदाधेयत्व तद्व्याप्यत्व तद्धीनस्थितिप्रवृत्तिकत्व आदि हेतुओं के कारण ब्रह्म से अविनाभाव होने से अभिन्नत्व भी स्वाभाविक ही है। इस प्रकार किसी वाक्य (श्रुति) से विरोध का लेश भी संभव नहीं है। इसके हेतु कहते हैं 'तेजस्त्वात्'। दोनों के तेज रूप होने से गुणतः भी अभेद संभव है। कुछ लोग सूर्य और प्रकाश के पक्ष में भी

आधाराधेयभाव, प्रतिदिन उदय एवं अस्तमय होता है, ऐसा कहते हैं, वह तुच्छ है। आधाराधेयभाव शास्त्र प्रमाण सिद्ध होने से इष्टापन्न है। "यस्मिल्लँलोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, यस्मिन्द्यौश्च पृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः" इत्यादि श्रुति वाक्यों एवं "मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव" इत्यादि स्मृतियों से भी परमात्मा में सर्वाधारत्व सिद्ध होता है। उदय अस्तमय दोष नहीं कह सकते, उनमें नित्य सम्बन्ध है। सूर्य से अलग होकर प्रकाश का उदय और अस्त होता है, ऐसा न देखा गया, न कहीं सुना गया है। उदय और अस्त का सप्रकाश सूर्य का लोकान्तर में गमन आगमन व्यवहार से ही उदय अस्तमय व्यवहार न औपचारिक है, न ही मुख्य है। किन्तु सूर्य के प्रकाश लोकान्तर में होने पर भी मनुष्य आदि की अपनी दृष्टि से आवरण होने के कारण वह दिखाई नहीं देता परंतु तत्-तत् लोक निवासियों द्वारा चक्षुओं के अनावृत होने के कारण दिखाई देता है। इसी प्रकार जीव परमात्मा प्रकाश और उसके आश्रय सूर्य की तरह, सर्वदा वर्तमान होने पर भी "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इस प्रमाण के कारण अज्ञान से आवृत धर्म वालों को उसका दर्शन नहीं होता। भगवान् की कृपा से अज्ञान रूप आवरण के भग्न होने पर दिव्यदृष्टि प्राप्त होने के पश्चात् उसका दर्शन शास्त्र सिद्ध है। "नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" ऐसा भगवद् वचन है।।२८।।

यदि कहें कि ब्रह्मस्वरूप के ही अचित् (जगत्) रूप में अवस्थान मानने पर भेद श्रुतियाँ तथा ब्रह्म के अपरिणामित्ववादी श्रुतियाँ भी बाधित हो जायेंगी। इस आशङ्का में समाधान करते हैं—

पूर्ववद्वा ।३ ।२ ।२९ ।।

वाशब्द आक्षेपनिरासार्थः। पूर्ववत्। यथापूर्वं "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपो वे" त्यनेन ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं न सम्भवतीत्याक्षेपे प्राप्ते समाधत्ते "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वादि"ति। तथात्रापि बोध्यम्। तथाध्यनन्तगुणशक्तिमतो ब्रह्मणः परिणामिस्वभावाऽचिच्छक्तेः स्थूलावस्थायां सत्यां तदन्तरात्मत्वेन तत्रावस्थानेऽपि परिणामस्य शक्तिगतत्वात् स्वरूपे परिणामाभावात् कुण्डलदृष्यन्तो न दोषावहो, ऽपृथक्सिद्धत्वेनाभेदेऽपि भेदज्ञापनार्थः। उपसंहृतशक्तित्वेन प्रपञ्स्याविभक्तनामरूपत्वात्कारणैकत्वापत्त्या "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्धितीयमि" त्यादिश्रुतिभिरेकत्वप्रतिपादनादहिदृष्यन्तोक्तिरपि सम्भवतीति निरवद्यम्। भेदश्रुतयोऽपि कार्यकारणयोः स्वरूपस्वभावविवेचनपरा, नात्यन्तभेदपरा अनेकतादात्म्यप्रतिपादकवाक्यविरोधात्।।२९।।

ननु दोषवदन्तःस्थत्वे कज्जलागार इव कथं दोषस्पर्शाभाव इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'वा' शब्द आक्षेप निराकरणार्थ है। जैसे पूर्व में "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवशब्दव्याकोपो वा" इस सूत्र के द्वारा ब्रह्म में जगत् का उपादानत्व संभव नहीं है, ऐसा आक्षेप प्राप्त होने पर समाधान करते हैं। "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" वैसे यहाँ भी समझना चाहिए। जैसे अनन्तगुण शक्तिशाली ब्रह्म में परिणाम स्वभाव अचित् शक्ति की स्थूल अवस्था होने पर अर्थात्

उसके जगदाकार में परिणत होने पर भी, परिणाम शक्तिगत होने से स्वरूप में परिणाम का अभाव होता है, अतः कुण्डल दृष्टान्त दोषावह नहीं है। उक्त दृष्टान्त से अपृथक् सिद्ध होने से अभेद होने पर भी भेद ज्ञापनार्थ वह दृष्टान्त है। प्रलय दशा में शक्ति के अपने में उपसंहार करने के कारण, उस दशा में जगत् का ब्रह्म में अव्यक्त नाम रूप होने के कारण ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति के कारण "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा एकत्व का प्रतिपादन होने से अहि दृष्टान्त का कथन भी संभव है, इस प्रकार सब कुछ निरवद्य है। भेद श्रुतियाँ भी कार्य कारण के स्वरूप विवेचनपरक हैं। न कि अत्यन्त भेदपरक। कारण अत्यन्त भेद मानने पर तादात्म्य प्रतिपादक उनेक वाक्यों का विरोध है।।२९।।

यदि कहें कि दोषपूर्ण जीव के अन्तर में स्थिति मानने पर काजर की कोठरी में कैसे दोष का अस्पर्श होगा, इस पर कहते हैं—

प्रतिषेधाच्च।।३।२।३०।।

सर्वान्तःस्थत्वेन सर्वरूपत्वेऽपि दोषास्पृष्टस्वभावत्वेन दोषस्पर्शस्य प्रतिषेधात् श्रुत्येति शेषः। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः। वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्चे" त्यादिश्रुतिभिः। केचित्तु 'अहिकुण्डलवत्प्रकाशाश्रयवद्वे' त्युभयसूत्राभ्यां परमतत्वेन भेदाभेदमुपन्यस्य "पूर्ववद्वे" त्यनेन यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमि"ति तथैव भवितुमर्हति। तथा ह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यत इति सिद्धान्तं कृत्वा, यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन वैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत, ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्त्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्र वैयर्थ्यं प्रसज्येत। न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशत्यभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति, भेदं तु पूर्वमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षयेति दूषयन्ति। तत्तुच्छमसम्भवात्। तथाहि यदुक्तं "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमि"ति पूर्वमुपन्यस्त एव सिद्धान्त इति। तन्न। तदसम्भवस्य तत्रैव निर्णीतत्वात्। यच्चोक्तमविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यत इति, तत्सत्यमस्माकमप्यङ्गीकारात्। अविद्याशब्दस्यानादिकर्मपरत्वात्। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यत" इति श्रुतिस्मृतिभ्यो ऽनादिपुण्यापुण्यात्मककर्मणैव बन्धः। तस्य च "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते पुण्यपापे विधूय क्षीयन्ते चास्य कर्मणी" त्यादिशास्त्रात् ध्वंसेन मोक्षस्य सम्भवात्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

सबके अन्तःस्थ (अन्तर्)में स्थित होने पर, भगवान् के सर्वरूप होने पर भी, दोषों से अस्पृष्ट स्वभाव होने के कारण दोषस्पर्श का परमात्मा में श्रुति के द्वारा प्रतिषेध है, ऐसा शेष है। "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।" (वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च) इत्यादि श्रुतियों द्वारा बताया गया है कि जैसे सूर्य

शुद्ध-अशुद्ध सभी पदार्थों में रहने पर भी किसी के गुण दोषों से लिपायमान नहीं होता है। वैसे ही सभी भूतप्राणियों में आत्मा नियन्ता रुप से रहते हुए भी बाध्य लोक-दुःख से लिपायामान नहीं होता। "उभयव्यपदेशात्वहिकुण्डलवत् तथा प्रकाशाप्रयवद्वा तेजस्त्वात्" इन दोनों सूत्रों से परमत के रूप में भेदाभेद मतवाद का उपन्यास करके "पूर्ववद्वा" इस सूत्र से जैसे पहले कहा गया। वैसे 'प्रकाशादिवच् चावैशेष्यम्' से वैसे ही हो सकता है। तथा बन्ध अविद्याकृत होने से विद्या से मोक्ष उत्पन्न होता है। ऐसा सिद्धान्त करके यदि पुनः परमार्थतः ही कोई बद्ध आत्मा अहिकुण्डल न्याय से परमात्मा का संस्थान भूत होकर अथवा प्रकाशादि न्याय से एक देश भूत स्वीकार करेंगे, तब पारमार्थिक बन्धन का तिरस्कार करना अशक्य हो जायेगा। फिर मोक्ष शास्त्र का वैयर्थ्य प्रशक्त होगा। यहाँ पर भेद और अभेद दोनों को श्रुति बराबर व्यपदेश नहीं करती है। किन्तु अभेद को ही मुख्य प्रतिपाद्य के रूप में निर्देश करती है। भेद तो पूर्व से ही सिद्ध है, उसका अनुवाद करती है। अर्थान्तर की व्यवस्था से इस मत को दूषित करते हैं, वह तुच्छ है। असंभव के कारण जैसे यह जो कहा था। 'प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं' यह पूर्व में उपन्यस्त ही सिद्धान्त है। यह ठीक नहीं है। उसकी असंभवता वही पर निर्णय कर दिया है और यहाँ जो कहा है कि बन्ध अविद्याकृत है। उसका विद्या से मोक्ष उपपन्न है। वह सत्य है। उसे हम भी स्वीकार करते हैं। अविद्या शब्द अनादि कर्म परक है। "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते अविद्या कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते" अर्थात् अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा जीव अमृत को प्राप्त करता है। अविद्या एक कर्मसंज्ञक अन्य ही तीसरी शक्ति है। इस प्रकार श्रुति स्मृति के द्वारा अनादि पुण्यापुण्यात्मक कर्म से ही बन्धन होता है। उस बन्धन का "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते पुण्यपापे विधूय क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" इत्यादि शास्त्र से कर्म के ध्वंस होने पर मोक्ष संभव है।।१।।

यत्तु पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येतेत्युक्तं, तद्दुराग्रहमात्रम्। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि"ति श्रुतिबलादेव कर्मनिमित्तकसत्यस्यैव प्रकृतिसम्बन्धतत्कार्यलिङ्गशरीरादेर्निवृत्तिसम्भवात् न कश्चिद्दोषस्पर्शावकाशः। सत्यस्य वस्तुनो निवृत्तिर्नास्तीति नियमाभावस्य पूर्वमेव विस्तरश उक्तत्वात्। लोकेऽपि सत्यस्यैव राजकारागृहे पुरुषाणामयोमयशृङ्खलकाष्ठादिबन्धस्य राजाज्ञया निवृत्तिः। सत्यस्यैव पुरुषाङ्गे लिप्तस्य चन्दनपङ्कामेध्यादेर्जलप्रक्षालनादिना निवृत्तिः। सत्यस्यैव भूषणवस्त्रगवादेर्दानेन निवृत्तिर्दृष्टचरा सर्वजनप्रसिद्धा च, तेषां च तत्र सत्त्वदर्शनात्। बन्धस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमे च न कश्चिद्वस्तुतो बद्धः मोक्ष्यते वा भवतामित्यङ्गीकृतं स्यादिष्टमेवेति चेत्तर्हि शास्त्रारम्भो व्यर्थ एव स्यात्प्रयोजनाभावात्। तथाहि शुद्धस्य बन्धो नासीन्नास्ति न भविष्यति। यो बद्धः, स तु मिथ्या, तस्य मोक्षार्थं बुद्धिमन्तो न यतन्ते। सूर्याकाशादीनां तलघटाद्युपाधिषु प्रतिबिम्बत्वेनावच्छिन्नत्वेन च सत्त्वेऽपि क्षत्यभावदर्शनात्, तन्मुक्तये तेषां प्रयत्नस्य चादर्शनात्। एवं भवन्मते ब्रह्मणोऽपि शुद्धबुद्धनित्यमुक्तस्य कल्पिताविद्यारूपोपाधौ प्रतिबिम्बतत्त्वेऽवच्छिन्नत्वे वा दोषास्पृष्टत्वेन क्षत्यभावात्तस्य मोक्षाय प्रयत्नस्यासम्भव एव, सर्वदा स्वरूपस्फुरणात्। न चाविद्यासम्बन्धात्स्वरूपास्फुरणमिति वाच्यम्। तर्हि द्वितीयस्य तन्मोचकस्य स्वप्रकाशस्याभावान्न कदापि कथमपि तत्सम्बन्धो नङ्क्ष्यति। अविद्यालक्षणप्रमाणप्रयोजकाद्यभावस्य पूर्वैर्विस्तृतत्वादत्रोपरम्यते। नापि प्रतिबिम्बस्य स्वमोक्षार्थं प्रयत्नः सम्भवति, स्वरूपनाशप्रसङ्गात्। नहि स्वरूपनाशाय कश्चिद्यतते, ऽपि तु स्वरूपापत्त्यै एवेति। किञ्च तस्य जडत्वेन कृत्याश्रयत्वासम्भवात्। अन्यथा घटादिष्वतिप्रसङ्गात्। प्रतिबिम्बो

जडो ज्ञातृत्वकर्तृत्वादिचेतनधर्मानाश्रयत्वात्सूर्यमनुष्यादिप्रतिबिम्बवत्। तस्माद्बन्धस्य मिथ्यात्वे मोक्षस्यापि तत्त्वं तस्य मिथ्यात्वे तत्साधनजातस्य वैयर्थ्यं, तथात्वे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य सुतरां वैयर्थ्यम्। एवं च मोक्षशास्त्रस्य सुतरां वैयर्थ्यमिति तब श्रीमुखेनैव सिद्धम्। अपि च सर्वज्ञा व्यासादयः शास्त्रकाराश्च बन्धो मिथ्या, तत्सापेक्षो मोक्षोऽपि मिथ्या, न कश्चिद्बद्धो वा मुक्त इत्येव ब्रूयुः, किमिति बहुशास्त्रविस्तारेणान्यवाऽयथार्थोपदेशे तेषां वञ्चकत्वं स्यात्। तथात्वे च बौद्धमतस्वीकारः स्यात्। किञ्च चेतनस्यास्माभिरहेः कुण्डलावस्थावदवस्थात्वं न ह्यङ्गीकृतं, येन त्वदुक्तदोषप्रसङ्गः स्यात्। अपि तु प्रकाशाश्रयन्यायेन तस्य त्वाधाराधेयभाव एव स्पष्टं ज्ञायते, न त्वेकदेशत्वं जीवस्य। तथात्वे च पूर्वोक्तप्रकारेण निर्दोषत्वस्योक्तत्वात्।।२।।

(हिन्दी–अनुवाद)

जो कोई कहते हैं कि पारमार्थिक बन्धन का अपाकरण अशक्य होने से मोक्ष शास्त्र का वैयर्थ्य प्रसंग होगा, वह दुराग्रह मात्र है। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" (अन्त में पुनः विश्व माया की निवृत्ति होती है) इस श्रुति के बल से ही कर्मनिमित्तक सत्य का ही प्रकृति सम्बन्ध, तत् कार्य लिङ्गशरीर आदि की निवृत्ति सम्भव है। इसमें किसी प्रकार के दोष स्पर्श का अवकाश नहीं है। सत्य वस्तु की निवृत्ति नहीं होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है। यह बात पहले ही विस्तार से कही गई है। लोक में भी सत्य राजकारागृह में अपराधी पुरुषों के लोह मय शृंखला (सांकर) तथा काष्ठ आदि बन्धन की राजाज्ञा से निवृत्ति होती है। सत्य ही उसके अङ्ग में लिप्त चन्दनपङ्क आदि वस्तु की जलप्रक्षालन आदि से निवृत्ति होती है। इसी प्रकार सत्य ही भूषण, वस्त्र तथा गौ आदि के दान से निवृत्ति देखी गयी है। यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है। इन सबका पहले सत्य दर्शन था। बन्धन का मिथ्यात्व स्वीकार करने पर तो वास्तव में कोई न बद्ध होगा, न मुक्त होगा। यही आपका सिद्धान्त होगा। यदि आप कहें कि यह तो हमारा इष्ट ही है तो शास्त्र का आरम्भ व्यर्थ ही होगा क्योंकि कोई प्रयोजन नहीं होगा। जैसे शुद्ध का न कभी न था, न है बन्धन होगा। जो बद्ध है वह मिथ्या है। उसके मोक्ष के लिए बुद्धिमान् यत्न नहीं करेंगे। सूर्य तथा आकाश आदि का जल एवं घट आदि उपाधियों में प्रतिबिम्ब होने से या अवछिन्न होने से सत्त्व होने से कोई क्षति नहीं है। उसकी मुक्ति के लिए उनका प्रयत्न देखा नहीं जाता है। इसी प्रकार आपके मत में शुद्धबुद्ध नित्य मुक्त ब्रह्म के कल्पित अविद्या रूप उपाधि में प्रतिबिम्बित या अवछिन्न होने पर दोषों से अस्पृष्ट होने के कारण क्षति नहीं है। फिर उसके मोक्ष के लिए प्रयत्न भी असम्भव ही है क्योंकि सर्वदा स्वरूप का स्फुरण होता है। यदि कहें कि अविद्या के सम्बन्ध से स्वरूप का अस्फुरण होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते। फिर तो दूसरे अविद्या मोचक का अभाव होने से कथमपि उसका सम्बन्ध नष्ट नहीं होगा। अविद्या रूप प्रमाण संयोजक आदि के अभाव को पहले ही विस्तार से कहा गया है। इसलिए यहाँ विराम लेते हैं। न ही प्रतिबिम्ब का अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न सम्भव है क्योंकि स्वरूप नाश का प्रसङ्ग है। स्वरूप के नाश के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता है किन्तु स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही करता है। दूसरी बात प्रतिबिम्ब के जड़ होने से उसमें कृत्याश्रयत्व नहीं है। अन्यथा घट आदि में भी उसका प्रसङ्ग होगा। प्रतिबिम्ब जड़ है ज्ञातृत्व कर्तृत्व आदि चेतन धर्म के अनाश्रयत्व होने से, सूर्य मनुष्य आदि के प्रतिबिम्ब की तरह। इसलिए प्रतिबिम्ब के मिथ्यात्व होने पर मोक्ष में भी मिथ्यात्व

आयेगा। अब मोक्ष के मिथ्यात्व होने पर उसके समस्त साधन में वैयर्थ्य होगा। साधनों में वैयर्थ्य होने पर उसके प्रतिपादक शास्त्र में सुतरां वैयर्थ्य होगा और मोक्षशास्त्र का तो अत्यन्त ही वैयर्थ्य होगा। ये आपके श्रीमुख से ही सिद्ध होता है और यदि ऐसी बात होती तो सर्वज्ञ व्यास आदि शास्त्रकार बन्ध मिथ्या है तत् सापेक्ष मोक्ष भी मिथ्या है, न कोई बद्ध है, न मुक्त, ऐसा ही कहते। फिर इतना लम्बायमान बहुत से शास्त्रों के विस्तार से क्या प्रयोजन अथवा अयथार्थ उपदेश करने पर उनमें वञ्चकत्व हो जायेगा और फिर तो बौद्ध मत स्वीकार होगा। फिर तो हमारे द्वारा सर्प की कुण्डलावस्था की तरह चेतन जीवात्मा का अवस्थात्व भी स्वीकृत नहीं किया, जिससे आपके द्वारा उक्त दोष का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ। अपितु प्रकाशाश्रय न्याय से उसका तो आधाराधेयभाव ही स्पष्ट जाना जाता है। न कि जीव का एक देशत्व, वैसा मानने पर तो पूर्वोक्त प्रकार से निर्दोषत्व उक्त होता है।।२।।

नापि न चात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशत्यभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति, भेदं तु पूर्वसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरं विवक्षयेति वक्तुं शक्यं। प्रतियोगिप्रत्यक्षाभावाद्भेदाप्रत्यक्षत्वेन तस्यानुवादत्वायोगात्। प्रतियोगिनोर्जीवेशयोरप्रत्यक्षत्वं प्रसिद्धमेव। ननु जगदचेतनं तु प्रत्यक्षमेवानुभूयते तदंशेनानुवादत्वमिति चेन्न, ब्रह्मणस्तु प्रत्यक्षाभावात्। नह्येकस्य प्रत्यक्षेण भेदप्रत्यक्षो जायते, ऽपि तूभयप्रत्यक्षेणैव। तस्मात्प्रत्यक्षादिग्राह्योऽचेतने परिणामादिस्वभावे प्रकाशानन्दापरिच्छिन्नस्वरूपस्यानन्तकल्याण-गुणाश्रयस्य ब्रह्मणः श्रुतिज्ञापितो भेदो ऽनुभूयते। यादृशं ब्रह्म श्रुत्याभिधीयते नेदं जगत्तादृशं दृश्यते, ऽतो भेदोऽस्तीति ज्ञायते। तस्माच्चिदचिद्ब्रह्मभेदस्य श्रुतिप्रमितत्वमेव नानुवादार्हत्वमिति सिद्धम्। प्रत्युताभेदवाक्यानामेव भवन्मते ऽनुवादपरत्वापातात्। तथाहि भवतां सिद्धान्ते घटः सन्पटः सन्नित्यादिप्रत्यक्षस्य सन्मात्रानुभूतिग्राहित्वेना भिन्ननिर्विशेष सन्मात्रानुभूतेः प्रत्यक्षप्राप्तत्वादभेदवाक्यानां तदनुवादपरत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। अभेदवाक्यानि न स्वार्थपराणि, प्रत्यक्षप्राप्तानुभूतिपरत्वेनानुवादपरत्वादग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवाक्यवदिति पूर्वमेवोक्तत्वात्। ननु "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे" त्यादिश्रुत्या परमात्मनोऽन्यस्य चेतनस्य "नेति नेती" त्यादिवाक्यैः प्रपञ्चस्य प्रतिषेधादुक्तार्थासिद्धेरद्वैतमेव सिद्धान्त इति चेन्न, उक्तवाक्यानां त्वदुक्तार्थपरत्वाभावात्। तथाहि "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टे" त्यस्य स्वतन्त्रद्रष्ट्रन्तर-निषेधपरत्वस्योक्तत्वात् न सामान्यद्रष्टृनिषेधपरत्वं तस्य। अन्यथा "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिद्रष्टृत्वप्रतिपादकशास्त्रव्याकोपात्। 'नेति नेती' त्यादेरपि ब्रह्मण इयत्तानिषेधपरत्वेन प्रपञ्चस्वरूप निषेधपरत्वाभावास्योक्तत्वादित्यलं विस्तरेण।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

और यह कथन भी जो यहाँ भेद-अभेद दोनों को श्रुति समान रूप से व्यपदेश नहीं करती है किन्तु अभेद को ही प्रतिपाद्य रूप में निर्देश करती है। भेद तो पूर्व सिद्ध ही है। इसका केवल अनुवाद करती है। अर्थान्तर की विवक्षा से ऐसा नहीं कह सकते हैं। प्रतियोगी के प्रत्यक्ष के अभाव में भेद का प्रत्यक्ष नहीं होने से उसको अनुवाद मात्र नहीं कह सकते हैं। प्रतियोगी जीव और ईश्वर का अप्रत्यक्षत्व प्रसिद्ध ही है। यदि कहें अचेतन जगत् का तो प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। उस अंश में अनुवादत्व है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। ब्रह्म का

तो प्रत्यक्ष नहीं है। केवल एक के प्रत्यक्ष से भेद का प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि दोनों के प्रत्यक्ष से ही। इसीलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणग्राह्य अचेतन परिणामादि स्वभाव जगत् में प्रकाशआनन्द अपरिछिन्नस्वरूप अनन्तकल्याणगुणाश्रय ब्रह्म का श्रुति बोधित भेद का अनुभव होता है। अर्थात् जैसा ब्रह्म श्रुति के द्वारा प्रतिपादित होता है वैसा जगत् दिखाई नहीं देता है। इसीलिए भेद है यह जाना जाता है। इसीलिए चित् अचित् के साथ ब्रह्मभेद श्रुति के द्वारा ही ज्ञात होता है, वह अनुवादार्थ नहीं है, यह सिद्ध होता है। बल्कि अभेद शास्त्रों में ही आपके मत के अनुसार अनुवादपरत्व की आपत्ति होगी। जैसे आपके सिद्धान्त में 'घटः सन् पटः सन्' घट सत्य है। पट सत्य है इत्यादि प्रत्यक्ष में सन्मात्र की अनुभूति के ग्राह्य होने से अभिन्न निर्विशेष सन्मात्र अनुभूति के प्रत्यक्ष प्राप्त होने से, अभेद वाक्यों में अभेदानुवाद परत्व कह सकते हैं। अभेदवाक्य स्वार्थपरक नहीं है। वे प्रत्यक्ष प्राप्त अनुभूतिपरक होने से अनुवादपरक है। जैसे "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादि वाक्य जैसे पूर्व में ही कहा गया है। यदि कहें कि 'नान्योतोऽस्तिद्रष्टा' इत्यादि श्रुति के द्वारा परमात्मा से भिन्न चेतन एवं 'नेति नेति' इत्यादि वाक्यों से प्रपञ्च का निषेध होने से, उक्त अर्थ की असिद्धि होने के कारण अद्वैतवाद ही सिद्धान्त है, तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त वाक्यों का आपके कथनानुसार अर्थ नहीं होता है। जैसे "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" इसका भाव स्वतन्त्र द्रष्ट्रान्तर निषेधपरत्व कहा गया है। सामान्य द्रष्टा का निषेध नहीं। अन्यथा "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादि द्रष्ट्रत्व प्रतिपादक शास्त्र का व्याकोप होगा। 'नेति नेति' इत्यादि श्रुति का भी ब्रह्म में इयत्तापरत्व के निषेधपरक होने से, प्रपञ्चस्वरूप निषेधपरत्व का अभाव है। यह हमने पहले कहा है। इस विषय में अतिविस्तार अनावश्यक है।।३।।

अन्ये तु ब्रह्मणः संस्थानविशेषा एवाचिद्वस्तुनीति सूत्रं व्याख्यायैकस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषयोगेऽपि ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्द्रव्यस्वरूपत्वादुक्तदोषादनिर्मोक्षप्रसङ्गः। अथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणो र्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रं विवक्षितम्। एवं तर्ह्यश्वत्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिव्यवहारविरोधः। तस्माद् "अंशो नानाव्यपदेशात्प्रकाशादिवत्तु नैवं पर" (ब्र०/२/३/४३) इति जीववत् पृथक्स्थित्यनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वं विशिष्टवस्त्वे-कदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यो, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन च भेदव्यवहारो मुख्यः। ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितं तदेवं प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः प्रत्य-पृथक्सिद्धलक्षणविशेषणविशेष्यतया ययांशत्वं तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्मप्रत्यंशत्वमित्याहु-स्तत्प्रामादिकम्। एकस्यैवानन्तविचित्रशक्तिकस्य ब्रह्मणो अवस्थाविशेषयोगे तत्तद्रूपत्वेनावस्थानेऽपि दोषाभावात्। तथा हि सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनो ब्रह्मात्मकत्वेन तदाधेयत्वेन तद्व्याप्यत्वेन तन्नियम्यत्वेन तत्तन्त्रत्वेन च तदविनाभावनियमात्। ब्रह्मणश्च वस्तुजातस्यात्मत्वादिना सर्वनामत्वेऽपि च दोषास्पृष्टस्वभावत्वात्, स्वरूपे परिणामानङ्गीकाराच्च सर्वमनवद्यम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अन्य लोग ब्रह्म में संस्थान विशेष ही अचिद् वस्तु है ऐसी सूत्र की व्याख्या करके एक ही द्रव्य की अवस्था विशेष योग में भी ब्रह्मस्वरूप के अचिद् द्रव्यस्वरूप होने से उक्त दोष से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, ऐसा कहते हैं। यदि कहें कि प्रभा एवं उसके आश्रय की तरह अचित्

एवं ब्रह्म में ब्रह्मत्व जाति का योगमात्र विवक्षित है। इस तरह तो अश्वत्व गोत्व की तरह ब्रह्म (ब्रह्मत्व) भी ईश्वर में तथा चित् अचित् वस्तु में भी अनुवर्तमान होने से सामान्य है, इस प्रकार सम्पूर्ण श्रुतियों में व्यवहार का विरोध होगा। इसलिए "अंशो नानाव्यपदेशात् (ब्र.सू. २/३/४२) तथा प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" (ब्र०/२/३/४३) के अनुसार जीव की तरह पृथक् स्थिति। अनर्ह विशेषण होने से अचित् वस्तु में ब्रह्मांशत्व विशिष्ट वस्तु में एकदेशत्वेन अभेद व्यवहार मुख्य तथा विशेषण विशेष्य में स्वरूप तथा स्वभाव के भेद से भेद व्यवहार ही मुख्य है। तथा ब्रह्म में निर्दोषत्व भी सुरक्षित है, वह इस प्रकार प्रकाश, जाति, गुण एवं शरीर का मणि, व्यक्ति, गुणी तथा आत्मा के प्रति अपृथक् सिद्ध स्वरूप विशेषण विशेष्य रूप में जैसे अंशत्व है, उसी प्रकार यहाँ जीव तथा अचित् वस्तु का ब्रह्म के प्रति अंशत्व है, ऐसा कहते हैं, वह प्रामादिक है। एक ही अनन्त विचित्र शक्ति विशिष्ट ब्रह्म के अवस्था विशेष योग में तत्-तत् रूप में अवस्थान होने पर भी दोष का अभाव है। इस तरह समस्त चित् अचित् वस्तु के ब्रह्मात्मक होने, तदाधेय होने, तद्व्याप्य होने, तन्नियम्य होने, तदधीन होने के कारण तदविना भाव का नियम है। ब्रह्म में वस्तु मात्र के आत्मत्व आदि से सर्वनामत्व होने पर भी दोषों से अस्पृष्ट स्वभावत्व का नियम है। स्वरूप के परिणाम स्वीकार न करने से भी सब कुछ निर्दोष है।।४।।

"ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवत्, नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति, सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वलिङ्ग" इत्याद्याः श्रुतयः। "अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाह मर्जुन! वासुदेवः सर्वमिति, 'इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः, सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः, क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्। सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिरखिलाभिरुदीर्य्यते तथैकः। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। योऽयं तवागतो देव! समीपे देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवानि" त्याद्याः स्मृतयश्च चिदचित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वे तदपृथक्सिद्धत्वे ब्रह्मणश्च सर्वरूपत्वे प्रमाणम्। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, असङ्गो ह्ययं पुरुषः, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमच्छायमि" त्यादि। अन्यत्र धर्म्यादन्यत्राधर्मादन्यस्मात्कृताकृतात्। "अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वदे" त्याद्याः श्रुतयः। "परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोव्यक्तात् सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। स सर्वभूतः प्रकृतिं विकारान् गुणांश्च दोषांश्च मुने! व्यतीतः। अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेन श्रितं यत् भुवनान्तराले" इत्याद्याः स्मृतयश्च ब्रह्मणो निर्लेपत्वे प्रमाणम्। तस्मादहिकुण्डलदृष्यन्तेन भेदाभेदाङ्गीकारेऽपि परिणामादिदोषस्याचिच्छक्तिगतत्वेन परब्रह्मणो निर्दोषत्वादुक्तशङ्काया उन्मत्तप्रलापत्वं सिद्ध्यति।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, स्वयमात्मानमकुरुत, सच्च त्यच्चाभवत्, नामानि सर्वाणि यमाविशन्ति, सर्वनामा सर्वकर्मा सर्वलिङ्ग" इत्यादि "अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः। अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाह मर्जुन। वासुदेवः सर्वमि"ति 'इन्द्रियाणि मनो

बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्। सुरपशुमनुजादिकल्पनाभिर्हरिर-खिलाभिरुदीर्य्यते तथैकः। न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्। योऽयं तवागतो देव! समीपे देवतागणः। स त्वमेव जगत्स्रष्टा यतः सर्वगतो भवान्" इत्यादि स्मृतियाँ भी चित् अचित् प्रपञ्चात्मक जगत् के ब्रह्मात्मकत्व एवं ब्रह्म से अपृथक् सिद्धत्व में प्रमाण है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः, असङ्गो ह्ययं पुरुषः, अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमच्छायम्" इत्यादि। अन्यत्र धर्म्यादन्यत्राधर्मादन्य-स्मात्कताकृतात्। "अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद" इत्यादि श्रुतियाँ तथा "परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तो व्यक्तात् सनातनः। यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। यस्मात्क्षरमती-तोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः। स सर्वभूतः प्रकृतिं विकारान् गुणांश्च दोषांश्च मुने! व्यतीतः। अतीतसर्वावरणोऽखिलात्मा तेन श्रितं यत्भुवनान्तराले" इत्यादि स्मृतियाँ भी ब्रह्म के निर्लेपत्व में प्रमाण है। इसलिए अहिकुण्डल दृष्टान्त से भेदाभेद अङ्गीकार होने पर भी परिणाम आदि दोष अचित्शक्तिगत होने से परब्रह्म में निर्दोषत्व है, इसलिए उक्त शङ्का उन्मत्तप्रलाप ही सिद्ध होता है।।५।।

अन्यथा "प्रकृतिश्चे"ति "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य" इत्यधिकरणयोरुदाहृतश्रुतिसमुदायस्य च व्याकोपात्। किञ्च भवद्भिरपि "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादि" त्यस्य सूत्रस्य भाष्ये प्रतिज्ञादृष्टान्ताभ्यां निमित्तमात्रकारणत्वं निरस्य ब्रह्मण एवोपादानत्व उपादानभूतमृत्पिण्डलोह-मणिनखकृन्तनविज्ञानेन घटमणिकटकमुकुटपरश्वधवास्यादितत्कार्यविज्ञानवत् निखिलजगदेककारणभूते ब्रह्मणि विज्ञाते तत्कार्यं जगद्विज्ञातमेव स्यात्। कारणमेवावस्थान्तरमापन्नं न द्रव्यान्तरमिति कार्यकारणरूपेणावस्थित मृद्विकारादिनिदर्शनेन प्रतिज्ञासमर्थनादिति सर्वचिदचिद्वस्तुशरीरतया सर्वदा सर्वात्मभूतं परं ब्रह्म कदाचिद्विभक्तनामरूपं, कदाचिच्चाविभक्तनामरूपं, यदा विभक्तनामरूपं तदा तदेव बहुत्वेन कार्यत्वेन चोच्यते। यदाचाविभक्तनामरूपं तदैकमद्वितीयं कारणमिति च। एवं सर्वदा चिदचिद्वस्तुशरीरस्य परस्य ब्रह्मणो विभक्तनामरूपा याऽवस्था, सा "गौरनाद्यन्तवती विकारजननीमजामेकामि" त्यादिभिरभिधीयत इति च "आत्मकृतेः परिणामादि" त्यस्य भाष्ये "ऽविभक्तनामरूप आत्मा कर्त्ता, स एव विभक्तनामरूपः कार्यमिति कर्तृत्वकर्मत्वयोर्न विरोध" इत्युक्तम्। तथा च परमात्मन एव सर्वावस्थावत्तया स्थूलादिसर्वकार्यस्वरूपत्वाङ्गीकारात्त्वत्प्रयुक्तदोषरूपवज्रं त्वदुपर्य्येवापतितम्। ननु परमात्मनश्चिदचित्सङ्घात रूपजगदाकारपरिणामे परमात्मशरीरभूत-चिदंशगताः सर्व एवापुरुषार्थाः, तथा भूताचिदंशगताश्च सर्वे विकारा न परमात्मनि कार्य्यत्वेनावस्थितयोस्तयोः शरीरभूतयोर्नियन्तृतयाऽऽत्मभूतः परमात्मा तद्गतापुरुषार्थैर्विकारैश्च न स्पृश्यत इत्युक्तत्वान्न विरोध इति चेत्तर्ह्यागतोऽसि नो मार्गे। अस्माभिरपि दोषाणां सर्वेषां परमात्मीयशक्तिभूतयोश्चिदचितोरेवाङ्गीकारात् स्वरूपे परिणामानङ्गीकारात्। "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे"।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अन्यथा 'प्रकृतिश्च' तथा "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इन दोनों अधिकरणों में उदाहृत श्रुति समुदाय का व्याकोप होगा। दूसरी बात आपने भी "प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्"

इस सूत्र के भाष्य में प्रतिज्ञा दृष्टान्त द्वारा निमित्तमात्र कारणत्व निराकरण करके ब्रह्म के उपादानत्व में उपादान रूप मृत्पिण्ड, लोहमणि तथा नखकृन्तन विज्ञान से उसमें घट, मणि, कटक, मुकुट, परश्वध, वास्य आदि कार्यों के विज्ञान की तरह अखिल जगत् के कारण ब्रह्म के विज्ञात होने पर उसका कार्य जगत् सारा विज्ञात हो जाता है। कारण ही अवस्थान्तर (अवस्थाविशेष) को प्राप्त होकर कार्य होता है, वह द्रव्यान्तर नहीं होता। इसलिए कार्य कारण रूप से अवस्थित मृत् विकार आदि के दृष्टान्त से प्रतिज्ञा का समर्थन होता है। इस प्रकार समस्त चित् अचित् वस्तु के शरीर होने से सर्वदा सर्वात्मभूत परब्रह्म कदाचित् विभक्त नाम रूपात्मक होकर कदाचित् अविभक्त नाम होता है। जब विभक्त नाम रूप होता है तब वही बहुत कार्य रूप में उक्त होता है। जब अविभक्त नाम रूप होता है, तब एक अद्वितीय कारण होता है। इस प्रकार सर्वदा चित् अचित् शरीर विशिष्ट परब्रह्म की विभक्त नामरूपात्मक अवस्था है। वह "गौरनाद्यन्तवती विकारजननीमजामेकाम्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा कही जाती है। यह बात 'आत्मकृतेः परिणामात्' इस सूत्र के भाष्य में अविभक्त नाम रूप आत्मा कर्ता है, वही विभक्त नाम रूप होने पर कार्य कहलाता है। इस प्रकार कर्तृत्व कर्मत्व में कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार परमात्मा में ही सर्वावस्था विशिष्ट होने से उसमें स्थूलादि सकल कार्य स्वरूपत्व अङ्गीकार होने से, आपके द्वारा प्रयुक्त दोषरूप वज्र आपके ऊपर ही गिरेगा। यदि परमात्मा में चित् अचित् संघात रूप जगदाकार रूप परिणाम मानने पर, परमात्मा के शरीरभूत चिदंशगत सभी अपुरुषार्थ तथा अचिदंश गत समस्त विकार परमात्मा के कार्य रूप में अवस्थित, उस शरीरभूत चित् अचित् के नियन्ता रूप में आत्मभूत परमात्मा, तद्गत अपुरुषार्थ विकारों से स्पृष्ट नहीं होता। ऐसा कहने से कोई विरोध नहीं है, ऐसा कहें तो फिर आप हमारे मार्ग पर ही आ गये। हमने भी सभी दोषों को परमात्मा के शक्तिभूत चित् अचित् में ही अङ्गीकार किया है, स्वरूप में परिणाम नहीं माना है, फिर तो "यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे" जहाँ दोनों पक्षों में समान दोष हो, समान परिहार हो, वैसे अर्थ में या वैसी स्थिति में एक ही व्यक्ति को दोष नहीं दिया जा सकता।।६।।

यच्चोक्तमथ प्रभातदाश्रययोरिवाचिद्ब्रह्मणोर्ब्रह्मत्वजातियोगमात्रं विवक्षितम्। एवं तर्ह्यश्वत्वगोत्ववद्ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोश्चानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोध इति, तत्स्ववाग्विलासमात्रं भ्रान्तिकल्पितं वा, एतत्सूत्रस्य तत्परत्वाभावात्। अचिद्ब्रह्मणोः प्रकाशाश्रयदृष्टान्तासम्भवात्। अचेतनस्य प्रभादृष्टान्तत्वं भवतामेवानुभूतं, नान्येषाम्। किञ्च ब्रह्मत्वजातेः केनाप्यङ्गीकाराभावात् "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवे"ति श्रुत्या ब्रह्मण एकत्वावधारणादेकत्वस्य च जातिबाधकत्वात्। यदप्युक्तं "तस्माद् अंशो नाने" त्यारभ्य ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितमित्यन्तं तदप्यसम्यक्। व्यावर्त्त्याभावेन चिदचितोर्विशेषणत्वस्य पूर्वमेवान्यग्रन्थेष्वपि विस्तरशो निरस्तत्वात्। यत्पुनरुक्तं विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन च भेदव्यवहारो मुख्य इति, तदपि दुराग्रहमात्रं भेदाभेदव्यवहारस्यैव मुख्यत्वेन भेदाभेदयोश्च स्वाभाविकतयाऽभ्युपगम्य भूयो विशिष्टत्वाङ्गीकारस्य गौरवमात्रत्वात्। लाघवान्द्भेदाभेदस्यैव वक्तुं सुशक्यत्वाच्च। यच्चाप्युक्तं, प्रकाशजातिगुणशरीराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः प्रत्यपृथक्सिद्धलक्षण-विशेषणविशेष्यतया यथांशत्वं, तथैव जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वमिति। तदप्ययुक्तं,

प्रकाशमण्यादिदृष्टान्तेषु विशेषणविशेष्यभावे सत्यपि अंशांशित्वव्यवहारादर्शनात्। नच शरीरशरीरिणोर्विशषणाविशेष्यत्वाङ्गीकारे चिदचितोरपि ब्रह्मशरीरत्वप्रतिपादनात्तद्वैशिष्ट्यं किमिति नाङ्गीक्रियत इति वाच्यम्। शरीरशरीरिभावे विशेषणविशेष्यभाव इति नियमाभावाच्चिदचितोर्ब्रह्म-शरीरत्वेऽपि विशेषणत्वासम्भवात्। किन्तु व्यावर्त्तकत्वं विशेषणत्वं यत्र व्यावर्त्त्ये सत्येव शरीरशरीरिभावस्तत्रैव शरीरस्य विशेषणत्वं नान्यत्रेतिनियमात्। प्रकृते तदभावान्न विशेषणत्वमिति सिद्धम्।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसी प्रकार यह जो कहा था कि प्रभा एवं उसके आश्रय की तरह, अचित् एवं ब्रह्म में ब्रह्मत्व जाति का योगमात्र विवक्षित है। तब तो अश्वत्व गोत्व की तरह ब्रह्म भी ईश्वर तथा चित् अचित् वस्तु में अनुवर्तमान सामान्य है, इस तरह सकल श्रुति, स्मृति एवं व्यवहार का विरोध, यह तो अपना वाग् विलास मात्र है अथवा भ्रान्तिकल्पित है। यह सूत्र तत्परक नहीं है। अचित्, ब्रह्म में प्रकाश और उसमें आश्रय का दृष्टान्त सम्भव नहीं है। अचेतन में प्रभा का दृष्टान्त आपका ही अनुभूत है, दूसरों का नहीं और बात यह है कि ब्रह्मत्व को किसी ने जाति नहीं माना है। "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेव" इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म में एकत्व के अवधारण होने से वह जातिबाधक है। यह भी जो कहा गया है "तस्माद् अंशो नाना" यहाँ से लेकर 'ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम्' यह भी ठीक नहीं है। व्यावर्त्त्य के अभाव से चित् अचित् में विशेषणत्व का पहले ही तथा अन्य ग्रन्थों में भी विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है। पुनः जो यह कहा कि विशिष्ट वस्तु में एक देश के रूप में अभेद व्यवहार मुख्य है तथा विशेषण विशेष्यों में स्वरूप एवं स्वभाव भेद से भेद व्यवहार मुख्य है, यह भी दुराग्रहमात्र है, भेदाभेद में व्यवहार ही मुख्य होने से तथा भेदाभेद में स्वाभाविकत्व स्वीकार कर पुनः विशिष्टत्व का अङ्गीकार गौरवमात्र है। इसलिए लाघवात् भेदाभेद ही कहा जा सकता है। यह भी जो कहा था, प्रकाश, जाति गुण शरीरों में मणि, व्यक्ति, गुणी तथा आत्मा के प्रति अपृथक् सिद्धरूप विशेषण विशेष्य रूप में जैसे अंशत्व है, उसी प्रकार जीव एवं अचित् वस्तु में ब्रह्म के प्रति अंशत्व है। वह भी युक्त नहीं हो, प्रकाश, मणि आदि दृष्टान्तों में विशेष या विशेष्य भाव होने पर भी अंशाशित्व व्यवहार नहीं देखा जाता। यदि कहें कि शरीर एवं शरीरी में विशेषण विशेष्यत्व अङ्गीकार होने पर चित् अचित् में भी ब्रह्म शरीरत्व का प्रतिपादन होने से फिर उसका वैशिष्ट्य क्यों नहीं मानते, तो ऐसा नहीं कह सकते। शरीर शरीरीभाव होने पर विशेषण विशेष्य भाव हो जाय, ऐसा कोई नियम नहीं है इसलिए चित् अचित् में ब्रह्म शरीरत्व होने पर भी विशेषणत्व सम्भव नहीं है। किन्तु व्यावर्तकत्वं विशेषणत्वम् यह नियम है। जहाँ व्यावर्त्य होने पर भी शरीर शरीरीभाव है वहीं शरीर में विशेषणत्व है अन्यत्र नहीं यह नियम है। प्रकृत में व्यावर्त्य नहीं होने से विशेषणत्व नहीं हो सकता, यह सिद्ध है।।७।।

नतु शक्तिशक्तिमतोरप्यंशांशिभावाप्रसिद्धेः सिद्धान्ते कथमंशांशिभावाङ्गीकार इति चेन्न। "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परामि"ति शक्तित्वमभिधाय पुनः "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन" इति तस्यैवांशत्वोक्तेः। तत्रापि चेतनशक्तेरेवांशत्वोक्तिर्नाचेतनस्यानभिधानादिति निश्चीयते। एतेन जीववत्पृथक्सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचिद्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वमित्युक्तं निरस्तम्। किञ्च

चिदचितोर्ब्रह्मविशेषणत्वस्य श्रुतिस्मृतिसूत्रेषु क्वाप्यश्रवणादपि सर्वथा विशेषणत्वासिद्धिरेवेति सङ्क्षेपः। तस्माद्ब्रह्मणश्चेतनाचेतनयोश्चाहिकुण्डलदृष्टान्तेन प्रकाशाश्रयदृष्टान्तेन च स्वाभाविकभेदाभेद एव सम्बन्धः शास्त्रप्रतिपाद्य इति सिद्धम्। "एकः सन् बहुधा विचचार, एको देवो बहुधा सन्निविष्टः, त्वमेकोऽसि बहुधा बहून् प्रविष्ट" इत्याद्याः श्रुतयः। "एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता। अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हती"ति भगवान्मनुः। "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखमि"ति भगवद्वाक्यं। हरिवंशे घण्टाकर्णः "केचिद्बहुत्वेन वदन्ति देवमेकात्मना केचिदिमं पुरातनम्। वेदान्तसंस्थापितसत्त्वयुक्तं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्म।। अनेकमेकं बहुधा वदन्ति श्रुतिस्मृतिन्यायनिविष्टचित्ताः। आहुर्यमात्मानमजं पुराणं द्रष्टुं वयमुद्यताः स्मे" त्याद्याः स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनानुसन्धेया, अलं विस्तरेण।।३०।। इति प्रकृतैतावदधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि शक्ति शक्तिमान में भी अंशाशिभाव अप्रसिद्ध है, फिर आपके सिद्धान्त में (निम्बार्क में) कैसे अंशाशीभाव का अङ्गीकार है? तो कहते हैं, "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्" इस वचन के द्वारा जीव को शक्ति बताकर पुनः "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" उसे ही अंश स्वीकार किया गया है, वहाँ भी चेतन शक्ति को ही अंश कहा है, अचेतन को नहीं, क्योंकि उसका अभिधान नहीं है यह निश्चय है। इसी में जीव की तरह पृथक् स्थिति अनर्ह होने से अचित् वस्तु में ब्रह्मांशत्व है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। बल्कि चित् अचित् ब्रह्म का विशेषण है, ऐसा श्रुतियों एवं स्मृतियों में कहीं भी श्रवण नहीं है, इसलिए भी सर्वथा विशेषणत्ववाद असिद्ध है। इसलिए ब्रह्म एवं चेतन, अचेतन में अहिकुण्डल दृष्टान्त से तथा प्रकाशाश्रय दृष्टान्त से स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध ही शास्त्र प्रतिपाद्य सिद्ध होता है। "एकः सन् बहुधा विचचा, एको देवो बहुधा सन्निविष्टः, त्वमेकोऽसि बहुधा बहून् प्रविष्टः" इत्यादि श्रुतियाँ "एकत्वे सति नानात्वं नानात्वे सति चैकता। अचिन्त्यं ब्रह्मणो रूपं कस्तद्वेदितुमर्हति" ऐसा भगवान् मनु ने कहा है। "एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्" ऐसा भगवान् के श्रीमुख का वचन है। हरिवंश में घण्टाकर्ण ने भी कहा है- "केचिद्बहुत्वेन वदन्ति देवमेकात्मना केचिदिमं पुरातनम्। वेदान्तसंस्थापितसत्त्वयुक्तं द्रष्टुं तमीशं वयमुद्यताः स्म।। अनेकमेकं बहुधा वदन्ति श्रुतिस्मृतिन्यायनिविष्टचित्ताः। आहुर्यमात्मानमजं पुराणं द्रष्टुं वयमुद्यताः स्म" इत्यादि स्मृतियाँ भी प्रमाण के रूप में अनुसंधेय हैं। अधिक विस्तार व्यर्थ है।।३०।।

इस प्रकार से प्रकृत एतावत् अधिकरण पूरा हुआ।।६।।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः।।३।२।३१।।

"यतो वा इमानी" त्यादिना जगज्जन्मादिकारणतया निर्दिष्यत्सत्यज्ञानानन्दात्मकान्निर्धारित याथातथ्यात्परब्रह्मणः परमप्यन्यत्तत्त्वमस्ति? न वेति? संशये तावस्तीति पूर्वपक्षयति। कुतः? "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरि" ति सेतुत्वश्रवणात्सेतोश्च प्राप्यान्तरप्रापकत्वदर्शनेन ब्रह्मणोऽपि प्राप्यान्तरप्रापकतैव प्रतीयते, न तु स्वयं प्राप्यता। किञ्च "एतं सेतुं तीर्त्वे"ति तरितव्यत्वाभिधानेनैतस्य प्राप्यत्वाभावाबिष्करणात्। उन्मानव्यपदेशाच्च। "चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्मे" त्युन्मितं परिच्छिन्नमुच्यत, उन्मानव्यपदेशेन च सेतुप्राप्यस्यानुन्मितस्यासितं द्योत्यते। किञ्च "अमृतस्य परं सेतु,

ममृतस्यैषः सेतुरि" त्यमृतस्य वस्त्वन्तरस्य प्राप्यप्रापकलक्षणः सम्बन्धः प्रतीयते। किञ्च "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमि" ति प्रतिपादितपुरुषादपि "ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमि" त्यधिकस्य निर्देशात्परस्मादपि ब्रह्मणः परमन्यदुपदिश्यते। अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्मादपि ब्रह्मणोऽन्यत्परमभ्युपगन्तव्यम्।।३१।।

इति प्राप्त उच्यते—

(हिन्दी-अनुवाद)

"यतो वा इमानि" इत्यादि श्रुतियों द्वारा जगत् के जन्म स्थिति आदि में कारण रूप से निर्दिष्ट सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा से भिन्न और कोई परम तत्त्व है अथवा नहीं ऐसा संशय होने पर पहले, है- ऐसा पूर्वपक्ष होता है क्योंकि उस परमात्मा को "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इस श्रुति द्वारा सेतु कहा गया है। सेतु किसी स्वभिन्न प्राप्यान्तर के प्रापक को कहा गया है। इस प्रकार ब्रह्म में भी किसी प्राप्यान्तर की प्रापकता ही प्रतीत होती है, न ही स्वयं की प्राप्यता का सूचक है। दूसरी बात "एतं सेतुं तीर्त्वा" इस श्रुति के द्वारा तरितव्यत्व के कथन से उनमें प्राप्यत्वाभाव का अबिष्कार (द्योतन) हुआ है। इसी तरह "उन्मानव्यपदेशाच्च" अर्थात् "चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म" इस श्रुति द्वारा ब्रह्म को उन्मित परिच्छिन्न बताया गया है। इस तरह उन्मान के व्यपदेश से सेतु द्वारा प्राप्य किसी अनुन्मितत्व का अस्तित्व द्योतित होता है और "अमृतस्य परं सेतु, ममृतस्यैष सेतुः" इत्यादि श्रुति वचनों द्वारा अमृत स्वरूप कोई वस्त्वन्तर है जिसका यह सेतु माने प्रापक है। इस प्रकार उस वस्त्वन्तर के साथ प्राप्य प्रापक लक्षण सम्बन्ध प्रतीत होता है और "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" श्रुति द्वारा प्रतिपादित पुरुष से भी उत्कृष्ट "ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" तत्त्व का निर्देश होने से परब्रह्म परमात्मा से भी उत्कृष्ट अन्य तत्त्व का उपदेश किया जाता है। इसलिए इन हेतुओं से परम तत्त्व ब्रह्म से भी अन्य कोई श्रेष्ठ तत्त्व मानना चाहिए।।३१।।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

सामान्यात्तु।।३।२।३२।।

तुशब्दः पूर्वपक्षं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्परमस्ति। सेतुव्यपदेशस्तावदे"षां लोकानामसम्भेदाये" ति वाक्यशेषश्रुतासङ्करकारित्वलक्षणधर्मसामान्यनिबन्धनः। "एतं सेतुं तीर्त्वे" त्यत्र तरतिश्च प्राप्तिवचनो, व्याकरणं तरतीतिवद् नोल्लङ्घनवचनः।।३२।।

युदक्तमुन्मानव्यपदेशादस्य परिमितत्वं प्रतीयते तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द पूर्वपक्ष का प्रतिषेध करता है। ब्रह्म से बड़ा कोई तत्त्व नहीं है। उसके लिए सेतु शब्द का प्रयोग "एषां लोकानामसम्भेदाय" यह परमात्मा लोकों में असङ्करत्व करने वाला है (मर्यादा स्थापित करने वाला है, उसके भय से ही सूर्य, चन्द्र आदि मर्यादा में रहते हैं)

इस सर्वलोकासङ्करत्व रूप सामान्य धर्म का तद्गुणयोग से सेतु शब्द का यह गौण प्रयोग है। "एतं सेतुं तीर्त्वा" यहाँ तरति शब्द प्राप्ति अर्थक है, उल्लङ्घनवाची नहीं।।३२।।

यह जो कहा कि उन्मान शब्द के व्यपदेश से इसमें परिमितत्व की प्रतीति होती है। इस पर कहते हैं—

बुद्ध्यर्थः पादवत्।।३।२।३३।।

बुद्धिरुपासना, तदर्थ उन्मानोपदेशः। यथा "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद" इत्यध्यात्ममित्यत्र ब्रह्मप्रतीकभूतमन आदौ वागादिपादत्वव्यपदेश उपासनार्थो नतु तात्त्विकः। मनसो वागादिपादत्वासम्भवात्। एवमपरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणः "प्राचीदिक्कला प्रतीचीदिक्कला दक्षिणादिक्कला उदीचीदिक्कला एष वै सौम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशमान्नामे" त्युक्तदिगादिलक्षणचतुष्कलपादसम्बन्धासम्भवादुपासनार्थ एव।।३३।।

ननु स्वयमनुन्मितस्य कथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मानप्रतीतिस्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

बुद्धि का अर्थ उपासना है। उसके लिए उन्मान का उपदेश है जैसे "मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्मं तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद" यहाँ अध्यात्म इसमें ब्रह्म के प्रतीकभूत मन आदि में वाक् आदि के पादत्व का व्यपदेश उपासना के लिए है, न कि तात्त्विक मन में वाक् आदि में पादत्व असम्भव है। इसी प्रकार अपरिच्छिन्न ब्रह्म में "प्राचीदिक्कला प्रतीचीदिक्कला दक्षिणादिक्कला उदीचीदिक्कला एष वै सौम्य! चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशमान्नाम" श्रुति के अनुसार दिक् आदि स्वरूप चतुष्कल पाद का सम्बन्ध असम्भव होने से उपासना के लिए ही है।।३३।।

यदि कहें कि जो स्वयं अनुन्मित (अपरिच्छिन्न) है, उसमें उपासना के लिए भी उन्मान की प्रतीति कैसे हो सकती है, इस पर कहते हैं—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्।।३।२।३४।।

यथा प्रकाशाकाशादेरपरिच्छिन्नस्यापि वातायनघटाद्युपाधिवशेन परिच्छिन्नत्वानुसन्धानमेवमिहाप्यभिव्यक्तस्थानभूतप्राणाद्युपाधिवशेनोन्मितत्वानुसन्धानमुपपद्यते।।३४।।

यदुक्तम "मृतस्य परं सेतुमि" ति प्राप्यप्रापकसम्बन्धव्यपदेशेनामृताद्भेदोऽवगम्यत इति तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे प्रकाश आकाश आदि अपरिच्छिन्न पदार्थ का भी वातायन, गवाक्ष, खिड़की तथा घट आदि उपाधिवशात् परिच्छिन्नत्व का अनुसन्धान होता है, उसी प्रकार यहाँ भी अभिव्यक्ति के स्थान भूत प्राण आदि उपाधि के अनुसार उन्मितत्व का अनुसन्धान उपपन्न हो सकता है।।३४।।

यह जो कहा था "अमृतस्य परं सेतुम्" इस वचन के द्वारा प्राप्य-प्रापकभाव के व्यपदेश से अमृत से भेद ज्ञात होता है। इस पर कहते हैं—

उपपत्तेः ।।३ ।२ ।३५ ।।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्य" इति स्वप्राप्तेः स्वयमेव साधनतया जोघुष्यमाणे ब्रह्मणि स्वेनैव प्राप्यप्रापकत्वलक्षणसम्बन्धव्यपदेशस्यापि नानुपपत्तिः ।।३५।।

यदुक्तं ततो यदुत्तरमित्यधिकं वस्तु प्रतिपाद्यत इति तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (वह जिसको वरण कर लेता है उसी को वह प्राप्त होता है) इस श्रुति से ब्रह्म की प्राप्ति में ब्रह्म को ही साधन घोषित करने से ब्रह्म में प्राप्य प्रापकत्व लक्षण सम्बन्ध का व्यपदेश अनुपपन्न नहीं है।।३५।।

यह जो कहा था 'ततो यदुत्तरम्' ब्रह्म से श्रेष्ठ वस्तु है, इस पर कहते हैं—

तथान्यप्रतिषेधात् ।।३ ।२ ।३६ ।।

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदि"ति तत्रैव तदतिरिक्तोत्कृष्टवस्तुनो निषेधेन तद्विरुद्धतया "ततो यदुत्तरतरमि"ति वाक्ये तदधिकवस्तूपक्षेपासम्भवात्। एतच्चैतन्मन्त्र-व्याख्याने श्वेताश्वतरप्रकाशिकायां स्पष्टीकृतमस्माभिः ।।३६ ।।[1]

(हिन्दी-अनुवाद)

"यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्" (इस ब्रह्म से अपर कोई भी श्रेष्ठ वस्तु नहीं है) इस मन्त्र द्वारा वहीं पर ब्रह्म से उत्कृष्ट वस्तु के निषेध होने से उसके विरुद्ध 'ततो यदुत्तरम्' इस वाक्य से उससे अधिक वस्तु की कल्पना सम्भव नहीं है। यह बात हमने इसी मन्त्र की व्याख्या में श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रकाशिका टीका[1] में स्पष्ट किया है।।३६।।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।।३ ।२ ।३७ ।।

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणान्यप्रतिषेधरूपेणानन्तरोक्तन्यायेन ब्रह्मणः सर्वगतत्वं सर्वस्मिन् जगति व्याप्तत्वं सिद्धं भवति। तच्चास्य "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं, यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। नित्यं विभुं सर्वगतमि" त्याद्यायामशब्देभ्यो विज्ञायते। आदिशब्देन "ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वमि" त्यादयो गृह्यन्ते। अतो न ब्रह्मणोऽन्यत्प्राप्यमस्तीति।।३७।। इति पराधिकरणम् ।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस सेतु आदि व्यपदेश निराकरण रूप अन्य प्रतिषेध के द्वारा अनन्तरोक्त न्याय से ब्रह्म का सर्वगतत्व, सम्पूर्ण जगत् में व्याप्तत्व सिद्ध होता है। जो "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं, यच्च

---

१. इससे ज्ञात होता है कि केशव काश्मीरि भट्ट द्वारा श्वेताश्वतर उपनिषत् की टीका की गई थी। (सं)

किञ्चिज्जगत्यस्मिन्दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः। नित्यं विभुं सर्वगतम्" सारा जगत् परमात्मा से भरा है। इस संसार में जो कुछ दिखाई या सुनाई पड़ता है, सबमें व्याप्त होकर नारायण स्थित है। वह नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है इत्यादि व्याप्तिसूचक शब्दों द्वारा जाना जाता है। आदि शब्द से "ब्रह्मैवेदं सर्वं, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतियाँ गृहीत होती हैं। उससे सिद्ध होता है कि उस ब्रह्म से बड़ा कोई नहीं है।।३७।।

इस प्रकार पराधिकरण पूरा हुआ।।७।।

फलमत उपपत्तेः।।३।२।३८।।

सर्वेषां जीवानां भोगापवर्गरूपं फलं किं कर्त्तव्यतया श्रूयमाणं कर्मैवापूर्वद्वारेण ददाति? आहोस्वित्तत्तदाराधितः परमात्मैवेति विशयेऽग्रे पूर्वपक्षं निराकरिष्यन्प्रथमं सिद्धान्तमाह-फलमत इति। शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकं सर्वं फलमतः परमात्मन एव भवितुमर्हति। कुतः? उपपत्तेः। कर्मणां हि क्षणिकत्वात्कालान्तरभाविफलं दातुमसमर्थ-त्वात्सर्वाध्यक्षात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्महोदारात्तत्तत्कर्मभिराराधितात्परमात्मन एवैहिकामुष्मिक-भोगजातस्य स्वात्मभावापत्तिरूपमोक्षस्य चोपपन्नत्वात्। न चापूर्वमेव कर्मजन्यं कालान्तरे फलं दातुं समर्थमिति वाच्यम्। तस्याप्यचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनाप्रवर्त्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। स्वातन्त्र्येण फलदातृत्वे प्रमाणाभावाच्च। न चार्थापत्तेः प्रामाण्यमिति वाच्यम्। ईश्वरसिद्धेस्तस्याः क्षयात्।।३८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

सभी जीवों को भोग अपवर्गरूप फल क्या कर्म ही अपूर्व (अदृष्ट) द्वारा प्रदान करता है, अथवा तत्-तत् (उन-उन) कर्मों द्वारा आराधित परमात्मा फल देते हैं। ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष का आगे खण्डन करने से पहले सिद्धान्त कहते हैं 'फलमतः इति' शास्त्रीय ऐहिक तथा पारलौकिक समस्त फल परमात्मा से ही प्राप्त होता है क्योंकि "उपपत्तेः" कर्मों के क्षणिक होने से उसमें कालान्तर में होने वाला फल का दातृत्व असम्भव होने से सर्वाध्यक्ष, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, महान् उदार तथा तत्-तत् कर्मों द्वारा समाराधित परमात्मा द्वारा ही ऐहिक तथा आमुष्मिक समग्र भोग तथा भगवद् भावापत्ति रूप मोक्ष उपपन्न होता है। यदि कहें कि कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट कालान्तर में फल प्रदान करने में समर्थ हो सकता है। (ईश्वर की क्या आवश्यकता) तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अदृष्ट भी काष्ठ तथा लोह के समान अचेतन तथा चेतन प्रवर्तित न होने से उसमें फल प्रदान की प्रवृत्ति उपपन्न नहीं हो सकती है। उसमें स्वतन्त्ररूप से फलदातृत्व में प्रमाण नहीं हैं। यदि कहें कि अर्थापत्ति ही प्रमाण है, तो वह भी नहीं कह सकते। ईश्वर की सिद्धि होने से अर्थापत्ति का क्षय है।।३८।।

श्रुतत्वाच्च।।३।२।३९।।

इतश्च "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान" इति परमात्मन्येव भोगापवर्गरूपफलप्रदातृत्वश्रवणात्।।३९।।

पक्षान्तरमुच्यते—

(हिन्दी-अनुवाद)

"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान" (वह विज्ञान रूप है, आनन्द रूप है, वह सब कुछ देने वाला है) इस श्रुति के द्वारा परमात्मा में ही भोग तथा अपवर्गरूप फलदातृत्व का श्रवण है।।३९।।

यहाँ पक्षान्तर कहते हैं——

धर्मं जैमिनिरत एव।।३।२।४०।।

जैमिनिराचार्यो धर्मं कर्मफलप्रदं मन्यते। कुतः? अत एव श्रुतेरुपपत्तेश्च। लोके हि कृष्यादेर्मर्दनादेश्च कर्मण एव साक्षात्परम्परया वा फलप्रदत्वदर्शनात्। तथा वेदेऽपि "यजेत स्वर्गकाम आत्मानमेव लोकमुपासीते" त्यादिना बुभुक्षुमुमुक्ष्वोः कर्त्तव्यतया श्रूयमाणं कर्मैव तत्तत्फलसाधनरूपतयाऽवगम्यते। क्षणिकमप्यपूर्वद्वारेण सर्वफलप्रदमितरथा कर्मोपदेशो निरर्थकः स्यात्।।४०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैमिनि आचार्य धर्म को ही कर्म फल का प्रदाता मानते हैं क्योंकि इसी से श्रुति की उपपत्ति होती है। लोक में कृषि आदि तथा मर्दन आदि कर्म में ही साक्षात् अथवा परम्परया फल प्रदत्व देखा गया है। जैसे वेद में कहा है "यजेत स्वर्गकाम आत्मानमेव लोकमुपासीत" इत्यादि श्रुतियों द्वारा कर्म में ही बुभुक्षु एवं मुमुक्षुओं के कर्तव्य रूप से श्रूयमाण कर्म ही तत् तत् फल साधन रूप में ज्ञात होता है। वह क्षणिक होने पर भी अपूर्व (अदृष्ट) द्वारा समग्र फल का फलदाता है। अन्यथा कर्मों का उपदेश निरर्थक होगा।।४०।।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्।।३।२।४१।।

तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः। पूर्वं पूर्वोक्तं परमात्मानमेव फलहेतुं भगवान्बादरायणो मन्यते। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। ईश्वरस्यैव पुण्यापुण्यकारयितृत्वेन फलदातृत्वेन च हेतुत्वं व्यपदिश्यते। "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, एष ह्येव साधु कर्म कारयती" त्यादिना। न च यज्ञादिकर्मणो देवतार्चनत्वात्तदर्चिता देवा एव फलं ददती"ति कथमीश्वर एव फलद इति वाच्यम्। देवादीनां स्वतन्त्रतया फलदत्वाभावात्तदन्तर्यामीश्वर एव फलप्रदः। "यो वायौ तिष्ठन् योऽग्नौ तिष्ठन् च आदित्ये तिष्ठन्नि" त्यादिश्रुतेः। "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्माराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्। अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव चे" त्यादि स्मरणाच्च प्रभुः फलप्रद इत्यर्थः।।४१।। इति फलाधिकरणम्।।८।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्म-मकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौ-स्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायद्वितीयपादविवरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द पूर्वपक्ष निरास के लिए है। भगवान् बादरायण पूर्वोक्त परमात्मा को ही फल का हेतु मानते हैं क्योंकि 'हेतुव्यपदेशात्' पुण्य एवं पाप के प्रेरक एवं उनके फलदाता रूप में ईश्वर को ही हेतु माना गया है। "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम्, एष ह्येव साधु कर्म कारयति" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। यदि कहें कि यज्ञ आदि कर्म देवता के अर्चन रूप होने से उनके द्वारा अर्चित देवता ही फल देते हैं। ईश्वर को ही फलदाता क्यों माना जाय? तो यह शङ्का समुचित नहीं है। देवताओं में स्वतन्त्ररूप से फलदातृत्व का अभाव होने से उन सबका अन्तर्यामी ईश्वर ही फलदाता है। "यो वायौ तिष्ठन् योऽग्नौ तिष्ठन् च आदित्ये तिष्ठन्" इत्यादि श्रुति वाक्य इसमें प्रमाण हैं, अर्थात् जो वायु में अग्नि में तथा सूर्य में अन्तर्यामी रूप से विराजमान होकर (सबका प्रेरक है) इसी प्रकार "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽऽर्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्। अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च" इत्यादि। अर्थात् जो जिस देवता का भक्त होता है, मैं उसे उसी देवता में श्रद्धा-भक्ति प्रदान करता हूँ। वह उससे युक्त होकर तत्-तत् देवता की आराधना करता है और उस देवता से वह मेरे द्वारा ही प्रदत्त फल को प्राप्त करता है। मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता एवं स्वामी हूँ, इत्यादि वाक्यों द्वारा ईश्वर ही फलदाता सिद्ध होते हैं, न कि कर्म या कोई देवता।।४१।। इस प्रकार फलाधिकरण पूरा हुआ।।८।।

इस प्रकार श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य जी द्वारा विरचित वेदान्त कौस्तुभप्रभा ब्रह्मसूत्रवृत्ति में तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद का पं०श्री वैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद

विषय-सूची

तृतीयाध्याये तृतीयपादारम्भः

अथ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम्

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३ ।३ ।१ ।।

तदेवं जन्ममरणादिदुःखनिलयत्वरूपप्रपञ्चदोषोक्त्या ब्रह्मणो हेयसम्बन्धरहितत्व-कल्याणगुणसागरत्वनिरूपणेन तस्यैव सर्वफलदायित्वनिरूपणेन च तत्तृष्णैव तदितरवितृष्णापूर्विका तत्प्राप्तिकारणमिति पादद्वयेन दर्शित, मिदानीं ब्रह्मोपासनासु तासु गुणोपसंहारविकल्पनिर्णयाय विद्याभेदाभेदविचारश्च प्रारभ्यते। ताश्च त्रिविधाः, प्रतीकरूपाङ्गाश्रितरूपाहंग्रहरूपभेदात्। तत्र प्रतीकत्वं नाम तदितरस्मिंस्तद्दृष्टिमत्त्वम्। यथा "पुरुषो वाव गौतमाग्नि" रित्यत्राग्निभिन्ने पुरुषादौ ह्यग्निदृष्टिरिति। एवमादिप्रतीकोपासनोदाहरणं बोध्यम्। अङ्गाश्रिताः कर्माङ्गेषूद्गीया-दिष्वाश्रिताः। अहङ्ग्रहत्वं नाम तत्तदुपदेशानुकूले ब्रह्मणि तादात्म्य सम्बन्धानुसन्धानम्। यथा सत्यविद्यादय "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी" त्यादिश्रुतेः। ताश्चोद्गीथविद्याशाण्डिल्यविद्यादहरविद्यादय एकैका अनेकशाखासु पठितास्तासु चेतरेतरं गुणानामुपसंहारं कृत्वोपासनीयम्। तत्र गुणोपसंहारो नाम एकस्यामनेकशाखासु पठितायां विद्यायां तत्र-तत्र पठितानां न्यूनाधिकानामितरेतरं निष्कृष्य संयोजनम्। यथा वाजसनेयकेऽग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रूयते "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत, अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष" इत्यारभ्य "आत्मानमुपासीत, मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानमि" ति तथा बृहदारण्यकेऽपि शाण्डिल्यविद्या श्रूयते "मनोमयः पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन्यदन्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ती" त्युभयत्र वेद्याभेदाद्विद्यैक्यं निश्चित्य सत्यसङ्कल्पत्वादीनां सर्ववशित्वादीनां चोभयत्रेतरेतरोपसंहरणमेवान्यत्रापि बोध्यम्। किञ्चानन्दादीनामपहतपाप्मत्वादीनां च सर्वास्वपि विद्यासूपसंहारः सर्वत्रोभयविधस्य ब्रह्मणो वेद्यस्याभेदादिति स्पष्टयिष्यतेऽग्रे। तत्र तावत्सर्ववेदान्तेषु दहरादिविद्या श्रूयते, सा किमेका उत विद्याभेदः? इति संशयेऽविशेषेण पुनः श्रवणस्य प्रकरणान्तरस्य च विद्याभेदकत्वाद्विद्यान्तरमिति। अत एव शिरोव्रतिनामाथर्वणिकानां विद्योपदेशनियमोपपत्तिः। अन्यथा विद्याङ्गस्य शिरोव्रतस्यान्यशाखिनामपि प्राप्तत्वादाथर्वणिकानामेवेति नियमानुपपत्तिरिति प्राप्तेऽभिधीयते सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति। सर्वैर्वेदान्तैः प्रतीयत इति सर्ववेदान्तप्रत्ययं सर्ववेदान्तविहितमेकमुपासनम्। कुतः? चोदनाद्यविशेषात्। विद्यादुपासीतेत्येवं रूपो धात्वर्थविशेषो विधिश्चोदना आदिना पूर्वतन्त्रेशाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोक्ताः संयोगरूपाख्योहाकृष्यन्ते। चोदनादीनामविशेषात् प्रतिपत्तृभेदेन पुनः श्रवणोपपत्तेस्तत एव प्रकरणान्तरत्वाभावाच्च सैवेयं विद्येति शाखान्तरेऽपि विद्यैक्यं प्रत्यभिज्ञायते।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब तृतीय अध्याय का तीसरा पाद प्रारम्भ होता है।

जन्मना न्याय शास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैत पण्डितम्।
द्वैताद्वैत प्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

अब सर्ववेदान्त प्रत्ययाधिकरण प्रारम्भ होता है।

इससे पूर्व जन्म-मरण आदि दोषों का निलय रूप प्रपञ्च (जगत्) के दोषों को कहकर (तृतीय अध्याय प्रथम पाद में तथा उसी अध्याय के द्वितीय पाद में) ब्रह्म में समग्रदोषरहितत्व एवं अनन्त कल्याणगुणसागरत्व का निरूपण एवं उसी में सर्वफलदायित्व का वर्णन करके तथा उनकी (भगवान् की) तृष्णा ही, भगवदतिरिक्त विषयों में वितृष्णा उत्पन्न कर, भगवत् प्राप्ति का कारण है। यह विषय दो पादों में बताया गया है। अब इसके तृतीय पाद में ब्रह्मोपासनापरक विद्याओं में गुणोपसंहार विकल्प निर्णय के लिए विद्याओं में[1] भेदाभेद विचार प्रारम्भ करते हैं। विद्या (उपासना) तीन प्रकार की होती हैं, प्रतीक रूप, अङ्गाश्रित रूप एवं अहंग्रह रूप। इनमें प्रतीक रूप है 'तद्भिन्न में तत् दृष्टि' यथा "पुरुषो वाव गौतमाग्नि" यहाँ अग्नि भिन्न पुरुष में अग्नि दृष्टि। इस प्रकार की अन्यान्य प्रतीक उपासना का उदाहरण समझना चाहिए। उद्गीथ आदि अङ्गों में आश्रित। अहंग्रह उपासना है- तत्-तत् उपदेश के अनुकूल ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध का अनुसंधान। जैसे, सत्य विद्या आदि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्यादि। वे उद्गीथविद्या, शाण्डिल्यविद्या एवं दहरविद्या आदि अनेक शाखाओं में पठित है। इन विद्याओं में परस्पर गुणों का उपसंहार करके उपासना करनी चाहिए। यहाँ गुणोपसंहार कहते हैं, अनेक शाखाओं में पठित एक विद्या में उन-उन विद्याओं में पठित न्यूनाधिक गुणों को एक दूसरे में निकालकर संयोजन करना (मिलाना)। जैसे बाजसनेय अग्नि रहस्य में शाण्डिल्य विद्या वर्णित है, "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत" सत्य ही ब्रह्म है सत्य स्वरूप है, उसकी उपासना करें। "अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुष" (यह क्रतुमय पुरुष है) यहाँ से आरम्भ कर "आत्मानमुपासीत, मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानम्" उस आत्मा की उपासना करें। वह मनोमय है, प्राण शरीर है, प्रकाश रूप है, सत्य संकल्प है तथा आकाश के समान निर्मल एवं व्यापक है। तथा बृहदारण्यक में भी शाण्डिल्य विद्या है "मनोमयः पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन्यदन्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एव सर्वस्य वशी सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति" वह मनोमय पुरुष प्रकाश रूप, सबके हृदय में विराजमान है, वह सम्पूर्ण जगत् पर शासन करता है। इस प्रकार अग्नि रहस्य एवं बृहदारण्यक इन दोनों विद्याओं में वेद्य परमात्मा के ऐक्य होने से उक्त दोनों विद्याओं में एकता का निश्चय करके सत्य सङ्कल्पत्व आदि तथा सर्ववशित्व आदि गुणों का दोनों विद्याओं में उपसंहार (संयोजन) होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए। इसी प्रकार आनन्द आदि तथा अपहत पाप्मत्व आदि गुणों का भी सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए। सर्वत्र उभय प्रकारक ब्रह्मरूप वेद्य का अभेद है, यह बात आगे स्पष्ट करेंगे। सभी वेदान्तों में दहर आदि विद्याओं का श्रवण है। वह दहर विद्या क्या एक है या भिन्न, ऐसा संशय होने पर सामान्य रूप से पुनः श्रवण तथा भिन्न प्रकरण विद्या भेद होने से विद्या भिन्न है। इसीलिए शिरोव्रतियों एवं आथर्वणिकों के विद्योपदेश के नियम की उपपत्ति होती है। अन्यथा विद्या के अङ्ग शिरोव्रत

---

१. तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जगत् से वैराग्य उत्पादन के लिए जागतिक दोषों का वर्णन तथा तृ.अ. के द्वितीय पाद में ईश्वर में अनुराग प्राप्ति के लिए उनके दिव्य गुणों का वर्णन किया गया है। अब तृ.अ. के तृतीय पाद में ब्रह्म उपासनापरक विद्याओं में भेदाभेद विचार प्रारम्भ करते हैं। (सं)

के अन्य शाखा वालों को भी प्राप्त होने से यह आथर्वणिकों का ही है। इस नियम की अनुपपत्ति होगी। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सर्ववेदान्तप्रत्ययमिति' सभी वेदान्त वाक्यों द्वारा जो प्रतीत होता है, उसे सर्व वेदान्त प्रत्यय कहते हैं अर्थात् सभी वेदान्तों में प्रतिपादित एक उपासना। क्योंकि 'चोदनाद्यविशेषात्' विद्यात् अर्थात् उपासीत उपासना करें, इस प्रकार के धात्वर्थ विशेष विधि को चोदना कहते हैं। आदि पद से पूर्वतन्त्र मीमांसा में शाखान्तर के अधिकरण के सिद्धान्त सूत्र में उक्त संयोग रूप आख्या, यहाँ आकृष्ट किये जाते हैं। चोदना आदि में अविशेष प्रतिपतृ भेद से पुनः श्रवण की उपपत्ति है। उसी से और भिन्न प्रकरण के अभाव होने से भी यह वही विद्या है, इस प्रकार ज्ञात होने से शाखान्तर में भी विद्या की एकता की पहचान होती है।।१।।

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३ ।३ ।२ ।।

अविशेषेण पुनरुक्तेः प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदप्रतीतेर्न विद्यैक्यमिति चेत्तत्रोच्यते स्यादेकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तृभेदात्पुनरुक्तिः प्रकरणान्तरं च। यस्याः शाखाया अन्येऽध्येतारस्तेषां प्रतिपत्त्यर्थं सैवविद्या पुनः श्राव्यते। एकस्यां तु शाखायां प्रतिपत्तुरभेदे प्रतिप्रकरणं विद्याभेदो वाक्यानां परस्परं निराकाङ्क्षत्वात्। यथा शाण्डिल्यविद्योपकोशलविद्यासद्विद्याभूमविद्यादहरविद्येति।।२।।

यदप्याथर्वणे शिरोव्रतं "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमि" (मु० ।३ ।२ ।१०) ति तदपि न विद्याभेदकमित्याह–

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि सामान्यभाव से पुनः कथन होने तथा अन्य प्रकरण से भी विधेय के भेद की प्रतीति होने से विद्या में एकता नहीं हो सकती, तब कहते हैं, एक विद्या में भी ज्ञाता के भेद से पुनरुक्ति एवं प्रकरण भिन्नता होती है। जिस शाखा के अन्य अध्येता हैं, उनके ज्ञान के लिए वही विद्या पुनः सुनाई जाती है। एक शाखा में तो ज्ञाता के अभेद होने पर प्रत्येक प्रकरण में विद्या का भेद होता है क्योंकि वाक्य परस्पर निराकाङ्क्ष होते हैं। जैसे शाण्डिल्यविद्या, उपकोशलविद्या, सद्विद्या, भूमविद्या एवं दहर विद्या।।२।।

यद्यपि आथर्वण में शिरोव्रत "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्" (उसी को इस ब्रह्मविद्या को कहना चाहिए, जिसने विधिवत् शिरोव्रत नामक व्रत का अनुष्ठान किया हो) यह भी विद्या का भेदक नहीं है, यही बात कहते हैं—

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ३ ।३ ।३ ।।

शिरोव्रतस्य विद्योपदेशाङ्गत्वनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयतीति नैतदस्ति। तस्य विद्याङ्गत्वाभावात्। अपि तु स्वाध्यायस्य वेदस्य हि यतस्तथात्वेऽध्ययनाङ्गत्वे

तन्नियमशिरोव्रतोपदेशनियमः। निमित्ते सप्तमी। तदङ्गतया शिरोव्रतं विधीयते, न विद्याङ्गतयेत्यर्थः। कुत एतदवगम्यते? "नैतदचीर्णव्रतोऽधीत" (मु० ।३ ।२ ।११) इति तस्याध्ययनसम्बन्धात्समाचारेऽधिकाराच्च समाचाराख्ये ग्रन्थ इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति हि पठ्यते। तत्र ब्रह्मविद्यां वेदविद्यामित्यर्थः। सवबच्चेति। यथाहि "स वा होमाः सप्तसौर्य्यादयः शतौदन पर्यन्ता आथर्वणिकानामेवैकाग्नौ हूयन्ते, नान्येषां तथाध्ययनधर्मस्तेषामेव"।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

शिरोव्रत में विद्योपदेशाङ्गत्व नियम दर्शन विद्या के भेद का द्योतन करता है, यह भी नहीं है क्योंकि वैसा मानने पर अध्ययन के अङ्ग होने पर उसका नियम स्वरूप शिरोव्रत उपदेश का नियम होता है। यहाँ निमित्त में सप्तमी है। उसके अङ्ग रूप में शिरोव्रत का विधान किया जाता है। विद्या के अङ्ग रूप में नहीं है। यह कैसे जानते हैं। इस पर कहते हैं "नैतदचीर्णव्रतोऽधीते" विना शिरोव्रत के आचरण किए हुए इसका अध्ययन नहीं करता है। (मु. ३/२/११) इसका अध्ययन से सम्बन्ध होने के कारण समाचार में अधिकार होने से भी समाचार नामक ग्रन्थ से इसे भी वेद के व्रतरूप में व्याख्यान करें, ऐसा पढ़ा जाता है। वहाँ ब्रह्मविद्या का अर्थ है वेदविद्या। 'सवबच्चेति' जैसे "स वा होमाः सप्तसौर्य्यादयः शतौदन पर्यन्ता आथर्वणिकानामेवैकाग्नौ हूयन्ते, नान्येषां तथाध्ययनधर्मस्तेषामेव"। सप्त सौर्य्यादि हैं- आरोग, भ्राजर, पटर, पतङ्ग, स्वर्नर, ज्योतिषीमान् तथा विभास, ये सात सूर्य देवताक कर्म हैं और शतौदनाख्य कर्म सात सूर्योपक्रम, ये शतौदन पर्यन्त होम आथर्वणिकों के लिए एक ही अग्नि में किये जाते हैं, त्रेताग्नि में नहीं, उसी प्रकार नियम है। तथा अध्ययन धर्म उन्हीं के लिए है[1]।।३।।

दर्शयति च ।३ ।३ ।४।।

दर्शयति च श्रुतिरुपासनस्य सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं, "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ती" (क०२ ।१५) ति। तथा च छान्दोग्ये "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि" त्युक्त्या "किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यमि" ति प्रश्नपूर्वकमपहतपाप्मत्त्वादिगुणाष्टकविशिष्टस्य परमात्मन उपासनमुक्तम्।।४।।

तैत्तिरीयके तु केवलं "तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यमि" त्येवोक्तम्। तदुभयत्र गुणोपसंहारादेव विद्यैक्यं सम्भवति। तदेवं विद्यासु गुणोपसंहारादिचिन्तार्थं शाखान्तराधिकरणोक्तन्यायस्तफलं विद्यैक्यं स्थिरीकृतं तत्प्रयोजनमाह-

(हिन्दी-अनुवाद)

इस विषय में श्रुति भी बताती है कि जो उपासना सम्पूर्ण वेदान्त का विषय है। "सर्वे

---

१. ये विषय मीमांसा से सम्बन्धित हैं, अतः इनका स्पष्टीकरण जैमिनीय मीमांसा ग्रन्थ के अध्ययन से ही होता है। इसके लिए मीमांसा शास्त्र अवश्य पढ़ना चाहिए। (सं)

वेदा यत्पदमामनन्ति" (क०२।१५) (सम्पूर्ण वेदान्त जिसका वर्णन करते हैं) जैसा कि छान्दोग्य में कहा है "तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" उसका अन्वेषण करना चाहिए। ऐसा कहने पर वहाँ क्या है, जिसका अन्वेषण करना चाहिए, ऐसा प्रश्न करने पर अपहतपाप्मत्व आदि अष्ट गुणविशिष्ट परमात्मा की उपासना कहीं गई है।।४।।

तैत्तिरीय में तो केवल "तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्" उसके भीतर जो है, उसकी उपासना करनी चाहिए, इतना ही कहा है। इसलिए दोनों जगह गुणोपसंहार न्याय से ही विद्या में एकता संभव है। इस प्रकार विद्याओं में गुणोपंसहार आदि चिन्ता के लिए शाखान्तर के अधिकरण में उक्त न्याय, उसका फल विद्या में स्थिरीकृत एकत्व के प्रयोजन कहते हैं—

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च।३।३।५।।

चशब्दोऽवधारणे। सर्ववेदान्तेषु दहराद्युपासने समाने सति एकस्यां शाखायामुक्तस्य गुणस्यान्यत्राप्युपसंहारः कर्त्तव्यः। कुतः? विधिशेषवदर्थाभेदात्। अर्थः प्रयोजनं यथा प्रयोजनाभेदादग्निहोत्रादिविधिशेषस्य सर्वत्रोपसंहारस्तद्वदिहापि।।५।। इति सर्ववेदान्त-प्रत्ययाधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ 'च' शब्द अवधारण अर्थ में है, सभी वेदान्त वाक्यों में दहर आदि उपासनाओं में समानता होने पर भी एक शाखा में उक्त गुण का अन्यत्र भी उपसंहार करना चाहिए। क्योंकि विधि शेष की तरह अर्थ में अभेद है। अर्थ माने प्रयोजन जैसे प्रयोजन के अभेद से अग्निहोत्र आदि विधि के शेष का सर्वत्र उपसंहार होता है, उसी प्रकार यहाँ भी।।५।।

इसप्रकार सर्ववेदान्तप्रत्यय अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

श्रुति में वर्णित विद्याओं में कहीं शब्द भेद से कहीं नाम भेद से और कहीं प्रकरण भेद से भिन्नता प्रतीत होती है। अतः उनकी एकता का प्रतिपादन करने के लिए सूत्रकार स्वयं शङ्का उठा कर उनका समाधान करते हैं—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्।३।३।६।।

"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाये" ति "तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायदि" (वृ०१।३।७) ति वाजसनेयिनः समामनन्ति। छन्दोगाः "पुनरथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिर" (छा० १।२।७) इति। तत्र संशयः–किमत्र विद्यैक्यमुत विद्याभेदः? इति। तत्र तावत्प्राप्तं विद्यैक्यमिति। कुतः? उभयत्रोद्गीथस्यैव प्राणदृष्ट्योपास्यत्वश्रवणेन चोदनाद्यविशेषात्। तथाहि चोदना तावद्विदिधात्वर्थगताऽविशिष्टा, फलसंयोगोऽपि शत्रुपरिभवरूपोऽविशिष्टः। रूपमपि प्राणदृष्ट्योद्गीथाख्योपास्यैक्याद-विशिष्टम्। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा। पूर्वपक्षी सिद्धान्तच्छायया परिचोद्य परिहरति।

ननु चान्यथात्वं नानात्वं विद्यायाः कुतः? शब्दात्। "त्वं न उद्गाये" ति कर्त्तृत्वं प्राणस्य वाजिभिर्निर्दिश्यते। अन्यत्र कर्मत्वं तमुद्गीथमिति। एवं चैकत्रकर्त्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपभेदः। रूपभेदे च विधेयभेदस्तत्र सति केवलचोदनाद्यविशेषोऽकिञ्चित्कर इति विद्याभेद इति चेतन्न। न रूपभेद इत्यर्थः। कुतः? अविशेषात्। उपक्रमे ह्य "विशेषेणो द्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिह-निष्याम" (छा० ।१।२।१) इत्युद्गीथस्यैवोपास्यत्वप्रतीतेः "त्वं नोद्गायेति तथेति तेभ्य एष उद्गायदि" ति कर्मण्येवोद्गीथे कर्त्तृत्वमुपचर्यत इति युक्तमन्यथोपक्रमविरोधः स्यादतो विद्यैक्यम्।।६।।

इति प्राप्त आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

"अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गाय" "तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्" (बृ०१।३।७) (फिर अपने मुख में रहने वाले प्राण से कहा, तुम हमारे लिए उद्गान करो) तब बहुत अच्छा कहकर उनके लिए इस प्राण ने उद्गान किया। ऐसा बाजसनेयी ने कहा। छान्दोग्यों ने कहा "पुनरथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे" (छा० १।२।७) (तब देवताओं ने, जो यह मुख्य प्राण है, उसी की उद्गीथ रूप से उपासना की)। यहाँ संशय होता है- क्या यहाँ विद्या में एकत्व है अथवा विद्या में भेद है। यहाँ प्राप्त है विद्या में एकत्व क्योंकि दोनों जगह उद्गीथ की प्राण दृष्टि से उपास्यत्व का वर्णन होने से चोदना आदि विशेषता का अभाव है। यहाँ चोदना है विद् धात्वर्थगत अविशिष्ट और फल संयोग भी शत्रु परिभव रूप अविशिष्ट है। रूप भी प्राणदृष्टि से उद्गीथ नामक उपास्य के ऐक्य होने से अविशिष्ट है। आख्या उद्गीथ विद्या इसलिए वह भी अविशिष्ट है। यहाँ पूर्वपक्षी सिद्धान्त की छाया से प्रेरित होकर परिहार करता है। यदि कहें कि विद्या में अन्यथात्व नानात्व है क्योंकि शब्दात्- "त्वं न उद्गाय" (तुम मेरे लिए गाओ) इस श्रुति के द्वारा वाजसनेयि द्वारा प्राण का कर्तृत्व निर्दिष्ट होता है। अन्यत्र कर्मत्वम् जैसे तमुद्गीथम् इति। इस प्रकार एक जगह कर्ता में प्राणदृष्टि शब्द होने तथा अन्यत्र कर्म में प्राणदृष्टि शब्द होने से रूप भेद है और रूप भेद होने पर विधेय भेद होता है। उसके होने पर केवल विधि आदि का अविशेष होना अकिञ्चित्कर है, इसीलिए विद्या का भेद है ऐसा नहीं कह सकते। रूप भेद नहीं है क्योंकि 'अविशेषात्' उपक्रम में "अविशेषेण उद्गीथेनात्ययाम उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिहनिष्यामः" (छा० ।१।२।१) इस श्रुति द्वारा उद्गीथ में ही उपास्यत्व की प्रतीति होती है। "त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष उद्गायत्" इस श्रुति द्वारा उद्गीथ रूप कर्म में ही कर्तृत्व का उपचार होता है, इसीलिए युक्ति युक्त है। अन्यथा उपक्रम विरोध होगा। अतः विद्या में एकत्व है।।६।।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं —

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७।।

न वेति पक्षव्यावृत्त्यर्थः। न वैतदस्ति यदुक्तं विद्यैक्यमिति। कुतः? प्रकरणभेदात्

प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथाहि छान्दोग्ये तावद् "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते" (छा०१।१।१) त्युद्गीथावयवं प्रणवमुपास्यं प्रक्रम्य "उद्गीथमाजह्रुरि" ति वचनादुद्गीथावयवभूतः प्रणवः प्राणदृष्टेर्विषय उक्तः। वाजसनेयकेत्व "विशेषेणोद्गीथेनात्ययाम" इत्युपक्रमात् कृत्स्नोद्गीथः प्राणदृष्टेर्विषयः। अतः प्रक्रमभेदाद्विधेयभेदः। विधेयभेदे च रूपभेदस्तस्माच्च विद्या भेद इति। नच वाक्यच्छायासमानतामात्रेणैकविद्यात्वम्। यथा निर्देशसाम्येऽप्यभ्युदयेष्टिपशुकामेष्ट्योर्भेदः प्रक्रमभेदात्। तथा प्रकृतेऽपि निर्देशसाम्यं न विद्यैक्यप्रयोजकमिति परोवरीयस्त्वादिवत्। परस्मात्परोवराच्च वरीयानुद्गीथस्तस्य भावस्तत्त्वं, तदादिवत्। यथैकस्यामपि शाखायामुद्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टिविधानसाम्येऽपि हिरण्मयपुरुषदृष्टिविधानात्परोवरीयस्त्वादि- गुणविशिष्टविधानमर्थान्तरमिति रूपभेदः तद्वदत्रापि।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

न वा यह पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है अथवा यह नहीं है जिस रूप की एकता के कारण विद्या में ऐक्य होगा। क्योंकि प्रकरण भेद है अर्थात् प्रक्रम भेद है। जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् में आया है "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा०१।१।१) इसके द्वारा उद्गीथ के अवयव प्रवण को उपास्य के रूप में प्रारम्भ करके "उद्गीथमाजह्रुः" इस वचन से उद्गीथ के अवयवभूत प्रणव, प्राण दृष्टि का विषय कहा गया है। किन्तु वाजसनेय में "अविशेषेणोद्गीथेनात्ययाम" इस प्रकार के उपक्रम के द्वारा सम्पूर्ण उद्गीथ, प्राण दृष्टि का विषय है। इसलिए प्रक्रम भेद से विषय का भेद होता है। विधेय भेद होने पर रूप भेद और उससे विद्या भेद है। केवल वाक्य की छाया मात्र की समानता से एक विद्यात्व नहीं होता। जैसे निर्देश साम्य होने पर भी अभ्युदयेष्टि अभ्युदय के लिए इष्टियाग तथा पशुकामेष्टियाग में प्रक्रम भेद से भेद होता है, उसी प्रकार प्रकृत में भी निर्देश साम्य विद्या की एकता का प्रयोजक नहीं होता, परोवरीयस्त्व आदि की तरह। पर एवं परोवर में श्रेष्ठ उद्गीथ है उसके भाव को परोवरीयस्त्व कहते हैं। तदादि की तरह। जैसे एक शाखा में भी उद्गीथ के अवयव प्रणव में परमात्म विधान की समता होने पर भी, हिरण्मय पुरुष की दृष्टि विधान के कारण परोवरीयस्त्व आदि गुण विशिष्ट का विधान अर्थान्तर है। इसलिए रूप भेद है, वैसे यहाँ भी समझना चाहिए।।७।।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि।३।३।८।।

उद्गीथविद्येति संज्ञैकत्वात्तद्विद्यैक्यमिति चेदुक्तं, तदपि "न वा प्रकरणभेदादि" त्यनेन प्रकरणभेदात्संज्ञाया दुर्बलत्वात्। अपिचैतत्संज्ञैकत्वं विधेयभेदेऽप्यस्त्येव। यथाऽग्निहोत्रसंज्ञा नित्याऽग्निहोत्रे कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रञ्च, यथा च छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठ्कोदितासु बह्वीषु विद्यासूद्गीथविद्येति संज्ञैक्यम्।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

उद्गीथविद्या इस संज्ञा के एक होने से उसकी विद्या में भी एकत्व होगा, ऐसा कहा है, ऐसा कहें तो वह भी ठीक नहीं "न वा प्रकरणभेदात्" इस सूत्र द्वारा प्रकरण भेद से संज्ञा

में दुर्बलत्व होता है। दूसरी बात यह संज्ञा की एकता, विधेय भेद होने पर भी है ही। जैसे अग्निहोत्रसंज्ञायिनित्य अग्निहोत्र में होती है तथा कुण्डपापियों के लिए अयनाग्निहोत्र संज्ञा है। जैसे छान्दोग्य में प्रथम प्रपाठ्क में उदित अनेक विद्याओं में उद्गीथविद्या यह संज्ञा की एकता है।।८।।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।३।३।९।।

छान्दोग्ये प्रथमप्रपाठके उपास्यत्वेन प्रथमं प्रस्तुतस्योद्गीथावयवस्य प्रणवस्योत्तरास्वप्युद्गीथविद्यासूपास्यत्वेन व्याप्तेश्च मध्यगतस्य "तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरि" (छा०१।२।१) त्युद्गीथशब्दस्यापि प्रणवविषयत्वं समञ्जसम्। अवयवे हि समुदायशब्दो ग्रामो दग्धः, पटो दग्ध इत्यादौ दृश्यते। एवं च छान्दोग्य उद्गीथशब्दनिर्दिष्ट उद्गीथावयवभूतः प्रणव एवोपास्यत्वेन प्रतिपत्तव्यः। वाजसनेयके तूद्गीथशब्दः कृत्स्नोद्गीथविषय इति कृत्स्नोद्गीथप्राणदृष्ट्योपास्य इति सिद्धो विद्याभेदः।।९।। इत्यन्यथात्वाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य के प्रथम प्रपाठ्क में उपास्य रूप में प्रथम प्रस्तुत उद्गीथ के अवयव प्रणव के उत्तर में विद्यमान उद्गीथ विद्याओं में उपास्य रूप में व्याप्ति के कारण मध्यवर्ती उद्गीथ शब्द में प्रणव विषयत्व समञ्जस है। अवयव में भी समुदायवाचक शब्द का प्रयोग 'ग्रामो दग्धः' (गाँव जल गया) 'पटो दग्धः' (कपड़ा जल गया) इत्यादि स्थलों में देखा गया है, इस प्रकार छान्दोग्य में उद्गीथ शब्द से निर्दिष्ट उद्गीथ का अवयवभूत प्रणव को ही उपास्य जानना चाहिए। वाजसनेयक में तो उद्गीथ शब्द सम्पूर्ण उद्गीथ विषयक है। अतः कृत्स्नउद्गीथ प्राण दृष्टि से उपास्य है। इस तरह वहाँ विद्या का भेद सिद्ध है।।९।। इस प्रकार अन्यथात्व अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।१०।।

छान्दोगानां वाजसनेयिनां च प्राणसम्वादे ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणान्वितं प्राणमुपास्यतया प्रतिपाद्य वागादीनामपि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणानुक्त्वा वागादीनां देहस्य च प्राणाधीनस्थितितया प्राणाधीनकार्यतया च प्राणस्य श्रेष्ठत्वमुक्त्वा वागादिगुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः। यद्वा "ऽहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसी (वृ०६।१।१४) नी"त्यादिना। एवं च तत्र ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणको वसिष्ठत्वादिगुणकश्च प्राण उपास्यतया प्रतिपाद्यते। कौषीतकिप्रभृतीनां तु प्राणसम्वादे वसिष्ठत्वादयो गुणा उक्ता वागादीनां न पुनः प्राणे समर्पिताः। तत्र संशयः-किं कौषीतकिप्राणविद्यायां प्राणे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपसंहर्त्तव्या उत नेति ? किं प्राप्तं, तत्रानुपसंहारोऽश्रुतत्वादिति प्राप्त उच्यते-सर्वेति। अन्यत्र कौषीतकिप्राण-विद्यायामपीमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः प्राणे उपादेयाः। कुतः? सर्वाभेदात्। प्राणज्यैठ्यश्रैष्ठ्योपादनं वागादीनां स्थितेस्तत्कार्यस्य च प्राणाधीनतयेत्येतत् सर्वत्राप्य-

विशिष्टमेव। अन्यथा वागादिगतवसिष्ठत्वादेरपि प्राणहेतुकत्वानुसन्धानमन्तरा प्राणस्य ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यानुसन्धानं नोपपद्यते। किञ्च कौषीतकिप्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यादि-प्रतिपादनायैव वागादिषु वसिष्ठत्वादय उक्ताः। "अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् को वै नः श्रेष्ठ" इति "स होवाच प्रजापतिर्यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ" इत्यादिना वागादयस्तद्गतगुणाश्च देहश्च प्राणाधीनामिति ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं च प्राणस्यो पपादितम्। यतो वागादिवसिष्ठत्वादिहेतुत्वरूपेणैव प्राणे वसिष्ठत्वादिगुणयोगित्वमित्यतः प्राणेऽपि त उपसंहर्तव्या एवेति।।१०।। इति सर्वाभेदाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य एवं वाजसनेयी के प्राण सम्वाद में ज्यैष्ठ्य एवं श्रैष्ठ्य गुणों से युक्त प्राण को उपास्य बताकर वहाँ वाक् आदि में भी वसिष्ठत्व गुणों को कहकर वाक् आदि इन्द्रियों तथा देह की प्राणाधीन स्थिति होने के कारण तथा प्राणाधीन कार्य होने के कारण, प्राण की श्रेष्ठता बताकर वाक् आदि के गुण पुनः प्राण में प्रत्यर्पित किये। अथवा "अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि" (बृ०६।१।१४) इत्यादि मन्त्रों द्वारा। इस प्रकार वहाँ ज्यैष्ठ्य एवं श्रैष्ठ्य गुण वाला तथा वशिष्ठत्व आदि गुण विशिष्ट प्राण उपास्य रूप में कहा जाता है। कौषीतकि प्रभृति आदि के प्राण सम्वाद में तो वसिष्ठत्व आदि उक्त गुण प्राण में समर्पित नहीं है। यहाँ संशय होता है, क्या कौषतकि की प्राणविद्या में प्राण में वशिष्ठत्व आदि गुणों का उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं? क्या प्राप्त है? तो कहते हैं, श्रुत न होने के कारण अनुपसंहार प्राप्त है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सर्वेति' 'अन्यत्र कौषीतकि' आदि प्राणविद्या में भी ये वशिष्ठत्व आदि गुण प्राण में उपादेय है। क्योंकि 'सर्वाभेदात्' प्राण के ज्यैष्ठ्य एवं श्रैष्ठ्य का उपपादन वाक् आदि की स्थिति एवं उसके कार्य के प्राणाधीन होने के कारण ये सब सर्वत्र भी अविशिष्ट ही है। अन्यथा वाक् आदि में रहने वाले वशिष्ठत्व आदि में भी प्राण हेतुकत्व के अनुसंधान के बिना प्राण के ज्यैष्ठ्य एवं श्रैष्ठ्य गुण का अनुसंधान उपपन्न नहीं होता। दूसरी बात कौषीतकि उप. की प्राणविद्या में भी प्राण के ज्येष्ठत्व आदि गुणों में प्रतिपादन के लिए ही वाक् आदि में वशिष्ठत्व आदि कहे गये हैं। "अथ हेमा देवताः प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् को वै नः श्रेष्ठ" अनन्तर ये सब देवता (इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवता) प्रजापति पितर के समीप जाकर बोले, हम सबमें श्रेष्ठ कौन है? तब बोले-वाक् आदि इन्द्रियाँ, तद्गत गुण (कार्य), देह सब प्राण के अधीन हैं। इस प्रकार प्राण सबमें ज्यैष्ठ्य तथा श्रैष्ठ्य है, ऐसा प्रतिपादन किया। क्योंकि वाक् आदि में वशिष्ठत्वादि गुणों के हेतु रूप से ही प्राण में वशिष्ठत्व आदि गुणयोगित्व है। इसलिए प्राण में उन गुणों का उपसंहार करना चाहिए।।१०।।

इस प्रकार से सर्वाभेद अधिकरण पूरा हुआ।।३।।

आनन्दादयः प्रधानस्य।३।३।११।।

आनन्दत्वसर्वज्ञत्वसर्वात्मत्वज्ञानान्तत्वरूपा ब्रह्मस्वरूपगुणाब्रह्मस्वरूपपरासु श्रुतिषु

श्रूयन्ते। तत्र संशयः- किं तेषां सर्वासु ब्रह्मोपासनासूपसंहारोऽस्ति उत नेति? तत्र प्रकरणपठितानामेवोपसंहारदर्शनादप्रकरणपठितानामुपसंहारे प्रमाणाभावात्। किञ्च तेषामसङ्ख्येयत्वेनोपसंहाराशक्तेश्च नोपसंहर्तव्या इति प्राप्ते आह 'आनन्दादय' इति। सर्वाभेदादित्यनुवर्त्तते। प्रधानस्य ब्रह्मणः सर्वत्राभेदाद् गुण्यव्यतिरेकाद्गुणानां सर्वत्रानन्दादयस्तद्गुणा उपसंहर्तव्याः। यत्र प्रधानं तत्रैव तैर्भवितव्यमिति भावः।।११।।

नन्वेवं गुणव्यतिरेकादेवानन्दादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्। ते हि तैत्तिरीयक आनन्दमयपक्रमे श्रूयन्ते "तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे" (तै० २।५) त्यत उत्तरमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

आनन्दत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वात्मत्व, अनन्तज्ञानत्व आदि ब्रह्मस्वरूप गुण ब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों में सुने जाते हैं। यहाँ संशय होता है कि इन गुणों का समस्त ब्रह्म उपासनाओं में उपसंहार है या नहीं? यहाँ प्रकरण में पठित गुणों का उपसंहार दर्शन होने से प्रकरणान्तर में पठित गुणों के उपसंहार के प्रमाण नहीं है और उन गुणों के असंख्येय होने से उपसंहार अशक्य भी है। इसलिए उनका उपसंहार नहीं करना चाहिए, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'आनन्दादय' यहाँ 'सर्वाभेदात्' की अनुवृत्ति होती है अर्थात् प्रधान ब्रह्म की सर्वत्र अभेद होने से गुणी से भिन्न न होने के कारण सर्वत्र आनन्द आदि गुणों का उपसंहार करना चाहिए। तात्पर्य है कि जहाँ प्रधान है, वही उन गुणों को होना चाहिए।।११।।

यदि कहें कि गुणों की भिन्नता के कारण ही आनन्द आदि की तरह प्रियशिरस्त्व आदि सभी धर्म सर्वत्र प्रसक्त होंगे। वे तैत्तिरीय उप. आनन्दमय प्रकरण में सुने जाते हैं "तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" (तै० २।५) उस पुरुष विध- साकार ब्रह्म का प्रिय ही शिर है, मोह दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है, ब्रह्म पुच्छ के समान है, आश्रय धाम है। इस पर कहते हैं—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे।३।३।१२।।

आनन्दादिवत्प्रियशिरस्त्वादीनामप्राप्तिस्ते हि न ब्रह्मस्वरूपगुणाः किन्तु ब्रह्मणः पुरुषविधत्वतिरूपणमात्रेऽन्तर्गताः। कुतः? यतो ब्रह्मणः शिरःपक्षपुच्छाद्यवयवभेदे सत्युपचयापचयौ स्याताम्। ततश्च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽनन्तोऽजर" इत्यादि विरुध्यते।।१२।।

तेभ्य आनन्दादीनां विशेषमाह-

(हिन्दी-अनुवाद)

आनन्द आदि की तरह प्रियशिरस्त्व आदि की प्राप्ति नहीं होती। वे ब्रह्म के स्वरूप गुण नहीं है। वे ब्रह्म के प्रियशिरस्त्व आदि गुण ब्रह्म के पुरुष विधत्व (साकारत्व) निरुपण मात्र के अन्तर्गत है। क्योंकि ब्रह्म में शिर पक्ष पुच्छ आदि अवयव भेद मानने पर उपचय-अपचय होंगे। तब "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽनन्तोऽजर" इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा।

उनसे आनन्द आदि का विशेष कहते हैं—

इतरेत्वर्थसामान्यात् ।३ ।३ ।१३ ।।

इतरेत्वानन्दादयः सर्वत्र स्युः। कुतः? अर्थसामान्यात् ब्रह्मस्वरूपसमानत्वात्। ब्रह्मस्वरूपवत्सर्वत्रोपसंहार्याः। आनन्दाद्यपहतपाप्मत्त्वाद्यस्थूलत्वादिसत्यज्ञानामलत्वानन्तत्वादयो हि ब्रह्मस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेन ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यनुबन्धित्वाद् ब्रह्मस्वरूपसमानाः। ये तु वात्सल्यकारुण्यौदार्यैश्वर्यगाम्भीर्यादयस्तेषां गुण्यव्यतिरेकत्वेऽपि ब्रह्मस्वरूपप्रतीत्यनुबन्धित्वाभावात्। यत्र श्रुतास्तत्रैवोपसंहर्तव्या इति प्रथमसूत्रे हेत्वप्रदर्शनादनेन प्रियशिरस्त्वादिवैषम्यार्थं हेतुकथनं प्रकृतमिति न पुनरुक्तता।।१३।।

प्रियशिरस्त्वादीनां ब्रह्मस्वरूपनिरूपणधर्मत्वाभावान्न ते ब्रह्मगुणा भवन्ति चेत्तर्हि तदभिधाने प्रयोजनं वक्तव्यम्। तत्राह-

(हिन्दी-अनुवाद)

आनन्द आदि गुणों का सर्वत्र उपसंहार होगा क्योंकि "अर्थ सामान्यात्" सब जगह ब्रह्म स्वरूप की समानता है। ब्रह्म स्वरूप की तरह उनका सर्वत्र उपसंहार होगा। आनन्द आदि अपहत पाप्मत्व आदि, सत्यत्व, ज्ञानत्व, अमलत्व, अनन्तत्व आदि गुण ब्रह्म के स्वरूप निरूपक धर्म होने से ब्रह्मस्वरूप की प्रतीति का जनक हैं। ब्रह्मरुवरूप के समान हैं। और जो वात्सल्य, कारुण्य, औदार्य, ऐश्वर्य तथा गाम्भीर्य आदि गुण हैं, इनमें गुणी से अभिन्न होने पर भी ब्रह्मस्वरूप के अनुबन्धित्व का अभाव होने से जहाँ श्रुत है, वही उसका उपसंहार करना चाहिए। प्रथम सूत्र में हेतु का अप्रदर्शन होने से इस सूत्र से प्रियशिरस्त्व आदि से वैषम्य बताने के लिए हेतु कथन यहाँ प्रकृत है, इसलिए पुनरुक्तता नहीं है।।१३।।

यदि कहें कि प्रियशिरस्त्व आदि ब्रह्मस्वरूप निरूपक धर्म न होने से यदि वे ब्रह्म के गुण नहीं है तो फिर उनके अभिधान में क्या प्रयोजन है। इस पर कहते हैं—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।३ ।३ ।१४ ।।

आध्यानायानुचिन्तनार्थमुपासनार्थं तेषामभिधानं, कुतः? प्रयोजनान्तराभावात्। अयमर्थः— "ब्रह्मविदाप्नोति परमि" त्यत्र वेदितव्यतयोपदिष्टमेकं ब्रह्मानन्दमयं सुखप्रतिपत्तये प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिरःपक्षादिभावेन रूपयित्वा बुद्धावारोह्यते। यथा ह्यन्नमयः प्राणमयमनोमयविज्ञानमयाश्चास्य देहस्य शिरःपक्षादिरूपकेण प्राणाद्यवयवरूपकेण च बुद्धावारोह्यन्ते, तस्येदमेव शिर इत्यादिना तस्य प्राण एव शिर इत्यादिभिश्च। तथैतेभ्योऽर्थान्तरभूततदन्तरात्माऽऽनन्दमयपुरुषस्यापि सम्यग्ध्यानाय प्रियमोदादिरूपकेण बुद्धावारोहणमित्यतः प्रियशिरस्त्वादीनामानन्दमयोपलक्षणार्थत्वान्न ते ब्रह्मस्वरूपप्रतीतावुपसंहार्या इति।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

उपासना में अनुचिन्तन के लिए उन गुणों का कथन है क्योंकि उनका अन्य कोई

प्रयोजन नहीं है। यह भाव है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस श्रुति के द्वारा ज्ञापकीय रूप में उपदिष्ट एक आनन्दमय ब्रह्मसुख पूर्वक ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रिय मोद आदि रूप से विभाग करके शिर तथा पक्ष आदि भाव से रूपित करके बुद्धि में आरोहित करते हैं। जैसे इस देह के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोष शिरपक्ष आदि रूपक के माध्यम से बुद्धि में आरोहित होते हैं। 'तस्येदमेव शिरः' इत्यादि वचनों द्वारा। इसी प्रकार उसका प्राण ही शिर है इत्यादि वचनों से तथा इनके द्वारा अर्थान्तरभूत उसके अन्तरात्मा आनन्दमय पुरुष में भी विधिवत् ध्यान के लिए प्रिय मोद आदि रूपक के द्वारा बुद्धि में उसका आरोहण किया जाता है। इसलिए प्रियशिरस्त्व आदि धर्म आनन्दमय का ही उपलक्षण है। अतः ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति में उनका उपसंहार नहीं करना चाहिए।।१४।।

आत्मशब्दाच्च ।३ ।३ ।१५ ।।

"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" इत्यात्मशब्देन निर्देशाच्च प्रियशिरस्त्वादयो न ब्रह्मस्वरूपधर्माः आत्मनः पक्षिवत् शिरःपक्षपुच्छाद्यसम्भवादतस्तस्य सुखबोधाय रूपकतामात्रं तदिति गम्यते।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय" यहाँ आत्म शब्द से निर्देश होने से भी प्रियशिरस्त्व आदि ब्रह्म के स्वरूपधर्म नहीं है। आत्मा में पक्षी की भाँति शिर, पक्ष, पुच्छ आदि असंभव है। इसलिए सुखपूर्वक बोधन के लिए रूपकतामात्र है।।१५।।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ।३ ।३ ।१६ ।।

"अन्योऽन्तर आत्मे" त्यात्मशब्देन परमात्मैव गृह्यते, 'इतरवत्'। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि" (ऐ० ।१ ।१) त्यादिषु ऐतरेयवाक्येषु यथात्मशब्दः परमात्मानमेव गृहणाति, तद्वत्। कथमवगम्यते? उत्तरात् तदैकार्थ्यात् "सोऽकामयत बहुस्यामि" त्यानन्दमयात्मविषयादुत्तराद्वाक्यात्।।१६।।

ननु पूर्वेषु "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादिवाक्योक्तप्राणमयाद्यनात्मस्वप्यात्म-शब्दान्वयदर्शनान्नोत्तरवाक्यादपि परमात्मा निश्चेतुं शक्यत इत्याशङ्क्याह-

(हिन्दी-अनुवाद)

"अन्योऽन्तर आत्मा" यहाँ आत्म शब्द से परमात्मा ही गृहीत होते हैं। इतर के समान "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (ऐ० ।१ ।१) इत्यादि ऐतरेय वाक्यों में जैसे आत्म शब्द परमात्मा बोधक है, उसी तरह। कैसे जानते हैं तो बोले 'उत्तरात्' उसके समान एकार्थक "सोऽकामयत बहुस्याम्" इस आनन्दमय आत्मविषयक उत्तर वाक्य से।।१६।।

यदि कहें कि पूर्वोक्त "अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय" इत्यादि वाक्यों में उक्त प्राणमय आदि अनात्म पदार्थो में आत्म शब्द का अन्वय दर्शन होने से, उत्तर वाक्य से भी परमात्मा का निश्चय नहीं हो सकता। ऐसी आशंका करके कहते हैं—

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ।३ ।३ ।१७ ।।

पूर्वेष्वनात्मस्वप्यात्मशब्दान्वयान्नोत्तरवाक्यगतात्मशब्देन परमात्मनिर्णय इति चेत्स्यादेव निर्णयः। कुतः ? अवधारणात्। "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत" (तै० ।२ ।१ ।१) इति प्रकृतस्यात्मन एव प्राणमयादिष्वानन्दमयपर्यन्तेष्वात्मशब्देन निश्चितत्वात् ।।१७।। इत्यानन्दाधिकरणम् ।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पूर्वोक्त अनात्म पदार्थों में आत्म शब्द का अन्वय दर्शन होने से यहाँ उत्तर वाक्यगत आत्म शब्द से परमात्मा का निर्णय नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहें तो कहते हैं। निर्णय होगा ही क्यों कि 'अवधारणात्' "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" (तै० ।२ ।१ ।१) इस मन्त्र द्वारा प्रकृत (प्रस्तुत) आत्मा का ही प्राणमय से लेकर आनन्दमय पर्यन्त में आत्म शब्द का प्रयोग होने से निश्चित होता है।।१७।।

इस प्रकार आनन्द अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

कार्य्याख्यानादपूर्वम् ।३ ।३ ।१८ ।।

छान्दोग्यवाजसनेयकयोर्ज्येष्ठं श्रेष्ठञ्च प्राणमुपास्यमुक्त्वा तस्यैवश्वादिमर्यादमन्नमाम्नाया-पो वासस्त्वेनाम्नायन्ते "स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नोह भवती" ति छन्दोगाः (छा० ।५ ।२ ।२)। वाजसनेयिनस्तु "किं मे वास" इति प्राणेन चोदिता वागादय ऊचु "रापो वास" इति। 'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते (बृ० ।६ ।१ ।१४)। तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यामनन्ति। तत्र संशयः, किमत्राचमनमपां प्राणवासस्त्वानुसन्धानं चोभयं विधीयते उताचमनम् ? किं वाचमनमनूद्यापां प्राणवासस्त्वानुन्धानमिति ? किं तावत्प्राप्त, मुभयं विधीयत इति। कुतः ? उभयस्याप्यत्र श्रूयमाणत्वादपूर्वत्वाच्च विध्यर्हत्वम्। किं वाऽशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदित्याचमने विधिश्रवणादेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" इत्यपां प्राणवासस्त्वानुसन्धाने विधिविभक्त्यश्रवणादाचमनस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासङ्कीर्तनमिति भोजनाङ्गस्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वेन विधिविभक्तिबलात्तदेव प्राणविद्याङ्गत्वेनोपदिश्यत इति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु यदपूर्वमप्राप्तं स्मृतितस्तदाचमनीयास्वप्सु वासोदर्शनं विधीयते, नत्वाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते। कुतः ? कार्याख्यानात्। अहरहः कर्त्तव्याचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तस्य सङ्कीर्तनात्। शास्त्रस्य चाप्राप्ताख्यानस्वरूपत्वादाचमनमनूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसन्धानं विधीयत इत्यर्थः। न चैकार्थविधाने सम्भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेत्यर्थद्वयविधानं कल्पयितुं युक्तमाचमनस्य क्रियान्तरत्वाङ्गीकारात्। आचमनं हि क्रियान्तरमेव पुरुषस्य प्रायत्यार्थमङ्गीक्रियत। आचमनीयास्वप्सु वासःकल्पनमपि क्रियान्तरमेव प्राणस्य परिधानार्थमङ्गीक्रियते इति तदनमनग्नं कुरुत इति चोपसंहरात्प्राणविद्याप्रकरणार्थपरिधानविधानमेव युक्तम्। अत एव छान्दोग्येऽद्भि परिदधतीति परिधानमेवोक्तं, न त्वाचमनम्। अपि च "यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमि" (बृ ।६ ।१ ।१४) त्यत्र तावदद्दृष्टिविधानं। नहि

समस्तप्राणिभक्षणमुपासकेन कर्तुं शक्यते, प्रतिषेधातिक्रमात्तत्साहचर्यादाचमनेऽपि दृष्टिविधानमिति।।१८।। इति कार्याख्यानाधिकरणम्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य और वाजसनेयक में ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ प्राण में उपास्यत्व कहकर उसके द्वारा पूछने पर 'किं मेऽन्नं भविष्यति?' मेरा भोज्य अन्न क्या होगा? तो कहा 'यदिदं किञ्चिदाश्वम्य आशकुनिभ्यः' इस प्रकार श्वा (कुत्ता) आदि पर्यन्त अन्न बताकर जल को वस्त्र रूप में बताया जैसे- "सहोवाच किं मे वासो भविष्यतीत्यापइति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्बुको ह वासो भवत्यनग्नोह भवति" (छा० ।५।२।२)। वाजसनेयी लोग कहते हैं 'किं मे वासः?' इस प्रकार प्राण के द्वारा कहने पर वाक् आदि बोले 'आपो वासः' "तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते (वृ० ।६।१।१४)। तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते" ऐसा पढ़ते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ जल का आचमन व प्राण वस्त्रत्व का अनुसन्धान (रूप) उभय का विधान है या आचमन? क्योंकि वाक् का अनुवाद करके जल का प्राण वासस्त्व का अनुसंधान है। क्या प्राप्त है? तो बोले, दोनों का विधान है क्योंकि यहाँ उभय श्रूयमाण है और अपूर्व होने के कारण विधि की योग्यता है। अथवा 'अशिष्यन्नाचमेदशित्वा चाचामेत्' इस श्रुति से अचमन के विधि का श्रवण होने से 'एतमेव तदनमनग्नं कुरुते' के द्वारा जल के प्राण वासस्त्व के अनुसंधान में विधि विभक्ति में श्रवण नहीं होने से आचमन की स्तुति के लिए अनग्नता का संकीर्तन है। इस तरह भोजन के अङ्ग आचमन में स्मृति सदाचार प्राप्त होने के कारण विधि विभक्ति के बल से वही प्राणविद्या के अंग रूप में उपदेश का विषय होता है यह पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त है- जो अपूर्व है, स्मृति से अप्राप्त है, वह आचमनीय जल में वस्त्र का दर्शन विधान करते हैं, न कि आचमन का विधेयत्व उपपन्न होता है क्योंकि 'कार्याख्यानात्' स्मृति आचार से प्राप्त प्रतिदिन कर्तव्य आचमन संकीर्तन है। शास्त्र अप्राप्त के आख्यान का स्वरूप है। इसलिए आचमन का अनुवाद करके आचमनीय जल में प्राण के वासस्त्व के अनुसंधान का विधान किया जाता है। एकार्थ विधान संभव होने पर प्रायत्यर्थता एवं परिधानार्थता दोनों अर्थों का विधान उचित नहीं क्योंकि आचमन क्रियान्तर ही है, जो पुरुष के प्रायश्चित के लिए होता है। आचमनीय जल में वासस् (वस्त्र) की कल्पना भी क्रियान्तर ही है। प्राण के परिधानार्थ स्वीकार किया जाता है। 'तदनमनग्नं कुरुते' ऐसा उपसंहार है। इसलिए प्राणविद्या प्रकरणार्थ परिधान का विधान ही युक्त है। इसलिए छान्दोग्य में "यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नम्" (वृ।६।१।१४) में वहाँ तक दृष्टि विधान समस्त प्राणिभक्षण उपासक द्वारा नहीं किया जा सकता है। प्रतिषेध के अतिक्रम होने से उसके साहचर्य से आचमन में भी दृष्टि विधान है।

इस प्रकार कार्याख्यान अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१९।।

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रूयते, "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीते" त्यारभ्य

"स आत्मानमुपासीत मनोमयमि" त्यादिः। तथा तत्रैव बृहदारण्यके पुनरपि सैव श्रूयते "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यमि" (वृ० ।५।६।१।) त्यादिः। तत्र सन्दिह्यते, किमत्र विद्याभेद उताभेदः? इति किन्तावत्प्राप्तं, विद्याभेदोऽभ्यासात्,। यथा पञ्चकृत्वोऽभ्यासात् प्रयातभेदस्तथाऽत्रापीति प्राप्त उच्यते-विद्याऽभेदः। कुतः? समान इति समाने शाखैकत्वे वेद्यस्याभेदात्। एवं च गुणोपसंहारः। यथा भिन्नशाखासु विद्यैक्यं गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि भवितुमर्हति वेद्याभेदात्। न च मनोमयादीनां पुनः श्रवणमनर्थकमविदितानामेव गुणानां विधानस्य युक्तत्वादिति वाच्यम्। कतिपयविहितगुणसङ्कीर्तनस्य विद्याप्रत्यभिज्ञानसिद्ध्यर्थत्वात्।।१९।। इति समानाधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वाजसनेयी शाखा के अग्नि रहस्य में शाण्डिल्य विद्या श्रूयमाण हैं "सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत" (सत्य ब्रह्म की उपासना करें) यहाँ से लेकर "स आत्मानमुपासीत मनोमयम्" (मनोमय आत्मा की उपासना करें) इत्यादि तथा वहीं बृहदारण्यक में पुनः वहीं शाण्डिल्य विद्या सुनी जाती है, "मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यम्" (वृ० ।५।६।१।) इत्यादि। यहाँ संदेह है कि क्या यहाँ विद्या का भेद है या अभेद? क्या प्राप्त है, तो बोले, विद्या का भेद क्योंकि उसी का अभ्यास है। जैसे पाँच बार के अभ्यास से प्रयात का भेद होता है, वैसे यहाँ भी विद्या का भेद है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, विद्या का अभेद है। क्योंकि 'समान' शाखा की एकता समान होने के कारण। इस प्रकार यहाँ गुणों का उपसंहार है, जैसे भिन्न शाखाओं में विद्या की एकता होती है और गुणोपसंहार होता है। इसी प्रकार एक शाखा में भी हो सकता है वेद्य तत्त्व में अभेद के कारण। यदि कहें कि मनोमय आदि गुणों का पुनः श्रवण अनर्थक है, कारण अविदित गुणों का ही विधान युक्त होता है तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि कतिपय विहित गुणों का संकीर्तन विद्या की प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की सिद्धि के लिए होता है।।१९।।

इस प्रकार समान अधिकरण पूरा हुआ।।६।।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।३।३।२०।।

बृहदारण्यक इदमाम्नायते "सत्यं ब्रह्मे" (बृ ।५।५।१) त्युपक्रम्य "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष (बृ०५।५।२।)" इत्यादि। तत्र सत्यब्रह्मणो व्याहृतिशरीरतयाऽऽदित्यमण्डलेऽक्षिणि चोपास्यत्वमुक्त्वा "द्व उपनिषदौ रहस्यनामन्युपासनशेषतया दृश्येते, "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममि" ति। तत्र सन्दिह्यते, ते किं यत्र श्रुते तत्रैव नियमेन व्यवस्थिते? उतोभयत्रोभ अनियमेनेति? तत्रोभयोः स्थानयोर्व्याहृतिशरीरस्य सत्यब्रह्मण एकरूपस्यैवोपास्यतया रूपाभेदात्संयोगचोदनाद्यभेदाच्च विद्यैक्यमित्यनियते नामनीति पूर्वपक्षयति-सम्बन्धादेवमिति। यथा शाण्डिल्यविद्यायां मनोमयत्वादिगुणविशिष्टस्यैवोपास्यत्वेनोभयत्र रूपाभेदाद्विद्यैक्यमेवमन्यत्रापि मण्डलेऽक्षिणि चैकस्यैव सत्यब्रह्मणः स्थानद्वयसम्बन्धान्न रूपभेद इति विद्यैक्यात्। "द्वे नामन्यनियते" इति प्राप्ते।।२०।।

प्रतिविधीयते-

(हिन्दी-अनुवाद)

बृहदारण्यक में यह कहा जाता है "सत्यं ब्रह्म" ऐसा उपक्रम करके "तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष (बृ०५।५।२।)" यहाँ सत्य ब्रह्म के व्याहृति शरीर होने के कारण आदित्य मण्डल एवं नेत्र में उपास्यत्व बताकर "द्व उपनिषदौ रहस्य नामन्युपासनशेषतया दृश्येते' (रहस्य नाम की दो उपनिषदें उपासना के शेष रूप में देखी जाती हैं) "तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" यहाँ संदेह होता है कि वे जहाँ सुने गये है, वहीं नियम से व्यवस्थित होते हैं अथवा दोनों जगह दोनों अनियम से? यहाँ दोनों स्थानों में व्याहृति शरीर वाले सत्य रूप ब्रह्म के एक रूप के उपास्य रूप होने से रूप के अभेद तथा संयोग एवं चोदना (विधि) के अभेद होने से विद्या एक होने पर भी अनियत नाम वाले हैं। ऐसा पूर्वपक्ष होता है, 'सम्बन्धादेवमिति' जैसे शाण्डिल्य विद्या में मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट के ही उपास्य होने से दोनों जगह रूप के अभेद होने के कारण विद्या में एकत्व है। इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी आदित्य मण्डल एवं अक्षि में एक ही सत्य ब्रह्म का दोनों स्थानों से सम्बन्ध होने के कारण रूप भेद नहीं है। इस प्रकार विद्या में एकत्व है, दो नाम अनियत प्राप्त होने पर।।२०।।

उत्तर देते हैं—

न वा विशेषात् ।३।३।२१।।

न वेति पक्षव्यावृत्तिः। न वोभयोरुभयत्रोपसंहारः कुतः? विशेषादुपास्यस्थानभेदात्। यथाचार्यस्यासीनस्योक्तो धर्मो गच्छतो न भवत्येवं ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यस्थान-सम्बन्धितयोपास्यत्वमितरत्राक्षिस्थानसम्बन्धितयोपास्यत्वमिति स्थानसम्बन्धित्व-भदेनोपास्यरूपभेदाद्विद्याभेद इति नियते नामनी शाण्डिल्यविद्यायां तूभयत्र हृदयाधारत-योपास्यत्वान्नोपास्यस्थानं भिद्यते।।२१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'न वा' से पक्ष की व्यावृत्ति होती है। अभेद का उभयत्र (दोनों जगह) उपसंहार नहीं है। क्यों, 'विशेषात्' उपास्य स्थान के भेद से। जैसे बैठे हुए आचार्य का धर्म चलते हुए आचार्य का नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म के एकत्व होने पर भी एक जगह आदित्य स्थान सम्बन्धी रूप में उपास्यत्व है, अन्यत्र नेत्र स्थान सम्बन्धि रूप में उपास्यत्व है। इस प्रकार स्थान सम्बन्ध के भेद से उपास्य रूप में भेद होता है फिर विद्या में भेद होता है। इस प्रकार दोनों नाम नियत हैं। शाण्डिल्य विद्या में तो दोनों जगह हृदय रूप आधार के कारण उपास्य स्थान में भेद नहीं होता।।२१।।

दर्शयति च ।३।३।२२।।

दर्शयति च श्रुतिरेवञ्जातीयकधर्मस्य विद्याभेदेनानुपसंहारं "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नामे" (छा०।१।७।५) त्यादिना

अक्ष्यादित्यस्थानभेदादादित्यपुरुषगतं रूपादिकमक्षिपुरुषे स्वतोऽप्राप्तमतिदेशेन प्रापयति। तस्माद्व्यवतिष्ठेत एवैते नामनीति निर्णयः।।२२।। इति सम्बन्धाधिकरणम्।।७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

इस जाति के धर्म का विद्या अभेद से अनुपसंहार श्रुति स्वयं बताती है। "तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम" (छा० ।१ ।७ ।५) इत्यादि वचनों द्वारा अक्षि एवं आदित्य रूप स्थान भेद से आदित्य पुरुष गत रूप आदि अक्षिगत पुरुष में स्वतः अप्राप्त है, जिसे अतिदेश के द्वारा प्राप्त कराते हैं। इसलिए ये दोनों नाम व्यवस्थित हैं।।२२।।

इस प्रकार सम्बन्ध अधिकरण पूरा हुआ।।७।।

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३ ।३ ।२३ ।।

"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ब्रह्म भूतानां प्रथमं नु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं क" इति तैत्तिरीयके राणायनीयानां खिलेषु च वीर्यसम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृति-ब्रह्मगुणजातमाम्नायते। तेषामेवोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याद्याः ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तत्र संशयः, तेषां किं तासु सर्वासु विद्यासूपसंहार उत स्थानविशेषोपासनेषु नियम इति। तत्र तेषामुपासनविशेषमप्रकृत्या-धीतानामपि विद्याभेदादुपसंहार इति प्राप्त, उच्यते–सम्भृतिद्युव्याप्तीति। सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्चेति समाहार एकवद्भावः। सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतिगुणजातं न सर्वासु विद्यासूपसंहार्यं, कुतः? अत एव स्थानभेदादेव। शाण्डिल्यविद्यायां ब्रह्मणो हृदयमायतनमुक्तम्। "एष मे आत्माऽन्तर्हृदय" (छा० ।३।१४ ।३) इति। दहरविद्यायामपि तदेवोक्तं, "दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश" (छा० ।८ ।१ ।१) इति। उपकोशलविद्यायां तु अक्ष्यायतनं "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत" (छा० ४ ।१५ ।१) इति। द्युव्याप्तेर्हि हृदयाद्यल्पस्थानेषूपसंहारायोगात् तत्साहचर्यात्सम्भृत्यादयोऽप्यल्पस्थानविषयासु विद्यासु नोपसंहार्या इति। श्रुत्यर्थस्तु वीर्येति वीर्याणि परमात्मपराक्रमविशेषरूपाणि खादीनि, "सुपांसुलुगि" त्यनेन जस आः, कीदृशानि ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षकारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि। अत्रापि जस आत्वं, तानि च वीर्याणि कारणेन ब्रह्मणा सम्भृतानि धृतानि पुष्टानि च "वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मन" इत्युक्तेः। तञ्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे देवादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्नुवत्सदा सर्वव्यापकमित्यर्थः। कथमेतदवगतम्? तत्राह, भूतानां चतुर्मुखादिप्राणिनां प्रथमं नु पूर्ववर्ति सत् जज्ञे प्रादुर्बभूव तेन सर्वकारणेन प्राक्सिद्धेन ब्रह्मणा सह स्पर्द्धितुं स्पर्द्धां कर्त्तुं कोऽवरजन्मा जीवोऽर्हति योग्यो भवति। सर्वस्य तन्नियम्यत्वात्तद्व्याप्यत्वात्तदाधेयत्वाच्च तदेव सर्वोपजीव्यं सर्वपूज्यं चेत्यर्थः।।२३।। इति सम्भृत्यधिकरणम्।।८।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्म भूतानां प्रथमं नु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः" ऐसा तैत्तिरीय में राणायनीयों के खिलों (ग्रन्थों) में भी वीर्य सम्भृति, तथा द्युलोक व्याप्ति प्रभृति ब्रह्म के गुण समूहों का कथन है। उन्हीं की उपनिषद् में

शाण्डिल्यविद्या तथा ब्रह्मविद्या पठित हैं। वहाँ संशय होता है कि क्या उन सबों का उन सभी विद्याओं में उपसंहार होता है अथवा स्थान विशेष की उपासनाओं में ही उपसंहार होता है? वहाँ उपासना विशेष को बिना प्रस्तुत किये ही अधीत विद्याओं में विद्या के अभेद के कारण उपसंहार है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सम्भृति द्युव्याप्ति' इत्यादि। यहाँ सम्भृतिश्च द्युव्याप्तिश्च ऐसा समाहार द्वन्द्व होने से एकवद्भाव होता है। अर्थात् सम्भृति द्युव्याप्ति प्रभृति समस्त गुण समूह सभी विद्याओं में उपसंहार के योग्य नहीं है। क्यों? स्थान भेद के कारण ही उपसंहार नहीं होता। शाण्डिल्य विद्या में ब्रह्म का हृदय को आयतन (निवास) कहा गया है। "एष मे आत्माऽन्तर्हृदयः" (छा० ।३।१४।३)। दहरविद्या में भी ऐसा ही कहा गया है "दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" (छा० ।८।१।१)। उपकोशलविद्या में तो उसकी अक्षि (नेत्र) को आयतन कहा गया है "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" (छा० ४।१५।१) द्युलोक व्याप्ति (सम्बन्ध) गुण का हृदय आदि अल्प स्थानों में उपसंहार नहीं हो सकने के कारण उसके साहचर्य से सम्भृति आदि गुण की अल्पस्थानवाली विद्याओं में उपसंहार योग्य नहीं है। श्रुति का अर्थ इस प्रकार है, 'वीर्येति वीर्याणि' माने परमात्मा के पराक्रम विशेष रूप आकाश आदि है। यहाँ "सुपांसुलुग्" से जस् को आत्व हो गया। कीदृशानि कैसे हैं तो कहते हैं, ब्रह्म ही है ज्येष्ठ अर्थात् अनन्यापेक्ष कारण जिनमें हैं वे ब्रह्म ज्येष्ठ हैं। यहाँ भी जस् को आत्व हुआ है। वे वीर्य कारण रूप ब्रह्म के द्वारा धारण किये गये और पुष्ट हैं। जैसा कि स्मृति वचन है "वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः" (महान् बलशाली भगवान् वासुदेव के वीर्य से धारण किये गये)। वह ज्येष्ठ ब्रह्म ने देवताओं के जन्म से पहले ही स्वर्ग को व्याप्त कर लिया अर्थात् सर्वव्यापक हो गया। यह कैसे समझा? इस पर कहते हैं, वह चतुर्मुख आदि समस्त प्राणियों में पहले पूर्ववर्ती होकर प्रादर्भूत हुआ। इसलिए उस सर्वकारण सर्वपूर्ववर्ती पूर्वसिद्ध परमात्मा के साथ स्पर्धा करने में कौन पश्चात् लब्धजन्मा जीव योग्य हो सकता है? संसार के सभी प्राणी उस परमात्मा का नियम्य है, तद् व्याप्य है तथा तदाधारित है। इसलिए वही ब्रह्म सबका उपजीव्य एवं सर्वपूज्य है।।२३।।

इस प्रकार सम्भृति अधिकरण पूरा हुआ।।८।।

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४।।

छान्दोग्ये ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या श्रूयते "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनमि" त्यादिः। तत्र पुरुषो यज्ञत्वेन कल्पितः तदीयमायुश्च प्रसिद्धयज्ञसाम्यार्थं सवनत्रयत्वेन कल्पितम्। आशिषादिकं तु दीक्षादित्वेन कल्पितमित्यादि तत्रैव स्पष्टम्। तैत्तिरीयकेऽपि सा श्रूयते "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिरि" (नारा० ८०) त्येवमाद्यनुवाके। तत्र सन्दिह्यते, किमत्र विद्याभेद उत नेति? तत्र पुरुषविद्येति समाख्याऽविशेषात्पुरुषावयवेषु यज्ञावयवकल्पनसाम्येन रूपाभेदात्। तैत्तिरीयके फलसम्बन्धाम्नानात्। छान्दोग्यगतेन "स ह षोडशं वर्षशतं जीवती" (छा० ।३।१६।७) त्यनेनैकफलत्वाच्च विद्यैक्यमिति प्राप्ते सद्धान्तमाह-पुरुषविद्यायामिति। पुरुषविद्यायामप्युभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेदः।

कुतः ? इतरेषामनाम्नानात्। इतरशाखोदितानामितरशाखास्वनाम्नानात् पुरुषविद्यायामिवेति पाठे यथैकेषां शाखिना ताण्डिना पैङ्गिना च पुरुषविद्यायामप्युभयत्र रूपभेदाद्विद्याभेदः। कुतः ? इतरेषामनाम्नानात्। इतरेशाखोदितानामितरशाखास्नाम्नानात् पुरुषविद्यायामिवेति पाठे यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनापैङ्गिना च पुरुषविद्यायां यज्ञावयवा आम्नाता नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणां पुरुषविद्यायाम्। यथा वा तैत्तिरीयपुरुषविद्यायां यजमानपत्न्यादिसवनत्रयं चाम्नातं, नैवमितरेषां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामित्यर्थः। तथाहि छान्दोग्ये त्रेधाविभक्तस्य पुरुषायुषः सवनत्वेन कल्पनं, तैत्तिरीयके च "यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानी" (नारा० ८०) त्येवं सवनत्रयकल्पनम्। छान्दोग्ये ह्याशिषादीनां दीक्षात्रयत्वकल्पनं तत्तैत्तिरीयके न कृतम्। "आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी" (नारा० ८०) ति यजमानादिकल्पनं च कृतं, तच्छान्दोग्ये न कृतम्। फलसम्बन्धभेदोऽपि, छान्दोग्ये ह्यायुःप्राप्तिफला पुरुषविद्या। तैत्तिरीयके तु पूर्वानुवाकगतस्य "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती" (नारा० ८०) ति ब्रह्मविद्याफलस्यैव सन्निधानादफलस्यानुवाकस्य ब्रह्मविद्याङ्गतया ब्रह्मप्राप्तिरेव फलम्। अतः सवनत्रयकल्पनप्रकारभेदे यजमानपत्न्यादिकल्पनप्रकारभेदेन च रूपभेदात् फलसम्बन्धभेदाच्च विद्याभेद इति नैकत्रोक्तानां धर्माणामितरत्रोपसंहारः।।२४।। इति पुरुषविद्या-ऽधिकरणम्।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य में ताण्डियों एवं पैङ्गियों के रहस्य ब्राह्मण में पुरुष विद्या श्रूयमाण है "पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनमथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनं सवनमथ यान्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तत्तृतीयं सवनम्" इत्यादि। यहाँ पुरुष यज्ञ के रूप में कल्पित और उसकी आयु प्रसिद्ध यज्ञ की समानता के लिए, तीन सवन के रूप में कल्पित है तथा आशिषा आदि दीक्षादि के रूप में कल्पित है, इत्यादि विषय वहीं स्पष्ट हैं (इसलिए एतद् विषयक जानकारी छान्दोग्य के उसी प्रकरण में करनी चाहिए)। तैत्तिरीय में भी वह पुरुष विद्या श्रूयमाण है "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिः" इस प्रकार आदि अनुवाक है। यहाँ संदेह होता है, क्या यहाँ विद्या का भेद है अथवा नहीं ? इसमें पुरुषविद्या यह समाख्या विशेष होने से पुरुष के अवयव में यज्ञ के अवयवों की कल्पना की समता के कारण रूप में अभेद हैं। तैत्तिरीयक में फल का सम्बन्ध कहा गया है। छान्दोग्यवर्ती "स ह षोडशं वर्षशतं जीवति" वह सोलह वर्ष जीता है, इस वचन के साथ एक फल होने के कारण भी विद्या में एकत्व प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं 'पुरुष विद्यायायामिति' पुरुषविद्या में भी दोनों जगह रूप भेद के कारण विद्या में भेद है। क्यों ? तो कहते हैं- 'इतरेषामनाम्नानात' इतर शाखा में प्रतिपादित धर्मों का अन्य शाखाओं में कथन न होने से। यहाँ 'पुरुष विद्यायामिव' ऐसा पाठ मानने पर जैसे किसी एक शाखा वाले ताण्डियों एवं पैङ्गियों की पुरुषविद्या में यज्ञों के अवयव कहे गये हैं। वैसे इतर तैत्तिरीय शाखा वालों की पुरुषविद्या में नहीं और जैसे तैत्तिरीय पुरुषविद्या में यजमान की पत्नी आदि तीन सवन कहे गये हैं, वैसा अन्य ताण्डियों तथा पैङ्गियों की पुरुषविद्या में नहीं है। जैसे छान्दोग्य में तीन प्रकार से विभक्त पुरुषों की आयु की सवन रूप में कल्पना है और तैत्तिरीय में भी "यत्सायं प्रातर्मध्यन्दिनं च तानि सवनानि" (नारा० ८०) इस प्रकार यजमान आदि की कल्पना

की गई है, वह छान्दोग्य में नहीं की गई है। फल सम्बन्ध का भेद है। छान्दोग्य पुरुषविद्या का फल आयु की प्राप्ति कहा गया है, तैत्तिरीय में पूर्व अनुवाकवर्ती "ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति" (नारा० ८०) इस मन्त्र से ब्रह्मविद्या का फल सन्निधान होने से इस निष्फल अनुवाक् के ब्रह्मविद्या के अङ्ग होने से ब्रह्म प्राप्ति ही फल है। इसलिए तीन सवन भी कल्पना में प्रकार भेद से यजमान पत्नी आदि की कल्पना में, प्रकार भेद से भी रूपभेद होने के कारण तथा फल सम्बन्ध भेद से भी विद्या में भेद है। इसलिए एक जगह उक्त धर्मों का अन्यत्र उपसंहार नहीं होता।।२८।।

इस प्रकार पुरुष विद्या अधिकरण पूरा हुआ।।९।।

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५।।

स्वशाखोक्तगुणविशिष्टस्य ब्रह्मण उपास्यत्वमुक्तमथ तत्रान्येऽपि मन्त्राः कर्माणि च श्रूयन्ते तेषामपि ब्रह्मोपासनाङ्गत्वमस्ति? न वेति? मीमांस्यते। तथाह्यार्थर्वणिकैरुपनिषदारम्भे मन्त्रा आम्नायन्ते। "अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्यमर्मेति सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृञ्ज शिरोऽभिप्रवृञ्ज त्रिधा विपृक्त" इत्यादयः। ताण्डिभिः सामगैरपि रहस्यब्राह्मणारम्भे "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुवे" त्यादिराम्नायते। शाट्यायनिभिश्च "श्वेताऽश्वो हरितनीलोऽसी" त्यादिः। कठैस्तैत्तिरीयकैश्च "शन्नो मित्रः शं वरुणः" (तै०।१।१।१) इत्यादिः। ऐतरेयिभिश्च महाव्रतब्राह्मणं पठ्यते "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवदि" त्यादि। कौषीतकिभिरपि तदेव पठ्यते "प्रजापतिर्वै सम्वत्सरस्तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतमि" त्यादि। वाजसनेयिभिस्तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते "देवा ह वै सत्रं निषेदुरि" त्यादि। तत्र सन्दिह्यते, किमिमे उपनिषदारम्भे पठिता मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि उपासनासु तदङ्गतयोपसंह्रियेरनुत नेति?। किन्तावत्प्राप्तं। विद्याङ्गतयोपसंह्रियेरन्निति। कुतः? विद्याप्रधानोपनिषद्ग्रन्थानां सन्निधौ पाठादिति प्राप्त उच्यते-नैषामुपासनासूपसंहारः। कुतः? वेधाद्यर्थभेदात्। भिन्ना हीमेऽर्था वेधादयो न विद्यायामुपयुज्यन्ते। मन्त्रलिङ्गेन त्वभिचारकर्मणि विनियुज्यन्ते एव। "शन्नो मित्रः शं वरुण" इत्यादिमन्त्रस्यापि "ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तेजस्विनाऽवधीतमस्त्वि" त्यादिमन्त्रलिङ्गेनाध्ययने विनियोगान्न विद्याङ्गत्वम्। नच मन्त्राणामन्यथार्थकल्पना युक्ता समाख्यानात्। सन्निधेश्च लिङ्गस्य बलीयस्त्वं श्रुत्यादिषूत्तरोत्तरस्य दौर्बल्योक्तेः। प्रवर्ग्यं चाग्निष्टोमे विनियुक्त, "मग्निष्टोमं प्रवृणक्तीति वाक्येन अग्निष्टोमः स्वर्गफलार्थं नित्यार्थं च विनियुक्तः। स्वर्गकामो यजेत, वसन्ते वसन्त" इति सन्निधिपाठस्त्व-रण्येऽनुवचनादिधर्मसामान्यकृतः।।२५।। इति वेधाद्यधिकरणम्।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अपनी शाखा में उक्त गुणों से विशिष्ट ब्रह्म की उपास्यता कही। इसके बाद वहाँ अन्य भी मन्त्र एवं कर्म सुने जाते हैं। उनमें ब्रह्म की उपासना का अङ्गत्व है या नहीं? यह विचार करते हैं। जैसे आथर्वणिकजन उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्र कहते हैं "अग्ने त्वं यातुधानस्य भिन्धि तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्यमर्मेति सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृञ्ज शिरोऽभिप्रवृञ्ज

त्रिधा विपृक्त" इत्यादि। इसी प्रकार ताण्डी विद्वानों एवं सामगायक विद्वानों ने भी रहस्य ब्राह्मण के आरम्भ में "देव सवितः प्रसुव यज्ञ प्रसुव" इस प्रकार पाठ करते हैं। शाट्यायनियों ने भी "श्वेताऽश्वो हरितनीलोऽसि" इत्यादि कहा। इसी तरह कठ शाखा वालों एवं तैत्तिरीय वालों ने भी "शन्नो मित्रः शं वरुणः" (तै० ।१।१।१) इत्यादि कहा। ऐतरय शाखा वाले भी महाव्रत ब्राह्मण का पाठ करते हैं। "इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महानभवत्" इत्यादि कौषीतकियों ने वही पढ़ा है। वाजसनेयी लोग उपनिषदों के आरम्भ में प्रवर्ग्य ब्राह्मण का पाठ करते हैं "देवा ह वै सत्रं निषेदुः" इत्यादि। यहाँ सन्देह होता है, क्या ये उपनिषदों के आरम्भ में पठित मन्त्र तथा प्रवर्ग्य आदि कर्म उपासनाओं में उनके अङ्ग रूप में उपसंहार किये जायँ अथवा नहीं? प्राप्त क्या है तो बोले, विद्या के अङ्ग होने से उपसंहार किये जायँ क्योंकि विद्या प्रधान उपनिषद् ग्रन्थों की सन्निधि में पाठ है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, इन सबको उपासनाओं में उपसंहार नहीं होगा क्योंकि वेध आदि अर्थों का भेद है। ये वेध आदि अर्थ भिन्न ही है इनका विद्या में उपयोग नहीं होता। मन्त्र रूप लिङ्ग से अभिचार कर्म (हिंसा) में इनका विनियोग होता है। "शन्नो मित्रः शं वरुण" (मित्र देवता हमारा कल्याण करें, वरुणदेव हमारा कल्याण करे) इत्यादि मन्त्रों का भी "ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तेजस्विनाऽवधीतमस्तु" (हम लोगों की अधीत विद्या तेजस्वी होवे) इत्यादि मन्त्र रूपी लिङ्ग हेतु से अध्ययन में विनियोग होने से इनमें विद्याङ्गत्व नहीं है। मन्त्रों की अन्यथा अर्थ कल्पना युक्त नहीं है समाख्यान होने से। सन्निधि से लिङ्ग बलवान् होता है। श्रुति आदि में उत्तरोत्तर दुर्बलत्व होता है। प्रवर्ग्य मन्त्र का अग्निष्टोम में विनियोग होता है। "अग्निष्टोमं प्रवृणक्तीति" इस वाक्य से अग्निष्टोम स्वर्ग फल के लिए तथा नित्य कर्म के लिए विनियुक्त होता है। "स्वर्गकामो यजेत वसन्ते वसन्त" यह सन्निधि पाठ अरण्य में अनुवचन आदि धर्म सामान्य से किया गया है।।२५।।

इस प्रकार वेद्य आदि अधिकरण पूरा हुआ।।१०।।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दस्तुत्युपगान-वत्तदुक्तम्।।३।३।२६।।

"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" (मु० ३।१।३) त्याथर्वणिकै "रश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामी" (छा० ८।१३।१) ति छन्दोगैश्च विदुषो ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापयोर्विमोचनं पठ्यते। "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पाप कृत्यामि" ति "शाट्यायनिभिश्च विमुक्तयोः पुण्यपापयोरन्यत्र प्रवेशः पठ्यते। तथा कौषीतकिभिस्तु" "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रियाः ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतमि" (कौ० १।४) त्युभयं पठ्यते। तद्यत्रोभयं हानमुपायनं च पठ्यते, तत्र न किञ्चिद्वक्तव्यम्। यत्रोपायनमेव पठ्यते तत्र हानिस्त्वर्थादाक्षिप्यते, ऽन्यथा तदनुपपत्तेः। उपायनं हि ग्रहणं तस्य च त्यागपूर्वकत्वादत्यक्तस्य ग्रहणायोगाच्च। तत्र तु केवलहानिः श्रूयते तत्रापि विचिकित्सा, किं यत्र विद्यायां केवलं हानं

श्रूयते तत्राप्युपायनमुपसंह्रियत उत नेति? किं तावत्प्राप्तं, नोपसंह्रियत इति। कुतः? पृथक् पठनसामर्थ्यात्। उपसंहारे हि सर्वथोभयानुसन्धानं भवेत्। तस्य च कौषीतकिवाक्येनैव सिद्धत्वादन्यत्राम्नानस्यानर्थकत्वापत्तेरिति प्राप्त उच्यते हानाविति। तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। हानौ केवलायां श्रुतायामुपायनमुपसंह्रियते। कुतः? उपायनशब्दशेषत्वात्। उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात्। विदुषात्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वादुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषत्वं कौषीतकिरहस्ये तथाऽवगमात्। शाखान्तराम्नातवाक्यस्य शाखान्तराम्नातवाक्यशेषत्वे दृष्टान्तमाह–कुशेति। तद्यथा कौषीतक्याम्नाये "कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पाते" ति सामान्यतो वानस्पत्यत्वेऽवगते सति शाट्यायनिना "मौदुम्बरा" इति विशेषवाक्यं "मौदुम्बर्य्यः कुशा" इति प्रतिपादयत्तद्वाक्यशेषतां गच्छति। यथा च "देवासुराणां छन्दोभिरि" त्यादिनाऽविशेषेण देवासुरच्छन्दसां पौर्वापर्यप्रसङ्गे "देवच्छन्दांसि पूर्वाणी" ति पैङ्गिवाक्यं क्रमविशेषं ग्राहयत्तद्वाक्यशेषत्वं भजते। यथा च "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोती" ति शाखान्तरस्थस्य तत्कालविशेषवाचि 'समयाऽध्युषिते सूर्य' इति शाखान्तरस्थं तच्छेषतां गच्छति। यथा च "ऋत्विज उपगायन्ती"ति शाखान्तरस्थस्य "नाध्वर्युरुपगायती" ति तत्पर्युदासरूपं शाखान्तरस्थमेवमुपायनवाक्यस्य हानिवाक्यशेषतया गतिसम्भवे हान्युपायनयोरितरेतर– समुच्चयः कार्य उभयोरन्योन्यसापेक्षत्वनियमात्र तु विकल्पो युक्तः। तदुक्तं द्वादशलक्षण्या "मपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यादि" (मी०) ति।।२६।। इति हान्यधिकरणम्।।११।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (ब्रह्मवेत्ता पुण्य–पापों का परित्याग कर निर्मल होकर ब्रह्म के साम्य को प्राप्त हो जाता है (मु० ३।१।३) ऐसा आथर्वणिक कहते हैं। "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि" (छा० ८।१३।१) (जैसे अश्व अपने रोमों को झाड़ देता है, अलग कर देता है उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता अपने पाप (प्रारब्ध) को अनायास ही त्याग कर, चन्द्रमा जैसे राहु के मुख से अलग हो जाता है, उसी प्रकार शनैः शनैः भोग से क्षीयमाण प्रारब्ध पाप से मुक्त होकर तथा स्थूल शरीर को छोड़कर मुक्त जीव कृतकृत्य होकर ब्रह्म लोक में जाता है)। इस श्रुति के आधार पर ब्रह्मप्राप्त विद्वान् की पाप–पुण्य से विमुक्ति श्रुति में सुनी जाती है। "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" (अर्थात् ऐसे ब्रह्मवेत्ता के मरने के बाद उसका मौलिक (पैतृक) धन पुत्रगण ग्रहण करते हैं, मित्रगण उसके पुण्यों को तथा शत्रु पाप को ग्रहण करते हैं)। ऐसा शाट्यायनि शाखा वाले कहते हैं अर्थात् ब्रह्मवेत्ता द्वारा मुक्त (त्यक्त) पुण्य एवं पापों का अन्यत्र मित्र एवं शत्रुओं में प्रवेश कहा जाता है। कौषतकि कहते हैं "तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्" ((कौ० १।४) ब्रह्मवेत्ता सुकृत दुष्कृत यहीं छोड़ देते हैं। प्रिय परिवार वाले पुण्य को ग्रहण करते हैं तथा शत्रु पापों को ग्रहण करते हैं) इस प्रकार दोनों तरह की बात कही जाती है। यहाँ दोनों हानि एवं उपायन की बात कही गई है। इस विषय में कुछ नहीं कहना है। जहाँ केवल उपायन ही कहा गया है, वहाँ हानि का आक्षेप किया

जाता है कारण हानि (त्याग) के बिना उपायन की उपपत्ति नहीं हो सकती। उपायन कहते हैं ग्रहण को, ग्रहण त्याग पूर्वक होता है। बिना त्याग का ग्रहण संभव नहीं होता है। जहाँ केवल हानि कही गई है, वहाँ संशय होता है अर्थात् जिस विद्या में केवल हानि श्रूयमाण है, वहाँ उपायन का उपसंहार होता है या नहीं। प्राप्त क्या है, उपसंहार नहीं किया जाता। पृथक पाठ सामर्थ्य के कारण उपसंहार में सर्वथा उभय का अनुसंधान होना चाहिए। वह तो कौषीतकि वाक्य से ही सिद्ध है, इसलिए अन्यत्र उसका कथन अनर्थक होगा, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'हानाविति' यहाँ तु शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है। जहाँ केवल हानिमात्र का श्रवण है, वहाँ उपायन (ग्रहण) का उपसंहार किया जाता है क्योंकि उपायन शब्द हानि वाक्य का शेष है। विद्वान् पुरुष द्वारा त्यक्त पुण्य पाप के प्रवेश स्थानवाची होने से उपायन शब्दों में हानि वाक्य शेषत्व है, यह कौषितकि रहस्य में अवगत होता है। शाखान्तर के कथित वाक्य के शेषत्व में दृष्टान्त कहते हैं, 'कुरोति' जैसा कि कौषितकि आम्नाय (मन्त्र) में "कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात" इस प्रकार सामान्यतया वानस्पत्यभाव अवगत होने पर शाट्यायनि शाखा वालों का विशेष वाक्य "औदुम्बर्य्यः कुशा" ऐसा कहने वाला उक्त 'औदुम्बरा' इस वाक्य की शेषता को प्राप्त होता है। जैसे "देवासुराणां छन्दोभिः" इत्यादि वचनों द्वारा सामान्य भाव से देवता, असुर एवं छन्द के पौवापर्य के प्रसङ्ग में "देवच्छन्दांसि पूर्वाणि" यह पैङ्गी का वाक्य क्रम विशेष को ग्रहण कराता हुआ उक्त वाक्य में शेषत्व को प्राप्त होता है। और ऐसी "हिरण्येन षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति" इस शाखान्तरस्थ वचन तत्काल विशेष के वाचक 'समयाऽध्युषिते सूर्ये' यह शाखान्तर में होने वाला विशेषवाची वचन उक्त वाक्य की शेषता को प्राप्त करता है। और जैसे 'ऋत्विज उपगायन्ति' इस शाखान्तर वचन का "नाध्वर्युरुपगायति" इस उक्त वचन में पर्युदास (निषेध) रूप शाखान्तरस्थ ही उपायन वाक्य में हानि वाक्य के शेष रूप में गति संभव होने पर हानि उपायन के परस्पर समुच्चय करना चाहिए क्योंकि दोनों में परस्पर सापेक्षत्व नियम है, इसलिए विकल्प युक्त नहीं है। यही बात द्वादशलक्षणी (मीमांसा) में कही है "अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्"। (मीमांसा)।।२६।।[1]

इस प्रकार हानि अधिकरण पूरा हुआ।।११।।

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये।।३।३।२७।।

ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य विदुषो ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यापुण्यप्रहाणस्यावश्यम्भावित्वात्प्रहाणविषयत्वाच्चोपायनस्येति द्वयस्य सर्वविद्यासु चिन्तनमुक्तम्। तत्र पुण्यापुण्यप्रहाणचिन्तनेऽस्ति विचिकित्सा। किं देहवियोगकाल एकदेशस्तयोः क्षीयते देहादुत्क्रान्तस्याध्वनि च शिष्टमित्युभयत्र चिन्तनम्? उत देहवियोगकाले एव सर्वं क्षीयत इति। तत्र "स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छती" (कौ १।३) त्युपक्रम्य "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुत" (कौ० १।४) इति कौषीतकिवाक्येऽध्वनि पुण्यपापहानिः श्रूयते। "अश्व इव रोमाणि विधूये"

१. इस अधिकरण में विशेषतया मीमांसा का विचार है। इसलिए मीमांसा के अध्ययन से ही यहाँ का विषय स्पष्ट हो सकता है। अतः वेदान्त के विद्यार्थी को पूर्व मीमांसा का अध्ययन आवश्यक है। (सं)

(८।१३।१) ति कौण्डिनां वाक्ये तु देहवियोगकाल एवेति। किं युक्तम्? उभयत्र श्रुतेर्देवयानेन पथा गमनान्यथानुपपत्तेश्चोभयत्रेति प्राप्ते पठति–साम्पराय इति। साम्पराये परलोकगमने देहादुत्सर्पणसमय एव विदुषः पुण्यपापे निरवशेषं क्षीयेते। कुतः? तर्त्तव्याभावात्। देहवियोगादूर्ध्वं विद्याफलभूतब्रह्मप्राप्तिव्यतिरेकेण तर्त्तव्यस्य पुण्यापुण्यफलस्य सुखदुःखभोगस्याभावात्। तथाह्यन्येऽपि शाखिनोऽधीयन्ते "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽय सम्पत्स्य" (छा० ६।१४।१) इति। "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८।१२।१–३) इत्यादिः। एवं चाध्वन्याम्नातमपि "सुकृतदुष्कृते विधुनुत" इति वाक्यं देहवियोगसमय एव सङ्गमयितव्यमर्थानुपपत्तिबलात्। तथा च सुकृत दुष्कृते उत्क्रान्तिसमये विधुनुते, ततश्च देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छतीत्यन्वयः। सर्वकर्मक्षयेऽपि विद्यासामर्थ्यदिव देवयानेन पथा गमनमुपपद्यते। विद्या हि स्वसामर्थ्यदिव स्वफलभूतब्रह्म–प्राप्तिप्रतिपादनाय सुखदुःखोपभोगसाधनस्य स्थूलशरीरस्य सर्वकर्मणां च निरवशेषं क्षयेऽप्येनं देवयानेन पथा गमयितुं सूक्ष्मशरीरं स्थापयति।।२७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

ब्रह्मविद्यानिष्ठ प्राप्तब्रह्म ब्रह्मवेत्ता के द्वारा पुण्य एवं पाप का परित्याग अवश्यम्भावी होने तथा उपायन (ग्रहण) प्रहाणविषयक होने से दोनों (प्रहाण–उपायन) का सभी विद्याओं में चिन्तन कहा गया। यहाँ पुण्य एवं पाप के परित्याग के विषय में संशय होता है कि देह के वियोग काल में पुण्य पाप के एक अंश का क्षय होता है तथा देह से निर्गत मुक्तात्मा का मार्ग में अवशिष्ट पुण्य पाप का क्षय होता है। इस प्रकार का उभय विषय में चिन्तन है। अथवा देह वियोग के काल में ही सम्पूर्ण क्षय हो जाता है। यहाँ "स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति" (कौ १।३) ऐसा उपक्रम करके "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते", (कौ० १।४) इस कौषीतकि उपनिषद् के वाक्य में मार्ग में पुण्य पाप की हानि सुनी जाती है। और "अश्व इव रोमाणि विधूय" (८।१३।१) इस कौण्ड शाखा वालों के वाक्य में तो देह वियोग काल में ही हो जाता है। इसमें क्या उचित है? दोनों तरह की श्रुति है। देवयान मार्ग से गमन की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण उभयत्र प्राप्त होने पर कहते हैं, 'साम्यराये' अर्थात् परलोक गमन के समय में देह से उत्क्रमण के समय में ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष के पुण्य–पाप सम्पूर्ण रूप से क्षय हो जाते हैं क्योंकि देह वियोग के बाद विद्या के फलभूत ब्रह्मप्राप्ति से अतिरिक्त पुण्य एवं पाप के फल रूप सुख–दुःख के भोग का अभाव होता है। जैसा कि इस विषय में अन्य शाखा में भी मन्त्र सुना जाता है। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० ६।१४।१) तथा "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद मुक्तात्मा को प्रिय–अप्रिय सुख–दुःख कुछ भी स्पर्श नहीं करता है। तथा "एष सम्प्रसादोऽ–स्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८।१२।१।२) अर्थात् यह ब्रह्मज्ञानी जीव इस शरीर से निकल कर परम ज्योति परमात्मा को प्राप्त कर परमात्मा के रूप के समान हो जाता है। इसी प्रकार मार्ग में प्रतिपादित "सुकृतदुष्कृते विधुनुते" यह वाक्य भी देह वियोग के समय ही अर्थानुपपत्ति के बल से लगाना चाहिए। इस प्रकार सुकृत एवं

दुष्कृत को उत्क्रमण के समय में ही नष्ट कर देता है। तदनन्तर देवयान मार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक में जाता है ऐसा अन्वय करना चाहिए। समस्त कर्मों के क्षय होने पर भी विद्या के सामर्थ्य से ही देवयान मार्ग से गमन उपपन्न होता है। विद्या अपने सामर्थ्य से ही अपने फलरूप ब्रह्मप्राप्ति प्रतिपादन के लिए सुख-दुःख के उपभोग के साधन स्थूल शरीर तथा समस्त कर्मों के अशेष रूप से क्षय होने पर भी इस ब्रह्मवेत्ता पुरुष को देवयान मार्ग से पहुँचाने के लिए सूक्ष्म शरीर को रखता है।।२७।।

छन्दत उभयाविरोधात्।।३।३।२८।।

ननु "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ती" ति परकीययोः परत्र सङ्क्रान्तिः श्रुता, सा विरुद्धा तथात्वादर्शनादिति चेत्तत्राह छन्दत इति। परसङ्कल्पात्तथात्वोपपत्तेः। यो हि विदुषां शुभं वाञ्छति तस्य सुकृतापत्तिर्यस्तु द्वेषादहितं सङ्कल्पयति तस्य दुष्कृतापत्तिरिति शास्त्रादेवावगतम्। तथाह भगवान्मनुः "प्रियेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्म याति सनातनमि" ति। "शप्यमानस्य यत्पापं नियच्छती" ति स्मृत्यन्तरात्। एवमुभयोः कौषीतकिशाट्यायनिश्रुत्योरविरोधः।।२८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति" अर्थात् ब्रह्मवेत्ता पुरुष के मरने के बाद उसकी सम्पत्ति उसके पुत्र को प्राप्त होती है, पुण्य सुहृद्वर्ग को प्राप्त होता है पाप शत्रुवर्ग प्राप्त होता है। इस श्रुतिवचन के द्वारा दूसरों के पुण्य-पाप का अन्यवर्ग में सङ्क्रमण ज्ञात होता है। यह बात विरुद्ध प्रतीत होती है क्योंकि लोक में ऐसा देखा नहीं जाता है। इस पर कहते हैं 'छन्दतः' अर्थात् पर सङ्कल्प से ऐसा उपपन्न होता है क्योंकि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियों की शुभकामना करता है, उसे पुण्य की प्राप्ति होती है तथा जो द्वेषवश अहित सङ्कल्प करता है, उसको दुष्कृत की प्राप्ति होती है। यह बात शास्त्र से जानी जाती है। जैसा कि भगवान् मनु का वचन है। "प्रियेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्म याति सनातनम्" और भी कहा है "शप्यमानस्य यत्पापं शपमानं नियच्छति" अर्थात् जो जिसको शाप देता है अथवा जिसका अनिष्ट सोचता है, उसका शाप शाप देने वाले को प्राप्त होता है। इस प्रकार कौषीतकि एवं शाट्यायनि श्रुतिवाक्यों में कोई भी विरोध नहीं है।।२८।।

अत्र चोदयति——

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः।।३।३।२९।।

देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्वं देहादुत्क्रान्तिसमयेऽध्वनि चेत्युभयथा कर्मक्षये सत्येव। अन्यथा देहत्यागकाल एव सर्वकर्मक्षयाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरारम्भकनाशेन तस्य स्थित्यनुपपत्तेः, केवलात्मनो गतिर्नोपपद्यत इति देवयानगतिश्रुतिर्विरुध्यते।।२९।।

यहाँ शङ्का करते हैं।

(हिन्दी-अनुवाद)

देह वियोग काल में सुकृत-दुष्कृत का कुछ अंश क्षीण होता है तथा देह से निकलने के बाद मुक्त आत्मा का शेष पुण्य-पाप मार्ग में क्षीण होता है, ऐसा स्वीकार करने पर ही देवयान गति बोधक श्रुति की सार्थकता है अन्यथा देह त्याग काल में ही समस्त कर्मों का क्षय स्वीकार करने पर सूक्ष्म शरीर आरम्भक के नाश से इसकी स्थिति की अनुपपत्ति होगी, फिर केवल आत्मा की गति उपपन्न नहीं होगी। इस प्रकार देवयानगतिवाचक श्रुति का विरोध होगा।।२९।।

अत्रोत्तरयति—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्।।३।३।३०।।

परमात्मानमुपासीनानां देहत्यागकाल एव सर्वकर्मक्षयेऽप्युपपन्नो देवयानः पन्थाः। कुतः? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। तल्लक्षणस्य तत्सजातीयस्याकर्मलभ्यस्यार्थस्योपलब्धेः। उपलभ्यते ह्यकर्मलभ्योऽर्थः परं ब्रह्मोपासीनानां "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८।१२।३) इत्यादिषु। लोकवत् यथा लोके राजानमुपासीनानां प्राकृतपुरुषासाधारणातिरमणीयानेकार्थसिद्धिस्तद्वत्सर्वज्ञं सर्वशक्तिं सत्यसङ्कल्पं महोदरं परं ब्रह्मोपासकानां सर्वमुपपन्नमित्यर्थः।।३०।। इति साम्परायाधिकरणम्।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसका उत्तर देते हैं——

परमात्मा के उपासकों में देहत्यागकाल में ही समस्त कर्मों का क्षय मानने पर भी देवयान मार्ग उपपन्न हो सकता है। कैसे? 'तल्लक्षणार्थोपलब्धे' तत्सजातीय अकर्मलभ्य अर्थ की उपलब्धि होने से। परब्रह्म के उपासकों को अकर्मलभ्य अर्थ उपलब्ध होता है "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८।१२।३) वह मुक्त जीव भगवद्धाम में जाकर सर्वत्र विहार करता है। इच्छानुसार भोगों को भोगता है, क्रीड़ा करता है, रमण करता है, वह स्वराट् हो जाता है। उसका सभी जगह स्वेच्छानुसार भ्रमण होता है, उसकी सर्वत्र अव्याहत गति हो जाती है। वह परमज्योति परमात्मा को प्राप्त कर स्वरूप अर्थात् परमात्मा के सदृश रूपसौन्दर्य से सम्पन्न हो जाता है, इत्यादि श्रुतियों द्वारा मुक्त आत्मा को विद्या सामर्थ्य से दिव्य वपु, दिव्य रूप सामर्थ्य प्राप्त होता है जो कर्मलभ्य नहीं होता है। लोकवत् जैसे लोक में राजा की उपासना करने वाले लोगों को प्राकृत पुरुषों की अपेक्षा असाधारण तथा अतिरमणीय अनेक अर्थों की सिद्धि होती है। उसी प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सत्यसङ्कल्प, महान् उदार परब्रह्म के उपासकों के लिए सब कुछ उपपन्न हो जाता है।।३०।।

इस प्रकार साम्पराय अधिकरण पूरा हुआ।।१२।।

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।।३।३।३१।।

कासुचिदुपकोशलविद्यापञ्चाग्निविद्यादहरविद्यादिष्वर्चिरादिका गतिः पठ्यते, नान्यासु मधुविद्याशाण्डिल्यादिविद्यासु। तत्र संशयः, किमुपकोशलादिविद्यावतामेव गतिरुपपद्यते? उत सर्वेषां ब्रह्मविद्यावतामिति। (तत्र) यत्र मार्गः श्रूयते तद्वतामेवेति प्राप्त उच्यते-अनियम इति। सर्वेषां सर्वब्रह्मविद्यावतां तयैव गमनसम्भवात्। उपकोशलादिविद्यावतामेवेति नियमो नास्ति। अत एव शब्दानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोधः। अन्यथा विरोध एव स्यात्। श्रुतिस्तावच्छान्दोग्ये वाजसनेयके च पञ्चाग्निविद्यायामर्चिरादिना सर्वब्रह्मनिष्ठानां गमनमाह "य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती" ति (५।१०।१) छान्दोग्ये। "तत्र य इत्थं विदुरि" ति पञ्चाग्निविद्यानिष्ठानां "ये चेमेऽरण्य" इति श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासकांश्चोद्दिश्यार्चिरादिगतिरुपदिष्टा। "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यं सत्यं ज्ञानमि" त्यत्र सत्यशब्दो ब्रह्मपरः, तपःशब्दोऽपि ब्रह्मपरः, तपःशब्दोऽपि तेनैकार्यतस्तत्पर एवेत्यर्थः। स्मृतिरपि "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणमि" त्यादिका अनेनैव मार्गेण सर्वेषां ब्रह्मोपासकानां गमनमाह। एवं चोपकोशलादिविद्यासु सर्वविद्या साधारणीयं गतिः प्राप्तैवानूद्यते।।३१।।

इत्यनियमाधिकरणम्।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

उपकोशलविद्या, पञ्चाग्निविद्या तथा दहरविद्या आदि में अर्चिरादि गति का वर्णन है। मधु विद्या तथा शाण्डिल्यआदि विद्याओं में नहीं। यहाँ संशय होता है कि क्या उपकोशल आदि विद्या वेत्ताओं को ही अर्चिरादि गति होती है अथवा सभी ब्रह्मविद्यावालों की? जिस विद्या में अर्चिरादि कार्य का वर्णन है, उस विद्या के ज्ञाता को ही उक्त मार्ग प्राप्त होता है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'अनियमः' समस्त ब्रह्मविद्यावालों का उक्त मार्ग प्राप्त होता है, उपकोशत आदि विद्या वालों को ही अर्चि मार्ग प्राप्त हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, इसीलिए शब्द एवं अनुमान के द्वारा श्रुति एवं स्मृति से कोई विरोध नहीं है अन्यथा विरोध ही होगा। श्रुति जैसे छान्दोग्य एवं वाजसनेयक में पंचाग्निविद्या में अर्चिरादि के द्वारा सभी प्रकार के ब्रह्मनिष्ठों का गमन कहते हैं- "य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" जो कोई अरण्य में जाकर श्रद्धापूर्वक सत्य की उपासना करते हैं, वे अर्चिरादि गति को प्राप्त करते हैं। ऐसा वाजसनेयी शाखा में कहा गया है तथा "तत्र य इत्थं विदुः" इस प्रकार पञ्चाग्नि विद्यानिष्ठों के लिए एवं "ये चेमेऽरण्ये" इस मंत्र के द्वारा श्रद्धापूर्वक ब्रह्म उपासकों के लिए अर्चिरादि गति का उपदेश दिया है। "सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यं सत्यं ज्ञानम्" इस श्रुति में सत्य शब्द ब्रह्मपरक है। तप शब्द भी ब्रह्मपरक है। स्मृति भी "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्" इत्यादि भी। इसी अर्चिरादि मार्ग से सभी ब्रह्मोपासकों की गति का वर्णन करती है। इस प्रकार उपकोशलादि विद्याओं में सर्वविद्या साधारण यह अर्चिरादिगति प्राप्त ही है। इसका अनुवाद किया जाता है।।३१।।

इस प्रकार अनियम अधिकरण पूरा हुआ।।१३।।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।।३।३।३२।।

ननु यदुक्तं विदुषामुत्क्रमणकाल एव सुकृतदुष्कृतनाशो, ऽर्चिरादिका गतिश्चेति, तदयुक्तम्। वसिष्ठादीनां ब्रह्मविदामपि दुःखादियोगस्य देहान्तरप्राप्तेश्च शास्त्रसिद्धत्वादित्यत उत्तरमाह यावदिति। नहि ज्ञानिमात्रस्य देहवियोगसमये सर्वकर्मक्षयो विवक्षितः। अपि तु येषां देहपातानन्तरमेवार्चिरादिगत्या ब्रह्मप्राप्तिस्तेषामेव। वसिष्ठादीनां तु प्रारब्धस्याधिकारस्यासमाप्तत्वात् कर्मविशेषेणाधिकारविशेषं प्राप्तानां तेषां यावदधिकारसमाप्तितद्धेतुभूतकर्मक्षयो न भवति तावत्तद्भोगायावस्थितिरविरुद्धेति।।३२।। इति यावदधिकाराधिकरणम्।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि यह जो कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ताओं के देह से उत्क्रमण काल में ही सुकृत दुष्कृत का नाश होता है और अर्चिरादि गति भी होती है, तो वह युक्त नहीं है क्योंकि वसिष्ठ आदि ब्रह्मवेत्ताओं को भी दुःखादि का सम्बन्ध तथा देहान्तर की प्राप्ति शास्त्र सिद्ध हैं। इसका उत्तर कहते हैं 'यावत् इति' ज्ञानिमात्र का देह वियोग के समय में समस्त कर्मों का क्षय विवक्षित नहीं है बल्कि जिनको देहपात के अनन्तर ही अर्चिरादि गति के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति होती है, उन लोगों के ही देह वियोग के समय में समस्त कर्मों का क्षय होता है। वशिष्ठ आदि ऋषियों के प्रारब्ध अधिकार समाप्त न होने के कारण अधिकार समाप्त पर्यन्त उसके हेतुभूत कर्म का क्षय नहीं होता है क्योंकि वे कर्म विशेष से अधिकार विशेष को प्राप्त होते हैं। इसीलिए तब तक के लिए उसके भोग के लिए कर्मों की स्थिति रहती है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है।।३२।।

इस प्रकार यावत् अधिकार अधिकरण पूरा हुआ।।१४।।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यातद्भावाभ्यामौपसदवत्त दुक्तम्।।३।३।३३।।

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्ति" "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम-स्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणम-सुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चने" ति बृहदारण्यके (३।८।८) वाजसनेयिभिराम्नायते। "अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम-चक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादमि" (मु० १।१।५)ति चाथर्वणे। तत्र सन्दिह्यते? किमिमेऽक्षरब्रह्म-सम्बन्धित्वेन श्रुता अस्थूलत्वादयो गुणाः सर्वासु विद्यासूपसंह्रियेरन्? उत यत्र श्रुतास्तत्रैव? इति किं तावद्युक्तं, तत्र विद्या विशेषरूपतया श्रुतानां तेषां सर्वविद्या साधारणत्वाभावात् प्रतिषेधरूपतयाऽऽनन्दादिवत्स्वरूपावगमोपायत्वाभावाच्च यत्र श्रुतास्तत्रैव नियता इति प्राप्ते ब्रूते अक्षरधियान्त्विति। अक्षरधियामक्षरसम्बन्धिनीनामस्थूलत्वादिबुद्धीनामप्यानन्दादि-वत्सर्वब्रह्मविद्यास्ववरोधः परिग्रह उपसंहार इत्यर्थः। कुतः? सामान्यतद्भावाभ्यां सर्वासु विद्यासूपास्यस्याक्षरब्रह्मणः समानत्वात्। अस्थूलत्वादिगुणबुद्धीनां ब्रह्मस्वरूपानुसन्धानान्त-र्भावाच्च। न केवलमानन्दादिभिर्ब्रह्मणोऽसाधारणं स्वरूपमुपस्थाप्यते। जीवात्मन्यपि तेषां विद्यमानत्वात्। अस्थूलत्वादिभिर्विशेषितं त्वानन्दादिब्रह्मणः प्रत्यगात्मनो व्यावर्त्तकं, प्रत्यगात्मनस्तु स्वभावतः स्थूलत्वाद्यचेतनधर्मासम्बन्धित्वेऽपि तत्ससम्बन्धार्हताऽस्त्येव।

तदर्हतया हि पूर्वं तत्सम्बन्धः सञ्जातः। अतो ब्रह्मणस्तदनर्हस्वरूपानुसन्धानतया- ऽस्थूलत्वादीनामानन्दादिवद् ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वात्सर्वासु विद्यासूपसंहारः। एवं चास्थूलत्वादिविशेषितविज्ञानानन्दादिस्वरूपं ब्रह्म सर्वविद्यास्वनुसन्धेयमिति गुणानां प्रधानवशवर्त्तित्वे दृष्टान्तः। औपसदवदिति। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु सामवेदपठिता "अग्नेर्वैहोत्रं वेरध्वरमि" त्येवमादयो मन्त्राः सामवेदपठितत्वेन सामवेदस्वरनियता अपि प्रधानभूतोपसद्वशवर्त्तित्वात् याजुर्वैदिकत्वाच्चोपसदो याजुर्वैदिको- पांशुस्वरसम्बधिनस्तद्वदक्षरविद्यासम्बन्धितयाऽ धीतत्वेन तद्विद्यानियता अप्यस्थूलत्वादयः प्रधानवशवर्त्तित्वस्वभावात्सर्वविद्यासम्बन्धिनः तदुक्तं प्रथमकाण्डे "गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोग" (जै० सू० ३।३।८) इति।।३३।।

नन्वेवं "सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरस" (छा० 3।१४।३) इत्यादीनामपि सर्वेषां ब्रह्मगुणत्वेन प्रतिविद्यं चिन्तनीयतया व्यवस्थितानामपि व्यवस्थानं स्यात्सर्वविद्यासु ब्रह्मण एव गुणित्वाद्गुणानां च प्रधानतन्त्रत्वादिति चेत्तत्राह-

(हिन्दी-अनुवाद)

"एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्ति" "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय- मतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणमसुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन" इस प्रकार बृहदारण्यक (३।८।८) उपनिषद् में वाजसनेयियों ने कहा है तथा "अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्" (मु० १।१।५) ऐसा कहा गया है। यहाँ संदेह होता है, क्या ये अक्षरब्रह्म सम्बन्धी के रूप में कहे गये अस्थूलत्व आदि गुण सभी विद्याओं में उपसंहार किये जायें ? अथवा जिस विद्या में सुने गये हैं वहीं उनका सम्बन्ध है ? यहाँ क्या उचित है तो कहते हैं, विद्या विशेष के रूप में वर्णित उन गुणों का समस्त विद्याओं में सम्बन्ध का अभाव है। ये धर्म या गुण प्रतिषेध रूप में वर्णित होने से आनन्दादि की तरह स्वरूप ज्ञान में उपाय रूप नहीं है। इसीलिए जिस विद्या में ये श्रुत हैं वही ये नियत होते हैं। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं- 'अक्षरधियाम्' अर्थात् अक्षर रूप परमात्मा सम्बन्धी इन अस्थूलत्व आदि बुद्धियों का भी आनन्दादि की तरह समस्त ब्रह्म विद्याओं में निर्विरोध परिग्रह अर्थात् उपसंहार होता है। क्यों कि 'सामान्यतद्भावाभ्याम्' अर्थात् समस्त विद्याओं में उपास्य अक्षरब्रह्म समान है। अस्थूलत्व आदि गुण बुद्धि ब्रह्मस्वरूप के अनुसन्धान के अन्तर्भूत हैं। केवल आनन्द आदि के द्वारा ब्रह्म का असाधारण स्वरूप उपस्थापित नहीं होता है क्योंकि वे गुण जीवात्मा में भी विद्यमान हैं। अस्थूलत्व आदि विशेषण आनन्दमयब्रह्म का जीवात्मा से व्यावर्तक होता है। जीवात्मा में स्वभावतः स्थूलत्व आदि अचेतन धर्म का सम्बन्ध न होने पर भी उन गुणों के साथ सम्बन्ध की योग्यता है ही। इसी कारण पहले उसके साथ सम्बन्ध होता है। इसीलिए ब्रह्म में स्युतत्व आदि गुणों के अनर्हस्वरूप के अनुसन्धान के लिए अस्थूलत्व आदि गुणों का आनन्दादि गुणों की तरह ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादनपरक होने से उक्त गुणों का

समस्तविद्याओं में उपसंहार होता है। इस प्रकार अस्थूलत्व आदि गुणों से विशिष्ट विज्ञान तथा आनन्दस्वरूप ब्रह्म सभी विद्याओं में अनुसन्धान के योग्य है। इस प्रकार गुणों के प्रधान वशर्वर्त्तित्व में दृष्टान्त है 'औपसदवत्' जैसे जामदग्नि सम्बन्धी अहीन में पुरोडासिनी उपसदों में सामवेद में पठित "अग्निर्वैहोत्रं वेरध्वरम्" इत्यादि मन्त्र सामवेद में पठित होने से सामवेद के स्वर से युक्त होने पर भी, प्रधानभूत उपसद् के वशवर्ति होने से, यजुर्वेद सम्बन्धी उपसद् से यजुर्वेदीय उपांशुस्वर सम्बन्धी के, उसी के समान अक्षरविद्या के सम्बन्धी रूप में पठित होने से, उस विद्या में नियत होने पर भी अस्थूलत्व आदि गुण प्रधान वशवर्त्तित्व स्वभाव के कारण, वे सर्वविद्या सम्बन्धी होते हैं। जैसा कि मीमांसा के प्रथम काण्ड में कहा है "गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः" (जै० सू० ३।३।८)।।३३।।

"सर्वकर्मा सर्वगन्धः सर्वरसः" (छा० 3।१४।३) इत्यादि गुणों का भी ब्रह्म के गुण के रूप में प्रत्येक विद्याओं में चिन्तन के रूप में व्यवस्थित होने पर भी प्रत्येक विद्याओं में उसका चिन्तन होगा। क्योंकि सभी विद्याओं में ब्रह्म के ही गुणी होने से गुणों का प्रधानाधीनत्व होता है। ऐसा कहें तो इस पर कहते हैं—

इयदामननात्।।३।३।३४।।

इयदस्थूलत्वादिविशेषितमानन्दाद्येव सर्वत्रानुसन्धेयम्। कुतः? आमननाद्धेतोः। आमननं ह्याभिमुख्येन मननं परब्रह्मस्वरूपानुचिन्तनं, तच्च येन विना नोपपद्यते तदेवानन्दादिगुणजातं सर्वत्रानुसन्धेयम्। सर्वकर्मत्वादिकं तु तत्र तत्र व्यवस्थितमित्यर्थः।।३४।। इत्यक्षरध्यधिकरणम्।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इन अस्थूलत्व आदि गुणों से विशेषित आनन्द आदि ही सर्वत्र अनुसन्धान के योग्य हैं। क्योंकि 'आमननात्' अर्थात् आभिमुख्येन ममन परब्रह्मस्वरूप अनुचिन्तन, वह जिसके बिना उपपन्न नहीं होता, वही आनन्दादि गुण स्वरूप सर्वत्र अनुसन्धेय है। सर्वकर्मत्व आदि तो सर्वत्र व्यवस्थित है।।३४।।

इस प्रकार अक्षरध्यधिकरण पूरा हुआ।।१५।।

अन्तराभूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्।।३।३।३५।।

बृहदारण्यक उषस्तप्रश्न एवमामनन्ति वाजसनेयिनो "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे (बृ०३।४।१)" ति, तत्र प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तर" इत्यादि। असन्तोषात् पुनस्तेन पृष्टो याज्ञवल्क्य आह "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्त्तमि"ति (बृ०३/४/२)। ततः कहोलप्रश्ने चैवं श्रूयते "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा

सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्वे"ति। तत्र प्रतिवचनं च "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्याद्यतोऽन्य-दार्त्तमि" (बृ० ३।५।१) त्यन्तम्। तत्र विचिकित्स्यते। किमत्र विद्याभेद उत न इति। भेद इति। कुतः? प्रतिवचनभेदेन रूपभेदात्। पूर्वत्र प्राणनादिहेतुः प्रत्यगात्मा सर्वान्तरात्म-त्वेनोच्यते, उत्तरत्राशनायाद्यतीतः परमात्मेत्युपास्यभेदाद्रूपं भिद्यत इत्येवमाशङ्क्य परिहरति "अन्तरा य आत्मा सर्वान्तर उषस्तप्रश्नो भूतग्रामवतः स्वात्मनः प्रत्यगात्मन इत्यभ्युपगन्तव्यः, सर्वस्य देहादेरन्तरात्मत्वेन तस्य सर्वान्तरत्वोपपत्तेः। अन्यथा प्रश्नस्य मुख्यान्तरात्मपरमात्मपरत्वे प्रतिवचनभेदानुपपत्तिः परमात्मनश्चाशनायादिरहित्वात्प्राणि तृत्वापानितृत्वाद्यसम्भवेन प्रतिवचनस्य तत्परत्वासम्भवादिति चेन्न, न प्रश्नद्वयं प्रतिवचनद्वयं च भिद्यते, तयोरुभयत्र परमात्मविषयत्वात्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

बृहदारण्यक उपनिषद् में उषस्त मुनि के प्रश्न में वाजसनेयी शाखा में मन्त्र है "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व (बृ० ३।४।१)" वह साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म है, जो सबकी आत्मा है, सबकी अन्तरात्मा है, उसका स्वरूप मुझे बताइये। इसका उत्तर है "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरः" जो प्राण वायु के द्वारा श्वास देता है, अपान वायु के द्वारा अपान करता है, वह सर्वान्तर्यामी आत्मा है इत्यादि। पूर्व उत्तर से असन्तुष्ट होने के कारण उसने पुनः याज्ञवल्क्य से पूछा, तब याज्ञवल्क्य ने कहा "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं श्रृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथा एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्त्तम्" उसके बाद कहोल के प्रश्न में कहा गया "यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तन्मे व्याचक्ष्व"। उसका उत्तर है "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्याद्यतोऽन्यदार्त्तम्" (बृ० ३।५।१) यहाँ सन्देह होता है, क्या यह विद्या का भेद है? अथवा नहीं क्योंकि उत्तर के भेद से रूप में भेद हैं। पूर्व में प्राणन आदि क्रियाओं का हेतु जीवात्मा सर्वान्तरात्मा के रूप में कहा गया है। आगे क्षुधा पिपासा आदि दोषों से रहित परमात्मा का वर्णन है। इस प्रकार उपास्य भेद से रूप में भेद है ऐसी आशंका करके परिहार करते हैं। "अन्तरा य आत्मा सर्वान्तरः" यह उषस्त का प्रश्नभूतसमूह युक्त अपनी आत्मा प्रत्यगात्मा का प्रश्न स्वीकार करना चाहिए। वह प्रत्यगात्मा सबके देह आदि का अन्तरात्मा होने से सर्वान्तर हो सकता है। अन्यथा प्रश्न को मुख्य परमात्मपरक मानने पर प्रतिवचन में भेद की उपपत्ति नहीं होगी। परमात्मा के क्षुधा-पिपासा आदि दोषों से रहित होने के कारण उसमें प्राणितृत्व (श्वास लेना) अपानितृत्व (अपान करना) आदि असंभव होने से प्रतिवचन तत्परक (ब्रह्मपरक) सम्भव नहीं होगा। ऐसा नहीं कह सकते। यहाँ न दो प्रश्न हैं, और न दो ही प्रतिवचन है यह दोनों प्रश्न एवं प्रतिवचन परमात्म परक ही हैं।।१।।

तथा हि प्रथमप्रश्नः परमात्मविषय एव। तत्र ब्रह्मशब्दस्य क्वचिज्जीवादिष्वपि गौण्या वृत्या प्रयोगो दृश्यते, तद्व्यावृत्त्यर्थं यत्साक्षादिति विशेषणम्। अपरोक्षत्वमपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे"

त्यनन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एव सर्वदेशकालसम्बन्धित्वेनोपपद्यते। सर्वान्तरत्वमपि सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एवान्तर्यामिब्राह्मणादवगतम्। तथैव प्रतिवचनमपि तद्विषयमेव। मुख्यप्राणनकर्तृत्वं हि परमात्मन एव। जीवस्य सुषुप्तिमूर्च्छादौ प्राणनादिकं प्रति कर्तृत्वादर्शनात्। एवमजानतोषस्तेन प्रतिवचनस्य प्रत्यगात्मसाधारणत्वं मन्वानेनासन्तोषात्पुनः पृष्टस्तं प्रति तद्व्यावृत्तं मुख्यं सर्वप्राणिप्राणनादिकर्त्तारं परमात्मानमाह "न दृष्टेर्द्रष्टारमि" त्यादिना। करणाधीनदर्शनश्रवणादिकर्त्ता प्रत्यगात्मा प्राणनादिकर्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीथाः, सुषुप्त्यादौ तस्य तदभावात्। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादि" ति परमात्मन्येव तच्छ्रवणात्। एवमुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचन अपि परमात्मविषय अशनायाद्यतिक्रमणस्य तदसाधारणत्वात्। तत्र दृष्टान्तः-उपदेशान्तरवदिति। "यथा स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्ये" ति प्रक्रान्तायामेकस्यामेव सद्विद्यायां "भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्वि" (छा० ६।५।४) ति प्रश्नावृत्तिः प्रतिवचनभेदश्च वेद्यस्य माहात्म्यविशेषप्रतिपादनपरतया दृश्यते। तद्वदिहापि वेद्यस्याशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनाय प्रश्नप्रतिवचनयोर्द्विराम्नातम्। अत एकस्यैव सर्वान्तर्यामिणो निखिलप्राणिप्राणनकारणत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपाभेदाद्विद्यैक्यम्।।३५।।

नन्वेवमप्युपास्यगुणस्य प्राणितृत्वाशनायाद्यतीतत्वस्य भेदेन रूपभेदात्प्रष्टृभेदाच्च विद्याभेदोऽवर्जनीय इत्याशङ्क्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे प्रथम प्रश्न परमात्मपरक हैं। वहाँ ब्रह्मशब्द का कहीं जीव आदि में भी गौणीवृत्ति से देखा जाता है। इसलिए उसकी व्यावृत्ति के लिए 'सत्साक्षात्' यह विशेषण दिया है। उसका अपरोक्षत्व भी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुति द्वारा अनन्त रूप में अवगत परमात्मा का ही है। जो सर्वदेश सर्वकाल सम्बन्धित्वेन उपपन्न होता है। सर्वान्तरत्व भी सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही सम्भव है, जो अन्तर्यामी ब्राह्मण द्वारा अवगत है। उसी प्रकार प्रतिवचन भी ब्रह्मपरक ही है। मुख्य प्राणन कर्तृत्व भी परमात्मा का ही धर्म है। जीव में सुसुप्ति एवं मूर्छा आदि अवस्थाओं में प्राणन आदि क्रियाओं के प्रति कर्तृत्व नहीं देखा जाता। ऐसा न जानने के कारण उषस्त ने प्रतिवचन को जीवात्म साधारण मानने के कारण असंतोष से पुनः प्रश्न किया। तब याज्ञवल्क्य ने जीवात्मा से व्यावृत्त समस्त प्राणियों के प्राणन आदि क्रियाओं में कर्ता परमात्मा का वर्णन किया "न दृष्टेर्द्रष्टारम्" इत्यादि। करण के अधीन दर्शन, श्रवण आदि में कर्ता प्रत्यगात्मा प्राणन आदि क्रियाओं में कर्ता रूप में कहा गया है, ऐसा मत मानो क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्था में जीवात्मा में उस क्रिया का अभाव होता है। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" इस प्रकार परमात्मा में उक्त धर्म का निरूपण है। और आगे भी प्रश्न एवं प्रतिवचन परमात्मा विषयक ही हैं क्योंकि क्षुधा पिपासा आदि का अतिक्रमण परमात्मा का ही असाधारण धर्म है। इसमें दृष्टान्त है 'उपदेशान्तरवत्' "यथा स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्य" यहाँ उपक्रमीभूत एक ही सद्विद्या में "भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु" (छा० ६।५।४) यहाँ प्रश्न की आवृत्ति है तथा प्रतिवचन का भेद भी, वेद्य परमतत्त्व के माहात्म्य विशेष में प्रतिपादनार्थ दिखाई देता है। उसी तरह यहाँ भी वेद्य

परमतत्त्व में क्षुधा आदि दोषातीतत्व प्रतिपादन के लिए प्रश्न और प्रतिवचन दो बार किया गया है। इसलिए एक ही सर्वान्तरात्मा सर्वान्तर्यामी परमात्मा में निखिल प्राणियों के प्राणन कारणत्व (कर्तृत्व) तथा क्षुधा पिपासादि दोषातीतत्व का प्रतिपादन होने से रूप में अभेद एवं विद्या में एकत्व है।।३५।।

यदि कहें कि उपास्य के गुण प्राणितृत्व एवं क्षुधा पिपासा आदि अतीतत्व के भेद होने से रूप भेद तथा प्रष्टा के भेद से विद्या का भेद अवर्जनीय है। ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्।।३।३।३६।।

द्वयोः प्रष्टोः प्रश्नस्यैकरूपत्वेन सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मैकविषयत्वे निश्चिते सत्येकस्मिन्नेवोपास्ये ब्रह्मण्युषस्तकहोलयोरितरेतरं बुद्धेर्व्यतिहारो व्यत्ययः कार्यः। उषस्तस्य या सर्वान्तरस्य ब्रह्मण प्राणनादिहेतुत्वविषया बुद्धिः सा कहोलेनापि कार्या। तथाऽशनायाद्यतीतत्वविषया बुद्धिरुषस्तेनापीति। एवं सति ब्रह्मणो जीवव्यावृत्तिर्निश्चिता भवति। विशिंषन्ति ह्युभयत्र याज्ञवल्क्यप्रतिवचनान्येकं सर्वान्तरात्मानमेवोपास्यम्। इतरवत्। यथेतरत्र सद्विद्यायां सर्वाणि प्रतिवचनान्येकमेव सच्छब्दवाच्यं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति तद्वत्।।३६।।

ननु प्रश्नप्रतिवचनावृत्तिसत्त्वे सद्विद्यायामप्युपास्यैक्यं कथमवगम्यत इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

दोनों प्रश्न कर्ताओं के प्रश्न के एक रूप होने से उन प्रश्नों का सर्वान्तर्यामित्व विशिष्ट ब्रह्म रूप एक विषयत्व निश्चित होने पर, एक ही उपास्य ब्रह्म में उषस्त तथा कहोल का परस्पर बुद्धि का व्यत्यय करना चाहिए। उषस्त की जो सर्वान्तर्यामी ब्रह्म सम्बन्धी प्राणन आदि हेतुत्व विषयक बुद्धि है, वह बुद्धि कहोल को भी करनी चाहिए। क्षुधा पिपासा आदि अतीतत्व विषयिणी बुद्धि उषस्त को भी करनी चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म में जीव की व्यावृत्ति निश्चित होती है। दोनों स्थानों में याज्ञवल्क्य के प्रतिवचन एक ही सर्वान्तरात्मा को उपास्य रूप में विशेष्य बनाते हैं। 'इतरवत्' जैसे अन्यत्र सद्विद्या में (छा०उ०में) समस्त प्रतिवचन (उत्तर) एक ही सत्शब्द के वाच्य होने पर ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार।।३६।।

यदि कहें कि प्रश्नों एवं प्रतिवचनों की आवृत्ति होने पर सद्विद्या में भी उपास्य की एकता कैसे जानते हैं। ऐसा कहें तो कहते हैं—

सैव हि सत्यादयः।।३।३।३७।।

सैव हि सच्छब्दाभिहिता "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायामि" ति "प्रकृता परा देवतैव यथा सौम्य! मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ती" त्यादिसर्वपर्यायेष्वनुवर्त्तत "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मे"ति प्रथमपर्याये पठिता एव सत्यादयः सर्वेषु

पर्यायेषूपसंह्रियन्ते। केचित्त्वेतत्सूत्रद्वयमधिकरणद्वयं मन्यन्ते, तत्र पूर्वेण "त्वं वाहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसी" ति "तद्योऽहं सोऽसौ (योऽसौ सो) हमि" ति च वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारोऽयमाध्यानायाऽऽम्नायते इत्याहुस्तदनादरणीयं, तस्य "सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसी" त्यादिना ब्रह्मणि प्राप्तसर्वात्मत्वविषयत्वान्नात्रापूर्वं किञ्चित्प्रतिपादनीयमस्ति। वक्ष्यति चा "त्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे" ति उत्तरसूत्रेण। "स यो हैतमेवं महद्यक्ष्यं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मे" त्यादिवाक्ये "तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्पुरुष" इत्यादिवाक्यं च सत्यविद्यैकैवेत्याहुस्तदप्यसम्यक गुत्तरवाक्येऽक्ष्यादिस्थानभेदादुपास्यरूपभेदेन फलसंयोगादिभेदेन च विद्याभेदस्य पूर्वमेव "न वा विशेषादि" त्यनेन प्रतिपादितत्वात्।।३७।।
इत्यन्तरत्वाधिकरणम्।।१६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वह सत्शब्द से अभिहित "सेयं देवतैक्षत तेजः परस्यां देवतायाम्" इस श्रुति की प्रकृत परमदेवता (ब्रह्म), "यथा सौम्य! मधुमधुकृतो निस्तिष्ठन्ति" इत्यादि समस्त पर्यायों में अनुवृत्त होता है तथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इस प्रथम पर्याय में पठित सत्य आदि ही सभी पर्यायों में उपसंहार किये जाते हैं। कुछ लोग इन दोनों सूत्रों को दो अधिकरण मानते हैं। यहाँ पूर्व में "त्वं वाहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" तथा "तद्योऽहं सोऽसौ, (योऽसौ सो)ऽहम्" इस वाक्य में जीवात्मा एवं परमात्मा का परस्पर विनिमय आध्यान के लिए कहा जाता है, ऐसा कहते हैं वह आदरणीय नहीं है क्योंकि उसका "सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म में प्राप्त सर्वात्मविषयक होने से यहाँ अपूर्व विषय प्रतिपादनीय नहीं है। आगे भी "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इस उत्तर सूत्र में कहा जायेगा। "स यो हैतमेवं महद्यक्ष्यं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों में तथा "तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्पुरुषः" इत्यादि वाक्यों में सत्यविद्या एक ही है, ऐसा कहते हैं, यह ठीक नहीं है। उत्तर वाक्य में अक्षि आदि स्थान भेद से, उपास्य रूप भेद से तथा फलसंयोग आदि के भेद से विद्या के भेद का पहले ही "न वा विशेषात्" इस वचन के द्वारा प्रतिपादन किया गया है।।३७।।

इस प्रकार अन्तरत्व अधिकरण पूरा हुआ।।१६।।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः।।३।३।३८।।

"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यमि" (छा०/८/१/१) त्युपक्रम्य छन्दोगैराम्नायत "एष आत्माऽपहतपाप्मे" (छा०/८/१/५) त्यादि। वाजसनेयिभिश्च "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" (बृ० ४/४/२२) इत्यादि। तत्र किमनयोर्विद्याभेद उत नेति संशय एकत्रापहतपाप्मत्त्वादिविशिष्टस्योपास्यत्वमितरत्राकाशे शयानस्य वशित्वादिगुणविशिष्ट-

स्योपास्यत्वमिति रूपभेदाद्विद्या भिद्यत इति प्राप्त इदमुच्यते— कामादीति। छान्दोग्ये श्रुतं सत्यकामत्वादिगुणजातमितरत्र वाजसनेयके सङ्ग्रहीतव्यं, वशित्वादयश्च तत्र छान्दोग्ये सङ्ग्रहीतव्याः। कुतः ? आयतनादिभ्यः। समानं ह्युभयत्र हृदयमायतनं सेतुत्वविधारणत्वादि च। "परं ज्योतिरूपसम्पद्ये" ति "अभयं वै ब्रह्म भवती" ति च ब्रह्मप्राप्तिरूपं फलं चैक, मतो रूपैक्यात्स्थानाद्यैक्यात् फलैक्याच्च न विद्याभेदः। एवं च छान्दोग्ये श्रुत आकाशशब्दो ब्रह्मवाचीति "दहर उत्तरेभ्य" (ब्र० १/३/१४) इत्यत्रोक्तम्। "आकाशे शेत" इत्यत्र त्वाकाशशब्दो हृदयपुण्डरीकवर्त्त्यवकाशावाचीति।।३८।।

ननु यदुक्तमुभयत्रापि सत्यकामत्वादिवशित्वादिगुणजातं सङ्ग्रहीतव्यमिति। तदनुपपन्नं, "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति, एकधैवानुद्रष्टव्यमि" ति प्रकृतवाक्यात्, "स एष नेति नेत्यात्मे" त्युपरितन (वक्ष्यमाण) वाक्याच्च प्रतीतस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो न सत्यकामत्वादयो वशित्वादयश्च पारमार्थिका गुणाः। अतस्तेषां मोक्षफलासु विद्यासु लोप इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" (छा०/८/१/१) ऐसा उपक्रम करके छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है "एष आत्माऽपहतपाप्मा" (छा०/८/१/५) इसी तरह वाजसनेयी ने कहा "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्व वशी सर्वस्येशानः" (बृ० ४/४/२२) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या इन विद्याओं में भेद है अथवा नहीं ? कारण एक जगह अपहत पाप्मत्व आदि गुण विशिष्ट में उपास्यत्व कहा है। अन्य जगह आकाश में शयान, वशित्व आदि गुणविशिष्ट में उपास्यत्व है। इस प्रकार रूप भेद होने से विद्या में भेद प्राप्त होने पर कहते हैं 'कामादि' छान्दोग्य में श्रुत सत्यकामत्व आदि गुणगणों का वाजसनेयी में सङ्ग्रह करना चाहिए और वशित्व आदि गुणों का छान्दोग्य में उपसंहार करना चाहिए क्योंकि 'आयतनादिभ्यः' अर्थात् हृदय रूप आयतन तथा सेतुत्व एवं विधारणत्व आदि दोनों जगह समान है और "परं ज्योतिरूपसम्पद्य" एवं "अभयं वै ब्रह्म भवति" के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति रूप फल एक है। इसलिए रूप की एकता, स्थान आदि की एकता तथा फल की एकता के कारण विद्या में भेद नहीं है। इसी प्रकार छान्दोग्य में श्रुत आकाश शब्द ब्रह्मवाची है, यह विषय 'दहर उत्तरेभ्यः' सूत्र की व्याख्या में कहा है तथा 'आकाशे शेते' यहाँ आकाश शब्द हृदयकमलवर्ती अवकाशवाची है।।३८।।

अभी जो कहा गया कि दोनों जगह सत्यकामत्व आदि गुणसमूह का सङ्ग्रह करना चाहिए, वह उपपन्न नहीं है। "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति एकधैवानुद्रष्टव्यम्" उस तत्त्व को मन से ही देखना चाहिए। इस जगत् में नाना पदार्थ नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो नाना पदार्थों को देखता है (मानता है), इसलिए सबको एक रूप में ही देखना चाहिए इस प्रकृत वाक्य से। "स एष नेति नेत्यात्मा" इस वक्ष्यमाण वाक्य से भी प्रतीयमान निर्विशेष ब्रह्म में सत्यकामत्व आदि

तथा वशित्व आदि गुण पारमार्थिक नहीं है। इसलिए उन गुणों का मोक्षफलदायिनी विद्याओं में लोप है। यदि ऐसा कहें तो उस पर कहते हैं—

आदरादलोपः ।।३।३।३९।।

प्रमाणान्तराऽप्रतिपन्नस्य श्रुत्येकसमधिगम्यस्य सत्यकामत्वादेर्ब्रह्मगुणतयाऽऽदरेण प्रतिपादनादलोपोऽप्रतिषेधः। अपि तूपसंहार एव कर्त्तव्यः। अन्यथाऽऽदरेण प्रतिपाद्य भूयः स्वयमेव तन्निषेधे प्रवृत्तस्य शास्त्रस्यौन्मत्त्यप्रतारकत्वादिदोषापत्तिरिति। "नेह नाने" त्यादिश्रुत्यर्थस्तु पूर्वमेवोक्तः।।३९।।

नन्वेवमपि सगुणोपासने "स यदि पितृलोककामो भवती" त्यादिना पितृलोकादिप्राप्तिश्रवणात् तस्याश्च सांसारिकफलत्वेन न मोक्षफलत्वम्। अतो न सगुणं ब्रह्म मुमुक्षोरुपास्यमिति न सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्सुनोपसंहार्या इत्याशङ्क्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रमाणान्तर से अप्राप्त एकमात्र श्रुति से ही समधिगम्य सत्यकामत्व आदि धर्मों के ब्रह्म में गुणरूप में आदर पूर्वक प्रतिपादन होने से उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता। अपितु उसका उपसंहार (संग्रह) ही करना चाहिए अन्यथा आदरपूर्वक पहले गुणों का प्रतिपादन करके स्वयं ही उसके प्रतिषेध में प्रवृत्त शास्त्र में औन्मत्त्य एवं प्रतारकत्व (वञ्चकत्व) आदि दोषों की आपत्ति होगी। "नेह नाना" इत्यादि श्रुतियों का अर्थ पहले ही कहा गया है।।३९।।

यदि कहें कि फिर भी सगुण उपासना में "स यदि पितृलोककामो भवति" वह यदि पितृलोक की प्राप्ति की कामना करता है तो उसे पितृलोक की प्राप्ति होती है। ऐसा श्रवण होने से पितृलोक प्राप्ति सांसारिक फल होने के कारण वह मोक्ष का फल नहीं हो सकता। इसलिए सगुणब्रह्म मुमुक्षुओं के लिए उपास्य नहीं है। अतः सत्यकामत्व आदि गुण ब्रह्मप्राप्ति के इच्छुक जनों के लिए उपसंहार्य नहीं है। ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।।३।३।४०।।

उपस्थितिरुपस्थानं ब्रह्मोपसम्पत्तिः। उपस्थिते ब्रह्मोपसम्पन्ने निवृत्तसर्वाविद्ये स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि। अतो ब्रह्मसम्पत्तेरेव हेतोः तद्वचनात् पितृलोकप्राप्तिवचनान्न तत्सांसारिकफल, मपि तु संसारान्मुक्तस्य सर्वबन्धविनिर्मुक्तस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्नस्यैव "स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती" त्याद्युच्यते। अतः सर्वलोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वादुपसंहार्या मुमुक्षुणाऽपि सत्यकामत्वादयो गुणाः।।४०।। इति कामाधिकरणम्।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

उपस्थिति माने उपस्थान, ब्रह्म की उपसम्पत्ति प्राप्ति। ब्रह्म की उपसम्पत्ति (प्राप्ति) उपस्थित होने पर समस्त अविद्याओं की निवृत्ति हो जाती है, तब जीव का स्वरूप ब्रह्मरूप

में अभिनिष्पत्ति होती है। इसलिए ब्रह्मसम्पत्ति रूप हेतु से पितृलोक प्राप्ति का कथन होने से वह पि.लो.प्रा. सांसारिक फल नहीं कहा जा सकता, अपितु संसार से मुक्त सर्वबन्ध विनिर्मुक्त जीवात्मा ब्रह्मरूप में अभिनिष्पन्न हो जाता है, "स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" वह उत्तम पुरुष हो जाता है। वह भगवद्धाम में सर्वत्र स्वेच्छानुसार विहार करता है, भ्रमण करता है, दिव्यातिदिव्य पदार्थों को खाता-पीता है, इच्छानुसार स्त्रियों के साथ रमण करता है वह स्वराट् हो जाता है, उसकी सभी लोकों में अव्याहत गति होती है। इसलिए समस्त लोकों में स्वेंच्छानुसार विचरण, मुक्त जीवों का उपभोग्य फल होने से मुमुक्षुओं के लिए भी सत्यकामत्व आदि गुण उपसंहरणीय हैं।

इस प्रकार काम अधिकरण पूरा हुआ।।१७।।

तन्निर्द्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम्।।३।३।४१।।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते" (छा० १/१/१/) त्याद्याः कर्माङ्गाश्रया विद्याः श्रूयन्ते। तत्र संशयः, ताः किं कर्मसु पर्णमयीत्वादिवन्नियमेनोपादेया उत गोदोहनादिवदनियमेनेति? तत्र नियमेनोपादेया इति। यतो "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवती" (छा० १/१/१०) त्युद्गीथादिविद्यासम्बन्धिनो वर्त्तमाननिर्देशस्य पर्णमयीत्वादिसम्बन्ध्यपापश्लोकश्रवणवत्पृथक्फलत्वप्रतिपादनायोगात्। यत्त्वासां स्ववाक्येषु फलं श्रूयत "आपयिता ह वै कामानां भवती" (छा० १/१/७) त्यादि, तदप्यर्थवादमात्रमपापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानं तस्माद् "यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं श्रृणोती" त्येवमादीनामनारभ्याधीतानामपि जुह्वादिमुखेन कर्मसु प्रवेशादारभ्याधीतवन्नियमेनोपादेयत्वं, तथाऽऽसामपि कर्माङ्गभूतोद्गीथादिमुखेन कर्मसु प्रवेशात् क्रत्वङ्गतया नियमेनोपसंहार्यत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः। तन्निर्धारणानियम इति, निर्धारणं निश्चयेन मनसो धारणमुपासनमित्यर्थः। तस्योद्गीथाद्युपासनस्य कर्मस्वनियमः। कुतः? तद्द्रष्टेः "तेनोभौ कुरुतो वश्चैतदेवं वेद यश्च न वेदे" (छा० १/१/१०) त्युद्गीथोपासनरहितस्याविदुषोऽपि क्रत्वनुष्ठानवचनेनोपासनानुष्ठानस्यानियमदर्शनात्। उपासनस्य कर्माङ्गत्वे तु तदनुपपत्तेः, साङ्गक्रतुफलात्स्वर्गादेः पृथग्भूतवीर्यवत्तरत्वं ह्यस्योपासनस्य फलं तच्चाप्रतिबन्धरूपं। प्रतिबध्यते हि कर्मफलं प्रबलकर्मान्तरफलेन, अस्य तु तदभावः। श्रुत्यर्थस्तु यदेव कर्म विद्ययोद्गीथाद्युपास्त्या श्रद्धयाऽऽस्तिक्य-बुद्ध्योपनिषदा रहस्यदेवताध्यानेन करोति, तदेव कर्म वीर्यवत्तरं फलातिशयवद्भवतीति कर्मणो वीर्यवत्त्वं नाम फलवत्त्वं, तद्विद्याहीनस्यापि गम्यमानं विद्याया अनङ्गत्वं सूचयति। अतः कर्माङ्गाश्रयाणामप्युद्गीथादिविद्यानां पृथक् फलत्वाद्गोदोहनादिवत्कर्म-स्वनियमेनोपादेयत्वम्।।४१।। इति तन्निर्द्धारणाऽनियमाधिकरणम्।।१८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छा० १/१/१/) इत्यादि कर्माङ्ग आश्रित विद्या सुनी

जाती है। यहाँ संशय होता है कि क्या ये विद्याएँ कर्मों में पर्णमयीत्व आदि की तरह नियमतः उपादेय हैं अथवा गोदोहन आदि की तरह अनियमतः? क्योंकि "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छा० १/१/१०) इस प्रकार उद्गीथविद्या सम्बन्धी वर्तमान निर्देश में पर्णमयीत्व आदि सम्बन्धी अपाप श्लोक श्रवण की तरह पृथक् फल का प्रतिपादन नहीं हो सकता। इनका अपने वाक्यों में जो फल सुनाई देता है "आपयिता ह वै कामानां भवति" (छा० १/१/७) इत्यादि, वह भी अर्थवाद मात्र है। अपाप श्लोक श्रवण आदि की तरह फल प्रधान नहीं है। इसलिए "यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं श्रृणोति" इस प्रकार बिना आरम्भ में अधीत वाक्यों का भी जूहू आदि के द्वारा कर्मों में प्रवेश से लेकर आरभ्यपठित की तरह नियमतः उपादेयत्व है। इसी प्रकार इनका भी कर्माङ्गभूत उद्गीथ आदि के द्वारा कर्मों में प्रवेश से क्रतु के अङ्ग रूप में नियमतः उपसंहार्यत्व है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं "तन्निर्धारणानियमः' निर्धारण माने मन से निश्चय रूप से धारण करना अर्थात् उपासना। उन उद्गीथ आदि उपासनाओं का कर्मों में नियम नहीं है। क्यों? "तेनोभौ कुरुतो वश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद", (छा० १/१/१०) इस प्रकार उद्गीथ उपासना से रहित अविद्वान् पुरुष के भी क्रतु के अनुष्ठान में वचन से उपासना के अनुष्ठान का नियम नहीं है। उपासना को कर्म का अङ्ग मानने पर उसकी उपपत्ति नहीं होगी। स्वर्ग आदि को अङ्गों सहित यज्ञों का फल माना गया है। इस उपासना का पृथक् वीर्यातिशयत्व फल है, वह प्रतिबन्ध रूप नहीं है। कर्म फल प्रबलकर्मान्तर के फल से प्रतिबन्धित होता है। इसमें उसका अभाव है। श्रुति का अर्थ तो यह है कि जो भी कर्म उद्गीथ आदि उपासना के द्वारा, श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि द्वारा उपनिषद् अर्थात् रहस्य देवता के ध्यान द्वारा करता है, वही बलवान् होता है अर्थात् फलातिशय से युक्त होता है। कर्म में वीर्यवत्त है फलयुक्तता। वह विद्याविहीन के लिए गम्यमान होने से विद्या का अङ्ग नहीं होता, यह सूचित करता है। इसलिए कर्मों के अङ्गों के आश्रय उद्गीथ आदि विद्याओं का भी पृथक् फल होने से गोदोहन आदि की तरह कर्मों में अनियमतः उपादेय है, नियमत नहीं।।४१।।

इस प्रकार तन्निर्धारण अधिकरण पूरा हुआ।।१८।।

प्रदानवदेव तदुक्तम्।।३।३।४२।।

दहरविद्यायां दहराकाशमुपास्यत्वेनोक्त्वा "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान्कामानि" त्यपहतपाप्मत्त्वादिगुणानामपि गुणिस्वरूपोपासनवत्पृथगुपासनमुक्तं, तत्र किं गुणचिन्तने गुणिनोऽनुचिन्तनमावर्त्तनीयम्? उत नेति संशयः। दहराकाशस्य परमात्मन एकस्यैव सर्वगुणानां गुणित्वेन सकृदेव तच्चिन्तनोपपत्तेर्नावर्त्तनीयमिति प्राप्त आह। प्रदानवदिति। "यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञ" इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टाविन्द्रस्यैकत्वेऽपि राजत्वादिविशिष्टाकारभेदाद्देवताभेद इति प्रदानावृत्तिस्तद्वद्गुणिस्वरूपैक्येऽपि तत्तद्गुणविशिष्टाकारभेदादावर्त्तनीयमेवेति। तदुक्तं सङ्कर्षे "नाना वा देवता पृथग्ज्ञानादि" ति।।४२।। इति प्रदानाधिकरणम्।।१९।।

(हिन्दी–अनुवाद)

दहरविद्या में दहर आकाश में उपास्यत्व बताकर "तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान्कामान्" अपहतपाप्मत्व आदि गुणों की भी गुणी स्वरूप की उपासना की तरह पृथक् उपासना कही गयी है। यहाँ संशय होता है कि गुण के चिन्तन में गुणी का अनुचिन्तन आवर्त्तनीय है या नहीं। दहर आकाश परमात्मा के ही समस्त गुणों का एक परमात्मा में ही गुणीरूप से एक ही बार, उसके चिन्तन से उपपन्न होता है। इसीलिए गुणी का अनुचिन्तन आवर्तनीय नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'प्रदानवदिति' "यथेन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालं निर्वपेदिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे" इस त्रिपुरोडाशिनी में इन्द्र के एक होने पर भी राजत्व आदि विशिष्ट आकार भेद के कारण आवर्तन करना ही चाहिए। जैसा कि देवता काण्ड में "नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्" ऐसा कहा है।।४२।।

इस प्रकार प्रदान अधिकरण पूरा हुआ।।१९।।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि।।३।३।४३।।

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये "मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचिदि" त्यादिना मनश्चिदादीनग्नीन्साम्पादिकान् पठन्ति। तत्र संशयः–किमेते क्रियामयक्रत्वङ्गभूता उत प्राधान्यज्ञापकलिङ्गभूयस्त्वाद्विद्यामयक्रत्वङ्गभूताः? इति। तत्र सिद्धान्तं तावदाहलिङ्गभूयस्त्वादिति। लिङ्गं सामर्थ्यं "तद्यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिरिति, तान्हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपत" इत्येवमादिलिङ्गानां भूयस्त्वात् बाहुल्यात् विद्यारूपा एवैते। तद्धि लिङ्ग प्रकरणाद्बलीयस्तदप्युक्तं शेषलक्षणे "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षादि" (जै०सू० ३/३/१३) ति समवाये समानविषयत्वेन द्वयोर्विरोधे परस्य दौर्बल्यम्। कुतः? अर्थविप्रकर्षात् स्वार्थबोधने परस्य पूर्वं व्यवधानेन प्रवृत्तेरित्यर्थः।।४३।।

अथ पूर्वः पक्षः —

(हिन्दी–अनुवाद)

वाजसनेयी शाखा के अग्नि रहस्य में "मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचित्" इत्यादि वचनों द्वारा साम्पादिक मनश्चित आदि अग्नियों का पाठ करते हैं। यहाँ संशय होता है कि ये क्रियामय क्रतु के अंगभूत है अथवा प्राधान्य ज्ञापक लिङ्ग के आधिक्य के कारण विद्यामय क्रतु के अङ्गभूत हैं। इस पर सिद्धान्त कहते हैं। 'लिङ्ग भूयस्त्वात्' लिङ्ग माने सामर्थ्य "तद्यत्किञ्चेमानि मनसा सङ्कल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिरिति, तान्हैतानेवं विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते" इस प्रकार के लिङ्गों के बाहुल्य के कारण ये सब विद्यारूप ही हैं। वह लिङ्ग प्रकरण से बलवान होता है, यह बात शेष लक्षण में कहीं गई है। जैसा कि वहाँ का सूत्र हैं "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्" (जै०सू० ३/३/१३) समान विषय होने से दो के विरोध होने पर

परशास्त्र में दौर्बल्य होता है क्योंकि अर्थविप्रकर्षात् अर्थात् स्वार्थ बोधन में परवाक्यपूर्व व्यवधान से प्रवृत्त होता है।।४३।।

अब पूर्व पक्ष करते हैं —

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत्।।३।३।४४।।

"पूर्वस्यैव क्रियामयस्येष्टकाभिरग्निं चिनुत" इति विहितस्येष्टकचितस्याग्नेरयं विकल्पः स्यात्तत्प्रकार इत्यर्थः। यथाऽसौ क्रत्वङ्गस्तथायमपीत्यर्थः। कुतः? प्रकरणात्। "असद्वा इदमग्र आसीदि" त्यादिना पूर्वत्रेष्टकचितस्याग्नेः प्रकृतत्वात्तस्य च क्रियामयक्रत्वव्यभिचारित्वेन तत्र क्रतुसन्निधानात्तत्प्रकरणपठिता मनश्चिदादयोऽपि तद्विकल्परूपत्वेन क्रियारूपा एव स्युः। ननु प्रकरणस्य लिङ्गाद्दौर्बल्यमुक्तमिति चेत्सत्यं विधिवाक्यस्थस्यैव लिङ्गस्य प्रकरणाद्बलीयस्त्वं, नत्वर्थवादस्थस्येति गृहाण। विद्यारूपा अप्येते क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपतां लभन्ते, मानसवत्। "यथा द्वादशाहस्य दशमेऽहन्यनया त्वा पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाती" ति मानसी क्रिया क्रत्वङ्गमेवमत्रापीत्यर्थः।।४४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"पूर्वस्यैव क्रियामयस्येष्टकाभिरग्निं चिनुते" इस प्रकार शास्त्र विहित इष्टकचित् अग्नि का यह विकल्प, अर्थात् उसका प्रकार है। जिस प्रकार यह क्रतु का अङ्ग होता है, उसी प्रकार यह भी है क्योंकि 'प्रकरणात्' प्रकरण से ऐसा ज्ञात होता है। "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि मंत्रों के द्वारा इष्ट चित अग्नि का यहाँ प्रकरण है। वह क्रियामय क्रतु का अव्यभिचारी है। यहाँ क्रतु के सन्निधान से उस प्रकरण में पठित मनश्चित आदि भी उसका विकल्प रूप होने से क्रियारूप ही है। यदि कहें प्रकरण में लिङ्ग के अपेक्षया दौर्बल्य कहा गया है तो यह सत्य है। परन्तु विधि वाक्य में स्थित लिङ्गवाक्य में प्रकरण से बलवत्ता होती है, न कि अर्थवाद का ऐसा समझिये। ये विद्यारूप होने पर भी इनमें क्रियामय क्रतु का अनुप्रवेश होने से ये क्रियारूपता को मानस की तरह प्राप्त होते हैं। "यथा द्वादशाहस्य दशमेऽहन्यनया त्वां पात्रेण समुद्रं रसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति" इस वचन के द्वारा मानसीक्रिया क्रतु का अङ्ग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए।।४४।।

अतिदेशाच्च।।३।३।४५।।

इतश्चैषां क्रियारूपत्वं, "षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व" इति पूर्वस्येष्टकचितस्याग्नेः कार्यं तेष्वतिदिश्यते। ततश्चेष्टकचितवत् तेषामपि क्रतुनिर्वर्त्तकत्वेन क्रत्वङ्गभूता एते क्रियारूपा एव।।४५।।

इति प्राप्त आह —

(हिन्दी-अनुवाद)

इस कारण से इनमें क्रियारूपता होता है क्योंकि "षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक

एव तावान्यावानसौ पूर्वः" इस वचन के द्वारा पूर्व इष्टचित नामक अग्नि का कार्य उनमें अतिदेश किया जाता है। इस प्रकार इष्टचित के समान उनमें भी क्रतु के सम्पादक होने के कारण ये क्रतु के अङ्गभूत क्रिया रूप ही हैं।।४५।।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं —

विद्यैव तु निर्द्धारणाद्दर्शनाच्च।।३।३।४६।।

तुशब्दात्पक्षव्यावृत्ति रेवकारोऽवधारणे। मनश्चिदादयो विद्यैव, विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेत्यर्थः। कुतः? निर्धारणात्। तेषां साम्पादिकाग्नित्वेन विद्यारूपत्वे प्रसिद्धेऽपि "ते ह ते विद्याचित एवे" तिविद्यया" हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ती" ति च निर्धारणं विद्यामयक्रत्वङ्गतयैषां विद्यारूपत्वं ख्यापयति। दर्शनाच्च। दृश्यते चात्रैवैषामङ्गी विद्यामयक्रतुः "ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन्तो मनसाऽशंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव, तेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवाक्रियत" इत्यादौ।।४६।।

ननु न तेषामिह विद्यामयक्रत्वङ्गता सम्भवति विधिपदाश्रवणात्फलसम्बन्धाप्रतीते-श्चेष्टकचिताग्न्युपस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणेन तद्बाधाच्चेत्याशङ्क्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ तु शब्द से पक्ष की व्यावृत्ति ही है। एव यहाँ अवधारण है। मनश्चित आदि विद्या ही है। विद्यामय क्रतु के अङ्गभूत ही हैं क्योंकि ऐसा निर्धारण है। उनमें साम्पादिक अग्निरूप होने से विद्यारूपत्वेन प्रसिद्ध होने पर भी "ते ह ते विद्याचित एव इतिविद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ति" ऐसा निर्धारण है। इस प्रकार का निर्धारण, विद्‌यामय क्रतु के अङ्गरूप में इनकी विद्या रूपता को व्याप्ति कहते हैं। 'दर्शनाच्च' इन सब का अङ्गी विद्‌यामय क्रतु है, यही देखा जाता है। "ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त मनसास्तुवन्तः मनासाऽशंसन् यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किञ्च यज्ञीयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेवाक्रियत" इत्यादि।।४६।।

यदि कहें कि उनमें यहाँ पर विद्यामयक्रतु की अंगता संभव नहीं है क्योंकि विधिवाक्यों का वहाँ श्रवण नहीं है और फल सम्बन्ध की प्रतीति भी नहीं है। तथा इष्टचित नामक अग्नि के द्वारा उपस्थापित क्रियामयक्रतु के प्रकरण से उसका बाध भी है। इस आशङ्का पर कहते हैं —

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः।।३।३।४७।।

न प्रकरणेन तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता बाध्यते। कुतः? श्रुत्यादेः प्रकरणाद्बलीयस्त्वात्। श्रुतिस्तावत् "ते हैते विद्याचित एवे" ति "तथा तान्हैतान् एवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ती" ति लिङ्गं, तथा वाक्यमपि "विद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ती" ति। एवंविदो मन आदिव्यापारेष्वग्नित्वं सम्पादयितुर्विद्यया विद्यामयक्रतुना सम्बद्धा एते मनश्चिदादयश्चिता भवन्तीत्येषां विद्यामयक्रतुसम्बन्धमाचक्षाणं क्रियामयक्रत्वङ्गशङ्कां निरुणद्धि।।४७।।

यच्चोक्तं "ते मनसैवाधीयन्त" इत्यादौ विधिपदाश्रवणात् फलसम्बन्धाप्रतीतेश्च न तेषां विद्यामयक्रत्वङ्गता सम्भवतीति तत्राह—

(हिन्दी–अनुवाद)

प्रकरण के द्वारा उनमें विद्यामयक्रतु की अङ्गता बाधित नहीं होती है क्योंकि श्रुति आदि से प्रकरण में बलवत्ता होती है। श्रुतिवचन है "ते हैते विद्याचित एव" एवं "तथा तान्हैतान् एवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ति" यह लिङ्ग वाक्य है। अब वाक्य का उदाहरण है। विद्यया हैवैत एवं विदश्चिता भवन्ति तथा एवं विदः अर्थात् मन आदि के व्यापारों में (अग्नि सम्पादित व्यापारों में) अग्नि सम्पादन करने वाले की विद्यामय क्रतु से सम्बद्ध, ये मनश्चित आदि चित होते हैं। इस प्रकार इन सब विद्यामय क्रतुसम्बन्ध कहने वाले को क्रियामय क्रतु के अङ्ग की शंका को रोकते हैं।।४७।।

यह जो कहा गया है "ते मनसैवाधीयन्ते" इत्यादि मन्त्रों में विधि पद का श्रवण नहीं होने तथा फल सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होने से उनमें विद्यामयक्रतु की अङ्गता सम्भव नहीं है। इस पर कहते हैं —

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम्।।३।३।४८।।

इष्टकचितसम्बन्धिक्रियामयक्रतोर्विद्यामयोऽयं क्रतुः पृथक्त्वेनावगम्यते। कुतः? अनुबन्धादिभ्यः। अनुबन्धा "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्त" इत्यादिनोक्ता यज्ञानुबन्धिनो ग्रहस्तोत्रशस्त्रादयस्तेभ्यः। आदिशब्दात्पूर्वोक्तातिदेशश्रुत्यादिग्रहः। तत्र दृष्टान्तः प्रज्ञेति। यथा प्रज्ञान्तराणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वस्वानुबन्धादिहेतुभिः क्रियामयात्क्रतोर्विद्यान्तरेभ्यश्च पृथगवतिष्ठन्त, एवमयमपि। एवं चानुबन्धैः श्रुत्यादिना च पृथक्विद्यामयक्रतुनिश्चये विधिः परिकल्प्यते। दृष्टश्चानुवादस्वरूपे "यदेव विद्यया करोती" त्यादौ कल्प्यमानो विधिः। तदुक्तं "वचनानि त्वपूर्वत्वादि" ति। इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण यत्फलं तदेव तेषामपि स्वक्रतुद्वारेण फलं "तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व" इत्यतिदेशात्।।४८।।

यत्तूक्तं मानसवदिति तत्राह —

(हिन्दी–अनुवाद)

इष्टकचित सम्बन्धी क्रियामयक्रतु का यह विद्यामयक्रतु पृथक्रूप से जाना जाता है। क्योंकि 'अनुबन्धादिभ्यः' "मनसैषु ग्रहा अगृह्यन्तः" इत्यादि वचनों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ अनुबन्धी ग्रह, स्तोत्र तथा शास्त्र आदि हेतुओं से विद्यामय क्रतु पृथक् है। आदि शब्द से पूर्वोक्त अतिदेश श्रुति आदि का परिग्रह होता है। इसमें दृष्टान्त है प्रज्ञा इत्यादि अर्थात् जैसे शाण्डिल्य विद्या आदि अपने-अपने अनुबन्ध आदि हेतुओं से क्रियामय क्रतु एवं अन्य विद्याओं से पृथक् अवस्थित होती है, उसी प्रकार यह भी है। इस प्रकार अनुबन्धों एवं श्रुति आदि के द्वारा पृथक् विद्यामय क्रतु का निश्चय होने पर विधि की कल्पना होती है। यह बात अनुवाद

स्वरूप "यदेव विद्यया करोति" इस वाक्य में कल्प्यमान विधि देखा गया है। जैसा कि कहा गया है "वचनानि त्वपूर्वत्वात्" इष्टकचित नामक अग्नि से अपने क्रतु के द्वारा जो फल होता है, वही फल उन सबका भी अपने क्रतु के द्वारा होता है क्योंकि "तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व" ऐसा अतिदेश है।

यह जो कहा गया मानसवत् इस पर कहते हैं—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ।।३।३।४९।।

न मानसग्रहसामान्यात्तुल्यत्वादपि मनश्चिदादीनां क्रियामयक्रत्वङ्गत्वं कल्प्यम्। कुतः? उपलब्धेः। पूर्वोक्तश्रुत्यादिहेतुभ्यो विद्यारूपत्वोपलब्धेः। न हि किञ्चित्सादृश्यं कस्यचित्केनचिन्नास्ति। नच तावता वैषम्यनिवृत्तिः। मृत्युवत् यथा पूर्वस्मिन्मण्डले ब्राह्मणसम्प्राप्तौ "स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" इति "अग्निर्वै मृत्युरि" (बृ०/३/२/१०) ति चाग्न्यादित्यपुरुषयोर्न सादृश्यादेकतापत्तिः। यथा च "सौ वाव लोको गौतमाग्निरि" (छा०/५/४/१) ति न ह्यग्नेर्लोकापत्तिर्लोकस्य वाऽग्न्यापत्तिस्तथाऽत्रापि क्रियारूपत्वविद्यारूपत्ववैषम्येऽपि मानसत्वसामान्यं न विरुध्यते, विषमयोरपि साम्यदर्शनात्।।४९।।

किञ्च पूर्वोत्तरब्राह्मणयोः केवलविद्याविधानात्तन्मध्यस्थस्यापि ब्राह्मणस्य केवलविद्या-विधिपरत्वमित्याह——

(हिन्दी–अनुवाद)

मानस ग्रह की समानता एवं तुल्यत्व हेतु से भी मनश्चित आदि के क्रियामय क्रतु की अङ्गता की कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि उपलब्ध ये पूर्वोक्त श्रुति आदि हेतुओं से विद्या रूपता की उपलब्धि है। इस संसार में यत् किञ्चित् सादृश्य किसी का किसी के साथ नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। इसी किञ्चित् सादृश्य ज्ञान से वैषम्य की निवृत्ति नहीं हो सकती है। 'मृत्युवत्' जैसे पूर्व मण्डल ब्राह्मण की समाप्ति पर "स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुष" तथा "अग्निर्वै मृत्युः" (बृ०/३/२/१०) इसमें अग्नि तथा आदित्य पुरुष में किञ्चित् सादृश्य से एकता की आपत्ति नहीं होती है। और जैसे "असौ वाव लोको गौतमाग्निः" (छा०/५/४/१) इसमें अग्नि में लोकापत्ति नहीं है। अथवा लोक में ही अग्नि की आपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार यहाँ भी क्रियारूपत्व एवं विद्यारूपत्व में वैषम्य होने पर भी मानसत्वरुप सामान्य का विरोध नहीं होता है क्योंकि विषम पदार्थों में भी साम्य देखा जाता है।।४९।।

और पूर्व उत्तर ब्राह्मण में केवल विद्या का विधान होने से उसके मध्य में स्थित ब्राह्मण का भी केवल विद्या विधिपरत्व होता है, इस पर कहते हैं——

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।।३।३।५०।।

परेण "च यं वाव लोक एषोऽग्निश्चित" इत्यनन्तरेण लोकपूर्णब्राह्मणेनास्य

मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य ताद्विध्यं तद्विधत्वं विद्यामयत्वं प्रतिपादितमवगम्यते। तेन हि "विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन" इति केवलकर्मनिन्दापूर्वकं विद्यां प्रशंसता विद्यैव विधीयते, ऽतोऽग्निरहस्ये क्रिया एव विधीयन्त इति नियमो नास्ति। एवं तर्हि विद्यामयमनश्चिदादीनां क्रियाग्निना सह पाठः किमर्थमित्यत आह। भूयस्त्वात्त्वनुबन्ध इति। मनश्चिदादिषु सम्पादनीयानामग्न्यङ्गानां भूयस्त्वात्तेषां क्रियाग्निसन्निधावनुबन्धः कृतः। नतु कर्माङ्गतया, तस्मान्मनश्चिदादयोऽग्नयो विद्यामयक्रत्वङ्गभूता एवेति सिद्धम्।।५०।। इति लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणम्।।२०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"च यं वाव लोक एषोऽग्निश्चित" इस अनन्तरवर्ती अन्य लोकपूर्ण ब्राह्मण के द्वारा इस मनश्चित आदि के प्रतिपादक शब्द का ताद्विध्य अर्थात् विद्यामयत्व का प्रतिपादन अवगत होता है। इससे "विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः" इस मन्त्र में केवल कर्म की निन्दा करते हुए विद्या की प्रशंसा करते हुए विद्या का विधान किया है। इसलिए अग्निरहस्य में क्रिया का ही विधान होता है ऐसा नियम नहीं है। यदि कहें फिर विद्यामय मनश्चित आदि अग्नियों का क्रियाग्नि के साथ पाठ क्यों किया गया? इस पर कहते हैं। 'भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः' मनश्चित आदि अग्नियों में सम्पादनीय अग्नि के अङ्गों से भिन्न बाहुल्य होने के कारण उन सबका क्रिया के अग्नि के सन्निधि में अनुबन्ध किया गया, न कि कर्म के अङ्गरूप में। इसीलिए मनश्चित आदि अग्नि विद्यामयक्रतु के अङ्गभूत ही हैं, यह सिद्ध होता है।।५०।।

इस प्रकार लिङ्ग भूयस्त्व अधिकरण पूरा हुआ।।२०।।

एक आत्मनः शरीरे भावात्।।३।३।५१।।

पूर्वं "त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इत्यनेन त्रयाणामप्युपास्योपासकोपासनानां स्वरूपस्य सर्वासु परविद्यासु ज्ञेयत्वमुक्तं। वक्ष्यते चोपासकस्यात्मतया परमात्मोपास्य, उपासकश्चोपास्यात्मकतयाऽनुसन्धेय "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चे" त्यनेन तत्र संशय्यते, किमयं प्रत्यगात्मा शरीरे वर्त्तमानो ज्ञातृत्वकर्त्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टस्वरूपोऽनु-सन्धेय उत प्रजापतिवाक्योक्तापहतपाप्मत्वादिगुणको यथाऽवस्थितिरूपः? इति। तत्र ज्ञातृत्वादिविशिष्टमेव तत्स्वरूपमनुसन्धेयमित्येके मन्यन्ते। कुतः? आत्मनः शरीरे भावात्। शरीरे वर्त्तमानस्योपासितुरात्मनस्तथाभावात्।।५१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पहले "त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च" इस सूत्र के द्वारा उपास्य, उपासक तथा उपासना के स्वरूप का समस्त परमात्म विद्याओं में ज्ञेयत्व कहा गया है। आगे भी कहेंगे कि उपासक के आत्मा के रूप में परमात्मा उपास्य है। और उपासक जीव के आत्मा के रूप में परमात्मा

अनुसन्धेय हैं। "आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च" इस सूत्र में यहाँ संशय होता है कि क्या यह जीवात्मा शरीर में वर्तमान ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विशिष्ट स्वरूप अनुसंधेय हैं ? अथवा प्रजापति वाक्य में उक्त अपहत पाप्मत्वादि गुण विशिष्ट यथावस्थित रूप ? यहाँ कुछ लोक ज्ञातृत्व आदि गुण विशिष्ट स्वरूप ही अनुसन्धेय है, ऐसा मानते हैं क्योंकि "आत्मनः शरीरे भावात्" अर्थात् शरीर में वर्तमान उपासक आत्मा का इस प्रकार स्वरूप है।।५१।।

नहि कर्मिणां कर्त्तृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपं तादृशं साधनानुष्ठानदशायामनुसन्धीयते तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सम्भवात्। तथैवोपासकस्यापि देहस्थस्य यादृशं रूपं तावतैवोपासनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेः। "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवती" ति तु "तं यथा यथोपासत" इत्यनेनैकार्थ्यात्परमात्मविषयमित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तमाह——

कर्मकाण्डियों का कर्त्तृत्व आदि के बिना फल के अनुभव दशा में जैसा रूप होता है वैसा रूप साधन के अनुष्ठान की दशा में अनुसन्धान नहीं किया जाता है। इसी से साधन का अनुष्ठान और उसका फल सम्भव है। इसी प्रकार देह में स्थित उपासक जीव का भी जैसे रूप होता है, उसी से ही उपासना का अनुष्ठान और उसके फल की सिद्धि होती है। जैसा कि श्रुति का वचन है, "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इस मन्त्रार्थ का "तं यथा यथोपासत" इस मन्त्र के साथ सामानाधिकरण्य होने से परमात्मविषयक है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त की बात कहते हैं——

व्यतिरेकस्तद्भावभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।।३।३।५२।।

तुशब्दोऽवधारणे। न ज्ञातृत्वादिविशिष्टस्वरूप एव प्रत्यगात्माऽनुसन्धेयो, ऽपितु सांसारिकस्वरूपान्मुक्तस्वरूपस्य यो व्यतिरेक आविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणत्वरूपः सोऽनुसन्धेयः। कुतः ? तद्भावभावित्वात्। तद्भावस्यापहतपाप्मत्वाद्यवच्छिन्नयथावस्थित-स्वरूपत्वस्य मुक्तौ भावित्वात्। अयम्भाव "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इत्यादिश्रुतेः प्रत्यगात्मन आत्मतयैव परमात्मोपास्य इति प्रत्यगात्माऽप्युपास्यभूतपरमात्मात्मकत्वेनोपास्यकोटिनिविष्टः। अतो "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुष" इति "तं यथा यथोपासते तथैव भवती" ति च न परमात्ममात्रविषयमपि तु प्रत्यगात्मात्मभूतोपास्यविषयमिति प्रजापतिवाक्योक्तापहतपाप्मत्वादिशिष्टं यथाऽवस्थितं स्वरूपमेव प्रत्यगात्मनोऽनुसन्धेयमन्यथा प्राप्योपास्ययोः प्रकारभेदाद्यथाक्रतुरित्यादि विरुध्येत। तत्र दृष्टान्तः। उपलब्धिवत्। ब्रह्मोपलब्धिवत्। यथा ब्रह्मोपलब्धिर्यथाऽवस्थितब्रह्म-स्वरूपानुसन्धानयुक्तस्यैव तथात्मोपलब्धिरपि यथावस्थितात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्तस्यैव। कर्मिणान्तु "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादिविधिषुदेहादिव्यतिरिक्त कर्त्तृत्वाद्याकारप्रत्यगात्म-स्वरूपविचारस्यैव कालान्तरभाविफलसाधनकर्माधिकारायापेक्षितत्वान्न ब्रह्मतादात्म्यापन्नतया प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादिविशिष्टप्रत्यगात्मस्वरूपानुसन्धानस्य तत्र कर्माङ्गत्वमिति विशेषः।।५२।।

इति शरीरे भावाधिकरणम्।।२१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द अवधारण में है। यहाँ ज्ञातृत्व आदि विशिष्ट स्वरूप प्रत्यगात्मा ही अनुसन्धेय नहीं है। अपितु सांसारिक स्वरुप से मुक्त स्वरूप का जो व्यतिरेक है, वह अपहत पाप्मत्वादि गुण अनुसन्धेय है। क्योंकि "तद्भावभावित्वात्" अर्थात् अपहत पाप्मत्वादि गुण विशिष्ट भगवद् भावापत्ति की मुक्तिदशा में स्थिति होती है। भाव यह है कि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत" इत्यादि श्रुति प्रमाण के आधार पर जीवात्मा की आत्मा के रूप में ही परमात्मा उपास्य होता है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा भी उपास्यभूत परम् ब्रह्मात्मक होने से उपास्य कोटि में निविष्ट है। इसलिए "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषः" तथा "तं यथा यथोपासते तथैव भवति" यह मन्त्र केवल परमात्ममात्र विषयक नहीं है किन्तु जीवात्मा के आत्मस्वरूपभूत उपास्य विषयक है। इस प्रकार प्रजापति वाक्य में कथित अपहत पापमत्वादि विशिष्ट यथा अवस्थित स्वरूप ही जीवात्मा का अनुसन्धेय है। अन्यथा प्राप्य एवं उपास्य में प्रकार भेद होने से "यथा क्रतु" इत्यादि श्रुति वचन का विरोध होगा। इसमें दृष्टान्त है, "उपलब्धिवत्" अर्थात् जैसे ब्रह्म की उपलब्धि यथा अवस्थित ब्रह्म स्वरूप के अनुसन्धान से युक्त की ही होती है। उसी प्रकार आत्मा की उपलब्धि भी यथा अवस्थित आत्म स्वरूप के अनुसन्धान से युक्त की ही होती है। कर्मकाण्डियों के लिए तो "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि विधिवाक्यों में देहादि से भिन्न कर्तृत्वादि विशिष्ट जीवात्म स्वरूप विचार का ही कालान्तर में भावी फल के साधन कर्म के अधिकार के लिए अपेक्षित होने से, ब्रह्म तादात्म्य भाव से आपन्न रूप में प्रजापति वाक्य में कथित अपहत पाप्मत्वादि विशिष्ट जीवात्मा स्वरूपअनुसन्धान में वहाँ कर्माङ्गता नहीं होती है। यह विशेष है।।५२।।

इस प्रकार शरीर में भावाधिकरण समाप्त हुआ।।२१।।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्।।३।३।५३।।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, (छा० १/१/१), लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" (छा०/२/२/१) "उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी, अयं वाव लोक, एषोऽग्निश्चित" इत्येवमाद्याः उद्गीथादिक्रत्वङ्गाश्रया उपासनाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विधीयमानाः श्रूयन्ते। तत्र संशयः, ताः किं यासु पठिताः तच्छाखागतोद्गीथादिष्वेव नियता उत सर्वशाखागतेषूद्गीथादिषु सम्बध्यन्ते? इति। तत्र येन स्वरादिविशेषेण यस्यां शाखायामुद्गीथादयः पठ्यन्ते, तद्विशिष्टा एव भवेयुर्न शाखान्तरगतोद्गीथाद्याश्रयाः, सन्निधानादिति प्राप्ते ब्रूमः-अङ्गावबद्धास्त्विति। तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः। उद्गीथाङ्गप्रतिबद्धा उपासना न स्वशाखास्वेव व्यवस्थिता, अपितु प्रतिवेदं सर्वशाखासु सम्बध्यन्ते। हि यतः स्वरादिभेदेनोद्गीथव्यक्तिभेदेऽपि "उद्गीथमुपासीते" ति सामान्योद्गीथादिश्रुतिरविशिष्टा सती सन्निधिं बाधते। क्रतुमध्यगताश्चोद्गीथादयः प्रत्ययाश्रया न तत्र सन्निधिविशेषः सर्वशाखाप्रभवत्वात् क्रतोः।।५३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, (छा० १/१/१) लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत" (छा०/२/२/१) "उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी, अयं वाव लोक, एषोऽग्निश्चित" इत्यादि उद्गीथ आदि क्रतु अङ्गाश्रित उपासना प्रत्येक वेद में शाखा भेद से सुनी जाती है। इसमें सन्देह होता है कि क्या वे उपासनाएँ जिन शाखाओं में पठित हैं, उन शाखाओं में विद्यमान उद्गीथ आदि में ही निहित है अथवा समस्त शाखाओं में विद्यमान उद्गीथ आदि में उनका सम्बन्ध है। यहाँ जिस स्वर आदि विशेष के द्वारा जिस शाखा में उद्गीथ आदि पठित होते हैं, उससे विशिष्ट ही होंगे, न कि अन्य शाखान्तरवर्ती उद्गीथ आदि के आश्रित क्योंकि सन्निधान होने के कारण ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, "अङ्गावबद्धास्त्विति" यहाँ 'तु' शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है, अर्थात् उद्गीथ के अङ्ग के रूप में प्रतिबद्ध उपासना केवल अपनी शाखा में ही व्यवस्थित नहीं है किन्तु प्रत्येक वेद में समस्त शाखाओं में सम्बन्धित होती हैं। क्योंकि स्वर आदि के भेद से उद्गीथ व्यक्ति में भेद होने पर भी 'उद्गीथमुपासीत' इस प्रकार सामान्य रूप से उद्गीथ आदि श्रुति अवशिष्ट होने से सन्निधि का बाध करती है। क्रतु के मध्यगत उद्गीथ आदि प्रत्ययाश्रित होती हैं उसमें सन्निधि विशेष नहीं होता है। क्योंकि क्रतु समस्त शाखाओं में उत्पन्न होती है।।५३।।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः।।३।३।५४।।

चार्थे वाशब्दः। यथा च शाखान्तरविहितो मन्त्रः "कुटरुरसी" ति शाखान्तरेष्वपेक्ष्यते। कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमादत्ते कुटरुरसीति। वेति। आदिना कर्मगुणजातिसङ्ख्यादयो गृह्यन्ते। यथा मैत्रायणीयानां प्रजाया न सन्ति तथाऽप्यनूद्ध्वं गुणविधिर्भवति "ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्या" इत्याद्युदाहरणमूह्यम्। एवं च यथा मन्त्रादीनां क्रत्वङ्गभूताना-मेकैकशाखावगतानां सर्वशाखासु क्रतोरेकत्वेन सर्वत्र सम्बधो न विरुध्यते, तद्वदिहापि न विरोधः।।५४।। इत्यङ्गावबद्धाधिकरणम्।।२२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ च अर्थ में वा शब्द है। जैसे शाखान्तर में विहित मन्त्र 'कुटरुरसि' शाखान्तर में अपेक्षित है। 'तुम कुकुर हो' ऐसा कहकर हाथ में पत्थर ले लेता है अथवा कुटरुरसि, आदि पद से कर्म गुण जाति तथा संख्या आदि गृहीत होते हैं। जैसे मैत्रायणीयों के लिए प्रयाज नहीं होते हैं फिर भी गुण विधि अनूद्ध्व होता है। "ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्याः" इत्यादि उदाहरण ऊहनीय हैं। इस प्रकार जैसे क्रतु के अङ्गभूत एक एक शाखा में अवगत मन्त्र आदि का सभी शाखाओं में क्रतु के एक होने से सर्वत्र उसका सम्बन्ध होने में कोई विरोध नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी कोई विरोध नहीं है।।५४।।

इस प्रकार अङ्गावबद्ध अधिकरण पूरा हुआ।।२२।।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति।।३।३।५५।।

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां व्यस्तस्य समस्तस्य च स्वर्लोकादित्यवाय्वाकाशाप्पृथिव्यवयवत्वेन वैश्वानरात्मन उपासनं श्रूयते। तत्र संशयः- किं तत्रास्य व्यस्तस्योपासनं कर्त्तव्यम्? उत व्यस्तस्य समस्तस्य च? अथवा समस्तस्यैवेति? किं तावत् प्राप्तं, व्यस्तस्येति। यत "औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचे" (छा० ५/१२/१) त्यादिना स्वर्लोकादिपृथिव्यन्तानां वैश्वानरात्मनो मूर्द्धादिपादान्तावयवत्त्वमभिधाय तत्र तत्र व्यस्तोपासनं तत्फलं च विहितं, परत्र "यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्त" (छा०५/१२/१) इति पूर्वोक्तस्यैव मूर्द्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इति युक्तमतो व्यस्तस्यैवेति प्रथमः पक्षः। एवमेव व्यस्तस्य समस्तस्य चाप्युपासनं कार्यम्। "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ती" ति समस्तोपासनस्य व्यस्तोपासनफलेभ्यः फलान्तरविधानादिति द्वितीयः पक्षः। न त्वेतावता वाक्यभेदप्रसङ्गो, यथा भूमविद्योपक्रमे "नाम ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिवाक्यानां भूमविद्यापरत्वेऽपि नामाद्यवान्तरोपासनस्य तत्फलस्य च भूमविद्यास्तुत्यर्थमङ्गीकारस्तथेहापीत्येवं प्राप्त उच्यतेभूम्न इति। भूम्नः समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्रशस्तता प्रमाणवत्त्वं, कथम्? उपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वात्। एवं सति प्रत्येकमवयवोपासनानां तत्तत्फलस्य च समस्तोपासनैकदेशानुवादमात्रत्वं निश्चेतव्यं, क्रतुवत् "यथा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जात" इति विहितस्यैव क्रतोरेकदेशो यदष्टकपालो भवतीत्यादिनाऽनूद्यते। तथाहि दर्शयति यथा न्याय उक्तोऽस्माभिस्तथा श्रुतिश्च "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य" इत्यादिका व्यस्तोपासने दोषं ब्रुवन्ती, समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वं दर्शयति। अतो न नामाद्युपासनसमत्वं तत्र तेषु दोषाश्रवणात्।।५५।। इति भूमज्यायस्त्वाधिकरणम्।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य उपनिषद् में वैश्वानर विद्या में व्यस्त तथा समस्त सबका स्वर्गलोक, आदित्य, वायु, आकाश, जल तथा पृथिवी के अवयव रूप में वैश्वानर आत्मा की उपासना सुनी जाती है। यहाँ संशय होता है कि क्या इस व्यस्त की उपासना करनी चाहिए अथवा व्यस्त एवं समस्त की किम्वा केवल समस्त की ही उपासना? यहाँ क्या प्राप्त है? तो बोले व्यस्त की। क्योंकि "औपमन्यव कं त्वामात्मानमुपास्से", हे उपमन्यु पुत्र तुम किस आत्मा की उपासना करते हो? तो बोला "दिवमेव भगवो राजन्निति होवाच" (छा० ५/१२/१) इत्यादि श्रुति द्वारा स्वर्ग लोक से लेकर पृथिव्यन्त पर्यन्त वैश्वानर आत्मा में मूर्धा से पादान्त अवयवत्व का प्रतिपादन करके उन-उन स्थानों में व्यस्त की उपासना और उसका फल भी वहाँ विहित है। अन्यत्र "यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपासते" इस मन्त्र में पूर्व प्रतिपादित मूर्धा आदि उपासना का सङ्क्षेप में उपसंहार किया, यह युक्त है। इसलिए व्यस्त की उपासना ही प्रथम पक्ष है। इसी प्रकार व्यस्त एवं समस्त की भी उपासना करनी चाहिए। "स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु

सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति" इस मन्त्र द्वारा समस्त उपासना का व्यस्त उपासना के फल से फलान्तर (अन्यफल) का विधान है, यह दूसरा पक्ष है। एतावता वाक्य भेद का प्रसङ्ग नहीं है। जैसे भूमविद्या के उपक्रम में "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि वाक्यों में भूमविद्यापरत्व होने पर भी नाम आदि अवान्तर उपासना का एवं उसके फल का भी भूम विद्या की स्तुति के लिए ही अंगीकार किया गया है, वैसे यहाँ भी है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं 'भूम्न इति' अर्थात् समग्र उपासना में ज्यायस्त्व यानी प्रशस्तता है, प्रमाणयुक्तता है। कैसे ? क्योंकि उपक्रम एवं उपसंहार में एक वाक्यता है। इस प्रकार प्रत्येक अवयव उपासना एवं उसके फल में समस्त उपासना से एक देश का अनुवाद मात्र है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। क्रतु की तरह "यथा वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते" यहाँ विहित क्रतु का ही एक देश जो अष्टकपाल होता है इत्यादि वचनों द्वारा अनुवाद किया जाता है। जैसा कि दिखाते हैं। जैसे यहाँ न्याय कहा है वैसे श्रुतिवचन भी है "मूर्द्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः" इत्यादि वचन व्यस्त उपासना में दोष बताते हैं तथा समस्त उपासना को श्रेष्ठ बताते हैं। इसलिए नाम आदि उपासना की समानता वहाँ नहीं है, उनमें दोषों का श्रवण नहीं है।।५५।।

इस प्रकार भूमज्यायस्त्व अधिकरण पूरा हुआ।।२३।।

नानाशब्दादिभेदात् ।।३।३।५६।।

अनन्तराधिकरणे सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रवणे सत्यपि समग्रोपासनस्य ज्यायस्त्वमुक्तम्। एवं शाण्डिल्यविद्याभूमविद्यादहरविद्योपकोशलविद्यावैश्वानरविद्यानन्द-मयविद्याक्षरविद्यादिकानामपि ब्रह्मप्राप्तिरूपमोक्षैकफलानां सर्वासां किं समुच्चित्योपासनं ज्याय उत भेदेन? इति संशये, किं तावद्युक्तं, समुच्चित्योपासनं ज्यायोऽनन्तरन्यायेन यथा वाऽग्निहोत्रादीनां समुच्चित्य प्रयोगस्तथाऽत्रापि। अपि च वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात् वेद्यं हि रूपं विद्याया द्रव्यदैवतमिव योगस्य ऽतो रूपाभेदादपि विद्यैक्यमिति प्राप्त उच्यते-नानेति। भेदेनोपासनं कर्त्तव्यं, न समुच्चित्य प्रतिप्रकरणमुपासना- विधीनामन्योऽन्य-निराकाङ्क्षत्वात् कथं? शब्दादिभेदात् "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीते" ति "स भूमापहतपाप्मे" ति च शब्दभेदात्। आदिना शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासञ्ज्ञागुणप्रकरणनामधेयानि पूर्वकाण्डे दर्शितानि गृह्यन्ते। शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतवोऽनुबन्धभेदा दृश्यन्ते "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीते" ति स्वरूपाभेदेऽपि विधेयस्य पुरुषप्रयत्नस्य भेदहेतोर्गुणफलानुबन्धभेदात्तत्र स्वरूपं भिद्यते, यथेष्टिपशुसोमादीनाम, तो विद्याभेद इति स्थितम्।।५६।। इति शब्दादिभेदाधिकरणम्।।२४।।

विद्यानां स्वरूपमुक्त्वाऽनुष्ठानप्रकारमाह —

(हिन्दी-अनुवाद)

अनन्तर अधिकरण में सुतेजः प्रभृति के फल भेद श्रवण होने पर भी समग्र उपासना

को श्रेष्ठत्व कहा गया है। इसी प्रकार शाण्डिल्यविद्या, भौमविद्या, दहरविद्या, उपकोशलविद्या एवं वैश्वानरविद्या, आनन्दमयविद्या तथा अक्षरविद्या आदि में भी ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष फल बताया गया है। अब यहाँ पर संशय होता है कि सभी विद्याओं का समुच्चय करके उपासना करना श्रेष्ठ है अथवा इन विद्याओं में भेद करके, ऐसा संशय होने पर, क्या युक्त है तो कहते हैं, सबका समुच्चय करके उपासना श्रेष्ठ है। अनन्तर न्याय से जैसे अग्निहोत्र आदि का समुच्चय करके प्रयोग होता है वैसे यहाँ भी उचित है और वेद्य ब्रह्म के एक होने से विद्या का वेद्य रूप भी एक है। जैसे याग का द्रव्य और देवता। इसलिए रूप के अभेद से विद्या में एकत्व है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'नानेति' भेदभाव से उपासना करनी चाहिए, समुच्चय करके नहीं। कारण प्रत्येक प्रकरण में उपासना विधियों में परस्पर निराकांक्षता है। कैसे तो बोले 'शब्दादि भेदात्' अर्थात् "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीत" इस प्रकार शब्द का भेद है। यहाँ आदि पद से शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, सञ्ज्ञा, गुण, प्रकरण तथा नामधेय इत्यादि पूर्वकाण्ड (मीमांसा) में दर्शित ग्रहण किये जाते हैं। शब्दान्तर आदि से यहाँ पर विधेय में भेद के कारण अनुबन्धों में भेद देखे जाते हैं। "वेदोपासीत स क्रतुं कुर्वीत" इस प्रकार स्वरूप में अभेद होने पर भी भेद का हेतु पुरुष प्रयत्न रूप विधेय में फल के अनुबन्ध का भेद होने से स्वरूप भिन्न होता है जैसे इष्टि तथा पशुसोम आदि में। इसलिए विद्या में भेद है, यह निश्चय हुआ।।५६।।

इस प्रकार शब्दादि भेद अधिकरण पूरा हुआ।।२४।।

विद्या के स्वरूप को बताकर अनुष्ठान प्रकार को कहते हैं —

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्।।३।३।५७।।

किमासु ब्रह्मप्राप्तिफलासु शाण्डिल्यादिविद्यासु फलार्थिना समुच्चयेन प्रयोगोऽग्निहोत्रादिवत्? अथवा विकल्पेनेति संशयः, समुच्चयेनाग्निहोत्रादिवदिति पूर्वः पक्षः। विकल्प इति सिद्धान्तः। कुतः? अविशिष्टफलत्वात्। अविशिष्टं हि सर्वासामासां परविद्यानां परब्रह्मभावापत्तिलक्षणं फलं, तस्य चैकयैव सिद्धत्वाद्विद्यान्तरसमुच्चये प्रयोजनाभावाच्च सर्वासां विकल्प एव, न समुच्चय इति।।५७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्या इन ब्रह्मप्राप्ति रूप फल वाली शाण्डिल्य आदि विद्याओं में फलार्थी को अग्निहोत्र आदि की तरह समुच्चयपूर्वक प्रयोग करना चाहिए अथवा विकल्प से, ऐसा संशय है। इसमें अग्निहोत्र आदि की तरह समुच्चय का प्रयोग होना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्ष है। विकल्प करना चाहिए, यह सिद्धान्त है। क्योंकि 'अवशिष्टफलत्वात्' इन सभी परमात्मविद्याओं का परब्रह्म भावापत्ति रूप फल अवशिष्ट है। वह फल एक ही विद्या से सिद्ध है। इसलिए विद्यान्तर समुच्चय में प्रयोजन का अभाव भी है। अतः समस्त विद्याओं का विकल्प ही है, समुच्चय नहीं।।५७।।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्।।३।३।५८।।

काम्यास्तु "स यो ह वै नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद स न पुत्र! रोदं रोदिती" त्यादिकाः प्रतीकरूपा ब्रह्मप्राप्त्यतिरिक्तफलास्तु विद्याः स्वर्गादिफलकर्मवद्यथाकामं यथाफलं यावन्ति फलानि प्रार्थयते तत्प्राप्तये समुच्चेतव्याः। यद्येकं फलमिच्छति तदैकमेव कुर्यादित्यनियमः। कुतः? पूर्वहेत्वभावात्, मोक्षफलकत्वहेत्वभावात्।।५८।। इति विकल्पाधिकरणम्।।२५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"स यो ह वै नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद स न पुत्र! रोदं रोदिति" इत्यादि प्रतीकरूप वचन काम्य है। ब्रह्मप्राप्ति से अतिरिक्त फलवाली विद्यायें, स्वर्गादि फल कर्म की तरह कामनानुसार फल के अनुसार जितने फलों की कामना करता है, उसकी प्राप्ति के लिए समुच्चय करना चाहिए। यदि एक फल की इच्छा करता है तो तो एक ही कर्म करें, ऐसा नियम नहीं है क्योंकि पूर्व हेतु का अभाव है अर्थात् मोक्षफलप्रद हेतु का अभाव।।५८।।

इसप्रकार विकल्प अधिकरण पूरा हुआ।।२५।।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः।।३।३।५९।।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते" त्यादिकानां कर्माङ्गेषूद्गीथादिष्वाश्रितानां प्रत्ययानां किमुद्गीथादिवत्क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादानम्? उत गोदोहनादिवत्पुरुषार्थ-तया यथाकाममिति संशये, नियमेनोपादानमिति युक्तम्। ननु "तन्निर्धारणानियम" इत्यत्राङ्गाश्रितानां गोदोहनादिवदनङ्गत्वमुक्तमिति चेत्सत्यम्। अङ्गान्यनुष्ठापयन्प्रयोगविधि-र्यद्युपासनानि नानुष्ठापयेत्तर्हि तेषां तदाश्रितत्वं व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमेव द्रढयितुं कैश्चिल्लिङ्गदर्शनैराक्षिपति। अङ्गेष्विति। अङ्गेषूद्गीथादिष्वाश्रितानामुपासनानां क्रतुषु यथाश्रयभाव, उद्गीथादिवदङ्गभावो गोदोहनादिवदुद्गीथमुपासीतेत्युपासनविधौ फलसम्बन्धाश्रवणादुद्गीथसम्बन्धावगतक्रत्वङ्गता न विरुध्यते। एवं विधिवाक्येनैव क्रत्वङ्गत्वेऽवगते "यदेव विद्यया करोति तेनोभौ कुरुत" इति च वर्त्तमानफलसम्बन्धनिर्देशो "न स पापं श्लोकं शृणोती" तिवदर्थवादमात्रं स्यात्। अतो यथोद्गीथादीनामुपासनाश्रय-क्रत्वङ्गतया प्रयोगविधिना नियमेनोपादानं तथा तदाश्रितोपास्तीनामपि तद्द्वारा क्रत्वङ्गतया नियमेनोपादानम्।।५९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इत्यादि कर्म के अङ्गों में उद्गीथ आदि में आश्रित विद्याओं में क्या उद्गीथ आदि की तरह क्रतु के अर्थरूप में क्रतुओं में नियमतः उपादान है?

अथवा गोदोहन आदि की तरह पुरुषार्थ के रूप में यथाकाम है? ऐसा संशय होने पर नियम से उपादान युक्त है। यदि कहें कि "तन्निर्धारणानियमः" यहाँ अङ्गाश्रितों में गोदोहन आदि की तरह अनङ्गत्व कहा है। तो यह सत्य है परन्तु यदि प्रयोग विधि अङ्गों का अनुष्ठान कराता हुआ यदि उपासनाओं का अनुष्ठान नहीं करायेगा तो इनका तदाश्रितत्व व्यर्थ होगा। ऐसी आशङ्का करके पूर्वोक्त कथन को ही दृढ़ करने के लिए कतिपय लिङ्ग दर्शनों द्वारा आक्षेप करते हैं "अङ्गेस्विति" उद्गीथ आदि अङ्गों में आश्रित उपासनाओं का क्रतुओं में जैसे आश्रय भाव होता है, उद्गीथ आदि की तरह अङ्गभाव होता है। गोदोहन आदि की तरह उद्गीथ की उपासना करें। इस उपासना विधि में फल सम्बन्ध के श्रवण न होने से उद्गीथ सम्बन्ध से अवगत क्रत्वङ्गता में विरोध नहीं होता है। इसप्रकार विधि वाक्य से क्रत्वङ्गता अवगत होने पर "यदेव विद्यया करोति तेनोभौ कुरुत" के द्वारा वर्त्तमान फल सम्बन्ध का निर्देश है। "न स पापं श्लोकं श्रृणोति" इसी के समान अर्थवादमात्र होगा। इसलिए जैसे उद्गीथों में उपासना के आश्रय क्रतु के अङ्ग के रूप में प्रयोग विधि से नियमतः उपादान होता है। उसीप्रकार उसके आश्रित उपासनाओं का भी उसके द्वारा क्रत्वङ्ग के रूप में नियमतः उपादान है।।५९।।

शिष्टेश्च।।३।३।६०।।

शिष्टिः शासनम्। उद्गीथमुपासीतेत्युद्गीथाङ्गतया प्रत्ययानां विधानं, ततश्चोपादाननियमः।।६०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

शिष्टि का अर्थ है शासन। 'उद्गीथमुपासीत' इस नियम से उद्गीथ के अङ्ग के रूप में प्रत्ययों का विधान है। तत्पश्चात् उपादान का नियम है।।६०।।

समाहारात्।।३।३।६१।।

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरती" ति दुरुद्गीथं दुष्टमुद्गीथं वेदनहीनमुद्-गाता स्वकर्मणि समुत्पन्नं वैगुण्यं होतृषदनात् होतृकर्मणः शंसनात्समादधातीत्यनेन समाधानं ब्रुवन्ती श्रुतिर्वेदनस्योपादाननियमं दर्शयति।।६१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति" यहाँ दुरुद्गीथ यानी दुष्ट उद्गीथ अपने कर्म में समुत्पन्न वैगुण्य को होता के कर्म संशन से "समादधाति" इस कथन के द्वारा समाधान का प्रतिपादन करती हुई श्रुति भगवती वेदन में उपादान का नियम दिखाती है।।६१।।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च।।३।३।६२।।

इतश्च विद्यागुणस्य विद्याश्रय[illegible] "तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति

शंसत्योमित्युद्गायती" (छा० १/१/९) ति वेदत्रयसाधारण्यश्रवणाच्च तदाश्रितस्य प्रत्ययस्यापि साधारण्यमित्यभिप्रायः। तेनेति प्रकृतपरामर्शात्तेन सोपासनेन प्रणवेन वेदत्रयोक्तं कर्म प्रवर्त्तत इत्यर्थः। अत उपासनस्य प्रणवसहभावनियमदर्शनादुद्गीथाद्युपासनानामुद्गीयादिवदुपादाननियमो निश्चीयते।।६२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस हेतु से भी विद्या के गुण विद्याश्रय ओङ्कार में "तेनेयं त्रयी विद्या वर्त्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति" (छा० १/१/९) इस वचन के आधार पर वेदत्रय का साधारण्य श्रवण होने से तदाश्रित ज्ञान से भी साधारण्य है, यह अभिप्राय है। यहाँ 'तेन' से प्रकृत का परामर्श होने से 'तेन' अर्थात् प्रणव के द्वारा तीनों वेदों में उक्त कर्म प्रवृत्त होता है, यह अर्थ है। इसलिए उपासना में प्रणव (ओङ्कार) के सद्भाव का नियम दर्शन होने से उद्गीथ आदि उपासनाओं में उद्गीथ आदि की तरह उपादान के नियम का निश्चय होता है।।६२।।

न वा तत् सहभावाऽश्रुतेः।।३।३।६३।।

नवेति पक्षव्यावृत्तिः। नोद्गीथाद्याश्रिताः प्रत्ययाः क्रतुषूद्गीथादिवन्नियमेनोपसंहर्त्तव्याः। कुतः? तत्सहभावाऽश्रुतेः। क्रत्वङ्गभावाश्रवणात्। सहभावो हि क्रत्वङ्गभावः। "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि" ति विद्यायाः क्रतुवीर्यवत्तरत्वं प्रति साक्षात्साधन-त्वमवगम्यते। एवं क्रतुफलात्पृथक्फलसाधनतयाऽवगता विद्या किमाश्रित्य फलं कुर्यादित्यपेक्षायामो "मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीते" त्युद्गीथमाश्रित्य कुर्यादिति क्रत्वङ्गभूतस्योद्गीथस्याश्रयमात्रत्वं प्रतीयते। यथा "गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेदि" त्यत्राप्प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनं फलं साधयति प्रणयतिशब्दोपादानसामर्थ्यान्न तत्र गोदोहनस्य क्रत्वङ्गतानियम, एवमत्रापि। अतः क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगताया विद्याया न क्रत्वङ्गभाव उपपद्यते। अपि तु यथा क्रत्वधिकारिण एव पशुकामनानिमित्तं गोदोहनमधिकारान्तरमेवं क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रयस्योपासनस्यापि क्रत्वधिकारिण एव क्रतोर्वीर्यवत्तरत्वफलेच्छानिमित्तमधिकारान्तरत्वमिति क्रतुषु तद्विकल्प एव। पर्णमयीवाक्ये तु पर्णतादीनां यदेव विद्ययेति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापश्लोकश्रवणादिफलं प्रति साक्षात् साधनभावो न श्रूयते। तत्र पर्णतायां जुहूसम्बन्धस्यावश्यम्भावित्वात्तत्सम्बन्धः पूर्वं विधातव्यस्ततः क्रत्वङ्गभूतजुह्वाद्यङ्गतया तेषां क्रत्वर्थता न विरुध्यते तदङ्गानां फलान्तरसाधनत्व- कल्पनानुपपत्तेस्तत्र फलश्रुतिरर्थवादः। अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गात्। इह तु वाक्यान्तरे स्ववाक्ये वा यत्फलमुक्तं तदेव युक्तमन्तरङ्गत्वादनारभ्याधीतत्वाच्च। प्रयोगवचनस्तु क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावनियमं विधत्ते। उद्गीथादिप्रत्ययास्तु क्रत्वङ्गाश्रया अपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्था इति वैषम्यम्।।६३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'न वा' से पक्ष की व्यावृत्ति होती है। उद्गीथ आदि आश्रित प्रत्यय (ज्ञान) क्रतु में उद्गीत

आदि की भाँति नियमतः उपसंहार्य नहीं है। क्योंकि 'तत्सहभावाश्रुतेः' सहभाव माने क्रतु का अङ्गभाव। "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्" जो कार्य ज्ञानपूर्वक तथा श्रद्धापूर्वक किया जाता है, वही श्रेष्ठ अथवा शक्तिशाली होता है। इसप्रकार विद्या क्रतु की शक्तिशालिता के प्रति साक्षात् कारण रूप में ज्ञात होती है। इसप्रकार क्रतु के फल से पृथक् फल साधन के रूप में अवगत विद्या किसका आश्रय करके फल प्रदान करेगी, इस अपेक्षा से "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" इस उद्गीथ का आश्रय करके करे, इस प्रकार क्रतु के अङ्गभूत उद्गीथ में आश्रयमात्रत्व की प्रतीति होती है। जैसे "गोदोहनेन पशुकामस्यापः प्रणयेत्" यहाँ आप (जल) को प्रणयन का आश्रय करके गोदोहन रूपी फल की सिद्धि कराते हैं। 'प्रणयति' शब्द के उपासन की सामर्थ्य से वहाँ गोदोहन में क्रतु की अङ्गता का नियम नहीं है। इसीप्रकार यहाँ भी, क्रतु फल से पृथक् भूत फल के साधन रूप में अवगत विद्या में क्रतु का अङ्गभाव उपपन्न नहीं होता। बल्कि जैसे क्रतु के अधिकारी ही पशुकामना निमित्त गोदोहन में अधिकारान्तर है। इसीप्रकार क्रतु प्रयुक्त उद्गीथ आदि आश्रित उपासना भी क्रतु अधिकारी ही है। क्रतु के वीर्यातिशय फल की इच्छा निमित्त अधिकारान्तरत्व है। इस प्रकार क्रतुओं में उसका विकल्प ही है। 'पर्णमयी' वाक्य में पर्णता आदि का 'यदेव विद्यया' के अनुसार विद्या में फल साधनत्व की भाँति उपाप श्लोक श्रवण आदि फल के प्रति साक्षात् साधनभाव नहीं सुना जाता है। वहाँ पर्णता में जूहू सम्बन्ध अवश्यम्भावी होने से पहले उसका सम्बन्ध करना चाहिए। तदनन्तर क्रतु के अङ्गभूत जूहू आदि में अङ्गरूप में उनमें क्रत्वङ्गता का विरोध नहीं है। उनके अङ्गों में फलान्तर साधनत्व की कल्पना की उपपत्ति नहीं है। वहाँ फल श्रुति अर्थवाद है। अन्यथा वाक्य भेद का प्रसङ्ग होगा। यहाँ तो वाक्यान्तर अथवा अपने वाक्य में जो फल कहा गया है, वही उचित है। क्योंकि वह अन्तरङ्ग है एवं बिना आरम्भ के अधीत है। प्रयोग वचन तो क्रत्वर्थ उद्गीथ आदि में सद्भाव का नियम विधान करता है। उद्गीथ आदि प्रत्यय तो क्रतु के अङ्गाश्रित होकर भी गोदोहन आदि की तरह पुरुषार्थ है, यह वैषम्य है।।६३।।

दर्शनाच्च।।३।३।६४।।

इतश्च प्रत्ययानामसहभावो दर्शनात्। "एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षती" (छा० ४/१७/१०) ति ब्रह्मणो विद्वत्तया सर्वेषां पालनं ब्रुवती श्रुतिः प्रत्ययानामनियततां दर्शयति। अनेन लिङ्गेन पूर्वोक्तसमाहारादिलिङ्गानि प्रायिकानीत्यवगम्यते।।६४।।

इति यथाश्रयभावाधिकरणम्।।२६।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममक-रन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीद्श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां

श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां

ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायतृतीयपादविवरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस हेतु से भी प्रत्ययों में असद्भाव है क्योंकि दर्शन है "एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति" इसके द्वारा ब्रह्म की विद्वत्ता से सबका पालन श्रुति बताती है। इससे प्रत्ययों में अनियतता दिखाती है। इस लिङ्ग से पूर्व में उक्त समाहार आदि लिङ्ग प्रायिक है, यह अवगत होता है।।६४।।[1]

इस प्रकार यथाश्रयभाव अधिकरण पूरा हुआ।।२६।।

इस प्रकार जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरिभट्ट कृत वेदान्त कौस्तुभप्रभा ब्रह्मसूत्र वृत्ति में तृतीय अध्याय तृतीय पाद का पं. वैद्यनाथ झा कृत
हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

१. तृतीय अध्याय का तृतीय एवं चतुर्थ पाद का भावार्थ केवल हिन्दी अनुवाद पढ़ने से नहीं जाना जा सकता क्योंकि यह पूर्वमीमांसा का विषय है, जो गुरुमुख से पढ़ने से ही स्पष्ट होता है। (सं)

तृतीय अध्याय

चतुर्थ पाद

विषय-सूची

तृतीयाध्याये चतुर्थपादारम्भः

अथ पुरुषार्थाधिकरणम्।

पूर्वस्मिन्पादे वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्याया ब्रह्मविद्याया भेदाभेदविचारस्तदनुष्ठानप्रकारश्च निरूपितः। अथेदानीं विद्यायाः स्वातन्त्र्यं कर्मणस्तदङ्गत्वमिति निरूपयितुं विद्यातः पुरुषार्थ उत विद्याङ्गकात् कर्मणः? इत्याशङ्क्य सिद्धान्तं तावदाह——

(हिन्दी–अनुवाद)

(तीसरे पाद में परमात्मा की प्राप्ति के उपाय भूत भिन्न–भिन्न विद्याओं के विषय में प्रतीत होने वाले विरोधों को दूर किया गया। तथा उन विद्याओं में से किस विद्या के कौन से गुण दूसरी विद्याओं में ग्रहण किये जा सकते हैं और कौन नहीं किये जा सकते हैं, इन विद्याओं का अलग–अलग अनुष्ठान करना उचित है या इनमें से कुछ का समुच्चय भी किया जा सकता है इत्यादि विषयों पर विचार करके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

अब ब्रह्मज्ञान परमात्मा की प्राप्ति का साधन है या नहीं? उसके अन्तरङ्ग साधन कौन से हैं? और बहिरङ्ग कौन से हैं? इन सब बातों पर विचार करके सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए चौथा पाद आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले परमात्मा की प्राप्ति, पुरुषार्थ की सिद्धि केवल ज्ञान से ही होती है या कर्मादि के समुच्चय से? इस पर विचार आरम्भ करने के लिए भगवान् वेदव्यास अपना निश्चित मत बताते हैं।) यह भिन्न अनुच्छेद में होगा। अब पुरुषार्थ प्रकरण प्रारम्भ होता है।

पूर्वपाद में वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्द वाच्य ब्रह्मविद्या का भेदाभेद विचार और उसके अनुष्ठान का प्रकार निरूपण किया। अब विद्या का स्वातन्त्र्य एवं कर्म में विद्या के अङ्गत्व का निरूपण करने के लिए विद्या से पुरुषार्थ होता है या विद्या के अङ्गभूत कर्म से, ऐसी आशङ्का करके सिद्धान्त कहते हैं——

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः।३।४।१।।

पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं सर्वमतो विद्यात एव स्यादिति भगवान्बादरायणो मन्यते स्म। कुतः? शब्दादितीति। इति शब्दोऽवधारणार्थः। "तरति शोकमात्मवित् (छा० ७/१/३) ब्रह्मविदाप्नोति परं (तै० २/१/१), तमेव विद्वानमृत इह भवति तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमे, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तदि" त्यादिशब्दो विद्यात एव पुरुषार्थं ब्रुवन्दृश्यते।।१।।

अत्र पूर्वः पक्षः प्रारभ्यते——

(हिन्दी-अनुवाद)

पुरुष का मुख्य प्रयोजन ब्रह्म प्रापिका विद्या से ही होता है। ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं क्योंकि इसमें श्रुति प्रमाण है। यहाँ इति शब्द अवधारण अर्थ में है। "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७/१/३), आत्मवेत्ता शोक को पार करता है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० २/१/१), ब्रह्म को जानने वाला उस परमात्मा को प्राप्त करता है। "तमेव विद्वानमृत इह भवति तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमे, तद्धेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्" उस परमात्मा को जानने वाला अमृत हो जाता है। तथा वह नाम रूप से मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह परात्पर दिव्यपुरुष को प्राप्त होता है। इसी अक्षर परमात्मा को जानकर ईच्छानुसार फल प्राप्त करता है इत्यादि शब्द प्रमाण विद्या से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा कहते हैं। यह बादरायण का सिद्धान्त है।।१।।

अब पूर्वपक्ष प्रारम्भ होता है—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३ ।४ ।२ ।।

यदुक्तं विद्यातः पुरुषार्थ इति नैतदुपपद्यते। उक्तश्रुतीनां क्रत्वङ्गकर्तृस्वरूपयायात्म्यवेदन-विधानपरत्वात्कर्तृसंस्कारद्वारेणात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वात्तत्र फलश्रवणमर्थवादमात्रमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते स्म। तत्र दृष्टान्तः। यथान्येष्वितीति। तदुक्तं "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादि" ति। तत्र द्रव्ये फलश्रुति "र्यस्य पर्णमयी जुहूर्भवती" त्याद्या, संस्कारे च "यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्त" इत्याद्याः। कर्मणि च "वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्त" इत्याद्या यथान्येषु द्रव्यादिषु पर्णमयीद्रव्ययजमानस्याञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपेषु अपापश्लोकश्रवणादिश्रुतिरर्थवादस्तथाऽत्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इत्यर्थः। ब्रह्मज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्पर्णतादिवदित्यनुमानात्। नच कर्मण्यात्मज्ञानस्याप्रयोजकत्वमिति वाच्यम्। आत्मनो देहादिव्यतिरेकज्ञानमन्तरेण परलो गामित्वानिश्चयाज्ज्योतिष्टोमादौ प्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मात्क्रतुप्रवृत्तावात्मज्ञानस्योपकारकत्वात्कर्माङ्गत्वसिद्धिरित्यर्थः।।२।।

नच कर्तुरात्मनोऽन्यो मुमुक्षुवेद्यो मुक्तोपसृप्यो वेदान्तैरुपदिश्यत इति वाच्यम् वेदान्तेष्वेव ब्रह्मज्ञानस्य कर्मप्राधान्यं सूचयद्भिर्लिङ्गैस्तदुपवृंहितसामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदान्ता अपि देहातिरिक्तप्रत्यक्स्वरूपयायात्म्यवेदनपरा इत्यवश्यमङ्गीकरणीयत्वात्। लिङ्गान्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

विद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यह कथन उपपन्न नहीं हो सकता है। 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादि श्रुति क्रतु के अङ्ग कर्ता के यथार्थ स्वरूप के विधानपरक हैं। कर्ता के संस्कार द्वारा आत्मज्ञान कर्म का शेष है। इसलिए आत्मज्ञान में फल श्रवण अर्थवाद मात्र है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं "यथा अन्येष्विति" जैसा कहा

गया है "द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्" यहाँ द्रव्य में फलश्रुति है "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति" इत्यादि संस्कार में फलश्रुति "यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते" इत्यादि। कर्म में फलश्रुति "वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते" इत्यादि जैसे अन्य द्रव्य आदि में पर्णमयी द्रव्य यजमान के अञ्जन आदि संस्कार स्वरूप प्रयाज आदि रूप द्रव्य आदि में अपापश्लोक श्रवण आदि श्रुति अर्थवाद है। उसी प्रकार यहाँ भी पुरुषार्थ श्रुति अर्थवाद है। ब्रह्म ज्ञान कर्माङ्ग है। फल शून्य होकर कर्माङ्गाश्रय होने के कारण पर्णता आदि की तरह इस अनुमान से। यदि कहें कि कर्म में आत्मज्ञान की प्रयोजकता नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। आत्मा में देहादि भिन्न ज्ञान के बिना परलोकगामित्व का निश्चय न होने से ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में प्रवृत्ति नहीं होगी। इसीलिए यज्ञ की प्रवृत्ति में आत्मज्ञान के उपकारक होने से उसमें कर्माङ्गत्व की सिद्धि होती है।।२।।

यदि कहें कि यज्ञकर्त्ता आत्मा से भिन्न मुमुक्षुओं का वेद्य तथा मुक्तों का उपसृप्य है। वेदान्तों के द्वारा उपदेश दिया जाता है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। वेदान्त वाक्यों में भी ब्रह्मज्ञान में कर्म की प्रधानता सूचित करने वाले लिङ्गों के द्वारा उपवृंहित समानाधिकरण्य के निर्देश से वेदान्त भी देहातिरिक्त जीवात्म स्वरूप के यथार्थ ज्ञानपरक हैं। यह अवश्य मानना पड़ेगा। अब इस विषय में लिङ्ग कहते हैं—

आचारदर्शनात् ।३ ।४ ।३ ।।

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे (बृ० ३/१/१), यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मी" (छा० ५/११/५) त्यादिश्रुतिभ्यो जनककेकयादीनां ब्रह्मविद्यावतामपि कर्माचरणदर्शनात्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे (बृ० ३/१/१), यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि" (छा० ५/११/५) इत्यादि श्रुतियों से जनक, केकय आदि ब्रह्मवेत्ताओं का भी कर्माचरण देखा जाता है।।३।।

तच्छ्रुतेः ।३ ।४ ।४ ।।

"यदेव विद्यया करोती"ति (छा० १/१/१०) श्रुतिरेव विद्यायाः कर्मशेषत्वमाह।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"यदेव विद्यया करोति" (छा० १/१/१०), विद्यापूर्वक जो काम किया जाता है, वही श्रेष्ठ होता है। यह श्रुति ही विद्या को कर्म का शेष बताती है।।४।।

समन्वारम्भणात् ।३ ।४ ।५ ।।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेत" इति विद्याकर्मणोः फलारम्भे समुच्चयश्रवणाच्च ।।५।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इस श्रुति में विद्या और कर्म में फल के आरम्भ में समुच्चय का भी श्रवण है।।५।।

तद्वतो विधानात् ।३ ।४ ।६ ।।

"आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान" (छा० ८/१५/१) इत्यादौ वेदज्ञानवतोऽपि कर्मसु विनियोगदर्शनात् ।।६ ।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान" (छा० ८/१५/१) इत्यादि श्रुतियों में वेद का ज्ञान प्राप्त करने वालों की भी कर्म में प्रवृत्ति देखी गयी है।।६।।

नियमाच्च ।३ ।४ ।७ ।।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (ईशा० २), यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती" (आप० ३/१४/८) त्यादिनियमाच्च कर्मत एव फलम्, विद्यायास्तु कर्मशेषत्वम् ।।७।।

इति प्राप्ते आह—

(हिन्दी–अनुवाद)

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः (ईशा० २), यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" (आप० ३/१४/८) इत्यादि नियमों से भी कर्म से ही फल होता है। विद्या कर्म का शेष है।।७।।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३ ।४ ।८ ।।

तुशब्दः पक्षव्यावृत्यर्थः। न विद्यायाः कर्मशेषत्वमुपपद्यते। कुतः? अधिकोपदेशात्। कर्मकर्त्रात्मनः सकाशादत्यन्तविलक्षणस्यातिशयसाम्यशून्यस्य हेयगन्धास्पृष्टमाहात्म्या-नन्ताचिन्त्यापरिमितसद्गुणार्णवस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य वेदान्तैः प्रतिपाद्यमानत्वात्, तज्ज्ञानस्य कर्मानुपयोगात्प्रकरणाद्यभावाच्च कर्मशेषत्वं कल्पयितुमशक्यं, "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं

प्रयाजवदि" ति न्यायात्। आत्मज्ञानं तु स्वप्रकरणगतेनैव "तन्महिमानमिति वीतशोक" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितेन फलेन निराकाङ्क्षं, नान्यशेषत्वं प्रतिपद्यते। स्थितमेवं पुरुषार्थोऽत इति बादरायणस्य मतम्। कथम्? तद्दर्शनात् "एष सर्वेश्वर एष भूतपाल एष भूताधिपतिः स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि (बृ० ३/८/९), भीषाऽस्माद्वातो (तै० २/८/१), यः सर्वज्ञः सत्यकामः सत्यसंकल्प" इत्यादिश्रुतिभि "अहं सर्वस्य प्रभवो (गी० १०/८), मत्तः परतरं नान्यत् (गीता- ७/७), तपाम्यहमहं वर्षं (गीता ९/१९) पितामहस्य जगत" इत्यादिस्मृतिभिश्च सर्वेश्वरत्वादिस्वाभाविकाचिन्त्यानन्तकल्याणरूपधर्मैः श्रीपुरुषोत्तमस्यैवाखिलाविद्याद्यस्पृष्टमाहात्म्यसीम्नः परब्रह्मभूतस्य जीवादधिकतया वेद्यत्वेन प्रतिपाद्यमानत्वदर्शनात्। तादृशधर्माणां हेयसम्बन्धार्हे प्रत्यगात्मनि कथमप्यसम्भाव्यत्वात्। नच तत्त्वमस्यादिना तस्यैव तत्ताविधानादस्मदर्थसिद्धिरिति वाच्यम् तस्य तदात्मकत्वादिभिस्तदपृथक्सिद्धत्वादेकत्वोक्ति, र्न स्वरूपतो ऽभेद इति पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात्। अखिल वेदान्तस्याशेषदोषास्पृष्टमाहात्म्ये ज्ञानैश्वर्यकारुण्यवात्सल्यगुणार्णवे ब्रह्मणि श्रीभगवति समन्वयेन ब्रह्मविद्यायां, क्लेशकर्माद्यशेषहेयधर्माश्रयस्य क्षेत्रज्ञस्य प्रत्यगात्मनो गन्धोऽपि नास्ति।।८।।

तस्मात्तद्भावापत्तिरूपनिःश्रेयसैकप्रयोजनमेवौपनिषदं ज्ञानं, नाप्युक्तलिङ्गानां तत्र प्रामाण्यं, तेषामन्यपरत्वेनोक्तार्थासाधकत्वादित्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द पक्ष व्यावृत्ति के लिए है। विद्या कर्म का शेष नहीं हो सकती है क्योंकि 'अधिकोपदेशात्' अर्थात् कर्मकर्ता जीवात्मा से अत्यन्त विलक्षण, अतिशयसाम्यशून्य, हेयगन्धास्पृष्टमाहात्म्य तथा अनन्त अचिन्त्य अपरिमितसत्य आदि गुणार्णव पुरुषोत्तम तत्त्व वेदान्त वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्यमान हैं। परमतत्त्व पुरुषोत्तम के ज्ञान में कर्म का अनुपयोग होने तथा प्रकरण आदि का अभाव होने से ज्ञान में कर्मशेषत्व की कल्पना असम्भव है। जैसा कि कहा है "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं प्रयाजवत्" इस न्याय से आत्मज्ञान तो निजप्रकरण गत "तन्महिमानमिति वीतशोकः" इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित फल से निराकाङ्क्ष है। इसी लिए उसमें कर्मशेषत्व नहीं हो सकता। "पुरुषार्थोऽतः शब्दात्" इस सूत्र के द्वारा प्रतिपादित बादरायण का मत सिद्ध होता है। क्योंकि 'तद्दर्शनात्' अर्थात् "एष सर्वेश्वर एष भूतपाल एष भूताधिपतिः स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिप, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि (बृ० ३/८/९), भीषास्माद्वातो (तै० २/८/१), यः सर्वज्ञः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इत्यादि श्रुतियों तथा "अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः परतरं नान्यत्, तपाम्यहमहं वर्षं, पितामहस्य जगतः" इत्यादि स्मृतियों से भी सर्वेश्वरत्व आदि स्वाभाविक अचिन्त्य अनन्त कल्याण रूप धर्मों के द्वारा अखिल अविद्या दोषों से रहित परब्रह्म पुरुषोत्तम का जीव से अधिक वेद्य के

रूप में प्रतिपादन किया गया है। उक्त धर्मों का हेयसम्बन्धयुक्त जीवात्मा में कथमपि सम्भव नहीं है। यदि कहें कि तत्त्वमस्यादि श्रुतिवचनों द्वारा जीव को ही ब्रह्म बताये जाने के कारण हमारा प्रयोजन सिद्ध होता है, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। वहाँ पर जीव में ब्रह्मात्मकत्व आदि हेतुओं से उसके अपृथक् सिद्ध होने के कारण एकत्व की उक्ति है। स्वरूपतः अभेद नहीं है। यह बात पहले ही कही गई है। अखिल वेदान्त का अशेषदोषविर्निमुक्त माहात्म्य ज्ञान, ऐश्वर्य, कारुण्य, वात्सल्य, गुणार्णव, ब्रह्म में समन्वय होने से ब्रह्मविद्या में क्लेशकर्म आदि अशेषधर्माश्रय क्षेत्रज्ञ जीवात्मा की गन्ध भी नहीं है।।८।।

इसलिए ब्रह्मभावापत्ति रूप मोक्ष ही एकमात्र उपनिषद् ज्ञान का प्रयोजन है। उक्त लिङ्गों का भी उसमें कोई प्रामाण्य नहीं है। वे सब अन्यपरक हैं। उक्त अर्थ के साधक नहीं हो सकते हैं। यह कहते हैं——

तुल्यन्तु दर्शनम् ।३ ।४ ।९ ।।

न तावद्विद्यावतां कर्मानुष्ठानस्य विद्यायाः कर्माङ्गत्वे लिङ्गत्वमनैकान्तिकत्वात्। "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः काबषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवाञ्चक्रिर" इत्यादौ कर्मानाचरणस्यापि तुल्यत्वदर्शनात्, कर्मानुष्ठानदर्शनं तु फलाभिसन्धिरहितस्य कर्मणो विद्याङ्गत्वात्।।९।।

नापि "येदव विद्यये" ति श्रुतिस्तत्परेत्याह——

(हिन्दी–अनुवाद)

विद्यावानों के द्वारा कर्म का अनुष्ठान विद्या के कर्माङ्गत्व में प्रमाण नहीं हैं, कारण इसमें व्यभिचार है। "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः काबषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवाञ्चक्रिरे" इत्यादि वचनों में कर्म के अनाचरण का भी समान रूप से वर्णन है। कर्मानुष्ठान दर्शन तो फल की अभिसन्धि से रहित कर्म में विद्याङ्गत्व को बताता है।।९।।

"यदेव विद्यया" यह श्रुति भी विद्या के कर्मशेषत्व का प्रतिपादन नहीं करती है। यही बात कहते हैं——

असार्वत्रिकी ।३ ।४ ।१० ।।

सा हि प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रपरा यदेवेति यच्छब्दस्यानिश्चितविशेषस्योद्गीथमुपासीतेति प्रस्तुतोद्गीथविशेषनिष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद्विद्ययेत्यन्वय इति भावः।।१०।।

नापि "तं विद्याकर्मणी" (बृ० ४/४/२) ति श्रुतेस्तत्परत्वं सम्भाव्यं तस्याविभक्ताधिकारित्वादित्याह——

(हिन्दी–अनुवाद)

वह श्रुति केवल प्रकृति उद्गीथ विद्यामात्रपरक है। 'यदेवैति' इस श्रुति में यत् शब्द से किसी विशेष का निश्चय नहीं है। 'उद्गीथं उपासीत' इस वचन के द्वारा प्रस्तुत उद्गीथ विशेष निष्ठ है। 'नहियत् करोति तद् विद्यया', ऐसा अन्वय नहीं है ऐसा भाव है।।१०।।

"तं विद्याकर्मणी" (बृ० ४/४/२) यह श्रुति भी विद्या के कर्मशेषत्व का समर्थन नहीं करती, यह श्रुति अविभक्त अधिकारित्व का प्रतिपादक है—

विभागः शतवत् ।३ ।४ ।११ ।।

यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै, पञ्चाशदन्यस्मै तथा विद्याऽन्यस्मै, कर्म चाऽन्यस्मा, इति विभागो द्रष्टव्य इत्यर्थः। यद्वा विभक्तफलकत्वाद्विद्या स्वफलार्था समारभ्या, कर्म च स्वफलार्थमारभ्यमिति। यथा क्षेत्ररत्नविक्रयिणं शतद्वयमन्वेतीत्युक्ते क्षेत्रार्थं शतं, रत्नार्थं शतमिति विभागस्तथाऽत्रापि।।११।।

(हिन्दी–अनुवाद)

जैसे 'सौ रूपये इन दोनों को दे दीजिए' ऐसा कहने पर विभाग करके दिया जाता है, पचास एक व्यक्ति को तथा पचास दूसरे को, उसी प्रकार विद्या किसी के लिए तथा कर्म किसी अन्य के लिए, ऐसा विभाग समझना चाहिए। अथवा दोनों का फल विभक्त होने से विद्या अपने फल के लिए आरम्भ की जाती है, कर्म अपने फल के लिए। जैसे क्षेत्र तथा रत्न विक्रेता को दो सौ दे दो कहने पर, क्षेत्र के लिए सौ तथा रत्न के लिए सौ ऐसा विभाग होता है। वैसे यहाँ भी समझना चाहिए।।११।।

नाप्याचार्यकुलादित्यादिश्रुतिरुक्तार्थपरेत्याह——

अध्ययनमात्रवतः ।३ ।४ ।१२ ।।

वेदाध्ययनमात्रवतः पुंसस्तद्विषयत्वात् नतु परविद्यावतोऽध्ययनशब्दस्याक्षरराशिग्रहणमात्रेणैव नैराकाङ्क्ष्यादाधानवत्। ननु वेदमधीत्येत्यध्ययनविधिरेवार्थावबोधपर्यन्तमध्ययनं ज्ञापयतीति चेत्? एवमपि न विद्या कर्माङ्गम, र्थज्ञानाद्विद्याया अर्थान्तरत्वात्। यथा ज्योतिष्टोमादिकर्मस्वरूपज्ञानात्फलसाधनभूतकर्मानुष्ठानमर्थान्तरं, तथा ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाद्वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्या पुरुषार्थहेतुभूता विद्याऽर्थान्तरं, मिति न कर्मसम्बन्धगन्धोऽपि तत्र।।१२।।

नापि यावज्जीवश्रुतिरुक्तार्थपरेत्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

"आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य" - श्रुति का भी उक्त अर्थ नहीं है, यह कहते हैं- 'अध्ययनमात्रवतः' वेदाध्ययन मात्र करने वालों के लिए उक्त विषय है, न कि परब्रह्म विषयक विद्यावालों के लिए। अध्ययन शब्द अक्षर राशि के ग्रहण मात्र में ही निराकाङ्क्ष हो जाता है, आधान की तरह। यदि कहें कि 'वेदमधीत्य' यहाँ अध्ययन विधि ही अर्थ के पूर्व ज्ञान पर्यन्त अध्ययन का ज्ञापक है, तो ऐसा नहीं कह सकते। इससे भी विद्या कर्म का अङ्ग है, यह सिद्ध नहीं होता। अर्थज्ञान से विद्या भिन्न है। जैसे ज्योतिष्टोम आदि कर्मस्वरूप ज्ञान से फल साधन भूत कर्मानुष्ठान भिन्न है। उसी प्रकार ब्रह्म स्वरूप विज्ञान से वेदन, ध्यान तथा उपासना आदि वाच्य पुरुषार्थ की हेतुभूत विद्या भिन्न है, इसलिए इसमें कर्म के सम्बन्ध का गन्ध भी नहीं है।।१२।।

'यावज्जीवेदग्निहोत्रम्' यह श्रुति विद्या में कर्माङ्गत्व का समर्थन नहीं है, यह कहते हैं—

नाविशेषात् ।३।४।१३।।

न यावज्जीवश्रुत्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वं निर्णेतुं शक्यं। तस्या अज्ञविद्वत्सामान्येन नियतविद्वद्विषयकत्वायोगादित्यर्थः।।१३।।

ननु सामान्यविषयकत्वेऽपि विदुषोऽपि तदन्तःपातित्वेन तन्नियमस्य तादवस्थ्यमितिचेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

'यावज्जीवं' श्रुति के द्वारा भी विद्या में कर्माङ्गत्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। वह श्रुति अज्ञानी तथा विद्वान् उभय सामान्यपरक होने से उसके द्वारा नियमित रूप से विद्वद्विषयकत्व नहीं कहा जा सकता।।१३।।

यदि कहें कि सामान्य विषयक होने पर भी विद्वान् के ही तदन्तर्गत होने से उक्त विषय तदवस्थ (पूर्ववत्) ही रह गया। ऐसा कहें तो कहते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४।।

वा शब्दोऽवधारणे। ब्रह्मविद्यास्तुतये कर्मणामनुज्ञामात्रत्वात्, यावज्जीवं ब्रह्मविद्यावति पुंसि कर्म कुर्वत्यपि विद्यासामर्थ्यात्कर्मलेपो नास्तीति। तस्याः श्रुतेर्विद्यासामर्थ्य-द्योतनार्थकत्वादित्यर्थः। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत" इत्यादिश्रुतेः, "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते। ब्रह्मण्याधाय

कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसे" (गीता ५/१०) त्यादिस्मृतेश्च।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ 'वा' शब्द अवधारण में है। ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए कर्मों की अनुज्ञामात्र है। जीवन पर्यन्त ब्रह्मविद्या सम्पन्न पुरुष कर्म करने पर भी विद्या के सामर्थ्य से उसमें कर्म का लेप नहीं होता है। उक्त श्रुति विद्या की सामर्थ्य के द्योतनार्थ है। "यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी को पाप नहीं लगता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः। मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते, ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा" आसक्ति छोड़ कर ब्रह्मार्पण भाव से जो कर्म करता है, वह उसी तरह पाप से लिप्त नहीं होता, जैसे जल से कमल का पत्र लिपायमान् नहीं होता।।१४।।

कामकारेण चैके।३।४।१५।।

अपि चैके शाखिनो विदुषामिच्छानुरोधेन प्रजादिपरित्यागमामनन्ति। "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक" (बृ० ४/४/२२) इति विद्याया यदि कर्माङ्गत्वभ्युपगतं स्यात्तर्हि तद्विरोधाद् गार्हस्थ्यत्यागविधानानुपपत्तिः।।१५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

और कतिपय शाखा वाले विद्वान् की इच्छा के अनुरोध से प्रजा के परित्याग का प्रतिपादन करते हैं "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" (बृ० ४/४/२२) इस प्रकार यदि विद्या कर्म का अङ्ग होती, तब तो उससे विरोध होने के कारण, गार्हस्थ्य के त्याग विधि की उपपत्ति नहीं होती।।१५।।

उपमर्दञ्च।३।४।१६।।

संसारबीजस्य कर्मण उपमर्दकत्वं विद्याया आमनन्ति। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २/२/८) इत्यादि। "ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुत" इति स्मृतिश्च विद्यायाः कर्माङ्गत्वे न सङ्गच्छेत।।१६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

संसार के बीजस्वरूप (कारण) कर्म का विद्या के उपकर्मकत्व कहते हैं "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० २/२/८)

"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते" ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। यदि विद्या कर्म की अङ्ग होती तो यह स्मृति संगत नहीं होती।।१६।।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि।।३।४।१७।।

इतश्च विद्यायाः स्वातन्त्र्यम्। कथम्? ऊर्ध्वरेतःसु निवृत्तग्राम्यधर्मेष्वाश्रमेषु ब्रह्मविद्याश्रवणात्। अग्निहोत्रादि कर्म च तेषु न श्रूयते। ते चाश्रमा वैदिके शब्दे दृश्यन्ते। "त्रयो धर्मस्कन्धा (छा० २/२३/), ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते (छा० ५/१०/१), तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये (मु० १/२/११), एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति (बृ० ४/४/२२), ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदि" (जा० ४) त्यादौ। यावज्जीवश्रुतिस्त्वविरक्तेषु कर्म विधत्ते।।१७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए भी विद्या स्वतन्त्र है क्योंकि ग्राम्य धर्म रहित ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का श्रवण है; उन आश्रमों में अग्निहोत्र आदि कर्म श्रूयमान नहीं है। वे आश्रम वैदिक ग्रन्थों में सुने जाते हैं "त्रयो धर्मस्कन्धा (छा० २/२३/), ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, (छा० ५/१०/१), तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्य (मु० १/२/११), एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति (बृ० ४/४/२२), ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" इत्यादि स्थलों में। 'यावज्जीव' श्रुति तो अविरक्त जनों के लिए कर्म का विधान करती है।।१७।।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि।।३।४।१८।।

यदुक्तं "त्रयो धर्मस्कन्धा" (छा० २/२३/१) इत्यादिवैदिकशब्देषु तेषां दर्शनात्ते आश्रमाः सन्त्येवेति, तन्नोपपद्यते। यतः त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिवाक्येषु स्मृत्याचारप्रसिद्धानामाश्रमाणां सामोपासनविधिप्रकरणे वितायमाने ततोऽपकृष्य प्रकृतस्य स्वतन्त्रस्य प्रणवेन ब्रह्मोपासनस्य स्तुत्यर्थं परामर्शमात्रमनुवादमात्रं क्रियते, नतु ते विधीयन्त इति जैमिनिराचार्यो मेने। कुतः? अचोदनात्, विधायकशब्दाभावात्। अपि चापवदति "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयत, 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा ब्यवच्छेत्सी (तै० १/११/१) र्नापुत्रस्य लोकोऽस्ती" त्यादिका श्रुतिराश्रमान्तरम्। "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत" (छा० ५/१०/१) इत्यादि च देवयानविधिपरं, न तत्राश्रमान्तरोपदेशसम्भवः। अतो नोर्ध्वरेतस आश्रमाः सन्तीति जैमिनिमतम्।।१८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह जो कहा "त्रयो धर्मस्कन्धाः" (छा० २/२३/१) अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं इत्यादि वैदिक मन्त्रों में तीन आश्रमों का वर्णन होने से वे तीन आश्रम हैं। उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादि वाक्यों में स्मृति तथा आचार्य प्रसिद्ध आश्रमों के

विस्तृत, साम उपासना विधि प्रकरण में, उससे निकाल कर प्रणव के द्वारा स्वतन्त्र ब्रह्म उपासना की स्तुति के लिए अनुवाद मात्र किया जाता है, न कि उनका विधान किया जाता है। ऐसा जैमिनी आचार्य मानते हैं। इसीलिए विधायक शब्द का अभाव है। बल्कि "वीरहा वा एषो देवानां योऽग्निमुद्वासयत, 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी (तै० १/११/१) र्नापुत्रस्य लोकोऽस्ति" अर्थात् जो अग्नि का परित्याग करता है, वह देवताओं का हत्यारा है, आचार्य को दक्षिणा के रूप में प्रिय धन देकर प्रजा की सन्तति की परम्परा का उच्छेद न करें। अपुत्र को परलोक प्राप्त नहीं होता है इत्यादि श्रुति आश्रमान्तर गृहस्थाश्रम का प्रतिपादन करती है। उसी प्रकार "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" (छा० ५/१०/१) अर्थात् जो अरण्य में जाकर श्रद्धा पूर्वक तप का अनुष्ठान करता है, इत्यादि श्रुति देवयानपरक है। उससे आश्रमान्तर का उपदेश सम्भव नहीं है। इसलिए ऊर्ध्वरेतसः अर्थात् नैष्ठिकब्रह्मचर्य का आश्रम नहीं होता है। ऐसा जैमिनी का मत है।।१८।।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः।।३।४।१९।।

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरमपि गृहस्थाश्रमवदिति भगवान्बादरायणो मन्यते। कुतः? साम्यश्रुतेः। गार्हस्थ्येन तुल्यश्रवणादाश्रमान्तरस्य। "त्रयो धर्मस्कन्धा" (छा० २/२३/१) इत्यत्र यथा श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृश्यत, एवमाश्रमान्तरमपि श्रुत्यन्तरविहितमेव परामृष्टमिति।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैमिनी के उक्त कथन का उत्तर देते हुए वेदव्यास कहते हैं, इस श्रुति में चारों आश्रमों का अनुवाद है। परन्तु अनुवाद भी उसी का होता है, जिसका अन्यत्र विधान होता है। दूसरी श्रुतियों में जैसे गृहस्थ आश्रम का विधान होता है, उसी प्रकार अन्य आश्रमों का भी विधान होता है। इसमें कोई अन्तर नहीं है। अतः जिस प्रकार गृहस्थ आश्रम के धर्म का अनुष्ठान उचित है। उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। आश्रमान्तर भी गृहस्थाश्रम की तरह अनुष्ठेय है। ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं क्योंकि इस विषय में समान श्रुति है। गृहस्थ के समान अन्य आश्रमों का भी श्रवण है। "त्रयो धर्मस्कन्धाः" (छा० २/२३/१) अर्थात् धर्म के तीन स्तम्भ हैं। इस श्रुति में जैसे गृहस्थाश्रम का परामर्श है। उसी प्रकार अन्य आश्रम का भी वर्णन है। इसी प्रकार आश्रमान्तर भी श्रुत्यन्तर से विहित ही है। इसका परामर्श किया गया है।।१९।।

विधिर्वा धारणवत्।।३।४।२०।।

वाशब्दोऽवधारणे। न परामर्शमात्रमाश्रमान्तराणां, किं तर्हि? विधिरेवायं सर्वेषामाश्रमाणां धारणवत्। यथा दृष्टिगताग्निहोत्रे श्रूयते "ऽधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयती" त्यत्राधो धारणेन सहैकवाक्यताप्रतीतावपि तां भित्त्वोपरि

धारणमपूर्वत्वाद्विधीयते। तदुक्तं शेषलक्षणे "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वादि" ति। तद्वदिहाप्यप्राप्तत्वाद्विधिरुपगमनीयः। अपि च "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा बनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रब्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदि" ति प्रत्यक्षैवाश्रमान्तरविधायिनी जावालश्रुति स्तामनपेक्ष्यैवाचार्येणेतर–वाक्येष्वप्याश्रमप्राप्तिरवश्यमाश्रयणीयेत्येतदर्थं विचारः कृतः। तस्मात्सिद्धमूर्ध्वरेतःस्वपि विद्यादर्शनाद्विद्यात एव पुरुषार्थ इति। नन्वेवमपि प्रत्यगात्मज्ञानं विनाऽदृष्टस्वर्गादिफलके यागादिकर्मणि प्रवृत्तेरेवासम्भवादन्यथा कर्मश्रुतेर्बाधस्तवापि वैदिकत्वादनिष्ट एव। तस्माज्ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमवश्यमभ्युपेयमिति चेन्मैबमापाततोक्तेः। तथाहि–ज्ञानं तावद्द्विविधं, देहादिव्यतिरिक्तप्रत्यगात्मत्वंपदार्थविषयकं, प्रत्यगात्मब्रह्मतादात्म्यविषयकं चेति। तत्राद्यस्य देहादिविवेकज्ञानस्य कर्माङ्गत्वेऽपि ततोऽत्यन्तविलक्षणद्वितीयज्ञानस्य न कथमपि पराङ्गत्वमिति राद्धान्तः। "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः, अक्षरात्परतः पर" इत्यादिविवेचकश्रुतेः। "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम" इत्यादिस्मृतेश्च सर्वात्मपरमात्मज्ञानं स्वतन्त्रमेव मोक्षफलकं, परमात्मनश्च तत्फलदातृत्वमिति सिद्धम्।।१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ 'वा' शब्द अवधारण में है, केवल आश्रमान्त्रतरों का परामर्श मात्र नहीं है। फिर क्या है? ये सब धारण की तरह आश्रमों की विधि ही है जैसे दृष्टिगत अग्निहोत्र में सुना जाता है। "अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति" यहाँ अधोधारण के साथ एकवाक्यता की प्रतीति होने पर भी उसका परित्याग कर ऊपर में उसका धारण अपूर्व होने के कारण विधान किया गया है। जैसा कि शेष लक्षण में कहा गया है, "विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्", इसी प्रकार यहाँ भी अप्राप्त होने के कारण विधि मानना चाहिए और भी कहा है। "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्, गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादिव प्रब्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" अर्थात् ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थी होवे, वानप्रस्थी होकर संन्यास लेवे अथवा ब्रह्मचर्य के बाद ही संन्यास ले, गृहस्थाश्रम के बाद ही संन्यास ले अथवा वानप्रस्थी होने के बाद संन्यास लेवें। जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास लेवें। इस प्रकार प्रत्यक्ष ही आश्रमान्तर का विधान करने वाली जाबाल श्रुति का वचन है। इसकी अपेक्षा किये बिना ही आचार्य ने अन्य वाक्यों में भी आश्रम की प्राप्ति अवश्य आश्रयणीय है, इसके लिए विचार किया है। इसीलिए ऊर्ध्वरेतस् आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का दर्शन होने से विद्या से ही पुरुषार्थ होता है। यदि कहें कि फिर भी प्रत्यगात्मा के ज्ञान के बिना अदृष्ट स्वर्ग आदि फल वाले यज्ञादि कर्म में प्रवृत्ति ही असम्भव है। अन्यथा कर्म श्रुति का बाध होगा। जो वैदिक होने से आपके लिए भी अनिष्ट ही है। इसलिए ज्ञान में कर्माङ्ग अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते हैं। यह कथन आपात रमणीय है। जैसे ज्ञान दो तरह के होते हैं। देहादि भिन्न जीवात्मा, तत्वंपदार्थविषयक तथा जीव ब्रह्म तादात्म्य विषयक ज्ञान। इनमें प्रथम

(का) देह आदि विवेक ज्ञान के कर्माङ्ग होने पर भी, उसके अत्यन्त विलक्षण जीव ब्रह्म में तादात्म्य ज्ञान कथमपि कर्माङ्ग नहीं हैं। यह सिद्धान्त है। "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारबन्धस्थितिमोक्षहेतुः, अक्षरात्परतः पर" एवं "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" इत्यादि विवेचक श्रुति स्मृति से सर्वात्मा परमात्मा का ज्ञान स्वतन्त्र ही मोक्ष फलदायक है और परमात्मा में फलदातृत्व है, ऐसा सिद्ध होता है।।१।।

ननु स्यादेतत्परमेश्वरस्य कर्मफलदातृत्वं यदि कर्मनिरपेक्षं स्यान्नतु तदस्ति, तस्य कर्मसापेक्षत्वस्य त्वयाऽप्यभ्युपगम्यमानत्वादन्यथा वैषम्यादिप्रसंगात्तस्मात्कर्मानुसारि-फलदातुरीश्वरस्याभ्युपगमे गौरवमात्रत्वादन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मण एवैकान्तफलहेतु-त्वदर्शनात्कर्माभावे केवलेश्वरस्य फलादातृत्वाभावाच्चाप्रयोजक एवेश्वरः। दृश्यते च लोके कृष्यादिकर्मणः फलहेतुत्वं, तथा वैदिकेऽपि यागादौ तस्यैव स्वातन्त्र्यमनुमेयं। यागादिकं वैदिकानुष्ठानं फलदानार्हं, कर्मत्वात्कृष्यादिवदित्यनुमानात्। न चाऽऽशु विनाशित्वात्तस्य कथं फलदातृत्वमिति वाच्यम्। तस्य विनाशित्वेऽपि तज्जन्यादृष्टलक्षण-संस्कारस्य यावत्फलावाप्तिस्थैर्यत्वाभ्युपगमात्। किञ्च "स्वर्गकामो यजेते" त्यादिविधि-वाक्यमपि स्वर्गादिफलसिद्धये कर्मण एव विधानपरं, नत्वीश्वरस्येति चेन्न। कर्मणो जडत्वेनाकिञ्चित्करत्वादिति पूर्वमेवोक्तम्। किञ्च तज्जन्यादृष्टस्यापि (अकिंचित्करत्वम्) जडत्वाविशेषात्। नाप्युक्तानुमानमत्र प्रमाणमाभासमात्रत्वात्। वृष्ट्याद्यभावेनोपलादिपातेन व्यभिचारदर्शनात्। नापि यजेदित्यादिशास्त्रस्य कर्ममात्रविधायकत्वम् अपि तु परदेवताराधन-परत्वमेव। तथा च यज् देवपूजायामिति धात्वर्थादेव कर्मणः पराङ्गत्वोपलब्धेः। "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामो, वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवैनं भूतिं गमयती" त्यादिषु कामिनः पुंसः सिसाधयिषितफलसाधनत्वप्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षितः। नातत्प्रकारत्वशङ्का युक्ता, एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वकल्पनं च न विदुषां सन्मानार्हमन्याय्यत्वाच्छ्रुतिविरुद्धत्वाच्च। ननु तर्हि देवा एव पुण्यकर्माणः क्षेत्रज्ञविशेषाः कर्मफलदातारः सन्तु, तेषामपि कर्म (द्वारा) ण एव परम्परया फलहेतुत्वसिद्धेस्तेषां जीवत्वसामान्येऽपि पुण्यकर्मबाहुल्यजन्य-शक्त्यैव कर्मफलदातृत्वयोग्यत्वादितिचेन्न। कर्मवश्यानां तेषां पारतन्त्र्याविशेषेण तादृक्शक्त्यसम्भवात्तत्तदन्तर्यामिपरमपुरुष एव फलद इत्युक्तं "फलमत उपपत्तेरि" त्यत्र पूर्वमेव। "इष्टापूर्त्तं बहुधा जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभि, तदेवाग्निस्तद्वा-युस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा" इत्यादिश्रुत्या तदात्मकत्वेन तत्सामानाधिकरण्योक्तेरिति सङ्क्षेपः।।२०।। इति पुरुषार्थाधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि कहें कि ऐसा तो तब सम्भव है यदि परमेश्वर में कर्मफलदातृत्व कर्मनिरपेक्ष हो परन्तु ऐसा तो है ही नहीं। परमात्मा में कर्मसापेक्ष फलदातृत्व है इसे आप भी मानते हैं। अन्यथा परमात्मा में वैषम्य आदि दोष का प्रसङ्ग होगा। इसीलिए कर्म के अनुसार फल देने

वाले ईश्वर को स्वीकार करने में गौरव मात्र ही है। अन्वय व्यतिरेक से कर्म में ही एक मात्र फलहेतुत्व प्रतीत होता है। कर्म के अभाव में केवल ईश्वर में फलदातृत्व के अभाव से ईश्वर अप्रयोजक ही है। लोक में कृषि आदि कर्म में फलदातृत्व देखा भी जाता है। उसी प्रकार वैदिक यागादि में भी कर्म ही स्वतन्त्र फलदाता के रूप में अनुमान होता है। यागादि वैदिक अनुष्ठान फलदान में समर्थ है क्योंकि वह कर्म है। कृषि आदि की तरह इस अनुमान से यागादि कर्म में स्वतन्त्र फलदातृत्व सम्भव है। यदि कहें कि यज्ञादि कर्म शीघ्र विनाशी होने से उसमें फलदातृत्व कैसे होगा, ऐसा नहीं कह सकते। उसके विनाशी होने पर भी तज्जन्य अदृष्ट रूप संस्कार में फल प्राप्ति पर्यन्त स्थिरत्व स्वीकार किया गया है। दूसरी बात "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधि वाक्य भी स्वर्ग आदि फल सिद्धि के लिए कर्म का ही विधान करते हैं, ईश्वर का नहीं। तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। कर्म जड़ होने से फलप्रदान में असमर्थ है। यह बात पूर्व में ही कहीं गयी है और तज्जन्य अदृष्ट भी जड़ होने से अकिञ्चित्कर है। उक्त अनुमान भी उक्त विषय में आभास ही है। वृष्टि आदि के अभाव में ओला आदि के गिरने से कर्म आदि के फल में व्यभिचार देखा जाता है। यजेत इत्यादि शास्त्र भी कर्म मात्र का विधायक नहीं है। अपितु पर देवता परमात्मा के आराधन परक ही है। इस प्रकार 'यजदेवपूजायाम्' इस धात्वर्थ से ही कर्म में पराङ्गत्व की उपलब्धि होती है। "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामो, वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" अर्थात् ऐश्वर्य चाहने वाला व्यक्ति वायु देवता को श्वेतपशु का आलभन करें। वायु शीघ्रगामी देवता हैं। वायु देवता का ही आराधन करें। वही इस जीव को ऐश्वर्य की प्राप्ति कराते हैं इत्यादि श्रुतियों में सकामी पुरुषों के इच्छित फल की सिद्धि के प्रकार का उपदेश भी विधि सापेक्ष है। यहाँ अत्प्रकारत्व की शङ्का उचित नहीं है। इस प्रकार फलसाधनत्व का प्रकार अपेक्षित होने पर भी वह श्रुति के द्वारा ही अवगत होने से, उसका परित्याग एवं अश्रुत अपूर्व कल्पना भी विद्वानों के लिए सम्मानार्ह नहीं है क्योंकि यह न्याय युक्त नहीं है और श्रुति विरुद्ध भी है। यदि कहें कि फिर तो पुण्य कर्मा क्षेत्रज्ञ विशेष देवता ही कर्म के फलदाता मान लिए जायें। उनसे भी कर्म की परम्परा से ही फल हेतुत्व की सिद्धि हो जायेगी। उनमें जीवत्व होने पर भी पुण्यकर्म बाहुल्य जनित शक्ति से ही उनमें कर्मफलदातृत्व योग्यता है। तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वे देवता भी कर्माधीन होने के कारण सामान्य जीव की तरह उनमें भी पारतन्त्र्य सामान्य रूप होने से तादृश कर्म फलदातृत्व शक्ति असम्भव है। इसीलिए जीव के अन्तर्यामी परमपुरुष परमात्मा ही फल प्रदान करता है। ऐसा पहले ही 'फलमत उपपत्ते' इस सूत्र में कहा है। "इष्टापूर्त्तं बहुधा जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः, तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमा" इत्यादि श्रुति के द्वारा सूर्यचन्द्रादि देवताओं के ब्रह्मात्मक होने से तत्सामानाधिकरण्य का कथन किया गया।।२०।।

इस प्रकार से पुरुषार्थ अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।।३।४।२१।।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथ (छा० १/१/३), इयमेवर्गग्निः साम, (छा० १/६/१) अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी" त्येवञ्जातीयकानां वाक्यानां कर्माङ्गभूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रं प्रयोजनमास्थेयमुतोद्गीथादिषु रसतमत्वादिदृष्टिविधानम्? इति संशयः। किं युक्तम्? स्तुतिमात्रमिति। कुतः? उपादानात्। उद्गीथाद्युपादानादि "यमेव जुहुरादित्यः कूर्मः स्वर्गलोक आहवनीय" इत्यादिवत् कर्माङ्गोद्गीथादिसम्बन्धितया रसतमत्वादेरुपादानात् तेषां स्तुतिमात्रं क्रियते, नतु रसतमत्वादिदृष्टिविशेषो विधीयत इति पूर्वः पक्षः। सिद्धान्तस्तु–नापूर्वत्वादिति। नेति पूर्वपक्षनिवृत्तिः। जुह्वादिविधिवदुद्गीथादिविधेरत्रासन्निधानेन रसतमत्वादेरप्राप्तत्वादुपासीतेति प्रत्ययो न स्तुतिमात्रमपि तु तद्दृष्टिविधिरेव। न च प्रदेशान्तरे विहितस्योद्गीथस्य प्रदेशान्तरे स्तुतिरुपयुज्यते। विधायकस्य पदसमूहस्यानन्तरं पुरस्तात्परस्ताद्वा समाम्नातोऽर्थवादस्तेनैकवाक्यतामेति। "यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठे" ति। तदुक्तं "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्यु" (१/३/७) इति।।२१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः, इयमेवर्गग्निः साम (छा० १/६/१), अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः। तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी" इस प्रकार के वाक्यों का कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि की स्तुति मात्र प्रयोजन है। अथवा उद्गीथ आदि में रसमत्व आदि का दृष्टि विधान? ऐसा संशय होता है। इसमें उचित क्या है? तो कहते हैं, स्तुतिमात्र क्योंकि उद्गीथ उपादान है। "इयमेव जुहुरादित्यः कूर्मः स्वर्गलोक आहवनीयः" इत्यादि की तरह कर्माङ्ग उद्गीथ आदि के सम्बन्धी रूप में रसतमत्व आदि का उपादान होने से उनकी स्तुति मात्र किया जाता है, न कि रसतमत्व आदि दृष्टि विशेष का विधान किया जाता है। ऐसा पूर्व पक्ष है। यहाँ सिद्धान्त है। 'नापूर्वत्वात्' यहाँ न शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति में है। जुहू आदि विधि की तरह उद्गीथ आदि विधि का यहाँ पर असन्निधान होने से रसतमत्व आदि के अप्राप्त होने के कारण उपासीत यह प्रतीति केवल श्रुतिमात्र नहीं है किन्तु उसकी दृष्टि विधि ही है। प्रदेशान्तर में विहित उद्गीथ की प्रदेशान्तर में स्तुति उपयुक्त नहीं है। विधायक पद समूह के अनन्तर पहले या पीछे प्रतिपादित अर्थवाद उसी के साथ एक वाक्यता को प्राप्त होता है। जैसे "यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठा" ऐसा कहा है। यही बात "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" (१/३/७) में भी कही है। ।।२१।।

भावशब्दाच्च ।।३।४।२२।।

भावो विधिः। "उद्गीथमुपासीत (छा०/१/१/१) सामोपसीते" (छा० २/२/१) त्यादिविधिशब्दाच्चाप्युपासनविध्यर्थान्युद्गीथादिवाक्यानि।।२२।। इति स्तुतिमात्राधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

भाव कहते हैं विधि को। "उद्गीथमुपासीत (छा०/१/१/१) सामोपासीत" (छा० २/२/१) इत्यादि विधिबोधक शब्द से भी उपासनाविध्यर्थक उद्गीथ आदि वाक्य हैं, यह सिद्ध होता है।।२२।।

इस प्रकार स्तुतिमात्र अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्।।३।४।२३।।

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम (कौषी० ३/१)। जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस, श्वेतकेतुर्हारुणेय आसे" त्यादयो वेदान्तेष्वाख्यानविशेषाः श्रूयन्ते। तेषु संशयः, किमेते पारिप्लवार्था उत तत्र तत्र विद्याविशेषप्रतिपादनार्था इति। तत्राख्यानानि शंसन्तीत्याख्यानसामान्यादाख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्तदर्था इति पूर्वपक्षः। ततश्च मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वान्न विद्याप्राधान्यं वेदान्तानां न्याय्यमिति चेत्तन्न। कुतः? विशेषितत्वात् "पारिप्लवमाचक्षीते" त्युक्त्वा तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजे" त्यादिना कानिचित् मन्वाद्याख्यानान्येव विशेष्यन्ते। अतस्तेषामेव तत्र विनियोगो, नाख्यानसामान्यात्सर्वस्य। अन्यथा विशेषणानर्थक्यम्। तस्मादाख्यानश्रुतयो विद्याविध्यर्था एव, न पारिप्लवार्था इति।।२३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम (कौषी० ३/१) जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस, श्वेतकेतुर्हारुणेय आस" इत्यादि अनेक आख्यान वेदान्त वाक्यों में सुने जाते हैं। उनमें संशय होता है कि क्या ये आख्यान वाचक हैं या विद्या विशेष के प्रतिपादक हैं। यहाँ आख्यानों को जो कहते हैं उन्हें आख्यान कहा जाता है- इसलिए आख्यान शब्द का प्रयोग पारिप्लव में कथित होने से ये पारिप्लवार्थक हैं, ऐसा पूर्वपक्ष होता है। तब मन्त्र भाग की तरह प्रयोग के शेष होने के कारण वेदान्त वाक्यों में विद्या प्राधान्य उचित नहीं है ऐसा कहें तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'विशेषितत्वात्' "पारिप्लवमाचक्षीत" ऐसा कहकर वहीं कहा- "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादि वाक्यों द्वारा कतिपय मनु आदि राजाओं के आख्यान ही कहे जाते हैं। इसलिए उनका ही वहाँ विनियोग है, न कि आख्यान सामान्य के कारण सबका। अन्यथा विशेषण का आनर्थक्य होगा। इसलिए आख्यानबोधक श्रुतियाँ विद्या विधि के लिए ही हैं, पारिप्लव के लिए नहीं।।२३।।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्।।३।४।२४।।

यथा च "सोऽरोदीदि (यजु० १/५/१)" त्येवमादीनां विधिनैकवाक्यत्वार्थवादता तथा "द्रष्टव्य" इत्यादिविध्येकवाक्यतयोपबन्धात्सम्बन्धात्तत्प्रशंसार्थमाख्यानमिति। अतो न पारिप्लवार्थत्वम्।।२४।। इति पारिप्लवाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे "सोऽरोदीत् (यजु० १/५/१)" इत्यादि श्रुति वचनों का विधि वाक्य के साथ एकवाक्यता के कारण अर्थवादत्व है, उसी प्रकार 'द्रष्टव्यः' इत्यादि विधि के साथ एकवाक्यता के कारण सम्बन्ध होने से उसकी प्रशंसा के लिए आख्यान है। इसलिए पारिप्लवार्थत्व नहीं है।।३४।।

इस प्रकार पारिप्लवाधिकरण पूरा हुआ।।३।।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा।।३।४।२५।।

स्तुतिप्रसङ्गादवान्तरसङ्गत्याऽधिकरणद्वयं चिन्तितंमूर्ध्वरेतस आश्रमाः श्रुतिपरिगृहीताः सन्तीत्युक्तमि, दानीं तेषु यज्ञादिकर्माभावात्तदङ्गिका विद्याऽपि सम्भवति न वा? इति संशये, न सम्भवतीति प्राप्ते आह। अत एव चेति। यतो "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति (कठ० २/१५), एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासत" इत्यादिश्रुतिभिस्तेषां विद्यावत्त्वमवगम्यते। अत एव तेष्वग्नीन्धनाद्यनपेक्षा। अग्न्याधानसाध्यकर्मानपेक्षा विद्येति निश्चीयते।।२५।। इत्यग्नीन्धनाधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

स्तुति के प्रसङ्ग से अवान्तर संगति के कारण दो अधिकरणों का चिन्तन किया गया। ऊर्ध्वरेतस् के आश्रम श्रुति परिग्रहीत हैं, यह कहा गया। अब उन आश्रमों में यज्ञ आदि कर्मों के अभाव के कारण कर्माङ्ग वाली विद्या भी सम्भव है या नहीं? ऐसा संशय होने पर सम्भव नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'अत एव च' क्योंकि "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, (कठ० २/१५) एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति, ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इसी लोक की इच्छा करते हुए संन्यासी घर द्वार छोड़कर चले जाते हैं। ब्रह्म में स्थित जीव अमृतत्व को प्राप्त करता है, जो कोई अरण्य में जाकर श्रद्धा से तप की उपासना करता है इत्यादि श्रुतियों द्वारा उनमें विद्या युक्तत्व का ज्ञान होता है। इसलिए उनको अग्नि एवं इन्धन की अपेक्षा नहीं होती। अग्नि आधान साध्य कर्म से अनपेक्ष विद्या होती है, यह निश्चय होता है।।२५।।

इस प्रकार से अग्नीःधन अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्।।३।४।२६।।

यद्येवं केवला विद्या पुरुषार्थं साधयेत्तर्हि किं सर्वथाऽऽश्रमकर्मानपेक्षा उताश्रमकर्माण्यपेक्षतेऽपीति संशये, विद्यायाः स्वातन्त्र्यात्सर्वथानपेक्षेति प्राप्त आह-सर्वापेक्षेति? विद्या स्वोत्पत्तौ सर्वापेक्षा सर्वाणि यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यपेक्षते। उत्पन्ना

सती स्वफलमोक्षसिद्धौ तु निरपेक्षा। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति (बृ० ४/४/२२)। यज्ञादयो विविदिषोत्पादनद्वारा विद्याङ्गतया विनियुज्यन्ते। यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छन्तीति। अतस्तदपेक्षाया इच्छाया इष्यमाणप्रधानत्वादिष्यमाणं ज्ञानमेव तदङ्गकमित्यर्थतोऽवगम्यते। तत्र दृष्टान्तो, ऽश्ववदिति। यथाऽश्वो गमनसाधनभूतो गमनसिद्धयेऽपेक्ष्यते। सिद्धे च गमने स्वगृहादिप्राप्तौ नापेक्ष्यते, तद्वत्।।२६।। इति सर्वापेक्षाधिकरणम्।।५।।

विद्योत्पत्तौ यज्ञादिबहिरङ्गसाधनमुक्तमथान्तरङ्गसाधनमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि इस प्रकार केवल विद्या से ही पुरुषार्थ (मुक्ति) प्राप्त हो जाय, तो क्या आश्रम कर्म की सर्वथा अनपेक्षा होती है। अथवा विद्या की प्राप्ति के लिए आश्रम कर्म की अपेक्षा भी होती है, ऐसा संशय होने पर विद्या स्वतन्त्र होने से सर्वथा उसको कर्म की अपेक्षा नहीं होती, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'सर्वापेक्षेति' विद्या अपनी उत्पत्ति (प्राप्ति) में समस्त यज्ञादि आश्रम कर्मों की अपेक्षा रखती है। विद्या उत्पन्न होने पर, अपने फल मोक्ष की सिद्धि हो जाने पर, कर्मादि निरपेक्ष हो जाती है क्योंकि 'यज्ञादिश्रुतेः' "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने"ति (बृ० ४/४/२२)। वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप तथा उपवास आदि व्रतों के द्वारा ब्राह्मण उस परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं। यज्ञ आदि विविदिषा उत्पादन द्वारा विद्या के अङ्ग रूप में विनियुक्त होते हैं। यज्ञ आदि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए कर्म की इच्छा में इष्यमाण प्रधान होने से इष्यमाण ज्ञान ही कर्माङ्गक है, यह अर्थतः अवगत होता है। इसमें दृष्टान्त है 'अश्ववत्' जैसे यात्रा का साधन भूत अश्व यात्रा (गमन) की सिद्धि के लिए अपेक्षित है। गमन सिद्ध होने पर निज गृह आदि की प्राप्ति हो जाने पर उसकी अपेक्षा नहीं करता। उसी प्रकार विद्या की उत्पत्ति में कर्मादि की अपेक्षा होती है।।२६।।

इस प्रकार से सर्वापेक्षा अधिकरण पूरा हुआ।।५।।

विद्या की उत्पत्ति में यज्ञ आदि बहिरङ्ग साधन कहा, अब अन्तरङ्ग साधन कहते हैं—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्।।३।४।२७।।

यद्यपि यज्ञादिभिः स्वाश्रमविहितकर्मभिरेव शुद्धान्तःकरणस्य विद्या स्यात्तथाऽपि तु मुमुक्षुः शमदमाद्युपेतः स्यात्। कुतः? तदङ्गतया तद्विधेः। "तदस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मनां पश्येदि" (बृ० ४/४/२३) ति विद्याङ्गतया

शमादीनां विधानाद्विहितानां च तेषां विद्यानिर्वृतयेऽवश्यानुष्ठेयत्वात्। विद्याया एकाग्रतानिष्पाद्यत्वाच्छमादिभिरेव तन्निष्पत्तिः। यज्ञादिकर्माण्यपि पापनिर्हरणद्वारेणैकाग्रतामापादयन्तीति भावः।।२७।। इति शमदमाद्यधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यद्यपि यज्ञ आदि अपने आश्रम विहित कर्मों द्वारा ही अन्तःकरण शुद्ध होने से विद्या की उत्पत्ति हो जायगी, तथापि मुमुक्षु जनों को शमदम आदि गुणों से युक्त होना चाहिए क्योंकि विद्या की सिद्धि में वे अङ्ग हैं। "तदस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" (बृ० ४/४/२३) इस श्रुति द्वारा विद्या के अङ्गरूप में शम-दम आदि का विधान होने से विद्या प्राप्ति के लिए उन सबका अनुष्ठान आवश्यक है। विद्या एकाग्र मन से ही निष्पाद्य होती है। अतः शम आदि के द्वारा ही उसकी निष्पत्ति होती है। यज्ञ आदि कर्म भी पाप के अपाकरण द्वारा एकाग्रता प्राप्त कराते हैं।।२७।।

इस प्रकार शम दम आदि अधिकरण पूरा हुआ।।६।।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात्।।३।४।२८।।

वाजसनेयिनां प्राणविद्यायां "न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति (बृ० ६/१/१४)" तथा छान्दोग्यानां "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवती" (छा० ५/२/१) ति प्राणविदः सर्वान्नभोजनानुमतिः श्रूयते। सा किं प्राणविद्यावतां सर्वदा कर्त्तव्या उत प्राणात्ययापत्ताविति विशये, विशेषाश्रवणात्सर्वदेति प्राप्ते समाधत्ते-सर्वान्नेति। चशब्दोऽवधारणार्थः। प्राणात्यय एव सर्वान्नानुमतिः सर्वान्नभक्षणानुज्ञा, न सर्वदा। कुतः? तद्दर्शनात्, ब्रह्मविदामपि प्राणात्ययापत्तौ तथात्वश्रवणात्। किं पुनः प्राणविदः। "उषस्तिः किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु कुरुषु" (छा० १/१०/१) मटच्यो रक्तक्षुद्रपक्षिणस्तैर्हतेषु कुरुदेशस्थसस्येषु दुर्भिक्षदूषितेषु कुरुष्वित्यर्थः। इभ्यग्रामे वसन्नशनेन प्राणसंशयापन्नो ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये प्राणानामनवसादमाकाङ्क्षमाण इभ्यं कुल्माषान् खादन्तं भिक्षमाणस्तेनोच्छिष्टेभ्योऽन्ये न विद्यन्त इति प्रत्युक्तः। पुनरपि "एतेषां मे देही" त्युक्त्वा तेन चेभ्येनोच्छिष्टेभ्य आदाय दत्तान् कुल्माषान्प्रतिगृह्यानुपान-प्रतिग्रहमिभ्येनार्थित, उच्छिष्टं मे पीतं स्यादिति वदंश्चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इतीभ्येन पर्यनुयुक्तो 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १/१०/४) कामो म उदपानमिति कुल्माषाऽखादने स्वस्य प्राणसंशयापत्तिस्तावन्मात्रखादनेन धृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपानं कामचारं निषिद्धं स्यादित्युक्त्वा स्वभुक्तशेषं जायायै दत्त्वा, तया च रक्षितान्दिनान्तरे पुनरपि प्राणसङ्कटे तया दत्तान्तानेवेभ्योच्छिष्टान्स्वोच्छिष्टांश्च चखादेति ब्रह्मविदां प्राणसङ्कट एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषदर्शनेऽपि प्राणात्यय एव प्राणविदोऽपि तथात्वमिति निश्चेयम्।।२८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वाजसनेयी शाखा की प्राणविद्या में आया कि "न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति (बृ० ६/१/१४)" ब्रह्मज्ञानी के लिए कोई अन्न अखाद्य या अग्राह्य नहीं होता। तथा छान्दोग्यों में "न ह वा एवंविदि किञ्चानानन्नं भवति" (छा० ५/२/१) ब्रह्मज्ञानी के लिए कोई अन्न अखाद्य नहीं होता। इस प्रकार प्राणविद्या जानने वालों के लिए सर्वान्न खाने की अनुमति दी गई है। क्या वह प्राणविद्या वालों के लिए सर्वदा कर्तव्य है। अथवा प्राण बाधा उपस्थित होने पर ही। ऐसा संशय होने पर कोई विशेष वचन श्रवण नहीं होने पर सर्वदा खाद्य है, ऐसा प्राप्त होने पर समाधान करते हैं 'सर्वान्नेति'। यहाँ च शब्द अवधारण में है। प्राणसंकट में ही सर्वान्न भक्षण की अनुमति है, नकि सर्वदा क्योंकि 'तद्दर्शनात्', ब्रह्मज्ञानियों के लिए भी प्राणबाधा की उपस्थिति में ही उसकी अनुज्ञा का श्रवण है। फिर प्राणविद्या वालों का तो कहना ही क्या। "उषस्तिः किल चाक्रायणो ब्रह्मविदग्रेसरो मटचीहतेषु कुरुषु" (छा० १/१०/१) श्रुति में एक कथा आती है कि किसी समय कुरु देश में टिड्डियों के गिरने अथवा ओले पड़ने से भारी अकाल पड़ गया। उस समय उषस्ति नाम वाले एक विद्वान् ब्राह्मण अपनी पत्नी आटनी के साथ इभ्य ग्राम में रहते थे। वे दरिद्रता के कारण बड़े संकट में थे। कई दिनों से भूखे रहने के कारण उनके प्राण जाने की सम्भावना हो गई। तब वे एक महावत के पास गये। वह उड़द खा रहा था। उन्होंने उससे उड़द माँगा। महावत ने कहा, मेरे पास इतना ही है। इसे मैंने पात्र में रखकर खाना प्रारम्भ कर दिया। यह जूठा अन्न आपको कैसे दूँ? उषस्ति बोले, इन्हीं में से मुझे दे दो। महावत ने उड़द उनको दे दिये और कहा, यह जल भी प्रस्तुत है पी लीजिए। उषस्ति ने कहा, नहीं यह जूठा है। इसमें जूठा पानी पीने का दोष लगेगा। यह सुनकर महावत बोला, क्या यह उड़द जूठे नहीं थे? उषस्ति ने कहा, इनको नहीं खाने से मेरा जीना असम्भव था किन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी इच्छानुसार मिल सकता है इत्यादि। (छा० १/१०/१ से ७ तक वर्णित है।) उड़द न खाने से स्वयम् की प्राण सङ्कट की आपत्ति थी। इसकी निवृत्ति मात्र के लिए खाने से धृतप्राण (के) जूठा उदक पान में कामाचार (स्वच्छन्दता) निषिद्ध है, ऐसा कहकर अपना भुक्तशिष्ट उड़द पत्नी को दिया। दूसरे दिन भी पुनः प्राण सङ्कट उपस्थित होने पर पत्नी द्वारा रक्षित महावत तथा स्वयम् के जूठे उड़द को खा लिया। इस प्रकार से ब्रह्मज्ञानियों को प्राणसङ्कट में ही सर्वान्न खाने की अनुमति है। किन्तु यहाँ कोई विशेष दर्शन न होने पर प्राणविदों को भी प्राणसङ्कट में ही खाना चाहिए, ऐसा निश्चय होता है। (श्रुति की इस कथा से यह सिद्ध होता है कि प्राणात्यय में ही सर्वान्न भक्षण किया जा सकता है अन्यथा नहीं। अतएव वहाँ जो कहा गया है, इस रहस्य (प्राणविद्या) को जानने वालों के लिए कोई अभक्ष्य नहीं होता, उसका अभिप्राय प्राणविद्या के ज्ञान की स्तुति करने में है, न कि अभक्ष्य भक्षण के विधान में क्योंकि वैसा रहने पर अभक्ष्य का निषेध करने वाले शास्त्र वचनों के साथ विरोध होगा। इसलिए साधारण परिस्थिति में मनुष्य को अपने आचार एवं आहार की पवित्रता के संरक्षण में नियम का त्याग कदापि नहीं करना चाहिए)।।२८।।

अबाधाच्च ।।३।४।२९।।

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरि" (छा० ७/२६/२) त्याहारशुद्धिविधेरबाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नीनत्वं प्राणसङ्कटविषयमेव। एवमतिशयितशक्तेर्ब्रह्मविदोऽपि ह्युच्छिष्टपरिग्रहभक्षण-योरापद्येव दर्शनादल्पशक्तेः प्राणविदः किं पुनरिति।।२९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" (छा० ७/२६/२) इस आहार शुद्धि विधि के बाध न होने से भी ब्रह्मवेत्ताओं के लिए सर्वान्न भक्षण प्राणसङ्कट में ही विहित है। इस प्रकार अतिशय शक्तिशाली ब्रह्मवेत्ता उषस्ति को भी उच्छिष्ट परिग्रह तथा भक्षण का आपत्तिकाल में ही प्रतिपादन होने से अल्पशक्ति प्राणवेत्ता के लिए क्या कहना ?।।२९।।

अपि च स्मर्य्यते।।३।४।३०।।

"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मत्रमिवाम्भसे"ति प्राणसङ्कट एव सर्वान्नभक्षणं स्मर्यते।।३०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः। लिप्यते न स पापेन पद्मत्रमिवाम्भसा" प्राण सङ्कट आने पर जो जहाँ-तहाँ से अन्न प्राप्त कर खाता है, वह पाप से लिपायमान नहीं होता, इस वचन के द्वारा प्राण सङ्कट में ही सर्वान्न भक्षण का समर्थन है।।३०।।

शब्दाश्चातोऽकामकारे।।३।४।३१।।

यतो ब्रह्मविदामन्येषां च सर्वान्नानुमतिः प्रणात्यय एवातोऽकामकारे यथेष्टाचरणनिवृत्तौ कठसंहितायां श्रूयमाणशब्दश्चोपपद्यते "तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा" इतीति पाप्मना संसृष्टो न भवामीति मत्त्वा सुरां न पिबतीत्यर्थः। "अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः। एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं विवर्जयेदि"ति स्मृतिश्च। "तस्मान्न ह वा अस्यानन्नं जग्धमि" त्येवञ्जातीयकाः प्राणविद्यास्तुत्यर्था अर्थवादा एव, न शमादिवत् प्राणविद्याङ्गतया सर्वान्नभक्षणविधयः।।३१।। इति सर्वान्नानुमत्यधिकरणम्।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्योंकि ब्रह्मवेत्तओं तथा अन्यों को भी प्राण संकट में ही सर्वान्न भक्षण की अनुमति है। इसलिए यथेच्छ आचरण की निवृत्ति में कठसंहिता में श्रूयमाण शब्द की उपपत्ति होती है। "तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा" अर्थात् पाप से लिपायमान न होऊँ, ऐसा

मानकर ब्राह्मण सुरा का पान न करें। इसी प्रकार स्मृति वचन भी है "अतीतानागतज्ञानी त्रैलोक्योद्धरणक्षमः। एतादृशोऽपि नाचारं श्रौतं स्मार्त्तं विवर्जयेत्" भूत भविष्य का ज्ञाता हो, त्रिभुवन के उद्धार की क्षमता हो, फिर भी श्रौत स्मृति आचार का परित्याग नहीं करें। इसलिए "तस्मान्न ह वा अस्यानन्नं जग्धम्" इस प्रकार के वचन प्राणविद्या की स्तुति के लिए अर्थवाद ही हैं, न कि शम दम आदि की तरह प्राणविद्या के अङ्ग रूप में सर्वान्न भक्षण विधि है।।३१।।

इस प्रकार सर्वान्न अनुमति अधिकरण पूरा हुआ।।७।।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि।।३।४।३२।।

यज्ञादिश्रुतेरिति यज्ञाद्याश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वमुक्त मिदानीं तानि यज्ञादिकर्माणि केवलाश्रमनिष्ठेन मुमुक्षुणाप्यनुष्ठेयान्युत नेति चिन्त्यते, तत्र विद्याङ्गभूतानां तेषां केवलाश्रमस्याप्यङ्गत्वे नित्यानित्यसंयोगविरोधः प्रसज्यत इति न केवलाश्रमधर्मा यज्ञादय इति प्राप्ते आह, आश्रमकर्मापीति। यज्ञादि आश्रमस्य कर्मापि केवलगृहस्थाश्रममात्र-निष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्त्तव्यमेव। कुतः? विहितत्वात्। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोती" त्यादिना केवलाश्रमिणोऽपि जीवननिमित्ततया नित्यवद्विहितत्वात्।।३२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'यज्ञादि श्रुतेः' यज्ञादि श्रुति के द्वारा यज्ञ आदि आश्रम कर्मों में विद्याहेतुत्व का प्रतिपादन किया गया। अब वे यज्ञ आदि कर्म केवल आश्रमनिष्ठ मुमुक्षुओं के लिए ही अनुष्ठेय हैं अथवा नहीं, यह विचार किया जाता है। यहाँ विद्या के अङ्गभूत उन कर्मों के केवल आश्रम का ही अङ्ग होने पर नित्यानित्य संयोग विरोध का प्रसङ्ग होगा। इसलिए यज्ञ आदि केवल आश्रम धर्म ही नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, 'आश्रम कर्मापि' यज्ञ आदि आश्रम के कर्म भी हैं। केवल गृहस्थाश्रम मात्र निष्ठ अमुमुक्षु के लिए भी कर्तव्य ही हैं, क्योंकि विहितत्वात्- "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" केवल आश्रमी का अमुमुक्षु होने पर भी जीवन निमित्त होने के कारण नित्य कर्म की भाँति विहित है।।३२।।

सहकारित्त्वेन च।।३।४।३३।।

"तमेतं वेदानुवचनेने" (बृ०/४/४/२२) त्यादिना विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाच्च विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयं यज्ञादिकर्म, नाप्यत्र नित्यानित्यसंयोगविरोधः कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात् "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमि"ति न्यायात्। संयोगभेदो हि तुल्यबलवाक्यद्वयेन विनियोगपृथक्त्वं तथा हि यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो नित्यः संयोगो, न तस्य विद्याफलत्वं "तमेतं वेदानुवचनेने" त्यादिवाक्यकल्पितस्त्वनित्यस्तस्य विद्याफलत्वं, यथैकस्यापि "दध्नो दध्ना जुहोती" ति नित्येन विनियोगेन क्रत्वर्थता

दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यनित्येन विनियोगेन पुरुषार्थता तद्वत्। अतः सति वाक्यद्वये विनियुक्तविनियोगो न विरुध्यते।।३३।।

ननु नित्याग्निहोत्रादिभ्यो भिन्ना एवापूर्वयज्ञादयो विविदिषायां विनियुज्यन्तां तत्र कुतो विनियुक्तविनियोगस्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"तमेतं वेदानुवचनेन" (बृ०/४/४/२२) इत्यादि वचनों द्वारा विद्या के साधन रूप में विहित होने के कारण विद्या की उत्पत्ति द्वारा विद्या के सहाकारी रूप में यज्ञादि कर्म अवश्य अनुष्ठेय हैं। इसमें नित्यानित्य संयोग विरोध भी नहीं है। कर्म में अभेद होने पर भी संयोग में भेद है। "एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्" यह न्याय है। संयोगभेद का अर्थ है– तुल्य बल वाले वाक्यद्वय से विनियोग का पृथक्त्व। 'यावज्जीव' आदि श्रुति वाक्य कल्पित नित्य संयोग है। उसमें विद्याफलत्व नहीं है। "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि वाक्य द्वारा कल्पित तो अनित्य है, उसमें विद्याफलत्व है। जैसे "दध्नो दध्ना जुहोति" इस नित्य विनियोग से एक में भी क्रत्वर्थता होती है तथा 'दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' इस अनित्य विनियोग से उसी प्रकार से पुरुषार्थता होती है। इसलिए वाक्यद्वय होने पर विनियुक्त विनियोग विरुद्ध नहीं होता।।३३।।

यदि कहें कि नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म से भिन्न ही अपूर्व यज्ञ आदि विविदिषा में विनियुक्त किये जायें तो वहाँ विनियुक्त का विनियोग कैसे, इस पर कहते हैं —

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्।।३।४।३४।।

सर्वथाऽपि विद्यासहकारित्व आश्रमकर्मत्वेऽपि त एव यज्ञादयो धर्मा अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारणेन कर्मस्वरूपभेदनिरासः। यथा "कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुहोती"ति होमान्तरं तद्वदिह न भवतीत्यर्थः। कुतः? उभयलिङ्गात्। उभयत्र श्रुतौ यज्ञादिशब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य तेषामेव विनियोगात् लिङ्गात्।।३४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

सर्वथा ही विद्या सहकारी होने पर आश्रम कर्म में भी वे ही यज्ञ आदि धर्म अनुष्ठेय हैं। 'त एव' इस अवधारण वाक्य से कर्मस्वरूप में भेद का निरास होता है। जैसे "कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रे जुहोति" यह होमान्तर है, वैसे यहाँ नहीं होता है क्योंकि 'उभयलिङ्गात्' श्रुति में दोनों जगह यज्ञ आदि शब्दों द्वारा पहचान कराके उनका विनियोग है, लिङ्ग है।।३४।।

अनभिभवं च दर्शयति।।३।४।३५।।

"धर्मेण पापमपनुदती" त्यादिना तैरेव यज्ञादिभिर्विद्याया अनभिभवं पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबन्धाभावं दर्शयति। अत उभयत्र विनियोगाद्यज्ञादयस्त एव मुमुक्षूणां केवलाश्रमिणां चानुष्ठेयाः।।३५।। इति विहितत्वाधिकरणम्।।८।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"धर्मेण पापमपनुदति" धर्म से पाप दूर होता है, इत्यादि वचनों द्वारा, उन यज्ञादियों के द्वारा ही विद्या के पापकर्म जनित उत्पत्ति के प्रतिबन्ध के अभाव को दिखाते हैं। इसलिए दोनों जगह विनियोग होने से वे यज्ञ आदि ही केवल आश्रमी मुमुक्षुओं के लिए अनुष्ठेय है।।३५।।

इस प्रकार से विहितत्व अधिकरण पूरा हुआ।।८।।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः।।३।४।३६।।

अथ चानाश्रमिणां विद्यायामधिकारोऽस्ति न वा? इति विशये किं प्राप्तं, नास्तीति। कुतः? तेषां विद्याऽसाधारणहेत्वाश्रमधर्माभावादिति प्राप्त, इदमुच्यते। अन्तरा चापि त्विति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। चशब्दो नियोगे। अन्तरा आश्रमधर्मान्तराले विनष्टदाराकृतदारत्वात् अनाश्रमित्वेन वर्त्तमानानामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव। कुतः? तद्दृष्टेः। दृश्यते हि उर्द्ध्वरेतसां रैक्वभीष्मसम्वर्तवाचक्नवीप्रभृतीनामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम्। नच तेषां विद्यानुग्रहाकधर्माभाव इति वाच्यम्। यज्ञहोमाद्यनैकान्तिकधर्माभावेऽपि जपोपवासदानदेवाराधनादीनामैकान्तिकानामाश्रमानियतानां विद्यानुग्राहकधर्माणां तेष्वपि सत्त्वात्।।३६।।

(हिन्दी–अनुवाद)

अब अनाश्रमियों को विद्या में अधिकार है या नहीं, ऐसा संशय होने, पर, क्या प्राप्त है? नहीं है क्योंकि विद्या के असाधारण हेतु आश्रम धर्म के अभाव के कारण, ऐसा प्राप्त होने पर यह कहते हैं 'अन्तरा चापित्विति' तु शब्द पक्ष की व्यावृत्ति करता है। च शब्द नियोग में है। आश्रम धर्म के अन्तराल में रहने वाले अर्थात् पत्नी के मर जाने पर विवाह न करने के कारण अनाश्रमी के रूप में वर्तमान मनुष्यों को भी विद्या में अधिकार है ही। क्योंकि 'तद्दृष्टेः' ऊद्ध्वरितास्नैष्ठिक ब्रह्मचारियों रैक्वभीष्मसम्वर्त तथा वाचक्नवी आदि महापुरुषों को विद्यानिष्ठ देखा गया है। यदि कहें कि उनमें विद्या के अनुग्राहक धर्म का अभाव है, तो ऐसा नहीं कह सकते। यज्ञ होम आदि अनैकान्तिक धर्म के अभाव होने पर भी जप, उपवास, दान, देवाराधन आदि आश्रमों में अनियत विद्यानुग्राहक धर्म उनमें भी है।।३६।।

अपि च स्मर्य्यते।।३।४।३७।।

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यत" इति विधुरादीनामनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते।।३७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते"

ब्राह्मण गायत्री जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। अन्य कोई साधन करे या न करें। सन्ध्या करे या न करे, वह ब्राह्मण ही कहा जाता है। इसप्रकार से विधुर आदियों का तथा अनाश्रमियों का जप आदियों के माध्यम से ही विद्या का अनुग्रह प्राप्त होता है।।३७।।

विशेषानुग्रहश्च।।३।४।३८।।

श्रूयते चानाश्रमनियतधर्माविशेषैस्तेषां विद्यानुग्रहः "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादि"ति। प्राग्जन्मानुष्ठितैरप्याश्रमधर्मैरिह विद्योदयः सम्भवति। "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति पराङ्गतिमि" ति (गी० ६/४५) स्मृतेः।।३८।।

तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारोऽस्त्येवेति। तथाऽप्याश्रमित्वानाश्रमित्वयोराश्रमित्वस्यैव वैशिष्ट्यमित्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

अनाश्रमियों के लिए नियत धर्म विशेष से भी उनका विद्यानुग्रह (विद्या की प्राप्ति) सुना जाता है "तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यात्" तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा (भक्ति), विद्या- इन सबमें परमात्मा का अन्वेषण करें और पूर्वजन्म में अनुष्ठित आश्रम धर्मों से ही इन जन्म में विद्या का उदय सम्भव है "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति पराङ्गतिमि" ति (गी० ६/४५)स्मृतेः।।३८।।

इसलिए विधुर आदि को भी विद्या का अधिकार है ही, फिर भी आश्रमित्व एवं अनाश्रमित्व में आश्रमी में ही वैशिष्ट्य है। यह कहते हैं—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गात्।।३।४।३९।।

अतोऽनाश्रमित्वादितरादाश्रमित्वमेव ज्यायो वरिष्ठं, भूयोधर्मकाऽल्पधर्मकयोरतुल्य-कार्यत्वात्। लिङ्गात् श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्च। "तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्चे" ति देवयानेन पथा गमनमाश्रमिणामेव दर्शयति। कथं गम्यते? "ये चेमेऽरण्य" इत्यरण्यवासिनामेव ग्रहणाच् "चत्वार आश्रमा" इति नियमात्। "अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। सम्वत्सरमनाश्रमीस्थित्वा कृच्छ्रं समाचरेदि"ति निन्दावचनाच्चाश्रमित्वेनैव भाव्यम्। अपि च विनष्टदारा अकृतदारा वा विधुरादयः केनचिद्धेतुनाऽऽश्रमप्रतिपत्त्यसम्भवे तेषामप्यपवर्गो जपादिसाधारण धर्मैर्विद्यानुग्रहादवगम्यते। तथाह याज्ञवल्क्यो "नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः। अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत्"। इतिहासे च "विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च। आर्जवे वर्त्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनमि" ति।।३९।। इति विधुराधिकरणम्।।९।।

अथ च नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकानां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्मविद्याया-

मधिकारोऽस्ति न वेति विशये, ऽस्तीति विधुरादिवदनाश्रमधर्मैर्जपादिभिस्तेषामपि विद्यानुग्रहसम्भवादिति प्राप्त, आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

इतर अनाश्रमी से भूयोधर्मक और अल्पधर्मक में अतुल्य असमान कार्य होने से आश्रमी (गृहस्थाश्रमी) श्रेष्ठ हैं। इस विषय में श्रुति एवं स्मृति भी लिङ्ग (प्रमाण) है "तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च" पुण्यकर्ता देवयान मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करता है। यहाँ देवयान मार्ग से आश्रमी का ही परलोकगमन श्रुति बताती है। कैसे जानते हैं "ये चेमेऽरण्ये" यहाँ अरण्यवासियों का ही ग्रहण है तथा चार आश्रम हैं, ऐसा नियम है। "अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः। सम्वत्सरमनाश्रमी कृच्छ्रं समाचरेत्" ऐसा निन्दा वचन भी है। इसलिए आश्रम में रहकर जीवन बिताना चाहिए। मृतभार्य अथवा अविवाहित विधुर आदि का किसी हेतु से आश्रम प्रतिपत्ति सम्भव न होने पर उनका भी जप तप आदि साधारण धर्मों के द्वारा विद्यानुग्रह जाना जाता है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा "नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्द्विजः। अतो यदात्मनोऽपथ्यं परस्य न तदाचरेत्" आश्रम धर्म में कारण नहीं है। जो अपने लिये अहितकर हो, वह कार्य दूसरों के लिए भी न करें। इतिहास में कहा है "विद्यावृत्तिविनीतस्य निगृहीतेन्द्रियस्य च। आर्जवे वर्त्तमानस्य आश्रमैः किं प्रयोजनम्" विद्या एवं वृत्ति (चरित्र) से विनीत तथा जितेन्द्रिय एवं कुटिलता से रहित जनों के लिए आश्रम से क्या प्रयोजन ?।।३९।।

इस प्रकार विधुर अधिकरण पूरा हुआ।।९।।

अब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत, वानप्रस्थ व्रत तथा संन्यास कर्म से च्युत जनों को ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं, ऐसा संशय होने पर, विधुर आदि की तरह उनका भी अनाश्रमियों के धर्म जप, तप आदि के द्वारा विद्या का अनुग्रह सम्भव है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं——

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः।।३।४।४०।।

तु शब्दः पक्षनिषेधार्थः। तद्भूतस्य नैष्ठिकादिधर्मनिष्ठस्य नातद्भावः। अनाश्रमितयाऽवस्थितिर्न सम्भवति। कुतः? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्। तद्रूपा भावा-नैष्ठिकादिधर्माभावास्तेभ्यः शास्त्रैर्नियमात् नैष्ठिकादिबृहद्धर्मनिष्ठान्स्वाश्रम-धर्मत्यागान्नियच्छन्ति शास्त्राणि। "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य-कुलेऽवसादयन्नि" (छा० २/२३/१) ति नैष्ठिकस्या, "ऽरण्यमीयान्न ततः पुनरेयादि"ति वैखानसस्य, "संन्यस्याग्निं न पुनरावर्त्तयेदि" ति परिव्राजकस्य। अतो विधुरादिवत्तेषामना-श्रमित्वासम्भवान्न ब्रह्मविद्याधिकारः। जैमिनेराचार्यस्याप्येतत्सम्मतम्। "किञ्च ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि" (जा० ४) त्याद्यारोहणविधिवदवरोहणविध्यदर्शनात् शिष्टाचाराभावाच्च।।४०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द पक्ष निषेध के लिए है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत धर्मधारी के लिए अनाश्रमी होकर रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि 'तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्, तद्रूप भाव' अर्थात् नैष्ठिक आदि धर्मों का अभाव उन शास्त्रों द्वारा नियम (संयमित) है। यानी नैष्ठिक आदि बृहद् धर्मनिष्ठ जनों के लिए अपने अपने धर्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि व्रत के त्याग पर शास्त्र का कड़ा आदेश है "ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्" (छा० २/२३/१) ब्रह्मचारी आचार्य कुल में निवास कर अपने शरीर को (त्याग तप के द्वारा) अत्यन्त क्षीण कर देता है, यह धर्म का तीसरा स्कन्ध है। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी अरण्य को जाय वहाँ से पुनः नहीं लौटे। इस प्रकार वैखानस (वानप्रस्थी) एवं 'संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेत्' संन्यास लेकर पुनः गृहस्थ धर्म में नहीं लौटे, ऐसा वचन है, इसलिए विधुर आदि की तरह उनका अनाश्रमित्व सम्भव नहीं है। अतः ऐसे ब्रह्मचर्य व्रत भ्रष्ट, संन्यास भ्रष्ट लोगों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है। इस बात से जैमिनि आचार्य भी सहमत हैं क्योंकि 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृही हो गृहस्थ समाप्त कर वानप्रस्थी हो और वानप्रस्थ आश्रम से संन्यासी हो, ऐसा आरोहण विधि की तरह अवरोहण विधि नहीं है अर्थात् संन्यास या वानप्रस्थ आश्रम से गृहस्थाश्रम स्वीकार करना निषिद्ध है। और शिष्टाचार भी ऐसा नहीं है।।४०।।

नन्वधिकारलक्षणे "अवकीर्णी पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वादि" (जै० ६/८/२२) ति "ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेते" त्यादिना प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्त-विधानात्कृतप्रायश्चित्तस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारः स्यादित्याशङ्क्याह—

यदि कहें कि जैमिनी सूत्र में अधिकार लक्षण में "अवकीर्णी पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्" (जै० ६/८/२२) यह जैमिनी का सूत्र है। यहाँ अवकीर्णी अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत से च्युत व्यक्ति के लिए "ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत" अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य से च्युत होने पर गर्दभ का आलभन करे। इस स्मृति में विहित नैर्ऋत पशुरूप प्रायश्चित करके अग्नि का आधान करें। वहाँ का अधिकरण इस प्रकार है। यदा 'आहवनीयं जुहोति' इस वचन से सभी होमों का आहवनीय आधारत्व विधि से जैसे अवकीर्णी होता है। उसके साथ भार्या को प्राप्त कर अग्नि का आधान करके आहवनीय अग्नि में अवकीर्णी को पशु करें। ऐसा पूर्वपक्ष करके 'जायापती अग्निम् आदधीयताम्' पति-पत्नी दोनों मिलकर अग्नि का आधान करें। इस प्रकार अग्नि के आधान में दम्पतीकर्तृकत्व का स्मरण होने से परस्त्री के साथ अग्नि का आधान सम्भव नहीं है। 'अविप्लुत ब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्' इस प्रमाण के आधार पर अस्खलित ब्रह्मचर्य वाले का विवाह विधान होने से, अकृतप्रायश्चित्त का विवाह सम्बन्ध नहीं होने से अग्न्याधान सम्भव नहीं है। जैसे उपनयन का होत्र। लौकिक अग्नि में ही अवकीर्णी पशु को अग्न्याधान कहा है। इस प्रकार पूर्व अधिकरण में लौकिक अग्नि में ही उपनयन बताया है। समावर्तन के बाद श्रुतदार परिग्रह

का उपनयन से पूर्व असम्भव होने से अग्नि आधान से रहित माणवक के लिए आहवनीय का अभाव है। इसलिए लौकिक अग्नि में ही उपनयन होम होता है। ऐसा निरूपण किया है। इसीलिए सूत्र में तद्वद् परामर्श किया है। उपयुक्त वचन के आधार पर ब्रह्मचर्यभ्रष्ट व्यक्ति के लिए प्रायश्चित विधान होने से उनका भी ब्रह्मविद्या में अधिकार होगा। ऐसी आशंका करके कहते हैं——

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्।।३।४।४१।।

आधिकारिकमधिकारलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तं नैष्ठिकधर्मच्युतानां न सम्भवति। कुतः? तेषां पतनस्मरणात् प्रायश्चित्तायोगात्। तथा च स्मृति "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महे"ति। अपिशब्दः प्रायश्चित्तस्योपकुर्वाणविषयकत्वद्योतनार्थकः।।४१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

'आधिकारिकम्' अधिकार लक्षण में उक्त प्रायश्चित्त नैष्ठिक धर्म से च्युत का सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रायश्चित्त का अभाव होने से उनका पतन कहा गया है। जैसा कि स्मृति वचन है। "आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः। प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा" अर्थात् जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का संकल्प लेकर च्युत हो जाता है, उसकी कहीं भी प्रायश्चित्त नहीं है क्योंकि वह आत्म हत्यारा है। सूत्र में अपि शब्द उपकुर्वाण ब्रह्मचारी के लिए प्रायश्चित्त का द्योतक है।।४१।।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम्।।३।४।४२।।

अपिः सम्भावनायाम्। एके त्वाचार्या गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र नैष्ठिकादिब्रह्मचर्यच्यवनस्य महापातकविलक्षणत्वादुपपातकत्वादुपकुर्वाणकवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तभावं मन्यन्ते, ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्चाशनवत्, यथा मध्वशनादिनिषेधस्तत्प्रायश्चित्तं चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानं, तदुक्तं स्मृतिकर्त्तृभि "रुत्तरेषां चैतदविरोधी" ति। उपकुर्वाणब्रह्मचारिण उक्तो धर्म उत्तरेषां चाश्रमिणां स्वाश्रमाविरोधी भवतीत्यर्थः। तथात्रापि ब्रह्मचर्यच्यवने प्रायश्चित्तसम्भवादस्ति विद्यायोग्यता एवं यतिवनस्थयोरपि प्रमादाद् ब्रह्मचर्यभङ्गे प्रायश्चित्तमूह्यम्।।४२।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ अपि शब्द सम्भावना में है। यहाँ कुछ आचार्य गुरुदारा आदि से अन्यत्र नैष्ठिक आदि ब्रह्मचर्य च्युत को महापातक से भिन्न माना, उसे उपपातक माना। इसीलिए उपकुर्वाण ब्रह्मचारी की तरह नैष्ठिक ब्रह्मचारी का भी प्रायश्चित्त मानते हैं। क्योंकि दोनों में ब्रह्मचारीत्व

एवं अवकीर्णीत्व सामान्य रूप से है, अशन की तरह। जैसे मधुभक्षण आदि का निषेध एवं उसका प्रायश्चित भी उपकुर्वाण एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी दोनों के लिए समान है। जैसा कि स्मृतिकारों ने कहा है। "उत्तरेषां चैतदविरोधी" यहाँ एतद् शब्द पूर्वोक्त धर्म एवं प्रायश्चित का परामर्श करते हैं अर्थात् उपकुर्वाण ब्रह्मचारी का धर्म उत्तरवर्ती आश्रमियों के लिए अपने आश्रम का अविरोधी होता है। इसलिए यहाँ भी ब्रह्मचर्य की च्युति होने पर प्रायश्चित्त की सम्भावना होने पर उसमें विद्या की योग्यता है। इसी प्रकार संन्यासी एवं वानप्रस्थियों का भी प्रमादवश ब्रह्मचर्य का भङ्ग होने पर प्रायश्चित्त हो जाता है।।४२।।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च।।३।४।४३।।

ऊर्द्ध्वरेतस उपपातकित्वे महापातकित्वे वोभयथाऽपि स्वाश्रमप्रच्युतत्वाच्छिष्टैस्ते बहिः कार्याः। कुतः? "आरूढो नैष्ठिकमि" त्यादिस्मृतेः। आचाराद्, वर्जयन्ति हि तान् शिष्य विद्योपदेशसहभोजनादिव्यवहारेषु। यद्यपि किल्विषनिर्हरणाय कैश्चिद्वाक्यैस्तेषु प्रायश्चित्तमुपदिश्यते तथापि कर्माधिकारापादनी शुद्धिस्तेषां न सम्भवति तद्धेतुप्रायश्चित्ताभावात् "प्रायश्चित्तं न पश्यामी"ति स्मृतेरित्यर्थः। अतः प्रायश्चित्ते कृतेऽपि तादृशशुद्ध्यनुरूपयोग्यताभावाद्-ब्रह्मविद्याधिकारासम्भव इति भावः। जपादिना पारमार्थिकफलभाक्त्वेऽपि व्यवहारयोग्यता नास्तीति राद्धान्तः।।४३।। इति तद्भूताधिकरणम्।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ऊर्द्ध्वरेतस व्यक्ति उपपातकित्व एवं महापातकित्व दोनों स्थिति में अपने आश्रम से प्रच्युत होने से शिष्टजनों के द्वारा बहिष्कृत हो जाता है। क्योंकि "आरूढो नैष्ठिकम्" इत्यादि स्मृति का वचन है और इसी प्रकार का सदाचार भी है। ऐसे पथभ्रष्ट का शिष्टजन विद्योपदेश तथा सहभोजन आदि व्यवहारों में परित्याग करते हैं। यद्यपि पाप के अपनोदन के लिए कतिपय वाक्यों द्वारा उनमें प्रायश्चित्त का उपदेश है, फिर भी कर्म में अधिकार सम्पादनकारिणी शुद्धि उनमें सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके लिए प्रायश्चित्त का अभाव है। "प्रायश्चित्तं न पश्यामि" ऐसा स्मृतिवचन है। इसीलिए प्रायश्चित्त करने पर भी उक्त प्रकारक शुद्धि के अनुरूप योग्यता के अभाव से उसमें ब्रह्मविद्या का अधिकार सम्भव नहीं है। जप आदि के द्वारा पारमार्थिक फलभागित्व होने पर भी व्यावहारिक योग्यता नहीं है, यही सिद्धान्त है।।४३।।

इसप्रकार तद्भूत अधिकरण पूर्ण हुआ।।१०।।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः।।३।४।४४।।

अङ्गाश्रितान्युद्गीथाद्युपासनानि किं स्वामिनो यजमानस्य कर्माणि उत ऋत्विजः? इति विशये किं युक्तं, स्वामिन इति। कुतः? फलश्रुतेः। "यदेव विद्यये"ति

क्रतुवीर्यवत्तरत्वफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणाद्दहरोपासनादिष्विव स्वामिन एवैषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते स्म।।४४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अङ्गाश्रित उद्‌गीथ आदि उपासना क्या स्वामी यजमान के कर्म हैं? अथवा ऋत्विज के? ऐसा संशय होने पर क्या उचित है? तो बोले स्वामी के। क्यों? 'फलश्रुतेर्यदेव विद्यया करोति' इस श्रुति के द्वारा शक्तिशाली फल में यजमानाश्रयत्व श्रवण होने से, दहर उपासना आदि की तरह स्वामी का ही इनमें कर्तृत्व है। ऐसा आचार्य आत्रेय मानते हैं।।४४।।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते।।३।४।४५।।

क्रत्वङ्गत्वेन क्रत्वधिकृतस्यैवोद्‌गीथाद्युपासनेऽधिकारात् क्रतोश्च साङ्गस्यार्त्विज्यत्वेनैतदपि गोदोहनादिवदङ्गाश्रयत्वेनार्त्विज्यमङ्गं कुर्वत ऋत्विजः कर्मैवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म। किं कारणम्? तस्मै हि यजमानफलसाधनभूतसाङ्गक्रत्वनुष्ठानाय हि ऋत्विक् परिक्रीयते। क्रतुप्रयोगान्तःपातीनि चोद्‌गीथाद्युपासनानीत्यृत्विजैव निर्वर्त्त्यानि। यत्तूक्तं फलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादिति। नैष दोषः। शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायेन तस्य तद्‌गामित्वात्। यजमानेन हि स्वगामिफलकसाङ्गप्रयोगकरणायर्त्विजां दक्षिणया क्रीतत्वात्कर्तृत्वेऽपि न तेषां फलभाक्त्वम, तः क्रयणद्वारा कर्तृत्वभोक्तृत्वसामानाधिकरण्यमप्युपपद्यते। भृत्यकर्तृके युद्धे राजा युध्यत इतिवदिति भावः। तस्मादङ्गोपासनान्यृत्विक्कर्माणीति सिद्धम्।।४५।। इति स्वाम्यधिकरणम्।।११।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्रतु के अङ्ग रूप में क्रतु अधिकृत व्यक्ति का ही उद्‌गीथ आदि में अधिकार है। अङ्ग सहित क्रतु का तो आर्त्विज्य होने से यह भी गोदोहन आदि की तरह अङ्गाश्रय होने के कारण आर्त्विज्य को अङ्ग बनाने वाले ऋत्विज् का ही कर्म है। ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं। क्या कारण है? यजमान के फल के साधन भूत साङ्ग उस क्रतु के अनुष्ठान के लिए ऋत्विज का परिक्रयण किया जाता है। क्रतु प्रयोग के अन्तरवर्ती उद्‌गीथ आदि उपासना ऋत्विज् को ही करनी चाहिए। यह जो कहा कि फल में यजमानाश्रयत्व का श्रवण है। यह कोई दोष नहीं है। 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' अर्थात् शास्त्र का फल प्रयोक्ता में होता है। इस न्याय से वह फल प्रयोक्तागामी होता है। यजमान द्वारा अपने फल के लिए साङ्ग प्रयोग करने हेतु दक्षिणा के द्वारा ऋत्विजों को खरीद लिया जाता है। इसलिए ऋत्विज् में कर्तृत्व होने पर भी उनमें फलभागिता नहीं होती। इसलिए क्रयण के द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य भी उपपन्न होता है। जैसे सेनाकर्तृक युद्ध में राजा युद्ध करता है, यह प्रयोग होता है। इसलिए अङ्गोपासना ऋत्विजों के कर्म हैं। यह सिद्ध होता है।

इसप्रकार स्वामी अधिकरण पूर्ण हुआ।।११।।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।।३।४।४६।।

"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं निर्विद्याथ ब्राह्मण" (बृ० ३/५/१) इति वृहदारण्यके कहोलप्रश्ने श्रूयते। तत्रेदं चिन्त्यते। किमत्र बाल्यपाण्डित्यवन्मौनमपि विद्याङ्गतया विधीयत उतानूद्यत इति विशये किं तावत्प्राप्तम्? अनूद्यत इति। मौनं च ज्ञानं तच्च पाण्डित्येन गतमित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्य्यन्तरविधिरिति। विधीयत इति विधिः, सहकार्यान्तरस्य विधिः सहकार्यन्तरविधिः। तद्वतो विद्यावतः। सहकार्यन्तरं मौनं विधीयते विध्यादिवत्। विधीयत इति विधिस्तेन यज्ञदानप्रभृत्याश्रमधर्माः शमदमादयश्च गृह्यन्ते। आदिशब्दाच्छ्रवणमननग्रहः। आश्रमधर्मवत् शमदमादिवच्छ्रवणमननवच्च पाण्डित्यबाल्ययोस्तृतीयं मौनं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते। यद्यपि बाल्य एव विधेः पर्यवसानं तथाऽप्यपूर्वत्वान्मुनित्वमपि विधेयम्। न च त्रयाणां विधाने वाक्यभेदो दोषः उपरिधारणवदिष्टत्वाद्वाक्यभेदस्य। ननु पाण्डित्यग्रहणादेव सिद्धं मौनं, नेत्याह। 'पक्षेणे'ति मुनिशब्दस्य मननान्मुनिरिति व्युत्पत्त्या प्रकृष्टमननशीले पक्षेण प्रसिद्धे "मुनीनामप्यहं व्यास" (गी० १०/३७) इति 'वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गव' इति च प्रयोगदर्शनात्। प्रकृष्टमननं च श्रवणप्रतिष्ठार्थान्मननादर्थान्तरभूतमुपासनालम्बनस्य परमात्मस्वरूपगुणादेरनवरतध्यानरूपं भगवदनुग्रहासाधारणं कारणं निदिध्यासनाख्यम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

विद्या सहकारी यज्ञ आदि के निरूपण के अनन्तर सङ्गति विशेष से प्राप्त सर्वान्न भक्षण की अनुमति आदि का विचार करके, पुनः विद्या में ही सहकारी कारणान्तर का निरूपण करते हैं। यहाँ पहले संशयोत्त्थापक विषय वाक्य का उदाहरण देते हैं "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं निर्विद्याथ ब्राह्मण" (बृ० ३/५/१) इत्यादि बृहदारण्यक में कहोल के प्रश्न में सुने जाते हैं। यहाँ चिन्तनीय यह है कि क्या यहाँ बाल्य एवं पाण्डित्य की तरह मौन का भी विद्या के अङ्गरूप में विधान है अथवा अनुवाद है, ऐसा प्राप्त होने पर यहाँ क्या प्राप्त है? अनुवाद। मौन माने ज्ञान, वह पाण्डित्य में गतार्थ होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सहकार्यान्तर विधिः', 'विधीयते इति विधिः', जिसका विधान किया जाय उसे विधि कहते हैं। सहकार्यान्तरस्य विधिः इति सहकार्यान्तर विधिः। तद्वतः माने विद्यावान् के लिए, विद्या की प्राप्ति में मौन सहकार्यान्तर का विधान है। अर्थात् मौन भी विद्या का सहकारी है 'विध्यादिवत्' विधीयत इति विधिः। यहाँ विधि शब्द से यज्ञ, दान प्रभृति आश्रम धर्म तथा शम, दम आदि गृहीत होते हैं अर्थात् यज्ञ, दान एवं शम, दम आदि की तरह मौन भी विद्या का सहकारी कारण है। यहाँ आदि शब्द से श्रवण मनन आदि का परिग्रह है। अर्थात् आश्रम धर्मवत् 'यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्' शम, दम आदि के सदृश 'शमदमाद्युपेतः' तथा श्रवण, मनन आदि की तरह पाण्डित्य बाल्य में तीसरा मौन विद्या में सहकार्यान्तर (सहकारी कारण) का विधान किया जाता है। (भावार्थ है कि जैसे "यज्ञेन

दानेन" आदि वाक्यों एवं 'शान्तोदान्तः' इत्यादि वाक्यों द्वारा यज्ञ आदि तथा शम आदि को विद्या का सहकारी विधान किया जाता है और जैसे श्रवण, मनन आदि पद गृहीत होते हैं, उसी प्रकार 'ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' इत्यादि वचनों द्वारा पाण्डित्य, बाल्य तथा मौन ये तीन भी विद्या के सहकारी के रूप में विधीयमान होते हैं।) यद्यपि बाल्य में ही विधि का पर्यवसान है, फिर भी अपूर्ववचन द्वारा मुनित्व भी विधेय है। तीनों के विधान में वाक्य भेद दोष होगा, ऐसा नहीं कह सकते, ऊपर में धारण की तरह वाक्य भेद इष्ट है। यदि कहें कि पाण्डित्य ग्रहण से ही मौन सिद्ध है तो कहते हैं 'नेत्याह' मुनि शब्द का मननात् मुनिः, मनन करने से मुनि होता है, इस व्युत्पत्ति से प्रकृष्ट मनन शील अर्थ में मुनि शब्द की प्रसिद्धि है। "मुनीनामप्यहं व्यासः" (गी० १०/३७) तथा 'वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः' ऐसा प्रयोग देखा जाता है। प्रकृष्ट मनन कहते हैं– श्रवण की प्रतिष्ठा के लिए किये गये मनन से अर्थान्तरभूत उपासना के आलम्बन स्वरूप परमात्मा के स्वरूप गुण आदि में अनवरत ध्यानरूप तथा भगवान् के अनुग्रह का असाधारण कारण निदिध्यासन को।।१।।

ततश्चैवं वाक्यार्थो, यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा पुत्रैषणादेर्व्युत्थाय भिक्षाचर्य्यं चरन्ति, तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणो विद्यावान् विद्यानिष्पत्तये पाण्डित्यं निर्विद्य, साङ्गवेदाध्ययनजा बुद्धिः पण्डा तद्वान्पण्डितस्तस्य कृत्यं श्रवणापर्यायं पाण्डित्यं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेत् श्रवणजज्ञानस्य बालभावेन मननेनासम्भावनानिरासेन, बालस्य भावेन वा दम्भादिरहितशुद्धचित्तत्वेन स्थातुमिच्छेत्। बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य एवं श्रवणमनने कृत्वाऽनन्तरं मुनिः स्यात्, परब्रह्मण्यनवरतध्यानशीलो भवेत्। तत्परिपाकाय एवममौनं मौनेतरं सहकारिकलापं मौनं च निदिध्यासनं यथावल्लब्ध्वाऽनन्तरं ब्राह्मणो भवति, निष्पन्नविद्यो भवतीत्यर्थः। ततो भगवदनुग्रहेण तत्साक्षात्कारं लभत इति भावः। नच श्रवणादेरेव साक्षान्मोक्षहेतुत्वमस्तु, किमनुग्रहाङ्गीकारेण गौरवादिति वाच्यम्। तेषां व्यभिचारदर्शनात्। अस्य त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामव्यभिचारित्वश्रवणादवश्याभ्युपगम इत्यर्थः। "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदु, र्नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीश" इत्यादिश्रुतेः। न च "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इति ध्यानस्यैव तत्साक्षात्कारं प्रति प्रधानोपायत्वश्रवणात्तद्बाधः स्यादिति वाच्यम्। अविरुद्धत्वात्। ध्यानस्य करणत्वेन भगवत्प्रसादस्य व्यापारत्वेनाङ्गीकारादुभयोः सामञ्जस्यमन्यथा प्रसादश्रुतेर्बाधप्रसङ्गात्। अतः सर्वाश्रमस्थस्य विदुषो यज्ञादिस्वाश्रमधर्मवत्पाण्डित्यादित्रितयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते।।४६।।

ननु यदि सर्वाश्रमस्थविदुषां स्वस्वाश्रमधर्मसहकारिणी पाण्डित्यादिसहकारिणी च विद्या ब्रह्मप्राप्तिकेत्युच्यते, तर्हि कथं छान्दोग्य "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्ब" इत्यारभ्य "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्म लोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तत" इति गृहस्थेनोपसंहार इत्याशङ्क्याह—

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ है जिस कारण प्राचीन काल के ब्राह्मणगण आत्मतत्त्व को जानकर पुत्रैषणा आदि एषणाओं से ऊपर उठकर भिक्षाचरण करते थे, इसलिए आधुनिक विद्यावान् ब्राह्मण भी विद्या की निष्पत्ति के लिए पाण्डित्य को प्राप्त कर बाल्य भाव से रहे। यहाँ अङ्गोंसहित वेदाध्ययन जनित बुद्धि को पण्डा कहते हैं। उससे युक्त व्यक्ति को पण्डित कहते हैं, उसका कृत्य श्रवणापरपर्याय पाण्डित्य कहलाता है उसे (निर्विद्य) निश्चित रूप से प्राप्त कर बाल्यभाव से रहे। यहाँ बालभाव का अर्थ है, ज्ञान के मनन अर्थात् उनसे असम्भावना का निरास करके रहने की इच्छा करे अथवा बालस्य भावेन का अर्थ है दम्भादि से रहित शुद्ध रहे। बाल्य एवं पाण्डित्य प्राप्त कर अर्थात् श्रवण मनन करके मुनि होवे अर्थात् परब्रह्म में अखण्ड ध्यानशील हो जावे। तदनन्तर उसके परिपाक के लिए अमौन-मौनेतर सहकारी कलाप तथा मौन (निदिध्यासन) को विधिवत् प्राप्तकर ब्राह्मण होता है, प्राप्तविद्य होता है। तत्पश्चात् भगवान् के अनुग्रह से भगवत्साक्षात्कार प्राप्त करता है। यदि कहें कि श्रवण आदि को ही साक्षात् मोक्ष का हेतु मान लें, अनुग्रह स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? वह गौरव दोष होता है, तो कहते हैं, नहीं श्रवण आदि होने पर भी बिना कृपा के साक्षात्कार नहीं होता है। भगवदनुग्रह में तो अन्वय व्यतिरेक से व्यभिचार का अभाव होने के कारण व्यभिचार दर्शन न होने से अनुग्रह अवश्य स्वीकारणीय है। "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः" श्रवण करने पर भी जिन्हें बहुतों ने नहीं जाना। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तमक्रतुं पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमीश" इत्यादि श्रुति वचन प्रमाण हैं। यदि कहें कि "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" यहाँ ध्यान को ही भगवत् साक्षात्कार के प्रति प्रधान उपाय माना गया है। तब तो अनुग्रह की आवश्यकता का बाध होगा, ऐसा नहीं कहते, इसमें कोई विरोध नहीं है। ध्यान करण है तथा भगवत् प्रसाद उसका व्यापार है, इस प्रकार स्वीकार करने से दोनों का सामञ्जस्य है अन्यथा प्रसाद श्रुति का बाध प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार सभी आश्रमों के विद्वान् (ब्रह्मविद्या सम्पन्न) पुरुष के लिए यज्ञादि आश्रम धर्म की तरह तथा शम-दम आदि की तरह पाण्डित्य, बाल्य तथा मौन आदि त्रितय भी विद्या का सहकारी कारण विधीयमान है।।४६।।

यदि कहें कि सभी आश्रमों के विद्वानों को अपने-अपने आश्रमधर्म सहकारिणी तथा पाण्डित्य आदि सहकारिणीविद्या ब्रह्मप्राप्ति में सहायक है तो फिर कैसे छान्दोग्य में "आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे" वेद पढ़कर आचार्य कुल से आकर विधान के अनुसार गुरु के कर्मातिरोष के द्वारा समावृत्य होकर कर्म करते हुए कुटुम्ब में रहे। यहाँ से लेकर "स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तत" यावत् जीवन कुटुम्ब में रहता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। इस प्रकार गृहस्थ धर्म से उपसंहार कैसे किया, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं —

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।।३ ।४ ।४७ ।।

तुशब्दः शङ्कोच्छेदार्थः। गृहिणोपसंहारात्तस्यैव यथोक्तविद्यानुष्ठानाद् ब्रह्मप्राप्तिरिति नाभिप्रेयते, ऽपि तु कृत्स्नभावात् कृत्स्नानां धर्माणां तत्र सत्त्वात्तेनोपसंहारः। सन्ति हि गृहस्थं प्रति कर्त्तव्यतयोपदिष्टा बहुलायासा बहवो यज्ञादयः स्वाश्रमधर्माः आश्रमान्तरधर्माश्च यथासम्भवमहिंसेन्द्रियसंयमादयः। तस्मात्तत्र धर्मबाहुल्यात्तेनोपसंहारः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थः ।।४७ ।।

तथैतस्मिन्नपि वाक्ये "ऽथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ती" ति पारिव्राज्यैकान्तधर्मभिक्षाचरणपूर्वकः। अथ मुनिरिति मौनोपदेशः सर्वाश्रमधर्मप्रदर्शनार्थ इत्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

'तु' शब्द शङ्का के उच्छेद के लिए है। गृही में उपसंहार होने से उसी के गृहस्थ धर्म का ही यथोक्त विद्या के अनुष्ठान से ब्रह्म की प्राप्ति होगी, यह अभिप्राय नहीं है, बल्कि सभी धर्मों का गार्हस्थ्य में उपसंहार होने के कारण उससे उपसंहार किया गया है। गृहस्थ के प्रति अनेक प्रयाससाध्य, बहुत से यज्ञ, निजाश्रमधर्म तथा आश्रमान्तर के धर्म, यथासम्भव अहिंसा, इन्द्रिय संयम आदि कर्तव्य रुप में उपदिष्ट हैं। इसलिए गृहस्थ में धर्मों का बाहुल्य होने से उसी से उपसंहार किया गया है, जो कि सभी आश्रमों के धर्म प्रदर्शन के लिए है।।४७।।

तथा "अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इस वाक्य में संन्यासी के एकान्तधर्म भिक्षा आचरण पूर्वक 'अथ मुनिरि'ति मौन का उपदेश सभी आश्रमों के धर्मोपदेश के लिए है। यह कहते हैं—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।।३ ।४ ।४८ ।।

"यथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरेतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ती" त्यादौ पारिव्राज्यं मौनमुपदिष्टं, तद्वदितरेषां नैष्ठिकादिधर्माणामपि "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेती" त्यादावुपदेशात्। तत्र हि सर्वाश्रमसाधारणेन ब्रह्मसंस्थशब्देन सर्वेषामप्याश्रमिणां ब्रह्मप्राप्तिरुपदिश्यते। तथा जाबालोपनिषदि च "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेदि" त्यादिना चत्वार आश्रमा उपदिश्यन्ते। अतः सुष्ठूक्तं "यज्ञादिसर्वाश्रमधर्मवन्मौनं तृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयत" इति।।४८।। इति सहकार्य्यन्तरबिध्यधिकरणम्।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"यथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरेतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इत्यादि मन्त्रों में संन्यासियों के धर्म मौन का उपदेश किया है,

उसी तरह, अन्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदिकों का भी "त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इत्यादि स्थानों में उपदेश किया गया है। यहाँ सभी आश्रमों के साधारण ब्रह्मसंस्थ शब्द से सभी आश्रमियों के लिए ब्रह्मप्राप्ति का उपदेश किया गया है। तथा जाबाल उपनिषद् में भी "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्" इत्यादि वचनों द्वारा चारों आश्रमों का उपदेश किया गया है। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि यज्ञ आदि सभी धर्मों की तरह मौन तीसरा विद्या का सहकारी कारण विधान किया जाता है।।४८।।

इसप्रकार सहकार्यन्तरविधि अधिकरण पूरा हुआ।।१२।।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्।।३।४।४९।।

"बाल्येन तिष्ठसेदि" (बृ० ३/५/१) त्यत्र किं बालचरितं बाल्यं विदुषोपादेयमुत जितेन्द्रियतया दम्भदर्पादिराहित्यं भावशुद्धिमात्रं बाल्यमिति विशये तिष्ठन्मूत्रपूरीषादि कर्म बाल्यमिति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु बालो यथा स्वाभिजनाद्यनाविष्कुर्वन् दम्भदर्पादिरहितो वर्त्तते तथा विद्वानपि पाण्डित्यप्रयुक्त- स्वमाहात्म्याद्यनाविष्कुर्वन् दम्भदर्पादिराहित्येन बाल्येन वर्त्तेत। कुतः? अन्वयात्। तस्यैव विद्यान्वययोग्यत्वात्। कामचारादेस्तु "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितो. नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयादि" त्यादिभिर्विद्योत्पत्तिविरोधित्वावगमात्।।४९।। इति अनाविष्काराधिकरणम्।।१३।।

अथ विद्योत्पत्तिकालश्चिन्त्यते——

(हिन्दी-अनुवाद)

"बाल्येन तिष्ठासेत्" (बृ० ३/५/१) यहाँ क्या बाल चरित्र रूप बाल्य विद्वानों द्वारा उपादेय है अथवा जितेन्द्रिय के रूप में, बालकों का दम्भदर्पादिराहित्य से युक्त भावशुद्धि मात्र बाल्य? ऐसा संशय होने पर खड़े-खड़े मूत्र-पुरीष आदि (टट्टी, पेशाब आदि) कर्म बाल्य है, ऐसा पूर्वपक्ष है। यहाँ सिद्धान्त है, बालक जैसे अपने उच्चकुल आदि का भाव प्रकट न करते हुए दम्भदर्पादि दोषों से रहित होता है, उसी प्रकार विद्वान् भी पाण्डित्य प्रयुक्त निज माहात्म्य आदि का बखान न करते हुए दम्भदर्पादिराहित्य रूप बाल्यधर्म के अनुसार रहे क्योंकि 'अन्वयात्' उसी में विद्या के अन्वय की योग्यता है। कामाचार (स्वेच्छाचार) आदि तो "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितो, नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" दुराचरण निष्ठ तथा अशान्त, असमाहित व्यक्ति कभी भी प्रज्ञान के द्वारा परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता इत्यादि श्रुति वाक्यों द्वारा कामाचार को विद्या की उत्पत्ति में विरोधी माना गया है।।४९।।

इस प्रकार से अनाविष्कार अधिकरण पूरा हुआ।।१३।।

अब विद्या की उत्पत्तिकाल का विचार करते हैं——

ऐहिकमप्रस्तुते प्रतिबन्धे तद्दर्शनात्।।३।४।५०।।

किं पूर्वोक्तसाधनैः सिध्यती विद्येहैव जन्मनि सिध्यत्युत जन्मान्तर इति संशयः। तत्र किं युक्तम्? इहैवेति। कुतः? दृष्टार्थत्वाद्विद्यायाः। नहि कश्चित्परत्र मे विद्या जायतामिति कामयमाना विद्यासाधनेषु प्रवर्त्तते। अतो यस्मिञ्जन्मनि विद्यायां यतते, तत्रैव तत्फलेन भवितव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः। ऐहिकं विद्याफलं प्रतिबन्धेऽप्रस्तुते सति विद्याविरुद्धफलं देशकालविशेषापेक्षं फलोन्मुखं कर्म प्रतिबन्धशब्दवाच्यं तस्मिन्न विद्यमाने सतीत्यर्थः। प्रस्तुते तु तस्मिञ्जन्मान्तरे विद्यासिद्धिः। कुतः? तद्दर्शनात्। "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नं ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरि" त्यादिश्रुतिर्ह्यैहिकीं विद्यासिद्धिं दर्शयति। "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेद" इत्यादिस्तु जन्मान्तरसाधनजां, जन्मान्तरे स्मृतिश्च "अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि" त्यादिका, अतोऽस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा प्रबलकर्मान्तरप्रतिबन्धक्षयानन्तरमेव विद्या सिध्यतीति सिद्धम्।।५०।। इत्यैहिकाधिकरणम्।।१४।।

अथ सम्पन्नविद्यस्य मोक्षकालश्चिन्त्यते ——

(हिन्दी-अनुवाद)

क्या पूर्वोक्त साधनों द्वारा विद्या इस जन्म में सिद्ध हो सकती है अथवा जन्मान्तर में? ऐसा संशय है। यहाँ युक्त क्या है तो बोले, इसी जन्म में क्योंकि विद्या का दृष्ट प्रयोजन होता है। अन्य जन्मों में मुझे विद्या प्राप्त होगी, ऐसा कोई भी नहीं सोचता या प्रयत्न करता है। इसी जन्म में फलप्राप्ति होनी चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'ऐहिकम्' अर्थात् विद्या का फल या विद्या की प्राप्ति प्रतिबन्धक कर्म न रहने पर इसी जन्म में होती है। प्रतिबन्धक कर्म होने पर जन्मान्तर (अन्य जन्मों) में विद्या की सिद्धि होती है। क्योंकि ऐसा देखा गया है। "मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नं ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः" मृत्यु से विद्या प्राप्त कर नचिकेता इसी जन्म में ब्रह्म को प्राप्त हो गया। इस श्रुति द्वारा इसी जन्म में विद्या की सिद्धि बतायी गई है। "गर्भस्थ एव वामदेवः प्रतिपेदे" वामदेव मुनि गर्भ में ही ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर गये इत्यादि वचन जन्मान्तर जनित साधन द्वारा विद्या की प्राप्ति सूचित करते हैं। जन्मान्तर में प्रमाण "अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इत्यादि जानना चाहिए। इसलिए इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में प्रबल कर्मान्तर रूपी प्रतिबन्ध के क्षय के अनन्तर ही विद्या की सिद्धि होती है।।५०।।

इस प्रकार ऐहिक अधिकरण पूरा हुआ।।१४।।

अब विद्याप्राप्ति के अनन्तर मोक्ष काल का विचार करते हैं ——

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।।३ ।४ ।५१ ।।

किं यस्मिन् शरीरे विद्योदयस्तच्छरीरपात एव मोक्षः ? उत शरीरान्तरपात इति विशये विद्यासिद्धौ तत्फलस्यावश्यकत्वात्तच्छरीरपात एवेति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु यथा साधनसम्पन्नस्येह जन्मन्येव विद्या सिध्यतीति न नियमः। अपि तु प्रतिबन्धनाशोत्तरमेव। एवं विद्यासम्पन्नस्य मुक्तिरेव फलं तस्याऽनियमः प्रारब्धकर्मणि सति शरीरान्तरपाते, तदभावे तच्छरीरपात एवेति। कुतः ? तदवस्थावधृतेः। विद्यावतोऽपि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इति छान्दोग्ये प्रारब्धक्षयोत्तरमेव मोक्षकालविनिश्चयादित्यर्थः। पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतकः ।।५१ ।। इति मुक्तिफलाधिकरणम् ।।१५ ।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारुण-पद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीद्श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायचतुर्थपादविवरणम् ।।४ ।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्या जिस शरीर में विद्या का उदय होता है, उस शरीर के नष्ट होने पर ही मोक्ष होता है या शरीरान्तर के पात के पश्चात् ? ऐसा संशय समुपस्थित होने पर विद्यासिद्धि होने पर उसका फल आवश्यक होने से उस शरीर के पात होने के अनन्तर ही मोक्ष होता है, ऐसा पूर्वपक्ष है। यहाँ सिद्धान्त है जैसे साधन सम्पन्न व्यक्ति को इसी जन्म में विद्या सिद्ध हो जाय, यह नियम नहीं हैं। अपितु प्रतिबन्ध के नाश के पश्चात् ही सम्भव है। इसी प्रकार विद्यासम्पन्न के लिए मुक्ति फल में भी अनियम है। प्रारब्ध कर्म शेष रहने पर शरीरान्तर पात के अनन्तर मुक्ति प्राप्त होती है। प्रारब्ध कर्म न होने पर प्राप्त शरीर के पात के पश्चात् ही मुक्ति हो जाती है 'तदवस्थावधृते विद्यावतोऽपि' विद्यासम्पन्न पुरुष को भी "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" इस छान्दोग्य श्रुतिवचन के अनुसार प्रारब्ध के क्षय के अनन्तर ही मोक्षकाल का निश्चय किया गया है। यहाँ पद का अभ्यास अध्याय समाप्ति का द्योतक है।।५१।।

इस प्रकार मुक्तिफलाधिकरण पूरा हुआ।।१५।।

इस प्रकार वेदान्तकौस्तुभप्रभा ब्रह्मसूत्र वृत्ति में तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद का पं० श्रीवैद्यनाथ झा मैथिल कृत हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

।।श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

विषय-सूची

अथ चतुर्थाऽध्याये प्रथमपादः।

मोक्षोपायाभियुक्तानां भजतां तत्पदाम्बुजम्।।
तनोति परमं श्रेयो यस्तं कृष्णमहं भजे।।१।।
सङ्गृहीतानि मोक्षस्य साधनानि तृतीयके।
चरमेऽस्मिन्फलं प्राह भगवान्बादरायणः।।२।।

एवं तृतीयेऽध्याये ससाधनविद्याविचारो वृत्तः। अथेदानीं चतुर्थेऽस्मिन्नध्याये विद्यायाः फलचिन्ता वर्त्तिष्यते, प्रसङ्गप्राप्तं चान्यदपि किञ्चित्। तत्र तावदिदं चिन्त्यते। "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृ० ४/५/६), सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्य" (छा० ८/७/१) इत्यादिना ब्रह्मदर्शनाय विधीयमानानि श्रवणादीनि श्रूयन्ते। तानि किं सकृत्कर्त्तव्यान्युतासकृदावर्त्तनीयानीति संशये, किं तावत्प्राप्तं, सकृदिति। असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावादिति प्राप्त, उच्यते——

(हिन्दी-अनुवाद)

वृन्दावने केशिघट्टे मन्त्रराजप्रदायकम्।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम्।।

इस प्रकार तीसरे अध्याय में साधन सहित विद्या का विचार पूरा हुआ। अब इस चतुर्थ अध्याय मे विद्या (उपासना) के फल की चिन्ता करेंगे तथा प्रसङ्ग प्राप्त अन्य भी कतिपय विचार करेंगे। पहले यह विचार करते हैं कि "आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः (बृ० ४/५/६), सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० ८/७/१) इन श्रुतियों द्वारा ब्रह्म दर्शन के लिए श्रवण आदि का विधान सुना जाता है, क्या वे श्रवण आदि एक बार ही करने चाहिए अथवा बार-बार उनकी आवृत्ति करनी चाहिए। ऐसा संशय उपस्थित होने पर प्रथम एकबार ही कर्तव्य है ऐसा ज्ञात होता है। कारण उनकी बार-बार की आवृत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अवृत्तिरसकृदुपदेशात्।।४।१।१।।

तान्यसकृदावर्त्तनीयानि। कुतः? उपदेशात्। वेदनोपासनपर्य्यायेण निदिध्यासन-शब्देनोपदेशात्। तस्य च निरन्तरध्यान एव शक्तत्वात्। अयमर्थः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिना ब्रह्मापरोक्षासाधारणोपायत्वेन श्रूयमाणं ध्यानं सकृत्कृतं ब्रह्मदर्शनाय न क्षमं भवति, किन्त्वसकृदेवेति।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' अर्थात् उन श्रवण, मनन आदि साधनों की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि ऐसा ही 'उपदेशात्' उपदेश है। वेदन, उपासन के पर्यायभूत निदिध्यासन

शब्द से उपदेश है। कारण निदिध्यासन शब्द की निरन्तर ध्यान में ही शक्ति है। यह भाव है "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इत्यादि वचनों द्वारा ब्रह्म के अपरोक्ष (साक्षात्कार) के असाधारण उपाय के रूप में श्रूयमाण ध्यान एक बार करने मात्र से ब्रह्म दर्शन के लिए समर्थ नहीं होता है। अपितु बार-बार ध्यान करने से ही ब्रह्मदर्शन प्राप्त होता है।।१।।

लिङ्गाच्च।।४।१।२।।

लिङ्गं स्मृतिः। स्मर्यते चायमेवार्थ "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनरि" त्यादिना।।२।। इत्यावृत्त्यधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

लिङ्ग माने स्मृति। स्मृति में ऐसा ही कहा गया है "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः" इत्यादि अर्थात् सभी शास्त्रों का आलोड़न करके तथा उनका पुनः पुनः अनुसन्धान करके यही सार निकलता है कि श्रीनारायण का सदा सर्वदा ध्यान करें।

इस प्रकार आवृत्ति अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।।४।१।३।।

यस्य ध्यानं नैरन्तर्येण निर्णीतं सोऽशेषदोषासंस्पृष्टमाहात्म्यः सार्वज्ञ्याद्यसङ्ख्येयस्वाभाविक-सद्गुणशक्तिवैभवः सर्वात्मा परब्रह्माख्यः श्रीमुकुन्दः किं स्वस्मादन्यत्वेनानुसन्धेय उत स्वस्यात्मत्वेनेति संशये, किं तावद्युक्तं बहुशो भेदोपपादनादन्यत्वेनेति प्राप्त, आह 'आत्मेती' ति। स ममात्मैवाहं च तदात्मक इति तादात्म्यसम्बन्धैनेव ध्येयः। कुतः? यत "एष मे आत्मा एष सर्वभूतान्तरात्मे" ति पूर्वे महान्तोऽभ्युपगच्छन्ति। "एष त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्त्वमसी (छा० ६/८/७)" त्यादिना शिष्यांस्तथैव ग्राहयन्ति च। "अहमात्मा गुडाकेश!, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, वासुदेवः सर्वमिति, अखिलमिदमहं च वासुदेवो, वासुदेवात्मकान्याहुरि" त्यादिस्मृतेश्च।।३।। इति आत्मत्वोपासनाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् जिनका ध्यान निरन्तर करने के लिए कहा गया है, उन अशेषदोषविरहित, सार्वज्ञ्य आदि असङ्ख्येय तथा स्वाभाविक अनन्त सद्गुण एवं शक्ति सम्पन्न परब्रह्म श्रीकृष्ण का क्या स्वभिन्नत्वेन अनुसन्धान (ध्यान) करना चाहिए अथवा स्वात्मत्वेन ऐसा संशय समुपस्थित हुआ। ऐसी स्थिति में उचित क्या है? तो बोले उपनिषदों में अनेक बार भेद का उपपादन होने से स्वभिन्नत्वेन अनुसन्धान वाला पक्ष ही प्राप्त होता है, तब उसका उत्तर देते हैं "आत्मेतीति। स ममात्मैवाहं च तदात्मक" अर्थात् वह मेरी आत्मा हैं और मैं तदात्मक हूँ, इस प्रकार तादात्म्य सम्बन्ध से ही ध्यान करना चाहिए। क्योंकि "एष म आत्मा एष

सर्वभूतान्तरात्मा" वह मेरी आत्मा है, वे सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा है। ऐसा प्राचीन महात्मा स्वीकार करते हैं तथा "एष त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्त्वमसि (छा० ६/८/७)" इत्यादि वचनों द्वारा शिष्यों को उसी तरह उपदेश देते हैं। इसी तरह "अहमात्मा गुडाकेश!, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, वासुदेवः सर्वमिति, अखिलमिदमहं च वासुदेवो वासुदेवात्मकान्याहुः" इत्यादि स्मृति वचन भी हैं, जो अभेद का उपदेश देते हैं।

इस प्रकार से आत्मत्व उपासना अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

न प्रतीकेन हि सः।।४।१।४।।

"मनो ब्रह्मेत्युपासीते" (छा० ३/१८/१) त्यादिप्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वेनानुसन्धानं कर्त्तव्यमुत नेति संशये, ब्रह्मोपासनत्वाविशेषादात्मत्वेनानुसन्धेय इति प्राप्त, उच्यते 'न प्रतीक' आत्मत्वानुसन्धानं कर्त्तव्यम्। न हि सः प्रतीक उपासितुरात्मा, प्रतीकोपासने हि मनोनामादिप्रतीकस्योपासनं। नतु परब्रह्मणः, तस्य तत्र तत्तद्दृष्ट्याऽनुसन्धानमात्रत्वात्। प्रतीकोपासनं ह्यब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्यानुसन्धानं तत्रोपास्य (स्य) प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावान्न तथाऽनुसन्धातुं योग्यम्।।४।।

ननु मनआदेरचेतनाल्पशक्तेरुपास्यत्वश्रवणस्यान्याय्यत्वादत्रापि मनआदिदृष्ट्याब्रह्मैवोपास्यमिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत" (छा० ३/१८/१) इत्यादि प्रतीक उपासनाओं में आत्मत्वेन उपासना करनी चाहिए अथवा नहीं, ऐसा संशय उपस्थित होने पर ब्रह्म उपासना समान्य होने से यहाँ आत्मत्वेन अनुसन्धान करना चाहिए, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'न प्रतीके' अर्थात् प्रतीक में आत्मत्वानुसन्धान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह प्रतीक उपासक की आत्मा नहीं है, प्रतीक उपासना में मन, नाम आदि प्रतीक की उपासना है, न कि परब्रह्म की, परमात्मा का उन प्रतीकों में तत्-तत् दृष्टि से अनुसन्धान मात्र है। प्रतीक उपासना ब्रह्म भिन्न में ब्रह्म दृष्टि से अनुसन्धान है। वहाँ उपास्य प्रतीक उपासक जीव की आत्मा नहीं है, इसलिए वहाँ आत्मत्वेन अनुसन्धान योग्य नहीं है।।४।।

यदि कहें कि अचेतन, अल्पशक्ति मन आदि में उपास्यत्व का श्रवण अन्याय्य होने से यहाँ भी मन आदि दृष्टि से ब्रह्म ही उपास्य है, तो कहते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।।४।१।५।।

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव कर्त्तव्या, न ब्रह्मणि मनआदिदृष्टिः। कुतः ? उत्कर्षात्। ब्रह्म हि मनआदिभ्य उत्कृष्ट, मपकृष्टे ह्युत्कृष्टदृष्टिरभ्युदयाय भवति। उत्कृष्टे त्वपकृष्टदृष्टिः

राजनि भृत्यदृष्टिरिव। "नेदं ब्रह्म यदिदमुपासत" इत्यादिना प्रतीकस्य प्रत्यवायकारी, राजनि भृत्यदृष्टिरिव। ब्रह्मत्वनिषेधश्रवणात् विश्वात्मत्वाद्यसम्भवाच्च तादात्म्यविधानशास्त्रविरोधाच्च।।५।। इति प्रतीकाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

मन आदि में ब्रह्मदृष्टि ही करनी चाहिए, न कि ब्रह्म में मन आदि की दृष्टि। क्यों? 'उत्कर्षात्' अर्थात् ब्रह्म मन आदि से उत्कृष्ट है। अपकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करने से अभ्युदय होता है, उत्कृष्ट में अपकृष्ट दृष्टि करने पर प्रत्यवाय होता है जैसे राजा में भृत्य दृष्टि करने पर हानि होती है। दूसरी बात "नेदं ब्रह्म यदिदमुपासते" इत्यादि मन्त्रों द्वारा प्रतीक में ब्रह्मत्व के निषेध का श्रवण है, उसमें विश्वात्मकत्व आदि असम्भव है तथा तादात्म्य विधान शास्त्र का विरोध भी है।।५।।

इस प्रकार प्रतीक अधिकरण पूरा हुआ।।३।।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः।।४।१।६।।

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीते (छा० १/३१)" त्यादिकर्माङ्गाश्रयेषूपासनेषु किं कर्माङ्ग उद्गीथादावादित्यादिदृष्टि कर्त्तव्या उतादित्यादिषूद्गीथादि दृष्टिरिति संशये, तत्रादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टिरिति। कुतः? फलसाधनभूतकर्माङ्गतयोद्गीथादीनामफलेभ्य आदित्यादिभ्य उत्कृष्टत्वान्निकृष्टे ह्युत्कृष्टदृष्टिः कर्त्तव्या न्याय्यत्वादिति प्राप्त उच्यते–आदित्यादिमतयश्चेति। आदित्यादिदृष्टय एव कर्माङ्ग उद्गीथादौ कर्त्तव्याः। कुतः? उपपत्तेः। कर्मणामपि फलसाधनत्वमादित्यादिदेवताराधनद्वारेणेत्यादित्या-देरेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः।।६।। इत्यादित्यादिमत्यधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी–अनुवाद)

"य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत (छा० १/३१)" इत्यादि कर्माङ्ग के आश्रय उपासनाओं में प्रश्न उठता है कि कर्माङ्ग उद्गीथ आदि में आदित्य आदि की दृष्टि करनी चाहिए अथवा आदित्य आदि में उद्गीथ आदि की दृष्टि? ऐसा संशय उपस्थित होने पर पूर्वपक्ष होता है कि आदित्य आदि में उद्गीथ आदि की दृष्टि करनी चाहिए क्योंकि फल के साधनभूत कर्म के अङ्गरूप में उद्गीथ आदि का, फलहीन आदित्य से उत्कृष्ट होने के कारण, निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करनी चाहिए क्योंकि यही न्याय्य है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'आदित्यादिमतयश्चेति' अर्थात् आदित्य आदि दृष्टि ही उद्गीथ रूप कर्माङ्ग में करनी चाहिए क्योंकि इसी की उपपत्ति है अर्थात् कर्मों में भी फल साधनत्व आदित्य आदि देवताओं की आराधना के द्वारा ही होता है, इसलिए आदित्य आदि में ही उत्कृष्टत्व की उपपत्ति है।।६।।

इसप्रकार आदित्यादिमति अधिकरण पूर्ण हुआ।।४।।

आसीनः सम्भवात् ।।४।१।७।।

किमिदं ब्रह्मदर्शनासाधारणोपायतया वेदान्तशास्त्रैर्विहितं ध्यानवेदनज्ञानप्रत्ययादि-शब्दवाच्यमुपासनमासीनः शयानो गच्छँस्तिष्ठन्वा कुर्यादित्यनियम उतासीन एवेति नियमः? इति संशयः। तत्र विशेषाश्रवणादनियम इति प्राप्ते प्रतिब्रूत-आसीन एवोपासनमनुतिष्ठेत्। कुतः? सम्भवात्। उपासनं ह्येकाग्रतया साध्यमेकाग्रचित्तता चासीनस्यैव सम्भवति, शयनादीनां लयविक्षेपहेतुत्वात्।।७।।

(हिन्दी-अनुवाद)

क्या यह ब्रह्म साक्षात्कार के असाधारण उपाय रूप में वेदान्त शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित ध्यान, वेदन, ज्ञान तथा प्रत्यय आदि शब्द वाच्य उपासना आसीन (बैठकर), सोकर, चलता हुआ या खड़े होकर करें, इसका कोई नियम नहीं है या बैठकर ही करें यह नियम है, ऐसा संशय समुपस्थित होने पर पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि इस विषय में कोई विशेष वचन नहीं होने से इसका कोई नियम नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं, आसीन होकर ही उपासना का अनुष्ठान करे क्योंकि तभी उपासना की सिद्धि सम्भव है। कारण उपासना एकाग्रचित्त से ही सम्भव है और एकाग्रता बैठ कर ही सम्भव है। शयन आदि लय एवं विक्षेप के हेतु हैं।।७।।

ध्यानाच्च ।।४।१।८।।

निदिध्यासितव्य इत्युपासनस्य ध्यानरूपत्वाच्चैकाग्रतावश्यम्भाविनी। अन्यथा ध्यानासिद्धेः। ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययानालम्बनत्वे सति ध्येयाकारैकस्मृतिसन्ततिरूपं, तदेव परिपाकापन्नं ध्रुवास्मृतिपराभक्तिशब्दाभिधेयं, "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः (छा० ७/२६/२), मद्भक्तिं लभते परामि" (गी० १८/५४) ति श्रुतिस्मृतिभ्याम्। तथा च स्थितौ गमने च विक्षेपात् शयाने लयाच्च दुःसाध्यमिति भावः।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'निदिध्यासितव्यः' इस वचन द्वारा प्रतिपादित उपासना ध्यान रूप होने से इसमें एकाग्रता अवश्य अपेक्षित है, अन्यथा ध्यान की सिद्धि नहीं होगी। ध्यान का अर्थ है जहाँ विजातीय प्रतीति का आलम्बन न होकर केवल ध्येयाकार मात्र की स्मृति परम्परा हो। वही परिपाक अवस्था को प्राप्त होकर ध्रुवा स्मृति तथा पराभक्ति संज्ञा को प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः (छा० ७/२६/२), मद्भक्तिं लभते पराम्" (गी० १८/५४), अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुवा स्मृति की प्राप्त होती है। मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है। इस श्रुति एवं स्मृति वचन द्वारा ज्ञात होता है। इस प्रकार खड़े होने एवं चलते रहने में विक्षेप तथा सोने में लय की सम्भावना होने से दुःसाध्य है।।८।।

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ।।४।१।९।।

तच्च ध्यानं नैश्चल्यसापेक्षं तदभावे तदसिद्धेः "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौ र्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता (छा० ७/६/१)" इत्यत्राचलत्वमपेक्ष्यैव ध्यायतीति प्रयोगो दृश्यते, तथाभूतं नैश्चल्यमासीनस्यैव सम्भवति, नान्यस्येत्यर्थः।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वह ध्यान निश्चलता की अपेक्षा करता है, निश्चलता के अभाव में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती। "ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वताः (छा० ७/६/१)", पृथ्वी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानों ध्यान करता हैं, स्वर्ग मानो ध्यान करता है इत्यादि स्थलों में अचलत्व की अपेक्षा करके ध्यायति शब्दों का प्रयोग है और उक्त प्रकारक नैश्चल्य आसीन व्यक्ति में ही सम्भव है, अन्य में नहीं।।९।।

स्मरन्ति च ।।४।१।१०।।

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धय" (गीता ६/११) इत्यादिना स्थिरसुखासने स्वस्तिकासनेनोपविश्य निमीलितनयनो निरतिशयानन्दे परमात्मनि चित्तमावेशयेदिति स्मरन्ति।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस विषय में शास्त्र का वचन भी है- "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये" (गीता ६/११) अर्थात् पवित्र देश में पवित्र आसन पर बैठकर एकाग्र मन से आत्मशुद्धि के लिए उपासना करनी चाहिए। यहाँ स्पष्टतया भगवान् ने स्थिर तथा सुखमय आसन पर स्वस्तिक आसन से बैठकर तथा दोनों नयनों को निमीलित कर निरतिशय आनन्द स्वरूप परमात्मा में चित्त को लगाए, ऐसा कहा गया है।।१०।।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।।४।१।११।।

नात्र कश्चिद्देशकालादिनियमः किन्तु यत्र देशे काले च चित्तैकाग्र्यं स्यात्तत्रैव ध्यानं कुर्यात्। ननु वैदिकारम्भेषु प्रायेण दिगादिनियमो दृश्यते। उपासनस्यापि वैदिकत्वाविशेषात्तत्रापि दिगादिनियमेन भवितव्यमिति चेत्तद्वदत्र विशेषस्याश्रवणात्। नन्वाम्नायते देशविशेषनियमः श्वेताश्वतरैः "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते। शब्दजलाश्रयादिभि र्मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेदि" (श्वे० २/१०) त्यादिनेति चेत्सत्यम्। तैरपि चित्तैकाग्रतैकान्तदेश एवोच्यते, नतु देशविशेषो नियम्यते, मनोऽनुकूल इति वाक्यशेषादित्यर्थः।।११।। इत्यासीनाधिकरणम्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस विषय में देश काल आदि का कोई नियम नहीं है किन्तु जिस देश तथा काल में चित्त की एकाग्रता हो, वहीं ध्यान करना चाहिए। यदि कहें कि वैदिक क्रिया कलापों में प्रायः देशकाल आदि का नियम देखा जाता है और उपासना भी वैदिक से भिन्न नहीं है, फिर तो इसमें भी देश आदि का नियम होना ही चाहिए, ऐसा कहें तो वैदिक कर्मकाण्ड की तरह उपासना में विशेष देशकाल का श्रवण नहीं है। यदि कहें कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में देश काल का नियम कहा गया है "समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते। शब्दजलाश्रयादिभि र्मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्" (श्वे० २/१०) अर्थात् समभूमि, ऊँच-नीच रहित पवित्र देश में, कंकड़, पत्थर, वह्नि, बालू आदि रहित स्थान में, शब्द जलाशय आदि के अनुकूल भूमि में, मनोऽनुकूल स्थान में, जहाँ नेत्र के लिए कष्टप्रद न हो ऐसे स्थान में, पर्वत की गुफा आदि में जहाँ आँधी तूफान की सम्भावना न हो ऐसे स्थान में उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार उपासना के लिए भी देश काल का नियम सुना जाता है तो कहते हैं ठीक है। इन सबका भी मुख्य उद्देश्य है चित्त की एकाग्रता के अनुकूल देश, न कि देश विशेष का नियम है जो कि 'मनोऽनुकूले' इस अन्तिम शब्द से स्पष्ट है।।११।।

इस प्रकार से आसीन अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।५।।

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।।४।१।१२।।

तदिदं मोक्षासाधारणसाधनं ध्यानमेकस्मिन्नहनि कार्यमुताप्रायणात्प्रत्यहमा-वर्त्तनीयमिति संशयः। तत्रैकस्मिन्नेवाहनि कृत्वोपरमे, दावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वात्। "यावदायुषमि" ति वचनं तु विधिशब्दाभावाद्विद्यायाः फलत्वेनोपसंहारपरमिति प्राप्ते, ब्रूम-आप्रायणादिति। आमरणान्नैरन्तर्येणानुष्ठेयं, नत्वल्पकालानुष्ठेयम्। कुतः? तत्रापि हि "आप्रायणान्मध्ये यः कालस्तत्राप्युपासनं दृष्टं, "स खल्वेदं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यत" इत्यप्राप्तत्वेनानुवादासम्भवाद्विधिरेवायमिति। तथा "ऽथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैत्येवं क्रतुर्ह्यमुंलोकं प्रेत्याभिसम्भवती" (छा० ३/१४/१) त्यग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्यायां श्रवणात्। अत्र क्रतुशब्दो मानसव्यापारपरः, क्रतुमयो ध्यानप्रधान इत्यर्थः।।१२।। इत्याप्रायणाधिकरणम्।।६।।

तदेवं विद्यासाधनानुष्ठाने प्रयत्नाधिक्यज्ञापनाय फलाध्यायेऽपि विद्यासाधनशेषं विचार्येदानीं तत्फलचिन्तनायारभते—

(हिन्दी-अनुवाद)

मोक्ष का असाधारण उपाय यह ध्यान एक ही दिन करना चाहिए अथवा यावत् जीवन प्रतिदिन? ऐसा संशय है। अर्थात् पूर्वाह्न आदि काल नियम की तरह तावत् काल पर्यन्त उपासना करनी चाहिए, ऐसा काल के सम्बन्ध में कोई नियम श्रवण नहीं है। ऐसी स्थिति

में 'सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः' एक बार कर लेने पर भी शास्त्र का पालन हो जाता है, इस न्याय से एक ही दिन करना चाहिए न कि जीवन भर। यदि कहें कि "स खल्वेदं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इस श्रुति के अनुसार आयुपर्यन्त उपासना का विधान है तो कहते हैं, विधि शब्द के अभाव होने से विद्या के फलरूप में उपसंहारपरक है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं "आप्रायणादिति" मरण पर्यन्त निरन्तर भाव से अनुष्ठान करना चाहिए, न कि अल्पकाल ही। क्यों ? तत्रापि हि मरण पर्यन्त मध्य में जो काल है, उसमें भी उपासना देखी गई है "स खल्वेदं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" इस प्रकार अप्राप्त होने से यह विधि वाक्य ही है अर्थात् जीवन पर्यन्त निरन्तर अखण्ड रूप से ध्यानादि उपासना करते रहना चाहिए। इस प्रकार का दूसरा भी वचन है– [1]"अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति क्रतुर्ह्यमुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति" (छा० ३/१४/१) ऐसा अग्निरहस्य में शाण्डिल्यविद्या में सुना गया है। यहाँ क्रतु शब्द मानस व्यापारपरक है अर्थात् सङ्कल्पपरक है, क्रतुमयः अर्थात् ध्यान प्रधान।।१२।।

इस प्रकार आप्रायण अधिकरण सम्पूर्ण हुआ।।६।।

इसप्रकार विद्या के साधन के अनुष्ठान में प्रयत्न के आधिक्य ज्ञापन के लिए फल अध्याय में भी विद्या की साधना में शेष अंश का विचार कर उसके फल को चिन्तन के लिए आरम्भ करते हैं——

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।।४।१।१३।।

छान्दोग्ये श्रूयते "तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त, एवमेवम्विदि पापं कर्म न श्लिष्यते (छा० ४/१४/३)"। "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त (छा० ५/२४/३)" इति। तत्र संशयः, किमत्र प्राप्तविद्यस्य विदुष उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ श्रूयमाणावुपपद्येते न वेति? किं युक्तम्? नोपपद्येते इति। कुतः? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म

---

१. यह मन्त्र छा० उ० अ० ३/ख०१४ मन्त्र १–२ में है। यह शाण्डिल्य विद्या है। इसमें कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है, उसी से उत्पन्न, उसी में लीन तथा उसी के द्वारा जीवित रहने वाला है। अतः शान्तभाव से उसकी उपासना करनी चाहिए। क्योंकि यह पुरुष (जीव) क्रतुमय है, सांकल्पमय है जैसा क्रतु संकल्प करता है। जैसी उपासना भावना करता है, वैसा ही करने के बाद होता है। वृहदारण्यक में भी कहा है 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' इसलिए उसकी उपासना करनी चाहिए 'स क्रतुं कुर्वीत' वह परमात्मा मनोमय शुद्धमनो ग्राह्य, प्रांण शरीर सबके प्राण के धारक। प्रकाश स्वरूप दिव्यविग्रहधारी, सत्यसंकल्प। आकाशात्मा आकाशवत् सूक्ष्म या स्वच्छस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ क्रतुमयः पुरुषः। यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः प्राणशरीरो भारूप सत्यसंकल्पः सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः एष में आत्माऽन्तर्हृदये एतद् ब्रह्मै तमितः प्रेत्य अभिसभवितास्मि यस्य स्याय न विधि कि तत्रास्तीत्याह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः। (सं)

शुभाशुभमि" ति भोगेनैव कर्मक्षयश्रवणादश्लेषविनाशश्रुतिः कथञ्चिद्विद्यास्तुत्यर्थतया नेया, नहि विद्या पापप्रायश्चित्तत्वेन विधीयत, अपितु "ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवती"ति ब्रह्मापरोक्षसाधनतया विधीयत इति प्राप्ते उच्यते—तदधिगम इति। एवम्भूतेन ध्यानपरिपाकेन ध्रुवास्मृत्याख्यज्ञानाधिगमे सिद्धे सति उत्तरपूर्वाघयोरश्लेष-विनाशावुपपद्येते। तत्रोत्तरभाविनः क्रियमाणस्य पापस्याश्लेषः तत्प्राग्भूतस्य सञ्चितस्य तस्य नाशः। कुतः? तद्व्यपदेशात्। "एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इत्यादिव्यपदेशात्। "नाभुक्तं क्षीयते कर्मे" ति शास्त्रं हि कर्मणां फलजनने सामर्थ्यं द्रढयति। "एवम्बिदि पापं कर्म न श्लिष्यत" इत्यादि तु विद्यायास्तत्सामर्थ्यनिवारणशक्तिपरमिति द्वयोः शास्त्रयोर्भिन्नविषयत्वान्न विरोधः। यथाप्तेजसोः शीतजननतन्निवारणशक्तिविषयोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात्प्रामाण्यमेवमिहापीति।।१३।। इति तदधिगमाधिकरणम्।।७।।

नन्वत्र पापस्यैवाश्लेषविनाशश्रवणात्पुण्यं तु विदुषा भोक्तव्यमेव, सुकृतस्य शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य सुखरूपत्वेन विदुषोऽनिष्टत्वाभावाच्चेति चेत्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

छान्दोग्य में सुना जाता है "तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवम्विदि पापं कर्म न श्लिष्यते (छा० ४/१४/३)" अर्थात् पुष्कर पलाश कमल के पत्ते पर जल का संश्लेष (सम्बन्ध) नहीं होता, इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता का पाप कर्म से सम्बन्ध नहीं होता। "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते (छा० ५/२४/३)" जैसे सींक का अग्रभाग अग्नि में घुसा देने से तत्काल जल जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता के समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। यहाँ संशय होता है कि ब्रह्मवेत्ता पुरुष के लिए जो कहा गया है कि उत्तरपाप का आश्लेष (सम्बन्ध) नहीं होता और पूर्व पाप का विनाश हो जाता है। क्या यह सत्य है या नहीं? यहाँ क्या युक्त है। पूर्वपक्ष है 'नोपपद्यते' ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्र का वचन है "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" अर्थात् कर्म का फल बिना भोग के नष्ट नहीं होता। शुभ अशुभ कर्म का फल सबको भोगना ही पड़ता है। इसप्रकार पुण्य पापरूपी कर्म का भोग से ही क्षय सुना जाता है, इसलिए अश्लेष विनाश श्रुति का विद्या की प्रशंसा में तात्पर्य समझना चाहिए। विद्या का पाप के प्रायश्चित रूप में विधान नहीं है अपितु "ब्रह्मविदाप्नोति परं, ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म के अपरोक्ष साधन के रूप में विधान है, ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं 'तदधिगम इति' अर्थात् ध्यान का परिपाक स्वरूप ध्रुवास्मृति रूप ज्ञान के अधिगम होने पर उत्तर शुभ-अशुभ रूप पुण्य-पाप का अश्लेष एवं पूर्व पुण्य-पाप का विनाश हो जाता है यानी भावी एवं क्रियमाण पाप का अश्लेष एवं पूर्वकृत सञ्चित पाप का विनाश हो जाता है। क्योंकि ऐसा ही व्यपदेश है "एवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" "नाभुक्तं क्षीयते कर्म"

इत्यादि शास्त्र कर्मो की फलोत्पत्ति में सामर्थ्य बताती है और "एवम्बिदि पापं कर्म न श्लिष्यते" इत्यादि वचन विद्या में कर्म फल निवारण की शक्ति है, ऐसा बताती है। इस प्रकार दोनों शास्त्रों का विषय भिन्न है। इसलिए इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे जल में शीत जनकता तथा तेज में शीत निवारकता प्रतिपादक शास्त्रों में विषय भेद के कारण प्रामाण्य है, उसी तरह यहाँ भी उक्त दोनों वचनों में प्रामाणिकता है। कोई विरोध नहीं।।१३।।

इसप्रकार तदधिगम प्रकरण पूरा हुआ।।७।।

यदि कहें कि विद्या से पाप के ही अश्लेष एवं विनाश का श्रवण है। पुण्य का फल तो विद्वान् को भोगना पड़ेगा क्योंकि सुकृत (पुण्य) शास्त्र विहित है और उसका फल सुखरूप होने से विद्वान् के लिए अनिष्ट भी नहीं है, तो इस पर कहते हैं—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु।।४।१।१४।।

इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मणः शास्त्रदृष्ट्या संसरणहेतुत्वसाम्यादेवमघवदश्लेषविनाशौ विद्यया स्याताम्। "उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते तत् सुकृतदुःकृते विधुनुत" इत्यादि श्रुत्या मुमुक्षोर्मोक्षविरोधित्वेनानिष्टफलत्वात्पुण्यमपि पाप्मशब्देन व्यपदिश्यत "उभ उ हैवैष एते तरती (बृ० ४/४/२२)" त्यादौ पापवत् पुण्यस्यापि प्रणाशव्यपदेशाच्च। पाते तु, तुशब्दोऽवधारणे शरीरपाते विदुषो मुक्तिरेवेत्यर्थः।।१४।। इतीतराधिकरणम्।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् पाप की तरह पुण्य में भी समान रूप से शास्त्र की दृष्टि से संसार का हेतु होने से उसका भी पापी की तरह विद्या से अश्लेष एवं विनाश होगा "उभे सुकृतदुष्कृते निर्दिश्य सर्वे पाप्मानो ऽतो निवर्त्तन्ते तत् सुकृतदुःकृते विधुनुते" अर्थात् विद्या से समान रूप से पुण्य तथा पाप का विनाश होता है इत्यादि श्रुति से मुमुक्षु के लिए मोक्ष विरोधी होने के नाते अनिष्टफलरूप होने से पुण्य भी पाप शब्द से व्यवहृत होता है तथा "उभ उ हैवैष एते तरति (बृ० ४/४/२२)" इत्यादि प्रमाणों द्वारा पाप की तरह पुण्य का भी प्रणाश कहा गया है। 'पाते' तु। यहाँ तु शब्द अवधारण अर्थ में है अर्थात् शरीर पात होने पर तो मुक्ति ही हो जाती है।।१४।।

इस प्रकार इतराधिकरण पूरा हुआ।।८।।

अनारब्धकार्य्य एव तु पूर्वे तदवधेः।।४।१।१५।।

पूर्वयोरधिकरणयोः पुण्यपापयोर्विद्यानिमित्तो विनाशोऽवगतः, स किमविशेषेणारब्ध-कार्ययोरना रब्धकार्ययोश्च भवति उत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति चिन्त्यते। तत्र

"सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्त" इति विद्याशक्तेरविशेषात्तदविशेष इति पूर्वपक्षी मन्यते, तत्राचक्ष्महे–पूर्वे पुण्यपापरूपे कर्मणी अनारब्धकार्य एव विनश्यतः। कुतः? तदवधेः "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य (छा० ६/१४/२)" इत्युत्पन्नविद्यस्यापि शरीरपातावधिश्रवणादन्यथा सर्वविनाशे शरीरस्थित्यनुपपत्तेः।।१५।। इति अनारब्धकार्याधिकरणम्।।९।।

(हिन्दी–अनुवाद)

पूर्व के दोनों अधिकरणों में विद्या द्वारा पुण्य–पाप का विनाश बताया गया। यहाँ प्रश्न उठता है कि विद्या से प्रारब्ध तथा अप्रारब्ध, उभय कर्मों का विनाश होता है अथवा विशेष रूप से केवल अनारब्ध कर्मों का ही नाश होता है। यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि "सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" अर्थात् समस्त पुण्य–पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रमाण के आधार पर विद्या के प्रभाव से सामान्य रूप से सभी पापों का नाश हो जाता है। इस पर सिद्धान्त कहते हैं, पूर्व पुण्य–पाप अनारब्ध कार्य यानी सञ्चित कर्म ही नष्ट होते हैं क्योंकि 'तदवधेः' अर्थात् "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये (छा० ६/१४/२)" इस प्रमाण के आधार पर तो विद्या उत्पन्न होने पर भी शरीर पात होने के बाद ही मुक्ति का श्रवण है अन्यथा आरब्ध अनारब्ध आदि समस्त कर्मों के नाश हो जाने पर तो शरीर की स्थिति की ही अनुपपत्ति हो जायगी।

इस प्रकार अनारब्ध कार्याधिकरण पूरा हुआ।।९।।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्।।४।१।१६।।

अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकस्वाश्रमकर्म विदुषा किं कर्तव्यम् उत नेति संशयः। तत्र विद्यासामर्थ्यात् धर्माधर्मयोरश्लेषविनाशविधानादाश्रमकर्मणोऽपि सुकृतत्वसाम्येन तत्फलाश्लेषान्न कर्त्तव्यमिति प्राप्ते, प्रत्युच्यत—अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्दः सुकृतान्तरसाम्यशङ्कां निरस्यति। अग्निहोत्रादि स्वाश्रमकर्मविदुषाऽपि तत्कार्याय विद्योत्पत्तिरूपकार्यायैव कर्त्तव्यं, कुतः? तद्दर्शनात्। दृश्यते ह्यग्निहोत्रादीनां "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेने" (बृ० ४/४/२२) त्यादिना विद्योत्पत्तिफलत्वं, विद्या चाप्रयाणादहरहराधेयातिशयोत्पाद्यैव, तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्माप्यहरहः कर्त्तव्यमितरथाऽशुद्धान्तःकरणस्य विद्योत्पत्त्यसम्भवात्।।१६।।

यद्यग्निहोत्रादिसुकृतं विद्योत्पत्त्यर्थं विद्योत्पत्तेः पूर्वकृतं च सुकृतदुष्कृतं विद्यया विनष्टं, भुक्त्यवशिष्टं च प्रवृत्तफलं तर्हि "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ती"ति कौषीतकिवचनस्य, "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति, सुहृदः साधुकृत्यामि"ति शाट्यायनिवचनस्य च को विषय इत्याशङ्क्याह—

(हिन्दी-अनुवाद)

अग्निहोत्र आदि नित्यनैमित्तिक अपना आश्रम कर्म विद्वान् (ज्ञानी) को करना चाहिए अथवा नहीं ऐसा संशय है। यहाँ विद्या की सामर्थ्य से पुण्य-पाप का अश्लेष एवं विनाश का विधान होने से आश्रम कर्म अग्निहोत्र आदि भी सुकृत (पुण्य कार्य) होने के कारण उसके फल के अभाव के कारण नहीं करना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'अग्निहोत्रादि तु' यहाँ तु शब्द अग्निहोत्रादि स्वाश्रम कर्म में अन्य सामान्य पुण्य की समता की शङ्का का निराकरण करते हैं। अग्निहोत्र आदि आश्रम कर्म विद्वान् को भी विद्योत्पत्ति रूप कार्य के लिए ही करना चाहिए क्योंकि ऐसा देखा गया है। अग्निहोत्र आदि कार्यों में "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" (बृ० ४/४/२२) अर्थात् वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप तथा व्रत के द्वारा विद्या की उत्पत्ति होती है और विद्या मृत्यु पर्यन्त प्रतिदिन उत्पाद्य ही है, उसकी उत्पत्ति के लिए आश्रम कर्म भी नित्य करते रहना चाहिए। अन्यथा अशुद्ध अन्तःकरण होने से विद्या की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है।।१६।।

यदि अग्निहोत्र आदि साधु कृत्य विद्या की उत्पत्ति के लिए है और विद्या की उत्पत्ति से प्राचीन विद्या के उदय काल में तथा प्रारब्ध फल से भिन्न समस्त सुकृत विद्या के द्वारा नष्ट हो गया तथा प्रारब्ध भोग के द्वारा नाश हो तथा भोग से अवशिष्ट फल के लिए प्रवृत्त हो तो "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति" इस कौषीतकि वचन तथा "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्याम्" इस शट्यायनि वचन का क्या विषय है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं——

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः।।४।१।१७।।

अतोऽग्निहोत्रादेरन्यापि विद्याधिगमात्पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यपापकर्मणोः प्रबलकर्मान्तरप्रतिबद्धफला साध्वसाधुकृत्याऽस्त्येव। यतः काम्यं कर्म फलाय क्रियते, प्रतिषिद्धं चाचर्यते तद्विषयमेकेषां शाखिनां "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमि" त्यादिवचनं, तद्विषयैव विद्ययाश्लेषविनाशश्रुतिरपि काम्यकर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वात्।।१७।।

अनुष्ठितस्य कर्मणः फलप्रतिबन्धसम्भवं पूर्वोक्तं स्मारयति——

(हिन्दी-अनुवाद)

इस अग्निहोत्र आदि से भिन्न अन्य भी विद्याप्राप्ति से पूर्व एवं उत्तरकाल भावी पुण्य तथा पाप कर्म के प्रबल कर्मान्तर से अवरुद्ध फलवाले साधु तथा असाधु कृत्य रहते ही हैं। क्योंकि काम्यकर्म फल के लिए ही किये जाते हैं और निषिद्ध का आचरण करते हैं। इस विषय में किसी शाखा वालों का वचन है "तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतम्" विद्या से क्रियमाण पुण्य पाप का अश्लेष तथा प्राक्तन का विनाश प्रतिपादक श्रुति भी है। काम्यकर्म विद्या के प्रति अनुपकारक होते हैं।।१७।।

पूर्व में अनुष्ठित कर्म के फल का प्रतिबन्ध के सम्बन्ध में पूर्व कथित वचन को स्मरण कराते हैं–

यदेव विद्ययेति हि।।४।१।१८।।

हि यतो "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमि (छा० १/१/१०)" त्युद्गीथविद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्वकथनमनुष्ठितस्य केवलस्य कर्मणः कर्मान्तरेण फलप्रतिबन्धं सूचयति। अत आरोग्यान्नादिसिद्धये विदुषाऽनुष्ठितप्रबलकर्मान्तरप्रतिबद्धफलपुण्यकर्म विषयं "सुहृदः साधुकृत्यामि" त्यादि।।१८।। इत्यग्निहोत्राधिकरणम्।।१०।।

(हिन्दी–अनुवाद)

क्योंकि "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरम् (छा० १/१/१०)" अर्थात् जो कर्म ज्ञानपूर्वक या ज्ञान के साथ किये जाते हैं, वही बलवान् होते हैं। इस उद्गीथ विद्या में क्रतु फल के अप्रतिबन्ध फलत्व का कथन तथा केवल अनुष्ठित कर्म के कर्मान्तर से फल प्रतिबन्ध को सूचित करते हैं। इसलिए आरोग्य, अन्न आदि की सिद्धि के लिए विद्वान् द्वारा अनुष्ठित प्रबल कर्मान्तर द्वारा प्रतिबद्ध फल वाले पुण्य कर्म के विषय में यह श्रुति है "सुहृदः साधुकृत्याम्" इत्यादि।।१८।।

इसप्रकार से अग्निहोत्र अधिकरण पूरा हुआ।।१०।।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते।।४।१।१९।।

विदुषा प्रारब्धे पुण्यपापे कर्मणी किं विद्यायोनिशरीरभोग्ये? उत शरीरान्तरभोग्येऽपीति संशये, किं युक्तं, तच्छरीरभोग्ये इति, "यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" (छा० ६/१४/२) इति श्रुतेरिति प्राप्त, आह–भोगेनेति। तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः। इतरे प्रवृत्तकार्ये पुण्यपापरूपे कर्मणी स्वप्रवृत्तफलभोगेन क्षपयित्वाऽथ तत्फलसमाप्त्यनन्तरं ब्रह्म सम्पद्यते। प्रारब्धं कर्म यदि ह्येकशरीरे भोग्यं तर्हि तच्छरीरावसाने मोक्षो, ऽनेकशरीरभोग्यं चेदनेकशरीरावसान इति राद्धान्तः। "नाभुक्तं क्षीयते कर्मे"ति श्रुतिः प्रारब्धकर्म विषयैव। आरब्धफलयोर्भोगेनैव क्षपयितव्यत्वाभिप्रायेण "यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्य" इति चोच्यते। शरीरमतन्त्रं तदवधिनियमाश्रवणात्कर्मविषयौ बन्धमोक्षौ। अयं भावः—— विदुषो विद्यामाहात्म्यात्सञ्चितक्रियमाणयोरश्लेषविनाशौ, प्रारब्धस्य तु कर्मणो भोगेन विनाशः। तत्र प्रारब्धस्य विद्यायोनिशरीरेणेतरशरीरैर्वा भुक्त्वा विनाशान्मोक्ष इति सङ्क्षेपः।।१९।। इतीतरक्षपणाधिकरणम्।।११।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यश्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचर–
णारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीद्श्रीकेशवकाश्मीरि–
भट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां
ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायप्रथमपाद–
विवरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

कर्मफल के लिए उन्मुख पुण्य पाप का भोग से ही विनाश होता है, न कि विद्या द्वारा, ऐसा पहले कहा गया। वे पुण्य पाप विद्योत्पादक शरीर के अवसान तक ही रहते हैं, या अन्य शरीर के अवसान तक? ऐसा संशय है। यहाँ उचित क्या है? तो बोले 'तच्छरीर भोग्ये' अर्थात् विद्योत्पादक शरीर भोग्य है। कारण श्रुति कहती है "यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" (छा० ६/१४/२) अर्थात् जब तक प्राप्त शरीर है तब तक की ही देरी है, यह शरीर पात होने पर मुक्ति हो जायेगी। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं। 'भोगेनत्वितर' इत्यादि तु शब्द शङ्का निरास के लिए है। फल प्रदान के लिए प्रवृत्त पुण्य तथा पाप रूप कर्म स्वद्वारा प्रवृत्त फल भोग कराकर उसी के द्वारा पुण्य पाप का नाश करके फल समाप्ति के अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त होता है। प्रारब्ध कर्म यदि एक शरीर में ही भोग्य होता है, तब तो उस शरीर के अवसान होने पर मोक्ष होता हैं। यदि प्रारब्ध कर्म अनेक शरीर भोग्य होता है तब अनेक शरीर के अवसान में मोक्ष होता है। ऐसा सिद्धान्त है। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" यह श्रुति प्रारब्ध कर्म विषयक ही है। फल भोग के लिए प्रारब्ध कर्मों (पुण्य पापों) का भोग से ही नाश होता है या प्रारब्ध कर्म भोग से ही नाश्य है, इसी अभिप्राय से कहा गया "यावन्न विमोक्षेऽथ सम्पत्स्ये" इति है। शरीर के अवधि का नियम श्रवण न होने से वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए कर्म विषयक ही बन्धमोक्ष होता है। सारांश यह है कि विद्वान् महापुरुष का विद्या के माहात्म्य से सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मों का विनाश एवं अश्लेष होता है। प्रारब्ध का भोग से ही विनाश होता है। इसमें प्रारब्ध का विद्योत्पादक शरीर अथवा यदि उस शरीर में भोग पूरा नहीं हो पाया, तो तदतिरिक्त अन्य शरीरों द्वारा भी भोग कर प्रारब्ध के नाश होने पर मोक्ष होता है।।१९।।

इस प्रकार से इतरक्षपणाधिकरण पूरा हुआ।।११।।

'यावन्न विमोक्ष्ये' का अर्थ है जब तक प्रारब्ध कर्म का मोक्ष नहीं हो जाता, नकि विद्योत्पादक शरीर का मोक्ष। इस प्रकार ब्रह्मविद्या से पहले अनुष्ठित अयुक्तफल तथा अनारब्ध फल वाला पुण्य पाप रूप समस्त कर्म अर्थात् सञ्चित एवं क्रियमाण, विद्या के माहात्म्य से विद्वान् पुरुष के लिए स्व स्व फल का जनक नहीं होता। विद्या आरम्भ से उत्तर काल में अनुष्ठित तथा विद्यार्थ कर्म अग्निहोत्र सन्ध्यावन्दन आदि कर्म व्यतिरिक्त समस्त कर्म फल उत्पादन में असमर्थ होता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष का प्रारब्ध तो एक या अनेक देह द्वारा फल भोग करा कर क्षीण होता है, तदनन्तर ब्रह्मस्मृति होती है यह भाव है।

इसप्रकार श्री सनकसम्प्रदायप्रवर्तक आचार्य श्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्म मकरन्दभृङ्गजगद्विजयिश्रीकेशवकाश्मीरिभट्ट द्वारा सङ्गृहीत वेदान्तकौस्तुभप्रभा के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद का पं० श्रीवैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

चतुर्थ अध्याय
द्वितीय पाद

विषय-सूची

अथ चतुर्थाऽध्याये द्वितीयपादारम्भः।

अथ वागधिकरणम्।

वाङ्मनसि दर्शनात् शब्दाच्च।।४।२।१।।

अथेदानीं विद्वद्गतिप्रकारचिन्तनार्थं प्रथमं तावदुत्क्रान्तिश्चिन्त्यतेऽ"स्य सौम्य! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामि" (छा० ६/८/६) ति सम्पत्तिः श्रूयते। तत्र संशयः। किं वाग्वृत्तिर्मनसि सम्पद्यते। उत वागेवेति? तत्र वाचो मनः प्रकृतिकत्वाभावात्स्वरूपलयस्तत्र न सम्भवतीति वागादीनां मनोऽधीनवृत्तिकत्वाद्वाग्वृत्तिमात्रमिति पूर्वः पक्षः। राद्धान्ते तु वाक्स्वरूपस्यैव लयो बोध्यः। कुतः? दर्शनात्। वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनःप्रवृत्तिदर्शनात्। "वाङ्मनसि सम्पद्यत" इति शब्दाच्च। अन्यथा शब्दस्वारस्यभङ्गः स्यात्। नहिं वृत्त्युपरमे तत्र प्रमाणान्तरेण वागिन्द्रियमवगम्यते। येन वृत्तिसम्पत्तिः कल्प्या, अप्रकृतौ लयाभावात्सम्पत्तिशब्दः संयोगाभिप्रायः।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब विद्याप्राप्त महापुरुषों की गति के प्रकार का चिन्तन करते हैं। इस पाद में प्राप्तविद्यजनों की सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उत्क्रमण तथा अर्चिरादि गति द्वारा विद्या के फल का चिन्तन करते हैं। इसमें मूर्धन्य नाड़ी प्रवेश पर्यन्त उत्क्रमण विद्वान् एवं अविद्वान् का समान होता है। इसलिए इस पाद में पहले उत्क्रान्ति का विचार करते हैं। यही बात कहते हैं 'अथेदानीम्' इत्यादि ग्रन्थ से। छान्दोग्य उपनिषद का वचन है, "अस्य सौम्य! पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" (छा० ६/८/६) अर्थात् मृत्यु के समय इस जीवात्मा की वाणी का मन में, मन का प्राण में, प्राण का तेज में तथा तेज पर देवता में स्थित होता है (लय होता है), यहाँ संशय होता है कि क्या वाणी की वृत्ति का मन में लय होता है, अथवा वाक् इन्द्रिय का ही लय होता है। यहाँ पूर्वपक्ष होता है- कारण में कार्य का लय होता है। वाणी का कारण मन नहीं है, अपितु वाक् इन्द्रिय की वृत्ति का ही मन कारण है। इसलिए वाणी का मन में स्वरूपतः लय संभव नहीं है, अपितु वाणी की वृत्ति का मन में लय होता है, ऐसा होने पर सिद्धान्त कहते हैं, वाक् इन्द्रिय का ही मन में लय हो जाता है क्योंकि 'दर्शनात्' ऐसा ही देखा जाता है (मरणासन्न मनुष्य में मन विद्यमान रहते हुए भी वाक् इन्द्रिय का कार्य बन्द हो जाता है) वाक् इन्द्रिय के उपरत होने पर भी मन की प्रवृत्ति देखी जाती है। "वाङ्मनसि सम्पद्यते" वाणी का मन में लय होता है। ऐसा श्रुतिवचन भी है। अन्यथा शब्द के स्वारस्य का भंग हो जायगा। वृत्ति का उपरम होने पर वहाँ प्रमाणान्तर से वाक् इन्द्रिय का अवगम नहीं होता है, जिससे वृत्ति की लय की कल्पना की जा सकती है। प्रकृति से भिन्न में लय के अभाव होने से सम्पत्ति शब्द का संयोग अभिप्राय है।।१।।

अत एव सर्वाण्यनु ।।४।२।२।।

अत एवोक्तहेतुभ्यां दर्शनशब्दाभ्यामेव वाचमनु सर्वाण्यपीन्द्रियाणि मनसि सम्पद्यन्ते। कोऽसौ शब्दः? "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाती" (३/९) ति प्रश्नोपनिषदि श्रुतेः। दर्शनं च पूर्ववद्बोध्यम्।।२।। इति वागधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इन्हीं उक्त हेतुओं, दर्शन एवं शब्द प्रमाणों के द्वारा वाक् इन्द्रिय के बाद समस्त इन्द्रियों का मन में लय हो जाता है। कौन सा शब्द प्रमाण है? तो कहते हैं- "तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैर्यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति" (३/९) इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में श्रुति वचन है। अर्थात् जिसके शरीर की ऊष्मा शान्त हो चुकी है, ऐसी जीवात्मा मन में स्थित हुई समस्त इन्द्रियों के साथ पुनर्जन्म को प्राप्त होती है। इस प्रकार श्रुति में किसी एक इन्द्रिय का मन में स्थित होना न कहकर समस्त इन्द्रियों की मन में स्थिति बताई गई है तथा सभी इन्द्रियों के कर्मों का बन्द होना प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। अतः पूर्वोक्त दोनों प्रमाणों से ही यह सिद्ध होता है कि वाक् इन्द्रिय के साथ-साथ अन्य इन्द्रियाँ भी मन में स्थित हो जातीं हैं।।२।।

इस प्रकार वागधिकरण पूरा हुआ।।१।।

तन्मनः प्राण उत्तरात्।।४।२।३।।

"मनः प्राण" इति श्रुतौ किं प्राणशब्दोऽपां वाचक उत प्राणस्यैवेति संशये"न्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राण" (छा० ६/५/४) इति मनसोऽन्नमयत्वस्य प्राणस्य चाम्भोमयत्वस्य श्रवणात्। "अद्भ्यः पृथिवी" त्यपामन्नप्रकृतित्वेन तत्र लयस्यापि सम्भवादब्वाचक इति प्राप्ते, राद्धान्तः। तत्सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणे सम्पद्यते, तेन संयुज्यत इत्यर्थः। कुतः? उत्तरात्। "मनः प्राण" इति वाक्यशेषात्। किञ्च "अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राण" इति श्रुत्याऽन्नादिना मनः प्राणयोरप्याप्यायनस्यैव विवक्षितत्वान्न तदुपादेयत्वं, मनसोऽहङ्कारोपादेयत्वात् प्राणस्य चाकाशोपादेयत्वान्न तत्राबन्नजत्वशङ्कावकाश इत्यर्थः।।३।। इति मनोऽधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"मनः प्राणे" अर्थात् मन का प्राण में लय होता है। यहाँ संदेह होता है कि श्रुति में प्राण शब्द क्या जल का वाचक है अथवा प्राण का ही? ऐसा संशय होने पर "अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राणः" (छा० ६/५/४) अर्थात् मन के अन्नमय एवं प्राण को आपोमय कहा गया है। "अद्भ्यः पृथिवी" इस श्रुति से जल के अन्न प्रकृतिक होने से उसमें लय का संभव होने से अप् वाचक है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं, समस्त इन्द्रियों से

संयुक्त होकर मन प्राण में लीन होता है, क्योंकि 'उत्तरात्' उत्तर वाक्य है 'मनः प्राणे' मन का प्राण में लय होता है, इस वाक्य शेष से। दूसरी बात "अन्नमयं हि सौम्य! मनः आपोमयः प्राण" इस श्रुति के द्वारा अन्न आदि के द्वारा मन प्राण का आप्यायन ही विवक्षित है, न कि तत् कार्यत्व। मन का अहंकार उपादान है और प्राण आकाश का उपादेय है, इसलिए उसमें आप एवं अन्न द्वारा उत्पत्ति की शंका का कोई अवसर नहीं है।।३।।

इस प्रकार मनोऽधिकरण पूरा हुआ।।२।।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः।।४।२।४।।

प्राणः किं तेजसि सम्पद्यत उत जीव इति संशये तेजसीति पूर्वपक्षः। राद्धान्तस्तु स प्राणो देहेन्द्रियाधिपे जीवात्मनि संयुज्यते। कुतः? तदुपगमादिभ्यः। श्रूयन्ते हि प्राणस्य जीवोपगमादय "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्यामि" त्यादिषु। नच प्राणस्तेजसीति श्रुतिविरोधः, तस्या जीवविशिष्टप्राणविषयकत्वात्। यथा गङ्गायमुनयोर्वैशिष्ट्येन समुद्रलयेऽपि यमुनायाः पृथक्समुद्रलयोक्तावप्य-विरोधस्तद्वदन्यथोक्तश्रुतिविरोधात्।।४।। इति अध्यक्षाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

प्राण क्या तेज में लीन होता है या जीव में? ऐसा संशय होने पर तेज में लीन होता है ऐसा पूर्व पक्ष होता है, परंतु सिद्धान्त पक्ष है कि वह प्राण देह, इन्द्रिय आदि के अध्यक्ष जीवात्मा में संयुक्त हो जाता है, क्योंकि 'तदुपगमादिभ्यः' अर्थात् प्राण का जीवोपगमन श्रुति में सुना जाता है, जैसा कि श्रुति का वचन है, "एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति कस्मिन्नुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठितः स्याम्" अर्थात् अन्तकाल में सभी प्राण आत्मा में मिल जाते हैं और उस आत्मा के उत्क्रमण करने पर उसके साथ प्राण भी उत्क्रमण करता है इत्यादि। यदि कहें कि 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति के साथ विरोध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह श्रुति जीव विशिष्ट प्राणविषयक है। जैसे गंगा और यमुना साथ-साथ समुद्र में लय होने पर भी यमुना का पृथक् समुद्र में लय कहने पर भी कोई विरोध नहीं, उसी तरह यहाँ भी कोई विरोध नहीं है अन्यथाा उक्त श्रुति का विरोध होगा।।४।।

इस प्रकार अध्यक्षाधिकरण पूरा हुआ।।३।।

भूतेषु तुच्छ्रुतेः।।४।२।५।।

प्राणस्तेजसीति जीवविशिष्टः प्राणः कि तेजोमात्रे संयुज्यते उत संहतेषु तेजः प्रभृतिभूतेष्विति संशये तेजसीति श्रुतेस्तेजोमात्र इति प्राप्त, आह-भूतेष्विति। कुतः?

तुच्छ्रुतेः। "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमय" इति सञ्चरतो जीवस्य सर्मभूतमयत्वश्रवणात्।।५।।

ननु तेजआदिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण सम्पत्तावप्युक्तश्रुतिरुपपद्यत इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति से क्या जीव विशिष्ट प्राण तेज मात्र में संयुक्त होता है अथवा तेजः प्रभृति यानी तेजः सहित भूत समुदाय में? ऐसा संशय होने पर 'तेजसि' इस श्रुति से तेज मात्र में संयुक्त होता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'भूतेषु' अर्थात् भूतों में सूक्ष्म भूतों में क्योंकि 'तच्छ्रुतेः'। ऐसा श्रुतिवाक्य है "पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः" इस प्रकार उत्क्रमण काल में जीव का सर्वभूतमयत्व सुना जाता है।।५।।

यदि कहें कि तेज आदि में एक-एक में क्रमशः सम्पत्ति मान लेने पर भी उक्त श्रुति की उपपत्ति हो जायगी, इस पर कहते हैं—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि।।४।२।६।।

नैकस्मिन्नेव प्राणः संयुज्यत, एकैकस्याकार्यक्षमत्वात्। दर्शयतो हि कार्याक्षमत्वं श्रतिस्मृती। "नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी" ति नामरूपव्याकरणार्हत्वाय त्रिवृत्करणमुपदिश्यते। "नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यन्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति त" इति। तथा च प्राणस्तेजसीति जीवद्वारा भूतान्तरसंसृष्टे तेजसि प्राणः संयुज्यत इत्यर्थात्तेजः प्रभृतिभूतेष्वेव प्राणसम्पत्तिरिति।।६।। इति भूताधिकरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

'नैकस्मिन् दर्शयतो हि' अर्थात् केवल एक ही में प्राण संयुक्त नहीं होता। क्योंकि केवल एक भूत कार्यक्षम नहीं हो सकता। एक की कार्याक्षमता में श्रुति स्मृति प्रमाण है "नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इस प्रकार नाम रूप के व्याकरणत्व के लिए त्रिवृत्करण का उपदेश करते हैं। स्मृति भी कहती है "नानावीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना। नाशक्नुवन्प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः। समेत्यन्योऽन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते" इस प्रकार 'प्राणस्तेजसि' इस श्रुति द्वारा जीव द्वारा अन्यान्य भूतों से सम्पृक्त तेज में प्राण संयुक्त होता है। इस तरह तेज आदि समस्त भूतों में ही प्राण की सम्पत्ति होती है।।६।।

इस प्रकार भूताधिकरण पूरा हुआ।।४।।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य।।४।२।७।।

किं सेयमुत्क्रान्तिर्ज्ञाज्ञयोः समाना? उताज्ञस्यैव इति विशये "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत" इति बृहदारण्यके विदुषोऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रुतेरुत्क्रान्त्यभावादज्ञस्यैवेति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु आङ्मर्यादायां, सृतिरर्चिरादिका गतिः यावत्सृत्युपक्रमे मूर्द्धन्यनाडीप्रवेशस्ततः प्राक्ज्ञाज्ञयोः समानैवेय-मुत्क्रान्तिः। तदनन्तरं त्वस्ति विशेषः। "विद्वांश्चेन्मूर्द्धन्यनाडीं प्रतिपद्यते। अविद्वांश्चेत्पितृयानं नरकद्वारं वा प्रतिपद्यते। तथाहि–छन्दोगैराम्नायते "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ती"ति। एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणाद्विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरावश्यकी। सा च पूर्वत्र समानाऽपि प्रवेशे विशेषवती श्रूयते "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्य" इति। अत्र मूर्द्ध्न उत्क्रान्तिर्विद्वद्विषया, चक्षुरादिभ्य उत्क्रान्तिरितरविषया, शतं चैकेति श्रुत्यैकार्थ्यात्। यत्तूक्तम्-विदुषोऽत्रैवामृतत्वप्राप्तिश्रुतेरुत्क्रान्त्यभाव इति। तत्रोच्यते। अमृतत्वं चानुपोष्ये'ति। "अमृतत्वमेति अमृतो भवती" त्यादिनाऽमृतत्वं हि अनुपोष्यैव उषदाहे देहेन्द्रियादि-सम्बन्धमदग्ध्वैव पूर्वोत्तराघविनाशाश्लेषमात्रमुच्यते, देहादिसम्बन्धनाशस्याग्रे भविष्यमाणत्वात्। अत्र "ब्रह्म समश्नुत" इति श्रुतिस्तूपासनसमय एव ध्रुवास्मृत्याख्य-ब्रह्मानुभूतिविषया, ध्रुवास्मृतेर्वृहत्त्वादन्यथाऽमृतत्वं चानुपोष्येति विरुध्येत। लिङ्गशरीरदाहाभावे परमोक्षानुपपत्तेः। तस्य हि देशविशेषं गत्वैव लयश्रवणात्। "इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती" ति श्रुतेः गतिश्रुतिश्च विरुध्येत। अतो गतिश्रुत्यविरोधाय "यदा सर्वे प्रमुच्यन्त" इत्यनेनामृतत्वसाधनभूतोपासननिष्पत्तिरेवोच्यते। हृदि स्थिताः कामा यदा प्रमुच्यन्ते तदैवोपासननिष्पत्तेर्मर्त्योऽमृतो भवति पूर्वोत्तराघरहितो भवति। अत्र कामप्रमोक्षपूर्वकमोक्षोपासने स्थितो मर्त्यो समश्नुते। ब्रह्मविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितो भवतीत्यर्थः।।७।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यहाँ संशय होता है कि यह उत्क्रमण केवल विद्वान् का है या विद्वान्–अविद्वान् दोनों का? इस पर कहते हैं कि "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इस आत्मा की जब हृदयस्थित समस्त कामनाएँ छूट जाती हैं, तभी यह अमरत्व को प्राप्त हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस बृहदारण्यक श्रुति के प्रमाण के आधार पर विद्वान् पुरुष की इसी लोक में अमृतत्व की प्राप्ति का श्रवण होने से उनका उत्क्रमण नहीं होने के कारण, अज्ञ पुरुष का उत्क्रमण होता है, ऐसा पूर्व पक्ष होता है। यहाँ सिद्धान्त पक्ष है 'आसृति' यहाँ आसृति शब्द में आङ् शब्द मर्यादा अर्थ में है। 'सृति' का अर्थ है अर्चिरादि गति। उसके उपक्रम से पूर्व तक अर्थात् मूर्धन्य नाड़ी (सुसुम्णा)

में प्रवेश से पूर्व ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों का समान उत्क्रमण होता है। तदनन्तर विशेषता होती है। यदि विद्वान् है तब तो वह मूर्धन्य नाड़ी (सुषुम्णा) में प्रवेश करता है। यदि अविद्वान् है तब वह पितृयान या नरक द्वार को प्राप्त करता है। जैसा कि सामवेद में कहा है "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (छा० ८/६/६) इस जीवात्मा के हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक कपाल की ओर निकली हुई है। इसी को सुषुम्णा कहते हैं, उसके द्वारा ऊपर जाकर मनुष्य अमृत भाव को प्राप्त करता है। दूसरी नाड़ियाँ मरण काल में नाना योनियों में ले जाने वाली होती हैं। इस प्रकार नाड़ी विशेष से गति का श्रवण होने से विद्वान् पुरुष का भी उत्क्रमण आवश्यक है। वह पहले समान होने पर भी नाड़ी प्रवेश के समय विशेषता को प्राप्त होता है, "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्यः" उस विद्वान् का उत्क्रमण के समय हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो जाता है। उस प्रकाश के माध्यम से यह आत्मा निष्क्रमण करता है, कभी चक्षु से अथवा मूर्धा से अथवा शरीर के किसी प्रदेश से। यहाँ मूर्धा से विद्वान् पुरुष का उत्क्रमण होता है तथा चक्षु आदि के द्वारा अविद्वान् पुरुष का उत्क्रमण होता है। अभी यह जो कहा गया है कि विद्वान् पुरुष इसी लोक में अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं, अतः उनका उत्क्रमण नहीं होता, इस विषय में कहते हैं "अमृतत्वमेति अमृतो भवति" यहाँ अनुपोष्यैव शब्द का अर्थ है देह इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध को नाश किये बिना ही। अर्थात् पूर्व अघ का विनाश एवं उत्तर का अश्लेष मात्र कहा जाता है। देह आदि सम्बन्ध का नाश आगे कहा जायगा। "ब्रह्म समश्नुते" यह श्रुति उपासना काल में ही ध्रुवा स्मृति नामक ब्रह्मानुभूति विषयक है। ध्रुवा स्मृति सर्वोपरि है। अन्यथा 'अमृतत्वं चानुपोष्य' इस कथन का विरोध होगा। लिङ्ग शरीर के दाह के अभाव में परम मोक्ष की अनुपपत्ति होगी। लिङ्ग शरीर का देश विशेष में जाने के बाद ही लय होता है। "इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" ऐसी श्रुति है। गति श्रुति का भी विरोध होगा। इसीलिए "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इस श्रुति के द्वारा अमृत साधन भूत उपासना की निष्पत्ति ही कही जाती है। अर्थात् जब हृदय में स्थित कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं, उसी समय उपासना की निष्पत्ति हो जाने से मर्त्य प्राणी अमृतत्व को प्राप्त होता है। पूर्व एवं उत्तरकालीन पाप से रहित होता है। यहाँ कामनाओं के विनाश पूर्वक मोक्ष उपासना में स्थित मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करता है। अर्थात् ब्रह्म विषयक अखण्ड अनुभूति पूर्वक स्थित होता है।।७।।

उक्तमेव विशदयति ——

इसी विषय को स्पष्ट करते हैं—

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात्।।४।२।८।।

तदमृतत्वमदग्धदेहसम्बन्धस्यैव मन्तव्यम्। कुतः? आपीतेरिति। अपीतिरप्ययो ब्रह्मप्राप्ति रर्चिरादिमन्या देशविशेषं गत्वा यावत् ब्रह्म न प्राप्यते तावद्देहसम्बन्धरूपसंसारस्य

व्यपदेशात् "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्। (क० ५/७) तस्य तावदेव चिरं धूत्वा शरीरमकृतं कृताऽऽत्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामी" त्यादिना।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

वह अमृतत्व विना देह के दाह का ही समझना चाहिए क्योंकि 'आपीतेः' अपीति माने अप्यय ब्रह्म प्राप्ति अर्चिरादि गति द्वारा देश विशेष में जाकर जब तक जीव ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करता है, तब तक देह सम्बन्ध रूप संसार का व्यपदेश होता है। जैसा कि श्रुति का वचन है "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।" (क० ५/७) कुछ जीवात्मा शरीर प्राप्ति के लिए अन्य योनि को प्राप्त करते हैं। कुछ प्राणी अपने कर्म एवं विद्या के अनुसार स्थाणुभाव को प्राप्त करते हैं। इसी तरह "तस्य तावदेव चिरं धूत्वा शरीरमकृतं कृताऽऽत्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामि" श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है।।८।।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।।४।२।९।।

इतश्च मरणसमये विदुषो न देहसम्बन्धो दग्धो, यतः सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुतः? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः। देवयानेन पथा गछतो विदुषश्चन्द्रमसा सम्बादलक्षणप्रमाणादपि सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावोपलम्भात् "तं प्रतिब्रूयात्सत्यं ब्रूयादि" दि श्रुतेः।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पूर्वसूत्र में अभिप्रेत सूक्ष्म [1]शरीर के साथ सम्बन्ध में अब प्रमाण कहते हैं 'इतश्चे'ति। सूक्ष्म शरीर की अनुवृत्ति चन्द्र सम्वाद रूप प्रमाण से जाना जाता है। मार्ग में चन्द्र का संवाद सुना जाता है 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इत्यादि। यही कौस्तुभप्रभा में कहते हैं, इस कारण भी मरण के समय में विद्वान् पुरुष का देह सम्बन्ध दग्ध नहीं होता, कारण उस समय में सूक्ष्म शरीर की अनुवृत्ति रहती है। क्योंकि प्रमाण से उसकी उपलब्धि होती है अर्थात् देवयान मार्ग से जाने वाले विद्वान् पुरुष का चन्द्रदेव के साथ

---

१. विद्वान् को भी उत्क्रान्ति के लिए सूक्ष्म शरीर अनुवर्तमान् रहता है। अर्थात् श्रुति प्रमाण से मुक्त होने वाले जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर का सद्भाव रहता है। (वे०पा०सौ०)। मृत्यु के समय की स्थिति का वर्णन पहले वाणी एवं समस्त इन्द्रियों का मन में लय हो जाता है। इसीलिए मरणासन्न व्यक्तियों के वाणी सहित सभी इन्द्रियों का कर्म बन्द हो जाता है। वाणी बन्द हो जाती है। हाथ पैर बेकार हो जाते हैं। मन का प्राण में लय हो जाता है। वह प्राण मन सभी इन्द्रियों के साथ अध्यक्ष (जीवात्मा) में स्थित (लीन) हो जाता है। तत्पश्चात् समस्त इन्द्रियों एवं प्राण सहित जीवात्मा सूक्ष्म भूत सूक्ष्म शरीर में स्थित होता है। इस सू.श. में पञ्च महाभूत सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इस प्रकार मन वाणी प्राण समस्त इन्द्रियों सहित जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर में स्थित होने तक की स्थिति सबका है मरने वालों का समान होता है।

में प्रवेश से पूर्व ज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों का समान उत्क्रमण होता है। तदनन्तर विशेषता होती है। यदि विद्वान् है तब तो वह मूर्धन्य नाड़ी (सुषुम्णा) में प्रवेश करता है। यदि अविद्वान् है तब वह पितृयान या नरक द्वार को प्राप्त करता है। जैसा कि सामवेद में कहा है "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्धवमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति" (छा० ८/६/६) इस जीवात्मा के हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक कपाल की ओर निकली हुई है। इसी को सुषुम्णा कहते हैं, उसके द्वारा ऊपर जाकर मनुष्य अमृत भाव को प्राप्त करता है। दूसरी नाड़ियाँ मरण काल में नाना योनियों में ले जाने वाली होती हैं। इस प्रकार नाड़ी विशेष से गति का श्रवण होने से विद्वान् पुरुष का भी उत्क्रमण आवश्यक है। वह पहले समान होने पर भी नाड़ी प्रवेश के समय विशेषता को प्राप्त होता है, "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरप्रदेशेभ्यः" उस विद्वान् का उत्क्रमण के समय हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो जाता है। उस प्रकाश के माध्यम से यह आत्मा निष्क्रमण करता है, कभी चक्षु से अथवा मूर्धा से अथवा शरीर के किसी प्रदेश से। यहाँ मूर्धा से विद्वान् पुरुष का उत्क्रमण होता है तथा चक्षु आदि के द्वारा अविद्वान् पुरुष का उत्क्रमण होता है। अभी यह जो कहा गया है कि विद्वान् पुरुष इसी लोक में अमृतत्व की प्राप्ति करते हैं, अतः उनका उत्क्रमण नहीं होता, इस विषय में कहते हैं "अमृतत्वमेति अमृतो भवति" यहाँ अनुपोष्यैव शब्द का अर्थ है देह इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध को नाश किये बिना ही। अर्थात् पूर्व अघ का विनाश एवं उत्तर का अश्लेष मात्र कहा जाता है। देह आदि सम्बन्ध का नाश आगे कहा जायगा। "ब्रह्म समश्नुते" यह श्रुति उपासना काल में ही ध्रुवा स्मृति नामक ब्रह्मानुभूति विषयक है। ध्रुवा स्मृति सर्वोपरि है। अन्यथा 'अमृतत्वं चानुपोष्य' इस कथन का विरोध होगा। लिङ्ग शरीर के दाह के अभाव में परम मोक्ष की अनुपपत्ति होगी। लिङ्ग शरीर का देश विशेष में जाने के बाद ही लय होता है। "इमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" ऐसी श्रुति है। गति श्रुति का भी विरोध होगा। इसीलिए "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" इस श्रुति के द्वारा अमृत साधन भूत उपासना की निष्पत्ति ही कही जाती है। अर्थात् जब हृदय में स्थित कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं, उसी समय उपासना की निष्पत्ति हो जाने से मर्त्य प्राणी अमृतत्व को प्राप्त होता है। पूर्व एवं उत्तरकालीन पाप से रहित होता है। यहाँ कामनाओं के विनाश पूर्वक मोक्ष उपासना में स्थित मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त करता है। अर्थात् ब्रह्म विषयक अखण्ड अनुभूति पूर्वक स्थित होता है।।७।।

उक्तमेव विशदयति ——

इसी विषय को स्पष्ट करते हैं——

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात्।।४।२।८।।

तदमृतत्वमदग्धदेहसम्बन्धस्यैव मन्तव्यम्। कुतः? आपीतेरिति। अपीतिरप्ययो ब्रह्मप्राप्ति रर्चिरादिगत्या देशविशेषं गत्वा यावत् ब्रह्म न प्राप्यते तावद्देहसम्बन्धरूपसंसारस्य

व्यपदेशात् "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्। (क० ५/७) तस्य तावदेव चिरं धूत्वा शरीरमकृतं कृताऽऽत्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामी" त्यादिना।।८।।

(हिन्दी–अनुवाद)

वह अमृतत्व विना देह के दाह का ही समझना चाहिए क्योंकि 'आपीतेः' अपीति माने अप्यय ब्रह्म प्राप्ति अर्चिरादि गति द्वारा देश विशेष में जाकर जब तक जीव ब्रह्म की प्राप्ति नहीं करता है, तब तक देह सम्बन्ध रूप संसार का व्यपदेश होता है। जैसा कि श्रुति का वचन है "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।" (क० ५/७) कुछ जीवात्मा शरीर प्राप्ति के लिए अन्य योनि को प्राप्त करते हैं। कुछ प्राणी अपने कर्म एवं विद्या के अनुसार स्थाणुशरीर को प्राप्त करते हैं। इसी तरह "तस्य तावदेव चिरं धूत्वा शरीरमकृतं कृताऽऽत्मा ब्रह्म लोकमभिसम्भवामि" श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है।।८।।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः।।४।२।९।।

इतश्च मरणसमये विदुषो न देहसम्बन्धो दग्धो, यतः सूक्ष्मं शरीरमनुवर्त्तते। कुतः? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः। देवयानेन पथा गछतो विदुषश्चन्द्रमसा सम्बादलक्षणप्रमाणादपि सूक्ष्मशरीरस्य सद्भावोपलम्भात् "तं प्रतिब्रूयात्सत्यं ब्रूयादि" दि श्रुतेः।।९।।

(हिन्दी–अनुवाद)

पूर्वसूत्र में अभिप्रेत सूक्ष्म [१]शरीर के साथ सम्बन्ध में अब प्रमाण कहते हैं 'इतश्चे'ति। सूक्ष्म शरीर की अनुवृत्ति चन्द्र सम्वाद रूप प्रमाण से जाना जाता है। मार्ग में चन्द्र का संवाद सुना जाता है 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' इत्यादि। यही कौस्तुभप्रभा में कहते हैं, इस कारण भी मरण के समय में विद्वान् पुरुष का देह सम्बन्ध दग्ध नहीं होता, कारण उस समय में सूक्ष्म शरीर की अनुवृत्ति रहती है। क्योंकि प्रमाण से उसकी उपलब्धि होती है अर्थात् देवयान मार्ग से जाने वाले विद्वान् पुरुष का चन्द्रदेव के साथ

---

१. विद्वान् को भी उत्क्रान्ति के लिए सूक्ष्म शरीर अनुवर्तमान् रहता है। अर्थात् श्रुति प्रमाण से मुक्त होने वाले जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर का सद्भाव रहता है। (वे०पा०सौ०)। मृत्यु के समय की स्थिति का वर्णन पहले वाणी एवं समस्त इन्द्रियों का मन में लय हो जाता है। इसीलिए मरणासन्न व्यक्तियों के वाणी सहित सभी इन्द्रियों का कर्म बन्द हो जाता है। वाणी बन्द हो जाती है। हाथ पैर बेकार हो जाते हैं। मन का प्राण में लय हो जाता है। वह प्राण मन सभी इन्द्रियों के साथ अध्यक्ष (जीवात्मा) में स्थित (लीन) हो जाता है। तत्पश्चात् समस्त इन्द्रियों एवं प्राण सहित जीवात्मा सूक्ष्म भूत सूक्ष्म शरीर में स्थित होता है। इस सू.श. में पञ्च महाभूत सूक्ष्म रूप में रहते हैं। इस प्रकार मन वाणी प्राण समस्त इन्द्रियों सहित जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर में स्थित होने तक की स्थिति सबका है मरने वालों का समान होता है।

सम्वाद लक्षण प्रमाण से भी सूक्ष्म शरीर का सद्भाव उपलब्ध होता है "तं प्रतिब्रूयात्सत्यं ब्रूयात्" ऐसा श्रुति वचन है।।९।।

नोपमर्देनातः।।४।२।१०।।

अत उक्ताद्धेतुकलापात् "अथ मर्त्योऽमृतो भवती" ति श्रुतिर्न देह-सम्बन्धोपमर्देनामृतत्वं वक्तुं समर्था।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए उक्त हेतु समूह से "अथ मर्त्योऽमृतो भवति" यह श्रुति देह सम्बन्ध विनाश पूर्वक अमृतत्व का कथन नहीं करती।।१०।।

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा।।४।२।११।।

जीवदवस्थायां स्थूलदेहे संस्पर्शेन योऽयमूष्मोपलभ्यते सोऽस्यैव सूक्ष्मशरीरस्य गुणो, न च स्थूलस्य। कुतः? उपपत्तेः? सति तस्मिन् ऊष्मोपलब्धेस्तस्मिन्विनिर्गते तु मृतशरीर ऊष्मानुपलब्धेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यैवोपपन्नत्वात्। अतः सूक्ष्मदेहयुक्तो विद्वानप्युत्क्रामतीति।।११।।

एवमुत्क्रान्तिं निरूप्य तद्विवादं निराकरोति——

(हिन्दी-अनुवाद)

जीवित अवस्था में स्थूल शरीर में जो ऊष्मा की उपलब्धि होती है, वह इसी सूक्ष्म शरीर का गुण है। स्थूल शरीर का नहीं क्योंकि तभी अर्थात् सूक्ष्म शरीर रहने पर ही स्थूल शरीर में ऊष्मा की उपलब्धि होती है। उसके निकल जाने पर मृत शरीर में ऊष्मा की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि ऊष्मा सूक्ष्म शरीर की ही होती है और इसी से यह भी सिद्ध होता है कि सूक्ष्म देह युक्त होकर ही विद्वान् पुरुष का भी उत्क्रमण होता है।।११।।

इस प्रकार उत्क्रमण का निरूपण करके इस विवाद का निराकरण करते हैं——

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम्।।४।२।१२।।

ननु यदुक्ता विदुष उत्क्रान्तिः, साऽनुपपन्ना। कुतः? "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती" (बृ० ४/४/६) त्यादिकाण्वश्रुतेर्विदुष उत्क्रान्तिप्रतिषेधदर्शनादिति प्राप्ते, राद्धान्तो नेति। नाऽयं निषेधो विदुष उत्क्रान्तेः, कथं तर्ह्युक्तश्रुतेर्गतिरित्यात्राह—शारीरादिति। तया श्रुत्या शारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिर्निषिध्यते, न शरीरात्। तस्याकामयमानस्य विदुषः

प्राणाः स्वस्मान्नोत्क्रामन्ति देवयानेन गमनात्सहैव तिष्ठन्ति। तत्र हेतुः— स्पष्टो ह्येकेषामिति। हि यस्मादेकेषां माध्यन्दिनशाखिनां पाठे "न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती"ति पञ्चमीप्रयोगाच्छारीरात्प्राणानामुत्क्रान्तिनिषेधः स्पष्टः श्रूयत इत्यर्थः। अत्रैवान्तर्यामिणि परमात्मन्येवेत्यर्थः। यदि च शरीरादुत्क्रान्तिः प्रतिषिध्येत तर्हि "स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत" (बृ० ३/२/११) इति नोपपद्येत। उच्छ्वयनादीनां देहधर्मत्वेन प्रत्यक्षविरोधश्च स्यादतः शरीरात्प्रतिषेधो युक्तो विवक्षिताऽर्थोपपत्तेः। किञ्च न तस्येति षष्ठीप्रयोगेऽपि सम्बन्धसामान्यप्रतीत्या विदुषः सम्बन्धिप्राणोत्क्रान्तिनिषेधो युक्त एव। न चोत्क्रमणस्यापादाननिरूप्यत्वनियमात् षष्ठीश्रवणविरोधः। अपादानं तु शरीरमेव न शारीर इति वाच्यम्। अपादानापेक्षायाम-श्रुताच्छरीरात्सम्बन्धितया श्रुतस्य शारीरस्यैव सन्निहितत्वेनापादानतया ग्रहणेऽपि दोषायोगात्। किञ्च जीवसम्बन्धितया ज्ञातानां प्राणानां सम्बन्धसामान्यवाचिकायाः षष्ठ्या अपादानत्वरूपसम्बन्धविशेषपरत्वमपि समञ्जसम्, विशेषस्य सामान्यानतिरेकित्वात्। नटस्य श्रृणोतीतिवत्। अन्यथा श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनापत्तेः। किञ्च विदुषः शरीरवियोगकाले प्राणवियोगस्यापि प्राप्तत्वात्तस्यैव निषेधोऽप्राप्तस्य निषेधायोगात्। किञ्च "इमाः षोडशकला" इत्यादिना विदुषो गत्यनन्तरं देशान्तरे प्राणवियोगश्रवणाच्च। ननु पूर्वत्रार्त्तभागप्रश्ने"ऽपपुनर्मृत्युं जयती" ति विद्वांसं प्रस्तुत्य "याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेतीति पृष्टे नेति होवाच" याज्ञवल्क्यो"ऽत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेत" इति विदुष उत्क्रान्तिनिषेधः श्रवणाद्विद्वानिहैवामृतत्वं प्राप्नोतीति चेन्न। तत्र प्रश्नप्रतिवचनयोर्ब्रह्मविद्याप्रसङ्गादर्शनेन तस्य विद्वद्विषयकत्वाभावात्। तत्राह प्रश्नपूर्वकं "प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्रहेण गृहीत" इत्यादिना ग्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थस्वभावो"ऽग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमि" त्येननाऽपामग्न्यन्नत्वम"अपपुनर्मृत्युं जयती" त्यनेन चापामग्न्यन्नत्वज्ञानादग्निजय एव मृत्युजयो नेति होवाच याज्ञवल्क्य इत्यादित्रयेण च म्रियमाणस्य जीवस्य प्राणापरित्यागो मृतस्य नामवाच्यकीर्त्त्यनुवृत्तिस्तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्था वर्णिता इति नात्र विदुषः प्रसङ्गः। अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रान्तिवचनं स्थूलदेहवत्प्राणा न मुञ्चन्त्यपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्तीति प्रतिपादयति।।१२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब प्रश्न होता है कि 'समाना चासृत्युपक्रमात्' इत्यादि सूत्र से लेकर जो विद्वान् की उत्क्रान्ति बताई गई है, वह युक्त नहीं है- क्योंकि "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" (बृ० ४/४/६) इत्यादि काण्व श्रुति द्वारा विद्वान् पुरुष के उत्क्रमण का प्रतिषेध है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'राद्धान्तो न' अर्थात् यह निषेध विद्वान् के उत्क्रमण का निषेध नहीं है। यदि कहें कि फिर उक्त श्रुति की क्या गति होगी? इस पर कहते हैं— 'शरीरात्' अर्थात् उस श्रुति से शारीर

(जीवात्मा से प्राणों के उत्क्रमण का निषेध है। न कि शरीर से प्राण के उत्क्रमण का निषेध है। अर्थात् उस निष्काम विद्वान् पुरुष का प्राण अपनी आत्मा से अलग नहीं होते। देवयान मार्ग से जाने के कारण साथ ही रहते हैं। इसमें प्राण की सहस्थिति में हेतु है। 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' क्योंकि माध्यन्दिन शाखावालों के पाठ में "न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" यहाँ पञ्चमी के प्रयोग से शारीर (जीवात्मा से) प्राणों के उत्क्रमण का निषेध स्पष्ट प्रतिपादित है। जीवात्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित परमात्मा में ही विलीन हो जाता है। यदि शरीर से विद्वान् के प्राण के उत्क्रमण का निषेध होता है तब "स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते"(बृ० ३/२/११) इस मन्त्रार्थ की उपपत्ति नहीं होगी। उच्छ्वन आदि देह के धर्म होने से प्रत्यक्ष विरोध भी होगा, इसलिए शारीर (जीव) से प्रतिषेध युक्त है, क्योंकि तभी विवक्षित अर्थ की उपपत्ति होगी। दूसरी बात 'न तस्य' इस पद में षष्ठी प्रयोग में भी सम्बन्ध सामान्य की प्रतीति के कारण विद्वत् सम्बन्धी प्राणोत्क्रमण का निषेध युक्त है। यदि कहें कि उत्क्रमण अपादान निरूप्य होता है। यहाँ षष्ठी का श्रवण विरुद्ध है और अपादान तो शरीर ही है, शारीर नहीं तो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि अपादान की अपेक्षा होगी तब भी अश्रुत शरीर की अपेक्षया सम्बन्धी रूप में श्रुत शारीर (जीवात्मा) के ही सन्निधि होने से उसे अपादान रूप में ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है तथा जीव सम्बन्ध रूप में ज्ञात प्राणों के सम्बन्ध सामान्यवाची षष्ठी के अपादानत्व रूप सम्बन्ध विशेष परत्व भी उचित ही है। क्योंकि विशेष सामान्य से अतिरिक्त नहीं होता है। 'नटस्य श्रृणोति' की तरह। अन्यथा श्रुत त्याग एवं अश्रुत की कल्पना की आपत्ति होगी। तथा विद्वान् के शरीर वियोग काल में उसका प्राण वियोग भी प्राप्त है, इसलिए उसका ही निषेध उचित है। अर्थात् शरीर से वियोग होता है प्राण से नहीं प्राण तो साथ जाता है, (वह तो ब्रह्म प्राप्ति के अनन्तर ही रहता है) अप्राप्त का निषेध अयुक्त है। और 'इमा षोडशकलाः' इत्यादि मन्त्रों द्वारा विद्वान् की गति के अनन्तर देशान्तर में प्राण वियोग का श्रवण है। यदि कहें कि पहले आर्तभाग के प्रश्न में 'अपपुनर्मृत्युं जयति' इस श्रुति से विद्वान् का उपक्रम करके याज्ञवल्क्येति होवाच "याज्ञवल्क्येतिहोवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो

विशेषः क्योंकि सूक्ष्म शरीर सहित ही जीव ब्रह्म लोक जाता है और वहाँ जाकर अमृतत्व की प्राप्ति होती है। तब सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है। इसी प्रकार स्वर्ग नरक आदि लोकों एवं कर्मानुसार अन्यान्य योनियों की विभिन्न शरीरों में भी सूक्ष्म शरीर सहित जाता है। सूक्ष्म शरीर मुक्ति पर्यन्त रहता है। यहाँ कुछ भाष्यकारों ने 'स्पष्टो ह्येकेषाम्' अलग सूत्र माना है।

अभिप्राय यह है कि देवयान मार्ग से जाते हुए शरीर आत्मा (जीव) के संग ही प्राण भी जाता है, जो ब्रह्म प्राप्ति से पूर्व विमुक्त नहीं होता। यह बात काण्व शाखियों के बृहदारण्यक पाठ तथा माध यन्दिनीय बृहदारण्यक पाठ से स्पष्ट है। "योऽकामः निष्काम आप्तकामः" इस मन्त्र से प्रस्तुत शारीरात्मा को प्रस्तुत कर 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' यहाँ पंचमी विभक्ति से अपादानत्वेन निर्दिष्ट तच्छब्दार्थभूत शारीरत्मा से प्राणों की उत्क्रान्ति निषेध स्पष्ट है, वै०कौ० के अनुवाद में श्रीगुरुदेव ने ऐसा ही लिखा है। (सं.)

नेतीति पृष्टे नेति होवाच" अर्थात् नहीं ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा "अत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते" इस प्रकार विद्वान् के उत्क्रमण का निषेध है, विद्वान् तो यहीं अमृतत्व को प्राप्त कर जाता है। तो ऐसा भी नहीं कह सकते। वहाँ प्रश्न एवं प्रतिवचन में ब्रह्मविद्या का प्रसङ्ग न होने से उस वचन को विरुद्ध विषयक नहीं कहा जा सकता। इस विषय में प्रश्नपूर्वक कहते हैं "प्राणो वै ग्रहः सोपानेनातिग्रहेण गृहीत" इत्यादि मन्त्रों द्वारा ग्रह तथा अतिग्रह रूप से इन्द्रिय के अर्थ का स्वभाव, "अग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नम्" इस मन्त्र से जल में अग्नि की अन्नरूपता तथा "अपपुनर्मृत्युं जयति" इस मन्त्र से भी जल में अग्नि की अन्न रूपता के ज्ञान से अग्नि का जय ही मृत्यु का जय है, तब 'न' नहीं, ऐसा याज्ञवल्क्य कहा— इत्यादि तीन मन्त्रों से म्रियमाण जीव के प्राण का अपरित्याग तथा मृत व्यक्ति के नाम प्रतिपाद्य कीर्ति की अनुवृत्ति और उसका पुण्य-पाप के अनुसार गति की प्राप्ति इत्यादि अर्थ वर्णित है, इस प्रकार यहाँ विद्वान् की गति का प्रसङ्ग नहीं है। अविद्वान् को तो प्राणों का अनुत्क्रान्तिवचन स्थूल देह की तरह प्राण नहीं त्यागते है। बल्कि सूक्ष्म भूत की तरह जीव का आलिङ्गन कर जाते हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं।।१२।।

स्मर्य्यते च।।४।२।१३।।

"सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै। जगाम भित्त्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह। उद्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिमि" त्यादिस्मृतिश्च विदुषो मूर्द्धन्यनाड्योत्क्रान्तिं ब्रवीतीति सिद्धा विदुषोऽप्युत्क्रान्तिः।।१३।। इत्यासृत्युपक्रमाधिकरणम्।।५।।

सेन्द्रियः सप्राणो जीवात्मोत्क्रान्तिसमये तेजःप्रभृतिभूतसूक्ष्मेषु संयुज्यत इत्युक्तं तत्राशङ्क्य परिहृतं च। तानि पुनर्विदुषो वागादीन्द्रियाणि प्राणो भूतसूक्ष्माणि च किं परदेवतायां समवलीयन्त उत यथाकर्म यथाविद्यं गच्छन्तीति संशये, यथाकर्म यथाविद्यमिति पूर्वपक्षः। तदानीं पुण्यादिफलभोगाभावेन सम्पत्तेर्निष्प्रयोजनत्वादिति प्राप्त आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

विद्वान् के उत्क्रमण के सम्बन्ध में स्मृति का वचन भी है "सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु वै। जगाम भित्त्वा मूर्द्धानं दिवमभ्युत्पपात ह। उद्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्" इत्यादि स्मृतियाँ विद्वान् पुरुष की मूर्धन्य नाड़ी द्वारा उत्क्रमण का प्रतिपादन करती हैं, इस प्रकार विद्वान् पुरुष की उत्क्रान्ति होती है, यह सिद्ध होता है।।१३।। इस प्रकार आसृत्युपक्रमाधिकरण पूरा हुआ।।५।।

विशेषः कुछ टीकाकार इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं कि जिनको जीवन काल में ही ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है, उनका किसी भी परलोक में गमन नहीं होता, उनका उत्क्रमण नहीं होता ऐसा वेदान्त दर्शन गीता प्रेस में लिखा है। (यह वैष्णव सिद्धान्त विरुद्ध है।) (सं)

समस्त इन्द्रियों तथा प्राण सहित जीवात्मा उत्क्रान्ति के समय सूक्ष्म शरीर में संयुक्त हो जाता है, ऐसा पहले कहा गया है तथा इस पर आशङ्का करके उसका परिहार भी किया गया। अब पुनः संशय होता है कि विद्वान् पुरुष के सूक्ष्म देहावयव के वाक् आदि इन्द्रिय तथा प्राण तथा भूत सूक्ष्म (सूक्ष्म शरीर) परमात्मा स्वरूप परम कारण में लीन होते हैं या अपने अपने कार्य के लिए अपने-अपने उपयोग के अनुसार चले जाते हैं? यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि अपने-अपने कर्म के अनुसार यथापयोग चले जाते हैं क्योंकि उस समय पुण्य-पाप आदि के फल भोग का अभाव होने से सम्पत्ति निष्प्रयोजन है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

तानि परे तथा ह्याह।।४।२।१४।।

तानि विदुषो वागादिप्राणभूतानि परे परस्मिन्सर्वात्मनि ब्रह्मणि सम्पद्यन्ते तदुपादेयत्वात्। कुतः? तथा ह्याहेति। हि यतः "तेजः परस्यां देवतायामि"ति श्रुतिरेव परमात्मानं तथा सुषुप्तिप्रलययोरिव विश्रामस्थानत्वेनाह।।१४।। इति परसम्पत्त्यधिकरणम्।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् विद्वान् के वाक् प्राण एवं भूत सर्वात्मा ब्रह्म में लीन होते हैं, क्योंकि वे सब ब्रह्म के ही उपादेय हैं तथा 'ह्याह' जैसा कि श्रुति का वचन है "तेजः परस्यां देवतायाम्" यह श्रुति ही परमात्मा को सुषुप्ति एवं प्रलय की तरह विश्राम स्थान के रूप में कहती है।।१४।।

इस प्रकार परसम्पत्त्यधिकरण पूरा हुआ।।६।।

अविभागो वचनात्।।४।२।१५।।

सेयं परमात्मनि विद्वत्प्राणादिसम्पत्तिः किं मनःप्रभृतिषु बागादिसम्पत्तिवत्संयोगरूपा उत समुद्रे नद्यादिसम्पत्तिवत्तादात्म्यापत्तिरूपेति विशये 'वाङ्मनसि सम्पद्यत' इति श्रुतस्यैव सम्पत्तिपदस्य "तेजः परस्यामि" त्यत्रानुषङ्गाद्विशेषादर्शनाच्च संयोगापत्तिरूपेति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु सर्वात्मनो भगवतः परब्रह्मणः सर्वाधारत्वात्सर्वकारणत्वाच्च तत्र विद्वत्प्राणादीनां सम्पत्तिरविभागस्तादात्म्यापत्तिरूपैव। कुतः? वचना"देवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ती"ति परमात्मनि प्राणादिकलानां सम्पत्तिमुक्त्वा "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवती" (प्र० ६/५) ति तासां नामरूपभेदोक्तेरित्यर्थः। अयमभिप्रायः, स्थूलदेहादुत्क्रम्य देवयानेन गतो विद्वान् प्राकृतमण्डलं भित्वा प्रकृतिविष्णुपदसीम्नोर्विवेचनहेतुभूतां सरिद्वरां विरजां यावत्प्राप्नोति तावत्सूक्ष्मशरीरमनुवर्त्तते। तत्र सूक्ष्मशरीरं परस्यां देवतायां हित्वा दिव्याप्राकृतानादिसिद्धामानवा नीतब्राह्मयालङ्कारैरलङ्कृतो विष्णुलोकं परं पदं प्रविश्य परं ब्रह्माधिगच्छतीति।।१५।। इति अविभागाधिकरणम्।।७।।

एवं सृत्युपक्रमावधिं विद्वदविदुषोः सामान्यत उत्क्रान्तिं निर्णीयाथेदानीं विदुषः प्रतिज्ञातं विशेषं दर्शयितुमारभ्यते—

(हिन्दी-अनुवाद)

परमात्मा में उस विद्वान् पुरुष के प्राण आदि की सम्पत्ति, क्या मन आदि में वाक् आदि की सम्पत्ति की तरह संयोग रूप है या समुद्र में नदी आदि की सम्पत्ति की तरह तादात्म्य रूप है, ऐसा संशय होने पर 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' इस श्रुति में पठित सम्पत्ति पद की "तेजः परस्याम् देवतायाम्" यहाँ अनुवृत्ति होने एवं किसी विशेष के अदर्शन होने से यहाँ सम्पत्ति संयोग रूपापत्ति ही है ऐसा पूर्वपक्ष है। यहाँ सिद्धान्त तो सर्वात्मा परब्रह्म भगवान् के सर्वाधार एवं सर्वकारण होने से उसमें विद्वान् के प्राण आदि की सम्पत्ति अविभाग अर्थात् तादात्म्यापत्ति रूप ही है क्योंकि ऐसा वचन है "एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति" इस प्रकार परमात्मा में प्राण आदि कलाओं की सम्पत्ति कहकर "भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति" (प्र० ६/५) इस श्रुति से उनके नाम रूप में भेद का कथन है। अभिप्राय यह है कि स्थूल देह से निकलकर देवयान मार्ग से जाने वाला विद्वान् प्राकृत मण्डल का भेद कर प्रकृति और विष्णुपद (भगवद् धाम) की सीमा के बीच में विराजमान नदियों में श्रेष्ठ विरजा के पास जब पहुँचता है, तब तक सूक्ष्म शरीर रहता है। वहाँ पहुँच कर सूक्ष्म शरीर का परित्याग कर देता है। अर्थात् सूक्ष्म शरीर को परम देव परमात्मा के विसर्जित कर देता है और किसी दिव्य अमानव पुरुष द्वारा दिव्य अलंकारों से विभूषित दिव्य वपु धारण कर परम पद विष्णुलोक में प्रवेश कर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करता है।।१५।।

इस प्रकार अविभाग अधिकरण पूरा हुआ।।७।।

यहाँ तक विद्वान् एवं अविद्वान् दोनों का समान रूप से उत्क्रमण दिखाकर अब विद्वान् पुरुष के विशेष उत्क्रमण का वर्णन करते हैं—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनु-स्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया।।४।२।१६।।

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्य" इति श्रुतौ शताधिकया मूर्द्धन्यनाड्या मूर्द्धस्थानान्निष्क्रमणं श्रूयते। तत्रास्ति संशयः, शताधिकया विदुषो निष्क्रमणमन्या-भिस्त्वितरस्येति नियमः सम्भवति उत नेति? तत्र नाडीनामतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विवेचनतया पुरुषेण ग्रहीतुमशक्यत्वान्न नियमः। तयोर्द्ध्वमायन्निति तु यादृच्छिकीं तथागतिमनुवदतीति प्राप्त, उच्यते—तदोक इति। विद्वान्देहादुत्क्रम्य शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या हृदयादुद्गतया ब्रह्मरन्ध्रं प्राप्तया सूर्य्यरश्मिभिरेकीभूतया सुषुम्णाख्यनाड्यैव निष्क्रामति। नच तेन सा विवेक्तुमशक्या, यतोऽसौ विद्वान् परमात्मसाधनभूतविद्याया उपासनायाः

सामर्थ्यात्प्रभावात् विद्याङ्गभूतगतेरातिवाहिकैस्तत्पदप्राप्तेरनुचिन्तनयोगाच्च प्रीतेन हृदि स्थितेन परमात्मनाऽनुकम्पितो भवति। ततश्च तस्योपसंहृतवागादिवर्गस्योच्चिक्रमिषोर्जीवस्यौकः स्थानं हृदयम् "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामती" ति श्रुतेरग्रज्वलनं प्रकाशिताग्रं भवति। एवं तेन हार्देन परमात्मना प्रकाशितं द्वारं सुषुम्णामूलं यस्मै तादृशो विद्वांस्तां विजानातीति तया तस्य गतिर्युक्तैवेति।।१६।। इति तदोकोऽधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्य" इस श्रुति से हृदय से सम्बन्धित एक सौ नाड़ियों की सत्ताका बोध होता है। इनमें मूर्धन्य नाड़ी को सुषुम्णा नाड़ी कहते हैं अर्थात् सुषुम्णा हृदय से लेकर मस्तक पर्यन्त है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष मूर्धन्य नाड़ी सुषुम्णा नाड़ी द्वारा निष्क्रमण करता है यह सिद्ध होता है। यहाँ संशय होता है कि विद्वान् पुरुष का निष्क्रमण शताधिक एक सौ एकवीं सुषुम्णा नाड़ी द्वारा होता है और इतर व्यक्ति अविद्वान् का अन्य नाड़ियों द्वारा होता है। यह नियम संभव है या नहीं। यहाँ पूर्वपक्ष होता है कि नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उनका विवेचन (पहचान) अति कठिन है, पुरुष उन्हें जान नहीं सकता पहचान नहीं सकता, इसलिए उक्त नियम नहीं हो सकता। तयोर्ध्वमायन्निति अर्थात् विद्वान् उस सुषुम्णा नाड़ी द्वारा ऊपर जाता है। यह एक सामान्य कथन है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'तदोक' अर्थात् विद्वान् पुरुष स्थूल देह से निकलकर सौ से अधिक एक सौ एकवीं नाड़ी सुषुम्णा नाड़ी जो हृदय देश से निकलकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है और जो सूर्य की रश्मि से एकता को प्राप्त है (के द्वारा ही निकलता है)। यदि कहें कि वह विद्वान् उस नाड़ी को पहचान नहीं सकता है तो उसका उत्तर देते हैं, वह विद्वान् पुरुष अपनी विद्या (उपासना) के सामर्थ्य तथा उपासना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति के संस्कार की स्मृति से युक्त हो हृदयस्थित सर्वसुहृदय परब्रह्म परमेश्वर अनुगृहीत हुआ सूर्य की रश्मियों में चला जाता है तथा विद्या के शेष भूत अर्चिरादि गति का स्मरण रूप योग अर्थात् मुझे कब वेदान्तवेद्य प्रभु की अर्चिरादि मार्ग से प्राप्ति होगी, इस प्रकार की विद्या शेष ब्रह्म नाड़ी प्रवेश पूर्वक अर्चिरादि गति का स्मरण रूप योग इन दोनों के योग से हृदयस्थित परमात्मा की अहैतुकी कृपा का उदय होता है। तब उस उत्क्रमणेच्छु विद्वान् जीव के लिए हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता है, जिसके द्वारा वह सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से ब्रह्मरन्ध्र से निकलता है। इस प्रकार सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उसका निष्क्रमण उचित ही है।।१६।।

रश्म्यनुसारी।।४।२।१७।।

छान्दोग्ये "ऽथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमत" (छा० ८/६/५) इत्याद्युक्त्वा पुनः "तयोद्र्ध्वमायन्नमृतत्वमेती" (छा० ८/६/६) त्युक्तं ततो हि मूर्द्धन्यनाड्या निष्क्रामन् रश्मीननुसृत्यादित्यमण्डलं गच्छतीति गम्यते। तत्रेयं विचिकित्सा, किं मूर्द्धन्यनाड्या निर्गतो विद्वान् रश्म्यनुसार्य्येव गच्छतीति नियमः संभवति उत

नेति। तत्र रात्रौ मृतस्य विदुषो रविरश्म्यनुसरणा- सम्भवादनियम इति प्राप्ते, राद्धान्तः रश्म्यनुसार्येव गच्छति। कुतः? विशेषाश्रुतेः। "अथैतैरेवे" त्यवधारणाच्च। निश्यपि सूक्ष्मा रश्मयः सन्त्येवातिनिदाघकाले निश्यूष्मोपलब्धेः। हेमन्तादौ तु हिमाभिभवात् दुर्दिन इव तदनुपलब्धिः। श्रूयते च सर्वदा शिरारश्मिसम्बन्धः "तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैत आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता" इति।।१७।। इति रश्म्यनुसार्यधिकरणम्।।

(हिन्दी-अनुवाद)

ब्रह्मवेत्ता स्थूल शरीर से निकलकर सूर्य की रश्मियों में स्थित हो उन्हीं का अवलम्बन करके सूर्य लोक द्वारा ब्रह्म लोक में चला जाता है। उसमें उसको बिलम्ब नहीं होगा। छान्दोग्य उ०नि० में आया है कि [1]"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते" (छा० ८/६/५) अर्थात् सूर्य की रश्मियों द्वारा ऊपर के लोक में जाकर अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार मूर्धन्य नाड़ी (सुषुम्णा) द्वारा निकलकर सूर्य की रश्मियों का अवलम्बन कर उसके सहारे सूर्यमण्डल में जाता है। यहाँ यह संदेह होता है कि मूर्धन्य नाड़ी से निकलकर मुक्तात्मा सूर्य रश्मि का अनुसरण करके ही जाता है, यह नियम संभव है या नहीं? इस पर कहते हैं कि जो विद्वान् रात्रि को मरता है, उसका रश्मि अनुसरण संभव नहीं, इसलिए रश्मि का अनुसरण अनिवार्य नहीं है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं कि रश्मि का अनुसरण करके ही जाता है, क्योंकि किसी विशेष मार्ग का श्रवण नहीं है बल्कि 'अथैतेरेव' अर्थात् सूर्य रश्मि की सहायता से ही जाता है, ऐसा अवधारण वाक्य है। रात्रि में भी सूर्य की सूक्ष्म रश्मियाँ रहती ही हैं इसलिए अत्यन्त गर्मी में रात्रि में भी ऊष्मा की उपलब्धि होती है। हेमन्त आदि में हिम के द्वारा उसका अभिभव हो जाने से दुर्दिन की तरह ही उपलब्धि नहीं होती। श्रुतियों में शिरा नाड़ी एवं रश्मि का नित्य सम्बन्ध कहा गया है "तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमुञ्चामुञ्चैवमेवैत आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते त आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता" इति।।१७।।

इस प्रकार रश्मि अनुसारी अधिकरण पूरा हुआ।

---

१. अथ यत्रेतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद् वा मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् (छ० ८/६/५) अर्थात् इस स्थूल शरीर से बाहर निकलकर वह जीवात्मा इन सूर्य की रश्मियों द्वारा ऊपर चढ़ता है और वहाँ 'ओम्' ऐसा कहता हुआ जितनी देर में मन जाता है, उतने ही समय में सूर्य लोक पहुँच जाता है। यह सूर्य ही विद्वानों के लिए ब्रह्मलोक में जाने का द्वार है, यह अविद्वानों के लिए बन्द रहता है इसलिए वे नीचे के लोकों में जाते हैं। (सं)

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च।।४।२।१८।।

इदमत्र विचार्यते-निशि मृतेन विदुषा ब्रह्म प्राप्यते न वेति। तत्र "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितमि" ति रात्रिमरणस्य गर्हितत्वेनाधोगमनहेतुत्वान्न निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः सम्भवतीति चेत्तन्न। विदुषः कर्मसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् उत्तरपूर्वयोः पुण्यापुण्ययोर्भगवदीयध्रुवास्मृत्याख्य-ज्ञानेनैवाश्लेषविनाशात्प्रवृतफलकर्मसम्बन्धस्य च यावच्चरमदेहभावित्वाद्बन्धहेत्वभावेन न तत्र कालादिप्रतीक्षापेक्षेति विदुषो निशि मरणेऽपि ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धेति। दर्शयति च श्रुतिरेवैतत्। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य" इति। "दिवा चे"ति वचनां त्वज्ञविषयम्।।१८।। इति निशाधिकरणम्।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब यहाँ विचार करते हैं कि रात्रि में मृत विद्वान् ब्रह्म को प्राप्त होता है या नहीं? "दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च। मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गर्हितम्" इस वचन के अनुसार रात्रि का मरण गर्हित होने से अधोगमन का हेतु होने के कारण रात्रि में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं, ऐसा कहें तो ठीक नहीं। विद्वान् पुरुष के लिए कर्म सम्बन्ध देह धारण पर्यन्त ही है। क्योंकि पूर्व तथा परवर्ती पुण्य-पापों का ध्रुवास्मृति रूप ज्ञान के बल से विनाश एवं अश्लेष हो जाने तथा प्रारब्ध कर्म का सम्बन्ध वर्तमान चरम देह धारण तक रहने से बन्ध के हेतु का अभाव होने पर, फिर उसकी मुक्ति में काल आदि की प्रतीक्षा की अपेक्षा नहीं होने से विद्वान् आत्मा के रात्रि में मरने पर भी ब्रह्म प्राप्ति अविरूद्ध है। अथवा नाड़ी एवं सूर्य रश्मियों का सम्बन्ध जब तक शरीर में रहता है, तब तक सत्ता बनी रहती है। इसलिए दिन हो या रात कभी भी नाड़ी और सूर्य रश्मियों का सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। इस बात को स्वयं श्रुति महावाणी कहती है "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्यत्स्ये"। 'दिवा च शुक्लपक्षश्च' यह वचन अज्ञजनों के लिए है।।१८।।

इस प्रकार निशाधिकरण पूरा हुआ।।९।।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे।।४।२।१९।।

अतः पूर्वोक्तहेतोरेव दक्षिणायनेऽपि मृतस्य विदुषो ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धा। ननु "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितॄणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छती" ति चन्द्रप्राप्तिश्रवणाच्चन्द्रं प्राप्तानां च "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्त" इति पुनरावृत्तेरावश्यकत्वात्। किञ्च भीष्मादीनां ब्रह्मविद्यावदग्रवर्त्तिनामप्युत्तरायणप्रतीक्षादर्शनात्कथं दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरिति चेन्न। ब्रह्मविद्याविधुराणां पितृयानेन पथा चन्द्रं गतानामेव पुनरावृत्तिर्न विदुषां, तेषान्तु चन्द्रप्राप्तावपि "तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोती" ति वाक्य-शेषाद्दक्षिणायनमृतानां चन्द्रं गतानामपि ब्रह्मप्राप्तिरविरुद्धा। चन्द्रसायुज्यवचनं तु

ब्रह्मप्रेप्सोर्विश्रामस्थानमात्रविषयम्। आवृत्तिवचनं चाविद्वद्विषयम् भीष्मादीनामुत्तरायणादि-प्रतीक्षा तु स्वस्य स्वछन्दमरणशक्तिप्रदर्शनार्थमुत्तरायणप्रशंसार्थं वेत्यविरोधः।।१९।।

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमि" त्युपक्रम्यै "कया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनरि" त्यन्तमहरादिकालविशेषः स्मृतौ मुक्तये निर्दिश्यते, तत्कथं रात्रौ दक्षिणायने वा मृतो मुक्तिं लभेतेत्यत्रोच्यते——

(हिन्दी-अनुवाद)

इसलिए पूर्व उक्त हेतु से ही दक्षिणायन में भी मृत विद्वान् पुरुष की ब्रह्म प्राप्ति अविरूद्ध है। यदि कहें कि "अथ यो दक्षिणे प्रमीयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छति" जो दक्षिणायन में मरता है वह पितृलोक जाकर चन्द्रलोक को प्राप्त करता है। इस श्रुति के द्वारा दक्षिणायन में मृत पुरुष को चन्द्रलोक की प्राप्ति का श्रवण है और चन्द्रमा को प्राप्त आत्माओं के लिए "अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" श्रुति के अनुसार पुनरावृत्ति आवश्यक बताया है और ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ भीष्म आदि के द्वारा उत्तरायन की प्रतीक्षा देखी गई है, फिर दक्षिणायन में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति कैसे होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जो ब्रह्मविद्या से विहीन है ऐसे लोग ही पितृयान द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं, और उनकी ही पुनरावृत्ति होती है, न कि विद्वानों की। ब्रह्मवेत्ता तो चन्द्रलोक प्राप्त करने पर भी "तस्माद्ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति" इस वाक्य शेष द्वारा दक्षिणायन में मरने पर भी ब्रह्म प्राप्ति करते ही हैं। उनके लिए चन्द्रलोक की प्राप्ति ब्रह्म प्राप्ति के इच्छुक जनका विश्राम स्थान मात्र है और वहाँ से परावर्तन विषयक वचन अज्ञानी जनों के लिए है। भीष्म आदि की उत्तरायन की प्रतीक्षा तो अपनी स्वेच्छा मृत्यु की शक्ति का प्रदर्शनार्थ था अथवा उत्तरायन काल की प्रशंसा के लिए था[१], इस प्रकार कोई विरोध नहीं है।।१९।।

यदि कहें कि भगवद् गीता में भगवान् ने "यत्र काले त्वनावृत्तिम्" ऐसा उपक्रम करके "एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः" इत्यादि वचनों द्वारा दिन शुक्लपक्ष एवं उत्तरायन में मृत्यु को मुक्ति का कारण बताया है फिर दक्षिणायन एवं रात्रि में मृत व्यक्ति कैसे मुक्ति प्राप्त कर सकता है? इस पर कहते हैं——

योगिनः प्रतिस्मर्यते स्मार्त्ते चैते।।४।२।२०।।

योगिनो ब्रह्मनिष्ठान्प्रति हेयोपादेयतया पितृयानदेवयानाख्यसृतिद्वयं तत्र स्मर्यते, नतु विदुषः कालविशेषो नियम्यते। यत एते सृती स्मार्त्ते स्मृतिविषयभूते योगाङ्गतयाऽहरहः स्मरणार्हे "नैते सृती पार्थ! जानन्योगी मुह्यति कश्चने" त्युपसंहारवाक्यात् "यत्र काले

---

१. अथवा भीष्म जी वसु देवता थे उनको देवलोक में जाना था और दक्षिणायन के समय देव लोक में रात्रि रहती है इसलिए वे कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करते रहे। (सं)

त्वि" त्यत्र कालशब्दोऽहरादिसम्वत्सरान्तकालाभिमान्यातिवाहिकदेवतापरः, अग्निधूमयोः कालत्वासम्भवात्। तया च तदुपलक्षितो मार्ग उच्यते। यत्र यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षितमार्ग इत्यर्थः।।२०।। इति दक्षिणायनाधिकरणम्।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्री श्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणा-
रुणपद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्रीद्दश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन
सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ
चतुर्थाध्यायद्वितीयपादविवरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

योगी ब्रह्मनिष्ठों के लिए हेय एवं उपादेय रूप में पितृयान एवं देवयान नामक दो प्रकारक गति का स्मरण है, न कि विद्वान् के लिए काल विशेष का नियम करते हैं। क्योंकि ये दोनों गति स्मृति है- स्मृति के विषय भूत हैं, योग के अङ्ग के रूप में नित्य स्मरण योग्य हैं, क्योंकि उपसंहार में "नैते सृती पार्थ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन" ऐसा वाक्य है। "यत्र काले तु" यहाँ काल शब्द दिन आदि सम्वत्सरान्त कालाभिमानी देवता का वाचक है, क्योंकि अग्नि एवं धूम में कालत्व संभव नहीं है और देवता द्वारा उससे उपलक्षित मार्ग कहा जाता है। अर्थात् जिस कालाभिमानी देवता से उपलक्षित मार्ग में, यह भाव है।।२०।।

इस प्रकार दक्षिणायन अधिकरण पूरा हुआ।

इस प्रकार श्रीसनक सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य श्रीनिम्बार्क मतानुयायि श्रीमन्मुकुन्द चरणारुण कमल मकरन्दभृङ्ग जगद्विजयी श्रीद्दश्रीकेशव काश्मीरि भट्ट द्वारा संगृहीत श्रीवेदान्त कौस्तुभप्रभा नामक ब्रह्मसूत्र वृत्ति में चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद का मैथिल पं० श्री वैद्यनाथ झा कृत भाषानुवाद सम्पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अध्याय

तृतीय पाद

विषय-सूची

अथ चतुर्थाऽध्याये तृतीयपादः।

अथ अर्चिराद्यधिकरणम्।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः।।४।३।१।।

उत्क्रान्तिमारभ्य नाडीविशेषेणोत्क्रम्य रश्म्यनुसारी सन्देवयानेन पथा गतो विद्वान्परं ब्रह्म आप्नोतीति स्थितं, तदानीं गच्छतस्तस्य सा सृतिरेकाऽनेका वेति? चिन्त्यते। तत्र श्रुतिष्वनेकविधा सृतिः श्रूयते। तथा हि बृहदारण्यकेऽर्चिरादिनैका। "ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती" (बृ० ६/२/१५) ति। पुनस्तत्रैवान्या "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊद्र्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊद्र्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छती" (बृ० ५/१०/१) ति। कौषीतक्याम्नाये त्वपरा "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमि" (कौ १/३)ति। छान्दोग्ये च "अथ यदु चैवास्मिंश्छव्यं कुर्वन्ति यदुच नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्डुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यम्। आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त" इत्यर्चिः प्रथमैका, तथा तत्रैव नाडीरश्मिसम्बन्धेनान्या "अथैतैरेव रश्मिभिरूद्र्ध्वमाक्रमत" (छा० ८/६/५) इति। "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती" (मु० १/२/११) ति च क्वचिदन्या। इहास्ति संशयः। किमेता नानाविधा ब्रह्मलोकसृतयः श्रुतिभिः प्रतिपाद्यन्ते? उतार्चिरादिकैकैव सृतिरिति। तत्रान्योऽन्यनिरेपेक्षत्वाद्भिन्न-प्रकरणत्वाद्भिन्नोपासनाशेषत्वादथैतैरेवेत्यवधारणानुरोधाच्च नानाविधा इति प्राप्तेऽभिदध्महे। अर्चिरादिनेति। अर्चिरादिरेक एव मार्गोऽनेकविशेषणविशिष्टः सर्वश्रुतिभिः प्रतिपाद्यते। तेनैव विद्वान्ब्रह्म गच्छति। कुतः? तत् प्रथितेः। प्रथितिः प्रसिद्धिः। तस्यैव सर्वत्र प्रसिद्धत्वात्। पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासत" इति विद्यान्तरशालिनामप्यर्चिरादिमार्गेणैव गत्यभिधानात्। "द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्चिरा-दिर्विपश्चिताम्। धूमादिः कर्मिणां चैव सर्ववेदविनिर्णयादि"ति स्मृतेः। "पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ। दुर्जनाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिण" इति मोक्षधर्मे च स्मरणात्। श्रुत्यन्तरोक्तानामेकदेशानां विद्यागुणोपसंहारवच्छ्रुत्यन्तर उपसंहारात्स एव सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यते। प्रकरणभेदेऽपि नियमः प्राप्तव्यस्य चैकत्वादनेकमार्ग-

कल्पनमनर्थकम्। सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदस्यायुक्तत्वादेतैरेवेत्य- वधारणस्यापि रश्मिप्राप्तिपरत्वादेकेयं सृतिरिति स्थितम्।।१।। इत्यर्चिराद्यधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब पाद की सङ्गति कहते हैं- उत्क्रान्ति से लेकर नाड़ी विशेष सुषुम्णा नाड़ी द्वारा निकलकर सूर्य की रश्मि का अवलम्बन करके देवयान मार्ग से चलकर विद्वान् आत्मा परब्रह्म को प्राप्त करता है, ऐसा सिद्ध होता है। अब विचार होता है कि उस विद्वान् पुरुष के जाने का एक ही मार्ग है या अनेक? श्रुतियों में अनेक प्रकार[1] के मार्गों (गतियों) का वर्णन सुना जाता है। जैसे बृहदारण्यक में अर्चिरादि मार्ग से जाने का एक मार्ग है "ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" (बृ० ६/२/१५) अर्थात् जो इस प्रकार ब्रह्म विद्या के रहस्य को जानते हैं तथा जो वन में रहकर श्रद्धापूर्वक सत्य की उपासना करते हैं वे अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्य किरण (रश्मि)) को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायन, उत्तरायन से सम्वत्सर (अभिमानी देवता) सम्वत्सर से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को तथा चन्द्रमा से विद्युत को, वहाँ से अमानव इनको ब्रह्म के पास पहुँचा देता है। इसके सिवा मार्ग में कहीं नाना देवताओं के लोकों का वर्णन आता है, कहीं दिन, पथ, काल, अयन और सम्वत्सर का वर्णन आता है, कहीं केवल सूर्य रश्मियों का तथा सूर्यलोक का ही। वे जो गृहस्थ इस पञ्चाग्नि विद्या को जानते हैं, तथा जो (संन्यासी या वानप्रस्थ) वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य सगुण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे अर्चि ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। ज्योति अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवता को, दिन के अभिमानी देवता से, शुक्लाभिमानी देवताओं और शुक्लाभिमानी देवता से उत्तरायनाभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, षण्मासाभिमानी देवता से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को और आदित्य से विद्युत् सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत अभिमानी देवता के पास अमानव पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। ब्रह्मलोक पहुँचा देता हैं। उसी बृहदरण्यक में अन्य प्रकार से गति का वर्णन है। "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊद्ध्र्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै खं तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊद्ध्र्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभे खं तेन स ऊद्ध्र्व आक्रमते स लोकमागच्छति" (बृ० ५/१०/१) वहीं दूसरी प्रकार की गति का वर्णन है। जिस समय यह पुरुष इस लोक से मरकर जाता है, वह वायु को प्राप्त होता है और वह वायु उसके लिए

विशेष : कहीं अर्चिमार्ग, कहीं उत्तरायनमार्ग, कहीं देवयानमार्ग आदि तथा इन मार्गों के चिह्न भी भिन्न-भिन्न हैं। अतः जिज्ञासा होती है कि एक ही मार्ग के सभी नाम हैं या अधिकारी भेद से मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। निश्चय किया जाता है वह मार्ग एक ही है। (सं)

छिद्रयुक्त हो जाता है, मार्ग दे देता है जैसा कि रश्मियों का पहिये का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, तब वह सूर्यलोक में पहुँचता है। वहाँ सूर्य उसके लिए वैसा ही छिद्ररूप मार्ग देता है, जैसा कि लम्बा नाम के बाजे का छिद्र होता है, उसमें होकर वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह चन्द्रलोक में पहुँचता है, वह चन्द्रमा भी उसके लिए छिद्रयुक्त मार्ग देता है, जैसा कि दुन्दुभि का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है। (वह अशोक (शारीरिक दुःख से रहित) और अहिम (मानसिक दुःख से रहित) होता है) कौषीतकि श्रुति में दूसरी ही प्रकार की गति वर्णित है "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्" (कौ १/३) वह परब्रह्म का उपासक पूर्वोक्त देवयान मार्ग पर पहुँचकर पहले अग्निलोक में जाता है, फिर वायुलोक में। वहाँ से वह सूर्य लोक में जाता है, तत्पश्चात् वह इन्द्रलोक में जाता है। इन्द्रलोक से प्रजापति लोक में जाता है, प्रजापति से ब्रह्मलोक में जाता है। इसी तरह छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है "अथ यदुचैवास्मिंश्छव्यं कुर्वन्ति यदुच नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः सम्वत्सरं सम्वत्सरादादित्यम्। आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते" यह एक अर्चि है। यही नाड़ी रश्मि सम्बन्ध से दूसरी भी गति का वर्णन है "अथैतैरेव रश्मिभिरूद्ध्र्वमाक्रमते" (छा० ८/६/५) इन्हीं रश्मियों से विद्वान् पुरुष ऊपर के लोकों में जाता है। "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति" (मु० १/२/११) वे सूर्य के मार्ग से जाते हैं, कहीं ऐसी भी गति वर्णित है। यहाँ संशय होता है, क्या ये भिन्न-भिन्न प्रकार की ब्रह्म लोक जाने वाली गतियाँ हैं, मार्ग हैं, या यह अर्चिरादि गति एक ही प्रकार की हैं। यहाँ परस्पर निरपेक्ष होने से, भिन्न-भिन्न प्रकरण के होने से, भिन्न-भिन्न उपासना का शेष होने से तथा 'अथैतैरेव' में अवधारण श्रुति होने से ये नाना प्रकार के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'अर्चिरादिनेति' अर्थात् यह अर्चिरादि एक ही मार्ग है जो अनेक विशेषणों से विशिष्ट होकर सभी श्रुतियों द्वारा कहा गया है, उसी मार्ग से विद्वान् पुरुष जाता है क्योंकि वही मार्ग सब जगह प्रसिद्ध है। पञ्चाग्नि विद्या प्रकरण में "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते" इस श्रुति द्वारा अन्यान्य विद्याओं के उपासकों के लिए भी अर्चिरादि मार्ग से ही गति का प्रतिपादन है। "द्वावेव मार्गौ प्रथितावर्चिरादिर्विपश्चिताम्। धूमादिः कर्मिणां चैव सर्ववेदविनिर्णयात्" परलोक गमन के लिए दो ही मार्ग प्रसिद्ध हैं, ब्रह्मवेत्ताओं के लिए अर्चिरादि मार्ग, कर्मकाण्डियों के लिए धूमादि मार्ग ऐसा स्मृतिवाक्य है। "पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ। दुर्जनाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः" ऊर्ध्व गति के लिए पितृयान एवं देवयान दो मार्ग है। दुर्जन पितृयान तथा देवयान से मुमुक्षुजन जाते हैं। ऐसा मोक्ष धर्म में वर्णित है। भिन्न श्रुति में उक्त एक देशों का विद्याओं में गुणोपसंहार (अध्याहार) की तरह अन्य श्रुति में अध्याहार होने से एक ही अर्चिरादि गति का सर्वत्र न्यूनाधिक भाव से प्रतिपादन हुआ है। प्रकरण भेद होने पर भी विद्या एवं विद्या द्वारा प्राप्तव्य परतत्व परमात्मा के एक होने से अनेक मार्ग की

कल्पना अनर्थक है। यदि एक वाक्यता की सम्भावना हो तो वाक्य भेद अयुक्त होता है। 'एतैरेव' श्रुति में अवधारण भी रश्मि प्राप्त परक होने से यह अर्चिरादि गति एक ही है, ऐसा सिद्ध होता है।।१।।

इस प्रकार अर्चिरादि अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।।४।३।२।।

सर्वप्रकरणेष्वर्चिरादिमार्ग एकस्तेनैव विद्वानागच्छतीत्युक्तमथ श्रुत्यन्तरोक्तानां मार्गपर्वणां केन क्रमेण सन्निवेश इति चिन्त्यते ध्यानोपयोगात्। तत्र बाजसनेयिपाठे मासाऽऽदित्ययोर्मध्ये देवलोकः श्रूयते। छान्दोग्यपाठे तु तयोर्मध्ये सम्वत्सरस्तावुभावुभयत्रोपसंहार्यौ द्वयोर्मार्गैक्यात्। तत्राऽपि मासादूद्र्ध्वं सम्वत्सरस्ततो देवलोकः सन्निवेशयितव्यः। "अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमि" (छा० ५/१०/१-२) त्यादावधिककालानां न्यूनकालेभ्य उत्तरोत्तरसन्निवेशदर्शनात्, माससम्वत्सरयोः सम्बन्धस्य प्रसिद्धत्वाच्च। "यदा ह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छती" (बृ० ५/१०/१) त्यत्र तु वाजसनेयिन आदित्यात् पूर्वं वायुं पठन्ति। कौषीतकिनस्तु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि" (कौ० १/३) त्यग्निलोकशब्दितार्चिषः परं वायुं पठन्तीति वायुस्थानानिश्चयात्तं किमर्चिरात्मकाग्नेरनन्तरं विद्वानभिगच्छेदुत-सम्बत्सरादनन्तरमिति संशये, "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकमि"ति पाठबलादर्चिषोऽनन्तरो वायुरिति प्राप्त उच्यते। वायुमब्दादिति। अब्दात्सम्वत्सरादूद्र्ध्वमादित्यादवाञ्चं वायुमभिसम्भवति। कुतः? अविशेषविशेषाभ्यामिति। "स वायुलोकमि" त्यविशेषेण वायुरुपदिष्टः पदार्थमात्रनिर्देशात् "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुलोकमागच्छति तस्मै तत्र विजिहीते यथा चक्रस्य खं तेन स ऊद्र्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छती"ति विशेषेणोपदिष्टः। ऊर्ध्वशब्दः क्रमवाची, तेन विशेषो गम्यते। एवं सति बृहदारण्यकोक्तदेवलोकशब्देनापि वायुरेव ज्ञातव्यः। कौषीतकिनां वायुलोकशब्दश्च वायुश्चासौ लोकश्चेति वायुमेवाभिधत्ते। वायुश्च देवनामावासभूतो "योऽयं पवत एष एव देवानां गृहा" इति श्रुतेः। केचित्तु सम्वत्सराद्देवलोकं देवलोकाद्वायुलोकमिति श्रुत्यन्तरवशाद्देवलोकोऽप्यत्र मध्ये निवेशयितव्यः। वायुमब्दादिति तु छन्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तं सूत्रे वायुपदं देवलोकपूर्वकवायुपरमिति वदन्ति। तन्मते त्रयोदशपर्वा ब्रह्मलोकपद्धतिः।।२।। इति वाय्वधिकरणम्।।२।।

एवं कौषीतकिभिरग्न्यनन्तरं पठितस्य वायोः स्थानमुक्तमथ वाय्वनन्तरं पठितस्य वरुणस्य किं विद्युत उपरि निवेश उत वायोरुपरीति संशये "स वायुलोकं स वरुणलोकमि" ति पाठक्रमेण वायोरुपरि वरुणनिवेश इति प्राप्ते राद्धान्तमाह—

(हिन्दी-अनुवाद)

सभी प्रकरणों में अर्चिरादि मार्ग एक ही है और उसी मार्ग से विद्वान् जाता है, ऐसा

कहा है। अब श्रुत्यन्तर में उक्त मार्गस्थ विश्राम लोकों का किस प्रकार (किस क्रम से) सन्निवेश है, इसका चिन्तन करते हैं, ध्यान में उपयोग के लिए। कारण वाजसनेयि पाठ में मास और आदित्य के मध्य में देवलोक है परन्तु छान्दोग्य में मास और आदित्य के मध्य में सम्वत्सर है। उन दोनों को दोनों जगह अध्याहार करना चाहिए, क्योंकि दोनों मार्ग एक ही है। इनमें मास के बाद सम्वत्सर उसके बाद देवलोक का सन्निवेश करना चाहिए क्योंकि "अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षम्" (छा० ५/१०/१-२) इत्यादि श्रुतियों में अधिक कालों का न्यूनकालों की अपेक्षया उत्तरोत्तर में सन्निवेश है तथा मास सम्वत्सर का सम्बन्ध भी प्रसिद्ध है। "यदा ह वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति" (बृ० ५/१०/१) यहाँ वाजसेनयी लोग आदित्य से पूर्व (पहले) वायु का पाठ करते हैं। कौषीतकि लोग "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकम्" (कौ० १/३) इस श्रुति के अनुसार अग्निलोक प्रतिपादित अर्चिस् के पश्चात् वायु को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से वायुस्थान का अनिश्चय होने से क्या उसको अर्चिस् स्वरूप अग्नि के पश्चात् विद्वान् प्राप्त करता है? अथवा सम्वत्सर के अनन्तर? ऐसा संशय होने पर कहते हैं "स एतं देवयानं पन्था नमापद्याग्नि-लोकमागच्छति स वायुलोकम्" विद्वान् मुक्तात्मा इस देवयान मार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक में प्रवेश करता है। इसके पश्चात् वायुलोक को, इस पाठ बल से अर्चिस् के पश्चात् वायुलोक को प्राप्त करता है। ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं 'वायुमब्दात्' अर्थात् सम्वत्सर से आगे तथा आदित्य से पश्चात् वायु को प्राप्त होता है क्योंकि 'अविशेष विशेषाभ्याम्' 'स वायुलोकम्' यहाँ सामान्यभाव से वायु का उपदेश है, पदार्थ मात्र का निर्देश है और "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुलोकमागच्छति तस्मै तत्र विजिहीते यथा चक्रस्य खं तेन स ऊर्द्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति" यहाँ विशेष रूप से कहा गया है। ऊर्ध्व शब्द क्रमवाची है, इससे विशेष गम्यमान होता है। इस प्रकार बृहदारण्यक में उक्त देवलोक शब्द से भी वायुलोक ही जानना चाहिए। कौषीतकियों का वायुलोक शब्द 'वायुश्चासौ लोकः' इस व्युत्पत्ति से वायु का ही प्रतिपादन है। वायु देवताओं के आवासभूत है "योऽयं पवत एष एव देवानां गृहाः" कुछ लोक कहते हैं कि सम्वत्सर से देवलोक, देवलोक से वायु इस श्रुत्यन्तर से देवलोक भी यहाँ मध्य में निवेशनीय है। 'वायुमब्दात्' यह कथन छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा से कहा है। सूत्र में वायुपद देवलोकपूर्वक वायुपरक है ऐसा कहते हैं। इनके मत में ब्रह्मलोक प्राप्ति में (१३) तेरह विश्राम स्थान हैं अर्थात् तेरह दिव्यलोक (स्थान) में पहुँचकर या रुककर जाना पड़ता है।।२।। इसप्रकार वायु अधिकरण पूरा हुआ।।२।।

इस प्रकार कौषीतकियों द्वारा अग्नि के अनन्तर पठित वायु का स्थान कहकर वरुण का क्या विद्युत के ऊपर निवेश है या वायु के ऊपर, ऐसा संशय होने से "स वायुलोकं स वरुणलोकम्" इस पाठक्रम से वायु के ऊपर वरुण लोक का निवेश है, ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहते हैं—

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ।।४।३।३।।

"स वरुणलोकमि" ति कौषीतकिश्रुत्युक्तो वरुणः "चन्द्रमसो विद्युतमि" ति छान्दोग्यश्रुत्युक्तायास्तडितोऽध्युपरिष्टान्निवेशयितव्यः। कुतः? सम्बन्धात्। विद्युतो मेघोदरवर्त्तित्वेन विद्युद्वरुणयोः सम्बन्धस्य लोके वेदे च प्रसिद्धत्वात्, पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्। "यदा हि विशाला विद्युतस्तीब्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वे" (छा० ७/११/१)ति श्रुतेः। अपि चेश्वरो वरुणो, वरुणाच्चोपरीन्द्रप्रजापती निवेश्यौ, स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च। एवं च सति "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयती" (छा० ४/१५/५) त्यमानवस्य विद्युत्पुरुषस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते। तदेवमर्चिरादिप्रजापत्यन्तो द्वादशपर्वा ब्रह्मलोकमार्ग इति सिद्धम्।।३।। इति वरुणाधिकरणम्।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"स वरुणलोकम्" इस कौषीतकि श्रुति में उक्त वरुण "चन्द्रमसो विद्युतम्" इस छान्दोग्य श्रुति में उक्त तड़ित (विद्युत्) के ऊपर वरुण का सन्निवेश जानना चाहिए। क्योंकि 'सम्बन्धात्' विद्युत् मेघ के भीतर होने के कारण विद्युत एवं वरुण का सम्बन्ध लोक एवं वेद में प्रसिद्ध है। पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है। "यदा हि विशाला विद्युतस्तीब्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथापः प्रपतन्ति। विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा" (छा० ७/११/१) अर्थात् जब भयानक रूप से गर्जना करती हुई विशाल विद्युत् (बिजली) मेघ के भीतर चमकती है, तब वर्षा होती है। ऐसा श्रुति वाक्य है। जल का स्वामी वरुण है, वरुण से ऊपर इन्द्र और प्रजापति का निवेश करना चाहिए क्योंकि इस बीच स्थानान्तर का अभाव है तथा पाठ सामर्थ्य भी है। इस प्रकार "तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति" (छा० ४/१५/५) इसप्रकार अमानव विद्युत पुरुष का पहुँचना व्यवधान सह है, ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार अर्चिस् से लेकर प्रजापति पर्यन्त बारह पर्वों वाला ब्रह्मलोक मार्ग है, यह सिद्ध होता है।।३।। इसप्रकार वरुण अधिकरण पूरा हुआ।।३।।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ।।४।३।४।।

किमर्चिरादयो विदुषो ब्रह्मप्रेप्सोर्भोगस्थानानि? किम्बा मार्गचिह्नानि? किं वा अतिनेतारः पुरुषाः? इति संशयः। तत्र मार्गचिह्नानीति तावत्प्राप्तं, तत्सरूपत्वेन निर्देशात्। यथा हि लोके किञ्चित् गङ्गादितीर्थं प्रतिष्ठास्यमानं तन्मार्गज्ञा अनुशिंषन्ति। अतो निर्गत्यामुं ग्रामं याहि, ततो नगरं, ततो गिरिं, ततो नदीं, ततस्तीर्थं प्राप्स्यसीति। अथवा भोगस्थानानि, अहरादेः कालविशेषत्वेन प्रसिद्धेर्मार्गचिह्नत्वानुपपत्तेः। "एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्द्धमासा ऋतवः सम्बत्सरा" इत्यहरादीनां लोकत्वोक्तेः। कौषीतकिनां च "अग्निलोकमागच्छती" त्यादिना लोकशब्दानुविधानेनार्चिरादीनां पाठात्। लोकशब्दस्य

च भोगस्थानेषु प्रसिद्धत्वादर्चिरादेरचेतनत्वाच्च भोगभूमय एवार्चिरादय इति प्राप्ते प्रतिब्रूमः। आतिवाहिका इति। अतिवाहे भवास्तत्र परमात्मना नियुक्ता आतिवाहिका देवताविशेषा एवैते भवितुमर्हन्ति। कुतः? तल्लिङ्गात्। उपसंहारे "स एतान् ब्रह्म गमयती" ति वैद्युतपुरुषस्य गन्तॄणां गमयितृत्वदर्शनात्। पूर्वेषां चाविशेषनिर्दिष्टानां स एव सम्बन्धस्तेऽप्यमानवा इति निश्चीयते। अन्यथोपसंहारे प्राप्तमानवत्वनिवृत्त्यर्थममानव इति विशेषणं न प्रकल्पते। गन्तॄणाञ्च सूक्ष्मशरीरपरिवेष्टितानां स्वातन्त्र्येण गमनानुपपत्तेः। उपपत्तौ वा विभूतिविस्ताराय परेण नीयमानत्वमुक्तम्। "अग्निलोकमि" त्यादिलोकशब्दोऽपि मध्ये भोगाभावाद् गमयितृत्व एवोपपद्यते।।४।।

ननु वैद्युतादूर्ध्व आब्रह्मप्राप्तेरमानवस्य गमयितृत्वं श्रुतं, न वरुणादीनाम्। अतः कथं तेषामातिवाहिकत्वमित्यत आह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अब संशय होता है कि ये अर्चि आदि ब्रह्मप्राप्ति के लिप्सु विद्वानों के भोगस्थान हैं, किं वा मार्ग चिह्न हैं अथवा अति नेता (ले जाने वाले देवता) है? इस पर ये मार्ग चिह्न हैं, ऐसा पहले प्राप्त होता है क्योंकि मार्गरूप में ही उनका निर्देश है। जैसे पहले पहले गङ्गा आदि तीर्थों में जाने वाले किसी व्यक्ति को, जिसे गङ्गा जी तक जाने का मार्ग ज्ञात नहीं है, उसको गङ्गाजी का रास्ता जानने वाला व्यक्ति बताता है कि यहाँ से चलकर तू अमुक ग्राम में जाओ, उसके बाद एक नगर आयेगा, वहाँ जाना, उसके बाद एक पहाड़ मिलेगा, वहाँ पहुँचना, उसके बाद एक नदी मिलेगी, उसको पार करने के बाद गङ्गा का तीर्थ (तट) मिलेगा। ये सब मार्ग चिह्न हैं, मार्ग के परिचायक हैं। अथवा ये सब भोग के स्थान हैं, अहन्आदि के काल विशेष रूप से प्रसिद्ध होने से मार्ग चिह्न नहीं हो सकते। "एत एव लोका यदहोरात्राण्यर्द्धमासा ऋतवः सम्वत्सराः" इस प्रमाण के आधार पर अहन् आदि को लोक कहा गया है। कौषीतकि उपनिषद् में "अग्निलोकमागच्छति" इत्यादि प्रमाण के आधार पर लोक शब्द के रूप में अर्चिस् आदि का पाठ है और लोक शब्द भोग स्थान में प्रसिद्ध होने से तथा अर्चिस् आदि के अचेतन होने से भोगभूमि ही अर्चिस् आदि हैं, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'आतिवाहिका' इति अतिवाहे भवा आतिवाहिका वहन कार्य में नियुक्त। अर्थात् मुक्त जीव को तत्-तत् स्थान में पहुँचाने के लिए परमात्मा द्वारा नियुक्त ये देवता विशेष ही हैं क्योंकि 'तल्लिङ्गात्' उसका ही लिङ्ग (प्रमाण) है। उपसंहार में "स एतान् ब्रह्म गमयति" वह आतिवाहिका देवता इन मुक्तात्माओं को ब्रह्म तक पहुँचाता है। यह श्रुति वैद्युत अभिमानी पुरुष को मुक्तात्माओं को ब्रह्म तक पहुँचाने वाला बताती है। इसी तरह पूर्व प्रोक्त सामान्य रूप से निर्दिष्ट अभिमानी देवताओं का भी वही सम्बन्ध होने से वे भी अमानव (देवता) ही हैं, ऐसा निश्चय होता है। अन्यथा उपसंहार में प्राप्त मानवत्व निवृत्यर्थ अमानव यह विशेषण नहीं कहा जाता। सूक्ष्म शरीर में आविष्ट मुक्तात्माओं में स्वतन्त्र रूप से गमन की उपपत्ति

नहीं हो सकती। अथवा उपपत्ति माने तो मुक्त जीव की विभूति (वैभव) विस्तार के लिए दूसरों के द्वारा ले जाने वाली बात कही गई है। 'अग्निलोकम्' इत्यादि श्रुतियों में लोक शब्द भी मध्य में भोग का अभाव होने से उसे अतिवाहक (पहुँचाने वाला) मानने पर उपपन्न होता है।।४।।

यदि कहें कि वैद्युत के आगे ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष द्वारा पहुँचाने की बात कही गई है न कि वरुण आदि को, फिर उनमें अतिवाहकत्व कैसे होगा? इस पर कहते हैं—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः।।४।३।५।।

ततो विद्युत उपरिष्टाद्वैद्युतेन विद्युल्लोकपर्य्यन्तागतेनैवामानवेनातिवाहिकेनाब्रह्मप्राप्ते-र्विद्वान्नीयते। कुतः? तच्छ्रुतेः "स एतान्ब्रह्म गयमती" (छा० ४/१५/५) ति तस्यैव गमयितृत्वश्रवणात्। "तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयती"ति श्रुत्यन्तराच्चामानवो विद्युल्लोकमागतो वैद्युत उच्यते, वरुणादयस्तु साधु ग[illegible]यतामिति साहित्येनोपकारका, अतस्तेषामप्यातिवाहिकत्वमिति। एतदुक्तं भवति, विद्वान्देहादुत्क्रम्य मूर्द्धन्यनाड्या विनिःसृत्य रश्मीनारुह्य यदा गन्तुमिच्छति तत्रार्चिषोऽभिमानिनातिवाहिकेन सम्मुखमेत्य निरतिशयसन्मानेनोपचारैः समभ्यर्च्यातिवाह्य दिनं नीतस्तेनापि पूर्वोक्तरीत्या शुक्लपक्षं नीतः, ततश्चोक्तरीत्या क्रमात् पक्षोत्तरायणसम्वत्सराभिमानिभिर्वायुं देवलोकरूपं नीतस्तेनापि सन्मानेन समभ्यर्च्य स्वस्मिंश्छिद्रं दत्त्वा तन्मार्गेण सूर्यमण्डलं नीतस्तथैव सूर्येण स्वस्मिंश्छिद्रं दत्त्वा तेन सूर्यमण्डलं भित्त्वा चन्द्रमसं, तेन विद्युल्लोकं, तदभिमानिदेवता विशेषेण वरुणलोकं, तत इन्द्रलोकं, ततः प्रजापतिलोकं, ततः प्राकृतमण्डलं भित्त्वा परधामसीमानं सरिद्वरां विरजामेति "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येती"ति श्रुतेः। ततः सूक्ष्मशरीरं परदेवतायां हित्वा तत्रामानवान्पुरुषान्स्वस्यातिवाहनार्थ-मागतान्पश्यति। तैः सह सङ्कल्पमात्रेण तां तीर्त्वा विष्णुलोकं प्रविश्य ब्रह्मभावमधिगच्छतीति यावत्।।५।।

सन्ति चात्र सङ्ग्रहश्लोकाः

"विद्वान् विनिष्क्रम्य सुषुम्णया तया नाड्या समारुह्य सवितृरश्मीन्।।
ततश्च वह्निं प्रथमं प्रयाति ततो दिनं पक्षमुपैति शुक्लम्।।१।।

तथोत्तरं प्राप्य बुधोऽयनं ततः सम्वत्सरं देवनिवासवायुम्।।
सूर्यं च सोमं च ततश्च वैद्युतं जलेशमिन्द्रं च ततः प्रजापतिम्।।२।।

स तत्र तत्राखिललोकपालैः समर्चितो याति समस्तलोकान्।।
अतीत्य देवैश्च समागतैरसौ ह्यमानवैर्याति सरिद्वरां बुधः।।३।।

विहाय लिङ्गं परदेवतायां सङ्कल्पमात्रेण तरेच्च तां नदीम्।।
ततोऽकृतं विग्रहमभ्युपेत्य ह्यलङ्कृतो ब्रह्मसमैश्च भूषणैः।।४।।

द्वाःस्थैः समागम्य परस्परं मुदा ह्यलौकिकं स्थानमसौ प्रपश्यन्।।
समागतो भागवतैश्च मार्गे समानशीलैर्भगवत्प्रपन्नैः।।५।।

ततश्च पश्यन्मणिमण्डपेऽसौ स्थूणासहस्रादिविराजमाने।।
दिव्ये महारत्नमये महात्मा सिंहासनस्थं पुरुषोत्तमं हरिम्।।६।।

लक्ष्म्यादियुक्तं परमेशितारमादित्यवर्णं तमसः परात्परम्।।
सुनन्दमुख्यैश्च सुदर्शनादिभिर्नमस्कृतं स्वाञ्जलिसम्पुटैश्च।।७।।

सहस्रसूर्यादिप्रभातिरस्करद्युभिः किरीटादिसमस्तभूषणैः।।
विभूषिताङ्गं जगतां पतिं गुरुं वेदान्तवेद्यं द्रुहिणादिवन्द्यम्।।८।।

मुक्तोपसृप्यं च मुमुक्षुमृग्यं विश्वस्य हेतुं स्वजनैकजीवनम्।।
विज्ञानमानन्दमयस्वरूपं स्वभावतोऽपास्तसमस्तहेयम्।।९।।

समस्तकल्याणगुणाकरं प्रभुं विज्ञानमूर्त्तिं परधामसंस्थम्।।
दृष्ट्वा मुकुन्दं भगवन्तमाद्यं कृष्णं सदानन्दमयं वरेण्यम्।।१०।।

दूरान्नमस्कृत्य पदारविन्दयोर्नमो नमो भूय उदाहरन्मुदा।।
ततश्च कृष्णेन कृपार्द्रया दृशाऽवलोकितः श्रीमुखपङ्कजेन सः।।११।।

गिरा परानन्दनिदानभूतया सम्भावितो याति हि ब्रह्मभावम्।।
पुनर्न संसारगतिं समेति वै विमुक्तमायार्गल एष मुक्तः।।१२।।

प्रदर्शितेयं श्रुतिभिः परा गतिः सङ्क्षेपतो मन्दधियां हिताय।।
स्वसम्प्रदायानुगुणा मयेरिता श्रुतिस्मृतिन्यायप्रमाणसङ्घैः।।१३।।

यया गतो याति परेशभावं हरेः पदं मुक्तसमस्तबन्धः।।
मुमुक्षुभिः सा परिशीलनीया मुकुन्दपादाम्बुजगन्धलुब्धैः।।१४।।

इत्यातिवाहिकाधिकरण्म।।४।।

(हिन्दी–अनुवाद)

तदनन्तर विद्युत् से ऊपर, विद्युत् लोक पर्यन्त आगत अमानव (वैद्युत) अतिवाहक पुरुष द्वारा ही ब्रह्म प्राप्ति पर्यन्त विद्वान् पुरुष ले जाया जाता है क्योंकि 'तच्छ्रुतेः' "स एतान्ब्रह्म गमयति" (छा० ४/१५/५) वह अमानव पुरुष इन विद्वान् पुरुषों को ब्रह्म तक पहुँचाता है। इस श्रुति से अमानव पुरुष को ही पहुँचाने वाला कहा गया है। "तान्वैद्युतात्पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति" ऐसा श्रुत्यन्तर भी है, इससे विद्युत् लोक में समागत अमानव पुरुष ही वैद्युत कहा जाता है। वरुण आदि तो केवल मार्ग दिखा देते हैं, अच्छा जाइये, इस प्रकार कहकर केवल गमन में सहयोग मात्र करने से उपकारक होते हैं। सहयोग करने के कारण

उन्हें भी आतिवाहिक कहा जाता है। सारांश है कि विद्वान् पुरुष देह से सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से उत्क्रमण करके सूर्य रश्मियों पर आरोहण कर जब जाने की इच्छा करता है, तब वहाँ अर्चिस् के (रश्मि के) अभिमानी अतिवाहिक सम्मुख आकर निरतिशय सम्मान एवं नानाविध उपचारों से अर्चना करके उसको लेकर दिनाभिमानी देवता के पास पहुँचा देता है, वहाँ दिनाभिमानी देवता भी उसका सम्मान आदि करके उसे शुक्ल पक्षाभिमानी देवता के पास पहुँचा देता है फिर क्रमशः पक्ष, उत्तरायन, सम्वत्सर आदि के अभिमानी देवताओं द्वारा सम्मानित होकर उनके द्वारा वह वायु (देवलोक) में पहुँचाया जाता है, वह सम्मानित करके अपने में छिद्र प्रदान कर उसके द्वारा सूर्यमण्डल पहुँचा देता है, पूर्व की भाँति सूर्य अपने में छिद्र प्रदान कर मार्ग देता है और वह सूर्यमण्डल का भेदन कर चन्द्रलोक तदनन्तर विद्युत् लोक पहुँचता है। वहाँ भी अभिमानी देवता उसे वरुण लोक फिर इन्द्रलोक, प्रजापति लोक ले जाती है। तत्पश्चात् वह प्राकृत मण्डल का भेदन कर परमधाम की सीमा पर स्थित विरजा नदी के तट पर पहुँचता है "स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति" ऐसी श्रुति है। वहाँ सूक्ष्म शरीर का परित्याग कर वहाँ वह अपने को पहुँचाने के लिए आने वाले आतिवाहिक पुरुष को देखता है। उसके साथ संकल्प मात्र से उस नदी को पार कर के विष्णुलोक में प्रवेश कर ब्रह्म भाव को प्राप्त करता है।।५।।

इस विषय में कतिपय सङ्ग्रह श्लोक हैं—

अर्थात् विद्वान् (मुक्तात्मा) सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र से निकलकर सूर्य की रश्मियों पर आरूढ़ होता है, वहाँ से पहले बह्निलोक जाता है, तब दिनाभिमानी देवता के पास, दिनाभिमानी उसे शुक्ल पक्षाभिमानी देवता के पास पहुँचाता है।।१।।

इस प्रकार उत्तरायण, सम्वत्सर अभिमानी के पास पहुँचकर वायुलोक में जाता है, तदनन्तर क्रमशः सूर्य, चन्द्र, वैद्युत, वरुण, इन्द्रलोक फिर प्रजापति लोक जाता है।।२।।

मुक्तात्मा तत्-तत् लोक में पहुँचने पर तत्-तत् लोक के देवता उसका बहुत-बहुत सम्मान करते हैं। उसीकी पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं। इस प्रकार तत्-तत् लोक में समादृत होकर जब वह वैद्युत लोक में जाता है, वहाँ अमानव दिव्य पुरुष उसे लेने के लिए आते हैं, जो उसे वैद्युत लोक से लेकर प्राकृत मण्डल से बाहर स्थित विरजा नदी तक पहुँचा देते हैं।।३।।

वहाँ वह अपना लिङ्ग शरीर (सूक्ष्म शरीर) भी छोड़ देता है और सङ्कल्प मात्र से उस नदी को पार कर देता है। वहाँ उसे सच्चिदानन्दमय विग्रह प्राप्त होता है, वहाँ नाना प्रकार के दिव्य अलङ्कारों, आभूषणों, वस्त्रों से समलङ्कृत होकर वह दिव्य वपु से विराजमान होता है।।४।।

वहाँ विष्णुलोक में भगवान् के द्वारपाल आकर उसका स्वागत सम्मान करते हैं और उसे वहाँ भगवद् धाम में दिव्यातिदिव्य स्थानों का दर्शन प्राप्त होता है। वहाँ दिव्य भवन में

दिव्यमणिमय मण्डप में मणिमय सिंहासन पर भगवान् श्रीश्यामसुन्दर का उसे मङ्गलमय दर्शन प्राप्त होता है।।५-६।।

उस समय वहाँ देखता है कि भगवान् श्री लक्ष्मी आदि देवियों से सेवित हैं। कोटि-कोटि आदित्य के समान भगवान् की देदीप्यमान कान्ति है, प्रकृति से परे भगवान् निज धाम में विराजमान हैं, सुनन्द आदि तथा सुदर्शन आदि नित्य पार्षद भगवान् की सेवा कर रहे हैं। सभी पार्षद भगवान् के समक्ष हाथ जोड़कर खड़े हैं।।७।।

कोटि-कोटि सूर्यों के प्रभाव को तिरस्कृत करने वाली भगवान् की श्री अङ्ग की कान्ति है- मस्तक पर मणि जटित मुकुट, कमर में करधनी, भुजाओं पर बाजूबन्द आदि दिव्य भूषणों से प्रभु का सर्वाङ्ग समलंकृत है। भगवान् जगत्पति एवं गुरु हैं, समस्त वेदान्त वाक्यों के आप परम प्रतिपाद्य हैं, ब्रह्मा आदि उनकी वन्दना कर रहे हैं।।८।।

मुक्तजनों के आप परम प्राप्य हैं, मुमुक्षु जन सदा आपका अन्वेषण करते रहते हैं। आप सम्पूर्ण जगत के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। प्रपन्नजनों के एक मात्र जीवन है। विज्ञान एवं आनन्द ही आपका परम स्वरूप है। आप स्वाभाविक रूप से अशेष दोषों से रहित हैं।।९।।

आप श्री अनन्त कल्याण गुणगणार्णव हैं। ऐसे दिव्य गुण सम्पन्न सच्चिदानन्द विग्रह परम वरणीय भगवान् श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त कर।।१०।।

उनके श्रीचरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात करके परम प्रसन्नता से बार-बार नमस्कार करता है। तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण कृपा पूर्ण दृष्टि से देखते हैं।।११।।

और प्रभु कृपापूर्ण मधुर वाणियों द्वारा अपने निकट बुलाकर उसे ब्रह्मभाव को प्राप्त कराते हैं। फिर वह कभी भी संसार गति (जन्म, मरण रूपी संसार दशा को) नहीं प्राप्त करता है। वह सदा के लिए भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।।१२।।

इस प्रकार मन्द बुद्धि प्राणियों के हित के लिए श्रुतियों द्वारा वर्णित इस परम गति का स्वरूप स्व सम्प्रदाय सिद्धान्त के अनुरूप वर्णन किया है। यह गति श्रुति स्मृति तथा पुराण प्रमाणों से प्रमाणित है।।१३।।

जिस अर्चिरादि मार्ग से जाकर मुक्तात्मा समस्त बन्धनों का परित्याग कर ब्रह्मभावापत्ति मोक्ष को प्राप्त करता है, वह गति अर्चिरादि गति है जिसका भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के पादारविन्द मकरन्द के गन्ध लोभी मुमुक्षुजनों को सदा अनुशीलन करना चाहिए।।१४।।

इस प्रकार अतिवाहिक अधिकरण पूरा हुआ।।४।।

कार्य्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ।।४।३।६।।

"अथ स एतान्ब्रह्म गमयती"ति श्रुत्याऽर्चिरादिना ब्रह्मप्राप्तिर्विधीयते, सा किं कार्यभूतहिरण्यगर्भब्रह्मविषयिका? उत परब्रह्मविषयिकेति? संशये किं युक्तं, कार्यं ब्रह्मैवार्चिरादिर्गमयति। कुतः? अस्य कार्यब्रह्मण एव देशविशेषवर्त्तित्वेन तत्रैव गत्युपपत्तेर्गन्तृगन्तव्यत्वसम्भवादिति बादरिराचार्यो मन्यते।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"अथ स एतान्ब्रह्म गमयति" इस श्रुति के द्वारा अर्चिरादि गति से ब्रह्म की प्राप्ति का विधान किया जाता है। वह ब्रह्म क्या कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ है या परब्रह्म? ऐसा संशय होने पर क्या युक्त है? तो उत्तर देते हैं 'कार्यं' अर्चिरादि मार्ग कार्यब्रह्म को प्राप्त कराता है क्योंकि वह कार्यब्रह्म ही देश विशेष में रहते हैं इसलिए वहीं गति की उपपत्ति होती है, वहीं गन्तृ गन्तव्यभाव सम्भव है, ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं।।६।।

विशेषितत्वाच्च।।४।३।७।।

"ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ती" (बृ० ६/२/१५) ति लोकशब्दबहुवचनाभ्यां तस्य विशेषितत्वाच्च।।७।।

ननु नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्कथं कार्यब्रह्मोपस्थापकत्वमन्यथा "स एतान्ब्रह्माणं गमयती"ति निर्देष्टव्यं स्यादत आह—

(हिन्दी-अनुवाद)

"ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति" (बृ० ६/२/१५) इस बृहदारण्यक श्रुति में लोक शब्द तथा बहुवचन के द्वारा उसे विशेषित भी किया गया है।।७।।

यदि कहें कि नपुंसक ब्रह्म शब्द मुख्यतया परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। फिर वह कार्यब्रह्म का बोधक कैसे हो सकता है। अन्यथा "स एतान्ब्रह्माणं गमयति" ऐसा कहना चाहिए। इसलिए कहते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः।।४।३।८।।

तु शब्दः शङ्कोच्छेदार्थः। "यो ब्रह्माणं विदधाती"ति तस्य पूर्वजत्वेन परब्रह्मसामीप्याद् ब्रह्मत्वोक्तिः।।८।।

ननु "नावर्त्तन्त" इत्य "मृतत्वमेती"ति कथमस्यापुनरावृत्त्यादिश्रवणं सङ्गच्छेत? कार्यब्रह्मगतस्य "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिन" इति पुनरावृत्तिस्मरणादिति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

तु शब्द शङ्का के उच्छेद के लिए है। "यो ब्रह्माणं विदधाति" इस श्रुति द्वारा हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के पूर्वज होने से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा में परब्रह्म सामीप्य है। इसलिए ब्रह्म शब्द कहा गया।।८।।

यदि कहें "नावर्त्तन्तेऽमृतत्वमेति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा ब्रह्मप्राप्ति की अपुनरावृत्ति कही गई है, यदि ब्रह्म शब्द से हिरण्यगर्भ लिया जाए तो पुनः अपुनरावृत्ति कथन कैसे सम्भव हो? क्योंकि कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ लोक को प्राप्त पुरुषों के लिए "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः" इस गीता के वाक्य में इसकी, कार्यब्रह्म प्राप्त पुरुष की पुनरावृत्ति कही गयी है। यदि ऐसा कहें तो इस पर कहते हैं—

कार्य्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्।।४।३।९।।

चतुर्मुखप्राप्तावप्यपुनरावृत्तिर्नानुपपन्ना, कार्यस्य हिरण्यगर्भलोकस्यात्यये महाप्रलये सतीत्यर्थः। तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन विदुषा सह स्वयमपि तत्राधिगतविद्योऽतः कार्यब्रह्मणश्चतुर्मुखात्परं मूलभूतं ब्रह्म प्राप्नोति। कुतः? अभिधानात्। "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्व" इति ब्रह्मणा सह परप्राप्त्यभिधानात्।।९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् चतुर्मुखब्रह्म की प्राप्ति होने पर भी अपुनरावृत्ति कथन अनुपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ ब्रह्मा के लोक के महाप्रलय होने पर इस लोक के अध्यक्ष चतुर्मुख विद्वान् ब्रह्मा के साथ यह वहाँ प्राप्तविद्य मुक्तात्मा जीव भी कार्यब्रह्म चतुर्मुख ब्रह्मा से पर मूलभूत मुख्यब्रह्म की प्राप्ति करता है क्योंकि ऐसा श्रुति में कहा है। जैसा कि श्रुति वचन है "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" इस श्रुति से ब्रह्मा के साथ उस मुक्तात्मा की भी परब्रह्म की प्राप्ति कही गई है।।९।।

स्मृतेश्च।।४।३।१०।।

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदमि" ति स्मरणाच्च तथावगम्यत इति पूर्वः पक्षः।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" अर्थात् महाप्रलय होने पर ब्रह्मा के साथ मुक्तात्मा जीवात्मा को भी परब्रह्म की प्राप्ति होती है, ऐसा स्मृति का वचन है। इसलिए अर्चिरादि गति के द्वारा गया हुआ मुक्तात्मा जीव पहले कार्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, ऐसा पूर्व पक्ष है।।१०।।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।।४ ।३ ।११ ।।

जैमिनिराचार्यस्तु परं ब्रह्मैवार्चिरादिगणो विद्वांसं गमयतीति मन्यते स्म। कुतः? मुख्यत्वात्। "ब्रह्म गमयती" त्यत्र परं ब्रह्मैव ब्रह्मशब्दाभिधेयं, तस्यैव शक्यत्वेन नपुंसकब्रह्मशब्दस्य तत्रैव वृत्तेरन्यथा गौणत्वप्रसङ्गः। "यत्परः शब्दः स शब्दार्थ" इति न्यायात्। शब्दप्रमाणकैः शब्दानां योऽर्थः प्रतीयते स ग्रहीतव्यो, गौणो लाक्षणिकश्च न शब्दनिमित्तः प्रमाणान्तरापेक्षत्वात् ।।११।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जैमिनि मुनि का कथन है कि अर्चिरादिगण विद्वान् पुरुष को सीधे परब्रह्म परमात्मा को पहुँचा देते हैं। क्योंकि 'मुख्यत्वात्' अर्थात् "ब्रह्म गमयति" इस श्रुति में परब्रह्म परमात्मा ही ब्रह्म शब्द का अभिधेय है, क्योंकि नपुंसक ब्रह्म शब्द की मुख्यवृत्ति परब्रह्म में ही है। अन्यथा कार्य ब्रह्मपरक मानने पर गौणत्व का प्रसङ्ग होगा। कारण "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" ऐसा न्याय है। अर्थात् शब्द प्रमाण मानने वाले विद्वानों द्वारा शब्दों का जो अर्थ प्रतीत होता है, वही ग्राह्य होता है, गौण अर्थ एवं लाक्षणिक अर्थ शब्द का प्रवृत्ति निमित्त नहीं होता है। उसके लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होती है।।११।।

दर्शनाच्च ।।४ ।३ ।१२ ।।

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति श्रुतौ परस्यैव प्राप्यत्वं स्पष्टं दृश्यते।।१२।।

ननु "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्य" (छा०/८/१४/१) इति श्रुत्या कार्यब्रह्मपरत्वेन पूर्वश्रुतस्य ब्रह्मशब्दस्येति चेत्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

"परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इस श्रुति में परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्य रूप में स्पष्टतया कहा गया है।।१२।।

यदि कहें कि "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" (छा०/८/१४/१) इस श्रुति द्वारा तो पूर्व श्रुत ब्रह्म शब्द का कार्यब्रह्म परत्व ही प्रतीत होता है, इस पर कहते हैं——

न च कार्य्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ।।४ ।३ ।१३ ।।

नायं कार्यब्रह्मविषयः प्रतिपत्त्यभिसन्धिः सम्प्राप्तिसङ्कल्पः। किन्तु परब्रह्मविषय एव। "नामरूपयोर्निर्वहिते" (छा० ८/१४/१) ति परस्यैवाधिकारात्। वाक्यशेषे "यशोऽहं सम्भवामि ब्राह्मणानामि" ति तस्याभिसन्धातुः सर्वाविद्याविमोकसर्वात्मभावाभिसन्धाना

"दश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानी" त्यभिसम्भाव्यमानस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात् सर्वबन्धविनि-मुक्तिश्रवणाच्च परं ब्रह्मैव प्राप्यमर्चिरादिना गतस्येति। एतदुक्तं भवति "स एतान् ब्रह्म गमयती" ति ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वं, प्रमाणान्तरेण कार्यत्वनिश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्वं युक्तम्। नच गत्यनुपपत्तिः प्रमाणम्। परब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेशगतस्यैव निःशेषाविद्यानिवृत्तिः शास्त्रादवगम्यते। यथा विद्योत्पत्तौ वर्णाश्रमादि-धर्मापेक्षा विविदिषाश्रुतेः, तथा निःशेषाविद्यानिवृत्तिरूपविद्यानिष्पत्तिरपि विशिष्ट देशगतिसापेक्षेति गतिश्रुतिभ्योऽवगम्यते। नच लोकशब्दबहुवचनाभ्यां विशेषणाभ्यां हिरण्यगर्भस्यैव प्रतीतिरिति वाच्यम्। निषादस्थपतिन्यायेन ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इति कर्मधारयसमासेनाविरोधात्। अर्थैक्यनिश्चये बहुवचनस्यापि पाशबहुत्ववदुपपत्तेः। "यथादितिः पाशान् प्रमोमोक्तेतानि" ति एकस्मिन्पाशे बहुवचनं प्रयुज्यते, तद्वत्।।१।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यह कार्यब्रह्म विषयक सम्प्राप्ति सङ्कल्प नहीं है, किन्तु परब्रह्म विषयक है। कारण "नामरूपयोर्निर्वहिता" (छा० ८/१४/१) श्रुति में परब्रह्म का ही अधिकार है और वाक्यशेष में "यशोऽहं सम्भवामि ब्राह्मणानाम्" श्रुति में उसमें अभिसन्धान करने वालों के लिए सकल अविद्या विमोचन पूर्वक सर्वात्मभाव प्राप्ति का कथन है। "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवानि" इस श्रुति द्वारा प्राप्य ब्रह्मलोक को अकृतत्व (नित्य) तथा समस्त बन्धनों से विनिर्मुक्त कहा गया है। इसलिए अर्चिरादि गति द्वारा परब्रह्म ही प्राप्य होता है। तात्पर्य यह है कि "स एतान् ब्रह्म गमयति" इस श्रुति में प्रयुक्त ब्रह्म शब्द मुख्यतया परब्रह्म का ही बोधक है। किसी अन्य प्रमाण से कार्यत्व का निश्चय होने पर उसे लाक्षणिक मानना युक्त है अन्यथा नहीं। यदि कहें कि गति की अनुपपत्ति ही कार्य ब्रह्म भाव प्रमाण है तो ऐसा भी नहीं कह सकते। कारण परब्रह्म के सर्वगत होने पर भी विद्वान् मुक्तात्मा के विशिष्ट देश में जाने पर ही निःशेष अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐसा शास्त्र से जाना जाता है। जैसे विद्या की उत्पत्ति में वर्णाश्रमधर्म के अनुष्ठान की अपेक्षा होती है, क्योंकि ऐसी विविदिषा श्रुति है। इसी प्रकार निःशेष अविद्या निवृत्ति रूप विद्या निष्पत्ति भी विशिष्ट देश गति (गमन) सापेक्ष है, यह बात गति श्रुति से जानी जाती है। यदि कहें कि लोक शब्द एवं बहुवचन विशेषणों से हिरण्यगर्भ की ही प्रतीति होती है, तो ऐसा नहीं कह सकते। निषादस्थपति न्याय से ब्रह्मैवलोक ब्रह्मलोक, ऐसा कर्मधारण्य समास करने से कोई विरोध नहीं होगा। यदि कहें कि फिर ब्रह्मलोकान् में बहुवचन की उपपत्ति कैसे होगी? इस पर कहते हैं 'अर्थैक्यनिश्चये' अर्थात् अर्थ की एकता का निश्चय होने पर बहुवचन की भी पाश के बहुत्व के समान उपपत्ति हो जायेगी। "यथादितिः पाशान् प्रमोमोक्तेतानि" यहाँ एक पाश होने पर भी बहुवचन का प्रयोग किया जाता है, उसी तरह यहाँ एकत्व में बहुवचन का प्रयोग है।।१।।

केचित्तु निर्गुणब्रह्मविदो हि गतिर्नोपपद्यते, ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्न हि प्राप्तमेव प्राप्यते। किन्तु यः परिच्छिन्नो ग्रामादिः, स गत्वा प्राप्यते। तस्मात्सगुणब्रह्मविद एव सगुणासु विद्यासु गतिश्रुतिरित्याहुस्तदयुक्तमित्याहुरन्येऽसम्भवात्। तथाहि यदि निर्गुणायां गतिरनुपपन्ना तर्हि सगुणास्वपि समानानुपपत्तिः, तत्रापि ब्रह्मैवोपास्यते, तस्यानेकत्वाभावात्। सर्वगतस्य ये गुणास्ते सर्वगता एव, यथाकाशस्य परममहत्त्वं, यस्य हि संसारातिनिवृत्तिहेतवोऽपहतपाप्मत्वादयो गुणाः स परमात्मोच्यते। यस्यैते न सन्ति, स संसारी सत्त्वादिगुणयोगात्। नहि सगुणं ब्रह्मोपास्यमानमब्रह्म भवति, नच निर्गुणं वस्तु विद्यते, न ह्युष्णप्रकाशादिप्रत्याख्यानेऽग्निर्नाम भवति, नापि द्रव्यप्रत्याख्याने गुणो नामास्ति। उभयात्मकं तद्वस्तु "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्मे" ति शतगुणोत्तरक्रमेणानन्दप्रतिपादनात्। यदि चैतन्यमात्रं ब्रह्म, आनन्दगुणोपदेशोऽनर्थकः स्यात्। न चाकस्मादर्थवादकल्पना युक्ता। यथाश्रुतार्थग्रहणे किं नामानुपपन्नम्। अस्थूलादिश्रुतिस्तु प्रपञ्चनिवारणपरा। अयं तु "स एको ब्रह्मण आनन्द" इत्यसाधारणगुण उत्कर्षापकर्षरहितो व्यपदिष्टो, यदि च श्रुतं नाद्रियते, ऽपवर्गेऽप्यर्थवादः किं न स्या? दत एव सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सृष्टिकर्तृत्वमित्येते गुणाः परस्यासाधारणा न केनचित्प्रतिषेद्धुं शक्यन्ते। गुणकृतं कार्यकृतं वा नानात्वं च दर्शितं, तच्चास्माकं न दोषाय, प्रत्युतालङ्कारो भिन्नाभिन्नात्मवस्तूपगमादतः सगुणब्रह्मविदोऽपि गतिरनुपपन्ना तद्भावापन्ने नहि प्राप्तमेव प्राप्यत इति त्वदुक्तेनैव हेतुना। तथात्वे गत्यादिश्रुतयः कूपे प्रवेशयितव्याः।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब श्री शंकराचार्य की व्याख्या का निराकरण करते हैं। उनका कथन है कि निर्गुण ब्रह्मवादी की गति उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म सर्वगत है, वह तो प्राप्त ही है, प्राप्त की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु जो परिच्छिन्न ग्राम आदि है, वहाँ जाकर उसकी प्राप्ति की जाती है। इसलिए सगुण ब्रह्मवेत्ता के लिए ही सगुण विद्याओं में गति सुनी गयी है, यह कथन समीचीन नहीं है, ऐसा दूसरे असम्भव होने से कहते हैं। यदि निर्गुण में गति अनुपपन्न है तब तो सगुण विद्याओं में भी अनुपपत्ति समान है क्योंकि सगुण विद्याओं में भी ब्रह्म की ही उपासना होती है, ब्रह्म अनेक तो नहीं है। सर्वगत ब्रह्म के जो गुण है वे सर्वगत ही है, जैसे आकाश के परम महत्व। जिसमें संसार से निवृत्ति हेतु अपहत पाप्मत्व आदि गुण होते हैं। वहीं परमात्मा कहलाता है। जिसमें ये गुण नहीं होते, वह संसारी होता है। उसमें सत्वादि गुणों का योग होता है, सगुण ब्रह्म उपास्य होने पर ब्रह्म भिन्न नहीं होता। न ही कोई निर्गुण वस्तु है, ऊष्ण, प्रकाश आदि के प्रत्याख्यान करने पर अग्नि नाम की कोई वस्तु नहीं होती और द्रव्य के प्रत्याख्यान करने पर गुण नाम की कोई वस्तु होती है। वह वस्तु उभयात्मक है "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्म" यहाँ शतगुणित उत्तर क्रम से आनन्द का प्रतिपादन है। यदि चैतन्य मात्र ही ब्रह्म होता, फिर उसमें आनन्द गुण का उपदेश अनर्थक हो जाता। अकस्मात् अर्थ की कल्पना युक्त नहीं, यथाश्रुत अर्थ ग्रहण में क्या अनुपपन्न है। यदि कहें कि 'अस्थूलमनणु' इत्यादि श्रुतियों की उपपत्ति कैसे होगी तो कहते हैं, अस्थूल आदि श्रुति

प्रपञ्च निवारणपरक है। "स एको ब्रह्मण आनन्दः" इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित यह आनन्दगुण ब्रह्म के असाधारण उत्कर्ष एवं अपकर्ष से रहित बताया गया है। यदि इस श्रुति का आदर नहीं करते हैं तो फिर अपवर्ग में भी अर्थवाद क्यों नहीं होगा, इसलिए सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व तथा सृष्टिकर्तृत्व इत्यादि परमात्मा के गुणों का कोई भी प्रतिषेध नहीं कर सकता। यहाँ गुणकृत एवं कार्यकृत नानात्व दिखाया गया है। यह हमारे लिए दोषावह नहीं है बल्कि अलङ्कार स्वरूप है क्योंकि हमने सबको भिन्नाभिन्न स्वरूप माना है, इस तरह सगुण ब्रह्मविद् की भी गति अनुपपन्न होगी क्योंकि तद्भावापन्न में आपके द्वारा प्रतिपादित हेतु से प्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। फिर तो गति आदि श्रुतियों को कूएँ में फेंक देना चाहिए।।२।।

किञ्च संसारिणोऽपि स्वरूपतो गतिर्नोपपद्यते। तस्यापि लिङ्गशरीरगमनादेव गमनम्। ननु च संसारी जीवो नाम परमात्माभासस्तस्य परिच्छिन्नत्वाद्गतिरुपपद्यते। अत्रोच्यते—कोऽयमाभासो नाम किं वस्तुभूतः? अथावस्तुभूतः? इति। यदि तावदवस्तुभूतस्तस्य स्वर्गापवर्गयोरधिकाराभावः, शशविषाणवत्। अथ वस्तुभूतस्तत्राणुमध्यम-परिमाणत्वं च भवता नेष्यते। यच्चाणुत्वं तदौपाधिकमित्यभ्युपगतं, तथात्वे च लिङ्गशरीरस्यैव गतिर्न स्वरूपस्येति गतिश्रुतीनां बाध एव। स्वरूपेण जीवस्य गत्यनुपपत्तेः शरीरस्यैव फलप्राप्तिप्रसङ्गाच्च। न चास्माभिरियं गतिः पठिता, अपि तु श्रौतमानसिद्धा। नापि सगुणाविद्यायामेव श्रुता, अपितु निर्गुणायामपि। "तद्वैतदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते तथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजायन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायण-मेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्त" इति प्रश्ने, मुण्डके च "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ती" ति। ऐतरेयके च "अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदि" त्यादिश्रवणात्। तथा च श्रुतिमुखेनैव सिद्धा विदुषां गतिरिति। ननु वाजसनेयके "तेषामिह न पुनरावृत्तिरि" तीहेति विशेषणादिह कल्पेऽनावृत्तिः कल्पान्तरे त्वावृत्तिः स्यादिति चेन्न। असम्भवात्तथाहि यथा "राजसूये ब्रह्मणो गृहे महिष्या ग्रह" इत्येवमादिना द्वादशहवींषि विहितानि प्रत्येकं कर्त्तव्यानीति "तत्र श्वोभूते निर्वपेदि" त्युक्तमेकस्मिन्कृते पुनरपि श्वोभूत इत्युपतिष्ठते "श्वोभूतवदनुवादादि" ति सूत्रात्। तद्वदत्रापीह कल्पेऽनावृत्तिः कल्पान्तरेऽपि बोध्या, आकृतिनिर्देशस्य सर्वकल्पव्यापनात्।।३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

दूसरी बात फिर तो संसारी जीव की भी गति उपपन्न नहीं हो सकती क्योंकि उसका भी लिङ्ग शरीर के गमन से ही गमन होगा। यदि कहें कि संसारी जीव तो परमात्मा का आभास है, वह परिच्छिन्न है, उसकी गति उपपन्न हो सकती है? इस पर कहते हैं, यह आभास क्या वस्तु है, यह क्या वस्तुभूत है या अवस्तुभूत। यदि अवस्तुभूत है फिर तो उसे स्वर्ग अपवर्ग में अधिकार नहीं हो सकता, शशविषाण की तरह। यदि वस्तुभूत है तो उसमें अणु तथा मध्य परिणाम आप नहीं मानते। अणुत्व है भी तो औपाधिक ऐसा मानते हैं, ऐसा

मानने पर लिङ्ग शरीर की ही गति होगी, स्वरूप की नहीं। इसप्रकार गति श्रुतियों का बाध ही होगा। स्वरूप से जीव की गति की अनुपपत्ति होगी। तब तो शरीर में फल की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। मुक्तात्मा की गति की बात हमने तो बनाई नहीं, यह श्रौत प्रमाण से सिद्ध है और न यह गति केवल सगुण विद्या में ही पठित है बल्कि निर्गुण विद्या में भी है "तद्वैतदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते तथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजायन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतद-मृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते" ऐसा प्रश्नोपनिषत् में कहा है। मुण्डक में भी कहा है, "सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति" इसी तरह ऐतरेयक उपनिषद् में भी आया है कि "अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्" इत्यादि प्रकार से निर्गुण विद्या में भी विद्वान् की उत्क्रान्ति गति वर्णित है। इस प्रकार श्रुति के द्वारा ही विद्वान् की गति सिद्ध है। यदि कहें कि वाजसनेयक में 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' इस श्रुति में इह का अर्थ है इस कल्प में अनावृत्ति होती है, कल्पान्तर में तो उसकी भी आवृत्ति होगी, ऐसा तात्पर्य है तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा असम्भव है। जैसे "राजसूये ब्रह्मणो गृहे महिष्या ग्रहः" इस प्रकार के श्रुतिवचनों द्वारा बारह प्रकार के हवि विहित हैं, उनमें सभी कर्तव्य है। "तत्र श्वोभूते निर्वपेत्" ऐसा कहा। यहाँ एक के करने पर पुनः 'श्वोभूते' की उपस्थिति होती है क्योंकि 'श्वोभूतवदनुवादात्' ऐसा सूत्र है। उसी तरह यहाँ इस कल्प में अनावृति कथन से कल्पान्तर में भी अनावृत्ति समझनी चाहिए, आकृति निर्देश सर्वकल्पव्यापी होता है।।३।।

अपि चेह युगेऽवान्तरे कल्पेऽन्यस्मिन्वेत्यनध्यवसानादाकृतिवादो युक्तोऽर्थवाद-सम्भवात्, ग्रहैकत्ववद्वाक्यभेदात्सदाऽनावृत्तिर्विधीयते युगपत्सर्वकल्पानावृत्तिरेवावतिष्ठते, तत्रास्मिन्नेव कल्पे न कल्पान्तर इत्यपरस्मिन्नर्थे विद्यमाने वाक्यभेदो दुर्निवारः। यथा "ग्रहं सम्मार्ष्टी" ति सम्मार्गे विधीयमाने सर्वग्रहेषु प्राप्तिः, तत्रैकमिति पुनर्विधीयमाने वाक्यभेदास्तथा प्रकृतेऽपि बोध्यम्। किञ्चाऽमुत्रानावृत्तिर्न विधीयते तदानीमिहेति पदं किं विशेषणं स्यात्। तस्मादिहपदमनुवादोऽत एव काण्वानामिहपदं न पठ्यते। तस्मादर्चिरादिना गत्वा परमात्मनि लिङ्गप्रलयो, न प्रागिति गतिश्रुतिसामर्थ्यान्निश्चीयते। "परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ती"ति "पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति" श्रुतिभ्य इत्यादिना तदपि न रमणीयं, स्वोक्तिविरोधात्। तन्मतेऽपि न तावद्भेदः स्वाभाविकः किन्त्वौपाधिक एव। मोक्षे भेदानङ्गीकारात्तथात्वे चोपाधेरेव गत्यादिसिद्धिर्न स्वरूपस्य। तथैव मोक्षोऽपि विरुद्धः स च पूर्वमेव विस्तृतः। सिद्धान्ते तु भेदस्यापि स्वाभाविकत्वेनाणुपरिमाणस्य च श्रुतिमानसिद्धत्वेन पारमार्थिकत्वाद्बन्धमोक्षयो-रुत्क्रान्तिगत्यागतीनां च सामञ्जस्यं विरोधाभावात्। अपुनरावृत्तिरपि त्रिविधकर्मणो निःशेषनाशेन जन्मकारणाभावादेव। निःकारणमेव पुनरावृत्त्यङ्गीकारे मुक्तस्य पुनः संसारापत्तिस्तवापि समाना। नच तस्यापि कर्मशेषोऽङ्गीकार्य इति वाच्यं, प्रमाणाभावात्। "तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना" इत्यर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्तिविधानादित्यलं प्रासङ्गिकेन।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

दूसरी बात इस युग में, अवान्तर कल्प में या अन्य कल्प में ऐसा कोई निश्चय नहीं है, इसलिए यहाँ आकृतिवाद युक्त है, अर्थवाद सम्भव नहीं है। ग्रह के एकत्व के समान वाक्य भेद होने के कारण सदा के लिए अनावृत्ति का विधान है। एक काल में सबकी कल्पना की आवृति ही स्थित होती है। यहाँ इसी कल्प में, कल्पान्तर में नहीं, ऐसा अन्य अर्थ विद्यमान होने पर वाक्य भेद दुर्निवार है। जैसे "ग्रहं सम्माष्टि" इस श्रुति द्वारा सम्मार्जन विधीयमान होने पर उसकी सब ग्रहों में प्राप्ति होती है, वहाँ एक (एक ही ग्रह के लिए) विधान करने पर वाक्य भेद होगा, इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिए। दूसरी बात अमुक काल में अनावृत्ति होती है, ऐसा विधान नहीं करते, तब इह (यहाँ) पद किसका विशेषण होगा। इसलिए यह (इह) पद अनुवाद है। इस कारण काण्व शाखा में इह पद का पाठ नहीं है। अतः अर्चिरादि मार्ग से जाने के बाद परमात्मा में ही लिङ्ग शरीर का प्रलय (नाश) होता है, उससे पहले नहीं, यह गति श्रुति के सामर्थ्य द्वारा निश्चित होता है। "परेव्यये सर्व एकीभवन्ति" उस अविनाशी परमात्मा में सब एक हो जाते हैं। "पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति" इत्यादि श्रुतियों द्वारा यह भी उचित नहीं है, इसमें अपने सिद्धान्त का विरोध होता है। उसके मत में भी भेद स्वाभाविक नहीं है, किन्तु औपाधिक ही है। मोक्ष में भेद नहीं माना गया है। ऐसा होने पर उपाधिकी ही गति आदि की सिद्धि होगी, स्वरूप की नहीं। इसी प्रकार मोक्ष भी विरुद्ध है। इसका पूर्व में ही विस्तार किया गया है। सिद्धान्त में तो भेद भी स्वाभाविक होने तथा अणु परिणाम भी श्रुतिमान सिद्ध होने से पारमार्थिक होने के कारण बन्ध तथा मोक्ष एवं उत्क्रान्ति तथा गति, आगति आदि का सामञ्जस्य है, इसमें विरोध का अभाव है। अपुनरावृत्ति भी त्रिविध कर्मों के जड़मूल से नाश हो जाने पर जन्म के कारण के अभाव होने से ही होती है। निष्कारण पुनरावृत्ति स्वीकार करने पर मुक्त की पुनः संसारापत्ति आप के लिए भी समान है। यदि कहें कि मुक्त पुरुष का भी कर्म शेष मानना चाहिए तो इस पर कहते हैं कि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। "तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" इस भगवद् वाक्य के अनुसार अर्चिरादि गति के द्वारा जाने वाले मुक्त पुरुष की ब्रह्म प्राप्ति का विधान है। इस प्रकार इस सम्बन्ध में अधिक चर्चा व्यर्थ है।।१३।।

एवं पक्षद्वयं दर्शयित्वा स्वमतेन निर्णयमाह——

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा दोषात्तत्क्रतुश्च।।४।३।१४।।

"ये नाम ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिश्रुत्युक्त नामादिप्रतीकं ब्रह्मदृष्ट्योपासते ते प्रतीकालम्बनास्तान्वर्जयित्वा ये परं ब्रह्मोपासीना ये च पञ्चाग्निविद्यावन्तः प्रकृतिवियुक्तं प्रत्यगात्मस्वरूपं ब्रह्मात्मकत्वेनोपासीनास्तानुभयविधानमानवः पुरुषः परं ब्रह्म नयतीति भगवान्बादरायणो मन्यते स्म। कुतः ? उभयथा दोषात्। तत्र कार्योपासकान्नयतीति पक्ष "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इत्याद्याः श्रुतयो विरुध्येरन्। परं ब्रह्मोपासीनानेव नयतीति पक्षे "तद्य इत्थं विदुर्ये

चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ती"ति पञ्चाग्निविदामप्यर्चिरादिगति-विधायकश्रुतिगणो विरुध्येता ऽत उभयस्मिन्पक्षे दोष इत्यर्थः। तस्मादुक्तलक्षणोभय-विधान्नयतीत्याह— तत्क्रतुश्चेति। यथोपासीनस्तथैव प्राप्नोति। परमात्मक्रतुः परमात्मानं प्रतिपद्यते, परमात्मकतया प्रकृतिवियुक्तप्रत्यगात्मक्रतुः तादृशस्वरूपप्राप्तिपूर्वकपरमात्मानं प्रतिपद्यते। "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति तं यथायथोपासते तदेव भवती" त्यादिश्रुतेः पञ्चाग्निविद्यावतामप्यर्चिरादि- गतिविधानादर्चिरादिना गतस्य परब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिविधानाच्च तत्क्रतुन्यायेन प्रकृतिवियुक्त ब्रह्मात्मकात्मस्वरूपोपासनं सिद्धम्। ननु प्रतीकालम्बनोपासनास्वपि ब्रह्मोपासनस्य सत्त्वात्कथमर्चिरादिगत्यभाव इति चेन्न। तत्र तत्क्रतुविरहात्। नामादिप्राणपर्यन्तप्रतीकोपासनासु प्रतीकस्यैव प्राधान्येन ब्रह्मणस्तु विशेषणात्वान्न तेषां ब्रह्मोपासकत्वम तो नार्चिरादिना गतिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च सम्पद्यते।।१४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार पक्षद्वय का प्रदर्शन कराकर अब सूत्रकार निजमत के अनुसार निर्णय कहते हैं—

"ये नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादि श्रुति प्रतिपादित नाम आदि प्रतीकों की ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते हैं, उन्हें प्रतीकालम्बन कहते हैं। उन्हें छोड़कर जो परब्रह्म की उपासना करते हैं तथा जो पञ्चाग्नि विद्यावान् प्रकृति वियुक्त जीवात्मा की ब्रह्मात्मभाव से उपासना करते हैं, इन दोनों तरह के आत्माओं को अमानव पुरुष परब्रह्म के पास पहुँचाते हैं, ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं। क्योंकि 'उभयथादोषात्' कार्योपासकों को ले जाते हैं, इस पक्ष में "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा। परब्रह्म उपासकों को ही ले जाता है, इस पक्ष में "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" इस श्रुति द्वारा पञ्चाग्निविदों की भी अर्चिरादि गति की प्राप्ति विधायक श्रुतिगणों का विरोध होगा, अतः उभय पक्ष में दोष है; यह अर्थ है। इसलिए उक्त उभयविध पुरुषों को ले जाता है, यही बात कहते हैं। 'तत्क्रतुश्च' अर्थात् जैसी उपासना होती है वैसी ही प्राप्ति होती है। परमात्मा की उपासना करने वाला परमात्मा को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मात्मकत्वेन प्रकृति वियुक्त जीवात्मा की क्रतु वाला, उक्त स्वरूप की प्राप्ति पूर्वक परमात्मा को प्राप्त करता है। "यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवतीति तं यथायथोपासते तदेव भवति" इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। पञ्चाग्नि विद्यावालों की भी अर्चिरादि गति का विधान होने से अर्चिरादि मार्ग से जाने वाले की परब्रह्म प्राप्ति एवं अपुनरावृत्ति का विधान है। तत्क्रतु न्याय से प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्मक आत्मा की स्वरूप उपासना सिद्ध होती है। यदि कहें कि प्रतीक का आलम्बन कर, की जाने वाली उपासनाओं में भी ब्रह्मोपासन होने से उसे अर्चिरादि गति क्यों नहीं होगी? इस पर

कहते हैं, 'तत्क्रतु विरहात्' उसका वैसा सङ्कल्प नहीं है। नाम से लेकर प्राणपर्यन्त (छा०उ०) की प्रतीक उपासना में प्रतीक की ही प्रधानता होती है। उसमें ब्रह्म तो विशेषण हो जाता है। उनमें ब्रह्मोपासकत्व नहीं इसलिए प्रतीक उपासकों को अर्चिरादि गति एवं ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती।।१४।।

विशेषं च दर्शयति।।४।३।१५।।

न प्रतीकेषु ब्रह्मोपासनमस्तीत्युक्तं श्रुतिरपि "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति वाग्वाव नाम्नो भूयसी यावद्वाचो गतं तत्रास्य कामचारो भवती" त्यादिका नामादिप्रतीकोपासनस्य गतिनिरपेक्षं परिमितञ्च फलमुपासनातारतम्यञ्च दर्शयति। तस्मात्प्रतीकोपासकभिन्नान्पूर्वोक्तोभयलिङ्गान्विदुषोऽमानवः पुरुषः परं ब्रह्म नयतीति गतिश्रुतिभिस्तेषामेव गतिरपुनरावृत्तिश्च सम्पद्यत इति राद्धान्तः। एवं च "ब्रह्मणा सह ते सर्व" इति वचनं नार्चिरादिना गतानां गतिप्रकारविषयम्। अर्चिरादिना गतानां देहावसानसमय एव पुण्यापुण्ययोर्नाशात्, चतुर्मुखलोकप्राप्तितद्वासतत्रस्थभोगानुभवहेत्व-भावात् तत्क्रतुन्यायविरोधात्तदानीमेव ब्रह्मप्राप्तिश्रुतिविरोधाच्च। तद्वचनं तु पुण्यकर्मविशेषेण सत्यलोकं प्राप्तानां "तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवादि"ति न्यायेन तत्रैव निष्पन्नविद्यानां गतिप्रकारविषयं "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाल" इति तु वाक्यं ब्रह्मलोकशब्दस्य कर्मधारयसमासेन ब्रह्मविषयमेव, ब्रह्मण्युपास्ये वर्त्तमानाः परान्तकाले चरमदेहावसानसमये परामृतात्परस्माद्ब्रह्मण उपासनप्रतीताद्धेतोः परिमुच्यन्ति "सर्वेऽस्माद्बन्धाद्विमुच्यन्त" इति "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था" इति प्रकरणादधिगम्यते। ये तु दुराग्रहमाश्रित्य सगुणनिर्गुणतया ब्रह्मभेदं वदन्तो निर्गुणब्रह्मविदो गत्यनुपपत्तिं, सगुणब्रह्मविदश्च गत्या कार्यब्रह्मप्राप्तिमभ्युपगच्छन्ति त उपेक्षणीया, बादरिपक्षान्तःपातित्वात्सूत्रकारपक्षविरोधात् श्रुतिहीनत्वाच्च। नहि ब्रह्मभेदे कार्यब्रह्मप्राप्तौ च श्रुतिरुपलभ्यत इति भावः।।१५।। इतिकार्याधिकरणम्।।५।।

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायिश्रीमन्मुकुन्दचरणारुण पद्ममकरन्दभृङ्गेण जगद्विजयिश्री६श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायतृतीयपादविवरणम्।।३।।

(हिन्दी–अनुवाद)

प्रतीक उपासना में ब्रह्मोपासना नहीं होती है, यह कहा गया है। श्रुति भी कहती है "यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य कामचारो भवति" जहाँ तक नाम की गति है वहीं तक नामोपासक की पहुँच है। "वाग्वाव नाम्नो भूयसी यावद्वाचो गतं तत्रास्य कामचारो भवति" नाम से वाक् श्रेष्ठ है, जहाँ तक वाणी की पहुँच है वहीं तक वाक् उपासक की गति होती है। इस प्रकार

नाम आदि प्रतीक उपासना की अर्चिरादि गतिनिरपेक्ष तथा परिमित फल एवं उपासना में तारतम्य दिखाया गया है। इसलिए प्रतीकोपासक से भिन्न पूर्व में उक्त उभयविध ब्रह्मोपासक एवं पञ्चाग्निवेत्ताओं के विद्वान् पुरुषों को अमानव पुरुष परब्रह्म के समीप पहुँचा देता है। (यह व्यास जी का भी मत है)। इस प्रकार गति श्रुतियों द्वारा ब्रह्मोपासकों की ही अर्चिरादि गति एवं अपुनरावृत्ति सम्पन्न होती है, यह सिद्धान्त है। "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" यह वचन अर्चिरादि मार्ग से जाने वाले लोगों की गति के प्रकार का बोधक नहीं है। अर्चिरादि मार्ग से जाने वाले लोगों का तो देहावसान के समय ही समस्त पुण्यों एवं पापों का नाश हो जाने से चतुर्मुख ब्रह्मलोक की प्राप्ति, वहाँ का निवास एवं उस ब्रह्मलोक के सुख भोग जनक कारणों का अभाव हो जाता है। इसलिए मुक्त आत्मा के लिए ब्रह्मलोक (हि०ग०) कार्यब्रह्म की प्राप्ति असम्भव है और इसमें तत्क्रतु न्याय का विरोध भी है। जब मुक्तात्मा ने कार्य ब्रह्मलोक जाने का संकल्प ही कभी नहीं किया फिर वह कार्य ब्रह्म कैसे जायेगा तथा 'तस्य तावदेवं चिरम्' श्रुति के अनुसार देह त्याग के अनन्तर तत्क्षण ब्रह्म प्राप्ति बोधक श्रुतिविरोध भी होगा। "ब्रह्मणा सह ते सर्वे" यह वचन तो पुण्य कर्म विशेष के बल से सत्यलोकप्राप्तजनों की "तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्" इस न्याय से वहीं पर विद्या प्राप्त होने पर गति का प्रकार बताया गया है। "ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले" इस वचन से ब्रह्मलोक शब्द ब्रह्मैव लोकः, ब्रह्म लोकः ऐसा कर्मधारय समास करके ब्रह्मविषयक ही है। अर्थात् ब्रह्म रूप उपास्य में वर्तमानजन चरम देह में अवसान के समय परम अमृत रूप परब्रह्म परमात्मा जिनकी उपासना से प्रसन्न हो चुके होते हैं, वे भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं। "सर्वेऽस्माद्बन्धाद्विमुच्यन्ते" "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इत्यादि प्रकरण से जानते हैं। जो लोग दुराग्रह का आश्रय लेकर सगुण तथा निर्गुण का भेद बताकर कहते हैं, निर्गुण ब्रह्म की गति नहीं होती और सगुण ब्रह्मवेत्ता अर्चिरादि गति द्वारा कार्यब्रह्म की प्राप्ति करता है, वे उपेक्षणीय है। ऐसे लोग बादरि आचार्य के पक्षपाती हैं, सूत्रकार पक्ष के विरोधी हैं तथा ऐसे लोग श्रुतिहीन हैं। न ही ब्रह्म भेद तथा कार्य ब्रह्म की प्राप्ति में श्रुति प्रमाण उपलब्ध है।।१५।।

इस प्रकार कार्याधिकरण पूरा हुआ।।५।।

इस प्रकार श्रीसनक सम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य श्रीनिम्बार्क मतानुयायि श्रीमुकुन्द चरणारुण पद्ममकरन्दभृङ्ग जगद्विजयि श्री६श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा सङ्गृहीत श्रीवेदान्त कौस्तुभप्रभा व्याख्या में ब्रह्मसूत्रवृत्ति में चतुर्थ अध्याय के तृतीयपाद का मैथिलपण्डित श्रीवैद्यनाथ झा कृत हिन्दी अनुवाद पूरा हुआ।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

विषय-सूची

अथ चतुर्थाऽध्याये चतुर्थपादः

अथ सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्।।४।४।१।।

एवमुत्क्रान्तिगतिगन्तव्या निर्णीताः। अथेदानीं गन्तव्यं प्राप्तस्य स्वरूपं निर्णीयते। इदं हि छान्दोग्ये प्रजापतिवाक्ये श्रूयत। "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" (छा० ८/१२/३) इति। तत्र संशय्यते। किं परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्य स्वर्गिवदागन्तुकरूपेण सम्बन्धरूपाभिनिष्पत्तिरत्राभिप्रेता? उत स्वाभाविकस्वरूपाविर्भावरूपेति। किं पुनः प्रतिभाति? आगन्तुकरूपेण सम्बन्धरूपेति। अभिनिष्पत्तेरुत्पत्तिपर्यायत्वात्। मोक्षशास्त्रस्य च पुमर्थावबोधित्वात्। सुषुप्त्यादावात्म-स्वरूपपरस्यापुरुषार्थत्वदर्शनात्। स्वरूपाविर्भावस्य मोक्षस्वरूपत्वे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थ-विषयत्वापत्तेरतो देवादिवदागन्तुकावस्थान्तरप्राप्तेरेवाभिनिष्पत्तिपदार्थत्वं स्वीकार्यमिति प्राप्ते, ब्रूमः—सम्पद्येति। परं ज्योतिरुपसम्पद्य प्रत्यगात्मा स्वस्वरूपेणैवाविर्भवति, नतु केनचिदागन्तुकेन। कुतः? स्वेन शब्दात्। स्वेन रूपेणेति विशेषणादन्यथा स्वशब्दोक्ति-वैयर्थ्यात्। अभिव्यक्तिरेवात्राभिनिष्पत्तिः।।१।।

ननु स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात्कोऽत्र विशेष इति चेत्तत्राह —

(हिन्दी–अनुवाद)

इसप्रकार उत्क्रान्ति, गति तथा गन्तव्य स्थान का निर्णय किया गया। अब गन्तव्य ब्रह्म को प्राप्त मुक्तात्मा के स्वरुप का निरूपण करते हैं। छान्दोग्य उपनिषत् के प्रजापति वाक्य में श्रुतिवचन है "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" (छा० ८/१२/३), यहाँ संशय होता है कि परमज्योति परमात्मा को प्राप्त पुरुष स्वर्गलोक की तरह आगन्तुक रूप से सम्बन्धित होता है अथवा उसके स्वाभाविक स्वरूप का आविर्भाव होता है। यह क्या लगता है? तो कहते हैं आगन्तुक रूप से उसका सम्बन्ध होता है। अभिनिष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति। मोक्षशास्त्र पुरुषार्थ का बोधक है। सुषुप्ति आदि में आत्मस्वरूप को अपुरुषार्थ कहा गया है। स्वरूपाविर्भाव को मोक्षस्वरूप मानें तो मोक्षशास्त्र अपुरुषार्थविषयक हो जायेगा। इसलिए स्वर्ग में जैसे देवताओं को आगन्तुक अवस्थान्तर की प्राति होती है, उसी तरह मुक्तात्माओं को आगन्तुक (अनित्य) अवस्थान्तर की प्राप्ति को ही श्रुति में अभिनिष्पत्ति पद का अर्थ स्वीकार करना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सम्पद्येति' अर्थात् परमज्योति परमात्मा को प्राप्त कर जीवात्मा स्वस्वरूप नित्य स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होता है, न कि किसी आगन्तुक स्वरूप से क्योंकि 'स्वेन शब्दात्' स्वाभाविक रूप से ऐसा विशेषण किया गया है। अन्यथा स्व शब्द का कथन व्यर्थ होगा। अभिव्यक्ति ही यहाँ अभिनिष्पत्ति है।।१।।

यदि कहें कि स्वरूप तो नित्य प्राप्त है फिर मुक्ति में क्या विशेषता हुई, इस पर कहते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।।४।४।२।।

सर्वबन्धविनिर्मुक्त एवात्र स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्युच्यते। कुतः? प्रतिज्ञानात्। य आत्मेत्युपक्रम्य "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामी" (छा० ८/९/३,८/१०/४,८/११/३) ति भूयो भूय उक्त्वा "एष सम्प्रसाद" इत्यादि "निष्पद्यत" इत्यन्तं प्रजापतिनाऽभिधानात्। कर्मसंज्ञकाविद्यासङ्कुचितज्ञानादिधर्मकस्य नित्यप्राप्तत्वेऽपि तद्रूपबन्धविनिर्मुक्तस्याविर्भूतापहतपाप्मत्वादिगुणकदम्बकस्य जाग्रदाद्यवस्थातीतस्य स्वरूपस्याप्राप्तत्वादिहत्वपरिच्छिन्नज्ञानापहतपाप्मत्वादिगुणाश्रयस्य स्वरूपस्याभिनिष्पत्तिरिति विशेषस्य सत्त्वात्।।२।।

यत्तूक्तं सुषुप्त्याद्यावात्मस्वरूपस्यापुरुषार्थत्वदर्शनादित्यादिस्वीकार्यमित्यन्तं, तत्रोत्तरम्——

(हिन्दी–अनुवाद)

समस्त बन्धों से विनिर्मुक्त होकर ही जीव अपने निजरूप से सम्पन्न होता है। यही कहते हैं 'कुतः? प्रतिज्ञानात्' अर्थात् 'य आत्मा' इस मन्त्र से उपक्रम करके "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" (छा० ८/९/३,८/१०/४,८/११/३), इसप्रकार बार–बार कहकर 'एष सम्प्रसादः' यहाँ से लेकर 'निष्पद्यते' यहाँ तक प्रजापति का कथन है। बद्धावस्था में अविद्या से जीव के ज्ञानादि धर्म सङ्कुचित रहते हैं इसलिए स्वरूप नित्य प्राप्त होने पर भी बद्धावस्था में अपरिच्छिन्न ज्ञान एवं अपहतपाप्मत्व आदि गुणों का पूर्ण प्रकाश नहीं होता किन्तु कर्मसम्बन्धरूप बन्धन विनिर्मुक्त अपहतपाप्मत्व आदि गुण कदम्ब आविर्भूत होते हैं। जाग्रत् आदि अवस्था से अतीत स्वरूप की यहाँ अप्राप्ति है। मुक्ति में तो अखण्ड अपहतपाप्मत्व आदि गुणों के आश्रय आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। यहीं विशेष है।।२।।

स्वाभाविक स्वरूप के आविर्भाव को मुक्ति पदार्थ मानने पर मोक्षशास्त्र पुरुषार्थप्रतिपादक नही होगा, जैसा कि सुषुप्ति में केवल आत्म स्वरूप को पुरुषार्थ नहीं मानते। इसका उत्तर देते हैं–

आत्मा प्रकरणात् ।।४।४।३।।

स्वरूपेणैवापहतपाप्मत्वादिगुणकोऽयमात्मा नागन्तुकधर्मकः। कुतः? प्रकरणात् "य आत्माऽपहतपाप्मे" (छा० ८/७/१) त्यादिना प्रजापतिविद्यायां श्रवणात्। प्रकरणञ्चेदं जीवात्मविषयमित्युक्तं पुरस्ता "दुत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्त्वि" त्यत्र। अतो नोक्तदोषः। सुषुप्तौ तु कर्मणाऽपहतपाप्मत्वादेस्तिरोभावेनात्मयाथात्म्याप्रकाशादपुरुषार्थत्वम्। तथाचापहतपाप्मत्वादिगुणानां परं ज्योतिरुपसम्पन्नस्याविर्भावमात्रत्वान्न जन्यत्वादिकल्पनावकाशस्तथा च स्मर्यते शौनकेन। "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा।।१।। यथोदपानखननात्क्रियते न जलान्तरम्।। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः।।२।। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।।३।।" इत्यादि। तस्माज्ज्ञानानन्दादिगुणानां ब्रह्मापत्तौ कर्मणः प्रतिबन्धस्य नाश आविर्भावोऽविरुद्धः। न च भौतिकज्योतिरेवात्र श्रूयत इति वाच्यम्। "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरि" (बृ० ४/४/१६) ति श्रुत्यन्तरे ज्योतिःशब्दस्य

ब्रह्मवाचकत्वदर्शनात्। विस्तृतं चैतत् "ज्योतिर्दर्शनादि" त्यत्रेति सङ्क्षेपः।।३।। इति सम्पद्याविर्भावाधिकरणम्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

स्वरूपतः अपहतपाप्मत्वादि आठ गुणों वाला यह आत्मा आगन्तुक धर्मों वाला नहीं है। क्योंकि 'प्रकरणात्' "य आत्माऽपहतपाप्मा" (छा० ८/७/१) इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्वाभाविक धर्मों का प्रतिपादन है। यह प्रकरण जीवात्म विषयक है ऐसा पहले कहा गया है। "उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु" इस सूत्र में। इसलिए उक्त दोष नहीं है। सुषुप्ति में कर्म से अपहतपाप्मत्वादि गुणों का तिरोभाव हो जाने से आत्मा के यथार्थ स्वरूप का प्रकाश न होने से पुरुषार्थत्व नहीं है। इसप्रकार अपहत-पाप्मत्वादि गुणों का परज्योति परमात्मा को उपसम्पन्न (प्राप्त) मुक्त आत्मा में आविर्भाव मात्र होता है नवीन रूप में उत्पन्न नहीं। इसलिए उसकी तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। जैसा कि शौनक जी का वचन है "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा।।१।। यथोदपानखननात्क्रियते न जलान्तरम्।। सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः।।२।। तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते।।३।।" अर्थात् जैसे मणि में मल के प्रक्षालन से ज्योत्स्ना उत्पन्न नहीं की जाती, उसी प्रकार दोष के अपाकरण से आत्मा में ज्ञान का जन्म नहीं किया जाता।।१।। जैसे कूआँ खोदकर जल पैदा नहीं किया जाता किन्तु पहले से सत् जल का ही प्रकाश किया जाता है क्योंकि असत् का सद्भाव कैसे हो सकता?।।२।। उसी प्रकार हेयगुणों के ध्वंस से ज्ञान आदि गुणों का प्रकाश किया गया है, उत्पन्न नहीं क्योंकि ज्ञान आदि गुण आत्मा में नित्य रूप से सदा विद्यमान रहते हैं।।३।। इत्यादि। इसलिए ज्ञान, आनन्द आदि गुणों का मुक्त आत्मा में ब्रह्मभावापत्ति रूप मोक्ष दशा में सञ्चित आदि प्रतिपादक कर्मों के नाश होने पर आविर्भाव होता है, यह अविरुद्ध है। यदि कहें कि श्रुति में ज्योति शब्द भौतिक ज्योति का ही वाचक है, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः' इस श्रुति में ज्योतिः शब्द ब्रह्मवाचक देखा गया है। इस विषय में 'ज्योतिर्दर्शनात्' सूत्र में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है यहाँ सङ्क्षेप में कहा गया है।।३।।

इस प्रकार सम्पद्याविर्भाव अधिकरण पूरा हुआ।।१।।

अविभागेन दृष्टत्वात्।।४।४।४।।

अथ स्वस्वरूपाभिनिष्पन्नो मुक्तः प्रत्यगात्मा किं परब्रह्मणो विभागेन स्वात्मानमनुभवति? उताविभागेनेति विचिकित्सायां "परमं साम्यमुपैति, सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, मम साधर्म्यमागता" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यो मुक्तस्य परमात्मना साम्यसाहित्यादिदर्शनाद्विभक्तमनुभवतीति पूर्वः पक्षः। राद्धान्तस्तु "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्त्वमसि, एष सर्वभूतान्तरात्मा, अयमात्मा ब्रह्मे" त्यादिश्रुतिभ्योऽ-विभागेन ब्रह्मात्मकतया ब्रह्मापृथक्सिद्धमात्मानमनुभवति। कुतः? दृष्टत्वात्। "आत्मेति तूपगच्छन्ती" त्युक्तन्यायेन स्वात्मनोऽप्यात्मतया "ऽहं ब्रह्मास्मी" त्युपासनेन यथावस्थितस्य ब्रह्मात्मकस्य स्वस्वरूपस्य दृष्टत्वात्। नच तथात्वेऽत्यन्ताभेद एव सिद्ध इति वाच्यम्। ब्रह्मात्मीयस्य तदात्मकत्वतदपृथक्त्वाद्यनुभवितृरूपस्यापि सत्त्वात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" त्यादिघटकश्रुत्योभयत्वस्य सूपपन्नत्वात्।।४।। इति अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम्।।२।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अब प्रश्न है- स्वस्वरूप में अभिनिष्पन्न मुक्त आत्मा (मुक्ति धाम) में परमात्मा से भिन्न रूप में अपने को अनुभव करता है या उससे अभिन्न रूप में, ऐसा संशय समुपस्थित होने पर "परमं साम्यमुपैति, सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता, मम साधर्म्यमागताः" इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों के वचनों के आधार पर मुक्त जीव का परमात्मा के साथ साम्य एवं साहित्य भाव का प्रदर्शन होने से मुक्त जीव परमात्मा से विभक्त होकर रहता है, ऐसा पूर्वपक्ष होता है। सिद्धान्त तो "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्त्वमसि, एष सर्वभूतान्तरात्मा, अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों द्वारा अविभाग रूप से ब्रह्मात्मकत्वेन ब्रह्म से अपृथक् सिद्ध रूप में ही अपना अनुभव करता है क्योंकि 'दृष्टत्वात् आत्मेति तूपगच्छन्ति' इस न्याय से मुक्त आत्मा अपने आपको ब्रह्मरूप में ही अनुभव करता है। क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुति द्वारा जीव का ब्रह्मात्मक स्वरूप बतलाया गया है। यदि कहें कि ऐसा होने पर अत्यन्त अभेद ही सिद्ध होगा तो ऐसा नहीं कह सकते। उक्त श्रुतियों द्वारा ब्रह्मात्मकत्व, तदपृथक्सिद्धत्व आदि धर्मों के अनुभविता की भी सत्ता रहती है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों द्वारा भिन्नाभिन्नत्व स्वरूप की ही सिद्धि होती है।।४।।

इस प्रकार अविभागेन दृष्टत्व अधिकरण पूर्ण हुआ।।२।।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।।४।४।५।।

प्रत्यगात्मा परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वाभाविकेन स्वस्वरूपेणाविर्भवतीत्युक्तं, तत्र कीदृशं तत्स्वरूपमितीदानीं चिन्त्यते। किमपहतपाप्मत्वादिगुणकमेवास्य स्वाभाविकं स्वरूपम्? अथोभयरूपम्? उत चैतन्यमात्रम्? इति संशये, प्रथमं तावत् प्राप्तमपहतपाप्मत्वादिगुणकमित्याह-ब्राह्मेणेति। ब्राह्मेणापहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वावसानेन गुणेन विशिष्टः सन्नयमाविर्भवतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते स्म। अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्मगुणा उक्तास्तेषां प्रजापतिवाक्ये प्रत्यगात्मन्यपि "य आत्माऽपहतपाप्मे" (छा० ८/७/१) त्यादिनोपन्यासात्। आदिना "जक्षत् क्रीडन् रममाण" इत्यादिश्रुत्युक्ता जक्षणादयः सर्वज्ञत्वादयश्च गृह्यन्ते। अपहतपाप्मत्वादिसर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादिरूपब्राह्मधर्मसम्पन्न-चैतन्यस्वरूपाविर्भावो मोक्ष इति जैमिनेर्मतम्।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

जीवात्मा परमज्योति परमात्मा को प्राप्त कर अपने स्वाभाविक स्वरूप से आविर्भूत हो जाता है ऐसा कहा गया है। अब विचार करते हैं वह स्वरूप कैसा है। क्या अपहतपाप्मत्वादि गुणयुक्तत्व ही इसका स्वाभाविक रूप है या उभयरूप किं वा चैतन्यमात्र, ऐसा संशय होने पर, पहले यही प्राप्त होता है कि अपहतपाप्मत्वादि उसका स्वरूप है। इस पर कहते हैं 'ब्राह्मेणेति' अर्थात् अपहतपाप्मत्व आदि से लेकर सत्यसङ्कल्पत्वान्त गुण से विशिष्ट होकर आविर्भूत होता है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। अपहतपाप्मत्व आदि गुण दहरवाक्य में (छा०उ० में) ब्रह्म के गुण कहे गये हैं। उन गुणों का प्रजापतिवाक्य में प्रत्यगात्मा में भी 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि वचनों द्वारा उपन्यास किया गया है। आदि पद से 'जक्षत् क्रीडन्

रममाणः' इत्यादि श्रुतियों में उक्त जक्षण आदि तथा सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व आदि गृहीत होते हैं। इन अपहतपाप्मत्व आदि सर्वज्ञत्व सर्वेश्वरत्व आदि रूप ब्राह्मधर्म (गुण) सम्पन्न चैतन्यस्वरूप का आविर्भाव मोक्ष है, ऐसा जैमिनि का मत है।।५।। (वैष्णवमत)

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः।।४।४।६।।

चिति चिद्रूपे ब्रह्मण्युपसन्नो मुक्तस्तन्मात्रेण चैतन्यमात्रेण स्वरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते स्म। कुतः? तदात्मकत्वात्। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरे! अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवे" (बृ० ४/५/१३) त्यादि सावधारणश्रुत्या तावन्मात्रात्मकत्वाद्विज्ञानमात्रस्वरूपत्वादस्य प्रत्यगात्मनोऽपहतपाप्मादिशब्दास्त्वविद्यात्मकविकारसुखदुःखादिधर्मेभ्यस्तस्य व्यावृत्तिपराः कथञ्चित्तत्रैव नेयाः। "अनश्वाद्व्यावृत्तोऽश्व" इत्यादिवदपहतपाप्माऽन- पहतपाप्मतो व्यावृत्तो मुक्तजीव इत्यर्थः। चैतन्यमात्रस्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्मोक्ष इत्यौडुलोमेर्मतम्।।६।।

अथ सूत्रकारः स्वमतमाह ——

(हिन्दी-अनुवाद)

चिद् रूप ब्रह्म में उपसन्न मुक्त चैतन्यमात्र स्वरूप से आविर्भूत होता है। ऐसा औडुलोमि आचार्य का मत है क्योंकि 'तदात्मकत्वात्' अर्थात् "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरे! अयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" (बृ० ४/५/१३) इस सावधारण निश्चयत्मिका श्रुति द्वारा इस आत्मा को चैतन्यमात्र स्वरूप माना गया है। विज्ञानमात्र स्वरूप होने से इस प्रत्यगात्मा के अपहतपाप्मत्व आदि शब्द तो अविद्या के विकार सुख-दुःख आदि धर्मों से जीव के व्यावृत्तिपरक हैं। "अनश्वाद्व्यावृत्तोऽश्वः" की तरह अनपहतपाप्मत्व से व्यावृत्त अपहतपाप्मत्व (आदि) गुणक मुक्त जीव है यह अर्थ है। इस प्रकार चैतन्यमात्र स्वरूप से अभिनिष्पत्ति ही मोक्ष है, ऐसा औडुलोमि का मत है।।६।।

अब सूत्रकार अपना मत प्रस्तुत करते हैं।

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः।।४।४।७।।

एवमपि चैतन्यमात्रस्वरूपत्वनिरूपणे सत्यपि पूर्वभावात्पूर्वोक्तब्रह्मभावादपहतपाप्मत्वादिसम्पन्नविज्ञानस्वरूपाविर्भावादविरोधं मोक्षस्वरूपं भगवान्बादरायणो मन्यते। कुतः? उपन्यासात्। प्रजापतिवाक्येऽपहतपाप्मत्वादीनामपि विज्ञानघनस्वरूप एव मुक्तजीवे उपन्यासात्प्रतिपादनात्। नच विज्ञानघन एवेत्यवधारणं गुणान्तरं न सहते यथा सैन्धवधनस्य रसघन एवेत्यवधारणं रसाश्रयद्रव्यं रूपस्पर्शादिगुणान्तरं सहते। "रसघन एवे" त्यवधारणप्रयोजनं तु रसवत् द्रव्यान्तरस्वभावव्यावृत्तिर्द्रव्यान्तरेषु ह्याम्रादिफलेषु त्वगादिप्रदेशभेदाद्रसभेदः सैन्धवघनस्तु सर्वत्रैकरसः। एवमत्रापि जडवस्तुव्यावृत्त्या सर्वत्र स्वप्रकाशोऽयमात्मेति स्वप्रकाशाऽवधारणं क्रियते। विज्ञानघन एवेत्यपहतपाप्मत्वादिसम्पन्नविज्ञानघनीभूतस्वरूपाविर्भावपूर्वकत्वे सति श्रीभगवत्स्वरूपगुणादिविषयकानवच्छिन्नानुभूत्या स्थितिर्मोक्ष इति श्रीसूत्रकारसिद्धान्तः। एवं च न केनापि वाक्येन विरोधः।

तथाहि "परं ज्योतिरुपसम्पद्ये" ति वाक्यं यावदात्मवृत्त्यनवच्छिन्नब्रह्मानुभवितृत्वं ब्रह्मभावपदार्थं वदति। परञ्ज्योतिःशब्दाभिधेयं परब्रह्मभूतं श्रीपुरुषोत्तममुपसम्पद्य साक्षात्स्वात्मत्वेनानुभूय स्वेन रूपेण तत्स्वरूपगुणादिविषयकानवच्छिन्नानु- भवितृत्वरूपेण तदात्मकतयाऽवतिष्ठत इति श्रुत्यर्थः। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैती" त्यत्र परमं साम्यं भावपदेनाभिधीयते, परमं साम्यं च स्वरूपेण गुणादिना च सादृश्यम्। तथा च ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वरूप-परमं साम्यं च स्वरूपेण गुणादिना च सादृश्यम्। तथा च ज्ञानस्वरूपत्वात्स्वरूप-सादृश्यमपरिच्छिन्नज्ञानधर्मकत्वाद् गुणसादृश्यं च, तत्त्वं नाम तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम्। नियन्तृत्वस्वातन्त्र्यवत्त्वाभावेन ब्रह्मभिन्नत्वे सति सार्वज्ञ्याद्यपहत-पाप्मत्वादि भूयो ब्रह्मगतधर्मवत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः। "सर्वं हि पश्यः पश्यती" ति सार्वज्ञ्यश्रुतेः। नच "स्वरड् भवती" ति श्रुतिविरोध इति वाच्यम्। स्वाराज्यसाम्यस्य ब्रह्मादिवन्दनीयत्वस्य तत्र सत्त्वात्। नापि "नारायणे सायुज्यमाप्नोती" ति श्रुतिविरोध इति वाच्यम्। तस्या अपि त्वदभिप्रेतार्थपरत्वाभावात्। सह युज्यत इति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं नित्यसम्बन्ध इत्यर्थः। भगवता नित्यसम्बन्धोऽत्र भावपदार्थः। न चैक्यमेव तदर्थ इति वाच्यम्। सायुज्यस्य शक्यार्थाभावात्।।१।।

(हिन्दी-अनुवाद)

चैतन्यमात्र स्वरूप का निरूपण होने पर भी अपहतपाप्मत्व आदि से सम्पन्न विज्ञानस्वरूप के आविर्भाव से मोक्षस्वरूप अविरुद्ध है ऐसा भगवान् बादरायण मानते हैं क्योंकि 'उपन्यासात्' प्रजापति वाक्य में अपहतपाप्मत्व आदि को भी विज्ञानरूप मुक्तजीव में प्रतिपादित किया गया है। यदि कहें कि 'विज्ञानघन एव' यहाँ एवकार का अवधारण आत्मा में अन्य किसी गुण को नहीं सहन करता है अर्थात् अन्य गुणों का निषेध करता है तो ऐसा नहीं है। जैसे सैन्धवघन के लिए 'रस घन एव' ऐसा अवधारण वचन रसाश्रयद्रव्य, रूप, स्पर्श आदि अन्य गुणों को सहन करते हैं अर्थात् निषेध नहीं करते। उसी प्रकार 'विज्ञानघन एव' भी गुणान्तर का निषेध नहीं करता है। 'रसघन एव' यहाँ अवधारण का प्रयोजन तो रसवत् द्रव्यान्तर स्वभाव की व्यावृत्तिमात्र है। आम्र आदिफल रूप द्रव्यान्तर में त्वक् आदि प्रदेश भेद के कारण रसभेद होता है। सैन्धवघन तो सर्वत्र एकरस ही है। इसी प्रकार यहाँ भी जड़ वस्तु की व्यावृत्ति के लिए सर्वत्र यह आत्मा स्वप्रकाश ही है, इस स्वप्रकाशता का अवधारण करते हैं। यहाँ जड़ता का लेश भी नहीं है यह भाव है। 'विज्ञानघन एव' इस श्रुति के अनुसार अपहतपाप्मत्व आदि धर्म सम्पन्न विज्ञान घनीभूत स्व स्वरूपाविर्भावपूर्वक श्री भगवत् स्वरूपगुणादि विषयक अनवच्छिन्न (निरवच्छिन्न) अनुभूति पूर्वक स्थिति मोक्ष है, ऐसा सूत्रकार का सिद्धान्त है। इस प्रकार किसी वाक्य से विरोध नहीं है। 'परञ्ज्योतिरूप सम्पद्य' यह वाक्य यावत् आत्मवृत्ति अखण्ड ब्रह्मानुभवकर्तृत्व रूप ब्रह्मभाव है, ऐसा कहता है अर्थात् परं ज्योति शब्दाभिधेय परब्रह्मस्वरूप श्रीपुरुषोत्तम को प्राप्त कर उन्हें स्वात्मत्वेन अनुभव कर 'स्वेन रूपेण' अर्थात् भगवत् स्वरूपगुणादि विषयक अनवच्छिन्न (असीमित) अनुभव कर्तृत्वेन ब्रह्मात्मकतया स्थित रहता है। यह श्रुत्यर्थ है। "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" इस श्रुति में परमसाम्य भाव पद से कहा जाता है। परमसाम्य का अर्थ है स्वरूप से तथा गुण आदि से सादृश्य है। यहाँ ज्ञानस्वरूप होने से स्वरूपसादृश्य तथा अपरिच्छिन्न ज्ञानधर्म के होने से गुण सादृश्य है। सादृश्य है "तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्वम्" अर्थात् जिससे सादृश्य विवक्षित हो उससे भिन्न होकर तन्निष्ठ अधिकांश

धर्मों से युक्त होना ही सादृश्य पदार्थ है। ब्रह्मनिष्ठ नियन्तृत्व एवं स्वातन्त्र्य का अभाव होने से जीव में भिन्नत्व है तथा सर्वज्ञत्व, अपहतपाप्मत्व आदि अधिकांश धर्म से युक्त होने से यहाँ जीव में ब्रह्मसादृश्य का लक्षण समन्वय है। "सर्वं हि पश्यः पश्यति" अर्थात् ब्रह्म द्रष्टा सब कुछ देखता है। यह श्रुति जीव में मुक्ति दशा में नियन्तृत्व तथा स्वतन्त्रत्व के अभाव मानने पर 'स स्वराड् भवति' इस श्रुति का विरोध होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, उक्त श्रुति में स्वाराज्य सदृश ब्रह्मादि वन्दनीयत्व मुक्तजीव में विद्यमान हैं। यदि कहें "नारायणे सायुज्यमाप्नोति" इस श्रुति से विरोध होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते। सायुज्य शब्द का भी आपका अभिप्रेत अर्थ नहीं है। सह युज्यते सयुक्। सयुजो भावः सायुज्यम् नित्य सम्बन्ध। भगवान् के साथ नित्य सम्बन्ध यहाँ भाव पदार्थ है। यदि कहें कि ऐक्य ही उसका अर्थ है तो ऐसा नहीं कह सकते। सायुज्य का वह शब्दार्थ नहीं हो सकता।।१।।

ननु "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैती" ति श्रुतिविरोध इति चेन्न। तत्रापि भेदस्य सत्त्वात्। नहि जले निक्षिप्तं जलान्तरं स्वरूपैक्यं भजते। किन्तु नित्ययोगमेव, सावयवद्रव्यत्वात्। नद्यादीनां प्रावृषाद्यृतुविशेषे वृद्धिह्रासदर्शनात्। नच समुद्रे बृद्धिह्रा-सादर्शनादेकमेवेति वाच्यम्। सावयवद्रव्यत्वेन नदीदृष्टान्तेन च तत्राप्यनुमातुं शक्यत्वात्। तत्तरङ्गेषु भेददर्शनाच्च। "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतमे"ति श्रुत्यन्तरेण सादृश्यस्यैव लाभाच्च। श्रुत्यर्थस्तु तत्त्वप्रकाशिकायां विस्तृतस्तत्रैव द्रष्टव्यः। नच "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवती" ति सावधारणश्रुतिविरोध इति वाच्यम्। बृहज्ज्ञानगुणयोगेन तत्तायास्तत्रापि सुवचत्वात्। अन्यथा "ब्रह्मविदाप्नोति परमि" ति कर्मकर्तृवोधकश्रुतिबाधस्य तवापि साम्यात्। ननु "ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!" इत्यादिवाक्येऽन्तःप्रवेशोक्तेरन्तःप्रविष्टस्य भेदानुपलब्धेरभेदसिद्धिरिति चेन्न। श्रीभगवतो विश्वरूपविग्रह एव प्रवेशस्य विवक्षितत्वात्। भिन्नस्यैव प्रवेशघटनाच्च "तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेशे"ति श्रीमुखोक्तेः। "पश्यामि देवांस्तव देव! देह" इति श्रोतुरर्जनस्यानुभवपूर्वकोक्तेश्च। अयमभिप्रायः प्रवेशो नाम स्वस्य चेतनाचेतनात्मकविश्वस्य च ब्रह्मात्मकत्वात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वमि" ति श्रुतेस्तत्तदात्म्या-नुभवपूर्वकं विश्वरूपे भगवति तच्छक्त्यात्मनाऽवस्थानं, विश्वरूपस्य ब्रह्मणः, श्रीपुरुषोत्तमस्य जगदाधारत्वात्सर्वं जगत्सर्वदैव तत्रावतिष्ठते। परापरात्मकशक्तिरूपत्वाद्विश्वस्येति निर्विवादम्। "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतामि" ति श्रीमुखोक्तेः।।२।।

(हिन्दी–अनुवाद)

यदि कहें कि "यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति" अर्थात् जैसे नदियाँ जब समुद्र में मिलती हैं, तब उनका अपना पृथक् कोई नाम रूप नहीं रहता, अपना नाम रुप मिटाकर वे समुद्र में मिलती हैं। उसी प्रकार विद्वान् (मुक्तात्मा) स्व नाम रूप से अस्तित्वहीन होकर परमात्मा से मिलता है। इस श्रुति के साथ विरोध होगा, तो ऐसा नहीं कह सकते, वहाँ भी भेद रहता है। जल में दूसरा जल डालने पर स्वरूप की एकता को नहीं प्राप्त हो जाता अपितु उनका नित्य योग

मात्र होता है क्योंकि वह सावयव द्रव्य है। नदी आदि में वर्षा आदि ऋतु विशेष में वृद्धि ह्रास देखा जाता है। यदि कहें कि समुद्र में वृद्धि तथा ह्रास आदि नहीं देखे जाते, वहाँ तो एक ही हो जाता है तो कहते हैं- नहीं, वहाँ भी सावयवद्रव्यत्व हेतु एवं नदी के दृष्टान्त से वृद्धि ह्रास आदि का अनुमान किया जा सकता है, उसके तरङ्गों में भेद भी देखा जाता है। यदि कहें कि "यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम" इस श्रुति द्वारा भी सादृश्य का ही लाभ होता है। इस श्रुति का अर्थ तत्त्व प्रकाशिका (गीता टीका) में विस्तार से वर्णित है, वहीं देखना चाहिए। यदि कहें कि "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इस सावधारण श्रुति का विरोध होगा तो ऐसा भी नहीं है। वहाँ मुक्त आत्मा में वृहद् ज्ञान के योग से सादृश्य ही का भाव विवक्षित है। अन्यथा 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस श्रुति में कर्म कर्तृबोधक श्रुति का बाध आपको भी बराबर होगा। यदि कहें कि "ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप!" इत्यादि भगवद् वाक्य में अन्तःप्रवेश का कथन है। अन्तःप्रविष्ट में भेद की उपलब्धि नहीं होती, फिर तो अभेद की सिद्धि होगी, तो ऐसा नहीं कह सकते। वहाँ भगवान् के विश्वरूप में ही प्रवेश विवक्षित है और भिन्न तत्त्व का ही प्रवेश घटित होता है। "तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश" हे गुड़ाकेश तुम सम्पूर्ण जगत् को एक जगह मेरे देह में देखो तथा "पश्यामि देवांस्तव देव! देहे" सम्पूर्ण देवताओं को मैं तुम्हारे देह में देखता हूँ। ऐसा श्रोता अर्जुन के अनुभवपूर्वक कथन हैं। तात्पर्यतः प्रवेश का अर्थ है चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व के ब्रह्मात्मक होने से 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस श्रुति के अनुसार तादात्म्य अनुभवपूर्वक विश्वरूप परब्रह्म श्रीपुरुषोत्तम के जगदाधार होने से सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का परा एवं अपरा नामक शक्ति रूप है ऐसा निर्विवाद है। "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम। जीवभूताम्" अर्थात् भूमि, आप, अनल, वायु आदि भगवान् की अपरा प्रकृति हैं, इनसे भिन्न जीवभूता अर्थात् चेतन प्रकृति है जो मेरी परा प्रकृति है, ऐसा भगवान् ने श्रीमुख से कहा है।।२।।

तथैव सर्वाधिकारिकाणामधिकाररूपाः शक्तयोऽपि तस्यैवैकान्ततया तत्रैव तासामवस्थानात्सृष्टिसमये तत्तदधिकारयोग्यतापन्नान् पुण्यात्मनो ब्रह्मरुद्रादिपदव्यारोहणार्हाञ्जीवविशेषाँस्तत्तद्भौतिकैकदेशकार्यरूपजगत्सर्जनसंहरणादियोग्याभिः स्वासाधारणशक्तिभिर्युनक्ति। प्रलयसमये च तान्विश्वाधिकारिणो ब्रह्मादींस्ताभिर्वियुनक्ति। परन्तु तासां शक्तीनां स्वाभाविकत्वनित्यत्वादिभिस्तत्र नित्यावस्थानात् स्थितिरव्यभिचारिणी। तथा चोक्तं विष्णुधर्मे "ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः। एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा। जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसे" त्यादिना। तथैव मुक्तानामपि विश्वरूपे भगवति तदात्मकत्वस्वरूपाविर्भावपूर्वकं तच्छाश्वत्यनुभूत्याऽवस्थानमप्यविरुद्धम्। तच्छक्तित्वाविशेषादिति वेदान्तरत्नमञ्जूषायां श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणैस्तथैवोक्तत्वात्। "सर्वः श्रीभगवद्गीतैकादशाध्यायोऽत्र प्रमाणत्वेनानुसन्धेय इति तत्सिद्धं मोक्षावस्थायामपि (स्वरूपभेदावस्थायामपि) स्वरूपभेदावस्थानं, भेदज्ञानादपि मोक्षश्रवणात्। "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं तन्महिमानमिति वीतशोकः। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेती" त्यादिभिः। तथैवोक्तं सिद्धान्तसेतुकायां श्रीसुन्दरभट्टपादैः "श्रीभगवदनवच्छिन्नानुभूत्यास्थितिर्भगवत्प्राप्तिः सैव भगवद्भावापत्तिरिति। तथा चाह पराशरो "निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्तिरे-

कान्तात्यन्तकी मते" ति भगवत्प्राप्तिर्भेषजं संसाररोगस्येति योजना। तामेव विशिनष्टि- निरस्तेति। निरस्तोऽतिशयाह्लादो यस्मात्तथाभूतेन सुखेन भावो भवनमवस्थानमेकसाधारणं लक्षणं यस्याः सा कालादिपरिच्छेदरूपव्यभिचारशून्यत्वं दर्शयन्नाह—एकान्ताऽऽत्यन्तिकीति। एकान्ता केवलभगवच्छब्दवाच्यैकविषयिकाऽतएवात्यन्तिकी निरतिशयेति यावत्। तत्र शास्त्रं प्रमाणयति। मतेति। शास्त्रमुखेनेति शेष इति सङ्क्षेपः।।३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसी प्रकार समस्त आधिकारिक देवताओं की अधिकाररूपिणी शक्तियाँ भी उस ब्रह्म की ही शक्ति होने से ब्रह्म में ही उनका अवस्थान होने के कारण सृष्टि के समय तत्-तत् अधिकार की योग्यता से युक्त ब्रह्म, रुद्र आदि पद व्यवहार योग्य पुण्यात्मा जीव विशेषों को परमात्मा तत्-तत् भौतिक एक देश कार्यरूप जगत् की सृष्टि संहारोचित अपनी असाधारण शक्तियों से युक्त करते हैं और प्रलय के समय में उन विश्वाधिकारी ब्रह्मा आदि देवताओं को उन शक्तियों से रहित करते हैं। परन्तु परमात्मा में उन शक्तियों के स्वाभाविकत्व एवं नित्यत्व आदि हेतुओं से नित्य अवस्थान होने से अव्यभिचारिणी स्थिति होती है। जैसा कि विष्णुधर्म में कहा गया है "ब्रह्मा शम्भुस्तथैवार्कश्चन्द्रमाश्च शतक्रतुः। एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णवतेजसा। जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा" इत्यादि। उसी प्रकार मुक्तजीवों का भी विश्वरूप भगवान् के ब्रह्मात्मकत्व स्वरूप के आविर्भावपूर्वक भगवान् की शाश्वती अनुभूतिपूर्वक अवस्थान में भी कोई विरोध नहीं है क्योंकि ब्रह्म की वह शक्ति है। वेदान्तरत्नमञ्जूषा में श्रीपुरुषोत्तमाचार्यचरणों ने वैसा ही कहा है। यहाँ गीता का सम्पूर्ण ग्यारहवाँ अध्याय प्रमाणरूप में अनुसन्धेय है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि मोक्षदशा में स्वरूप की भेदावस्था में भी स्वरूप भेद का अवस्थान रहता है। भेद ज्ञान से ही मोक्ष का श्रवण है "जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशं तन्महिमानमिति वीतशोकः। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" उस सर्वप्रेरक जीवात्मा से परे परमात्मा को जानकर जीव अमरत्व को प्राप्त होता है इत्यादि। इसी प्रकार सिद्धान्तसेतुका में श्रीसुन्दर भट्टपाद ने कहा है, भगवान् की अखण्ड अनुभूति के साथ भगवत् भावापत्ति को मोक्ष कहते हैं। जैसा कि भगवान् श्रीपराशर ने कहा है "निरस्तातिशयाह्लाद- सुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्ति- रेकान्तात्यन्तकी मता" अर्थात् जिस सुख से, आह्लाद से बड़ा कोई आह्लाद नहीं ऐसे अति विशिष्ट या अनिर्वचनीय सुख के साथ अवस्थान ही जिसका असाधारण लक्षण है, ऐसी कालादिपरिच्छेदशून्य एकमात्र भगवद् विषयिणी निरतिशय प्राप्ति ही भगवद् भावापत्ति मोक्ष (वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष) का स्वरूप है, जो भवरोग निवर्तक होने से भेषज स्वरूप है। मतेति अर्थात् शास्त्र द्वारा ऐसा समझना चाहिए।।३।।

केचित्तु प्रतिबिम्बो जीवो बिम्बस्थानीयो हीश्वर, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यमिति मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिसर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वादिगुणगणाढ्येश्वरभावापत्ति- रिष्यते। यथाऽनेकेषु दर्पणेष्वेकस्य मुखस्य प्रतिबिम्बे सत्येकस्य प्रतिबिम्बस्योपाधिविलये बिम्बभावापत्तिस्तथैकस्मिन्प्रतिबिम्बे विद्योदयेन तदुपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बभावे- नावस्थानस्यावश्यम्भावात्। नच मुक्तस्याविद्याभावात्सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टसर्वेश्वर- त्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तदविद्याभावेऽपि तदानीं बद्धपुरुषान्तराविद्यायाः सत्त्वात्। न हीश्वरस्येश्वरत्वं सार्वज्ञ्यादिगुणवैशिष्ट्यं च स्वाविद्याकृतं तस्य निर्गुणनिरञ्जनत्वात्।

किन्तु बद्धपुरुषाविद्याकृतमेवेति राद्धान्तः। सूत्रकारोऽपि "एवमप्युपन्यासादि" ति सिद्धान्तसूत्रेण वस्तुदृष्ट्या चैतन्यमात्रत्वेऽपि पूर्वोक्तगुणकलापस्योपन्यासादवगतस्य मायामयस्य बद्धपुरुषव्यवहारदृष्ट्या सम्भवान्न श्रुतिद्वयविरोध इत्यविरोधं बदन्नुक्त-सिद्धान्तमेव मेने। भाष्यकारश्च सूत्रत्रयमुक्तार्थपरत्वेन व्याकुर्वन्नीश्वरभावापत्तिं स्पष्टमनुमेने। भामतीप्रबन्धप्रभृतयश्च श्रुत्युपवृंहितमिदं सूत्रजातं भगवतो भाष्यकारस्योदाहृतं वचनजातञ्च तथैवानुवर्त्तते। तस्मान्मुक्तानामीश्वरभावापत्तेरवश्याभ्युपेयत्वादसम्भव एव प्रतिबिम्बेश्वरवादे दोषः तदाहुः कल्पतरुकारा, "न माया प्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरुपसृप्यत" इत्याहुस्त-त्तुच्छमसम्भवात्। तथाहि न तावत्परेशजीवयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः सम्भवति, पूर्वमेव निरस्तत्वात्। नापि मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिसार्वज्ञादिसम्पन्नेश्वरभावेनावस्थानं पुनर्भावान्त-रापत्तिरिति वक्तुं शक्यतेऽनुपपन्नत्वात्। तथाहि मुक्तस्येश्वरभावापत्तिः स्वरूपेण विवक्षिता? सार्वज्ञादिधर्मेण वा? नाद्यः स्वरूपनाशापत्तेः। "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति श्रुत्या स्वरूपापत्तेरेव विधानान्नतु स्वरूपनाशस्य।।४।।

कुछ लोग कहते हैं प्रतिबिम्ब जीव है। बिम्बस्थानीय ब्रह्म है तथा बिम्ब प्रतिबिम्ब उभय में अनुस्यूत शुद्ध चैतन्य है। इस प्रकार मुक्तजीव को यावत्सर्वमुक्ति सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वेश्वरत्व, सत्यकामत्व आदि गुण गुणाढ्य ईश्वर भावापत्ति इष्ट हैं। जैसे अनेक दर्पणों में एक मुख का प्रतिबिम्ब होने पर एक प्रतिबिम्ब की उपाधि के विलय होने पर बिम्ब भावापत्ति होती है। उसी प्रकार एक प्रतिबिम्ब में विद्योदय होने पर उसकी उपाधि के विलय होने पर उसके प्रतिबिम्ब का बिम्बभावेन अवस्थान अवश्यम्भावी है। यदि कहें कि मुक्त आत्मा में अविद्या का अभाव होने से सत्यकामत्व आदि गुणविशिष्ट सर्वेश्वरत्व की अनुपपत्ति होगी तो ऐसा नहीं कह सकते। उसकी अविद्या के अभाव होने पर भी उस समय बद्ध अन्य पुरुष की अविद्या का सद्भाव होता है। ईश्वर का ईश्वरत्व तथा सार्वज्ञ्य आदि गुण वैशिष्ट्य निज अविद्याकृत नहीं है क्योंकि वह निर्गुण निरञ्जन हैं किन्तु बद्धपुरुष अविद्याकृत ही है ऐसा सिद्धान्त है। सूत्रकार ने भी 'एवमप्युपन्यासात्' इस सिद्धान्त सूत्र के अनुसार वस्तुदृष्टि से चैतन्यमात्र होने पर भी पूर्व में उक्त गुणसमूह का उनके कथन होने से अवगत मायामय में बद्धपुरुष की व्यवहारदृष्टि से सम्भव होने से श्रुति द्वय का विरोध नहीं है। इस प्रकार अविरोध का प्रतिपादन करते हुए उक्त सिद्धान्त को ही माना है। भाष्यकार ने भी इन तीनों सूत्रों का उक्त अर्थपरत्वेन व्याख्या करते हुए ब्रह्मभावापत्ति मोक्ष का समर्थन किया तथा भामती प्रभृति प्रबन्धों में भी समर्थन किया। श्रुतियों से उपवृंहित समस्त सूत्र एवं भगवान् भाष्यकार द्वारा उदाहृत वचनसमूह भी उसी के अनुकूल हैं। इसलिए मुक्तों में (ब्रह्म) ईश्वरभावापत्तिरूप मोक्ष अवश्य स्वीकार करना होगा, तब प्रतिबिम्ब ईश्वरवाद में दोष सम्भव नहीं होगा। जैसा कि कल्पतरुकार ने कहा है "न माया प्रतिबिम्बस्य विमुक्तैरुपसृप्यते" यह अति तुच्छ है क्योंकि असम्भव है। कारण परेश और जीव में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव सम्भव नहीं है। इसका पहले ही खण्डन कर दिया गया है। न ही मुक्त आत्मा का यावत्सर्वमुक्ति सार्वज्ञ्यादि सम्पन्न ईश्वरभाव में अवस्थान पुनः भावान्तरापत्ति नहीं कह सकते। कारण ऐसा उपपन्न नहीं हो सकता। जैसे हम पूछते हैं कि मुक्तजीव की ईश्वर भावापत्ति स्वरूप से विवक्षित है? अथवा सार्वज्ञ्य आदि धर्मों से? पहला पक्ष नहीं कह सकते क्योंकि उसमें स्वरूपनाश की आपत्ति होगी। कारण 'स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते' इस श्रुति से स्वरूपापत्ति का ही विधान है। स्वरूपनाश का नहीं।।४।।

एतदुक्तं भवति—ईश्वरभावापत्तिः किं जले निक्षिप्तजलवदेकीभावेन पृथग्ग्रहणायोग्यत्वमात्रं वा? जीवस्वरूपबाधो वा? आद्य इष्टापत्तिस्तवाभिप्रेताद्वैतभङ्गश्च। अन्त्ये स्वरूपनाशापत्तिरिति। किञ्च बिम्बप्रतिबिम्बरूपा ईशजीवौ वस्तुरूपौ? मिथ्याऽनिर्वचनीयौ वा? शशशृङ्गवत्तुच्छौ वा? नाद्यः, परपक्षप्रवेशात्। नापि द्वितीयो, बन्धमोक्षादिप्रतिपादनस्य वैयर्थ्यात्। वस्तुभूताद्वितीयनिर्विशेषस्य बन्धानर्हत्वेन बद्धस्य चावस्तुत्वेन को बद्धो मुक्तश्चेति प्रश्नस्य निरुत्तरत्वात्। अतएव न तृतीयो, "मे माता बन्ध्ये" ति वच्छास्त्रप्रणयनादौ वाक्यमूकत्वापत्तेः। नापि सार्वज्ञादिधर्मेणेति द्वितीयो, विकल्पासहत्वात्। को वाऽत्र भावपदार्थः? सार्वज्ञकल्पाश्रयत्वं वा? सार्वज्ञाद्याश्रयत्वं वा? नाद्योऽनङ्गीकारादपसिद्धान्तापत्तेः। परपक्षप्रवेशाच्च। नान्त्यः, प्रमाणाभावादसम्भवाच्चा-न्यथाऽनेकेश्वरत्वापत्तेः। किञ्च नहि भगवदीयैश्वर्यस्य मायामयत्वे पुनर्विवृत्तौ च मानमस्ति। यतस्तन्निवृत्त्या पुनर्भावान्तरापत्तिः सुवचा स्यात्। न च "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिरि" ति श्रुतिरेवात्र मानमिति वाच्यम्। तस्याः परमेश्वरभावापत्तिरूपमोक्ष-प्रतिबन्धकीभूतविश्वमायानिवृत्तिविधानपरत्वात्। "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति त" इति श्रीमुखोक्तेः। एताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां भवदनुग्रहसहकृतसाधनपरिपाकेन जीवानामेव भगवन्मायातरणं प्रतिपाद्यते। तत्रैव तयोः प्रामाण्यञ्च सूपपन्नमन्नतु भगवतः स्वाभाविकनित्यसार्वज्ञादिनिवृत्तौ। तथात्वेऽनाप्तत्वप्रसङ्गात्।।५।।

तात्पर्य यह है कि ईशभावापत्ति क्या जल में निक्षिप्त जल की तरह एकीभाव हो जाने के कारण पृथक् ग्रहणायोग्यत्व मात्र है? या जीव के स्वरूप का बाध? आदि पक्ष में हमारे लिए इष्टापत्ति है पर आपका अभिमत अद्वैत का भङ्ग ही होगा। अन्तिम पक्ष में स्वरूप की नाशापत्ति है। दूसरी बात बिम्ब प्रतिबिम्बरूप ईशजीव वस्तु रूप हैं अथवा मिथ्या या अनिर्वचनीय हैं। किं वा शशशृङ्ग की भाँति तुच्छरूप है? प्रथम पक्ष में परपक्ष प्रवेश का दोष होता है। (क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप ईश्वर एवं जीव मायावादी के मत में अवस्तु रूप है उन दोनों को वस्तुरूप मानने पर परपक्ष में प्रवेश दोष होता है) मिथ्या अनिर्वचनीय मानने पर बन्धमोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों में वैयर्थ्य होता है। कारण वास्तविक वस्तु (पारमार्थिक वस्तु) निर्विशेष परमतत्त्व तो बन्ध के अयोग्य है और बद्ध आत्मा कोई वस्तु ही नहीं है (मिथ्या है अनिर्वचनीय है)। फिर कौन बद्ध होता है तथा कौन मुक्त होता है, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं होने से यह प्रश्न ही निरुत्तर है। इसीलिए तीसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है 'मेरी माँ बन्ध्या है' इस कथन की तरह शास्त्र प्रणयन आदि में वाक्य मूकत्वापत्ति होगी। सार्वज्ञ्य आदि धर्म से भी ईश्वरभावापत्ति नहीं कह सकते, यह पक्ष भी विकल्प सहन नहीं कर सकता। कारण हम पूछते हैं यहाँ भाव पदार्थ क्या है? सार्वज्ञ्यकल्पाश्रयत्व अथवा सार्वज्ञाद्याश्रयत्व? पहला पक्ष कह नहीं सकते, कारण ऐसा स्वीकार नहीं है। स्वीकार करने पर अपसिद्धान्तापत्ति होगी तथा परपक्ष में प्रवेश होगा। अन्तिम पक्ष भी नहीं कह सकते कारण इसमें कोई प्रमाण नहीं है, सम्भव भी नहीं है अन्यथा अनेक ईश्वरत्व की आपत्ति होगी और भगवदीय ऐश्वर्य के मायामय होने एवं उसकी पुनर्निवृत्ति में कोई प्रमाण भी नहीं है, जिससे उसकी निवृत्ति से पुनः भावान्तर की आपत्ति होगी। यदि कहें कि "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" यह श्रुति ही मान है तो ऐसा नहीं कह सकते। इस श्रुति का परमेश्वर भावापत्तिरूप मोक्ष के प्रतिबन्धकीभूत विश्वमाया की निवृत्ति में तात्पर्य है। क्योंकि भगवान् ने

गीता में स्वयम् कहा है "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इन दोनों श्रुति तथा स्मृतियों से भगवान् के अनुग्रह सहित साधनों के परिपाक से जीवों के लिए ही भगवदीय माया का सन्तरण कहा जाता है और उसी में उन श्रुतिस्मृतियों का प्रामाण्य उपपन्न होता है, न कि भगवान् के स्वाभाविक नित्य सार्वज्ञ्य आदि गुणों की निवृत्ति में। ऐसा होने पर तो श्रुति तथा स्मृतियों में अनाप्तत्व का प्रसङ्ग हो जायेगा।।५।।

एतेन यदुक्तं परमेश्वरस्यैश्वर्यं सार्वज्ञ्यादिसत्यसङ्कल्पत्वादिवैशिष्ट्यं च बद्धजीवाविद्याकल्पितं न स्वाभाविकं तस्य निर्विशेषत्वात्। नत्वीश्वराविद्याकृतं तस्य निरञ्जनत्वादिति, तदपि निरस्तं स्वबुद्धिपरिकल्पितत्वेन प्रमाणशून्यत्वात्। प्रत्युत तत्प्रत्यनीकस्वाभाविकत्वश्रवणात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी" ति। यदप्युक्तं सिद्धान्तसूत्रस्य वस्तुदृष्ट्या चिन्मात्रत्वेऽपि पूर्वोक्तगुणकलापस्योपन्यासादवगतस्य मायामयस्येत्यादिना विवक्षितार्थपरत्वं तदपि स्वकपोलकल्पितं, सूत्रार्थस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्। किन्तु यदि चैतन्यमात्रापत्तिरेव मोक्षस्वरूपमभिप्रेतं तर्ह्यौडुलोमिपक्षानुगामित्वमेव भवतां प्रेष्ठं किं पुनः सूत्रकारसिद्धान्तेन। सूत्रकृद्भिः कुत्रापि पारमेश्वरीयैश्वर्यादिधर्माणां मायिकत्वानभिधानादपितु "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च सर्वधर्मोपपत्तेश्चे" त्यादिसूत्रैरुपपन्नतया-ऽत्यादरेणाभ्युपगमात्। नापि तस्य त्वदभिप्रेतनिर्विशेषत्वयोग ईशत्वनिर्विशेषत्वयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात्। अन्यथा सर्वप्रमाणाविषयत्वेन शशशृङ्गसाम्यापत्तेः। प्रमाणविषयत्वे च सविशेषत्वस्यावश्यम्भावित्वाच्चेति सङ्क्षेपः।।६।।

एतावता यह जो कहा जाता है कि परमेश्वर का ऐश्वर्य तथा सार्वज्ञ्यादि सत्यसङ्कल्पत्व आदि विशेषता बद्ध जीवों की अविद्या से कल्पित है, स्वाभाविक नहीं क्योंकि वह परमेश्वर निर्विशेष है। अविद्याकृत ऐश्वर्य भी नहीं है क्योंकि वह परमेश्वर निरञ्जन है। यह मत भी खण्डित हो जाता है क्योंकि यह मत निज बुद्धि कल्पित होने से प्रमाण शून्य है। बल्कि उसके विपरीत ब्रह्म में गुणक्रियादि के स्वाभाविकत्व का श्रवण है "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इत्यादि। तथा यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है कि सिद्धान्त सूत्र वस्तुदृष्टि से चिन्मात्र परम होने पर भी उपन्यास आदि से अवगत पूर्वोक्त गुणकलाप का 'मायामयश्च' इत्यादि ग्रन्थ से विवक्षित अर्थपरक है। यह भी निज कपोलकल्पित ही है क्योंकि सूत्र का वास्तविक अर्थ पहले ही कहा जा चुका है। यदि चैतन्य मात्रापत्ति ही मोक्ष का स्वरूप अभिप्रेत हो तब तो औडुलोमि आचार्य के मतानुयायित्व ही आपका प्रिय सिद्धान्त होगा। फिर सूत्रकार के सिद्धान्त से आपका क्या सम्बन्ध रहा? सूत्रकार ने कहीं भी परमेश्वर के ऐश्वर्य आदि धर्मों को मायिक नहीं कहा है। बल्कि "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च सर्वधर्मोपपत्तेश्च" आदि सूत्रों द्वारा उक्त गुणों के परमात्मा में उपपन्न होने से अति आदरपूर्वक ब्रह्म में स्वीकार किया गया है। आपके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म में निर्विशेषत्व का योग सूत्रकार सम्मत नहीं है। ईशत्व (ईश्वरत्व) निर्विशेषत्व का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है। अन्यथा निर्विशेष मानने पर आपका ब्रह्म समस्त प्रमाणों का अविषय होने से शशशृङ्ग के समान हो जायेगा। प्रमाण विषय मानने पर सविशेषत्व तो अवश्य हो जायेगा। इस प्रकार यहाँ सङ्क्षेप से मायावादियों के मत का खण्डन किया गया है।।६।।

एकविंशतिप्रकारकदुःखध्वंसो मोक्ष इति गौतमीयानामभ्युपगमः। तथाहि

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इत्यत्र तच्छब्देन सूत्रोपात्तानामेकविंशतिप्रकारकदुःखानां परामर्शः। तानि च शरीरं षडिन्द्रियवर्गः षड्विषयाः षड्बुद्धयः सुखं दुःखं चेति। आत्यन्तिकत्वं च स्वसमानाधिकरणदुःखतत्प्रागभावासमानकालिकत्वमि, दानीमस्मदीयदुःखध्वंसस्य सुषुप्तिकाले दुःखासमानकालिकत्वसत्त्वात्प्रागभावेत्युपान्त्यदुःखध्वंसस्य तत्प्रागभावा-समानकालिकत्वाद्दुःखेति। तत्र शरीरेन्द्रियविषयबुद्धीनां दुःखसाधनत्वाद् दुःखत्वं, दुःखस्य स्वरूपतः पूर्वापरदुःखसम्बलितत्वात्सुखस्यापि दुःखत्वमिति। "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग" १/१/२/ इति सूत्रादिति। तत्र तस्य पुरुषार्थत्वाभावात् पुरुषव्यापारासाध्यत्वात्। अतीतस्य स्वविरोधिगुणान्तरनाश्यत्वात्। आगामिनः स्वकारणनाशेन नास्यत्वात्। वर्त्तमानस्य स्वोत्पन्नगुणनाश्यत्वात्। किञ्च नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्न दुःखप्रहाणिमात्रं, नैतावन्मात्रमुद्दिश्य प्रवृत्तिः सम्भवति। प्रवृत्तिसामान्यं प्रतीष्टसाधनताज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वात्। नन्वनिष्टाभावसाधनताज्ञानमपि प्रवर्त्तकमिति चेन्न, अनिष्टाभावस्यापीष्टसिद्धावेव विनियोगात्। कण्टकविद्धपादस्य कण्टकापनयने प्रवृत्तिर्न केवलं कण्टकाभावोद्देशेन। किन्तु यथेष्टप्रचाररूपेष्टसिद्ध्यर्थेति प्रसिद्धम्। तस्मान्मुक्तो नित्यसुखानुभवोऽप्यकामेन त्वयाऽभ्युपगन्तव्य इति दिक्।।७।।

इक्कीस प्रकार के दुःखों के आत्यान्तिक ध्वंस को गौतम मतानुयायी (नैयायिक) मोक्ष मानते हैं। जैसा कि उनका सूत्र है "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" यहाँ तत् शब्द से सूत्र में प्रतिपादित इक्कीस प्रकार के दुःखों का परामर्श है। वे इक्कीस दुःख इस प्रकार हैं शरीर, छः इन्द्रियाँ- आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा एवं मन, षड्विषय- रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्श तथा मानस, षड् बुद्धियाँ-घ्राणज, स्पार्शन, चाक्षुष, श्रावण, रासन, मानस तथा सुख-दुःख- इनका आत्यन्तिक नाश ही मोक्ष है। यहाँ आत्यन्तिकत्व का अर्थ है "स्वसमानाधिकरण- दुःखतत्प्रागभावासमानकालिकत्वम्" (यहाँ स्व पद से दुःखध्वंस ग्राह्य है। अस्मदीयजनों के दुःखध्वंस में दुःखध्वंस सामानाधिकरण दुःख तथा दुःख प्रागभाव समानकालिकत्व ही है। तदन्यत्व अस्मदीय अपवर्गकालीन दुःखध्वंस एवं शुकदेव तथा वामदेव प्रभृति जीवन्मुक्तों की आत्मा में विद्यमान है। इस प्रकार लक्षण का समन्वय होता है) इस समय अस्मदादिजनों के दुःखध्वंस में सुषुप्तिकाल में दुःखासमानकालिकत्व होने से प्रागभाव विशेषण दिया गया। उपान्त्य दुःखध्वंस में दुःखप्रागभाव असमानकालीनत्व होने से दुःख विशेषण दिया गया। यहाँ शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा बुद्धि में दुःखसाधनत्व होने से दुःखत्व है। दुःख में तो स्वरूपतः दुःखत्व है किन्तु सुख पूर्व एवं पर भाग में दुःख सम्वलित होने से ये भी दुःखरूप है जैसा कि न्याय का सूत्र है "दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग" १/१/२ (अर्थात् तत्त्वज्ञान से विरोधी मिथ्याज्ञान के अपहरण होने से कारण के अभाव में रागद्वेष क्षयदोष के निवृत्त होने से, उसके अभाव होने से धर्म एवं अध्यात्मिक प्रवृत्ति की अनुत्पत्ति होने से, उक्त उभयात्मक प्रवृत्ति के अभाव में नवीन शरीर सम्बन्ध रूप जन्म का अभाव होने पर दुःख के अभाव के कारण अपवर्ग होता है) यह मत भी ठीक नहीं है, दुःखध्वंसमात्र पुरुषार्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह पुरुष व्यापार साध्य नहीं है। 'अतीतस्य स्वविरोधिगुणनाश्यत्वनियमात्' (इस न्याय सिद्धान्त में योग्यविभु विशेषगुण स्वोत्तर क्षण वृत्ति गुण नाश्य होता है, ऐसा नियम है) आगामी दुःख स्वकारण के नाश से नाश्य होता है तथा वर्तमान गुण स्व से उत्पन्न गुण से नाश्य होता है। (अब भट्ट मत का अवलम्बन करके कहते हैं) 'किञ्च' अर्थात् नित्य सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है, केवल दुःख निवृत्ति मात्र नहीं।

केवल दुःख निवृत्ति मात्र के उद्देश्य से प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। कारण प्रवृत्तिमात्र के प्रति इष्टसाधनता ज्ञान कारण माना गया है। यदि कहें कि अनिष्टाभाव के साधन का ज्ञान भी प्रवृत्तिजनक है तो ऐसा नहीं कह सकते, अनिष्टाभाव का भी इष्टसिद्धि में ही विनियोग है। कण्टक से विंधे हुए पैर वाले व्यक्ति का कण्टक के दूर करने में प्रवृत्ति केवल कण्टक के हटाने मात्र के लिए नहीं होती किन्तु यथेष्ट देश गमन रूप इष्टसिद्ध्यर्थ होती है। इसलिए मुक्ति में नित्य सुख का अनुभव भी बिना इच्छा के आपको मानना पड़ेगा, ऐसा जानना चाहिए।।७।।

अथ दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्ष, आनन्दादिशब्दाश्च दुःखाभावमात्रावलम्बिनो यदि च सुखरागेणवर्त्तेत ततो बन्ध एव स्यात्, रागस्य बन्धहेतुत्वात्। देहेन्द्रियमनसां निवृत्तौ विज्ञानोत्पत्तिहेत्वभावान्मुक्तो निःसञ्ज्ञपाषाणकल्पोऽवतिष्ठत इति वैशेषिका आहुस्तत्तुच्छमसम्भवात्। तथाहि यदुक्तं रागो बन्धहेतुरिति तदयुक्तं शास्त्रादयं विभागो गम्यते। यथा स्वदारगमनं धर्माय परदारगमनं चाधर्माय तथाविधविषयको रागो बन्धहेतुः। निरतिशयानन्दपरब्रह्मविषयकश्च रागो मोक्षहेतुः। नाप्यानन्दादिशब्दो दुःखाभाववचनः, शतगुणोत्तरक्रमेणोत्कर्षापकर्षौ प्रतिपाद्य निरतिशयस्य ब्रह्मानन्दस्योपदेशात्। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते ऽप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चने" ति मन्त्रात्। नहि निरूपणाख्यस्याभावस्योत्कर्षापकर्षौ सम्भवतः। लोकेऽपि दुःखतारतम्यं सुखतारतम्यञ्च परस्परविलक्षणं प्रत्यक्षेणानुभूयते। किञ्च यदि पाषाणकल्प एव मोक्षोऽभीष्टस्तर्हि पाषाणादीनामेव मुक्तत्वमभ्युपगन्तव्यं देवानां प्रियैस्तर्कनिपुणैः, किं कल्पशब्दप्रयोगप्रयासेनेति सङ्क्षेपः।।८।।

अब वैशेषिक मत की समालोचना करते हैं "अथ दुःखनिवृत्तिमात्रं मोक्षः" वैशेषिक दर्शन भी दुःख निवृत्तिमात्र को मोक्ष मानता है। यदि कहें कि मुक्ति में आनन्द शब्द का प्रयोग है तो उसका क्या तात्पर्य है तो कहते हैं, वहाँ आनन्द शब्द दुःखाभावमात्र में तात्पर्य है। यदि मुक्ति में भी सुख का राग होगा, तब बन्धन ही होगा। कारण राग बन्ध का हेतु होता है। देह, इन्द्रिय, मन की निवृत्ति होने पर ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु का अभाव होने से मुक्ति में आत्मा चेतनाशून्य पाषाणकल्परूप हो जाता है। ऐसा वैशेषिक कहते हैं। यह मत अत्यन्त तुच्छ है क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। यह जो कहा गया है राग बन्ध का हेतु होता है, यह युक्तिहीन है। कौन बन्धन कारक है, कौन नहीं, यह शास्त्र द्वारा ही ज्ञेय होता है। जैसे स्वदारगमन धर्मजनक होता है किन्तु परदारगमन अधर्मजनक, परस्त्रीविषयक राग बन्धन का हेतु है। इसी प्रकार निरतिशय आनन्दरूप परब्रह्मविषयक राग मोक्ष का हेतु होता है। आनन्द आदि शब्द भी दुःखाभाव का वाचक नहीं है। श्रुति में शतगुणित क्रम से आनन्द में उत्कर्ष तथा अपकर्ष का प्रतिपादन कर ब्रह्म में निरतिशय आनन्द का उपदेश दिया गया है। दुःखाभाव का उत्कर्ष अपकर्ष नहीं बताया गया है। अन्त में कहा है "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" अर्थात् जहाँ मन वाणी की पहुँच नहीं है, वह ब्रह्मानन्द है। निर्वचन के अयोग्य दुःखाभाव का उत्कर्ष अपकर्ष सम्भव नहीं है। लोक में भी दुःखों एवं सुखों में तारतम्य परस्पर विलक्षणरूप में प्रत्यक्षतया अनुभूयमान होता है। इन देवानां प्रियों (मूर्खों) तर्कनिपुणों को यदि पाषाणकल्प मोक्ष ही अभीष्ट है तब तो पाषाण आदि को ही परममुक्त मानना चाहिए। फिर कल्प शब्द के प्रयोग का प्रयास क्यों ? इस प्रकार से सङ्क्षेप में वैशेषिक मत का निराकरण किया गया।।८।।

साङ्ख्यास्तु चैतन्यस्वभाव आत्मा तस्य द्रष्टुः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमसम्प्रज्ञात-योगनिष्पत्तौ मोक्ष इति मन्यन्ते, तच्चिन्त्यं ब्रह्मानन्दाभावे निरतिशयानन्दापत्त्यभावात्। पातञ्जलास्त्वसतो ब्रह्मभावस्य योगानुष्ठानाज्जन्ममोक्ष इत्याहुस्तदपि चिन्त्य, मसतो जन्मायोगात्, शशशृङ्गादावतिव्याप्तेश्च "ब्रह्मैव सन्ब्राह्माप्येती"ति श्रुतिविरोधाच्च। पञ्चक्लेशादिध्वंसश्चास्मत्पक्षेऽपि समान एवेत्यलं प्रासङ्गिकेन। तस्मात्पूर्वोक्तलक्षणो भगवद्भावापत्तिरेव मोक्ष इति सिद्धम्। स च मोक्षो भगवदनुग्रहैकलभ्यतत्साक्षात्कारै-कलभ्यः साक्षात्कारश्च प्राप्तध्रुवास्मृतीनां भुक्तप्रारब्धकर्मणामेव। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यो, भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णमि" त्यादिश्रुतिभ्यः। तस्मिन्निति सर्ववेदान्तप्रसिद्धे ब्रह्मणि श्रीपुरुषोत्तमे दृष्टे साक्षादनुभूते सति हृदयग्रन्थिरनादिकर्मनिरूपितमायासम्बन्धः "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मस्वि"ति श्रीमुखोक्तेर्भिद्यते ध्वंसमापद्यते स्वयमेवेति कर्मकर्त्तृप्रयोगः। साधनान्तरनिरपेक्षत्वसौकार्यद्योतनार्थः सूर्यप्रकाशे तमोवत् तत्कार्यभूताः सर्वसंशया आत्मपरमात्मसाधनफलसम्बन्धादिविषयकाः स्वयमेव छिद्यन्ते "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष" इति श्रुत्यन्तरात्। तत्र हेतुमाह—क्षीयन्ते चास्येति। अस्य भगवत्प्रसादैकविषयस्य चरमजन्मनो विदुषः साक्षाद्द्रष्टुः सञ्चितक्रियमाणप्रारब्धाख्यानि सर्वकर्माणि पुण्यापुण्यरूपाणि क्षीयन्ते क्षयमापद्यन्ते। परमेश्वरं विशिनष्टि—परावर इति। लोकदृष्ट्या मनुष्यादिभ्यः पर उत्कृष्टा ब्रह्मरुद्रादयो ऽवरे निकृष्टा यस्मात्तस्मि-न्नित्यर्थः।।९।।

साङ्ख्यवादी चिद्रूपमात्र में असम्प्रज्ञातयोग सम्पादन के अनन्तर अवस्थान को ही मोक्ष मानते हैं। उनके मत में आत्मा चैतन्य स्वभाव है चिद्रूपमात्र है। ज्ञान सुख आदि बुद्धि के धर्म हैं। यह मत भी चिन्तनीय है, निन्दनीय है। मुक्ति में ब्रह्मानन्द का अभाव मानने पर निरतिशय आनन्द की प्राप्ति का अभाव है। जब कि श्रुति मोक्ष दशा में निरतिशय आनन्द की प्राप्ति का प्रतिपादन करती है। ये श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी। पातञ्जल मतानुयायी असत् ब्रह्मभाव के योगानुष्ठान जनित जन्म से मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं। यह भी चिन्त्य ही है। असत् का जन्म नहीं होता। शशशृङ्ग में अतिव्याप्ति भी होगी। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" ब्रह्म स्वरूप होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस श्रुति में ब्रह्म के समान सार्वज्ञ्यादि गुणसम्पन्न होकर ब्रह्म का अनुभव करता है, ऐसा कहा गया है। इसका विरोध होगा। पञ्चक्लेश आदि का ध्वंस तो हमारे मत में (वैष्णव मत में) भी समानरूप से मान्य है। इस प्रकार से अति विस्तार नहीं करते हैं। इसलिए पूर्वप्रतिपादित भगवद्भावापत्तिरूप ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप (लक्षण) है, यह सिद्ध होता है। यह मोक्ष एकमात्र भगवान् की कृपा से ही लभ्य है, केवल उन्हीं के साक्षात्कार से प्राप्य है और भगवत् साक्षात्कार जिसे ध्रुवा भगवत्स्मृति प्राप्त हो चुकी है तथा जिसका प्रारब्ध कर्म का भोग पूरा हो चुका है, उसे ही प्राप्त होता है। "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" वह परमात्मा जिसे अहैतुकी कृपा करके स्वीयत्वेन वरण कर लेता है, उसे ही भगवत् साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त होता है। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" भगवत्तत्त्व के साक्षात्कार करने पर हृदय की अज्ञान रूप ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, सारे संशय दूर हो जाते हैं, उसके समस्त कर्म

नष्ट हो जाते हैं। "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" इत्यादि। "तस्मिन् दृष्टे परावरे" तस्मिन् शब्द से सकलवेदान्त वाक्यों में प्रसिद्ध पुरुषोत्तम भगवान् श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के साक्षात्कार हो जाने पर हृदय ग्रन्थि अनादिकर्मात्मिका माया का सम्बन्ध छूट जाता है। जैसा कि भगवान् ने कहा है "कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" सत् असत् योनियों में जन्म का कारण गुणसङ्ग ही है। 'भिद्यते ध्वंसमापद्यते स्वयमेव' स्वयमेव विनाश भाव को प्राप्त हो जाता है। यहाँ कर्मकर्तृ का प्रयोग साधनान्तर निरपेक्षरूप सौकर्य का द्योतनार्थ है। सूर्य के प्रकाश होने पर अन्धकार की तरह, अज्ञान के कार्यभूत आत्मा परमात्मा साधन फलसम्बन्ध विषयक समस्त संशय स्वतः नष्ट हो जाते हैं। "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" अर्थात् आहार शुद्धि होने पर सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व शुद्ध होने पर ध्रुवास्मृति तथा स्मृति लब्ध होने पर सब प्रकार की हृदयग्रन्थियों अज्ञानरूप ग्रन्थियों का नाश हो जाता है। इसमें हेतु कहते हैं "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" उस परात्पर प्रभु परमात्मा के साक्षात्कार होने पर मुक्त आत्मा के समस्त सञ्चित क्रियमाण आदि कर्म विनष्ट हो जाते हैं। उस भगवत् कृपापात्र साक्षात् परमात्मदर्शी चरमजन्मा विद्वान् मुक्त आत्मा के समस्त सञ्चित, क्रियमाण तथा प्रारब्ध आदि पुण्य-पाप आदि कर्म क्षयभाव को प्राप्त हो जाते हैं। परमेश्वर का विशेषण देते हैं 'परावरे' अर्थात् लोकदृष्टि से मनुष्य से उत्कृष्ट ब्रह्मा रुद्र आदि देवता भी जिनसे निकृष्ट हैं, उन परमेश्वर प्रभु के दर्शन करने पर।।९।।

ननु कर्माणीत्यत्र कर्मपदं प्रारब्धेतरद्विविधकर्मपरमेव। नच बहुवचनविरोध इति वाच्यम्। एकैकस्यापि सञ्चितादिकर्मणोऽसङ्ख्यत्वादन्यथा साक्षात्कारसमय एव विदुषो देहपातप्रसङ्गात् जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्चेति चेन्न, इष्टापन्नत्वात्। नच तथात्वे "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरि"ति सूत्रबाधस्तत्र प्रारब्धेतरस्यैव कर्मणो विनाशोक्तेरि"ति वाच्यम्। तस्य निदिध्यासनपरिपाकध्रुवास्मृत्याख्यपरोक्षज्ञानविषयत्वेन पूर्वमेव व्याख्यातत्वात्। नच परोक्षज्ञानेन तथात्वासम्भवः। श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात् "स्मृतिलम्भ" इति पूर्वोक्तश्रुतेः। किञ्चापरोक्षज्ञानान्मूलाज्ञाननिवृत्तिरभिप्रेता? न वेति? नाद्यः, कारणनाशे कार्यस्थित्य-योगात्। भावरूपकार्यस्य निरुपादानस्थित्यदर्शनात्। सोपादानं चेत्? किमत्रोपादानं ब्रह्मैव? अन्यद्वा? नाद्यो, ब्रह्मणोऽकारणत्वेन तदुपादानत्वासम्भवात्। अन्यथा कारणस्य नित्यत्वेन कार्यस्यावश्यम्भावादनिर्मोक्षप्रसङ्गो दुर्वारः। न द्वितीयो, ऽविद्यातत्कार्याभ्यामन्य-स्याभावात्। तस्मान्मूलाविद्यानाशे तत्कार्यस्य प्रारब्धस्याप्यवस्थातुमशक्यत्वं, तन्तुनाशे पटस्येव। नच प्रारब्धजन्यभोगनिर्वाहकतया कियत्कालमविद्याया अनुवृत्त्यङ्गीकार इति शङ्कनीयम्। विद्याया अविद्योपमर्दकत्वस्वभावहानिप्रसङ्गात्। "यस्मिन्सत्यग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वं यद्व्यतिरेके च यस्याभावस्तत्साध्यमि"ति लक्षणोक्तेः। तथा च यस्मिन्ब्रह्मापरोक्षज्ञाने सत्यविद्यानिवृत्तेः सत्त्वं तद्व्यतिरेके चाविद्यानिवृत्त्यभाव इति सिद्धान्तभङ्गाच्च।।१०।।

यदि कहें कि उक्त श्रुति में 'कर्माणि' पद में कर्म शब्द से प्रारब्ध से इतर सञ्चित तथा क्रियमाण, ये द्विविध कर्म ही ग्राह्य है। इसमें बहुवचन का विरोध नहीं कह सकते। कारण एक सञ्चित कर्म ही असङ्ख्य हैं। अन्यथा प्रारब्ध कर्म का भी नाश मानें तब तो साक्षात्कार के समय ही देहपात का प्रसङ्ग हो जायेगा और जीवन्मुक्ति का अभाव प्रसङ्ग भी हो जायेगा। तो ऐसा नहीं कह सकते कारण जीवन्मुक्ति का अभाव इष्ट है। यदि कहें कि सर्वकर्म का क्षय मानने पर

"तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ" सूत्र का बाध होगा क्योंकि उस सूत्र में प्रारब्ध से इतर कर्म का ही विनाश कहा गया है, तो यह भी नहीं कह सकते, उक्त सूत्र में निदिध्यासन परिपाकजनित ध्रुवास्मृति परोक्षज्ञानविषयक है, ऐसी पहले ही व्याख्या की गई है। परोक्ष ज्ञान से सर्वकर्मक्षयत्व असम्भव नहीं है। कारण वह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है। "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" ऐसी पूर्वोक्त श्रुति है। अपरोक्ष ज्ञान से मूला अविद्या का नाश होता है या नहीं ? इस पर विकल्प करते हैं। प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, कारण नाश होने पर कार्य की स्थिति नहीं हो सकती, भावरूप कार्य की उपादान के अभाव में स्थिति नहीं देखी जाती। उपादान के सहित नाश होता है, ऐसा कहें तो प्रश्न होता है ? यहाँ उपादान क्या ब्रह्म ही है या अन्य कुछ? पहला पक्ष नहीं कह सकते। कारण ब्रह्म किसी का कारण न होने से उसमें विश्व का उपादानत्व सम्भव नहीं हो सकता। अन्यथा उसे उपादान मानने पर कारण के नित्य होने से कार्य अवश्यम्भावी है, फिर तो अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। द्वितीय पक्ष भी नहीं कह सकते क्योंकि अविद्या एवं उसके कार्य से अन्य का अभाव है। इसलिए मूला अविद्या के नाश होने पर उसका कार्य प्रारब्ध भी नहीं रह सकता जैसे तन्तु के नाश होने पर पट नहीं रह सकता। यदि कहें कि प्रारब्ध जन्य भोग के निर्वहण के लिए कतिपय काल पर्यन्त अविद्या की अनुवृत्ति स्वीकार करेंगे, ऐसी भी शङ्का नहीं कर सकते। ऐसा मानने पर विद्या में अविद्या के उपमर्दकत्व स्वभाव की हानि का प्रसङ्ग होगा। जिसके होने पर अग्रिम क्षण में जिसकी सत्ता होती है, जिसके अभाव में जिसका अभाव होता है, वह साध्य होता है, ऐसा लक्षण कहा गया है। इस प्रकार से जिस ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान होने पर अविद्या की निवृत्ति होती है तथा अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान के अभाव में अविद्या निवृत्ति का अभाव होता है, इस सिद्धान्त का भङ्ग होगा।।१०।।

नच प्रारब्धभोगोत्तरकाल एव तथाभूतः स्वभावो ब्रह्मसाक्षात्कारस्येति वाच्यम्। एकस्य स्वभावद्वयासम्भवात्। न चावरणविक्षेपशक्तिमत्या मूलाविद्याया ब्रह्मसाक्षात्कारेणावरण-शक्तिनाशेऽपि प्रारब्धकर्मजन्यवर्त्तमानदेहनिर्वाहाय विक्षेपशक्त्यंशानुवृत्तिरिति वाच्यम्। एकस्या अविद्याया युगपत् स्थितिनिवृत्त्योर्विरुद्धत्वात्। नच शक्तिनिवृत्तिमात्रमेव विवक्षितम्। शक्तिशक्तिमतोरभेदात्। भेदे च मूलाज्ञानानिवृत्तिप्रसङ्गो निवर्त्तकाभावात्। नच प्रारब्धनिवृत्तिरेव तन्निवर्त्तिकेति वाच्यम्। कार्यनाशस्य कारणनाशकत्वायोगादतिव्याप्तिप्रसङ्गात्प्रमाणशून्यत्वाच्च। नच पूर्वज्ञानमेव तन्निवर्त्तकमिति वाच्यम्। तस्य शक्तिनिवृत्तावेवोपक्षीणत्वात्। नच स्वरूपात्मकज्ञानमेव तन्निवर्त्तकमिति वाच्यम्। तस्य तदविरोधित्वाभ्युपगमादन्यथाप-सिद्धान्तापत्तेः। द्वितीये, ज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्यभावपक्षे ज्ञानस्यैव वैयर्थ्यापत्तिरनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेती" त्यादिश्रुतिव्याकोपश्च। तदर्थशास्त्रारम्भवैयर्थ्यञ्च। किञ्च विरोधिसाक्षात्कारोदये सर्वथा लेशतोऽप्यविद्यानुवृत्त्यसम्भव एवेत्यकामेन त्वयाङ्गीकरणीयम्। अन्यथा कृतनिदिध्यासनस्य ब्रह्मसाक्षात्कारोदयेन सविलासाऽविद्यानिवृत्तिरिति सिद्धान्तभङ्गः स्यात्। एतेन क्षालितलशुनभाण्डानुवृत्तिलशुनवासनाकल्पाऽविद्यासंस्कारानुवृत्तिरिति पक्षोऽपि निरस्तो दोषसाम्यात्। नहि सूर्योदये लेशतोऽपि तमोऽनुवृत्तिः केनचिदनुन्मत्तेन दृष्टा श्रुता वोपपन्ना वेति भावः।।११।।

यदि कहें कि प्रारब्ध भोग पूरा होने के बाद ही ब्रह्म साक्षात्कार का वह स्वभाव (अविद्या निवृत्ति) है तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण एक ही तत्त्व का दो तरह का स्वभाव नहीं हो

सकता। यदि कहें कि आवरण एवं विक्षेप नामक दो शक्तिशाली मूलाविद्या की ब्रह्म साक्षात्कार से आवरण शक्ति के नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्मजन्य वर्त्तमान देहनिर्वाह के लिए विक्षेप शक्ति लेश की अनुवृत्ति रहती है, तो यह भी नहीं कह सकते। कारण एक ही अविद्या की शक्ति की एक काल में स्थिति और निवृत्ति विरुद्ध है। यदि कहें कि मूला अविद्या की आवरण शक्तिमात्र की निवृत्ति होती है, यह भी ठीक नहीं। शक्ति और शक्तिमान में अभेद है और अभेद होने पर शक्ति के नाश होने पर शक्तिमती मूला अविद्या का भी नाश हो जायेगा। (फिर मोक्ष व्यवस्था अनुपपन्न होगी) (शक्ति शक्तिमान् में भेद मानने पर ब्रह्म के साक्षात्कार से आवरण शक्ति नाश होने पर भी मूल अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। उसका निवर्तक कारण नहीं है, फिर तो बन्ध मोक्ष व्यवस्था अनुपपन्न होगी। इसी आशय से कहते हैं 'भेदेच') भेद मानने पर मूल अज्ञान की अनिवृत्ति होगी। कारण उसका निवर्तक नहीं है। यदि कहें कि प्रारब्ध की निवृत्ति ही उसका निवर्तक होगा तो ऐसा भी नहीं हो सकता। कार्य का नाश होने से कारण का नाश नहीं होता। कारण के नाश मानने पर तो अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग होगा। इसमें कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि कहें कि पूर्वज्ञान ही निवर्तक होगा तो यह सम्भव नहीं हैं। वह तो शक्ति निवृत्ति में ही उपक्षीण हो जाता है। यदि कहें कि स्वरूपात्मकज्ञान ही निवर्तक है तो यह भी सम्भव नहीं। स्वरूपात्मकज्ञान तो उसका अविरोधी माना गया है। अन्यथा अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी। द्वितीय अर्थात् ज्ञान से अविद्या निवृत्ति के अभाव पक्ष में ज्ञान का वैयर्थ्य होगा और अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग भी होगा। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि श्रुतियों का व्याकोप होगा और उसके लिए शास्त्रारम्भ भी व्यर्थ होगा। दूसरी बात अविद्या विरोधी आत्मसाक्षात्कार के उदय होने पर सर्वथा लेशमात्र भी अविद्या की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है। यह बात इच्छा के बिना भी आपको स्वीकार करनी पड़ेगी अन्यथा निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के उदय होने से खुशी-खुशी में अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा। इसी से कुछ लोगों का यह कथन है कि लशुन के पात्र को अच्छी तरह प्रक्षालन करने पर भी जैसे उसमें लशुन की गन्ध रह जाती है, उसी तरह लशुन संस्कारकल्प अविद्या के संस्कार की अनुवृत्ति रहती है, निरस्त हो जाता है। इसमें भी उसी दोष की समानता है। सूर्योदय होने पर लेशमात्र भी तम की अनुवृत्ति कहीं नहीं देखी जाती है। हाँ-कोई पागल ही देख सकता या कह सकता है, सुन सकता है या ऐसा उपपन्न कर सकता है।।११।।

ननु दग्धपटन्यायेनानुवृत्ता मूलाविद्यैवेति चेन्न। अनिवृत्तिप्रसङ्गस्य पूर्वमेवोक्तत्वाद् दृष्टान्तवैषम्याच्च। दग्धपटस्याच्छादनादिकार्यकारित्वासम्भवात्। अस्य तु पूर्ववत्सर्वकार्यकारित्वस्य प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धत्वात्। न चान्यदृष्ट्यैव तस्य कार्यकारित्वमिति वाच्यम्। तर्हि द्वैतस्य सत्त्वं तव श्रीमुखेनैव सिद्धमद्वैतभङ्गातच्छास्त्रप्रमाणशून्यत्वाच्च। किञ्च का वाऽविद्यानिवृत्तिः? आत्मस्वरूपैव? तदन्या वा? नाद्यस्तस्य पूर्वमेव सिद्धत्वेन ज्ञानस्य वैयर्थ्य प्रसङ्गात्। द्वितीये, सती वा? असती वा? उभयात्मिका वा? अनिर्वाच्या वा? नाद्या, अद्वैतभङ्गात्। न द्वितीया, ज्ञानसाध्यत्वायोगात्। निवर्त्त्याभावान्निवर्त्तकस्य ज्ञानस्य दिवसे दीपस्येवान्धकाराभावाद्वैयर्थ्यमेव। नापि तृतीया, इतरेतरविरोधात्। नापि चरमा, अनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानकत्वनियमेन मुक्तावपि तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेर्ज्ञाननिवर्त्त्यत्वापत्तेश्च। नच प्रकारचतुष्टयोत्तीर्णा पञ्चमप्रकारेत्यानन्दबोधोक्तेरिति

वाच्यम्। प्रमाणशून्यत्वात्। तस्माज्जीवन्मुक्तेरिति परिभाषामात्रैव जन्मान्धस्य कमल-नयनसमाख्यावद् दरिद्रस्य लक्ष्मीनिध्यादिसमाख्यावच्चोपहासमात्रत्वात्प्रारब्धेन कर्मणा निवद्धचमानानां तत्कार्यभूतकाममात्सर्यादिवह्निप्रज्वलतां सतां मुक्ता वयमित्यज्ञ-जनवञ्चकतामात्रत्वाच्च। ननु "तस्य तावदेव चिरमि" ति श्रुतिसिद्धत्वाज्जीवन्मुक्तेः कथमप्रामाण्यमिति चेत्? गतत्रपाणां न किमप्यशोभनं, श्रुतौ "यावन्न विमोक्ष्य" इतिमोक्षाभावं "चिरमि" ति कालव्यवधानं "सम्पत्स्य" इति भविष्यन्निर्देशञ्च कण्ठर-वेणोच्चार्य्यमाणमपश्यतां यथाकामं प्रजल्पतां किमप्याश्चर्यं नास्तीति भावः।।१२।।

यदि कहें कि दग्धपट न्याय से मूला अविद्या की ही अनुवृत्ति होती है तो यह भी नहीं कह सकते, यहाँ अनिवृत्ति प्रसङ्ग पूर्व में कह दिया गया है। दूसरी बात दृष्टान्त भी विषम है। दग्ध पट में आच्छादन आदि कार्यकारित्व असम्भव है। इसमें तो पूर्ववत् सकल कार्यकारित्व प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है। यदि कहें कि इसमें अन्यदृष्टि से ही कार्यकारित्व है तो ऐसा भी नहीं कह सकते, तब तो द्वैत की सत्ता आपके श्रीमुख से ही सिद्ध हो जाती है और अद्वैत भङ्ग होता है तथा यह शास्त्र प्रमाण शून्य भी है। दूसरी बात अविद्यानिवृत्ति क्या पदार्थ है? आत्मस्वरूप ही है या उससे अन्य? पहला पक्ष नहीं कह सकते? आत्मस्वरूप तो पूर्व में ही सिद्ध है फिर तो ज्ञान का वैयर्थ्य हो जायेगा। द्वितीय पक्ष में वह सत् या असत् अथवा उभयात्मक किं वा अनिर्वचनीय है। पहला पक्ष नहीं कह सकते, उसमें अद्वैत भङ्ग होता है। दूसरा पक्ष नहीं कह सकते, तब तो वह ज्ञानसाध्य नहीं होगा, निवर्त्य ही जब कोई नहीं है तब निवर्त्तक ज्ञान का तो दिन में अन्धकार का अभाव होने से दीप की तरह वैयर्थ्य होगा। तीसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर विरोध है। चरम पक्ष भी सम्भव नहीं, कारण अनिर्वचनीय सादि पदार्थ के अज्ञानोपादानक होने का नियम होने से मुक्ति अवस्था में भी उसके उपादान अज्ञान की अनुवृत्ति की आपत्ति होगी तथा ज्ञान निवृत्ति की आपत्ति होगी। यदि कहें कि इन चार प्रकारों से अतिरिक्त आनन्दबोध के कथनानुसार पञ्चम प्रकार है तो कहते हैं— नहीं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति की कथा कल्पना मात्र है। जन्मान्ध व्यक्ति को कमलनयन कहने के समान तथा दरिद्र व्यक्ति को लक्ष्मीनिधि कहने के समान उपहास मात्र है। प्रारब्ध कर्म के वशीभूत एवं प्रारब्ध कर्म के ही कार्यभूत काम क्रोध मात्सर्य आदि वह्नि ज्वालाओं से प्रज्वलित जनों का यह कथन कि हम मुक्त हैं, केवल अज्ञजन वञ्चना मात्र है। यदि कहें कि "तस्य तावदेव चिरम्" इस श्रुति के द्वारा सिद्ध जीवन्मुक्ति कैसे अप्रामाणिक हो सकती है? इस पर कहते हैं "गतत्रपाणां न किमप्यशोभनं श्रुतौ" बेशरम लोगों के लिए कुछ भी अशोभनीय नहीं होता। "यावन्न विमोक्ष्ये" इस अंश से मोक्षाभाव 'चिरम्' शब्द से काल व्यवधान तथा 'सम्पत्स्ये' अंश से भविष्यत् काल का निर्देश श्रुति द्वारा स्पष्ट उच्चरित है। इसे न देखकर अपनी इच्छानुसार बकने वालों के लिए कोई भी आश्चर्य नहीं है।।१२।।

ननु जीवन्मुक्त्यनङ्गीकार उपदेष्ट्रभावेन वेदान्तसम्प्रदायोच्छेदापत्तिः। सा च तवाऽप्यनिष्टतमाऽज्ञस्योपदेष्टृत्वाचार्यत्वाद्यसम्भवात्। "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन" इति श्रीमुखोक्तेः। अन्यथा चाऽऽचार्याणामनाप्तत्वप्रसङ्गेन तदुक्तसिद्धान्तस्याप्रामाण्यमावयोः समानं स्यादिति चेन्न। आवयोः सामान्याभावात्। अस्मत्सिद्धान्ते सम्प्रदायप्रवर्त्तकानां नित्यमुक्तश्रीपुरुषोत्तमपरिजनावतारत्वात्

श्रीभगवदवतारवत् "स एकधा भवति त्रिधा भवती"ति श्रुतेरुक्तलक्षणध्रुवास्मृतिमत आचार्यस्योपदेष्टृत्वसम्भवान्नोक्तदोषावकाशः। ननु तव मतेऽविद्यानिवृत्तिः किमात्मिकाऽभिप्रेतेति? चेच्छृणु! अनादिमायासम्बन्धो वा तत्प्रयुक्तानादिकर्मात्मको बन्धो वा वेदान्तसाध्यज्ञानप्रागभावो वाऽविद्याशब्दवाच्यस्तस्य निवृत्तिर्ध्वंसाभावः। सच यावदात्मवृत्त्यनवच्छिन्नैकरसब्रह्मसाक्षात्कारानुभूतिसमानाधिकरणभावरूपानन्दलक्षणो धर्मविशेषस्तदाऽऽश्रयो मुक्त इति यावत्। किञ्चोक्तलक्षणानुभूतेरंशत्रयत्वेऽपि न केनाप्यंशेनानित्यत्वादिकल्पनावकाशः क्रियाजन्यत्वाभावात्। तथा हि क्रिया तावच्चतुर्विधा उत्पादनप्रापणसंस्कारविकारभेदात्। तत्रोत्पादनं नाम प्रागभावप्रतियोगित्वे सत्युत्तरकालीनसत्तायोगो यथा कटादेः प्रापणं च प्राप्तिक्रियायोगो यथा रूपादिसाक्षात्कारः। संस्करणं च वस्तुनि योग्यताविशेषसम्पादनं, तद्द्विविधंगुणाधीनं मलापकर्षणञ्च। तत्र गुणविशेषसम्बन्धरूपं गुणाधानं यथोपनयनादियोगो राज्याद्यभिषेको वा। दोषध्वंसलक्षणं द्वितीयं यथा दर्पणादिमलनिराकरणम्। विक्रिया च परिणामादिमत्त्वं यथा दुग्धादीनां दध्याद्यवस्थापत्तिरिति विवेकः।।१३।।

यदि कहें कि जीवन्मुक्ति स्वीकार न करने पर उपदेष्टा का अभाव हो जाने से वेदान्त सम्प्रदाय का उच्छेद हो जायेगा, वह आपको भी इष्ट नहीं होगा, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञजन में उपदेष्टृत्व एवं आचार्यत्व आदि असम्भव है "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" ऐसा स्वयं भगवान् के श्रीमुख का वचन है। यदि कहें कि अन्यथा (जीवन्मुक्ति न मानने पर) आचार्यों में अनाप्तत्व का प्रसङ्ग होने से उनके द्वारा कथित सिद्धान्त में अप्रामाण्य आ जायेगा, इस प्रकार हम दोनों की समानता होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, हम दोनों में समानता नहीं है। हमारे सिद्धान्त में सम्प्रदाय-प्रवर्तक आचार्य भगवान् श्रीपुरुषोत्तम के नित्यमुक्त परिकर का ही कोई पार्षद भगवत् अवतार की तरह अवतरित होते हैं। "स एकधा भवति त्रिधा भवति" इस श्रुति के अनुसार श्रुत्युक्त ध्रुवास्मृतिमान् आचार्य में उपदेष्टृत्व सम्भव है इसलिए हमारे मत में उक्त दोष का अवकाश नहीं है। यदि कहें कि आपके मत में अविद्या निवृत्ति का क्या स्वरूप मान्य है? तो कहते हैं- सुनिये। अनादि माया का सम्बन्ध अथवा तत्प्रयुक्त अनादिकर्मात्मक बन्ध अथवा वेदान्त साध्यज्ञान का प्रागभाव ही अविद्या शब्द वाच्य पदार्थ है। उसकी निवृत्ति यानी ध्वंसरूप अभाव, वह यावत् आत्मवृत्ति अनवच्छिन्न एकरस ब्रह्म साक्षात्कार अनुभूति समानाधिकरण भावरूप आनन्दस्वरूप लक्षण आत्मा के धर्म विशेष है और इसका आश्रय मुक्त होता है। उक्त अनुभूति लक्षण में आश्रय, विषय तथा स्वरूपात्मक किसी भी अंश में अनित्यत्वादि कल्पना का अवकाश नहीं है क्योंकि क्रियाजन्य नहीं है। क्रिया चार प्रकार की होती है- उत्पादन, प्रापण, संस्कार तथा विकार। इनमें प्रागभाव प्रतियोगी होकर उत्तरकालीन सत्तायोग उत्पादन कहलाता है, जैसे कट आदि में। प्रापण कहते हैं प्राप्ति क्रियायोग को, जैसे रूप आदि का साक्षात्कार। वस्तु में योग्यता विशेष सम्पादन को संस्करण कहते हैं। वह दो तरह का होता है- गुणाधीन तथा मलापकषण। इनमें गुणविशेष सम्बन्ध को गुणाधान कहते हैं जैसे उपनयन आदि का योग अथवा राज्य आदि का अभिषेक। दोष ध्वंस को मलापकर्षण कहते हैं जैसे दर्पण आदि में मल का निराकरण। परिणाम प्राप्ति को विकार कहते हैं, जैसे दुग्ध आदि में दधि आदि अवस्था की प्राप्ति।।१३।।

अंशत्रैविध्यं च आश्रयविषयस्वरूपभेदात्। तत्र न तावदाश्रयतोऽस्याः क्रियाजन्यत्वमाश्रयस्तावत्प्राप्तः क्षेत्रज्ञः। स च नोत्पाद्योऽजत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं कटादिवदित्यनुमानात्। "न जायते म्रियते वा विपश्चिदि" त्यादिश्रुतेः। "न जायते म्रियते वा कदाचिदि" त्यादिस्मृतेश्च। नापि प्राप्तिक्रियायोग्यत्वं स्वरूपत्वेन नित्यप्राप्तत्वात् स्वस्य प्राप्तेःप्रमाणनिरपेक्षत्वाच्च। आत्मा नाप्यो नित्यप्राप्तत्वात् स्वस्वरूपत्वात् प्रमाणान्तरानपेक्षत्वाच्च। यन्नैवं तन्नैवं रूपादिवदित्यनुमानात्। नहि कस्यचित् स्वप्राप्तौ प्रमाणापेक्षा संशयाद्यभावात्। नायं विकरार्हः षड्विकारशून्यस्वरूपत्वात्। जीवात्मा न विकार्य्यः षड्विकारहीनत्वात् यन्नैवं तन्नैवं दध्यादिवदित्यनुमानात्। "अविकार्योऽयमुच्यत" इति श्रीमुखोक्तेश्च। नाप्ययमात्मा संस्कार्यो ज्ञानादिनित्यगुणाश्रयत्वात् गुणाधानानर्हत्वात् राजादिवत्। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वादविनाशी वा अरे! आत्माऽनुच्छित्ति धर्म्मा, ज्ञोऽत एवे" त्यादिशास्त्राच्च नित्यनिर्दोषविज्ञानरूपत्वेन मलापकर्षणानर्हत्वात्। यन्नैवं यन्नैवं दर्पणादिवदित्यनुमानात्। "य आत्माऽपहतपाप्मे" त्यादिश्रुतेश्च। नन्वात्मनोऽनाद्यविद्यायोगोऽभिप्रेतो? न वा? नाद्योऽविद्यासम्पर्के सति तथाभूताया दोषापकर्षणसंस्कार्यताया अवश्यम्भावात्तथात्वे चासंस्कार्यत्वसिद्धान्तभङ्गात्। न द्वितीयो, बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तेः तत्प्रतिपादकश्रुतिव्याकोपाच्च। बन्धमोक्षाभ्युपगम-सिद्धान्तभङ्गाच्चेति चेन्न स्वरूपे पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वदोषसंसर्गाभावेऽपि तद्धर्मभूतज्ञानमनादि-कर्मात्मिकाविद्यया सङ्कुचितं घटस्थदीपप्रभेव। सैव बद्धावस्थेति भण्यते। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानमि" ति श्रीमुखोक्तेः। भूयो भगवत्प्रसादादुक्तलक्षणबन्धनस्य तत्साक्षात्कारेण ध्वंसे सति पूर्वोक्तलक्षणो मोक्ष इति सर्वं समञ्जसमिति भावः।।१४।।

अंश आश्रय, विषय तथा स्वरूप भेद से तीन प्रकार का है। इसमें उक्त लक्षण अनुभूति में आश्रय प्रयुक्त क्रियाजन्यत्व नहीं है, कारण क्षेत्रज्ञ आश्रय प्राप्त है। वह उत्पाद्य नहीं है क्योंकि वह अज है अजन्मा है जो अजन्मा होता है, वह उत्पाद्य नहीं होता। कट आदि व्यतिरेक दृष्टान्त की तरह। श्रुति का वचन है "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" तथा "न जायते म्रियते वा कदाचित्" ऐसा स्मृतिवाक्य भी है। उसमें प्राप्ति क्रियायोग्यत्व भी नहीं है क्योंकि स्वरूप से वह नित्य प्राप्त है और स्वतः प्राप्ति में प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। आत्मा प्राप्य भी नहीं है क्योंकि वह नित्य प्राप्त है स्व स्वरूप है। इसमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है जो ऐसा नहीं है वह वैसा नहीं होता जैसे रूप आदि की तरह ऐसा अनुमान होगा। किसी भी व्यक्ति को स्व प्राप्ति में प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि उसमें संशय आदि का अभाव होता है। यह विकार के योग्य भी नहीं है क्योंकि वह षड् विकारों से शून्य है। जीवात्मा षड् विकारों से हीन होने के कारण विकार्य नहीं है। जो षड् विकारों से हीन नहीं होता वह अविकार्य भी नहीं होता जैसे दधि इत्यादि अनुमान से सिद्ध होता है। "अविकार्योऽयमुच्यते" यह आत्मा अविकारी कहा जाता है ऐसा श्रीमुख का वचन है। यह आत्मा संस्कार्य भी नहीं है क्योंकि वह ज्ञान आदि नित्यगुणों का आश्रय है इसलिए गुणों के आधान का अनर्ह है राजा आदि की तरह। "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, अविनाशी वा अरे! आत्माऽनुच्छित्ति धर्म्मा, ज्ञोऽत एव" इत्यादि शास्त्रवाक्यों द्वारा आत्मा के नित्य, निर्दोष, विज्ञानरूप एवं नित्यज्ञानधर्मी होने से उसके लिए मलापकर्षण की आवश्यकता नहीं है। जो मलापकर्षण का अनर्ह नहीं होता

है, वह नित्य विज्ञान रूप नहीं होता है, जैसे दर्पण आदि। "य आत्माऽपहतपाप्मा" जो आत्मा सब पापों से रहित है, जरा तथा भूख प्यास से रहित है इत्यादि श्रुतिवचन हैं। यदि कहें कि आत्मा में अनादि अविद्या का योग अभिप्रेत है या नहीं? प्रथम पक्ष नहीं कह सकते, कारण अविद्या के सम्पर्क होने पर वस्तु में योग्यता विशेष सम्पादन रूप दोष के अपकर्षण से संस्कार्यता का अवश्यम्भाव होने से असंस्कार्यत्व सिद्धान्त का भङ्ग होगा। दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते। उसमें बन्ध-मोक्ष व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी और उसके प्रतिपादक श्रुति का व्याकोप होगा। बन्ध-मोक्ष स्वीकृत सिद्धान्त का भी भङ्ग होगा तो ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण स्वरूप में पूर्वोक्त प्रकार से सम्पूर्ण दोष के संसर्गाभाव होने पर भी आत्मा के धर्मभूत ज्ञान अनादि कर्मात्मिका अविद्या से सङ्कुचित रहता है जैसे घटान्तर्वर्ती दीप की प्रभा। उसी को बद्धावस्था कहते हैं। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' ऐसा श्रीमुख का वचन है। पुनः भगवत् कृपा से पूर्वोक्त लक्षण बन्धन का भगवत् साक्षात्कार से ध्वंस होने पर पूर्वोक्तलक्षण मोक्ष होता है। इस प्रकार से सब कुछ व्यवस्थित है।।१४।।

तस्मादाश्रयतोऽस्याः क्रियाजन्यत्वासम्भवान्न तत्तार्हत्वमिति सिद्धम्। नापि विषयोऽस्यास्तत्तायोगः। विषयश्चास्याः परब्रह्मभूतो भगवान्वासुदेवः। तस्य क्रियाजन्यत्वाभावे विवाद एव नास्ति, सर्वास्तिकानां सम्मतत्वात्सर्वशास्त्रसिद्धत्वात्। नापि स्वरूपोऽस्यास्तत्तायोगः सम्भावनार्हः तस्याः शाश्वतत्वात्। नहि "विज्ञातुरि" ति श्रुतेरात्मनिष्ठा ब्रह्मविषयकानुभूतिः शाश्वती स्वाभाविकत्वात् क्रियाजन्यत्वाभावाच्चात्मवदित्यनुमानात् "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानि"ति मन्त्राच्च। ननु ब्रह्मानुभूतिः शाश्वती चेत्तर्हि सर्वैरप्युपलभ्यते, नतु तदस्ति, तस्मान्न तथेति योग्यानुपलब्धिप्रमाणबाध्यत्वात्तत्साध यस्याऽन्यथा सर्वमोक्षप्रसङ्गः। किञ्च तस्या मानसक्रियारूपध्यानजन्यत्वेनोक्तहेत्वोरुभयोरप्याभासत्वम्। ब्रह्मानुभूतिर्न शाश्वती मानसव्यापारात्मकध्यानजन्यत्वात् बाह्यक्रियाजन्यस्वर्गादिवदित्यनुमानादिति चेन्न शङ्काविषयासिद्धेः। तथा हि शङ्काविषयोऽत्र नित्यमुक्तो बद्धमुक्तश्च तयोर्नित्यानुभूतिलक्षणमोक्षस्य निर्विवादत्वात्। बद्धस्य त्वत्राविषयत्वात्कथमुक्तशङ्कागन्धावकाशः। अन्यथा ब्रह्मणोऽपि सर्वस्य बाह्याभ्यन्तरव्यापकत्वेन प्राकृतैरनुपलब्धयाऽसत्त्वं किमिति न शङ्क्यते देवानाम् प्रियैः। नच ब्रह्मणः "सत्यं ज्ञानं, सदेव सौम्येदमग्र" इत्यादिशास्त्रसिद्धत्वान्नोक्तशङ्कावकाश इति वाच्यम्। प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात् "सदा पश्यन्ति सूरय" इत्यादि नित्यमुक्तानां "सर्वं पश्यः पश्यती" त्यादिना बन्धमुक्तानां च ब्रह्मानुभूतेस्तथात्वश्रवणात्। यदप्युक्तं मोक्षस्य मानसक्रियात्मकध्यानजन्यत्वेन हेत्वोराभासत्वमिति तत्तुच्छं, ध्यानस्य तत्प्रतिबन्धकनिवर्त्तनेनैवोपक्षीणत्वान्न तज्जन्यत्वं मोक्षस्येति नोक्तदोषः। प्रत्युत ध्यानजन्यत्वादिति त्वत्प्रयुक्तहेतोरेव स्वरूपासिद्धत्वेनाभासत्वसिद्धिः। किञ्च त्वदुक्तहेतोस्त्वत्पक्षेऽपि व्याप्तिर्वक्तुं शक्या दोषसम्यात्। तथाहि त्वत्पक्षे वृत्तेः प्रत्यक्षहेतुत्वेन तस्या अपि मानसव्यापारत्वसाम्येन दोषस्तुल्य एव। तस्मान्न केनाप्यंशेनात्र विकारित्वजन्यत्वादिशङ्कावकाश इति सिद्धम्।।१५।।

इसलिए आश्रय प्रयुक्त (निरुक्त) अनुभूति में क्रियाजन्यत्व सम्भव नहीं होने से अनित्यत्व योग नहीं होगा। न ही विषय प्रयुक्त अनित्यत्व का योग है। इस अनुभूति का विषय परब्रह्म स्वरूप भगवान् वासुदेव हैं। उनके क्रियाजन्यत्व के अभाव में विवाद ही नहीं

है क्योंकि वह सभी आस्तिकों के सम्मत है तथा सर्वशास्त्र सिद्ध है। इस अनुभूति में स्वरूपतः अनित्यत्व के योग की सम्भावना का विषय नहीं है क्योंकि वह शाश्वत है। अनुभूति के शाश्वत् में श्रुति का प्रमाण है 'नहिं विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपः" इत्यादि। अनुमान से भी उक्त अर्थ को सिद्ध करते हैं। आत्मनिष्ठ ब्रह्मविषयक अनुभूति शाश्वत् है क्योंकि वह स्वाभाविक है और क्रियाजन्य नहीं है, आत्मा की तरह तथा "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" ऐसा मन्त्र वचन भी है। अब योग्य की अनुपलब्धि प्रमाण से उक्त अनुमान को दूषित करने के लिए आशंका करते हैं। यदि कहें कि ब्रह्मानुभूति यदि शाश्वत है तब सबको उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं होता, इसलिए ब्रह्मानुभूति शाश्वती नहीं है। इस प्रकार योग्यानुपलब्धि प्रमाण से उसका साध्य बाधित है अन्यथा यदि ब्रह्मानुभूति सर्वोपलभ्य हो तो सबका मोक्ष हो जायेगा। (अब स्वाभाविकत्व एवं क्रियाजन्यत्वाभाव रूप दोनों हेतुओं में आभासत्व दिखाते हैं 'किञ्च' से) इस प्रकार अनुभूति में मानस क्रियारूप ध्यानजन्यत्व होने से उक्त दोनों हेतुओं में आभासत्व है। जैसे ब्रह्मानुभूति शाश्वती नहीं है क्योंकि वह मानस व्यापारात्मक ध्यानजन्य है, जैसे बाह्य क्रियाजन्य स्वर्गादि है, ऐसा अनुमान करने से तो ऐसा नहीं कह सकते। कारण शङ्का का विषय ही सिद्ध नहीं है। जैसे यहाँ शङ्का का विषय नित्यमुक्त एवं बद्धमुक्त जीव है, उन दोनों में नित्य अनुभूति लक्षण मोक्ष निर्विवाद है। बद्ध का यहाँ विषय नहीं है। उसमें उक्त शङ्का की गन्ध का भी अवकाश नहीं है। यदि बद्धजीव के अभिप्राय से शङ्का करें तब तो ब्रह्म को भी सबका बाह्य एवं आभ्यन्तर व्यापक रूप में प्राकृतजनों द्वारा उपलब्धि नहीं होने के कारण उसकी भी असत्ता की मूर्खलोग क्यों नहीं शङ्का करते हैं। यदि कहें कि ब्रह्म तो "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिवचनों से सिद्ध है। उसमें उक्त शङ्का का अवकाश नहीं है तो ऐसा नहीं कह सकते, वह तो प्रकृत में तुल्य है 'सदा पश्यन्ति सूरयः' इत्यादि वचनों द्वारा बद्ध मुक्तों में भी ब्रह्मानुभूति की सत्ता श्रूयमान है। यह जो कहा था, मोक्ष मानसक्रियात्मक ध्यानजन्य होने से दोनों हेतुओं में आभासत्व है, वह तुच्छ है। ध्यान का मोक्ष के प्रतिबन्धक की निवृत्ति से ही उपक्षीण होने से ध्यानजन्यत्व मोक्ष में नहीं है। इसप्रकार उक्त दोष वहाँ नहीं है। बल्कि आप द्वारा प्रयुक्त ध्यानजन्यत्व हेतु में ही स्वरूपासिद्ध होने से आभासत्व की सिद्धि होती है। दूसरी बात आपके हेतु में आपके पक्ष में भी व्याप्ति बोलना होगा, आपके मत में भी दोष की समानता है। जैसे आपके पक्ष में वृत्ति के प्रत्यक्ष हेतु होने के कारण उसके भी मानस व्यापार की समानता होने के कारण दोष बराबर है। इसलिए किसी भी अंश से यहाँ विकारित्व तथा जन्यत्व आदि की शङ्का का अवकाश नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है।।१५।।

ननु ध्यानस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वे ब्रह्मण उपास्यत्वप्रसङ्ग, उपास्यस्येव ध्येयत्वात्तथात्वे च ब्रह्मत्वहानिप्रसक्तिः। "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदं यदिदमुपासत" इत्यादिनोपास्यस्य कण्ठरवेण ब्रह्मत्वनिषेधश्रवणादिति चेन्न, तस्य प्रतीकाद्युपासनाविषयनिषेधपरत्वात्। तथाहि लोकवेदयो "रारोप्यस्यैव निषेधविषयत्वं न प्रमाणसिद्धस्य वस्तुन" इति न्यायस्य सर्वसम्मतत्वात्। यथा नद्यादिजले गङ्गात्वमारोप्य नेयं, गङ्गेति निषेधसम्भवो, न साक्षाद्भागीरथ्यां विष्णुपादोदक्यां तस्याः प्रत्यक्षागम-प्रमाणसिद्धत्वात्। यथा वा पञ्चाग्निविद्यायां पुरुषादावुपासनार्थमग्नित्वमारोपितं रूपकेण

छन्दोगैस्तन्निषेधश्चेदनर्हत्वाभावात्सम्भत्येव। ननु प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धे हवनीयाग्नौ तत्स्पर्शावकाशो वक्तुं शक्य। प्रामाणिकत्वात्। एवं प्रकृतेऽप्यतद्वस्तुषु "नाम ब्रह्मेत्युपासीत, मनो ब्रह्मेत्युपासीते" त्यादिश्रुत्योपासनार्थं नामादिप्रतीकेष्वारोपितब्रह्मत्वस्यैव निषेधान्न सर्वेश्वरे साक्षाद् ब्रह्मणि श्रीवासुदेवे तत्स्पर्शावसरः सर्ववेदान्तसिद्धत्वात्तज्जिज्ञासार्थमेव शारीरिकशास्त्रारम्भाच्च। तच्च नेदं ब्रह्मेतीदङ्कारेणैव द्योत्यमानम् नात्र श्रुतत्यागाश्रुतकल्पनोद्भावनावकाशः। इदङ्कारास्पदसर्वप्रपञ्चात्यन्तविलक्षणं ब्रह्मेति श्रुत्यर्थः। इतरथा प्रमाणसिद्धस्यापि निषेधयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यापि निषेधविषयत्वं शक्यते वक्तुं, तुल्ययोगक्षेमात्।।१६।।

यदि कहें कि ध्यान को ब्रह्म के साक्षात्कार का हेतु मानें तो ब्रह्म में उपास्यत्व का प्रसङ्ग होगा, कारण उपास्य ही ध्येय होता है। ध्येय या उपास्य मानने पर ब्रह्मत्व की हानि का प्रसङ्ग होगा क्योंकि "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युपद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इस मन्त्र में उपास्यतत्त्व में ब्रह्मत्व का मुक्त स्वर से निषेध कहा गया है। तो ऐसा नहीं कह सकते। इस श्रुति द्वारा प्रतीक उपासना के विषय नाम ब्रह्म आदि में ही ब्रह्मत्व का निषेध किया गया है, मुख्य ब्रह्म में नहीं। जैसे कि लोक-वेद में आरोप्य में निषेध-विषयत्व होता है। प्रमाण सिद्ध वस्तु में नहीं, यह सर्वसम्मत न्याय है। जैसे साधारण नदी आदि के जल में गङ्गात्व का आरोप करके उसमें ही 'यह गङ्गा नहीं है' ऐसा निषेध सम्भव है, न कि साक्षात् विष्णुपादोदकस्वरूपा भागीरथी गङ्गा में। कारण साक्षात् गङ्गा में गङ्गात्व प्रत्यक्ष एवं आगम प्रमाण से सिद्ध है अथवा जैसे पञ्चाग्नि विद्या में पुरुष आदि में उपासना के लिए अग्नित्व का रूपक द्वारा सामवेदियों ने आरोप किया है, उसका यदि निषेध किया जाय तो अर्ह होने से सम्भव ही है परन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध हवनीय अग्नि के निषेध के स्पर्श का अवकाश नहीं है क्योंकि वह अग्नि प्रामाणिक है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ब्रह्म भिन्न [1]"नाम ब्रह्मेत्युपासीत, मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि श्रुतियों द्वारा नाम आदि प्रतीकों में आरोपित ब्रह्मत्व का ही प्रतिषेध है। साक्षात् सर्वेश्वर ब्रह्म श्रीवासुदेव के ब्रह्मत्व निषेध के स्पर्श का भी अवसर नहीं है। क्योंकि भगवान् वासुदेव समस्त वेदान्त वाक्यों द्वारा परात्पर परमेश्वर के रूप में सिद्ध हैं और उन्हीं की जिज्ञासा के लिए ही शारीरिक शास्त्र वेदान्तसूत्र ब्रह्मसूत्र का आरम्भ है। मन, वाणी आदि में आरोपित ब्रह्मत्व का निषेध कथन (नेदं ब्रह्म) इस इदङ्कार से ही द्योत्यमान है, इसमें न श्रुतत्याग न अश्रुत कल्पना की उद्भावना का अवकाश है। इदङ्कारास्पद सर्व प्रपञ्च से अत्यन्त विलक्षण ब्रह्म है, ऐसा श्रुति का अर्थ है। अन्यथा यदि प्रमाण सिद्ध वस्तु का भी निषेध योग हो, तब तो तुल्य योग क्षेम होने के कारण ब्रह्म स्वरूप का भी निषेध विषयत्व कहा जा सकता है।।१६।।

ननु ब्रह्मण उपास्यत्वे मोक्षे सशरीत्वप्रसङ्गस्तथात्वे च "नह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतेर्मोक्षेऽपि दुःखानुभवो दुर्वारस्तथात्वे च कथमिव नित्यानवच्छिन्नानन्दापत्तिसम्भव इति चेन्न। उक्तश्रुतेः कर्मजन्यप्राकृतशरीरविषयकत्वात्। अप्राकृतशरीरस्य

---

१. मन को ब्रह्म मान कर उपासना करनी चाहिए- एतावता मन ब्रह्म तो नहीं है, मन में ब्रह्म का आरोप किया जाता है इसलिए 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुति का विषय मन ही है। (सं)

श्रुतिप्रमाणसिद्धत्वात्। "जक्षत् क्रीडन् रममाण" इति श्रुतेः। अन्यथा परमेश्वरेऽपि तत्सम्भावना कल्पनीया पण्डितम्मन्यैर्वैदिकाभिमानिभिः। तथात्वे च सार्वज्ञ्यनित्यत्वानन्दत्वाद्यसम्भवेनेश्वरत्वस्यैव नाशात् "यः सर्वज्ञ एष सर्वेश्वरः सत्यकामो य आत्माऽपहतपाप्मे" त्यादिश्रुतिकदम्बलक्षणं सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलादिमानन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनोऽनादिमान्वशी। कामतन्द्राभयक्रोधकामादिभिरसंयुतो निरवद्यः परः प्राप्तेर्निरधिष्ठोऽक्षरक्रमः। वेदाहं समतीतानि, मत्तः परतरं नान्यत्, अतोऽस्मि लोके वेदे च, सर्वस्य चाहं हृदीत्यादि स्मृतिकदम्ब लक्षणं च तत्प्रतिपादकं सर्वमपि वेदान्तशास्त्रं दत्ततिलाञ्जलि स्यात्। तथात्वे च बाह्यपक्षात्को विशेषः शून्यस्य सत्तायास्तैरप्यङ्गीकृतत्वादित्यलं प्रासङ्गिकविस्तरेण।।७।। इति ब्राह्माधिकरणम्।।३।।

यदि कहें कि ब्रह्म के उपास्य होने पर मोक्ष में सशरीरत्व का प्रसङ्ग होगा और मोक्ष में शरीर मानने पर "नह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इस अन्वयव्यतिरेक श्रुति द्वारा मोक्ष में दुःखानुभव दुर्वार होगा और दुःख रहने पर कैसे नित्य अनवच्छिन्न आनन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते। उक्त श्रुति कर्मजन्य प्राकृत शरीरविषयक ही है। अप्राकृत शरीर श्रुति प्रमाण सिद्ध है। "जक्षत् क्रीडन् रममाणः" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। अन्यथा वैदिकाभिमानी पण्डितम्मन्यों को परमेश्वर में भी सुख-दुःख की सम्भावना की कल्पना करनी पड़ेगी। और ऐसा मानने पर ईश्वर में सार्वज्ञ्य, नित्यत्व तथा आनन्दत्व आदि धर्मों के असम्भव होने से उनमें ईश्वरत्व का ही नाश हो जायेगा। "यः सर्वज्ञ एष सर्वेश्वरः सत्यकामो य आत्माऽपहतपाप्मा" इत्यादि श्रुत्युक्त तथा इसी प्रकार सर्वज्ञः सर्वकृत्सर्वशक्तिज्ञानबलादिमान्, अन्यूनश्चाप्यवृद्धश्च स्वाधीनोऽनादिमान्वशी, कामतन्द्राभय- क्रोधकामादिभिरसंयुतः निरवद्यः, परः प्राप्तेनिरधिष्ठोऽक्षरक्रमः, वेदाहं समतीतानि, मत्तः परतरं नान्यत् इत्यादि स्मृति कदम्ब उक्त लक्षण एवम् तत्प्रतिपादक सम्पूर्ण वेदान्त शास्त्र निरर्थक हो जायेगा। ऐसी स्थिति में नास्तिक मत से इसमें क्या विशेषता रह जायेगी। शून्य की सत्ता को वे नास्तिक बौद्ध भी मानते हैं। इस तरह अब इस प्रसङ्ग पर विस्तार करना व्यर्थ है।।७।।

इस प्रकार ब्राह्माधिकरण पूरा हुआ।।३।।

मुक्तस्य श्रीपुरुषोत्तमानुग्रहादाविर्भूतसत्यसङ्कल्पत्वमुक्तमथ तदेव निरूपयति——

मुक्त आत्मा में श्रीपुरुषोत्तम के अनुग्रह से सत्यसङ्कल्पत्व होता है ऐसा कहा गया है। अब उसी बात का निरूपण करते हैं——

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः।।४।४।८।।

एवं हि मुक्तमधिकृत्य छान्दोग्ये श्रूयते "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा (छा. ८/१२/३) स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती" (छा० ८/२/१) त्यादि। तत्र संशयः, किमत्र मुक्तस्य ज्ञात्यादिप्राप्तिः प्रयत्नान्तरसापेक्षात्सङ्कल्पात्? उत परमात्मन इव सङ्कल्पमात्रादेव भवती? ति तत्र किं युक्तं, निमित्तान्तरसहितादिति लोके राजादीनां सत्यसङ्कल्पतयोक्तानामपि कार्यनिष्पत्तौ

प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनात्। सङ्कल्पादेवेत्यवधारणं तु विज्ञानघन एवेतिवद्भविष्यतीति प्राप्त, आह–'सङ्कल्पादेवेति'। सङ्कल्पमात्रादेवास्य तत्प्राप्तिः। कुतः ? तच्छ्रुतेः। "सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती" (छा० ८/२/१) त्यवधारणेन सङ्कल्पादेव पित्रादिसमुत्थानश्रवणात्। अन्यथाऽवधारणबाधः। न चेह सत्यकामत्वाद्युपन्यासवन्मुक्तस्य प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वे वाक्यान्तरं दृश्यते, येनावधारणस्य विज्ञानघन एवेतिवद्व्यवस्था स्यात्। लोके हि सत्यसङ्कल्पत्वाभावादेव प्रयत्नान्तरापेक्षत्वं, नहि परमात्मव्यतिरिक्तः कश्चित्सत्यसङ्कल्पोऽस्ति। मुक्तस्य तु तत्प्रसादात्तत्साम्यमुपगतस्य तथात्वमस्त्येवेति।।८।।

(हिन्दी-अनुवाद)

मुक्ति के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है "स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा (छा. ८/१२/३) स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८/२/१) अर्थात् भगवत् धाम जाकर मुक्त जीव भगवदीय दिव्य आनन्द का अनुभव प्राप्त कर भगवत् लोक में भगवान् की कृपा से ही सर्वत्र भ्रमण करता है, खाता है, पीता है। नाना प्रकार के भोग का उपभोग करता है। भगवान् के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ायें करता है। इच्छानुसार स्त्रियों के साथ रमण करता है, विविध यानों में विहार करता है, अपने मुक्त परिकरों के साथ हास परिहास करता है, वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके सङ्कल्प मात्र से पितरगण उपस्थित हो जाते हैं अर्थात् वह जब जैसा सङ्कल्प करता है, तदनुसार उसे वह भोग प्राप्त हो जाता है इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या मुक्त आत्मा को ज्ञाति आदि की प्राप्ति प्रयत्नान्तर सापेक्ष सङ्कल्प से होती है अथवा परमात्मा की तरह सङ्कल्प मात्र से ? इस में उचित क्या है ? तो कहते हैं प्रयत्न सापेक्ष सङ्कल्प से। जैसे लोक में राजा आदि के सत्य सङ्कल्प रूप में प्रसिद्ध होने पर भी उन्हें भी कार्य की निष्पत्ति के लिए अन्य प्रयत्न के लिए सापेक्ष देखा गया है। 'सङ्कल्पादेव' में (एव) अवधारण तो विज्ञानघन एव की तरह अयोग व्यवच्छेदार्थक ही है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'सङ्कल्पादेवेति' अर्थात् सङ्कल्प मात्र से ही अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति होती है क्योंकि ऐसा श्रुतिवचन है। "सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" (छा० ८/२/१) यहाँ अवधारण पद से सङ्कल्प मात्र से ही पितृ आदि की समुपस्थिति का वर्णन है। अन्यथा अवधारण सूचक एव शब्दार्थ का बाध होगा। यहाँ मुक्त आत्मा के लिए सत्यकामत्व सत्यसङ्कल्पत्व आदि की तरह प्रयत्नान्तर की अपेक्षा के लिए कोई अन्य वाक्य नहीं दिखाई देता है– जिससे यहाँ के अवधारण का विज्ञानघन एव की तरह व्यवस्था (अयोगव्यवच्छेद) होगी। लोक में सत्यसङ्कल्पत्व के अभाव के कारण ही अन्य प्रयत्नों की अपेक्षा होती है, कारण परमात्मा से भिन्न कोई भी सत्यसङ्कल्प नहीं है परन्तु मुक्त पुरुष में भगवत् कृपा से भगवत् समानता प्राप्त होने पर सत्यसङ्कल्पत्व होता है।।८।।

अत एवानन्याधिपतिः।।४।४।९।।

अत एव परमात्मानुग्रहाविर्भूतसत्यसङ्कल्पादेव हेतोर्मुक्तोऽनन्याधिपतिः, श्रीवासुदेवेतराधिपतिशून्यः। "स स्वराड् भवती" ति श्रुतेः स्वेनान्तरात्मना परब्रह्मणा राजत इति स्वराट्, न चात्राधिपतिसामान्यनिषेधदर्शनात्स्वेच्छे मानाभावाच्च कथमुक्तार्थसिद्धिरिति शङ्क्यम्।

अन्यपदसन्निवेशस्यैव सङ्कोचे दृढप्रमाणत्वादन्यथाऽनधि- पतिरित्येव सूत्रितं स्यादित्यर्थः।।९।।
इति सङ्कल्पाधिकरणम्।।४।।

अथ तस्य दिव्यविग्रहवत्त्वप्रदर्शनायारभ्यते। तत्रैवं विशय्यते, किं मुक्तस्य देहेन्द्रियादियोगो ऽस्ति? उत नास्ति? आहोस्विद्यथासङ्कल्पमस्ति च नास्ति चेति। तत्र प्रथमं बादरिपक्षमाह——

(हिन्दी-अनुवाद)

परमात्मा के अनुग्रह से सत्यसङ्कल्पत्व प्राप्त होने के कारण ही मुक्त अनन्याधिपति हो जाता है, उसका वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई अन्य स्वामी नहीं होता, जैसा कि श्रुतिवचन है "स स्वराड् भवति" अर्थात् वह अपनी अन्तरात्मा परमात्मा के साथ सदा, विराजमान रहता है इसलिए वह स्वराट् कहलाता है। यदि कहें कि अनन्याधिपति शब्द से अधिपति सामान्य का निषेध किया गया है, उसमें सङ्कोच करना कि श्रीवासुदेव से अतिरिक्त उसका कोई अधिपति नहीं होता, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, फिर उक्त अर्थ (वासुदेवेतराधिपतिशून्य) की कैसे सिद्धि होगी? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि सूत्र में अन्यपद का सन्निवेश ही उक्त सङ्कोच में दृढ़ प्रमाण है अन्यथा अनधिपति ऐसा सूत्र किया होता।।९।।

इसप्रकार सङ्कल्पाधिकरण पूरा हुआ।।४।।

अब मुक्त जीव के मुक्त अवस्था में दिव्य विग्रह विशिष्ट स्वरूप प्रदर्शन के लिए नवीन अधिकरण का आरम्भ करते हैं। यहाँ पहले यह शङ्का करते हैं कि क्या मुक्त आत्मा में शरीर इन्द्रिय आदि का योग रहता है या नहीं? अथवा सङ्कल्पानुसार कभी शरीर होता है कभी नहीं? यहाँ पहले बादरि आचार्य का मत कहते हैं——

अभावं बादरिराह ह्येवम्।।४।४।१०।।

मुक्तस्य न सन्ति देहादयोऽन्यथा दुःखादियोगस्याप्यनपहतिप्रसङ्गात्। हि यतो मुक्तस्यैवं शरीराद्यभावं "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशत (छा० ८/१२/१)" इत्यन्वयव्यतिरेकश्रुतिराहेति बादरिराचार्यो मन्यते।।१०।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अर्थात् मुक्त आत्मा के देह आदि नहीं होते अन्यथा देहादि योग मानने पर उसमें सुख-दुःख आदि का योग मानना पड़ेगा इसलिए मुक्त आत्मा में शरीर आदि का अभाव होता है। जिसके लिए प्रमाण है "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छा० ८/१२/१)" अर्थात् शरीर सहित होने पर सुख-दुःख का अभाव नहीं हो सकता, शरीर रहित होने पर ही प्रिय-अप्रिय (सुख-दुःख) का स्पर्श नहीं होता, ऐसा श्रुति कहती है ऐसा बादरि आचार्य मानते हैं।।१०।।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।।४।४।११।।

मुक्तस्य शरीरादिभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कुतः? विकल्पामननात् "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विशंतिरि" (छा० ७/२६/२)ति हि भूमविद्यायां मुक्तस्य विविधः कल्प आम्नायते। नहि विविधशरीरमन्तरैकस्याछेद्यस्याणुपरिमाणस्यात्मनो वैविध्यं सम्भवति। अशरीरत्वश्रुतिस्तु कर्मजन्यशरीराभावपरेत्युक्तं पुरस्तात्।।११।।

अथ स्वमतेन सिद्धान्तमाह——

(हिन्दी-अनुवाद)

मुक्त आत्मा में शरीर इन्द्रिय आदि का सद्भाव जैमिनि आचार्य मानते हैं क्योंकि 'विकल्पामननात्' अर्थात् श्रुति ने इस सम्बन्ध में "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः" (छा० ७/२६/२) इस प्रकार छान्दोग्य की भूमविद्या में मुक्त जीव के शरीर धारण के विषय में नाना प्रकार के विकल्प बताये गये हैं अर्थात् मुक्त एक ही काल में अनेक रूप में दिखाई देता है। बिना अनेक शरीर धारण किये एक अच्छेद्य तथा अणु परिमाण वाले जीवात्मा के विविध रूप कैसे हो सकते हैं। अशरीरत्व श्रुति कर्म जन्य शरीर के अभाव का बोधन करती है। ऐसा पहले कहा गया है।।११।।

अब स्वमत से सिद्धान्त कहते हैं——

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः।।४।४।१२।।

अतः सङ्कल्पादेवेति श्रुतेः "यद्वा मनसैवैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोक" इत्यशरीरस्यैव भोगश्रुतेः "स एकधा भवती" ति सशरीरत्वश्रुतेश्चेत्युभयविध-श्रवणाद्धेतोर्मुक्तस्य शरीरादिभावाभावोभयविधं भगवान्बादरायणो मन्यते। तथात्वे चोभयश्रुतिर्नो विरुद्ध्यते। तत्र दृष्टान्तमाह। 'द्वादशाहवदि'ति। यथा द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति उपैतियजतिभ्यां सङ्कल्पभेदेन द्वादशाहस्य सत्रत्वमहीनत्वं च भवति। तद्वत् शरीरादिमत्त्वं तदभावश्च भगवत्सङ्कल्पाधीनं मुक्तस्येति ज्ञेयम्, तस्य सत्यसङ्कल्पत्वयोगेऽपि शरीरादिसर्जने प्रवृत्त्यभावादित्यर्थः।।१२।।

ननु देहाद्यभावे कथं भोगसिद्धिरिति? चेत्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अतः यानी 'सङ्कल्पादेव' इस श्रुति के अनुसार "यद्वा मनसैवैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके" इस श्रुति के अनुसार बिना शरीर के भी मानसिक सङ्कल्प से ही सब भोग प्राप्त होता है तथा "स एकधा भवति" इस श्रुति के अनुसार सशरीरत्व प्रतिपादन होने से, उभय प्रकार श्रुति होने के कारण मुक्त आत्मा में शरीर का सद्भाव एवं असद्भाव उभयविध स्वरूप भगवान् बादरायण मानते हैं। ऐसा मानने पर दोनों श्रुतियों का विरोध नहीं होता। इसपर

दृष्टान्त कहते हैं 'द्वादशाहवत्' प्रापणीय अतिरात्र पहला दिन है। पृष्ठ्य ६ दिन का होता है, तीन दिन का छान्दोग्य, अविवाक्य एक दिन का होता है, उदपानीय अतिरात्र चरम दिन होता है, इन दो विधिवाक्यों द्वारा सत्ररूप एवं अहीन होता है। अहीन में एक दो अथवा बहुत हीन में यज्ञ न करे इस प्रकार कर्तृगत संख्या का नियम नहीं है। तथा 'न दीक्षिता याजयेरन्' द्वारा याजकों में दीक्षितत्व का प्रतिषेध है। इस प्रकार ये धर्म व्यवस्थित है। "गृहपति सप्तदशाश्चतुर्विंशतिपरकाः स्वयमृत्विजा ब्राह्मणाः सत्रमुपेयुः" इस वचन द्वारा सत्रह संख्या में अन्यूनत्व का नियम है। यहाँ दीक्षितों के लिए ही परस्पर याजकत्व इत्यादि धर्म व्यवस्थित है। इस तरह जैसे द्वादशाह का द्विरूपत्व है। इसी प्रकार मुक्त आत्मा में भी सदेहत्व एवं विदेहत्व प्रामाणिक है। यह भगवत् सङ्कल्पाधीन मुक्तात्मा में होता है ऐसा जानना चाहिए।

यदि कहें कि शरीर आदि के अभाव में भोग की सिद्धि कैसे होगी, इस पर कहते हैं——

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।।४।४।१३।।

स्वसृष्टतन्वाद्युपकरणाभावे भगवत्सृष्टैरुपकरणैरेव मुक्तस्य सर्वभोगोपपत्तेः सन्ध्यवत्स्वप्नवत्। यथास्वप्ने पूर्वोक्तरीत्या परमेश्वरसृष्टैः शरीरेन्द्रियैबर्द्धजीवो भुङ्क्ते, तद्वन्मुक्तो अपीत्यर्थः। नच स्वप्ने जीव एव स्रष्टेति वाच्यम् पूर्वमेव विस्तरशो निरस्तत्वात्। तस्माल्लीलाप्रवृत्तपरमेश्वरसृष्टैरेव पितृलोकादिभिर्मुक्तस्यापि लीलारसास्वादः सूपपन्न इत्यर्थः।।१३।।

(हिन्दी-अनुवाद)

अपने सङ्कल्प द्वारा सर्जित तनु आदि उपकरणों के अभाव में भगवान् द्वारा सृष्ट उपकरणों (शरीर इन्द्रियादि) द्वारा ही मुक्त आत्मा में स्वप्न की तरह समस्त भोगों की उपपत्ति होती है। जैसे स्वप्न में बद्ध जीव परमेश्वर द्वारा रचित शरीर इन्द्रियों आदि द्वारा भोगों को भोगता है, उसी प्रकार मुक्त भी सत्यसङ्कल्प होने पर भी स्वयं द्वारा शरीर इन्द्रिय आदि की सृष्टि न करने पर भगवत् सृष्ट शरीर आदि द्वारा भोग सकता है। यदि कहें कि स्वप्न में जीव ही स्रष्टा है तो यह नहीं कह सकते, इसका तो पूर्व में 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' यहाँ से लेकर 'अथ वेशान्तान पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्त्ता' (बृ० ४/३/१०) इत्यादि मन्त्रों द्वारा स्वप्न में ईश्वर द्वारा सृष्ट उपकरणों में जीव भोग करता है, इत्यादि वचनों द्वारा जीव में स्रष्टृत्व का खण्डन किया गया है। इसलिए लीला में प्रवृत्त परमेश्वर द्वारा ही रचित पितृलोक आदि के द्वारा मुक्त आत्मा में लीला रस का आस्वाद उपपन्न होता है।।१३।।

भावे जाग्रद्वत् ।।४।४।१४।।

स्वसृष्टतन्वादिपितृलोकादिभावे जाग्रत्पुरुषभोगवन्मुक्तस्य लीलारसभोगोपपत्तिः। यथा परमेश्वरो लीलारसार्थं वसुदेवादिपितृलोकं सृजते। सृष्ट्वा च तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं भुङ्क्ते। तथा मुक्तानामपि पितृलोकादिकं स्वलीलार्थं स्वयमेव सृष्ट्वा,

स्वसृष्टैकदेशमुक्तपितृलोकादिकं तान्भोजयति। कदाचिच्च मुक्ता अपि परमात्मप्रसादेनाविर्भूतसत्यसङ्कल्पवत्तया परमात्मलीलान्तर्गतस्वपितृलोकादिकं स्वयमेव सृजन्तीति सर्वमनवद्यम्।।१४।।

अथ मुक्तात्मनोऽणुपरिमाणत्वपि धर्मभूतज्ञानेनानेकशरीरव्यापकतामाह——

(हिन्दी-अनुवाद)

अपने द्वारा विरचित तनु आदि तथा पितृलोक आदि के होने पर जाग्रत्कालीन पुरुषभोग की तरह मुक्त पुरुष के लीला रस के भोग की उपपत्ति होती है। जैसे परमेश्वर लीला रस अनुभव के लिए वसुदेव आदि पितृलोक (माता-पिता की) रचना करते हैं और उन माता-पिताओं द्वारा मनुष्य धर्म लीला रस का भोग करते हैं, उसी प्रकार मुक्त पुरुषों के भी पितृलोक आदि की रचना अपनी लीला के लिए करके, अपने द्वारा विरचित सृष्टि के एकदेश स्वरूप पितृलोक आदि का उन्हें भोग कराते हैं और कदाचित् (कभी) मुक्त पुरुष स्वयं ही परमात्मा की कृपा से प्राप्त सत्यसङ्कल्पता की सामर्थ्य से परमात्मा की लीला के अन्तर्गत स्व पितृलोक आदि की सृष्टि कर लेता है। इसप्रकार सब सम्भव है।।१४।।

अब मुक्तात्मा की अणु परिमाण होने पर भी धर्मभूत ज्ञान द्वारा अनेक शरीर व्यापकता को कहते हैं——

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति।।४।४।१५।।

यथा प्रदीप एक एवैकस्मिन्प्रदेशे स्थितोऽपि स्वप्रभयानेकदेशेष्वाविशति। तथाऽसौ स्वरूपेणाणुत्वेऽपि धर्मभूतचैतन्येनानेकशरीरेषु व्याप्य, तद्गतभोगादिकमनुभवतीति। तथाहि दर्शयति श्रुतिः। "स चानन्त्याय कल्पत" इति ज्ञानसङ्कोचासङ्कोचाभ्यां बद्धमुक्तयोर्विशेषो बोध्यः। तत्र बद्धस्य भोगे तत्तत्कर्मैव नियामकं, मुक्तस्य तु परमात्मसङ्कल्पायत्तस्वेच्छैवेति भावः।।१५।।

ननु "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि" ति श्रुत्या ज्ञानसामान्यनिषेधात्कथं मुक्तस्य सर्वज्ञत्वमिति चेत्तत्राह——

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे प्रदीप एक होने पर भी एक देश में स्थित होने पर भी अपनी धर्मभूत प्रभा से अनेक देशों में प्रवेश करता है, इसी प्रकार यह मुक्त आत्मा स्वरूपतः अणु होने पर भी धर्म स्वरूप चैतन्य (ज्ञान) से अनेक शरीरों में व्याप्त होकर तद्गत भोग आदि का अनुभव करता है। जैसा कि श्रुति बताती है "स चानन्त्याय कल्पते" इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान के सङ्कोच एवं असङ्कोच (विस्तार) से बद्ध एवं मुक्त में भेद जानना चाहिए। बद्ध पुरुष के भोग में जीव का तत्-तत् कर्म ही नियामक है परन्तु मुक्त पुरुष का भोग उसकी इच्छा के अधीन है और उसकी इच्छा भगवत् सङ्कल्पाधीन होती है।।१५।।

यदि कहें कि "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्" अर्थात्

परमात्मा के साथ सम्मिलित होने पर जीव को न कोई बाह्य एवं आन्तर्ज्ञान होता है। इस श्रुति के द्वारा मुक्ति दशा में ज्ञान सामान्य का निषेध होने से मुक्त आत्मा में सर्वज्ञत्व कैसे सम्भव है। इस पर कहते हैं—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि।।४।४।१६।।

न हीदं वाक्यं मुक्तविषयं, यत्स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षं तत्। तत्र स्वाप्ययः सुषुप्तिः "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" (छा० ६/८/१) इति श्रुतेः सम्पत्तिश्चोत्क्रान्तिर्मरणमिति यावत्। "वाङ्मनसि सम्पद्यत" इत्यारभ्य "तेजः परस्यां देवतायामि" ति श्रवणात्। हि यतः सुषुप्तिमरणयोर्जीवस्य विशेषज्ञानाभाववत्त्वं, मोक्षदशायां सर्वज्ञत्वञ्च, श्रुत्यैवाविष्कृतम्। तथाहि छान्दोग्ये "नाह खल्वयं सम्प्राप्त्यात्मानं जानात्ययमहमस्तीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामी" ति सुषुप्तौ विशेषज्ञानाभावं निरूप्य तत्रैव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोक" इति सर्वज्ञत्वाह "सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" इति श्रुत्यन्तरात्। मरणे च "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यती" (बृ० २/४/१४) ति विशेषज्ञानाभावमाह। विनश्यति न पश्यतीत्यर्थ एवञ्च "प्राज्ञेनात्मने"ति श्रुतेः सुषुप्तिमरणयोरन्यतरविषयकत्वान्न मुक्तपरत्वमिति मुक्तस्य ज्ञानानन्त्यमुपपन्नम्।।१६।। इति अभावाधिकरणम।।५।।

(हिन्दी-अनुवाद)

यह वाक्य मुक्ति विषयक नहीं है किन्तु सुषुप्ति मरण अन्यन्तर अवस्था का बोधक है। स्वाप्यय माने सुषुप्ति "स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" (छा० ६/८/१) अपनी आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है, इसलिए उस समय उसे स्वपिति कहते हैं। सम्पत्ति का अर्थ है उत्क्रान्ति अर्थात् मरण। "वाङ्मनसि सम्पद्यते" से लेकर "तेजः परस्यां देवतायाम्" तक मरण कालीन दशा का वर्णन है। क्योंकि सुषुप्ति एवं मरण में जीव के विशेष ज्ञान का अभाव और मोक्ष दशा में सर्वज्ञत्व दोनों बातें श्रुति ने ही बतायी हैं, जैसा कि छान्दोग्य श्रुति का वचन है "नाह खल्वयं सम्प्राप्त्यात्मानं जानात्ययमहमस्तीति न एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" इस प्रकार सुषुप्ति में विशेष ज्ञानाभाव का निरूपण कर उसी छान्दोग्य उपनिषद् में मुक्त पुरुष के विषय में कहा कि "स वा एष एतेन दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके" इस श्रुति के द्वारा मुक्त पुरुष को सर्वज्ञ कहा है- "सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश" अर्थात् परमात्मदर्शी पुरुष सब कुछ देखता है, सब कामनाओं को प्राप्त करता है, इस वचन द्वारा भी मुक्त को सर्वज्ञ कहा है और मरण काल में "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" (बृ० २/४/१४) जीव में विशेष ज्ञान का अभाव बताया है। विनश्यति का अर्थ नहीं देखता है। इस प्रकार 'प्राज्ञेनात्मना' यह श्रुति सुषुप्ति एवं मरणकालीन दशा के बोधक होने से मुक्तिपरक नहीं है, इसलिए मुक्त पुरुष में अनन्त ज्ञान सर्वथा उपपन्न है। श्रुतिशत द्वारा सिद्ध है।।१६।।

इसप्रकार से अभावाधिकरण पूरा हुआ।।५।।

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।।४।४।१७।।

मुक्तैश्वर्यं किं जगत्सृष्ट्यादिव्यापाररूपम् ? उत परमात्मस्वरूपगुणाद्यनुभवरूपमिति ? संशये, किं तावद्युक्तं ? साम्यश्रुतेर्जगत्सुष्ट्यादिव्यापाररूपमिति प्राप्त, आह। जगदिति। मुक्तस्यैश्वर्यं जगत्सृष्टिस्थितिनियमनरूपव्यापारेतरं भवितुमर्हति। कुतः ? प्रकरणात्। सृष्ट्यादिनिर्णयेषु सर्वत्र परस्यैव प्रकृतत्वात्। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय, यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदि" त्यादिश्रुतेः।।१७।।

किञ्च तत्र तत्र जगद्व्यापारप्रकरणे मुक्तस्यासन्निहितत्वादपि न तस्य सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वमिति——

(हिन्दी–अनुवाद)

अब विचारणीय विषय है कि मुक्त का ऐश्वर्य क्या जगत् सृष्ट्यादि व्यापार रूप है अर्थात् उसमें जगद् रचना की सामर्थ्य हो जाती है अथवा उसमें यथाकाम परमात्मा के स्वरूप, गुण, लीला आदि का अनुभवरूप है ? ऐसा संशय होता है। इसमें युक्त क्या है तो कहते हैं कि जब साम्य श्रुति है; जीव मुक्तदशा में ईश्वर के समान हो जाता है। जब ऐसा श्रुति का कथन है तब तो जगत् की सृष्टि आदि व्यापार भी हो सकता है, ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं 'जगद् व्यापारवर्जम्' अर्थात् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा नियन्त्रण रूप व्यापार के अतिरिक्त समस्त ऐश्वर्य उसे प्राप्त होता है क्योंकि 'प्रकरणात्' अर्थात् सृष्टि आदि के निर्णयों में सर्वत्र परमात्मा की ही चर्चा है, उसी को प्रकृत करके सृष्टि आदि का वर्णन किया गया है। जैसा कि श्रुति वचन है "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यादि।।१७।।

दूसरी बात जगत् सृष्टि प्रकरण में मुक्त आत्मा का सन्निधान नहीं है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए भी मुक्त पुरुष में सृष्टि आदि का कर्तृत्व नहीं सम्भव है—

प्रत्यक्षोपदेशान्नेति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः।।४।४।१८।।

प्रत्यक्षं श्रुतिः। ननु "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती" (छा० ७/२५/१) ति छान्दोग्य, "आप्नोति स्वाराज्यं (तै० १/६/२), सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ती" (तै० १/५/३) ति तैत्तिरीयके च मुक्तस्य प्रत्यक्षेण श्रुत्या जगद्व्यापारोपदेशात्तद्वर्जनं न युक्तमिति चेतन्न। कुतः ? आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः। आधिकारिका लोकनियमनाधिकारे नियुक्ता हिरण्यगर्भादयस्तेषां मण्डलानि लोकास्तत्स्थभोगा मुक्तानुभवविषया इति तया श्रुत्योच्यते।।१८।।

एवं तर्हि बद्धमुक्तयोः को वा विशेष इति चेत्तत्राह—

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रत्यक्ष यानी श्रुति। यदि कहें कि "स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७/२५/१) वह सर्व समर्थ हो जाता है। वह सभी लोकों में स्वच्छन्द विचरण शील होता है। "आप्नोति स्वाराज्यं (तै० १/६/२)" वह स्वराज्य को प्राप्त करता है। "सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" (तै० १/५/३) सब देवता उसे उपहार भेंट करते हैं इत्यादि श्रुतियों द्वारा प्रत्यक्ष मुक्त आत्माओं के लिए जगद् व्यापार का उपदेश किया गया है, फिर उसका वर्जन उचित नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि 'आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः' आधिकारिक अर्थात् लोकों के नियन्त्रण में अधिकारी रूप में नियुक्त हिरण्यगर्भ आदि देवता उनके मण्डल लोकों में प्राप्त होने वाले भोगों का मुक्तजन अनुभव करते हैं, यही बात उक्त श्रुति द्वारा कही जाती है।।१८।।

यदि कहें कि फिर बद्ध एवं मुक्त में क्या विशेषता है। इस पर कहते हैं—

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थितिमाह।।४।४।१९।।

चशब्दोऽवधारणे। विकारे जन्मादिषट्केन वर्त्तत इति विकारावर्त्ति जन्मादिविकारशून्यं निखिलदोषास्पृष्टमाहात्म्यं निरतिशयकल्याणगुणाब्धिसविभूतिकं ब्रह्मैव मुक्तो अनुभवति। तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन हिरण्यगर्भादिभोगानुभवोऽप्यविरुद्धस्तदाश्रितत्वात्सर्वस्येति भावः। तथाहि मुक्तस्थितिमाह श्रुतिः। "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति, रसो वै स, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमि" त्याद्याः सविभूतिकब्रह्मानुभवितृत्वेनैव सर्वानुभवितृत्वान्मुक्तस्य "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवती" (छा० ७/२५/२) त्याद्युच्यते।।१९।।

(हिन्दी-अनुवाद)

च शब्द यहाँ अवधारण में हैं जायते वर्धते इत्यादि जन्म आदि षड् विकारों के साथ रहने वाले (जन्म आदि को) विकारावर्ति कहते हैं, उससे शून्य अर्थात् निखिल दोषास्पृष्ट माहात्म्य निरतिशय कल्याण महोदधि सविभूतिक ब्रह्म का भी मुक्तजन अनुभव करते हैं। उस विभूति के अन्तर्गत हिरण्यगर्भादि लोकों के भोगों का अनुभव भी विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे सभी के आश्रयरूप होने से। जैसा कि मुक्त आत्मा की स्थिति के विषय में श्रुति कहती है "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति, रसो वै स, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, येनाश्रुतं श्रुत भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" इत्यादि अर्थात् जब जीवात्मा इस चर्मचक्षु द्वारा अदृश्य सर्वाधार परमात्मा में अव्यभिचारिणी भक्ति को प्राप्त करता है, तब अकुतो भय परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है अथवा सर्वथा भय रहित हो जाता है। वह परमात्मा रस रूप है, उस रस स्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर ही जीव परमानन्दित होता है। उस परमात्मा को जान लेने पर अश्रुत विषय भी श्रुत हो जाता है, अज्ञात ज्ञात हो जाता है इत्यादि श्रुतियाँ सविभूतिक ब्रह्म का अनुभव करने के कारण ही सम्पूर्ण वस्तुओं के अनुभवकर्ता होने से मुक्त आत्मा के लिए "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" (छा० ७/२५/२) वह सभी लोकों में स्वेच्छानुसार भ्रमण करने में समर्थ होता है, ऐसा कहा जाता है।।१९।।

दर्शतयश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।।४।४।२०।।

परस्यैव जगत्कारणत्वसर्वनियन्तृत्वादिव्यापारस्वातन्त्र्यं, न मुक्तस्य। तस्य तु परब्रह्मानुभवितृत्वमेवेत्येवं श्रुतिस्मृती दर्शयतः। "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी" त्यादिश्रुतिः "अहं सर्वस्य प्रभवः, (गीता १०/८) मत्तः परतरं नान्यदि" (गीता ७/७) त्यादिका स्मृतिः।।२०।।

इतश्च जगद्व्यापारेतरं मुक्तैश्वर्यमित्याह——

(हिन्दी-अनुवाद)

केवल परमात्मा को ही जगत्कारणत्व तथा सर्वनियन्तृत्व आदि व्यापारों में स्वातन्त्र्य है, मुक्तात्मा को नहीं। उसको तो केवल परब्रह्म का अनुभव ही प्राप्त होता है। सुख में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। श्रुति एवं स्मृति ऐसा ही बताती हैं "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" वह परमात्मा सबका ईश्वर है, वह सभी भूतों का अधिपति है, सब भूतों का पालक है, वह सम्पूर्ण प्राणियों, सभी देवी देवताओं, ग्रहों, नक्षत्रों, सूर्य-चन्द्रमा, पृथिवी, सागर आदि ग्रहों को समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए मर्यादा में रखने के लिए सेतुस्वरूप है इत्यादि श्रुतियाँ तथा "अहं सर्वस्य प्रभवः (गीता १०/८), मत्तः परतरं नान्यत्" (गीता ७/७) इत्यादि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं।।२०।।

जगद्व्यापार से इतर मुक्त का ऐश्वर्य होता है, यही बात कहते हैं——

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ।।४।४।२१।।

यथा सर्वज्ञत्वसर्वशक्तिमत्त्वादिसद्गुणाश्रयस्य परमात्मनः स्वविभूत्यनुभवानन्द-रूपभोगः सदैकरसस्तथा तन्मात्रभोगः सविभूतिब्रह्मयाथात्म्यानुभवितॄणां मुक्तानामपि समः। नतु स्वरूपेण ते ब्रह्मसमास्तेषामणुपरिमाणकत्वादतो भोगमात्रसाम्याल्लिङ्गात् जगद्व्यापारवर्ज्जं मुक्तानामैश्वर्यमिति निश्चीयते। "ब्रह्मविदाप्नोति परमि" त्युपक्रम्य "सोऽश्नुते सर्वन्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते" ति "परमं साम्यमुपैती" त्यादिश्रुतिभ्यो मात्रपदान्मुक्तगम्यैश्वर्यस्य स्वतन्त्रताव्यावृत्तिरपि बोध्यते।।२१।।

तत्र पुनरावृत्तिशङ्कां वारयति——

(हिन्दी-अनुवाद)

जैसे सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व आदि सद्गुणों के आश्रय परमात्मा को निज विभूति के अनुभव रुप आनन्द स्वरूप भोग होता है और वह भोग सदा एक रस होता है, उसी प्रकार तन्मात्र का भोग सविभूति ब्रह्म के याथात्म्य अनुभव करने वाले मुक्तों को भी समान रूप से प्राप्त होता है। न कि स्वरूप से वे ब्रह्म के समान हो जाते हैं। कारण वे तो अणुपरिमाण वाले होते हैं, इसलिए केवल भोग में समानता होती है। अतः जगद् व्यापार को छोड़कर मुक्त

आत्माओं का ऐश्वर्य होता है, यह निश्चित होता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यहाँ से उपक्रम करके "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" मुक्त जीव ब्रह्म के साथ सब भोगों को भोगता है। "परमं साम्यमुपैति" वह परम साम्य को प्राप्त करता है इत्यादि श्रुतियों द्वारा भोग में समानता ज्ञात होती है ऐश्वर्य में नहीं। सूत्र में मात्र पद से मुक्त प्राय ऐश्वर्य में स्वतन्त्रता की व्यावृत्ति भी बताई जाती है।।२१।।

अब मुक्त आत्मा की पुनरावृत्ति शंका का वारण करते हैं—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।।४।४।२२।।

एवं परब्रह्मोपासनया विमुक्तनिःशेषाविद्यार्गलस्य तल्लोकं गतस्य तद्भावमापन्नस्य न तस्मात्पुनरावृत्तिर्भवति। कुतः? शब्दात्। "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नच पुनरावर्त्तत एतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तते ऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति इह न पुनरावृत्तिरि" त्यादिपरविद्याप्रकरणगतश्रुतिभ्यो "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति चे" त्यादिस्मृतिभ्यश्च। अयम्भावो यथा परमात्मा सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वसद्गुणसमुद्रः सर्वनियन्तेति शब्दादगम्यते, तथा निवृत्तसर्वाविद्यस्य परब्रह्मभावापन्नस्य मुक्तस्यापि न पुनरावृत्तिरिति शब्दादेवावगम्यते। परमात्माऽपि तादृशं स्वातिप्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा न कादाचिदपि स्वस्मात्स्वलोकाच्च वियोक्तुमिच्छतीति स्वयमेवाह "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय" (गीता ७/१७) इत्यादिना। सूत्रावृत्तिः शास्त्रपरिसमाप्तिद्योतनार्थाः।।२२।। इति जगद्व्यापारवर्ज्जाधिकरणम्।

**भगवद्भावसम्पत्तिं मुक्तिं श्रुतिमुखेरिताम्।
फलं वेदान्तशास्त्रस्य प्रावोचब्दादरायणः।।१।।
सर्ववेदशिरोगीतस्तर्कातीतश्च यो हरिः।
ध्यानेन मुक्तिदः कृष्णस्तं मुकुन्दं गुरुं श्रये।।२।।**

इति श्रीसनकसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्य श्रीश्रीनिम्बार्कमतानुयायि श्रीमन्मुकुन्दचरणारुणपद्ममकरन्दभृङ्गेणजगद्विजयि श्रीद्दश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टेन सङ्गृहीतायां श्रीवेदान्तकौस्तुभप्रभाख्यायां ब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायचतुर्थपादविवरणम्।।४।।

(हिन्दी-अनुवाद)

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा की उपासना से अशेषरूप से अविद्या रूपी अर्गला (सांकड़) से रहित ब्रह्मलोक प्राप्त भगवद्भावापन्न मुक्त आत्मा की उस ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति (पूर्वजन्म) नहीं होती क्योंकि 'शब्दात्' ऐसा श्रुतिवचन है "एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नच पुनरावर्त्तत एतदमृतम–

भयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्ततेऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति इह न पुनरावृत्तिः" इत्यादि परविद्या प्रकरण की श्रुतियों द्वारा तथा "मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते" मुझको प्राप्त कर जीव पुनः इस दुःखालय संसार में नहीं आता। मुझे प्राप्त करने के बाद पूनर्जन्म नहीं होता। "तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः। इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च" इस दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के बाद जीव मेरे साधर्म्य को प्राप्त होता है, फिर तो वह न संसार में पुनः जन्म ही लेता है, न प्रलय में दुःख को ही प्राप्त करता है इत्यादि स्मृतियों से भी मुक्त आत्मा के पुनर्जन्म का निषेध होता है। भाव यह है- जैसे परमात्मा सर्वज्ञ हैं, सर्वकारण हैं, सर्वगुणसमुद्र हैं तथा सर्वनियन्ता हैं, यह श्रुतियों द्वारा जाना जाता है, उसी प्रकार सकल अविद्यानिवृत्त, परब्रह्मभावापन्न मुक्त आत्मा की भी पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती, यह भी श्रुतिवचन से ही जाना जाता है। परमात्मा भी उस अपने परम प्रिय ज्ञानी भक्त को पाकर कभी भी उसे अपने लोक से हटाना नहीं चाहते, जैसा कि उन्होंने स्वयं गीता में कहा है "प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः मैं ज्ञानी को बहुत प्यारा लगता हूँ और ज्ञानी भक्त मुझे बहुत प्यारा लगता है इत्यादि। यहाँ पर सूत्र की आवृत्ति शास्त्र की समाप्ति को द्योतन करने के लिए की गई है।।२२।।

इसप्रकार जगद् व्यापारवर्ज अधिकरण पूरा हुआ।।६।।

अनेन ह्ययनुवादेन यत्किञ्चित् पुण्यमर्जितम्।
माता पित्रोः सुभद्राय मया कृष्णाय दी यते।।

—— वैद्यनाथ झा

इसप्रकार अनादिवैदिक सनकसम्प्रदायप्रवर्तकाचार्य श्रीनिम्बार्कमतानुयायि श्रीमन्मुकुन्द चरणारुणपद्मकरन्दभृङ्ग श्रीकेशव काश्मीरि भट्टाचार्य द्वारा विरचित वेदान्त कौस्तुभप्रभा वृत्ति के चतुर्थ अध्याय चतुर्थपाद का मिथिला मही-मण्डलान्तर्गत घोघरडीहा ग्राम निवासी स्वर्गीय पण्डित रमानाथ झा शर्म तनूजन्मा सुभद्रामातृगर्भज पं० वैद्यनाथ झा द्वारा विरचित हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

।।श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु।।

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा सानुवाद के अतिरिक्त अन्य लेखों के परिशिष्ट भाग की अनुक्रमणिका

जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य प्रणीत श्रीयमुनास्तोत्र का हिन्दी-अनुवाद

सुश्यामाम्भोजनेत्रां सघनघनरुचिं रत्नमञ्जीरकूजत्
काञ्चीकेयूरयुक्तां कनकमणिमये बिभ्रतीं कुण्डले द्वे।
भ्राजच्छ्रीनीलवस्त्रां स्फुरदमललसद् बालभारां मनोज्ञां
ध्याये मार्त्तदण्डपुत्रीं तनुकिरणचयोद्दीप्तदीपाभिरामाम्।।१।।

कमल के समान जिनके नेत्र हैं, नवीन जलधर मेघ के समान जिनकी अङ्ग कान्ति है। जिनके श्रीचरणों में रत्नजटित नूपुर का मधुर झंकार हो रहा है। सुकोमल कपोलों पर जिनके मणिमण्डित कनक कुण्डल दमक रहे हैं, चमकीला नीलवस्त्र जिनका परिधान है, काले घुँघराले बालों (केशपाशों से) जो नितान्त कमनीय लग रही हैं, जो अपनी श्यामल अङ्ग कान्ति के किरण पुञ्ज से देदीप्यमान होने से परम अभिरामता को प्राप्त हो रही है, उन मार्तण्ड पुत्री (सूर्यतनया का) मैं ध्यान करता हूँ।।१।।

फुल्लेन्दीवरदीर्घचारुनयनां नीलप्रभाद्योतितां
दिव्यां दिव्यवपुर्धरां सुवसनां दिव्यां गतिं बिभ्रतीम्।
भ्राजन्नूपुरपादपद्मयुगला ——— मानन्दकल्लोलिनीं
कालिन्दीं कलगामिनीं कलरवां श्रीकृष्णकान्तां भजे।।२।।

विकशित नीलकमलों के समान जिनके सुदीर्घ एवं महामोहन नयनारबिन्द हैं, श्यामल अङ्ग कान्ति से जो सदा देदीप्यमान हो रही हैं, परम दिव्य जिनका वपु है, सुन्दर परिधान को जिनने धारण कर रखा है, जिनकी मनमोहक गति है। जिनके युगल पाद पद्मों में सदा नूपुर का मधुर मोहक झंकार होता रहता है, जिनकी दिव्य मनोहर गति (चाल) है मधुर मनोहर जिनकी अमृतमयी वाणी है, उन आनन्द कल्लोलिनी कलिन्द तनया श्रीकृष्णकान्ता कालिन्दी का मैं अहर्निश चिन्तन करता हूँ।।२।।

नानारत्नमणिप्रभेद ——— निकरैर्माणिक्यमुक्ताफलै-
रामुक्तोन्नतकन्धरां हरियुतां नीलालकालङ्कृताम्।
वृन्दारण्यनिकुञ्जवासमुदितां राजीवमालान्वितां
ध्यायन्तीं हरिपादयुग्ममनिशं श्रीकृष्णकान्तां भजे।।३।।

नाना प्रकार की मणियों, मणिक्य तथा मुक्ताफल आदि आभूषणें से जिनका समुन्नत स्कन्ध (कंधा) विलसित है, काले-काले घुँघँराले बालों से जो शोभायमान हो रही हैं, वृन्दावन में निकुञ्ज निवास के सौभाग्य से जो सदा परम प्रमुदित रहती हैं, दिव्य कमल की माला से जो शोभायमान हो रही हैं, जो सदैव श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के युगल पादारविन्द का ध्यान करती रहती हैं, उन नित्य श्रीकृष्ण संयुक्ता कृष्ण कान्ता कालिन्दी का मैं सदैव स्मरण करता हूँ।।३।।

मातः ! श्रीयमुने ! त्वदीयचरणौ संसारतापापहौ
हार्दध्वान्तविनाशनौ सुखकरौ देवैस्सदा वन्दितौ।
ध्यानावस्थितमानसे मुनिवरैः संस्थापितौ सर्वदा
वन्दे तौ पुरुषार्थतुर्य्यजनकौ रासोत्सवालङ्कृतौ।।४।।

हे मातः ! श्रीयमुने आपके श्रीयुगल चरणारविन्द संसार के समस्त संतापों को दूर करने वाले हैं, जो आपके श्रीयुगल पादारविन्द का ध्यान करते हैं, आपके श्रीयुगल उनके हृदय में अज्ञानरूपी अन्धकार का विनाश कर देते हैं। माँ! आपके

श्रीचरण युगल की सदा सर्वदा देवगण वन्दना करते हैं। सुस्थिर मन में आपके चरणारविन्द का श्रेष्ठ मुनिगण सदा ध्यान करते हैं। देवतागण जिनकी सदा वन्दना करते हैं जो चरणारविन्द प्रियाप्रीतम के रास विलासोत्सव में संलग्न रहने के कारण शोभायमान होते हैं, मैं उन पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के प्रदाता आपके पुण्यप्रद श्रीयुगल चरणारबिन्द की सदा वन्दना करता हूँ।।४।।

त्वन्नीरं निरयापहं नरवरैराराधनीयं सुरैः
स्वर्लोके नितरां निवासनिरतैस्त्वल्लोकवासाय वै।
यद्वा ये मृगभूरुहा खगनगा हंसादयः सारसाः
तेषां चापि विमुक्तिदं किमुत यैः प्रीत्या सदा सेवितम्।।५।।

माँ यमुने! तुम्हारा नीर (जल) नरक निवारक है, नर श्रेष्ठ देववृन्द भी आपके निजधाम गोलोकधाम के निवास की लालसा से, आपके जिन पादारविन्द की आराधना करते हैं, जो आपका दिव्य जल पान करने के कारण मृगों, तरुओं, खगों, नगों, हंस तथा सारस आदि पशुपक्षियों को मुक्ति प्रदान करता है, उसे जो जन श्रद्धा और प्रीति के साथ सेवन करते है- उसमें नित्य अवगाहन (स्नान) करते हैं, उनका प्रेम से पान करते हैं, उनके भाग्य का तो कहना ही क्या?।।५।।

ये नित्यं तव तीरसेवनपरास्त्वन्नीरपाने रताः
यैः स्नातं सुकृतेन वै प्रतिदिनं त्वन्नामसंरावितम्।
तेषां वै यमलोकलोकनमपि भ्रात्रा तवोद्वारितं
किं त्वेते किल मुक्तिसाधनपराः श्रीकृष्णसाम्यं गताः।।६।।

माँ कालिन्दी! जो नित्य तेरे तीर पर निवास करते हैं, तेरा ही जलपान करते हैं, जो पुण्य के फलस्वरूप नित्य आपके दिव्य जल में स्नान करते हैं। जहाँ यमुना यमुना का शब्द सुनाई पड़ता है, उनके लिये तो आपके भाई यमराज महाराज ने यमलोक का दर्शन भी निवारित कर दिया है, वहाँ वासकर वहाँ के कष्ट भोगने की तो बात ही क्या? वे तो मुक्ति के साधन परायण होकर भगवान् श्यामसुन्दर के साम्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् भगवद् भावापत्ति रूप परम निःश्रेयस पद को प्राप्त कर लेते हैं।।६।।

त्वत्तीरस्थकदम्बकाननलता —— च्छायाकुटीवासिभिः
सद्भिः सार्धमहर्निशं हरिकथाः शृण्वन् ब्रुवन् वै मुदा।
कांक्षेऽहं तव तीरसेवनपरस्त्वन्नीरपाने रतिं
त्वद्वीचीक्षणसूत्सवं त्वयि मनः स्यान्मे शरीरक्षयः।।७।।

मातः! यमुने! मेरी तो यही कामना है कि आपके तटवर्ती कदम्ब कानन की लताओं की छाया में कुटी बनाकर वास करने वाले विरक्त सन्त वृन्दों का सत्सङ्ग प्राप्त कर अहर्निश श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण की मधुर मनोहर लीला-कथाओं का सदा सर्वदा श्रवण कीर्तन करता रहूँ, तुम्हारे तीर पर निवास कर सदा आपका प्रेमप्रद पथ का पान करता रहूँ, आपके जल तरंगों की विलक्षण शोभा का सोल्लास निरीक्षण करता रहूँ और अन्त में आपके पावन तटपर ही मेरा अन्तिम शरीरावसान हो।।७।।

त्वत्तीरे कमलापतिं तव पतिं सूर्य्यात्मजे ! माधवि !
श्रीराधासहितं तिरस्कृतरविं मेघाभमानन्ददम्।
भिन्नाभिन्नमजं हरिं चिदचितः सर्वेश्वरं मालिनं
नानारत्नविभूषितं नटवरं पीताम्बरं सुन्दरम्।।८।।

हे रवितनये! माधवि! मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा जो मैं आपके पावन तट पर कमलापति आपके प्रियतम श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, जिन्होंने अपने दिव्य तेज के प्रभाव से दिवाकर सूर्यदेव को भी तिरस्कृत कर रखा है, नूतन जलधर के समान जिनकी कमनीय अङ्गकान्ति है, जो सबको सदा सर्वदा आनन्द प्रदान करते हैं, चित्-अचित् (जीव-जगत्) जिनकी अभिन्न शक्तियाँ हैं, सामान्य प्राणी की तरह जन्म न होने के कारण जो अजन्मा कहलाते हैं, जो चराचर समस्त प्राणियों के अधीध्वर हैं, आजानु वनमाला को जिनने धारण कर रखा है, दामिनी द्युति विनिन्दक जिनका पीत परिधान है नाना प्रकार के दिव्य रत्नाभूषणों से जो सदा विभूषित रहते हैं, नटवर वेष को जिन्होंने धारण कर रखा है।।८।।

सत्यं ज्ञानमनन्तमादिपुरुषं यज्ञेश्वरं केशवं
दोषैः पञ्चभिरस्पृशं प्रकृतिजैः षड्भिर्विकारैर्गुणैः।
श्रीकृष्णं व्रजसुन्दरीजनमुखामोदैकपानोन्मदं
भक्ताभीष्टप्रदं स्वभावसुभगं व्यूहाङ्गिनं मुक्तिदम्।।९।।

त्रिकालाबाधित जिनकी सत्ता है, नाम, रूप, धाम, लीला तथा गुणों से जो अनन्त हैं अर्थात् जिनके ज्ञान, शक्ति, बल ऐश्वर्य आदि की इयत्ता नहीं है, जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पाँच कलेशों तथा प्रकृति जनित षट् विकारों (काम क्रोध आदि अथवा जन्म-मरण, उपचय अपचय) से सर्वदा असंस्पृष्ट रहते हैं, जो सदा सर्वदा प्रेमरूपिणी व्रजसीमन्तिनियों के मुखारबिन्दु के दिव्य आमोद के आस्वादन में ही उल्लसित रहते हैं, जो निज भक्तों के अशेष अभीष्टों (कामनाओं) को प्रदान करने हेतु समुद्यत रहते हैं, जो स्वभाव से सौभाग्यशाली, वासुदेव, संकर्षण आदि चतुर्व्यूहों का अङ्गी तथा प्रपन्न प्राणियों के मुक्ति प्रदाता हैं, जो समस्त यज्ञों के ईश्वर (फल प्रदाता) एवं ब्रह्म विष्णु महेश के भी पालक हैं।।९।।

सार्वज्ञ्यादिगुणाकरं भवजनिध्वंसैकबीजं परं
मायाकालनियामकं नराकृतिं गोवर्द्धनोद्धारिणम्।
वृन्दारण्यकदम्बकाननकलत् केकिक्वणानन्दकं
गोवत्सादिसमस्तबालकयुतं गोपीसुखैकास्पदम्।।१०।।

जो सार्वज्ञ्य आदि गुणों के आकार तथा जन्म-मरण रूपी संसार बन्धन से मुक्ति के एकमात्र कारण हैं, माया तथा काल के नियामक हैं, व्रजवासी जनों के विपत्ति निवारण के लिए जिन्होंने गोवर्धन गिरि को धारण किया था, वृन्दावन के कदम्ब कानन में कलनाद करते केकी कुल समूह को जो सदा आनन्द प्रदान करते हैं, जो सदा सर्वदा गोवत्स तथा गोप बालकों से घिरे रहते हैं- एवं जो व्रज सुन्दरियों के एकमात्र आस्पद हैं।।१०।।

कञ्जाक्षं करकङ्कणं स्मितमुखं वंशीकरं बालकं
गोपानां वनिताशतैः परिवृतं रासोत्सवोल्लासिनम्।
लीलानर्त्तनकौतुकं हरिहरब्रह्मादिदेवार्चितं
श्रीमन्मन्मथमन्मथं बत कदा द्रक्ष्याम्यहं चक्षुषा।।११।।

कमल के समान जिनके मनमोहक युगल नेत्र हैं, जिनकी कलाई में कंकण तथा हाथ में वंशी शोभायमान हो रही है, जो सदा कोटि-कोटि अनुरागमयी व्रज सुन्दरियों से परिवेष्टित रहते हैं, रास-विलास के महोत्सव से जो सदा उल्लसित रहते हैं, लीला पूर्वक नृत्य कला के विधान में जिनकों बड़ा आनन्द आता है, श्रीहरि, हर आदि देवतावृन्द जिनकी सदा वन्दना करते हैं, अपने अनुपम सौन्दर्य माधुर्य आदि गुणों से जो कोटि-कोटि मन्मथों को भी तिरस्कृत करते हैं ऐसे श्रीराधाकिशोरी सहित युगल सुन्दर किशोरद्वय का हम कब अपनी आँखों से दर्शन करेंगे।।११।।

नानाकामकुवासनालसमदैः कर्माख्यया ऽविद्यया
नानायोनिषु जायमानमनिशं तापत्रयोन्मर्दितम्।
संसाराब्धितरङ्गताडितधियं मामागतं त्वत्तटे
श्रीकृष्णे ! वरदे ! च विश्वजननि ! मां पाहि सर्वेश्वरि।।१२।।

हे कृष्णे! हे वरदे, हे विश्वजननी! मैं नाना प्रकार के कुत्सित काम, कुवासना, आलस्य, प्रमाद, मद, मोह, अहंकार आदि दोषों तथा कर्मात्मिका अविद्या के कारण युग-युगान्तरों से नाना योनियों में भटक रहा हूँ। सदा सर्वदा आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक तापत्रयों से व्यथित रहता हूँ संसार सागर की तरङ्गों की भयानक थपेड़ों से मेरी बुद्धि व्यथित रहती है इसलिए इन दुःखों से त्राण के लिए मैं आपके तटपर शरणागत हुआ हूँ। देवि! सर्वेश्वरी! आप मेरी रक्षा करें।।१२।।

बालं सालसविग्रहं प्रपतितं वह्नौ जले कण्टके
दुष्टाघातभयानकानिलभये माता न किं रक्षति?
वात्सल्यादिगुणालये ! भगवति ! स्वं पुत्रकं हीश्वरि !
ज्ञात्वैवं कलिना विदूषितमतिं रक्षस्व मां मानदे।।१३।।

हे माँ क्या कोई भी माता अपने अनजान बालक को अग्नि कुण्ड, जल तथा कण्टकाकीर्ण स्थानों में गिरने अथवा दुष्टजनों के आघात एवं भयानक आँधी तूफान आने पर उसकी रक्षा नहीं करती? हे वात्सल्य आदि गुणों के आलये, हे सर्वेश्वरी, भगवती, हे सबको मान प्रदान करने वाली मेरी माँ! कलि के कारण दूषित मन-बुद्धि वाले मेरी आप रक्षा करें।।१३।।

यः पठेत् प्रातरुत्थाय यमुनायाः स्तवं शुभम्।
यमुनायाः प्रियो भूत्वा श्रीकृष्णे सुरतिं लभेत्।।१४।।

जो व्यक्ति नित्य प्रातःकाल उठकर श्रीयमुना जी के मंगलमय इस स्तव का पाठ करता है, वह व्यक्ति श्रीयमुना जी का प्रियपात्र होकर श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्ण में पराभक्ति को प्राप्त करता है।।१४।।

दिनांक : ०२/०५/२००४

अनुवादक निम्बार्कीय :
पं० श्री वैद्यनाथ झा (एम०ए०) मैथिल
व्या० व्या० वेदान्ताचार्य
पूर्वप्राचार्य- श्री नि०सं०वि०वृन्दावन

।।भगवतेश्रीनिम्बार्काय नमः।। ।।श्रीसद्गुरवे नमः।।

।।श्रीराधाकृष्णाभ्यांनमः।।

रासमण्डलमध्यस्थं रासाल्लाससमुत्सुकम् । गोपीभिः सेव्यमानं च तं राधेशं नमाम्यहम्।। (श्रीब्र०बै०पु०)
नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनी । रासेश्वरी नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिके प्रिये।। (श्रीमद्देवी भा०)

महान्त-प्रवर-आयुर्वेद-मर्मज्ञ ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज के जीवन की विशेषताओं का संक्षिप्त चित्रण

(लेखक :- महान्त सन्तदास, श्रीनिम्बार्क कुंज, मोतीझील, वृन्दावन, मथुरा)

इस भारतवर्ष में लोगों ने सनातन काल से वैदिक-पौराणिक मर्यादा के अनुसार ही भक्ति, ज्ञान एवं शान्ति प्राप्त की है। लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के मूलाधार भी शास्त्रीय क्रमानुसार अनुष्ठान व्रत, तपस्या, स्वाध्याय, योगादि ही रहे हैं। ज्योतिष आयुर्वेदादि की मर्मज्ञता भी ईश्वरीय अनुग्रह से ही होती है। इन्हीं साधनों एवं सिद्धियों का आश्रय लेकर ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज ने आयुर्वेद की मर्मज्ञता प्राप्त की है।

मेरा गुरु स्थान कर्दमाश्रम, विन्दुसरोवर रोड, सिद्धपुर (गुजरात) है। मेरे सद्गुरुदेव विद्वद्वर महान्त-प्रवर प्रातः स्मरणीय आयुर्वेद मर्मज्ञ श्रीभीमाचार्य जी महाराज थे। श्रद्धेय श्रीब्रह्मचारी जी महाराज भी इनके यहाँ बड़ी श्रद्धा से आया करते थे। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज के श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण स्थान से सिद्धपुर स्थान का घनिष्ठ सम्पर्क पीढ़ियों से रहा है। मैं सद्गुरुदेव भगवान् से दीक्षा लेकर जब सिद्धपुर स्थान में रहता था तो वहाँ श्रीब्रह्मचारी जी महाराज के आने पर प्रायः वार्ता होती रहती थी। आने-जाने एवं परस्पर सद्व्यवहार से काफी घनिष्ठता हो गई थी। बातचीत के सिलसिले में परस्पर में अपने जीवन की रहनी-क्रिया-साधना-उपासना-भक्ति-ज्ञान सम्बन्धी चर्चायें प्रायः होती ही थीं। इस समय कई वर्षों से श्रीब्रह्मचारी जी महाराज पाटनारायण स्थान में ही रह रहे हैं। अब भी जब कभी पाटनारायण स्थान जाता हूँ तो हम दोनों कुछ दूर तक टहला करते हैं, बैठते हैं इस बीच में भगवत्प्रीत्यर्थ स्वाभाविक परस्पर चर्चा होती है। सन्त-वेश लेने के बाद जैसे जीवन बीता है, जो अपना अनुभव है, जो अपना मनोगत भाव है या जो भी भावना है इन बातों को भी परस्पर सुनने-सुनाने का सुअवसर प्राप्त होता रहता है। इसी प्रसंग में अपने जीवन के अनुभव एवं साधना सम्बन्धी भी चर्चा होती रहती है। परमादरणीय श्रीब्रह्मचारी जी महाराज के मुखारविन्द से जो भी मैंने उनसे सुना है, उन्हीं बातों को उनकी विशेषताओं का स्मरण करके लिख रहा हूँ।

ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरण जी महाराज का जन्म कार्तिक शुक्ला तृतीया वि0सं0 1977 तदनुसार दिनांक 17 नवम्बर सन् 1920 में कानपुर जिले में हुआ था। इनका शरीर कान्य कुब्ज ब्राह्मण शुक्ल परिवार का है। ये शुक्ल यजुर्वेदीय, शाङ्कृत गोत्र में बाबा शालग्रामजी की आँकी शाखा के हैं। इनसे पूर्व इनके पिताजी बनारस क्षेत्र के थे। ये जन्म से ही प्रतिभाशाली थे।
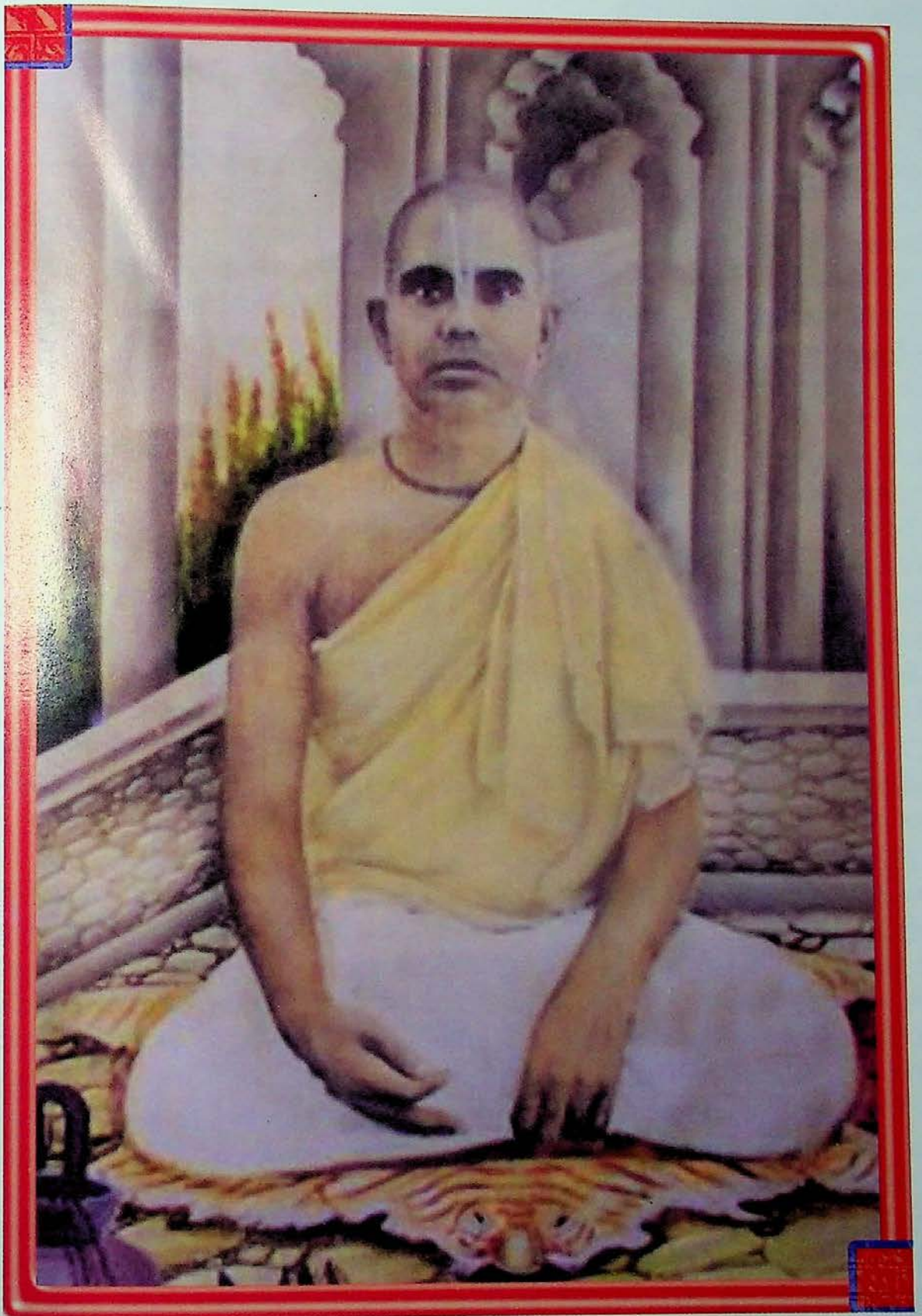
महान्तवर्य श्री अचलदास जी महाराज

गुरु श्री सीताराමदास जी महाराज

स्थान – पाटनारायण मन्दिर, गिरिवर, चेनार, आबू रोड़ (राजस्थान)

ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी के बाल्यावस्था की जिज्ञासा, उनकी प्रारम्भिक साधना एवं योग की क्रिया द्वारा उनकी समाधि में लीन अवस्था का वर्णन :-

आठ साल की उम्र में अचानक इनके अन्दर विचार उत्पन्न हुआ कि संसार क्या है? ऐसा चिन्तन इनके अन्दर चलता ही रहता था। माँ से और अन्य लोगों से पूछा करते थे। ऐसी स्थिति देखकर लोग कहा करते थे कि लड़का पागल तो नहीं हो गया है। इन बातों का चिन्तन करते-करते भावना इतनी प्रगाढ़ हो गई कि ये रात में सोते ही नहीं थे। इनके यहाँ एक सज्जन आते थे, जिन्होंने संकेत किया कि आपके प्रश्नों का उत्तर कोई साधु-सन्त ही दे सकते हैं। अतः सन्तों से मिलने की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। उस समय छह क्लास मिडिल हुआ करता था। मिडिल की परीक्षा देने के दो महीने बाद ये बरसात की ऋतु में नौ वर्ष एवं दस महीने की उम्र में घर से अकेले निकल पड़े। चार-छह महीने यत्र-तत्र भटकते रहे। इसके बाद माघ महीने में कल्पवास हेतु तीर्थराज प्रयाग पहुँचे। वहाँ किसी दसनामी सन्तजी के पास रहे। वे रात भर बैठकर भजन करते थे। उन सन्तजी ने इनके आवश्यक कपड़ों की सारी व्यवस्था की और साधु-साही रहनी सिखायी। उस समय ये अपने हाथ से रसोई बनाकर प्रसाद सेवन करते थे। ये स्वयंपाकी थे। सन्त जी की साधुता देखकर उनमें इनकी श्रद्धा हो गई और इन्होंने उनसे दीक्षित होने के लिए प्रार्थना की, पर उन्होंने इन्हें दीक्षा नहीं दी, ब्रह्मानन्द जी सरस्वती के पास पहुँचने का पता बताया और उन्हीं से दीक्षा लेने के लिए प्रेरित किया। उन सन्तजी ने इन्हें शिव-मन्त्र एवं गायत्री-मन्त्र की दीक्षा् दी। इनके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए उन्होंने इनसे चान्द्रायण व्रत भी कराये। इससे मन शुद्ध हो जाता है। ऐसा करने के बाद इष्ट में ध्यान लग जाता है। इन्होंने उन सन्त जी के सान्निध्य में रहकर गायत्री मन्त्र के तीन पुरश्चरण किये। प्रतिदिन गाय के गोबर से लीप-पोत कर हवन करते थे। त्रिकाल सन्ध्या करते थे। तर्पण मार्जन भी नित्य करते थे। मात्र एक बार चौबीस घण्टे में प्रसाद-सेवन करते थे। स्वयं ही रसोई बनाते थे। रसोई के बर्तनादि स्वयं माँजते थे। ये गुरुजी की सेवा बड़ी श्रद्धा एवं लगन के साथ पूरी करते थे। प्रातःकाल तीन सवा तीन बजे अवश्य उठ जाया करते थे। ग्यारह बजे दिन तक सेवा एवं भजन में ही लगे रहते थे। एक दिन श्रीगुरु जी महाराज बोले कि तुमको सब कुछ बता दिया है, मात्र समाधि लगाने को बताना बाकी रह गया है। उसके लिए तुम्हारी अवस्था अभी परिपक्व नहीं है। मेरे पास अब समय भी नहीं है। तब इन्होंने उनसे प्रार्थना की कि "आप जैसे सामर्थ्यवान् गुरु के लिए कुछ असम्भव नहीं है, आपकी कृपा हो तो निश्चित समाधि लग जायेगी। गुरुजी महाराज! आप अवश्य कृपा करें।" तब उन्होंने एक दिन इन्हें बुलाकर समाधि लगाने की प्रक्रिया बतायी और बोले कि "तीन-चार घण्टे की समाधि लगवाने का प्रयत्न करता हूँ।" इसके बाद वे प्राणों की क्रिया समझाकर फिर स्वास खींचने का एक माप बताये। ये बालक तो थे ही कौतुहलवश स्वास ज्यादा खिंच लिये और इन्हें समाधि लग गई। इनका प्राण कहाँ चला गया इन्हें ज्ञान नहीं था। ये बाहर संसार को बिलकुल भूल गये, शरीर का भी इन्हें स्मरण नहीं रहा। लगातार चार दिन-चार रात बैठे रहे। उस समय इन्हें कोई देवी-देवता या ईश्वर का विग्रह या बैकुण्ठ-गोलोकादि धाम भी नहीं दीखा। आरम्भ से लेकर अन्त तक पद्धति के अनुसार आयुर्वेद की औषधियाँ, उनका गुण, धर्म उनकी उपयोगिता, रोग के लक्षण, रोगी की स्थिति आदि का सतत दर्शन होता रहा। ऐसा होते हुए भी कुछ उपदेशात्मक शब्द सुनाई पड़ता था। बीच-बीच में शब्दों की ध्वनि भी सुनाई पड़ती थी, परन्तु बोलने वाले की आकृति नहीं दीख पड़ती थी। चार दिन चार रात के बाद जब इनकी समाधि भङ्ग हो गई तब इन्होंने अपने को पूर्ण चिकित्सक के रूप में अनुभव किया। उस समय किसी रोगी को देखते ही, बिना स्पर्श किये, बिना पूछे, अपने आप इनको रोग का ज्ञान हो

जाता था और लोगों को बताने लगते थे कि इन्हें अमुक रोग है। उपचार भी बता देते थे। समाधि लगने के 31 दिन बात इनके पूज्य गुरुजी ने जीवित समाधि ले ली। समाधि लेने से पूर्व इन्हें उन्होंने आज्ञा दी कि तुम सन्यास मत लेना और बोले- "इस समय कलियुग है, इस युग में वैष्णवी दीक्षा ही सफल होती है। इसलिए भविष्य में किसी विरक्त वैष्णव से दीक्षा ले लेना और समाधि भी लगाने का प्रयास मत करना, ऐसा बोले थे। इसके बाद और भी कुछ इनके कल्याणार्थ बोले थे। वे बोले थे कि जीवन में स्त्री का संग नहीं करना। रूपये पैसे का त्याग नहीं करना। रूपये पैसे का जो त्याग करते हैं वे प्रायः पाखण्डी हो जाते हैं। रूपये का चिन्तन तो करते हैं और रूपया स्पर्श नहीं करते। इस प्रकार दंभी हो जाते हैं। गुरुजी के समाधि लेने के बाद श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने उनका स्मारक बनवाया और उनकी आज्ञा के अनुसार वहाँ से निकल पड़े। गुरुजी की आज्ञा थी कि अब इस स्थान पर नहीं रहना। जहाँ तक सम्भव रहा इन्होंने उनकी आज्ञा का पालन किया।

ब्र0 श्रीयुगलशरणजी महाराज की समाधि भंग होने के बाद का प्रकरण :-

इसके बाद इन्होंने औषधि बनाकर लोगों को देना भी शुरू कर दिया, पर लोग इनसे औषधि तो ले लेते थे और रूपये नहीं देते थे। अतः रूपये का अभाव रहने लगा। ये सोचने लगे क्या किया जाय? उस समय मनु बाबा नाम के एक बहुत प्रसिद्ध चिकित्सक थे। वे उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के बिन्दकी कसबे में रहते थे। कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पास दवा के लिए लोग दूर-दूर से आते थे। वे पढ़े बिलकुल नहीं थे। ऐसे वे बहुत स्वरूपवान् एवं प्रभावशाली थे। उनका नाम सुनकर ये भी उनके पास गये। मनुबाबा ने श्रीब्रह्मचारी जी का सूत्र, गोत्र, पद्म, प्रवर शाखा आदि पूछा, इन्होंने उत्तर भी दिया। तत्पश्चात् वे इनसे बहुत प्रसन्न हुए। उनके यहाँ ये ज्यादा दिन तक रहे। ये वहाँ सदैव भजन में लगे ही रहते थे। एक दिन वे अचानक इनसे पूछ बैठे कि आपके यहाँ आने का क्या उद्देश्य है? श्रीब्रह्मचारी जी महाराज ने निवेदन किया कि मैंने सुना है कि मनुबाबा अच्छे चिकित्सक हैं। अतः आपसे आयुर्वेद-संबंधी-जानकारी के लिए आया हूँ। ब्रह्मचारी जी के उपरोक्त वचन को सुनते ही मनुबाबा दुर्वासा ऋषि के समान क्रोधित हो गये। बहुत गालियाँ दीं। हाथ पकड़कर खींचकर वेवकूफ, बावले आदि अत्यन्त अश्लील शब्दों को बोलते हुए यह कहे कि बावले मनु बाबा के पास धन्वन्तरि बनने आया है। हाथ पकड़कर क्रोध में ही गेट से बाहर कर दिये, पर ये उनसे यही बोले कि मैं जाऊँगा नहीं। मुझे जो सीखना है, सीखकर ही जाऊँगा। जब इन्होंने ऐसा कहा तो वे चुप-चाप अपने घर के भीतर चले गये। अन्दर जाकर अपनी पत्नी से बोले-अरी सुनती हो! पत्नी बोली क्या है? बाहर जो ब्रह्मचारी बैठा है, वह आग है, तुम लोगों को भस्म कर देगा। उनकी पत्नी ने पूछा क्या हुआ? तब मनुबाबा ने घटित हुई बातें अपनी पत्नी को बतायीं। बच्चों को भी बताये और इन्होंने शिक्षा दी कि इनकी अच्छी प्रकार से सेवा करना। मैं उनसे अभी नहीं बोलूँगा। इस प्रकार ब्रह्मचारी जी महाराज पाँच मास तक वहीं रहे। उस समय मनुबाबा के पास जो रोगी आते, उनसे वे जो बातें करते, ये अनुभव करते थे।

वैद्य श्रीमनुबाबा के यहाँ निवास-काल में असाध्य रोगी की रोग-मुक्ति का विवेचन

जब श्रीब्रह्मचारीजी महाराज वैद्य मनुबाबा के यहाँ रहे थे, उस समय एक रोगी कलकत्ता से आया। उसकी उम्र करीब 28 वर्ष की थी। शरीर में अस्थिमात्र अवशेष थीं। आँखें गड्डे में चली गई थीं। मनुबाबा ने उसको देखा और उसको देखकर कहा- ले जाओ इसे, यह मर जायेगा। तुम लोग मुर्दा लेकर आते हो। बाबा की ऐसी बात सुनते ही रोगी के परिवार वाले फूट-फूट कर रोने लगे। रोगी के साथ उसके माता-पिता-पत्नी और एक नौकर साथ में था, बाबा इतनी बात कह कर घर के अन्दर

चले गये। इसके बाद ब्रह्मचारी जी तो वहाँ थे ही। यह सब देख, ये ही रोगी के पास स्वयं गये और उस रोगी को देखे। उसके घर वालों ने पूछा- यह कैसे ठीक हो सकता है? ब्रह्मचारी जी बोले कि आपका लड़का ठीक हो सकता है, पर मनुबाबा आज्ञा देंगे तभी मैं चिकित्सा कर सकता हूँ। फिर जब मनुबाबा आये और वे प्रसन्न मुद्रा में दीखे तो ब्रह्मचारी जी ने मनुबाबा से पूछा कि इस लड़के को क्या हो गया है? बाबा ने उत्तर दिया कि इसे यक्ष्मा (टी.बी.) हो गया है और अब यह मर जायेगा।

इस बात को सुनकर श्रीब्रह्मचारी जी बड़ी विनम्रता से मनु बाबा से बोले कि आप यदि आज्ञा दें तो दवा करने पर ठीक किया जा सकता है। तब मनुबाबा ने ब्रह्मचारी जी से पूछा कि भइया इसको क्या हो गया है? ब्रह्मचारी जी ने बताया कि इसके फेंफड़े और हृदय में किलनी चिपकी हुई है, जो पशुओं-गायों-भैंसों के शरीर एवं थनों आदि में लग जाने वाले छोटे-से जीव हैं। इस पर बाबा ने पूछा कि ये जीव उसके अन्दर से कैसे निकलेंगे? ब्रह्मचारीजी बोले-इन जीवां को कुत्तों का मांस बहुत प्रिय होता है। इसलिए तोला-आधा तोला कुत्ते का मांस मँगवा दीजिए और एक रेशम का धागा भी। इन सब जीवों को आपके सामने निकाल देता हूँ। इनके कहने पर बाबा ने एक भंगी को बुलवाया और उसके द्वारा कुत्ते का मांस मंगवा दिया। ब्रह्मचारी जी ने पैमाने के हिसाब से उसे डोरे में बाँधकर रोगी के गले में उतार दिया। मांस के नीचे उतरते ही उसकी वास से प्राणी उसमें चिपकने लगे। थोड़ी देर में रेशम के डोरे को खींचकर बाहर लाते और उन जीवों को धो करके फिर पहले के क्रम से ही उसके गले में उतार दिये। तीन-चार बार इसी क्रम से किये। इस प्रकार सारे जीव उसके पेट में से बाहर निकल गये। अब रोगी का रोग ही जाता रहा। रोगी के पिता द्वारा जो भी ब्रह्मचारी जी को रूपये मिले; उन रूपयों से इन्होंने बाबा के बच्चों के आभूषण बनवा दिये। बाबा द्वारा उस रोगी के लिए ताकत की दवा भी दिला दी। मनु बाबा के पास इस तरह पाँच महीने रहने पर रोगियों को पद्धति के अनुसार औषधि देना, पैसा लेना, रोगी से कैसे बात-चीत करना आदि प्रशिक्षण प्राप्त किया।

उसके बाद ब्रह्मचारी जी चित्रकूट में जानकी कुण्ड क्षेत्र की एक गुफा में तीन साल रहे। तीन साल लगातार प्रतिदिन कामदगिरि की परिक्रमा करते थे और माघ मास में तीर्थराज प्रयाग में कल्पवास करते थे। इसके बाद स्वतन्त्रता सेनानी हुए। कानपुर जिला कार्य-क्षेत्र था। इसमें ये वेश बदलकर कार्य करते रहे जिससे ब्रिटिश सरकार का कोई कर्मचारी पकड़ न सके। फिर भी सन् 1943 में पुलिस पीछे पड़ गई। सपई का एक जागीरदार था रोशन सिंह, उसके यहाँ ये ज्यादा रहते थे। उसने बताया गुरु जी! आप विशेष सावधानी से रहिये, खुपिया पुलिस आपके पीछे पड़ी है, पकड़े जा सकते हैं। अब इसके बाद विभूति लगाकर जटा बढ़ाकर पश्चिम भारत (पाकिस्तान) की तरफ चले गये। सन् 1946 तक घूमते रहे। रावलपिण्डी आदि की तरफ घूमते रहे। सन् 1946 में ही उधर से लौटकर आ गये। वापस आने के बाद बुन्देलखण्ड में मिश्रीपुर नामक गाँव में त्रिसरा महादेव हैं, वहीं रहे। वहाँ तीन साल तक खुले मैदान में बिना आवरण के रहे। इसके बाद ये बीच में कुछ अस्वस्थ हो गये। पूर्व के साथी सम्पूर्णानन्दजी के द्वारा इन्हें दवा आदि की सुविधा प्राप्त हुई और ये स्वस्थ्य हो गये। इसके बाद ये दिगम्बर हो गये। (अँचला, लँगोटी आदि भी उतार दिये)

घूमते-घामते ये डबरा (मध्य-प्रदेश) के पास एक बड़ा हरषी बाँध है, वहाँ आये। वहीं पर एक केशवदास जी महात्मा थे, उनके पास रहे। वहाँ से हटने के बाद टपकन गुफा गये। जिसमें हजारों विषद्दार सर्प रहते थे और जगह-जगह से पानी टपकता रहता था। यह गुफा भी मध्यप्रदेश में डबरा के पास ही है। वहाँ चार-पाँच महीना रहे। बाद में लोगों की वहाँ पर भीड़ ज्यादा होने लगी। अतः उस स्थान को भी छोड़ दिये। इसके बाद भिण्डमुरैना में रहे।

परिभ्रमण-काल में सत्संग में आयी हुई एक असाधारण विदुषी माँ के प्रश्नों का ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी द्वारा उत्तर :-

परिभ्रमण-काल में ही ये परिभ्रमण करते हुए पीलीभीत पहुँचे। वहाँ पर फिर लँगोटी धारण कर लिये और प्रवचन करना प्रारम्भ कर दिये। कथा में काफी संख्या में लोग आते थे। स्त्रियाँ भी आती थीं। ये ब्रह्मचारी तो थे ही, चेहरे में आकर्षण और तेज था। स्वरूपवान् थे ही। देखने वाले स्त्री पुरूषों की दृष्टि बलात् इनकी तरफ खिंच जाती थी। एक विदुषी माँ भी कथा में आती थी और नई अवस्था वाली नवयुवती स्त्रियाँ भी कथा में आती थीं। और इनकी तरफ पूरी दृष्टि से देखती थीं। विदुषी माँ स्त्री तो थी ही, स्त्री होने के नाते स्त्रियों के नजर के सम्बन्ध में उसको अनुभव भी था। एक दिन विदुषी माँ ने विचार कर निर्णय किया कि ये महात्मा बिलकुल शुद्ध हैं, इन्हें स्त्रियों की चाल-ढाल नजरों के सम्बन्ध में अनुभव नहीं है। ये समझते हैं कि ये सभी स्त्रियाँ कथा-श्रवण के लिए आती हैं। सम्भव है- ये इन सबके जाल में पड़कर पथ-भ्रष्ट न हो जायँ। साधक के लिए खासकर नवयुवक सन्त के लिए निष्पक्ष कहा जाय तो स्त्री से बढ़कर शत्रु कोई नहीं है। इनके संसर्ग से मति बदल जाती है। विवेक तो रहता ही नहीं। अविवेकी का पतन निश्चित है। विदुषी माँ इनके हित की दृष्टि से इनसे एक दिन बोली कि मैं कौन हूँ? इस पर ब्रह्मचारीजी ने उत्तर दिया-यदि आयु एवं सनातनी मर्यादा के अनुकूल देखा जाय तो आप मेरी माँ हैं, साक्षात् जगदम्बा-स्वरूप हैं और मैं आपका पुत्र हूँ। यदि वेष की दृष्टि से देखा जाये तो मैं संत हूँ और तुम्हारा पूजनीय हूँ। यदि अध्यात्म की दृष्टि से देखा जाये तो जो आप हैं, वही मैं भी हूँ। हम दोनों एक ही आत्मा हैं यानि तत्त्व की दृष्टि से हम दोनों में अभेद है। इस पर विदुषी माँ बोली कि यदि मैं आपकी माँ हूँ तो आज्ञा देती हूँ, आप संत हैं तो विनम्रता के साथ प्रार्थना करती हूँ यदि जो मैं हूँ वही आप हैं तो आत्मीयता की दृष्टि से प्रेरणा देती हूँ कि आप कल से प्रवचन करना बंद कर दें। प्रवचन करने से आपकी हानि होगी। पुनः बोली बेटा! तुम्हारे चेहरे में इस समय इतना आकर्षण है कि ये नवयुवती स्त्रियाँ तुम्हें ही देखती रहती हैं और कुछ तो कथा सुनने ही नहीं आतीं। आपके लिये आती हैं और आपसे बातचीत करके संसारी सुख का लाभ लेना चाहती हैं। यदि मुझको आप कुछ मानते हैं तो मैं तो यही कहूँगी कि आप अपनी रक्षा करना चाहते हैं, शुद्ध जीवन बिताना चाहते हैं या शुद्ध रहना चाहते हैं तो कल से प्रवचन करना बन्द करे दें, इसी में आपका हित है। उस विदुषी माँ की बात ब्रह्मचारी जी बिलकुल मान गये दूसरे दिन से कथा करना बन्द कर दिये। इसके बाद परिभ्रमण करते हुए कहीं दो महीना चार महीना रहते हुए सन् 1959 में राजस्थान के आबू क्षेत्र में आये। रघुनाथ मन्दिर में पाँच-सात दिन रहे। रघुनाथ जी के मन्दिर में धर्मदत्त जी नाम के ओझा जी थे, जो सिरोही राजा के पुरोहित थे, वे ही इन्हें रघुनाथ मन्दिर ले गये थे। रघुनाथ मन्दिर में रहकर ही आबू क्षेत्र के दर्शन किये। एक दिन दोपहर के बाद दर्शन के लिए वशिष्ठ-आश्रम आये। वहाँ पहुँचकर गौमुख धारा में आचमन मार्जन किये। जैसे ही वहाँ आचमन मार्जन करके बैठे कि ध्यानस्थ हो गये। अपने आपको भूल गये। कुछ देर के बाद दर्शनार्थी आये। उनके कोलाहल से ध्यान टूट गया। ध्यान टूटने के बाद नीचे वशिष्ठाश्रम में आये। वहाँ पर वृन्दावन के गौतमाश्रम के त्यागी विहारीदास जी जिन्होंने अपना बना हुआ आश्रम निम्बार्कीय सन्तों के कहने से वृन्दावन में वर्तमान निम्बार्क-विद्यालय के लिए दे दिया था, उनके शिष्य श्रीराधेश्याम जी से मिले । राधेश्याम जी ने इन्हें वहाँ से रात्रि में आने नहीं दिया। मन्दिर के सामने रात में ध्यान लगाये। ध्यानावस्था में पातालेश्वर महादेव का दर्शन हुआ। लगातार 11 दिन तक भगवान् शिव का दर्शन हुआ। वैसे ही रुप का चित्र जो चित्रकार द्वारा बनवाया। जो आज तक पाटनारायण-स्थान में इनके कमरे में लगा हुआ है।

मान्यवर श्रीयुगलशरणजी महाराज की अर्बुदाचलस्थ (आबूपर्वत) निकटवर्ती जमदग्नि गुफा की कठोर तपस्या-निर्भयता एवं निर्द्वंद्वता का उल्लेख :-

वशिष्ठ आश्रम से ये जमदग्नि गुफा गये। जमदग्नि गुफा वशिष्ठ आश्रम से करीब डेढ़-दो सौ गज दूर घोर जंगल में नीचे है। उस गुफा में वे पाँच माह तक एकमात्र गरम जल पीकर रहे परन्तु स्वास्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ा। स्वस्थ जैसा ही शरीर रहा। उस गुफा में अन्न-प्रसाद पाने की कोई व्यस्था नहीं थी, स्वयं ये कहीं जाते नहीं थे। जमदग्नि गुफा में श्रीब्रह्मचारीजी महाराज सात वर्ष लगातार निर्वस्त्र लँगोटी रहित रहे। वस्त्र धारण करते ही नहीं थे। गुफा में दरवाजा नहीं लगा था। दरवाजे पर आकर कभी-कभी शेर खड़ा हो जाता था। उसके शरीर से, मुख से दुर्गन्ध आती थी तब श्रीब्रह्मचारीजी उससे प्रार्थना पूर्वक कहते थे कि मैं कोई परमहंस नहीं हूँ। मुझसे आपके शरीर की दुर्गन्ध ा सहन नहीं हो रही है। आप कष्ट करके यहाँ से पधारो इस प्रकार वह शेर इनके रहने के काल में कई वार दरवाजे पर आया पर शेर ने इनसे कभी छेड़छाड़ नहीं की। आकर खड़ा होकर पुनः स्वयं लौट जाता था। गुफा में जब ये ध्यानस्थ हो जाते थे तब प्रायः इनके शरीर पर सर्प, बिच्छु भी आकर बैठ जाते थे और स्वयं ही उतर जाते थे। ध्यानभङ्ग होने पर कभी-कभी देखे भी पर वे स्वयं बिना छेड़े ही शरीर पर से हट जाते थे। जमदग्नि गुफा में रहते समय ही एक अघोरी सिद्ध संत इनको दर्शन देकर बोले कि ब्रह्मचारी तुम ज्यादा नहाने-धोने का कार्य न किया करो। उसी प्रकार एक वैष्णव योगी भी दर्शन देते थे और वे एक बार बोले कि ब्रह्मचारी तुम अघोरी की बात नहीं मानना, शौचाचार आदि का कार्य करते रहना यह वैष्णवों का स्वाभाविक धर्म है। शास्त्रीय, उपासना, साधना में कमी नहीं करना। इसके बाद पुनः अघोरी संत ध्यानावस्था में मिले और फिर बोले कि मैंने तुमको बोला था- शौचाचार आदि न करो इस पर ब्रह्मचारीजी बोले मैं नैष्ठिक ब्रह्मचारी हूँ। बाल्यावस्था से ही स्नान, संध या, तर्पण, मार्जन, सेवा, पूजन किया हूँ। इस प्रकार से रहने का मेरा स्वभाव बन गया है इसे छोड़ नहीं सकता। इतना बोलने पर भी ये अघोरीजी से डरे नहीं। अघोरीजी ने भी इनके साथ कुछ नहीं किया।

चित्रकूट-निकटवर्ती डाकक्षेत्र के पहाड़ में ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी की रीछ के साथ की घटना का विवरण :-

जब श्रीब्रह्मचारीजी चित्रकूट मे कामदगिरि की परिक्रमा करते थे, उसी सन्दर्भ में डाकक्षेत्र का पहाड़ देखने चले गये। पर्वत-श्रृंखला अत्यन्त रमणीय थी। कतिकाह गाँव से करीब ढाई मील की दूरी पर एक सुन्दर बाबड़ी जंगल में थी। बाबड़ी का चबूतरा भी विशाल बना हुआ था। उसके साथ ही एक छोटा सा कमरा भी बना था। जगह अच्छी देखकर ये बाबड़ी के चबूतरे पर ही सिद्धासन लगाकर बैठ गये। बैठने के बाद तत्काल ही ध्यान लग गया। संध्या का समय था उसी समय अचानक एक रीछ आ गया, जिसका इन्हें किंचित्मात्र भी ध्यान नहीं था। आकर इनके चारों तरफ घूमा-फिरा होगा। बाद में इनकी पीठ में अपनी पीठ रगड़ दी। पीठ में पीठ रगड़ने से इनके शरीर में खून आ गया। अतः इनका ध्यान भङ्ग हो गया। ध्यान भङ्ग होते ही इनकी दृष्टि बगल में गई तो रीछ (भालू) का बाल दीखा, जिससे अनुमान हो गया कि रीछ है, ऐसा मालूम होने पर भी ये घबड़ाये नहीं। रीछ को लक्ष्य करके ही ध्यान लग गया। उस संकल्प के प्रभाव से रीछ ध्यानावस्थित हो गया। ध्यानावस्थित होकर कुछ देर जमीन में पड़ा रहा। बाद में उठकर खड़ा हो गया और आनन्दातिरेक में होकर नाचने लगा। बाद में इनका जब ध्यान भङ्ग हुआ तब ये कुटिया में जाकर लेट गये और सो गये। जब प्रातःकाल

उठे तो देखा कि रीछ दरवाजे पर विराजमान है। वह रीछ (भालू) बिना खाये-पीये छः दिन तक उसी जगह पर रहा। गाँव के चरवाहे इन्हें दूध लाकर देने लगे थे। जंगल में फल-फूल ज्यादा संख्या में थे। इनसे ही खाने की पूर्ति हो जाती थी। जब छः दिन हो गये तो ब्रह्मचारीजी ने रीछ से हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि हमारा आपका पूर्वजन्म का कोई संयोग था। अब आप इस योनि में हैं और मैं मनुष्य योनि में। इस योनि में भी आप ध्यानावस्थित हुए। ऐसी स्थिति पूर्व जन्म के संस्कार के बिना नहीं हो सकती। अब आप जंगल में पधारें। आपको खाये-पीये बिना भूखे कई दिन हो गये। फिर कभी संयोग-संस्कार होगा तो पुनः मिलेंगे। ऐसा कहकर ब्रह्मचारीजी ने उसको नमस्कार किया। रीछ ने भी इन्हें नमस्कार किया। इस प्रकार रीछ इन्हें देखते हुए जंगल में लौट गया। इसके पश्चात् श्रीब्रह्मचारीजी उस स्थान पर चार दिन और रहे पर रीछ (भालू) नहीं आया।

इस प्रकार श्रीब्रह्मचारीजी महाराज का पूर्व जीवन पूर्णतः तपोमय था। इनके पूर्व का जीवन बिलकुल एक विरक्त-तपस्वी-सन्त का जीवन जैसा बीतना चाहिए, वैसा था। बिना तप के, बिना भजन के भक्ति ज्ञान की प्राप्ति हो दूर रही, लौकिक वस्तु भी नहीं मिल सकती। पुराणों के पढ़ने से पता चलता है कि राजाओं का, ऋषियों का तपोमय जीवन होता था। तप से ही सब शक्ति प्राप्त करते थे। आज भी संसार में जो भी वस्तु प्राप्त है, पिछले जन्मों के सत्पुण्यों का ही फल है। इसलिए हम लोगों को जितना बन सके तपोमय जीवन बिताना चाहिए। शास्त्र की आज्ञा में चलना चाहिए। शास्त्र की आज्ञा में चलना बहुत बड़ा तप है। इसकी मर्यादा में जो चलेगा यदि वह पहले का पातकी है तो भी उसके ऊपर भगवान् का निश्चित अनुग्रह हो जायगा। शास्त्र की मर्यादा का उल्लंघन करने वाले शुद्ध प्रतिष्ठित सन्त का भी पतन हो जाता है। अतः शास्त्र-पुराण-उपनिषद् को गुरु मानकर उनकी आज्ञा में चलने वाला व्यक्ति ही शान्तिमय स्थान को प्राप्त कर सकता है। वेदव्यास जी ही परम गुरु हैं। व्यास उन्हीं को कहते हैं। उनकी मर्यादा के अनुसार चलने वाला ही गुरु है। इनकी बताई मर्यादा के विपरीत चलने वाला, गुरु पद का अधिकारी नहीं है। भगवान् ने भी स्वयं गीता में कहा हैं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। (गीता – १६–२३)

श्रीराधाकृष्ण की ही प्रेरणा से ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी की निम्बार्कीय-वैष्णवीय-दीक्षा का प्रकरण :-

श्रीब्रह्मचारी जी महाराज जमदग्नि गुफा में कई वर्ष रहे। उस गुफा में इनकी साधना-तपस्या अत्यन्त प्रबल थी। वशिष्ठाश्रम भी जमदग्नि गुफा के सन्निकट है ही। ये वशिष्ठाश्रम में रह भी चुके थे। इस क्षेत्र की पावनता के पूर्ण अनुभवी भी थे। इनको इन स्थानों में विशेष अनुभूतियाँ प्राप्त हुईं थीं। इस परम पावन पवित्र-स्थल के लिए इनके हृदय में विशेष स्थान बन चुका था। यहाँ का वातावरण शान्त एवं बिल्कुल एकान्त था। घनघोर जंगल तो था ही, सर्वसाधारण को पहुँचने में कठिनाई थी। भजन-साधन करने के लिए यह स्थान आज भी बहुत उत्तम है। भविष्य में भी यहीं रहकर साधना-भजन किया जाये ऐसी इनकी आन्तरिक भावना बन गयी।

इधर श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण स्थान के महान्तप्रवर प्रातःस्मरणीय परमपूज्य श्रीअचलदास जी महाराज थे। दोनों स्थानों का संचालन वे स्वयं कर रहे थे। उनके पास कोई सुयोग्य एवं प्रभावशाली शिष्य नहीं था जो इन दोनों स्थानों का पूर्णरुपेण विकास कर सके। ऐसी विषम परिस्थिति

से उनके अन्तःकरण में अशान्ति थी। श्रीब्रह्मचारी जी उनके स्थान में निवास कर चुके थे। श्रीअचलदासजी महाराज, श्रीब्रह्मचारीजी महाराज की साधना- तपस्या-त्याग- वैराग्य से ज्यादा संतुष्ट थे और उनके प्रति आकर्षित थे। इनकी आन्तरिक भावना थी कि श्रीब्रह्मचारीजी जो, पवित्र कुल में उत्पन्न हैं। स्वरूप से अत्यन्त सुन्दर एवं तेजवान् हैं, इन्द्रियों एवं वाणी से संयमित हैं, सद्व्यवहार में कुशल एवं गम्भीर हैं, आचार-विचार से पवित्र हैं, आचरण भी पावन है, भगवान् एवं सन्तों के प्रेमी हैं, साधना में सफल हैं, शास्त्री गुणों से सम्पन्न हैं, स्मृति अच्छी है, कार्यिक कुशलता है, रहनी संत की है आदि सर्वगुण सम्पन्नता के नाते ये भगवान की सम्पत्ति सुरक्षित रख सकते हैं और उसका पूर्णरूपेण विकास कर सकते हैं। इन विशेष गुणों को याद करने से उनके हृदय में बहुत बड़ा आकर्षण हो गया कि यदि ये किसी प्रकार मेरी शिष्यता स्वीकार कर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाते हैं तो मेरे स्थान का एवं मेरा भाग्योदय हो जाये। मैं पूर्णरूप से इन्हें स्थान की सारी सुव्यवस्था का भार देकर निश्चिन्त हो जाऊँगा और निरन्तर अपने इष्टदेव का स्मरण-चिन्तन करते हुए जीवन बिताऊँगा। जन्म लेने का सबसे बड़ा फल भगवान् का भजन-स्मरण है। यही परम लाभ है, इसे प्राप्त करुँगा। परमपूज्य श्रीअचलदासजी महाराज ने अपने किसी प्रिय एवं विश्वसनीय जन के द्वारा श्रीब्रह्मचारीजी महाराज को उपर्युक्त अपनी अभिलाषा व्यक्त करवायी। श्रीब्रह्मचारीजी महाराज भी गौमुख-स्थान वशिष्ठाश्रम एवं पूज्यनीय श्रीअचलदासजी महाराज से आकर्षित थे। इनकी भी गौमुख की विशेषताओं एवं भजन सम्बन्धी सुविधाओं को देखकर वहाँ पर भजन करते हुए निवास करने की आन्तरिक अभिलाषा हो गयी थी। महाराजश्री से वार्ता हुई। श्रीब्रह्मचारीजी ने भी श्रीमहाराजजी के सम्मुख अपनी भावना व्यक्त की, महाराजश्री! आपका स्थान विशाल है, कार्य क्षेत्र बड़ा है। इसमें कुछ उलझी समस्यायें भी हैं। अतः कार्यसंचालन एवं सुव्यवस्था को संतुलित रखने के लिए पूरी स्वतन्त्रता एवं कोर्ट से भी पूर्णरूप से अधिकार रहेगा तभी कार्यकर्ता अपने कार्य में सफल हो सकता है। यदि आप मुझमें विश्वास रखते हैं तो ये समयानुकूल आवश्यक सुविधायें स्थानीय भार स्वीकार होने के साथ ही मिलनी चाहिए। ऐसा होना अत्यन्त आवश्यक है। इतना हो जाने से स्थानीय विकास बहुत जल्दी होगा, जिससे आप बहुत संतुष्ट होंगे। महाराजश्री ने सब बातें सुन लीं और बहुत सोच-समझकर पूर्णरूप से स्वीकृति दे दी कि आप जैसा चाहेंगे वैसा ही होगा। उसमें किंचित् भी परिवर्तन नहीं होगा। मैं आपसे पूर्ण विश्वस्त हूँ। निम्बार्कीय वैष्णवता आप सहर्ष स्वेच्छा से स्वीकार करें। भगवान् श्रीराधाकृष्ण पूर्णरूपेण हर दृष्टि से आपको सफलता दें, ऐसी मेरी हार्दिक भावना है। आप जैसा सुजन भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होता है। स्थानीय कार्य एवं व्यवहार के लिए आपको पूर्णरूप से स्वतन्त्रता रहेगी। आपको मैं पहले ही कह चुका हूँ कि आपमें मुझे किसी प्रकार की शङ्का नहीं है। भविष्य में यदि कोई द्वेषवश आपकी निन्दा-शिकायत करे तो भी उस पर विचार नहीं किया जायेगा और वह निन्दित बात आपको बता दी जायेगी। पूज्यश्री अचलदासजी महाराज की शुद्ध एवं निश्छल भावनाओं को सुनकर श्रद्धेय श्रीब्रह्मचारीजी भी अति संतुष्ट हुए एवं महाराजश्री से दीक्षित होना स्वीकार कर लिये।

पवित्रात्मा महान्त श्रीअचलदासजी महाराज का घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्धपुर कर्दमआश्रम (कर्दमवाड़ी) के महान्त मेरे सद्गुरुदेव विद्वद्वर श्रीभीमाचार्यजी महाराज से विशेष था। महाराजश्री ने उनको सूचना देकर बुलवाया। दीक्षा देने की तिथि निश्चितकर उनकी साक्षी में श्रीब्रह्मचारीजी को निम्बार्कीय वैष्णवीय दीक्षा प्राप्त हुई। श्रीब्रह्मचारीजी महाराज सन्त तो पहले से ही थे, पर अब वे वैष्णव संस्कार से संस्कारित हुए। उनका पञ्चसंस्कार के अनुसार नामकरण **"युगलशरण"** हुआ। दीक्षा संस्कार के बाद ब्रह्मचारीजी

पूज्यचरण महान्त श्रीअचलदासजी महाराज के कृपापात्र हुए। दीक्षा संस्कार होने के बाद कृपामूर्ति श्रीअचलदासजी महाराज ने गोमुख एवं पाठ्नारायण दोनों ही स्थानों की कोर्ट में ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी के नाम से पक्की लिखा-पढ़ी कर दी और स्वयं स्थानीय भार से निश्चिन्त हुए। महाराजश्री ने श्रीयुगलशरणजी को पूरी तरह छूट दे दी और बोले-युगलशरणजी! आप स्थान का उत्थान करें, अपने संस्कार एवं मन-बुद्धि के अनुसार चलावें, आपको पूरी स्वतन्त्रता है। दीक्षा और स्थानीय लिखा-पढ़ी के बाद भगवान् के अनुग्रह से गुरु-शिष्य में बहुत प्रेम बढ़ा। दोनों एक दूसरे के अनुकूल हुए। दोनों में परस्पर प्रीति बढ़ी। परस्पर के शुद्ध व्यवहार का फल यह हुआ कि गोमुख-वशिष्ठ आश्रम एवं पाठ्नारायण दोनों ही स्थानों का उत्तरोत्तर उत्थान हो रहा है और आगे भी उत्थान की चरम सीमा तक पहुँचने की पूर्ण सम्भावना है, ऐसा विश्वास किया जा रहा है। श्रीब्रह्मचारीजी के स्थान में संत-सेवा एवं सुव्यवस्था श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय में तो सर्वोपरि है ही और अन्य सम्प्रदायों में भी ऐसी सुव्यवस्था बहुत कम मिलेगी। यहाँ की सुव्यवस्था एवं सन्त-सेवा अन्य दूसरे स्थानों के सन्तों, महन्तों के लिए अनुकरणीय है।

परस्पर के संघर्ष में ब्र० श्रीयुगलशरणजी की सिरोही दरबार पर कोर्ट से विजय :-

सन् 1973 में राजस्थान-देवस्थान-विभाग ने सिरोही देवस्थान बोर्ड के मन्दिरों की सूची में, जिसका अध्यक्ष सिरोही का राजा ही था, मन्दिरों की स्वतन्त्र-व्यवस्था को हटाकर अपने हाथ में लेना चाहा। राजा की लिस्ट में वशिष्ठ आश्रम का भी नाम था। अतः देवस्थान-बोर्ड सिरोही जब रजिस्ट्रेशन कराने लगा तो 53 मन्दिरों को अलग-अलग नोटिस देना जारी किया कि अगर सिरोही-देवस्थान बोर्ड से किसी को विरोध हो तो कोर्ट में आकर दाखिलकर, पेश करे। उन मन्दिरों में से वशिष्ठाश्रम से ब्र. श्रीयुगलशरणजी महाराज, मधुसूदनाश्रम से (माधवाश्रम) रामदासजी शास्त्री खड़े हुए। ब्रह्मचारीजी महाराज ने विरोध में लिखा- जब सिरोही राज्य का अस्तित्व नहीं था। तब भी वशिष्ठ आश्रम और इसकी गद्दी सुरक्षित थी। सिरोही राज्य करीब पाँच सौ वर्ष रहा। उस समय भी सम्पूर्ण सिरोही राज्य में मेरी गुरु-परम्परा कायम रही। अब सिरोही राज्य समाप्त हो गया है। भारत सरकार आ गयी है तो भी मेरी गुरु-परम्परा सुरक्षित और स्वतन्त्र है। इसके पूर्व सिरोही राज्य परिवार ने वशिष्ठाश्रम का एकाउण्ट चेक नहीं किया और उत्तराधिकारी के चयन में विरोध नहीं किया। यह संस्था सदैव साधु-समाज द्वारा स्वतन्त्र रूप से कार्य करती आयी है और आज भी स्वतंत्र है। इस प्रकार सिरोही दरवार और ब्रह्मचारीजी से परस्पर विरोध में कोर्ट में केस दाखिल हुआ और केस चला, पर राजा ने अपने प्रभाव और रुपये के बल से अपने अनुकूल फैसला करवाया। इसी प्रकार दूसरे देवस्थान की कोर्ट में भी राजा के पक्ष में ही फैसला हुआ। फिर सेसन और हाईकोर्ट में भी केस चला। आखिर में सुप्रीम कोर्ट में केश गया। सुप्रीम कोर्ट में श्रीब्रह्मचारीजी का मुद्दा यह था कि जिस समय देवस्थान-बोर्ड सिरोही की तरफ से कानून बनाया गया, उस दिन सिरोही स्टेट को इस प्रकार के कानून बनाने का अधिकार समाप्त हो गया था। यह प्रूफ सुप्रीमकोर्ट में प्रमाणित किया। इससे देवस्थान-बोर्ड सिरोही बहस के दौरान में भङ्ग होने की स्थिति में आ गई। सिरोही का राजा उस समय वहीं उपस्थित था। वहीं ब्र. श्रीयुगलशरणजी भी उपस्थित थे। इस प्रकार की विलक्षण और भयावह परिस्थिति देखकर सिरोही के राजा ने कोर्ट परिसर में ही साष्टांग दण्डवत् प्रणामकर घबड़ाकर क्षमा माँगी, अपनी भूल स्वीकार की। फिर सोच-समझकर ब्र. श्रीयुगलशरणजी महाराज ने बहस रुकवायी। बाद में ये समस्त परम्परागत अधिकारों की सुरक्षा रखते हुए कागजात तैयार किये। दोनों पक्ष के हस्ताक्षर सहित समझौता करके सुप्रीमकोर्ट में पेश किये। इस तरह से परस्पर

वाद-विवाद की इति श्रीहुई। इस विवाद में 26 साल का समय बर्बाद हुआ। राजस्थान सरकार के साथ भी केश चला। इस केश में भी 15 वर्ष का समय लगा। फैसला इनके अनुकूल हुआ। रेवेन्युबोर्ड से फैसला करवाकर वशिष्ठाश्रम की जमीन सुरक्षित रखी। इस समय भी वशिष्ठाश्रम के आस-पास की 4226 बीघा 17 बिस्वा जमीन वशिष्ठाश्रम के नाम से दर्ज है। नीचे अम्बाबेरी-स्थान है। वहाँ की जमीन के लिए भी काफी संघर्ष करना पड़ा। यहाँ भी श्रीब्रह्मचारीजी सब प्रकार से सफल हुए। इस स्थान में भी जमीन अधिक है और खेती अच्छी प्रकार से होती है। यह स्थान वशिष्ठाश्रम के अन्तर्गत है और यहाँ के माध्यम से श्रीवशिष्ठजी की सेवा होती है।

अनेक प्रतिकूल-परिस्थितियों को पार करते हुए श्रीयुगलशरणजी महाराज स्थानीय व्यवस्था सुचारु रूप से चला रहे थे। इसी बीच "जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः" के विधान से इनके श्रीगुरुजी महाराज का 1 मार्च 1977 को फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन 10 बजकर 15 मिनट पर गोलोकवास हो गया। अन्तिम संस्कार में जो भी संत-समाज की परम्परा से कृत्य किये जाते हैं, शास्त्रीय विधि-विध ाान से पूर्णरूप से करवाये। भेंट-विदाई द्वारा संतों-ब्राह्मणों को विशेष रूप से संतुष्ट किये। बाद में वैष्णव-संतों की परम्परानुसार इनकी महन्ताई का कार्य भी 15 जून 1979 को सम्पन्न हुआ। महन्ताई में भी सन्तों-महन्तों-ब्राह्मणों को सेवा सत्कार एवं भेंट आदि द्वारा पूर्णरूप से संतुष्ट किये एवं शुभाशीर्वाद प्राप्त किये जिसका फल प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है कि श्रीठाकुरजी की सेवा एवं अतिथियों की सेवा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

शुरू से ही श्रीब्रह्मचारीजी महाराज की सन्तों में विशेष श्रद्धा थी। सन्तों की सेवा में विशेष रूचि थी और अभी-भी विशेष है। सन्त-सेवा श्री ठाकुर जी की सेवा, श्रीवशिष्ठ जी की सेवा, गायों की सेवा, अतिथि अभ्यागतें की सेवा में इनके समय में ज्यादा विकास हुआ। वशिष्ठाश्रम तीर्थस्थल तो है ही दर्शनार्थी भी अधिक आते हैं। तीर्थ यात्रियों को भी इनके स्थान की तरफ से विशेष सानुकूलंता (खान-पान-चाय सोने-बैठने आदि) अनुकूल सुविधाएँ मिलने से जनता का भी आकर्षण इस स्थान के प्रति विशेष रहा। दवा करने में इनको सिद्धि थी ही। इनके ऊपर भगवान् का इतना अनुग्रह था कि जड़ी बूटियाँ स्वयं आकर सभी इनको संकेत करती थीं कि अमुक रोगी को अमुक बूटी (दवा) दी जाय। रोगी को अनुकूल दवा मिलने से रोग शीघ्र ही दूर हो जाता था। जनता में इनकी दवा के सम्बन्ध में बहुत प्रचार हो गया। अतः कई तरफ से स्थानीय सेवा की सुविधा प्राप्त हो गई। ये शुरू से ही इतने प्रतिभाशाली हैं कि रहन-सहन बड़े लोगों का है और इस समय का तो कहना ही क्या है। वशिष्ठाश्रम एवं अम्बाबेरी दोनों स्थानों की जमीन के सम्बन्ध में काफी संघर्ष रहा। इनके पुरुषार्थ एवं पूर्ण प्रयास से सारे संघर्ष शान्त हो गये। बाद में श्रीवशिष्ठाश्रम की सेवा एवं संचालन का भार अपने प्रिय शिष्य श्रीभक्तवत्सलशरण जी को देकर स्वयं पाटनारायण स्थान में रहने लगे।

भक्तवत्सल शरण जी भी सुयोग्य हैं, मिलनसार हैं, पुरुषार्थी हैं। ये भी अपने समय में उत्तरोत्तर स्थान का विकास कर रहे हैं। श्रीवशिष्ठाश्रम के महान्त पद पर हैं। श्रीब्रह्मचारी जी के पाटनारायण आने के पूर्व इनके गुरुजी महाराज पूज्य श्री अचलदास जी महाराज पाटनारायण ही रहते थे। वे अपने स्थान को सुरक्षित रखते थे, पर किन्हीं परिस्थितियों के कारण स्थान का विकास नहीं कर पाये थे। जब से श्रीयुगल शरण जी ब्रह्मचारी रहने लगे, तब से यहाँ सन्तों का आना-जाना ज्यादा हो गया। श्रीठाकुर जी की सेवा विशेष रूप से होने लगी। श्रीठाकुर जी की फुलवारी-खेतीबारी में विकास होने लगा। जब वशिष्ठाश्रम में ये रहते थे तभी एक सन्त श्रीरामशुभगदासजी पुजारी, जो वृन्दावन से ही गये थे, ठाकुर

जी की सेवा बड़ी ही श्रद्धा से करते थे और श्रीब्रह्मारी जी में ज्यादा भाव रखते थे। इनके चलते श्रीठाकुर जी की तरफ से बिलकुल निश्चिन्त थे। अब श्रीपुजारी जी का शरीर नहीं रहा है।

वैद्य की योग्यता तो इनमें पहले से थी। रोग के निदान करने की इनमें सिद्धि प्राप्त है। नाड़ी पकड़ कर ही बता देते हैं कि किस रोगी को क्या रोग है। उस रोग की दवा की जानकारी इनको भगवद् अनुग्रह से ठीक ज्ञात है। जो रोगी आते हैं ठीक होकर जाते हैं। इससे इनका पूरे भारतवर्ष में विशेष प्रचार हो गया। भारतीयों के सम्पर्कीय विदेश में भी हैं। अतः विदेश से भी लोग, टी0वी0 के रोगी, कैंसर के रोगी और हृदय रोग के रोगी ज्यादा आते हैं और प्रायः सफल ही होकर जाते हैं। दवा के माध्यम से स्थान का बहुत बड़ा विकास हुआ है। अभी पिछले कई वर्षों से इनके प्रिय एवं विशेष अनुकूल सेवक श्रीसर्वेश्वर दास जी थे, जो इनकी सेवा में रहते थे। इनके विशेष अनुग्रह से, इनके माध्यम से वे विशेष योग्यता प्राप्त कर लिये थे, उनकी भी दवा खूब लग जाती थी और रोगी विशेष संतुष्ट थे। इनकी जगह पर बैठकर दवा देना शुरू किये थे। उनके समय में इनको काफी सुविधा प्राप्त हुई उनके चलते हर क्षेत्र में श्रीब्रह्मचारी जी महाराज निश्चिन्त थे, पर अब वे इस संसार में नहीं रहे। अब फिर पूरी जिम्मेदारी स्वयं ही निभा रहे हैं। चाहे जो भी हो इनके समय से हर क्षेत्र में स्थान का अति विकास हुआ है, जिसका अनुमान नहीं किया जा सकता। मंदिर का जीर्णोद्धार भी कराये हैं। निम्बार्क द्वार इतना बड़ा और बढ़िया बनवा रहे हैं कि इस समय राजाओं के यहाँ भी ऐसा नया नहीं बनता दीखता। स्थान का रहन-सहन व्यवहार राजशाही है, सुव्यवस्था भी वैसी ही है। सन्तों की तो भीड़ ही लगी ही रहती है। यहाँ प्रसाद और दक्षिणा से महात्मा संतुष्ट रहते हैं और इनको बड़ी श्रद्धा के साथ याद करते हैं। इनकी शिष्य परम्परा का भी ज्यादा विकास हुआ है। स्थानों की ज्यादा वृद्धि हुई है। आबू रोड में श्रीरामजी का मन्दिर है, इसका विशेष विकास किये हैं और यहाँ भी सन्त-सेवा अच्छी हो रही है। श्रीरामजी मन्दिर की देखभाल श्रीब्रह्मचारीजी महाराजजी की प्रेरणा से सञ्जयशरणजी कर रहे हैं। हरिद्वार में भी ये स्थान बनवाये हैं और वहाँ भी सेवा अच्छी चल रही है। सन्त-समाज में इनका विशेष सम्मान है। ये आदर के पात्र हैं और प्रायः सभी सन्तों को प्रिय हैं। सन्त-सेवा के साथ-साथ ये विदाई भी देते हैं। इसलिए सन्त ज्यादा प्रसन्न हैं। अभी आठ-दस मास से श्रीभक्तिहृदयशरणजी (श्रीभोलाजी) औषधालय में बैठने लगे हैं। अतः श्रीब्रह्मचारीजी को पुनः सानुकूलता मिल गई है।

शास्त्रीय ग्रन्थों एवं अपने पूर्वाचार्यों के सद्ग्रन्थों में महान्तजी की सद्रुचि का विवेचन :-

ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरण जी महाराज की निष्ठा शास्त्रीय ग्रन्थों में भी है। इनके यहाँ बड़ा पुस्तकालय है। उसमें शास्त्रीय ग्रन्थ ही है। शास्त्रीय ग्रन्थों के साथ-साथ इनकी अपने आचार्यो के ग्रन्थों में भी अत्यन्त निष्ठा है। प्रातर्वन्दनीय आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य जी की परम्परा में जो भी विद्वान् आचार्य या सुयोग्य विद्वान् सन्त हुए हैं, जिनके ग्रन्थों में आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् के द्वैताद्वैत सिद्धान्त की विवेकपूर्ण पुष्टि है, उन ग्रन्थों में भी श्रीब्रह्मचारी जी महाराज की अति निष्ठा है।

एक बार मैं श्रीजी की बड़ी कुञ्ज गया था। अधिकारी पूज्य श्री व्रजवल्लभशरण जी महाराज की उपस्थिति में प्रायः श्रीजी बड़ी कुञ्ज (वृन्दावन) में जाया करता था। वहाँ से मैंने आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों को खरीद कर लाया। उन ग्रन्थों में "वेदान्त कौस्तुभ प्रभा" भी थी जिसकी रचना जगद्गुरु निम्बार्काचार्य अनन्त श्रीविभूषित श्रीकेशवकाश्मिरी भट्टाचार्य जी ने की है। जिस पर पं. प्रवर गोलोकवासी श्रीअमोलकरामजी शास्त्री जी की संस्कृत में टीका है। इस ग्रन्थ को मैंने पढ़ा। इसके बाद
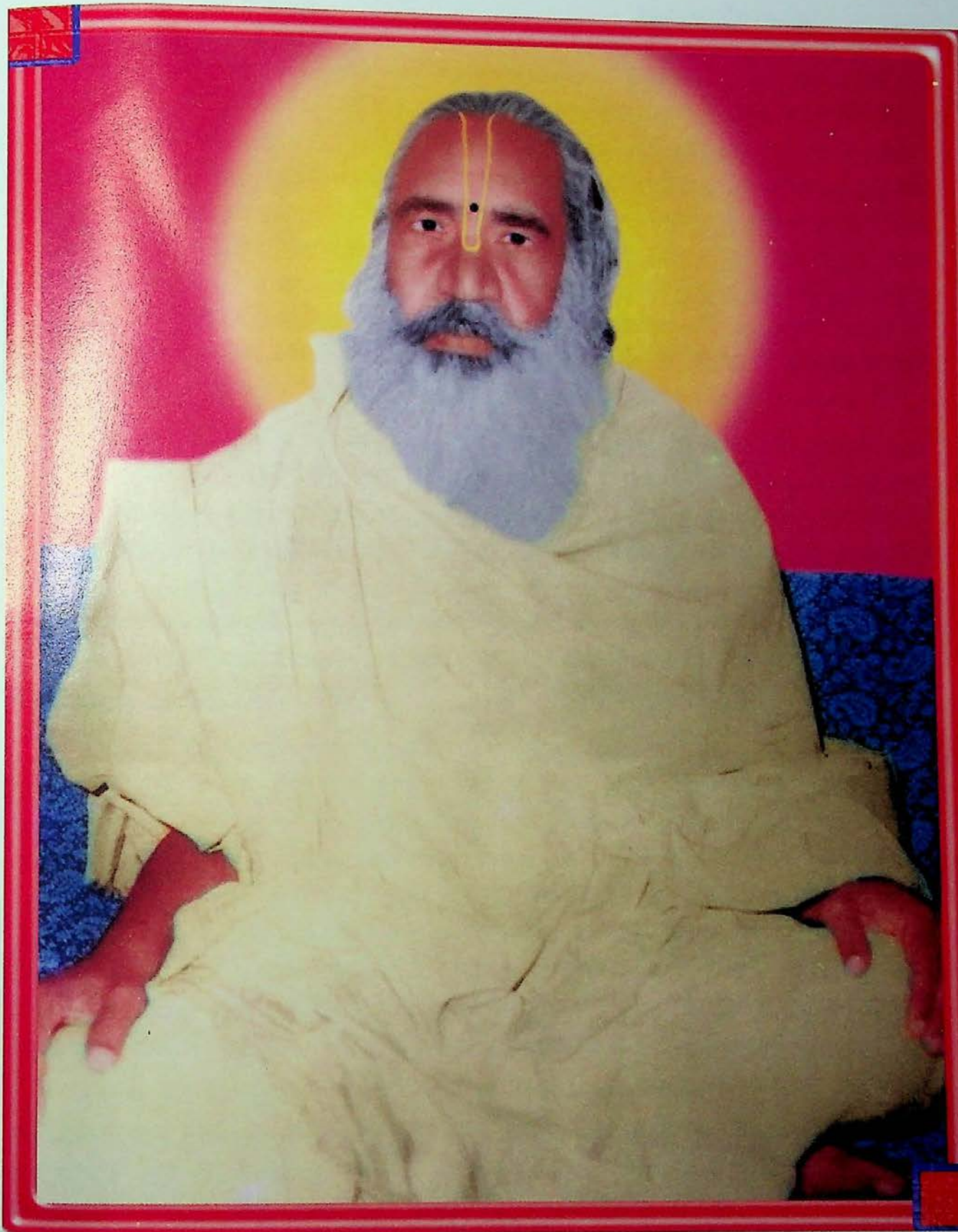
विद्वद्वर्य श्रीभीमाचार्य जी महाराज

गुरु- नैयायिक श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री

स्थान - कर्दमाश्रम (कर्दम बाड़ी) बिन्दु सरोवर रोड़, सिद्धपुर, गुजरात

मैंने विचार किया कि अधिक श्रद्धालुजन संस्कृत भाषा की जानकारी के अभाव में लाभ नहीं ले सकते। बार-बार भावना हुई कि इसका हिन्दी अनुवाद हो जाय तो अधिक संख्या में लोग लाभ लेंगे। इस ग्रन्थ के प्रति निम्बार्क सम्प्रदाय के सन्तों भक्तों में तो श्रद्धा है ही अन्य सम्प्रदाय वाले भी बड़ी श्रद्धा से पढ़ने की भावना करते हैं। मैंने बार-बार विचार किया कि किसके माध्यम से इस ग्रन्थ का अनुवाद कराया जाय। ब्रह्मचारी जी महाराज मेरे गुरु जी महाराज पूज्य श्रीभीमाचार्य महाराज के वार्षिकोत्सव में मेरे ही यहाँ आये हुए थे। इसकी चर्चा मैंने श्रीब्रह्मचारी जी महाराज से की। उन्हें ग्रन्थ दिखाया भी। मैंने उनसे कहा- इस ग्रन्थ का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद हो जाय तो बहुत बड़ा कार्य हो जाय। ब्रह्मचारी जी ने सुनते ही उत्तर दिया- इसका हिन्दी में अनुवाद करवाइये। जो भी अनुवाद कराने में खर्च लगेगा, उसे पूरा मैं दे दूँगा। अनुवाद होने के बाद उसके प्रकाशन में जितना भी खर्च पड़ेगा, वह सब भी मैं दे दूँगा। आप इस कार्य को अवश्य कराइये। इसका प्रकाशन कराइये।

इसके बाद मैं परम विद्वान् न्याय, व्याकरण, वेदान्ताचार्य (शाङ्करवेदान्त एवं निम्बार्क वेदान्त) श्रीवैद्यनाथ झा जी (पूर्व प्राचार्य, श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय) से मिला और उनसे अपनी अभिलाषा प्रकट की। उन्होंने स्वीकृति दे दी कि हिन्दी अनुवाद कर दूँगा। श्रीझा जी ने पूरा हिन्दी अनुवाद करके दे दिया। उनके अनुकूल उनकी सेवा भी की गई। श्री झाजी की नम्रता, सरलता, विद्वत्ता, ब्राह्मणपना एवं वैष्णवता अत्यन्त सराहनीय है। इनसे जब भी जो भी पूछिये उसी समय सारे कार्यों को छोड़कर शीघ्र शास्त्रसम्मत उत्तर बड़ी श्रद्धा से मिलता है। आज के जमाने में इनके जैसा विद्वान् मिलना मुश्किल है। श्रीश्यामाश्याम जी इनके ऊपर कृपा कर इन्हें निरोग एवं चिरंजीव रखें, यह अपनी हार्दिक भावना है।

श्रीब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज की उदारता अत्यन्त सराहनीय है। इस ग्रन्थ के अनुवाद एवं प्रकाशन में मुझे ये बड़ी श्रद्धा एवं उदारता के साथ रुपये अर्पित करते रहे हैं। आगे चलकर ग्रन्थ-प्रकाशन में जितने भी रुपये की आवश्यकता पड़ेगी ये निश्चित सेवा करेंगे। इनके समान दूसरा हमारे लिये मिलना मुश्किल है। सम्प्रदाय में बहुत सन्त-महान्त सम्पत्तिशाली हैं, पर ऐसे कार्यों के लिए दूसरे कम ही मिलेंगे। मैं कोई योग्य नहीं हूँ। रहनी साधारण है। फिर भी श्रीब्रह्मचारी जी महाराज मुझसे श्रद्धा रखते हैं, यह भी उनकी महानता है। श्रीब्रह्मचारीजी महाराज की वर्तमान जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरण देवाचार्यजी महाराज श्रीजी महाराज में अत्यन्त श्रद्धा है। उनकी तन-मन-धन से पूर्ण सेवा करते हैं। आयुर्वेद की मर्मज्ञता इनके अन्दर तो है ही। इसका उपयोग श्रीजी महाराज की सेवा में पूर्ण रूप से करते हैं। ये भी उनको प्रिय हैं।

इनके यहाँ रोगी- जयपुर, अजमेर, बंबई, इन्दौर, उज्जैन आदि से ज्यादा संख्या में आते हैं। दवा का खर्च ज्यादा है। महेशाना निम्बार्क फार्मेसी के वैद्य श्रीछगनलाल जी प्रायः श्रीब्रह्मचारी जी के यहाँ दवा पहुँचाते रहते हैं। श्रीनिम्बार्क फार्मेसी के संस्थापक हमारे गुरुदेव श्रीभीमाचार्य जी महाराज, कर्दमाश्रम (कर्दमबाड़ी) विन्दु सरोवर रोड, सिद्धपुर ही रहते थे। इन्होंने ही अपने सेवक एवं सद्गृहस्थ शिष्य श्री छगनभाई वैद्य को निम्बार्क फार्मेसी दी थी। अब इन्होंने इस फार्मेसी का बहुत विकास किया है। इनके सभी लड़के नटवर आदि इस फार्मेसी की सेवा में लगे हैं और सभी विकास में हैं। प्रातः स्मरणीय गुरुदेव श्रीभीमाचार्य जी महाराज की कृपा से छगन भाई वैद्य (छगनलाल ओझा) का ज्यादा

विकास हुआ है। इन्हें गुरु जी को हर क्षेत्र में याद रखना चाहिए और उनके नाम को भी उजागर करना चाहिए, पर ये किस कारण से एवं किस कमजोरी के चलते कुम्भों आदि में अपने दवाखाने में ऊपर संस्थापक गुरुजी का गौरव के साथ नाम नहीं लिखते। यह भी आश्चर्य ही करता हूँ। पूज्य गुरुदेव श्रीभीमाचार्य जी महाराज के प्रति प्रातः स्मरणीय जगद्‌गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य जी महाराज वर्तमान श्रीजी महाराज के हृदय में विशेष स्थान था, यह मैंने अपनी आँखों से देखा है और सुना भी है। ऐसे छगन लाल जी के हृदय में गुरु जी के प्रति विशेष निष्ठा है। सिद्धपुर स्थान का भी विकास चाहते हैं और प्रयासरत हैं। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज का कर्दमाश्रम के प्रति भी विशेष आकर्षण है ये उस स्थान का पूर्ण विकास चाहते हैं, इनका वहाँ से विशेष सम्पर्क रहा है। इस समय में वर्तमान महान्त नारायण शरण जी को बैठाने में इनका ही पूर्ण प्रयास था। स्थान की सुव्यवस्था के लिए इन्होंने काफी मदद दी है और आगे के लिए भी इनकी हितभरी दृष्टि है। नारायणशरण जी भी बिलकुल इनके अनुकूल हैं। आवश्यकता पड़ने पर हर समय इनकी सेवा के लिए तैयार रहते हैं। इस स्थान का प्रारम्भ से ही परस्पर सुन्दर व्यवहार एक दूसरे के प्रति रहा है। भगवान् करें आगे भी ऐसा ही परस्पर भाव बना रहे।

कर्दमाश्रम और वशिष्ठाश्रम का प्राचीनतम सम्बन्ध

सिद्धपुर कर्दमाश्रम अति प्राचीन है। परमतपस्वी कर्दम ऋषि का यही आश्रम है एवं सांख्य शास्त्र के प्रणेता भगवान् कपिल की जन्मस्थली है। परमभक्त, सूक्ष्मातिसूक्ष्मदर्शी, महाज्ञानी, सर्वेश श्रीराम के सद्‌गुरुदेव, भगवान् श्रीवशिष्ठजी की धर्मपत्नी दया की मूर्ति अरुन्धतीजी परमज्ञानी प्रजापति कर्दमजी की प्रिय पुत्रियों में से हैं। अतः सिद्धपुर कर्दमाश्रम और अर्बुदाचल के वशिष्ठ आश्रम का सम्बन्ध सृष्टि के आरम्भ से ही अति प्राचीन हैं। कर्दमाश्रम (कदमबाड़ी) महान्त श्रीभीमचार्यजी महाराज से भी पूर्व अनेक पीढ़ियों से निम्बार्कीय सन्तों का रहा है। इसी प्रकार श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण इस वर्तमान परम्परा के 42वें आचार्य श्रीराधिकादासजी महाराज से भी पूर्व अनेक पीढ़ियों से निम्बार्कीय सन्तों का है। आचार्यप्रवर श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य जी महाराज की शिष्य परम्परा में श्री नरोत्तमदेवजी महाराज का उल्लेख वशिष्ठाश्रम के शिलालेख में सम्वत सहित लिखा हुआ है। पूर्वकाल से ही दोनों स्थानों के महन्तों में परस्पर घनिष्ठता थी। वर्तमान में सिद्धपुर कर्दमाश्रम (कर्दमबाड़ी) में एक विशाल घण्टा है। जो पाँच सौ वर्ष पुराना है, नेपाल नरेश द्वारा प्रदत्त है। उस पर संस्थापित दिवस की तिथि भी अंकित है। यह घण्टा भी दर्शनीय है।

नोट :–

सम्प्रदाय का सबसे बड़ा क्लिष्ट ग्रन्थ पर पक्ष गिरिवज्र है। इसके लिए मैंने विशेष प्रयास किया कि इसका हिन्दी अनुवाद हो जाय। अनुवाद करने में बहुत परिश्रम पड़ता है। इस कार्य की सेवा में जो भी आवश्यकता पड़े उसकी सानुकूलता देने के लिए मैं बिलकुल तैयार था, पर अभी तक कोई विद्वान् इस कार्य को करने के लिए तैयार नहीं हुए। परम साहसी एवं दार्शनिक विद्वान् पं. श्रीवैद्यनाथ जी झा इसका अनुवाद कर सकते हैं, यह तो उनका विषय ही है पर बुढ़ापा एवं रोगग्रस्त होने से असमर्थ हैं।
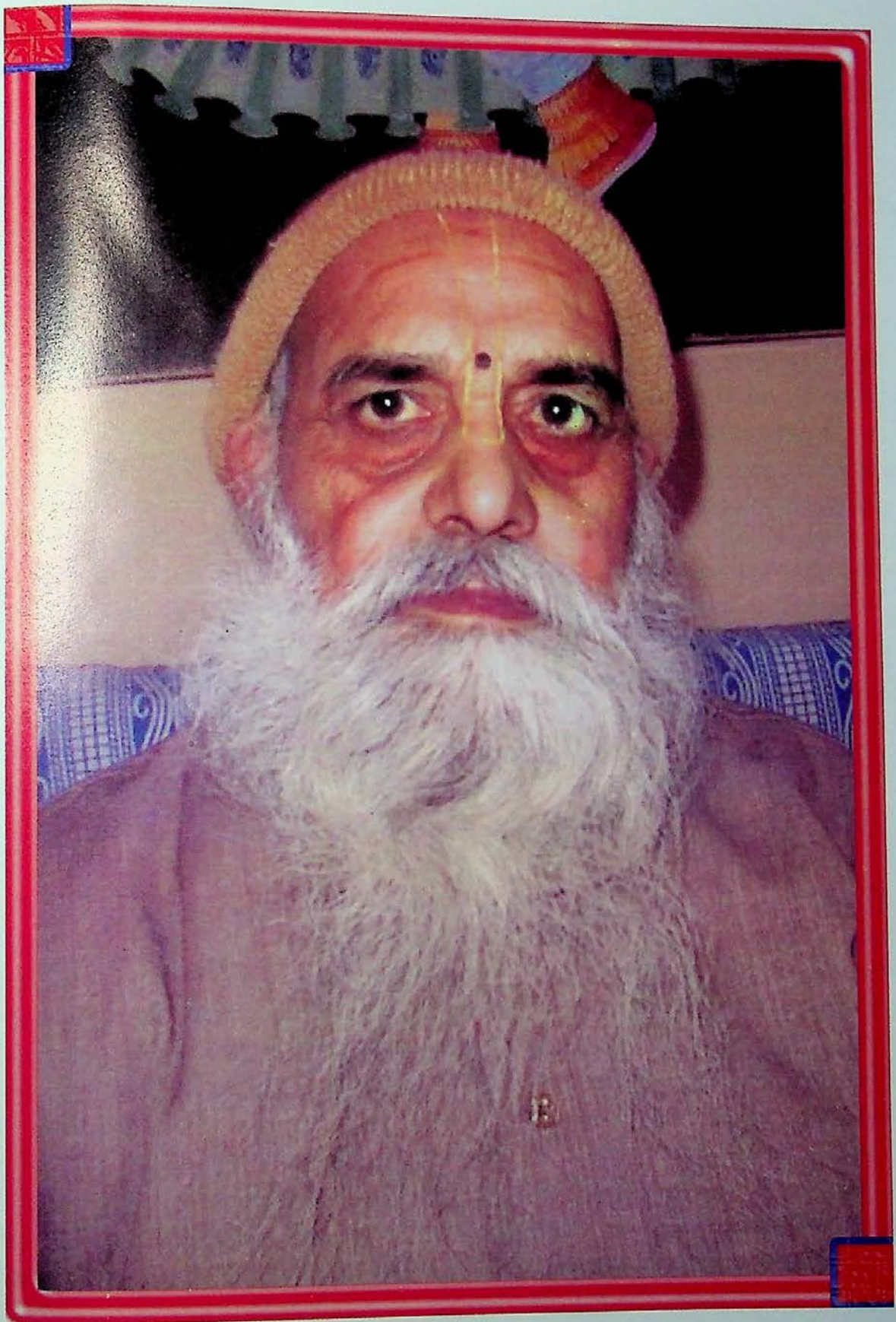
आयुर्वेदाचार्य महान्त श्रीयुगलशरणजी महाराज

गुरु श्रीअचलदासजी महाराज

स्थान – पाटनारायण मन्दिर, गिरिवर, चेनार, आबू रोड़ (राजस्थान)

।। श्रीराधाकृष्णाभ्याम् नमः।।

ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज की गुरु-मन्त्र परम्परा

महान्तवर्य आयुर्वेद, मर्मज्ञ, ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य-पीठ, श्रीनिम्बार्क-तीर्थ (सलेमाबाद) के संस्थापक अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुराम देवाचार्यजी की परम्परा में हैं।

अनादिवैदिक सनातन निम्बार्क सम्प्रदाय के आदिप्रवर्तक श्रीहंस भगवान हैं। श्रीहंस भगवान् के शिष्य भगवान् श्रीसनकादि मुनिजन हैं, सनकादिकों के शिष्य देवर्षि प्रवर श्रीनारदजी हैं। श्रीनारदजी के शिष्य श्रीसुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य भगवान् श्रीनिम्बार्क हुए। भगवान् श्रीनिम्बार्क ने लोक में "द्वैताद्वैत" नामक मत (सिद्धान्त) की स्थापना की। भगवान् वेदव्यासजी के लिखे ब्रह्मसूत्रों पर वेदान्त-पारिजात-सौरभ नामक वृत्ति की रचनाकर अपने मत का मण्डन किये। इसके बाद इनके शिष्य पाञ्चजन्य शंखावतार अनन्त श्रीविभूषित निम्बार्काचार्य श्रीनिवासाचार्यजी हुए। उन्होंने वेदान्त-पारिजात सौरभ का पूर्णरूप से मण्डन करते हुए उसकी ही विस्तृत व्याख्याकर ब्रह्म-सूत्र पर "वेदान्त-कौस्तुभ" नामक भाष्य की रचना की। तदनन्तर इसी परम्परा के 33वें आचार्य एवं भगवान् श्रीनिम्बार्क के परवर्ती 30वीं पीढ़ी में जगद्विजयी आचार्यवर श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य हुए जिन्होंने प्रस्थानत्रयी (ब्रह्म-सूत्र उपनिषद्, गीता) पर विस्तृत व्याख्याकर वेदान्त कौस्तुभ भाष्य की पुष्टि करते हुए "वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा" नामक भाष्य की रचना की। इसकी रचना संस्कृत भाषा में है। इसी संस्कृत भाषा में लिखी व्याख्या का हिन्दी भाषा में अनुवाद इस ग्रन्थ में किया गया है जिसका प्रकाशन हो रहा है। आचार्यवर श्रीनिवासाचार्यजी के परवर्ती एवं परमाचार्य श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यजी के पूर्वाचार्यों ने भी निम्बार्क भगवान् के वृत्यात्मक भाष्य का सविस्तार अपने रचित ग्रन्थों में मण्डन किया है, पर विस्तार-भय से नहीं लिखा जा रहा है।

इस प्रकार इस परम्परा में हंस भगवान से लेकर श्रीनिम्बार्क भगवान् तक चार आचार्य हुए। श्रीनिम्बार्क भगवान् के बाद 12 आचार्य हुए फिर इनके बाद 18 भट्टाचार्यगण हुए। अतः आचार्यपरम्परा में श्रीहंस भगवान से लेकर यहाँ तक 34 आचार्य हुए। 34वें आचार्यवर श्रीभट्ट देवाचार्यजी हुए। आपने संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में ग्रन्थों की रचना की। इनके ब्रजभाषा में रचित श्रीयुगल-शतक का रसिक समाज में विशेष सम्मान है। 35वें आचार्य श्रीभट्टदेवाचार्यजी के शिष्य परम प्रभावशाली एवं यशस्वी आचार्यवर जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी हुए। इनके द्वारा कई ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचित हैं पर हिन्दी भाषा में रचित श्रीमहावाणीजी का सम्प्रदाय के लोगों में या रसिक समाज में अधिक सम्मान है। रसिक राज-राजेश्वर जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी का तेज, प्रभाव, प्रभुता, सिद्धिबल आदि पूरे भारतवर्ष में संत-भक्त समाज में फैल गया था। इनके प्रभावशाली तेजवान्, विद्वान्, भक्तिमान्, शास्त्रज्ञान् सम्पन्न सिद्ध 12 शिष्य हुये। जिनके नाम पर निम्बार्क सम्प्रदाय में 12 द्वारे हुये। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के बाद 12 शिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य की उपाधि से सुशोभित हुए। इन 12 आचार्यों की जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्य के बाद अपने-अपने आचार्यों के अनुसार अलग-अलग (गुरु-मंत्र) परम्परा है। सभी की अलग-अलग शाखायें, प्रशाखायें हैं जो श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय की सोभा है और जगद्गुरु निम्बार्काचार्यजी के गौरव को बढ़ाते हैं। जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासव्यासदेवाचार्यजी के शिष्यों में श्रीदेवीजी की भी गणना है। इनको लेकर श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय में साढ़े 12 द्वारे हैं। इनके अलावा आचार्यवर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के अनन्त समलंकृत रूप-रसिक देवाचार्यजी भी कृपापात्र थे।

जिनकी रचना श्रीहरिव्यास यशामृत लीलाविंसति आदि ग्रन्थ हैं। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के शिष्यों में श्रीऔदुम्बराचार्यजी भी हैं। औदुम्बर संहिता एवं निम्बार्क विक्रान्ति इन्हीं की रचना हैं।

भगवान् श्रीसर्वेश्वर, जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्य एवं उनकी पीठ :-

पूर्वाचार्यों से पूजित श्रीशालग्रामजी जो साक्षात् राधाकृष्ण ही हैं। ये सम्प्रदाय में परम्परा से ही भगवान् सर्वेश्वर के नाम से बोले जाते हैं। ये सर्वेश्वर भगवान् जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी के बाद इनके 12 शिष्यों में से जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी को प्राप्त हुए। आचार्यवर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी की पीठ (गद्दी) श्रीनिम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) है। इन्हीं की परम्परा की गद्दी पर गुरु परम्परा के क्रम से वर्तमान आचार्यवर जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीराधासर्वेश्वर शरण देवाचार्य श्रीजी महाराज पीठासीन हैं। पूर्वाचार्यों से पूजित श्रीसर्वेश्वर भगवान्इस पीठ में विराजमान हैं। इनकी सेवा एवं भोगराग आदि की सेवा श्री श्रीजी महाराज स्वयं करते हैं। वर्तमान आचार्य श्रीजी महाराज के काल में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय का अधिक विकास हुआ है। इनके द्वारा विशाल-विशाल आयोजन हुए हैं। इनकी वेदों-पुराणों, धर्मशास्त्रों में अत्यन्त श्रद्धा है। ये पूर्वजन्म के ही पुण्यात्मा हैं। आपने संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में अनेकों ग्रन्थों की रचना की है। आपके यश की ध्वजा सर्वतोमुखी फैल रही है। आपकी रहनी, श्रद्धा, भगवान् के प्रति सेवा का भाव जिज्ञासु वैष्णवों के लिए अनुकरणीय है। आप तप-बल, विद्या-बल, विद्वज्जन-बल, धन-बल आदि अनन्तश्री से समलंकृत हैं। अनेकानेक धनवान् सेवा करने की भावना से आपका संकेत पाने के लिए लालायित रहते हैं। **यदि आपकी हार्दिक भावना हो जाये और आप इधर दृष्टिपात करें तो पूर्वाचार्यों के संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थों का जिनकी टीका हिन्दी भाषा में अब तक नहीं हो पायी हैं, का अनुवाद छप जायें। सानुवादित ग्रन्थों का भी दूसरा संस्करण छप जाये। भगवान् श्रीसर्वेश्वर एवं आचार्यगण भक्तों के अनुग्रहार्थ आपको ऐसे परमपुनीत कार्य के लिए प्रेरणा दें, ऐसी हम लोग भावना करते हैं।**

जयपुर स्थलाश्रम, बाईजी राजकुण्ड, श्रीवशिष्ठाश्रम, पाटनारायण स्थान, सिरोहीराज के रामझरोखा एवं राजगुरुमठादि की आचार्य परम्परा :-

जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुराम देवाचार्यजी द्वारा संस्थापित-पीठ श्रीनिम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) है। आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य की परम्परा में ये 36वें आचार्यवर हैं, 37वें आचार्य इनके प्रिय शिष्य श्रीहरिवंशदेवाचार्यजी हुए। श्रीहरिवंश देवाचार्यजी के शिष्य श्रीनारायण देवाचार्यजी 38वें आचार्य हुए। ये बड़े प्रतापी एवं यशस्वी हुए। पीठ का अधिक विस्तार किये। मेवाड़ के महाराणा के विशेष आग्रह से आप उदयपुर पधारे। उनकी श्रद्धामयी भावना एवं विशेष आग्रह से कई वर्षों तक उदयपुर में ही रहे। इनके द्वारा उदयपुर में भक्ति का अधिक प्रचार हुआ। महाराणाजी के द्वारा उदयपुर में स्थलाश्रम एवं बाईजी राजकुण्ड दो स्थानों का निर्माण कराया गया। उन स्थानों के संचालन की सुव्यवस्था कराई। उदयपुर के स्थलाश्रम की गद्दी अपने कनिष्ठ शिष्य श्रीहरिदासजी को दी। श्रीहरिदासजी महाराज अपनी परम्परा में 39वें स्थलाश्रम के प्रथमाचार्य हुए। श्रीनारायणदेवाचार्यजी महाराज ने उदयपुर में ही अपनी देह त्याग की। उदयपुर में ही इनकी समाधि एवं चरणपादुका हैं। श्रीनारायणदेवाचार्यजी के बड़े शिष्य एवं स्थलाश्रम के श्रीहरिदासजी के बड़े गुरुभाई आचार्यवर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी सलेमाबाद की गद्दी पर विराजित हुए। श्रीहरिदासजी के बाद इनकी आचार्यपरम्परा में 40वें श्रीप्रयागदासजी हुए। श्रीप्रयागदासजी के बाद उनके शिष्य श्रीजगन्नाथदासजी 41वें हुए। श्रीजगन्नाथजी के शिष्य 42वें श्रीराधिकादासजी हुए।

श्रीराधिकादासजी महाराज पूर्ण भजनानन्दी, तपस्वी एवं सिद्ध संत थे। ये सदैव मिर्ची का ही आहार करते थे। अतः मिरचैया बाबा के नाम से विख्यात थे। अपने तपस्या, त्याग, एवं पुरुषार्थ के बल से बहुत स्थानों का निर्माण करायें। इनकी तपस्या एवं त्याग से प्रभावित होकर उनके अनेक शिष्य हुए। श्रीराधिकादासजी महाराज उदयपुर स्थलाश्रम की गद्दी अपने सुयोग्य शिष्य श्रीवैष्णवदासजी को देकर स्वयं वशिष्ठाश्रम पधारे। श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण दोनों स्थान एक ही गद्दी के अन्तर्गत थे।

(42वें) आचार्य महान्त श्रीराधिकादासजी के बाद उदयपुरस्थ स्थलाश्रम की परम्परा :-

श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण की गद्दी पूर्व से ही निम्बार्कीय संतों की थी। दोनों स्थानों की सुव्यवस्था एक ही महान्त के अन्तर्गत थी। उन तत्कालीन महान्तजी के पास कोई सुयोग्य शिष्य नहीं था। जो उन दोनों स्थानों का संचालन कर सके। वे महन्तजी श्रीराधिकादासजी महाराज के प्रभाव एवं योग्यता से तो परिचित थे ही, अतः इन दोनों स्थानों को अपने ही सम्प्रदाय के निम्बार्कीय श्रीराधिकादासजी महाराज को सौंपकर निश्चिन्त हुए। ये मिरचैया बाबा कुछ दिन अपने शिष्यों के साथ वहीं रहे। बाद में ये अपने सुयोग्य, प्रभावशाली, चमत्कारी सिद्ध शिष्य श्रीहनुमानदासजी को इस गद्दी को सौंपकर स्वयं सिरोही राजगुरु स्थान पहुँचे। वहाँ भी श्रीवशिष्ठजी का ही स्थान था। ये वहाँ ज्यादा समय तक रहे। सिरोही के राजा महाराजश्री से अधिक प्रभावित थे। उस क्षेत्र में इनके वैराग्य, इनकी साधुता को देखकर जनता में विशेष सम्मान का भाव था। सिरोही में ही श्रीराधिकादासजी महाराज ने जीवित समाधि ले ली। उदयपुर के स्थलाश्रम की गद्दी पर 42वें आचार्य श्रीराधिकादासजी महाराज के बाद इनके शिष्य श्रीवैष्णवदासजी महाराज 43वें आचार्य हुए। इसके बाद उनकी गद्दी पर क्रमशः 44वें श्रीसर्वेश्वरदासजी, 45वें श्रीमाधवदासजी, 46वें कन्नड़दासजी, 47वें श्रीगंगादासजी, 48वें श्रीमुरलीमनोहरशरणजी महाराज अभी वर्तमान में हैं। महान्त श्रीगंगादासजी महाराज के समय में स्थलाश्रम का बहुत बड़ा विकास हुआ। इनके द्वारा स्थलाश्रम में संस्कृत विद्यालय की स्थापना हुई। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीजी महाराज, चतुःसम्प्रदाय-विरक्त वैष्णव महन्तों, खालसों के महन्तों एवं मण्डलेश्वरों द्वारा इन्हें मेवाड़ मण्डलेश्वर एवं श्रीमहन्त की उपाधि का सम्मान प्राप्त था। महान्त भूषण श्रीगंगादासजी के गोलोक-गमन के बाद आपके सुयोग्य/शिष्य श्रीमुरलीमनोहरशरणजी शास्त्री स्थलाश्रम के महान्त पद पर प्रतिष्ठित हुए। ये भी मेवाड़· मण्डलेश्वर की उपाधि से सुशोभित हैं। इनकी वक्तृत्व शक्ति बड़ी ही अच्छी है। संस्कृत, हिन्दी आदि कई भाषाओं की इनमें योग्यता है। मंच पर प्रवचन करते समय अपनी वाक्पटुता से ही मंचस्थ सन्तों-महन्तों एवं सद्भक्तों को मुग्ध कर अपनी सरस वाणी से संतुष्ट कर देते हैं। इनमें सम्प्रदाय के प्रति अत्यन्त निष्ठा है। भगवान् श्रीनिम्बार्क के सिद्धान्त को गहराई से समझते हैं और दूसरों को सरल शब्दों में समझाने की इनमें कला है। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के भूषण हैं। इनका स्थान बहुत विशाल है। इनके द्वारा कई प्रकार के विद्यालयों का संचालन होता है। **आप विरक्त आचार्यों की गद्दी पर हैं। भगवान् सर्वेश्वर की अनुकम्पा से आपकी ऐसी पुनीत प्राचीन विरक्त परम्परा सुरक्षित रहे, आपके साम्प्रदायिक भावुक विरक्त संत एवं हितैषीजन ऐसी आशा रखते हैं। यदि भगवान् कृपा कर ऐसा ही करें तो आपके यश का वास्तविक विस्तार होगा।**

(42वें) आचार्य महान्तप्रवर श्रीराधिकादासजी महाराज के बाद अर्बुदाचलस्थ श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण स्थान की आचार्य (गुरु-मन्त्र परम्परा)

महान्त श्रीराधिकादासजी के बाद श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण स्थान के महान्त उनके प्रिय शिष्य (43वें) श्रीहनुमानदासजी महाराज हुए। इसके बाद यहाँ की गद्दी पर क्रमशः (44वें) श्रीकान्हरदासजी।

(45वें)। श्रीमंगलदासजी, (46वें) श्रीसीतारामदासजी (47वें) श्रीअचलदासजी महाराज हुए। श्रीअचलदासजी महाराज के शिष्य (48वें) ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज वर्तमान में गद्दी पर सुशोभित हैं।

मन्त्र-दीक्षा के सम्बन्ध में स्मरणीय बात :-

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय में परम्परा से दो मन्त्रों की दीक्षा होती आयी है।

1. **शरणागति मन्त्र-** अष्टादशाक्षर मुकुन्द मन्त्र। इस मन्त्र का वर्णन श्रीनारद पाञ्चरात्र में हैं। यह ग्रन्थ वैष्णव ग्रन्थों में प्रमाण रूप में माना जाता है।

2. **अथर्ववेदीय मन्त्रराज अष्टादशाक्षर श्रीगोपाल मन्त्र :-** यह मूल मन्त्र है, जो अथर्ववेद के गोपालतापिनी उपनिषद् का मन्त्र है। श्रीमुकुन्द मन्त्र और श्रीगोपाल मन्त्र, इन दोनों मन्त्रों पर आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क भगवान् की व्याख्या है। शरणागति-श्रीमुकुन्द मन्त्र की व्याख्या का नाम है-"प्रपन्न कल्पवल्ली" इसी ग्रन्थ पर इस सम्प्रदाय के 17वें आचार्य श्रीसुन्दर भट्टाचार्यजी की विशद व्याख्या है-जिसका नाम "प्रपन्न-सुर-तरु-मञ्जरी" है। श्रीगोपाल मन्त्र की व्याख्या का नाम "मन्त्र-रहस्य-षोडशी है। इस पर भी श्रीसुन्दर भट्टाचार्यजी की "मन्त्रार्थ-रहस्य" व्याख्या है। मन्त्रराज श्रीगोपाल मन्त्र के सम्बन्ध में सम्प्रदाय के 33वें आचार्यवर श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्यजी द्वारा रचित ग्रन्थ "क्रमदीपिका" में भी अच्छी प्रकार से वर्णन है। इसी प्रकार श्रीगौतमीय तन्त्र में भी इस मन्त्र के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से लिखा गया है।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के बारहों द्वारों में शरणागत श्रद्धालु सन्तों एवं सद्भक्तों को उपर्युक्त ये ही दोनों श्रीमुकुन्द मन्त्र एवं श्रीगोपाल मन्त्र परम्परा से दिये जाते हैं। मन्त्र के सम्बन्ध में यहाँ पर लिखने का मूल उद्देश्य यह है कि बीच में कुछ सन्त अपने शरणागत शिष्यों को इन दोनों मन्त्रों के अलावा दूसरे अवैदिक मनगढ़न्त मन्त्र देने लगे थे। शिक्षा के अभाव में वे अपने आचार्यों के ग्रन्थों को भी नहीं पढ़पाते थे, जिससे भूल का सुधार कर लें। आगे चलकर सन्तों को जानकारी हुई कि हम लोगों के पास श्रीनिम्बार्काचार्यजी की परम्परा का मन्त्र नहीं है। विद्वान् सन्तों के द्वारा जानकारी होने पर उन श्रद्धावान् सन्तों ने अपनी भूल सुधार ली। वे अपनी परम्परा के परम्परा क्रम से प्राप्त हुए सन्तों से दोनों मन्त्र विधिपूर्वक सुने और आगे चलकर अपने शिष्यों को ये ही दोनों मन्त्र देने लगे। भूल-सुधार होने पर भी अब भी कुछ ऐसे संत एवं सद्गृहस्थ मिलते हैं, जो ललाट में निम्बार्कीय ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाते हैं और दोनों बाहुओं में शंख, चक्र भी लगाते हैं, पर उनसे पूछने पर पता चलता है तो बताते हैं कि मेरे पास श्रीमुकुन्द मन्त्र एवं गोपाल मन्त्र नहीं है। वे अपने आपको निम्बार्कीय वैष्णव मानते हैं और श्रीनिम्बार्काचार्यजी को ही अपना आचार्य मानते हैं। शास्त्रों में परम्पराविहीन मन्त्र जपना दोष माना गया है। अतः ऐसे श्रद्धालु सन्तों एवं सद्भक्तों को अपने गुरुदेवजी से ही यह बात पूछनी चाहिए। यदि गुरुदेवजी के पास ये दोनों मन्त्र हों तो उन्हीं से उन दोनों को ले लें। सम्भव है यदि दुर्भाग्यवश श्रीगुरुजी के पास भी ये दोनों मन्त्र न हों और वे जीवित हों तो श्रीगुरुजी महाराज को चाहिए कि वे अपनी परम्परा के सन्त से या बारहों द्वारों में से किसी भी सन्त से पुनः मन्त्र ले लें और मन्त्र न प्राप्त हुए शिष्यों को पुनः मन्त्र विधिपूर्वक दुबारा दें।

लेखक :
महान्त सन्तदास
श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील,
वृन्दावन-281121, मथुरा (उ. प्र.)

।। श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ।।

।। श्रीसद्गुरवे नमः ।।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततोजयमुदीरयेत्।।

अर्बुदाचलस्थ श्रीवशिष्ठाश्रम एवं श्रीपाटनारायण स्थान का संक्षिप्त दिग्दर्शन

अधोउद्धृत द्वारा :- संतदास
निम्बार्क कुंज, मोतीझील, वृन्दावन

अर्वुदाचल की उत्पत्ति एवं उसकी महिमा :-

इस लोक में विशेष करके भारतवर्ष में तीर्थो, नदियों एवं पर्वतों की अत्यधिक संख्या है। इन सबों के चलते भारतवर्ष की शोभा एवं महिमा विशेष बढ़ गई है। जिनकी महिमा सभी पुराणों में है। उन्हीं शान्तिप्रद पर्वतों में अर्वुदाचल का भी अतीव महत्त्व है जिसका विशेष रूप से वर्णन स्कन्दपुराण के सातवें खण्ड में प्रभास खण्ड के अर्वुदाचल खण्ड के तीसरे खण्ड में बहुत ही महिमा से भरा हुआ है। स्कन्दपुराण में सूत जी वर्णन कर रहे हैं कि–

सूत उवाच :– नाना तीर्थानि लोकेऽस्मिन्येषां संख्या न विद्यते। तिस्रः कोटयोऽर्ध कोटिश्च तेषां संख्या कृता पुरा।।४।। क्षेत्राणि सरितश्चैव पर्वताश्च नदीस्तथा। ऋषीणां तपसो वीर्यान्माहात्म्यं परमं गताः।।५।। तेषां मध्येऽर्वुदोनाम सर्वपापहरोऽनघः।। अस्पृष्टः कलिदोषेण वशिष्ठस्य प्रभावतः।।६।। पुनन्ति सर्वतीर्थानि स्नानदानादिकैर्यथा। अर्वुदो दर्शनादेव सर्वपाप हरो नृणाम्।।७।।

अर्वुद खण्ड के तीसरे खण्ड में प्रथम अध्याय का ४ से ७ श्लोक।

सूत जी बोले :– हे ऋषियों! इस संसार में तीर्थो की संख्या नहीं गिनी जा सकती। प्राचीन काल में तीर्थो की संख्या ऋषियों ने साढ़े तीन करोड़ बताई है।।४।। इसी प्रकार नदियाँ तथा पर्वत अनन्तानन्त हैं, जो ऋषियों की तपस्या के प्रभाव से परम माहात्म्य को प्राप्त हुए हैं।।५।। उन पर्वतों के बीच में अर्वुदनामक अनघपर्वत सब पापों को हरने वाला है। वहाँ निवास करने से सब पाप दूर हो जाते हैं। महर्षि वशिष्ठ जी के प्रभाव से उस पर्वत पर कलियुग के दोष का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।।६।। जिस प्रकार समस्त तीर्थ स्नान दानादि के द्वारा मनुष्यों को पवित्र करते हैं, उसी प्रकार अर्वुदपर्वत के दर्शन मात्र से ही समस्त प्राणियों के समस्त पाप दूर हो जाते हैं।

अर्वुदाचल का प्राचीन नाम नन्दिवर्द्धन है। पुराण-शास्त्रों के अनुसार अर्वुदाचल हिमायल का पुत्र है। अर्वुदाचल के स्थान पर किसी समय विशाल मैदान था, जो मरुप्रदेश कहलाता था। आज भी इस मैदानी क्षेत्र को मरुभूमि, मरुस्थल (मारवाड़) के नाम से जाना जाता है। इस स्थान पर महर्षि वशिष्ठ जी ८८ हजार ऋषियों के के साथ तपस्या करते हुए निवास किये थे। प्राचीनकाल में उत्तङ्क ऋषि गौतम ऋषि से विद्याध्ययन किये थे। गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या ने गुरु दक्षिणा के रूप में उत्तङ्क ऋषि से अयोध्या-नरेश सौदास की पत्नी के कुण्डलों की मांग की। उत्तङ्क ऋषि अयोध्या जाकर कुण्डलों को प्राप्त किये। रास्ते में तक्षकनाग उन कुण्डलों को लेकर पाताल में प्रवेश कर गया। उत्तङ्क ऋषि इन्द्र के सहयोग से अपने ब्रह्म दण्ड में वज्र की शक्ति संयुक्त करके ऐसा तीव्र प्रहार किये कि पृथ्वी से पाताल पर्यन्त एक विवर बन गया। उत्तङ्क ऋषि उस मार्ग से पाताल में प्रवेश कर अग्निदेव की सहायता से कुण्डलों को प्राप्त कर गुरुमाता अहिल्या के चरणों में समर्पित किये।

कुछ समय बाद वह विवर बहुत विशाल रूप धारण कर लिया। आगे चलकर महर्षि वशिष्ठ जी की कामधेनु नन्दिनी उसी विवर में गिर गयी। महर्षि जी ने सरस्वती जी से प्रार्थना की। सरस्वती जी की कृपा से वह विवर जल से भर गया। जल के साथ ही नन्दिनी ऊपर आ गई, पर वशिष्ठ जी इस बात को लेकर चिन्तित हुए कि भविष्य में ऐसी घटना पुनः न हो जाय। अतः इस समस्या को हल करने के लिए हिमालय के पास गये और अपनी परिस्थिति उनसे व्यक्त किये। इतनी जानकारी के बाद पर्वतराज हिमालय बोले– सभी पर्वत के पङ्ख इन्द्र काट दिये हैं। अतः पर्वतों का आपके यहाँ जाना कैसे होगा? महर्षि वशिष्ठ बताये कि आपके पुत्र नन्दिवर्द्धन का मित्र अर्वुदनाग है। वह अपनी पीठ पर ले जा सकता है। पर्वतराज ने अपने पुत्र नन्दिवर्द्धन को आदेश दिया कि तुम श्री वशिष्ठ जी का कार्य सम्पन्न करो। नन्दिवर्द्धन यह समस्या अर्वुदनाग के सामने रखे। अर्वुदनाग इस शर्त पर तैयार हुआ कि उस पर्वत का नाम मेरे ही नाम पर रखा जाय। नन्दिवर्द्धन ने स्वीकृति दे दी। नन्दिवर्द्धन अर्वुदनाग की पीठ पर गये। अर्वुदनाग ने उस विवर के ऊपर नन्दिवर्द्धन को रख दिया। इस प्रकार वह जगह समतल हो गई, तब से उस पर्वत का नाम अर्वुदनाग के नाम पर अर्वुदाचल हो गया। आजकल अर्वुदाचल को ही आबू के नाम से पुकारने लगे हैं। महर्षि वशिष्ठ ने घोर तपस्या कर भगवान् शिव को प्रसन्न कर लिया। महर्षि जी की प्रार्थना से भगवान् शिव पाताल से प्रगट होकर शिवलिङ्ग रूप में हो गये। उन्हें ही पातालेश्वर महादेव कहते है। इनकी महत्ता द्वादश लिङ्गों के सदृश प्रभावशाली है। ये ज्योतिर्लिङ्गों के समान पूजनीय एवं सेवनीय हैं। महर्षि वशिष्ठ एवुं महादेव जी की कृपा से अर्वुदाचल हरा भरा जंगली जन्तुओं, जड़ी बूटियों से भरा हुआ एवं शान्तिप्रद है। महान् तीर्थ है। इसका सेवन करना चाहिए।

वशिष्ठाश्रम एवं वशिष्ठ जी की संक्षिप्त महिमा

श्रीवशिष्ठं सतामिष्टं जगदानन्द कारकम्।
तं वन्दे वेद निलयं निलयं सर्वं देहिनाम्।। (महाभारत वन पर्व)

मैं उन वेद-निधि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी की सदा वन्दना करता हूँ, जो सन्त-वृन्दों के इष्ट, जगत् के समस्त प्राणियों के आनन्ददाता एवं प्राणीमात्र के शुभैषी हैं।

श्रीवशिष्ठाश्रम परम पावन अति प्राचीन स्थान है। यह आश्रम आबू पर्वत बस स्टैण्ड के ३ मील दूर दक्षिण दिशा में अर्वुदाचल के रमणीय वन में स्थित है। आश्रम के निकट से ही सरस्वती की धारा प्रवाहित होती है। आश्रम के अन्दर मन्दिर में श्रीवशिष्ठ जी अपनी धर्मपत्नी अरुन्धती सहित विराजमान हैं। मन्दिर के दाहिनी ओर नन्दिनी गाय सुशोभित हो रही है। आश्रम में विभिन्न प्रकार के वनस्पतियों एवं वृक्षों पर पक्षी कलरव करते रहते हैं। विभिन्न प्रकार के खिले हुए पुष्पों पर भौंरे गुञ्जार करते रहते हैं। आश्रम के चारों ओर भयानक जङ्गल में बाघ, चीता, भालू, रीछ आदि जानवर निवास करते हैं। आश्रम के अन्तर्गत गौमुख तीर्थ नामक स्थान है। इसके दर्शन से व्यक्ति को पुण्य की प्राप्ति होती है।

पुराणों के अनुसार यह स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ पर राजा लोग भी अपने स्वाभिमान-अभिमान को त्यागकर श्रीवशिष्ठ जी की कृपा से ब्राह्मणों में श्रद्धा एवं पूज्य भावना रखते हुए भजन में लीन रहते थे। इस आश्रम में इक्ष्वाकु वंश के राज गुरुवन्दना के लिए अयोध्या से यहाँ आते थे तथा निःस्वार्थ सेवाकर अपने को धन्य समझते थे। इस प्रकार वशिष्ठाश्रम तपस्वियों का केन्द्र रहा है।

वशिष्ठाश्रम से करीब-करीब दो सौ गज की दूरी पर ही जमदग्नि आश्रम, आधा मील दक्षिण दिशा में नाग तीर्थ तथा एक मील दूर पश्चिम दिशा में महर्षि वेदव्यास का आश्रम है। इसी दिशा में आगे तीन मील दूर गौतम आश्रम है। ये सभी आश्रम शान्तिप्रद हैं। वशिष्ठाश्रम की महिमा स्कन्दपुराण प्रभास खण्ड अर्वुद खण्ड में विशेष रूप से वर्णित है। ऋषियों के प्रश्न करने पर यही प्रश्न प्रसंगानुसार राजाययाति भी किये थे कि पर्वतोत्तम अर्वुदाचल की महिमा बतावें और उसी के अन्तर्गत वशिष्ठाश्रम की भी हम लोगों को महिमा बताने की कृपा करें। इस पर ऋषियों में श्रेष्ठ पुलस्त्य जी भी बतायें हैं जो नीचे वर्णित है—

पुलस्त्य उवाच :— ततो गच्छेन्नृपश्रेष्ठ वशिष्ठं तपसां निधिम्।। यं दृष्ट्वा मानवः सम्यक्कृतार्थत्वमवाप्नुयात्।।१।। तत्रास्ति जलसम्पूर्णं कुण्डं पापहरं नृणाम्।। तस्मिन्कुण्डे नृपश्रेष्ठ वसिष्ठेन महात्मना।।२।। गोमती च समानीता तपसा नृपसत्तम।। तत्र स्नातो नरः सम्यक्पातकै र्विप्रमुच्यते।।३।। ऋषिधान्येन यस्तत्र श्राद्धं नृप समाचरेत्।। स पितृंस्तारयेत्सर्वान्पक्षयोरुभयोरपि।।४।। अत्र गाथा पुरा गीता नारदेन महात्मना।। स्नात्वा पुण्योदके तत्र दृष्ट्वा तं मुनिसत्तमम्।।५।।

किं गयाश्राद्धदानेन किमन्यैर्मखविस्तरैः।। वसिष्ठास्याश्रमं प्राप्य यः श्राद्धं कुरुते नरः।। स पितृंस्तारयेत्सर्वानात्मना नृपसत्तम।।६।। तत्रैवारुन्धती साध्वी वसिष्ठस्य समीपतः।। पूजनीया विशेषेण सर्वकामप्रदा नृणाम्।।७।। बाल्ये वयसि यत्पापं वार्द्धके यौवनेऽपि वा।। वसिष्ठदर्शनात्सद्यो नराणां याति संक्षयम्।।८।। दीपं प्रयच्छते यस्तु वसिष्ठाग्रे समाहितः।। सुखसौभाग्यसं युक्तस्तेजस्वी जायते नरः।।९।। उपवासपरो यस्तु तत्रैकां रजनीं नयेत्।। स याति परमं स्थानं यत्र सप्तर्षयोऽमलाः।।१०।। त्रिरात्रिं कुरुते यस्तु वशिष्ठाग्रे समाहितः।। स याति च महर्लोकं जरामरणवर्जितः।।११।। यस्तु मासोपवासं च वशिष्ठाग्रे करोति च।। सोऽपि मुक्तिमवाप्नोति न याति स भवार्णवम्।।१२।। श्रावणस्य सिते पक्षे पौर्णमास्यां समाहितः।। ऋषिं तर्पयते यस्तु ब्रह्मलोकं स गच्छति।।१३।। वसिष्ठस्याग्रतो यस्तु गायत्र्यष्टशतं जपेत्।। आजन्ममरणात्पापात्सद्यो मुच्येत मानवः।।१४।। वामदेवं यजेत्तत्र यदि श्रद्धासमन्वितः।। अग्निष्टोमफलं राजन्सद्यः प्राप्नोति मानवः।।१५।। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन द्रष्टव्योऽसौ महामुनिः।। शुचिभिः श्रद्धया युक्तास्ते यास्यंति परं पदम्।।१६।। तस्मात्सर्वात्मना राजन्वामदेवं च पूजयेत्।।१७।। इति श्रीस्कान्दे महापुराण एकाशीतिसाहस्त्र्यां संहितायां सप्तमे प्रभासखण्डे तृतीयेऽर्बुदखंडे वसिष्ठाश्रममाहात्म्य-वर्णनं नाम षष्ठोऽध्यायः।।६।।

(हिन्दी-अनुवाद)

पुलस्त्य जी बोले— हे राजन् तदनन्तर तपोनिधि वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर जाय। वशिष्ठ जी का दर्शन करके मनुष्य भली-भाँति कृतार्थता को प्राप्त करता है।।१।। वहाँ पर जल से भरा हुआ एक विशाल कुण्ड है, जो मनुष्यों के समस्त पापों का हरण करने वाला है। हे नृप श्रेष्ठ उस कुण्ड में महात्मा वशिष्ठ जी ने अपनी तपस्या के प्रभाव से गोमती नदी को प्रवेश करा दिया। उस कुण्ड में स्नान करने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। हे राजन्! उस कुण्ड पर जो व्यक्ति ऋषि धान्य से दोनों पक्षों में अपने पितर का श्राद्ध करता है, वह अपने पितरों को सदा के लिए तार देता है। हे राजन्! इस विषय में प्राचीन काल में महात्मा नारद जी ने कहा जो व्यक्ति वहाँ पर जाकर पुण्यप्रद जल में स्नान कर मुनि श्रेष्ठ का दर्शन करता है, उसके लिए गया में भी श्राद्ध एवं दान से भी क्या प्रयोजन और अन्यान्य यज्ञादि से क्या प्रयोजन। जो व्यक्ति वशिष्ठ जी के आश्रम पर जाकर श्राद्ध करता है वह अपने पितरों को तार देता है।।५-६।। वहाँ जाकर वशिष्ठ जी महाराज की परम पतिव्रता साध्वी अरुन्धती जी का भी विशेष रूप से पूजन करना चाहिए। उनकी पूजा से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है।।७।। बाल्यावस्था में, युवावस्था में तथा वृद्धावस्था में मनुष्य जो पाप करता है, श्रीवशिष्ठ जी के दर्शन से तत्क्षण नष्ट हो जाता है। वहाँ पर जाकर जो व्यक्ति वशिष्ठ जी के आगे दीपदान करता है वह सुख-सौभाग्य से सम्पन्न होकर परम तेजस्वी हो जाता है। वहाँ पहुँचकर जो व्यक्ति उपवास करता हुआ एक रात्रि निवास करता है, वह व्यक्ति उस परम स्थान को प्राप्त करता है, जहाँ अमलात्मा सप्तर्षि जन निवास करते हैं जो व्यक्ति वशिष्ठ जी के आगे इन्द्रियों को वश में करके वशिष्ठ जी के आगे तीन रात

निवास करता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है और कभी भी संसार सागर में नहीं गिरता। श्रावण के शुक्लपक्ष में पूर्णिमा तिथि को समाहित हो जो वशिष्ठ जी का तर्पण करता है, वह ब्रह्मलोक जाता है। वशिष्ठ जी के आगे जो १०८ बार गायत्री का जप करता है वह व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त किये गये समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। वहाँ पर जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक वामदेव ऋषि का भजन करता है, वह व्यक्ति अग्निष्टोम यज्ञ का फल पाता है। इसलिए हे राजन्! सभी प्रकार के प्रयत्न द्वारा उन महामुनि का दर्शन करना चाहिए। इसके द्वारा वह व्यक्ति परम पद को प्राप्त करता है। इसलिए हे राजन्! सर्वात्म भाव से वामदेव जी की पूजा करनी चाहिए।।१५, १६, १७।।

इस प्रकार स्कन्द पुराण के ८१वीं संहिता में सातवें प्रभास खण्ड के तीसरे अर्वुदखण्ड में वशिष्ठ जी के आश्रम का वर्णन नामक छठा अध्याय पूरा हुआ।

श्रीवशिष्ठाश्रम पीढ़ी दर पीढ़ी से निम्बार्क सम्प्रदाय के महात्माओं की तपस्थली रहा है। जगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्य जी की परम्परा में उदयपुर स्थल स्थान परम्परानुवर्ती एक सिद्धसन्त श्रीराधिका दास जी महाराज हुए हैं। जो बड़े ही प्रभावशाली थे। इन्हें मिरचइया बाबा भी कहते थे। इन्हीं की शिष्य परम्परा में श्रीसीतारामदास जी महाराज हुए हैं जो बड़े ही प्रभावशाली, पुरुषार्थी एवं कर्मठ थे। इनके समय में वशिष्ठाश्रम का काफी विकास हुआ। ये राजगुरु थे। सिरोही दरबार के राजा की इनमें विशेष श्रद्धा थी। राजा साहब स्वेच्छा से श्रद्धापूर्वक वशिष्ठाश्रम से अधिक सुदूरतक की जमीन उनके नाम से कर दिये थे, जो आज भी वशिष्ठाश्रम के अन्तर्गत है। पाटनारायण स्थान भी वशिष्ठाश्रम से जुड़ा हुआ था। श्रीसीतारामदास जी महाराज वशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण दोनों स्थानों की देख-रेख करते रहे। श्रीसीतारामदास जी महाराज की सरलता, साधना एवं सद्व्यवहार से जनता ज्यादा प्रभावित थी। इसके बाद इनके प्रिय शिष्य की अचल दास जी महाराज महान्त बने। से दोनों स्थानों का संचालन करते रहे। इनकी अवस्था ज्यादा हो चुकी थी। शरीर भी कार्य करने के लायक नहीं रह गया था। अतः अच्छे सुयोग्य शिष्य की तलाश में थे। भगवत्कृपा से पूरे भारत में भ्रमण के बाद वर्तमान महान्त श्रीयुगल शरण जी ब्रह्मचारी गौमुख में आ चुके थे। जैमिनी गुफा में कई वर्षो तक साधना भी किये थे। शरीर नवयुवक था। शुद्ध ब्रह्मचारी थे। इनके प्रति श्रीमहाराज जी का आकर्षण था। बातचीत के सिलसिले में महाराज जी द्वारा स्थानीय सेवा के लिए संकेत किया गया।

श्रीब्रह्मचारी जी महाराज कुछ शर्तो के आधार पर स्थान के कार्यभार को सम्हालने के लिए स्वीकार किये। पूज्य श्री अचल दास जी महाराज का सिद्धपुर के महान्त मेरे गुरुदेव

नोट :- किन्हीं महानुभाव की तरफ से स्कन्दपुराणान्तर्गत प्रभास खण्ड के पूरे अर्वुद खण्ड का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो जाय तो कम पढ़ी-लिखी जनता को अर्वुदाचल एवं प्रमुख रूप से श्रीमहर्षि वशिष्ठ एवं श्री वशिष्ठाश्रम सम्बन्धी महिमा के सम्बन्ध में विशेष जानकारी हो जायेगी। ऐसा अत्युत्तम रहेगा।

श्रीभीमाचार्य जी महाराज से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः उनको बुलाकर सलाह लेकर श्रीब्रह्मचारी जी महाराज को श्री निम्बार्क सम्प्रदाय की पद्धतिनुसार वैष्णवी संस्कार कर स्थान सुपुर्द कर दिये। दोनों स्थानों की लिखा पढ़ी भी कर दिये। स्थान संचालन का पूरा अधिकार दे दिये। श्रीब्रह्मचारी श्रीयुगल शरण जी महाराज अत्यन्त सुयोग्य, सुशिक्षित, संयमशील, कर्मठ, तपस्वी शुद्ध-ब्रह्मचारी, सन्त-भगवान्-गुरु-सेवापरायण, योगमार्ग के अनुभवी, वेद-पुराण एवं शास्त्रीय धर्म के प्रति निष्ठावान् हैं। इनके शुद्ध व्यवहार से महाराजश्री को पूर्ण सन्तुष्टि हुई और स्थानीय दृष्टि से निश्चिन्त हुए। दीक्षा के पश्चात् श्रीब्रह्मचारी जी महाराज गौमुख में ही रहने लगे। इनके बाद स्थान में सन्त सेवा विशेष रूप से होने लगी। गायें भी ज्यादा संख्या में थीं। दूध पर्याप्त मात्रा में होता था। सन् ६९ या ७० में मैं भी वशिष्ठाश्रम गया था। उनकी सुव्यवस्था को देखा हूँ। उस समय दर्शनार्थी भी अधिक संख्या में जाते थे। उनके लिए प्रसाद सेवन की अच्छी व्यवस्था थी। वशिष्ठाश्रम जाने के लिए सात-आठ सौ सीढ़ी नीचे उतरना पड़ता है। जाना-आना कठिन है। ऐसी स्थिति में भी सन्तों एवं दर्शनार्थियों को पूर्ण सानुकूलता दी जाती थी। वशिष्ठाश्रम की जमीन के सम्बन्ध में बीच में कुछ संघर्ष हो गया था। पच्चीसों वर्ष तक श्रीब्रह्मचारी जी महाराज प्रयासरत रहे। श्रीब्रह्मचारी जी के पुरुषार्थ एवं पूर्ण प्रयास से उनके अनुकूल फैसला मिल गया था। अभी-भी चार-पाँच हजार वीघा जमीन वशिष्ठाश्रम के अधिकार में है। नीचे अम्बा बेरी में काफी जमीन है। श्रीब्रह्मचारी जी के रहते मैं भी वहाँ गया था। ज्यादा अन्न खेती से पैदा होता है जो वशिष्ठाश्रम में भगवान् एवं सन्तों की सेवा में काम आता है। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज अपने समय में पहले की अपेक्षा वशिष्ठाश्रम का उत्तरोत्तर विकास ही करते रहे। अपने गुरुदेव महाराज पूज्य श्रीअचलदास जी महाराज के गोलोक धाम की प्राप्ति के बाद पाटनारायण स्थान में रहने लगे थे। तब से वहीं रह रहे हैं। इनके गुरुजी महाराज के रहते समय भी मैं पाटनारायण गया था। पर आज की सुव्यवस्था एवं सेवा आदि कार्य देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरण जी महाराज तब से अब तक पाटनारायण स्थान में ही रह रहे हैं। गौमुख स्थान की व्यवस्था सेवा का भार अपने प्रिय शिष्य श्री भक्तवत्सल शरण जी को दे दिये हैं। इन्हें चतुःसम्प्रदाय वैष्णव परम्परा की विधि के अनुसार महान्त पद पर अभिषिक्त भी कर दिया गया है। इनके महोत्सव में मैं भी गया था। श्री भक्तवत्सल शरण जी महाराज सुयोग्य, प्रभावशाली एवं व्यवहार में कुशल हैं। वशिष्ठाश्रम में भगवत्सेवा सन्त-सेवा एवं अतिथि अभ्यागतों की सेवा अच्छी प्रकार से हो रही है। वशिष्ठाश्रम से भक्तवत्सल शरण जी महाराज के विशेष प्रयास से वशिष्ठ-वचनामृतम् हिन्दी और गुजराती मासिक पत्रिका भी निकल रही है। अर्वुदाचल, वशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण की संक्षिप्त जानकारी "वशिष्ठवचनामृतम्" में वशिष्ठाश्रम से निकल चुकी है। जिज्ञासुजन जानकारी कर सकते हैं। इसकी विशेष महिमा स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड अर्वुदखण्ड एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में लिखी है।

पाटनारायण मन्दिर एवं आश्रम का संक्षिप्त परिचय

पाटनारायण स्थान भी अर्वुदाचल क्षेत्र में ही है और वशिष्ठाश्रम से सीधे आने में ज्यादा दूरी नहीं है। पाटनारायण भगवान् का मन्दिर एवं आश्रम आबू रोड से बीस किलोमीटर दूर गिरिवर-चेनार ग्राम की सीमा पर स्थित है। इस मन्दिर का इतिहास निम्नलिखित है। श्रीमद्भागवत महापुराण में वैवस्वत मनु के कुल में अम्बरीश नामक राजा हुए हैं जो विष्णु भगवान् के बहुत बड़े भक्त थे। वे चक्रवर्ती सम्राट थे। इनकी छोटी रानी पतिव्रता एवं भगवद् भक्ता थीं। उनका विशेष समय भगवान् की भक्ति एवं सत्संग में बितता था। एक समय वे अर्वुदाचल का दर्शन करती हुई इस पवित्र गोमती के तट पर आईं। यहाँ के दर्शन एवं सत्संग से उन्हें अत्यन्त शान्ति की अनुभूति हुई। वे इस स्थान पर कुछ दिन निवास कीं और विष्णु भगवान् का मन्दिर बनवाईं। मन्दिर में भगवान् नारायण की मूर्ति स्थापित की गई। पट्ट महिषी के द्वारा स्थापित होने से भगवान् का नाम पाट्टनारायण हुआ। आगे चलकर लोग भगवान् को पाटनारायण के नाम से बोलने लगे, जो आज भी ऐसा ही बोलते हैं।

मैं पहले वर्णन कर आया हूँ यहाँ के महान्त परमादरणीय आयुर्वेद मर्मज्ञ श्रद्धेय ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरण जी महाराज हैं। ये बड़े ही संस्कारी सन्त हैं। इस स्थान में आने के पूर्व ये काफी भजन, सत्संग अनुष्ठान स्वाध्याय व्रतादि आदि किये हैं। भजन के प्रभाव से दवा करने की मर्मज्ञता इनमें आ गई जिसका विशेष रूप से वर्णन मैं इनके जीवन चरित्र में लिखूँगा। भगवत्सेवा-सन्त सेवा में भी इनकी विशेष रूचि है जो सराहनीय है। दवा के सम्बन्ध में प्रचार भारत में ही नहीं विदेशों में भी है। असाध्य रोगी भी जो अनेक जगहों से निरांश होकर आते हैं वे भी प्रायः ठीक ही हो जाते हैं। स्थानीय व्यवस्था बहुत ही अच्छी हो चुकी है। भगवान् की खेती में भी ज्यादा विस्तार हुआ है। गायें अधिक संख्या में हैं और गो-सेवा अच्छी हो रही है। दूध का उपयोग आये हुए सन्तों एवं अतिथि अभ्यागतों में ही होता है। इनके द्वारा कई स्थानों की वृद्धि भी हुई है। शिष्य परम्परा का विशेष विस्तार हुआ है। आबू रोड में राम मन्दिर स्टेशन के करीब ही में है। नित्य संत आते-जाते हैं। यहाँ भी सन्त सेवा अच्छी प्रकार से हो रही है। इस स्थान का संचालन इन्हीं के द्वारा हो रहा है। हरिद्वार में भी सन्तसेवा के निमित्त ही स्थान बनवाये हैं। इन्हीं के माध्यम से इन्हीं के शिष्य महान्त मधुसूदन शरण जी रह रहे हैं। आबू से कुछ दूर इनके विरक्त शिष्य भुजेला में भरतदास जी एक बहुत बड़ा स्थान बनवा रहे हैं। इसमें हनुमान् जी की विशाल मूर्ति दर्शनीय हैं। भरतदास जी कर्मठ एवं पुरुषार्थी हैं। श्रीब्रह्मचारी जी महाराज का सन्त समाज में विशेष सम्मान है। इनके स्थान जैसी सुव्यवस्था कम स्थानों में मिलती है।

उल्लखित द्वारा-संतदास

श्रीनिम्बार्क कुंज, मोतीझील, वृन्दावन
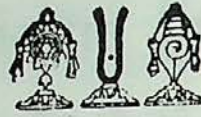
अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरुश्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी की गद्दी परम्परा आचार्यपीठ-निम्बार्कतीर्थ, सलेमाबाद, राजस्थान –

1. श्रीहंसभगवान्
2. श्रीसनकादिक भगवान्
3. श्रीनारद भगवान्
4. श्रीनिम्बार्क भगवान्
5. श्रीश्रीनिवासाचार्य
6. श्रीविश्वाचार्य
7. श्रीपुरुषोत्तमाचार्य
8. श्रीविलासाचार्य
9. श्रीस्वरूपाचार्य
10. श्रीमाधवाचार्य
11. श्रीबलभद्राचार्य
12. श्रीपद्माचार्य
13. श्रीश्यामाचार्य
14. श्रीगोपालाचार्य
15. श्रीकृपाचार्य
16. श्रीदेवाचार्य
17. श्रीसुन्दरभट्टाचार्य
18. श्रीपद्मनाभभट्टाचार्य
19. श्रीउपेन्द्रभट्टाचार्य
20. श्रीरामचन्द्रभट्टाचार्य
21. श्रीवामनभट्टाचार्य
22. श्रीकृष्णभट्टाचार्य
23. श्रीपद्माकरभट्टाचार्य
24. श्रीश्रवणभट्टाचार्य
25. श्रीभूरिभट्टाचार्य
26. श्रीमाधवभट्टाचार्य
27. श्रीश्यामभट्टाचार्य
28. श्रीगोपालभट्टाचार्य
29. श्रीबलभद्रभट्टाचार्य
30. श्रीगोपीनाथभट्टाचार्य
31. श्रीकेशवभट्टाचार्य
32. श्रीगांगलभट्टाचार्य
33. श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य
34. श्रीयुगलशतककारश्रीश्रीभट्टदेवाचार्य
35. श्रीपरमहंसवंशाचार्यरसिकराजराजेश्वरप्रवरमहावाणीकार श्रीश्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज (द्वारा-प्रवर्त्तक)
36. श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी
37. श्रीहरिवंशदेवाचार्यजी
38. श्रीनारायणदेवाचार्यजी
39. श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी
40. श्रीगोविन्ददेवाचार्यजी
41. श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी
42. श्रीसर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी
43. श्रीनिम्बार्कशरणदेवाचार्यजी
44. श्रीब्रजराजशरणदेवाचार्यजी
45. श्रीगोपीश्वरशरणदेवाचार्यजी
46. श्रीघनश्यामशरणदेवाचार्यजी
47. श्रीबालकृष्णशरणदेवाचार्यजी
48. श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी (विराजमान)

।। भगवते श्रीनिम्बार्काय नमः ।।

।। श्रीसद्गुरवे नमः ।।

।। श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ।।

अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी परम्परानुवर्ती उदयपुरस्थ स्थलाश्रम के मेवाड़ मण्डलेश्वर श्रीमुरलीमनोहरशरणजी महाराज़ की आचार्य (गुरु) परम्परा

36. श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी
37. श्रीहरिवंशदेवाचार्यजी
38. श्रीनारायणदेवाचार्यजी
39. श्रीहरिदासजी महाराज
40. श्रीप्रयागदासजी महाराज
41. श्रीजगन्नाथदासजी महाराज
42. श्रीराधिकादासजी
43. श्रीवैष्णवदासजी महाराज
44. श्रीसर्वेश्वरदासजी महाराज
45. श्रीमाधवदासजी महाराज
46. श्रीकन्नड़दासजी महाराज
47. श्रीगङ्गादासजी महाराज
48. श्रीमुरलीमनोहरशरणजी महाराज (वर्तमान)

अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी परम्परानुयायी अर्बुदाचलस्थ गौमुख–श्रीवशिष्ठाश्रम एवं पाटनारायण स्थान के महान्त ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज की गुरु–मन्त्र परम्परा

36. श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी
37. श्रीहरिवंशदेवाचार्यजी
38. श्रीनारायणदेवाचार्यजी
39. श्रीहरिदासजी महाराज
40. श्रीप्रयागदासजी महाराज
41. श्रीजगन्नाथदासजी महाराज
42. श्रीराधिकादासजी
43. श्रीहनुमानदासजी महाराज
44. श्रीकान्हरदासजी महाराज
45. श्रीमङ्गलदासजी महाराज
46. श्रीसीतारामदासजी महाराज
47. श्रीअचलदासजी महाराज
48. ब्रह्मचारी श्रीयुगलशरणजी महाराज (वर्तमान)

अनन्तश्रीविभूषितजगद्गुरु निम्बार्काचार्य श्रीस्वभूरामदेवाचार्य परम्परानुवर्ती ३९वाँ आचार्य चतुरचिन्तामणिनागाजी महाराज श्रीबिहारी जी मन्दिर (भरतपुर राजदरबार) की शिष्य एवं गद्दी परम्परा :—

1. श्रीहंसभगवान्
2. श्रीसनकादिक भगवान्
3. श्रीनारद भगवान्
4. श्रीनिम्बार्क भगवान्
5. श्रीश्रीनिवासाचार्य
6. श्रीविश्वाचार्य
7. श्रीपुरुषोत्तमाचार्य
8. श्रीविलासाचार्य
9. श्रीस्वरूपाचार्य
10. श्रीमाधवाचार्य
11. श्रीबलभद्राचार्य
12. श्रीपद्माचार्य
13. श्रीश्यामाचार्य
14. श्रीगोपालाचार्य
15. श्रीकृपाचार्य
16. श्रीदेवाचार्य
17. श्रीसुन्दरभट्टाचार्य
18. श्रीपद्मनाभभट्टाचार्य
19. श्रीउपेन्द्रभट्टाचार्य
20. श्रीरामचन्द्रभट्टाचार्य
21. श्रीवामनभट्टाचार्य
22. श्रीकृष्णभट्टाचार्य
23. श्रीपद्माकरभट्टाचार्य
24. श्रीश्रवणभट्टाचार्य
25. श्रीभूरिभट्टाचार्य
26. श्रीमाधवभट्टाचार्य
27. श्रीश्यामभट्टाचार्य
28. श्रीगोपालभट्टाचार्य
29. श्रीबलभद्रभट्टाचार्य
30. श्रीगोपीनाथभट्टाचार्य
31. श्रीकेशवभट्टाचार्य
32. श्रीगांगलभट्टाचार्य
33. श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य
34. श्रीयुगलशतककारश्रीश्रीभट्टदेवाचार्य
35. श्रीपरमहंसवंशाचार्यरसिकराजराजेश्वरप्रवरमहावाणीकार श्रीश्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज (द्वारा-प्रवर्त्तक)
36. श्रीस्वभूरामदेवाचार्य
37. श्रीकान्हरदेवाचार्य
38. श्रीपरमानन्ददेवाचार्य
39. श्रीब्रजदूलहचतुरचिन्तामणिनागाजीदेवाचार्य
   (श्रीबिहारीजी मन्दिर, भरतपुर (राजस्थान) इनके शिष्य :—)
40. श्रीगोवर्धनदेवाचार्य
41. श्रीकृष्णदेवाचार्य
42. श्रीजगन्नाथदेवाचार्य
43. श्रीमाखनदास जी
44. श्रीचतुरदास जी
45. श्रीमहादास जी
46. श्रीबिहारीदास जी
47. श्रीनन्दरामदास जी
48. श्रीनन्दकिशोरदास जी
49. श्रीउद्धवदास जी
50. श्रीसावलदास जी
   (नागाजी से लेकर सावलदासजी तक सभी श्रीबिहारीजी मन्दिर के महन्त हुए)

□□□

—: परम्परा :—

श्रीचतुरचिन्तामणि नागा जी महाराज के अनेक शिष्य हुए। इनका स्थान भरतपुर राजदरबार के अन्दर था। इनके सेव्य श्रीविहारी जी महाराज हैं जो अद्यावधि आज भी भरतपुर राजदरबार में सेवित है।। इनके बाद श्रीविहारी जी की सेवा इनके प्रिय शिष्य श्रीगोवर्द्धनदेवाचार्यजी को मिली। ये ही इस स्थान के गद्दी व महान्त पद पर ४०वें आचार्य प्रतिष्ठित हुए। तत्पश्चात् क्रमशः दस आचार्य या महान्त हुए। ५० वें आचार्य श्रीसावलदासजी हुए। श्रीसावलदास जी महाराज के बाद श्रीबिहारीजी मन्दिर की गद्दी परम्परा समाप्त हो गई। श्रीविहारी जी की सेवा भरतपुर राजदरबार की तरफ से अभी भी अच्छी प्रकार से हो रही है। इसी परम्परा में ४४वें आचार्य श्रीचतुरदासजी प्रतिष्ठित हुए। इनके शिष्य श्रीभीषमदासजी हुए। जो स्वतन्त्र विचरण करते थे। इनके बाद श्रीमहावीर दासजी, श्रीवैष्णवदासजी जिन्होंने सिद्धान्त मन्दाकिनी ग्रन्थ लिखा है। इसी ग्रन्थ में लिखी परम्परा के अनुसार गुरु-परम्परा लिखी गई है। श्रीवैष्णवदास जी शास्त्री के शिष्य श्रीभीमाचार्य जी महाराज कर्दम आश्रम (कर्दम वाड़ी), बिन्दुसरोवर रोड, सिद्धपुर (गुजरात) ४८वें हुए। इनके कई शिष्यों में श्रीसन्तदास जी ४९वें श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन में वर्तमान हैं।

श्रीसन्तदासजी महाराज

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन, जिला–मथुरा (उ.प्र.)

अनुवादप्रेरकस्य तथा प्रकाशकस्य च पूज्य श्रीसन्तदासजी महाभागस्य गुरू-मन्त्र परिचयः

चतुर्षु सम्प्रदायेषु वैष्णवेषु पुरातनः।
आदिमो निम्बकादित्यः सम्प्रोक्तो भुवि विश्रुतः।।1।।

जयन्तीनन्दनो ह्येष आरुणि र्ऋषिसत्तमः।
तैलङ्गदेश उत्पन्नः चक्रराजावतारकः।।2।।

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति।
इति व्यासवचः श्रुत्या द्वापरान्तोऽस्य कालकः।।3।।

यथैवास्य श्रेष्ठतमं युगलोपासनं मतम्।
तथैव द्वैताद्वैतोऽपि मतमस्य महोत्तमम्।।4।।

यतो हि पक्ष एवास्मिन् श्रुतीनां चरितार्थता।
तैलङ्गदेशादागत्य गोवर्धन गिरावसौ।।5।।

निम्बग्रामे हि न्यवसत् पितृमातृसुहृद्वृतः।
तत्रैव नारदादेष देवर्षेः सनशिष्यतः।।6।।

अष्टादशाक्षरं मन्त्रं प्राप्तवान् सर्वकामदम्।
श्रीनिम्बार्कस्य शिष्येषु त्रिषु गौरमुखादिषु।।

सर्वश्रेष्ठो भाष्यकर्ता श्रीनिवासो बहुश्रुतः।।7।।
शङ्खावतारः कृष्णस्य ललिताकुण्डसाधकः।

एन गृहीत्वा देवाचार्यपर्यन्तः नयनेन्दवः।।8।।
आचार्याः शास्त्रनिष्णाताः बभूवुर्बहुविश्रुताः।

देवाचार्यात् परं जाताः वस्विन्द्वाचार्यवर्यकाः।।9।।
सुन्दरभट्टादयो येषां न क्वापि तुलना श्रुता।
सुन्दरभट्टं समारभ्य यावच्छ्री भट्टवर्यकाः।।10।।

आदिवाणीकाररूपेणेमे वृन्दावने श्रुताः।
रसिकश्रेष्ठभक्तेष्वग्रगण्याः मताः सदा।।11।।

तस्य शिष्यो महावाणीकारः श्रीहरिव्यासकः।
वृन्दावनीयरसिकेषु मूर्धन्यो बहुविश्रुतः।।12।।

अस्य द्वादश शिष्येषु स्वभूरामोऽति श्रेष्ठकः।
तस्य कान्हर देवोऽभूत् शिष्यः वैराग्यमूर्तिमान्।।13।।

तस्याभूत् परमानन्ददेवाचार्यों महान् सुधीः।
नागाजी तस्य शिष्योऽभूच्चतुश्चिन्तामणिर्महान्।।14।।

तस्य गोवर्धनो देवः तस्याभूत् कृष्ण देवकः।
देवाचार्यो जगन्नाथो विरक्तो भक्तिमान् महान्।।15।।

जगन्नाथस्य शिष्योऽभूत् श्रीमाखनदासकः।
चतुरदासश्च तस्याभूत तस्य भीषमदासकः।।16।।

तस्य भीषमदास्य शास्त्री (श्री) वैष्णवदासकः।
नैयायिक नाम्ना सुप्रसिद्धः नानाग्रन्थसुलेखकः।।17।।

विरक्तस्तस्य शिष्योऽभूत् भीमाचार्यो महान् सुधीः।
गुर्जरे सिद्धपूराख्ये यस्य स्थानं प्रसिद्धकम्।।18।।

तस्यास्ति सन्तदासाख्यो विरक्तः शिष्यविश्रुतः।
वृन्दावने मोतिझीले प्रसिद्धे येन निर्मितः,
निम्बार्ककुञ्ज नामाख्यः आश्रमो बहुभव्यकः।।19।।

त एवास्यानुवादस्य प्रेरकाः पुण्यशालिनः।
भूरिशो धन्यवादाहीः सम्प्रदायस्य गौरवाः।।20।।
तस्य वैष्णवदास्य शिष्योऽभूद्वी भगीरथः।
गृहस्थो मैथिलः कृष्णानुरक्तो हि महान् सुधीः।।21।।
तच्छिष्यो वैद्यनाथोऽहमनुवादस्य लेखकः।
सन्तदास गुरुभ्राता साधु–सन्तपदानुगः।।22।।

–पं. वैद्यनाथ झा
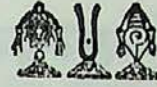
।।श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते।। ।।श्रीनिम्बार्कमहामुनीन्द्राय नमः।।

अनन्त श्रीविभूषितजगद्गुरुनिम्बार्काचार्यश्रीस्वभूरामदेवाचार्यपरम्परानुवर्ती श्रीसन्तदासजी महाराज, श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन की गुरुपरम्परा —

1. श्रीहंसभगवान्
2. श्रीसनकादिक भगवान्
3. श्रीनारद भगवान्
4. श्रीनिम्बार्क भगवान्
5. श्रीश्रीनिवासाचार्य
6. श्रीविश्वाचार्य
7. श्रीपुरुषोत्तमाचार्य
8. श्रीविलासाचार्य
9. श्रीस्वरूपाचार्य
10. श्रीमाधवाचार्य
11. श्रीबलभद्राचार्य
12. श्रीपद्माचार्य
13. श्रीश्यामाचार्य
14. श्रीगोपालाचार्य
15. श्रीकृपाचार्य
16. श्रीदेवाचार्य
17. श्रीसुन्दरभट्टाचार्य
18. श्रीपद्मनाथभट्टाचार्य
19. श्रीउपेन्द्रभट्टाचार्य
20. श्रीरामचन्द्रभट्टाचार्य
21. श्रीवामनभट्टाचार्य
22. श्रीकृष्णभट्टाचार्य
23. श्रीपद्माकरभट्टाचार्य
24. श्रीश्रवणभट्टाचार्य
25. श्रीभूरिभट्टाचार्य
26. श्रीमाधवभट्टाचार्य
27. श्रीश्यामभट्टाचार्य
28. श्रीगोपालभट्टाचार्य
29. श्रीबलभद्रभट्टाचार्य
30. श्रीगोपीनाथभट्टाचार्य
31. श्रीकेशवभट्टाचार्य
32. श्रीगांगलभट्टाचार्य
33. श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य
34. श्रीयुगलशतककारश्रीश्रीभट्टदेवाचार्य
35. श्रीपरमहंसवंशाचार्यरसिकराजराजेश्वरप्रवरमहावाणीकार श्रीश्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज (द्वारा-प्रवर्त्तक)
36. श्रीस्वभूरामदेवाचार्य
37. श्रीकान्हरदेवाचार्य
38. श्रीपरमानन्ददेवाचार्य
39. श्रीव्रजदूलहचतुरचिन्तामणि श्रीनागाजी महाराज इनके शिष्य :-
40. श्रीगोवर्धनदेवाचार्य
41. श्रीकृष्णदेवाचार्य
42. श्रीजगन्नाथदेवाचार्य
43. श्रीमाखनदास जी
44. श्रीचतुरदास जी (आप श्रीबिहारीजी मन्दिर भरतपुर (राजस्थान) की महन्त परम्परा में हैं। इनके शिष्यः-
45. श्रीभीषमदास जी
46. श्रीमहावीरदास जी
47. श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री नैयायिक[9] (श्री सिद्धान्तमन्दाकिनी, (इसी ग्रन्थ से गुरु-परम्परा लिखी गई है) श्रीगीताभाष्य वैष्णव संस्कार कौस्तुभ आदि ग्रन्थों के रचयिता। श्रीनिवासाचार्य जी की तपस्थली श्रीललिताकुण्ड (श्रीराधा कुण्ड) एवं निम्बग्राम आदि के निवासी
48. श्रीभीमाचार्यजीमहाराज, कर्दम आश्रम (कर्दम वाड़ी), बिन्दुसरोवर रोड, सिद्धपुर, गुजरात)
49. **श्रीसन्तदास जी महाराज** वर्तमान में विराजमान श्रीभीमाचार्यजी महाराज के चार प्रधान शिष्य—
    1) **श्रीसन्तदास जी महाराज**– निम्बार्ककुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन
    2) श्रीअनन्ताचार्य जी महाराज– कर्दमाश्रम बिन्दु सरोवर रोड, सिद्धपुर (गुजरात) इस समय इनके बाद **श्रीनारायणशरण जी** महान्त वर्तमान है।
    3) श्रीदामोदर दास जी महाराज–दुधेश्वर मन्दिर, बालीसाना, ऊँझा (गुजरात) इस समय इनके बाद **श्रीहरिशरण जी महाराज** वर्तमान हैं।
    4) **श्रीरामचरणदासजी महाराज**– श्रीसत्यनारायण मन्दिर, भाउपुरा कड़ी (गुजरात)

श्रीनिम्बार्ककुंज, मोतीझील, वृन्दावन (मथुरा) उ0प्र0 दूरभाष : (0565) 2443566

---

9. वीतराग सन्त श्रीवैष्णवदास जी महाराज के अनेकानेक शिष्यों में दो विशिष्ट विद्वान् शिष्य हुए, जिनमें एक विरक्त सन्त विद्वद्वर श्रीभीमाचार्यजी महाराज तथा दूसरे सद्गृहस्थ शिष्य दार्शनिक सार्वभौम नित्यलीला लीन मैथिल विद्वान् पं0श्रीभगीरथजी झा हुए। इस ग्रन्थ के अनुवादक श्रीझा जी आपके ही शिष्य हैं।

ब्रज में निम्बार्क-सम्प्रदाय की महिमा

लेखक- पं0 प्रेमदत्त मिश्र मैथिल

सम्प्रति ब्रज में प्रचलित समस्त प्रमुख वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीनिम्बार्क अथवा स्वाभाविक भेदाभेदीय सम्प्रदाय सर्व प्राचीन सम्प्रदाय हैं। निम्बार्काचार्य का समय सम्प्रदाय के अनुसार द्वापरान्त है किन्तु आधुनिक गवेषकों के अनुसार श्रीनिम्बाकाचार्य का समय ईसा की 5वीं सदी माना जाता है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के आद्यप्रवर्तक आचार्य ब्रह्मा के पुत्र सनक, सनातन, नारद आदि को माना जाता है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक नारद जी का मन्दिर ध्रुव टीले से सटे हुए नारद टीले पर अद्यावधि मथुरा में स्थित है। निम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान आद्य गद्दी मथुरा का वर्तमान ध्रुव टीला है, जहाँ पर केशवकाश्मीरी की समाधि उपस्थित है।

श्रीराधा-कृष्ण युगल उपासना का सर्वप्राचीन सम्प्रदाय निम्बार्क-सम्प्रदाय ही है। इससे पूर्व युगल उपासना किसी भी ब्रजस्थ कृष्णभक्तिप्रधान वैष्णव सम्प्रदाय में प्रचलित नहीं थी। निम्बार्काचार्य की साधनास्थली गिरि गोवर्धन की तलहटी नीम गाँव में है। निम्बार्काचार्य, दाक्षिणात्य होते हुए भी, जीवन पर्यन्त ब्रज में निवास करते हुए श्रीकृष्ण-राधा की उपासना में सदैव अभिरत रहे। प्रारम्भ में अधिकांशतः सभी ब्रजवासी निम्बार्की थे क्योंकि निम्बार्क सम्प्रदाय से पूर्व ब्रज में वर्तमान वैष्णव सम्प्रदाय थे ही नहीं। स्वामी हरिदास जी भी इसी सम्प्रदाय की विभूति थे। अन्य वैष्णव सम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय (रामानुजीय सम्प्रदाय), चैतन्य (अचिन्त्य भेदाभेद) सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी/बल्लभ-सम्प्रदाय अर्थात् पुष्टि (शुद्धाद्वैत) सम्प्रदाय, राधावल्लभीय सम्प्रदाय आदि सभी सम्प्रदाय तो श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के परवर्ती हैं अर्थात् पीछे के हैं।

इसी सम्प्रदाय में 13वीं सदी में श्री श्री 108 जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य हुए जो बड़े प्रतापशाली थे। इन्होंने मथुरा के विश्राम घाट पर मुसलमान काजी के आतंक से हिन्दुओं की रक्षा की थी। मथुरा ध्रुव टीले पर इनकी गद्दी अवस्थित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि निम्बार्क-सम्प्रदाय की प्राचीन प्रधान पीठ (गद्दी) मथुरा का ध्रुव टीला ही थी। सलेमाबाद (किशनगढ़, राजस्थान) तो श्रीपरशुरामदेवाचार्य के समय में स्थापित हुई थी।

केशव काश्मीरी भट्टाचार्य ने वेदान्त/ब्रह्मसूत्र पर विस्तृत भाष्य वेदान्त कौस्तुभप्रभा लिखी जिसमें शांकर मत की बड़ी समीक्षा की गई है। यह ग्रन्थ अत्यन्त मान्य एवं दुरुह है। द्वैताद्वैत दर्शन का अपूर्व परिष्कार मैथिल विप्र प्रवर पं0 भगीरथ झा ने 'द्वैताद्वैत विवक' नामक ग्रन्थ में करके दार्शनिक जगत् में वैसा ही महत् कार्य किया है जैसा शांकर मत पर भामती टीका लिखकर 9वीं सदी में उद्भट मैथिल विद्वान् महामहोपाध्याय पं0 वाचस्पति मिश्र प्रथम ने किया और शांकर भाष्य का समस्त उत्तर भारत में प्रचार हुआ।

हर्ष है कि निम्बार्क सम्प्रदाय के उद्‌भट विद्वान मैथिल दार्शनिक सार्वभौम पं0 भगीरथ जी झा के प्रिय शिष्य राष्ट्रपति पुरस्कृत सेवा निवृत्त प्रधानाचार्य पण्डित प्रवर श्रीवैद्यनाथ झा मैथिल ने कौस्तुभ प्रभा का हिन्दी में अनुवाद कर महत्कार्य किया है।

केशवकाश्मीरी भट्टाचार्य द्वारा लिखी वेदान्त कौस्तुभप्रभा का हिन्दी अनुवाद, निम्बार्क मतानुयायियों के लिये सम्प्रति परम आवश्यक था, जिसे मैथिल मनीषी विद्वान् पं0 वैद्यनाथ झा ने करके हिन्दी जगत् की महान सेवा की है। यह ग्रन्थ लगभग 700 (सात सौ) पृष्ठ का है।

महा खेद का विषय है कि ब्रज का सर्वप्राचीन राधाकृष्ण युगलोपासना प्रधान निम्बार्क सम्प्रदाय, जो कि अतीत में ब्रजमण्डल में सर्वत्र व्याप्त था, फैला हुआ था, आज पूर्व की अपेक्षा सिकुड़ था सिमिट गया है, इसका कारण यह है कि इस सम्प्रदाय में प्रायः अविद्वान् विरक्त साधुओं, उदासीन प्रचारकों का ही बाहुल्य है। जिनमें विद्या, विद्वान् तथा संस्कृत के प्रति कतई रूचि नहीं है। अन्य बल्लभ आदि आचार्यों के सम्प्रदाय धनवत्ता से उत्साही प्रचारकों के माध्यम से दिनों दिन अधिकाधिक प्रसरित होते जा रहे हैं। उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदायों/मतों का विस्तार करने के लिए बहुत से वैज्ञानिक अवैज्ञानिक आधुनिक तरीके अपना लिये हैं, किन्तु निम्बार्कमतानुयायी उदासीन बने हुए हैं।

हर्ष की बात है कि परमश्रद्धेय पूज्यपाद बाबा श्रीसन्तदास जी महाराज ने केशवकाश्मीरी भट्ट द्वारा वेदान्त सूत्र पर भाष्य 'कौस्तुभप्रभा' का हिन्दी में अनुवाद कराकर महनीय कार्य किया है, जिससे समस्त निम्बार्क मतावलम्बी लाभान्वित होंगे और बाबा श्री श्री 108 श्रीसन्तदास जी महाराज इस अभूतपूर्व कार्य के लिए युग-युग तक स्मृत किये जाते रहेंगे।

सम्पर्क सूत्र :-
पं0 प्रेमदत्त मिश्र मैथिल
65/655, मैथिल निवास,
सरस्वती भवन, धौलीप्याऊ,
मथुरा

श्रीनिम्बार्काचार्य और उनकी उपासना

निम्बार्क भूषण-सप्ताचार्य वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी मथुरा-वृन्दावन

श्रीमदाद्याचार्य निम्बार्काचार्य जी ने साधकों को परम मोक्ष की प्राप्ति के लिए ब्रह्म की साधना प्रवर्तित की। अमूर्त मूलरूप की उपासना की अपेक्षा प्रकाशित मूर्त रूप की उपासना जीव के लिए अधिक प्रशस्त है। साधक सत्त्वगुणाधिपति श्रीकृष्ण की उपासना को मुख्य रूप में ग्रहण करते हैं।

युगल उपासना :-

श्रीकृष्ण और राधिका रूप युगल मूर्ति की उपासना का विशेष रूप से अवलम्बन करके भी उसको सर्व विषयक ब्रह्म बुद्धि के अङ्गरूप में ही ग्रहण करते हैं।

मत - इनका मत है- द्वैताद्वैत। ब्रह्म चिदानन्दरूप अद्वैत सत्पदार्थ है। ब्रह्म चतुष्पाद विशिष्ट है–

१- दृश्य स्थानीय-अनन्त जगत् प्रथम पाद है।
२- जगत् द्रष्टा जीव द्वितीय पाद है।
३- जागतिक पदार्थों का पूर्ण द्रष्टा ईश्वर तृतीय पाद है।
४- इन तीनों रूपों से विवर्जित नित्य एक रस आनन्दभाव का अनुभव करने वाला चतुर्थपाद है।

द्वैताद्वैत मीमांसा का अर्थ है- भेदाभेदवाद।

इसके अनुसार दृश्यजगत् और जीव दोनों ही मूलतः ब्रह्म है परन्तु जगत् और जीव मात्र में ही उनकी सत्ता समाप्त नहीं होती। इन दोनों से अतीत रूप ही जगत् का मूल उपादान कारण है। जगत् और जीव ब्रह्म के अंशमात्र हैं, अंश के साथ अंशी का भेदाभेद सम्बन्ध है। जगत् और जीव के साथ भी ब्रह्म का वैसा सम्बन्ध है। अंशमात्र में अंशी की सत्ता समाप्त नहीं होती अतएव अंशी अंश से भिन्न भी है।

अतएव दोनों के सम्बन्ध को भेदाभेद के सम्बन्ध के नाम से निर्देश करना पड़ता है। अंशाशि सम्बन्ध और भेदाभेद सम्बन्ध द्वैताद्वैत सम्बन्ध एक ही अर्थ के ज्ञापक हैं।

ब्रह्म अपने चिदंश के द्वारा अपने स्वरूप आनन्द का अनुभव (भोग करता है / उनका स्वरूप आनन्दभूमा है अनन्त है) उदाहरण- जैसे सूर्यदेव अपने स्वरूपानुरूप अनन्त होते हुए रश्मियों को फैला कर अपने आश्रय स्वरूप आकाश को तथा आकाशस्थ सारी वस्तुओं को सर्वांश में स्पर्श और प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार विभक्त करके अनन्त रूपों में अपने स्वरूपगत आनन्द का अनुभव और प्रकाश करता है। ये सब सूक्ष्म चिदंश (चित् अणु) ही जीव हैं, तथा इसके स्वरूपमत आनन्द को जो जीव आनन्द विभिन्न और विशेष रूप में अनुभव दर्शन करता है उन सबके विभिन्न रूपों की समष्टि ही जगत् है।

इन सभी अनन्त रूपों का समग्र दर्शन करने वाले रूप में ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा दी गई है। अतएव ईश्वर रूपी ब्रह्म सर्वज्ञ और जीव विशेषज्ञ है।

श्रीकृष्ण– विशुद्ध ज्ञानमयदेह से सर्वात्मरूप में सर्वद्यवि राज भाग है वे विज्ञान मात्र है- व्यर्थ बन्धन में रहित है वे सच्चिदानन्द मय के शुद्ध सत्त्व स्वरूपों में निर्मलपद के एक मात्र अधिकारी है।

श्री निम्बार्काचार्य जी ने- 'वेदान्त कामधेनु' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि यह सब कुछ विज्ञान मय है। अतः यथार्थ है –

सर्वंहि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदाविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता।।

इतना होते हुए भी एक मात्र उपास्य भगवान् श्रीकृष्ण ही है-

नान्या गतिः, कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहात्
अचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यशासयात्।।

वे भक्तों की इच्छा के अनुसार मनोहर विग्रह धारण करते हैं। साथ ही दैन्यादि गुणों से युक्त पुरुष के ऊपर भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा प्रकट होती है।

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते।
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।।

वैष्णवजन मानते हैं पुरुष मूर्तियों में प्रधान श्रीकृष्ण हैं और स्त्री मूर्तियों में श्रीराधा की प्रधानता भी वैसी ही है। वे श्रीकृष्ण की प्रधान शक्ति हैं।

भगवान् के साथ संयुक्त रूप में स्त्रीमूर्ति की भक्तिपूर्वक अर्चना करने से स्त्री मूर्ति के प्रति का भावतिरोहित हो जाता है।

"ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्" का भाव उपर्युक्त ही है।

आचार्यप्रवर ने स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में प्रसन्नवदना वृषभानु नन्दिनी विराजित हैं, ये श्रीकृष्ण के अनुरूप ही सौन्दर्यादि गुणों से समन्वित हैं। सहस्त्रों सखियाँ सेवा में संलग्न रहती हैं इस प्रकार अभीष्ट प्रदान करने वाली देवी श्रीराधिका का मैं ध्यान करता हूँ–

अङ्गेतु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखीसहस्नैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्।।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यजी की प्राचीनता एवं जगद्विजयी श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी की गौरवपूर्ण ओजस्विता की झलक

महान्त सन्तदास

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन

श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीराधाकृष्ण युगल उपासना के ब्रज के प्रथम आचार्य थे। वे न केवल व्यासरचित ब्रह्मसूत्र के उपलब्ध भाष्कारों में ही सर्वप्रथम आचार्य हैं, अपितु न्यायादि दर्शनों के आचार्यों में भी प्रथम आचार्य प्रतीत होते हैं। वे ऋषिकालीन आचार्य हैं, ऋषि युग के दार्शनिक हैं, ऋषि हैं, ऋषि पुत्र हैं- अरुण ऋषि कुमार हैं, जिनका आरुणि ऋषि नाम से श्रीमद्भागवत में चर्चा है। ''ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः'' मन्त्र द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। ऋषि और आचार्य में महान् अन्तर है। यद्यपि ''आचिनोति च शास्त्रार्थं'' के अनुसार आचार्य का भी बड़ा महत्त्व है, पर ऋषि उससे भी महान् होते हैं। निम्बार्काचार्य ऋषि तो हैं ही, आचार्य भी हैं। यहाँ तो सुवर्ण में सुगन्ध है। श्रीनिम्बार्काचार्य महामुनीन्द्र कहलाते हैं। हमारे यहाँ उन्हें श्रीनिम्बार्क महामुनीन्द्राय नमः कहकर उनकी वन्दना होती है। यह भी उनकी प्राचीनता का द्योतक है।

श्रीनिम्बार्काचार्य का समय साम्प्रदायिक मान्यतानुसार आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व द्वापरान्त माना गया है। इसमें भविष्य पुराण का **''सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो भविष्यति''** वचन प्राचीन काल से उद्धृत किया जाता है। भविष्य पुराण में कतिपय ऐतिहासिक अविश्वसनीय चर्चा होने से इस पुराण की प्राचीनता पर कुछ लोग संदेह प्रकट करते हैं। किसी ग्रन्थ के कुछ अंश प्रक्षिप्त होने से उसके सर्वांश पर संशय करना कोई बुद्धिमता नहीं है। यह तो अद्वैतवादियों जैसी बात हो गई, जैसे उन्होंने किसी अपवाद को देखकर सामान्य नियम बना लिया–आँख ने कहीं गलती की, उसने कहीं धोखा दिया-रात में भूल से रज्जू को सर्प समझ लिया तो आपने सामान्य नियम बना लिया, आँख के सारे काम गलत हैं, **''जगत् मिथ्या दृश्यत्वात्''** जगत् मिथ्या है क्योंकि आँख से दिखाई देता है। आँख ने रज्जू को सर्प समझा, इसलिए जल को जल माना यह भी गलत है-यह तो ठीक नहीं है। इसलिए भविष्य पुराण की कोई बात गलत होने से सब बात गलत हो, ऐसा नहीं होता, यह कोई बुद्धिमानी नहीं है। भविष्य पुराण व्यास रचित पुराण है। अठारह पुराणों में अन्यतम है, सर्वाचार्यसम्मत है। अतएव इसी के अनुसार हमारे सम्प्रदाय के वर्तमान सर्वमान्य आचार्य जगद्गुरु अनन्त श्री श्रीजीमहाराज ने दो साल पूर्व आचार्यपीठ सलेमाबाद में समस्त वैष्णवाचार्यों एवं श्रीशंकराचार्यों की समुपस्थिति में श्रीनिम्बार्क भगवान् का ५१००वाँ स्मृति-महोत्सव मनाया था। इस पर भी जिन सज्ञनों को उनकी प्राचीनता पर संशय होता है, मन नहीं मानता तो उन्हें ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य का अध्ययन करना चाहिये। श्रीशाङ्कर भाष्य में श्रीनिम्बार्काचार्य की अनेक मान्यताओं का खण्डन है। यहाँ केवल आरम्भणाधिकरण ब्रह्मसूत्र अ० २, पाद १ के १४ सूत्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

स्वामी हनुमानदास षट् शास्त्री द्वारा विरचित ब्रह्मतत्त्व-विमर्शिनी व्याख्योपेत चौखम्भा विद्या-भवन वाराणसी से प्रकाशित ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य पृष्ठ ३९५ में स्वाभाविक भेदाभेद की चर्चा कर उसे वेदासम्मत कहा है। इसमें ऊपर श्लोक हैं-

"भेदाभेदौ तात्त्विकौ स्तो यदि वा व्यावहारिकौ।
समुद्रादाविव तयोर्बाधाभावेन तात्त्विकौ॥
बाधितौ श्रुतियुक्तीभ्यां तावेतौ व्यावहारिकौ।
कार्यस्य कारणाभेदादद्वैतं ब्रह्म तात्त्विकम्"॥

इसका अर्थ भी उनकी टीका में लिखा हुआ है। इस सूत्र पर भगवान् शङ्कराचार्य का विस्तृत भाष्य है, जिसका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। पृष्ठ ३९८ का मूल एवं हिन्दी अनुवाद भी देखने लायक है। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि श्रीनिम्बार्काचार्य श्रीशङ्कराचार्य से भी अति प्राचीन हैं। भगवान् श्रीशङ्कराचार्य का समय उनके द्वारा स्थापित पीठों के अनुसार ढाई हजार वर्ष पूर्व माना गया है। इस प्रकार उनका तीन हजार पूर्व का काल तो सिद्ध होता ही है। यह साक्ष्य भी श्रीनिम्बार्काचार्य की अति प्राचीनता सिद्ध करती है और उनके द्वापरान्त वाली बात की ओर परोक्ष रूप में संकेत करता है।

श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य एवं उनकी गौरवपूर्ण दीप्ति–

आपका समय लगभग तेरहवीं सदी का अन्त एवं चौदहवीं सदी का आदि है। इस समय तक आठवीं सदी में प्रकटित आचार्यवर आदि शङ्कराचार्य एवं नवमी सदी में उद्भूत षड्दर्शन टीकाकार श्रीवाचस्पति मिश्र तथा श्रीशङ्कराचार्यजी की तीसरी पीढ़ी के आचार्य श्रीचित्सुखाचार्यजी के ग्रन्थ क्रमशः ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य भामती एवं चित्सुखी आदि ग्रन्थों का प्रायः सर्वत्र प्रचार हो गया था। ये तीनों ग्रन्थ केवलाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक, समर्थक अतिप्रौढ़ एवं न्याय भाषा में लिखित हैं, गम्भीर एवं दुरुह हैं। ये सभी ग्रन्थ निम्बार्कीय द्वैताद्वैत या स्वाभाविक भेदाभेद वाद के विपरीत हैं। इन सभी ग्रन्थों में द्वैताद्वैत एवं स्वाभाविक भेदाभेदवाद, परिणामवाद तथा सविशेष ब्रह्मवाद का खण्डन है। अतः इनका खण्डन द्वैताद्वैत स्वाभाविक भेदाभेद की प्रतिष्ठा के लिए परमावश्यक था। यह दुरुह कार्य वही कर सकता था, जो न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा का उद्भट विद्वान् हो। ऐसा विद्वान् प्रभुकृपा एवं श्रीनिम्बार्क भगवान् की कृपा से सम्प्रदाय में जगद्गुरु, जगद्विजयी निम्बार्काचार्य श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्यजी प्राप्त हुए। आप तेरहवीं सदी के आदि में समुद्भूत नव्य न्याय के आदि प्रवर्तक आचार्य तत्त्वचिन्तामणिकार मिथिला निवासी गंगेश उपाध्याय के वाद में हुए ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि आपने न्यायाचार्य गंगेशजी की चर्चा "मणिकृतोक्तम्" करके अपने भाष्य में किया है। इसी से सिद्ध होता है कि आप नव्य न्याय के भी उद्भट विद्वान् थे। नव्य न्याय के उद्भट विद्वान् होने के कारण ही आपने श्रीशंकराचार्यजी के अध्यासवाद, विवर्तवाद एवं निर्विशेषवाद का अपने भाष्य में अनेकों सूत्रों में खण्डन किया है। उक्त वादों की इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण समीक्षा या तो वेदान्त कौस्तुभ-प्रभा-वृत्ति में है अथवा निम्बार्कीय पं० माधव मुकुन्द कृत परपक्ष गिरिवज्र नामक भाष्य में है। ये दोनों ग्रन्थ न केवल निम्बार्क सम्प्रदाय के लिये अपितु समस्त वैष्णव सम्प्रदायों के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं गौरवपूर्ण हैं। इन दोनों ग्रन्थों के माध्यम से वैष्णवों की सैद्धान्तिक रक्षा हुई है। इस दृष्टि से उक्त ग्रन्थद्वय सम्प्रदाय के महान् गौरवपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रभुकृपा से वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा का तो प्रकाशन हो रहा है। आचार्यनिष्ठ-सम्प्रदाय निष्ठ-सन्त, महान्त, धनी मानी मठाधीश एवं उदारचेता सद्गृहस्थ श्रेष्ठी महानुभावों की सुदृष्टि हो जाय तो अध्यास गिरिवज्र एवं वेदान्त-रत्न मञ्जूषादि साम्प्रदायिक ग्रन्थों का जिनका अभी तक शुद्ध रूप में हिन्दी में प्रकाशन नहीं हुआ है, प्रकाशन हो जाय तो वास्तव में बौद्धिक एवं पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण लाभ हो जाये।

हमारा संकल्प

हमारी हार्दिक-भावना है कि सम्प्रदाय के समस्त दार्शनिक एवं उपासनापरक संस्कृत ग्रन्थों, जिनका प्रकाशन नहीं हुआ है, उनका तथा जिनका अनुवाद सहित प्रकाशन नहीं है, उन सबका सानुवाद आधुनिक ढंग से प्रकाशन किया जाय। इसी शृंखला में हमने अभी-अभी जगद्गुरु श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य कृत वेदान्त कौस्तुभप्रभा (ब्रह्मसूत्र का विस्तृत भाष्य) का सानुवाद प्रकाशन कराया है- जो सम्पूर्ण व्यय दानी शिरोमणि सम्प्रदायरत्न परमपूज्य महान्त प्रवर श्रीयुगल शरण जी ब्रह्मचारी पाट नारायण (राज०) की ओर से हुआ है जिसके लिए सम्प्रदाय उनका आभारी है। इसी तरह अन्यान्य ग्रन्थों का भी हम सानुवाद प्रकाशन कराना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से यहाँ सम्प्रदाय के सभी गौरवमय ग्रन्थों का परिचय प्रकाशित कर रहे हैं।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए हम साम्प्रदायिक धनी-मानी, सद्गृहस्थ श्रीमान् पूज्य महान्तवृन्दों तथा वृद्धों से प्रार्थना करते हैं कि इसके लिए हमें आर्थिक सहयोग प्रदान करें।

अथवा निम्नांकित ग्रन्थों में से किसी एक ग्रन्थ का अपनी रुचि अनुसार स्वव्यय या स्वप्रयास से प्रकाशित कराने का पवित्र संकल्प लें तथा उसकी सूचना कृपया मुझे प्रदान कर अनुगृहीत करने की कृपा करें।

विनीत :

सन्तदास

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील,
वृन्दावन (मथुरा)
फोन नं०-0565-2443566

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय के कतिपय विशिष्ट दार्शनिक एवं उपासना के संस्कृत ग्रन्थों की नामावली

क्र०	ग्रन्थ	लेखक
01.	वेदान्त कामधेनु (दशश्लोकी)	आ०आ० श्रीनिम्बार्क महानुनीन्द्र
02.	वेदान्त पारिजात सौरभ (ब्र0सू0वृत्ति)	,, ,,
03.	मन्त्र रहस्य षोडशी	,, ,,
04.	सदाचार प्रकाश	अप्राप्य
05.	वेदान्त कौस्तुभ (ब्र0सू0भाष्य)	श्रीनिवासाचार्य
06.	वेदान्तरत्न मञ्जूषा (दशश्लोकी भाष्य)	श्री पुरुषोत्तमाचार्य
07.	सिद्धान्त जाह्नवी (ब्रह्मसूत्र व्याख्या)	श्रीदेवाचार्य
08.	सि० जा० सेतुका (ब्रह्मसूत्र व्याख्या)	श्रीसुन्दर भट्टाचार्य

09.	वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति (ब्र0सू0विस्तृतभाष्य)	ज०गु०श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्य
10.	वेदान्त तत्त्वबोध	,, ,,
11.	अध्यात्म सुधा	,, ,,
12.	अध्यास गिरि वज्र ब्र0सू0विस्तृतभाव	पं0 श्री अनन्तरामदेवजी
13.	सविशेष निर्विशेष स्तवराज	,,
14.	प्रपन्न कल्पवती	श्रीसुन्दर भट्ट
15.	प्रपन्न सुरतरु मञ्जरी	,,
16.	मन्त्रार्थ रहस्य मीमांसा	
17.	वेदान्त तत्त्व समीक्षा (विस्तृत)	पं0 श्रीभगीरथजी
	श्रीगोपाल तापिनी उपनिषद् भाष्य	,,
18.	श्रीभगवत्ततत्व सुधानिधि (विस्तृत)	,,
19.	श्रीयुग्म तत्त्व समीक्षा (विस्तृत)	,,
20.	द्वैताद्वैत विवेक	,,
21.	गीता तत्त्व प्रकाशिका गीताभाष्य	श्रीकेशवकाश्मीरि भट्ट
22.	वेद स्तुति	,,
23.	सिद्धान्त मन्दाकिनी	पं. श्रीवैष्णवदासजी शास्त्री
24.	गीता भाष्य	,,
25.	ईशाघष्टोप विसत् प्र.........	पं. श्री अमोलरामजी
26.	छान्दोग्योपनिषत् प्रकाशिका	,,
27.	वृहदारण्यकोपनिषत् प्रकाशिका	,,
28.	वेदान्त कौस्तुभप्रभा वृत्तिः	पं.श्रीअमोलकरामजी शास्त्री
29.	अध्यास गिरिवज्र	,,
30.	भागवत तत्व दीपिका	,,
	श्रीमद्भागवत टीका	पण्डित प्रवार श्री श्री शुक सुधी
31.	अर्चिरादि पद्धति	,,
32.	स्वधर्मामृत सिन्धु	,,
33.	श्रुत्यन्त सुरद्रुम	श्रीपुरुषोत्तमाचार्य कृतश्रीकृष्णस्तवराज की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या
34.	वेदान्त तत्त्व बोध	श्रीअनन्तरामजी कृत
35.	सिद्धान्त जाहनवी	श्रीदेवाचार्य कृत
36.	श्रीकृष्णस्तवराज	श्रीपुरुषोत्तमप्रसाद कृत
37.	श्रुत्यन्त कल्पवली	,,
38.	अध्यास गिरि वज्र	पं. श्रीमाधवमुकुन्द कृत

❖❖❖❖❖

अनुवादक का संक्षिप्त परिचय

नाम : पं0 श्री वैद्यनाथ जी झा

पितृनाम : श्री रमानाथ झा

मातृनाम : श्री सुभद्रादेवी

जन्मस्थान : मिथिला मही मण्डलान्तर्गत मधुवनी जनपदान्तर्गत घोघरडीहा (बिहार)

जन्मतिथि : १२-०७-१९२८

जाति : वलियासै वलहा मूलक काश्यप गोत्रीय मैथिल ब्राह्मण (शुक्ल यजुर्वेद माध्यम दिल्ली शाखा)

अध्ययन क्षेत्र : मिथिला तथा काशी

विद्या गुरु : क्रमशः - पं० श्री जगन्नाथ झा (पितृव्य), पं० श्रीतेजनाथ झा ब्रह्मऋषि (दीप), पं० श्री ईश्वरनाथ झा नवानी, पं० श्रीपद्म प्रसाद जी भट्टराई, पं० श्री उग्रानन्द जी झा, पं0 श्री रुद्रधर झा - काशी, श्रीकृष्ण मन्त्रके गुरु आबाल कृष्ण भक्त अनेकानेक श्रीराधाकृष्ण परत्व प्रतिपादक ग्रन्थों के रचयिता नित्य ली० ली० गुरुदेव पं० श्री भगीरथजी झा।

शैक्षणिक योग्यता : व्याकरण, न्याय, वेदान्ताचार्य, एम०ए०, साहित्य रत्न।

अध्यापन क्षेत्र : वृन्दावन - राजस्थान

शिष्य मण्डली : व्रज में नन्दगाँव, बरसाना आदि, नेपाल एवं उत्तर प्रदेशीय नाना जिलों में अनेकानेक, इनके अतिरिक्त - विशिष्ट अध्यापितों में-

१- जगद्गुरु निम्बार्काचार्य अनन्त श्री श्रीजी महराज सलेमाबाद (राजस्थान) (तीन साल तक आपश्री को वेदान्त अध्यापन का सौभाग्य प्राप्त रहा)

२- अनन्त श्री ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्री अखण्डानन्द जी महाराज (आपको लगभग तीन माहतक श्रीनिम्बार्क भाष्य अध्यापन का सौभाग्य)

३- अनन्त श्री निम्बार्काचार्य श्री राधेश्यामशरणदेवाचार्य जी महाराज (श्रीमुकुन्ददेवाचार्य पीठ मिथिला कुञ्ज)

४- व्रज के प्रसिद्ध सन्त बाबा श्रीराधाशरण जी महाराज (श्रीरमेश बाबा) बरसाना- मान मन्दिर दो वर्षों तक शांकर भाष्य पढ़ाने का सौभाग्य मिला।

५- श्री हरिशरण जी उपाध्याय - व्या०वे० आचार्य पूर्व प्राचार्य- श्रीनिम्बार्क महाविद्यालय।

६- भक्तिमती साध्वी - श्रीसुमनलता देवी (श्रीकृष्ण प्रणामी सम्प्रदाय-सन्त कॉलोनी वृन्दावन) निम्बार्क वेदान्ताचार्य

७- माध्वगौड़ेश्वर सम्प्रदाय विदुषी भक्तिमती सविता गुप्ता एम०ए०।

८- अनन्य श्रीराधानुरागिणी भक्तिमती राजूबाई बम्बई। (आपको दो-तीन साल तक श्रीराधासुधानिधि-कृष्णकर्णामृत आदि भक्ति-साहित्य के ग्रन्थ पढ़ाये।) सम्प्रति स्वीय निवास-स्थान श्रीराधामाधव कुंज, वृन्दावन में निःशुल्क अध्यापन सेवा।

कार्यकाल : १९५३से १९५५ ई० तक आचार्य पीठ सलेमाबाद राजस्थान।

१९५६ से१९५७ई० तक गीता प्रेस गोरखपुर - सम्पादन विभाग।

१९५८ से१९६१ तक श्रीनिम्बार्क संस्कृत महाविद्यालय, वृन्दावन में प्राचार्यपद की सेवा।

रचनाएँ : १- वृन्दावन रसतत्त्व समीक्षा, २- श्रीराधासुधानिधि की रसवर्धिनी व्याख्या, ३- गायत्री मंत्र में श्रीराधाकृष्ण, ४- गीता में पुरुषोत्तम वाद, ५-पुरुषसूक्त परमार्थ, ६- श्रीमहावाणी रसतत्त्व समीक्षा। (अप्रकाशित)

सम्मान एवं उपाधिः १- साङ्गवेद महाविद्यालय रामघाट काशीमें व्याकरण के शास्त्रार्थ में म० म० राजेश्वर शास्त्री द्रविड़ द्वारा विजय पुरस्कार एवं प्रमाण-पत्र। (१९४८ ई०)

२- राष्ट्रपति पुरस्कार एवं सम्मान-पत्र। (१९८३ ई०)

३- जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य द्वारा श्रीनिम्बार्कभूषण उपाधि एवं सम्मान-पत्र। (१९८५ ई०)

४- ब्रह्मलीन पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीअखण्डानन्द जी महाराज द्वारा प्रशस्ति-पत्र एवं पुरस्कार। (१९८६ ई०)

५- भागवताचार्य पूज्य श्री पीयूषजी महाराज द्वारा सन्त गोलोकवासी पूज्य पं० श्री गया प्रसाद जी महाराज की पुण्यस्मृति में ११,०००/- का पुरस्कार एवं सम्मान-पत्र। (१९९६ ई०)

६- हिन्दी-प्रचारिणी सभा, सदर बाजार, मथुरा द्वारा सम्मान-पुरस्कार। (२००० ई०)

७- नागरिक अभिनन्दन - श्रीरामजीबाई सत्संग भवन वृन्दावन में। (२००१ ई०)

८- दुबारा आनन्द चेरीटेबिल ट्रस्ट के अध्यक्ष पूज्य श्री ओंकारानन्द जी महाराज एवं भागवत भूषण ब्र० श्री गिरीशानन्दजी द्वारा सम्मान एवं पुरस्कार। (२००२ ई०)

९- ज्योतिष्पीठाधीश्वर बदरिकाश्रम पीठाधिपति पू० श्री शंकराचार्य द्वारा व्रजविभूति सम्मान- मोदी भवन, वृन्दावन २००३ ई०।

मांगलिक प्रार्थना

सदा सर्वेभ्यो यः परमप्रियरूपः शतपथे,
निरुक्तश्छान्दोग्ये सुखनिरवधिर्भूमकथने।
रसो यस्तैत्तिर्या परमपरमस्तापिनिश्रुतौ,
स मे भूयात् कृष्णः परममधुरो ध्यानविषयः।।1।।

❖ ❂❂ ❖

स्वकीयैः माधुर्यैः मधुरमधुरैः साम्यरहितैः,
सदात्मारामान् वै विषयविषमत्तानपि जनान्।
वशे सद्यो भूपानपि वननिवासांश्च कुरुते,
तमेवाहं श्यामं स्वजनवरदं नन्वनुभजे।।2।।

❖ ❂❂ ❖

यत्प्राप्तये घोरतरं प्रविश्य वनं परित्यज्य समस्तबन्धून्।
विहाय सङ्गं विषये समस्ते तपश्चरन्तो मुनयो भवन्ति।।3।।

❖ ❂❂ ❖

सा ब्रह्मविद्यापि यदर्थमुद्यता,
वनं प्रविष्टा कुरुते तपांसि।
तं गोपिकालोचनतारकं वरं,
श्रीराधिकाप्राणधनं प्रपद्ये।।4।।

❖ ❂❂ ❖

विना यस्याः कृपादृष्टिं दुर्लभं श्यामदर्शनम्।
नवीनां सुकुमाराङ्गीं वन्दे तां वृषभानुजाम्।।5।।

❖ ❂❂ ❖

तप्तकाञ्चनवर्णाभां नीलशाटीपरिवृताम्।
किशोरीं द्विभुजां वन्दे श्रीराधामालिवत्सलाम्।।6।।

❖ ❂❂ ❖

यद्दर्शनाय गोविन्दो मालिनीं योगिनीं तथा।
ब्रह्मचारिणमात्मानं कृत्वा याति श्रियो गृहम्।।7।।

❖ ✪✪ ❖

ललितायाश्च विशाखायाः पादौ गृहणाति विह्वलः।
यन्मानभङ्गमादाय तां वन्दे कीर्तिनन्दिनीम्।।8।।

❖ ✪✪ ❖
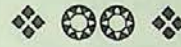
मातृ-पितृ वंदना

पितृवर्यं रमानाथं सुभद्रां जननीं तथा
राधां पितामहीं नौमि मातृकल्पां दयान्विताम्।।9।।

❖ ✪✪ ❖

गायत्रीमन्त्रदातारं गायत्रीजापकं सदा।
जगन्नाथं गुरुं नौमि पितृव्यं जनकाधिकम्।।10।।

❖ ✪✪ ❖

पितृवत् पालकं बाल्ये सुतादधिकस्नेहदम्।
विद्यागुरुं जगन्नाथं हृदयेन नमाम्यहम्।।11।।

❖ ✪✪ ❖

मातृकल्पां यशोदां वै पितृव्यगृहिणीं मुदा।
बाल्ये सुपालिकां नौमि पतिसेवापरायणाम्।।12।।

❖ ✪✪ ❖

राधाकृष्णपदाभ्योजप्रीतिविश्वासबृद्धये ।
ज्वालामुखीं नमस्यामि कुलस्य मम देवताम्।।13।।

❖ ✪✪ ❖

मिथिलां मैथिलीं नौमि नमामि जनकात्मजाम्।
जानकीं रघुनाथस्य प्रियां वै सकलेष्टदाम्।।14।।

❖ ✪✪ ❖

सर्वान् वैदिकदेवान् वै वेदानपि हरिप्रियान्।
राधाकृष्णपदाम्भोजप्रीतिवृद्‌यै नमाम्यहम्।।15।।

❖ ✪✪ ❖

आचार्य-वन्दना

श्री हसं च सनत्कुमारप्रभृतीन् वीणाधरं नारदम्।
निम्बादित्य गुरुं च द्वादशगुरुन् श्री श्री निवासादिकान्।।
वन्दे सुन्दर भट्ट दैशिकमुखान् वस्विन्दुसंख्यायुतान्।
श्री व्यासाद्धरिमध्यगाच्च परतः सर्वान् गुरुन् सादरम्।।

❖ ✪✪ ❖

श्रीगुरु-वन्दना

जानकीजन्मसंभूतं वृषभानुसुताप्रियम्।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम्।।1।।

❖ ✪✪ ❖

जन्मना न्यायशास्त्रज्ञं वेदान्ताद्वैतपण्डितम्।
द्वैताद्वैतप्रियं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।2।।

❖ ✪✪ ❖

शैवशाक्तगुरोः शिष्यं स्मार्तदेशोद्भवं तथा।
जन्मना वैष्णवं किन्तु गुरुं वन्दे भगीरथम्।।3।।

❖ ✪✪ ❖

प्रेमावतारचैतन्येऽनुरक्तं बाल्यकालतः।
प्राप्तवृत्तिं पुष्टिमार्गे निम्बादित्येऽभिदीक्षितम्।।4।।

❖ ✪✪ ❖

द्वैताद्वैतपरिष्कारकर्तारं भाष्यकोविदम्।
भाष्यभाषाकरं नौमि नैकभाष्यविदांवरम्।।5।।

❖ ✪✪ ❖

युग्मतत्त्वसमीक्षादिरसग्रन्थनिबन्धकम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।6 ।।

❖ ❂❂ ❖
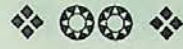
वृन्दावनसमायाने मदीयेऽहैतुकी कृपा।
यदीया तं गुरुं नौमि कृष्णभक्तं भगीरथम् ।।7 ।।

❖ ❂❂ ❖

वृन्दावने केशिघट्टे मन्त्रराजप्रदायकम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।8 ।।

❖ ❂❂ ❖

वंशीवटे हरेर्धाम्नि युग्ममन्त्र प्रदायकम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।9 ।।

❖ ❂❂ ❖

विदेहदेशालङ्कारं विदेहपथगामिनम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।10 ।।

❖ ❂❂ ❖

वेदवेदान्त-निष्णातं मानामानविवर्जितम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।11 ।।

❖ ❂❂ ❖

शरण्यगुणसम्पन्ने श्रीकृष्णे प्राणवल्लभे।
यो मां समार्पयत् प्रेम्णा गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।12 ।।

❖ ❂❂ ❖

ढंगाहरिपुरग्रामभूषणं कुलभूषणम् ।
आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम् ।।13 ।।

❖ ❂❂ ❖

राधाकृष्णरसे मग्नं राधाभावे सदा स्थितम्।
कृष्णकान्तं सदासक्तं कृष्णे नौमि भगीरथम्।।14।।

❖ ✪✪ ❖

आजीवनं युग्मतत्त्वचिन्तने व्यस्तजीवनम्।
प्रेममार्गे स्थितं किन्तु नित्यं शास्त्रानुयायिनम्।।15।।

❖ ✪✪ ❖

युग्मतत्त्वसमीक्षायां पुराणबहुलैस्तथा।
वेदान्तबहुलैर्वाक्यैस्तापिनीभाष्यके प्रिये।।16।।

❖ ✪✪ ❖

भगवतत्त्वसुधाग्रन्थे मन्त्रब्राह्मणवाक्यतः।
येन राधामाधवाख्यं युग्मतत्त्वंविचिन्तितम्।।17।।

❖ ✪✪ ❖

इत्थं श्यामसुधाग्रन्थे मैथिल्यां पदगानतः।
हिन्द्यां च तत्त्वसंदर्भे चिन्तितं युग्मतत्त्वकम्।।18।।

❖ ✪✪ ❖

श्यामे श्रियां च सम्पृक्तं सदा भावविभोरकम्।
दीक्षाप्रदं गुरुं वन्दे साष्टाङ्गं तं भगीरथम्।।19।।

❖ ✪✪ ❖

श्रीकृष्णो यन्मते विष्णोर्मूलरूपं सदा मतम्।
राधा श्रियो मूलरूपा द्विभुजा कृष्णवल्लभा।।20।।

❖ ✪✪ ❖

श्रीकृष्णः परमो विष्णुः मूलविष्णुः सदा मतः।
श्रीराधा परमा लक्ष्मीमूलक्ष्मीः सनातनी।।21।।

❖ ✪✪ ❖

विष्णुसूक्तस्य यो विष्णुः सैव कृष्णो निरूपितः।
पुरुषः पुरुषसूक्तस्य कृष्ण एव सदा मतः।।22।।

❖ ✪✪ ❖

श्रीशब्दवाच्या श्रीराधा [1]परनारायणस्य या।
प्रणवस्य सदा वाच्यः श्रीकृष्णो यन्मतेऽस्तिवै।।23।।

❖ ✪✪ ❖

गायत्र्याः सविता चापि वाच्यो वै कृष्ण एव हि।
क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टः गीतायाः पुरुषोत्तमः।।24।।

❖ ✪✪ ❖

यन्मतेऽस्ति सदा कृष्णः राधा च परमा रमा।
अक्षरोपासकाच्छ्रेष्ठः श्रीपुरुषोत्तमसाधकः।।25।।

❖ ✪✪ ❖

यन्मतेऽस्ति सदा गीताशास्त्रे भागवते तथा।
स्वयं कृष्णस्तु भगवान् तं गुरुं नौमि शाश्वतम्।।26।।

❖ ✪✪ ❖

ऊर्ध्वंतु सर्वलोकेभ्यः गोलोकोऽस्ति सनातनः।
नमामि सर्वतः श्रेष्ठं धाम वृन्दावनं मतम्।।27।।

❖ ✪✪ ❖

धर्मस्थानं त्वयोध्याख्यं श्रीरङ्गं मुक्तिसाधनम्।
द्वारका भक्तिकृत् प्रोक्ता रसस्थानं तु माथुरम्।।28।।

❖ ✪✪ ❖

इत्थं सदा मतं येन साधितं स्वीयग्रन्थके।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णस्तं गुरुं नौमि शाश्वतम्।।29।।

❖ ✪✪ ❖

यन्मते – वेदान्ते ब्रह्मसूत्रे च गीतासूपनिषत्सु च।
सविशेषो ब्रह्म-वाच्यं निर्विशेषो न कुत्रचित्।।30।।

❖ ✪✪ ❖
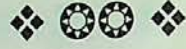
मायावादिमतं सम्यक् नास्ति वेदान्तसम्मतम्।
विवर्तवादो नैवास्ति कुत्रचित् ब्रह्मसूत्रके।।31।।

❖ ✪✪ ❖

परिणामवाद एवास्ति सर्वत्र ब्रह्मसूत्रके।
परिणामोऽप्यचिच्छक्तेर्न स्वरूपस्य कथ्यते।।32।।

❖ ✪✪ ❖

अनन्ताचिन्त्यकल्याणस्वाभाविकगुणार्णवः।
स्वाभाविकानन्तशक्तिर्ब्रह्म वेदान्तसम्मतः।।33।।

❖ ✪✪ ❖

सोऽपि साकार एवास्ति न निराकारनिर्गुणः।
साकारोऽपि चिदानन्दमूर्तिमान्नास्ति प्राकृतः।।34।।

❖ ✪✪ ❖

'रसो वै सः' एवास्ति मूर्तिमान् रस उज्ज्वलः।
शृङ्गाररसरूपत्वात् युगलाकार एव च।।35।।

❖ ✪✪ ❖

रसरूपता च श्रीकृष्णादन्यत्र द्विभुजान्नहि।
अतः श्रीकृष्ण एवास्ति सर्वोपनिषदां मतः।।36।।

❖ ✪✪ ❖

इत्थं विनिर्णयो यस्य वेदान्ते ब्रह्मसूत्रके।
साधितं चापि सकले स्वकीये ग्रन्थरत्नके।।37।।

❖ ✪✪ ❖

सदा सर्वोपनिषदः व्याससूत्राणि चैव हि।
चिन्तयन्तं गुरुं वन्दे भक्तिमन्तं भगीरथम्।।38।।

❖ ✪✪ ❖

यन्मते–

उपक्रमोपसंहारे अभ्यासे चापि दृश्यते।
गीताशास्त्रे भक्तिरेव प्रपत्तिश्च परा मता।।39।।

❖ ✪✪ ❖

उपायोपेयभावेन हरिः सेव्यः सदा जनै।
रिति गीतासूपनिषत्सु सिद्धान्तः सर्वसम्मतः।।40।।

❖ ✪✪ ❖

तथापि ज्ञानकर्माणि तदङ्गत्वेन साधकैः।
सदा सेव्यानि श्रीकृष्णप्रेमभक्तिविवृर्द्धये।।41।

❖ ✪✪ ❖

गीताया एष सिद्धान्तः येनोक्तो निजपुस्तके।
गीतापाठरतं नित्यं गीतोक्ताचारतत्परम्।।43।।

❖ ✪✪ ❖

आबालकृष्णरसिकं गुरुं वन्दे भगीरथम्।
रसस्वरूपे श्रीकृष्णे रसरूपश्रियामपि।।44।।

❖ ✪✪ ❖

रसभक्तौ सखीभावे रसधाम्नि स्थितोऽपि सः।
तथापि शास्त्रमर्यादां न कदापि विमुक्तवान्।।45।।

❖ ✪✪ ❖

कृष्णाज्ञापालनं मत्वा यः सदा शुभकर्मकृत्।
आबालकृष्णरसिकं तं गुरुं नौमि शाश्वतम्।।46।।

❖ ✪✪ ❖

जन्म-जन्मान्तरस्थो यः कृष्णभक्तो निसर्गतः।
नित्यपार्षदरूपोऽपि भक्त्याचार्यस्तथापि च।।47।।

❖ ✪✪ ❖

गुरु-महिमा

गुरुभ्यः प्राप्त एवास्ति मन्त्रः सफलताप्रदः।
सोऽपि मन्त्रः सम्प्रदायाद्वैदिकाल्लब्ध एव हि।।48।।

❖ ✪✪ ❖

इति मत्वा सम्प्रदायं वैदिकं युगले रतम्।
सद्गुरुं च तथा कृष्णानुरक्तं हरिभक्तिदम्।।49।।

❖ ✪✪ ❖

अन्वेषमाणः श्रीधाम सम्प्राप्तः सुविरक्तिमान्।
अत्रागत्य गुरुः प्राप्तः यादृशो वाञ्छितः सदा।।50।।

❖ ✪✪ ❖
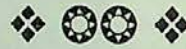
न्यायशास्त्रप्रवीणः स निम्बार्कमतमदीक्षितः।
मन्त्रराजविधिज्ञश्च मन्त्राराधनतत्परः।।51।।

❖ ✪✪ ❖

स्वभूरामगुरोर्द्वारे वरिष्ठः शास्त्रवित्तमः।
नैष्ठिको ब्रह्मचारी च नागाजी-वंशदीपकः।।52।।

❖ ✪✪ ❖

अनिकेतो विरक्तश्च ब्राह्मणो वैदिकस्तथा।
नाम्ना वैष्णवदासो[1] यः राधाकृष्णरसे स्थितः।।53।।

❖ ✪✪ ❖

विरक्तेष्वस्य शिष्येषु भीमाचार्यो महान् सुधीः।
गुर्जरे सिद्धपूरे चेह्यभवत् कर्दमाश्रम।।54।।

❖ ✪✪ ❖

तादृशं गुरुवर्यञ्च सम्प्राप्य मुदितोऽभवत्।
ततश्च ललिताकुण्डे गिरिराजस्थिते प्रिये।।55।।

❖ ۞۞ ❖

दीक्षां यो नीतवान् वृन्दाविपिने कृष्णभक्तिमान्।
आबालकृष्णरसिकं तं गुरुं शाश्वतं नुमः।।56।।

❖ ۞۞ ❖
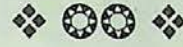
गोपीभावोपासकोऽपि गोपीभावे रतः सदा।
परं यस्य सखीभावान्न पृथक्त्वं हि यन्मते।।57।।

❖ ۞۞ ❖

यथाधुनातनाः केचिद् वदन्ति तत्पृथक्स्थितिम्।
गोपीभावात् परं श्रेष्ठं सखीभावं वदन्ति ते।।58।।

❖ ۞۞ ❖
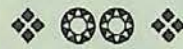
कान्तभावे श्रिया सार्धं सापत्न्यमुपजायते।
मत्वैतत् गोपिकाभावमसूर्यन्ति कियन्त वै।।59।।

❖ ۞۞ ❖
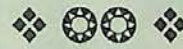
इति कृत्वैव उभयोस्तारतम्यं पृथक्स्थितम्।
वदन्ति रसिकाभासाः योगपीठानभिज्ञकाः।।60।।

❖ ۞۞ ❖

वृन्दावने योगपीठे भावोऽसावेव भासते —

अत्र सर्वाः श्रियाः सख्यः कृष्णकान्ता भवन्ति हि।
कृष्णकान्ताः समा गोप्यः राधासख्यो भवन्ति वै।।61।।

❖ ۞۞ ❖

नायं पीठः अयोध्यायाः नैव वा मिथिलाभुवः।
नैव वा द्वारकापीठः येन सापत्न्यमाप्नुयात्।।62।।

❖ ۞۞ ❖

सखियों की प्राण की राधा

सखीनामत्र सर्वासां ललितादिप्रियात्मनाम्।
प्राणाः रासेश्वरी राधा प्राणेशः श्यामसुन्दरः ।।63।।

❖ ✪✪ ❖

अत्र रासो महारासो सहभोक्तृत्वमत्र वै।
सह नृत्यं समं गीतं सहभोजः सदा मतः ।।64।।

❖ ✪✪ ❖

अत्रैव परमा मुक्तिः श्रुतीनां चरितार्थता।
"सोऽश्नुते सर्वकामान् वै सह ब्रह्म विपश्चिता" ।।65।।

❖ ✪✪ ❖

गोपीभावसमाविष्टः यः सखीभावभावितः।
आबालकृष्णरसिकं तं गुरुं नौमि शाश्वतम् ।।66।।

❖ ✪✪ ❖

यन्मते–

अष्टादशपुराणानि एकग्रन्थो हि यन्मते।
अष्टादश तदध्यायाः सन्ति एकैकविश्रुताः ।।67।।

❖ ✪✪ ❖

मत्वैवं तानि सर्वाणि तद्रहस्यार्थनिर्णयः।
उपक्रमादिभिर्वाक्यैः क्रियते चेद् विपश्चिता ।।68।।

❖ ✪✪ ❖

विष्णोरेव हि पारम्यमिति यस्य विनिश्चयः।
आबालकृष्णरसिकं तं गुरुं नौमि शाश्वतम् ।।69।।

❖ ✪✪ ❖

ज्ञानमार्गानुगैश्चैव भक्तिमार्गानुगैस्तथा।
धर्मशास्त्रं परित्यक्तं स्वाभीष्टादर्शनात्ततः ।।70।।

❖ ✪✪ ❖

परं यस्य मते तत्र स्मृतावपि हरिस्मृतिः।
पदे पदे भवत्येव भक्तिपूर्वा ध्रुवास्मृतिः।।71।।

❖ ✪✪ ❖
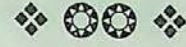
इत्थं प्रदर्शितं येन स्वकीये भक्तिग्रन्थके।
आबालकृष्णरसिकं तं गुरुं शाश्वतं नुमः।।72।।

❖ ✪✪ ❖
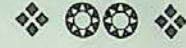
महावाणीरसग्रन्थः भाषाग्रन्थोऽतिविस्तरः।
निम्बार्कीयरसज्ञानां साधूनां सुमहान् प्रियः।।73।।

❖ ✪✪ ❖

वेदादप्यधिका निष्ठा तेषां तत्र महात्मनाम्।
गीताभागवते तैर्हि स्थाप्येते भूमिमण्डले।।74।।

❖ ✪✪ ❖

न कदापि स्थितां भूमौ द्रष्टुमर्हन्ति तां जनाः।
प्राचीनाचार्यसिद्धान्तात् सिद्धान्तो वर्तमानकः।।74।।

❖ ✪✪ ❖

निम्बार्कस्य गतोदूरं बहुकालप्रभावतः।
राधावल्लभसिद्धान्तप्रभावः रसचिन्तने।।76।।

❖ ✪✪ ❖

रामानुजस्य सिद्धान्तप्रभावः पतितोऽभवत्।
अत एव हि वेदान्तमञ्जूषाग्रन्थके शुभे।।77।।

❖ ✪✪ ❖

पुरुषोत्तम आचार्यो रुक्मिणीं स्मृतवान् मुदा।
इत्वं वाणी महावाणी चिन्तने रसिकैरपि।।78।।

❖ ✪✪ ❖

राधावल्लभ सिद्धान्त टटिया स्थानत एव च।
कियद्भी रसिकम्मन्यै र्व्याख्यां तस्य विदूषिताम्।।79।।

❖ ✿✿ ❖

शास्त्रान्वितां समकरोद्यो गुरुस्तं नमाम्यहम्।
षट्सप्ततिवर्षीयस्वकीये जीवने सदा।।80।।

❖ ✿✿ ❖
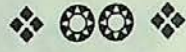
आबाल्याच्चिन्तितं यद् वै भावजन्यमनीषया।
तदेव कृष्णतत्त्वं हि शास्त्रजन्यमनीषया।
चिन्तितं येन गुरुणा तं नमामि भगीरथम्।।81।।

❖ ✿✿ ❖

यस्याध्ययनमुद्देश्यं केवलं कृष्णचिन्तनम्।
तद्विरुद्धविचाराणां खण्डनं शास्त्रसूक्तिभिः।।82।।

❖ ✿✿ ❖

सम्मथ्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
राधाकृष्णपरत्वं च दृष्ट्वा सर्वत्र येन हि।।83।।

❖ ✿✿ ❖

शिवाय कृष्णभक्तानां ग्रन्थाः नैकविधाः कृताः।
तं सर्वशास्त्रनिष्णातं गुरुं नौमि भगीरथम्।।84।।

❖ ✿✿ ❖

अथ पुनः विशिष्य श्रीकेशव-काश्मीरि परमगुरुस्मरणं प्रार्थनञ्च –

उक्तानेतान् गुरुन् सर्वान् तत्रापि च विशेषतः।
केशवाचार्यकाश्मीरिभट्टान् दिग्विजयिनो गुरुन्।।85।।

❖ ✿✿ ❖

भूयो भूयः प्रणम्याद्य तान् कुर्वे बहुप्रार्थनाम्।
क्व केशवकाश्मीरिभट्टाचार्यसमः सुधीः।।86।।

❖ ✿✿ ❖

क्वाहं मन्दमतिः सक्तः विषयेऽहर्निशं मुदा।
तादृशां विदुषां ग्रन्थं प्रभावृत्तिं महाप्रभाम्।।87।।

❖ ✪✪ ❖

हिन्द्यामनुवदितुं यत्नः केवलं मम चापलम्।
तथापि विदुषां तेषामाचार्याणां महात्मनाम्।।88।।

❖ ✪✪ ❖

अनुवादे प्रवृत्तोऽहं तेषामेव कृपाबलत्।
जगद्विजयिनंप्राचार्यं प्रार्थयामि पुनः पुनः।।89।।

❖ ✪✪ ❖

अनुवादे स्खलनं मा भूत् भूते च स्वयमेव ते।
शोधयन्तु ममाशुद्धिमस्पष्टं स्पष्टयन्तु ते।।90।।

❖ ✪✪ ❖
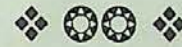
यद्यशुद्धिस्तथापि स्यात्क्षाम्यन्तु गुरवो मम।
अन्ये चापि महात्मान इत्येव मम प्रार्थना।।91।।

❖ ✪✪ ❖

काश्मीरिभट्टपादानां भगीरथगुरोस्तथा,
चरणान् हृदि विन्यस्य वैद्यनाथेन धीमता।
प्रभावृत्तेर्महावृत्तेरनुवादो विधीयते।।92।।

❖ ✪✪ ❖

वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा

॥ श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

ओजस्वी विद्वान् श्रीप्रेमनारायणजी श्रीवास्तव ''प्रेमेन्द्र'' का संस्मरण

महान्त सन्तदास

श्रीनिम्बार्क कुञ्ज, मोतीझील, वृन्दावन

जब वेदान्त-कौस्तुभ-प्रभा का श्रीवैद्यनाथजी झा द्वारा अनुवाद हो चुका और प्रकाशन की पूर्ण तैयारी हो चुकी। उस प्रारम्भिक अवस्था में कुछ समस्यायें आ गयी थीं। उस समय उन समस्याओं का समाधान श्रीप्रेमनारायणजी श्रीवास्तव ने ही अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन सम्बन्धी भूमिका में उनका बहुत बड़ा योगदान रहा। प्रूफ सम्बन्धी कार्यों में भी वे सम्मिलित थे। प्रूफ का कार्य लगभग हो ही चुका था, इसी बीच अचानक ही उनका दि० ०६-०२-२००६ तदनुसार माघशुक्ला नवमी संवत् २०६२ को देहावासन हो गया। उनको श्रीवृन्दावन-रज की प्राप्ति हो गयी। उस अचानक आश्चर्यजनक घटना से परिवार के लोगों एवं निकटवर्ती हितैषीजनों में बहुत बड़ी अशान्ति एवं घबराहट हुई। सुहृदजनों के हृदय पर बहुत बड़ा आघात पहुँचा। श्रीवास्तवजी का और मेरा घनिष्ठ सम्पर्क था। मेरे प्रति उनकी सम्मानित दृष्टि थी। और मेरी भी उनके प्रति सुदृष्टि थी। अतः..................।

श्रीप्रेमनारायण श्रीवास्तव के देहावासन के बाद श्रीवृन्दावन के विद्वानों ने उनके लिए शोक-सभा की। सभी ने उनका स्मरण करते हुए उनके चित्रपट पर अपना श्रद्धा-सुमन अर्पण किया। उस श्रद्धा-सुमन अर्पण में मैं भी सम्मिलित था।

श्रद्धाञ्जलि के बाद उनके विशेष सम्पर्कियों ने मुझे छपने वाले ग्रन्थ में कुछ पंक्तियों में उनका संस्मरण लिखने के लिए प्रेरित किया। अतः थोड़े ही शब्दों में उनके सम्बन्ध में लिखा गया है।

प्रेमनारायण श्रीवास्तव की शिक्षा एवं उनकी योग्यता सम्बन्धी कुछ विवरण—

श्रीप्रेमनारायण श्रीवास्तव का जन्म २५-०४-१९४३ में लहटवास (बीना) सागर जिला (म० प्र०) में हुआ था। ये हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों भाषाओं में एम० ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण थे एवं डी० लिट्० भी थे। स्नातकोत्तर हिन्दी-प्राध्ययन एवं शोध विभाग में इन्स्टीट्यूट् ऑफ ओरियन्टल फिलासफी वृन्दावन के प्रोफेसर, अध्यक्ष, शोध-निदेशक एवं सूरपीठ अम्बेदकर विश्वविद्यालय के आचार्य भी थे। उनका संस्कृत भाषा में भी विशेष प्रवेश था। वे श्रीगीताजी एवं श्रीमद्भागवत का पाठ नित्य किया करते थे। पुराण-शास्त्र-उपनिषदों आदि के स्वाध्याय में भी उनकी अधिक रुचि थी। श्रीहरिव्यासदेवाचार्य प्रणीत श्रीमहावाणीजी एवं युगलशतक आदि ग्रंथों में भी उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनके द्वारा साहित्यिक सेवायें जैसे—साहित्य प्रकाशन, सम्पादन, अनुवाद, मौलिक शोध-ग्रन्थ, मासिक पत्र-संपादन आदि बहुत कार्य हुए। विद्वतगोष्ठियों एवं संत-सम्मेलनों में भी वे संयोजक एवं संचालन का कार्य करते थे। उनके द्वारा बहुत से छात्रों ने पी-एच०डी० की डिग्री प्राप्त की।

निम्बार्क-सम्प्रदाय (सिद्धान्त और साहित्य) नामक ग्रन्थ–

इस ग्रन्थ की रचना श्रीप्रेमनारायण श्रीवास्तव द्वारा हुई है। इस ग्रन्थ में द्वैताद्वैत सिद्धान्त एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थों के उल्लेख तथा विवेचन हैं। इस ग्रन्थ की भाषा तथा शैली साहित्यिक एवं वैदुष्यपूर्ण है। साम्प्रदायिक लोगों को इसे अवश्य रखना चाहिये।

प्रेमनारायण श्रीवास्तवजी के जीवन की कुछ विशेषताएँ–

प्रेमनारायण श्रीवास्तव श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के अनन्य निष्ठावान् थे। वे सम्प्रदाय के भूषण एवं अमूल्य निधि थे। उनके अभाव में श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक बहुत बड़ी क्षति हुई है। वे अलौकिक-प्रभावशाली-तेजवान् प्रवक्ता थे। उनकी सनातन धर्म में अटूट श्रद्धा थी। दैनिक सेवा-पूजा सम्बन्धी कार्यों में अथवा संध्या-पूजन आदि के दृढ़निश्चयी एवं अत्यन्त संयमी थे। श्रीवृन्दावन धाम में उनकी बहुत बड़ी निष्ठा थी। अतः उन्हें वृन्दावन धाम प्राप्त भी हुआ। साधु-संतों-ब्राह्मणों में उनका बहुत बड़ा विश्वास एवं भाव था। वे प्रतिवर्ष भक्तमाल-जयन्ती के अवसर पर एक बहुत बड़ा भण्डारा करते थे, जिसमें हजारों सन्तों को प्रसाद, दक्षिणा एवं वस्त्रादि से सेवा करते थे। अब उनका शरीर नहीं रहा फिर भी उनके सुपुत्र अतुल श्रीवास्तव भक्तमाल जयन्ती के अवसर पर पिछले वर्षों की अपेक्षा सुव्यवस्थित एवं विशेष उदारतापूर्वक सन्तों को प्रसाद एवं दक्षिणा आदि की सेवा से संतुष्ट किये। इनकी सेवा प्रशंसनीय है। भगवान् इनके ऊपर अनुग्रह करें। आगे भी ये सपरिकर अपनी माँ एवं बच्चों की देख-रेख करते हुए इष्ट-गुरु-सन्तों एवं अभ्यागतों की सेवा सहज स्वाभाविक करते रहें।

"वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति" का हिन्दी अनुवाद निम्बार्क सम्प्रदाय की उत्कृष्ट सेवा

—डॉ० केशवदेव शर्मा
डी०लिट्० हिन्दी-विभाग

सनातन धर्म महाविद्यालय पलवन (हरियाणा)

"वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति" निम्बार्क सम्प्रदाय में जगद्विजयी के नाम से प्रख्यात श्रीकेशव-काश्मीरी भट्टाचार्य की रचना है। देववाणी संस्कृत भाषा में विरचित दार्शनिक ग्रन्थ है। तेरहवीं शताब्दी की यह भाष्य-कृति प्रौढ़ भाषा में प्रस्थानत्रयी—'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र' और 'श्रीमद्भागवतगीता' का विस्तृत भाष्य है। पहले तो दर्शन और फिर संस्कृत भाषा में, भक्त पाठकों के लिए उसे समझ पाना सरल नहीं था। इसका एक कारण यह भी है कि आज संस्कृत भाषा जन-साधारण से दूर होती जा रही है।

आत्मा-परमात्मा का स्वरूप ज्ञान, स्वाभाविक द्वैताद्वैत की विवेचना, सृष्टि-रचना, प्रलय,, भक्ति, ज्ञान एवं कर्म की शब्द व्याख्या सही है तथा जीव-जगत् की तत्त्वपरक मीमांसा इत्यादि को लेकर प्रस्थानत्रयी न केवल मानव-विशेष, अपितु समस्त संसारी जीवों के लिए सन्मार्ग दिखाने का काम करती है।

"वेदान्त कौस्तुभ प्रभावृत्ति" में श्रीकेशवकाश्मीरि भट्टाचार्य ने न केवल आद्याचार्य श्रीनिम्बार्क की दार्शनिक अवधारणा 'स्वभावतोऽपास्त समस्त दोषमशेषकल्याण गुणैकराशिम्............ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्' की व्याख्या-विवेचना की है, अपितु मायावादियों के अध्यासवाद, निर्विशेष ब्रह्मवाद, निःसम्बोधिमोक्षवाद, अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद इत्यादि मतों की सप्रमाण और तार्किक समीक्षा की है।

मौलिक लेखन और अनुवाद-प्रक्रिया दोनों भिन्न कर्म है। एक में लेखक या रचनाकार स्वयं समुपस्थित है, जबकि दूसरे में भाव किसी किसी के हैं, तो स्वर (वाणी) किसी अन्य का है। अनुवादक के लिए रचनाकार के भाव-जगत् का अवगाहन करना कठिन होता है। इसलिए जहाँ अनुवादक के लिए 'तटस्थता का भाव' आवश्यक गुण माना गया है, वहीं उसके लिए 'रचना-विशेष' की रहस्यपरकता को समझने के लिए संस्कारवान् होना अपेक्षित रहता है। 'शब्द एक अर्थ अनेक' की उक्ति कोरी कहावत नहीं; सच्चाई है। इसलिए अनुवादक को शब्द के अर्थ की महत्ता और प्रयोगधर्मिता से सुपरिचित होना चाहिए।

संस्कृत-हिन्दी के अधिकारी विद्वान् श्रीवैद्यनाथ झा व्याकरण न्यायवेदान्ताचार्य द्वारा 'प्रभावृत्ति' का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद किया गया है, वह निम्बार्क सम्प्रदाय के दर्शन को समझने में तो सहायक सिद्ध होगा ही अपितु सुधी विद्वानों के लिए प्रस्थानत्रयी को समझने में सार्थक दिशा प्रदान करेगा। कोई भी रचना तब तक अपनी महत्ता सिद्ध नहीं कर सकती, जब तक उसे लेकर अध्येता-शोधार्थियों-मीमांसकों का चिंतन-मनन सामने न आए। किसी भी रचना के 'कालजयी' होने के लिए उसका 'युग-भाषा' में लिपिबद्ध होना परमावश्यक है।

इस महान् ग्रन्थ को स्वरूप प्रदान कर प्रकाशित कराने का जो सत्संकल्प परमसंत गुरुवर्य श्रीसंतदासजी महाराज, मोतीझील, वृन्दावन ने लिया था, वह अब साकार हुआ। अतः हिन्दी जगत् उनका बहुत ही आभारी रहेगा।